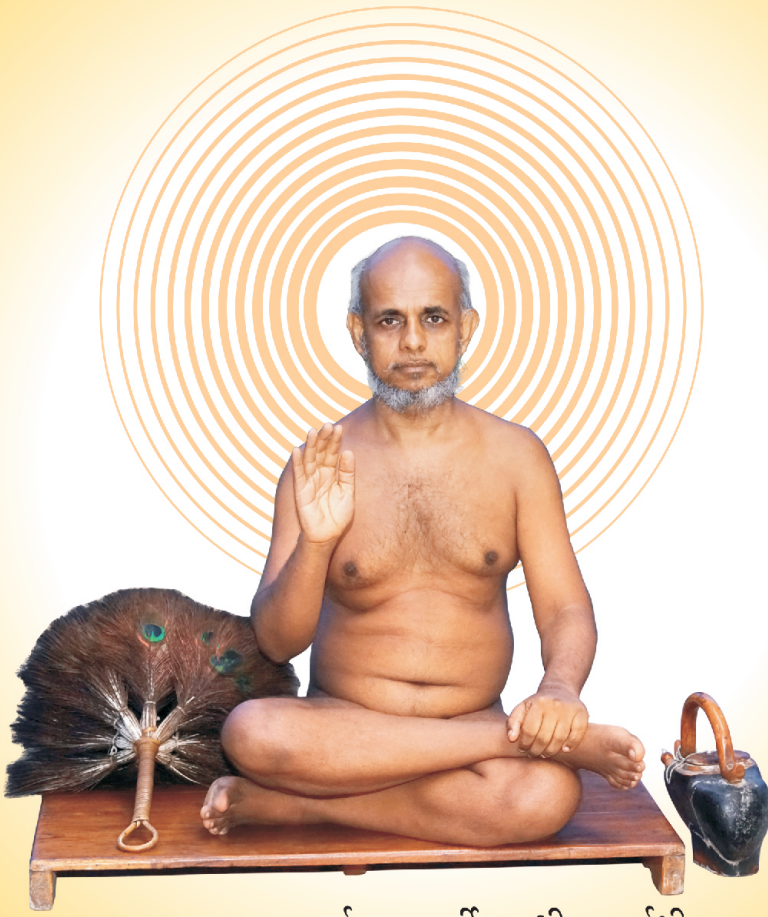




परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री
सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर
सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित
जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सम्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)



महापुराण

भाग 2

ग्रन्थकर्ता

महाकवि पुष्पदन्त जी

अनुवादक

श्री देवेन्द्रकुमार जैन

सम्पादक

श्री पी. एल. वैद्य

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया

लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

(परम्परानायक)



परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

(द्वितीय पट्टाधीश)



परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

ज्ञानपीठ स्मृतिदेवी जैन ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क ६]

श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीतम्

म हा पु रा ण म्

[प्रथमो विभागः]

आदिपुराणम्

द्वितीयो भागः

हिन्दीभाषानुवादसहितः



सम्पादक—

पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य

साहित्याध्यापक, गणेश दि० जैन विद्यालय, सागर

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्रथम आवृत्ति
एक सहस्र प्रति

भाद्रपद, वीरनि० सं० २४७७
वि० सं० २००८
सितम्बर १९५१

मूल्य १० रु०

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

स्व० पुष्पश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में

तत्सुपुत्र सेठ शान्तिप्रसाद जी द्वारा

संस्थापित

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उप-
आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन
साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासंभव अनुवाद
आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारों की सूचियाँ, शिलालेख-
संग्रह, विशिष्ट विद्वानों के अध्ययनग्रन्थ और लोकहितकारी
जैन साहित्यग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित होंगे।



संस्कृत ग्रंथांक ९

प्रकाशक—

अयोध्याप्रसाद गोयलीय,

मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी

पोस्ट बॉक्स नं० ४८, बनारस १

मुद्रक—देवताप्रसाद गहमरी, संसार प्रेस, काशीपुरा, बनारस

स्थापनाब्द
फाल्गुन कृष्ण ६
वीरति० २४७० }

सर्वाधिकार सुरक्षित

{ विक्रम सं० २०
१८ फरवरी १६ }

JÑĀNA-PĪTHA MŪRTIDEVI JAINA GRANTHAMĀLĀ
SANSKRITA GRANTHA No. 9

MAHĀPURĀNA

Vol. I.

OF
BHAGAVAT JINASENĀCĀRYA

PART SECOND

WITH HINDI TRANSLATION



Translated and Edited

BY

PANDITA PANNALAL JAIN, SAHITYACHARYA

Sahityadhyapak—GANESHA DIGAMBAR JAINA VIDYALAYA, SAGAR.

Published by

Bhāratiya Jñānapīṭha Kāshi

First Edition }
1000 Copies. }

BHADRAPADA, VIR SAMVAT 2477
VIKRAMA SAMVAT 2008
SEPTEMBER, 1951.

{ *Price*
{ *Rs. 10/-*

BHĀRATIYA JÑĀNA-PITHA KĀSHI

FOUNDED BY

SETH SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

JÑĀNA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ JAIN GRANTHAMALA

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAIN AGAMIC PHILOSOPHICAL,
PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS
AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRANSA, HINDI,
KANNADA & TAMIL Etc., WILL BE PUBLISHED IN
THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUE OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT
SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE ALSO WILL BE PUBLISHED

SANSKRIT GRANTHA No. 9

PUBLISHER

AYODHYA PRASAD GOYALIYA

SECY., BHĀRATIYA JÑĀNAPĪTHA,

POST BOX No. 48, BANARAS N. 1.

Founded in
Phalguna Krishna 9,
Vira Sam. 2470

} *All Rights Reserved.* {

Vikrama Samvat 2000
18th Feb. 1944

द्वितीयभागस्य विषयानुक्रमिका

विषय

षड्विंशतितम पर्व

चक्रवर्ती भरतने विधिपूर्वक चक्ररत्नकी पूजा की और फिर पुत्रोत्पत्तिका उत्सव मनाया। नगरीकी सजावट की गई। अनन्तर दिग्विजयके लिए उद्यत हुए। उस समय शरदऋतुका विस्तृत वर्णन।

विग्विजयके लिए उद्यत चक्रवर्तीका वर्णन। तत्कालोचित सेनाकी शोभाका वर्णन।

पूर्व दिशामें प्रयाणका वर्णन। गंगाका वर्णन।

सप्तविंशतितम पर्व

सारथी द्वारा गंगा तथा वनकी शोभाका वर्णन।

हाथी तथा घोड़ों आदि सेनाके अंगोंका वर्णन।

अष्टाविंशतितम पर्व

दूसरे ही दिन प्रातःकाल होते ही दिग्विजयके लिए आगे प्रयाण किया। चक्ररत्न उनके आगे-आगे चल रहा था। तात्कालिक सेनाकी शोभाका वर्णन। क्रमशः चलकर वे गंगाद्वारपर पहुँचे। वहाँ वे उपसमुद्रको देखते हुए स्थलमार्गसे गंगाके किनारेके उपवनमें प्रविष्ट हुए। वहीं सेनाको ठहराया। अनन्तर समुद्रके किनारेपर पहुँचे, वहाँ समुद्रका विस्तृत वर्णन।

भरत चक्रधर लवणसमुद्रमें स्थलकी तरह वेगसे आगे बढ़ गये। बारह योजन आगे चलकर उन्होंने अपने नामसे चिह्नित एक बाण छोड़ा, जोकि मागध देवकी सभामें पहुँचा। पहले तो मागधदेव बहुत बिगड़ा पर बादमें बाणपर चक्रवर्तीका नाम देख गर्वरहित हुआ। तथा हार, सिंहासन और कुण्डल साथ लेकर चक्रवर्तीके स्वागतके

पृष्ठ

१-७

७-६

६-१७

१८-२५

२६-३२

३३-४४

विषय

लिए पहुँचा। चक्रवर्ती उसकी विनयसे बहुत प्रसन्न हुए।

समुद्रका विविध छंदों द्वारा विस्तृत वर्णन। अन्तमें कवि द्वारा पुण्यका माहात्म्य वर्णन।

एकोनविंशतम पर्व

अनन्तर चक्रवर्ती दक्षिण दिशाकी ओर आगे बढ़े। मार्गमें अनेक राजाओंको वश करते जाते थे। बीचमें मिलनेवाले विविध देशों, नदियों और पर्वतोंका वर्णन।

दक्षिण समुद्रके तटपर चक्रवर्तीने अपनी सभस्त सेना ठहराई। वहाँकी प्राकृतिक शोभाका वर्णन। चक्रवर्तीने रथके द्वारा दक्षिण समुद्रमें प्रवेश कर वहाँके अधिपति व्यंतरदेवको जीता।

त्रिंशत्तम पर्व

सम्राट् भरत दक्षिण दिशाको विजय कर पश्चिमकी ओर बढ़े। वहाँ विविध वनों, पर्वतों और नदियोंकी प्राकृतिक सुषमा देखते हुए वे बहुत ही प्रसन्न हुए। क्रमशः वे विन्ध्य गिरिपर पहुँचे। उसकी बिखरी हुई शोभा देखकर उनका चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। वहीं उन्होंने अपनी सेना ठहराई। अनेक वनोंके स्वामी उनके पास तरह-तरहकी भेंट लेकर मिलनेके लिए आये। भरतने सबका यथोचित सम्मान किया। समुद्रके किनारे-किनारे जाकर वे पश्चिम लवण-समुद्रके तटपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने दिव्य शस्त्र धारणकर पश्चिम समुद्र में बारह योजन प्रवेश किया और व्यन्तराधिपति प्रभास नामक देवको वशमें किया। पुण्यके प्रभावसे क्या नहीं होता ?

एकत्रिंशत्तम पर्व

अनन्तर अठारह करोड़ घोड़ोंके अधिपति भरत चक्रधरने उत्तरकी ओर प्रस्थान

पृष्ठ

४५-५०

५१-६१

६२-७१

७२-८०

८१-६५

विषय

किया । क्रमशः चलते हुए विजयार्ध पर्वतकी उपत्यकामें पहुँचे । वहाँ वे अपनी समस्त सेना ठहराकर निश्चिन्त हुए । पता चलनेपर विजयार्धदेव अपने समस्त परिकरके साथ इनके पास आया और उनका आज्ञाकारी हुआ । विजयार्धको जीत लेनेसे इनकी दिग्विजयका अर्धभाग पूर्ण हो गया । अनन्तर उन्होंने उत्तरभारतमें प्रवेश करनेके अभिप्रायसे वण्डरत्न द्वारा विजयार्ध पर्वतके गुहाद्वारका उद्घाटन किया ।

पृष्ठ

६६-१११

द्वित्रिंशत्तम पर्व

गर्मी शान्त होनेपर उन्होंने गुहाके मध्यमें प्रवेश किया । काकिणी रत्नके द्वारा मार्गमें प्रकाश होता जाता था । बीचमें उन्मत्तजला तथा निमग्नजला नामकी नदियाँ मिलीं, उनके तटपर सेनाका विश्राम हुआ । स्थपतिरत्नने अपने बुद्धिबलसे पुल तैयार किया जिससे समस्त सेना उस पार हुई । गुहागर्भसे निकलकर सेना सहित भरत उत्तर भरत-क्षेत्रमें पहुँचे । चिलात और आवर्त नामके राजा बहुत कुपित हुए । वे परस्परमें मिलकर चक्रवर्तीसे युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए । नाग जाति के देवोंकी सहायतासे उन दोनोंने चक्रवर्ती की सेनापर घनघोर वर्षा की जिससे ७ दिन तक चक्रवर्तीकी सेना चर्मरत्नके बीचमें नियन्त्रित रही । अनन्तर जयकुमारके आरुनेय बाणसे नाग जातिके देव भाग खड़े हुए । और अब उपद्रव शान्त हुआ । चिलात और आवर्त दोनों ही स्लेच्छ राजा निरुपाय होकर शरणमें आये । क्रमशः भरतने उत्तरभरतके समस्त स्लेच्छ खण्डोंपर विजय प्राप्त की ।

११२-१२०

त्रयस्त्रिंशत्तम पर्व

दिग्विजय करनेके बाद चक्रवर्ती सेना सहित अपनी नगरीके प्रति वापिस लौटे । मार्गमें अनेक देश, नदियों और पर्वतोंको उल्लंघन करते हुए कैलास पर्वतके समीप आए । वहाँसे श्री ऋषभ जिनेन्द्रकी पूजा करनेके लिए कैलास पर्वतपर गए । अनेक

विषय

पृष्ठ

राजा उनके साथ थे । पुरोहितके द्वारा कैलास पर्वतका वर्णन ।

१३१-१३६

समवसरणका संक्षिप्त वर्णन ।

१३७-१४०

समवसरणमें स्थित श्री ऋषभ जिनेन्द्र का वर्णन । सम्राट्के द्वारा भगवान्की स्तुति का वर्णन ।

१४१-१५०

चतुस्त्रिंशत्तम पर्व

कैलाससे उतरकर अयोध्या नगरीकी ओर प्रस्थान । चक्ररत्न अयोध्या नगरीके द्वारपर आकर रुक गया, जिससे सबको आश्चर्य हुआ । चक्रवर्ती स्वयं सोच-विचार में पड़ गए । निमित्तजानी पुरोहितने बतलाया कि अभी आपके भाइयोंको वश करना बाकी है । पुरोहितकी सम्मतिके अनुसार राजदूत भाइयोंके पास भेजे गये । उन्होंने भरतकी आज्ञामें रहना स्वीकार नहीं किया और श्री ऋषभनाथ स्वामीके पास जाकर दीक्षा ले ली ।

१५१-१७१

पञ्चत्रिंशत्तम पर्व

सब भाई तो दीक्षित हो चुके, परन्तु बाहुबली राजदूतकी बात सुनकर क्षुभित हो उठे । उन्होंने कहा कि जब पिताजीने सबको समान रूपसे राजपद दिया है, तब एक सम्राट् हो और दूसरा उसके अधीन रहे यह संभव नहीं । उन्होंने दूतको फटकारकर वापिस कर दिया । अन्तमें दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ हुई ।

१७२-१९६

षट्त्रिंशत्तम पर्व

युद्धके लिए इस ओरसे भरतकी सेना आगे बढ़ी और उस ओरसे बाहुबलीकी सेना आगे आई । बुद्धिमान् मंत्रियोंने विचार किया कि इस भाई-भाईकी लड़ाईमें सेनाका व्यर्थ ही संहार होगा । इसलिए अच्छा हो कि स्वयं ये दोनों भाई ही लड़ें । सबने मिलकर नेत्रयुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध, ये तीन युद्ध निश्चित किये । तीनों ही युद्धोंमें जब बाहुबली विजयी हुए तब भरतने कुपित होकर चक्ररत्न चला दिया, परन्तु उससे बाहुबलीकी कुछ भी हानि नहीं हुई । बाहुबली चक्रवर्तीके इस व्यवहारसे बहुत ही विरक्त हुए और

विषय

पृष्ठ

अंगलमें जाकर दीक्षा ले ली। उन्होंने एक वर्षका प्रतिमायोग लिया और कायोत्सर्ग करते हुए तपश्चरण करते रहे। भरत चक्रवर्तीने उनके चरणोंमें अपना भस्त्रक देक दिया। बाहुबली केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त हुए।

२००-२२०

सप्तविंशत्तम पर्व

चक्रवर्तीने बड़े वैभवके साथ अयोध्या नगरमें प्रवेश किया। उनके वैभवका वर्णन।

२२१-२३६

अष्टविंशत्तम पर्व

एक दिन भरतने सोचा कि हमने जो वैभव प्राप्त किया है उसे कहीं खर्च करना चाहिए। जो मुनि हैं, वे तो धनसे निःस्पृह रहते हैं। अतः अणुव्रत धारी गृहस्थोंके लिए ही धनादिक देना चाहिए। एक दिन भरत चक्रवर्तीने नगरके सब लोगोंको किसी उत्सवके बहाने अपने घर बुलाया। घरके अन्दर पहुँचनेके लिए जो मार्ग थे वे हरित अक्रूरीसे आच्छादित करा दिये। बहुतसे लोग उन मार्गोंसे चक्रवर्तीके महल के भीतर प्रविष्ट हुए। परन्तु कुछ लोग बाहर खड़े रहे। चक्रवर्तीने उनसे भीतर न आनेका जब कारण पूछा तब उन्होंने कहा कि मार्गमें उत्पन्न हुई हरी घास आदिमें एकेन्द्रिय जीव होते हैं। हम लोगोंके चलनेसे वे सब मर जाएँगे अतः दयाकी रक्षाके लिए हम लोग भीतर आनेमें असमर्थ हैं। चक्रवर्ती उनके इस उत्तरसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें दूसरे प्रासुक मार्गसे भीतर बुलाया और उन्हें दयालु समझकर श्रावक संज्ञा दी, वही ब्राह्मण कहलाए। इन्हें ब्राह्मणोचित क्रियाकाण्ड आदिका उपदेश दिया। अनेक क्रियाओंका उपदेश दिया। सबसे पहले गभस्त्रिय क्रियाओंका उपदेश दिया।

२४०-२६८

एकोनविंशत्तम पर्व

अथानन्तर भरत चक्रवर्तीने दीक्षा-न्वय क्रियाओंका उपदेश दिया।

२६९-२७६

विषय

पृष्ठ

अनन्तर कर्त्तव्य क्रियाओंका निरूपण किया।

२७७-२८६

चत्वारिंशत्तम पर्व

षोडश संस्कार तथा हवनके योग्य मंत्रोंका वर्णन।

२९०-३१६

एकचत्वारिंशत्तम पर्व

कुछ समय व्यतीत होनेपर भरत चक्रधरने एक दिन रात्रिके अन्तिम भागमें अद्भुत फल दिखलानेवाले कुछ स्वप्न देखे। स्वप्न देखनेके बाद उनका चित्त कुछ वस्तु हुआ। उनका वास्तविक फल जाननेके लिए वे भगवान् आदिनाथके समवसरणमें पहुँचे। वहाँ जिनेन्द्र वन्दनाके अनन्तर उन्होंने श्री आद्यजिनेन्द्रसे निवेदन किया कि मैंने ब्राह्मण वर्णकी सृष्टि की है। वह लाभप्रद होगी या हानिप्रद। तथा मैंने कुछ स्वप्न देखे हैं उनका फल क्या होगा? भरतके उत्तरमें श्री भगवान्ने कहा कि वत्स! यह ब्राह्मण वर्ण आगे चलकर मर्यादाका लोप करनेवाला होगा यह कहकर उन्होंने स्वप्नोंका फल भी बतलाया, जिसे सुनकर चक्रवर्तीने अयोध्या नगरमें वापिस प्रवेश किया। और दुःस्वप्नोंके फलकी जात्तिके लिए जिनाभिषेक आदि कार्य कर सुखसे प्रजाका पालन करने लगे।

३१७-३३०

द्विचत्वारिंशत्तम पर्व

एक दिन भरत सम्राट् राजसभामें बंटे हुए थे। पास ही अनेक अन्य राजा विद्यमान थे। उस समय उन्होंने विविध दृष्टान्तोंके द्वारा राजाओंको राजनीति तथा वर्णाश्रम धर्मका उपदेश दिया।

३३१-३५०

त्रिचत्वारिंशत्तम पर्व

यहाँसे गुणभद्राचार्यकी रचना है। सर्वप्रथम उन्होंने गुरुवर जिनसेनके प्रति भक्ति प्रकट कर अपनी लघुता प्रदर्शित की। अनन्तर श्रेणिकने समवसरणसभामें खड़े होकर श्री गौतम गणधरसे प्रार्थना की कि भगवन्! अब मैं श्री जयकुमारका चरित सुनना चाहता हूँ कृपा कर कहिये।

विषय

उत्तरमें गणधर स्वामीने जयकुमारका विस्तृत चरित कहा। काशीराज अर्कपन की सुपुत्री सुलोचनाने स्वयंवर-मंडपमें जयकुमारके गलेमें वरमाला डाल दी। ३५१-३८५

चतुश्चत्वारिंशत्तम पर्व

स्वयंवर समाप्त होते ही चक्रवर्ती भरतके पुत्र अर्ककीर्ति और जयकुमारके बीच घनघोर युद्ध हुआ। अन्तमें जयकुमार विजयी हुए। अर्कपन तथा भरतकी दूरदर्शितासे युद्ध शान्त हुआ तथा दोनोंका मनमुटाव दूर हुआ। ३८६-४२४

पञ्चचत्वारिंशत्तम पर्व

अर्कपनने पुत्रीके शील और संतोषकी प्रशंसा की तथा अर्ककीर्तिकी प्रशंसा कर उन्हें शांत किया। तथा चक्रवर्ती भरतके पास दूत भेजकर अपने अपराधके प्रति क्षमायाचना की। चक्रवर्तीने उसके उत्तरमें अर्कपन और जयकुमारकी बहुत ही प्रशंसा की। ४२५-४३१

जयकुमार और सुलोचनाका प्रेममिलन

जब जयकुमारने अपने नगरकी और वापिस आनेका विचार प्रकट किया तब अर्कपनने उन्हें बड़े वैभवके साथ बिदा किया। मार्गमें जयकुमार चक्रवर्ती भरत से मिलनेके लिए गये। चक्रवर्तीने उनका बहुत सत्कार किया। अयोध्यासे लौटकर जब जयकुमार अपने पड़ावकी और गंगाके मार्गसे जा रहे थे तब एक देवीने भगरका रूप धरकर उनके हाथीको प्रस लिया जिससे जयकुमार हाथी सहित गंगामें डूबने लगे तब सुलोचनाने पंच-नमस्कार मंत्रकी आराधनासे इस उपसर्गको दूर किया। ४३२-४४०

बड़ी धूमधामके साथ जयकुमारने हस्तिनागपुरमें प्रवेश किया। नगरके नर-नारियोंने सुलोचना और जयकुमारकी देखकर अपने नेत्र सफल किये। जयकुमार ने हेमाङ्गद आदिके समक्ष ही सुलोचना-

पृष्ठ

विषय

को पटरानीका पट्ट बांधा और बड़े वैभवके साथ सुखसे रहने लगे। ४४१

इधर किसी कारणवश सुलोचनाके पिता अर्कपनको संसारसे विरक्ति हो गई। उन्होंने वैराग्यभावनाका चिन्तन कर अपनी विरक्तिको बढ़ाया तथा रानी सुप्रभाके साथ दीक्षा धारणकर निर्वाण प्राप्त किया। सुप्रभा यथायोग्य स्वर्गमें उत्पन्न हुई। ४४२-४४३

जयकुमार और सुलोचनाके विविध भोगोंका वर्णन। ४४३-४४५

षट्चत्वारिंशत्तम पर्व

किसी एक दिन जयकुमार अपनी प्राणवत्तभा सुलोचनाके साथ भक्तानकी छतपर बैठे हुए थे कि अचानक उनकी दृष्टि आकाशमार्गसे जाते हुए विद्याधर-वम्पतिपर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही 'हा मेरी प्रभावती' कहकर जयकुमार मूर्च्छित हो गये और सुलोचना भी 'हा मेरे रतिवर' कहती हुई मूर्च्छित हो गई। उपचारके बाद दोनों सचेत हुए। जयकुमारने सुलोचनासे मूर्च्छित होनेका कारण पूछा तब वह पूर्वभवका वृत्तान्त कहने लगी। विस्तारके साथ दोनोंकी भवावलंबिता वर्णन। ४४६-४७६

सप्तचत्वारिंशत्तम पर्व

जयकुमार और सुलोचना पूर्व भवकी चर्चा कर रहे थे, कि जयकुमार ने उससे श्रीपाल चक्रवर्तीके विषयमें पूछा। सुलोचनाने अपनी सरस वाणीके द्वारा श्रीपाल चक्रवर्तीका विस्तृत कथानक प्रगट किया। अनन्तर दोनों सुखसे अपना समय बिताने लगे। ४८०-५००

देव द्वारा जयकुमारके शीलकी परीक्षा। जयकुमारका संसारसे विरक्त होना और भगवान् ऋषभदेवके समवसरणमें गणधर पद प्राप्त करना। ५०१-५१२

भरत चक्रवर्तीका दीक्षाग्रहण, केवल-ज्ञानकी प्राप्ति, भगवान्का अंतिम विहार और निर्वाणप्राप्ति। ५१३-५१५

श्री भगवज्जिनसेनाचार्यविरचितम्

महापुराणम्

[द्वितीयो भागः]

अथ षड्विंशतितमं पर्व

अथ चक्रधरः पूजां चक्रस्य विधिवद् व्यधात् । सुतोत्पत्तिमपि श्रीमान् अभ्यनन्ददनुक्रमात् ॥१॥
ना'दरिद्रो'ज्जनः कश्चिद् विभोस्तस्मिन् महोत्सवं । दारिद्र्यमथिलाभे' तु जातं विश्वाशितं'भवे ॥२॥
चतुष्केषु' च रथ्यासु' पुरस्यान्तर्बहिः' पुरम् । पुञ्जीकृतानि रत्नानि तदार्थिभ्यो ददौ नृपः ॥३॥
अभिचार'क्रियेवासीच्चक्रपूजास्य विद्विषाम् । जगतः शान्तिकर्मैव जातकर्माण्यभूत्तदा ॥४॥
ततोऽस्य दिग्जयोद्योगसमये शरदापतत् । जयलक्ष्मीरिवामुष्य प्रसन्ना विमलाम्बरा' ॥५॥
अलका इव संरेजुः अस्या'० मधुकरवजाः । सप्तच्छदप्रसूनोत्थरजोभूषित'विग्रहाः ॥६॥
प्रसन्नमभवत्तोयं सरसां सरितामपि । कवीनामिव सत्काव्यं जनताचित्तरञ्जनम् ॥७॥
सितच्छदावली' रेजे सम्पतन्ती समन्ततः । स्थूलमुक्तावली नद्धा कण्ठिकेव शरच्छिद्यः ॥८॥

अथानन्तर श्रीमान् चक्रवर्ती भरत महाराजने विधिपूर्वक चक्ररत्नकी पूजा की और फिर अनुक्रमसे पुत्र उत्पन्न होनेका आनन्द मनाया ॥१॥ राजा भरतके उस महोत्सव के समय संसार भरमें कोई दरिद्र नहीं रहा था किन्तु दरिद्रता इस बातकी हो गई थी कि धन देने पर भी उसे कोई लेनेवाला नहीं मिलता था । भावार्थ—महाराज भरतके द्वारा दिये हुए दानसे याचक लोग इतने अधिक संतुष्ट हो गये कि उन्होंने हमेशाके लिये याचना करना छोड़ दिया ॥२॥ उस समय राजाने चौराहोंमें, गलियोंमें, नगरके भीतर और बाहर सभी जगह रत्नोंके ढेर किये थे और वे सब याचकोंके लिये दे दिये थे ॥३॥ उस समय भरतने जो चक्ररत्नकी पूजा की थी वह उसके शत्रुओंके लिये अभिचार क्रिया अर्थात् हिंसाकार्यके समान मालूम हुई थी और पुत्र-जन्मका जो उत्सव किया था वह संसारकी शान्ति कर्मके समान जान पड़ा था ॥४॥ तदनन्तर भरतने दिग्जयके लिये उद्योग किया, उसी समय शरदऋतु भी आ गई जो कि भरतकी जयलक्ष्मीके समान प्रसन्न तथा निर्मल अम्बर (आकाश) को धारण करनेवाली थी ॥५॥ उस समय सप्तपर्ण जातिके फूलोंसे उठी हुई परागसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे भूमरोंके समूह इस शरदऋतुके अलकों (केशपाश) के समान शोभायमान हो रहे थे ॥६॥ जिस प्रकार कवियोंका उत्तम काव्य प्रसन्न अर्थात् प्रसाद गुणसे सहित और जनसमूहके चित्तको आनन्दित करनेवाला होता है उसी प्रकार तालाबों और नदियोंका जल भी प्रसन्न अर्थात् स्वच्छ और मनुष्योंके चित्तको आनन्द देनेवाला बन गया था ॥७॥ चारों ओर उड़ती हुई हंसोंकी पंक्तियां ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो शरदऋतुरूपी लक्ष्मी

१ दरिद्रो नाभूत् । नो दरिद्री जनः ल० । न दरिद्री जनः द०, इ०, अ०, प०, स० । २ याचकजनप्राप्ती । ३ सकलतृप्तिजनके । ४ चतुष्पथकृतमण्डपेषु । ५ वीथिषु । ६ 'बहिः पर्यायां च' इति समासः । ७ मारणक्रिया । ८ आगता । ९ निर्मलाकाशा निर्मलवसना च । १० शरत्लक्ष्म्याः । ११ आच्छादित । १२ हंसपङ्क्तिः ।

सरोजलमभूत्कान्तं सरोजरजसा ततम् । सुवर्णरजसाकीर्णमिव कुट्टिमभूतलम् ॥६॥
 सरः सरोजरजसा परितः स्थगितोदकम् । कादम्बजायाः सम्प्रेक्ष्य मुमुहुः स्थलशंकया ॥१०॥
 कञ्जकिञ्जल्कपुञ्जेन पिञ्जरा षट्पदावली । सौवर्णमणिदूधेव^१ शरदः कण्ठिका बभौ ॥११॥
 सरोजलं समासे^२ दुःखराः सितपक्षिणः^३ । वदान्धकुलमुद्भूतसौगन्ध्यमिव^४ बन्धिनः ॥१२॥
 नदीनां पुलिनान्यासन् शुचीनि शरदागमे । हंसानां रचितानीव शयनानि सितान्शुकैः ॥१३॥
 सरांसि ससरोजानि सोत्पला^५ वप्रभूमयः । सहस्रसैकता^६ नद्यो^७ जहृश्चेतांसि कामिनाम् ॥१४॥
 प्रसन्नसलिला रेजुः सरस्थः सहसारसाः । कूजितैः कलहंसानां जितनूपुरशिञ्जितैः ॥१५॥
 नीलोत्पलेक्षणा रेजे शरच्छ्रीः पङ्कजानना । व्यक्तमाभाषमाणेव कलहंसीकलस्वनैः ॥१६॥
 पक्वशालिभुवो नमुकणिशाः पिञ्जरश्रियः । स्नाता^८ हरिद्वयेवासन् शरत्कालप्रियगमे ॥१७॥
 मन्दसाना^९ मद^{१०} भेजुः सहसाना^{११} मदं जहुः । शरत्लक्ष्मीं समालोक्य शुद्धशुद्धशौर्यं^{१२} निजः ॥१८॥

की बड़े बड़े मोतियोंकी मालासे बनी हुई कण्ठमाल (गलेमें पहननेका हार) ही हो ॥८॥ कमलोंकी परागसे व्याप्त हुआ सरोवरका जल ऐसा सुन्दर जान पड़ता था मानो सुवर्णकी धूलिसे व्याप्त हुआ रत्नजटित पृथिवीका तल ही हो ॥९॥ जिसका जल चारों ओरसे कमलों की परागसे ढका हुआ है ऐसे सरोवरको देखकर कादम्ब जातिके हंसोंकी स्त्रियां स्थलका संदेह कर बार बार मोहमें पड़ जाती थीं अर्थात् सरोवरको स्थल समझने लगती थीं ॥१०॥ जो भूमरोंकी पंक्तियां कमलोंके केशरके समूहसे पीली पीली हो गई थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो सुवर्णमय मनकाओंसे गूथा हुआ शरद् ऋतुका कंठहार ही हो ॥११॥ जिस प्रकार चारण लोग प्रसिद्ध दानी पुरुषके समीप उसकी कीर्ति गाते हुए पहुंचते हैं उसी प्रकार हंस पक्षी भी शब्द करते हुए अतिशय सुगन्धित सरोवरके जलके समीप पहुंच रहे थे ॥१२॥ शरद् ऋतुके आते ही नदियोंके किनारे स्वच्छ हो गये थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो सफेद वस्त्रों से बने हुए हंसोंके बिछौने ही हों ॥१३॥ कमलोंसे सहित सरोवर, नील कमलोंसे सहित खेतोंकी भूमियां और हंसों सहित किनारोंसे युक्त नदियां ये सब कामी मनुष्योंका चित्त हरण कर रहे थे ॥१४॥ जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है और जो सारस पक्षियोंके जोड़ोंसे सहित हैं ऐसे छोटे छोटे तालाब, नूपुरोंके शब्दको जीतनेवाले कलहंस पक्षियोंके सुन्दर शब्दोंसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१५॥ नीलोत्पल ही जिसके नेत्र हैं और कमल ही जिसका मुख है ऐसी शरद् ऋतुकी लक्ष्मीरूपी स्त्री कलहंसियोंके मधुर शब्दोंके बहाने बातलाप करती हुई सी जान पड़ती थी ॥१६॥ जिनमें वालें नीचेकी ओर झुक गई हैं और जिनकी शोभा कुछ कुछ पीली हो गई है ऐसी पके चावलोंकी पृथिवियां उस समय ऐसी जान पड़ती थीं मानो शरद् कालरूपी पतिके आनेपर हल्दी आदिके उवटन द्वारा रनान कर सृज्जित ही बैठी हों ॥१७॥ उस शरद् ऋतुकी शोभा देखकर हंस हर्षको प्राप्त हुए थे और मयूरोंने अपना हर्ष छोड़ दिया था । सो ठीक ही है क्योंकि शुद्धि और अशुद्धिका यही स्वभाव होता है । भावार्थ—हंस शुद्ध अर्थात् सफेद होते हैं इसलिये उन्हें शरद् ऋतुकी शोभा देखकर हर्ष हुआ परन्तु मयूर अशुद्ध अर्थात् काले होते हैं इसलिये उन्हें उसे देखकर दुःख हुआ । किसीका वैभव देखकर शुद्ध अर्थात् स्वच्छ हृदयवाले पुरुष तो आनन्दका अनुभव करते हैं और अशुद्ध अर्थात् मलिन स्वभाव वाले—दुर्जन पुरुष दुःखका अनुभव करते हैं, यह इनका स्वभाव ही है ॥१८॥

१ कलहंसस्त्रियः । २ कादम्बः कलहंसः स्यादित्यभिधानात् । ३ मोहयन्ति स्म । ४ रचिता । ५ जगुः । ६ हंसाः । ७ त्यागिसमूहम् । ८ सौहार्दम् । ९ केदार । १० अपहन्ति स्म । ११ रजन्या । १२ हंसाः । मन्दमाना ल० । १३ हर्षम् । १४ मयूराः । सहमाना ल० । १५ अयमात्मीयगुणो हि ।

कलहंसा हसन्तीष विरतः स्म शिखण्डिनः । ग्रहो 'जडप्रिया यूयमिति निर्मलमूर्तयः ॥१६॥
चित्रवर्णा 'घनाबद्धरुचयो गिरिसंश्रयाः । समं 'शतमुखेष्वासंर्बाहणः स्थोभति जडः ॥२०॥
'बन्धूकीरिन्द्रगोपश्रीरातेने वनराजिषु । शरल्लक्ष्म्येव निष्ठघृतः ताम्बूलरसबिन्दुभिः ॥२१॥
विकासं बन्धुजीवेषु' शरदाविभवंत्यधात् । सतीव' सुप्रसन्नाशा' विपङ्का' विशदाम्बरा' ॥२२॥
हंसस्वनानकाकाशकणिशोज्ज्वलचामरा । पुण्डरीकातपत्रासीद्दिग्जयोत्थेव सा शरत् ॥२३॥
दिशां 'प्रसाधनायाधाद् वाणासन'परिच्छदम् । शरत्कालो 'जिगीषोहि' स्लाघ्यो बाणासनग्रहः ॥२४॥
घनावली कृशा पाण्डुः आसीदाशा विमुञ्चती । घनागमवियोगोत्थचिन्तयेवाकुलीकृता ॥२५॥
नभः सतारमारंजे विहसत्कुमुदाकरम् । कुमुदतीवनं चाभाञ्जयसारकितं नभः ॥२६॥

निर्मल शरीरको धारण करनेवाले हंस मधुर शब्द करते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो अहो तुम लोग जडप्रिय-मूर्खप्रिय (पक्षमें जलप्रिय) हो इस प्रकार कहकर मयूरीकी हँसी ही उड़ा रहे हों ॥१६॥ जिनका वर्ण अनेक प्रकारका है, जिनकी रुचि-इच्छा (पक्षमें कान्ति) मेघोंमें लग रही है और जो पर्वतोंके आश्रय हैं ऐसे मयूरीने इन्द्रधनुषोंके साथ ही साथ अपनी भी उत्पत्ति छोड़ दी थी । भावार्थ-उस शरद्ऋतुके समय मयूर और इन्द्रधनुष दोनोंकी शोभा नष्ट हो गई थी ॥२०॥ वन-पंक्तियोंमें शरद्ऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा थूके हुए ताम्बूलके रसके बूंदोंके समान शोभा देनेवाले बन्धूक (दुपहरिया) पुष्पोंने क्या इन्द्रगोप अर्थात् वर्षाऋतुमें होनेवाले लाल रंगके कीड़ोंकी शोभा नहीं बढ़ाई थी ? अर्थात् अवश्य ही बढ़ाई थी । बन्धूक पुष्प इन्द्रगोपोंके समान जान पड़ते थे ॥२१॥ जिस प्रकार निर्मल अन्तःकरणवाली, पापरहित और स्वच्छ वस्त्र धारण करनेवाली कोई सती स्त्री घरसे बाहिर प्रकट हो अपने बन्धुजनोंके विषयमें विकास अर्थात् प्रेमको धारण करती है उसी प्रकार शुद्ध दिशाओंकी धारण करनेवाली कीचड़-रहित और स्वच्छ आकाशवाली शरद्ऋतुने भी प्रकट होकर बन्धुजीव अर्थात् दुपहरिया के फूलोंपर विकास धारण किया था-उन्हें विकसित किया था । तात्पर्य यह है कि उस समय दिशाएं निर्मल थीं, कीचड़ सूख गया था, आकाश निर्मल था और वनोंमें दुपहरियाके फूल खिले हुए थे ॥२२॥ उस समय जो हंसोंके शब्द हो रहे थे वे नगाड़ोंके समान जान पड़ते थे, वनोंमें काशके फूल फूल रहे थे वे उज्ज्वल चमरोंके समान मालूम होते थे, और तालाबोंमें कमल खिल रहे थे वे छत्रके समान सुशोभित हो रहे थे तथा इन सबसे वह शरद्ऋतु ऐसी जान पड़ती थी मानो उसे दिग्विजय करनेकी इच्छा ही उत्पन्न हुई हो ॥२३॥ उस शरद्ऋतुने दिशाओं को प्रसाधन अर्थात् अलंकृत करनेके लिये वाणासन अर्थात् बाण और आसन जातिके पुष्पों का समूह धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओंको प्रसाधन अर्थात् वश करनेके लिये जिगीषु राजाको वाणासन अर्थात् धनुषका ग्रहण करना प्रशंसनीय ही है ॥२४॥ उस समय समस्त आशा अर्थात् दिशाओं (पक्षमें संगमकी इच्छाओं)को छोड़ती हुई मेघमाला कृश और पाण्डुवर्ण हो गई थी सो उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो वर्षा कालके वियोगसे उत्पन्न हुई चिन्तासे व्याकुल होकर ही वैसी हो गई हो ॥२५॥ उस शरद्ऋतुके समय ताराओंसे सहित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो कुमुदिनियों सहित सरोवरकी हँसी ही कर रहा हो

१ जलप्रिया ल०, द०, इ०, स०, अ०, प० । २ मेघकृतवाञ्छाः । ३ इन्द्रचापैः । ४ बन्धुजीवकैः । 'बन्धूकैः' बन्धुजीवकैः' इत्यभिधानात् । ५ बन्धूक-कुसुमेषु, पक्षे सुहृज्जीवेषु । ६ पुण्यागङ्गेव । ७ सुप्रसन्नदिक्, पक्षे सुप्रसन्नमानसा । सुप्रसन्नात्मा-ल० । ८ विगतकर्दमा, पक्षे दोषरहिता । ९ पक्षे निर्मलवस्त्राः । १० अलंकाराय । जयार्थं च । ११ क्षिण्टिकुसुमसर्जककुसुमपरिकरम् । पक्षे धनुः-परिकरम् । १२ जेतुमिच्छोः ।

तारकाकुमुदाकीर्णं नभःसरसि निर्मले । हंसायते स्म शीतांशु विक्षिप्तकरपक्षतिः^१ ॥२७॥
 नभोगुहाङ्गणे तेनः श्रियं पुष्पोपहारजाम् । तारकादिबन्धुहारतारमुक्ताफलद्विषः ॥२८॥
 बभूवन्भोऽन्धुधौ ताराः स्फुरन्मुक्ताफलामलाः । करका^२ द्व मेघोर्ध्वः निहिता^३ हिमशीतलाः ॥२९॥
 ज्योत्स्नासलिलसम्भूता इव बुद्बुदपङ्क्तयः । तारका सचिमातेनः विप्रकीर्णा नभोऽङ्गणे ॥३०॥
 तनुभूतपयोवेणो^४ नद्यः परिकुशा दधुः । वियुक्ता घनकालेन विरहिण्य इवाङ्गनाः ॥३१॥
 अनुद्धता गभीरत्वं भेजुः स्वच्छजलांशुकाः^५ । सरित्स्त्रियो घनापायाद् बंधव्यमिव^६ संश्रिताः ॥३२॥
 दिगङ्गना घनापायप्रकाशीभूतमूर्तयः । व्यावहासीमिवातेनः प्रसन्ना हंसमण्डलैः^७ ॥३३॥
 कूजितैः कलहंसानां निजिता इव तत्पङ्क्तयः । केकायितानि^८ शिखिनः सर्वः कालबलाद् बली ॥३४॥
 ज्योत्स्नावुकूलवसना लसन्नक्षत्रमालिका^९ । बन्धुजीवाधरा रेजे निर्मला शरदङ्गना ॥३५॥
 ज्योत्स्ना कीर्तिमिवातन्वन् विधुर्गगनमण्डले । शरत्लक्ष्मीं समासाद्य सुराजेष्वद्युततराम् ॥३६॥
 बन्धुजीवेषु^{१०} विन्यस्तराणां^{११} बाणकृतद्युतिः^{१२} । हंसी सखीवृत्ता रेजे नवोदेव^{१३} शरद्वधूः ॥३७॥

और कुमुदिनियोंसे सहित सरोवर ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सुशोभित आकाश को ही जीत रहा हो ॥२६॥ तारकारूप कुमुदोंसे भरे हुए आकाशरूपी निर्मल सरोवरमें अपने किरणरूप पंखोंको फैलाता हुआ चन्द्रमा ठीक हंसके समान आचरण करता था ॥२७॥ जिनकी कान्ति दिशारूपी स्त्रियोंके हारोंमें लगे हुए बड़े बड़े मोतियोंके समान है ऐसे तारागण आकाशरूपी घरके आंगनमें फूलोंके उपहारसे उत्पन्न हुई शोभाको बढ़ा रहे थे ॥२८॥ देदीप्यमान मुक्ताफलोंके समान निर्मल तारे आकाशरूपी समुद्रमें ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघों के समूहने बर्फके समान शीतल ओले ही धारण कर रखे हों ॥२९॥ आकाशरूपी आंगनमें जहां तहां बिखरे हुए तारागण ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो चांदनी रूप जलसे उत्पन्न हुए बबूलोंके समूह ही हों ॥३०॥ वर्षाकालरूपी पतिसे बिछुड़ी हुई नदियां विरहिणी स्त्रियोंके समान अत्यन्त कृश होकर जलके सूक्ष्म प्रवाहरूपी चोटियोंको धारण कर रही थीं ॥३१॥ वर्षाकालके नष्ट हो जानेसे नदीरूप स्त्रियां मानों बंधव्य अवस्थाको ही प्राप्त हो गई थीं, क्योंकि जिस प्रकार विधवाएं उद्धतता छोड़ देती हैं उसी प्रकार नदियोंने भी उद्धतता छोड़ दी थी, विधवाएं जिस प्रकार स्वच्छ (सफेद) वस्त्र धारण करती हैं उसी प्रकार नदियां भी स्वच्छ वस्त्ररूपी जल धारण कर रही थीं, और विधवाएं जिस प्रकार अगम्भीर वृत्तिको धारण करती हैं उसी प्रकार नदियां भी अगम्भीर अर्थात् उथली वृत्तिको धारण कर रही थीं ॥३२॥ मेघोंके नष्ट हो जानेसे जिनकी मूर्ति आकृति प्रकाशित हो रही है ऐसी दिशारूपी स्त्रियां अत्यन्त प्रसन्न हो रही थीं और हंसरूप आभरणोंके छलसे मानो एक दूसरेके प्रति हंस ही रही थीं ॥३३॥ उस समय मयूरोंने अपनी केका वाणी छोड़ दी थी, मानो कलहंस पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे पराजित होकर ही छोड़ दी हो, सो ठीक ही है क्योंकि समयके बलसे सभी बलवान् हो जाते हैं ॥३४॥ चांदनीरूपी रेशमी वस्त्र पहने हुए, देदीप्यमान नक्षत्रोंकी माला (पक्ष में सत्ताईस मणियोंवाला नक्षत्रमाला नामका हार) धारण किये हुए और दुपहरियाके फूल रूप अधरोंसे सहित वह निर्मल शरद्वृत्तरूपी स्त्री अतिशय सुशोभित हो रही थी ॥३५॥ शरद्वृत्तकी शोभा पाकर आकाशमण्डलमें चांदनीरूपी कीर्तिको फैलाता हुआ चन्द्रमा किसी उत्तम राजाके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३६॥ वह शरद्वृत्त नवोढ़ा स्त्रीके समान

१ किरणा एव पक्षतिः मूलं यस्य । २ वर्षोपलाः । ३ निक्षिप्ताः । ४ पयःप्रवाहा इत्यर्थः । ५ पक्षे श्वेतस्थूलवस्त्राः । ६ विधवाया भावः । ७ परस्परहासम् । ८ हंसमण्डनाः प०, इ०, द० । हंसमण्डनात् ल० । ९ मयूरस्तानि । १० तारकावली, पक्षे हारभेदः । ११ बन्धूकेषु बान्धवेषु च । १२ क्षिण्डि, पक्षे शर । १३ विकासः पक्षे कान्तिः । १४ नूतनविवाहिता ।

स्वयं^१ धीतमभाद् व्योम स्वयं^२ प्रच्छादितः शशी । स्वयं^३ प्रसादिता^४ नद्यः स्वयं^५ सम्मार्जिता दिशः ॥३८॥
 शरत्लक्ष्मीमुखालोकदर्पणे शशिमण्डले । प्रजादृशो भूति भेजुः असम्मृष्टसमुज्ज्वले ॥३९॥
 वनराजीस्ततामोदाः कुसुमाभरणोज्ज्वलाः । मधुग्रता भजन्ति स्म कृतकोलाहलस्वनाः ॥४०॥
 तन्व्यो^६ वनलता रेजुः विकासिकुसुमस्मिताः । सालका इव गन्धान्धविलोलातिकुलाकुलाः ॥४१॥
 वर्षोद्वराः^७ खुरोत्खातभुवस्तामोऽकृतेक्षणाः । वृषाः^८ प्रतिवृषालोककुपिताः प्रतिसस्वनः ॥४२॥
 प्रवास्किरन्त^९ शुङ्गाग्रैः वृषभा धीरनिःस्वनाः । वनस्थलीः^{१०} स्थलाम्भोजमृणालशकलाचिताः^{११} ॥४३॥
 वृषाः ककुदसंलग्नमूदः कुमुदपाण्डराः । व्यक्ताङ्कस्य मृगाङ्कस्य लक्ष्मीभबिमर^{१२}स्तदा ॥४४॥
 क्षीरप्लवमयीं कृत्स्नामातन्वाना वनस्थलीम् । प्रस्तुवाना वनान्तेषु प्रसन्नगोमतल्लिकाः^{१३} ॥४५॥
 कुण्डोऽध्वयोऽमृतपिण्डेन^{१४} घटिता इव निर्मलाः । गोमृष्टयो^{१५} वनान्तेषु शरच्छिष्य इवारुचन्^{१६} ॥४६॥

सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार नवोढ़ा स्त्री बन्धुजीव अर्थात् भाईबन्धुओंपर राग अर्थात् प्रेम रखती है उसी प्रकार वह शरद्ऋतु भी बन्धुजीव अर्थात् दुपहरियाके फूलोंपर राग अर्थात् लालिमा धारण कर रही थी, नवोढ़ा स्त्री जिस प्रकार देदीप्यमान होती है उसी प्रकार शरद्ऋतु भी बाण जातिके फूलोंसे देदीप्यमान हो रही थी और नवोढ़ा स्त्री जिस प्रकार सखियोंसे घिरी रहती है उसी प्रकार वह शरद्ऋतु भी हंसीरूपी सखियोंसे घिरी रहती थी ॥३७॥ उस समय आकाश अपने आप साफ किये हुऐके समान जान पड़ता था, चन्द्रमा अपने आप धोये हुऐके समान मालूम होता था, नदियां अपने आप स्वच्छ हुईं सी जान पड़ती थीं और दिशाएं अपने आप झाड़ु बहार कर साफ की हुईंके समान मालूम होती थीं ॥३८॥ जो शरद्ऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख देखनेके लिये दर्पणके समान हैं और जो बिना साफ किये ही अत्यन्त उज्ज्वल है ऐसे चन्द्रमण्डलमें प्रजाके नेत्र बड़ा भारी संतोष प्राप्त करते थे ॥३९॥ जिनकी सुगन्धि चारों ओर फैल रही है और जो फूलरूप आभरणोंसे उज्ज्वल हो रही हैं ऐसी वन-पक्षियोंको भ्रमर कोलाहल शब्द करते हुए सेवन कर रहे थे ॥४०॥ जो फूले हुए पुष्परूपी मन्द हास्यसे सहित थीं तथा गन्धसे अंधे हुए भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त होनेके कारण जो सुन्दर केशोंसे सुशोभित थीं ऐसी वनकी लताएं उस समय कृश शरीरवाली स्त्रियोंके समान शोभा पा रही थीं ॥४१॥ जो खुरोंसे पृथिवीको खोद रहे थे, जिनकी आंखें लाल लाल हो रही थीं और जो दूसरे बैलोंके देखनेसे क्रोधित हो रहे थे ऐसे मदोन्मत्त बैल अन्य बैलोंके शब्द सुनकर बदलेमें स्वयं शब्द कर रहे थे ॥४२॥ उसी प्रकार गम्भीर शब्द करते हुए वे बैल अपने सींगोंके अग्रभागसे स्थलकमलोंके मृणालके टुकड़ोंसे व्याप्त हुई वनकी पृथिवीको खोद रहे थे ॥४३॥ इसी तरह उस शरद्ऋतुमें जिनके कांधौलपर मिट्टी लग रही है और जो कुमुद पुष्पके समान अत्यन्त सफेद हैं ऐसे वे बैल स्पष्ट चिह्नवाले चन्द्रमाकी शोभा धारण कर रहे थे ॥४४॥ जिनसे अपने आप दूध निकल रहा है ऐसी उत्तम गायें वनकी सम्पूर्ण पृथिवीको दूधके प्रवाहके रूप करती हुई वनोंके भीतर जहां तहां फिर रही थीं ॥४५॥ इसी प्रकार जिनके स्तन कुण्डके समान भारी हैं और जो अमृतके पिण्डसे बनी हुईंके समान अत्यन्त निर्मल हैं ऐसी तुरन्तकी प्रसूत हुई गायें वनोंके मध्यमें शरद्ऋतुकी शोभाके समान जान पड़ती थीं ॥४६॥

१ आत्मना प्रसन्नमित्यर्थः । २ प्रसन्निकृताः । ३ कृशाः अङ्गनाश्च । ४ उत्कृष्टाः । ५ वृषभाः । ६ किरन्ति स्म । ७ वनस्थलीं ल० । ८ —चिताम् ल० । ९ धरन्ति स्म । १० प्रशस्तगावः । 'मतल्लिका मचचिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजी । प्रशस्तवाचवान्यमूनि' इत्यभिधानात् । ११ पिठराधीनाः । पिठरः स्थाव्युभा कुण्डमित्यभिधानात् । "ऊधस्तु बलीबमापीनम्" । ऊधसोऽनम् इति सूत्रात् सकारस्य नकारादेशः । १२ सकृत्प्रसूता गावः । 'गृष्टिः सकृत्प्रसूतिका' इत्यभिधानात् । १३ इवाभवन् ल० ।

हुम्भारवभृती^१ वत्सानापिप्य^२ अकृतस्वनान्^३ । पीनापीनाः^४ पयस्विन्यः^५ पयःपीयूषमुत्सुकाः^६ ॥४७॥
 क्षीरस्यतो^७ निजान्वत्सान् हुम्भागम्भीरनिःस्वनान् । धेनुष्याः^८ पाथयन्ति स्म गोपैरपि नियन्त्रिताः ॥४८॥
 प्राक्स्वीया जलदा जाताः शिखिनामप्रियास्तदा । रिक्ता जलघनापायाद् श्रहो कष्टा दरिद्रता ॥४९॥
 व्यावहासीमिवातेनुः गिरयः पुष्पितेर्बुधैः । व्यात्युक्षीमिव^९ तन्वानाः स्फुरन्निर्भरशीकरैः ॥५०॥
 प्रवृद्धवयसो^{१०} रेजुः कलमा भृशमानताः । परिणामात्प्रशुष्यन्तो^{११} जरन्तः^{१२} पुरुषा इव ॥५१॥
 विरेजुरस^{१३} नापुष्पैः मंशालिपटलावृतैः । इन्द्रनीलकृतान्तयैः^{१४} सौवर्णैरिव भूषणैः ॥५२॥
 घनावरणनिर्मुक्ता दधुराशा दृशां मुदम् । नटिका^{१५} इव नेषध्यगृहाव्रजग^{१६} सुपागताः ॥५३॥
 अदधुर्घनवृन्दानि मुक्तासाराणि^{१७} भूधराः । सदशानीव^{१८} वासांसि^{१९} निष्प्रवाणीनि^{२०} सानुभिः ॥५४॥
 पयनाधोरणाख्ण्डा^{२१} भूभुजै^{२२} मूतदन्तिनः । सान्तर्गजा निकुञ्जेषु^{२३} सासारमदशीकराः ॥५५॥
 शुकावलीप्रवालाभचञ्चुस्तेने दिवि^{२४} श्रियम् । हरिन्मणिपिण्डेव तोरणाली सपद्मभा^{२५} ॥५६॥

जिनके स्तन बहुत ही स्थूल हैं और जो हंभा शब्द कर रही हैं ऐसे दूधवाली गायें दूध पीनेके लिये उत्सुक हुए तथा बार बार हंभा शब्द करते हुए अपने बच्चोंको दूधरूपी अमृत पिला रही थीं ॥४७॥ इसी प्रकार हंभा ऐसा गंभीर शब्द करनेवाली गायें ग्वालाओंके द्वारा अलग बांध दिये जानेपर भी दूध पीनेकी इच्छा करनेवाले अपने बच्चोंको दूध पिला ही रही थीं ॥४८॥ जो मेघ पहले मयूरोंको अत्यन्त प्रिय थे वे ही अब शरदऋतुमें जलरूप धनके नष्ट हो जानेसे खाली होकर उन्हें अप्रिय हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि दरिद्रता बहुत ही कष्ट देनेवाली होती है ॥४९॥ उस समय फूले हुए वृक्षोंसे पर्वत ऐसे जान पड़ते थे मानो परस्पर में हँसी ही कर रहे हों और भरते हुए भरनोंके छोटोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो फाग ही कर रहे हों—विनोदवश एक दूसरेके ऊपर जल डाल रहे हों ॥५०॥ कलमी जाति के धान, जो कि बहुत दिनके थे अथवा जिनके समीप बहुत पक्षी बैठे हुए थे, जो खूब नव रहे थे और जो अपने परिपाकसे जगत्के समस्त जीवोंका पोषण करते थे, वे ठीक वृद्ध पुरुषोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥५१॥ सहजनाके वृक्ष मदोन्मत्त भूमरोंके समूहसे घिरे हुए अपने फूलोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके मध्यभागमें इन्द्रनील मणि लगा हुआ है ऐसे सुवर्णमय आभूषणोंसे ही सुशोभित हो रहे हों ॥५२॥ जिस प्रकार आभूषण आदि पहिननेके परदेवाले घरसे निकल कर रंगभूमिमें आई हुई नृत्यकारिणी नेत्रोंको आनन्द देती है उसी प्रकार मेघोंके आवरणसे छूटी हुई दिशाएं नेत्रोंको अतिशय आनन्द दे रही थीं ॥५३॥ पर्वतोंने जो अपनी शिखरों पर जल-रहित सफेद बादलोंके समूह धाराण किए थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अंचल-सहित नवीन वस्त्र ही हों ॥५४॥ जिनपर वायुरूपी महावत बैठे हुए हैं, जो भीतर ही भीतर गरज रहे हैं और जो लतागूहोंमें जलकी बूंदें रूपी मदधाराकी बूंदें छोड़ रहे हैं ऐसे मेघरूपी हाथी जहाँ तहाँ फिर रहे थे ॥५५॥ जिनकी चोंच मूंगा के समान लाल है ऐसी तोताओंकी

१ हुंभा इत्यनुकरणावभूतः । २ पाथयन्ति स्म । ३ प्रकर्षेण कृत । ४ प्रवृद्धोद्यसः । ५ धेनवः । ६ —मुत्सुकाम् ल० । ७ क्षीरमात्मानमिच्छन् । ८ 'धेनुष्या बन्धके स्थिता' इत्यभिधानात् । ९ परस्पर-हसनम् । १० परस्परसेचनम् । ११ वृद्धवयस्काः प्रवृद्धपक्षिणश्च । १२ परिपक्वात् । १३ वृद्धाः । १४ सर्जकाः । १५ मध्यैरित्यर्थः । १६ नर्तक्यः । १७ अलंकारगृहात् । १८ वर्षाणि । १९ वस्त्रिस्तितानि । 'स्त्रियां बहुत्वे वस्त्रस्य दशा स्पृशस्त्यः' इत्यभिधानात् । अन्यदपि दशावर्तावस्थायां वस्त्रान्ते स्पृशता अपि । २० वस्त्राणि । २१ नूतनानि । 'अनाहतं निष्प्रवाणि तन्त्रकं च नवाम्बरे' इत्यभिधानात् । २२ हस्तिपक । 'अधोरणो हस्तिपकः' इत्यभिधानात् । २३ मेघ । २४ सानुषु । २५ आकाशे । २६ पद्मरागसहिता ।

चेतांसि तरणाङ्गोपजीविनामुद्धतात्मनाम् । पुंसां ज्युताधिकाराणामिव दैन्यमुपागमन् ॥५७॥
 प्रतापी भुवनस्यैकं चक्षुर्नित्यमहोदयः । भास्वानाक्रान्ततेजस्वी चभासे भरतेश्वरत् ॥५८॥
 इति प्रस्पष्टचन्द्रांशुप्रहासे शरदागमे । चक्रे दिग्विजयोद्योगं चक्री चक्रपुरस्सरम् ॥५९॥
 प्रस्थानभैर्यो गम्भीरप्रध्वानाः प्रहतास्तदा । श्रुता बहिर्भिरुद्ग्रीवैः घनाङ्गुलशङ्किभिः ॥६०॥
 कृतमङ्गलनेपथ्यो^१ बभारोरस्थलं प्रभुः । शरल्लक्ष्म्येव सम्भक्तं^२ सहारहरिचन्दनम् ॥६१॥
 ज्योत्स्नामये कुक्कुले च शुक्ले परिदधौ नृपः । शरच्छिद्योपनीते वा मृदुनी दिव्यवाससी ॥६२॥
 प्राजानुलम्बिता ब्रह्मसूत्रेण विबभौ विभुः । हिमाद्रिरिव गङ्गास्रवप्रवाहेण तटस्पृशा ॥६३॥
 'किरीटोदग्रमूर्धासौ कर्णाभ्यां कुण्डले वधौ । चन्द्रार्कमण्डले वक्तुमिवायाते ज्योत्सवम् ॥६४॥
 वक्षःस्थलेऽस्य रुक्मे रुचिरः कौस्तुभो मणिः । जयलक्ष्मीसमुद्गाहमङ्गलाशंसिदीपवत् ॥६५॥

पंक्ति आकाशमें ऐसी शोभा बढ़ा रही थी मानो पद्मराग मणियोंकी कान्ति सहित हरित मणियों की बनी हुई वन्दनमाला ही हो ॥५६॥ जिस प्रकार अधिकारसे भूष्ट हुए मनुष्योंके चित्त दीनताको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार नावोंके द्वारा आजीविका करनेवाले उद्धत मल्लाहोंके चित्त दीनताको प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ—शरद्ऋतुमें नदियोंका पानी कम हो जानेसे नाव चलानेवाले लोगोंका व्यापार बन्द हो गया था इसलिये उनके चित्त दुःखी हो रहे थे ॥५७॥ उस समय सूर्य भी ठीक महाराज भरतके समान देदीप्यमान हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार भरत प्रतापी थे उसी प्रकार सूर्य भी प्रतापी था, जिस प्रकार भरत लोकके एकमात्र नेत्र थे अर्थात् सबको हिताहितका मार्ग दिखानेवाले थे उसी प्रकार सूर्य भी लोकका एक मात्र नेत्र था, जिस प्रकार भरतका तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था उसी प्रकार सूर्यका भी तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार भरतने अन्य तेजस्वी राजाओंको दबा दिया था उसी प्रकार सूर्यने भी अन्य चन्द्रमा तारा आदि तेजस्वी पदार्थोंको दबा दिया था—अपने तेजसे उनका तेज नष्ट कर दिया था ॥५८॥ इस प्रकार अत्यन्त निर्मल चन्द्रमाकी किरणें ही जिसका हास्य है ऐसी शरद् ऋतुके आनेपर चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्न आगे कर दिग्विजय करनेके लिये उद्योग किया ॥५९॥

उस समय गम्भीर शब्द करते हुए प्रस्थान कालके नगाड़े बज रहे थे, जिन्हें मेघके आङ्गुलकी शंका करनेवाले मयूर अपनी ग्रीवा ऊंची उठाकर सुन रहे थे ॥६०॥ उस समय जिन्होंने मङ्गलमय वस्त्राभूषण धारण किये हैं ऐसे महाराज भरत हार तथा सफेद चन्दन से सुशोभित जिस वक्षःस्थलको धारण किये हुए थे वह ऐसा जान पड़ता था मानो शरद्ऋतु रूपी लक्ष्मी ही उसकी सेवा कर रही हो ॥६१॥ महाराज भरतने चांदनीसे बने हुएके समान सफेद, बारीक और कोमल जिन दो दिव्य वस्त्रोंको धारण किया था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरद्ऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा ही उपहारमें लाये गये हों ॥६२॥ घुटनों तक लटकते हुए ब्रह्मसूत्रसे महाराज भरत ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसा कि तटको स्पर्श करनेवाले गंगा जलके प्रवाहसे हिमवान् पर्वत सुशोभित होता है ॥६३॥ मुकुट लगानेसे जिनका मस्तक बहुत ऊंचा हो रहा है ऐसे भरत महाराजने अपने दोनों कानोंमें जो कुण्डल धारण किये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो ज्योत्सवकी बधाई देनेके लिये सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल ही आये हों ॥६४॥ भरतेश्वरके वक्षःस्थलपर देदीप्यमान कौस्तुभ मणि ऐसा सुशोभित होता था,

१ द्रोण्युडुपालुपजीविनाम् । नदीतारकाणामित्यर्थः । २ गङ्गालालङ्कारः । ३ सेवितम् ।
 ४ किरीटोदग्र—ल०, द०, अ०, स० ।

विधुबिम्बप्रतिस्पर्धि 'दधे'ऽस्यातपवारणम् । 'तन्निभेनैन्दवं' बिम्बमागत्येव सिषेविषु ॥६६॥
 तदस्य रुचिमातेने धृतमातपवारणम् । चूडारत्नांशुभिभिन्न^१ सारणांशिव^२ पङ्कजम् ॥६७॥
 स्वर्धुनीशोकरस्पर्धि चामराणां कदम्बकम् । 'दुधुवृन्तारिण्योऽस्य' दिक्कन्या इव संश्रिताः^३ ॥६८॥
 ततः स्थपतिरत्नेन निर्ममे^४ स्यन्वतो महान् । सुवर्णमणिचित्राङ्गो^५ मेरुकञ्जश्रियं^६ हसन ॥६९॥
 चक्ररत्नप्रतिस्पर्धिचक्रद्वितयसङ्गतः । वज्राक्षघटितो^७ रेजे रथोऽस्येव मनोरथः ॥७०॥
 कामगंवागुरहोभिः^८ कुमुदोज्ज्वलकान्तिभिः । यशोवितानसंकाशः स रथोऽयोजि^९ वाजिभिः ॥७१॥
 स तं स्यन्दनमारुक्षद्युक्तसारथ्यधिष्ठितम्^{१०} । नितम्बदेशमद्रीशः^{११} सुरराडिव चक्राद् ॥७२॥
 ततः प्रास्थानिकैः^{१२} पुण्यनिर्घोषैरभिनन्दितः । प्रतस्थे दिग्जयोद्युक्तः कृतप्रस्थानमङ्गलः ॥७३॥
 तदा नभोऽङ्गणं कृत्स्नं जयघोषैररुध्यत । नृपाङ्गणं च संरुद्धम् अभवत् सैन्यनायकैः ॥७४॥
 महामुकुटबद्धास्तं परिवव्रुः समन्ततः । दूरात् प्रणतमूर्धनः सुरराजमिवामराः ॥७५॥
 प्रचचाल बलं विष्वग् आरुद्धपुरवीथिकम् । महायोधमयी^{१३} सृष्टिः अपूर्ववाभवत्तदा ॥७६॥

मानो विजयलक्ष्मीके विवाहरूपी मंगलकी सूचना देनेवाला दीपक ही हो ॥६५॥ उन्होंने चन्द्रमण्डलके साथ स्पर्धा करनेवाले जिस छत्रको धारण किया था वह ऐसा जान पड़ता था मानो उस छत्रके बहानेसे स्वयं चन्द्रमण्डल ही आकर उनकी सेवा करना चाहता हो ॥६६॥ महाराज भरतने जो छत्र धारण किया था वह चूडारत्नकी किरणोंसे मिलकर ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो सूर्यकी लाल किरणों सहित कमल ही हो ॥६७॥ जो वाराङ्गनाएं महाराज भरतके आस-पास गंगाके जल की बूंदोंके साथ स्पर्धा करनेवाले चमरोंके समूह ढल रहीं थीं ऐसी जान पड़ती थीं मानो अच्छी तरहसे आई हुई दिक्कन्याएं ही हों ॥६८॥ तदनन्तर स्थपति रत्नने एक बड़ा भारी रथ तैयार किया जो कि सुवर्ण और मणियोंसे चित्र विचित्र दिखनेवाले मेरु पर्वतके लतागृहोंकी शोभाकी ओर हँस रहा था ॥६९॥ वह रथ चक्ररत्नकी प्रतिस्पर्धा करनेवाले दो पहियोंसे सहित था तथा वज्रके बने हुए अक्ष (दोनों पहियोंके बीचमें पड़ा हुआ मजबूत लोहदंड-भौरा) से युक्त था इसलिये महाराज भरतके मनोरथके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥७०॥ उस रथमें जो घोड़े जोते गये थे वे इच्छानुसार गमन करते थे, वायुके समान वेगशाली थे, कुमुदके समान उज्ज्वल कान्तिवाले थे और यशके समूह के समान जान पड़ते थे ॥७१॥ जिस प्रकार इन्द्र मेरु पर्वतके तटपर आरुढ़ होता है उसी प्रकार भरतेश्वर, जिसपर योग्य सारथि (हांकनेवाला) बैठा है ऐसे रथपर आरुढ़ हुआ ॥७२॥ तदनन्तर प्रस्थान समयमें होनेवाले 'जय' 'जय' आदि पुण्य शब्दोंके द्वारा जिनका अभिनन्दन किया जा रहा है, जो दिग्विजयकी समस्त तैयारियां कर चुके हैं और जिनके साथ प्रस्थान-कालीन सभी मंगलाचार किये जा चुके हैं ऐसे महाराज भरतने प्रस्थान किया ॥७३॥ उस समय आकाशरूपी समस्त आंगन जय जय शब्दोंकी घोषणासे भर गया था, और राजाका आंगन सेनापतियोंसे भर गया था ॥७४॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रको घेर कर खड़े हो जाते हैं उसी प्रकार दूरसे ही मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हुए महामुकुट बद्ध राजा लोग भरत को घेरे हुए चारों ओर खड़े थे ॥७५॥ जिसने चारों ओरसे नगरकी समस्त गलियोंको रोक लिया है ऐसी वह सेना चलने लगी । उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो यों बड़े-बड़े

१ दधे ल० । २ आतपवारणव्याजेन । ३ मिश्रम् । ४ सूर्यकिरणसहितम् । ५ वीजयन्ति स्म ।
 ६ संसृताः ल० । ७ रच्यते स्म । ८ अवयव । ९ तट । १० वरुणाङ्ग । ११ वेगवद्भिः ।
 १२ इज्यते स्म । १३ युक्तिपरसारथिसमाश्रितम् । १४ मेरोः । १५ प्रस्थाने नियुक्तैः ।
 १६ भटमयी ।

पुरः^१ पादात्तमाश्रयीं रथकड्या^२ च हास्तिकम् । क्रमाभिरी^३ पुरावेष्टय सपताकं रथं प्रभोः ॥७७॥
 रथ्या^४ रथ्याश्वसंघट्टाद् उत्थितैर्हमरेणुभिः । बलश्रोदाशमाश्रयोम समुत्पेतुरिव^५ स्वयम् ॥७८॥
 रौक्मं रजोभिराकीर्णं तदा रेजं नभोऽजिरम् । स्पृष्टं^६ बालातपेनेव पटवासेन वाततम्^७ ॥७९॥
 शनंः शनंजनेनमुक्ता विरेजुः पुरवीथयः । कल्लोलैरिव^८ वेलोत्थैः महाब्धेस्तीरभूमयः ॥८०॥
 पुराङ्गनाभिश्चमुक्ताः सुमनोज्ज्वलयोऽपतन् । सीधवातायनस्थाभिः दृष्टिपातैः समं प्रभौ ॥८१॥
 जयेश विजयिन् विश्वं विजयस्व विशो दश । पुण्याशिषां शतैरित्थं पौराः प्रभुमयूयुजन्^९ ॥८२॥
 सम्राट् पश्यस्योध्यायाः पशं भूतिं^{१०} तदातनीम्^{११} । शनैः प्रतोली^{१२} सम्प्रापद् रत्नतोरणभासुराम् ॥८३॥
 पुरो बहिः पुरः पश्चात् समं च बिभुनाऽमुना । वदशे दृष्टिपर्यन्तम् असङ्ख्यचमिष तद्वत् ॥८४॥
 जगतः प्रसवागारादिव तस्मात् पुराद् बलम् । निरियाय निरुच्छ्वासं^{१३} शनैरारुढगोपुरम् ॥८५॥
 किमिदं प्रलयशोभात् क्षुभितं चारिचञ्जलम् । किमुत त्रिजगत्सर्गः^{१४} प्रत्यग्रोऽयं विजृम्भते ॥८६॥
 इत्याशङ्क्य नभोभाभिः सुरैः साश्चर्यमोक्षितम् । प्रससार बलं विष्वक्पुरात्रियाय चक्रिणः ॥८७॥

योद्धाओंकी एक अपूर्व सृष्टि ही उत्पन्न हुई हो ॥७७॥ सबसे पहले पैदल चलनेवाले सैनिकोंका समूह था, उसके पीछे घोड़ोंका समूह था, उसके पीछे रथोंका समूह और उसके पीछे हाथियों का समूह था । इस प्रकार वह सेना पताकाओंसे सहित महाराजके रथको घेरकर अनुक्रम से निकली ॥७७॥ जिन मार्गोंसे वह सेना जा रही थी वे मार्ग रथ और घोड़ोंके संघटनसे उठी हुई सुवर्णमय धूलिसे ऐसे जान पड़ते थे मानो सेनाका आघात सहनेमें असमर्थ होकर स्वयं आकाशमें ही उड़ गये हों ॥७८॥ उस समय सुवर्णमय धूलिसे भरा हुआ आकाशरूपी आंगन ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बालसूर्यकी सुनहली प्रभासे स्पर्श किया गया हो, और सुगन्धित धूलिसे ही व्याप्त हो गया हो ॥७९॥ धीरे धीरे लोग नगरकी गलियोंको छोड़कर आगे निकल गये जिससे खाली हुई वे गलियां ऐसी जान पड़ती थीं मानो ज्वारभाटासे उठी हुई लहरोंके चले जानेपर खाली हुई समुद्रके किनारे की भूमि ही हों ॥८०॥ उस समय बड़े बड़े मकानोंके झरोखोंमें खड़ी हुई नगर-निवासिनी स्त्रियोंके द्वारा अपने अपने कटाक्षोंके साथ छोड़ी हुई पुण्याञ्जलियां महाराज भरतके ऊपर पड़ रही थीं ॥८१॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे विजय करनेवाले महाराज, आप संसारका विजय करें और दशों दिशाओंको जीतें; इस प्रकार सैकड़ों पुण्याशीर्वादोंके द्वारा नगरनिवासी लोग भरतकी पूजा कर रहे थे—उनके प्रति सन्मान प्रकट कर रहे थे ॥८२॥ इस प्रकार उस समय होनेवाली अयोध्याकी उत्कृष्ट विभूतिको देखने हुए सम्राट् भरत धीरे धीरे रत्नोंके तोरणोंसे देवीप्यमान गोपुरद्वारको प्राप्त हुए ॥८३॥ उस समय महाराज भरतको नगरके बाहर अपने आगे पीछे और साथ साथ जहांतक दृष्टि पड़ती थी वहां तक असंख्यात सेना ही सेना दिखाई पड़ती थी ॥८४॥ जगत्की उत्पत्तिके घरके समान उस अयोध्यापुरीसे वह सेना गोपुरद्वारको रोकती हुई बड़ी कठिनातासे धीरे धीरे बाहर निकली ॥८५॥ क्या यह प्रलय कालके क्षोभसे क्षोभको प्राप्त हुआ समुद्रका जल है ? अथवा यह तीनों लोकोंकी नवीन सृष्टि उत्पन्न हो रही है ? इस प्रकार आशंका कर आकाशमें खड़े हुए देव लोग जिसे बड़े आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसी चक्रवर्तीकी वह सेना नगरसे निकल कर चारों ओर फैल गई ॥८६—८७॥

१ पदातीमां समूहः । २—कट्या ल० । ३ निर्गच्छन्ति स्म । ४ रथनियुक्तवाजी । रथाश्वः ५०, ल०, इ० । ५ उत्पतन्ति स्म । ६ स्पृष्टं ल० । ७ चाततम् । ८ जलविकारोत्थैः 'अब्ध्यम्बुविकृता वेला' इत्यभिधानात् । ९—मयूयुजन् ल० । १० सम्पदम् । ११ तत्कालजाम् । १२ गोपुरम् । १३ उच्छ्वासाभिष्क्रान्तं यथा भवति तथा । ससङ्कटमिति यावत् । १४ त्रिलोकसृष्टिः ।

ततः प्राचीं^१ दिशं जेतुं कृतोद्योगो विशाम्पतिः । प्रयथौ प्राप्नुवो भूत्वा चक्ररत्नमनुव्रजन् ॥८८॥
 चक्रमस्य ज्वलद्ब्योम्नि प्रयाति स्म पुरो विभोः । सुरैः परिष्कृतं^२ विश्वाम्भास्व^३ द्विम्बप्रभास्वरम् ॥८९॥
 चक्रानुयायि तद्भजे^४ निधीयामीशितुर्बलम् । गुरोरिच्छानुवर्तिष्णुं मुनीनामिव मण्डलम् ॥९०॥
 दण्डरत्नं पुरोधाय सेनातीरप्रणीरभूत् । स्वपुटानि^५ समीकुर्वन् स्थलदुर्गण्ययत्नतः ॥९१॥
 अग्रग्या दण्डरत्नेन पथि राजपथीकृते । यथेष्टं^६ प्रययो सैन्यं क्वचिदप्यस्वलदगति ॥९२॥
 ततोऽध्वनि विशामीशः सोऽपश्यच्चक्षारदीं श्रियम् । दिशां प्रसाधनीं कीर्तिम् आत्मीयाभिव निर्मलाम् ॥९३॥
 सरांसि कमलामोदन् उद्धमन्ति शरच्छिद्यः । मुखाधितानि सम्प्रेक्ष्य सोऽभ्यनन्ददधोशिता ॥९४॥
 स हंसान् सरसांतीरेष्वपश्यत् कृतशिञ्जितान्^७ । मृणालपीथं^८ सम्पुष्टात् शरदः पुत्रकानिव ॥९५॥
 चञ्च्वा मृणालमुद्धृत्य हंसो हंस्यं समर्पयन् । राजहंसस्य^९ हृदयस्य^{१०} महतीं धृतिमावदे ॥९६॥
 सधीर्जी^{११} वीचिसंछदाम् अपश्यन् परितः^{१२} सरः । कोकः^{१३} कोकूयमानोऽस्य मनसः प्रीतिमातनोत् ॥९७॥
 "हंसयूनाब्जकिञ्जल्करजःपिञ्जरितां निजाम् । वधूं विधूतां^{१४} सोऽपश्यच्चक्रवाकीविशङ्कया ॥९८॥
 तरङ्गधैर्यवलीभूतविग्रहां कीककामिनीम् । व्यामोहादनुधावन्तं स^{१५} जरद्वंसमैक्षत ॥९९॥
 नदीपुलिनदेशेषु हंससारसहारिषु । शयनेष्विव तस्यासीद् धृतिः शुचिमसोमसु^{१६} ॥१००॥

तदनन्तर जिन्होंने सबसे पहले पूर्व दिशाको जीतनेका उद्योग किया है ऐसे महाराज भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे जाते हुए पूर्वकी ओर मुखकर प्रयाण किया ॥८८॥ सूर्यमण्डल के समान देदीप्यमान और चारों ओरसे देव लोगोंके द्वारा घिरा हुआ जाज्वल्यमान चक्ररत्न आकाशमें भरतेस्वरके आगे-आगे चल रहा था ॥८९॥ जिस प्रकार मुनियोंका समूह गुरुकी इच्छानुसार चलता है उसी प्रकार निधियोंके स्वामी महाराज भरतकी वह सेना चक्ररत्न की इच्छानुसार उसके पीछे पीछे चल रही थी ॥९०॥ दण्डरत्नको आगे कर सेनापति सबसे आगे चल रहा था और वह ऊंचे नीचे दुर्गम वनस्थलोंको लीलापूर्वक एकसा करता जाता था ॥९१॥ आगे चलनेवाला दण्डरत्न सब मार्गको राजमार्गके समान विस्तृत और सम करता जाता था इसलिये वह सेना किसी भी जगह खलित न होती हुई इच्छानुसार जा रही थी ॥९२॥ तदनन्तर मार्गमें प्रजापति-भरतने दिशाओंको अलंकृत करनेवाली अपनी कीर्तिके समान निर्मल शरद् ऋतुकी शोभा देखी ॥९३॥ शरद् ऋतुलक्ष्मी लक्ष्मीके मुखके समान जो सरोवर कमल की सुगन्धि छोड़ रहे थे उन्हें देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए ॥९४॥ सरोवरोंके किनारेपर मधुर शब्द करते हुए और मृणाललक्ष्मी मक्खन खाकर पुष्ट हुए हंसोंको भरतेस्वर ने शरद्ऋतुके पुत्रोंके समान देखा ॥९५॥ जो हंस अपनी चोंचसे मृणालको उठाकर हंसीके लिये दे रहा था उसने, सब राजाओंमें श्रेष्ठ इन भरत महाराजके हृदयमें बड़ा भारी संतोष उत्पन्न किया था ॥९६॥ जो चक्रवा लहरोंसे रुकी हुई चक्रवीको न देखकर सरोवरके चारों ओर शब्द कर रहा था उसने भी भरतके मनकी प्रीतिको अत्यन्त विस्तृत किया था ॥९७॥ एक तरुण हंसने कमल केशरकी धूलिसे पीली हुई अपनी हंसीको चक्रवी समझकर भूलसे छोड़ दिया था महाराज भरतने यह भी देखा ॥९८॥ लहरोंसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चक्रवीको हंसी समझकर और उसपर मोहित होकर एक बूढ़ा हंस उसके पीछे-पीछे दौड़ रहा था--महाराज भरतने यह भी देखा ॥९९॥ जिनकी सीमाएं अत्यन्त पवित्र हैं जो हंस तथा

- १ पूर्वाम् । २ परिष्कृतं ल० । ३ सूर्यविम्बम् । ४ तद्भजे ल० । ५ निम्नोन्नतानि ।
 ६ शिञ्जितान् प०, द०, ल० । ७ क्षीरवनीत । स्वर्णयोनवनीतमित्यर्थः । ८ राजश्रेष्ठस्य । ९ हृदये ।
 १० प्रियाम् । ११ सरसः समन्तात् । १२ भृशं स्वरं कुर्वाणः । १३ तरुणहंसेन । १४ अवज्ञाताम् ।
 १५ अक्री । १६ शुचित्वस्यावधिषु ।

‘रोधोत्तलाशिखोत्सुष्टपुष्पप्रकटशोभिनीः । सरित्तीरभुवोऽदर्शज्जलोच्छ्वासतरङ्गिताः ॥१०१॥
लतालयेषु रम्येषु रतिरस्थ प्रपश्यतः । स्वयं गलत्प्रसूनीघरचितप्रस्तरेष्वभूत् ॥१०२॥
व्यचिल्लतागृहान्तःस्थचन्द्रकान्तशिलाश्रितान् । स्वयशोगानसंस्रतान् किन्नरान् प्रभुरक्षत ॥१०३॥
व्यचिल्लताः प्रसूनेषु विलीनमधुवावतीः । विलोक्य स्वस्तकेजीनां सस्मार प्रिययोधिताम् ॥१०४॥
सुमनोर्वर्ममालेनुः प्रीत्येवास्याधिमूर्धजम् । पवनाभूतशाखायाः प्रकुल्ला मार्गशाखिनः ॥१०५॥
सञ्छायान् सफलान् तुङ्गान् सर्वसम्भोगसम्पदः । मार्गद्वयान् सवद्राक्षीत् स नृपाननुकुर्वतः ॥१०६॥
सरस्तीरभुवोऽपश्यत् सरोजरजसा तताः । सुवर्णकुट्टिभाशङ्कामध्वन्यहृदि तन्वतीः ॥१०७॥
बलरेणुभिरारुहे दोषांभ्ये नभस्यसी । कवणं हवती वीक्षाञ्चक्रे चक्राह्वकामिनीम् ॥१०८॥
गवां गणानयापश्यद्गोष्पदारण्यचारिणः । क्षीरमेघानिवाजलं क्षरत्क्षीरप्लुतान्तिकान् ॥१०९॥
सौरभेयान् स शृङ्गाग्रसमुत्प्लावितस्थलाम्बुजान् । मृणालानि यशांसीव किरतोऽपश्यदुन्मदान् ॥११०॥

सारस आदि पक्षियोंसे मनोहर हैं, और जो विछी हुई शय्याओंके समान जान पड़ते हैं ऐसे नदी-किनारेके प्रदेशोंपर महाराज भरतको भारी संतोष हुआ ॥१००॥ जो किनारेपर लगी हुई लताओंके अग्रभागसे गिरे हुए फूलोंके समूहसे सुशोभित हो रही हैं और जो जलके प्रवाह से उठी हुई लहरोंसे व्याप्त हैं ऐसी नदियोंके किनारेकी भूमि भी भरतेश्वरने बड़े प्रेमसे देखी थी ॥१०१॥ जिनमें अपने आप गिरे हुए फूलोंके समूहसे शय्याएं बनी हुई हैं ऐसे रमणीय लतागृहोंको देखते हुए भरतको उनमें भारी प्रीति उत्पन्न हुई थी ॥१०२॥ उन भरत महाराज ने कहीं कहींपर लतागृहोंके भीतर पड़ी हुई चन्द्रकान्ति मणिकी शिलाओंपर बैठे हुए और अपना यशगान करनेमें लगे हुए किन्नरोंको देखा था ॥१०३॥ कहीं कहींपर लताओंके फूलोंपर बैठे हुए भूमरोंके समूहोंको देखकर जिनकी थोड़ियां ढीली होकर नीचेकी ओर लटक रही हैं ऐसी प्रिय स्त्रियोंका स्मरण करता था ॥१०४॥ जिनकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे हैं ऐसे फूले हुए मार्गके वृक्ष मानो बड़े प्रेमसे ही भरत महाराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥१०५॥ वह भरत मार्गके दोनों ओर लगे हुए जिन वृक्षोंको देखते जाते थे वे वृक्ष राजाओंका अनुकरण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार राजा सञ्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी सञ्छाय अर्थात् उत्तम छांहरीसे सहित थे, जिस प्रकार राजा सफल अर्थात् अनेक प्रकारकी आयसे सहित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष सफल अर्थात् अनेक प्रकारके फलोंसे सहित थे, जिस प्रकार राजा तुङ्ग अर्थात् उदार प्रकृतिके होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी तुङ्ग अर्थात् ऊंचे थे और जिस प्रकार राजाओंकी सम्पदाएं सबके उपभोगमें आती हैं उसी प्रकार उन वृक्षोंकी फल पुष्प पत्तल आदि सम्पदाएं भी सबके उपभोगमें आती थीं ॥१०६॥ जो सरोवरोंके किनारेकी भूमियां कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रही थीं और इसीलिये जो पक्षियोंके हृदयमें क्या यह सुवर्णकी धूलियोंसे व्याप्त हैं, इस प्रकार शंका कर रहीं थीं; उन्हें भी महाराज भरत देखते जाते थे ॥१०७॥ सेनाकी धूलिसे भरे हुए और इसीलिये रात्रिके समान जान पड़नेवाले आकाशमें रात्रि समझ कर रोती हुई चकवीको देखकर महाराज भरतके हृदयमें बड़ी दया उत्पन्न हो रही थी ॥१०८॥ कुछ आगे चलकर उन्होंने जंगलोंकी गोचरभूमिमें चरते हुए गायोंके समूह देखे, वे गायोंके समूह दूधके मेघोंके समान निरन्तर भरते हुए दूधसे अपनी समीपवर्ती भूमिको तर कर रहे थे ॥१०९॥ जिन्होंने अपने सींगोंके

१ तटलता । “कूलं रोधश्च तीरश्च तटं त्रिषु” इत्यभिधानात् । २ केशेषु । ३ रजसा-ल० । ४ आत्मानं दोषां रात्रिं मन्यत इति । ५ क्रियाविशेषणानां नपुंसकत्वं द्वितीया वक्तव्या । ६ आलुलोके । ७ गोगम्यवन ।

वात्सकं क्षीरसम्पोषादिव निर्मलविग्रहम् । सोऽपश्यञ्चापलस्येव परां कोटिं कृतोत्प्लुतम् ॥१११॥
 स पक्वकणिशानमूलमक्षेत्रमैक्षत । नोद्धृत्य फलयोगीति नृणां अक्षुभियोद्धतम् ॥११२॥
 वप्रान्तर्भुवमाघातुमिवोत्पलमिवानतान्^१ । स कैबायैकु^२ कलमान् वीक्ष्यानन्वं परं ययौ ॥११३॥
 फलानतान् स्तम्बकरीन् सोऽपश्यद् वप्रभूमिषु । स्वजन्महेतुन् केवाराश्रमस्यत इवाबरात् ॥११४॥
 आपीतपयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः । पयस्विनीरिवापश्यत् प्रसूताः शालिसम्पदः ॥११५॥
 'अवतंसितनीलाब्जाः कञ्जरेणुभ्रितस्तनीः । इक्षुदण्डभृतोऽपश्यच्छालींश्चोत्कुर्वतीः'^३ स्त्रियः ॥११६॥
 हारिगीतस्वनाकुण्ठैः वेष्टिता हंसमण्डलैः । शालिगोप्यो वृशोरस्य मुहं तेनुर्बूटिकाः ॥११७॥
 कृताध्वगोपरोधानि गीतानि दधतीः सतीः । न्यस्तावतंसाः कणिशः शालिगोपीर्बदं सः ॥११८॥
 सुगन्धिमुखनिःश्वासा भूमरैराकुलीकृताः । मनोऽस्य जल्लुः शालीनां पालिकाः^४ कलबालिकाः ॥११९॥
 उपाध्वं^५ 'प्रकृतक्षेत्रान् क्षेत्रिणः परिधावतः । बलोपरोधैरायस्तानैक्षतासौ'^६ सकौसुकम् ॥१२०॥

अग्रभागसे स्थलकमल उखाड़ डाले हैं और जो अपने यशके समान उनकी मृणालींको जहां तहां फेंक रहे हैं ऐसे उन्मत्त बैल भी भरत महाराजने देखे थे ॥११०॥ दूधसे पालन पोषण होनेके कारण ही मानो जिनका निर्मल-सफेद शरीर है, जो चंचलताकी अन्तिम सीमाके समान जान पड़ते हैं और जो बार बार उछल-कूद रहे हैं ऐसे गायोंके बछड़ोंके समूह भी भरतेश्वर देखते जाते थे ॥१११॥ भरत महाराज पकी हुई बालोंसे नन्नीभूत हुए धानोंके खेत भी देखते जाते थे, उस समय वे खेत ऐसे मालूम होते थे मानो 'लोगोंको उद्धतपना फल देनेवाला नहीं है' यही कहनेके लिये तैयार हुए हों ॥११२॥ जो खेतके भीतर उत्पन्न हुए कमलोंको सूंघनेके लिये ही मानो नन्नीभूत हो रहे हैं ऐसे खेतोंमें लगे हुए धानके पौधोंको देखकर भरत महाराज परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥११३॥ उन्होंने खेतकी भूमियोंमें फलोंके भारसे झुके हुए धानके उन पौधोंको भी देखा था जो कि अपने जन्म देनेके कारण खेतोंको बड़े आदरके साथ नमस्कार करते हुएसे जान पड़ते थे ॥११४॥ उन्होंने जहां तहां फैली हुई धानरूप सम्पदाओं को गायोंके समान देखा था, क्योंकि जिस प्रकार गायें जल पीती हैं उसी प्रकार धान भी जल पीते हैं (जलसे भरे हुए खेतोंमें पैदा होते हैं) जिस प्रकार गायोंमें उत्तम दूध भरा रहता है उसी प्रकार धानोंमें भी पकनेके पहले दूध भरा रहता है और गायें जिस प्रकार लोगोंका उपकार करती हैं उसी प्रकार धान भी लोगोंका उपकार करते हैं ॥११५॥ जिन्होंने नाल सहित कमलोंको अपने कर्णका आभूषण बनाया है, कमलकी पराग जिनके स्तनोंपर पड़ रही है, जो हाथमें ईखका दंडा लिये हुए हैं और जो धान रखानेके लिये 'छो छो' शब्द कर रही हैं ऐसी स्त्रियों को भी उन्होंने देखा था ॥११६॥ जो अपने मनोहर गीतोंके शब्दोंसे खिचकर आये हुए हंसों के समूहोंसे घिरी हुई हैं ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली तवीन स्त्रियां भरत महाराजके नेत्रोंका आनन्द बढ़ा रही थीं ॥११७॥ जो पथिकोंको रोकनेवाले सुन्दर गीत गा रही हैं और जिन्होंने धानकी बालोंसे कर्णभूषण बना कर धारण किये हैं ऐसी धानकी रखानेवाले स्त्रियोंको भरत ने बड़े प्रेमसे देखा था ॥११८॥ जो अपने मुखकी सुगन्धित निःश्वाससे आये हुए भूमरोंसे व्याकुल हो रही हैं ऐसी धान रखानेवाली कुलीन लड़कियां महाराज भरतके मनको हरण कर रही थीं ॥११९॥ जो सेनाके लोगोंसे मार्गके समीपवर्ती खेतोंकी रक्षा करनेके लिये उनके

१ भुवः अन्तः अन्तर्भुवम् । २ -मेवानतान् ल०, इ०, प० । ३ सस्यक्षेत्रसमूहेषु । ४ धेनुः । ५ स वतंसित-इ० । ६ उत्कर्षान् कुर्वतीः । ७ कुलबालिकाः ल०, इ०, द० । ८ मार्गसमीपे । ९ कृत । १० क्लेशितान् ।

‘उपशल्यभुवोऽप्राक्षीन्निगमानभितो विभुः । ‘केदारलावराकीर्णाः स भ्राम्यद्भिः कृषीबलैः ॥१२१॥
 सोऽपश्यन्निगमोपान्ते पथः^१ संश्रयानकर्वमान^२ । प्रव्यक्तगोखुरक्षोदस्थपुटानतिसङ्कटान् ॥१२२॥
 निगमान् परितोऽपश्यद् ग्राममुख्यान्^३ महाबलान्^४ । पयस्विनो^५ जनेः सेव्यान् म^६हारामतखनपि ॥१२३॥
 ग्रामान् कुक्कुटसम्पात्यान् सोऽप्यगाद् वृत्तिभिर्वृतान् । ‘कोशातकीलतापुष्पस्थगिताभिरितोऽमृतः ॥१२४॥
 ‘कुटीपरितरेष्वस्य धृतिरासीत् प्रपश्यतः । फलपुष्पानता बलतीः प्रसवाढ्याः^७ सतीरपि ॥१२५॥
 योषितो^८ निष्कमालाभिः बलधेश्च विभूषिताः । पश्यतोऽस्य मनो जह्रुः ग्रामीणाः^९ संश्रितावृतीः^{१०} ॥१२६॥
 ‘हृयङ्गवीनकलशैः दध्नामपि निहित्रकैः^{११} । ग्रामेषु फलभेदश्च तमद्राक्षुर्महत्तराः ॥१२७॥
 ततो विद्वरमुल्लङ्घय सोऽध्वान् पतनावृतः । गङ्गामुपासद् वीरः^{१२} प्रयाणैः ‘कतिधेरपि ॥१२८॥
 हिमवद्विधूतां पूज्यां ‘सतामसिन्धुगामिनीम् । शुचिप्रवाहामाकल्पवृत्तिं कीर्तिमिवात्मनः ॥१२९॥
 ‘शफरीप्रेक्षणामुद्यत्तरङ्गमभ्रविनतं नाम । वनराजीवृहच्छाटीपरिधानां वधूमिव ॥१३०॥

चारों ओर दौड़ रहे हैं और सेनाके लोगोंकी जवर्दस्ती करनेपर खेद खिन्न हो रहे हैं ऐसे खेतोंके मालिक किसानोंको भी भरतेश्वरने बड़े कौतुकके साथ देखा था ॥१२०॥ जो खेत काटनेवाले इधर-उधर घूमते हुए किसानोंसे व्याप्त हो रहीं हैं ऐसी प्रत्येक ग्रामोंके चारों ओरकी निकट-वर्ती भूमियोंको भी भरतेश्वरने देखा था ॥१२१॥ जो स्पष्ट दिखनेवाले गायोंके खुरोंके चिह्नोंसे ऊंचे नीचे हो रहे हैं और जो अत्यन्त सकड़े हैं ऐसे कुछ कुछ कीचड़से भरे हुए गांवके समीपवर्ती मार्गोंको भी भरत महाराज देखते जाते थे ॥१२२॥ उन्होंने ग्रामोंके चारों ओर खड़े हुए महाबलवान् गांवके मुखिया लोगोंको देखा था तथा पक्षी तिर्यञ्च और मनुष्योंके द्वारा सेवा करने योग्य बड़े बड़े बगीचोंके वृक्ष भी देखे थे ॥१२३॥ जो जहां तहां लौकी अथवा तुरई की लताओंके फूलोंसे ढकी हुई बाड़ियोंसे घिरे हुए हैं और जिनपर एकसे दूसरेपर मुरगा भी उड़कर जा सकता है ऐसे गांवोंको वे दूरसे ही छोड़ते जाते थे ॥१२४॥ भोपड़ियोंके समीपम फल और फूलोंसे भुकी हुई फूलों सहित उत्तम लताओंको देखते हुए महाराज भरतको बड़ा आनन्द आ रहा था ॥१२५॥ जो सुवर्णकी मालीओं और कड़ोंसे अलंकृत हैं तथा बाड़ियोंकी ओटमें खड़ी हुई हैं ऐसी गांवोंकी स्त्रियां भी देखनेवाले भरतका मन हरण कर रही थीं ॥१२६॥ गांवोंके बड़े बड़े लोग घीके घड़े, दहीके पात्र और अनेक प्रकारके फल भेंट कर उनके दर्शन करते थे ॥१२७॥

तदनन्तर धीरवीर भरत सेनासहित कितनी ही मंजिलों द्वारा लम्बा मार्ग तय कर गङ्गा नदीके समीप जा पहुंचे ॥१२८॥ वहां जाकर उन्होंने गङ्गा नदीको देखा, जोकि उनकी कीर्तिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार उनकी कीर्ति हिमवान् पर्वतसे धारण की गई थी उसी प्रकार गङ्गा नदी भी हिमवान् पर्वतसे धारण की गई थी, जिस प्रकार उनकी कीर्ति पूज्य और उत्तम थी उसी प्रकार गङ्गा नदी भी पूज्य तथा उत्तम थी, जिस प्रकार उनकी

१ ग्रामान्तभुवः । ‘ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्’ इत्यभिधानात् । २ केदारैः लुनन्तीति केदारलावास्तैः । ३ मार्गान् । ४ ईषदादिकर्वमान् । ५ ग्राममहत्तरान् । ६ महाफलान् द०, इ० । ७ वयस्तिरोजनेः ल० । क्षीरोपायनान् क्षीरिणश्च । ८ महाग्राम-इत्यपि क्वचित् । ९ पटोरिका । ‘कोशातकी ज्योत्स्निकाग्रामपामागोऽपि सा भवेत्’ इत्यभिधानात् । १० गृह । ११ पुत्रैराढ्या । १२ सुवर्णमालाभिः । १३ ग्रामे भवाः । १४ ‘संवृतावृतीः संसृतासृतीः’ इत्यपि क्वचित् । १५ घृतकुम्भैः । १६ भाजनविशेषः । १७ -सदधवीरः द० । १८ कतिधेरपि । १९ सतीम् ल० । २० मीननेग्राम् ।

विस्तीर्णं जैनसम्भोग्यः कूजद्वं सलिलमेखलैः । तरङ्गगवसनैः कान्तां^१ पुलिनैर्जघनेरिव ॥१३१॥
 'लोलोमिहस्तनिर्धूतपक्षिमालाकलस्वनैः । किमप्यालपितुं यत्नं तन्वन्ती वा तटद्रुमैः ॥१३२॥
 क्षती^२र्चयेभवन्तानां 'रोधोजघनवर्तिनीः । रुन्धतीमब्धिभीत्येव लसद्भिदुकूलकैः ॥१३३॥
 रोमराजोमिवानीलां वनराजो विवृण्वतीम् । 'तिष्ठमानामिवावर्तव्यस्तनाभिमुदन्वते ॥१३४॥
 विलोलवीचिसङ्घट्टाद् उत्थितां पतगावलिम् । पताकामिव बिभ्राणां लब्धां सर्वापगाजयात् ॥१३५॥
 समांसमीनां^३ पर्याप्तपयसं धीरनिःस्वनाम् । जगतां पावनीं मान्यां हसन्तीं गोमतल्लिकाम्^४ ॥१३६॥
 गुरुप्रवाहप्रसृतां तीर्थकामैरुपासिताम् । गम्भीरशब्दसम्भूतिं जैनीं श्रुतिमिवामलाम् ॥१३७॥

कीर्ति समुद्र तक गमन करनेवाली थी उसी प्रकार गङ्गा नदी भी समुद्र तक गमन करनेवाली थी, जिस प्रकार उनकी कीर्तिका प्रवाह पवित्र था उसी प्रकार गङ्गा नदीका प्रवाह भी पवित्र था और जिस प्रकार उनकी कीर्ति कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी उसी प्रकार गङ्गा नदी भी कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी । अथवा जो गङ्गा किसी स्त्रीके समान जान पड़ती थी, क्योंकि मछलियां ही उसके नेत्र थे, उठनी हुई तरंगों ही भौंहोंका नचागा था और दोनों किनारोंके वनकी पंक्ति ही उसकी साड़ी थी । जो स्त्रियोंके जवन भाग के समान सुन्दर किनारोंसे सहित थी, उसके वे किनारे बहुत ही बड़े थे । शब्द करती हुई हंशोंकी माला ही उनकी करधनी थी और लहरें ही उनके वस्त्र थे ।—चञ्चल लहरों रूपी हाथोंके द्वारा उड़ाये हुए पक्षि-समूहोंके मनोहर शब्दोंसे जो ऐसी जान पड़ती थी मानो किनारेके वृक्षोंके साथ कुछ वार्तालाप करनेके लिये प्रयत्न ही कर रही हो ।—जो अपनी ललकती हुई लहरोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो तटहरी नितम्ब प्रदेशपर जंगली हाथियोंके द्वारा किये हुए दातोंके घावोंको समुद्ररूप पतिके डरसे शोभायमान लहरोंरूपी वस्त्रसे ढक ही रही हो । जो दोनों ओर लगी हुई हरी भरी वनश्रेणियोंके प्रकट करने तथा साफ साफ दिखाई देनेवाली भंवरोसे ऐसी जान पड़ती थी मानो किसी स्त्रीकी तरह अपने समुद्ररूप पतिके लिये रोमराजि और नाभि ही दिखला रही हो ।—जो चंचल लहरोंके संघटनसे उड़ी हुई पक्षियोंकी पंक्तिको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो सब नदियोंको जीत लेनेसे प्राप्त हुई विजय पताकाको ही धारण कर रही हो । जो किसी उत्तम गायकी हँसी करती हुई सी जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार उत्तम गाय समांसमीना अर्थात् प्रति वर्ष प्रसव करनेवाली होती है उसी प्रकार वह नदी भी समांस-मीना अर्थात् परिपुष्ट मछलियोंसे सहित थी, जिस प्रकार उत्तम गायमें पर्याप्त पय अर्थात् दूध होता है उसी प्रकार उस नदीमें भी पर्याप्त पय अर्थात् जल था, जिस प्रकार उत्तम गाय गम्भीर शब्द करती है उसी प्रकार वह भी गम्भीर कल-कल शब्द कर रही थी, उत्तम गाय जिस प्रकार जगत्को पवित्र करनेवाली है उसी प्रकार वह भी जगत्को पवित्र करनेवाली थी और उत्तम गाय जिस प्रकार पूज्य होती है उसी प्रकार वह भी पूज्य थी । अथवा जो जिनवाणीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार जिनवाणी गुरु-प्रवाह अर्थात् आचार्य परम्परासे प्रसृत हुई है उसी प्रकार वह भी गुरुप्रवाह अर्थात् बड़े भारी जलप्रवाहसे प्रसृत हुई थी—प्रवाहित हुई थी । जिस प्रकार जिन वाणी तीर्थ अर्थात् धर्मकी इच्छा करनेवाले पुरुषों

१ कान्तैः ल० । २ वालोमि-त० । ३—र्चयेभः ल० । ४ तीर । ५ प्रदर्शयन्तीम् । ६ मांसभक्षक-मीनसहिताम् । प्रति वर्ष गर्भं गृहणन्तीम् । 'समांसमीना सा यैव प्रतिवर्षं प्रसूयते' । ७ प्रशस्तगाम् । गोमर्चिकाम् ल०, द०, इ० ।

राजहंसैः कृतोपास्यानलडवर्चा विधूतायतिम्^१ । जयलक्ष्मीमिव स्फीताम् आत्मीयामविधगामिनीम् ॥१३८॥
 विलसत्पद्मसम्भूतां^२ जनतानन्ददायिनीम् । जगद्भोग्यामिवात्मीयां श्रियमायतिशालिनीम् ॥१३९॥
 विजयार्थतटाकान्ति^३कृतश्लाघां^४ सुरंहसम्^५ । अभग्नप्रसरा दिव्यां निजामिव पताकिनीम् ॥१४०॥
 व्यालोलोभिकरास्पृष्टैः स्वतीरवनपादपैः । दधद्भिरङ्कुरोद्भेदं^६ आश्रितां कामुकैरिव ॥१४१॥
 रोधोलतालवासीनान्^७ स्वेच्छया सुरदम्पतीन् । हसन्तीमिव सुध्वानैः^८ शीकरोत्थैर्विसारिभिः ॥१४२॥
 किन्नराणां कलक्वणैः सगानैरुपवीणितैः । सेव्यपर्यन्तभूभागलतामण्डपमण्डनाम् ॥१४३॥

के द्वारा उपासित होती है उसी प्रकार वह भी तीर्थ अर्थात् पवित्र तीर्थ-स्थानकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके द्वारा उपासित होती अथवा किनारेपर रहनेवाले मनुष्य उसमें स्नान आदि किया करते थे, जिस प्रकार जिनवाणीसे गंभीर शब्दोंकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उससे भी गंभीर अर्थात् बड़े जोरके शब्दोंकी उत्पत्ति होती थी, और जिस प्रकार जिनवाणी मल अर्थात् पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित होती है उसी प्रकार वह भी मल अर्थात् कीचड़ आदि गंदले पदार्थों से रहित थी ।—अथवा जो अपनी (भरतकी) विजयलक्ष्मीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार विजयलक्ष्मीकी उपासना राजहंस अर्थात् बड़े बड़े राजा लोग करते थे उसी प्रकार उस नदीकी भी उपासना राजहंस अर्थात् एक प्रकारके हंस विशेष करते थे, जिस प्रकार जयलक्ष्मीका कोई उल्लंघन—अनादर नहीं कर सकता था उसी प्रकार उस नदीका भी कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था, जयलक्ष्मीका आयति अर्थात् भविष्यत्काल जिस प्रकार स्पष्ट प्रकट था इसी प्रकार उसकी आयति अर्थात् लम्बाई भी प्रकट थी, जयलक्ष्मी जिस प्रकार स्फीत अर्थात् विस्तृत थी उसी प्रकार वह भी विस्तृत थी और जयलक्ष्मी जिस प्रकार समुद्र तक गई थी उसी प्रकार वह गंगा भी समुद्र तक गई हुई थी । अथवा जो भरतकी राज्यलक्ष्मीके समान मालूम होती थी क्योंकि जिस प्रकार भरतकी राज्यलक्ष्मी शोभायमान पद्म अर्थात् पद्म नामकी निधिसे उत्पन्न हुई थी उसी प्रकार वह नदी भी पद्म अर्थात् पद्म नामके सरोवरसे उत्पन्न हुई थी, भरतकी राज्यलक्ष्मी जिस प्रकार जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी उसी प्रकार वह भी जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी, भरतकी राज्यलक्ष्मी जिस प्रकार जगत्के भोगने योग्य थी उसी प्रकार वह भी जगत्के भोगने योग्य थी, और भरतकी लक्ष्मी जिस प्रकार आयति अर्थात् उत्तरकालसे सुशोभित थी उसी प्रकार वह आयति अर्थात् लम्बाईसे सुशोभित थी ।— अथवा जो भरतकी सेनाके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार भरतकी सेना विजयार्थ पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थी उसी प्रकार वह नदी भी विजयार्थ पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थी (गङ्गा नदी विजयार्थ पर्वतके तटको आक्रान्त करती हुई बही है), जिस प्रकार भरतकी सेनाका वेग तेज था उसी प्रकार उस नदीका वेग भी तेज था । जिस प्रकार भरत की सेनाके फैलावको कोई नहीं रोक सकता था उसी प्रकार उसके फैलावको भी कोई नहीं रोक सकता था और भरतकी सेना जिस प्रकार दिव्य अर्थात् सुन्दर थी उसी प्रकार वह नदी भी

१ सेवाम् । २ विधूतायतिम् ल० । ३ पद्महृदये जाताम् । पक्षे निधिविशेषजाताम् ।
 ४ आक्रमण । ५ श्लाघां ल०, इ० । ६ सुवेगाम् । ७ रोमाञ्जनम् । ८ तीरलतागृहस्थितान् ।
 ९ सुरवानैः ल० । स्वस्वानैः इ० ।

हारिभिः किन्नरोद्गीतैः आहूता हरिणाङ्गनाः । दधतीं तीरकच्छेषु^१ प्रसारितगलद्गलाः^२ ॥१४४॥
 हृद्यैः ससारसारावैः पुलिनैर्विष्ययोषिताम् । नितम्बानि सकाञ्चीनि हसन्तीमिव विस्तृतैः ॥१४५॥
 चतुर्वंशभिरन्वितां सहस्रैरब्धयोषिताम् ।^३सद्भीचीनामिवोद्गीचिं^४ बाहूनां परिरम्भणे ॥१४६॥
 इत्याविष्कृतसंशोभां^५ जाह्नवीमेक्षत प्रभुः । हिमवद्गिरिणाम्बोधेः प्रहितामिव कण्ठिकाम् ॥१४७॥

मालिनीवृत्तम्

शरदुपहितकान्तिं प्राप्तकान्तारराजीविरचितपरिधानां^१ सैकतारोहरम्याम् ।
 युवतिमिव गभीरावर्तनाभिं प्रपश्यन् प्रमदमतुलमूहे क्षमापतिः स्वःश्रवन्तीम् ॥१४८॥
 सरसिजमकरन्दोद्गन्धिराधूतरोधोवनकिसलयमन्दां बोलनोबूढ मान्द्यः ।
 असकृदमरसिन्धोराधुनानस्तरङ्गान् अहृत नृपबधूनामध्वखेदं समीरः ॥१४९॥

सुन्दर थी । जो चंचल लहरों रूपी हाथोंसे स्पर्श किये गये और अंकुररूपी रोमांचोंको धारण किये हुए अपने किनारेके वनके वृक्षोंसे आश्रित थी और उससे ऐसी मालूम होती थी मानो कामी जनोंसे आश्रित कोई स्त्री ही हो ।— जो जलकणोंसे उत्पन्न हुए तथा चारों ओर फैलते हुए मनोहर शब्दोंसे अपनी इच्छानुसार किनारे परके लतागृहोंमें बैठे हुए देव देवांगनाओंकी हँसी करती हुई सी जान पड़ती थी । किन्नरोंके मधुर शब्दवाले गायन तथा वीणाकी भनकारसे सेवनीय किनारेकी पृथिवीपर बने हुए लतागृहोंसे जो बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी ।— किन्नर देवोंके मनोहर गानोंसे बुलाई हुई और सुखसे ग्रीवाको लम्बा कर बैठी हुई हरिण्यों को जो अपने किनारेकी भूमिपर धारण कर रही थी ।— जिनपर सारस पक्षी कतार बांधकर मनोहर शब्द कर रहे हैं ऐसे अपने बड़े बड़े सुन्दर किनारोंसे जो देवांगनाओंके करघनी सहित नितम्बोंकी हँसी करती हुई सी जान पड़ती थी ।— जिन्होंने आलिंगन करनेके लिये तरंगरूपी भुजाएं ऊपरकी ओर उठा रखी हैं ऐसी सखियोंके समान जो चौदह हजार सहायक नदियोंसे सहित है ।— इस प्रकार जिसकी शोभा प्रकट दिखाई दे रही है और जो हिमवान् पर्वतके द्वारा समुद्रके लिये भेजी हुई कण्ठमालाके समान जान पड़ती है ऐसी गङ्गा नदी महाराज भरतने देखी ॥१२९—१४७॥ शरद्वर्षके द्वारा जिसकी कान्ति बढ़ गई है, किनारेके वनोंकी पंक्ति ही जिसके वस्त्र हैं, जो बालूके टीलेरूप नितम्बोंसे बहुत ही रमणीय जान पड़ती हैं, गंभीर भंवर ही जिसकी नाभि है और इस प्रकार जो एक तरुण स्त्रीके समान जान पड़ती है ऐसी गङ्गा नदीको देखते हुए राजा भरतने अनुपम आनन्द धारण किया था ॥१४८॥ जो कमलोंकी मकरन्दसे सुगन्धित है, कुछ कुछ कम्पित हुए किनारेके वनके पल्लवोंके धीरे धीरे हिलनेसे जिसका मन्दपना प्रकट हो रहा है और जो गङ्गा नदीकी तरंगोंको बार-बार हिला रहा

१ तीरवनेषु । २ प्रसारितो भूत्वा सुखातिशयेनाधो गलद्गलो यासां ताः । ३ सखीनाम् ।
 ४ वीचिबाहूनां ल० । ५ गंगाम् । ६ प्राप्त । ७ सैकतनितम्ब ।

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

तामाक्रान्तहोरिन्मुखां^१ कृतरजोभूतिं^२ जगत्पावनीम्

आसेव्यां^३ द्विजकुञ्जरैरविरतं सन्तापविच्छेदिनीम् ।

जैनीं कीर्तिमिवाततामपमलां शशवज्जनानन्दिनीं

निध्यायन्^४ विबुधापगां निधिपतिः प्रीतिं परामासवत् ॥१५०॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भरतराजविग्विजयोद्योगवर्णनं नाम षड्विंशतितमं पर्व ॥

है ऐसा वहाँका वायु रानियोंके मार्गके परिश्रमको हरण कर रहा था ॥१४९॥ वह गङ्गा ठीक जिनेन्द्रदेवकी कीर्तिके समान थी क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवकी कीर्तिने समस्त दिशाओं को व्याप्त किया है उसी प्रकार गङ्गा नदीने भी पूर्व दिशाको व्याप्त किया था, जिनेन्द्र भगवान् की कीर्तिने जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंका नाश किया है उसी प्रकार गङ्गा नदीने भी रज अर्थात् धूलिका नाश किया था, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार जगत्को पवित्र करती है उसी प्रकार गङ्गा नदी भी जगत्को पवित्र करती है, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार द्विज कुंजर अर्थात् श्रेष्ठ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंके द्वारा सेवित है उसी प्रकार गङ्गा नदी भी द्विज कुंजर अर्थात् पक्षियों और हाथियोंके द्वारा सेवित है, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार निरन्तर संसार-भ्रमण-जन्य संतापको दूर करती है उसी प्रकार गङ्गा नदी भी सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न संतापको नष्ट करती थी और जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार विस्तृत, निर्मल और सदा लोगोंको आनन्द देनेवाली है उसी प्रकार वह गङ्गा नदी भी विस्तृत, निर्मल तथा सदा लोगोंको आनन्द देती थी । इस प्रकार उस गङ्गा नदीको देखते हुए निधियोंके स्वामी भरत महाराज परम प्रीतिको प्राप्त हुए थे ॥१५०॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहके

हिन्दी-भाषानुवादमें भरतराजकी दिग्विजयके उद्योगको वर्णन

करनेवाला छब्बीसवां पर्व पूर्ण हुआ ।

सप्तविंशतितमं पर्व

अथ व्यापारयामास दशं तत्र^१ विशाम्पतिः । प्रसन्नः सलिलैः पाद्यं वितरन्त्याभिवात्मनः ॥१॥
व्यापारितदशं तत्र प्रभुमालोक्य सारथिः । प्राप्तावसरमित्यूचे अचक्षतेऽनुश्ञ्जनम् ॥२॥
इयमाह्लादिताशेषभुवना देवनिम्नगा । रजो विधुन्वती भाति भारतीव स्वयम्भुवः ॥३॥
पुनातीयं हिमाद्रिं च सागरं च महानदी । प्रसूतौ^२ च प्रवेशे च गम्भीरा निर्मलाशया ॥४॥
इमां वनगजाः प्राप्य निर्वान्त्येते^३ मदश्च्युतः^४ । मुनीन्द्रा इव सद्विद्यां^५ गम्भीरां तापविच्छिदम् ॥५॥
इतः पिबन्ति वन्येभाः पयोऽस्याः कुतनिःस्वनाः । इतोऽभी पूरयन्त्येनां मुक्तासाराः शरद्धनाः ॥६॥
अस्याः प्रवाहमम्भोधिः धत्ते गाम्भीर्ययोगतः । असौढं विजयार्धेन तुङ्गोनाप्यचलात्मना ॥७॥
अस्याः पयःप्रवाहेण नूनमन्विर्वितृड् भवेत् । क्षारेण पयसा स्वेन दह्यमानान्तरालयः ॥८॥
पद्मह्लाद्विभवतः प्रसन्नादिव मानसात् । प्रसूता पप्रथे पृथ्व्यां शुद्धजन्मा हि पूज्यते । ९॥
व्योमापगामिमां प्राहुर्वियत्तः^६ पतितां क्षितौ । गङ्गादेवीगृहं विष्वग्माप्लाव्य स्वजलग्लवैः ॥१०॥

अथानन्तर वहांपर जो स्वच्छ जलसे अपने लिये (भरतके लिये) पादोदक प्रदान करती हुई सी जान पड़ती थी ऐसी गङ्गा नदीपर महाराज भरतने अपनी दृष्टि डाली ॥१॥ उस समय सारथिने महाराज भरतको गङ्गापर दृष्टि डाले हुए देखकर चित्तको प्रसन्न करनेवाले निम्नलिखित समयानुकूल वचन कहे ॥२॥ हे महाराज ! यह गङ्गा नदी ठीक ऋषभदेव भगवान्की वाणीके समान जान पड़ती है, क्योंकि जिस प्रकार ऋषभदेव भगवान्की वाणी समस्त संसारको आनन्दित करती है उसी प्रकार यह गङ्गा नदी भी समस्त लोकको आनन्दित करती है और ऋषभदेव भगवान्की वाणी जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंको नष्ट करनेवाली है उसी प्रकार यह गङ्गा नदी भी रज अर्थात् धूलिको नष्ट कर रही है ॥३॥ गंभीर तथा निर्मल जलसे भरी हुई यह गङ्गा नदी उत्पत्तिके समय तो हिमवान् पर्वतको पवित्र करती है और प्रवेश करते समय समुद्रको पवित्र करती है ॥४॥ जिस प्रकार गंभीर और सन्तापको नष्ट करनेवाली सद्विद्या (सम्यग्ज्ञान) को पाकर बड़े बड़े मुनि लोग मद अर्थात् अहंकार छोड़ कर मुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार ये जंगली हाथी भी इस गंभीर तथा संतापकी नष्ट करनेवाली गङ्गा नदीको पाकर मद अर्थात् गण्डस्थलसे भरनेवाले तोय विशेषको छोड़कर शान्त हो जाते हैं ॥५॥ इधर ये वनके हाथी शब्द करते हुए इसका पानी पी रहे हैं और इधर जलकी वृष्टि करते हुए ये शरद्भूतके मेघ इसे भर रहे हैं ॥६॥ अत्यन्त ऊंचा और सदा निश्चल रहनेवाला विजयार्ध पर्वत भी जिसे धारण नहीं कर सका है ऐसे इसके प्रवाहको गम्भीर होनेसे समुद्र सदा धारण करता रहता है ॥७॥ संभव है कि अपने खारे जलसे जिसका अन्तःकरण निरन्तर जलता रहता है ऐसा समुद्र इस गङ्गा नदीके जलके प्रवाहसे अवश्य ही व्यासरहित हो जायेगा ॥८॥ यह गङ्गा प्रसन्न मनके समान निर्मल हिमवान् पर्वतके पद्म नामक सरोवरसे निकलकर पृथिवीपर प्रसिद्ध हुई है सो ठीक ही है क्योंकि जिसका जन्म शुद्ध होता है वह पूज्य होता ही है ॥९॥ यह गङ्गा अपने जलके प्रवाहसे गङ्गादेवीके घरको चारों ओरसे भिगेकर आकाश-

१ गंगायाम् । २ उत्पत्तिस्थाने । ३ सुखिनो भवन्ति मुक्ताश्च । ४ मदच्युतः ल० ।

५ परमागमरूपाम् । ६ सौदुमशक्यम् । दत्तुमशक्यमित्यर्थः । ७ वियतः ल०, इ०, द० ।

• बिभति हिमवानेनां शशांककरनिर्मलाम् । आ सिन्धोः प्रसूतां कीर्तिमिव स्वां लोकपावनीम् ॥११॥
 वनराजोदयेनेयं विभाति^१ तटवर्तिना । वाससोरिव युग्मेन विनीलेन कृतधिया^२ ॥१२॥
 स्वतटाश्रयिणीं धत्ते हंसमालां कलस्वनाम् । काञ्चीमिवेयमम्भोजरजःपिञ्जरविप्रहाम् ॥१३॥
 नवीसखीरियं स्वच्छ^३भृणालशकलामलाः । सम्बिभति स्वसात्कृत्य सख्यं श्लाघ्यं हि तादृशम्^४ ॥१४॥
 राजहंसैरियं^५ सेव्या लक्ष्मीरिव विभाति ते । तन्वती जगतः प्रीतिमलङ्कचमहिमा परैः ॥१५॥
 वनवेदीमियं धत्ते समुत्तुङ्गां हिरण्मयीम् । आज्ञामिव तवालङ्कचां नभोमार्गविलङ्घिनीम् ॥१६॥
 इतः प्रसीद देवेभ्यो शरल्लक्ष्मीं विलोकय । वनराजिषु संरुढां^६ सरित्सु सरसीषु च ॥१७॥
 इमे सप्तच्छदाः पौष्पं विकिरन्ति रजोऽभितः । पटवासमिवामोदसंवासितहरिन्मुखम् ॥१८॥
 बाणैः^७ कुसुमबाणस्प बाणैरिव विकासिभिः । ह्रियते^८ कामिनां चेतो रम्यं हारि न कस्य वा ॥१९॥
 विकसन्ति सरोजानि सरस्सु समभ्युत्पलैः । विकासिलोचनानीव वदनानि शरच्छ्रियः ॥२०॥
 पङ्कजेषु विलीयन्ते^९ भूमरा गन्धलोलुपाः । कामिनीमुखपद्मेषु कामुका इव काहताः^{१०} ॥२१॥
 मनोजशरपुङ्खलार्जः पक्षैर्मधुकरा इमे । विचरन्त्यब्जिनीषण्डे मकरन्दरसोत्सुकाः ॥२२॥

से अर्थात् हिमवान् पर्वतके ऊपरसे पृथिवीपर पड़ी है इसलिये इसे आकाशगङ्गा भी कहते हैं ॥१०॥ जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल है, समुद्रतक फैली हुई है और लोकको पवित्र करनेवाली है ऐसी इस गङ्गाको यह हिमवान् अपनी कीर्तिके समान, धारण करता है ॥११॥ यह गङ्गा अपने तटवर्ती दोनों ओरके वनोंसे ऐसी सुशोभित हो रही है मानो इसने नीले रंगके दो वस्त्र ही धारण कर रखे हों ॥१२॥ कमलोंके परागसे जिनका शरीर पीला पीला हो गया है और जो मनोहर शब्द कर रही हैं ऐसी हंसोंकी पंक्तियोंको यह नदी इस प्रकार धारण करती है मानो मन्द-मन्द शब्द करती हुई सुवर्णमय करधनी ही धारण किये हो ॥१३॥ यह नदी स्वच्छ मृणालके टुकड़ोंके समान निर्मल अन्य सखी स्वरूप सहायक नदियोंको अपने में मिलाकर धारण करती है सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे पुरुषोंकी मित्रता ही प्रशंसनीय कहलाती है ॥१४॥ अनेक राजहंस (पक्षमें बड़े बड़े राजा) जिसकी सेवा करते हैं, जो संसारको प्रेम उत्पन्न करनेवाली है, और जिसकी महिमा भी कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी यह गङ्गा आपकी राजलक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही है ॥१५॥ जो अत्यन्त ऊंची है, सोनेकी बनी हुई है, आकाश-मार्गको उल्लंघन करनेवाली है और आपकी आज्ञाके समान जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी वनवेदिकाको यह गङ्गा नदी धारण कर रही है ॥१६॥ हे देव, प्रसन्न होइए और इधर वनपंक्तियों, नदियों और तालाबोंमें स्थान जमाये हुई शरद् ऋतु की इस शोभाको निहारिये ॥१७॥ ये सप्तपर्ण जातिके वृक्ष अपनी सुगन्धिसे समस्त दिशाओं को सुगन्धित करनेवाले सुगन्धिवूर्णके समान फूलोंकी परागको चारों ओर बिखेर रहे हैं ॥१८॥ इधर कामदेवके बाणोंके समान फूले हुए बाण जातिके वृक्षों द्वारा कामी मनुष्योंका चित्त अपहृत किया जा रहा है सो ठीक ही है क्योंकि रमणीय वस्तु क्या अपहृत नहीं करती ? अथवा किसे मनोहर नहीं जान पड़ती ? ॥१९॥ इधर तालाबोंमें नील कमलोंके साथ साथ साधारण कमल भी विकसित हो रहे हैं और जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो जिनमें नेत्र विकसित हो रहे हैं ऐसे शरद्ऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख ही हों ॥२०॥ इधर ये कुछ कुछ अव्यक्त शब्द करते हुए सुगन्ध के लोभी भूमर कमलोंमें उस प्रकार निलीन हो रहे हैं जिस प्रकार कि चाटुकारी करते हुए कामी जन स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंमें निलीन-आसक्त-होते हैं ॥२१॥ जो मकरन्द रसका पान

१ बिभति ल० ॥ २ धृतधिया ल०, द०, इ० । ३ स्वच्छमृणाल-ल० । ४ तादृशम् ल० । ५ पक्षे राजश्रेष्ठः । ६ प्रसिद्धाम् । ७ क्षिण्टिभिः । ८ अपहृतम् । ९ आश्लिष्यन्ति । निलीयन्ते ल० । १० अस्फुटवचनाः ।

रूपिताः^१ कञ्जकिञ्जलकैः आभान्त्येते मधुव्रताः । सुवर्णकपिशोरङ्गैः कामानेरिव मुर्मुराः^२ ॥२३॥
 स्थलेषु स्थलपद्मिन्यो विकसन्त्यश्चकासति । शरच्छिष्यो जिगीधन्त्या दूष्यशाला^३ इवोत्थिताः ॥२४॥
 स्थलाब्जशङ्किकी हंसी सरस्यब्जजस्तते । संहृत्य पक्षविक्षेपं विशन्तीयं निमज्जति ॥२५॥
 हंसोऽयं निजशाबाय चञ्चवोद्भूत्य तसद्विसम् । पीथबुद्ध्या^४ दवात्यस्मै शशाङ्ककरकोमलम् ॥२६॥
 'कृतयत्नाः प्लवन्तेऽभी राजहंसाः सरोजले । सरोजिनीरजःकीर्णं धूतपक्षाः शनैः शनैः ॥२७॥
 चक्रवाकीं सरस्तीरे तरङ्गैः स्थगितामभूम्^५ । अपश्यन्^६ कण्ठं रौति चक्राह्वः साधुलोचनः ॥२८॥
 अभ्येति वरटाशङ्की^७ धार्तराष्ट्रः^८ कृतस्वनम्^९ । सरस्तरङ्गशुभ्राङ्गी कोककान्तामनिच्छतीम् ॥२९॥
 अनुगङ्गातटं भाति साप्तपर्णमिदं वनम् । सुमनोरेणुभिर्व्योम्नि धितातभियमाबधत् ॥३०॥
 मन्दाकिनीतरङ्गोत्थपवनोऽध्वश्रमं हरन् । शनैः स्पृशति^{१०} नोऽङ्गानि रो^{११}धोवनविभूतनः ॥३१॥
 आतिथ्यमिव^{१२} नस्तत्वनं हृतगङ्गाम्बुशीकरः^{१३} । अभ्येति^{१४} पवमानोऽयं वनवीथीविभूतयन् ॥३२॥
 अगोष्पवमिदं^{१५} देव देवैरध्युधितं वनम् । लतालयैर्विभात्यन्तः^{१६} कुसु^{१७}मप्रस्तराञ्जितैः ॥३३॥

करनेके लिये उत्कण्ठित हो रहे हैं ऐसे ये भ्रमर कामदेवके बाणोंकी मूठके समान आभावाले अपने पंखोंसे कमलिनियोंके समूहमें जहां तहां विचरण कर रहे हैं घूम रहे हैं ॥२२॥ जिनके अंगोपांग कमलकी केशरसे रूपित होनेके कारण सुवर्णके समान पीले पीले हो गये हैं ऐसे ये भ्रमर कामरूपी अग्निके स्फुलिङ्गोंके समान जान पड़ते हैं ॥२३॥ जगह जगह पृथिवीपर फूले हुए स्थल-कमलिनियोंके पेड़ ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सबको जीतनेकी इच्छा करने-वाली शरद्वृक्षरूपी लक्ष्मीके खड़े हुए कपड़ेके तम्बू ही हों ॥२४॥ जो कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रहा है ऐसे सरोवरमें कमलको स्थलकमल समझती हुई यह हंसी पंखोंके विक्षेपको रोककर अर्थात् पंख हिलाये बिना ही प्रवेश करती है और पानीमें डूब जाती है ॥२५॥ यह हंस चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल और देदीप्यमान मृणालको अपनी चोंचसे उठाकर और क्षीर-सहित मक्खनके समान कोई पदार्थ समझकर अपने बच्चेके लिये दे रहा है ॥२६॥ कमलिनीके परागसे भरे हुए तालाबके जलमें ये हंस धीरे धीरे पंख हिलाते हुए बड़े प्रयत्नसे तैर रहे हैं ॥२७॥ तालाबके तीरपर तरंगोंसे तिरोहित हुई चकवीको नहीं देखता हुआ यह हंस आंखोंमें आंसू भरकर बड़ी करुणाके साथ रो रहा है ॥२८॥ संभोगकी इच्छा करनेवाला यह शब्द करता हुआ हंस, तालाबकी तरंगोंसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चकवी के सन्मुख जा रहा है जब कि वह चकवी इस हंसकी इच्छा नहीं कर रही है ॥२९॥ गङ्गा नदी के किनारे किनारे यह सप्तपर्ण जातिके वृक्षोंका वन ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपने फूलोंकी परागसे आकाशमें चंदोवाकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥३०॥ मार्गकी थकावट को दूर करता हुआ और किनारेके वनोंको हिलाता हुआ यह गङ्गाकी लहरोंसे उठा हुआ पवन हम लोगोंके शरीरको धीरे धीरे स्पर्श कर रहा है ॥३१॥ वनकी पक्षियोंको हिलाता हुआ यह वायु ग्रहण की हुई गङ्गाके जलकी बूंदोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो हम लोगोंका अतिथि-सत्कार करता हुआ ही आ रहा हो ॥३२॥ हे देव, जो गायोंके संचारसे रहित है अर्थात् अत्यन्त दुर्गम

१ आच्छादिताः । २ कनकवत् पिङ्गलैः । ३ विस्फुल्लिङ्गाः । ४ पटकुट्टयः । 'दूष्यं वस्त्रे च तद्गृहे' । ५ सक्षीरवन्तीतबुद्ध्या । ६ कृतयत्नं ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । ७ स्तनिताम् आच्छादिताम् । ८ आलोकयन् । ९ हंसकान्तेति शङ्कावान् । "वरटा हंसकान्ता स्यात् वरटा वरलापि च" इति वैजयन्ती । १० सितेतरचञ्चुचरणवान् हंसः । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुश्चरणैः लोहितैः सिलाः । मलिनैर्मल्लिकाक्षास्तै धार्तराष्ट्राः सितेतरैः' इत्यभिधानात् । ११ कृतस्वनः द०, व०, ल० । कृतस्वनाम् अ० । १२ अस्माकम् । १३ तटवन । १४ अतिथित्वम् । १५ शीकरैः ल०, प०, इ० । १६ अभिमुखमागच्छति । १७ प्रमाणरहितम् । प्रवेष्टुमशक्यं वा । १८ विभात्येतैः इ०, ल०, द० । १९ शयन ।

मन्दारवनवीथीनां सान्द्रच्छायाः समाश्रिताः । चन्द्रकान्तशिलास्वेते रंरम्यन्ते नभःसदः ॥३४॥
 अहो तटवनस्यास्य रामणीयकमद्भुतम् । श्रवधूतनिजावासा रिरंसन्तेऽत्र यत्सुराः ॥३५॥
 मनोभवनिवेशस्य लक्ष्मीरत्र वितन्यते । सुरदम्पतिभिः स्वैरम् प्रारब्धरतिविभूमेः ॥३६॥
 इयं निषुबनासक्ताः^१ सुरस्त्रीरतिकोमलाः^२ । हसन्तीव तरङ्गोत्थैः शीकरैरमरापगा ॥३७॥
 इतः किन्नरसङ्गीतम् इतः सिद्धोपवीणितम् । इतो विद्याधरोनूतम्^३ इतस्तद्गतिविभूमेः ॥३८॥
 नूतमम्बरसां पश्यन् शृण्वन्तवृगीतनिःस्वनम् । बाजिबन्धोऽयमुद्ग्रीवः सममास्ते स्वकान्तया ॥३९॥
 निष्यर्यायं वनेऽमुष्मिन् ऋतुवर्गो विवर्धते । परस्परमिव द्रष्टुम् उत्सुकयितमानसः ॥४०॥
 अशोकतरत्रायं तनुते पुष्पमञ्जरीम् । लाक्षारक्तैः खगस्त्रीणां चरणैरभिताडितः ॥४१॥
 पुंस्कोकिलकलालापमुखरीकृतदिङ्मुखः । चूत्तोऽयं मञ्जरीर्धत्ते मदनस्येव तोरिकाः^४ ॥४२॥
 चम्पका विकसन्तोऽत्र^५ कुसुमतो^६ वितन्वति^७ । प्रवीपानिव पुष्पोद्यान् दधतीमे मनोभुवः ॥४३॥
 सहकारेण्यको भक्ता विरुवन्ति^८ मधुव्रताः । विजिगीषोरनङ्गस्थ काहला इव पूरिताः ॥४४॥
 कोकिलानकनिःस्वानैः अनिज्यारवजृम्भितैः । अभिवेण^९ यतीवात्र मनोभूर्भुवनत्रयम् ॥४५॥

हैं और जो देवोंके द्वारा अधिष्ठित है अर्थात् जहां देव लोग आकर क्रीड़ा करते हैं ऐसा यह वन फूलोंके विछौनोंसे सुशोभित इन लतागृहोंसे अतिशय सुशोभित हो रहा है ॥३१॥
 इधर मन्दार वृक्षोंकी वन-पंक्तियोंकी घनी छायामें बैठे हुए ये देव लोग चन्द्रकान्त भणियोंकी शिलापर बार-बार क्रीड़ा कर रहे हैं ॥३४॥ अहा, इस किनारेके वनकी सुन्दरता कैसी आश्चर्य-जनक है कि देव लोग भी अपने अपने निवासस्थान छोड़कर यहां क्रीड़ा करते हैं ॥३५॥
 जिन्होंने अपनी इच्छानुसार रति-क्रीड़ा प्रारम्भ की है ऐसे देव देवांगनाओंके द्वारा यहां काम-देवके चरकी शोभा बढ़ाई जा रही है । भावार्थ देव देवांगनाओंकी स्वच्छंद रतिक्रीड़ाको देखकर मालूम होता है कि मानो यह कामदेवके रहनेका घर ही हो ॥३६॥ यह गङ्गा अपनी तरंगोंसे उठी हुई जलकी बूंदोंसे ऐसी जान पड़ती है मानो संभोग करनेमें असमर्थ होकर दीनता भरे अस्पष्ट शब्द करनेवाली देवांगनाओंकी हंसी ही कर रही हो ॥३७॥ इधर किन्नरोंका संगीत हो रहा है, इधर सिद्ध लोग वीणा बजा रहे हैं, इधर विद्याधरियां नृत्य कर रही हैं और इधर कुछ विद्याधरियां विलासपूर्वक टहल रही हैं ॥३८॥ इधर यह किन्नर अपनी कान्ता के साथ साथ अप्सराओंका नृत्य देखता हुआ, और उनके संगीत शब्दोंको सुनता हुआ सुखसे गला ऊंचा कर बैठा है ॥३९॥ परस्परमें एक दूसरेको देखनेके लिये जिसका मन उत्कण्ठित हो रहा है ऐसा ऋतुओंका समूह इस वनमें एक साथ इकट्ठा होता हुआ बढ़ रहा है ॥४०॥ लाखसे रंगे हुए विद्याधरियोंके चरणोंसे ताड़ित हुआ यह अशोक वृक्ष इस वनमें पुष्प-मंजरियों को धारण कर रहा है ॥४१॥ कोकिलोंके आलापसे जिसने समस्त दिशाओंको वाचालित कर दिया है ऐसा यह आम्रवृक्ष कामदेवकी आंखोंकी पुतलियोंके समान पुष्प-मंजरियोंको धारण कर रहा है ॥४२॥ वसन्तऋतुके फैलनेपर इस वनमें जो चम्पक जातिके वृक्ष विकसित हो रहे हैं और फूलोंके समूह धारण कर रहे हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो कामदेवके दीपक ही धारण कर रहे हों ॥४३॥ इधर ये मदनोन्मत्त भ्रमर आम्र वृक्षोंपर ऐसा शब्द कर रहे हैं मानो सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेववर्णी राजाके बाजे ही बज रहे हों ॥४४॥ कोयलों

१ अवज्ञात । २ रन्तुमिच्छन्ति । ३ यस्मात् कारणात् । ४ शक्ताः ल०, इ० । ५ रतिकाह्लाः ल०, द०, इ० । ६ नृत्यम् अ०, इ० । ७ युगपत् । निष्यर्यायो प०, ल०, द०, अ०, स० । ८ पुंस्कोकिलानामालापः ल० । ९ बाणाः । तारकाः ल० । १० विकसन्त्यत्र ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । ११ वसन्तकाले । १२ विस्तृते सति । अविबक्षित कर्मकोऽकर्मक इत्यकर्मकत्वमत्र । १३ दधतीऽमी ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । १४ ध्वनन्ति । १५ सेनया अभियाति । निजबहुलं कृत्वादिषु निज् ।

निचुलः^१ सहकारेण विकसन्नत्र माधवीम्^२ । तनोति लक्ष्मीमक्षूणाम् ग्रहो प्रावृट्श्रिया समम् ॥४६॥
 माधवीस्तबकेष्वत्र माधवीऽद्य विजृम्भते । वनलक्ष्मीप्रहासस्य लीलां तन्वत्सु विव्रतः ॥४७॥
 वासन्त्यो विकसन्त्येता वसन्तर्तुस्मिन्नश्रियम् । तन्वानाः कुसुमामोदः आकुलीकृतषट्पदाः ॥४८॥
 मल्लिकाविततामोदैर्विलोलीकृतषट्पदः । पादपेषु पदं धत्ते शुचिः^३ पुष्पशुचिस्मितः^४ ॥४९॥
 कदम्बामोदसुरभिः केतकीधूलिधूसरः^५ । तापात्ययानिलो^६ देव नित्यमत्र विजृम्भते ॥५०॥
 माद्यन्ति कोकिलाः शशवत् सममत्र शिखण्डिभिः । कलहंसीकलस्वानः सम्मूर्छित^७ विकूजिताः ॥५१॥
 कूजन्ति कोकिला मत्ताः केकायन्ते^८ कलापिनः । उभयस्यास्य वर्गस्य हंसाः^९ प्रस्थालपन्त्यभी ॥५२॥
 इतोऽमी किन्नरीगीतम् अनुकूजन्ति^{१०} षट्पदाः । सिद्धोपवीणिताम्येष निहनुतेऽन्यभूतस्वनः ॥५३॥
 जितनूपुरझङ्कारम् इतो हंसविकूजितम् । इतश्च खेचरीनृत्यम् अननृत्यच्छिन्नावतम्^{११} ॥५४॥
 इतश्च संकतोत्सङ्गे सुप्तान् हंसान् सशावकान् । प्रातः प्रबोधयत्युद्यन्^{१२} खेचरीनूपुरारवः ॥५५॥
 इतश्च रचितानरूपपुष्पतरुपमनोहराः । चन्द्रकान्तशिलागर्भा सुरैर्भोग्या लतालयाः ॥५६॥

के मधुर शब्दरूपी नगाड़ों और भूमरोंकी गुंजार रूप प्रत्यंचाकी टंकार ध्वनिसे यहां ऐसा मालूम होता है मानो कामदेव तीनों लोकोंको जीतनेके लिये सेना सहित चढ़ाई ही कर रहा हो ॥४५॥ अहा, कैसा आश्चर्य है कि आम्रवृक्षके साथ साथ फूलता हुआ यह निचुल जातिका वृक्ष इस वनमें वर्षाऋतुकी शोभाके साथ साथ वसन्त ऋतुकी भारी शोभा बढ़ा रहा है ॥४६॥ इधर इस वनमें चारों ओरसे वन-लक्ष्मीके उत्कृष्ट हास्यकी शोभा बढ़ानेवाले माधवीलता के गुच्छोंपर आज वसन्त बड़ी वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ॥४७॥ जो अपने विकाससे वसन्त ऋतुके हास्यकी शोभा बढ़ा रही हैं और जो फूलोंकी सुगन्धिसे भूमरोंको व्याकुल कर रही हैं ऐसी ये वसन्तमें विकसित होनेवाली माधवीलताएं विकसित हो रही हैं फूल रही हैं ॥४८॥ जिसने मालतीकी फैली हुई सुगन्धिसे भूमरोंको चंचल कर दिया है और फूल ही जिसका पवित्र हास्य है ऐसा यह श्रीष्मन्ऋतु वृक्षोंपर पैर रख रहा है अपना स्थान जमा रहा है ॥४९॥ हे देव, कदम्ब पुष्पोंकी सुगन्धिसे सुगन्धित तथा केतकीकी धूलिसे धूसर हुआ यह वर्षाऋतु का वायु इस वनमें सदा बहता रहता है ॥५०॥ इस वनमें मयूरोंके साथ साथ कोयल सदा उन्मत्त रहते हैं और कल-हंसियों (बदकों) के मनोहर शब्दोंके साथ अपना शब्द मिलाकर बोलते हैं ॥५१॥ इधर उन्मत्त कोकिलाएं कुह कुह कर रही हैं, मयूर केका वाणी कर रहे हैं और ये हंस इन दोनोंके शब्दोंकी प्रतिध्वनि कर रहे हैं ॥५२॥ इधर ये भूमर किन्नरियोंके द्वारा गाये हुए गीतोंका अनुकरण कर रहे हैं और इधर यह कोयल सिद्धोंके द्वारा बजाई हुई वीणाके शब्दोंको छिपा रहा है ॥५३॥ इधर नूपुरोंकी झंकारको जीतता हुआ हंसोंका शब्द हो रहा है, और इधर जिसका अनुकरण कर मयूर नाच रहे हैं ऐसा विद्याधरियोंका नृत्य हो रहा है ॥५४॥ इधर बालूके टीलोंकी गोदमें अपने बच्चों सहित सोये हुए हंसोंको प्रातःकालके समय यह विद्याधरियोंके नूपुरोंका ऊंचा शब्द जगा रहा है ॥५५॥ इधर जो बहुतसे फूलोंसे बनाई हुई शय्याओंसे मनोहर जान पड़ते हैं, जिनके मध्यमें चन्द्रकान्त मणिकी शिलाएं पड़ी

१ हिज्जुलः । 'निचुलो हिज्जुलोऽम्बुजः' इत्यभिधानात् । २ वसन्ते भवाम् । 'अलिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद् वासन्ती माधवी लता' इत्यभिधानात् । एतानि पुण्ड्रदेशे वसन्तकाले बाहुलेन जायमानस्य नामानि । ३ वासन्तीगुच्छकेषु । 'स्याद् गुच्छकस्तु स्तवकः' इत्यभिधानात् । ४ श्रीष्मः । ५ पुष्पाण्येव शुचिस्मित यस्य सः । ६ ईषत्पाण्डुः । 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः' इत्यभिधानात् । ७ वर्षाकालवायुः । ८ मिश्रित । ९ केका कुर्वन्ति । १० प्रत्युत्तरं कुर्वन्ति । ११ अपलपं कुर्वते । १२ अनुगतं नृत्यन् शिखावलो यस्य । १३-त्युच्चैः प० ।

इतोऽव वनमत्यन्तरमणीयः परिच्छदेः । स्वर्गोद्यानगतां प्रीतिं जनयेत् स्वःसदा^१ सदा ॥५७॥
 बहिस्तटवनावेतद् दृश्यते काननं महत् । नानाद्रुमलतागुल्मवीरुद्भिरेतिदुर्गमम् ॥५८॥
 वृष्टीनामप्यगम्येऽस्मिन् वने मृगकवम्बकम् । नानाजातीयमुद्भूतं सैन्यक्षोभात् प्रधावति ॥५९॥
 इवमस्मद्बलक्षोभाद् उत्त्रस्तमृगसङ्कुलम् । वनमाकुलितप्राणमिवाभात्यन्धकारितम् ॥६०॥
 गजयूथमितः^२ कच्छाद् अन्धकारमिवाभितः । विहिलष्टं^३ बलसङ्क्षोभाद् अपसर्पत्यतिद्रुतम् ॥६१॥
 शनैः प्रयाति सञ्जिघृन्^४ दिशः प्रोत्क्षिप्तपुष्करः । स महाहिरिवाद्भीन्द्रो भद्रोऽयं गजयूथपः ॥६२॥
 महाहिरयमायामं मिमानं^५ इव भूकृहाम् । इवसन्धायच्छते^६ कच्छाद् ऊर्ध्वीकृतशरीरकः ॥६३॥
 'शम्भुपोता निकुञ्जेषु'^७ पुञ्जीभूता वसन्त्यमी । 'वनस्येवान्त्रस्तानाः चमूक्षोभाद्विनिःसृताः ॥६४॥
 अयमेकचरः'^८ पोत्रसमुत्खातान्तिकस्थलः'^९ । रुणद्धि वर्त्म सैन्यस्य वराहस्तीव्ररोषणः ॥६५॥
 सैनिकैर्यमारुह्यः'^{१०} पाषाणलकुटादिभिः । व्याकुलीकुरुते^{११} सैन्यं गण्डो^{१२} गण्ड^{१३} इव स्फुटम् ॥६६॥
 प्राणा इव वनादस्माद् विनिष्कामन्ति सन्तताः । सिंहा बहुदवज्वाला^{१४} धुन्वानाः कैसरच्छटाः ॥६७॥

हुई हैं और जो देवोंके उपभोग करने योग्य हैं ऐसे लतागृह वने हुए हैं ॥५६॥ इस प्रकार यह वन अत्यन्त रमणीय सामग्रीसे देवोंके सदा नन्दन वनकी प्रीतिको उत्पन्न करता रहता है ॥५७॥

इधर किनारेके वनके बाहर भी एक बड़ा भारी वन दिखाई दे रहा है जो कि अनेक प्रकारके वृक्षों, लताओं, छोटे छोटे पौधों और झाड़ियोंसे अत्यन्त दुर्गम है ॥५८॥ जिसमें वृष्टि भी नहीं जा सकती ऐसे इस वनमें सेनाके क्षोभसे बघड़ाया हुआ यह अनेक जातिके मृगों का समूह बड़े जोरसे दौड़ा जा रहा है ॥५९॥ जो हमारी सेनाके क्षोभसे भयभीत हुए हरिणों से व्याप्त है तथा जिसमें जीवोंके प्राण आकुल हो रहे हैं ऐसा यह वन अन्धकारसे व्याप्त हुए के समान जान पड़ता है ॥६०॥ इधर सेनाके क्षोभसे अलग अलग हुआ यह हाथियोंका भुण्ड गङ्गा किनारेके जलवाले प्रदेशसे अन्धकारके समान चारों ओर बड़े वेगसे भागा जा रहा है ॥६१॥ हाथियोंके भुण्डकी रक्षा करनेवाला यह भद्र गजराज सूँड़को ऊँचा उठाता हुआ तथा दिशाओंको सूँघता हुआ धीरे धीरे ऐसा जा रहा है मानो शेषनाग सहित सुमेरु पर्वत ही जा रहा हो ॥६२॥ जिसने अपने शरीरके ऊर्ध्वभागको ऊँचा उठा रक्खा है ऐसा यह बड़ा भारी सर्प जलवाले प्रदेशसे साँस लेता हुआ इस प्रकार आ रहा है मानो वृक्षोंकी लम्बाईको नापता हुआ ही आ रहा हो ॥६३॥ इधर इस लतागृहमें इकट्ठे हुए ये अजगरके बच्चे इस प्रकार श्वास ले रहे हैं मानो सेनाके क्षोभसे वनकी अंतर्द्वियोंके समूह ही निकल आये हों ॥६४॥ जो अकेला ही फिरा करता है, जिसने अपनी नाकसे समीपके स्थल खोद डाले हैं, और जो अत्यन्त क्रोधी है ऐसा यह शूकर सेनाका मार्ग रोक रहा है ॥६५॥ सेनाके लोगोंने जिसे पत्थर लकड़ी आदिसे रोक रक्खा है ऐसा यह गंड अर्थात् छोटे पर्वतके समान दिखनेवाला गैंडा हाथी स्पष्ट रूपसे सेनाको व्याकुल कर रहा है ॥६६॥ जो दावानलकी ज्वालाके समान पीले और विस्तृत गर्दनपरके बालोंके समूहोंको हिला रहे हैं ऐसे ये सिंह इस वनसे इस प्रकार

१ नाकिनाम् । २ प्रतानिनीलताभिः । 'लसा प्रतानिनी वीरुत् गुल्मिन्युपलमित्यपि' इत्यभिधानात् । ३ बहुजलप्रदेशात् । 'जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः ।' इत्यभिधानात् । ४ विभक्तम् । ५ आघ्राणयन् । ६ प्रमिति कुर्वन्निव । ७ दीर्घाभवति । यमुष्मन् स्वर्गे चाजाः" इत्यात्मनेपदी । -ज्ञागच्छते ल०, इ० । ८ अजगरशिशवः । ९ निकुञ्जेऽस्मिन् ल०, व०, इ० । १० पुरीतत् । ११ एकाकी । १२ मुखाय । 'मुखार्थे क्रोडहलयोः पोत्रम्' इत्यभिधानात् । 'पोत्रण्योहलक्रोडमुखे तट्' इति सूत्रेण सिद्धिः । १३ वेष्टितः । १४ आकुली-ल० । १५ खड्गीमृगः । १६ गण्डर्शल इव । १७ दवज्वालसदृशाः ।

गुग्गुलूनां^१ वनादेव महिषो घनकर्बुरः । निर्वीति मृत्युर्वष्ट्राभविषाणाग्रानि भीषणः ॥६८॥
 ललटालययो^२ लोलजिह्वा व्यालोहितेक्षणाः । व्याला^३ बलस्य सङ्क्षोभम् अमी तन्वन्त्यनाकुलाः^४ ॥६९॥
 शरभः^५ खं समुत्पत्य पतद्भुत्तापितोऽपि^६ सन् । नैष दुःखासिकां वेव^७ चरणैः पृष्ठवर्तिभिः ॥७०॥
 चमरोऽयं^८ 'चमूरोष्वाद् विद्रुतो'^९ द्रुतमुत्पतन् । क्षोभं तनोति सैन्यस्य वर्षां रूपीव^{१०} दुर्धरः ॥७१॥
 शशः शशस्त्रयं^{११} देव सैनिकैरननुद्रुतः^{१२} । शरणायेव भीतात्मा म^{१३}ध्येसंस्थं विलीयते^{१४} ॥७२॥
 सारङ्गोऽयं तनुच्छायाकल्माषितवनः^{१५} शनैः । प्रयाति शृङ्गभारेण शाखिनेव प्रशुष्यता ॥७३॥
 दक्षिणैर्मतया^{१६} विष्वगभिधावन्त्यपीक्षिता^{१७} । प्रजानुपालनं न्याय्यं तवाक्षटे मृगप्रजा^{१८} ॥७४॥
 कलापी बहुभारेण मन्दं मन्दं व्रजत्यसौ । केशपाशश्रियं तन्वन् वनलक्ष्म्यास्तनूवहः ॥७५॥
 नैत्रावलीमिवातन्वन् वनभूष्याः सचन्द्रकैः । कलापिनामयं सङ्घो विभात्यस्मिन् वनस्थले ॥७६॥
 'सङ्ग्रीडतां'^{१९} रथाङ्गानां स्वनमाकर्णयन् मुहुः । हरिणानामिदं यूथं नापसर्पति कर्मनः^{२०} ॥७७॥

निकल रहे हैं मानो उसके प्राण ही निकल रहे हों ॥६७॥ जो मेघके समान कर्बुर वर्ण है, जिसके सींगका अग्रभाग यमराजकी दाढ़के समान है तथा जो अत्यन्त भयंकर है ऐसा यह भेंसा इस गुग्गुलुके वनसे बाहर निकल रहा है ॥६८॥ जिनकी पूँछ हिल रही है, जिह्वा चंचल हो रही है और नेत्र अत्यन्त लाल हो रहे हैं ऐसे ये सिंह आदि क्रूर जीव स्वयं व्याकुल न होकर ही सेना का क्षोभ बढ़ा रहे हैं ॥६९॥ यह अष्टापद आकाशमें उछलकर यद्यपि पीठके बल गिरता है तथापि पीठपर रहनेवाले पैरोंसे यह दुःखका अनुभव नहीं करता । भावार्थ अष्टापद नामका एक जंगली जानवर होता है उसके पीठपर भी चार पांव होते हैं । जब कभी वह आकाश में छलांग मारनेके बाद चित्त अर्थात् पीठके बल गिरता है तो उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता क्योंकि वह अपने पीठपरके पैरोंसे संभलकर खड़ा हो जाता है ॥७०॥ जो मूर्तिमान् अहंकारके समान है, दुर्जेय है और सेनासे घिर जानेके कारण जल्दी जल्दी छलांग मारता हुआ इधर-उधर दौड़ रहा है ऐसा यह मृग सेनाका क्षोभ बढ़ा रहा है ॥७१॥ हे देव, यह खरगोश दौड़ रहा है, यद्यपि सैनिकोंने इसका पीछा नहीं किया है तथापि यह डरपोक होनेसे इधर-उधर दौड़कर शरण ढूँढनेके लिये आपकी सेनाके बीचमें ही कहीं छिप जाता है ॥७२॥ जिसने अपने शरीरकी कान्तिसे वनको भी काला कर दिया है ऐसा यह कृष्णसार जातिका मृग सूखे हुए वृक्षके समान अनेक शाखाओंवाले सींगोंके भारसे धीरे धीरे जा रहा है ॥७३॥ देखिये, दाहिनी ओर घाव लगनेसे जो चारों ओर चक्कर लगा रहा है ऐसा यह हरिणोंका समूह मानो आपसे यही कह रहा है कि आपको सब जीवोंका पालन करना योग्य है ॥७४॥ जो अपनी पूँछके द्वारा वनलक्ष्मी के केशपाशकी शोभा को बढ़ा रहा है ऐसा यह मयूर पूँछके भारसे धीरे धीरे जा रहा है ॥७५॥ इधर इस वनस्थलमें यह मयूरोंका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी पूँछ परके चन्द्रकोसे वनकी पृथिवी रूपी स्त्रीके नेत्रोंके समूहकी शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥७६॥ इधर देखिये, चलते हुए रथके पहियेके शब्दको बार बार सुनता हुआ यह हरिणोंका समूह मार्ग

१ कौशिकानाम् । 'कुम्भोरुखलकं' क्लीबे कौशिको गुग्गुलुः पुरः' इत्यभिधानात् । २ चलत् । ३ दुष्टमृगाः । ४ निर्भीताः । ५ अष्टापदः । ६ उद्ध्वर्मुखचरणो भूत्वा । ७ जानाति । ८ व्याधुः । ९ सेनानिरोधात् । १० धावमानः । ११ रूपी च ल० । १२ 'शश प्लुतगतौ' उत्प्लुत्य गच्छन् । १३ अनुगतः । १४ सैन्यमध्ये । १५ अन्तर्हिती भवति । विलीयते अ०, इ० । १६ शबलितः । १७ दक्षिणभागे कृतव्रणतया । १८ 'दक्षिणे गतया विष्वगभिधावन् प्रवीक्षताम् । प्रजानुपालनं न्याय्यं तवाक्षटे मृगप्रजाः॥' ल० । १९ सैनिकैरवलोकितः । १९ मृगसमूहः । २० चीत्कारं कुर्वताम् । ग्रीडोऽकूजे' इति अकूजार्थे तड्विधानात् कूजार्थे परस्मैपदी । २१ वर्त्मनः ल० । दूरतः अ० ।

हरिणीप्रेक्षितेष्वेताः पश्यन्ति सकृत्तूहलम् । स्वां नेत्रशोभां कामिन्यो बहिर्बह्वेषु मूर्धजान् ॥७८॥
 इत्यनाकुलमेवैवं सन्त्यैरप्याकुलीकृतम् । वनमालक्ष्यते विश्वम् असम्बाधमृगद्विजम् ॥७९॥
 अरठोऽप्यांतपो नायम् इहास्मान् देव बाधते । वने महातरुच्छाया नैरन्तर्यानुबन्धिनि ॥८०॥
 इमे वनद्रुमा भान्ति सान्द्रच्छाया मनोरमाः । त्वद्भक्त्यै वनलक्ष्म्येव मण्डपा विनिवेशिताः ॥८१॥
 सारस्यः स्वच्छसलिला वारितोष्णास्तटद्रुमैः । स्थापिता वनलक्ष्म्येव प्रपा भान्ति क्लमच्छिद्वः ॥८२॥
 धृष्टबाणासनाकीर्णमिवैव खड्गिभिराततम् । सहास्तिकमपर्यन्तं वनं धुष्मद्वबलायते ॥८३॥
 इत्थं वनस्य सामृद्ध्यं निरूपयति सारथी । वनभूमिमतीयाय सम्प्राड्विदितान्तराम् ॥८४॥
 तत्राश्वीयखुरोद्धाता उत्थिता वनरेणवः । विशां मुखेषु संलग्नाः तेनुर्यवनिकाश्रियम् ॥८५॥
 सांदिनो^१ वारवाणानि^२ स्यूतान्पि^३ सितोशुकैः ।^४ कषायानीव जातानि ततानि वनरेणुभिः ॥८६॥
 वनरेणुभिरालम्बः जटीभूतानि योषितः । स्तनांशुकानि कुच्छ्रेण दधुरध्वश्चमालसाः ॥८७॥
 कुम्भस्थलीषु संसक्ताः करिणामध्वरेणवः । सिन्दूरश्रियमातेनः^५ धातुभूमिसमुत्थिताः ॥८८॥

से एक ओर नहीं हट रहा है ॥७७॥ ये स्त्रियां हरिणियोंके नेत्रोंमें अपने नेत्रोंकी शोभा बड़े कौतूहलके साथ देख रही हैं और हरिणोंकी पूंछोंमें अपने केशोंकी शोभा निहार रही हैं ॥७८॥ जिसमें हरिण पक्षी आदि सभी जीव एक दूसरेको बाधा किये बिना ही निवास कर रहे हैं ऐसा यह वन यद्यपि सैनिकोंके द्वारा व्याकुल किया गया है तथापि आकुलतासे रहित ही प्रतीत हो रहा है ॥७९॥ हे देव, जो बड़े बड़े वृक्षोंकी घनी छायासे सदा सहित रहता है ऐसे इस वनमें रहनेवाले हम लोगोंको यह तीव्र धाम कुछ भी बाधा नहीं कर रहा है ॥८०॥ ये घनी छाया वाले वनके मनोहर वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो वनलक्ष्मीने आपकी भक्ति (सेवा) करनेके लिये मण्डप ही लगा रखे हों ॥८१॥ किनारे परके वृक्षोंसे जिनकी सब गर्मी दूर कर दी गई है ऐसे स्वच्छ जलसे भरे हुए ये छोटे छोटे तालाब ऐसे मालूम होते हैं मानो वनलक्ष्मीने क्लेश दूर करनेवाली प्याऊ ही स्थापित की हों ॥८२॥ हे प्रभो, यह वन आपकी सेना के समान जान पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार आपकी सेना बहुतसे बाणासन अर्थात् धनुषोंसे व्याप्त है उसी प्रकार यह वन भी बाण और असन जातिके वृक्षोंसे व्याप्त है, जिस प्रकार आप की सेना खड्गी अर्थात् तलवार धारण करनेवाले सैनिकोंसे भरी हुई है उसी प्रकार यह वन भी खड्गी अर्थात् गंडा हाथियोंसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपकी सेना हाथियोंके समूहसे सहित है उसी प्रकार यह वन भी हाथियोंके समूहसे सहित है और जिस प्रकार आपकी सेनाका अन्त नहीं दिखाई देता उसी प्रकार इस वनका भी अन्त नहीं दिखाई देता ॥८३॥ इस प्रकार सारथिके वनकी समृद्धिका वर्णन करते रहनेपर सम्राट् भरत उस वनभूमिको इस तरह पार कर गये कि उन्हें उसकी लम्बाईका पता भी नहीं चला ॥८४॥ उस समय घोड़ोंके समूहके खुरों के आघातसे उठी हुई वनकी धूलि समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर परदेकी शोभा धारण कर रही थी ॥८५॥ घुड़सवारोंके कवच, यद्यपि ऊपरसे सफेद वस्त्रोंसे ढके हुए थे तथापि वनकी धूलिसे व्याप्त होनेके कारण ऐसे मालूम पड़ते थे मानो कषाय रंगसे रंगे हुए ही हों ॥८६॥ मार्गके परिश्रमसे अलसाती हुई स्त्रियां वनकी धूलि लगनेसे भारी हुए स्तन ढंकनेवाले वस्त्रों को बड़ी कठिनाईसे धारण कर रही थीं ॥८७॥ गेरू रंगकी भूमिसे उठी हुई मार्गकी धूलि

१ लोचनेषु । २ पक्षी । ३ प्रवृद्धः । ४ तव भजनाय । ५ पानीयशालिकाः । 'प्रपा पानीयशालिका' इत्यभिधानात् । ६ भिण्डि सज्जक, पक्षे चाप । ७ गण्डमृगः, पक्षे आयुधिकः । ८ उभयत्रापि गजसमूहम् । ९ अंशोतान्तरमवधिर्यस्मिन्नत्ययकर्मणि । १० अश्वारोहकाणाम् । 'अश्वारोहस्तु सादिनः' इत्यभिधानात् । ११ कञ्चुकाः । 'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री' इत्यभिधानात् । १२ उतानि । १३ कषायरञ्जितानि । १४ नैरिक ।

ततो 'मध्यन्दिनेऽभ्यर्णो विदीपे तीव्रमंशुमान् । विजिगीषुरिवाहूदप्रतापः शुद्धमण्डलः ॥८६॥
 सरस्तीरतरुच्छायां आश्रयन्ति स्म पत्रिणः^१ । शरवातपसन्तापात् सङ्कुचत्पत्र^२सम्पदः ॥८७॥
 हंसाः कलमषण्डेषु पुञ्जीभूतान् स्वशावकान् । पक्षैराच्छादयामासुः असौडजरठातपान् ॥८८॥
 वन्याः स्तम्बैरमा भेजुः सरसोरवगाहितुम् । मदल्लुतिषु तप्तासु मुक्ता मधुकरव्रजैः ॥८९॥
 शाखाभङ्गैः^३ कृतच्छायाः प्रयान्तो गजयूथपाः । शाखोद्धारमिवातन्वन् खरांशोः करपीडिताः ॥९०॥
 यूथं वनवराहाणाम् उपर्युपरि पुञ्जितम् । तदा प्रविश्य 'वेशन्तम्' प्रविशिश्ये सफर्वमम् ॥९१॥
 मृणालैरङ्गमावेष्टय स्थिता हंसा विरेजिरे । प्रविष्टाः शरणायेव शशाङ्ककरपञ्जरम् ॥९२॥
 चक्रवाकयुवा भेजे घनं शैवलमाततम् । सर्वाङ्गलग्नमुष्णा^४तुः विनीलमिव कञ्चुकम् ॥९३॥
 पुण्डरीकातपत्रेण कृतच्छायोऽञ्जिनीवने । राजहंसस्तदा भेजे हंसीभिः सह मञ्जनम् ॥९४॥
 विसभङ्गैः कृताहारा मृणालैरवगुण्ठिताः^५ । विसिनीपत्रतल्पेषु शिशियरे हंसशावकाः ॥९५॥
 इति शारदिके तीव्रं तन्वाने तापमातपे । पुलिनेषु प्रतप्तेषु न हंसा धृतिमादधुः ॥९६॥

हाथियोंके गण्डस्थलोंमें लग कर सिन्दूरकी शोभा धारण कर रही थी ॥८८॥ तदनन्तर मध्याह्न का समय निकट आनेपर सूर्य अत्यन्त देदीप्यमान होने लगा । उस समय वह सूर्य किसी विजिगीषु राजाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा प्रताप (प्रभाव) धारण करता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रताप (प्रकृष्ट गर्मी) धारण कर रहा था और जिस प्रकार विजिगीषु राजाका मण्डल (स्वदेश) शुद्ध अर्थात् आन्तरिक उपद्रवोंसे रहित होता है उसी प्रकार सूर्यका मण्डल (विम्ब) भी मेघ आदिका आवरण न होनेसे अत्यन्त शुद्ध (निर्मल) था ॥८९॥ शरद् ऋतुके घामके संतापसे जिनके पंखोंकी शोभा संकुचित हो गई है ऐसे पक्षी सरोवरोंके किनारेके वृक्षोंकी छायाका आश्रय लेने लगे ॥९०॥ जो मध्याह्नकी गर्मी सहन करनेमें असमर्थ हैं और इसीलिये जो कमलोंके समूहमें आकर इकट्ठे हुए हैं ऐसे अपने बच्चेको हंस पक्षी अपने पंखोंसे ढँकने लगे ॥९१॥ मदका प्रवाह गर्म हो जानेसे जिन्हें भूमरोंके समूह ने छोड़ दिया है ऐसे जंगली हाथी अवगाहन करनेके लिये सरोवरोंकी ओर जाने लगे ॥९२॥ सूर्यकी किरणोंसे पीड़ित हुए हाथी वृक्षोंकी डालियां तोड़ तोड़कर अपने ऊपर छाया करते हुए जा रहे थे और उनसे ऐसे मालूम होते थे मानो शाखाओंका उद्धार ही कर रहे हों ॥९३॥ उस समय जंगली शूकरोंका समूह कीचड़ सहित छोटे छोटे तालाबोंमें प्रवेश कर परस्पर एक दूसरेके ऊपर इकट्ठे हो शयन कर रहे थे ॥९४॥ अपने शरीरको मृणालके तन्तुओंसे लपेटकर बैठे हुए हंस ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अपनी रक्षा करनेके लिये चन्द्रमाकी किरणोंसे बने हुए पिंजड़ेमें ही घुस गये हों ॥९५॥ जो उष्णता सहन करनेमें असमर्थ है ऐसे किसी तरुण चक्रवाने अपने सर्व शरीरमें लगे हुए, मोटे मोटे तथा विस्तृत शैवालको धारण कर रक्खा था और उससे वह ऐसा मालूम होता था मानो नीले रंगका कुरता ही धारण कर रहा हो ॥९६॥ जिसने कमलिनीयोंके वनमें सफेद कमलरूप छत्रसे छाया बना ली है ऐसा राजहंस उस मध्याह्न के समय अपनी हंसियोंके साथ जलमें गोते लगा रहा था ॥९७॥ जिन्होंने मृणालके टुकड़ोंका आहार किया है और मृणालके तन्तुओंसे ही जिनका शरीर ढका हुआ है ऐसे हंसोंके बच्चे कमलिनी के पत्ररूपी शय्या पर सो रहे थे ॥९८॥ इस प्रकार शरद् ऋतुका घाम तीव्र संताप फैला रहा

१ मध्याह्नकाले । २ पक्षिणः ल० । ३ पक्ष । ४ शाखाखण्डैः । ५ पल्लवानि गृहीत्वा आक्रोशम् । ६ पल्लवम् । अल्पसर इत्यर्थः । 'वेशन्तः पल्लवं चाल्पसरः' इत्यभिधानात् । ७ उष्णमसहमानः । 'शीतोष्णत्रयादशः आलुः' । ८ आच्छादिता ।

मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रं तताप तरणिर्भुवम् । नूनं तीव्रप्रतापानां माध्यस्थ्यमपि तापकम् ॥१००॥
 स्वेवबिन्दुभिराबद्धजालकानि^१ नृपस्त्रियः । वदनान्यूहुरब्जिन्यः पद्मानीवाम्बुशोकरैः ॥१०१॥
 नृपवल्लभिकावक्त्रपङ्कजेष्वपुष्पच्छिद्यम् । धर्मबिन्दून्मृगमो निर्यत्नावप्यरसपूरवत् ॥१०२॥
 गलद्घर्माद्बुबिन्दूनि मुखानि नृपयोषिताम् । श्रवश्यायततानीव राजीवानि विरेजिरे ॥१०३॥
 नृपाङ्गनामुखाब्जानि धर्मबिन्दुभिराबभुः । मुक्ताफलैर्द्रवीभूतैरिवालकविभूषणैः ॥१०४॥
 रथवाहा^२ रथानूहुः श्रायस्ताः^३ फेनिलैर्मुखैः । तीव्रं तपति तिग्मांशौ समेऽपि^४ प्रखलत्खुराः ॥१०५॥
 ह्रस्ववृत्तखुरास्तुङ्गगाः तनुस्निग्धतनूरुहाः । पृश्वासना^५ महावाहाः प्रययुर्चायुरंहसः^६ ॥१०६॥
 महाजवजुषो वक्त्राद् उद्धमन्तः खुरानिव । महोरस्काः स्फुरत्प्रोथा^७ द्रुतं जग्मुर्महाहयाः ॥१०७॥
 समुच्छिन्नपुरो भागाः शुद्धावर्ति^८ मनोजवाः । अपर्याप्तेषु^९ मार्गेषु द्रुतमीयुस्तुरङ्गमाः ॥१०८॥
 मेधासत्त्वजबोपेता विनीताश्चटुलक्रमाः । गलहमाना^{१०} इव स्पृष्टुं महीमश्वा द्रुतं ययुः ॥१०९॥
 अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि पतयो वेगित^{११} ययुः । सोपानत्कैः^{१२} पदैः स्थाणुकण्टकोपललङ्घिनः ॥११०॥

था और उससे तपे हुए नदियोंके किनारोंपर हसोंको संतोष नहीं हो रहा था ॥१०९॥ उस समय सूर्य यद्यपि मध्यस्थ था, आकाशके बीचोंबीच स्थित था, पक्षपात रहित था तथापि वह पृथिवीको बहुत ही संतप्त कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि तीव्र प्रतापी पदार्थोंका मध्यस्थ रहना भी संताप करनेवाला होता है ॥१००॥ जिस प्रकार कमलिनियां (कमलकी लताएं) जलकी बूंदोंसे सुशोभित कमलोंको धारण करती हैं उसी प्रकार महाराज भरतकी स्त्रियां पसीनेकी बूंदोंसे जिनपर मोतियोंका जाल-सा बन रहा है ऐसे अपने मुख धारण कर रही थीं ॥१०१॥ रानियोंके मुख-कमलोंपर जो पसीनेकी बूंदें उठी हुई थीं वे निकलते हुए सौन्दर्य रूपी रसके प्रवाहके समान शोभाको पुष्ट कर रही थीं ॥१०२॥ जिनसे पसीनेकी बूंदें टपक रही हैं ऐसे रानियोंके मुख ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो ओंसकी बूंदोंसे व्याप्त हुए कमल ही हों ॥१०३॥ जिन पसीनेकी बूंदोंसे रानियोंके मुख-कमल सुशोभित हो रहे थे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो केशपाशको अलंकृत करनेवाले मोती ही पिघल पिघलकर तरल रूप हो गये हों ॥१०४॥ उस समय सूर्य बड़ी तेजीके साथ तप रहा था इसलिये जो घोड़े रथोंको ले जा रहे थे उनके मुख परिश्रमसे खुल गये थे, उनमें फेन निकल आया था और उनके खुर समान जमीनपर भी स्खलित होने लगे थे ॥१०५॥ जिनके खुर छोटे और गोल हैं, जिनपर छोटे और चिकने रोम हैं, जो बहुत ऊंचे हैं, जिनका आसन अर्थात् पीठ बहुत बड़ी है, और जिनका वेग वायुके समान है ऐसे बड़े बड़े उत्तम घोड़े भी जल्दी जल्दी दौड़े जा रहे थे ॥१०६॥ जो तीव्र वेगसे सहित हैं, जो अपने आगेके खुरोंको मुखसे उगलते हुएके समान जान पड़ते हैं, जिनका वक्षस्थल बड़ा है और जिनकी नाकके नथने कुछ कुछ हिल रहे हैं ऐसे बड़े बड़े घोड़े जल्दी जल्दी जा रहे थे ॥१०७॥ जिनके आगेका भाग बहुत ऊंचा है, जिनके शरीरपरके भँवर अत्यन्त शुद्ध हैं, और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोड़े उस छोटेसे मार्गमें बड़ी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१०८॥ जो बुद्धि-बल और वेगसे सहित हैं, विनयवान् हैं तथा सुन्दर गमनके धारक हैं ऐसे घोड़े पृथिवीको (रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त-पक्षमें-रजोधर्मसे युक्त समझ) उसके स्पर्श करनेमें घृणा करते हुए ही मानो बड़े वेगसे जा रहे थे ॥१०९॥ पैदल चलनेवाले

१ जालसमूहानि । कोरकाणि वा । २ प्रालेय । 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिं हिमम् । प्रालेयं मिहिका च' इत्यभिधानात् । ३ रथाश्वाः । ४ उपतप्ताः ।-रामस्तैः इत्यपि पाठः । ५ समानभूतलेऽपि । ६ पृथुलेपृष्ठभागाः । ७ वायुवेगाः । ८ घोणाः । ९ देवमणिप्रमुखशुभावर्तिः । १० असम्पूर्णेषु सत्सु । ११ कुत्समानाः । १२ वेगवद् यथा भवति तथा । १३ सपादवाणैः ।

शक्तिकाः^१ सह याष्टीकैः^२ प्रासिका^३ धन्वभिः समम् । नैस्त्रिशिकाश्च^४ तेऽन्योन्यं स्पर्धयेव ययुर्भुतम् ॥१११॥
 पुरः प्रधावितैः^५ प्रेङ्खलद्वाराणां^६ प्रपल्लवाः । जातपक्षा इषोद्वीय भटा जग्मुरतिव्रुतम् ॥११२॥
 प्रयात धावतापेत मार्गं मा रुध्वमप्रतः । इत्युच्चैश्चरद्ध्वानाः^७ पौरस्थानत्ययुर्भटाः ॥११३॥
 इतोऽपसर्पताश्चीयाब् इतो धावत हास्तिकात् । इतो रथावपत्रस्ता^८ दूरं नश्यत नश्यत ॥११४॥
 अमूर्ध्माज्जनसङ्घट्टाब् उत्थापयत डित्यकान्^९ । इतो^{१०} हृत्स्युरसावदवान् अपसारयत व्रुतम् ॥११५॥
 इतः^{११} प्रस्थानमादध्य स्थितोऽयं घातुको गजः । मध्येऽध्वं^{१२} प्राजितुर्बोधात्^{१३} पर्यंस्तोऽयमितो रथः ॥११६॥
 क्रमेत्लकोऽयमुन्वस्तः^{१४} प्रतीपं^{१५} पथि धावति । उत्सृष्टभारो लम्बोष्ठो जनानि च विडम्बयन् ॥११७॥
 विव्रस्ताद्वेसरादेनां पतन्तीमघरोधिकाम् । सन्धारयन् प्रपातेऽस्मिन्^{१६} सौविबलः^{१७} पतत्ययम् ॥११८॥
 यवीयानेषु^{१८} पण्यस्त्रीमुखालोकनविस्मितः । पातितोऽप्यवसङ्घट्टः^{१९} नात्मानं वेव^{२०} क्षुण्यधीः ॥११९॥
 हरिद्वारज्जितश्मश्रुः^{२१} कज्जलाङ्कितलोचनः । कुट्टिनीभनयसेव^{२२} प्रवयास्तद्विषणयते^{२३} ॥१२०॥
 इति प्रयाणसञ्जल्यैः प्रज्ञाताध्वपरिभसाः । सैनिकाः शिबिरं प्रापन् सेनाग्याः प्राङ्निवेशितम् ॥१२१॥

सैनिक जाता पहने हुए पैरोंसे डूँठ, काटे तथा पत्थर आदिको लांघते हुए घोड़े और रथोंसे भी जल्दी जा रहे थे ॥११०॥ शक्ति नामके हथियारको धारण करनेवाले लठ्ठ धारण करनेवालों के साथ, भाला धारण करनेवाले धनुष धारण करनेवालोंके साथ और तलवार धारण करनेवाले लोग परस्पर एक दूसरेके साथ स्पर्धा करते हुए ही मानो बड़ी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१११॥ आगे आगे दौड़नेसे जिनके कवचके अप्र भाग कुछ कुछ हिल रहे हैं ऐसे योद्धा लोग इतनी जल्दी जा रहे थे मानो पंख उत्पन्न होनेसे वे उड़े ही जा रहे हों ॥११२॥ चलो, दौड़ो, हटो, आगेका मार्ग मत रोको इस प्रकार जोर जोरसे बोलनेवाले योद्धा लोग अपने सामनेके लोगोंको हटा रहे थे ॥११३॥ अरे, इन घोड़ोंके समूहसे एक ओर हटो, इन हाथियोंके समूहसे भागो, और बिचले हुए इन रथोंसे भी दूर भाग जाओ ॥११४॥ अरे, इन बच्चोंको लोगोंकी इस भीड़से उठाओ और इन हाथियोंके आगेसे घोड़ोंको भी शीघ्र हटाओ ॥११५॥ इधर यह दुष्ट हाथी रास्ता रोककर खड़ा हुआ है और इधर यह रथ सारथिकी गलतीसे मार्ग के बीचमें ही उलट गया है ॥११६॥ इधर देखो, जिसने अपना भार पटक दिया है, जिसके लंबे ओठ हैं और जो बहुत घबड़ा गया है ऐसा यह ऊंट मार्गमें इस प्रकार उल्टा दौड़ा जा रहा है मानो लोगोंकी विडम्बना ही करना चाहता हो ॥११७॥ इधर इस ऊँची जमीनपर घबड़ाये हुए खच्चरपरसे गिरती हुई अन्तःपुरकी स्त्रीको कोई कंचुकी बीचमें ही धारण कर रहा है परन्तु ऐसा करता हुआ वह स्वयं गिर रहा है ॥११८॥ यह तरुण पुरुष वेश्याका मुख देखनेसे आश्चर्यचकित होता हुआ घोड़ेके धक्केसे गिर गया है, परन्तु वह मूर्ख 'मैं' गिर गया हूँ इस तरह अब भी अपने आपको नहीं जान रहा है ॥११९॥ जिसने अपने बाल खिजाबसे काले कर लिये हैं, जिसकी आँखोंमें काजल लगा हुआ है और जो किसी कुट्टिनीके पीछे पीछे जा रहा है ऐसा यह बूढ़ा ठोक तरुण पुरुषके समान आचरण कर रहा है ॥१२०॥ इस प्रकार चलते समयकी बात-

१ शक्तिः प्रहरणं येषां ते शक्तिकाः । २ यष्टिहेतुकैः । ३ कौस्तिकाः । ४ अशिहेतिकाः । ५ प्रधावनेः । ६ चलत्कञ्चुकः । ७ पुरोगामिनः । ८ भो विगतभयाः । ९ बालकान् । डिम्बकान् ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । १० हस्तिमुख्यात् । ११ गमनम् । -पन्थान-ल० । १२ मार्गमध्ये । १३ सारथिः । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः शक्ता च सारथिः ।' इत्यभिधानात् । १४ उत्तानितः । १५ उष्ट्रः । १६ भीति गतः । १७ प्रतिकूलम् । अभिमुखमित्यर्थः । १८ प्रपातस्तु तटो भृगुः । १९ कञ्चुकी । २० युवा । २१ जातान्ति । २२ पलितप्रतीकारार्थं प्रयुक्तोपध्वनिशेषरज्जित । २३ शफरीम् । 'कुट्टिनी शफरी समे' इत्यभिधानात् । २४ अनुगच्छन् । २५ वृद्धाः । 'प्रवया स्थविरो वृद्धो जिनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यभिधानात् ।

ततोऽवरोधनवधूमुखच्छायाविलङ्घयति । मध्यन्वित्रातपे^१ सम्राट् सध्याप शिबिरान्तकम् ॥१२२॥
 छत्ररत्नकृतच्छायां दिव्यं रथमधिष्ठितः । त तवातपसन्नाभां विदामास^२ विशाम्प्रति ॥१२३॥
 रथोभोभिरयासहः^३ आरकथसु^४लसङ्कथः । प्रयातमपि^५ नाध्वानं विवेड भरतर्षिषः ॥१२४॥
 नोद्धातः^६ कोऽप्यभूदङ्गं रथाङ्गपरिवर्तनैः^७ । रथवेगेऽपि नास्याभूत् क्लेशो^८ दिव्यान् भावतः ॥१२५॥
 रथवेगानिलोदत्तं^९ व्यासतं तवध्वजांशुकम् । पञ्चादागामिसैन्यानामिब मार्गमसूत्रयत्^{१०} ॥१२६॥
 रसोद्धतगतिकोभात् उद्धृताङ्गपरिभ्रष्टाः । कथं कथमपि प्रापन् रथिनोऽन्ये रथं प्रभोः ॥१२७॥
 तमध्वजोषमध्वन्यः^{११} दुरङ्गैरत्यमाह्वयन्^{१२} । साक्षिनः प्रभुणा सार्धं शिबिरं प्रविविक्षवः^{१३} ॥१२८॥
 दुराद्वृष्यकुटीभेदान् उत्थितान् प्रभुर्दक्षतः । सेनानिवेशमभितः^{१४} सौषमोभापहसितः ॥१२९॥
 रौप्यवपुषु विन्यस्तान् विस्तृतान् पटमण्डपान् । सोऽप्यज्जनतातापहारिणः सुजनानिव ॥१३०॥
 किमेताति स्थलान्जानि हंसयूथान्यमूनि वा । इत्याशङ्ककम् स्थूलप्राणि^{१५} दुराद्वृषिरे जनेः ॥१३१॥
 सामन्तानां निवेशेषु कायमानानि^{१६} नैकधा^{१७} । निवेशितानि विन्यासः निबध्यो^{१८} प्रभुरग्रतः ॥१३२॥
 परितः कायमानानि वीक्ष्य कण्टकिनीर्बृतीः । निष्कण्टके निजे राज्ये मेने तानेव कण्टकान् ॥१३३॥

चीतसे जिन्हें मार्गका परिश्रम भी मालूम नहीं हुआ है ऐसे सैनिक लोग सेनापतिके द्वारा पहले से ही तैयार किये हुए शिबिर अर्थात् ठहरनेके स्थानपर जा पहुंचे ॥१२१॥ तदनन्तर जब मध्याह्नका सूर्य अन्तःपुरकी स्त्रियोंके मुखकी कान्तिको मलित कर रहा था तब सम्राट् भरत शिबिरके समीप पहुंचे ॥१२२॥ जिनपर छत्ररत्नके द्वारा छाया की जा रही है और जो देवनिमित्त सुन्दर रथपर बैठे हुए हैं ऐसे महाराज भरतको उस दोपहरके समय भी गर्मीका कुछ भी दुःख मालूम नहीं हुआ था ॥१२३॥ जिन्होंने समीपमें चलनेवाले वृद्ध जनोंके साथ साथ अनेक प्रकारकी कथाएं प्रारम्भ की हैं ऐसे भरतेश्वरको बीते हुए मार्गका भी पता नहीं चला था ॥१२४॥ दिव्य सामर्थ्य होनेके कारण रथके पहियोंकी चालसे उनके शरीरमें कुछ भी उद्धात (दचका) नहीं लगा था और न रथका तीव्र वेग होनेपर भी उनके शरीरमें कुछ क्लेश हुआ था ॥१२५॥ रथके वेगसे उत्पन्न हुए वायुसे ऊपरकी ओर फहराता हुआ उनकी ध्वजा का लम्बा वस्त्र ऐसा जान पड़ता था मानो पीछे आनेवाली सेनाके लिये मार्ग ही सूचित कर रहा हो ॥१२६॥ रथकी उद्धत गतिके क्षोभसे जिनके अंग अंगमें पीड़ा उत्पन्न हो रही है ऐसे रथ पर सवार हुए अन्य राजा लोग बड़ी कठिनाईसे महाराज भरतके रथके समीप पहुंच सकें थे ॥१२७॥ जो घुड़सवार लोग महाराज भरतके साथ ही शिबिरमें प्रवेश करना चाहते थे उन्होंने बचे हुए मार्गको अपने उन्हीं चलते हुए श्रेष्ठ घोड़ोंसे बड़ी शीघ्रताके साथ तय किया था ॥१२८॥ जो राजभवनोंकी शोभाकी ओर भी हंस रहे हैं ऐसे शिबिरके चारों ओर खड़े किये हुए रावटी तम्बू आदि डेराओंको महाराज भरतने दूरसे ही देखा ॥१२९॥ उन्होंने चांदीके खंभोंपर खड़े किये हुए बहुत बड़े बड़े कपड़ेके उन मण्डपोंको भी देखा था जो कि सज्जन पुरुषों के समान लोगोंका संताप दूर कर रहे थे ॥१३०॥ क्या ये स्थलकमल हैं अथवा हंसोंके समूह हैं इस प्रकार आशंका कर लोग दूरसे ही उन तम्बूओंके अग्रभागोंको देख रहे थे ॥१३१॥ सामन्त लोगोंकी ठहरनेकी जगहपर अनेक प्रकारकी रचना कर जो तम्बू बगैरह बनाये गये थे उन्हें भी महाराज भरतने सामनेसे देखा था ॥१३२॥ तम्बूओंके चारों ओर जो कटीली

१ दिनाधिपे ट० । मध्याह्नसूर्ये । २ विविदे । ३ कुलवृद्धादिभिः । ४ मुख ल० । ५ अतिदूरं गतम् । ६ पीडा । ७ रथचक्रभ्रमणैः । ८ क्लमः ट० । ९ श्रमः । १० उद्धतम् । ११ अदर्शयत् । १२ अश्वनि साधुभिः । १३ अतिक्रम्य प्रापत् । १४ प्रवेष्टुमिच्छवः । १५ सेनारचनायाः समन्तात् । १६ पटकूटघात्राणि । १७ दूष्यं स्थूलं पटकूटीगुणलयनिश्रेणिका तुल्या इति बैजयन्ती । १८ कुटीभेदाः । १९ नानाप्रकाराः । २० ददर्श ।

तदशाखाग्रसंसक्तपर्याणादिपरिच्छदान् । स्कन्धावाराद् बहिः कांश्चिद् आवासान् प्रभुरेभत ॥१३४॥
 बहिर्निवेशमित्यादीन् विशेषान् स विलोकयन् । प्रवेशे शिबिरस्यास्य महाद्वारमथासवत् ॥१३५॥
 तदतीत्य समं सैन्यं संगच्छन् किञ्चिदन्तरम् । महाब्धिसमनिर्घोषमाससाद् वणिक्पथम् ॥१३६॥
 कृतोपशोभमाबद्धतोरणं चित्रकेतनम् । वणिग्भिरुद्धरत्नार्धं स जगाहे वणिक्पथम् ॥१३७॥
 प्रत्यापणमसौ तत्र रत्नराशौघिधीनिव । पश्यन् मेने निधीयतां प्रसिद्धचैव तथास्थिताम् ॥१३८॥
 समौक्तिकं स्फुरद्गन्तं जनतोत्कलिकाकुलम् । रथा वणिक्पथाम्भोधिं पोता इव ललङ्घिरे ॥१३९॥
 चलवद्बोयकल्लोलः स्फुरन्निस्त्रिशरोहितः । राजमार्गोऽम्बुधेर्लीलां महेभमकरं रथात् ॥१४०॥
 राजन्यकेन संरुद्धः समन्तादनुपालयम् । तदासी बिपणीमार्गः सत्यं राजपथोऽभवत् ॥१४१॥
 ततः पर्यन्तविन्यस्तरत्नभासुरतोरणम् । रथकटघां परिक्षेपकृतबाह्यपरिच्छदम् ॥१४२॥
 आरुध्यमानमश्वीयैः हास्तिकेनातिदुर्गमम् । बहुनागवनं जुष्टं कलभैश्च करेणुभिः ॥१४३॥
 छत्रवण्डकृतच्छायां महोद्यानमिव क्वचित् । क्वचित्सामन्तमण्डल्या रचितास्थानमण्डलम् ॥१४४॥

वाडियां बनाई गई थीं उन्हें देखकर महाराज भरतने अपने निष्कण्टक राज्यमें ये ही कांटे हैं ऐसा माना था । भावार्थ—भरतके राज्यमें बाड़ीके कांटे छोड़कर और कोई कांटे अर्थात् शत्रु नहीं थे ॥१३३॥ जहांपर वृक्षोंकी डालियोंके अग्र भागपर घोड़ोंके पलान आदि अनेक वस्तुएं टंगी हुई हैं और जो शिबिरके बाहिर बने हुए हैं ऐसे कितने ही डेरे महाराज भरतने देखे ॥१३४॥ इस प्रकार शिबिरके बाहर बनी हुई अनेक प्रकारकी विशेष वस्तुओंको देखते हुए महाराज शिबिरमें प्रवेश करनेके लिये उसके बड़े दरवाजेपर जा पहुंचे ॥१३५॥ बड़े दरवाजेको उल्लंघन कर सैनिकोंके साथ कुछ दूर और गये तथा जिसमें समुद्रके समान गंभीर शब्द हो रहे हैं ऐसे बाजारमें वे जा पहुंचे ॥१३६॥ जिसकी बहुत अच्छी सजावट की गई है जिसमें तोरण बंधे हुए हैं, अनेक प्रकारकी ध्वजाएं फहरा रही हैं और व्यापारी लोग जिसमें रत्नों का अर्घ लेकर खड़े हैं ऐसे उस बाजारमें महाराजने प्रवेश किया ॥१३७॥ वहांपर प्रत्येक दुकानपर निधियोंके समान रत्नोंकी राशि देखते हुए महाराज भरतने माना था कि निधियों की संख्या प्रसिद्धि मात्रसे ही निश्चित की गई है । भावार्थ—प्रत्येक दुकानपर रत्नोंकी राशियां देखकर उन्होंने इस बातका निश्चय किया था कि निधियोंकी संख्या नौ है यह प्रसिद्धि मात्र है, वास्तवमें वे असंख्यात हैं ॥१३८॥ जो मोतियोंसे सहित है, जिसमें अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं और जो मनुष्योंके समूहरूपी लहरोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे उस बाजाररूपी समुद्र को रथोंने जहाजके समान पार किया था ॥१३९॥ उस समय वह राजमार्ग चलते हुए घोड़ों के समुदायरूपी लहरोंसे, चमकती हुई तलवाररूपी मछलियोंसे और बड़े बड़े हाथीरूपी मगरों से ठीक समुद्रकी शोभा धारण कर रहा था ॥१४०॥ उस समय वह बाजारका रास्ता महाराज के तम्बू तक चारों ओरसे अनेक राजकुमारोंसे भरा हुआ था इसलिये वास्तवमें राजमार्ग हो रहा था ॥१४१॥ तदनन्तर जिसके समीप ही रत्नोंके देदीप्यमान तोरण लग रहे हैं, घेरकर रखे हुए रथोंके समूहसे जिसकी बाहरकी शोभा बढ़ रही है—जो घोड़ोंके समूहसे भरा हुआ है, हाथियोंके समूहसे जिसके भीतर जाना कठिन है, जो हाथियोंकी बड़ी भारी सेनासे सुशोभित है, हाथियोंके बच्चे और हथिनियोंसे भी भरा हुआ है । अनेक छत्रोंके समूहकी छाया होनेसे

१ पल्ययनादिपरिकरान् । २ शिखरात् । ३ कटकाद् बहिः । ४ धृतरत्नार्धम् । ५ प्रमाणम् । ६ नवनिधि रूपेण स्थिताम् । तथास्थितान् ल० । ७ तरंगाकुलम् । ८ मत्स्यविशेषः । ९ रथसमूहपरिवेष्टेन कृतबाह्यपरिकरम् । १० ईषदसमाप्तनागवनम् । नागवनसदृशमिति यावत् । ११ सेवितम् ।

प्रविशद्भिश्च निर्यद्भिः अपर्यन्तैर्नियोगिभिः । महाब्धेरिव कल्लोलैः तटमाविर्भवद्भवनि ॥१४५॥
जनतोत्सारणव्यग्रमहादौवारपालकम् । कृतमङ्गलनिर्घोषं वाग्देव्येष कृतास्पदम् ॥१४६॥
चिरानुभूतमप्येवम् अपूर्वमिव शोभया । नृपो नृपाङ्गणं पश्यन् किमप्यासीत् सविस्मयः ॥१४७॥
निधयो यस्य पर्यन्ते मध्ये रत्नान्यनन्तशः । महतः शिबिरस्यास्य विशेषं कोऽनुवर्णयेत् ॥१४८॥

शार्दूलविक्रीडतम्

स श्रीमानिति विश्वतः स्वशिबिरं लक्ष्म्या निवासायितं
पश्यन्नातधृतिविलङ्घ्य विशिखाः^१ स्वर्गापहासिश्चियः ।
सम्भ्राम्यत्प्रतिहाररुद्धजनतासम्बाधमुत्केतनं
प्राविशत् कृतसन्निवेशमचिरादात्मानयं शोपतिः^२ ॥१४६॥
तत्राविष्कृतमङ्गले सुरसरिद्वीचीभुवा वायुना
सम्पृष्टाङ्गणवेदिके विकिरता तापच्छिवः शोकरान् ।
शस्ते वास्तुनि^३ विस्तृते स्थपतिना सद्यः समुत्थापिते
लक्ष्मीवान् सुखभावसन्निधिपतिः प्राचीं^४ दिशं निर्जयन् ॥१४७॥

जो कहींपर किसी बड़े भारी दगीचाके समान जान पड़ता है और कहीं अनेक राजाओंकी मण्डलीसे युक्त होनेके कारण सभामण्डपके समान मालूम होता है, जो प्रवेश करते हुए और बाहर निकलते हुए अनेक कर्मचारियोंसे लहरोंसे शब्द करते हुए किसी महासागरके किनारेके समान जान पड़ता है । जहाँपर बड़े बड़े द्वारपाल लोग मनुष्योंकी भीड़को दूर हटानेमें लगे हुए हैं, जहाँ अनेक प्रकारके मंगलमय शब्द हो रहे हैं और इसीलिये जो ऐसा जान पड़ता है मानो सरस्वती देवीने ही उसमें अपना निवास कर रखा हो तथा जो चिरकालसे अनुभूत होनेपर भी अपनी अनोखी शोभासे अपूर्वके समान मालूम हो रहा है ऐसे राजभवनके आंगनको देखते हुए महाराज भरत भी कुछ कुछ आश्चर्यचकित हो गये थे ॥१४२-१४७॥ जिसके चारों ओर निधियां रक्खी हुई हैं और बीचमें अनेक प्रकारके रत्न रखे हुए हैं ऐसे उस बड़े भारी शिबिर की विशेषताका कौन वर्णन कर सकता है ॥१४८॥ इस प्रकार लक्ष्मीके निवासस्थानके समान सुशोभित अपने शिबिरको चारों ओरसे देखते हुए जो अत्यन्त संतुष्ट हो रहे हैं ऐसे लक्ष्मीपति श्रीमान् भरतने, चारों ओर दौड़ते हुए द्वारपालोंके द्वारा जिसमें मनुष्योंकी भीड़ का उपद्रव दूर किया जा रहा है, जिसपर अनेक पताकाएं फहरा रही हैं, और जिसमें अनेक प्रकारकी रचना की गई है ऐसे अपने तम्बमें शीघ्र ही प्रवेश किया ॥१४९॥ जिसमें मंगल-द्रव्य रखे हुए हैं, गङ्गा नदीकी लहरोंसे उत्पन्न हुए तथा संतापको दूर करनेवाली जलकी बूंदोंको बरसाते हुए वायुसे जिसके आंगनकी बेदी साफ की गई है, जो प्रशंसनीय है, विस्तृत है तथा स्थपति (शिलावट) रत्नके द्वारा बहुत शीघ्र खड़ा किया गया है, बनाया गया है ऐसे तंबूमें पूर्व दिशाको जीतनेवाले, निधियोंके स्वामी श्रीमान् भरतने सुखपूर्वक निवास किया

१ रथ्याः । 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः । २ विहितसम्यग्रत्वनम् । ३ भरतेश्वरः । ४ सम्मार्जित । ५ गृहे । ६ पूर्वाम् ।

राज्ञामावसथेषु शान्तेजनताक्षोभेषु पीताम्भसाम्
 शयनानां पटमण्डपेषु निवहे स्वरं तृणप्रासिनि ।
 गङ्गातीरसरोयगाहिनि वनेष्वालानिते हास्तिके
 जिष्णोस्तत्कटकं चिरादिव कृतावासं तदा लक्ष्यते ॥१५१॥
 तत्रासीनमुपायनः कुलधनैः कन्याप्रदानादिभिः
 प्राप्या मण्डलभुजः समुचितैराराधयन् साधनैः^१ ।
 संकटाः^२ प्रविहाय मानमपरे प्राणेशिवश्चक्रिणं
 दूरादानतमौलयो जिनमिव प्राज्योदयं^३ नाकिनः ॥१५२॥

इत्यांशे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे
 भरतराजविजयप्रयाणवर्णनं नाम सप्तविंशतितमं पर्व ॥

॥१५०॥ जिस समय राजाओंके तम्बुओंमें मनुष्योंकी भीड़का क्षोभ शान्त हो गया था, घोड़ों के समूह जल पीकर कपड़ेके बने हुए मण्डपोंमें अपने इच्छानुसार घास खाने लगे थे, और हाथियों के समूह गङ्गा नदीके किनारेके सरोवरोंमें अवगाहन कराकर—स्नान कराकर—बनोंमें बांध दिये गये थे उस समय विजयी महाराज भरतकी वह सेना ऐसी जान पड़ती थी मानो चिर कालसे ही वहाँ रह रही हो ॥१५१॥ जिस प्रकार श्रेष्ठ महिमाको धारण करनेवाले तथा समवसरण सभामें विराजमान जिनेंद्रदेवकी देव लोग आराधना करते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ वैभवको धारण करनेवाले तथा उस मण्डपमें बैठे हुए महाराज भरतको पूर्वदिशाके राजाओंने अपनी कुल-परम्परासे आया हुआ धन भेंटमें देकर, कन्याएं प्रदान कर तथा और भी अनेक योग्य वस्तुएं देकर उनकी आराधना-सेवा की थी । इसी प्रकार उनकी सेनाके द्वारा रोके हुए अन्य कितने ही राजाओंने अहंकार छोड़कर दूरसे ही मस्तक झुकाकर चक्रवर्तीके लिये प्रणाम किया था ॥१५२॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य-प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीमहापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें भरतराजका राजाओंकी विजयके लिये प्रयाण करना इस बातका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अष्टाविंशतितमं पर्व

अथाभ्येष्टुर्दिनारम्भे कृतप्राभातिकक्रियः । प्रयाणमकरोच्चक्री चक्ररत्नानुमार्गतः^१ ॥१॥
 अलङ्घ्यं चक्रमाकान्तपरचक्रं^२ पराक्रमम् । दण्डश्च दण्डितारातिः द्वयमस्य^३ पुरोऽभवत् ॥२॥
 रक्ष्यं देवसहस्रेण चक्रं दण्डश्च तादृशः । जयाङ्गमिदमेवास्य द्वयं शेषः परिच्छदः^४ ॥३॥
 विजयार्धं^५ प्रतिस्पर्धवर्ष्मणिं यागहस्तिनम् । प्रतस्थे प्रभुरारुह्य ताम्ना विजयपर्वतम् ॥४॥
 प्राचीं दिशमथो जेतुम् आपयोधेस्तमुद्यतम् । नूनं^६ स्तम्बेरमव्याजाद् ऊहे^७ विजयपर्वतः^८ ॥५॥
 सुरेभं^९ शरदभ्याभम् आरूढो जयकुञ्जरम् । स रजे दीप्तमुकुटः सुरेभं^{१०} सुरराड्य ॥६॥
 सितातपत्रमस्योच्चैः विधृतं श्रियमादधे । यशसां प्रसवागारमिव^{११} तद्व्याजजृम्भितम् ॥७॥
 लक्ष्मीप्रहासविशदा चामराली समन्ततः । व्यधूयतास्य विध्वस्ततापा ज्योत्स्नेव शारदी ॥८॥
 जयद्विरदमारूढो ज्वलज्जेत्रास्त्रभासुरः । जयलक्ष्मीकटाक्षानाम् अगमत् स शरव्यताम्^{१२} ॥९॥
 महामुकुटबद्धानां सहस्राणि^{१३} समन्ततः । तमनुप्रचलन्ति स्म सुराधिपमिवामराः ॥१०॥

अथानन्तर-दूसरे दिन सवेरा होते ही जो प्रातःकालके समय करने योग्य समस्त क्रियाएं कर चुके हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे पीछे प्रस्थान किया ॥१॥ शत्रु-समूह के पराक्रमको नष्ट करनेवाला तथा स्वयं दूसरोंके द्वारा उल्लंघन न करने योग्य चक्ररत्न और शत्रुओंको दण्डित करनेवाला दण्डरत्न, ये दोनों ही रत्न चक्रवर्तीकी सेनाके आगे आगे रहते थे ॥२॥ चक्ररत्न एक हजार देवोंके द्वारा रक्षित था और दण्डरत्न भी इतने ही देवोंके द्वारा रक्षित था । वास्तवमें चक्रवर्तीकी विजयके कारण ये दो ही थे, शेष सामग्री तो केवल शोभा के लिये थी ॥३॥ अबकी बार चक्रवर्तीने, जिसका शरीर विजयार्ध पर्वतके साथ स्पर्धा कर रहा है ऐसे विजयपर्वत नामके पूज्य हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया था ॥४॥ उस समय ऐसा मालूम होता था मानो समुद्र पर्यन्त पूर्व दिशाको जीतनेके लिये उद्यत हुए महाराज भरतको उस हाथीके छलसे विजयार्ध पर्वत ही धारण कर रहा हो ॥५॥ जिस प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला भरत शरद् ऋतुके बादलोंके समान सफेद और देवों के द्वारा दिये हुए उस विजयपर्वत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित हो रहा था ॥६॥ भरतेश्वर के ऊपर लगा हुआ सफेद छत्र ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो छत्रके वहानेसे यशकी उत्पत्ति का स्थान ही हो ॥७॥ लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल और शरद् ऋतुकी चांदनीके समान संतापको नष्ट करनेवाली चमरोंकी पंक्ति महाराज भरतके चारों ओर ढुलाई जा रही थी ॥८॥ विजय नामके हाथी पर आरूढ़ हुए और विजय प्राप्त करानेवाले प्रकाशमान अस्त्रोंसे देदीप्यमान होनेवाले भरतेश्वर जयलक्ष्मीके कटाक्षोंके लक्ष्य बन रहे थे । भावार्थ-उनकी ओर विजय-लक्ष्मी देख रही थी ॥९॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रके पीछे पीछे चलते हैं उसी प्रकार हजारों मुकुटबद्ध बड़े बड़े राजा लोग चारों ओर भरत महाराजके पीछे पीछे चल रहे थे ॥१०॥

१ अनुगमनात् । २ अरिनिर्कर । परराष्ट्रं वा । ३ चक्रिणः । ४ परिकरः । ५ विजयार्ध-गिरिणा स्पर्धमानदेहम् । ६ पूजोपेतगजम् । ७ तनु ल० । ८ धरति स्म । ९ विजयार्धगिरिः । १० सुशब्दम् । ११ ऐरावतम् । १२ क्षत्रव्याज । १३ लक्ष्यताम् । 'लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यभिधानात् । १४ अपरिमिता इत्यर्थः ।

दूरमद्य प्रयातव्यं निवेष्टव्यमुपार्णवम्^१ । त्वरध्वमिति सेनान्यः सैनिकान्दतिष्ठयन् ॥११॥
 त्वर्यतां प्रस्थितो देवो इदीयश्च^२ प्रयाणकम् । बलाधिकारिणामित्थं वचो बलमचक्षुभत् ॥१२॥
 अद्यासिन्धु^३ प्रयातव्यं गङ्गाद्वारे निवेशनम् । संश्राव्यो मागधोऽद्यैव विलङ्घ्य पयसां निधिम् ॥१३॥
 समुद्रमद्य पश्यामः समुद्रङ्गत्तरङ्गकम्^४ । समुद्रं लङ्घ्येऽद्यैव समुद्रं^५ शासनं विभोः ॥१४॥
 अन्योन्यस्येति सञ्जल्यैः सम्प्रास्थिषत्^६ सैनिकाः । प्रयाणभेरीप्रध्वानः तदोद्यन् द्या^७ मधिध्वनत्^८ ॥१५॥
 ततः प्रचलिता सेना सानुगङ्गं धृतायतिः । मिमानेव तदायामं पप्रथे प्रथितध्वनिः ॥१६॥
 सचामरा चलद्दंसां सबलाकां^९ पताकिनीं^{१०} । अग्निव्याय चमूर्गङ्गा सतुरङ्गा तरङ्गिणीम्^{११} ॥१७॥
 राजहंसैः कृताध्यासा क्वचिदप्यस्त्रलवगतिः । चमूरिधिं प्रति प्रायात्^{१२} सा द्वितीयेव जाह्नवी ॥१८॥
 विपरीतामतद्वृत्तिः^{१३} निम्नगा^{१४} मुन्नतस्थितिः । त्रिमार्गगां व्यजेष्टासौ पृतना बहुमार्गगा ॥१९॥

‘आज बहुत दूर जाना है और समुद्रके समीप ही ठहरना है इसलिये जल्दी करो’ इस प्रकार सेना-पति लोग सैनिकोंको जल्दी जल्दी उठा रहे थे ॥११॥ ‘अरे जल्दी करो, महाराज प्रस्थान कर गये, और आजका पड़ाव बहुत दूर है’ इस प्रकार सेनापतियोंके वचन सेनाको क्षोभित कर रहे थे ॥१२॥ ‘आज समुद्र तक चलना है, गङ्गाके द्वारपर ठहरना है और आज ही समुद्रको उल्लंघन कर मागधदेवको वश करना है ॥१३॥ आज हम लोग, जिसमें ऊंची ऊंची लहरें उठ रही हैं ऐसे समुद्रको देखेंगे और आज ही समुद्रको उल्लंघन करनेके लिये महाराजकी मुहर सहित आज्ञा है’ ॥१४॥ इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते हुए सैनिकोंने प्रस्थान किया, उस समय प्रयाण-कालमें बजनेवाले नगाड़ोंके उठे हुए शब्दने आकाशको शब्दायमान कर दिया था ॥१५॥ तदनन्तर, जिसका शब्द सब ओर फैल रहा है ऐसी वह सेना गङ्गा नदीके किनारे किनारे लम्बी होकर इस प्रकार चलने लगी मानो उसकी लम्बाईका नाप करती हुई ही चल रही हो ॥१६॥ उस समय वह सेना ठीक गङ्गा नदीका अनुकरण कर रही थी क्योंकि जिस प्रकार गङ्गा नदीमें हंस चलते हैं उसी प्रकार उस सेनामें चमर ढुलाये जा रहे थे, जिस प्रकार गङ्गा नदीमें बगुला उड़ा करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें ध्वजाएं फहराई जा रही थीं और जिस प्रकार गङ्गा नदीमें अनेक तरङ्ग उठा करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें अनेक घोड़े उछल रहे थे ॥१७॥ वह सेना समुद्रकी ओर इस प्रकार जा रही थी मानो दूसरी गङ्गा नदी ही जा रही हो क्योंकि जिस प्रकार गङ्गा नदीमें राजहंस निवास करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें भी राजहंस अर्थात् श्रेष्ठ राजा लोग निवास कर रहे थे और जिस प्रकार गङ्गा नदीकी गति कहीं भी स्थलित नहीं होती उसी प्रकार उस सेनाकी गति भी कहीं स्थलित नहीं हो रही थी ॥१८॥ अथवा उस सेनाने गङ्गा नदीको जीत लिया था क्योंकि गङ्गा नदी विपरीत अर्थात् उल्टी प्रवृत्ति करनेवाली थी (पक्षमें विपरीत—पक्षियोंसे व्याप्त थी) परन्तु सेना विपरीत नहीं थी अर्थात् सदा चक्रवर्तीके आज्ञानुसार ही काम करती थी, गङ्गा नदी निम्नगा अर्थात् नीच पुरुषको प्राप्त होनेवाली थी (पक्षमें ढालू स्थानकी ओर बहनेवाली थी) परन्तु सेना उसके विरुद्ध उन्नतगा अर्थात् उन्नत पुरुष—चक्रवर्तीको प्राप्त होनेवाली थी और इसी प्रकार गङ्गा त्रिमार्गगा अर्थात् तीन मार्गोंसे गमन करनेवाली थी (पक्षमें त्रिमार्गगा, यह गंगाका एक नाम है) परन्तु

१ अर्णवसमीपे । २ वेगं कुरुध्वम् । ३ दूरतरम् । ४ आ समुद्रम् । ५ साधनीयः । संसाध्यो इ०, अ०, द०, ल० । ६ उच्चैश्चलद्गीचिकम् । ७ समुद्रलङ्घनेऽद्यैव ल०, द०, इ० । ८ मुद्रया सहितम् । ९ गन्तुमुपक्रान्तवन्तः । १० खम् । ११ ध्वनिमकारयत् । १२ विसकण्ठिकासहितम् । १३ सपताकावती । १४ तरङ्गवतीम् । १५ अगच्छत् । १६ पक्षिभिः परिगृताम् । प्रतिकूलामिति ध्वनिः । १७ विपरीतवृत्तिरहितेत्यर्थः । १८ नीचपथगामिति ध्वनिः ।

अनुगङ्गागतं यावन्ती ध्वजिनी सा ध्वजांशुकैः । वनरेणुभिराकीर्णं सम्ममार्जेव खाड्यगणम् ॥२०॥
 दुर्विगाहा महाप्राहाः सैन्यान्वृत्तेरन्तरे । गङ्गानुगा ध्वनीर्बद्धीः बहुराजकुलस्थितिः ॥२१॥
 मार्गे बहुविधान् देशान् सरितः पर्वतानपि । वनधीन् वनदुर्गाणि खनीरप्यत्यगात् प्रभुः ॥२२॥
 अगोष्पदेष्टवरण्येषु वृशं व्यापारयन् विभुः । भूमिच्छिद्रपिधानाय क्षणं यत्नमिवातनोत् ॥२३॥
 पथि प्रणेमुरागत्य सम्भ्रान्ता मण्डलाधिपाः । दण्डोपनतवृत्तस्य विषयोऽयमिति प्रभुम् ॥२४॥
 स^{१०} चक्रं धेहि^{११} राजेन्द्र सधुरं^{१२} प्राज^{१३} सारथे । सञ्जल्प इति नास्यासीद् अयत्नावनतद्विषः ॥२५॥
 प्रतियोद्धुमशक्तास्तं^{१४} प्रयनेषु जिगीषवः । तत्पदं प्रणतिव्याजात् समौलिभिरताडयन् ॥२६॥
 विभुत्वमरिचक्रेषु भूपरागानुरञ्जनम्^{१५} । स्वचक्र इव सोऽधस्त महतां चित्रमोहितम् ॥२७॥

सेना अनेक मार्गोंसे गमन करनेवाली थी ॥१९॥ गङ्गा नदीके किनारे किनारे जाती हुई वह सेना अपनी फहराती हुई ध्वजाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो वनकी धूलिसे भरे हुए आकाशहपी आंगनको ध्वजाओंके वस्त्रोंसे साफ ही कर रही हो ॥२०॥ महाराज भरतकी सेनाओंने उत्तरकी ओर बहनेवाली तथा आनेवाली जिन अन्य अनेक नदियों और सेनाओंको पार किया था वे परस्परमें एक दूसरेके अनुरूप थीं अर्थात् नदियां सेनाओंके समान थीं और सेनाएं नदियोंके समान थीं, क्योंकि जिस प्रकार नदियां दुर्विगाह्य अर्थात् कठिनतासे प्रवेश करने योग्य होती हैं उसी प्रकार सेनाएँ भी कठिनताके प्रवेश करने योग्य होती हैं, जिस प्रकार नदियां महाप्राह अर्थात् बड़े बड़े मगरमच्छोंसे सहित होती हैं उसी प्रकार सेनाएं भी महाप्राह अर्थात् बड़े भारी आग्रहसे सहित होती हैं, और जिस प्रकार नदियां बहुराज कुलस्थिति अर्थात् (बहुराज कुल स्थिति) अनेक राजाओंकी पृथिवीको ग्रहण करनेवाली स्थितिसे सहित होती हैं उसी प्रकार सेनाएं भी बहुराज कुलस्थिति अर्थात् अनेक राजवंशोंकी स्थितिसे सहित होती हैं ॥२१॥ धनवान् महाराज भरत मार्गमें पड़ते हुए अनेक देश, नदियां, पर्वत, वन, किले और खान आदि सबको उल्लंघन करते हुए आगे चले जा रहे थे ॥२२॥ गाय आदि जानवरों के संचारसे रहित वनोंमें दृष्टि डालते हुए भरतेश्वर ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथिवीके छिद्रों राजा जिसे दण्ड रत्न प्राप्त होता है यह देश उसीका होता है इस निश्चयसे आकर महाराज को ढकनेके लिये क्षणभर प्रयत्न ही कर रहे हों ॥२३॥ मार्गमें घबड़ाये हुए अनेक मण्डलेश्वर राजा भरतको प्रणाम कर रहे थे ॥२४॥ मार्गमें महाराज भरतेश्वरके समस्त शत्रु बिना प्रयत्नके ही नष्टीभूत होते जाते थे इसलिये उन्हें कभी यह शब्द नहीं कहने पड़ते थे कि हे राजेन्द्र, आप चक्ररत्न धारण कीजिये और हे सारथे, तुम रथ चलाओ ॥२५॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले अन्य कितने ही राजा लोग युद्धमें भरतेश्वरसे लड़नेके लिये समर्थ नहीं हो सके थे इसलिये नमस्कार के बहाने अपने मुकुटोंसे ही उनके पैरोंकी ताड़ना कर रहे थे ॥२६॥ महाराज भरत जिस प्रकार अपने राज्यमें विभुत्व अर्थात् ऐश्वर्य धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओंके राज्यों में भी विभुत्व अर्थात् पृथिवीका अभाव धारण करते थे—उनकी भूमि छीन लेते थे, (विगत भूयेषां तेषां भावः विभुत्वम्) और जिस प्रकार अपने राज्यमें भूप-रागानुरंजन अर्थात्

१ महानकाः, पक्षे महास्वीकाराः । २ नदीः । ३ राजकुलस्थितेः समाः । ४ बहुसंख्यान् । बहुस्थितान् ल०, इ० । बहुतिथान् ट० । ५ सरोवरान् । धनवान् ल०, प०, इ० । बलवान् अ०, स० । ६ अगम्येषु । ७ भूगतच्छादनाय । ८ दण्डेन प्राप्ता वृत्तिर्यस्य सस्तस्य । ९ प्रणामः । १० प्रसिद्धस्त्वम् । ११ धारय । १२ यानमुखम् । 'धूः स्त्री क्लीबे यानमुखम्' इत्यभिधानात् । १३ प्रेरय, 'अज प्रेरणे च' । १४ युद्धेषु । प्रयनेषु ल०, द०, इ०, प०, स०, अ० । १५ प्रभुत्वम्, व्यापित्वं च । १६ स्वराष्ट्रपक्षे भूपानामनुरागरञ्जनम् । अरिराष्ट्रपक्षे भुवः परागरञ्जनम् ।

सन्ध्यादिविषये^१ नास्य समकक्षो^२ हि पाथिवः ।^३ षाड्गुण्यमत एवास्मिन् चरितार्थं^४ मभूत् प्रभो^५ ॥२८॥
 प्रतिराष्ट्रमुपासीतप्राभुतान् विषयाधिपान् । सम्भावयन् प्रसादेन सोऽस्त्यगाद् विषयान् बहून् ॥२९॥
 नास्त्रे^६ व्यापारितो हस्तो सौर्वी धनुषि नापिता । केवलं प्रभुशक्त्येव प्राची दिग्विजिताऽमुना ॥३०॥
 गोकुलानामुपान्तेषु सोऽप्ययद् युववत्त्वान्^७ । वनवल्लीभिराबद्धजडकान्^८ गोऽभिरक्षिणः ॥३१॥
 मन्थाकर्षमोद्भूतस्वेदबिन्दुचिताननाः । मथन्तीः^९ सकुचोत्कम्पं सलीलं^{१०} त्रिकनर्तनं ॥३२॥
 मन्थरज्जुसमाकृष्टिक्लान्तबाहूः^{११} इत्यंशुकाः । स्रस्तस्तनांशुका लक्ष्यत्रिवलीभङ्गु^{१२} रोदराः ॥३३॥
 क्षुब्धाभिघातोच्चलितस्थलं^{१३} गोरसविन्दुभिः । विरलैरङ्गसंलग्नैः गोभां कामपि पुष्पतीः ॥३४॥
 मन्थारवानुसारेण किञ्चिद्वारब्धमूर्धनाः^{१४} । विरस्तकवरीबन्धाः कामस्येव पताकिकाः ॥३५॥
 'गोष्ठाङ्गणेषु सत्सर्पाः'^{१५} स्वरमारब्धमन्थनाः । प्रभुर्गोपवधूः पश्यन् किमप्यासीत् समुत्सुकः ॥३६॥
 वने वनगजैर्जुष्टे^{१६} प्रभुमेनं वनेचराः । दन्तैर्वनकरीन्द्राणाम् अद्राक्षुः सह मौक्तिकैः ॥३७॥

राजाओंके प्रेमपूर्ण अनुरागको धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओंके राज्योमें भी भू-परागा-
 नुरंजन अर्थात् पृथिवीकी धूलिसे अनुरंजन धारण करते थे, शत्रुओंको धूलिमें मिला देते
 थे, सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषोंकी चेष्टाएं आश्चर्य करनेवाली होती ही हैं ॥२७॥ संधि
 आदि गुणोंके विषयमें कोई भी राजा महाराज भरतके बराबर नहीं था इसलिये सन्धि आदि
 छहों गुण उन्हींमें चरितार्थ हुए थे । भावार्थ—कोई भी राजा इनके विरुद्ध नहीं था इसलिये
 इन्हें किसीसे सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय नहीं करने पड़ते थे ॥२८॥
 प्रत्येक देशमें भेंट लेकर आये हुए वहांके राजाओंका बड़ी प्रसन्नतासे आदर-सत्कार करते हुए
 महाराज भरत बहुतसे देशोंको उत्लंघन कर आगे बढ़ते जाते थे ॥२९॥ भरतेश्वरने न तो
 कभी तलवारपर अपना हाथ लगाया था और न कभी डोरी ही धनुषपर चढ़ाई थी । उन्होंने
 केवल अपनी प्रभुत्वशक्तिसे ही पूर्व दिशाको जीत लिया था ॥३०॥ उन्होंने गोकुलोंके समीप
 ही गायोंकी रक्षा करनेवाले तथा वनकी लताओंसे जिन्होंने अपने शिरके बालोंका जूटा बांध
 रखा है ऐसे तरुण ग्वाला देखे ॥३१॥ कढ़नियोंके खींचनेके परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेकी
 बूंदोंसे जिनके मुख व्याप्त हो रहे हैं, जो लीलापूर्वक नितम्बोंको नचा नचा कर स्तनोंको हिलाती
 हुई दही मथ रही हैं, कढ़नियोंके खींचनेसे जिनकी भुजाएं थक गई हैं, जिनके सब वस्त्र ढीले
 पड़ गये हैं, जिनके स्तनोंपरका वस्त्र भी नीचेकी ओर खिसक गया है, जिनके कृश उदरमें त्रिवली
 की रेखाएं साफ साफ दिख रही हैं, रई (फूल) के आघातसे उछल उछलकर शरीरमें जहाँ तहाँ
 लगी हुई दहीकी बड़ी बड़ी बूंदोंसे जो एक प्रकारकी विचित्र शोभाको पुष्ट कर रही हैं, मन्थन
 से होनेवाले शब्दोंके साथ साथ ही जिन्होंने कुछ गाना भी प्रारम्भ किया है, जिनके केशपाश
 का बन्धन खुल गया है और इसीलिये जो कामदेवकी पताकाओंके समान जान पड़ती हैं, तथा
 गोशालाके आंगनोंमें अपने इच्छानुसार वार्तालाप करती हुई जिन्होंने दहीका मथना प्रारम्भ
 किया है ऐसी ग्वालाओंकी स्त्रियोंको देखते हुए महाराज भरतेश्वर कुछ उत्कण्ठित हो उठे
 थे ॥३२-३६॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुए वनमें रहनेवाले भील लोगोंने जंगली हाथियोंके
 दांत और मोती भेंट कर महाराजके दर्शन किये थे ॥३७॥ जिनका शरीर श्याम है जिनके

१ सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयानां विषये । २ समानप्रतिपत्तिकः । ३ सन्ध्यादिगुणसामूहः ।
 ४ कृतकृत्यम् । ५ प्रभोः स०, अ०, द० । ६ नासौ ल०, द०, इ० । ७ तरुणगोपालान् । 'गोपे गोपालगोसंस्था-
 गोदुगाभीरवत्त्वान्' इत्यभिधानात् । ८ केशपाशान् । ९ मथनं कुर्वतीः । १० नितम्ब । 'त्रिका कूपस्य वे-
 सी स्यात् त्रिकं पृष्ठधरे त्रये' इत्यभिधानात् । ११ समाकर्षणगलानां । १२ मनोज्ञाः । १३ मथन ।
 १४ स्वरविश्रवण । १५ गोस्थान । 'गोष्ठं गोस्थानकम्' इत्यभिधानात् । १६ मिथो भाषणेः । १७ मेवित्ते ।

श्यामाङ्गीरनभिर्व्यक्तरोगराजीस्तनूदरीः । परिधानीकृतालोलपल्लवव्यक्तसंवृतीः^१ ॥३८॥

चमरीबालकाविद्वकबरीबन्धबन्धुराः । फलिनी^२फलसन्दृग्धगालारचितकण्ठिकाः ॥३९॥

कस्तूरिकामृगाध्यासवासिताः सुरभीमू^३वः । सञ्चिन्वतीर्बनाभोगे प्रसाधनजिघृक्षया ॥४०॥

पुलिनन्दकन्धकाः सेन्यसमालोकनविस्मिताः ।^४अव्याजसुन्दराकारा दूरादालोकयत् प्रभुः ॥४१॥

चमरीबालकान् केचित् केचित् कस्तूरिकाण्डकान् । प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुस्तेच्छ^५राजकाः ॥४२॥

तत्रान्तपालदुर्गाणां सहस्राणि सहस्रशः । लब्धचक्रधरादेशः सेनानीः समशिश्रियत् ॥४३॥

अपूर्वरत्नसन्दर्भैः^६ 'कुप्यसारधनेरपि । अन्तपालाः प्रभोराज्ञां सप्रणामैरमानयन्^७ ॥४४॥

ततो विद्वरमुल्लङ्घ्य सोऽध्वानं सह^८ सेनया । गङ्गाद्वारमनुप्रापत् स्वमिवालङ्घ्यमर्णवम् ॥४५॥

वहिः^९समुद्रमुद्रिकतं द्वैप्यं^{१०} निम्नोपगं^{११} जलम् । समुद्रस्यैव निष्पन्द^{१२}म् अग्नेराराब् व्यलोकयत् ॥४६॥

वर्षारम्भो युगारम्भं योऽभूत् कालानुभावतः^{१३} । ततः प्रभृति संवृद्धं जलं द्वीपान्तमावृणोत् ॥४७॥

अलङ्घ्यत्वात् मही^{१४}यस्त्वाद् द्वीपपर्यन्तवेष्टनात् । द्वैप्यसम्बु समुद्रिकतम्^{१५} अगादुपसमुद्रताम् ॥४८॥

पश्यन्नुपसमुद्रं तं गत्वा स्थलपथेन^{१६} सः । गङ्गोपवनवेद्यन्त^{१७}र्भागं सैन्यं न्यवीविशत् ॥४९॥

शरीरपर अभी रोमराजी प्रकट नहीं हुई है, उदर भी जिनका कृश है, वस्त्रके समान धारण किये हुए, चंचल पत्तोंसे जिनके शरीरका संवरण प्रकट हो रहा है, चमरी गायके बालोंसे बंधे हुए केशपाशोंसे जो बहुत ही सुन्दर जान पड़ती हैं, गुंजाफलोंसे बनी हुई मालाओंको जिन्होंने अपना कण्ठहार बनाया है, कस्तूरी मृगके बैठनेसे सगन्धित हुई मिट्टीको आभूषण बनाने की इच्छासे जो वनके किसी एक प्रदेशमें इकट्ठी कर रही हैं, जिनका आकार वास्तवमें सुन्दर है और जो सेनाके देखनेसे विस्मित हो रही हैं ऐसी भीलोंकी कन्याओंको भरतने दूरसे ही देखा था ॥३८-४१॥ कितने ही म्लेच्छ राजाओंने चमरी गायके बाल और कितने ही ने कस्तूरी-मृगकी नाभि भेंट कर भरतके दर्शन किये थे ॥४२॥ वहाँपर सेनापतिने चक्रवर्तीकी आज्ञा प्राप्त कर अन्तपालोंके लाखों किले अपने वश किये । ॥४३॥ अन्तपालोंने अपूर्व अपूर्व रत्नों के समूह तथा सोना चांदी आदि उत्तम धन भेंट कर भरतेश्वरको प्रणाम किया तथा उसकी आज्ञा स्वीकार की ॥४४॥ तदनन्तर सेनाके साथ साथ बहुत कुछ दूर मार्गको व्यतीत कर वे गङ्गाद्वारको प्राप्त हुए और उसके बाद ही अपने समान अलङ्घनीय समुद्रको प्राप्त हुए ॥४५॥ उन्होंने समुद्रके समीप ही, समुद्रसे बाहर उछल उछल कर गहरे स्थानमें इकट्ठे हुए द्वीप सम्बन्धी उस जलको देखा जो कि समुद्रके निष्पन्दके समान मालूम होता था अथवा समुद्रके जलके समान ही निश्चल-स्थायी था अर्थात् उपसमुद्रको देखा, समुद्रका जो जल उछल उछलकर समुद्रके समीप ही द्वीपके किसी गहरे स्थानमें इकट्ठा होता जाता है वही उपसमुद्र कहलाता है । उपसमुद्र द्वीपके भीतर होता है इसलिये उसका जल द्वैप्य कहलाता है । उपसमुद्रका जल ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्रका स्वेद ही इकट्ठा हो गया हो ॥४६॥ कर्मभूमिरूप युगके प्रारम्भ में जो वर्षा हुई थी तबसे लेकर कालके प्रभावसे बढ़ता हुआ वही जल द्वीपके अन्त भाग तक पहुँच गया था ॥४७॥ जो जल समुद्रसे उछल उछलकर द्वीपमें आया था वह अलङ्घनीय था, बहुत गहरा था और उसने द्वीपके सब समीपवर्ती भागको घेर लिया था इसलिये वही उपसमुद्र कहलाने लगा था ॥४८॥ उस उपसमुद्रको देखते हुए भरतने सुखकर मार्गसे जाकर

१ अभ्यन्तरप्रदेशाः । २ गुञ्जारचित । ३ अनुपाधि । ४ व्याध । ५ कार्पासश्रीखण्डादि ।

६ अपूजयन् । ७ समुद्रस्य वहिः । ८ द्वीपसम्बन्धि । ९ अगाधभावप्राप्तम् । १० प्रखवणम् । ११ सामर्थ्यतः ।

१२ अत्यन्तमहत्त्वात् । १३ उत्कटम् । १४ सुखपथेन ल० । सुलपथेन इ०, ल० । 'सुखेन आयते गृह्यते

इति सुखः' इति 'द' टिप्पण्याम् । १५ वेद्यन्तभागे ल० ।

वेदिकातोरणद्वारमस्ति 'तत्रोच्छ्रितं महत् । शनैस्तेन' प्रविश्यान्तर्वणं सैन्यं न्यविशत ॥५०॥
 तत्र वास्तु^१ वशादस्य किञ्चित्सङ्कुचिता यतः । स्कन्धावारनिवेशोऽभूद् बलङ्घ्यभ्यूहविस्तृतिः^२ ॥५१॥
 नन्दनप्रतिमे^३ तस्मिन् वने रुद्रातपाङ्घ्रिपे । गङ्गाशीतानिलस्पर्शः तद्बलं सुखमावसत्^४ ॥५२॥
 तस्मिन् पौरुषसाध्येऽपि कृत्ये^५ देवं प्रमाणयन् । लवणाब्धिजयोद्युक्तः सोऽभ्येच्छद् देविकीं क्रियाम् ॥५३॥
 'अधिवासितजेत्रास्त्रः स त्रिरात्रमुपोषिवान् । मन्त्रानुस्मृतिपूतात्मा शुचितल्पोपगः शुचिः ॥५४॥
 सायं प्रातिकनिःशेषकरणोयं समाहितः । पुरोधोऽधिष्ठितां पूजां स व्यधात् परमेष्ठिनाम् ॥५५॥
 सेनायं बलरक्षायं नियोज्य विधिवद् विभुः । प्रतस्थे घृतदिव्यास्त्रो जिगीषुर्लवणाम्बुधिम् ॥५६॥
 प्रतिग्रहा^६ पसारार्द्धचिन्ताऽभूद्वास्य चेतसि । 'विलिलङ्घयिषोरब्धिम् ग्रहो'^७ स्वयं महात्मनाम् ॥५७॥
 अजितञ्जयमारुक्षद् रथं दिव्यास्त्रसम्भृतम् । योजितं वाजिभिर्दिव्यैः जलस्थलविलङ्घिभिः ॥५८॥
 'पञ्चश्यामरथं प्रोच्यैः चलच्चक्राङ्ककेतनम् । तमूहुर्जवना'^८ बाहा दिव्ये^९ सव्येऽदृचोदिताः^{१०} ॥५९॥
 ततोऽस्मै दत्तपुण्याशीः पुरोधा 'धृतमङ्गलः । त्वं देव विजयस्वेति स इमामूचमापठत् ॥६०॥

गङ्गाके उपवनकी वेदीके अन्तभागमें सेनाका प्रवेश कराया ॥४९॥ वहां वेदिकामें एक बड़ा भारी तोरणद्वार है जो कि उत्तर द्वार कहलाता है, उसी द्वारसे धीरे धीरे प्रवेश कर वनके भीतर सेनाको ठहराया ॥५०॥ वहां चक्रवर्तीके शिविरकी जो रचना हुई थी उसकी, उस क्षेत्रके अनुसार, लम्बाई तो अधिक थी परन्तु चौड़ाई कुछ कम थी और उसकी सेनाके विस्तार को कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था ॥५१॥ जो नन्दन वनके समान है तथा जिसके वृक्ष सूर्य के आतापको रोकनेवाले हैं ऐसे उस वनमें भरतकी वह सेना गङ्गा नदीके शीतल वायुके स्पर्शसे सुखपूर्वक निवास करती थी ॥५२॥ यद्यपि मागध देवको वश करना यह कार्य पौरुषसाध्य है अर्थात् पुरुषार्थसे ही सिद्ध हो सकता है तथापि उसमें देवकी प्रमाणता मानकर लवण समुद्रको जीतनेके लिये तत्पर हुए भरत महाराजने भगवान् अरहन्त देवके आराधन करनेका विचार किया ॥५३॥ जिसने मन्त्र तन्त्रोंसे विजयके शस्त्रोंका संस्कार किया है, तीन दिन उपवास किया है, मन्त्रके स्मरणसे जिसका आत्मा पवित्र है, जो पवित्र शय्यापर बैठा हुआ है, स्वयं पवित्र है, सायंकाल और प्रातःकालकी समस्त क्रियाओंमें सावधान है और पुरोहित जिसके समीप बैठा है ऐसे उन भरतने पञ्च परमेष्ठीकी पूजा की ॥५४-५५॥ भरतने विधिपूर्वक सेनाकी रक्षाके लिये सेनापतिको नियुक्त किया और स्वयं दिव्य अस्त्र धारण कर लवण समुद्रको जीतनेकी इच्छासे प्रस्थान किया ॥५६॥ समुद्रको उल्लंघन करनेकी इच्छा करने वाले भरतके चित्तमें यह भी चिन्ता नहीं हुई थी कि क्या क्या साथ लेना चाहिये और क्या-क्या यहाँ छोड़ देना चाहिये सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंका धैर्य ही आश्चर्यजनक होता है ॥५७॥ जो देवोपनीत अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हुआ है और जिसमें जल स्थल दोनोंपर समान रूपसे चलनेवाले दिव्य घोड़े जुते हुए हैं ऐसे अजितञ्जय नामके रथपर भरतेश्वर आरूढ़ हुए ॥५८॥ जो पत्तोंके समान हरितवर्ण हैं, जिसपर बहुत ऊँचे चक्रके आकारसे चिह्नित ध्वजा फहरा रही है और जो दिव्य सारथिके द्वारा प्रेरित हैं—हांका जा रहा है—ऐसे उस रथको वेगशाली घोड़े ले जा रहे थे ॥५९॥ तदनन्तर हे देव, आपकी जय हो इस प्रकार भरतके लिये

१ तत्रोत्तरं द०, ल० । २ द्वारेण । ३ गृहसामर्थ्यात् । ४ बलविन्यासविस्तारः । ५ सदृशे । ६ —माविशत् ल० । ७ मागधामरसाधनरूपकार्ये । ८ मन्त्रसंस्कृत । ९ अस्तमनप्रभातसम्बन्धि । १० स्वीकाररत्यजनादि । ११ विलङ्घितुमिच्छोः । १२ मत्तास्थैर्यं अ०, स०, इ० । १३ बाहुनवाजिभिः श्यामवर्णीकृतरथम् । अनेकतद्रथाश्वाः हरिद्वर्णा इत्युक्ताः । १४ वेगिनः । १५ दिव्यसारथिप्रेरिताः । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः । सव्येऽदृक्षिणस्थौ च संसारथकुटुम्बिनः' इत्यभिधानात् । (सव्येऽदृक्षेति ऋदन्त इति केचित्) ऋचं मन्त्रमित्यर्थः । १६ चोदितं ल० । नोदिताः स०, अ० । १७ धृतमङ्गलम् अ०, स०, इ० ।

जयन्ति विधुताशेषबन्धना धर्मनायकाः^१ । त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जयाखिलम् ॥६१॥
 सन्त्यब्धिनिलया देवाः त्वेद्भुक्त्यन्तनिवासिनः । तान् विजेतुमयं कालः तवेत्युक्तेर्जुघोष च ॥६२॥
 ततः कतिपर्यैरेव नायकः परिवारितः । जगतीतलमास्वद् गङ्गाद्वारस्य चक्रभृत् ॥६३॥
 न केवलं समुद्रान्तःप्रवेशद्वारमेव तत् । कार्यसिद्धेरपि द्वारं तदमंस्त रथाङ्गभृत्^२ ॥६४॥
 धृतमङ्गलत्रेषस्य^३ तद्वेद्यारोहणं विभीः । विजयश्रीसमुद्राहवेद्यारोहणवद् बभौ ॥६५॥
 मद्गुहाङ्गणवेदीयं जगतीति विकल्पयन् । दृशं ध्यापारयामास^४ 'कुल्याबुध्या महोदधौ ॥६६॥
 स प्रतिज्ञामिवाकूटी जगतीं तां महायतिम् । निस्तीर्णमिव^५ तत्पारं पारावारमजीगणत् ॥६७॥
 मुहुः प्रचलदुद्वेलकल्लोलमनिलाहतम् । विलङ्घयनाभयादुक्तेः फूत्कुर्वन्तमिवारवः ॥६८॥
 बीजिबाहुभिर्हन्तुक्तैः सरत्नैः शीकरोत्करैः । पाद्यं स्वस्वैव तन्वान् मौक्तिकाक्षतमिश्रितैः ॥६९॥
 असङ्ख्यशङ्खमार्कान्तविवद्वीपमपारकम् । परैरलङ्घयन्मक्षीभ्यं स्वबलीघानुकारिणम् ॥७०॥
 उत्फेनैर्जम्भिकारम्भैः सापस्मारमिवोत्बणम् । केनाप्यशक्यमाधर्तुं क्वचिदप्यनवस्थितम् ॥७१॥

पवित्र आशीर्वाद देकर मंगलद्रव्य धारण किये हुए पुरोहितने इस नीचे लिखी हुई ऋचाको पढ़ा ॥६०॥ समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करनेवाले धर्मनायक-तीर्थंकर देव सदा जयवन्त रहते हैं इसलिये उनके प्रसादसे तू भी धर्मपूर्वक विजय प्राप्त कर, सबको जीत ॥६१॥ उसी समय पुरोहितने यह भी जोरसे घोषणा की कि हे देव, इस समुद्रमें निवास करनेवाले देव आपके उपभोग करने योग्य क्षेत्रके भीतर ही रहते हैं इसलिये उन्हें जीतनेके लिये आपका यह समय है ॥६२॥ तदनन्तर कुछ वीर पुरुषोंसे घिरे हुए चक्रवर्ती भरत गङ्गाद्वारकी वेदीपर जा चढ़े ॥६३॥ चक्रवर्तीने उस गङ्गाद्वारकी वेदीको केवल समुद्रके भीतर प्रवेश करनेका द्वार ही नहीं समझा था किन्तु अपने कार्यकी सिद्धि होनेका भी द्वार समझा था ॥६४॥ मंगल वेषको धारण करनेवाले चक्रवर्तीका उस वेदीपर आरूढ़ होना विजय-लक्ष्मीके विवाहकी वेदीपर आरूढ़ होनेके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥६५॥ यह वेदी मेरे घरके आंगनकी वेदी है इस प्रकार कल्पना करते हुए भरतने महासागरपर कृत्रिम नदीकी बुद्धिसे दृष्टि डाली थी । भावार्थ—भरतने अपने बलकी अधिकतासे गङ्गाकी वेदीको ऐसा समझा था मानो यह हमारे घरके आंगनकी ही वेदी है और महासमुद्रको ऐसा माना था मानो यह एक छोटी-सी नहर ही है ॥६६॥ वे उस बड़ी लम्बी वेदीपर इस प्रकार आरूढ़ हुए थे जैसे अपनी प्रतिज्ञापर ही आरूढ़ हुए हों और समुद्रको उन्होंने ऐसा माना था जैसे उसके दूसरे किनारे पर ही पहुंच गये हों ॥६७॥ उस वेदीपरसे उन्होंने समुद्र देखा, उस समुद्रमें बारबार तटको उल्लंघन करनेवाली लहरें उठ रही थीं, पवन उसका ताड़न कर रहा था और वह अपने गंभीर शब्दोंसे ऐसा मालूम होता था मानो उल्लंघनके भयसे रो ही रहा हो । तरंगरूपी भुजाओंसे किनारेपर छोड़े हुए रत्न सहित जलके छोटे छोटे कणोंसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो भरतके लिये मोती और अक्षतोंसे मिला हुआ अर्घ्य ही दे रहा हो । उस समुद्रमें असंख्यात शंख थे, उसने समस्त द्वीपोंको आक्रान्त कर लिया था, वह पाररहित था, उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था और न उसे कोई क्षोभित ही कर पाता था इसलिये वह ठीक भरतकी सेनाके समूहका अनुकरण कर रहा था क्योंकि उसमें भी बजाये जानेवाले असंख्यात शंख थे, उसने भी समस्त द्वीप आक्रान्त कर लिये थे—अपने आधीन बना लिये थे, वह भी अपार था, वह भी दूसरोंके द्वारा अलंघनीय तथा क्षोभित करनेके अयोग्य था । वह समुद्र किसी अपस्मार (मुगी)

१ तीर्थंकराः । २ त्वत्पालनक्षेत्र । ३ वेदिभुवम् । ४ रथाङ्गभृत् २०, ३०, ल० । ५ मङ्गलालङ्कारस्य । ६ 'कुल्यालया कृत्रिमा सारित्' । ७ पारंगतम् । ८ उद्गतडिण्डीराभिवृद्धिः । ९ पक्षे उद्गतफेन ।

अकस्मादुच्चरद्वचनम् अनिमित्तचलचलम् । अकारणकृतावर्तम् अतिसङ्कुसुकस्थितिम् ॥७२॥
 हस्तन्तमिव फेनोदः तस्तन्तमिव बीजिभिः । चलन्तमिव कल्लोलैः माद्यन्तमिव घूर्णितैः ॥७३॥
 सरत्तमुल्बगविषं मुक्तज्ञानकारभोकरम् । स्फुरत्तरङ्गनिर्भोकं स्फुरन्तमिव भोगिनम् ॥७४॥
 अत्यम्बुपानादुद्विक्तप्रतिश्यायमिवाधिकम् । क्षुत्तानीव विकूर्वाणं ध्वनितानि सहस्रशः ॥७५॥
 'आद्यूनमसकृत्पीतविश्वस्रोतस्विनोरसम् । रसातिरेकादुद्गारं तन्वानमिव खात्कृतैः ॥७६॥
 निजगम्भीरपातालमहागतपिदेशतः' । अतृप्यन्तमिवाग्भोभिः आतात्तुविवृताननम् ॥७७॥

के रोगीके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार अपस्मारका रोगी फेन सहित आती हुई जृम्भिकाओं अर्थात् जमुहाइयोंसे व्याकुल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी फेन सहित उठती हुई जृम्भिका अर्थात् लहरोंसे व्याकुल था, जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसीके द्वारा पकड़कर नहीं रखा जा सकता उसी प्रकार वह समुद्र भी किसीके द्वारा नहीं रोका जा सकता और जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसी भी जगह स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार वह समुद्र भी किसी जगह स्थिर नहीं था—लहरोंके कारण चंचल हो रहा था । वह समुद्र अकस्मात् ही गम्भीर शब्द करता था, बिना कारण ही चंचल था और बिना कारण ही उसमें आवर्त अर्थात् भंवर पड़ते थे, इसलिये उसकी दशा किसी अन्यन्त भयभीत मनुष्यके समान हो रही थी क्योंकि अत्यन्त भयभीत मनुष्य भी अचानक शब्द करने लगता है, चिल्ला उठता है, बिना कारण ही कांपने लगता है, और बिना कारण ही आवर्त करने लगता है उधर उधर भागने लगता है । वह समुद्र फेन उठनेसे ऐसा जान पड़ता था मानो हँस ही रहा हो, ज्वार-भाटाओंसे ऐसा मालूम होता था मानो लास्य (नृत्य) ही कर रहा हो, लहरोंसे ऐसा सुशोभित होता था मानो चल ही रहा हो और हिलनेसे ऐसा दिखाई देता था मानो नशेमें भ्रम ही रहा हो अथवा वह समुद्र किसी सर्पके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सर्प रत्नसहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी रत्नसहित था, जिस प्रकार सर्पमें उत्कट विष अर्थात् जहर रहता है उसी प्रकार समुद्रमें भी उत्कट विष अर्थात् जल था, जिस प्रकार सर्प सू सू आदि फुंकारोंसे भयंकर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सू सू आदि शब्दोंसे भयंकर था, जिस प्रकार सर्पके देदीप्यमान कांचली होती है उसी प्रकार उस समुद्रके भी देदीप्यमान लहरें थीं, और जिस प्रकार सर्प चंचल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चंचल था । अथवा वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो अधिक पानी पीनेसे उसे सर्दी (जुकाम) ही हो गई हो और इसीलिये हजारों शब्दोंके बहाने छींकें ही ले रहा हो । अथवा वह समुद्र किसी आद्यून अर्थात् बहुत खानेवाले—पेटू—मनुष्य के समान जान पड़ता था, क्योंकि जिस प्रकार आद्यून मनुष्य बहुत खाता है और बादमें भोजन की अधिकता होनेसे डकारें लेता है उसी प्रकार उस समुद्रने भी समस्त नदियोंका जल पी लिया था और बादमें जलकी अधिकता होनेसे वह भी शब्दोंके बहाने डकारें ले रहा था । वह समुद्र अपने गम्भीर पातालरूपी महाउदरके बहानेसे जलसे कभी तृप्त नहीं होता था और इसी लिये मानो उसने तालु पर्यन्त अपना मुख खोल रखा था । भावार्थ—वह समुद्र किसी ऐसे मनुष्यके समान जान पड़ता था जो बहुत खानेपर भी तृप्त नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार तृप्त नहीं होनेवाला मनुष्य बहुत कुछ खाकर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी बहुत कुछ जल ग्रहण कर चुकनेपर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता था—नदियों

१ चञ्चलम् । २ नितराम् अस्थिरस्थितिम् । 'असंकुसुकोऽस्थिर' इत्यमरः । विशेषनिघ्नवर्गः ।

३ नृत्यन्तम् । ४ उत्कटजलम् । ५ सीकरम् प० । ६ उत्कटपीनसम् 'प्रतिश्यायस्तु पीनसः' इत्यभियानात् ।

७ औदरिकम् । तृप्तिरहितमित्यर्थः । ८ -गम्भीर- ल० ।

दिशां 'रावणमाक्रान्त्याचलप्राह' विभीषणम्^१ । रक्षसामिव सम्पातमतिकायं^२ महोदरम्^३ ॥७८॥

वीवीबाहुभिराघ्नन्तम् अजस्रं तटवेदिकाम् । समर्थाद्वत्त्वमाहृत्य श्रावयन्तमिवात्मनः ॥७९॥

च नद्भिरचलोदप्रैः कल्लोलैरतिवर्तितम् । सरिद्युवतिसम्भोगाद् असम्मान्तमिवात्मनि ॥८०॥

तरङ्गिततनुं वृद्धं पृथुकं व्यक्तरङ्गितम् । सरत्नमतिकान्ताङ्गं सप्रहममतिभीषणम् ॥८१॥

लावण्येऽपि न सम्भोग्यं गाम्भीर्येऽप्यनवस्थितम् । महत्त्वेऽपि कृताक्रोशं व्यक्तमेव जलाशयम् ॥८२॥

न चास्य मदिरासङ्गो न कोऽपि मदनज्वरः । तथाप्युद्विक्तकन्दर्पम् आरूढमधुविक्रियम् ॥८३॥

का अन्य जल ग्रहण करनेके लिये तत्पर रहता था । वह समुद्र समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर शब्द कर रहा था इसलिये 'रावण' था, उसने अनेक पहाड़ अपने जलके भीतर डुबा लिये थे इसलिये 'अचलप्राह' था । वह सब जीवोंको भय उत्पन्न कराता था इसलिये विभीषण था, अत्यन्त बड़ा था इसलिये 'अतिकाय' था और बहुत गहरा होनेसे 'महोदर' था इस प्रकार वह ऐसा जान पड़ता था मानो राक्षसोंका समूह ही हो । वह समुद्र अपनी तरङ्गरूपी भुजाओं के द्वारा किनारेकी वेदीपर निरन्तर आघात करता रहता था इसलिये ऐसा जान पड़ता था मानो धक्का देकर उसे अपने समर्थादपनेको ही सुना रहा हो । वह पर्वतके समान ऊंची उठती हुई लहरोंसे किनारेको उल्लंघन कर रहा था इसलिये ऐसा जान पड़ता था मानो नदीरूप स्त्रियोंके साथ संभोग करनेसे अपने आपमें ही नहीं समा रहा हो । उसके शरीरमें अनेक तरंगरूपी सिकुड़नें उठ रही थीं इसलिये वह वृद्ध पुरुषके समान जान पड़ता था, (पक्षमें अत्यन्त बड़ा था) अथवा वह समुद्र किसी पृथुक अर्थात् बालकके समान मालूम होता था (पक्षमें पृथु क अधिक है जल जिसमें ऐसा था) क्योंकि जिस प्रकार बालक पृथिवीपर घुटनोंके बल चलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोंके द्वारा पृथिवीपर चल रहा था, जिस प्रकार बालक सरकता है उसी प्रकार वह भी लहरोंसे सरकता था, जिस प्रकार बालक अत्यन्त सुन्दर होता है उसी प्रकार वह भी अत्यन्त सुन्दर था । इसके सिवाय वह समुद्र मगरमच्छ आदि जलचरजीवों से सहित था तथा अत्यन्त भयंकर था अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही जलाशय (ड और ल में अभेद होनेसे जडाशय) अर्थात् मूर्ख था क्योंकि लावण्य रहनेपर भी वह उपभोग करने योग्य नहीं था जो लावण्य अर्थात् सुन्दरतासे सहित होता है वह उपभोग करने योग्य अवश्य होता है परन्तु समुद्र वैसा नहीं था (पक्षमें लावण्य अर्थात् खारापन होनेसे किसीके पीने योग्य नहीं था) गंभीरता होनेपर भी वह स्थिर नहीं था, जो गंभीरता अर्थात् धैर्यसे सहित होता है वह स्थिर अवश्य रहता है परन्तु समुद्र ऐसा नहीं था (पक्षमें गंभीरता अर्थात् गहराई होनेपर भी वह लहरोंसे चंचल रहता था) और महत्त्वके रहते हुए भी वह चिल्लाता रहता था—गालियां बका करता था, जो महत्त्व अर्थात् बड़प्पनसे सहित होता है वह बड़ा शान्त रहता है, चिल्लाता नहीं है परन्तु समुद्र ऐसा नहीं था (पक्षमें बड़ा भारी होनेपर भी लहरोंके आघातसे शब्द करता रहता था) इन सब कारणोंसे स्पष्ट है कि वह जडाशय अवश्य था (पक्षमें जल है आशयमें जिसके अर्थात् जलसे भरा हुआ था) । उस समुद्रके यद्यपि मद्यका संगम नहीं था—मद्यपानका अभाव था तथापि वह आरूढ मधुविक्रिय था अर्थात् मद्यपानसे उत्पन्न होनेवाले विकार नशाको धारण कर रहा था, इसी प्रकार यद्यपि उसके काम-ज्वर नहीं था तथापि वह उद्विक्तकन्दर्प था अर्थात् तीव्र काम-विकारको धारण करनेवाला था । भावार्थ—इस श्लोकमें श्लेष-

१ रीतीति रावणस्तम् । शब्दं कूर्बन्तमिति यावत् । पक्षे दशास्यम् । २ पर्वतस्वीकारवन्तम् । पक्षे अचलप्राहमिति कञ्चिद् राक्षसम् । ३ भयङ्करम् । पक्षे रावणानुजम् । ४ अतिशयं मूर्तिम् महान्तमित्यर्थः । पक्षे अतिकायमिति कञ्चिदसुरम् । ५ महाकुक्षिम् । पक्षे महोदरमिति राक्षसम् । ६ उत्कटकामम्, पक्षे उत्कटजलदर्पम् ।

अनाशितं भवं^१ पीत्वा सुस्वादुसरितां जलम् । गतागतानि कुर्वन्तं सन्तोषादिव वीक्षिभिः ॥८४॥
 नदीदधूभिरासेष्व^२ कृतरत्नपरिग्रहम् । महाभोगिभिराराध्यं चातुरन्तमिव^३ प्रभुम् ॥८५॥
 यादोदोघातनिर्घातैर्दूरोच्चलितशीकरैः । सपताकमिवाशेषशेषार्णवविनिर्जयात् ॥८६॥
 कुलाचलपुयुस्तम्भजम्बूद्वीपमहौकसः^४ । विनीलरत्ननिर्माणम् एकं सालमिवोच्छ्रितम् ॥८७॥
 अनाविमस्तपर्यन्तम् अखिलार्थावगाहनम् । गम्भीरशब्दसन्दर्भं श्रुतस्कन्धमिवापरम् ॥८८॥
 नित्यप्रवृत्तशब्दत्वाद् द्रव्यार्थिकनयाश्रितम् । बीचीनां क्षणभङ्गित्वात् पर्यायनयगोचरम् ॥८९॥
 नित्यानुबद्धतृष्णत्वात् शश्वज्जलपरिग्रहात्^५ । गुरुणां^६ च तिरस्कारात् किराजानमिवान्वहम् ॥९०॥

मूलक विरोधाभास अलंकार है इसलिये प्रारम्भ-कालमें विरोध मालूम होता है परन्तु बादमें उसका परिहार हो जाता है । परिहार इस प्रकार समझना चाहिये कि वह मद्यके संगमसे रहित होकर मधु अर्थात् पुष्परसकी विक्रिया धारण कर रहा था अथवा मनोहर जलपक्षियों की क्रियाएं धारण कर रहा था और कामज्वरसे रहित होकर भी उद्विक्त-कं-दर्प था अर्थात् जलके अहंकार से सहित था । वह समुद्र किनारेपर आती जाती हुई लहरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो जिससे कभी तृप्ति न हो ऐसा नदियोंका मीठा जल पीकर लहरों द्वारा संतोषसे गमना-गमन ही कर रहा हो । अथवा वह समुद्र चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार चक्रवर्ती अनेक स्त्रियोंके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी नदीरूपी अनेक स्त्रियोंके द्वारा सेवित था, जिस प्रकार चक्रवर्तीके पास अनेक रत्नोंका परिग्रह रहता है उसी प्रकार उस समुद्रके पास भी अनेक रत्नोंका परिग्रह था, जिस प्रकार चक्रवर्ती महाभोगी अर्थात् बड़े बड़े राजाओंके द्वारा आराधन करने योग्य होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी महाभोगी अर्थात् बड़े-बड़े सर्पोंके द्वारा आराधन करने योग्य था और जिस प्रकार चक्रवर्ती चारों ओर प्रसिद्ध रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चारों ओर प्रसिद्ध था-व्याप्त था । जल-जन्तुओंके आघातसे उड़ी हुई और बहुत दूरतक ऊंची उछटी हुई जलकी बूंदोंसे वह समुद्र ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बाकीके समस्त समुद्रोंको जीतनेसे अपनी विजय-पताका ही फहरा रहा हो । उस समुद्रका नीले रंगका पानी वायुके वेगसे ऊपरको उठ रहा था जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कुलाचलरूपी बड़े बड़े खंभोंपर बने हुए जम्बूद्वीपरूपी विशाल घरका नील रत्नोंसे बना हुआ एक ऊंचा कोट ही हो । अथवा वह समुद्र दूसरे श्रुतस्कन्धके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध आदि-अन्त-रहित है उसी प्रकार वह समुद्र भी आदि-अन्त-रहित था, जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध समस्त पदार्थोंका अवगाहन-निरूपण करनेवाला है उसी प्रकार वह समुद्र भी समस्त पदार्थोंका अवगाहन-प्रवेशन-धारण करनेवाला है, और जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध में गंभीर शब्दोंकी रचना है उसी प्रकार उस समुद्रमें भी गम्भीर शब्द होते रहते थे-अथवा वह समुद्र द्रव्यार्थिक नयका आश्रय लेता हुआ सा जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार द्रव्यार्थिक नयसे प्रत्येक पदार्थमें नित्य शब्दकी प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार उस समुद्रमें भी नित्य शब्द की प्रवृत्ति हो रही थी अर्थात् निरन्तर गंभीर शब्द होता रहता था । अथवा उसकी लहरें क्षण-भंगुर थीं इसलिये वह पर्यायार्थिकके गोचर भी मालूम होता था क्योंकि पर्यायार्थिक नय पदार्थोंको क्षणभंगुर अर्थात् अनित्य बतलाता है । अथवा वह समुद्र किसी दुष्ट राजाके समान मालूम होता था क्योंकि जिस प्रकार दुष्ट राजा सदा तृष्णासे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सदा तृष्णासे सहित रहता था अर्थात् प्रतिक्षण अनेक नदियोंका जल ग्रहण करते रहने

१ अतृप्तिकरम् । २ महासर्पः । ३ सार्वत्रिकं प्रसिद्धमित्यर्थः । चातुरङ्ग-स०, ३०, अ०, प० ।

४ निर्द्वैत-ल० । ५ महागृहस्य । ६ जलस्वीकारात् । ७ गुरुद्रव्याणामधःकरणात् । ८ कुत्सितराजानम् ।

ससत्त्वमतिगम्भीरं भोगिभिर्धृतबेलकम् । सुराजानभिवात्युच्चैः वृत्तिं मर्यादया धृतम् ॥६१॥

अनेकमन्तरद्वीपमन्तर्वतिनमात्मनः । दुर्गवेशमिवाहार्यं पालयन्तमलङ्घनैः ॥६२॥

गर्जद्भिरतिगम्भीरं नभोव्यापिभिर्हजितैः । आपूर्यमाणमम्भीभिः घनौघैः किङ्ककरैरिव ॥६३॥

रङ्गगितैश्चलितैः क्षोभैः उत्थितैश्च विवर्तनैः । ग्रहाविष्टमिवोज्जृम्भं सध्वानं च सधूर्णितम् ॥६४॥

रत्नांशुचित्रिततलं मुक्ताशबलितार्णसम् । ग्राहैरध्यासितं विष्वक्सुखालोकं च भीषणम् ॥६५॥

नदीनां रत्नभूयिष्ठम् अप्राणं चिरजीवितम् । समुद्रमपि चोन्मुद्रं^{१०} ऋक्ते^{११} तुमसन्मथम्^{१२} ॥६६॥

पर भी संतुष्ट नहीं होता था, जिस प्रकार दुष्ट राजा जल (जड़) अर्थात् मूर्ख मनुष्योंसे घिरा रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी निरन्तर जल अर्थात् पानीसे घिरा रहता था, और जिस प्रकार दुष्ट राजा गुरु अर्थात् पूज्य महापुरुषोंका तिरस्कार करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी गुरु अर्थात् भारी वजनदार पदार्थोंका तिरस्कार करता रहता था अर्थात् उन्हें डुबोता रहता था । अथवा वह समुद्र किसी उत्तम राजाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा सत्त्व अर्थात् पराक्रमसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सत्त्व अर्थात् जल-जन्तुओं से सहित था, जिस प्रकार उत्तम राजा अत्यन्त गंभीर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अत्यन्त गंभीर अर्थात् गहरा था, जिस प्रकार उत्तम राजाके समीप अनेक भोगी अर्थात् राजा लोग विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार उस समुद्रकी बेला (तट) पर भी अनेक भोगी अर्थात् सर्प विद्यमान रहते थे, जिस प्रकार उत्तम राजाकी वृत्ति उच्च होती है उसी प्रकार उस समुद्रकी वृत्ति भी उच्च थी अर्थात् उसका जल हवासे ऊंचा उठ रहा था और जिस प्रकार उत्तम राजा मर्यादा अर्थात् कुल-परम्परासे आई हुई समीचीन पद्धतिसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मर्यादा अर्थात् पालीसे सहित था । वह समुद्र अपने मध्यमें रहनेवाले अनेक अन्तर्द्वीपोंकी रक्षा कर रहा था वे अन्तर्द्वीप उसके अलङ्घनीय तथा हरण करनेके अयोग्य किलोंके समान जान पड़ते थे । वह अतिशय गम्भीर समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो सेवकोंके समान निरन्तर बढ़ते हुए, गर्जते हुए और आकाशमें फैले हुए मेघोंके द्वारा ही जलसे भरा गया हो अथवा वह समुद्र किसी ग्रहाविष्ट अर्थात् भूत लगे हुए मनुष्यके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य जमीनपर रेंगता है, चलता है, क्षुब्ध होता है, ऊंचा उछलता है और इधर उधर घूमता है अथवा करवटे बदलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोंसे पृथिवीपर रेंग रहा था, चल रहा था, क्षुब्ध था, ऊंचा उछलता और इधर उधर घूमता था अर्थात् कभी इधर लहरता था तो कभी उधर लहरता था, तथा ग्रहाविष्ट मनुष्य जिस प्रकार उज्जृम्भ अर्थात् उठती हुई जमुहाइयोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उज्जृम्भ अर्थात् उठती हुई लहरोंसे सहित था, जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य शब्द करता है उसी प्रकार समुद्र भी शब्द कर रहा था और जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य कांपता रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी वायुसे कांपता रहता था । उस समुद्रका तल भाग रत्नोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र हो रहा था, उसका जल मोतियोंसे चित्रित था, और वह चारों ओर मगरमच्छोंसे भरा हुआ था इसलिये वह देखनेमें अच्छा भी लगता था और भयानक भी मालूम होता था । वह समुद्र अनेक रत्नों

१ भूप्रसर्पणैः । २ चलनैः । ३ उत्थानैः । ४ भ्रमणैः । ५ उज्जृम्भणम् । पक्षे जृम्भिकासहितम् । ६ सरित्पतिम् । निस्वसदुद्यम् । 'नञ्भावे निषेधे च स्वरूपार्थे व्यतिक्रमे । ईषदर्थे च सादृश्ये तद्विरुद्धतदन्यथोः ॥' इत्यभिधानात् । ७ आपः प्राणं यस्य स तम् । पक्षे गतप्राणम् । ८ चिरकालस्थायितम् । -जीविनम् अ०, प०, ब०, स०, इ० । ९ मुद्रया सहितम् । १० मुद्रारहितम् । महान्तमित्यर्थः । ११ ऋषाङ्गकितम् । १२ मत् मनो मथ्नातीति मन्मथः न मन्मथः अमन्मथस्तं मनोहरमित्यर्थः ।

अदृष्टपारमक्षोभ्यम् असंहार्यमनुत्तरम्^१ । सिद्धालयमिव व्यक्तम् अव्यक्तममृतास्पदम्^२ ॥६७॥
 क्वचिन्महोपलब्धया^३ धृतसन्ध्याभूविभूमम् । कृतान्वतमसारम्भं क्वचिक्षीलादमरदिमभिः ॥६८॥
 हरिन्मणिप्रभोत्सर्पः क्वचित्सन्दिग्धशैवलम् । क्वचिच्च कौडकुम्भी कान्तिं तन्वानं विद्रुमाङ्कुरैः ॥६९॥
 क्वचिच्छक्तिपुटोद्भेदसमुच्चलितमौक्तिकम् । तारकानिकराकीर्णं हसन्तं जलभूत्ययम् ॥७०॥
 बलापर्यन्तसम्पूङ्गत्सर्वरत्नांशुशोकरैः^४ । क्वचिद्विन्द्रधनुर्लेखां लिखन्तमिव खाड्यगणे ॥७१॥
 रथाङ्गपाणिरित्युच्चैः सम्भूतं रत्नकोटिभिः । महानिधिमिवापूर्वम् अपश्यन्मकराकरम्^५ ॥७२॥

से भरा हुआ था इसलिये नदीन अर्थात् दीन नहीं था यह उचित था (पक्षमें 'नदी' इन नदियोंका स्वामी था) परन्तु अप्राण अर्थात् प्राण रहित होकर भी चिरजीवित अर्थात् बहुत समय तक जीवित रहनेवाला था, समुद्र अर्थात् मुद्रा सहित होकर भी उन्मुद्र अर्थात् मुद्रा-रहित था और ऋषकेतु अर्थात् मछलीरूप पताकासे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् कामदेव नहीं था यह विरुद्ध बात थी किन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थमें परिवर्तन कर देनेसे कोई विरुद्ध बात नहीं रहती । वह प्राणरहित होनेपर भी चिरजीवित अर्थात् चिरस्थायी रहनेवाला था अथवा चिरकालसे जल सहित था, समुद्र अर्थात् सागर होकर भी उन्मुद्र अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दको देनेवाला था (उद्-उत्कृष्टां मुदं हर्षं राति-ददातीति उन्मुद्रः) और ऋषकेतु अर्थात् समुद्र अथवा मछलियोंके उत्पातसे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् काम नहीं था । अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही सिद्धालयके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सिद्धालयका पार दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार उस समुद्रका भी पार दिखाई नहीं देता था-दोनों ही अदृष्ट-पार थे, जिस प्रकार सिद्धालय अक्षोभ्य है अर्थात् आकुलता-रहित है उसी प्रकार समुद्र भी अक्षोभ्य था अर्थात् क्षोभित करनेके अयोग्य था उसे कोई गँदला नहीं कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालयका कोई संहार नहीं कर सकता उसी प्रकार उस समुद्रका भी कोई संहार नहीं कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालय अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अनुत्तर अर्थात् तैरनेके अयोग्य था, जिस प्रकार सिद्धालय अव्यक्त अर्थात् अप्रकट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अव्यक्त अर्थात् अगम्य था और सिद्धालय जिस प्रकार अमृतास्पद अर्थात् अमृत (मोक्ष)का स्थान है उसी प्रकार वह समुद्र भी अमृत (जल) का स्थान था । कहीं तो वह समुद्र पद्मरागमणियों से संध्या कालके बादलोंकी शोभा अथवा संदेह धारण कर रहा था और कहीं नील मणियोंकी किरणोंसे गाढ़ अन्धकारका प्रारम्भ करता हुआ सा जान पड़ता था । कहीं हरित मणियोंकी कान्तिके प्रसारसे उसमें ओवालका संदेह हो रहा था और कहीं वह मृंगाओंके अंकुरोंसे कुंकुम की कान्ति फैला रहा था । कहीं सीपोंके संपुट खुल जानेसे उसमें मोती तैर रहे थे और उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंके समूहसे भरे हुए आकाशकी ओर हँस ही रहा हो । तथा कहींपर किनारेके समीप ही समस्त रत्नोंकी किरणों सहित जलकी छोटी छोटी बूँदे पड़ रही थीं उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी आंगनमें इन्द्रधनुषकी रेखा ही लिख रहा हो । इस प्रकार जो ऊँचे तक करोड़ों रत्नोंसे भरा हुआ था ऐसे उस समुद्रको चक्रवर्तीने अपूर्व महानिधिके समान देखा ॥६८-१०२॥

१ अविनाश्यम् । २ न विद्यते उत्तरः श्रेष्ठो यस्मात् स तम् । ३ सलिलपीयूषनिवासम् । पक्षे अभयस्थानम् । 'सुधाकरयज्ञशेषसलिलाज्यमौक्षधन्वन्तरिविषकन्दच्छिन्नसहायदिविजेष्बभूव' इत्यभिधानात् । ४ पद्मराग- माणिक्य । ५ लिप्तः सन्देहविषयीकृतः । ६ समुत्सर्पन्नानारत्नमरीचियुतशोकरैः । ७ -संकरैः प० । ८ मकरालयम् ल० ।

बृष्ट्वाऽथ तं महाभागः^१ कृतधीर्धरनिःस्वनम् । दृष्ट्यैवातुल्यञ्चक्री गोष्पदावज्ञयार्णवम् ॥१०३॥
 ततोऽभिमतसंसिद्ध्यं कृतसिद्धनमस्क्रियः । रथं प्रबोदयेत्युच्चैः प्राजितारमचोदयत् ॥१०४॥
 विमुक्तप्रहर्षहंः ऊह्यमानो मनोजयः । लवणाब्धौ द्रुतं प्रायाद् यानपात्रायितो रथः ॥१०५॥
 रथो मनोरथात् पूर्वं रथात् पूर्वं मनोरथः । इति सम्भाव्यवेगोऽसौ रथो वाधिं ध्वगाहत् ॥१०६॥
 जलस्तम्भः प्रपुक्तो नु जलं न स्थलतां गतम् । स्यन्दनं यदमी चाहा जले निग्न्युः स्थलास्थया^२ ॥१०७॥
 तथैव चक्रचोत्कारः तथैवोच्चैः प्रधौरितम्^३ । यथा बहिर्जलं^४ पूर्वम् ग्रहो पुण्यं रथाङ्गिनः ॥१०८॥
 महद्भिरपि कल्लोलैः शीक्यमानास्तुरङ्गमाः । रथं निग्नुरनायासात् प्रत्युत्तं स^५ विश्रमः^६ ॥१०९॥
 रथचक्रसं^७मुत्पीडाज्जलोत्पीडः^८ लमुत्पतन् । न्यधाद् ध्वजांशुके जाड्यं जलानामीदृशी गतिः ॥११०॥
 नाङ्गरागस्तुरङ्गाणाम् आद्रितः श्रमघर्मितः^९ । क्षालितः खुरचगेत्थः केवलं शीकरंरपाम् ॥१११॥
 क्षणं रथाङ्गस्तड्यद्वाज्जलमब्धेर्द्विधाऽभवत् । व्यभावि भाविनां वर्त्म चक्रिणामिव सूत्रितम् ॥११२॥
 रथोऽस्याभिमतां भूमिं प्रापत्सारथिचोदितः । मनोरथोऽपि संसांघं पुण्यसारथिचोदितः ॥११३॥

तदनन्तर—महाभाग्यशाली बुद्धिमान् भरतने गम्भीर शब्द करते हुए उस समुद्रको देखकर, दृष्टि मात्रसे ही उसे गायके खुरके समान तुच्छ समझ लिया ॥१०३॥ और फिर अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार कर 'शीघ्र ही रथ बढ़ाओ' इस प्रकार सारथिके लिये जोरसे प्रेरणा की ॥१०४॥ जिनकी रास ढीली कर दी गई है और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोड़ोंके द्वारा ले जाया जानेवाला वह रथ लवणसमुद्रमें जहाजकी नाई शीघ्रताके साथ जा रहा था ॥१०५॥ मनोरथसे पहले रथ जाता है अथवा रथसे पहले मनोरथ जाता है इस प्रकार जिसके वेगकी सम्भावना की जा रही है ऐसा वह रथ समुद्रमें बड़े वेगके साथ जा रहा था ॥१०६॥ क्या वह जलस्तम्भिनी विद्यासे थंभा दिया गया था अथवा स्थलपनेको ही प्राप्त हो गया था क्योंकि चक्रवर्तीके घोड़े स्थल समझकर ही जलमें रथ खींचे लिये जा रहे थे ॥१०७॥ जिस प्रकार जलके बाहर पहियोंका चीत्कार शब्द होता था उसी प्रकार जलके भीतर भी हो रहा था और जिस प्रकार जलके बाहर घोड़े दौड़ते थे उसी प्रकार जलके भीतर भी दौड़ रहे थे, अहा ! चक्रवर्तीका पुण्य भी कैसा आश्चर्यजनक था ! ॥१०८॥ वे घोड़े बड़ी बड़ी लहरोंसे सींचे जानेपर भी बिना किसी परिश्रमके रथको ले जा रहे थे । उन लहरोंसे उन्हें कुछ दुःख नहीं होता था बल्कि उनका परिश्रम दूर होता जाता था ॥१०९॥ रथके पहियेके आघातसे आकाशकी ओर उछलनेवाले जलके समूहने ध्वजाके वस्त्रमें भी जाड्य अर्थात् भारीपन ला दिया था सो ठीक ही है क्योंकि जलका ऐसा ही स्वभाव होता है । भावार्थ—संस्कृत काव्योंमें ड और ल के बीच कोई भेद नहीं माना जाता इसलिये जलानाम् की जगह जडानाम् पढ़कर चतुर्थ चरणका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि मूर्ख मनुष्योंका यही स्वभाव होता है कि वे दूसरोंमें भी जाड्य अर्थात् मूर्खता उत्पन्न कर देते हैं ॥११०॥ घोड़ोंके शरीर पर लगाया हुआ अंगराग (लेप) परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेसे गीला नहीं हुआ था केवल खुरोंके वेगसे उठे हुए जलके छोटोंसे ही धुल गया था ॥१११॥ रथके पहियोंके संघट्टनसे क्षण भरके लिये जो समुद्रका जल फटकर दोनों ओर होता जाता था वह ऐसा मालूम होता था मानो आगे होनेवाले सगर आदि चक्रवर्तियोंके लिये सूत्र डालकर मार्ग ही तैयार किया जा रहा हो ॥११२॥ सारथिके द्वारा चलाया हुआ चक्रवर्तीका रथ उनके अभिलषित स्थानपर पहुंच

१ महाभागं ल० । २ सारथिम् । ३ त्यक्तरज्जुभिः । ४ अगच्छत् । ५ स्थलमिति बुद्ध्या । ६ गतिविशेषाक्रान्तम् । ७ जलाद् बहिः । स्थले इत्यर्थः । ८ सिच्यमानाः । ९ सेचनविधिः । १० श्रमहरणकारणम् । ११ समुत्पीडनात् । १२ जलसमूहः । जलानां जडानामिति ध्वनिः । १३ स्वेदः ।

गत्वा कतिपयान्यर्थौ योजनानि रथः प्रभोः । स्थितोऽन्तर्जलमाक्रम्य यस्ताव इव वार्धिना ॥११४॥
 द्विवड्दयोजनमागाह्य स्थिते मध्येऽर्णवं रथे । रथाङ्गपाणिराहण्टो जग्राह किल कर्मकम् ॥११५॥
 स्फुरज्ज्यं वज्रकाण्डं तदनुरापितं यदा । तदा जीवितसन्देहबोलाहूडमभूज्जगत् ॥११६॥
 स्फुरन्मौर्वीरवस्तस्य मुहुः प्रध्वानयन् बिशः । प्रभोभमनयद्वार्धिं चलत्तिमिकुलाकुलम् ॥११७॥
 संहार्यः किममुष्याब्धिः उत विश्वमिदं जगत् । इत्याशङ्क्य क्षणं तस्ये तदा नभसि खेचरः ॥११८॥
 वक्रैरपि गुणवत्यस्मिन् ऋजुकर्मणि कर्मके । प्रसोघं सन्दधे बाणं श्लाघ्यं स्थानकमास्थितः ॥११९॥
 अहं हि भरतो नाम वक्रो वृषभनन्दनः । मत्तादभवन्तु मद्भुक्तिवासिनो व्यन्तरामराः ॥१२०॥
 इति व्यक्तलिपिन्यासो द्रुतमुख्य इव द्रुतम् । स पत्नीं चक्रिणा मुक्तः प्राङ्मुखोमास्थितो गतिम् ॥१२१॥
 जितनिर्घातिनिर्घोषं ध्वनिं कुर्वन्नभस्तलात् । न्यपत्तन्मागधावासे तत्संन्यं क्षोभमानयन् ॥१२२॥
 किमेव क्षुभितोऽम्भोविः कल्पान्तपवनाहृतः । निर्घातः किंस्विबुद्धवान्तो भूमिकम्पो नु जूम्भते ॥१२३॥
 इत्याकुलाकुलधियः तन्निकायोपगाः सुराः । परिवव्रुरपेत्यैतं सन्नद्धा मागधं प्रभुम् ॥१२४॥
 देव दीप्रः शरः कोऽपि पतितोऽस्मत्सभाङ्गणे । तेनायं प्रकृतः क्षोभो न किञ्चित्कारणान्तरम् ॥१२५॥

गया और पुण्यरूपी सारथिके द्वारा प्रेरित हुआ उनका मनोरथ भी सफलताको प्राप्त हो गया ॥११३॥ महाराज भरतका रथ समुद्रमें कुछ योजन जाकर जलके भीतर ही खड़ा हो गया मानो समुद्रने ऊपरकी ओर बढ़कर उसके धोड़े ही धाम लिये हों ॥११४॥ जब वह रथ समुद्र के भीतर बारह योजन चलकर खड़ा हो गया तब चक्रवर्तीने कुछ कुपित होकर धनुष उठाया ॥११५॥ जिसकी प्रत्यंचा (डोरी) स्फुरायमान है और काण्ड वज्रके समान है ऐसा वह धनुष जिस समय चक्रवर्तीने प्रत्यंचासे युक्त किया था उसी समय यह जगत् अपने जीवित रहनेके संदेह रूपी भूलापर आरूढ़ हो गया था अर्थात् समस्त संसारको अपने जीवित रहनेका संदेह हो गया था ॥११६॥ समस्त दिशाओंको बार-बार शब्दायमान करते हुए चक्रवर्तीके धनुषकी स्फुरायमान प्रत्यंचाके शब्दने उधर-उधर भागते हुए मच्छोंके समूहसे भरे हुए समुद्रको भी क्षोभित कर दिया था ॥११७॥ क्या यह चक्रवर्ती इस समुद्रका संहार करना चाहता है अथवा समस्त संसारका ? इस प्रकार आशंका कर विद्याधर लोग उस समय क्षण भरके लिये आकाशमें खड़े हो गये थे ॥११८॥ जो टेढ़ा होकर भी गुणवान् (पक्षमें डोरीसे सहित) और सरल कार्य करनेवाला था (पक्षमें सीधा बाण छोड़नेवाला था) ऐसे उस धनुषपर चक्रवर्तीने प्रशंसनीय-योग्य आसनसे खड़े होकर कभी व्यर्थ न जानेवाला अमोघ नामका बाण रखा ॥११९॥ 'मे' वृषभदेवका पुत्र भरत नामका चक्रवर्ती हूँ इसलिये मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्रमें रहनेवाले सब व्यन्तर देव मेरे अधीन हों इस प्रकार जिसपर स्पष्ट अक्षर लिखे हुए हैं ऐसा हुआ वह चक्रवर्ती के द्वारा चलाया हुआ बाण मुख्य दूतकी तरह पूर्व दिशाकी ओर मुख कर चला ॥१२०-१२१॥ और जिसने वज्रपातके शब्दको जीत लिया है ऐसा भारी शब्द करता हुआ तथा मागध देवकी सेनामें क्षोभ उत्पन्न करता हुआ वह बाण आकाश-तलसे मागध देवके निवासस्थानमें जा पड़ा ॥१२२॥ क्या यह कल्पान्त कालके वायुसे ताड़ित हुआ समुद्र ही क्षोभको प्राप्त हुआ है ? अथवा जोरसे शब्द करता हुआ वज्र पड़ा है ? अथवा भूमिकंप ही हो रहा है ? इस प्रकार जिनकी बुद्धि अत्यन्त व्याकुल हो रही है ऐसे उसके समीप रहनेवाले व्यन्तरदेव तैयार होकर मागध देवके पास आये और उसे घेरकर खड़े हो गये ॥१२३-१२४॥ हे देव, हमारे सभा-

१ जलमध्ये । २ अर्णवमध्ये । ३ क्रुद्धः । ४ स्फुरन्ती ज्या मौर्वी यस्य स तम् । ५ चक्रिणः । ६ स्थानकम् प्रत्यालीढादिस्थानम् । ७ मद्दधीना भवन्तु । ८ मम क्षेत्रवासिन इत्यर्थः । ९ बाणः । १० पूर्वाभिमुखीम् । ११ अशनि । १२ अत्याकुलबुद्धयः । १३ विहितः ।

येनायं प्रहितः पत्नी नाकिना दानवने वा । तस्य कर्तुं प्रतीकारमिने सज्जा वयं^१ प्रभो ॥१२६॥
 इत्यारक्षिभटैस्तूर्णम्^२ एत्य विज्ञापितः प्रभुः । अलमाध्वं^३ भटालापैः इत्युच्चैः प्रत्युवाच तान् ॥१२७॥
 गूयं तं^४ एव भद्राह्वयः सोऽहमेवास्मि मागधः । श्रुतपूर्वमिदं किं वः सोढपूर्वो मयेत्यरिः ॥१२८॥
 बिभ्रति यः पुमान् प्राणान् परिभूतिमलीमसान् । न गुणैर्लिङ्गमात्रेण पुमानेव प्रतीयते ॥१२९॥
 सच्चिद्रूपरुषो वास्तु चञ्च्वापुरुष^५ एव च^६ । यो विनापि गुणैः पौर्णैः^७ नाम्मैव पुरुषायते ॥१३०॥
 स पुमान् यः पुनीते स्वं कुलं जन्म च पौरुषं । भटसुखो जनो यस्तु तस्यास्त्वभवनिर्भुवि ॥१३१॥
 विजिगीषुतया देवा^८ वयं नेच्छतिविहारतः^९ । ततोऽरविजयादेव सम्पदस्तु सदापि नः ॥१३२॥
 वस्तुवाहनराज्याङ्गैः आराधयति यः परम् । परभोगीर्णनेश्वर्यं^{१०} तस्य मन्ये विडम्बनम् ॥१३३॥
 अरशाली प्रभुः कोऽपि मत्तोऽयं^{११} धनमीप्सति । धनायतोऽस्य दास्यामि निधनं प्रथमैः^{१२} समम् ॥१३४॥
 विचूर्णनं शरं तावत् कोपान्नैः प्रथमेन्धनम् । करवाणोदमेवास्तु तनुशक्तैरुपेन्धनम्^{१३} ॥१३५॥

भवनके आंगनमें कोई देदीप्यमान बाण आकर पड़ा है उसीसे यह क्षोभ हुआ है इसका दूसरा कारण नहीं है ॥१२५॥ हे प्रभो, जिस किसी देव अथवा दानवने यह बाण छोड़ा है हम सब लोग उसका प्रतिकार करनेके लिये तैयार हैं ॥१२६॥ इस प्रकार रक्षा करनेवाले वीर योद्धाओं ने शीघ्र ही आकर अपने स्वामी मागध देवसे निवेदन किया और मागध देवने भी बड़े जोरसे उन्हें उत्तर दिया कि चुप रहो, इस प्रकार वीर वाक्योंसे कुछ लाभ नहीं है ॥१२७॥ तुम लोग वे ही मेरे अधीन रहनेवाले देव हो और मैं भी वही मागध देव हूँ, क्या मुझे कभी पहले अपना शत्रु सहन हुआ है ? यह बात तुम लोगोंने पहले भी कभी सुनी है ? ॥१२८॥ जो पुरुष पराभव से मलिन हुए अपने प्राणोंको धारण करता है वह गुणोंसे पुरुष नहीं कहलाता किन्तु केवल लिङ्ग से ही पुरुष कहलाता है ॥१२९॥ जो पुरुष, पुरुषोंमें पाये जानेवाले गुणोंके बिना केवल नाम से ही पुरुष बनना चाहता है वह या तो चित्रमें लिखा हुआ पुरुष है अथवा तृण काण्ड वगैरहसे बना हुआ पुरुष है ॥१३०॥ जो अपने पराक्रमसे अपने कुल और जन्मको पवित्र करता है वास्तवमें वही पुरुष कहलाता है, इसके विपरीत जो मनुष्य झूठमूठ ही अपनेको वीर कहता है पृथिवीपर उसका जन्म न लेना ही अच्छा है ॥१३१॥ हम लोग शत्रुओंको जीतनेसे ही 'देव' कहलाते हैं, इच्छानुसार जहाँ तहाँ विहार करने मात्रसे देव नहीं कहलाते इसलिये हम लोगोंकी संपत्ति सदा शत्रुओंको विजय करने मात्रसे ही प्राप्त हो ॥१३२॥ जो मनुष्य रत्न आदि वस्तु, हाथी घोड़े आदि वाहन और छत्र चमर आदि राज्यके चिह्न देकर किसी दूसरेकी आराधना-सेवा करता है उसका ऐश्वर्य दूसरोंके उपभोगके लिये हो और मैं ऐसे ऐश्वर्यको केवल विडम्बना समझता हूँ ॥१३३॥ बाण चलानेवाला यह कोई राजा मुझसे धन चाहता है सो इसके लिये मैं युद्धके साथ साथ निधन अर्थात् मृत्यु दूंगा ॥१३४॥ सबसे पहले मैं इस बाण को चूर कर अपने क्रोधरूपी अग्निका पहला ईंधन बनाऊंगा, यही बाण अपने छोटे छोटे टुकड़ों

१ प्रभो वयम् स०, अ०, प०, इ० । २ अङ्गरक्षिभटैः । ३ तूर्णं तिष्ठत । ४ ते पूर्वस्मिन् विद्यमाना एव । ५ परिभव । ६ तृणपुरुषः । 'चञ्चोऽनलादिनिर्माणे चञ्च्वा तु तृणपुरुषे', इत्यभिधानात् । करिकलभन्यायमाश्रित्य पुनः पुरुष शब्दप्रयोगः । ७ वा ल०, ब०, अ०, प०, स०, द०, इ० । ८ पुरुषसम्बन्धिभिः । ९ अनुत्पत्तिः । 'नङो निः शपे' इति अतिप्रत्ययान्तः । १० दीव्यन्ति विजिगीषन्तीति देवाः । ११ स्वैरविहारतः । कीडाविहारत इति भावः । १२ परभोगिभ्यो हितम् । १३ अरुमत् । १४ प्रथमैः द०, इ०, ल०, अ०, प०, स० । युद्धैः । 'युद्धमायोधनं जन्यं प्रथमं प्रविदारणम्' इत्यभिधानात् । १५ अलग्नशक्तेः (तूर्णीकृतशरीरेन्धनैः) । शत्रुशरीरशक्तैः । १६ सन्धुक्षणम्, अग्निज्वालनम् ।

साक्षेपमिति संरम्भाद् डबीयं गिरमूजिताम् । व्यरंसीद् दशनज्योत्स्नां संहरन्मागघां वरः ॥१३६॥
 ततस्तमन्नुभ्यर्णाः सुरा दृष्टपरम्पराः । प्रभुं शमयितुं क्रोधाद् विद्यावृद्धैर्विभोः^१ स्थितिः ॥१३७॥
 यथार्थं^२ वरमर्थञ्च^३ मितञ्च बहुविस्तरम् । अनाकुलञ्च गम्भीरं^४ नाधिग्रामीदृशं वचः ॥१३८॥
 सत्यं परिभवः सोऽमुं शशक्यो मानशालिनाम् । बलवद्भिर्विरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥१३९॥
 सत्यमेव यशो रक्ष्यं प्राणैरपि धनैरपि । तत्तु प्रभुमनाश्रित्य कथं लभ्येत धोधनैः ॥१४०॥
 अलब्धभावो लब्धार्थपरिरक्षणमित्यपि । द्वयमेतत् सुखाल्लभ्यं जिगीषोर्नाश्रयं विना ॥१४१॥
 बलिनामपि सन्त्येव बलीयांसो मनस्विनः । बलवानहमस्मीति नोत्सेक्तव्यमतः परम् ॥१४२॥
 न किञ्चिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्येता^५ । ततः शरः कुतस्त्योऽयं किमीधो^६ वेति मृग्यताम्^७ ॥१४३॥
 श्रुतञ्च बहुशोऽस्माभिः आप्तोयं^८ पुष्कलं वचः । जिनाश्चकधरंस्सार्धं वत्स्यन्तीहेति भारते ॥१४४॥
 नूनं चक्रिण एवायं जयाशंसी शरागमः । धूतान्धतमसोद्योतः सम्भाव्योऽन्यत्र किं रवेः^९ ॥१४५॥
 अथवा खलु^{१०} संशय्य चक्रपाणेरयं शरः । व्यनक्ति व्यक्तमेवंनं^{११} तन्नामाक्षरमालिका ॥१४६॥

से मेरी क्रोधरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेवाला हो ॥१३५॥ इस प्रकार वह मागध देव क्रोध से तिरस्कारके साथ साथ कठोर वचन कहकर दांतोंकी कान्तिको संकुचित करता हुआ जब चुप हो रहा ॥१३६॥ तब कुल-परम्पराको देखने वाले समीपवर्ती देव उसका क्रोध शमन करनेके लिये उससे कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोगोंकी स्थिति विद्याकी अपेक्षा बृद्ध हुए मनुष्योंसे ही होती है, भावार्थ—जो मनुष्य विद्याबृद्ध अर्थात् विद्याकी अपेक्षा बड़े हैं उन्हींसे राजा लोगोंकी मर्यादा स्थिर रहती है किन्तु जो मनुष्य केवल अवस्थासे बड़े हैं उनसे कुछ लाभ नहीं होता ॥१३७॥ उन देवोंने जो वचन कहे थे वे समयके अनुकूल थे, अर्थसे भरे हुए थे, परिमित थे, अर्थकी अपेक्षा बहुत विस्तारवाले थे, आकुलता-रहित थे और गम्भीर थे सो ठीक ही है क्योंकि मूर्खोंके ऐसे वचन कभी नहीं निकलते हैं ॥१३८॥ उन देवोंने कहा कि हे प्रभो, यह ठीक है कि अभिमानी मनुष्योंको अपना पराभव सहन नहीं हो सकता है परन्तु बलवान् पुरुषोंके साथ विरोध करना भी तो अपने पराभवका कारण है ॥१३९॥ यह बिलकुल ठीक है कि अपने प्राण अथवा धन देकर भी यशकी रक्षा करनी चाहिये परन्तु वह यश किसी समर्थ पुरुषका आश्रय किये बिना बुद्धिमान् मनुष्योंको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? ॥१४०॥ प्राप्त नहीं हुई वस्तुका प्राप्त होना और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना ये दोनों ही कार्य किसी विजिगीषु राजाके आश्रयके बिना सुखपूर्वक प्राप्त नहीं हो सकते ॥१४१॥ हे प्रभो, बलवान् मनुष्योंकी अपेक्षा और भी अधिक बलवान् तथा बुद्धिमान् हैं इसलिये मैं बलवान् हूँ इस प्रकार कभी गर्व नहीं करना चाहिये ॥१४२॥ सिद्धि अर्थात् सफलताकी इच्छा करनेवाले पुरुषको बिना विचारे कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिये इसलिये यह बाण कहाँसे आया है ? और किसका है ? पहले इस बातकी खोज करनी चाहिये ॥१४३॥ इस भारतवर्षमें चक्रवर्तियोंके साथ तीर्थंकर निवास करेंगे, अवतार लेंगे ऐसे आप्त पुरुषोंके यथार्थ वचन हम लोगों ने अनेक बार सुने हैं ॥१४४॥ विजयको सूचित करनेवाला यह बाण अवश्य ही चक्रवर्तीका ही होगा क्योंकि सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला प्रकाश क्या सूर्यके सिवाय किसी अन्य वस्तु में भी संभव हो सकता है ? अर्थात् नहीं ॥१४५॥ अथवा इस विषयमें संशय करना व्यर्थ है । यह बाण चक्रवर्तीका ही है, क्योंकि इसपर खुदे हुए नामके अक्षरोंकी माला साफ साफ ही

१ प्रभोः स्थितिर्विद्यावृद्धैर्भवति हि । २ प्रभोः ल० । ३ यथावसरमर्थं च द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । ४ अभिलषणीयम् । ५ बुद्धिहीनानाम् । ६ सिद्धि वाञ्छिता । ७ कस्य सम्बन्धि । ८ विचार्यताम् । ९ आप्तसम्बन्धि । १० रवि विषय । ११ शंका मा कार्षीः । १२ चक्रिनामाक्षर ।

तदेनं शरमभ्यर्च्यं गन्धमाल्याक्षतादिभिः । पूज्याष्टौ च विभोराज्ञा गत्वास्माभिः शरार्पणा ॥१४७॥
 मा गा मागध वैचित्यं^१ कार्यमेतद् विनश्चिन्तु । न युक्तं तत्प्रतीपत्यं^२ तव तद्देशवासिनः^३ ॥१४८॥
 तद्वत् देव संरभ्य^४ तत्प्रातीप्यं^५ न शान्तये । महतः सरिदोघस्य^६ कः प्रतीपं तरन् सुखी ॥१४९॥
 बलवाननुवर्त्यंश्चेद् अनुनेयोऽष्ट चक्रमत । महत्सु वेतसीं^७ वृत्तिम् आमनन्त्यविपत्करीम् ॥१५०॥
 इहामुत्र च जन्तूनाम् उत्तर्यं पूज्यपूजनम् । तार्यं^८ तत्रानुबध्नाति पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥१५१॥
 इति तद्वचनात्किञ्चित् प्रबुद्ध इव^९ तत्क्षणम् । अज्ञातमेवमेतत्स्याद् इत्यसौ प्रत्यपद्यत^{१०} ॥१५२॥
 ससम्भ्रममिवास्याभूत् चित्तं किञ्चित्ससाध्वसम् । साशङ्कमिव^{११} सोद्वेगं प्रबुद्धमिव च क्षणम् ॥१५३॥
 ततः प्रसेदुषी^{१२} तस्य नधिरादेव^{१३} क्षेमुषी । पूर्वापरं व्यलोकिष्ट कोपापायात् प्रशेमुषी^{१४} ॥१५४॥
 सोऽयं चक्रभूतामाद्यो भरतोऽज्जडवपशासनः । प्रतीक्ष्यः^{१५} सर्वथास्माभिः अनुनेयश्च सादरम् ॥१५५॥
 चक्रित्वं चरमाङ्गतत्वं पुत्रत्वं च जगद्गुरोः । इत्यस्य पूज्यमेकैकं किं पुनस्तत्समुच्चितम् ॥१५६॥
 इति निश्चित्य^{१६} सम्भ्रान्तैः अनुयातः सुशोभतः । सहसा चक्रिणं द्रष्टुमुच्चञ्चाल स मागधः ॥१५७॥

चक्रवर्तीको प्रकट कर रही है ॥१४६॥ इसलिये गन्ध माला अक्षत आदिसे इस बाणकी पूजा कर हम लोगोंको आज ही वहां जाकर उनका यह बाण उन्हें अर्पण कर देना चाहिये और आज ही उनकी आज्ञा मान्य करनी चाहिये ॥१४७॥ हे मागध, आप किसी प्रकारके विकारको प्राप्त मत हूजिये, और हम लोगोंके द्वारा कहे हुए इस कार्यका अवश्य ही निश्चय कीजिये, क्योंकि उनके देशमें रहनेवाले आपको उनके साथ विरोध करना उचित नहीं है ॥१४८॥ इसलिये हे देव, क्रोध करना व्यर्थ है, चक्रवर्तीके साथ वैर करनेसे कुछ शान्ति नहीं होगी क्योंकि नदीके बड़े भारी प्रवाहके प्रतिकूल तैरनेवाला कौन सुखी हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥१४९॥ यदि बलवान् मनुष्यको अनुकूल बनाये रखना चाहिये यह नीति है तो चक्रवर्तीको आज ही प्रसन्न करना चाहिये, क्योंकि बड़े पुरुषोंके विषयमें जेतके समान नम्र वृत्ति ही दुःख दूर करनेवाली है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥१५०॥ पूज्य मनुष्योंकी पूजा करनेसे इस लोक तथा परलोक—दोनों ही लोकोंमें जीवोंकी उत्पत्ति होती है और पूज्य पुरुषोंकी पूजा का उल्लंघन अर्थात् अनादर करनेसे दोनों ही लोकोंमें पाप बन्ध होता है ॥१५१॥ इस प्रकार उन देवोंके वचनोंसे जिसे उसी समय कुछ कुछ बोध उत्पन्न हुआ है ऐसे उस मागध देवने मुझे यह हाल मालूम नहीं था यह कहते हुए उनके वचन स्वीकार कर लिये ॥१५२॥ उस समय उसके चित्तमें कुछ घबड़ाहट, कुछ भय, कुछ आशंका, कुछ उद्वेग और कुछ प्रबोध—सा उत्पन्न हो रहा था ॥१५३॥ तदनन्तर थोड़ी ही देरमें निर्मल हुई और क्रोधके नष्ट हो जानेसे शान्त हुई उसकी बुद्धिने आगे पीछेका सब हाल देख लिया ॥१५४॥ यह वही चक्रवर्तियोंमें पहला चक्रवर्ती भरत है जिसकी कि आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, हम लोगोंको हरएक प्रकारसे इसकी पूजा करनी चाहिये और आदर सहित इसकी आज्ञा माननी चाहिये ॥१५५॥ यह चक्रवर्ती है, चरमशरीरी है और जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, इन तीनोंमेंसे एक एक गुण ही पूज्य होता है फिर जिसमें तीनोंका समुदाय है उसकी तो बात ही क्या कहनी है ? ॥१५६॥ इस प्रकार निश्चय कर वह मागध देव शीघ्र ही चक्रवर्तीको देखनेके लिये आकाश-मार्गसे चला, उस समय संभ्रमको प्राप्त हुए अनेक अच्छे अच्छे देव उसके पीछे पीछे

१ चित्तविकारम् । २ चक्रप्रतिकूलत्वम् । ३—वर्तिनः ल० । ४ संरम्भं मा कार्षीः । ५ प्रातिकूल्यम् । ६ प्रवाहस्य । ७ वेतससम्बन्धिनीम् । अनुकूलतामित्यर्थः । ८ पापं ल० । ९ जन्ती । १० एव । ११ अनुमेने । १२ इव अवधारणं । १३ प्रसन्नवती । १४ अल्पकालेनैव । १५ उपशमवती । १६ पूज्यः । सांशयिकः, संशयापन्नमानसः । १७ सम्भ्रमवद्भिः ।

खमुन्मणितिरीटांशुरचित्तेन्द्रशरासनम् । क्षणेनोल्लङ्घय सन्प्रापत् तं देशं यत्र चक्रभूत् ॥१५८॥
 पुरोधाय^१ शरं रत्नपटले सुनिवेशितम् । मागधः प्रभुमानंसीद् आर्यं स्वीकुरु मामिति ॥१५९॥
 चक्रोत्पत्तिक्षणे भद्र यन्नायामोर्जभङ्गकाः^२ । महान्तमपराधं नः त्वं क्षमस्वाथितो^३ मुहुः ॥१६०॥
 यूष्मत्पादरजःस्पर्शाद् बाधिरेव न केवलम् । पूता वयमपि श्रीमन् त्वत्पादाभ्युज्जसेवया ॥१६१॥
 रत्नान्वयमून्यनर्घाणि स्वर्गोऽप्यसुलभानि च । अघो^४ निधीनामाधात् सोपयोगानि सन्तु ते ॥१६२॥
 हारोऽप्यमतिरोचिष्णुः अवाराहं^५ रशुक्तिजैः । अवेणुद्विपसम्भूतः दृग्धो मुक्तरफलैर्द्युजैः^६ ॥१६३॥
 तव वक्षःस्थलाश्लेषाद् उपेया^७ दुपहारताम्^८ । स्फुरन्ती^९ कुण्डले चामू कर्णासङ्गात्पवित्रताम् ॥१६४॥
 इत्यस्मै कुण्डले दिव्ये हारं च विततार सः । त्रैलोक्यसारसन्दोहमिवैकध्य^{१०} मुपागतम् ॥१६५॥
 रत्नैश्चाभ्यर्च्य रत्नेशं मागधः प्रीतमानसः । प्रभोरवाप्तसत्कारः तन्मतात् स्वभगात् पदम् ॥१६६॥
 अथ तत्रस्थ एवाब्धिं सान्तर्द्वीपं विलोकयन् । प्रभुविसिस्मये^{११} किञ्चिद् बह्वाङ्घ्र्यो हि वारिधिः ॥१६७॥
 ततः कुतूहलाद् बाधिं पश्यन्तं धूर्गतः^{१२} पतिम् । तमित्युवाच दन्तांशुसुमनोमञ्जरीः किरन् ॥१६८॥

पृथ्वीवृत्तम्

अयं जलधिश्चलत्तरलबीचिबाहूद्वत्स्फुरन्मणिगणार्चनो ध्वनदसङ्ख्यशङ्खलकुलः ।

तवार्यमिव संविधित्सुरनुवेलमुच्चैर्नदन् मरुद्वृतजलानको दिशतु शशवदानन्दधुम्^{१३} ॥१६९॥

जा रहे थे ॥१५७॥ देदीप्यमान मणियोंसे जड़े हुए मुकुटकी किरणोंसे जिसमें इन्द्रधनुष बन रहा है ऐसे आकाशको क्षण भरमें उल्लंघन कर वह मागध देव जहां चक्रवर्ती था उस स्थान पर जा पहुंचा ॥१५८॥ रत्नके पिटारेमें रखे हुए बाणको सामने रखकर मागध देवने भरत के लिये नमस्कार किया और कहा कि हे आर्य, मुझे स्वीकार कीजिये—अपना ही समझिये ॥१५९॥ हे भद्र, हम अज्ञानी लोग चक्र उत्पन्न होनेके समय ही नहीं आये सो आप हमारे इस भारी अपराधको क्षमा कर दीजिये, हम बार बार प्रार्थना करते हैं ॥१६०॥ हे श्रीमन्, आपके चरणोंकी धूलिके स्पर्शसे केवल यह समुद्र ही पवित्र नहीं हुआ है किन्तु आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे हम लोग भी पवित्र हो गये हैं ॥१६१॥ हे प्रभो, यद्यपि ये रत्न अमूल्य हैं और स्वर्गमें भी दुर्लभ हैं तथापि आपकी निधियोंके नीचे रखनेके काम आवें ॥१६२॥ यह अतिशय देदीप्यमान तथा सूअर, सीप, बांस और हाथीमें उत्पन्न न होनेवाले दिव्य मोतियोंसे गुथा हुआ हार आपके वक्षःस्थलके आलिंगनसे पूज्यताको प्राप्त हो तथा ये देदीप्यमान—चमकते हुए दोनों कुण्डल आपके कानोंकी संगतिसे पवित्रताको प्राप्त हों ॥१६३—१६४॥ इस प्रकार उस मागध देवने एकरूपताको प्राप्त हुए तीनों लोकोंकी सार वस्तुओंके समुदायके समान सुशोभित होनेवाला हार और दोनों दिव्य कुण्डल भरतके लिये समर्पित किये ॥१६५॥ तदनन्तर जिसका चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो रहूँ है ऐसे मागध देवने अनेक प्रकारके रत्नोंसे रत्नों के स्वामी भरत चक्रवर्तीकी पूजा की और फिर उनसे आदर-सत्कार पाकर उन्हींकी संमतिसे वह अपने स्थानपर चला गया ॥१६६॥

अथानन्तर—वहां खड़े रहकर ही अन्तर्द्वीपों सहित समुद्रको देखते हुए महाराज भरतको कुछ आश्चर्य हुआ सो ठीक ही है क्योंकि वह लवणसमुद्र अनेक आश्चर्योंसे सहित था ॥१६७॥ तदनन्तर दांतोंकी किरणेंरूपी पुष्पमंजरीको बिखेरता हुआ सारथि कौतूहल से समुद्रको देखनेवाले भरतसे इस प्रकार कहने लगा ॥१६८॥ कि, उछलती हुई चंचल लहरें

१ अग्रे कृत्वा । २ नमस्करोति स्म । ३ आगताः । ४ प्राथितः । ५ निधिं प्रयत्नेन स्थापयितुमर्थः शिलाकर्तुं सप्रयोजनानि भवन्तिवति भावः । ६ न सूकरजैः । ७ दृग्धुजैः । ८ सङ्गात् । ९ उपगच्छत् । १० पूज्यताम् । ११ स्फुरती कुण्डले चेमे ल० । १२ एकप्रकारम् । १३ विस्मितवान् । १४ यानमुखं गतः । सारथिरित्यर्थः । १५ आनन्दम् ।

अमुष्य जलमुत्पतद्गगनमेतदालक्ष्यते शशाङ्ककरकोमलच्छविभिराततं शीकरैः ।

प्रहासमिव दिग्बधूपरिचयाय विश्वगधत् तितांसं विव चात्मनः प्रतिदिशं यशो भागशः ॥१७०॥

क्वचित्सफुटितशुभितमौक्तिकततं सतारं नभो जयत्पलिमलीमसं मकरमीनराशिभितम् ।

क्वचित्सलिलमस्य भोगिकुलसङ्कुलं सूक्ष्मतं नरेन्द्रकुलमुत्तमस्थितिजिगीषतीवोद्भटम् ॥१७१॥

इतो विशति गाङ्गमम्बु शरदम्बुदाच्छच्छवि स्तुतं हिमवतोऽमुतश्च सुरसं पयः सन्धवम् ।

तथापि न जलागमेन धृतिरस्य पोष्यते ध्रुवं न जलसङ्ग्रहं रिह जलाशयो धायति ॥१७२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

व्याप्योदरं चलकुलाचलसन्निकाशाः पुत्रा इवास्य तिमयः पयसा प्रपुष्टाः ।

कल्लोलकाश्च परिमारहिताः समन्ताद् अन्योन्यघट्टनपराः सममावसन्ति ॥१७३॥

रूपी भुजाओंके द्वारा धारण किये हुए देदीप्यमान मणियोंके समूह ही जिसकी पूजाकी सामग्री है, जो शब्द करते हुए असंख्यात शंखोंसे आकुल है, जो प्रत्येक बेलाके साथ जोरसे शब्द कर रहा है, वायुके द्वारा कंपित हुआ जल ही जिसके नगाड़े हैं और जो इन सबसे ऐसा जान पड़ता है मानो आपके लिये अर्घ ही देना चाहता हो ऐसा यह समुद्र सदा आपके लिये आनन्द देवे ॥१६९॥ आकाशकी ओर उछलता हुआ और चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल कान्तिवाले जलके छोटे छोटे छींटोंसे व्याप्त हुआ इस समुद्रका यह जल ऐसा जान पड़ता है मानो दिशारूपी स्त्रियों के साथ परिचय करनेके लिये चारों ओरसे हास्य ही कर रहा हो अथवा अपना यश बाँटकर प्रत्येक दिशामें फैलाना ही चाहता हो ॥१७०॥ खुली हुई सीपोंके भोतियोंसे व्याप्त हुआ, भ्रमरके समान काला और मकर मीन, मगर-मच्छ आदि जल-जन्तुओंकी राशि-समूहसे भरा हुआ यह समुद्रका जल कहीं ताराओं सहित, भ्रमरके समान श्याम और मकर मीन आदि राशियों से भरे हुए आकाशको जीतता है तो कहीं राजाओंके कुलको जीतना चाहता है क्योंकि जिस प्रकार राजाओंका कुल भोगी अर्थात् राजाओंके समूहसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार यह जल भी भोगी अर्थात् सपोंके समूहसे व्याप्त है, जिस प्रकार राजाओंका कुल सूक्ष्म अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट होता है उसी प्रकार यह जल भी सूक्ष्म अर्थात् अत्यन्त ऊँचा है, जिस प्रकार राजाओंका कुल उत्तम स्थिति अर्थात् मर्यादासे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उत्तम स्थिति अर्थात् अवधि (हृद्) से सहित है, और राजाओंका कुल जिस प्रकार उद्भट अर्थात् उत्कृष्ट योद्धाओंसे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उद्भट अर्थात् प्रबल है ॥१७१॥ इधर हिमवान् पर्वत से निकला हुआ तथा शरद्वृत्तुके बादलोंके समान स्वच्छ कान्तिको धारण करनेवाला गङ्गा नदीका जल प्रवेश कर रहा है और उस ओर सिन्धु नदीका मीठा जल प्रवेश कर रहा है, फिर भी जलके आनेसे इसका संतोष पूरा नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जलाशय (जिसके बीचमें जल है, पक्षमें जड़ आशयवाला-मूर्ख) जल (पक्षमें जड़-मूर्ख) के संग्रहसे कभी भी संतुष्ट नहीं होता है । भावार्थ—जिस प्रकार जलाशय अर्थात् मूर्ख मनुष्य जल संग्रह अर्थात् मूर्ख मनुष्योंके संग्रहसे संतुष्ट नहीं होता उसी प्रकार जलाशय अर्थात् जलसे भरा हुआ समुद्र या तालाब जल-संग्रह अर्थात् पानीके संग्रह करनेसे संतुष्ट नहीं होता ॥१७२॥ इस समुद्रके उदर अर्थात् मध्यभाग अथवा पेटमें व्याप्त होकर पय अर्थात् जल अथवा दूधसे अत्यन्त पुष्ट हुए तथा चलते हुए कुलाचलोंके समान बड़े बड़े इसके पुत्रोंके समान मगरमच्छ और प्रमाण रहित

१ विस्तारितुमिच्छत् । २ सर्पसमूह पक्षे भोगिसमूह । ३ सिन्धुनदीसम्बन्धि । ४ जलाधारः जडबुद्धिश्च । ५ द्रायति तृपति । ६ तृप्ती । —६ माविशन्ति ल०, द० ।

आपो धनं धृतरसाः सरितोऽस्य दाराः पुत्रीयिता जलचराः सिकताश्च रत्नम् ।
 इत्थं विभूतिं लघुदुर्लभितो विचित्रं धत्ते महोदधिरिति प्रथिमानमेवः ॥१७४॥
 निःश्वासधूममलिनाः फणमण्डलान्तःसुध्यंस्तरत्नरुचयः परितो भ्रमन्तः ।
 व्यायच्छमानतनवो रुषितैरकस्माद् धत्रोलमुकश्चिद्यमसो दधते फणीन्द्राः ॥१७५॥
 पादैरयं जलनिधिः शिशिरैरपीन्दोः आस्पृश्यमानसलिलः सहसा लमुञ्चम् ।
 रोषादिवोच्चलति^{१०} मुक्तगभीरभाषो वेलाच्छलेन^{११} न महान् सहतेऽभिभूतिम्^{१२} ॥१७६॥
 नाकौकसां धृतरसं^{१३} सहकामिनीभिः आक्रीडनानि^{१४} सुभनोहरकाननानि ।
 द्वीपस्थलानि रुचिराणि सहस्रशोऽस्मिन् सन्त्यन्तरीपमिव^{१५} दुर्गनिवेशनानि^{१६} ॥१७७॥

अनेक लहरें ये सब चारों ओरसे एक दूसरेको धक्का देते हुए एक ही साथ इस समुद्रमें निवास कर रहे हैं ॥१७३॥ हे प्रभो, इस समुद्रके जल ही धन हैं, रस अर्थात् जल अथवा शङ्खार या स्नेहको धारण करनेवाली नदियां ही इसकी स्त्रियां हैं, मगरमच्छ आदि जलचर जीव ही इसके पुत्र हैं और बालू ही इसके रत्न हैं इस प्रकार यह थोड़ी सी विभूतिको धारण करता है तथापि महोदधि इस भारी प्रसिद्धिको धारण करता है यह आश्चर्यकी बात है । भावार्थ—इस श्लोकमें कविने समुद्रकी दरिद्र अवस्थाका चित्रण कर उसके महोदधि नामपर आश्चर्य प्रकट किया है । दरिद्र अवस्थाका चित्रण इस प्रकार है । हे प्रभो, इस समुद्रके पास आजीविकाके योग्य कुछ भी धन नहीं है । केवल जल ही इसका धन है अर्थात् दूसरोको पानी पिला पिलाकर ही अपना निर्वाह करता है, इसकी नदीरूप स्त्रियोंका भी बुरा हाल है वे बेचारी रस-जल धारण करके अर्थात् दूसरेका पानी भर भरकर ही अपनी आजीविका चलाती हैं । पुत्र हैं परन्तु वे सब जलचर अर्थात् (जडचर) मूर्ख मनुष्योंके नौकर हैं अथवा मूर्ख होनेसे नौकर हैं अथवा पानीमें रहकर सेवाल बीनना आदि तुच्छ कार्य करते हैं, इसके सिवाय कुल परम्परा से आई हुई सोना-चाँदी रत्न आदिकी संपत्ति भी इसके पास कुछ नहीं है—बालू ही इसके रत्न हैं, यद्यपि इसमें अनेक रत्न पैदा होते हैं परन्तु वे इसके निजके नहीं हैं उन्हें दूसरे लोग ले जाते हैं इसलिये दूसरेकी ही समझना चाहिये इस प्रकार यह बिलकुल ही दरिद्र है फिर भी महोदधि (महा + उ + दधि*) अर्थात् लक्ष्मीका बड़ा भारी निवासस्थान इस नामको धारण करता है यह आश्चर्य की बात है । आश्चर्यका परिहार ऊपर लिखा जा चुका है ॥१७४॥ जो निःश्वासके साथ निकलते हुए धूमसे मलिन हो रहे हैं, जिनके फणाओंके मध्यभागमें रत्नोंकी कान्ति स्पष्ट रूपसे प्रकट हो रही है, जो चारों ओर गोलाकार धूम रहे हैं, जिनके शरीर बहुत लम्बे हैं, और जो अकस्मात् ही क्रोध करने लगते हैं ऐसे ये सर्प इस समुद्रमें अलातचक्रकी शोभा धारण कर रहे हैं ॥१७५॥ इस समुद्रका जल चन्द्रमाके शीतल पादों अर्थात् पैरों से (किरणोंसे) स्पर्श किया जा रहा है, इसलिये ही मानो यह क्रोधसे गम्भीर शब्द करता हुआ ज्वारकी लहरोंके छलसे बदला चुकानेके लिए अकस्मात् आकाशकी ओर उछल कर दौड़ रहा है सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुष तिरस्कार नहीं सह सकते ॥१७६॥ इस समुद्रके जलके

१ पुत्रा इव आचरिताः । २ विभूतेरैश्वर्यस्य लघो लेशस्तेन दुर्लभितो दुर्गवः । लवशब्दोऽत्र विचित्रकारणम् । ३ प्रसिद्धताम् । ४ फणमण्डलमध्ये । ५ सुप्रकट । ६ दीर्घमवच्छरीराः । ७ रोषः । ८ अलातशोभाम् । ९ किरणैः चरणैरिति ध्वनिः । १० —दिवोच्छ्वलति ल० । ११ जलविकारव्याजेन । 'अब्ध्यम्बुविकृता वेला' इत्यभिधानात् । १२ पराभवम् । १३ क्रियाविशेषणम् । मतिरसं द० । प्रतरसां ल० । १४ आसमन्तात् क्रीडनानि येषु तानि । १५ समनोहर इत्यपि क्वचित् पाठः । १६ अन्तर्द्वीपमिव । 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्धारिणस्तटम् ।' इत्यभिधानात् । १७ महाद्वीपमध्यवर्तीनि गिरिदुर्गादिनिवेशनानि च सन्तीत्यर्थः । * 'दधि क्षीरोत्तरावस्थाभावे श्रीवाससर्जयोः' इति मेदिनी

मालिनीवृत्तम्

अयमनि^१भूतवेलो रुद्ररोधोऽन्तरालं^२ अनिलबलविलोलेभूरिकल्लोलजालैः ।
तटवनमभिहन्ति व्यक्तमस्मे^३ प्रहृष्यन् सम किञ्च बहिरस्माद्भास्ति वृत्तिर्मुधेति^४ ॥१७८॥
अविगणितमहत्त्वा ययमस्मान् स्वपादः अभिहृय^५ किमलङ्घ्यं वो वया तौङ्गयमेतत् ।
वयमिव किमलङ्घ्याः किं गभीरा इतीत्थं परिवदति विराजेन्नुन^६मग्निः कुलाव्रीन् ॥१७९॥

प्रहर्षिणीवृत्तम्

अत्रायं भुजगशिर्षाविलाभिः शङ्की व्यात्तास्य^७ तिमिमभिधावति प्रहृष्टः ।
तं सोऽपि स्वगलविलावलग्नं^८लग्नं स्वान्त्रास्था^९ विहितवयो न जेगिलीति^{१०} ॥१८०॥

दोधकवृत्तम्

एषमहा^{११}मणिरस्मिद्विकीर्णं तोयममृष्य^{१२} धृतामिव^{१३}शङ्कः ।
मीनगणोऽनुसरन् सहसास्माद् बह्निभिया पुनरप्यपयाति ॥१८१॥
लोलतरङ्गविलोलितदृष्टिः वृद्धतरोऽसुमतिः^{१४} सुमत्^{१५} नः ।
हो रथमेष तिमिद्विगलशङ्की पश्यति पश्य तिमिः^{१६} स्तिमिताक्षः^{१७} ॥१८२॥

भुजङ्गप्रयातवृत्तम्

इहामी भुजङ्गाः सरस्वतः फणाग्रैः समुत्क्षिप्य भोगान्^{१८} खमृद्वीक्षमाणाः ।
विभाव्यन्त एते तरङ्गगोहहस्तैः कृता दीपिकीघा महावार्धनेव ॥१८३॥

भीतर अपनी देवांगनाओंके साथ बड़े वेगसे आते हुए देवोंके हजारों क्रीड़ा करनेके स्थान हैं, हजारों मनोहर वन हैं और हजारों सुन्दर द्वीप हैं तथा वे सब ऐसे जान पड़ते हैं मानो इसके भीतर बने हुए किले ही हों ॥१७७॥ ज्वार-भाटाओंसे चंचल हुआ यह समुद्र इस वनके बाहर मेरा जाना नहीं हो सकता है इसलिये इसपर प्रकट क्रोध करता हुआ अपने किनारेके वनको वायुके वेगसे अतिशय चंचल और पृथिवी तथा आकाशके मध्य भागको रोकनेवाली अनेक लहरोंके समूहसे व्यर्थ ही ताड़न कर रहा है ॥१७८॥ हे प्रभो, यह गरजता हुआ समुद्र ऐसा जान पड़ता है मानो अपने ऊंचे शब्दोंसे कुल पर्वतोंको यही कह रहा है कि हे कुलपर्वतो, तुम्हारी ऊंचाई बहुत है इसीलिए क्या तुम अपने पैरों अर्थात् अन्तके भागोंसे हम लोगोंकी ताड़ना कर रहे हो ? तुम्हारी यह व्यर्थकी ऊंचाई क्या उल्लंघन करनेके अयोग्य है ? क्या तुम हमारे समान अलंध्य अथवा गंभीर हो ? ॥१७९॥ इधर यह सांपका बच्चा अपना बिल समझ कर प्रसन्न होता हुआ, मुख फाड़े हुए मच्छके मुखमें दौड़ा जा रहा है और वह भी अपने गले रूप बिलमें लगे हुए इस सांपके बच्चेको अपने अन्तरंगमें संचित हुई निर्दयताके कारण निगल रहा है ॥१८०॥ इधर यह मछलियोंका समूह पद्मराग मणिकी किरणोंसे व्याप्त हुए इस समुद्रके जलको मांस समझकर उसे लेनेके लिये दौड़ता है और फिर अकरमात् ही अग्नि समझकर वहांसे लौट आता है ॥१८१॥ हे देव, इधर देखिये, चंचल लहरोंसे जिसकी दृष्टि चंचल हो रही है और जो बहुत ही बूढ़ा है ऐसा यह मच्छ इस रथको मछलियोंको खानेवाला बड़ा मच्छ समझकर निश्चल दृष्टिसे देख रहा है, हमारा ख्याल है कि यह बड़ा मूर्ख है ॥१८२॥ इधर

१ अस्थिर । अचलमित्यर्थः । २ आकाशमण्डलैः । 'भूम्याकाशरहःप्रयोगानयेषु रोधस्' । ३ तटवलाय । ४ वृथा । ५ अभिताडयथ । ६ पक्षिध्वनिभिः । ७ इव । ८ विवृताननम् । ९ मध्य । मध्यमं चावलग्नं च तुद्योऽस्त्री इत्यमरः । १० निजपुरीतद्विद्याकृतकृतयः (?) । ११ भृश गिलति । १२ पद्मराग । १३ समुद्रस्य । १४ पल्ल । १५ अशोभनबुद्धिः । १६ साधुज्ञातम् । १७ मत्स्यः । १८ स्तिमिता वावर्धनिश्चलामित्यभिधानात् । १९ शरीराणि । 'भोगः सुखे स्त्रियादिभूतावहेश्च फणाग्रयोः' ।

भुजङ्गप्रयातरिदं वारिराशेः जलं लक्ष्यतेऽन्तःस्फुरन्नकोटि ।
महानीलवेशमेव दीपैरनेकैः ज्वलद्भिश्चलद्भिस्ततश्चान्तनुद्भिः^१ ॥१८४॥

मत्तमयूरवृत्तम्

वाताघातात् पुष्कर^२बाद्यध्वनिमुच्चैः तन्वानेऽब्धौ मन्त्रगभीरं कृतलास्याः ।
द्वीपोपान्ते सन्ततमस्मिन् सुरकन्याः रंरम्यन्ते मत्तमयूरैः सममेताः^३ ॥१८५॥
नीलं श्यामाः कृतरवमुच्चैर्धृतनादा^४ विद्युद्वन्तः^५ स्फुरितभुजङ्गोत्फणरत्नम् ।
आश्लिष्यन्तो जलदसमूहा जलमस्य व्यक्तं^६ नोपद्रजि^७तुमलं ते^८ घनकाले ॥१८६॥
पश्याम्भोधेरनुतटमेनां वनराजो राजीवास्य^९ प्रशमिततापां विततापाम्^{१०} ।
बेलोत्सर्पज्जलकणिकाभिः^{११} परिधौताम् नीलां शाटीमिव^{१२} सुमनोभिः प्रविकीर्णाम् ॥१८७॥

तोटकवृत्तम्

परितः^{१३} सरसीः सरसैः कमलैः सुहिताः^{१४} सुचिरं विचरन्ति मृगाः ।
^{१५}उपतीरममुष्य निसर्गसुखां वसतिं ^{१६}निरुपद्रुतिमेत्य वने ॥१८८॥
अनुतीरवन्^{१७} मृगयूथमिदं कनकस्थलमुज्ज्वलितं रुचिभिः ।
परिवीक्ष्य दवानलशङ्कितं भूशं परिधावति^{१८} धावति तीरभुवः ॥१८९॥

रत्नसहित फणाके अग्रभागसे अपने मस्तकको ऊंचा उठाकर आकाशकी ओर देखते हुए ये सर्प
ऐसे जान पड़ते हैं मानो इस महासमुद्रने अपने तरंगोंरूपी बड़े बड़े हाथोंसे दीपकोंके समूह ही
धारण कर रखे हों ॥१८३॥ जिसके भीतर करोड़ों रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा यह महा-
समुद्रका जल सर्पोंके इधर-उधर जानेसे ऐसा दिखाई देता है मानो फैले हुए अन्धकारको नष्ट
करते हुए, जलते हुए और चलते हुए अनेक दीपकोंसे सहित महानील मणियोंका बना हुआ घर
ही हो ॥१८४॥ जिस समय यह समुद्र वायुके आघातसे पुष्कर (एक प्रकारका बाजा) के समान
गंभीर और ऊंचे शुद्ध करता है उस समय इस द्वीपके किनारेपर इन उन्मत्त मयूरोंके साथ
साथ नृत्य करती हुई ये देवकन्याएं निरन्तर क्रीड़ा किया करती हैं ॥१८५॥ वर्षाऋतुमें
बादलोंके समूह और इस समुद्रका जल दोनों एक समान रहते हैं क्योंकि वर्षाऋतुमें बादलोंके
समूह काले रहते हैं और समुद्रका जल भी काला रहता है, बादलोंके समूह जोरसे गरजते हुए
आनन्दित होते हैं और समुद्रका जल भी जोरसे शब्द करता हुआ आनन्दित होता है—लहराता
रहता है, बादलोंके समूहमें बिजली चमकती है और समुद्रके जलमें भी सर्पोंके ऊंचे उठे हुए फणाओं
पर रत्न चमकते रहते हैं, इस प्रकार बादलोंके समूह अपने समान इस समुद्रके जलका आलिंगन
करते हुए वर्षाऋतुमें किसी दूसरी जगह नहीं जा सकते यह स्पष्ट है ॥१८६॥ कमलके समान
सुन्दर मुखको धारण करनेवाले हे देव, समुद्रके किनारे किनारेकी इन वनपंकितियोंको देखिये
जिनमें कि सूर्यका संताप बिलकुल ही शान्त हो गया है, जहां तहां विस्तृत जल भरा हुआ है,
जो फूलोंसे व्याप्त हो रही हैं और जो बड़ी बड़ी लहरोंके उछलते हुए जलकी बूंदोंसे धोई हुई
नीले रंगकी साड़ियोंके समान जान पड़ती हैं ॥१८७॥ इस समुद्रके किनारेके वनमें उपद्रव
रहित तथा स्वभावसे ही सुख देनेवाले स्थानपर आकर सरस कलमी धानोंको खाते हुए ये हरिण
बहुत काल तक इन तालाबोंके चारों ओर घूमा करते हैं ॥१८८॥ इस किनारेके वनमें कान्ति

१ व्याप्तान्धकारनाशकैः । २ जलमिति वाद्य अथवा चर्मानिद्धवाद्यभेदः । ३ सममेतैः ल०, द० ।
४ धृतमोदा ल० । ५ तडिद्वन्तः । ६ व्यक्तं ल० । ७ गन्तुम् । ८ मेषसमूहाः । ९ कमलास्य ।
१० विस्तृतजलाम् । ११ जललवैः । 'कणिका कथ्यतेऽश्रयन्ता सूक्ष्मवस्त्वग्निमन्थयोः' ॥ १२ वस्त्रम् ।
१३ सरसीनां समन्ततः । १४ पोषिताः । १५ तटे । १६ निरुपद्रवाम् । १७ तटवने । १८ परिमण्डले (बेलायाम्)

प्रहर्षिणी

लावण्यादयमभिसारयन्^१ सरित्त्रयीः आलस्तप्रतनु^२ जलांशुकास्तरङ्गैः ।
आश्लिष्यन्मुहुरपि नोपयाति तृप्तिं सम्भोगैरतिरसिको न तृप्यतीह ॥१६०॥

वसन्ततिलका

रो^३धोभुवोऽस्य तनुशीकरवारिरसिकताः सम्माजिता विरलमुच्चलितैस्तरङ्गैः ।
भान्तीह सन्ततलताविगलत्प्रसून-नित्योपहारसुभगा द्युसदा^४ निषेव्याः ॥१६१॥

मन्दाक्रान्ता

स्वर्गोद्यानश्रियमिव^५ हसत्युत्प्रसूने वनेऽस्मिन् मन्दाराणां सरति^६ पवने मन्दमन्दं वनान्तात् ।
मन्दाक्रान्ताः^७ सललितपदं किञ्चिद्वारब्धगानाः चङ्कम्यन्ते खगयुवतयस्तीरदेशेष्वमुष्य ॥१६२॥

प्रहर्षिणी

अप्सव्य^८ स्तिमिरयमाजिघां^९ सुराराद् अभ्येति द्रुतमभिभावु^{१०} कोप्सुयोनिम्^{११} ।
शैलोच्चानपि निगिरांस्तिभीनितोऽन्यो व्यत्यास्ते^{१२} समममुना युयुत्सुभानः ॥१६३॥

पृथ्वी

जलादजगरस्तिमिं शयुमपि^{१३} स्थलादप्सुजो^{१४} विकर्षति^{१५} युयुत्सया^{१६} कृतदृढग्रहो^{१७} दुर्ग्रहः^{१८} ।
तथापि न जयो मिथोऽस्ति समकक्षयोरेनयोः ध्रुवं न समकक्ष्यो^{१९} योरिह जयेतरप्रक्रमः^{२०} ॥१६४॥

से प्रकाशमान सुवर्णमय स्थातोंको देखकर जिसे दावानलकी शंका हो रही है ऐसा यह हरिणों का समूह बहुत शीघ्र किनारेकी पृथिवीकी ओर लौटता हुआ दौड़ा जा रहा है ॥१८९॥ यह समुद्र, जिनके जल रूपी सूक्ष्म वस्त्र कुछ कुछ नीचेकी ओर खिसक गये हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियों को लावण्य अर्थात् सुन्दरताके कारण (पक्षमें खारापनके कारण) अपनी ओर बुलाता हुआ तथा तरंगोंके द्वारा बार-बार उनका आलिंगन करता हुआ भी कभी तृप्तिको प्राप्त नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि जो अत्यन्त रसिक अर्थात् कामी (पक्षमें जल सहित) होता है वह इस संसार में अनेक बार संभोग करनेपर भी तृप्त नहीं होता है ॥१९०॥ जो छोटी छोटी बूंदोंके पानी के सींचनेसे स्वच्छ हो गई हैं, निरन्तर लताओंसे गिरते हुए फूलोंके उपहारसे जो सदा सुन्दर जान पड़ती हैं, और जो देवोंके द्वारा सेवन करने योग्य हैं ऐसी ये यहांकी किनारेकी भूमियां विरल विरल रूपसे उछलती हुई लहरोंसे अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं ॥१९१॥ स्वर्गके उपवनकी शोभाकी ओर हंसनेवाले तथा फूलोंसे भरे हुए इस वनमें मन्दार वृक्षोंके वनके मध्य भागसे यह वायु धीरे धीरे चल रहा है और इसी समय जिन्होंने कुछ कुछ गाना प्रारम्भ किया है ऐसी ये धीरे धीरे चलनेवाली विद्याधरियां इस समुद्रके किनारेके प्रदेशोंपर लीलापूर्वक पैर रखती उठाती हुई टहल रही हैं ॥१९२॥ इधर, इस जलमें उत्पन्न हुए अन्य अनेक मच्छोंको तिरस्कार कर उनके मारनेकी इच्छा करता हुआ यह इसी जलमें उत्पन्न हुआ बड़ा मच्छ बहुत शीघ्र दूरसे उनके सन्मुख आ रहा है और पर्वतके समान बड़े बड़े मच्छोंको निगलता हुआ यह दूसरा बड़ा मच्छ उस पहले बड़े मच्छके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करता हुआ खड़ा है ॥१९३॥ इधर, यह अजगर जलमेंसे किसी बड़े मच्छको अपनी ओर खींच रहा है और मजबूतीसे पकड़ने-

१ अभिसारिकायाः कुर्बन् । २ श्लक्ष्ण । ३ तटभूमयः । ४ देवानाम् । ५ हसतीति हसत् तस्मिन् ।
६ सरतीति सरत् तस्मिन् । ७ मन्दगमताः । ८ अप्सु भवः । ९ आहन्तुमिच्छः । १० अभिभवशीलः ।
११ शङ्खं जलचरं वा । १२ वेपरीत्येत स्थितः । १३ अजगरम् । १४ मत्स्यः । १५ आकर्षति ।
१६ योद्धुमिच्छया । १७ परस्परविहितदृढग्रहणम् । १८ ग्रहः स्वीकारः । १९ गृहीतुमशक्यः । १६ समबलयोः ।
२० अपजयः ।

वनं^१ वनगजैरिव जलनिधेः समास्फालितं वनं वनगजैरिव स्फुटविमुक्तसाराणिम् ।
 मृदङ्गपरिवादनश्रियम्पादधट्टिकतटे तनोति तटमुच्चलत्सपदि वत्ससम्मार्जनम् ॥१६५॥
 तरस्तिमिकलेवरं स्फुटितशुक्तिशल्का^२चितं स्फुरत्पद्मनिःस्वनं विवृतरन्ध्रपातालकम् ।
 भयानकमितो जलं जलनिधेर्न^३सत्पन्नगप्रमुषतनु^४कृत्तिसंशयितवीचिमालाकुलम् ॥१६६॥
 इतो ध्रुवनोऽनिलः शिशिरशीकरानाकिरन् उपैति शनकैस्तटङ्गमसुगन्धियुष्णाहरः^५ ।
 इतश्च परुषोऽनिलः स्फुरति ध्रुतकल्लोलसात् कृतस्वनभयानकस्तिमिकलेवरानाधुनन् ॥१६७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अस्योपात्तभुवश्चकासति तरां बेलोच्चलन्मौक्तिकैः आकीर्णैः कसुमोपहारजनितां लक्ष्मीं बधाना भृशम् ।
 सेवन्ते सह सुन्दरीभिरमरा याः स्वर्गलोकान्तरम् मन्वाना^६ धृतसम्मदास्तटवनच्छायातरुसंश्रिताः ॥१६८॥
 एते ते भकरादयो जलचरा मत्वेव कुक्षिम्भरिन्^७ वारां राशिभनन्तरायमधिकं पुत्रा इवात्प्योरसाः^८ ।
 भागस्य^९ प्रतिलिप्सया नु^{१०}जनकस्थाक्रोशतोप्यग्रतो युध्यन्ते मलिताः परस्परमहो बद्धक्रुधो धिग्धनम् ॥१६९॥
 लोकानन्दिभिरप्रमा^{११}परिगतं रुच्चावचैर्भोगिना^{१२}म् आरुढैरधिमस्तकं^{१३} शुचितमैः सन्तापविच्छेदिभिः ।
 पातालैर्विवृताननैर्महुरपि प्राप्तव्ययेरक्षयैः आसंसारममुष्य नास्ति विगमो^{१४} रत्नैर्जलौघैरपि ॥२००॥

वाला यह दुष्ट मच्छ भी लड़नेकी इच्छासे उसे जमीनपरसे अपनी ओर खींच रहा है तथापि एक समान बल रखनेवाले इन दोनोंमें परस्पर किसीकी जीत नहीं हो रही है सो जीत ही है क्योंकि इस संसारमें जो समान शक्तिवाले हैं उनमें परस्पर जय और पराजयका निर्णय नहीं होता है ॥१९४॥ जंगली हाथियोंके द्वारा अतिशय ताड़न किया हुआ यह समुद्रका जल, जिसमें जंगली हाथी स्पष्ट रूपसे गर्जना कर रहे हैं ऐसे किसी वनके समान तथा मृदंग बजनेकी शोभाको धारण करता हुआ और दिशाओंमें उछलता हुआ किनारेको बहुत शीघ्र शुद्ध कर रहा है ॥१९५॥ जिसमें अनेक मछलियोंके शरीर तैर रहे हैं, जो खुली हुई सीपोंके टुकड़ोंसे व्याप्त है, जिसमें कठोर शब्द हो रहे हैं, जिसने अपने रन्ध्रोंमें पातालको भी धारण कर रखा है, और जो तैरते हुए सांपोंसे छूटी हुई कांचलियोंसे लोगोंको ऐसा संदेह उत्पन्न करता है मानो लहरोंके समूहसे ही व्याप्त हो ऐसा यह समुद्रका जल इधर बहुत भयानक हो रहा है ॥१९६॥ इधर, वनको हिलाता हुआ, शीतल जलकी बूंदोंको बरसाता हुआ और वृक्षोंके सुगन्धित फूलों की सुगन्धिका हरण करता हुआ वायु धीरे धीरे किनारेकी ओर बह रहा है और इधर बड़े बड़े मच्छोंके शरीरको कंपाता हुआ तथा हिलती हुई लहरोंके शब्दोंसे भयंकर यह प्रचण्ड वायु बह रहा है ॥१९७॥ जो बड़ी बड़ी लहरोंसे उछलते हुए मोतियोंसे व्याप्त होकर फूलोंके उपहारसे उत्पन्न हुई अतिशय शोभाको धारण करती हैं, किनारेके वनके छायादार वृक्षोंके नीचे बैठे हुए देव लोग हर्षित होकर अपनी अपनी देवांगनाओंके साथ जिनकी सेवा करते हैं और इसीलिये जो दूसरे स्वर्ग लोककी शोभा बढ़ाती हैं ऐसी ये इस समुद्रके किनारेकी भूमियां अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं ॥१९८॥ ये मगरमच्छ आदि जलचर जीव, जिसके पास अनन्त धन है ऐसे इस समुद्रको अपने उदरका पालन-पोषण करनेवाला पिता समझकर सगे पुत्रोंके समान उसका धन बांटकर अपने भाग (हिस्से)को अधिक रूपसे लेनेकी इच्छासे, गर्जनाके शब्दोंके बहाने चिल्लाते हुए पिताके सामने ही इकट्ठे होकर क्रोधित होते हुए परस्परमें लड़ रहे हैं, हाय ! ऐसे धनको धिक्कार हो ॥१९९॥ मुंह खोलकर पड़े हुए अनेक पातालों अर्थात् विवरों और

१ जलम् । २ शकल । ३ ललत्यन्नङ्गा—ल०, व०, इ०, अ०, प०, श०, ब० । चलत्सर्पम् ।

४ निर्मोक । ५ पुष्पाण्याहर्तुं शीलः । ६ तन्वाना प० । ७ स्वोदरपूरकम् । 'उभावात्मभरिः कुक्षिम्भरिः स्वोदरपूरकः' इत्यभिधानात् । ८ उरसि भवाः । ९ भागं लब्धुमिच्छया । १० इव । ११ प्रमाणरहितः । १२ नानाप्रकारैः । १३ मस्तकं । १४ वियोगः ।

स्रग्धरा

वज्रोद्वयाममुष्य क्वथदिव जठरं व्यक्तमुद्बुद्बुदाम्बुस्कूर्जत्पातालरन्ध्रोच्छ्वसदनिलबलाद्विष्वगावर्तमानम्^१ ।
प्रस्तीर्णानेकरत्नान्यपहरति जने नूनमुत्तमन्तः प्रायो रायो^२ वियोगो जनयति महतोऽप्युग्रमन्तविदाहम् । २०१।

प्रहर्षिणी

आयुष्मन्निति बहुविस्मयोऽयमब्धिः सद्रत्नः सकलजगज्जोपजीव्यः ।

गम्भीरप्रकृतिरनलसत्त्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते^३ विना जडिम्ना^४ ॥२०२॥

वसन्ततिलका

इत्थं नियन्तरि^५ परां श्रियमम्बुराशेः आवर्णयत्यनुगतं बन्धनं विचित्रं ।

प्राप प्रमोदमधिकं नचिराच्च^६ सम्राट् सेतानिबेशमभियातुमना बभूव ॥२०३॥

बड़वानलोंके द्वारा बार बार ह्वास होनेपर भी जिनका कभी क्षय नहीं हो पाता है, जो लोगोंको आनन्द देनेवाले हैं, प्रमाण-रहित हैं, अनेक प्रकारके हैं, सर्पोंके फणाओंपर आरुढ़ हैं, अत्यन्त पवित्र हैं, और संतापको नष्ट करनेवाले हैं ऐसे रत्नों तथा जलके समूहोंकी अपेक्षा इस समुद्रका जब तक संसार है तब तक कभी भी नाश नहीं होता । भावार्थ—यद्यपि इस समुद्रके अनेक रत्न इसके विचरो-बिलोंमें घुसकर नष्ट हो जाते हैं और जलके समूह बड़वानलमें जलकर कम हो जाते हैं तथापि इसके रत्न और जलके समूह कभी भी विनाशको प्राप्त नहीं हो पाते क्योंकि जितने नष्ट होते हैं उससे कहीं अधिक उत्पन्न हो जाते हैं ॥२००॥ बहुत बड़े पाताल रूपी छिद्रोंके द्वारा ऊपरकी ओर बढ़ते हुए वायुके जोरसे जो चारों ओर घूम रहा है और जिसमें जलके अनेक बबूले उठ रहे हैं ऐसा यह समुद्रका उदर अर्थात् मध्यभाग बज्रकी कड़ाहीमें खोलता हुआ सा जान पड़ता है अथवा लोग इसके जहां तहां फैले हुए अनेक रत्न ले जाते हैं इसलिये मानो यह भीतर ही भीतर संतप्त हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि धनका वियोग प्रायः करके बड़े बड़े पुरुषोंके हृदयमें भी भयंकर दाह उत्पन्न कर देता है ॥२०१॥ हे आयुष्मन्, जिस प्रकार आप अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपके पास अच्छे अच्छे रत्न हैं उसी प्रकार इस समुद्रके पास भी अच्छे अच्छे रत्न हैं, जिस प्रकार संसारके समस्त प्राणी आपके उपजीव्य हैं अर्थात् आपकी सहायतासे ही जीवित रहते हैं उसी प्रकार इस समुद्रके भी उपजीव्य हैं अर्थात् समुद्रमें उत्पन्न हुए रत्न मोती तथा जल आदिसे अपनी आजीविका करते हैं, जिस प्रकार आप गंभीर प्रकृतिवाले हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी गंभीर (गहरी) प्रकृतिवाला है और जिस प्रकार आप अनल्पसत्त्व योग अर्थात् अनन्त शक्तिको धारण करनेवाले हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनल्पसत्त्व योग अर्थात् बड़े बड़े जलचर जीवोंसे सहित है अथवा जिस प्रकार आप अनालसत्त्व योग अर्थात् आलस्यके सम्बन्धसे रहित हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनालसत्त्व योग अर्थात् नाल (नरा) रहित जीवोंके सम्बन्धसे सहित है इस प्रकार यह समुद्र ठीक आपका अनुकरण कर रहा है । यदि अन्तर है तो केवल इतना ही है कि यह जलकी ऋद्धिसे सहित है और आप जल अर्थात् मूर्ख (जड़) मनुष्योंकी ऋद्धिसे रहित हैं ॥२०२॥ इस प्रकार जब सारथिने समुद्रकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब सम्राट् भरत बहुत ही अधिक आनन्दको प्राप्त हुए तथा शीघ्र ही अपनी छावनीमें जानेके लिये उद्यत हुए ॥२०३॥

१ -वर्त्यमानम् द०, प०, ल० । २ धनानाम् । ३ अनुकरोति । ४ जडत्वेन । ५ सारथी । ६ आशु ।

मालिनी

अथ रथपरिवृत्य^१ सारथी कुच्छकुच्छात् विषमवलत्^२भुग्नग्रीवमश्वाभ्यनुत्सी^३ ।
 ध्रुवति महति मन्दं वीचिवेगोपशान्ते शिबिरमभिनिधीनामीशिता सम्प्रतस्थे ॥२०४॥
 कथमपि रथचक्रं^४ सारयित्वाम्बुरुद्धम्^५ प्रवहणकृतकोपान् वाजिनोऽनुप्रसाध्य^६ ।
 रथमधि जलमन्धौ चोदयामास सूतो जलधिरपि नृपानु^७व्रज्ययेवोच्चचाल ॥२०५॥
 अयमयमुदभारो^८ वारिराशेर्वरुथं^९ स्थगयति रथवेगादेश भिन्नोभिरब्धिः ।
 इति किल तटसद्भिस्तर्क्यमाणो रथोऽयं जवनतुरगकुण्डः^{१०} प्राप पारेसमुद्रम्^{११} ॥२०६॥

शिखरिणी

^{१२}तरङ्गात्यस्तोऽयं ^{१३}समघटितसर्वाङ्गघटनो रथः क्षेमात् प्राप्तो रथचरण^{१४}हेतिश्च कुशली ।
 तुरङ्गा धौताङ्गा जलधिसलिलेनैरक्षतखुरा महत्पुण्यं जिष्णोरिति किल जलपुस्तटजुषः^{१५} ॥२०७॥
 नृपेर्गङ्गाद्वारे प्रणतमणिमौल्यपितकरैः अधस्तात्तद्वेद्याः सजयजयधोषैरधिकृतेः^{१६} ।
 बहिर्द्वारैः^{१७} सैन्यैर्युगपदसकृद्घोषितजयैः विभुर्दृष्टः प्रापत् स्वशिबिरबहिस्तोरणभुवम् ॥२०८॥

अथानन्तर-जय सारथिने बड़ी कठिनाईसे रथ लौटानेके लिये विषम रूपसे घूमने-
 के कारण गलेको कुछ टेढ़ा कर घोड़ोंको हांका, मन्द मन्द वायु बहने लगा और लहरोंका वेग
 शान्त हो गया तब निधियोंके स्वामी भरतने छावनीकी ओर प्रस्थान किया ॥२०४॥ पानीसे
 रुके हुए रथके पहियोंको किसी तरह बाहर निकालकर और बार बार हांकने अथवा बोझ धारण
 करनेके कारण कुपित हुए घोड़ोंको प्रसन्न कर सारथि समुद्रमें जलके भीतर ही रथ चला रहा
 था, और वह समुद्र भी उस रथके पीछे पीछे जानेके लिये ही मानो उछल रहा था ॥२०५॥
 अरे, यह समुद्रकी बड़ी भारी लहर रथकी छतरीको अवश्य ही टक लेगी और इधर रथके वेग
 से समुद्रकी लहरें भी फट गई हैं इस प्रकार किनारे पर खड़े हुए लोग जिनके विषयमें अनेक
 प्रकारके तर्क-वितर्क कर रहे हैं ऐसा वह वेगशाली घोड़ोंसे खींचा हुआ रथ समुद्रके किनारेपर
 आ पहुंचा ॥२०६॥ जिसके समस्त अंगोंकी रचना एक समान सुन्दर है ऐसा यह रथ लहरों
 को उल्लंघन करता हुआ कुशलतापूर्वक किनारे तक आ गया है, चक्रवर्तीका धारण करनेवाले
 चक्रवर्ती भरत भी सकुशल आ गये हैं और समुद्रके जलसे जिनके समस्त अंग धुल गये हैं तथा
 जिनके खुर भी नहीं घिसे हैं ऐसे घोड़े भी राजी-खुशी आ पहुंचे हैं । अहा ! विजयी चक्रवर्तीका
 बड़ा भारी पुण्य है, इस प्रकार किनारे पर खड़े हुए लोग परस्परमें वार्तालाप कर रहे थे ॥
 ॥२०७॥ जो वेदीके नीचे गङ्गाद्वारपर नियुक्त किये गये हैं, जिन्होंने तवाये हुए मणिमय मुकुटों
 पर अपने अपने हाथ जोड़कर रखे हैं और जो जय जय शब्दका उच्चारण कर रहे हैं ऐसे राजा
 लोग, तथा दरवाजेके बाहर एक साथ बार बार जयधोष करनेवाले सैनिक लोग जिसे देख

१ परिवर्तनाय । २ विषमाकर्षणकुटिलग्रीवं यथा भवति तथा । ३ प्रेरितमिच्छी सति ।
 ४ गमयित्वा । ५ प्रेरण । ६ प्रसादं नीत्वा । ७ अनुगमनेन । ८ जलसमूहः । ९ तीरस्थैः ।
 १० वेगाश्वाकुण्डः । ११ समुद्रस्य पारम् । १२ तरङ्गान् त्यस्तः तरङ्गात्यस्तः इति द्वितीयातत्पुरुषः ।
 वररुचिना तथैवोक्तत्वात् । १३ समानं यथा भवति तथा घटित । १४ चक्रायुधः । १५ तटमेधिनः ।
 तीरस्था इत्यर्थः । १६ अधिकारिभिः । १७ द्वारस्य बाह्ये ।

शादूलविक्रीडितम्

तत्रोद्घोषितमङ्गलैर्जयजयेत्यानन्दितो बन्दिभिः गत्वातः शिबिरं नृपालयमहाद्वारं समासादयन् ।

‘अन्तर्वेशिकलोकचारवनितादत्ताक्षताशासनः’ प्राविक्षन्निकेतनं निधिपतिर्यातोल्लसत्केतनम् ॥२०६॥

वसन्ततिलका

देवोऽयमक्षततनुर्विजिताब्धिरागात् ते यूयमानयत साक्षतसिद्धशेषाः ।

आशीर्ध्वमाध्वमिह^१ सम्मुखमेत्य तूर्णम् इत्युत्थितः कलकलः कटके तदाभूत् ॥२१०॥

जीवेति नन्दतु भवानिति वर्धिवीष्टाः देवेति निर्जयरिपूनीति गां^२ जयेति ।

त्वं ‘स्ताञ्चिरायुरिति कामितमाप्नुहीति’ पुण्याशिषां शतमलम्भि तदा स वृद्धः ॥२११॥

जीयादरीनिह भवानिति निर्जितारिः देव प्रशाधि^३ वसुधामिति सिद्धरत्नः ।

त्वं जीवताञ्चिरमिति प्रथमं चिरायुः आयोजि मङ्गलविधा पुनरुक्तवाक्यैः ॥२१२॥

देवोऽयमम्बुधिमगाधमलङ्घयपारम् उत्सङ्गध्व लब्धविजयः पुनरप्युपायात्^४ ।

पुण्यं कसारथिरिहेति विनान्तरायैः पुण्ये प्रसेदुषि^५ नृणां किमिवास्त्यलङ्घयम् ॥२१३॥

रहे हैं ऐसे वह भरत अपनी छावनीके बाहरवाली तोरणभूमिपर आ पहुँचा ॥२०८॥ वहाँ पर जय जय इस प्रकार मंगलशब्द करते हुए बन्दीजन जिन्हें आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज भरत छावनीके भीतर जाकर राजभवनके बड़े द्वारपर जा पहुँचे वहाँ परिवारके लोगों तथा वेश्याओंने उन्हें मंगलाक्षत तथा आशीर्वाद दिये । इस प्रकार निधियोंके स्वामी भरतने जिसपर वायुके द्वारा ध्वजाएं फहरा रही हैं ऐसे अपने तम्बूमें प्रवेश किया ॥२०९॥ जिन्होंने शरीर में कुछ चोट लगे बिना ही समुद्रको जीत लिया है ऐसे ये भरत महाराज आ गये हैं, इसलिये तुम मंगलाक्षत सहित सिद्ध तथा शेषाक्षत लाओ, तुम आशीर्वाद दो और तुम बहुत शीघ्र सामने आकर खड़े होओ इस प्रकार उस समय सेनामें बड़ा भारी कोलाहल उठ रहा था ॥२१०॥ हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहें, समृद्धिमान् हों, सदा बढ़ते रहें, आप शत्रुओंको जीतिये, पृथिवीको जीतिये, आप चिरायु रहिये और समस्त मनोरथोंको प्राप्त कीजिये—आपकी सब इच्छाएं पूर्ण हों इस प्रकार उस समय वृद्ध मनुष्योंने भरत महाराजके लिये सैकड़ों पवित्र आशीर्वाद प्राप्त कराये थे ॥२११॥ यद्यपि भरतेश्वर शत्रुओंको पहले ही जीत चुके थे तथापि उस समय उन्हें आशीर्वाद दिया गया था कि देव, आप शत्रुओंको जीतिये, यद्यपि उन्होंने चौदह रत्नोंको पहले ही प्राप्त कर लिया था तथापि उन्हें आशीर्वाद मिला था कि हे देव ! आप पृथिवीका शासन कीजिये, और इसी प्रकार वे पहले हीसे चिरायु थे तथापि आशीर्वाद में उनसे कहा गया था कि हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहें—चिरायु हों । इस प्रकार मंगल समझकर लोगोंने उन्हें पुनरुक्त (कार्य हो चुकनेपर उसी अर्थको सूचित करनेके लिये फिरसे कहे हुए,) वचनोंसे युक्त किया था ॥२१२॥ एक पुण्य ही जिनका सहायक है ऐसे महाराज भरत अगाध और पाररहित समुद्रको उलंघनकर तथा योग्य उपायसे विजय प्राप्त कर बिना किसी विघ्न-बाधाके यहां वापिस आ गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल पुण्यके रहते

१ कञ्चुकी । ‘अन्तर्वेशिका अन्तःपुराधिकारिणः ।’ ‘अन्तःपुरेष्वधिकृतः स्यादन्तर्वेशिको जनः’ इत्यभिधानात् । २ आशीर्वचनः । ३ आशीषं कुर्वन् । ४ भुवम् । ५ भव । ६ याहि । ७ शासु अनुशिष्टौ लोट् । ८ उपागमत् । ९ प्रसन्ने सति ।

पुण्यादयं भरतचक्रधरो जिगीषुः उद्भिन्नबेलमनिलाहतवीचिमालम् ।
 प्रोल्लङ्घय वाधिममरं सहसा विजिग्ये पुण्ये बलीयसि किमस्ति जगत्यजयम् ॥२१४॥
 पुण्योदयेन मकराकरवारिसीम^१पृथ्वीं स्वसावकृत^२चक्रधरः पृथुश्रीः ।
 दुर्लङ्घयमब्धिमवगाह्य विनोपसर्गः पुण्यात् परं न खलु साधनमिष्टसिद्ध्यै ॥२१५॥
 चक्राधोऽयमरिचक्रभयङ्करश्रीः आक्रम्य^३सिन्धुमतिभोषणनक्रचक्रम् ।
 चक्रे वशे सुरमवश्यमनन्यवश्यं पुण्यात् परं न हि वशीकरणं जगत्याम् ॥२१६॥
 पुण्यं जले स्थलमिवाभ्यवपद्यते^४ नृन् पुण्यं स्थले जलमिवाशु नियन्ति तापम् ।
 पुण्यं जलस्थलभये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्तम् ॥२१७॥
 पुण्यं परं शरणमापदि दुर्विलङ्घ्यं पुण्यं दरिद्रति^५ जने धनदायि पुण्यम् ।
 पुण्यं सुखायिनि जने सुखदायि रत्नं पुण्यं जिनोदितमतः सुजनाश्चिन्तुध्वम् ॥२१८॥
 पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत् ।
 पुण्यं व्रतानुचरणद्वयवासयोगात् पुण्याधिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥२१९॥

हुए मनुष्योंको क्या अलंघनीय (प्राप्त न होने योग्य) रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२१३॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भरत चक्रवर्तीने पुण्यके प्रभावसे, जिसमें ज्वार-भाटा उठ रहे हैं और जिसमें लहरोंके समूह वायुसे ताड़ित हो रहे हैं ऐसे समुद्रको उल्लंघन कर शीघ्र ही मागध देवको जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि अतिशय बलवान् पुण्यके रहते हुए संसारमें अजय्य अर्थात् जीतनेके अयोग्य क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२१४॥ बहुत भारी लक्ष्मीको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरतने पुण्यकर्मके उदयसे ही बिना किसी उपद्रवके उल्लंघन करनेके अयोग्य समुद्रको उल्लंघन कर समुद्रका जल ही जिसकी सीमा है ऐसी पृथिवीको अपने आधीन कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिके लिये पुण्यसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है ॥२१५॥ शत्रुओंके समूहके लिये जिनकी सम्पत्ति बहुत ही भयंकर है ऐसे चक्रवर्ती भरतने अत्यन्त भयंकर मगर-मच्छोंके समूहसे भरे हुए समुद्र को उल्लंघन कर अन्य किसीके वश न होने योग्य मागध देवको निश्चित रूपसे वश कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि लोकमें पुण्यसे बढ़कर और कोई वशीकरण (वश करनेवाला) नहीं है ॥२१६॥ पुण्य ही मनुष्योंको जलमें स्थलके समान हो जाता है, पुण्य ही स्थलमें जलके समान होकर शीघ्र ही समस्त संतापको नष्ट कर देता है और पुण्य ही जल तथा स्थल दोनों जगहके भयमें एक तीसरा पदार्थ होकर शरण होता है, इसलिये हे भव्य जनो, तुम लोग जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए पुण्यकर्म करो ॥२१७॥ पुण्य ही आपत्तिके समय किसीके द्वारा उल्लंघन न करनेके योग्य उत्कृष्ट शरण है, पुण्य ही दरिद्र मनुष्योंके लिये धन देनेवाला है और पुण्य ही सुखकी इच्छा करनेवाले लोगोंके लिये सुख देनेवाला है, इसलिये हे सज्जन पुरुषों ! तुम लोग जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए इस पुण्यरूपी रत्नका संचय करो ॥२१८॥ जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करनेसे उत्पन्न होनेवाला पहला पुण्य है, सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न हुआ, दूसरा पुण्य है व्रत पालन करनेसे उत्पन्न हुआ, तीसरा पुण्य है और उपवास करनेसे उत्पन्न हुआ, चौथा पुण्य है इस प्रकार पुण्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको ऊपर लिखे हुए चार प्रकारके पुण्योंका

१ सीमा ल०, इ०, द०, अ०, प०, स० । २ स्वाधीन चकार । ३ समुद्रम् । ४ प्राप्नोति ।
 -मिवाभ्युपपद्यते ल०, द० । ५ दरिद्रयति ।

इत्थं स्वपुण्यपरिपाक^१जमिष्टलाभं संश्लायन्^२ जनतया^३ श्रुतपुण्यघोषः ।
चक्री सभागृहगतो नृपचक्रमध्ये शक्रोपमः पृथुनृपासनमध्यवात्सीत्^४ ॥२२०॥

हरिणी

धुततटवने रक्ताशोकप्रवालपुटोद्भिदि^५ स्पृशति पवने मन्दं मन्दं तरङ्गविभेदिनि ।
अनुसरसस्त्रितैर्नयैः सार्धं प्रभुः सुखमावसज्जलनिधिजयश्लाघाशीभिर्जिनाननुचिन्तयन् ॥२२१॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे पूर्वार्णवद्वारविजयवर्णनं
नामाष्टाविंशं पर्व ।

संचय करना चाहिये ॥२१९॥ इस प्रकार जिसने लोगोंके समूहसे पुण्यकी घोषणा सुनी है
ऐसे चक्रवर्ती भरत, अपने पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए इष्ट वस्तुओंके लाभकी प्रशंसा करते
हुए सभा-भवनमें पहुंचे और वहां राजाओंके समूहके मध्यमें इन्द्रके समान बड़े भारी राज-
सिंहासन पर आरुढ़ हुए ॥२२०॥ जिस समय किनारेके वनको हिलानेवाला, रक्त अशोक
वृक्षकी कोपलोंके संपुटको भेदन करनेवाला और लहरोंकी भिन्न भिन्न करनेवाला वायु धीरे
धीरे वह रहा था उस समय समुद्रको जीतनेकी प्रशंसा और आशीर्वादके साथ साथ जिनेन्द्र
भगवान्का स्मरण करते हुए भरतने गङ्गा नदीके किनारे किनारे ठहरी हुई सेनाके साथ सुख
से निवास किया था ॥२२१॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहके
भाषानुवादमें पूर्वसमुद्रके द्वारको विजय करनेका वर्णन
करनेवाला अट्ठाईसवां पर्व समाप्त हुआ ।

१ उदयजम् । २ स श्लायन् ल० । ३ जनसमूहेन । ४ अधिवसति स्म । ५ पल्लवपुटो-
द्भिदिनि ।

एकोनविंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरो जनीं कृत्वेज्यामिष्टसाधनीम् । प्रतस्थे दक्षिणामाशां जिगीषुरनुतोयधि ॥१॥
 'यतोऽस्य' पदद्वयकानां ध्वनिरामन्द्रमुच्चरन् । मूर्च्छितः^१ काहलारावैः श्रद्धिध्वानं तिरोदधे^२ ॥२॥
 प्रयाणभेरीनिःस्वानः सम्मूर्च्छन्^३ गजबृंहितैः । दिङ्मुखान्यनयत् क्षोभं हृदयानि च विद्विषाम् ॥३॥
 विबभुः पवनोद्भूता जिगीषोर्जयकेतनाः । चारिधेरिव कल्लोलान् उद्देलान्नाजुहूषवः^४ ॥४॥
 एकतो लवणाम्भोधिः अन्यतोऽप्युपसागरः । तन्मध्ये 'यान्वलोघोऽस्य तृतीयोऽब्धिरिवाबभौ ॥५॥
 हस्त्यश्वरथपादातं देवाश्च सनभश्चराः । षडङ्गं बलमस्येति पप्रथे व्याप्य रोदसी^५ ॥६॥
 पुरः प्रतस्थे दण्डेन^६ चक्रेण तदनन्तरम् । ताभ्यां विशोदिते मार्गे तद्बलं प्रययौ सुखम् ॥७॥
 तच्चक्रमरिचक्रस्य केवलं क्रकचायितम्^७ । दण्डोऽपि दण्डपक्षस्य कालदण्ड^८ इवापरः ॥८॥
 प्रययौ निकषाम्भोधिं^९ समया तटवेदिकाम्^{१०} । अनुवेलावनं सम्राट् सैन्यैः संश्रावयन्^{११} दिशः ॥९॥
 अनुवाधितं^{१२} कर्बुजलङ्घयान् स्वामनीकिनीम् । आज्ञालतां नृपाद्रीणां मूर्ध्नि रोपयति स्म सः ॥१०॥
 चलिते चलितं पूर्वं नियति निःसृतं पुरः । प्रयाते यातमेवास्मिन्^{१३} सेनानीभिरिवारिभिः ॥११॥

अथानन्तर-चक्रवर्ती भरत समस्त इष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाली जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर दक्षिण दिशाको जीतनेकी इच्छा करते हुए समुद्रके किनारे किनारे चले ॥१॥ जिस समय चक्रवर्ती जा रहा था उस समय तुरहीके शब्दोंसे मिली हुई बड़े बड़े नगाड़ोंकी गंभीर ध्वनि समुद्रकी गर्जनाकी भी ढक रही थी ॥२॥ हाथियोंकी चिरघाड़ोंसे मिले हुए प्रस्थानके समय बजनेवाले नगाड़ोंके शब्द समस्त दिशाओं तथा शत्रुओंके हृदयोंको क्षोभ प्राप्त करा रहे थे ॥३॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले चक्रवर्तीकी वायुसे उड़ती हुई विजय-पताकाएं ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो ज्वारसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंकी ही बुला रही हों ॥४॥ उस सेनाके एक ओर (दक्षिणकी ओर) तो लवण समुद्र था और दूसरी (उत्तर की) ओर उपसागर था उन दोनोंके बीच जाता हुआ वह सेनाका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीसरा समुद्र ही हो ॥५॥ हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, देव और विद्याधर यह छह प्रकारकी चक्रवर्तीकी सेना आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर सब ओर फैल गई थी ॥६॥ सेनामें सबसे आगे दण्डरत्न और उसके पीछे चक्ररत्न चलता था तथा इन दोनोंके द्वारा साफ किये हुए मार्गमें सुखपूर्वक चक्रवर्तीकी सेना चलती थी ॥७॥ चक्रवर्तीका वह एक चक्र ही शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेके लिये करौतके समान था तथा दण्ड ही दण्ड देने योग्य शत्रुओंके लिये दूसरे यमदण्डके समान था ॥८॥ सम्राट् भरत समुद्रके समीप समीप किनारेकी बेदीके पास पास किनारेके अनुसार अपनी सेनाके द्वारा दिशाओंको गुंजाते हुए-सचेत करते हुए चले ॥९॥ अपनी अलङ्घनीय सेनाको समुद्रके किनारे किनारे चलाते हुए चक्रवर्ती भरत अपनी आज्ञा-रूपी लताको राजारूपी पर्वतोंके मस्तकपर चढ़ाते जाते थे ॥१०॥ महाराज भरतके शत्रु उनके सेनापतियोंके समान थे, क्योंकि जिस प्रकार महाराजके चलनेकी इच्छा होते ही सेनापति

१ गच्छतः । २ पटु प०, इ०, द० । ३ मिश्रितः । ४ आच्छादयति स्म । ५ मिश्रीभवन् । ६ उज्जृम्भितान् । ७ स्पृष्टां कर्तुमिच्छवः । ८ गच्छन् । ९ व्यापयिष्यी । 'भूयावी रोदसी रोदसी च ते' इत्यमरः । १० दण्डरत्नेन । ११ करपत्रमिव चारितम् । १२ यमस्य दण्डः । १३ अम्भोधेः समीपम् । 'निकषा त्वन्तिके मध्ये' १४ तटवेदिकायाः समीपे । १५ साधयन् । १६ प्रापयन् । १७ भरते ।

निष्क्रान्त इति सस्रभान्तेरायात इति भीमशः । प्राप्त^१ इत्यनवस्थंश्च^२ प्रणमे सोऽरिभूमिपेः ॥१२॥

^३महापगारयस्येव तदस्य बलीयसः । यो यः ^४प्रतीपमभवत् स स निर्मूलतां ययौ ॥१३॥

^५प्रतीपवृत्तिमादर्शं छायात्मानं^६ च नात्मनः । विक्रमेकरसश्चक्री सोऽसौ^७ किमुत द्विषम् ॥१४॥

चमूरवभवावेव^८ कैश्चिदस्थ विरोधिभिः । ^९चमूरवृत्तमारब्धम् अतिदूरं पलायितैः^{१०} ॥१५॥

^{११}महाभोगंनृपैः कैश्चिद् भयादुत्सृष्टमण्डलैः^{१२} । भुजङ्गैरिव निर्मोकैः तत्पजेऽपि परिच्छदः^{१३} ॥१६॥

प्रदुष्टान् भोगिनः^{१४} कांश्चित् प्रभुरुद्धृत्य मन्त्रतः^{१५} । वल्मीकेष्विव दुर्गेषु ^{१६}कुल्यानन्यान्तलिङ्गिपत्^{१७} ॥१७॥

पहले ही चलनेके लिये तैयार हो जाते हैं उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजको चलनेके लिये तत्पर सुनकर स्वयं चलनेके लिये तत्पर हो जाते थे अर्थात् स्थान छोड़कर भागनेकी तैयारी करने लगते थे अथवा भरत की ही शरणमें आनेके लिये उद्यत हो जाते थे, जिस प्रकार महाराज के नगरसे बाहर निकलते ही सेनापति उनसे पहले बाहर निकल आते हैं उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजको नगरसे बाहिर निकला हुआ सुनकर स्वयं अपने नगरसे बाहर निकल आते थे अर्थात् नगर छोड़कर बाहर जानेके लिये तैयार हो जाते थे अथवा भरतसे मिलनेके लिये अपने नगरसे बाहर निकल आते थे और जिस प्रकार महाराजके प्रस्थान करते ही सेनापति उनसे पहले प्रस्थान कर देते हैं उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजका प्रस्थान सुनकर उनसे पहले ही प्रस्थान कर देते थे अर्थात् अन्यत्र भाग जाते थे अथवा चक्रवर्तीसे मिलनेके लिये आगे बढ़ आते थे ॥११॥ चक्रवर्ती भरत नगरसे बाहर निकला यह सुनकर जो व्याकुल हो जाते थे, चक्रवर्ती आया यह सुनकर जो भयभीत हो जाते थे और वह समीप आया यह सुनकर जो अस्थिरचित्त हो जाते थे ऐसे शत्रु राजा लोग उन्हें जगह जगह प्रणाम करते ॥१२॥ जिस प्रकार किसी महानदीके बलवान् वेगके विरुद्ध खड़ा हुआ वृक्ष निर्मूल हो जाता है—जड़ सहित उखड़ जाता है उसी प्रकार जो राजा उस बलवान् चक्रवर्तीके विरुद्ध खड़ा होता था—उसके सामने विनयभाव धारण नहीं करता था वह निर्मूल हो जाता था—वंशसहित नष्ट हो जाता था ॥१३॥ एक पराक्रम ही जिसे प्रिय है ऐसा वह भरत जब कि दर्पणमें उलटे पड़े हुए अपने प्रतिविम्बको भी सहन नहीं करता था तब शत्रुओंको किस प्रकार सहन करता ? ॥१४॥ कितने ही विरोधी राजाओंने तो उनकी सेनाका शब्द सुनते ही बहुत दूर भागकर हरिणकी वृत्ति प्रारम्भ की थी ॥१५॥ और कितने ही वैभवशाली बड़े बड़े राजाओंने भयसे अपने अपने देश छोड़कर छत्र चमर आदि राज्य-चिह्नोंको उस प्रकार छोड़ दिया था जिस प्रकार कि बड़े बड़े फणाओंको धारण करनेवाले सर्प अपने बलयाकार आसनको छोड़कर कांचली छोड़ देते हैं ॥१६॥ जिस प्रकार दुष्ट सर्पोंको मंत्रके जोरसे उठाकर वामीमें डाल देते हैं उसी प्रकार भरतने अन्य कितने ही भोगी-विलासी दुष्ट राजाओंको मंत्र (मंत्रियोंके साथ की हुई सलाह) के जोरसे उखाड़कर किलोंमें डाल दिया था, उनके स्थानपर अन्य कुलीन राजाओंको बैठाया

१ समीप प्राप्तः । २ अवस्थामतिक्रान्तः । त्यक्तपूर्वस्वभावैरित्यर्थः । ३ महानदीवेगस्य । ४ प्रतिकूलम् । ५ प्रतिकूलवृत्तिम् । ६ छायास्वरूपम् । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म चर्म च' इत्यमरः । ७ सहति स्म । ८ सेनाध्वनिसमाकर्णनात् । ९ कम्भोजादिदेवशज्जगत्विशेषवर्तनम् । 'कन्दली कन्दली चीनश्चमूरुप्रियकावपि । समूहश्चेति हरिणा अमी अजिनयोनयः ।' इत्यभिधानात् । १० पलायिभिः ल०, प०, द०, । ११ पक्षे महाकायैः । 'भोगः मुखे स्थाविर्भूतावहेश्च फणकाययोः' इत्यभिधानात् । १२ त्यक्तभूभागैः । पक्षे त्यक्तवलगैः । १३ परिच्छदोऽपि छत्रचामरादिपरिकरोऽपि परित्यक्तः । १४ पक्षे सर्पान् । १५ मन्त्रशक्तितः । १६ सत्कुलजान् । १७ स्थापयति स्म ।

अनन्यशरणं रण्यं स्तापविच्छेदमिच्छुभिः । तत्पादपादपच्छाया न्यवेवि सुखदीतला ॥१८॥
 केषाञ्चित् पत्रनिर्मोक्षं छायापार्यं च भूभुजाम् । पादपानामिव ग्रीष्मः समभ्यर्णश्चकार सः ॥१९॥
 ध्वस्तोष्णप्रसरा^१ गदम् उच्छ्वसन्तोऽन्तराकुलाः । प्राप्तेऽस्मिन्^२ वैरिभूपालाः प्रापुर्मर्तव्यशेषताम्^३ ॥२०॥
 'वैरकाम्यति यः' स्मास्मिन् प्रागेव चिन्ताश सः । विविध्यापयिषुर्वीह्य शलभः कुशली किमु ॥२१॥
 वस्तुबाहनसर्वस्वम् आच्छिद्य^४ प्रभुराहरन्^५ । अस्तिवमरिचक्रेषु^६ व्यक्तमेव चकार सः ॥२२॥
 स्वयमपितसर्वस्वा नमन्तश्चक्रवर्तिनम् । पूर्वमम्परयः पश्चाद् अधिकारित्व^७ माचरन् ॥२३॥
 साधनं^८ रमुनाक्रान्ता या धरा धृतसाध्वसा^९ । साधनेरेव तं तोषं नीत्वाऽभूद्भूतसाध्वसा ॥२४॥
 कुल्याः^{१०} कुलघनान्यस्मै दत्त्वा स्वां भुवमार्जजन्^{११} । कुल्या^{१२} धनजलौघस्य जिगीषोस्ते हि पार्थिवाः ॥२५॥
 प्रजाः करभराक्रान्ता यस्मिन् स्वामिनि दुःस्थिताः^{१३} । तमुद्धृत्य पदे तस्य युक्तदण्डं^{१४} न्यधाद् विभुः ॥२६॥

था ॥१७॥ जिन्हें अन्य कोई शरण नहीं थी और जो अपना संताप नष्ट करना चाहते थे ऐसे कितने ही राजाओं ने सुख तथा शान्ति देनेवाली भरतके चरणरूपी वृक्षोंकी छायाका आश्रय लिया था ॥१८॥ जिस प्रकार समीप आया हुआ ग्रीष्म ऋतु वृक्षोंके पत्र अर्थात् पत्तोंका नाश कर देता है और उनकी छाया अर्थात् छांहरीका अभाव कर देता है उसी प्रकार समीप आये हुए भरतने कितने ही राजाओंके पत्र अर्थात् हाथी घोड़े आदि वाहनों (सवारियों) का नाश कर दिया था और उनकी छाया अर्थात् कान्तिका अभाव कर दिया था । भावार्थ—भरतके समीप आते ही कितने ही राजा लोग वाहन छोड़कर भाग जाते थे तथा उनके मुखकी कान्ति भयसे नष्ट हो जाती थी ॥१९॥ महाराज भरतके समीप आते ही शत्रु राजाओंका सब तेज (पक्ष में गर्मी) नष्ट हो गया था, उनके भारी भारी श्वासोच्छ्वास चलने लगे थे और वे अन्तःकरण में व्याकुल हो रहे थे, केवल उनका मरना ही बाकी रह गया था ॥२०॥ जिस पुरुषने भरतके साथ शत्रुता करनेकी इच्छा की थी वह पहले ही नष्ट हो चुका था, सो ठीक ही है क्योंकि अग्नि को बुझानेकी इच्छा करनेवाला पतंगा क्या कभी सकुशल रह सकता है ? अर्थात् नहीं ॥२१॥ महाराज भरतने शत्रुओंके हीरा मोती आदि रत्न तथा सवारी आदि सब धन छीन लिया था और इस प्रकार उन्होंने समस्त अरि अर्थात् शत्रुओंके समूहको स्पष्ट रूपसे अरि अर्थात् धन-रहित कर दिया था ॥२२॥ अपने आप समस्त धन भेंट कर चक्रवर्तीको नमस्कार करनेवाले राजा लोग यद्यपि पहले शत्रु थे तथापि पीछेसे वे बड़े भारी अधिकारी हुए थे ॥२३॥ जो पृथिवी पहले भरतकी सेनासे आक्रान्त होकर भयभीत हो रही थी वही पृथिवी अब अपने धनसे भरत को संतोष प्राप्त कराकर निर्भय हो गई थी ॥२४॥ उच्च कुलोंमें उत्पन्न हुए अनेक राजाओं ने भरतेश्वरके लिये अपनी कुल-परम्परासे चला आया धन देकर फिरसे अपनी पृथिवी प्राप्त की थी सो ठीक ही है क्योंकि कुल्य अर्थात् कुल-परम्परासे आया हुआ धन और कुल्या अर्थात् नहरमें उत्पन्न हुआ जल ये दोनों ही पृथिवीसे उत्पन्न हुए पदार्थ, जीतनेकी इच्छा करनेवाले राजाके होते हैं ॥२५॥ जिस राजाके रहते हुए प्रजा करके बोझसे दब कर दुःखी हो रही थी,

१ वाहननिर्वाणम् । पक्षे पर्णविनाशम् । २ तेजोहानिम् । ३ समीपस्थः । ४ निरस्तप्रभाव-प्रसराः । पक्षे निरस्तोष्णप्रसराः । ५ भरते । ६ मरणकालप्राप्तपुरुषसमानतामित्यर्थः । ७ वैर-मिच्छति । ८ यो नास्मिन् इ० । (ना पुमान् इति इ० टिप्पणी) । ९ क्षपयितुमिच्छुः । १० आकृष्य । ११ स्वीकुर्वन् । १२ न विद्यते राः धनं येषां तानि अरीणि तेषां भावस्तत्त्वम्, निर्धनत्वमित्यर्थः । १३ अधिकशत्रुत्वमिति ध्वनिः । १४ सैन्यः । १५ निरस्तभीतिः । १६ कुलजाः । १७ उपार्जयति स्म । ऋज गतिस्थानार्जुनोपार्जनेषु । १८ सरितः । 'कुल्या कुलबधूः सरित्' । अथवा कृत्रिमसरितः । तत्पक्षे 'कुल्यात्पा कृत्रिमा सरित्' । १९ दुःस्थिताः ल० । २० योग्यदण्डकारिपुरुषं स्थापयामास ।

निजग्राहं नृपान् दृष्टान् अनुजग्राहं सत्क्रियान् । न्यायः^१ क्षात्रोऽयमित्येव प्रजाहितविधित्तया ॥२७॥
 योगश्रेतो जगत्स्थित्यं न प्रजास्वेव केवलम् । प्रजापालेष्वापि^२ प्रायस्तस्य चिन्त्यत्वमीयतुः ॥२८॥
 पार्थिवैश्चैकराष्ट्रस्य^३ मता वर्णाश्रमाः^४ प्रजाः । पार्थिवाः सार्वभौमस्य^५ प्रजा यत्तेन ते^६ धृताः^७ ॥२९॥
 पुण्यं साधनमस्मैकं चक्रे तस्यैव पोषकम् । तद्द्वयं साध्यसिद्ध्यङ्गं सेनाङ्गानि विभूतये ॥३०॥
 इति मण्डलभूपालान् बलात् प्राणमयत्रयम्^८ । 'यानमेवाभनक्'^९ तेषां न सेवाप्रणयं विभुः ॥३१॥
 प्रतिप्रयागमभ्येत्य^{१०} 'प्राणसिधुरम्' नृपाः । प्राणरक्षामिवास्याज्ञां वहन्तः स्वेषु मूर्धसु ॥३२॥
 प्रजालनजग्राह सातिरेकैः^{११} कलैः प्रभुः । किम् कल्पतरोः सेवास्त्यफलाल्पफलापि वा ॥३३॥
 'सम्प्रेक्षितैः स्मितहसिः सविश्रम्भैश्च'^{१२} जल्पितैः^{१३} । सम्राट् सम्भावयामास नृपान् सम्माननैरपि^{१४} ॥३४॥
 स्मितः प्रसादैः सञ्जल्पैः विश्रम्भं हसितैर्मुदम् । प्रेक्षितैरनुरागं च व्यनक्ति स्म नृपेषु सः ॥३५॥

भरतने उसे हटाकर उसके पदपर किसी अन्य नीतिमान् राजाको बैठाया था ॥२६॥ उन्होंने अहंकारी राजाओंको दण्डित किया था और सत्कार अथवा उत्तम कार्य करनेवाले राजाओं पर अनुग्रह किया था सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाका हित करनेकी इच्छासे क्षत्रियोंका यह ऐसा न्याय ही है ॥२७॥ राजा भरतने जगत्की स्थितिके लिये केवल प्रजाके विषयमें ही योग (नवीन वस्तुको प्राप्त करना) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना) की चिन्ता नहीं की थी किन्तु प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाओंके विषयमें भी प्रायः उन्हें योग और क्षेमकी चिन्ता रहती थी ॥२८॥ किसी एक देशके राजाकी प्रजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्ण रूप मानी जाती है परन्तु चक्रवर्तीकी प्रजा सभीभूत हुए राजा लोग ही माने जाते हैं इसलिये चक्रवर्तीको प्रजाके साथ साथ राजाओंकी चिन्ता करना भी उचित है ॥२९॥ भरतके समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाला एक पुण्य ही मुख्य साधन था, और चक्ररत्न उस पुण्यकी पुष्टि करनेवाला था, पुण्य और चक्ररत्न ये दोनों ही उसके साध्य (सिद्ध करने योग्य विजय रूप कार्य) की सिद्धि के अंग थे, बाकी हाथी घोड़े आदि सेनाके अंग केवल वैभवके लिये थे ॥३०॥ इस प्रकार मण्डलेश्वर राजाओंसे बलपूर्वक प्रणाम कराते हुए चक्रवर्तीने उनका केवल मान भंग ही किया था, अपनी सेवाके लिये जो उनका प्रेम था उसे नष्ट नहीं किया था ॥३१॥ प्राणोंकी रक्षाके समान भरतकी आज्ञाको अपने मस्तकपर धारण करते हुए अनेक राजा लोग प्रत्येक पड़ावपर आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥३२॥ प्रणाम करनेवाले राजाओंको महाराज भरतने बहुत अधिक फल देकर अनुगृहीत किया था सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षकी सेवा क्या कभी फलरहित अथवा थोड़ा फल देनेवाली हुई है ? ॥३३॥ सम्राट् भरतने कितने ही राजाओंकी ओर देखकर, कितने ही राजाओंकी ओर मुसकराकर, कितने ही राजाओंकी ओर हंसकर, कितने ही राजाओंके साथ विश्वासपूर्वक वार्तालाप कर, और कितने ही राजाओं का सम्मान कर उन्हें प्रसन्न किया था ॥३४॥ उन्होंने कितने ही राजाओंपर मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी, कितने ही राजाओंपर वार्तालाप कर अपना विश्वास प्रकट किया था, कितने ही राजाओंपर हंसकर अपना हर्ष प्रकट किया था और कितने ही राजाओंपर प्रेमपूर्ण

१ नियमं करोति स्म । २ दर्पादिष्टान् । ३ स्वीकृतवान् । ४ न्यायादनपेतः । ५ क्षत्रियधर्मः । ६ पार्थिवेषु । ७ एकदेशवतः । ८ क्षत्रियादिवर्णाः ब्रह्मचर्याद्या आश्रमाः । ९ प्रजायन्ते प०, ल० । १० पार्थिवाः । ११ स्वीकृताः । १२ प्रह्वीभूतानवर्त्तन् । १३ गर्वमेव । १४ मर्दयति स्म । 'भञ्जोऽवमर्दने' । १५ तद्वस्तुवर्त्तित स्म । १६ तैर्दत्तयजान् साधिकैः । १७ स्निग्धावलोकनं । १८ संप्रेक्षणैः ल० । १९ सविश्वासैः । 'समी विश्रम्भविश्वासी' इत्यमरः । २० वचनैः । २१ वरदाभरणादिपूजनैः ।

अतापसीत् प्रणतानेष^१ समतापसीद् विरोधिनः । शमप्रतापो^२ श्मां जेतुः^३ पार्थिवस्थोचितौ गुणौ ॥३६॥
 प्रसन्नया वृशवास्य प्रसादः प्रणते रिपौ । भूभङ्गमेणास्फुटत् कोपः सत्यं बहुनटो^४ नृपः ॥३७॥
 अङ्गान्मणिभिरत्यङ्गैः वङ्गान्स्तुङ्गमेभत^५ अङ्गजैः । तैश्च तैश्च कलिङ्गेशान् सोऽभ्यनन्ददुपानतान्^६ ॥३८॥
 मागधायितमेवास्य स्फुट^७ मागधिकेनृपैः^८ । कीर्तयद्भिर्गुणानुच्चैः प्रसादमभिलाषुकः ॥३९॥
 कुरुनवन्तीन् पाञ्चालान् काशींश्च सह कोसलैः । वैदर्भान्प्यनायासाद् आश्रकव^९ चसूपतिः ॥४०॥
 व्रजन् मद्रांश्च कच्छांश्च चेदीन् वत्सान् ससुहृदकान् । पुण्ड्रानोण्डांश्च गौडांश्च^{१०} मतमश्रावयद् विभोः ॥४१॥
 दशार्णान् कामरूपांश्च काश्मीरान्प्युशीनरान् । मध्यमानपि भूपालान् सोऽचिराद् वशमानयत् ॥४२॥
 ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकलिङ्गाङ्गारजान्^{११} गजान् । गिरीनिब महोच्छ्वायान्^{१२} प्रश्चोत्तन्मदनिर्भरान् ॥४३॥
 वशार्णकवनीद्भूतानपि चेदिककूशजान्^{१३} । दिङ्नागस्पधिनो नागान्^{१४} आद्रुर्नागि^{१५} वनाधिपाः ॥४४॥
 विभोर्बलभरक्षोभम् आसहन्तीव दुःसहम् । सुषुब्देऽन्तरस्तानि गर्भिणीव^{१६} वसुन्धरा ॥४५॥

दृष्टि डालकर अपना प्रेम प्रकट किया था ॥३६॥ उन्होंने नञ्जीभूत राजाओंको संतुष्ट किया था और विरोधी राजाओंको अच्छी तरहसे संतुष्ट किया था सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवीको जीतनेके लिये शान्ति और प्रताप ये दो ही राजाओंके योग्य गुण माने गये हैं ॥३६॥ राजा भरत नमस्कार करनेवाले पुरुषपर अपनी प्रसन्न दृष्टिसे प्रसन्नता प्रकट करते थे और साथ ही शत्रुके ऊपर भी हट्टी कर क्रोध प्रकट करते जाते थे इसलिये यह उक्ति सच मालूम होती है कि राजा लोग नट तुल्य होते हैं ॥३७॥ उत्तम उत्तम मणियोंको भेंट कर नमस्कार करते हुए अंग देशके राजाओंपर, ऊंचे ऊंचे हाथियोंको भेंट कर नमस्कार करते हुए बंग देशके राजाओं पर और मणि तथा हाथी दोनोंको भेंट कर नमस्कार करते हुए कलिङ्ग देशके राजाओंपर वह भरत बहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥३८॥ भरतेश्वरके प्रसादकी इच्छा करनेवाले मगध देशके राजा उनके उत्कृष्ट गुण गा रहे थे इसलिये वे ठीक मागध अर्थात् बन्दीजनोंके समान जान पड़ते थे ॥३९॥ भरत महाराजके सेनापतिने कुरु, अवन्ती, पांचाल, काशी, कोशल और वैदर्भ देशोंके राजाओंको बिना किसी परिश्रमके अपनी ओर खींच लिया था अर्थात् अपने वश कर लिया था ॥४०॥ मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुहृद, पुण्ड्र, औण्ड्र और गौड़ देशोंमें जा जा कर सेनापतिने सब जगह भरत महाराजकी आज्ञा सुनाई थी ॥४१॥ उसने दशार्ण, कामरूप, काश्मीर, उशीनर और मध्यदेशके समस्त राजाओंको बहुत शीघ्र वश कर लिया था ॥४२॥ वहाँके राजाओं ने जिनसे मदके निर्भरने भर रहे हैं ऐसे, पूर्व देशमें उत्पन्न होनेवाले तथा कलिङ्ग और अंगार देशमें उत्पन्न होनेवाले, पर्वतोंके समान ऊंचे ऊंचे हाथी महाराज भरतके लिये भेंटमें दिये थे ॥४३॥ जिनमें हाथी उत्पन्न होते हैं ऐसे वनोंके स्वामियोंने दिग्गजोंके साथ स्पर्द्धा करनेवाले, दशार्णक वनमें उत्पन्न हुए तथा चेदि और कसेरु देशमें उत्पन्न हुए हाथी महाराजके लिये प्रदान किये थे ॥४४॥ उस समय भरतेश्वरको पृथिवीपर जहाँ तहाँ अनेक रत्न भेंटमें मिल रहे थे इसलिये ऐसा जान पड़ता था मानो गर्भिणीके समान पृथिवीने चक्रवर्तीकी सेनाके बोझसे उत्पन्न हुए दुःसह क्षोभको न सह सकनेके कारण ही अतन्त रत्न उत्पन्न किये हुए हों ॥४५॥

१ तर्पयामास । २ सन्तापयति स्म । ३ जेतुं ल०, इ०, अ०, प०, स० । ४ व्यक्ती बभूव । ५ नटसदृशः । ६ अङ्गदेशाधिपान् । ७ अनर्घ्यैः । ८ आनतान् । ९ मागधीयत् - प०, इ० । स्तुतिपाठका इवाचरितान् । १० मगधाधिपैः । ११ स्वीकृतवान् । १२ गच्छन् । १३ शासनम्, आज्ञामित्यर्थः । १४ प्राक्दिक्सम्बन्धिकलिङ्गदेशाङ्गारजान् । १५ गलत् । १६ दशार्णदेशसम्बन्धि । १७ चेदिकसेरुजान् ल०, इ० । १८ दधति स्म । १९ गजवन । २० गर्भस्थशिशुरिव ।

प्रापाण्डरगिरिप्रस्थात् आ च वंभारपर्वतात् । आशिलाद् गोरथादस्य विचे^१र्ययकुञ्जराः ॥४६॥
 वडगाडगपुण्ड्रमगधान् मलवान् काशिकौसलान् । सेनानीः परिवभ्राम जिगीवुर्जयसाधनैः ॥४७॥
 कालिन्दकालकूटी च किरातविषयं तथा । मल्लदेशं च सम्प्रापन्म^२तादस्य^३ चमूपतिः ॥४८॥
 धुनीं सुमागधीं गङ्गां गोमतीं च कपीवतीम् । रथास्कां^४ च नदीं तीर्त्वा^५ भेजुरस्य चमूगजाः ॥४९॥
 गम्भीरामतिगम्भीरां कालतोयां च कौशिकीम् । नदीं कालमहीं ताम्राम् अरुणां निचुरामपि^६ ॥५०॥
 तं लौहित्य^७ समुद्रं च कम्बुकं च महत्सरः । चमूमतङ्गजास्तस्य भेजुः प्राच्य^८वनोपगाः ॥५१॥
 दक्षिणेन^९ नदं शोणम् उत्तरेण च नर्मदाम् । बीजानदीमुभयतः परितो मेखलानदीम् ॥५२॥
 विचेरुः स्वखुरोद्धूतधूलीसंरुद्धविद्युत्पाः । जयिनोऽस्य स्फुरत्प्रोथा^{१०} जयसाधनवाचिनः ॥५३॥
 श्रौदुम्बरी^{११} च पनसां तमसां प्रमूशापि । पपुरस्य द्विपाः शुक्तिमतीं च यमुनामपि ॥५४॥
 चेदिवर्षतमुल्लङ्घ्य चेदिराष्ट्रं^{१२} विजिग्यिरे^{१३} । पम्पा^{१४} सरोज्मोऽतिगमा विभोरस्य तुरङ्गमाः ॥५५॥
 तनुष्यमूकमाक्रम्य कोलाहलगिरिं धिताः । प्राङ्माल्यगिरिमासेदुः जयिनोऽस्य जयद्विपाः ॥५६॥
 नागप्रियाद्रिमाक्रम्य कुतपावन्नया विभोः । सेनाचराः स्वसान्त्वकुः गजांश्चेद्विकूशजान्^{१५} ॥५७॥
 नदीं वृत्रवतीं^{१६} कान्त्वा वन्येभक्षतरोधसम्^{१७} । भेजुश्चित्रवतीमस्य चमूवीरास्तुरङ्गमैः ॥५८॥

हिमवात् पर्वतके निचले भागसे लेकर वंभार तथा गोरथ पर्वत तक सब जगह भरत महाराज के विजयी हाथी घूम रहे थे ॥४६॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाला भरतका सेनापति अपनी विजयी सेनाके साथ साथ बंग, अंग, पुंड्र, मगध, मालव, काशी और कोशल देशोंमें सब जगह घूमा था ॥४७॥ भरतकी संमतिसे वह सेनापति कालिंद, कालकूट, भीलोंका देश, और मल्ल देशमें भी पहुंचा था ॥४८॥ उनकी सेनाके हाथी सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती और रेवस्या नदीको तैरकर जहां-तहां घूम रहे थे ॥४९॥ पूर्व दिशाके पास पास जानेवाले उनकी सेनाके हाथी अत्यन्त गहरी गंभीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा और निधुरा आदि नदियों तथा लौहित्य समुद्र और कम्बुक नामके बड़े बड़े सरोवरोंमें घूमे थे ॥५०-५१॥ जिन्होंने अपने खुरोंसे उठी हुई धूलिसे समस्त दिशायेँ भर दी हैं, जो बड़े वेगशाली हैं और जिनके नथने चंचल हो रहे हैं ऐसे महाराज भरतकी विजयी सेनाके घोड़े शोण नामके नदकी दक्षिण ओर, नर्मदा नदीकी उत्तर ओर, बीजा नदीके दोनों ओर और मेखला नदीके चारों ओर घूमे थे ॥५२-५३॥ भरतके हाथियोंने उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमूशा, शुक्तिमती और यमुना नदीका पान किया था ॥५४॥ चक्रवर्तीके घोड़ोंने पम्पा सरोवरके जलको पार किया था तथा चेदि नामके पर्वतको उल्लंघन कर चेदि नामके देशको जीता था ॥५५॥ सबको जीतनेवाले भरतके विजयी हाथी ऋष्यमूक पर्वतको उल्लंघन कर कोलाहल पर्वत तक जा पहुंचे थे और फिर माल्य पर्वतके पूर्व भागके समीप भी जा पहुंचे थे ॥५६॥ भरतकी सेनाके लोगोंने लीलापूर्वक नागप्रिय पर्वतको उल्लंघन कर चेदि और कसेरु देशमें उत्पन्न हुए हाथियोंको अपने आधीन कर लिया था ॥५७॥ उनकी सेनाके वीर पुरुष घोड़ोंके द्वारा क्षत्रवती नदीको पार कर जिसके किनारे जंगली हाथियोंसे खूबे गये हैं ऐसी चित्र-

१ चरन्ति स्म । २ मलयान् ३०, अ० । मालयान् ५० । मालवान् ल०, द० । ३ आज्ञातः । ४ चक्रिणः । ५ रथस्यां अ० । रेवस्यां ५०, ट० । रवस्थां द० । ६ अत्रतीर्य । ७ निधुरामपि ल० । ८ लौहित्यसमुद्रनामसरोवरम् । ९ पूर्व । १० शोणनदस्य दक्षिणस्यां दिशि । ११ वेगिनः । १२ नासिका । १३ उदुम्बरीं स०, ३०, अ०, ५०, द०, ल० । १४ 'ययुः' इत्यपि पाठः । यानमकुर्वन् । १५ चेदिदेशम् । १६ जयन्ति स्म । १७ पम्पासरोजलमतिक्रान्ताः । १८ देहली । १९ -सेहजान् ल०, द० । २० वेत्रवती ३० । छत्रवती ५० । वृत्रवती अ०, स० । २१ वनगजक्षुण्णतटाम् ।

रुद्ध्वा माल्यवतीतीरघनं वन्येभसङ्कुलम् । याजुनं च पयः पीत्वा जिग्धुरय द्विषा विशः ॥५६॥
 अतुवेणुमतीतीरं गत्वास्य जयसाधनम्^१ । वत्सभूमिं समाक्रम्य^२ दशार्णाम्पलङ्घयत् ॥५७॥
 विशालां नालिकां सिन्धुं परां निःकुन्दरीमपि । बहुवज्रां च रम्यां च नदीं सिकतिनीमपि ॥५८॥
 ऊहां^३ च समंतोयां च कञ्जामपि कपीवतीम् । निर्विन्ध्यां च धुनीं जम्बूमतीं च सरिद्रुत्तमाम् ॥५९॥
 वसुमत्यापगामब्धिगामिनीं शर्करावतीम् । सिप्रां च कृतमालां च परिज्जां पनसामपि ॥६०॥
 नदीमवन्तिकामां च हस्तिपानीं च निम्नगाम् । कागन्धुमापगां^४ व्याध्रीं धुनीं चर्मण्वतीमपि ॥६१॥
 शतभोगां च नन्दां च नदीं करभवेगिनीम् । चुल्लितापीं च रेवां च सप्तपारां च कौशिकीम् ॥६२॥
 सरितोऽमूरगाधापा विष्वगारुध्य तद्बलम् । तुरङ्गमखुरोत्खाततीरा विस्तारिणीर्ध्वधात् ॥६३॥
 तैरश्चिकं गिरिं क्रात्वा रुद्ध्वा वैडूर्यं^५ भूधरम् । भटाः कूटाद्रिमुल्लङ्घय पारियात्रमशिथियन् ॥६४॥
 गत्वा पुष्पगिरेः प्रस्थानं^६ सानून् स्मितगिरेरपि^७ । गदागिरेर्निकुञ्जेषु^८ बलान्वस्य विशश्रमुः^९ ॥६५॥
 वातपृष्ठदरीभागां नृक्षवत्^{१०} कुक्षिभिः^{११} समम् । तत्सैनिकाः श्रयन्ति स्म कम्बलाद्रितटान्यपि ॥६६॥
 वासवन्तं महाशैलं विलङ्घयामुरधूपनं^{१२} । स्थित्वाऽस्य सैनिकाः प्रापन् मदेभानङ्गरेयिकान्^{१३} ॥६७॥
 निःसपत्नमिति भ्रेमुः इतश्चेतश्च सैनिकाः । द्विपान् वनधिभागेषु^{१४} कर्वन्तोऽस्य निजैर्गजेः ॥६८॥
 दुस्तराः सुतरा जाताः सम्भुक्ताः सरितो बलैः । स्वारोहाश्च^{१५} दुरारोहा गिरयः क्षुण्णतानवः ॥६९॥

वती नदीको प्राप्त हुए थे ॥५८॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुए माल्यवती नदीके किनारेके वनको घेरकर तथा यमुना नदीका पानी पीकर भरतके हाथियोंने उस ओरकी समस्त दिशाएं जीत ली थीं ॥५९॥ उनकी विजयी सेनाने वेणुमती नदीके किनारे किनारे जाकर वत्स देशकी भूमिपर आक्रमण किया और फिर दशार्ण (धसान) नदीको भी उल्लंघन किया—पार किया ॥६०॥ भरतकी सेनाने विशाला, नालिका, सिन्धु, पारा, निःकुन्दरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतिनी, कुहा, समंतोया, कंजा, कपीवती, निर्विन्ध्या, नदियोंमें श्रेष्ठ जम्बूमती, वसुमती, समुद्र तक जानेवाली शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिजा, पनसा, अवन्तिकामा, हरितपानी, कागंधुनी, व्याध्री, चर्मण्वती, शतभोगा, नन्दा, करभवेगिनी, चुल्लितापी, रेवा, सप्तपारा, और कौशिकी इन अगाध जलसे भरी हुई नदियोंको चारों ओरसे घेरकर जिनके किनारे घोड़ोंके खुरोंसे खुद गये हैं ऐसी उन नदियोंको बहुत चौड़ा कर दिया था ॥६१—६६॥ सैनिकों-ने तैरश्चिक नामके पर्वतको लांघकर वैडूर्य नामका पर्वत जा घेरा और फिर कूटा-चलको उल्लंघन कर पारियात्र नामका पर्वत प्राप्त किया ॥६७॥ भरतकी वह सेना पुष्प गिरिके शिखरोंपर चढ़कर स्मितगिरिके शिखरोंपर जा चढ़ी और फिर वहांसे चलकर उसने गदा नामक पर्वतके लतागूहोंमें विश्राम किया ॥६८॥ भरतके सैनिकोंने ऋक्षवान् पर्वतकी गुफाओंके साथ साथ वातपृष्ठ पर्वतकी गुफाओंका आश्रय लिया और फिर वहांसे चलकर कम्बल नामक पर्वतके किनारोंपर आश्रय प्राप्त किया ॥६९॥ वे सैनिक वासवन्त नामके महापर्वत को उल्लंघन कर असुरधूपन नामक पर्वतपर ठहरे और फिर वहांसे चलकर मदेभ तथा अंगिरेयिक पर्वतपर जा पहुंचे ॥७०॥ सेनाके लोग उन देशोंको शत्रुरहित समझकर अपने हाथियोंके द्वारा वनके प्रदेशोंमें हाथी पकड़ते हुए जहां तहां घूम रहे थे ॥७१॥ जो नदियां दुस्तर अर्थात् कठिनाईसे तैरने योग्य थीं वे ही नदियां सैनिकोंके द्वारा उपभुक्त होनेपर सुतर अर्थात् मुखसे

१ बलम् । २ 'दशार्ण' इत्यपि क्वचित् । ३ कुहां ल० । ४ कागन्धुमापगाम् । ५ सानून् । ६ स्मितगिरे—ल० । ७ नितम्बेषु । ८ विश्रमन्ति स्म । ९ वातपृष्ठगिरिकन्दरप्रदेशान् । १० भल्लूका इव । ११ तटोदस्थितगुहाभिः सह इत्यर्थः । १२ असुरधूपन इति पर्वतविशेषः । १३ मदेभश्च आनङ्गश्च रेयिकश्च तान् । १४ स्वीकुर्वन्तः । १५ सुवारोहाः ।

राष्ट्राण्यवधयस्तेषां राष्ट्रयोश्च महोभुजः । फलाय जज्ञिरे भर्तुः योजिताश्चामुना^१ फलैः ॥७३॥
 नृपानवारपारीषात्^२ द्विष्यानप्युपसागरे । बली बलैरवष्टभ्य^३ प्रापौपवनजान्^४ गजान् ॥७४॥
 रत्नान्यपि चिञ्चिन्नाणि तेष्वो लब्ध्वा ग्रथेऽस्ति तम् । तानेवास्थापयत्तत्र सन्तुष्टः प्रभुराजया ॥७५॥
 महान्ति गिरिदुर्गाणि निम्नदुर्गाणि च प्रभोः । सिद्धानि बलवद्धानि किमसाध्यं महोपसान् ॥७६॥
 इत्थं स पृथिवीध्वजान्^५ पौरस्त्यान्निर्जयक्षृपान् । प्रतस्थे दक्षिणामाशां^६ दक्षिणात्यजिगीषया ॥७७॥
 यतो यतो बलं जिष्णोः प्रचलत्पुद्घनायकम् । ततस्ततः स्म सामन्ता नमन्त्यानधूमौलयः ॥७८॥
 त्रिकलिङ्गाधिपानां द्रान् कच्छात्त्राविषयाधिपान् । प्रातरान् केरलाश्चोलान्^७ पुन्नागाश्च व्यजेष्ट सः ॥७९॥
 कुडुम्भानोलिकाश्चैव स माहिषकमेकुरान् । पाण्ड्यान्तरपाण्ड्याश्च दण्डेन^८ वशमानयत् ॥८०॥
 नृपाग्रेतान् पिजित्याशु प्रथमं स्वपादयोः । हृत्वा तत्साररत्नानि प्रभुः प्रापत् परां मुदम् ॥८१॥
 सेनानोरपि बभ्राम^९ विभीराज्ञां समुद्वहन् । गिरीन् ससरितो देशान्^{१०} कालिङ्गकवनाश्रितान् ॥८२॥
 स साधनैः समं भेजे तैलानिभुमतीमपि । नदीं नक्ररवां वङ्गां श्वसनां च सहानदीम् ॥८३॥

तेरने योग्य हो गई थीं । इसी प्रकार जो पर्वत दुरारोह अर्थात् कठिनाईसे चढ़ने योग्य थे वे ही पर्वत सैनिकोंके द्वारा शिखरोंके चूर्ण हो जानेसे स्वारोह अर्थात् सुखपूर्वक चढ़ने योग्य हो गये थे ॥७३॥ देश, उनकी सीमाएं और देशोंके राजा लोग सम्राट् भरतेश्वरको फल प्रदान करने के लिये ही उत्पन्न हुए थे तथा बदलेमें भरतने भी उन्हें अनेक फलोंसे युक्त किया था । भावार्थ— सम्राट् भरत जहां जहां जाते थे वहां वहांके लोग उन्हें अनेक प्रकारके उपहार दिया करते थे और भरत भी उनके लिये अनेक प्रकारकी सुविधाएं प्रदान करते थे ॥७३॥ जो राजा लोग उपसमुद्रके उस पार रहते थे अथवा उप-समुद्रके भीतर द्वीपोंमें रहते थे उन सबको बलवान् भरतने सेनाके द्वारा अपने वश किया था तथा वनमें उत्पन्न होनेवाले हाथियोंको पकड़ पकड़कर उनका पोषण किया था ॥७४॥ महाराज भरतने उन राजाओंसे अपने इच्छानुसार अनेक प्रकारके रत्न लेकर सन्तुष्ट हो अपनी आज्ञासे उनके स्थानोंपर उन्हींको फिरसे विराजमान किया था ॥७५॥ जो बड़े बड़े किले पहाड़ोंके ऊपर थे और जो जमीनके नीचे बने हुए थे वे सब सेनाके द्वारा धिरकर भरतके वशीभूत हो गये थे, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंको क्या असाध्य है ? ॥७६॥ इस प्रकार भरतने पूर्व दिशाके समस्त राजाओंको जीतकर दक्षिण दिशाके राजाओंको जीतनेकी इच्छासे उस पृथिवीके मध्यभागसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥७७॥ उत्कृष्ट सेनापति सहित विजयी भरतकी सेना जहां जहां जाती थी वहां वहां के राजा लोग सामन्तों सहित भरतके भुका भुकाकर उन्हें नमस्कार करते थे ॥७८॥ दक्षिणमें भरतने त्रिकलिङ्ग, औद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाग देशोंके सब राजाओंको जीता था ॥७९॥ तथा कूट, ओलिक, माहिष, कमेकुर, पाण्ड्य और अन्तरपाण्ड्य देशके राजाओंको दण्डरत्नके द्वारा अपने वशीभूत किया था ॥८०॥ सम्राट् भरतने इन सब राजाओंको शीघ्र ही जीतकर उनसे अपने चरणोंमें प्रणाम कराया और उनके सारभूत रत्न लेकर परम आनन्द प्राप्त किया ॥८१॥ चक्रवर्तीकी आज्ञा धारण करता हुआ सेनापति भी कालिङ्गक वनके समीपवर्ती अनेक पहाड़ों, नदियों तथा देशोंमें घूमा था ॥८२॥ वह अपनी सेनाओंके साथ साथ तैला, इक्षुमती, नक्ररवा, वंगा और श्वसना आदि महानदियोंको प्राप्त हुआ था

१ सेनान्या । २ उभयतीरे भवान् । 'पारावारपरेभ्यः इति खः' इति प्राग्वृत्तित्येऽर्थे खः । 'पारावारं परे तीरे' इत्यमरः । ३ द्वीपं जातान् । ४ घाटीं कृत्वा । ५ पुषोष वनजान् ल०, द०, इ०, अ० । ६ पूर्वदिग्भवान् । ७ दक्षिणदिशि जाता । ८ चेरान् ल०, द० । ९ बलेन । १० प्रभो-ल० । ११ कलिङ्गदेशसम्बन्धि ।

धुनीं वैतरणीं माषवतीं च समहेन्द्रकाम् । सेनिकः सममुत्तीर्य ययी शुष्कनदीमपि ॥८४॥

सप्तगोदावरं तीर्त्वा^१ पश्यन् गोदावरीं शुचिम् । सरो मानसमासाद्य मुमुदे शुचिमानसः ॥८५॥

सुप्रयोगां नदीं तीर्त्वा कृष्णवेणां^२ च निम्नेनाम् । सन्नोरां च प्रवेणीं च व्यतीयाय समं बलैः ॥८६॥

कुब्जां धैर्यां च चूर्णीं च वेणां सूकरिकामपि । अम्बवेणां च नदीं पश्यन् बाक्षिणात्यानशुश्रुवत् ॥८७॥

महेन्द्राद्रिं समाक्रमन् विन्ध्योपान्तं च निर्जयन् । नागपर्वतमध्यास्य प्रययी मलयाचलम् ॥८८॥

गोशीर्षं ददुराद्रिं च गिरिं पाण्ड्यकवाटकम् । शीतगुहमासीदन्^३ अगं श्रीकटनाह्वयम् ॥८९॥

श्रीपर्वतं च किष्किन्धं निर्जयञ्जयसाधनैः । तत्र तन्नीचिर्तेर्लाभैः अवर्धत चमूपतिः ॥९०॥

कर्णाटकान् स्कुटाटो^४ पविकटोद्भट^५ वेवकान् । हरिद्राञ्जनताम्बूलप्रियां प्रायो यशोधनान् ॥९१॥

आन्धान्^६ रुद्रप्रहारेषु कृतलक्षान्^७ कवयकान्^८ । पाषाणकठिनानङ्गैः न परं हृदयैरपि ॥९२॥

कालिङ्गकान् गज^९ प्रायसाधनान् सकलाधनान् । प्रायेण तावृशानोद्गान् जडानुड^{१०} मरप्रियां ॥९३॥

चोलिकाभालिकप्रायान्^{११} प्रायशोऽनूजुचेष्टितान्^{१२} । केरलान् सरलालापान् कलागोष्ठीषु^{१३} चञ्चुरान्^{१४}

पाण्ड्यान् प्रचण्डदोर्दण्डखण्डितारामण्डलान् । प्रायो गजप्रियां धन्विकुन्तभूयिष्ठसाधनान् ॥९४॥

॥८३॥ तथा वैतरणी, माषवती और महेन्द्रका इन नदियोंको अपने सैनिकोंके साथ पार कर वह शुष्क नदीपर जा पहुंचा था ॥८४॥ सप्तगोदावर नामके तीर्थ और पवित्र गोदावरीको देखता हुआ वह पवित्र हृदयवाला सेनापति मानस सरोवरको पाकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८५॥ तदनन्तर उसने सेनाओंके साथ साथ सुप्रयोगा नदीको पार कर कृष्णवर्णा, सन्नोरा और प्रवेणी नामकी नदीको पार किया ॥८६॥ तथा कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका और अम्बवर्णा नदीको देखते हुए उसने दक्षिण दिशाके राजाओंको चक्रवर्तीकी आज्ञा सुनाई ॥८७॥ फिर महेन्द्र पर्वतको उल्लंघन कर विन्ध्याचलके समीपवर्ती प्रदेशोंको जीतता हुआ नागपर्वतपर चढ़कर वह सेनापति मलय पर्वतपर गया ॥८८॥ वहांसे अपनी सेनाके साथ साथ गोशीर्ष, ददुर, पाण्ड्य, कवाटक और शीतगुह नामके पर्वतोंपर पहुंचा तथा श्रीकटन, श्रीपर्वत और किष्किन्ध पर्वतोंको जीतता हुआ वहांके राजाओंसे यथायोग्य लाभ पाकर वह सेनापति अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥८९-९०॥ प्रकट रूपसे धारण किये हुए आडम्बरोंसे जिनका वेष विकट तथा शूरवीरताको उत्पन्न करनेवाला है, जिन्हें हल्दी, तांबूल और अंजन बहुत प्रिय हैं, तथा जिनके यश ही धन है ऐसे कर्णाटक देशके राजाओंको, जो कठिन प्रहार करनेमें सिद्धहस्त हैं जो बड़े कृपण हैं और जो केवल शरीरकी अपेक्षा ही पाषाणके समान कठोर नहीं हैं किन्तु हृदय की अपेक्षा भी पाषाणके समान कठोर हैं ऐसे आंध्र देशके राजाओंको, जिनके प्रायः हाथियों की सेना है और जो कला-कौशल रूप धनसे सहित हैं ऐसे कलिङ्ग देशके राजाओंको, जो प्रायः कलिङ्ग देशके समान हैं, मूर्ख हैं और लड़नेवाले हैं ऐसे ओण्ड्र देशके राजाओंको, जिन्हें प्रायः भूठ बोलना बहुत प्रिय है और जिनकी चेष्टाएं कुटिल हैं ऐसे चोल देशके राजाओंको, मधुर गोष्ठी करनेमें प्रवीण तथा सरलतापूर्वक वार्तालाप करनेवाले केरल देशके राजाओंको, जिनके भुजदण्ड अत्यन्त बलिष्ठ हैं, जिन्होंने शत्रुओंको समूह नष्ट कर दिये हैं, जिन्हें हाथी बहुत प्रिय हैं और जो युद्धमें प्रायः धनुष तथा भाला आदि शस्त्रोंका अधिकतासे प्रयोग करत हैं ऐसे पाण्ड्य

१ तीर्थ अ०, स०, ल० । २ 'सुप्रवेगाम्' इत्यपि क्वचित् । ३ कृष्णवर्णा ल० । ४ अभ्यर्णा ल० । ५ श्रावयति स्म । ६ नागपर्वते स्थित्वा । ७ आगमत् । ८ गर्व । ९ मनोहरः । 'विकटः सुन्दरे प्रोक्तो विशालविकरालयोः' इत्यभिधानात् । १० दुःख । ११ कृतव्याजान् । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः । १२ कृपणान् । 'कवयै कृपणैः क्षुद्रकिपचानमितपचः' इत्यमरः । १३ करि-बहलसेनान् । १४ युद्ध । १५ द्राविडान् । १६ अलीक अनृत । १७ वक्रवर्तनान् । १८ कलगोष्ठीषु चञ्चुरान् ल०, द० । १९ प्रतीतान् ।

‘दृष्टापदानानन्याश्च तत्र तत्र व्युत्थितान्’ । जयसैन्यं रवस्कन्धे^१ सेनानीरनयद् वशम् ॥६६॥
 ते च सत्कृत्य सेनाय्यं पुरस्कृत्य ससाध्वसम् । चक्रिणं प्रणमन्ति स्म दूरादूरीकृतायतिम्^२ ॥६७॥
 करग्रहेण सम्पीड्य दक्षिणाशां बधूमिव । प्रसभं हततत्सारो दक्षिणाब्धिमागत् प्रभुः ॥६८॥
 लवङ्गलवलीप्रायम्^३ एलागुल्ललतान्तिकम्^४ । वेलोपान्तवनं पश्यन् महतीं धृतिमाप सः ॥६९॥
 तमासिवेविरं मन्दमान्दोलितसरोजलाः । एलासुगन्धयः सौम्या वेलान्तवनवायवः ॥१००॥
 मरुदुद्धतशाखाग्रविकीर्णसुमनोऽञ्जलिः । नूनं प्रत्यगृहीदेनं वनोद्देशो विशाम्पतिम् ॥१०१॥
 पवनाधूतशाखायः व्यक्तवटपद्मिनः स्वनेः । विश्रान्त्यं सैनिकानस्य व्याहरन्निव^५ पादपाः ॥१०२॥
 अथ तस्मिन् वनाभोगे^६ सैन्यमायासयद् विभुः । वैजयन्तमहाद्वारनिकटेऽम्बुनिधेस्तटे ॥१०३॥
 सन्नागं^७ बहुपुन्नागं^८ सुमनोभि^९ रधिष्ठितम् । बहुपत्ररथं^{१०} जिष्णोः बलं तद्वनमावसत्^{११} ॥१०४॥

देशके राजाओंको और जिन्होंने प्रतिकूल खड़े होकर अपना पराक्रम दिखलाया है ऐसे अन्य देशके राजाओंको सेनापतिने अपनी विजयी सेनाके द्वारा आक्रमण कर अपने आधीन किया था ॥९१-९६॥ उन राजाओंने सेनापतिका सत्कार कर तथा भयसहित कुछ भेंट देकर जिन्होंने उनका भविष्यत्काल अर्थात् आगे राजा बना रहने देना स्वीकार कर लिया है ऐसे चक्रवर्तीको दूरसे ही प्रणाम किया था ॥९७॥ जिस प्रकार पुरुष करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण संस्कार से किसी स्त्रीको वशीभूत कर लेता है उसी प्रकार चक्रवर्ती भरतने करग्रह अर्थात् टैक्स वसूलीसे दक्षिण दिशाको अपने वश कर लिया था और फिर जबरदस्ती उसके सार पदार्थोंको छीनकर दक्षिण समुद्रकी ओर प्रयाण किया था ॥९८॥ वहाँ वह चक्रवर्ती, जिनमें प्रायः लवंग और चन्दनकी लताएं लगी हुई हैं तथा जो इलायचीके छोटे छोटे पौधोंकी लताओंसे सहित है ऐसे किनारेके समीपवर्ती वनको देखता हुआ बहुत भारी संतोषको प्राप्त हुआ था ॥९९॥ जो तालाबोंके जलको हिला रहा है, जिसमें इलायचीकी सुगन्धि मिली हुई है और जो सौम्य है ऐसे किनारेके वनकी वायु उस चक्रवर्तीकी सेवा कर रही थी ॥१००॥ वायुसे हिलती हुई शाखाओंके अग्रभागसे जिसने फूलोंकी अंजलि दिखेर रखी है ऐसा वह वनका प्रदेश ऐसा जान पड़ता था मानो इस चक्रवर्तीकी अगवानी ही कर रहा हो ॥१०१॥ वृक्षोंकी शाखाओं के अग्रभाग वायुसे हिल रहे थे और उनपर भ्रमर स्पष्ट शब्द कर रहे थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे वृक्ष हाथ हिला हिलाकर भ्रमरोंके शब्दोंके बहाने पुकार पुकारकर विश्राम करनेके लिये भरतके सैनिकोंको बुला ही रहे हों ॥१०२॥

अथानन्तर—चक्रवर्तीने उस वनके मैदानमें समुद्रके किनारे वैजयन्त नामक महा-द्वारके निकट अपनी सेना ठहराई ॥१०३॥ वह वन और भरतकी सेना दोनों ही समान थे क्योंकि जिस प्रकार वन सनाग अर्थात् मोथाके पौधोंसे सहित था उसी प्रकार सेना भी सनाग अर्थात् हाथियोंसे सहित थी, जिस प्रकार वन बहुपुन्नाग अर्थात् नागकेशरके बहुत वृक्षोंसे सहित था उसी प्रकार सेना भी बहुपुन्नाग अर्थात् अनेक उत्तम पुरुषोंसे सहित थी, जिस प्रकार वन सुमन अर्थात् फूलोंसे सहित था उसी प्रकार वह सेना भी सुमन अर्थात् देव अथवा अच्छे हृदय-वाले पुरुषोंसे सहित थी, और जिस प्रकार वन बहुपत्र रथ अर्थात् अनेक पक्षियोंसे सहित होता

१ दृष्टसामर्थ्यात् । ‘अपदानं कर्मणि स्यादतिवृत्तेऽवखण्डने ।’ इत्यभिधानात् । २ अभ्युत्थितान् । ३ आक्रम्य । ४ अङ्गीकृतसम्पदम् । ५ बलात्कारेण । ६ चन्दनलता । ७ ‘तताङ्कितम्’ इत्यपि क्वचित् । तत् विस्तृतम् । ८ आह्वयन्ति स्मेव । ९ विस्तारे । १० प्रशस्तगजम् । सुनागवृक्षं च । ११ पुरुषश्रेष्ठं नागकेशरं च । १२ देवः कुसुमैश्च । १३ बहुवाहनरयन्दनम् बहुलविहगञ्च । ‘पतन्निपत्रि पतगपतत्पत्ररथाङ्गजाः’ इत्यभिधानात् । १४ एवंविधं बलमेवंविधं वनमावसत् ।

सच्छायान्^१ सकलान्स्तुङ्गान् बहुपत्रपरिच्छदान् । असेवन्त जनाः प्रीत्या^२ पार्थिवान्तापविच्छिदः ॥१०५॥
 सच्छायान्पयसम्भाव्य फलान् प्रीज्य महाद्रुमान् । सकलान् चिरलच्छायान् अप्यहो शिश्रियुज्जनाः ॥१०६॥
 'आकालिकीमनाहृत्य बहिःछायां तदातनीम् । भाविनीं तश्मूलेषु छायामाशिश्रियुज्जनाः'^३ ॥१०७॥
 वनस्थलीस्तच्छायानिरुद्धधुमणित्विषः । 'सजानयस्तरस्तीरेष्वध्यासिषत सैनिकाः ॥१०८॥
 सप्रेयसीभिराबद्धप्रणयैराश्रिता नृपैः । कल्पपादयजां लक्ष्मीं व्यक्तमूर्ध्वनद्रुमाः ॥१०९॥
 कपयः कपिकच्छनास्^४ उद्धुनानाः फलच्छटाः^५ । सैनिकानाकुलान्द्वक्रुः निविष्टान् वीरुधामयः ॥११०॥
 सरःपरितरंज्यासन् प्रभोराश्वीयमन्दुराः । सुन्दराः स्वेरमाहार्यैः^६ बाष्पच्छेद्यैस्तृणादकुरैः^७ ॥१११॥

है उसी प्रकार वह सेना भी अनेक सवारियों और रथोंसे सहित थी, इस प्रकार भरतकी वह सेना अपने समान वनमें ठहरी ॥१०४॥ उस वनके पार्थिव अर्थात् वृक्ष (पृथिव्यां भवः, 'पार्थिवः') अर्थात् राजाओं (पृथिव्या अधिपः 'पार्थिवः') के समान थे, क्योंकि जिस प्रकार राजा सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सच्छाया अर्थात् उत्तम छाया (छाँहरी) से सहित थे, जिस प्रकार राजा लोग सफल अर्थात् आयसे सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सफल अर्थात् फलोंसे सहित थे । जिस प्रकार राजा लोग तुङ्ग अर्थात् ऊंची प्रकृतिके—उदार होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी तुंग अर्थात् ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा लोग बहुपत्रपरिच्छद अर्थात् अनेक सवारी आदिके वैभवसे सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी बहुपत्रपरिच्छद अर्थात् अनेक पत्तोंके परिवारसे सहित थे और जिस प्रकार राजा लोग ताप अर्थात् दरिद्रतासम्बन्धी दुःखको नष्ट करनेवाले होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी ताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गर्मीको नष्ट करनेवाले थे, इस प्रकार भरतके सैनिक, राजाओंकी समानता रखनेवाले वृक्षोंका आश्रय बड़े प्रेमसे ले रहे थे ॥१०५॥ सेनाके कितने ही लोग उत्तम छायासे सहित होनेपर भी जिनसे फल मिलने की संभावना नहीं थी ऐसे बड़े बड़े वृक्षोंको छोड़कर थोड़ी छाया वाले किन्तु फलयुक्त वृक्षों का आश्रय ले रहे थे । भावार्थ—जिस प्रकार धनाढ्य होनेपर भी उन्नत वृत्ति न देनेवाले कंजूस स्वामीको छोड़कर सेवक लोग अल्पधनी किन्तु उचित पृष्टि देनेवाले उदार स्वामीका आश्रय लेने लगते हैं उसी प्रकार सैनिक लोग फलरहित बड़े बड़े वृक्षोंको छोड़कर फलरहित छोटे छोटे वृक्षोंका आश्रय ले रहे थे ॥१०६॥ सेनाके लोग उस समयकी थोड़ी देर रहनेवाली बाहिरकी छाया छोड़कर वृक्षोंके नीचे आगे आनेवाली छायामें बैठे थे ॥१०७॥ वनस्थली के वृक्षोंकी छायासे जिनपर सूर्यका धूप रुक गया है ऐसे कितने ही सैनिक अपनी अपनी स्त्रियों सहित तालाबोंके किनारोंपर बैठे हुए थे ॥१०८॥ परस्परके प्रेमसे बंधे हुए राजा लोग अपनी अपनी स्त्रियों सहित जिनके नीचे बैठे हुए हैं ऐसे वनके वृक्ष कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुई शोभा को स्पष्ट रूपसे धारण कर रहे थे । भावार्थ—वनके वे वृक्ष कल्पवृक्षोंके समान जान पड़ते थे और उनके नीचे बैठे हुए स्त्री-पुरुष भोगभूमिके आर्य तथा आर्याओंके समान मादृग् होते थे ॥१०९॥ वहाँ करैचके फल-समूहोंको हिलाते हुए वानर उन लताओंके नीचे बैठे हुए सैनिकों को व्याकुल कर रहे थे क्योंकि करैचके फलके रोये शरीरपर लग जानेसे खुजली उठने लगती है ॥११०॥ तालाबोंके समीप ही इच्छानुसार चलने योग्य तथा भापसे ही टूटनेवाले वायुके

१ सच्छायान् तेजस्विनश्च । २ बहुदलपरिकरान्, बहुबाहनपरिकरान्च । ३ वृक्षान् नृपतीन्च । ४ अशिश्रियम् । ५ —माशिश्रियुज्जनाः ल०, द० । ६ स्त्रीसहिताः । ७ मर्कटीनाम् । 'पार्थिवच्छुष्य मर्कटी' इत्यभिधानात् । ८ फलमञ्जरीः । ९ लतानाम् । १० सर्वत्रप्रदेशेषु मुलभैरित्यर्थः । ११ कोमलैः ।

अवतारितपर्वाणि^१ मुखभाण्डाद्युपस्कराः । स्फुरत्प्रोथंमुखैरश्वः^२ क्वां^३ जघ्नुर्विविबुत्सवः^४ ॥११२॥
 सान्द्रपद्मरजःकीर्णः^५ सरसामन्तिकस्थले । मन्दं^६ दुधुबुरङ्गानि वाहाः कृतविवर्तनाः ॥११३॥
 विबभावम्बरे कञ्जरजःपुञ्जोऽनिलोद्भूतः^७ । अयत्नं^८ रचितोऽश्वानामिवोच्चैः पटमण्डपः ॥११४॥
 रजस्वलां^९ महीं स्पृष्ट्वा^{१०} जुगुप्सव इवोत्थिताः । द्रुतं^{११} विविशुरम्भांसि सरसीनां महाहवाः ॥११५॥
 वारि^{१२} वारिजकिञ्जल्कततान्यश्वः विगहिताः । धीतमप्यङ्गरागं स्वं भेजुरम्भोजरेणुभिः ॥११६॥
 सरोवगाहनिर्वृतश्रमाः पीताम्भसो हवाः । अमीलितक्षमव्यूषुः विततान् पटमण्डपान् ॥११७॥
 नालिकेरद्रुमेष्वासीद् उच्चितो^{१३} वर्षमशालिनः । निवेशो हास्तिकस्थास्य विभोस्तालीवनेषु च ॥११८॥
 प्रपतन्नालिकेरौवस्थपुटा वनभूमयः । हस्तिनां स्थानतामीयुः तैरेव^{१४} प्रान्तसारितैः^{१५} ॥११९॥
 द्विपातुदन्मत्^{१६} स्तीव्रं वमयुव्यञ्जित^{१७} श्रमान् । निन्युर्जलोपयोगाय सरास्थभिनिषादिनः^{१८} ॥१२०॥
 नीचैर्गतेन^{१९} सुव्यक्तमार्गसञ्जनितश्रमान् । गजानाधोरणा निन्युः सरसोरवगाहने^{२०} ॥१२१॥

अंकुरोंसे सुन्दर, चक्रवर्तीके घोड़ोंकी घुड़सालें थीं ॥१११॥ जिनपरसे पलान और लगाम आदि सामग्री उतार ली गई है ऐसे घोड़े जमीनपर लोटनेकी इच्छा करते हुए, जिनमें नाकके नथने हिल रहे हैं ऐसे मुखोंसे जमीनको सूँघ रहे थे ॥११२॥ कमलोंकी सान्द्र परागसे भरे हुए, तालाबके समीपवर्ती प्रदेशपर लोटकर वे घोड़े धूलि झाड़नेके लिये धीरे धीरे अपने शरीर हिला रहे थे ॥११३॥ जो कमलोंकी परागका समूह वायुसे उड़कर आकाशमें छा गया था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो घोड़ोंके लिये बहुत ऊँचा कपड़ेका मण्डप ही बनाया गया हो ॥११४॥ बड़े बड़े घोड़े पृथिवीको रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त (पक्षमें रजोधर्म से युक्त) देखकर ग्लानि करते हुए से उठे और शीघ्र ही सरोवरोंके जलमें घुस गये ॥११५॥ कमलकी केशरसे भरे हुए जलमें प्रविष्ट हुए घोड़ोंका अंगराग (शोभाके लिये शरीरपर लगाया हुआ एक प्रकारका लेप) यद्यपि धुल गया था तथापि उन्होंने कमलोंके परागसे अपने उस अंगरागको पुनः कर प्राप्त लिया था । भावार्थ—कमलोंकी केशरसे भरे हुए पानीमें स्नान करनेसे उनके शरीरपर जो कमलोंकी केशरके छोटे छोटे कण लग गये थे उनसे अंगराग की कमी नहीं मालूम होती थी ॥११६॥ सरोवरोंमें घुसकर स्नान करनेसे जिनका सब परिश्रम दूर हो गया है और जिन्होंने इच्छानुसार जल पी लिया है ऐसे घोड़े कपड़ेके बड़े बड़े मंडपों में कुछ कुछ नेत्र बन्द किये हुए खड़े थे ॥११७॥ ऊँचे ऊँचे शरीरोंसे सुशोभित होनेवाले, महाराज भरतके हाथियोंके डेरे नारियल और ताड़ वृक्षके वनोंमें बनाये गये थे जो कि सर्वथा उचित थे ॥११८॥ जो वनकी भूमि ऊपरसे पड़ते हुए नारियलोंके समूहसे ऊँची नीची हो रही थी वही नारियलोंके एक ओर हटा देनेसे हाथियोंके योग्य स्थान बन गई थी ॥११९॥ जिन्हें बहुत प्यास लगी है तथा जो वमथु अर्थात् सूँड़से निकाले हुए जलके छींटोंसे अपना परिश्रम प्रकट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग पानी पिलानेके लिये तालाबोंपर ले गये थे ॥१२०॥ जो धीरे धीरे चलनेसे मार्गमें उत्पन्न हुए परिश्रमको प्रकट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत

१ पत्थयनखलीनादिपरिकराः । २ आघ्रापयन्ति स्म । ३ विवर्तयितुमिच्छन् । ४ —कीर्णं ल० । ५ कम्पयन्ति स्म । ६ —निलोद्भूतः ल० । ७ अयं नु ल० । ८ कुमुभरजोवतीम्, ऋतुमतीमिति ध्वनिः । ९ दृष्ट्वा ल०, द० । १० जलानीत्यर्थः । ११ प्रमाणम् । 'वर्षं देहप्रमाणयोः' इत्यभिधानात् । १२ गजैरेव । १३ स्वकरैर्भीत्याकारेण पर्यन्तप्रसारितैः । १४ तृषितान् । 'उदन्त्या तु पिपासा तृट्' इत्यभिधानात् । १५ करशीकरप्रकटित । 'वमथुः करशीकरः' इत्यभिधानात् । १६ हस्त्यारोहाः । 'हस्त्यारोहो निषादिनः' इत्यमरः । १७ मन्दगमनेन । स्खलद्गमनेन वा । अगमनेनेत्यर्थः । 'अल्पे नीचैर्मह्युच्चैः' १८ अवगाहनार्थम् ।

प्रवेष्टुमब्जिनीपत्रच्छदं नागो नवग्रहः^१ । नैच्छत् प्रचोद्यमानोऽपि वारि वारी^२ विशङ्कया ॥१२२॥
 वनं विलोकयन् स्वरं कवलोचितपल्लवम् । गजदिचरगृहीतोऽपि किमप्यासीत् समुत्सुकः ॥१२३॥
 स्वरं न पपुरम्भांसि नागूल्लन् कथलानपि । केवलं वनसम्भोगसुखानां^३ स्मरुर्गजाः ॥१२४॥
 उत्पुष्करान् स्फुरद्बीजम् कक्ष्याभिन्युद्विपान् सरः । सशयूनिव^४ नीलाद्रीन् सविद्युत् इवाम्बुदान् ॥१२५॥
 वनद्विपमदामोदवाहिने गन्धवाहिने^५ । अजः कुप्यञ्जलोपास्तं नित्ये कृच्छ्राग्निषादिना ॥१२६॥
 अकस्मात् कुपितो वन्तो शिरस्तिर्यग्मिधूनयन् । अनङ्कशवशस्तीव्रम् आधोरणमखेदयत् ॥१२७॥
 वन्यानेकपसम्भोगसङ्कान्तमदवासनाम् । 'विसोढुं सरसीं नैच्छन्मदेभः करिणोभिव ॥१२८॥
 पीतं वनद्विपैः पूर्वम् श्रम्बु तद्दानवासितम् । द्विपः करेण सञ्जिघृन्^६ नापादास्फालयत् परम् ॥१२९॥
 पीताम्भसो मदासारं वृद्धिं नित्युः सरोजलम् । गजा मुधा धनादानं नूनं वाञ्छन्ति नोभ्रताः ॥१३०॥
 उत्पुष्करं सरोमध्ये निमग्नोऽपि मदद्विपः । रंरणद्भिः^७ खमुत्पत्य व्यज्यते स्म मधुयतैः ॥१३१॥
 पीताम्बुरम्बुदस्पर्धि बृ^८हितो मदकुञ्जरः । दुधाव^९ गण्डकण्डूयां^{१०} चण्डगण्डूषवारिभिः ॥१३२॥

लोग नहलानेके लिये तालाबोंपर ले गये थे ॥१२१॥ कोई नवीन पकड़ा हुआ हाथी बार-बार प्रेरित होनेपर भी कमलिनीके पत्तोंसे ढके हुए जलमें समुद्रकी आशंकासे प्रवेश नहीं करना चाहता था ॥१२२॥ बहुत दिनका पकड़ा हुआ भी कोई हाथी अपने इच्छानुसार खाने योग्य नवीन पत्तोंवाले वनको देखता हुआ विलक्षण रीतिसे उत्कण्ठित हो रहा था ॥१२३॥ कितने ही हाथियोंने इच्छानुसार न तो पानी ही पिया था और न घास ही उठाये थे, वे केवल वनके संभोग-सुखोंका स्मरण कर रहे थे ॥१२४॥ जिनकी सूँड़ ऊंची उठी हुई है और जिनकी बगलमें सुवर्ण की मालाएं देदीप्यमान हो रही हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग सरोवरोंपर ले जा रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे जान पड़ते थे मानो अजगर सहित नील पर्वत ही हो अथवा बिजली सहित मेघ ही हों ॥१२५॥ जो जंगली हाथीके मदकी गन्धको धारण करनेवाले वायुसे कुपित हो रहा है ऐसे किसी हाथीको उसका महावत बड़ी कठिनाईसे जलके समीप ले जा सका था ॥१२६॥ अचानक कुपित हुआ कोई हाथी अपने शिरको तिरछा हिला रहा था, वह अंकुशके वश भी नहीं होता था और महावतको खेद खिन्न कर रहा था ॥१२७॥ जंगली हाथीके संभोगसे जिसमें मदकी वास फैल रही है ऐसी हाथिनीको जिस प्रकार कोई मदोन्मत्त हाथी नहीं चाहता है उसी प्रकार जिसमें जंगली हाथियोंकी कीड़ासे मदकी गंध मिली हुई है ऐसी सरोवरीमें कोई मदोन्मत्त हाथी प्रवेश नहीं करना चाहता था ॥१२८॥ जिस पानीको पहले वनके हाथी पी चुके थे और इसीलिये जो मदकी गन्धसे भरा हुआ था ऐसे पानीको सेनाके हाथियोंने नहीं पिया था, वे केवल सूँड़से सूँघ सूँघकर उसे उछाल रहे थे ॥१२९॥ जिन हाथियोंने तालाबका पानी पिया था उन्होंने अपना मद बहा बहाकर तालाबका वह पानी बड़ा दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो उन्नत अर्थात् बड़े होते हैं वे किसीका व्यर्थ ही धन लेनेकी इच्छा नहीं करते हैं ॥१३०॥ कोई मदोन्मत्त हाथी यद्यपि सूँड़ ऊपर उठाकर तालाबके मध्यभागमें डूबा हुआ था तथापि आकाशमें उड़कर शब्द करते हुए भूमरोंसे 'वह यहाँ है', इस प्रकार साफ समझ पड़ता था । ॥१३१॥ जो पानी पी चुका है और जिसकी गर्जना मेंघोंके साथ स्पर्धा कर रही है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी अपने कुरलेके जलकी तेज फटकारसे कपोलोंकी खुजली शान्त कर रहा था

१ नवोत्तनी ग्रहः स्त्रीकारो यस्य सः । २ गजबन्धनहेतुभूतगतिशङ्कया । 'वारी तु गजबन्धनी' इत्यभिधानात् । ३ वनस्य सम्भोगाज्जातसुखानाम् । ४ उद्गतहस्ताग्रान् । ५ सुवर्णमयसवरान् । 'द्विष्या कक्ष्या वरत्रा स्यात्' इत्यभिधानात् । ६ अजगरसहितान् । ७ अनिलाय । ८ विगाढं ल०, द० । ९ आघ्रापयन् । १० न पिबन्ति स्म । ११ भृशं गुञ्जद्भिः । १२ अपनयति स्म । १३ कपोलकण्डूयनम् ।

विमुक्तं व्यक्तसूक्तारं करमुत्क्षिप्य वारणः । वारि स्फटिकदण्डस्य लक्ष्मीमूहे खमुञ्चलत्^१ ॥१३३॥
 'उदगाहैविनिर्धृतश्रमाः केचिन्मतङ्गजाः । बिसभङ्गं^२ रधुस्तृप्तिं हेलया कवलीकृतः ॥१३४॥
 मृणालैरधिदन्ताग्रम् अपितैविबभुर्गजाः । अजस्रमम्बुसंसेकाद् रदैः^३ प्रारोहितैरिव^४ ॥१३५॥
 प्रमाद्यन् द्विरदः कश्चिन्मृणालं स्वकरोद्धृतम् । ददावालान^५ बुद्ध्यैव नियन्त्रे^६ द्विगुणीकृतम् ॥१३६॥
 चरणालग्नमाकर्षन् मृणालं भीलुको गजः । बहिःसरस्तटं^७ व्यास्थद्^८ अन्दुतन्तुक^९ शङ्कया ॥१३७॥
 करैरुत्क्षिप्य पद्मानि स्थिताः स्तम्बेरमा बभुः । देवतानुस्मृतिं किञ्चित् कुर्वन्तोऽर्धैरिवोद्धृतैः ॥१३८॥
 सरस्तरङ्गधौताङ्गा रजस्तुङ्गा मतङ्गजाः । शृङ्गारिता इवालग्नैः सान्द्रैरम्भोजरेणुभिः ॥१३९॥
 ययुः करिभिरारुद्धं परिहृत्य^{१०} सरोजतम् । पतत्रिणः सरस्तीरं तद्युक्तमबलीयसात् ॥१४०॥
 सरोवगाहनिर्णक्त^{११} मूर्तयोऽपि मतङ्गजाः । रजः^{१२} प्रमाथैरात्मानं चक्रुरेव मलीमसम् ॥१४१॥
 वयं जात्यैव मातङ्गा^{१३} मदेनोद्दीपिताः पुनः । कुतस्तया शुद्धिरस्माकम् इत्यासं नु^{१४} रजो गजैः ॥१४२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं सरस्सु रुचिरं प्रविहृत्य नागाः सन्तापमन्त^{१५} रुचिं प्रशमय्य तोयैः ।

तीरद्विमानुपययुः किमपि प्रतोषात् बन्धं तु तत्र नियतं न विदाम्ब^{१६} भूवः ॥१४३॥

॥१३२॥ कितने ही हाथी सूड़ ऊँची उठाकर सू सू शब्द करते हुए ऊपरको पानी छोड़ रहे थे, उस समय आकाशकी ओर उछलता हुआ वह पानी ठीक स्फटिक मणिके बने हुए दण्डेकी शोभा धारण कर रहा था ॥१३३॥ पानीमें प्रवेश करनेसे जिनका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसे कितने ही हाथी लीलापूर्वक मृणालके टुकड़े खाकर संतोष धारण कर रहे थे ॥१३४॥ कितने ही हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागपर रखे हुए मृणालोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निरन्तर पानीके सींचनेसे उनके दाँत ही अकुरित हो उठे हों ॥१३५॥ मदसे अत्यन्त उन्मत्त हुआ कोई हाथी अपनी सूड़से ऊपर उठाये हुए मृणालको बाँधनेकी साँकल समझकर उसे दुहरी कर महावतको दे रहा था ॥१३६॥ अपने पैरमें लगे हुए मृणालको खींचता हुआ कोई डरपोक हाथी उसे बाँधनेकी साँकल समझकर तालाबके बाहरी तटपर ही खड़ा रह गया था ॥१३७॥ अपनी सूड़ोंसे कमलोंको उठाकर खड़े हुए हाथी ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हाथीमें अर्ध लेकर किसी देवताका कुछ स्मरण ही कर रहे हों ॥१३८॥ जिनके शरीर तालाबकी लहरोंसे धुल गये हैं ऐसे ऊँचे ऊँचे हाथी सघन रूपसे लगे हुए कमलोंकी परागसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्नान कराकर उनका शृङ्गार ही किया गया हो ॥१३९॥ हाथियोंसे घिरे हुए तालाब के जलको छोड़कर सब पक्षी तालाबके किनारेपर नूले गये थे सो ठीक ही है क्योंकि निर्बल प्राणियोंको ऐसा ही करना योग्य है ॥१४०॥ तालाबोंमें प्रवेश करनेसे जिनके शरीर निर्मल हो गये हैं ऐसे कितने ही हाथी धूल उड़ाकर फिरसे अपने आपको मैला कर रहे थे ॥१४१॥ प्रथम तो हम लोग जातिसे ही मातंग अर्थात् चाण्डाल हैं (पक्षमें—हाथी हैं) और फिर मद अर्थात् मदिरासे (पक्षमें—गण्डस्थलसे बहते हुए तरल पदार्थसे) उत्तेजित हो रहे हैं इसलिये हम लोगोंकी शुद्धि अर्थात् पवित्रता (पक्षमें—निर्मलता) कहांसे रह सकती है ऐसा समझकर ही मानो हाथियोंने अपने ऊपर धूल डाल ली थी ॥१४२॥ इस प्रकार वे हाथी बहुत देर तक सरोवरोंमें क्रीड़ा कर और अन्तरङ्गमें उत्पन्न हुए संतापको जलसे शान्त कर किनारेके वृक्षों

१ खमुञ्चलत् ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । २ जलावगाहैः । ३ मृणालखण्डैः । ४ धृतवन्तः । ५ दन्तैः ल०, द० । ६ संजातप्रारोहैः, अङ्कुरितैः । ७ बन्धनरज्जुः । ८ आरोहकाय । ९ सरस्तीबाह्य-प्रदेशे । १० प्रक्षिपति स्म । 'असु क्षेपणे' । ११ शृङ्गललासूत्र । 'अथ शृङ्गलले । अन्दुको निगलीऽस्त्री स्याद्' इत्यभिधानात् । १२ त्यक्त्वा । १३ शुद्ध । १४ धूलिप्रक्षेपैः । १५ स्वपक्षाः इति ध्वनिः । १६ इव । १७ अभ्यन्तरोद्भूतम् । १८ न विदन्ति स्म ।

हृत्वा सरोजम् करिणो निजदानवारि संवर्धितं विनिमयादनुणाशच सन्तः ।
 तद्वोचिहस्तजनितप्रतिरोधशङ्का व्यासङ्गिनी नु सरसः प्रसभं निरीयुः ॥१४४॥
 आधोरणा मदमयीमलिनान् करीन्द्रान् निर्णेतुं मम्बु सरसामवगाहयन्तः ।
 शेकुनं केवलमपामुपयोगमात्रं तीरस्थिताननु नयैस्तदचीकरन्तः ॥१४५॥
 स्वैरं नवाम्बुपरिपीतमयत्नलभ्यतीरद्रुमेषु न कृतः कवलग्रहोऽपि ।
 छायास्वलम्बि न तु विश्रमणं प्रभिन्नः स्तम्बैरमेवैत मदः खलु नात्मनीनः ॥१४६॥
 नाध्वा द्रुतं गुह्यतरैरपि नातिघातो युद्धेषु जातु न किमप्यपराद्धमेभिः ।
 भारक्षमाश्च करिणः सविशेषमेव बद्धास्तथाप्यनिभृता इति दिक्चलत्वम् ॥१४७॥
 बन्धीय नः किमिति हन्त विनापराधात् जानीत भोः प्रतिफलत्यचिरादिव वः ।
 इत्युच्चलत्सुणि विधूय शिरांसि बन्धे वैरं नु यन्तूषु गजाः स्म विभावयन्ति ॥१४८॥
 आघातुको द्विरदिनः सविशेषमेव मात्रापराण्तरं वालधिषु न्ययोजि ।
 बन्धेन सिन्धुरवरास्त्वितरे तथा नो गाढीभवत्यविरताग्रं परैत्रं बन्धः ॥१४९॥

के समीप आ गये थे, यद्यपि वहाँ उनके बाँधनेका स्थान नियत था तथापि श्रीड़ासे उत्पन्न हुए अतिशय संतोषसे उन्हें उसका कुछ भी ज्ञान नहीं था ॥१४३॥ हाथियोंने तालाबोंका जो पानी पिया था उसे मानों अपना बदला चुकाने के लिये ही अपने मदरूपी जल से बढ़ा दिया था, इस प्रकार प्यास रहित हो सुखकी साँस लेते हुए वे हाथी, 'ये तालाब अपनी लहरेंरूपी हाथोंसे' कहीं हमें रोक न लें' ऐसी आशंका कर तालाबोंसे शीघ्र ही बाहर निकल आये थे ॥१४४॥ मदरूपी स्याहीसे मलिन हुए हाथियोंको निर्मल करनेके लिये तालाबोंके जलमें प्रवेश कराते हुए महावत जब उन्हें जलके भीतर प्रविष्ट नहीं करा सके तब उन्होंने केवल जल ही पिलाना चाहा परन्तु बहुत कुछ अनुनय विनय करनेपर भी वे किनारे पर खड़े हुए उन हाथियोंको केवल जल भी पिलानेके लिये समर्थ नहीं हो सके थे । भावार्थ—मदोन्मत्त हाथी न तो पानीमें ही घुसे थे और न उन्होंने पानी ही पिया था ॥१४५॥ मदोन्मत्त हाथियोंने न तो अपने इच्छा-नुसार बिना यत्नके प्राप्त हुआ पानी ही पिया था, न किनारेके वृक्षोंसे कुछ तोड़कर खाया ही था, और न वृक्षोंकी छायामें कुछ विश्राम ही प्राप्त किया था, खेद है कि यह मद कभी भी आत्मा का भला करनेवाला नहीं है ॥१४६॥ इन हाथियोंने शरीर भारी होनेसे शीघ्र ही मार्ग तय नहीं किया यह बात नहीं है अर्थात् इन्होंने भारी होनेपर भी शीघ्र ही मार्ग तय किया है, इन्होंने युद्धमें भी कभी अपराध नहीं किया है और ये भार ढोनेके लिये भी सबसे अधिक समर्थ हैं फिर भी केवल चंचल होनेसे इन्हें बढ़ होना पड़ा है इसलिये इस चंचलताको ही धिक्कार हो ॥१४७॥ तुम लोग इस प्रकार बिना अपराधके हम लोगोंको क्यों बांध रहे हो ? तुम्हारा यह कार्य तुम्हें शीघ्र ही इसका बदला देगा यह तुम खूब समझ लो इस प्रकार बांधनेके कारण महावतोंमें जो वैर था उसे वे हाथी अंकुशको ऊपर उछालकर मस्तक हिलाते हुए स्पष्ट रूपसे जतला रहे थे ॥१४८॥ जो हाथी जीवोंका घात करनेवाले थे वे शरीरके आगे पीछे तथा सूँड़ और पूँछ आदि

१ नैमेयात् । 'परिदानं परीवर्तं नैमेयनियमावपि' इत्यभिधानात् । २ -दनुषाः श्वसन्तः ल० ।
 -दनुषाः श्वसन्तः व० । ३ शुद्धान् कर्तुम् । ४ तीरे स्थितान्- ल० । ५ कारयन्ति स्म । ६ नैव ।
 ७ मर्तः । 'प्रभिन्नो गजितो मर्तः' इत्यभिधानात् । ८ आत्महितम् । ९ नानुयातो प०, ल० । १० चञ्चलाः ।
 ११ बन्धनं कुरुष्व । १२ लोट् । १३ भोः यूयम् । १४ उच्चलदंकुशं यथा भवति तथा । 'अंकुशोऽस्त्री
 सुणिः स्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । १५ हिंसकः । 'शरार्यातुको हिंसः' इत्यभिधानात् । १६ अपरगात्रान्त ।
 शरीरापरभाग । 'द्वौ पूर्वपश्चादङ्गुलिकादिदेशौ मात्रापरं क्रमात्' इति रभसः । गात्रे इत्युक्ते पूर्वजङ्घा,
 अपरे इत्युक्ते हस्तिनः अपरजङ्घा, अन्त इत्युक्ते हस्तिनो मध्यप्रदेशः, कर इत्युक्ते हस्तिनो हस्तः, वालधिरित्युक्ते
 पुच्छविशेषः । शरीरमध्य । १७ अघातुकाः । १८ अतंघ्रतात् । अग्रतिकादित्यर्थः । १९ संयते ।

आलानिता वनतरुष्वतिमात्रमुच्चस्कन्धेषु तिन्युरवराश्च 'तथोच्चकर्म्यत्' ।
तन्नूनमाश्रयणमिष्टमुदात्तमेव सन्धारणाय महतामहतात्मसारम् ॥१५०॥
इत्थं नियन्तृभिरनेकपवृन्दमुच्चैः आलानितं तरुषु सामि^१ निमीलिताक्षम् ।
तस्थौ सुखं विचतुरेण^२ कृताङ्गहारं^३ लीलोपयुक्तकवलं स्फुटकर्मतालम् ॥१५१॥
उत्तारिताखिलपरिच्छदलाघवेन प्रव्यञ्जितद्रुतगतिर्क^४मलक्षयवेगाः ।
आपातुमम्बुसरसां परितः प्रसख्यः उच्छृङ्खलै^५रनुगताः कलभैः करिण्यः ॥१५२॥
प्राक्पीतमम्बु सरसां 'कृतमीष्टकेण' स्वोद्गाल^६दूषितमुपात्ततदङ्ग^७गन्धम् ।
नापातुमंच्छदुदिवस्य^८षितोर्जपि वक्^९सर्वो हि बाञ्छति जनो विषयं मनोज्ञम् ॥१५३॥
पीतं पुरा गजतया सलिलं मदाम्बु संवासितं सरसिजाकरमेत्य तूष्णम् ।
प्रीत्या पपुः कलभकाश्च करेणवश्च सम्भोगहेतुरुदितो^{१०} हि सगन्ध^{११}भावः ॥१५४॥

प्रहर्षिणी

पीत्वाऽम्भो व्यपगमितान्तरङ्गतापाः सन्तापं बहिरुदितं सरोवगाहैः ।
नीत्वान्तं^{१२} गजकलभैः समं करिण्यः सम्भोक्तुं सपदि वनद्रुमान् विचेरुः ॥१५५॥

सब जगह बन्धनोंसे युक्त किये गये थे और जो हाथी किसीका घात नहीं करते थे वे बन्धनसे युक्त नहीं किये गये थे इससे यह सिद्ध होता है कि जो अविरत अर्थात् हिंसा आदि पापोंके त्यागसे रहित हैं उन्हींके कर्मबन्धन सुदृढ़ रूपसे होता है और जो विरत अर्थात् हिंसा आदि पापोंके त्यागसे सहित हैं उनके कर्मका बन्ध नहीं होता ॥१४९॥ जिनके स्कन्ध बहुत ऊंचे गये हैं ऐसे वनके वृक्षोंमें ही सेनाके ऊंचे ऊंचे हाथी बांधे गये थे सो ठीक ही है क्योंकि महा-पुरुषोंको धारण करनेके लिये जिसकी स्वशक्ति नष्ट नहीं हुई है ऐसा बहुत बड़ा ही आश्रय चाहिये ॥१५०॥ इस प्रकार महावतोंके द्वारा ऊंचे वृक्षोंमें बांधा हुआ वह हाथियोंका समूह अपनी आधी आंखें बन्द किये हुए सुखसे खड़ा था, उस समय वह अपना सब शरीर हिला रहा था, लीलापूर्वक ग्रास ले रहा था और कान फड़फड़ा रहा था ॥१५१॥ प्लान आदि सब सामान उतार लेनेसे हलकी होकर जिन्होंने जल्दी जल्दी चलकर अपनी शीघ्र गति प्रकट की है, तथा चंचल बच्चे जिनके पीछे पीछे आ रहे हैं ऐसी हथिनियाँ तालाबोंका पानी पीनेके लिये चारों ओर से जा रही थीं ॥१५२॥ तालाबोंके जिस पानीको पहले ऊँटोंके समूह पी चुके थे, जो ऊँटोंके उगालसे दूषित हो गया था और जिसमें ऊँटोंके शरीरकी गंध आने लगी थी ऐसे पानीको हाथी का बच्चा प्यासा होनेपर भी नहीं पीना चाहता था, सो ठीक ही है क्योंकि सभी कोई अपने मनके विषयभूत पदार्थके अच्छे होनेकी चाह रखते हैं ॥१५३॥ जिसे पहले हाथियोंके समूह पी चुके थे और जिसमें उनके मद जलकी गंध आ रही है ऐसे पानीको हथिनियाँ तथा उनके बच्चे बहुत शीघ्र तालाबपर जाकर बड़े प्रेमसे पी रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि समानता ही साथ साथ खाने पीने आदि सम्भोगका कारण होता है ॥१५४॥ जिन्होंने जल पीकर अन्तरङ्गका संताप दूर किया है और तालाबमें घुसकर बाहिरी संताप नष्ट किया है ऐसी हथिनियाँ अपने

१ आधोरणः । २ यस्मात् कारणात् । ३ अर्थः । ४ विदूष्यानि विगतानि चत्वारि यस्य तेन ।
५ अङ्गविक्षेपम् । ६ पादः । ७ स्वच्छन्दवृत्तिभिः । ८ सम्पूर्णम् । ९ उष्ट्रसमूहेण । १० निजोद्गारः ।
११ उष्ट्रशरीरगन्धम् । १२ भृशं तृषितः । १३ तरुणगजः । विक्कः अ० । १४ उक्तः । १५ परिमलत्वं मित्रत्वं च । १६ नाशम् ।

वल्लीनां सकुसुमपल्लवाग्रभङ्गान् गुल्मीधानपि सरसां कडङ्गराश्च^१ ।
 सुस्वाद्गन् मृदुविटपान् वनद्रुमाणं तद्युयं कवलयति स्म धेनुकानाम्^२ ॥१५६॥
 कुञ्जेषु^३ प्रतनुत्पाङ्कुरान् प्रमृद्वन्^४ वप्रान्तानपि^५ रदनैः शर्नन्विनिघ्नन् ।
 वल्लयप्रसनचणः^६ फलेप्रहिः^७ सन् धालोलः कलभगणश्चिरं विजह्ते ॥१५७॥
 प्रत्यग्राः किसलयिनीगृहाण शाखा-भङ्गं^८ च्चेर्वनगहनं निषीद^९ कुञ्जे ।
 सम्भोग्यानुपसरसल्लकीघनान्तान् इत्येवं^{१०} व्यहृत^{११} वने करेणुवर्गः ॥१५८॥
 सम्भोगैर्वनमिति निर्विशन्^{१२} यथेष्टं स्वातन्त्र्यान्मुहुरपि^{१३} धूमंतैर्निबद्धः^{१४} ।
 बद्धव्यः सहकलभः करेणुवर्गः सम्प्रापत् समुचितमात्मनो निवेशम् ॥१५९॥
 विव्रस्तैरपथमुपाहृतस्तुरङ्गैः पर्यस्तो^{१५} रथ इह^{१६} भग्नधूनिरक्षः^{१७} ।
 एतास्ता द्रुतमपयान्त्यपेत्स्य मार्गाद् वारस्त्रीवहनपराश्च वेगसर्थः^{१८} ॥१६०॥
 विव्रस्तः^{१९} करभनिरीक्षणाद् गजोऽयं भीरुत्वं प्रकटयति प्रधावमानः ।
^{२०}उत्त्रस्तात्पतति च वेसरादमुष्माद् विव्रस्तस्तनजघनांशुका पुरन्ध्री ॥१६१॥
 इत्युच्चैर्व्यतिवदतां^{२१} पृथग्जनानां सञ्जल्पैः क्षुभितखरोष्ट्रकौक्षकैश्च^{२२} ।
^{२३}व्याक्रोशैर्जनितरवैश्च सैनिकानां सङ्क्षोभः क्षणमभवच्चमूषु राजानम् ॥१६२॥

वच्चोंके साथ खानेके लिये शीघ्र ही वनके वृक्षोंकी ओर चली गई ॥१५५॥ वह हथिनियोंका समूह लताओंके पुष्पसहित नवीन पत्तोंके अग्रभागोंको, छोटे छोटे पौधोंको, रसीले कडंगरि वृक्षोंको और वनके वृक्षोंकी स्वादिष्ट तथा कोमल शाखाओंको खा रहा था ॥१५६॥ लता-गुहोंमें पतली घासके अंकुरोंको खूदता हुआ खेतोंकी मेड़को अपने दाँतोंसे धीरे धीरे तोड़ता हुआ, लताओंके अग्रभागके खानेमें चतुर तथा फलोंको तोड़ता हुआ वह चंचल हाथियोंके वच्चों का समूह चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा था ॥१५७॥ पत्तेवाली नवीन लताओंको ग्रहण कर, ऊँची ऊँची शाखाओंसे युक्त सघन वनमें जा, लतागुहमें बैठ और खानेके योग्य सल्लकी वनोंके समीप जा इस प्रकार महावतोंकी आज्ञासे वह हथिनियोंका समूह वनमें इधर-उधर विहार कर रहा था ॥१५८॥ इस प्रकार जो अनेक प्रकारकी क्रीड़ाओंके द्वारा वनका अपने इच्छा-नुसार उपभोग कर रहा है, स्वतन्त्रतापूर्वक आगे चलनेसे महावत लोग जिसे रोक रहे हैं और जो बाँधनेके योग्य हैं ऐसा वह हथिनियोंका समूह वच्चोंके साथ अपने ठहरने योग्य स्थानपर जा पहुंचा ॥१५९॥ इधर हाथियोंसे डरे हुए इन घोड़ोंने यह रथ कुमार्गमें ले जाकर पटक दिया है, इसका धुरा और भौंरा टूट गया है तथा वेश्याओंको ले जानेमें तत्पर ये खच्चरियाँ अपना मार्ग छोड़कर बहुत शीघ्र भागी जा रही हैं ॥१६०॥ इधर यह ऊंट देखनेसे डरा हुआ हाथी दौड़ा जा रहा है और उससे अपना डरपोकपना प्रकट कर रहा है तथा इधर जिसके स्तन और जघन परका वस्त्र खिसक गया है ऐसी यह स्त्री डरे हुए खच्चरसे गिर रही है ॥१६१॥ इस प्रकार जोर जोरसे बोलते हुए साधारण पुरुषोंकी बातचीतके शब्दोंसे, क्षोभको प्राप्त हुए गधे, ऊंट तथा बैलोंके शब्दोंसे और परस्पर बुलानेसे उत्पन्न हुए सैनिकोंके कठोर शब्दोंसे राजाओंकी

१ वृसानि । 'कडङ्गरौ बुसं क्लीबे' इत्यभिधानात् । २ करिणीनाम् । 'करिणी धेनुका वशा' इत्यमरः । सुरभीणाम् । ३ कोमल । ४ मर्दयन् । ५ सान्वन्तान् । 'स्तुर्वप्रः सानुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । ६ भक्षणसमर्थः । ७ फलानि गृह्णन् । ८ भङ्गं कुरु । ९ आस्व । १० साविजनानुनयैः । ११ विहाति स्म । १२ अनुभवन् । १३ सादिभिः । १४ निषिद्धः । १५ उत्तानं यथा पतितः । १६ भग्नयानमुखः । १७ निर्गतावयवः । १८ वेसराः । १९ भयं गतः । २० अकितात् । २१ परस्परभाषणानाम् । २२ वृषभैः । २३ परस्पराह्वयैः ।

मालिनी

अवनिपतिसमाजेना^१ नृपातस्तुरङ्गैः^२ अकृशविभवयोगाभिर्जयन् लोकपालान् ।
 प्रतिदिशमुपशृण्वन्नाशिषश्चक्रपाणिः^३ शिविरमविशदुर्ध्वं^४ वृन्दिनां पुण्यघोषैः ॥१६३॥
 अथ सरसिजिनीनां गन्धमादाय सान्द्रं धृततटवनवीथिर्मन्दमावान्^५ समन्तात् ।
 श्रममखिलमनौत्सीत्^६ कर्तुमस्योपचारं प्रहित इव सगन्धः^७ सिन्धुना^८ गन्धवाहः ॥१६४॥
 अविदितपरिभाषणैरन्वितो रत्नशङ्खैः^९ स्फुरितमणिशिखाग्रैर्भोगिभिः^{१०} सेवनीयः ।
 सततमुपचितात्मा^{११} शृङ्खलिवच्चक्रवालो जलनिधिमनुजह्ने^{१२} तस्य सेनानिवेशः ॥१६५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रावासितसाधनो^१ निधिपतिर्गत्वा रथेनाम्बुधिं जैत्रास्त्रप्रतिलजितामरसभस्तं व्यन्तराधीश्वरम् ।
 जित्वा मागधवत् क्षणाद्वरतनुं तत्सा ह्रस्वभोगिनिधेः द्वीपं शस्त्रदलञ्चकार यशसा कल्पान्तरस्थायिना ॥१६६॥
 लेभेऽभेद्यमुरश्छदं वरतनोर्गन्धैकं च स्फुरच्चूडारत्नमुदंशु दिव्यकटकान्सूत्रं च रत्नोज्ज्वलम् ।
 सद्रत्नैरिति पूजितः स भगवान्^२ श्रीवैजयन्तार्णव-द्वारेण प्रतिसन्निवृत्त्य कटकं प्रविशदुत्तोरणम् ॥१६७॥

सेनाओंमें धण भरके लिये बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया था ॥१६२॥ घोड़ोंपर बैठे हुए अनेक राजाओंका समूह जिसके पीछे पीछे चल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती अपने बड़े भारी वैभव से लोकपालोंको जीतता हुआ तथा प्रत्येक दिशामें वन्दीजनोंके मंगल गानोंके साथ साथ आशीर्वाद सुनता हुआ अपने उच्च शिविरमें प्रविष्ट हुआ ॥१६३॥

अथानन्तर जो किनारेके वनकी पंक्तियोंको हिला रहा है ऐसा वायु कमलिनियों की उत्कट गंध लेकर धीरे धीरे चारों ओर बह रहा था और समुद्रके द्वारा भेजे हुए किसी खास सम्बन्धीके समान चक्रवर्तीके समस्त परिश्रमको दूर कर रहा था ॥१६४॥ उस समय वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान (पड़ाव) ठीक समुद्रका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार समुद्र प्रमाणरहित शंख और रत्नोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी प्रमाणरहित शंख आदि निधियों तथा रत्नोंसे सहित था, जिस प्रकार समुद्र, जिनके मस्तकपर अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् सर्पोंसे सेवनीय होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी, जिनके मस्तकपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् राजाओंके द्वारा सेवनीय था, जिस प्रकार समुद्र निरन्तर बढ़ता रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी निरन्तर बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार समुद्र सब दिशाओंको घेरे रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी सब दिशाओंको घेरे हुए था ॥१६५॥ जिसने अपनी सेना समुद्रके किनारे ठहरा दी है और जिसने अपने विजय-शील शस्त्रोंसे मागध देवकी सभाको जीत लिया है ऐसे निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीने रथके द्वारा समुद्रमें जाकर मागधदेवके समान व्यन्तरीके स्वामी वरतनु देवको भी जीता और समुद्रके भीतर रहनेवाले उसके वरतनु नामक द्वीपको कल्पान्त कालतक स्थिर रहनेवाले अपने यश से सदाके लिये अलंकृत कर दिया ॥१६६॥ भरतने वरतनु देवसे कभी न टूटनेवाला कवच, देदीप्यमान हार, चमकता हुआ चूडारत्न, दिव्य कड़े और रत्नोंसे प्रकाशमान यज्ञोपवीत इतनी वस्तुएं प्राप्त कीं । तदनन्तर उत्तम रत्नोंसे जिसकी पूजा की गई है ऐसे ऐश्वर्यशाली

१ आगच्छन् । २ अपनयति स्म । ३ बन्धुः । ४ समुद्रेण । ५ चक्रादिरत्नशङ्खनिधिभिः । पक्षे मौक्तिकादिरत्नशङ्खैः । ६ पक्षे सर्पैः । ७ बद्धितस्वरूपः । ८ अनुकरोति स्म । ९ निवासित-बलः । १० पूज्यः ।

स्वच्छं स्वं हृदयं स्फुटं प्रकटयन्मुक्ताफलच्छयना स्वं चान्तर्गतरागमाशु कथयन्नुद्यत्प्रवालाङ्कुरः ।
 सर्वस्वं च समर्पयन्मुपनयन्नन्तर्वर्णं^१ दक्षिणी वारां राशिरमात्यवद्विभुमसौ निर्व्यजिमाराधयत् ॥१६८॥
 आस्थाने^२ जयदुन्दुभीनन् नदन्^३ प्राभातिके मङ्गले गम्भीरध्वनितैर्जयध्वनिमिव प्रस्पष्टमुच्चारयन् ।
 सुव्यक्तं स जलाशयोऽप्यजल^४धीर्वारास्पतिः श्रीपतिं निर्भृत्य^५स्थितिरन्विषाय सुचिरं शक्यो यथाद्यं जिनम्

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे
 दक्षिणार्णवद्वारविजयवर्णनं नामैकोनत्रिंशं पर्व ।

भरतने वैजयन्त नामक समुद्रके द्वारसे वापिस लौटकर अनेक प्रकारके तोरणोंसे सुशोभित किये गये अपने शिविरमें प्रवेश किया ॥१६७॥ उस समय वह दक्षिण दिशाका लवणसमुद्र ठीक मंत्रीकी तरह छलरहित हो भरतकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार मंत्री अपने स्वच्छ हृदयको प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मोतियोंके छलसे अपने स्वच्छ हृदय (मध्यभाग)को प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मंत्री अपने अन्तरङ्गका अनुराग (प्रेम) प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उत्पन्न होते हुए मूंगाओंके अंकुरोंसे अपने अन्तरङ्गका अनुराग (लाल वर्ण) प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मंत्री अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है उसी प्रकार समुद्र भी अपना सर्वस्व (जल) समर्पण कर रहा था, जिस प्रकार मंत्री अपना गुप्त धन उनके समीप रखता था उसी प्रकार वह समुद्र भी अपना गुप्त धन (मणि आदि) उनके समीप रख रहा था, और जिस प्रकार मंत्री दक्षिण (उदार सरल) होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी दक्षिण (दक्षिणदिशावर्ती) था ॥१६८॥ अथवा जिस प्रकार इन्द्र दास होकर अन्तः चतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेवकी सेवा करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी दास होकर राज्यलक्ष्मीके अधिपति भरत चक्रधरकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र आस्थान अर्थात् समवसरण सभामें जाकर विजय-दुन्दुभि वजाता था उसी प्रकार वह समुद्र भी भरतके आस्थान अर्थात् सभामण्डपके समीप अपनी गर्जनासे विजय-दुन्दुभि वजा रहा था, जिस प्रकार इन्द्र प्रातःकालके समय पढ़े जानेवाले मंगल-पाठके लिये जय जय शब्दका उच्चारण करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी प्रातःकालके समय पढ़े जानेवाले भरतके मंगल-पाठके लिये अपने गम्भीर शब्दोंसे जय जय शब्दका स्पष्ट उच्चारण कर रहा था, जिस प्रकार इन्द्र जलाशय (जडाशय) अर्थात् केवल ज्ञानकी अपेक्षा अल्प ज्ञानी होकर भी अपने ज्ञानकी अपेक्षा अजलधी (अजडधी) अर्थात् विद्वान् (अजडा धीर्यस्य सः) अथवा अजड (ज्ञानपूर्ण परमात्मा) का ध्यान करनेवाला (अजडं ध्यायतीत्यजडधीः) था उसी प्रकार वह समुद्र भी जलाशय अर्थात् जलयुक्त होकर भी अजलधी अर्थात् जल प्राप्त करनेकी इच्छासे (नास्ति जले धीर्यस्य सः) रहित था, इस प्रकार वह समुद्र चिरकाल तक भरतेश्वरकी सेवा करता रहा ॥१६९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भावानुवादमें दक्षिण समुद्रके द्वारके विजयका वर्णन करनेवाला
 उनतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

त्रिंशत्तमं पर्व

‘अथापरान्तं^१ निर्जेतुम् उद्यतः^२ प्रभुरुद्ययौ । दक्षिणा^३ परदिग्भागं वशीकुर्वन् स्वसाधनैः ॥१॥

पुरः प्रयातमश्वयोः श्रन्वक्^४ प्रचलितं रथैः । मध्ये हस्तिघटा प्रायात् सर्वत्रवात्र पत्तयः ॥२॥

‘सदेवबलमित्यस्य चतुरङ्गं विभोर्बलम् । विद्याभूतां बलैः सार्द्धं षडभिरङ्गैर्विपप्रथे^५ ॥३॥

प्रचलद्बलसंक्षोभाद् उच्चञ्चाल किलार्णवः । महतामनुवृत्तिं नु श्वावयन्ननुजीविनाम् ॥४॥

बलैः प्रसह्य^६ निर्भुक्ताः^७ प्रह्वन्ति स्म^८ महीभुजः^९ । सरितः कर्दमन्ति^{१०} स्म स्थलन्ति स्म महाद्रव्यः ॥५॥

सुरसाः^{११} कृतनिर्वाणाः^{१२} स्पृहणीया बुभुक्षुभिः^{१३} । महद्भिः सममुद्योगैः^{१४} फलन्ति^{१५} स्मास्य सिद्धयः^{१६} ॥६॥

अभेद्या दृढसन्धाना^{१७} विपक्षजय^{१८} हेतवः । शक्तयोऽस्य स्फुरन्ति स्म सेनाश्च विजिगीषुषु ॥७॥

फलेन^{१९} योजितास्तीक्ष्णाः सपक्षा^{२०} दूरगामिनः । नाराचैः^{२१} सममेतस्य योधा जग्मुर्जयाङ्गताम् ॥८॥

अथानन्तर—पश्चिम दिशाको जीतनेके लिये उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण और पश्चिम दिशाके मध्यभाग (नैर्ऋत्य दिशा) को जीतते हुए निकले ॥१॥ उनकी सेनामें घोड़ोंके समूह सबसे आगे जा रहे थे, रथ सबसे पीछे चल रहे थे, हाथियोंका समूह बीचमें जा रहा था और प्यादे सभी जगह चल रहे थे ॥२॥ हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे इस प्रकार चार तरहकी भरतकी सेना देव और विद्याधरोंकी सेनाके साथ साथ चल रही थी । इस प्रकार वह सेना अपने छह अंगोंके द्वारा चारों ओर विस्तार पा रही थी ॥३॥ उस चलती हुई सेना के क्षोभसे समुद्र भी क्षुब्ध हो उठा था—लहराने लगा था और ऐसा जान पड़ता था मानो ‘सबको महापुरुषोंका अनुकरण करना चाहिये’ यही बात सेवक लोगोंको सुना रहा हो ॥४॥ सेनाके द्वारा जबर्दस्ती आक्रमण किये हुए राजा लोग नम हो गये थे, नदियोंमें कीचड़ रह गया था और बड़े बड़े पहाड़—समान जमीनके सदृश—हो गये थे ॥५॥ जिनका उपभोग अत्यन्त मनोरम है, जो सतोष उत्पन्न करनेवाली हैं, और जो उपभोगक्री इच्छा करनेवाले मनुष्योंके द्वारा चाहने योग्य हैं ऐसी इस चक्रवर्तीकी समस्त सिद्धियां इसके बड़े भारी उद्योगोंके साथ ही साथ फल जाती थीं अर्थात् सिद्ध हो जाती थीं—॥६॥ जिन्हें कोई भेद नहीं सकता है, जिनका संगठन अत्यन्त मजबूत है और जो शत्रुओंके क्षयका कारण हैं ऐसी भरतकी शक्ति तथा सेना दोनों ही शत्रु राजाओंपर अपना प्रभाव डाल रहे थे ॥७॥ भरतके योद्धा उनके बाणोंके समान थे, क्योंकि जिस प्रकार योद्धा फल अर्थात् इच्छानुसार लाभसे युक्त किये जाते थे उसी प्रकार बाण भी फल अर्थात् लोहेकी नोकसे युक्त किये जाते थे, जिस प्रकार योद्धा तीक्ष्ण अर्थात् तेजस्वी थे उसी प्रकार बाण भी तीक्ष्ण अर्थात्

१ ‘अथापरान्तं’ अथानन्तर । २ ‘निर्जेतुम्’ जीतनेके लिये । ३ ‘दक्षिणा’ दक्षिण । ४ ‘श्रन्वक्’ श्रवण । ५ ‘विपप्रथे’ विपक्ष । ६ ‘प्रसह्य’ सह्य । ७ ‘निर्भुक्ताः’ निर्भुक्त । ८ ‘प्रह्वन्ति’ प्रह्वन्ति । ९ ‘महीभुजः’ महीभुज । १० ‘कर्दमन्ति’ कर्दम । ११ ‘सुरसाः’ सुरसा । १२ ‘कृतनिर्वाणाः’ कृतनिर्वाण । १३ ‘बुभुक्षुभिः’ बुभुक्षुभिः । १४ ‘सममुद्योगैः’ सममुद्योग । १५ ‘फलन्ति’ फलन्ति । १६ ‘सिद्धयः’ सिद्धयः । १७ ‘अभेद्या’ अभेद्य । १८ ‘विपक्षजय’ विपक्षजय । १९ ‘फलेन’ फलेन । २० ‘सपक्षा’ सपक्षा । २१ ‘नाराचैः’ नाराचैः । २२ ‘जग्मुर्जयाङ्गताम्’ जग्मुर्जयाङ्गताम् । २३ ‘प्रभु-मंत्रोत्साहरूपाः’ प्रभु-मंत्रोत्साहरूपाः । २४ ‘तीरिफलेन’ तीरिफलेन । २५ ‘पद्मसहिताः’ पद्मसहिताः । २६ ‘बाणैः’ बाणैः ।

दूरमुत्सारिताः सैन्यैः परित्यक्तपरिच्छदाः । विपक्षाः सत्यमेवास्य विपक्षत्वमुपायम् ॥६॥
 आक्रान्तभूभृतो नित्यं भुञ्जानाः फलसम्पदम् । कुपितत्वं यद्यश्चित्रं कोपेऽप्यस्य विरोधिनः ॥१०॥
 सन्धिविग्रहचिन्तास्य पदविद्यास्वभूत् परम् । धृतया तव्यपक्षस्य क्व सन्धानं क्व विग्रहः ॥११॥
 इत्यजेतव्यपक्षोऽपि यदयं दिग्जयोद्यतः । तन्नूनं भुक्तिमात्मीयां तद्वचाजेन परीयवान् ॥१२॥
 आक्रान्ताः सैनिकैरस्य विभोः परेऽर्णवं भुवः । पूगदुमकृतच्छाया नालिकेरवनस्तताः ॥१३॥
 निपपे नालिकेराणां तरुणानां सुतो रसः । सरस्तीरतरुच्छाया विश्रान्तेरस्य सैनिकैः ॥१४॥

पैने थे, जिस प्रकार योद्धा सपक्ष अर्थात् सहायकोंसे सहित थे उसी प्रकार बाण भी सपक्ष अर्थात् पंखोंसे सहित थे, और जिस प्रकार योद्धा दूर तक गमन करनेवाले थे उसी प्रकार बाण भी दूर तक गमन करनेवाले थे, इस प्रकार वे दोनों साथ साथ ही विजयके अंग हो रहे थे ॥८॥ भरत के विपक्ष (विरुद्धः पक्षो येषां ते विपक्षाः) अर्थात् शत्रुओंको उनकी सेनाने दूर भगा दिया था और उनके छत्र चमर आदि सब सामग्री भी छीन ली थी इसलिये वे सचमुच ही विपक्ष-पनेको (विगतः पक्षो येषां ते विपक्षास्तेषां भावस्तत्त्वम्) प्राप्त हो गये थे अर्थात् सहायरहित हो गये थे ॥९॥ यह एक आश्चर्यकी बात थी कि भरतके विरोधी राजा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर तथा उनके क्रोधित होनेपर भी अनेक प्रकारकी फल-संपदाओंका उपभोग करते हुए कुपितत्व अर्थात् पृथिवीके स्वामीपनेको प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ—इस श्लोकमें श्लेष-मूलक विरोधाभास अलंकार है इसलिये पहले तो विरोध मालूम होता है बादमें उसका परिहार हो जाता है । श्लोकका जो अर्थ ऊपर लिखा गया है उससे विरोध स्पष्ट हो झलक रहा है क्योंकि भरतके क्रोधित होनेपर और उनकी सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर कोई भी शत्रु सुखी नहीं रह सकता था परन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थ बदल देनेसे उस विरोधका परिहार हो जाता है—भरतके विरोधी राजा, लोग, उनके कुपित होने तथा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर अपनी राजधानी छोड़कर जंगलोंमें भाग जाते थे, वहाँ फल खाकर ही अपना निर्वाह करते थे और इस प्रकार कुपितत्व अर्थात् कुत्सित राजवृत्ति (दरिद्रता)को प्राप्त हो रहे थे ॥१०॥ उस भरतको सन्धि (स्वर अथवा व्यंजन)को मिलाना और विग्रह (व्युत्पत्ति) की चिन्ता केवल व्याकरण शास्त्रमें ही हुई थी अन्य शत्रुओंके विषयमें नहीं हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिसने सभस्त शत्रुओंको नष्ट कर दिया है उसे कहां सन्धि (अपना पक्ष निर्बल होनेपर बलवान् शत्रुके साथ मेल करना) करनी पड़ती है ? और कहां विग्रह (युद्ध) करना पड़ता है ? अर्थात् कहीं नहीं ॥११॥ इस प्रकार भरतके यद्यपि जीतने योग्य कोई शत्रु नहीं था तथापि वे जो दिग्विजय करनेके लिये उद्यत हुए थे सो केवल दिग्विजयके लालसे अपने उपभोग करने योग्य क्षेत्रों चक्कर लगा आये थे—धूम आये थे ॥१२॥ महाराज भरतके सैनिकोंने, जहां सुपारीके वृक्षोंके द्वारा छाया की गई है और जो नारियलके बनोसे व्याप्त हो रही है ऐसे समुद्रके किनारेकी भूमि पर आक्रमण किया था ॥१३॥ सरोवरोंके किनारेके वृक्षोंकी छायामें विश्राम करनेवाले भरतके सैनिकोंने नारियलके तरुण अर्थात् बड़े बड़े वृक्षों

१ सहायपुरुषरहितत्वम् । २ आक्रान्ता भूभृतो ल० । भूभृतः राजानः पर्वताश्च । ३ अभीष्ट-फलसम्पदम्, वनस्पतिफलसम्पदं च । ४ भूपतित्वं कुत्सितपतित्वं च । ५ सन्धानयुद्धचिन्ता च । ६ शब्दशास्त्रेषु । ७ निरस्तशत्रुपक्षस्य । ८ पावनक्षेत्रम् । ९ दिग्विजयच्छाना । १० प्रदक्षिणीकृतवान् । ११ समुद्रतीरम् । 'पारे मध्येऽन्यः पष्ठचा' । १२ पानं कियते स्म । १३ निसृतः ।

स्फुरत्पुरुषसम्पातपवनान्धूननोत्थितः । तालीवनेषु^१ तत्सैन्यैः शुश्रुबे मर्मर^२ध्वनिः ॥१५॥
 समं ताम्बूलवल्लीभिः अपवयत् कमुकान् विभुः । एककार्यत्वमस्माकमितीव^३ मिलितान्मिथः ॥१६॥
 नृपस्ताम्बूलवल्लीनाम् उपधनान्^४ कमुकद्रुमान् । निध्यायन् वेष्टि^५तांस्तारिभिः 'मुमुदे दम्पतीयितान् ॥१७॥
 स्वाध्यायमिव कुर्वाणान् वनेष्वविरतस्वनान्^६ । 'वोन्मुनीनिव सोऽपश्यद् यत्रास्त'मितवासिनः ॥१८॥
 पनसानि मृदून्धन्तः कण्टकीनि बहिस्त्वचि । सुरसान्यमृतानीव जनाः 'प्रादन् यथेप्सितम् ॥१९॥
 नालिकेररसः पानं पनसान्यशनं परम् । मरीचान्युपदंशश्च वन्या^७ वृत्तिरहो सुखम् ॥२०॥
 सरसानि मरीचानि किमप्यास्वाद्य विष्किरान् । स्वतः^८ प्रभुरद्राक्षीद् गलदभ्रविलोचनान् ॥२१॥
 विदश्य^९ पञ्जरीस्तीक्ष्णा मरीचानां सशङ्कितम् । शिरो विधुन्वतोऽपश्यत् प्रभुस्तरुणमर्कटान् ॥२२॥
 वनस्पतीन् फलान्ध्रान् वीक्ष्य लोकोपकारिणः । जाताः कल्पद्रुमास्तित्वे नि^{१०}शारेकास्तदा जनाः ॥२३॥
 लतायुवतिसंसक्ताः प्रसवाढया वनद्रुमाः । करदा^{११} इव तस्यासन् प्रीणयन्तः फलैर्जनान् ॥२४॥
 नालिकेरासर्वमेत्ताः किञ्चिदवा^{१२}घूर्णितेक्षणाः । यशोऽस्य जगुरामन्द्रकुहर^{१३} सिंहलाङ्गनाः ॥२५॥

से निकला हुआ रस खूब पिया था ॥१४॥ वहां भरतकी सेनाके लोगोंने ताड़ वृक्षोंके वनों में वायुके हिलनेसे उठी हुई बहुत कठोर सूखे पत्तोंकी मर्मर-ध्वनि सुनी थी ॥१५॥ वहां सम्राट् भरतने हम लोगोंका एक ही समान कार्य होगा यही समझकर जो पानकी वेलोंके साथ साथ परस्परमें मिल रहे थे ऐसे सुपारीके वृक्ष देखे ॥१६॥ जो पानोंकी लताओंके आश्रय थे तथा जो उनके साथ लिपटकर स्त्री-पुरुषके समान जान पड़ते थे ऐसे सुपारीके वृक्षोंको बड़े गौरके साथ देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥१७॥ उन वनोंमें सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले जो पक्षी निरन्तर शब्द कर रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले तथा स्वाध्याय करते हुए मुनि ही हों उन्हें भरतने देखा था ॥१८॥ जो भीतर कोमल हैं तथा बाहरी त्वचापर कांटीसे युक्त हैं ऐसे अमृतके समान मीठे कटहलके फल सेनाके लोगोंने अपने इच्छानुसार खाये थे ॥१९॥ वहां पीनेके लिये नारियलका रस, खानेके लिये कटहलके फल और व्यंजनके लिये मिरचे मिलती थीं, इस प्रकार सैनिकोंके लिये वनमें होनेवाली भोजनकी व्यवस्था भी सुखकर मालूम होती थी ॥२०॥ जो सरस अर्थात् गीली मिरचे खाकर कुछ कुछ शब्द कर रहे हैं और जिनकी आंखोंसे आंसू गिर रहे हैं ऐसे पक्षियोंको भी भरतने देखा था ॥२१॥ जो तरुण वानर बहुत तेज मिरचोंके गुच्छोंको निःशंक रूपसे खाकर बादमें चरपरी लगनेसे शिर हिला रहे थे उन्हें भी महाराजने देखा ॥२२॥ उस समय वहां फलोंसे भुके हुए तथा लोगोंका उपकार करनेवाले वृक्षोंको देखकर लोग कल्प-वृक्षोंके अस्तित्वमें शंका रहित हो गये थे ॥२३॥ जो लतारूप स्त्रियोंसे लिपटे हुए हैं और अनेक फलोंसे युक्त हैं ऐसे वनके वृक्ष अपने फलोंसे सेनाके लोगोंको संतुष्ट करते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो भरतके लिये कर ही दे रहे हों ॥२४॥ जो नारियलकी मदिरा पीकर उन्मत्त हो रही हैं और इसीलिये जिनके नेत्र कुछ कुछ घूम रहे हैं ऐसी सिंहल द्वीपकी स्त्रियां वहां गद्गद

१ तालवनेषु । २ शुष्कपर्णध्वनिः । 'अथ मर्मरः, स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यभिधानात् ।
 ३ पर्णक्रमुकमेलनादेककार्यत्वमिति । ४ आश्रयभूतान् । 'स्यादुपघ्नान्तिकाश्रये' इत्यमरः । ५ विध्याय वे-ल० । ६ -स्वनम् ल० । ७ विहगान् । ८ यत्र रविरस्तं गतस्तत्र वासिनः । ९ भक्षयन्ति स्म । भक्षितवन्तः इत्यर्थः । १० वनवासः । ११ रवं (रत्नं) कुर्वतः । १२ भक्षयित्वा । १३ निरसन्देहाः । १४ करं सिद्धाय ददतीति करदाः, कुटुम्बजना इवेत्यर्थः । 'आलस्योपहतः पादः पादः पाषण्डमाश्रितः । राजानं सेवते पादः पादः कृषिमुपागतः ॥' १५ प्रचलायित । १६ गम्भीरगहरं यथा भवति यथा । गद्गदसहितकम्पनं कुहरशब्देनोच्यते ।

(त्रिकूटमलयोत्सङ्गे गिरी पाण्ड्यकवाटके । जगुरस्य यशो मन्दमूर्च्छिताः किन्नराङ्गनाः ॥२६॥
 मलयोपान्तकान्तारे सह्याचलवनेषु च । यशो वने चरस्त्रीभिः उज्ज्वलेभ्यः जयार्जितम् ॥२७॥
 चन्दनोद्यानमाधूय मन्दं गन्धवहो ववौ । मलयाचलकुञ्जेभ्यो हरक्षिर्भरशीकरान् ॥२८॥
 विष्वग्विसारी^१ दाक्षिण्यं^२ समुज्ज्वलपि सोऽनिलः । सम्भावयन्निवातिथ्यैः विभोः श्रममपाहरत् ॥२९॥
 एतालवङ्गसंवातसुरभिश्वासितैर्मुखैः । स्तनैरापाण्डुभिः सान्द्रचन्दनद्रवचर्चितैः ॥३०॥
 सलीलमृदुभिर्घातैः नितम्बभरमन्यरैः^३ । स्मितैरनङ्गपुष्पास्त्रस्तबकोद्भेदविभूतैः ॥३१॥
 कोकिलालापमधुरैः ज्वलितैः^४ (जल्पितैः) रत्नतिस्फुटैः । मृदुबाहुलतान्दोलसुभगैश्च विचेष्टितैः ॥३२॥
 लास्यैः स्खलत्पदग्यासैः मुक्ताप्रायेविभूषणैः । मदमञ्जुभिर्हृद्गीतैः जितालिकुलशिञ्जितैः^५ ॥३३॥
 तमालवनवीथीषु सञ्चरन्त्यो यदृच्छया । मनोऽस्य जह्वुरारुढयौवनाः केरलस्त्रियः ॥३४॥
 प्रसाध्य दक्षिणामाशां विभुस्त्रैराज्यपालकान् । समं प्रणमयन्मास विजित्य जयसाधनैः ॥३५॥

कण्ठसे महाराज भरतका यश गा रही थीं ॥२५॥ त्रिकूट पर्वतपर, मलय गिरिके मध्यभाग पर और पाण्ड्यकवाटक नामके पर्वतपर किन्नर जातिकी देवियाँ गंभीर स्वरसे चक्रवर्ती का यश गा रही थीं ॥२६॥ इसी प्रकार मलय गिरिके समीपवर्ती वनमें और सह्य पर्वतके वनोंमें भीलोंकी स्त्रियाँ विजयसे उत्पन्न हुआ महाराजका यश जोर जोरसे गा रहीं थीं ॥२७॥ उस समय मलय गिरिके लतागृहोंसे भरतोंके जलके छोटे छोटे कण हरण करता हुआ तथा चन्दनके बगीचेको हिलाता हुआ वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥२८॥ वह वायु दक्षिण दिशा को छोड़कर चारों ओर वह रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो अतिथि-सत्कारके द्वारा भरतका सम्मान करता हुआ ही उनका परिश्रम दूर कर रहा था । भावार्थ—इस श्लोकमें दाक्षिण्य शब्दके श्लेष तथा अपि शब्दके सन्निधानसे नीचे लिखा हुआ विरोध प्रकट होता है—
 'वह वायु यद्यपि दाक्षिण्य (स्वामीके इच्छानुसार प्रवृत्ति करना) भावको छोड़कर स्वच्छन्दता पूर्वक चारों ओर घूम रहा था तथापि उसने एक आज्ञाकारी सेवककी तरह भरतका अतिथि-सत्कार कर उनका सब परिश्रम दूर कर दिया था, जो स्वामीके विरुद्ध आचरण करता है वह उसकी सेवा क्यों करेगा ? यह विरोध है परन्तु दाक्षिण्य शब्दका दक्षिण दिशा अर्थ लेनेसे वह विरोध दूर हो जाता है ('दक्षिणो दक्षिणोद्भूतसरलच्छन्दवर्तिषु' इति मेदिनी दक्षिणस्य भावो दाक्षिण्यम्, पक्षे दक्षिणैव दाक्षिण्यम्) ॥२९॥ तमाल वृक्षोंके वनकी गलियोंमें इच्छानुसार इधर-उधर घूमती हुई केरल देशकी तरुण स्त्रियाँ दलायची, लौंग आदि सुगन्धित वस्तुओंके सम्बन्धसे जिनके निःश्वास सुगन्धित हो रहे हैं ऐसे मुखोंसे, जो घिसे हुए चन्दनके गाढ़ लेपसे सुशोभित हो रहें हैं ऐसे स्तनोंसे, नितम्बोंके भारके साथ ईर्ष्या करनेवाले लीलासहित सुकोमल गमनसे, जो कामदेवके पुष्परूपी शस्त्रोंके गुच्छोंके खिलनेके समान सुशोभित हो रहे हैं ऐसे मन्द हास्यसे, कोयलकी कूकके समान मनोहर तथा अव्यक्त वाणीसे, सुकोमल बाहुरूपी लताओंके इधर उधर फिरानेसे सुन्दर चेष्टाओंसे, जिसमें स्खलित होते हुए पैर पड़ रहे हैं ऐसे नृत्योंसे, अधिकतर मोतिघोंके बने हुए आभूषणोंसे, भ्रमरसमूहकी गुजारकी जीतनेवाले मदसे मनोहर उत्कृष्ट गीतोंसे चक्रवर्ती भरतका मन हरण कर रही थीं ॥३०-३४॥ इस प्रकार महाराज भरतने अपनी विजयी सेनाके द्वारा दक्षिण दिशाको वश कर चोल, केरल और पाण्ड्य

१ त्रिकूटे म०, द०, ल०, अ०, प०, स० । त्रिकूटगिरिमलयाचलसानी । २ वनचर—ल० । ३ विसरण-शीलः । ४ दक्षिणदिग्भागः । आनुकूल्येन च । ५ अतिथी साधुभिः उपचारैरित्यर्थः । ६ उच्छ्वासैः । ७ गमनैः । ८ मन्दैः । ९ जल्पितैः वचनैः । १० सिञ्जितैः अ०, प०, व०, स० । ११ विराज्येषु जातान् । चोरकेरलपाण्ड्यान् ।

कालिङ्गकैर्गङ्गेरस्य मलयोपान्तं भूधराः । तुलयद्भिरिवोन्मानम् आक्रान्ताः स्वेन वर्त्मणा ॥३६॥
 विशां प्रान्तेषु विश्रान्तैर्दिग्जयेऽस्य चमूगजैः । दिग्गजत्वं स्वसाच्चक्रे शोभायै तत्कथान्तरम् ॥३७॥
 ततोऽपरान्तमारुह्य सहायचलतटोपगः । पश्चिमार्षववेद्यान्तं पालकानजयद् विभुः ॥३८॥
 जयसाधनमस्याब्धेः आरात्तीरे व्यजृम्भत । महासाधनमप्युच्चैः परं पारमवाष्टभत् ॥३९॥
 उपसिन्धु^१रिति व्यक्तम् उभयोस्तीरयोर्बलम् । दृष्ट्वास्य साध्वसात्क्षुभ्यन्निवाभूदाकुलाकुलः ॥४०॥
 ततः स्म बलसङ्क्षोभाद् इतो वाधिः प्रसर्पति । इतः स्म बलसङ्क्षोभात् ततोऽब्धिः प्रतिसर्पति ॥४१॥
 हरिन्मणिप्रभोत्सर्पेः ततमध्येर्बभौ जलम् । चिराद् विवृतमस्यैव^२ शशैवलमधस्तलम् ॥४२॥
 पद्मरागांशुभिर्भिन्नं क्वचनावधेर्व्यभाज्जलम् । क्षोभादिवास्य हृच्छीर्णम्^३ उच्छल^४च्छीणितच्छटम् ॥४३॥
 सहयोत्सङ्गे^५ लुठन्नब्धिः नूनं दुःखं न्यवेदयत् । सोऽपि सन्धारयन्नेन बन्धुकृत्यन्निवातनोत् ॥४४॥
 असह्यैर्बलसङ्घट्टैः सह्यः^६ सह्यतिपीडितः । शाखोद्धारमिव^७ व्यक्तम् अकरोद्^८रुग्णपादपैः ॥४५॥

इन तीन राजाओंको एक साथ जीता और एक ही साथ उनसे प्रणाम कराया ॥३५॥ जो अपने शरीरसे मानो मलय पर्वतकी ऊँचाईकी ही तुलना कर रहे हैं ऐसे कलिङ्ग देशके हाथियोंने मलय पर्वतके समीपवर्ती अन्य समस्त छोटे छोटे पर्वतोंको व्याप्त कर लिया था ॥३६॥ दिग्विजयके समय दिशाओंके अन्त भागमें विश्राम करनेवाले भरतके हाथियोंने दिग्गजपना अपने आधीन कर लिया था अर्थात् स्वयं दिग्गज बन गये थे इसलिये अन्य आठ दिग्गजोंकी कथा केवल शोभा के लिये ही रह गई थी ॥३७॥ तदनन्तर पश्चिमी भागपर आरुढ़ होकर सहाय पर्वतके किनारे के समीप होकर जाते हुए भरतने पश्चिम समुद्रके किनारेके राजाओंको जीता ॥३८॥ भरत की वह विजयी सेना समुद्रके समीप किनारे किनारे सब जगह फैल गई थी और वह इतनी बड़ी थी कि उसने समुद्रका दूसरा किनारा भी व्याप्त कर लिया था ॥३९॥ उस समय हवासे लहराता हुआ उपसमुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो दोनों किनारेपर भरतकी सेना देखकर भयसे ही अत्यन्त आकुल हो रहा हो ॥४०॥ उस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे इस किनारेकी ओर आता था और इस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे उस किनारेकी ओर जाता था ॥४१॥ ऊपर फैली हुई हरे मणियोंकी कान्तिसे व्याप्त हुआ वह समुद्रका जल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो इस समुद्रका शेवाल सहित नीचेका भाग ही बहुत समय बाद उलटकर ऊपर आ गया हो ॥४२॥ कहीं कहींपर पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे व्याप्त हुआ समुद्रका जाल ऐसा जान पड़ता था मानो सेनाके क्षोभसे समुद्रका हृदय ही फट गया हो और उसीसे खूनकी छटाएँ निकल रही हों ॥४३॥ सहाय पर्वतकी गोदमें लोटता हुआ (लहराता हुआ) वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो उससे अपना दुःख ही कह रहा हो और सह्य पर्वत भी उसे धारण करता हुआ ऐसा मालूम होता था मानो उसके साथ अपना बन्धुभाव (भाई-चारा) ही बढ़ा रहा हो ॥४४॥ सेनाके असह्य संघटनोंसे अत्यन्त पीडित हुआ वह सह्य पर्वत अपने टूटे हुए वृक्षोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपने मस्तकपर लकड़ियोंका गट्टा रख-

१ कलिङ्गगवने जातः । कलिङ्गगवनजाता उन्नतकायाश्च । उक्तञ्च दण्डिना देशविरोध-प्रतिपादनकावे 'कलिङ्गगवनसम्भूता मृगप्राया मतङ्गजाः' इति । २ मलयदेशसमीपस्थपर्वतः । ३ गुणयद्भिः— अ०, इ०, स० । ४ दिग्गजाः सन्तीति कथाभेदः । ५ अपरदिग्भागम् । ६ व्याप्य । ७ वेद्यान्त—इत्यपि क्वचित् । ८ प्रभुः ल० । ९ विजृम्भितम् ल० । १०—मत्युच्चैः द०, ल०, अ०, प०, स० । ११ अपरतीरम् । १२ अशिथियत् । १३ उपसमुद्रः । १४ परिणतम् । चिरकाल-प्रवर्तितम् । १५ हृत् हृदयम् शीर्णं विदीर्णं सत् । १६—मुच्छ्वल— ल०, द० । १७ सह्यगिरि-सानौ । १८ पश्चिमार्षवपर्वतः । १९ पल्लवं गृहीत्वा आक्रोशम् । २० भुग्न । 'रुग्णं भुग्ने' इत्यमरः । भुग्न—ल० । भग्न—द० ।

चलत्सत्त्वो गुह्यरन्ध्रः विमुञ्चन्नाकुलं स्वनम् । महाप्राणोऽद्रिहस्तकान्तिम् इयायेव बलक्षतः ॥४६॥
 चलच्छाखी चलत्सत्त्वः चलच्छिथिलमेखलः । नाम्नेवाचलता भेजे सोऽद्रिरेव चलाचलः ॥४७॥
 गजतावनसम्भोगः तुरङ्गखुरघटनैः । सह्योत्सङ्गभुचः क्षुण्णाः स्थलीभावं क्षणाद् ययुः ॥४८॥
 आपश्चिन्मार्णवतटाद् आ च मध्यमपर्वतात् । आतुङ्गवरकादद्रेः तुङ्गगण्डोपलाङ्गितात् ॥४९॥
 तं कृष्णगिरिमुल्लङ्घ्य तं च शैलं सुमन्दरम् । मुकुन्दं चाद्रिमुद्वृप्ता जयेभास्तस्य बभूवुः ॥५०॥
 तत्रापरान्तकान् नाथान् ह्रस्वग्रीवान् परान् रवैः । मुक्तान् पीनायतस्निग्धैः श्यामान् स्वक्षान् मृदुत्वचः ५१
 महोत्सङ्गानुदप्राङ्गान् रक्तजिह्वाण्डतालुकान् । मानिनो दीर्घवालोष्ठान् पद्मगन्धमवच्युतः ॥५२॥
 सन्तुष्टान् स्वे वने शूरान् दृढपादान् सुवर्णः । स भेजे तद्वनाधीशः ससम्भ्रममुपाहूतान् ॥५३॥
 वनरोमावलीस्तुङ्गगतदारोहा बहून्दीः । पूर्वापरार्धिणाः सोऽयत् सहाद्रेर्दुहितृरिव ॥५४॥
 सञ्चरद्भीषणग्राहः भीमा भैमरथी नदीम् । नक्तचक्रकृतावर्तदक्षिणेण च दारुणाम् ॥५५॥

कर भरतके प्रति अपनी पराजय ही स्वीकृत कर रहा हो (पूर्व कालमें यह एक पद्धति थी कि पराजित राजा शिरपर लकड़ियोंका गट्टा रखकर गलेमें कुल्हाड़ी लटकाकर अथवा मुखमें तृण दबाकर विजयी राजाके सामने जाते थे और उससे क्षमा मांगते थे ।) ॥४५॥ वह पर्वतरूपी बड़ा भारी प्राणी सेनाके द्वारा घायल हो गया था, उसके शिखर टूट-फूट गये थे, उसका सत्त्व अर्थात् धैर्य विचलित हो गया था—उसके सब सत्त्व अर्थात् प्राणी इधर-उधर भाग रहे थे, वह गुफाओंके छिद्रोंसे व्याकुल शब्द कर रहा था और इन सब लक्षणोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत शीघ्र मरना ही चाहता हो ॥४६॥ उस पर्वतके सब वृक्ष हिलने लगे थे, सब प्राणी इधर-उधर चंचल हो रहे थे—भाग रहे थे और उसके चारों ओरका मध्यभाग भी शिथिल होकर हिलने लगा था इस प्रकार वह पर्वत नाममात्रसे ही अचल रह गया था, वारतवमें चल हो गया था ॥४७॥ लोगोंकी वनक्रीड़ाओंसे तथा घोड़ोंके खुरोंके संघटनसे उस सहा पर्वतके ऊपरकी भूमि चूर चूर होकर क्षण भरमें स्थलपनेको प्राप्त हो गई थी अर्थात् जमीनके समान सपाट हो गई थी ॥४८॥ चक्रवर्ती भरतके मदीन्मत्त विजयी हाथी, पश्चिम समुद्रके किनारे से लेकर मध्यम पर्वत तक और मध्यम पर्वतसे लेकर ऊंची ऊंची चट्टानोंसे चिह्नित तुंगवरक पर्वत तक, कृष्ण गिरि, सुमन्दर तथा मुकुन्द नामके पर्वतको उल्लंघन कर, चारों ओर घूम रहे थे ॥४९—५०॥ जिनकी गर्दन कुछ छोटी है, जो देखनेमें उत्कृष्ट हैं, मोटे लम्बे और चिकने दाँतोंसे सहित हैं, काले हैं, जिनकी सब इन्द्रियाँ अच्छी हैं, चमड़ा कोमल है, पीठ नौड़ी है, शरीर ऊँचा है, जीभ, ओंठ और तालु लाल हैं, जो मानी हैं, जिनकी पूँछ और ओंठ लम्बे हैं, जिनसे कमलके समान गंधवाला मद भर रहा है, जो अपने ही वनमें संतुष्ट हैं, शूरवीर हैं, जिनके पैर मजबूत हैं, शरीर अच्छा है और जिन्हें उन वनोंके स्वामी बड़े हर्ष या क्षोभके साथ भेंट देनेके लिये लाये हैं ऐसे पश्चिम दिशामें उत्पन्न होनेवाले हाथी भी भरतने प्राप्त किये थे ॥५१—५३॥ वन ही जिनकी रोमावली है और ऊँचे किनारे ही जिनके नितम्ब हैं ऐसी सहा पर्वतकी पुत्रियोंके समान पूर्व तथा पश्चिम समुद्रकी ओर बहनेवाली अनेक नदियाँ महाराज भरतने उल्लंघन की थीं—पार की थीं ॥५४॥ चलते-फिरते हुए भयंकर मगरमच्छोंसे भयानक भीमरथी नदी, नाकुओंसे समहसे की हुई आवर्तोंसे भयंकर दारुवेणा नदी, किनारे

१ गुह्यरन्ध्रेः ल० । २ सिंहाविसत्त्वरूपमहाप्राणः । 'प्राणो हून्मास्ते चोले काले जीवेऽनिले बले ।' इत्यभिधानात् । ३ मरणावस्थाम् (मृतिम्) । ४ जनता ल०, द० । ५ पश्चिमदिक्कामीपान् । ६ कुब्जस्कन्धोत्कृष्टान् । ७ पीनायित—ल० । ८ सुनेवान् । ९ बहुदुपरिभागान् । १० उपायनीकृतान् । ११ नितम्बाः । १२ अगात् । १३ पुत्रीरिव । १४ भीमरथी ल० ।

नीरां तीरस्थवानीर^१शाखाप्रस्थगिताम्भसम् । मूलां कूलङ्कषेरीधैः^२ उन्मूलिततटद्रुमाम् ॥५६॥
 बाणामविरताबाणां केत^३स्वामम्बुसम्भृताम् । करीरित^४तटोत्सङ्गां करीरीं सरिदुत्तमाम् ॥५७॥
 प्रहरां विषमग्राहैः^५ दूषितामसतीमिव^६ । मुररां कुररैः^७ सेव्याम् श्रपपङ्कां^८ सतीमिव ॥५८॥
 पारां पारेजलं^९ कूजत्कौञ्चकादम्ब^{१०}सारसाम् । दमनां समन्तिम्नेषु^{११} समानामस्खलद्गतिम् ॥५९॥
 मदक्षुति^{१२}मिवाबद्धवेणिकां^{१३} सह्यदन्तिनः । गोदावरीमविच्छिन्नप्रवाहामतिविस्तृताम् ॥६०॥
 करीरवण^{१४}संरुद्धतटपर्यन्तभूतलाम् । तापीमालपसन्तापात् कवोण्णा बिभ्रुलीमपः ॥६१॥
 रम्यां तीरतरुच्छायासंस्तुप्तमृगशायकाम् । खालामिवापरान्तस्य^{१५} नदीं लाङ्गमलखातिकाम् ॥६२॥
 तरितोऽमूः समं सैव्यः उत्तार चमूपतिः । तत्र तत्र समाकर्षन्मदिनी धनसामजान् ॥६३॥
 प्रसारितसरिज्जिह्वो योऽब्धिं पातुमिषोद्यतः । सह्याचलं तमूललङ्घय विन्ध्याद्रिं प्राप तद्बलम् ॥६४॥
 भूभृतां^{१६} पतिमुत्तुङ्गं पृथुवंशं^{१७} धृतायतिम्^{१८} । परैरलङ्घयमद्राक्षोद् विन्ध्याद्रिं स्वमिव प्रभुः ॥६५॥

पर स्थित बेतोंकी शाखाओंके अग्रभागसे जिसका जल ढका हुआ है ऐसी नीरा नदी, किनारे को तोड़नेवाले अपने प्रवाहसे जिसने किनारेके वृक्ष उखाड़ दिये हैं ऐसी मूला नदी, जिसमें निरन्तर शब्द होता रहता है ऐसी बाणा नदी, जलसे भरी हुई केतवा नदी, जिसके किनारेके प्रदेश हाथियोंने तोड़ दिये हैं अथवा जिसके किनारेके प्रदेश करीर वृक्षोंसे व्याप्त हैं ऐसी करीरी नामकी उत्तम नदी, विषमग्राह अर्थात् नीच मनुष्योंसे दूषित व्यभिचारिणी स्त्रीके समान विषम ग्राह अर्थात् बड़े बड़े मगरमच्छोंसे दूषित प्रहरा नदी, सती स्त्रीके समान अपंका अर्थात् कीचड़-रहित, (पक्षमें—कलकरहित) तथा कुरर पक्षियोंके द्वारा सेवा करने योग्य मुररा नदी, जिसके जलके किनारेपर कौञ्च, कलहंस (वदक) और सारस पक्षी शब्द कर रहे हैं ऐसी पारा नदी, जो समान तथा नीची भूमिपर एक समान जलसे भरी रहती है तथा जिसकी गति कहीं भी स्खलित नहीं होती है ऐसी मदना नदी, जो सह्य पर्वतरूपी हाथीके बहते हुए मदके समान जान पड़ती है, जो अनेक धाराएं बांधकर बहती है, जिसका प्रवाह बीचमें कहीं नहीं टूटता, और जो अत्यन्त चौड़ी है ऐसी गोदावरी नदी, जिसके किनारेके समीपकी भूमि करीर वृक्षोंके वनोंसे भरी हुई है और जो धूपकी गरमीसे कुछ कुछ गरम जलको धारण करती है ऐसी तापी नदी, तथा जिसके किनारेके वृक्षोंकी छायामें हरिणोंके बच्चे सो रहे हैं और जो पश्चिम देशकी परिखाके समान जान पड़ती है ऐसी मनोहर लांगलखातिका नदी, इत्यादि अनेक नदियों को सेनापतिने अपनी सेनाके साथ साथ पार किया था । उस समय वह सेनापति मदोन्मत्त जंगली हाथियोंको भी पकड़वाता जाता था ॥५५—६३॥ जो अपनी नदियाँरूपी जीभोंको फेलाकर मानो समुद्रकी पीनेके लिये ही उद्यत हुआ है ऐसे उस सह्य पर्वतको उल्लंघन कर भरतकी सेना विन्ध्याचलपर पहुँची ॥६४॥ चक्रवर्ती भरतने उस विन्ध्याचलको अपने समान ही देखा था क्योंकि जिस प्रकार आप भूभृत् अर्थात् राजाओंके पति थे उसी प्रकार विन्ध्याचल भी भूभृत् अर्थात् पर्वतोंका पति था, जिस प्रकार आप उत्तुंग अर्थात् अत्यन्त उदार हृदय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी उत्तुंग अर्थात् अत्यन्त ऊँचा

१ वेतस । २ प्रवाहैः । ३ अविच्छिन्नविश्वबाणाम् । अविरतः आवाणी यस्यां सा । ४ केतवा—ल० । ५ गजप्रेरित । ६ विषममकरैः, पक्षे नीचग्रहणैः । ७ पक्षिविशेषैः । ८ अपगतकंदमाम् । पक्षे अपगतदोषपङ्ककाम् । ९ तीरजले । १० कलहंस । ११ मदनां ल०, द० । १२ समानप्रदेशेषु । निम्नदेशेषु च । १३ जलेन समानाम् । १४ मदक्षयणम् । १५ प्रवाहाम् । कुत्याम् वा । १६ वेणुवन । १७ खातिकाम् । १८ पश्चिमदेशाय । १९ स्वीकुर्वन् । २० राजा गिरीणां च । २१ महान्वयं महावेणुं च । २२ वृत्तनागमम् । धृतायाम् च । आयतिर्दीर्घतायां स्वात् प्रभुतायामिकालयोः ।

भाति यः शिखरैस्तुङ्गैः दूरव्यायतनिर्भरैः । सपताकविमानौघैः विश्रमायेव संभ्रितः ॥६६॥
 यः पूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्याम्बुनिधि स्थितः । नूनं^१ दावत्रयात् सख्यं^२ भ्रमुना^३ प्रचिकीर्षति^४ ॥६७॥
 नयन्ति निक्षेरा यस्य शश्वत्पुण्ड्रं तदद्भुमान् । स्वपादाश्रयिणः पोष्याः प्रभुणोतीव शंसितुम् ॥६८॥
 तटस्थपुटपाषाणस्खलितोज्ज्वलिताम्भसः । नदीवधूः कृतध्वानं निक्षेरेहंसतीव यः ॥६९॥
 वनाभोगमपयन्तं यस्य दग्धुभिवाक्षमः । भृगुपाताय^५ दावाग्निः शिखराण्यधिरोहति ॥७०॥
 ज्वलद्वावपरीतानि यत्कूटानि वनेचरैः । क्षामीकरमयानीव सक्षयन्ते शुचि^६सन्निधौ ॥७१॥
 समातङ्गं^७ वनं यस्य सभुजङ्गपरिग्रहम् । विजाति^८कण्टकाकीर्णं क्वचिद्वृत्तेऽतिकण्टताम् ॥७२॥
 क्षीब^९कुञ्जरयोगेऽपि क्वचिदक्षीबकुञ्जरम्^{१०} । विपत्रमपि^{११} सत्पत्रपल्लवं भाति यद्वनम् ॥७३॥

था, जिस प्रकार आप पृथुवंश अर्थात् विस्तृत—उत्कृष्ट वंश (कुल) को धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी पृथुवंश अर्थात् बड़े बड़े बाँसके वृक्षोंको धारण करनेवाला था, जिस प्रकार आप धृतायति अर्थात् उत्कृष्ट भविष्यको धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी धृतायति अर्थात् लम्बाईको धारण करनेवाला था, और जिस प्रकार आप दूसरोंके द्वारा अलंघ्य अर्थात् अजेय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी दूसरोंके द्वारा अलंघ्य अर्थात् उल्लंघन न करने योग्य था ॥६५॥ जिनसे बहुत दूरतक फैलनेवाले भरने भर रहे हैं ऐसे ऊँचे ऊँचे शिखरों से वह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पताकाओंसहित अनेक विमानोंके समूह ही विश्राम करनेके लिये उसपर ठहरे हों ॥६६॥ वह पर्वत अपने पूर्व और पश्चिम दिशाके दोनों कोणोंसे समुद्रमें प्रवेश कर खड़ा हुआ था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो दावानलके डरसे समुद्रके साथ मित्रता ही करना चाहता हो ॥६७॥ उस विन्ध्याचलके भरने 'स्वामीको अपने चरणोंका आश्रय लेनेवाले पुरुषोंका अवश्य ही पालन करना चाहिये' मानो यह सूचित करनेके लिये ही अपने किनारेके वृक्षोंका सदा पालन-पोषण करते रहते थे ॥६८॥ वह पर्वत शब्द करते हुए निर्भरनोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपने किनारेके ऊँचे नीचे पत्थरों से स्खलित होकर जिनका पानी ऊपरकी ओर उछल रहा है ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंकी हँसी ही कर रहा हो ॥६९॥ उस पर्वतकी शिखरोंपर लगा हुआ दावानल ऐसा जान पड़ता था मानो उसके सीमारहित बहुत बड़े वनप्रदेशको जलानेके लिये असमर्थ हो ऊपरसे गिरकर आत्मघात करनेके लिये ही उसके शिखरोंपर चढ़ रहा हो ॥७०॥ आषाढ़ महीनेके समीप जलती हुई दावानलसे घिरे हुए उस पर्वतके शिखर वहाँके भीलोंको सुवर्णसे बने हुएके समान दिखाई देते थे ॥७१॥ उस पर्वतका वन कहीं कहीं मातंग अर्थात् हाथियोंसे सहित था अथवा मातंग अर्थात् चांडालोंसे सहित था, भुजंग अर्थात् सर्पोंके परिवारसे युक्त था अथवा भुजंग अर्थात् नीच (विटगुंडे) लोगोंके परिवारसे युक्त था और अनेक प्रकारके काँटोंसे भरा हुआ था अथवा अनेक प्रकारके उपद्रवी लोगोंसे भरा हुआ था इसलिये वह बहुत ही दुःखदायी अथवा शोचनीय अवस्थाको धारण कर रहा था ॥७२॥ उस पर्वतपरका वन क्षीबकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे युक्त होकर भी अक्षीबकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे रहित था, और विपत्र अर्थात् पत्तोंसे रहित होकर भी सत्पत्रपल्लव अर्थात् पत्तों तथा कोपलोंसे सहित

१ इव । २ मित्रत्वम् । ३ समुद्रेण । ४ कर्तुमिच्छति । ५ तटनिम्नोन्नत । ६ प्रपातपतनाय । 'पपातस्त्वतटो भृगु' इत्यभिधानात् । ७ ग्रीष्म । ८ सगजं पक्षे सचाण्डालम् । ९ ससर्पं, पक्षे सविट् । १० पक्षिताति, पक्षे नीच जाति । ११ मत्तगज । १२ अक्षीबं समुद्रलवणम् 'समुद्रं यत् लवणमक्षीबं वशिष्ठव तत्' । कुञ्जो गुन्मगुह्यन्ती रतीति ददातीति । १३ वीनां पत्राणि पक्षाणि यस्मिन् सन्तीति, अथवा विगताश्वम् ।

स्फुटद्वेणूबरोन्मुक्तैः व्यस्तैर्मुक्ताफलैः क्वचित् । वनलक्ष्म्यो हसन्तीव स्फुटद्वन्तांशुः यद्वने ॥७४॥
 गुहामुखस्फुरद्दीरनिर्झरप्रतिशब्दकैः । गर्जतीव कृतस्पर्धो महिम्ना यः कुलाचलैः ॥७५॥
 स्फुटभिन्तोन्नतोद्देशैः चित्रवर्णैश्च धातुभिः^३ । मृगरूपैरतर्क्यैश्च चित्राकारं बिभर्ति यः ॥७६॥
 ज्वलन्त्यौषधयो यस्य वनान्तेषु तमीमुखे । देवताभिरिवोत्क्षिप्ता^४ दीपिकास्तिमिरच्छिदः ॥७७॥
 क्वचिन्मृगेन्द्रभिन्नेभक्तम्भो^५ च्चलितमीक्षितकैः । यदुपान्तस्थलं धत्ते प्रकीर्णकुसुमश्रियम्^६ ॥७८॥
 स तमालोकयन् दूरात् श्राससाद महार्गिरम् । ग्राह्ययन्तमिवासक्तं^७ भरद्वातंस्तद्वृमः ॥७९॥
 स तद्वनगतान् दूराद् अपश्यद् घनकर्बुरान् । सयूथानुद्धनुर्ब^८ शान् किरातान् करिणोऽपि च ॥८०॥
 सरिद्धधूस्तदुत्सङ्गे^९ विवृतशफरीक्षणाः । तद्वल्लभा इवापश्यत् स्फुरद्विदितमन्मनाः^{१०} ॥८१॥

था इस प्रकार विरोधरूप होकर भी सुशोभित हो रहा था । भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है, विरोध ऊपर दिखाया जा चुका है अब उसका परिहार देखिये—वहाँका वन क्षीबकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे युक्त होनेपर भी अक्षीबकुंजर अर्थात् समुद्री नमक तथा हाथीदाँतोंको देनेवाला था अथवा सोहाजनाके लतामण्डपोंको प्रदान करनेवाला था और विपत्र अर्थात् पक्षियोंके पंखोंसे सहित होकर भी उत्तम पत्तों तथा नवीन कोंपलोंसे सहित था (अक्षीबं च कुञ्जश्चेत्यक्षीबकुञ्जौ, तौ राति ददातीत्यक्षीबकुञ्जरम् अथवा 'अक्षीबाणां शोभाञ्जनानां कुञ्जं लतागृहं राति ददाति', 'सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीबं वशिरं च तत्' 'कुञ्जो दन्तेऽपि न स्त्रियाम्' 'शोभाञ्जने शिश्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीबमोचकाः इति सर्वत्रामरः) ॥७३॥ उस पर्वतके वनमें कहीं कहीं पर फटे हुए बांसोंके भीतरसे निकलकर चारों ओर फैले हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो वनलक्ष्म्या ही दाँतोंकी किरणें फैलाती हुई हँस रही हों ॥७४॥ गुफाओंके द्वारोंसे निकलती हुई भरनोंकी गंभीर प्रतिध्वनियों से वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो अपनी महिमाके कारण कुलाचलोंके साथ स्पर्धा करता हुआ गरज ही रहा हो ॥७५॥ वह पर्वत ऊँचे नीचे प्रदेशोंसे, अनेक रंगकी धातुओंसे और हरिणोंके अचिन्तनीय वर्णोंसे प्रकट रूप ही एक विचित्र प्रकारका आकार धारण कर रहा था ॥७६॥ उस पर्वतके वनोंमें रात्रि प्रारम्भ होनेके समय अनेक प्रकारकी औषधियाँ प्रकाशमान होने लगती थीं जो कि ऐसी जान पड़ती थीं मानों देवताओंने अन्धकारको नष्ट करनेवाले दीपक ही जलाकर लटका दिये हों ॥७७॥ कहीं कहींपर उस पर्वतके समीपका प्रदेश, सिंहीं के द्वारा फाड़े हुए हाथियोंके मस्तकोंसे उछलकर पड़े हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो बिखरे हुए फूलोंकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥७८॥ जो वायुसे हिलते हुए किनारेके वृक्षों से बूलाता हुआ सा जान पड़ता था ऐसे अपनेमें आसक्त उस महापर्वतको दूरसे ही देखते हुए चक्रवर्ती भरत उसपर जा पहुँचे । ॥७९॥ वहाँ जाकर उन्होंने उस पर्वतके वनोंमें रहनेवाले भुण्डके भुण्ड भील और हाथी देखे वे भील मेघोंके समान काले थे और धनुषोंके बाँसोंको ऊँचा उठाकर कंधोंपर रखे हुए थे तथा हाथी भी मेघोंके समान काले थे और धनुषके समान ऊँची उठी हुई पीठकी हड्डीको धारण किये हुए थे ॥८०॥ उस पर्वतके किनारेपर उन्होंने चंचल मछलियाँ ही जिनके नेत्र हैं और बोलते हुए पक्षियोंके शब्द ही जिनके मनोहर शब्द हैं ऐसी उस विन्ध्याचलकी प्यारी स्त्रियोंके समान नदीरूपी स्त्रियोंको बड़ी ही उत्कण्ठाके साथ

१ स्फुरद्दन्तांशु-ल० । २ व्यक्त । ३ गैरिकादिभिः । ४ उद्धृताः । ५ -च्छवलत-ल०, द० ।

६ पुष्पोपहारशोभाम् । ७ अनवरतम् । ८ ससमूहान् । ९ उद्गतधनुषो वेणून् । उद्गतधनुराकारपृष्ठ-
 स्पर्शम् । १० पर्वतसानी । ११ जिह्मध्वनिरेवाव्यक्तवाचो यासां ताः । -मुन्मनाः ल०, द० ।

मध्येविन्ध्यमयैक्षिष्ट^१ नर्मदां सरिदुत्तमाम् । प्रततामिव तत्कीर्तिम् आसमुद्रमपारिकाम् ॥८२॥
 तरङ्गगितपयोवेगां भुवो^२ वेणीमिवायताम् । पताकामिव विन्ध्याद्रेः शेषाद्रिजयशंसिनीम् ॥८३॥
 सा धुनी बलसंक्षोभाद् उड्डीनविहगावलिः । विभोरुपागमे बद्धतोरणैव क्षणं व्यभात् ॥८४॥
 नर्मदा^३ सत्यमेवासीन्नर्मदा नृपयोविताम् । यदुपोरुत्तरन्तीस्ताः शफरीभिरघट्टयत् ॥८५॥
 तामुत्तीर्य जनक्षोभाद् उत्पतत्पतगावलिम्^४ । बलं विन्ध्योत्तरप्रस्थान् आक्रामत् कुतुपास्थया^५ ॥८६॥
 तस्या^६ दक्षिणतोऽपश्यद् विन्ध्यं मुत्तरतोऽप्यसी । द्विधाकृतमिवात्मानम् अपर्यन्तं दिशोर्द्वयोः ॥८७॥
 स्कन्धावारनिवेशोऽस्य नर्मदामभितोऽद्युतत् । प्रथिम्ना^७ विन्ध्यमावेष्टय स्थितो विन्ध्य इवापरः ॥८८॥
 गजैर्गण्डोपलै^८ रश्वैः अश्ववक्त्रैश्च^९ विद्रुतैः । स्कन्धावारः स विन्ध्यश्च भिदा^{१०} नावापनुमिथः ॥८९॥
 बलीपभुक्तनिःशेषफलपल्लवपादपः । अप्रसूनलतावीरद्विन्ध्यो बन्ध्यस्तदाभवत् ॥९०॥
 वेणवस्तण्डुलैर्मुक्ताफलमिश्रैः कृतार्चनाः । अध्ययुः^{११} सैनिकाः स्वरं रम्या विन्ध्याचलस्थलीः^{१२} ॥९१॥

देखा ॥८१॥ तदनन्तर उन्होंने विन्ध्याचलके मध्य भागमें समुद्र तक फैली हुई और किसी से न रुकनेवाली उसकी कीर्तिके समान नर्मदा नामकी उत्तम नदी देखी ॥८२॥ जिसके जल-का प्रवाह अनेक लहरोंसे भरा हुआ है ऐसी वह नर्मदा नदी पृथिवीरूपी स्त्रीकी लम्बी चौटी-के समान जान पड़ती थी अथवा शेष सब पर्वतोंको जीत लेनेकी सूचना करनेवाली विन्ध्याचल की विजय-पताकाके समान मालूम होती थी ॥८३॥ सेनाके क्षोभसे जिसके ऊपर पक्षियोंकी पंक्तियां उड़ रही हैं ऐसी वह नदी क्षण भरके लिये ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने चक्रवर्ती के आनेपर तोरण ही बांधें हों ॥८४॥ चूँकि वह नर्मदा नदी जलको पार करनेवाली रानियों के लिये मछलियोंके द्वारा धक्का देती थी इसलिये वह सचमुच ही उन्हें नर्मदा अर्थात् क्रीड़ा प्रदान करनेवाली हुई थी ॥८५॥ मनुष्योंके क्षोभसे जिसके पक्षियोंकी पंक्ति ऊपरको उड़ रही है ऐसी उस नर्मदा नदीको पार कर उस सेनाने देहली समझकर विन्ध्याचलके उत्तरकी ओर, आक्रमण किया ॥८६॥ वहां भरतने दक्षिण और उत्तर दोनों ही ओर विन्ध्याचलको देखा, उस समय दोनों ओर दिखाई देनेवाला वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानों अपने दो भाग कर दोनों दिशाओंको ही अर्पण कर रहा हो ॥८७॥ भरतकी सेनाका पड़ाव नर्मदा नदी के दोनों किनारोंपर था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने विस्तारसे विन्ध्याचल को घेरकर कोई दूसरा विन्ध्याचल ही ठहरा हो ॥८८॥ उस समय सेनाका पड़ाव और विन्ध्या-चल दोनों ही परस्परमें किसी भेद (विशेषता) को प्राप्त नहीं हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार सेनाके पड़ावमें हाथी थे उसी प्रकार विन्ध्याचलमें भी हाथियोंके समान ही गंडोपल अर्थात् बड़ी बड़ी काली चट्टानें थी और सेनाके पड़ावमें जिस प्रकार अनेक घोड़े इधर उधर फिर रहे थे उसी प्रकार उस विन्ध्याचलमें भी अनेक अश्ववक्त्र अर्थात् घोड़ोंके मुखके समान मुखवाले किल्लर जातिके देव इधर-उधर फिर रहे थे (कवि-सम्प्रदायमें किल्लरोंके मुखोंका वर्णन घोड़ों के मुखोंके समान किया जाता है) ॥८९॥ सेनाने उस विन्ध्याचलके समस्त फल पत्ते और वृक्षोंका उपभोग कर लिया था और लताओं तथा छोटे छोटे पौधोंको पुष्परहित कर दिया था इसलिये वह विन्ध्याचल उस समय बन्ध्याचल अर्थात् फल-गुष्प आदिसे रहित हो गया था ॥९०॥ मोतियोंसे मिले हुए बांसी चावलोंसे जिनन्ददेवकी पूजा करते हुए सैनिक लोगोंने वहाँ इच्छा-

१ -मवैक्षिष्ट अ०, स०, इ० । २ प्रवेणीम् । ३ नर्म क्रीडा तां ददातीति नर्मदा । ४ ऊरुसमीपे । यदपो ह्युत्तरन्ती-ल० । ५ पक्षी । ६ देहलीति वृद्ध्या । ७ नर्मदायाः । ८ दक्षिणस्यां दिशि स्थितः । ९ उत्तरस्यां दिशि स्थितम् । १० विन्ध्याचलम् नर्मदाविन्ध्याचलमध्ये विभिन्न द्विधाकृत्य गतेति भावः । ११ पृथुत्वेन । १२ गण्डोपलैः । १३ किल्लरैः । १४ घोरम् । १५ निवसन्ति स्म । १६ -शिवजिः ल० ।

कृतावासञ्च तत्रैनं वदुस्तद्वनाधिपाः । वयैरुपायनः इलाध्यैः अगदैश्च^१ महोषधैः ॥६२॥
 उपानिन्युः^२ करीन्द्राणां दन्तानस्मै समौषितकान् । किरातवर्या^३ वर्या हि स्वोचिता सत्क्रिया प्रभौ^४ ॥६३॥
 पश्चिमार्धेन^५ विन्ध्याद्रिम् उल्लङ्घ्योत्तीर्य नर्मदाम् । विजेतुमपरामार्शां प्रतस्थे चक्रिणो बलम् ॥६४॥
 गत्वा किञ्चिदु^६ दग्धभूयः प्रतीची^७ दिशमानशे । प्राक् प्रतापोऽस्य दुर्वारः सचक्रं चरमं^८ बलम् ॥६५॥
 तदा प्रचलदशवीर्यखुरोदृतं^९ महोरजः । न केवलं द्विषां तेजो रुरोध द्युमणेरपि ॥६६॥
 लाटा ललाटं^{१०} संघुष्टभूपृष्ठाश्चाटुभाषिणः । लालाटिकं^{११} पदं भेजुः प्रभोराजावशीकृताः ॥६७॥
 केचित्सौराष्ट्रिकैर्नागैः परे^{१२} पाञ्चनद्वैर्गजैः । तं तद्वनाधिपा वीक्षाञ्चक्रिरे चक्रचालिताः ॥६८॥
 चक्रसन्दर्शनादेव वस्ता निर्मण्ड^{१३} लग्रहाः । ग्रहा^{१४} इव नृपाः केचित् चक्रिणो वशमाययुः ॥६९॥
 दिश्यानिव^{१५} द्विषान् क्षमापान्पृथुवंशान्मदोद्गुरान् । प्रचक्रे^{१६} प्रमुणांश्चक्री बलादाक्रम्य दिक्पत्नीन् ॥१००॥
 नृपान् सौराष्ट्रकानुष्ट^{१७} वामीशतभूतो पदान् । स^{१८} भाजयन् प्रभुर्भजे रम्या रैवतकस्थलीः^{१९} ॥१०१॥

नुसार निवास किया था सो ठीक ही है क्योंकि विन्ध्याचलपर रहना बहुत ही रमणीय होता है ॥९१॥ विन्ध्याचलके वनोंके राजाओंने वनोंमें उत्पन्न हुई रोग दूर करनेवाली और प्रशंसनीय बड़ी बड़ी औषधियां भेंट कर वहाँपर निवास करनेवाले राजा भरतके दर्शन किये ॥९२॥ भौलोंके राजाओंने बड़े बड़े हाथियोंके दांत और मोती महाराज भरतकी भेंट किये, सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीका सत्कार अपनी योग्यताके अनुसार ही करना चाहिये ॥९३॥ विन्ध्याचलको पश्चिमी किनारेके अन्तभागसे उल्लंघन कर और नर्मदा नदीको पार कर चक्रवर्ती की सेनाने पश्चिम दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान किया ॥९४॥ वह सेना पहले तो कुछ उत्तर दिशाकी ओर बढ़ी और फिर पश्चिम दिशामें व्याप्त हो गई । सेनामें सबसे आगे महाराज भरतका दुर्निवार प्रताप जा रहा था और उसके पीछे पीछे चक्रसहित सेना जा रही थी ॥९५॥ उस समय वेगसे चलते हुए घोड़ोंके समूहके खुरोंसे उड़ी हुई पृथिवीकी धूलिने केवल शत्रुओंके ही तेजको नहीं रोका था किन्तु सूर्यका तेज भी रोक लिया था ॥९६॥ जिन्होंने अपने ललाटसे पृथिवीतलको घिसा है और जो मधुर भाषण कर रहे हैं ऐसे भरतकी आज्ञासे वश किये हुए लाट देशके राजा उनके लालाटिक पदको प्राप्त हुए थे । (ललाटं पश्यति लालाटिकः—स्वामी क्या आज्ञा देते हैं ? यह जाननेके लिये जो सदा स्वामीके मुखकी ओर ताका करते हैं उन्हें लालाटिक कहते हैं ।) ॥९७॥ चक्र रत्नसे विचलित हुए कितने ही वनके राजाओंने सोरठ देशमें उत्पन्न हुए और कितने ही राजाओंने पंजाबमें उत्पन्न हुए हाथी भेंट देकर भरतके दर्शन किये ॥९८॥ जो चक्रके देखनेसे ही भयभीत हो गये हैं और जिन्होंने अपने देशका अभिमान छोड़ दिया है ऐसे कितने ही राजा लोग सूर्य चन्द्र आदि ग्रहोंके समान चक्रवर्तीके वश हो गये थे । भावार्थ—जिस प्रकार समस्त ग्रह भरतके वशीभूत थे—अनुकूल थे उसी प्रकार उस दिशाके समस्त राजा भी उनके वशीभूत हो गये थे ॥९९॥ चक्रवर्ती भरतने दिग्गजोंके समान पृथुवंश अर्थात् उत्कृष्ट वंशमें उत्पन्न हुए (पक्षमें—पीठपरकी चौड़ी रीढ़से सहित) और मदोद्गुर अर्थात् अभिमानी (पक्षमें—मदजलसे उत्कट) राजाओंको जबर्दस्ती आक्रमण कर अपने वश किया था ॥१००॥ सैकड़ों ऊंट और घोड़ियोंकी भेंट लेकर आये हुए सोरठ देशके राजाओं

१ व्याधिघातकः ।

२ उपायनीकृत्य नयन्ति स्म ।

उपनिन्युः अ०, ३०, ५०, ८०, १०० ।

३ श्रेष्ठाः । ४ चर्या ल० । ५ विभी स०, अ० । ६ पश्चिमान्तेन ल०, द० । ७ उत्तरदिशम् । ८ पश्चिमाम् ।

९ पश्यति । १० खुरोद्भूतमहोरजः ल० । ११ संघुष्ट—३०, ५०, ८० । १२ विशिष्टभृत्यपदम् ।

लालाटिकः प्रभोर्भावदर्शी कार्यक्षमश्च यः इत्यभिधानात् । १३ पञ्चनदीषु जातैः । १४ देशग्रहणरहिताः ।

१५ आदित्यग्रहाः । १६ दिशि भवान् । १७ प्रणतान् । १८ उष्ट्रावसमूहधृतीपदान् । १९ तोषयन् ।

२० ऊर्जयन्तगिरिस्थलीः ।

सुराष्ट्रेष्वर्ज्यन्तादिम् अद्विराजमिवोच्छ्रितम् । ययौ प्रवक्षिणीकृत्य भावितीर्थमनुस्मरन् ॥१०२॥
 क्षौमांशुकद्रुकूलैश्च चीनपट्टाम्बरैरपि । पटीभेदैश्च^१ देशेना ददृशुस्तमुपायनैः ॥१०३॥
 कांश्चित् सम्मानदानाभ्यां कांश्चिद्वि^२स्त्रम्भाषितैः । प्रसन्नैर्वीक्षितैः कांश्चिद् भूपान्विभुररञ्जयत् ॥१०४॥
 गजप्रवे^३कैर्जात्यैश्चै रत्नैरपि पृथग्विधैः^४ । तमानर्चुन् पास्तुष्टाः स्वराष्ट्रोपगतं प्रभुम् ॥१०५॥
 तरस्विभिवर्षुर्मेधावयः सत्त्वगुणान्वितैः । तुरङ्गमैस्तुरुष्का^५द्यैः विभुमाराधयन् परे ॥१०६॥
 केचित्काम्बोजबाह्वीकतैतिलारट्टसैन्धवैः^६ । वानायुकैः^७ सगान्धारैः बाणैरपि वाजिभिः ॥१०७॥
 कुलीपकुलसम्भूतैः नानाविदेशचारिभिः । आजानेयैः^८ सप्तप्राङ्गणैः प्रभुमैक्षन्त पार्थिवाः ॥१०८॥
 प्रतिप्रयाणमित्यस्य रत्नलाभो न केवलम् । यशोलाभश्च दुःसाध्यान् बलात् साधयतो नृपान् ॥१०९॥
 जलस्थलपथान् विष्वग् आरुध्य जयसाधनैः । प्रत्यन्तपालभूपालान् अजयत्तच्च मूपतिः ॥११०॥
 विलङ्घ्य विविधान् देशान् अरण्यानीः सरिर्द्विरीन् । तत्र तत्र विभोराज्ञां^९ सेनानीराश्वशुभ्रवत्^{१०} ॥१११॥
 प्राच्यानिच स भूपालान् प्रतीच्यानप्यनुक्रमात् । श्रावयन् हृततन्मानधनः प्रापपराम्बुधिम् ॥११२॥

से सेवा कराते हुए अथवा उनसे प्रीतिपूर्वक साक्षात्कार (मुलाकात) करते हुए चक्रवर्ती भरत गिरनार पर्वतके मनोहर प्रदेशोंमें जा पहुंचे ॥१०१॥ भविष्यत् कालमें होनेवाले तीर्थंकर नेमिनाथका स्मरण करते हुए वे चक्रवर्ती सौराष्ट्र देशमें सुमेरु पर्वतके समान ऊंचे गिरनार पर्वतकी प्रदक्षिणा कर आगे बढ़े ॥१०२॥ उन उन देशोंके राजाओंने उत्तम उत्तम रेशमी वस्त्र, चायना सिल्क तथा और भी अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे वस्त्र भेंट देकर महाराज भरत के दर्शन किये ॥१०३॥ भरतने कितने ही राजाओंको सम्मान तथा दानसे, कितने ही राजाओं को विश्वास तथा स्नेहपूर्ण बातचीतसे और कितने ही राजाओंको प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे अनुरक्त किया था ॥१०४॥ कितने ही राजाओंने संतुष्ट होकर उत्तम हाथों, कुलीन घोड़े और अनेक प्रकारके रत्नोंसे अपने देशमें आये हुए महाराज भरतकी पूजा की थी—॥१०५॥ अन्य कितने ही राजाओंने वेगसे चलनेवाले, तथा शरीर, बुद्धि, अवस्था और बल आदि गुणोंसे सहित तुरुष्क आदि देशोंमें उत्पन्न हुए घोड़ोंके द्वारा भरतकी सेवा की थी ॥१०६॥ कितने ही राजाओंने उसी देशके घोड़े घोड़ियोंसे उत्पन्न हुए, तथा एक देशके घोड़े और अन्य देशकी घोड़ियोंसे उत्पन्न हुए, नाना दिशाओं और देशोंमें संचार करनेवाले, कुलीन और पूर्ण अंगोंपाङ्ग धारण करनेवाले, काम्बोज, वाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सैन्धव, वानायुज, गान्धार और बाण देशमें उत्पन्न हुए घोड़े भेंट कर महाराजके दर्शन किये थे ॥१०७—१०८॥ इस प्रकार भरत को प्रत्येक पड़ावपर केवल रत्नोंकी ही प्राप्ति नहीं हुई थी किन्तु अपने पराक्रमसे बड़े बड़े दुःसाध्य (कठिनाइयोंसे जीते जाने योग्य) राजाओंको जीत लेनेसे यशकी भी प्राप्ति हुई थी ॥१०९॥ भरतके सेनापतिने अपनी विजयी सेनाओंके द्वारा चारों ओरसे जल तथा स्थलके मार्ग रोककर पहाड़ी राजाओंको जीता ॥११०॥ सेनापतिने अनेक प्रकारके देश, बड़े बड़े जंगल, नदियां और पर्वत उल्लंघन कर सब जगह शीघ्र ही सम्राट् भरतकी आज्ञा स्थापित की ॥१११॥ इस प्रकार चक्रवर्ती क्रम क्रमसे पूर्व दिशाके राजाओंके समान पश्चिम दिशाके राजाओंको भी वश करता हुआ तथा उनके अभिमान और धनका हरण करता हुआ पश्चिम समुद्रकी ओर

१ सूत्रवस्त्रद्वयं पटी । २ स्नेह । ३ श्रेष्ठः । ४ नानाविधैः । ५ तुरुष्कदेशजात्याद्यैः ।

६ तैतिल-आरट्टसिन्धुदेशजैः । ७ वानायुदेशे जातैः । ८ वापिदेशभवैः, पाण्यैः द०, वाण्यै ल० ।

९ कुलीनैः । 'आजानेयः कुलीनाः स्युः' इत्यभिधानात्, जात्यश्वैरित्यर्थः । १० प्रभो— ल० ।

११ श्रावयति स्म ।

‘वेलासरित्करान्याद्धिः अतिदूरं प्रसारयन् । नूनं^१ प्रत्यग्रहीदेवं नानारत्नार्धमुदहन् ॥११३॥
 शूर्पेन्मेयानि^२ रत्नानि वार्येस्तिप्रशंसिनी । यानपात्रमहामानः उन्मेयान्यत्र तानि यत् ॥११४॥
 नाम्नेव लवणाम्भोधिस्तिपुद्गवान् लङ्कृतः । रत्नाकरोऽयमित्युच्चैः बहु मेने तदा नृपः ॥११५॥
 पतन्यत्र पतङ्गोऽपि^३ तेजसा याति मन्दताम् । विदीपे तत्र तेजोऽस्य प्रतीच्या^४ जयतो नृपान् ॥११६॥
 धारयश्चक्ररत्नस्य^५ पारयः सङ्गरोदधेः^६ । द्विषा^७मुदे^८जयस्तीव्रं स तिग्मांशुरिवाद्युतत् ॥११७॥
 अनुवाद्धि तदं गत्वा सिन्धुद्वारे न्यवेशयत् । स्कन्धावारं स लक्ष्मीवान् अक्षोभ्यं स्वमिवाशयम् ॥११८॥
 सिन्धोस्तटवने रम्ये न्यविक्षत्रास्य सैनिकाः । चमूद्विरदसम्भोगनिकुञ्जो^९भूतपादपे ॥११९॥
 तत्राधिवासि^{१०}तानोऽङ्गः पुरश्चरण^{११} कर्मवित् । पुरोधा धर्मचक्रेशान्^{१२} प्रपूज्य विधिवत्ततः ॥१२०॥
 सिद्धशेषाक्षतः^{१३} पुण्यैः गन्धोदकविमिश्रितैः । अभ्यनन्दत्सुयज्वा^{१४} तं पुण्याशीभिश्च चक्रिणम् ॥१२१॥
 ततोऽसौ धृतविन्यास्त्रो रथमावह्य पूर्ववत्^{१५} । जगहे लवणाम्भोधि गोष्पदावजया प्रभुः ॥१२२॥

चला ॥११२॥ उस समय वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो किनारे पर बहनेवाली नदियां रूपी हाथोंको बहुत दूर तक फैलाकर नाना प्रकारके रत्नरूपी अर्घको धारण करता हुआ महाराज भरतकी अगवानी ही कर रहा हो अर्थात् आगे बढ़कर सत्कार ही कर रहा हो ॥११३॥ जो लोग कहा करते हैं कि समुद्रके रत्न सूपसे नापे जा सकते हैं वे उसकी ठीक ठीक प्रशंसा नहीं करते बल्कि अप्रशंसा ही करते हैं क्योंकि यहाँ तो इतने अधिक रत्न हैं कि जो बड़े बड़े जहाजरूप नापोंसे भी नापे जा सकते हैं ॥११४॥ यह समुद्र ‘लवण समुद्र’ इस नामसे विलकुल ही तुच्छ कर दिया गया है, वास्तवमें यह रत्नाकर है इस प्रकार उस समय भरत आदि राजाओंने उसे बहुत बड़ा माना था ॥११५॥ जिस दिशामें जाकर सूर्य भी अपने तेजकी अपेक्षा मन्द (फीका) हो जाता है उसी दिशामें पश्चिमी राजाओंको जीतते हुए चक्रवर्ती भरत का तेज अतिशय देदीप्यमान हो रहा था ॥११६॥ चक्ररत्नको धारण करता हुआ, युद्धरूपी समुद्रको पार करता हुआ और शत्रुओंको उद्ध्विग्न करता हुआ वह भरत उस समय ठीक सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥११७॥ जो राज्यलक्ष्मीसे युक्त है ऐसे उस भरत ने समुद्रके किनारे किनारे जाकर अपने हृदयके समान कभी क्षुब्ध न होनेवाला अपनी सेनाका पड़ाव सिन्धु नदीके द्वारपर लगवाया । भावार्थ—जहाँ सिन्धु नदी समुद्रमें जाकर मिलती है वहाँ अपनी सेनाके डेरे लगवाये ॥११८॥ सेनाके हाथियोंके उपभोगसे जहाँके वृक्ष निकुञ्ज अर्थात् लतागृहोंके समान हो गये हैं ऐसे सिन्धु नदीके किनारेके मनोहर वनमें भरतकी सेनाके लोगोंने निवास किया ॥११९॥ तदनन्तर कार्यके प्रारम्भमें करने योग्य समस्त कार्यों को जाननेवाले पुरोहितने वहाँपर मन्त्रोंके द्वारा चक्ररत्नकी पूजा कर विधिपूर्वक धर्मचक्रके स्वामी अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजा की और फिर गन्धोदकसे मिले हुए पवित्र सिद्ध शेषाक्षतों और पुण्यरूप अनेक आशीर्वादोंसे चक्रवर्ती भरतको आनन्दित किया ॥१२०-१२१॥ तदनन्तर

१ वेलासरित एव कराः तान् । २ इव । ३ प्रस्फोटनेन उन्मातुं योग्यानि । प्रस्फोटनं शूर्प-
 मस्त्रीत्यभिधानात् । ४ वेला । -रिभ्यप्रशंसिभिः ल० । प्रशस्तेऽपि न प्रशस्या । (प्रशस्ताऽपि न
 प्रशस्या) । ५ सूर्यः । ६ प्रतीच्यानिति पाठः । ७ चक्ररत्नं धारयन् । ८ प्रतिज्ञासमुद्रं समाप्तं कुर्वन् ।
 ९ शत्रून् । १० कम्पयन् । (एज कम्पने इति धातुः । ‘दारिपारिवेद्युदेजिजितिसाहिसाहिलिम्पविन्दो-
 पसर्गात् इति कर्तरि शप् प्रत्ययः’ । ‘मध्ये कर्तरि शप्’ इति शप् विधानात् एजयादेशः) । ११ नितरां
 ह्रस्वीभूत । १२ समन्त्रकं पूजितचक्ररत्नः (अनः शकटम् तस्याङ्गम् चक्रम्) । १३ पूर्वसेवा ।
 १४ पञ्चपरमेष्ठिनः । १५ पुरोहितः । सुष्टु दृष्टवान् । ‘यज्वा तु विधिनेष्टवान्’ इत्यमरः । ‘सुयजोऽ्वनित’
 इति अतीतार्थे सुयजधातुभ्यां ङ्वनिप्प्रत्ययः । १६ भागधविजये यथा ।

(प्रभासमजयत्तत्र प्रभासं व्यन्तराधिपम् । प्रभासमूहमर्कस्य स्वभासा तर्जयन्प्रभुः ॥१२३॥)
जयश्रीशफरीजालं^१ मुक्ताजालं ततोऽस्मरात् । लेभे सान्त्वानिकीं^२ मालां हेममालाञ्च चक्रभूत् ॥१२४॥
इति पुण्योदयाज्जिष्णुः^३ व्यजेष्टाभरसत्तमान् । तस्मात् पुण्यधनं प्राप्ताः शश्वदजयतोऽजितम् ॥१२५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

(त्वङ्ग^४ तुङ्ग तुरङ्गसाधनखुरक्षुण्ण^५ न्महीस्थण्डिताद्^६
उद्भूतं रणरे^७णुभिर्जलनिधेः कालुष्यमापादयन्^८ ।
सिन्धुद्वारमुपेत्य तत्र विधिना जित्वा प्रभासामरं
तस्मात्सारधनान्यवापदतुलश्रीरग्रणीश्चक्रिणाम् ॥१२६॥)
लक्ष्म्यान्दोल^९लतामिवोरसि बधत् सन्तानपुष्पस्रजं
मुक्ताहेममयेन जालयुग^{१०}लेनालङ्कृतोच्चैस्तनुः ।
लक्ष्म्युद्वाह^{११}गृहादिवाप्रतिभयो^{१२} निर्यन्निधेरम्भसां
लक्ष्मीशो हरुचै भूशं नववरच्छायां^{१३} परामुद्वहन् ॥१२७॥

जिसने दिव्य अस्त्र धारण किये हैं ऐसे भरतने पहलेके समान रथपर चढ़कर गोष्पदके समान तुच्छ समझते हुए लवण समुद्रमें प्रवेश किया ॥१२२॥ अपनी प्रभासे सूर्यकी प्रभाके समझको तिरस्कृत करते हुए भरतने वहां जाकर अतिशय कान्तिमान् प्रभास नामके व्यन्तरोके स्वामी को जीता ॥१२३॥ तदनन्तर चक्रवर्तीने उस प्रभासदेवसे जयलक्ष्मीरूपी मछलीको पकड़ने के लिये जालके समान मोतियोंका जाल, कल्पवृक्षके फूलोंकी माला और सुवर्णका जाल भेंट स्वरूप प्राप्त किये ॥१२४॥ इस प्रकार विजयी भरतने अपने पुण्यकर्मके उदयसे अच्छे अच्छे देवोंको भी जीता इसलिये हे पण्डित जन, तुम भी उत्कृष्ट फल देनेवाले पुण्यरूपी धनका सदा उपार्जन करो ॥१२५॥ अनुपम लक्ष्मीके धारक भरत, उछलते हुए बड़े बड़े घोड़ोंकी सेना के खुरोंसे खुदी हुई पृथिवीसे उड़ती हुई रथकी धूलिके द्वारा समुद्रको कलुषता प्राप्त कराते हुए (गँदला करते हुए) सिन्धुद्वारपर पहुंचे और वहां उन्होंने विधिपूर्वक प्रभास नामके देवको जीतकर उससे सारभूत धन प्राप्त किया । ॥१२६॥ जो अपने वक्षःस्थलपर लक्ष्मीके भूला की लताके समान कल्पवृक्षके फूलोंकी माला धारण किये हुए है, जिसका ऊँचा शरीर मोती और सुवर्णके बने हुए दो जालोंसे अलंकृत हो रहा है, जो निर्भय है और लक्ष्मीका स्वामी है ऐसा यह भरत लक्ष्मीके विवाहगृहके समान समुद्रसे निकल रहा है और नवीन वरकी उत्कृष्ट कान्तिको धारण करता हुआ अत्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥१२७॥ इस प्रकार समुद्र-पर्यन्त पूर्व दिशाके राजाओंको, वैजयन्त पर्वत तक दक्षिण दिशाके राजाओंको और पश्चिम समुद्र

१ प्रकृष्टदीप्तिम् । २ जयश्रीरेव शफरी मत्सी तस्या जालम् पाशः । ३ कल्पवृक्षजाताम् ।
४ वल्गुम् । ५ चूर्णीकृतात् । ६ शर्कराप्रायप्रदेशात् । ७ सङ्गराणांशुभिः । ८ राप्तादयन् । ९ लक्ष्म्याः
प्रेङ्गलोत्तिकारज्जुम् । १० मालायुगेन । ११ विवाहः । १२ भयरहितः । १३ नूतनवरशोभाम् ।

प्राच्या^१नाजलधे^२रपाच्यनृपती^३नावैजयन्ताज्जयन्
 निजित्यापरसिन्धुसीमघटितामाशां प्रतीचीमपि
 दिक्पालानिव पाथिवान्त्रणमयन्नाकम्पयन्नाकिनो
 दिक्चक्रं विजितारिचक्रमकरोदित्यं स भूभृत्प्रभुः ॥१२८॥
 पुण्याच्च^४क्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियं
 पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाश्नुते ।
 पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं
 तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ॥१२९॥
 इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे
 पश्चिमाणवद्वारविजयवर्णनं नाम त्रिंशं पर्व ।

की सीमा तक पश्चिम दिशाको जीतकर दिक्पालोंके समान समस्त राजाओंसे नमस्कार कराते हुए तथा देवोंको भी कम्पायमान करते हुए राजाधिराज भरतने समस्त दिशाओंको शत्रुरहित कर दिया ॥१२८॥ पुण्यसे सबको विजय करनेवाली चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिलती है, इन्द्रकी दिव्य लक्ष्मी भी पुण्यसे मिलती है, पुण्यसे ही तीर्थंकरकी लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्षलक्ष्मी भी पुण्यसे ही मिलती है इस प्रकार यह जीव पुण्यसे ही चारों प्रकारकी लक्ष्मीका पात्र होता है, इसलिये हे सुधी जन ! तुम लोग भी जिनेन्द्र भगवान्के पवित्र आगमके अनुसार पुण्यका उपार्जन करो ॥१२९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें पश्चिमसमुद्रके द्वारका विजय वर्णन करनेवाला तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

एकत्रिंशत्तमं पर्व

कौबेरीमथ निजंतुम् आशामभ्युद्यतो विभुः । प्रतस्थे वाजिभूयिष्ठैः साधनैः स्थगयन् दिशः ॥१॥
 धीरितं गंतं मुत्साहं सत्त्वं शिक्षां च लाघवैः । जातिं वपुर्गणैस्तज्ज्ञाः तदाश्वानां विजजिरे ॥२॥
 धीरितं गतिचातुर्यम् उत्साहस्तु पराक्रमः । शिक्षाविनयसंपत्ती रोमच्छाया वपुर्गुणः ॥३॥
 पुरोभागा निवात्येतुं पश्चाद्भागैः कृतोद्यमाः । प्रययुर्द्वैतमश्वानम् अध्वनोनास्तुरङ्गमाः ॥४॥
 खुरोद्धूतान् महीरेणून् स्वाङ्गस्पर्शभयादिव । केचिद् व्यतीयुरध्वध्वं महाशवाः कृतविक्रमाः ॥५॥
 छायात्मनः संहोत्थानं केचित्तोदुमिवाक्षमाः । खुरैरघट्टयद् बाहाः स तु सौक्ष्म्यान्नबाधितः ॥६॥
 केचिन्मृत्मिवातेनः महीरङ्गो तुरङ्गमाः । कमैश्चक्रमणारम्भे कृतमड्डुकं वादनैः ॥७॥
 स्थिरप्रकृतिसत्त्वानाम् अश्वानां चतताऽभवत् । प्रचलत्खुरसंक्षुण्णभुयां गतिषु केवलम् ॥८॥
 कोटयोऽष्टादशास्य स्युः वाजिनां वायुरंहसाम् । आजानेयप्रधानानां योग्यानां चक्रवर्तिनः ॥९॥
 हृद्धरोधोवनाक्षुण्णतटभूर्हासयत्यपः । सिन्धोः प्रतीपतां भोजे प्रयान्ती सा पत्ताकिनी ॥१०॥

अथानन्तर—उत्तर दिशाको जीतनेके लिये उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत जिनमें अनेक घोड़े हैं ऐसी सेनाओंसे दिशाओंको व्याप्त करते हुए निकले ॥१॥ उस समय घोड़ोंके गुण जानने वाले लोगोंने धीरित नामकी गतिसे उनकी चाल जानी, उत्साहसे उनका बल जाना, स्फूर्तिके साथ हलकी चाल चलनेसे उनकी शिक्षा जानी और शरीरके गुणोंसे उनकी जाति जानी ॥२॥ गतिकी चतुराईको धीरित, उत्साहको पराक्रम, विनयको शिक्षा और रोमोंकी कान्तिको शरीरका गुण कहते हैं ॥३॥ अच्छी तरह मार्ग तय करनेवाले घोड़े मार्गमें बहुत जल्दी जल्दी जा रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने पीछेके भागोंसे अगले भागोंको उल्लंघन ही करना चाहते हों ॥४॥ अपने खुरोंसे उड़ती हुई पृथिवीकी धूलिका कहीं हमारे ही शरीरके साथ स्पर्श न हो जावे ? इस भयसे ही मानो अनेक बड़े बड़े घोड़े अपना पराक्रम प्रकट करते हुए मार्गमें उस धूलिको उल्लंघन कर रहे थे ॥५॥ कितने ही घोड़े अपनी छायाका भी अपने साथ चलना नहीं सह सकते थे इसलिये ही मानो वे उसे अपने खुरोंसे तोड़ रहे थे परन्तु सूक्ष्म होनेसे उस छायाको कुछ भी बाधा नहीं होती थी ॥६॥ कितने ही घोड़े ऐसे जान पड़ते थे मानों चलनेके प्रारम्भमें बजते हुए नगाड़े आदि वाजोंके साथ साथ अपने पैरोंसे पृथ्वीरूपी रङ्गभूमिपर नृत्य ही कर रहे हों ॥७॥ जिनका स्वभाव और पराक्रम स्थिर है परन्तु जिन्होंने अपने चलते हुए खुरोंसे पृथ्वी खोद डाली है ऐसे घोड़ोंकी चंचलता केवल चलनेमें ही थी अन्यत्र नहीं थी ॥८॥ जिनका वेग वायुके समान है, जो उत्तम जातिके हैं और जो योग्य हैं ऐसे चक्रवर्तीके घोड़ों की संख्या अठारह करोड़ थी ॥९॥ जिसने किनारेके वन रोक लिये हैं, जिसने किनारेकी पृथिवी

१ धाराभिः । 'आस्कन्दितं धीरितकं रेचितं वलितं प्लुतम् । गतयोऽमुः पञ्च धाराः ।' पदेह-
 ल्पन्तुत्योत्प्लुत्य गमनम् आस्कन्दितम् । कञ्जकशिखिक्रोडनकुलगतैः सदृशम् धीरितकम् । मध्यमवेगेन चक्रवद्
 भ्रमणम् रेचितम् । पद्भिर्वलितम् वलितम् । मृगसाम्येन लङ्घनं प्लुतम् । आस्कन्दितादीनि पञ्चपदानि
 धाराशब्दवाच्यानि । धारेत्यश्वगतिः सा आस्कन्दितादिभेदेन पञ्चविधा भवतीत्यर्थः । २ गमनम् ।
 ३ बुबुधिरै । ४ पूर्वकायान् । ५ अतिगन्तुम् । ६ अपरकायैः । ७ अध्वनि समर्थाः । ८ अतीत्या-
 गच्छन् । ९ मार्गैः । १० छायास्वरूपस्य । ११ छायात्मा । १२ शीघ्रगमनारम्भे । १३ वाद्यविशेषः ।
 १४ पवनवेगिनाम् । १५ जात्यश्वमुपयानाम् । १६ सिन्धुनद्याः । १७ प्रतिकूलनाम् ।

प्रभोरिवागमात्सुष्टा सिन्धुः सैन्याधिनायकान् । तरङ्गपवनैर्मन्दम् आसिषेवे सुखाहरैः^१ ॥११॥
 गङ्गावर्णनयोपेतां फेनाषां^२ सम्मुखागताम् । तां पश्यन्नुत्तरामाशां जितां मेने निधीश्वरः ॥१२॥
 अनुसिन्धुतं सैन्यैः उदीच्यान् साधयन्पुनः । विजयाद्वाचिलोपान्तम् आससाव शनैर्मनुः ॥१३॥
 स गिरिमणिनिर्माणनवकूटविशङ्कटः^३ । ददृशे प्रभुणा दूराद् धृतार्थं इव राजतः^४ ॥१४॥
 स जलैः पवनाधूलचलशाखाप्रबाहुभिः । दूरादभ्यागतं जिष्णुम् आजुहावेव पादपैः ॥१५॥
 सोऽचलः शिखरोपान्तनिपतत्रिभंराम्बुभिः । प्रभोरुपागमे पाद्यं संविधित्सुरिवाचकात्^५ ॥१६॥
 स नगो नागपुत्रागपूगादिद्रुमसङ्कटैः^६ । रम्यस्तदवनोद्देशैः आहूतं प्रभुमिवासितुम्^७ ॥१७॥
 रजो वितानैः^८ यन् पीड्यं पवनैः परितो वनम् । सोऽभ्युत्तिष्ठन्निवास्यासीत् कूजत्कोकिलडिण्डिमः ॥१८॥
 किमत्र बहुना सोऽद्रिः विभुं दिग्विजयोद्यतम् । प्रत्येच्छदिव संप्रीत्या सत्काराङ्गैरतिस्फुटैः ॥१९॥
 पिनद्धं^९ तोरणामुच्चैरतीत्य वनवेदिकाम् । नियन्त्रितं^{१०} बलाध्यक्षैः जगाहेऽन्तर्वेणं बलम् ॥२०॥
 वनोपान्तभुवः सैन्यैः आरुढा रुद्धदिङ्मुखैः । उड्डीनविहगप्राणा निरुच्छ्वासास्तदाभवन् ॥२१॥

तोड़ दी है और जो जलको कम करती जाती है ऐसी चलती हुई वह सेना मानो सिन्धु नदीके साथ शत्रुता ही धारण कर रही थी । भावार्थ—वह सेना सिन्धु नदीको हानि पहुँचाती हुई जा रही थी ॥१०॥ वह सिन्धु नदी मानो चक्रवर्ती भरतके आनेसे संतुष्ट होकर ही सुख देनेवाले अपनी लहरोंकी पवनसे धीरे धीरे सेनाके मुख्य लोगोंकी सेवा कर रही थी ॥११॥ जो गङ्गा नदीके समस्त वर्णनसे सहित है और फेनोंसे भरी हुई है ऐसी सामने आई हुई सिन्धु नदीको देखते हुए निधिपति—भरत उत्तर दिशाको जीती हुईके समान समझने लगे थे ॥१२॥ सिन्धु नदीके किनारे किनारे अपनी सेनाओंके द्वारा उत्तर दिशाके राजाओंको वश करते हुए कुलकर—भरत धीरे धीरे विजयार्थ पर्वतके समीप जा पहुँचे ॥१३॥ जो मणियोंके बने हुए नौ शिखरोसे बहुत विशाल मालूम होता था ऐसा वह चाँदीका विजयार्थ पर्वत भरतने दूरसे ऐसा देखा मानो शिखरोंके वहानेसे अर्ध ही धारण कर रहा हो ॥१४॥ जिनकी शाखाओंके अग्रभागरूपी भुजाएँ वायुसे हिल रही हैं ऐसे वृक्षोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो दूरसे सन्मुख आये हुए विजयी भरतको बुला ही रहा हो ॥१५॥ शिखरोंके समीपसे ही पड़ते भरतोंके जलसे वह पर्वत ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानो चक्रवर्ती भरतके आनेपर उनके लिये पाद्य अर्थात् पौर धोनेका जल ही देना चाहता हो ॥१६॥ वह पर्वत नाग, नागकेसर और सुपारी आदिके वृक्षोंसे भरे हुए तथा मनोहर अपने किनारेके वनके प्रदेशोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो विश्राम करनेके लिये स्वामी भरतको बुला ही रहा हो ॥१७॥ जो अपने वनके चारों ओर वायुसे उड़ते हुए फूलोंकी परागका चँदोवा तान रहा है और शब्द करते हुए कोकिल ही जिसके नगाड़े हैं ऐसा वह पर्वत भरतका सन्मान करनेके लिये सामने खड़े हुए के समान जान पड़ता था ॥१८॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? इतना ही बहुत है कि वह पर्वत बड़े प्रेमसे प्रकट किये हुए सत्कारके सब साधनोंसे दिग्विजय करनेके लिये उद्यत हुए भरतका मानो सत्कार ही कर रहा था ॥१९॥ जिसके चारों ओर तोरण बँधे हुए हैं ऐसी वनकी ऊँची वेदीको उल्लंघन कर सेनापतियोंके द्वारा नियन्त्रित की हुई (वश की हुई) सेनाने वनके भीतर प्रवेश किया ॥२०॥ समस्त दिशाओंमें फैलनेवाली सेनाओंसे उस वनके समीप

१ सुखस्याहरणम् स्वीकारो येष्य (पञ्चमी) स्ते तैः, सुखाकरैरित्यर्थः । २ फेनाड्याम् प०, ल० । ३ विशालः । ४ रजतमयः । ५ संविधातुमिच्छः । ६ अभात् । ७ संकुलैः ल०, प०, द०, स०, अ०, इ० । ८ वस्तुम् । ९ विस्तारयन् । १० अभिमुखमुत्तिष्ठन् । ११ विभक्त अ०, प०, द०, स०, ल०, इ० । १२ नियमितम् ।

अभूतपूर्वमुद्भूतप्रतिध्वनिं बलध्वनिम् । श्रुत्वा बलध्वनुत्त्रसुः^१ तिर्यञ्चो वनगोचराः ॥२२॥
 बलक्षोभादिभ्यो^२ निर्यन् बलक्षोऽभाद्^३ बनान्तरात् । सुरेभः^४ सुविभक्ताङ्गः^५ सुरेभः^६ इव वर्त्मणा ॥२३॥
 प्रयोधजुम्भणादास्यं व्याददौ^७ किल केसरी । न मेऽस्त्यंतभयं किञ्चित् पश्यतेऽतीव दर्शयन् ॥२४॥
 शरभो रभसादूर्ध्वम् उत्पत्योत्तानितः पतन् । सुस्थ एव पदैः पृष्ठधैः^८ अभूत्प्रमातृकौशलात्^९ ॥२५॥
 विषाणोल्लिखितस्कन्धो रुषिताऽस्ताप्रितेक्षणः^{१०} । खुरोत्खातावनिः सैन्यैः ददृशे महिषो विभीः^{११} ॥२६॥
 चमूरवश्रवोद्भूत^{१२} साध्वसाः क्षुद्रका मृगाः । विजयार्द्धगुहोत्सङ्गान् युगधय^{१३} इवाश्रयन् ॥२७॥
 अनुद्रुता^{१४} मृगाः शार्वाः पलायाञ्चक्रिरेऽभितः । वित्रस्ता वेपमानाङ्गाः^{१५} सिक्ताभयरसेरिव ॥२८॥
 वराहाररति^{१६} मुक्त्वा वराहा मुक्तपल्वलाः^{१७} । विनेषु^{१८} विस्फुटद्यूथाः^{१९} चमूक्षोभादितोऽमुतः ॥२९॥
 वरणावरणास्तस्थुः करिणोऽन्ये भयद्रुताः । हरिणा हरिणा^{२०} रतिगुहान्तानधिशिशियरे ॥३०॥

की समस्त भूमियाँ भर गई थीं, उनके पक्षीरूपी प्राण उड़ गये थे और उस समय वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो द्वासोच्छ्वाससे रहित ही हो गई हों। अर्थात् सेनाओं के बोझसे दबकर मानो मर ही गई हों ॥२१॥ जो पहले कभी सुननेमें नहीं आया था और जिसकी प्रतिध्वनि उठ रही थी ऐसा सेनाका कलकल शब्द सुनकर वनमें रहनेवाले पशु बहुत ही भयभीत और दुःखी हो गये थे ॥२२॥ जो अपने शरीरकी अपेक्षा ऐरावत हाथीके समान था, जिसके समस्त अंगो-पाङ्गोंका विभाग ठीक ठीक हुआ था, और जो मधुर गर्जना कर रहा था ऐसा कोई सफेद रंगका हाथी सेनाके क्षोभसे वनके भीतरसे निकलता हुआ बहुत ही अच्छा सुशोभित हो रहा था ॥२३॥ मेरे मनमें कुछ भी भय नहीं है जिसकी इच्छा हो सो देख ले इस प्रकार दिखलाता हुआ ही मानो कोई सिंह जागकर जमुहाई लेता हुआ मुँह खोल रहा था ॥२४॥ अष्टापद बड़े वेगसे ऊपरकी ओर उछलकर ऊपरकी ओर मुँह करके नीचे पड़ गया था परन्तु बनानेवाले (नामकर्म) की चतुराईसे पीठपरके पैरोंसे ठीक ठीक आ खड़ा हुआ था—उसे कोई चोट नहीं आई थी ॥२५॥ जो पत्थरसे अपने कन्धे घिस रहा है, जिसके नेत्र क्रोधित होनेसे कुछ कुछ लाल हो रहे हैं और जो खुरोंसे पृथिवी खोद रहा है ऐसा एक निर्भय भैंसा सेनाके लोभोंने देखा था ॥२६॥ सेनाके शब्द सुननेसे जिनके भय उत्पन्न हो रहा है ऐसे छोटे छोटे पशु प्रलयकालके समान विजयार्थ पर्वतकी गुफाओंके मध्य भागका आश्रय ले रहे थे। भावार्थ—जिहा प्रकार प्रलयकालके समय जीव विजयार्थकी गुफाओंमें जा छिपते हैं उसी प्रकार उस समय भी अनेक जीव सेनाके शब्दोंसे डरकर विजयार्थकी गुफाओंमें जा छिपे थे ॥२७॥ जिनके पीछे पीछे बच्चे दौड़ रहे हैं और जिनका शरीर कंप रहा है ऐसे डरे हुए हरिण चारों ओर भाग रहे थे तथा वे उस समय ऐसे मालूम होते थे मानों भयरूपी रससे सींचे ही गये हों ॥२८॥ सेनाके क्षोभसे जिन्होंने जलसे भरे हुए छोटे छोटे तालाब (तलैया) छोड़ दिये हैं और जिनके भुण्ड बिखर गये हैं ऐसे सूअर अपने उत्तम आहारमें प्रेम छोड़कर इधर उधर घुस रहे थे ॥२९॥ कितने ही अन्य हाथी भयसे भागकर वृक्षोंसे ढकी हुई जगहमें छिपकर जा खड़े हुए थे और हरिण सिंहोंकी गुफाओं

१ अधिकम् । २ तत्रसुः । ३ धवलः । ४ रेजे । ५ शोभनध्वनिः । ६ सुव्यक्तावयवः । ७ देवगणः । ८ विवृतमकरोत् । ९ पृष्ठवर्तिभिः । १० निर्माणकर्म अथवा विधिः । ११ पाषाणो ल० । १२ रोषेणारुणीकृतः । १३ निर्मीतिः । १४ सेनाध्वन्याकर्णनाज्जात । १५ प्रलयकाले यथा । १६ अनुगताः । १७ कम्पमानशरीराः । १८ उत्कृष्टाहारप्रीतिम् । १९ त्यक्तावेशन्ताः । २० नश्यन्ति स्म । विविशुः ल० । २१ विप्रकीर्णवृन्दाः । २२ वृक्षविशेषाच्छादनाः सन्तः । २३ सिंहः ।

इति सत्त्वा वनस्थेव प्राणाः प्रचलिता भृशम् । प्रत्यापत्तिं^१ चिराद् ईयुः^२ सैन्यक्षोभे प्रसेदुषि^३ ॥३१॥
 'प्रयायानुवनं किञ्चिद् अन्तरं तदनन्तरम् ।' रूपाद्रेर्मध्यमं कूटं सन्निभकृष्यं^४ स्थितं बलम् ॥३२॥
 तत्तस्तस्मिन् वने मन्दं मरुतां दोलितवुमे । नृपाज्ञया बलाध्यक्षाः स्कन्धावारं न्यवेद्यन् ॥३३॥
 स्वैरं जगहुरावासान् सैनिकाः सानुमत्तटे^५ । स्वयं गलत्प्रसूनीध^६ घनशाखि घने वने ॥३४॥
 सरस्तीरतरुपान्तलतामण्डपगोचराः । रम्या बभूवुरावासाः सैनिकानामयत्नतः ॥३५॥
 वनप्रवेशम् उन्मुग्धाः^७ प्राहुर्वैराग्यकारणम् । तत्प्रवेशो^८ 'यतस्तेषाम् अभवद् रागवृद्धये ॥३६॥
 अथ तत्र कृतावासं ज्ञात्वा सनियमं प्रभुम् । अगान्मागधवत् द्रष्टुं विजयाद्वर्धिपः सुरः ॥३७॥
 तिरीटशिखरोवप्रो लम्बप्रालम्बनिर्भरः^९ । स भास्वत्कटक^{१०} रेजे राजतारिखपरः ॥३८॥
 सितान्शुकधरः स्रग्वी हरिचन्दनचचितः । स बभौ धृतरत्नार्थो निधिः शङ्ख इषोच्छ्रितः ॥३९॥
 ससंभ्रमं च सोऽभ्येत्य प्रहृतामगमत्प्रभोः । सत्कारं च तं चक्री भद्रासनमलम्भयत् ॥४०॥

के भीतर ही जा ठहरे थे ॥३०॥ इस प्रकार वनके प्राणोंके समान अत्यन्त चंचल हुए प्राणी सेनाका क्षोभ शान्त होनेपर बहुत देरमें अपने अपने स्थानोंपर वापिस लौटे थे ॥३१॥ तदनन्तर वह सेना वन ही वन कुछ दूर जाकर विजयार्ध पर्वतके पाँचवें कूटके समीप पहुँचकर ठहर गई ॥३२॥ सेनाके ठहरनेपर सेनापतियोंने महाराजकी आज्ञासे, जिसके वृक्ष मन्द मन्द वायुसे हिल रहे थे ऐसे उस वनमें सेनाके डेरे लगवा दिये थे ॥३३॥ जिसमें अपने आप फूलोंके समूह गिर रहे हैं और जो घने घने लगे हुए वृक्षोंसे सघन हैं ऐसे विजयार्ध पर्वतके किनारेके वनमें सैनिक लोगोंने अपने इच्छानुसार डेरे ले लिये थे ॥३४॥ सरोवरोंके किनारेके वृक्षोंके समीप ही जो लतागूहोंके स्थान थे वे बिना प्रयत्न किये ही सेनाके लोगोंके मनोहर डेरे हो गये थे ॥३५॥ 'वनमें प्रवेश करना वैराग्यका कारण है, ऐसा मूर्ख मनुष्य ही कहते हैं क्योंकि उस वनमें प्रवेश करना उन सैनिकोंकी रागवृद्धिका कारण हो रहा था । भावार्थ—वनमें जानेसे सेनाके लोगोंका राग बढ़ रहा था इसलिये वनमें जाना वैराग्यका कारण है ऐसा कहनेवाले पुरुष मूर्ख ही हैं ॥३६॥

अथानन्तर—महाराज भरतको वहाँ नियमानुसार ठहरा हुआ जानकर विजयार्ध पर्वतका स्वामी विजयार्ध नामका देव मागध देवके समान भरतके दर्शन करनेके लिये आया ॥३७॥ उस समय वह देव किसी दूसरे विजयार्ध पर्वतके समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार विजयार्ध पर्वत शिखरसे ऊँचा है उसी प्रकार वह देव भी मुकुटरूपी शिखरसे ऊँचा था, जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतपर भरने भरते हैं उसी प्रकार उस देवके गलेमें भी भरनों के समान हार लटक रहे थे और जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतका कटक अर्थात् मध्यभाग देदीप्यमान है उसी प्रकार उसका कटक अर्थात् हाथोंका कड़ा भी देदीप्यमान था ॥३८॥ जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए हैं, मालाएँ पहिने हैं, जिसके शरीरपर सफेद चन्दन लगा हुआ है और जो रत्नोंका अर्घ धारण कर रहा है ऐसा वह देव खड़ी की हुई शंख नामक निधिके समान सुशोभित हो रहा था ॥३९॥ उस देवने बड़ी शीघ्रताके साथ आकर चक्रवर्तीको नमस्कार किया और

१ पुनस्तत्प्राप्तिम् पूर्वस्थितिमित्यर्थः । २ जग्मुः । ३ प्रशान्ते सति । ४ गत्वा । ५ रौप्याद्रेः प०, द०, ल० । रूपाद्रेः अ० स० द० । ६ समीपं गत्वा । ७ अदिसानौ । ८ 'निष्पु निमित्तसमारोहपरिणाहघनोद्घनाघनोपघ्ननिघोघसंघामूर्त्यत्यादानाङ्गासन्ननिमित्तप्रशस्तगणा' इति सूत्रेण निमित्तार्थनिघशब्दो निपातितः निमित्तशब्दः समारोहपरिणाहे वर्तते ऊर्ध्वविशालतायां वर्तते इत्यर्थः । समारोहपरिणाह 'परिणाहो विशालता' उत्सेधः विशालः इत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे घनोद्घनापघनोपघ्ननिघद्वय संघा मूर्त्यत्यादानाङ्गासन्ननिमित्तप्रशस्तगणा इति निपातनात् सिद्धिः । ९ जडाः । १० यस्मात् कारणात् । ११ ऋजुलम्बिहारः । १२ करवल्लयः एव सानु ।

‘गोपायिताऽहमस्याद्रेः मध्यमं कूटमावसन् । स्वैरचारी चिरादद्य त्वयाऽस्मि परवान्’ विभो ॥४१॥
 विद्धि मां विजयाद्विषयम् अमुं च गिरिमूर्जितम् । अन्योऽन्यसंश्रयाद् आबाम् अलंघ्यावचलस्थितौ ॥४२॥
 देव दिग्विजयस्याद्वं विभजन्नेष सानुमान् । विजयाद्वंभृति धत्ते ‘तात्स्थ्यात् तद्रूढयो’ वयम् ॥४३॥
 आयुष्मन् युष्मदीयाज्ञां मूर्ध्ना स्त्रजमिवोद्धहन् । ‘पदातिनिविशेषोऽस्मि विज्ञाप्यं किमतः परम् ॥४४॥
 इति भुवस्तथोत्थाय ‘शिवंस्तीर्थम्बुभिः प्रभुम् । ‘सोऽभ्यर्षिञ्चत् सुरः साद्वं’ स्वं नियोगं निवेदयन् ॥४५॥
 तदा प्रणोदुरामन्दम् आनकाः पथि वामुचाम् । विचेरुर्मरुतो मन्दम् आधूतवनवीथयः ॥४६॥
 ननृतुः सुरनर्तक्यः सलीलानर्तितभ्रुवः । जगुश्च मङ्गलान्यस्य जयशंसीमि किन्नराः ॥४७॥
 कृताभिषेकमेतं च शुभ्रं पथ्यधारिणम् । युयोज रत्नलाभेन लम्भयन् स जयाशिवः ॥४८॥
 स तस्मै रत्नभूङ्गारं सितभातपवीरणम् । प्रकीर्णकंघुगं दिव्यं ददौ च हरिविष्टरम् ॥४९॥
 इति प्रसाधितस्तेन बचोभिः सानुवर्तनैः । प्रसादतरलां दृष्टिं तत्र व्यापारयत् प्रभुः ॥५०॥
 विसर्जितश्च सानुजं प्रभुणा कृतसत्क्रियः । भूत्यत्वं प्रतिपद्यास्य स्वमोकः प्रत्यगात् सुरः ॥५१॥
 विजयाद्वं जिते कृत्स्नं जितं दक्षिणभारतम् । मन्वानो निधिराट् तच्च चक्ररत्नमपूजयत् ॥५२॥

चक्रवर्तिनि भी उसे सत्कारपूर्वक उत्तम आसनपर बैठाया ॥४०॥ भरतसे उस देवने कहा कि मैं इस पर्वतका रक्षक हूँ और इस पर्वतके बीचके शिखरपर रहता हूँ । हे प्रभो, मैं आजतक अपनी इच्छानुसार रहता था—स्वतन्त्र था परन्तु आज बहुत दिनमें आपके आधीन हुआ हूँ ॥४१॥ मुझे तथा इस ऊँचे पर्वतको आप विजयार्थ जानिये अर्थात् हम दोनोंका नाम विजयार्थ है और हम दोनों ही परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे अलंघ्य तथा निश्चल स्थितिसे युक्त हैं ॥४२॥ हे देव, यह पर्वत दिग्विजयका आधा आधा विभाग करता है इसलिये ही यह विजयार्थ नामको धारण करता है और उसपर रहनेसे मेरा भी विजयार्थ नाम रूढ़ हो गया है ॥४३॥ हे आयुष्मन्, मैं आपकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हूँ और आपके पैदल चलनेवाले एक सैनिकके समान ही हूँ, इसके सिवाय मैं और क्या प्रार्थना करूँ ? ॥४४॥ इस प्रकार कहता हुआ और ‘दिग्विजय करनेवाले चक्रवर्तियोंका अभिषेक करना मेरा काम है’ इस तरह अपने नियोगकी सूचना करता हुआ वह देव उठा और अनेक देवोंके साथ साथ कल्याण करनेवाले तीर्थजलसे सम्राट् भरतका अभिषेक करने लगा ॥४५॥ उस समय आकाशमें गंभीर शब्द करते हुए नगाड़े बज रहे थे और वन-गलियोंको कम्पित करता हुआ वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥४६॥ लीलापूर्वक भौंहोंको नचाती हुई नृत्य करनेवाली देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं और किन्नर देव भरतकी विजयको सूचित करनेवाले मंगलगीत गा रहे थे ॥४७॥ तदनन्तर जिनका अभिषेक किया जा चुका है और जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए हैं ऐसे भरतको विजय करनेवाला आशीर्वाद देते हुए उस देवने अनेक रत्नोंकी प्राप्तिसे युक्त किया अर्थात् अनेक रत्न भेंट किये ॥४८॥ उस देवने उनके लिये रत्नोंका भूङ्गार, सफेद छत्र, दो चमर और एक दिव्य सिंहासन भी भेंट किया था ॥४९॥ इस प्रकार ऊपर लिखे हुए सत्कारसे तथा विनय-सहित वचनोंसे प्रसन्न हुए भरतने उस देवपर प्रसन्नतासे चंचल हुई अपनी दृष्टि डाली ॥५०॥ अनन्तर भरतने जिसका आदर-सत्कार किया है और ‘जाओ’ इस प्रकार आज्ञा देकर जिसे बिदा किया है ऐसा वह विजयार्थ देव उनका दासपना स्वीकार कर अपने स्थानपर वापिस चला गया ॥५१॥ विजयार्थ पर्वतके जीत लेनेपर समस्त दक्षिण भारत जीत लिया गया

१ रक्षिता । २ नाथवान् परवश इत्यर्थः । ‘परवान्नाथवानपि’ इत्यभिधानात् । ३ परस्पर-माधाराधेयरूपसंश्रयात् । ४ तस्मिन् तिष्ठति इति तत्स्थः तस्य भावः तात्स्थ्यम् तस्मात् । ५ विजयाद्वं इति रूढयः । ६ पतिसदृशः । ७ मङ्गलैः । ८ विजयाद्वं कुमारः । ९ चामरयुगलम् ।

गन्धः पुष्पैश्च धूपैश्च दीपैश्च सजलाक्षतैः । फलैश्च तरुभिः दिव्यैश्चक्रैः च निरवर्तयत् ॥५३॥
 विजयार्द्धजयेऽप्यासीद् अमन्दोऽस्य जयोद्यमः । उत्तरार्द्धजयाशंसां प्रत्यागूर्णस्य चक्रिणः ॥५४॥
 ततः प्रतीपभागस्य रूप्याद्रेः पश्चिमां गुहाम् । निकषा वनमारुह्य बलेरीशो न्यविक्षत ॥५५॥
 दक्षिणेन तमद्रीन्द्रं मध्ये वेदिकयोर्द्वयोः । बलं निविविशे भर्तुः सिन्धोस्तटवनाद् बहिः ॥५६॥
 भूयो द्रष्टव्यमत्रास्ति बह्माश्चर्यं धराधरे । इति तत्र चिरादासं बहु मेने किलाधिराट् ॥५७॥
 चिरासनेऽपि तत्रास्य नासीत् स्वल्पोऽप्युपक्षयः । प्रत्युतापूर्वलाभेन प्रभुरापूर्यताब्धिवत् ॥५८॥
 कृतासनं च तत्रैनं श्रुत्वा द्रष्टुमुपागमन् । पार्थिवाः पृथिवीमध्यात् मध्ये नद्योर्द्वयोः स्थितः ॥५९॥
 ब्रूयानतच्चलन्मीलिसंघट्टकरकुटुमलाः । प्रणमन्तः स्फुटीचक्रुः प्रभौ भक्तिं महीभुजः ॥६०॥
 कुड्मुमागच्छत्पूर्वसुवर्णमणिमौक्तिकैः । रत्नैरन्यैश्च रत्नेषु भक्त्या नर्चनृपाः परम् ॥६१॥
 त्रिवेणामापूर्वमाणस्य रैराशिभिरनारतम् । कोशं प्रावेशरत्नानाम् इयत्तां कोऽस्य निर्णयेत् ॥६२॥
 देशाध्यक्षा बलाध्यक्षैः बलं सुकृतरक्षणम् । यवसेन्धनसन्धानैः तदोपजगृह्विचरम् ॥६३॥
 उत्तरार्द्धजयोद्योगं प्रभोः श्रुत्वा तदागमन् । पार्थिवाः कुरुराजाद्याः समग्रबलवाहनाः ॥६४॥

ऐसा मानते हुए चक्रवर्तीने चक्ररत्नकी पूजा की ॥५२॥ उन्होंने चक्ररत्नकी पूजा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, जल, अक्षत, फल और दिव्य नैवेद्यके द्वारा की थी ॥५३॥ विजयार्ध पर्वत तक विजय कर लेनेपर भी उत्तरार्धको जीतनेकी आशासे उद्यत हुए चक्रवर्तीका विजयका उद्योग शिथिल नहीं हुआ था ॥५४॥ तदनन्तर—वह भरत कुछ पीछे लौटकर विजयार्ध पर्वतकी पश्चिम गुहाके समीपवर्ती वनको अपनी सेनाके द्वारा घेरकर ठहर गया ॥५५॥ विजयार्ध पर्वतके दक्षिणकी ओर पर्वत तथा वन दोनोंकी वेदियोंके बीचमें सिन्धु नदीके किनारेके वन के बाहर भरतकी सेना ठहरी थी ॥५६॥ अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए इस पर्वतपर बहुत कुछ देखने योग्य हैं यही समझकर चक्रवर्तीने वहाँ बहुत दिन तक रहना अच्छा माना था ॥५७॥ वहाँपर बहुत दिनतक रहनेपर भी भरतका थोड़ा भी खर्च नहीं हुआ था, बल्कि अपूर्व अपूर्व वस्तुओंके लाभ होनेसे वह समुद्रके समान भर गया था ॥५८॥ भरतको वहाँ रहता हुआ सुनकर गङ्गा और सिन्धु दोनों नदियोंके बीचमें रहनेवाले अनेक राजा लोग अपनी अपनी पृथिवीसे उनके दर्शन करनेके लिये आये थे ॥५९॥ दूरसे झुके हुए चंचल मुकुटोंपर जिन्होंने अपने हाथ जोड़कर रखे हैं ऐसे नमस्कार करते हुए राजा लोग महाराज भरतमें अपनी भक्ति प्रकट कर रहे थे ॥६०॥ उन राजाओंने केशर, अगुरु, कपूर, सुवर्ण, मोती, रत्न तथा और भी अनेक वस्तुओंसे भक्तिपूर्वक चक्रवर्तीका उत्तम सन्मान किया था ॥६१॥ धनकी राशियों से निरन्तर चारों ओरसे भरते हुए भरतके खजानेमें प्रविष्ट हुए रत्नोंकी मर्यादा (संख्या) का भला कौन निर्णय कर सकता था ? भावार्थ—उसके खजानेमें इतने अधिक रत्न इकट्ठे हो गये थे कि उनकी गणना करना कठिन था ॥६२॥ उस समय समीपवर्ती देशोंके राजाओंने, सेनापतियोंके द्वारा जिसकी अच्छी तरह रक्षा की गई है ऐसी भरतकी सेनाको चिरकाल तक भूसा, ईंधन आदि वस्तुएँ देकर उपकृत किया था ॥६३॥ महाराज भरत विजयार्ध पर्वतसे उत्तर भागको जीतनेका उद्योग कर रहे हैं यह सुनकर कुरु देशके राजा जयकुमार

१ इच्छामुद्दिश्य । २ उद्यतस्य । ३ पश्चिमदिशम् । ४ रूप्याद्रेः प० । रूप्याद्रेः अ० स० इ० । ५ वनस्य समीपम् । ६ तस्य अद्रीन्द्रस्य दक्षिणस्यां दिशि । ७ पर्वतवेदिकावनवेदिकयोः । ८ बहुकालनिवसने सत्यपि । ९ धनव्ययः । १० पुनः किमिति चेत् । ११ गंगासिन्धुनदीमध्यात् । १२ कुटुमलाः द०, ल०, अ०, स०, इ० । १३ कालागुरुकालागुरुगुरुः स्याद् इत्यमरः । १४ भाण्डागारप्रवेशयोग्य । १५ तृण । १६ उपकारं चक्रुः । १७ सोमप्रभपुत्राद्याः ।

आहूताः केचिदात्मनः प्रभुणा मण्डलाधिपाः । अनाहूताश्च संभेजुः विभुं चारुभटाः^१ परे ॥६५॥
 विदेशः^२ किल यातव्यो जेतव्या म्लेच्छभूमिपाः^३ । इति संचिन्त्य सामन्तैः प्रायः सज्जं^४ धनुर्बलम् ॥६६॥
 धन्विनः शरनाराचसंभूतेषु धिबन्धनैः । न्यवेदयन्निवात्मान् ऋणदासमघोशिनान् ॥६७॥
 धनुर्धरा धनुः सज्ज्यम्^५ आस्फाल्य^६ चक्रुः^७ परे । चिकीर्षव इवारीणां जीवाकर्षं सहृदकृताः ॥६८॥
 करवातान् करे कृत्वा तुलयन्ति स्म केचन । स्वामिसत्कारभारेण^८ नूनं तान् प्रमिमित्सवः^९ ॥६९॥
 'सर्वाभिता भृशं रेजुः भटाः प्रोत्तासितासयः'^{१०} । निर्भोर्करिव^{११} विशिष्टैः लल^{१२} जिह्वामहाह्वयः ॥७०॥
 साटोपं स्फुटिताः^{१३} केचिद् वरुणन्ति स्माभितो भटाः । अस्मृद्यताः^{१४} पुरोऽरातीन् पश्यन्त^{१५} इव सम्मुखम्^{१६}
 'अस्त्रैर्व्यस्त्रैश्च'^{१७} 'शस्त्रैश्च शिरस्त्रैः'^{१८} सतनुत्रकैः । दधुर्जयनशालानां^{१९} लीलां^{२०} रथ्याः सुसम्भूताः ॥७१॥
 रथिनो^{२१} रथकटचासु^{२२} गुर्वीरायुधसंपदः । समारोप्यापि पत्तिभ्यो भेजुरेवातिगौरवम्^{२३} ॥७२॥

तथा और भी अनेक राजा लोग अपनी समस्त सेना और सवारियाँ लेकर उसी समय आ पहुँचे ॥६४॥ कितने ही मण्डलेश्वर राजा भरतके बुलाये हुए आये थे और कितने ही उत्तम उत्तम योद्धा बिना बुलाये ही उनके समीप आ उपस्थित हुए थे ॥६५॥ अब विदेशमें जाना है और म्लेच्छ राजाओंको जीतना है यही विचार कर सामन्तोंने प्रायः धनुष-बाणको धारण करने वाली सेना तैयार की थी ॥६६॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धा छोटे-बड़े बाणोंसे भरे हुए तरकसोंके बाँधनेसे ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपने स्वामियोंसे यही कह रहे हों कि हम लोग आपके ऋणके दास हैं अर्थात् आज तक आप लोगोंने जो हमारा भरणपोषण किया है उसके बदले हम लोग आपकी सेवा करनेके लिये तत्पर हैं ॥६७॥ हुंकार शब्द करते हुए कितने ही धनुषधारी लोग अपने डोरी सहित धनुषको आस्फालन कर खींच रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शत्रुओंके जीवोंको ही खींचना चाहते हों ॥६८॥ कितने ही योद्धा लोग हाथमें तलवार लेकर उसे तोल रहे थे मानो स्वामीसे प्राप्त हुए सत्कारके भारके साथ उसका प्रमाण ही करना चाहते हों ॥६९॥ जो कवच धारण किये हुए हैं और जिनकी तलवारें चमक रही हैं ऐसे कितने ही योद्धा इतने अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनकी काँचली कुछ ढीली हो गई है और जीभ बार-बार बाहर लपक रही है ऐसे बड़े बड़े सर्प ही हों ॥७०॥ कितने ही योद्धा अभिमानसहित हाथमें तलवार उठाये और गर्जना करते हुए चारों ओर इस प्रकार घूम रहे थे मानो शत्रुओंको अपने सामने ही देख रहे हों ॥७१॥ आग्नेय बाण आदि अस्त्र, महा-स्तम्भ आदि व्यस्त्र, तलवार धनुष आदि शस्त्र, शिरकी रक्षा करनेवाले लोहके टोप और कवच आदिसे भरे हुए रथोंके समूह ठीक आयुधशालाओंकी शोभा धारण कर रहे थे ॥७२॥ रथोंमें सवार होनेवाले योद्धा यद्यपि भारी भारी शस्त्रोंको रथोंपर रखकर जा रहे थे तथापि

१ वीरभटाः । 'शूरीरश्च विक्रान्तो भरश्चारभटो मतः' इति हलायुधः । २ नानादेशः । ३ भूभुजः म०, द०, अ०, प०, स०, ल०, इ० । ४ सन्नद्धीकृतम् । ५ ज्यासहितम् । ६ आताड्य, टणत्कारं कृत्वा । स्फाल्या चक्रुः ब०, द०, अ०, म०, प०, स०, ल०, इ० । ७ आकर्षयन्ति स्म । ८ भारेण सह । ९ प्रमातुमिच्छवः । १० धृतकवचाः । ११ प्रकर्षणोत्तासितखड्गाः । १२ शिथिलैः । १३ चलत् । १४ आस्फालिते भुजाः । १५ खड्गो उद्युक्ताः । १६ शत्रून् प्रत्यक्षमालोकयन्निव । १७ दिव्यायुधैः । १८ गरलगुडाद्यायुधैः । १९ सामान्यायुधैः । २० शीर्षकैः । २१ शस्त्रशालानाम् । २२ वीथ्याः । २३ रथिकाः । २४ रथसमूहेषु । २५ अतिश्लाघनम् । अति भारयुक्तमिति ध्वनिः, अत्यर्थं वेगं गता इत्यर्थः ।

हस्तिनां वदरक्षार्थं सुभटा योजिता नृपः । राजन्यैः सह युध्वानः कृताश्चाभिनिषादिनः ॥७४॥
 प्रवीरा राजयुध्वानः क्लृप्ताः पत्तिषु नायकाः । अश्वीये^१ च सप्तमहाः^२ सोत्तरङ्गा^३ स्तुरङ्गिणः ॥७५॥
 आचरन्त्य बलान्येके स्वानोक्षाचक्रिरे नृपाः । दण्डमण्डलभोगासंहृतव्यूहैः^४ सुयोजितैः ॥७६॥
 चक्रिणोऽवसरः^५ कोऽस्य योऽस्माभिः सार्धयेज्यते^६ । भक्तिरेषा तु नः काले प्रभोर्यदनुसर्पणम्^७ ॥७७॥
 प्रभोरवसरः सार्यः^८ प्रसार्य नो यशोधनम् । विरोधिबलमुत्सार्य सन्धार्य पुरुषव्रतम् ॥७८॥
 द्रष्टव्या विविधा वेशा लब्धव्याश्च जयाशिषः । इत्युदाचक्रिरे^९ ज्योन्यं भटाः श्लाघ्यैरुदाहृतैः ॥७९॥
 गिरिदुर्गोऽयमुल्लङ्घय्यो महत्यः सरितोऽन्तरा^{१०} । इत्यपायोक्षिणः केचिद् अयानः^{११} बहु मेनिरे ॥८०॥
 इति नानाविधैर्भविः संजल्पेच्च लघूत्थिताः । प्रस्थिताः सैनिकाः प्रापत् सेनवराः^{१२} शिविरं प्रभोः ॥८१॥

वे पैदल चलनेवाले सैनिकोंकी अपेक्षा अधिक गौरव अर्थात् भारीपन (पक्षमें श्रेष्ठता) को प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ—पैदल चलनेवाले सैनिक अपने शस्त्र कन्धेपर रखकर जा रहे थे और रथोंपर सवार होनेवाले सैनिक अपने सब शस्त्र रथोंपर रखकर जा रहे थे तो भी वे पैदल चलनेवालोंकी अपेक्षा अधिक भारी हो रहे थे यह बड़े आश्चर्यकी बात है परन्तु अति गौरव शब्दका अर्थ अतिशय श्रेष्ठता लेनेपर वह आश्चर्य दूर हो जाता है । पैदल सैनिकोंकी अपेक्षा रथपर सवार होनेवाले सैनिक श्रेष्ठ होते ही हैं ॥७३॥ राजाओंने हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये जिन शूरवीर योद्धाओंको नियुक्त किया था वे अनेक राजाओंके साथ युद्ध करते थे और उन हाथियोंके चारों ओर विद्यमान रहते थे अथवा समय पर महाव्रत भी बनाये जाते थे ॥७४॥ जो राजाओंके साथ भी युद्ध करनेवाले थे ऐसे श्रेष्ठ शूरवीर पैदल सेनाके सेनापति बनाये गये थे और जो घुड़सवार कवच पहिने हुए तथा लहराते हुए नदीके प्रवाहके समान थे उन्हें घुड़सवार सेनाका सेनापति बनाया था ॥७५॥ कितने ही राजा लोग अच्छी तरह रचे हुए दण्डव्यूह, (दण्डके आकार सेनाको सीधी रेखामें खड़ा रखना) मण्डल व्यूह, (मण्डलके आकार गोल चक्कर लगाकर खड़ा रखना), भोगव्यूह (अर्धगोलाकार खड़ा करना) और असंहृत व्यूह, (फैलाकर खड़ा करना) से अपनी सेनाकी रचना कर उसे देख रहे थे ॥७६॥ इस चक्रवर्तीका ऐसा कौन-सा कार्य है जिसका हम तुच्छ लोग स्मरण भी कर सकते हों अर्थात् कार्यका सिद्ध करना तो दूर रहा उसका स्मरण भी नहीं कर सकते, फिर भी हम लोग जो स्वामीके पीछे पीछे चल रहे हैं सो यह हम लोगोंकी इस समयपर होने वाली भक्ति ही है । हम लोगोंको स्वामीका कार्य सिद्ध करना चाहिये, अपना यशस्वी धन फैलाना चाहिये, शत्रुओंकी सेना दूर हटानी चाहिये, पुरुषार्थ धारण करना चाहिये, अनेक देश देखने चाहिये और विजयके अनेक आशीर्वाद प्राप्त करने चाहिये, इस प्रकार प्रशंसनीय उदाहरणोंके द्वारा योद्धा लोग परस्परमें बातचीत कर रहे थे ॥७७-७९॥ यह दुर्गम पर्वत उल्लंघन करना है और बीचमें बड़ी-बड़ी नदियाँ पार करनी हैं इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं का विचार करते हुए कितने ही लोग आगे नहीं जाना ही अच्छा समझते थे ॥८०॥ इस प्रकार अनेक प्रकारके भावों और परस्परकी बातचीतके साथ जल्दी उठकर जिन्होंने प्रस्थान किया है ऐसे सैनिक लोग अपने अपने स्वामियों सहित चक्रवर्तीके शिविरमें जा पहुंचे ॥८१॥

१ अश्वसमूहे । २ सकवचाः । ३ ऊगिसमानाः । ४ दण्डादीनि चत्वारि व्यूहभेदनामानि । अत्राभिधानम् तिर्यग्वृत्तिस्तु दण्डः स्याद् भोगोऽन्यावृत्तिरेव च । मण्डलं सर्वतो वृत्तिः प्राग्वृत्तिरसंहृतः । ५ समयः । ६ स्मर्यते द०, ल०, अ०, प०, ह०, स० । ७ अनुवर्तनम् । ८ प्रापणीयः । ९ अचिरे । १० मध्ये मध्ये । ११ बाह्यरहितत्वम् अथवा अगमनम् । १२ निजस्वामिसहिताः ।

प्रवेतुः सर्वसामप्रपा^१ नृपाः सम्भूतकोष्ठिकाः^२ । प्रभोर्विचरं जयोद्योगम् आकलय्याहिमाचलम् ॥८२॥
 भट्टल्लिकुटिकैः^३ केचिद्धृता लालाटिकैः^४ परैः । नृपाः पञ्चासकृतानीका विभोर्निकटमाययुः ॥८३॥
 समन्तादिति सामन्तैरापतद्भिः ससाधनैः । समिद्धशासनश्चक्री समेत्य जयकारितः^५ ॥८४॥
 सामवायिक^६ सामन्तसमाजैरिति सर्वतः । सरिदोर्धेरिवाम्भोधिः आपूर्यत विभोर्बलम् ॥८५॥
 सवनः^७ सावनिः^८ सोऽद्रिः परितो ररुधे बलैः । जिनजन्मोत्सवे मेरुः अनौकैरिव^९ नाकिनाम् ॥८६॥
 विजयाद्धाचलप्रस्था^{१०} विभोरध्यासिता बलैः । स्वर्गावासधियं तेनः विभक्तं नृपमन्विरे^{११} ॥८७॥
 प्रक्ष्वेलित^{१२} रथं विष्वक् प्रहेषिततुरङ्गमम् । प्रबृंहितगजं सैन्यं ध्वनिसावकरोद् गिरिम्^{१३} ॥८८॥
 बलध्वानं गुहारन्ध्रः^{१४} प्रतिभ्रूद्भूत^{१५} मुद्गहन् । सोऽद्रिरुद्रिक्ततद्रोधो^{१६} ध्रुवं फूत्कारमातनोत् ॥८९॥
 अत्रान्तरे ज्वलन्मौलिप्रभाविज्जरिताम्बरः । ददृशे प्रभुणा व्योम्नि गिरेरवतरत् सुरः ॥९०॥
 स ततोऽवतरन्नद्रेः बभौ^{१७} सानुचरोऽमरः । सवनः^{१८} कल्पशाखीव लसदाभरणशुकः ॥९१॥

भरतेश्वरका हिमवान् पर्वत तक विजय प्राप्त करनेका उद्योग बहुत समयमें पूर्ण होगा ऐसा समझकर राजा लोग सब प्रकारकी सामग्रीसे कोठे भर भरकर निकले ॥८२॥ कितने ही राजा लाठी धारण करनेवाले योद्धाओंके साथ, और कितने ही ललाटकी ओर देखनेवाले उत्तम सेवकोंके साथ, अपनी सेना पीछे छोड़कर भरतके निकट आये ॥८३॥ इस प्रकार अपनी अपनी सेना सहित चारों ओरसे आते हुए अनेक सामन्तोंने एक जगह इकट्ठे हो कर, जिनकी आज्ञा सब जगह देदीप्यमान है ऐसे चक्रवर्तीका जयजयकार किया ॥८४॥ जिस प्रकार नदियोंके समूहसे समुद्र भर जाता है उसी प्रकार सहायता देनेवाले सामन्तोंके समूहसे भरतकी सेना सभी ओरसे भर गई थी ॥८५॥ जिस प्रकार भगवान्के जन्म-कल्याणके समय वन और भूमि सहित सुमेरु पर्वत देवोंको सेनाओंसे भर जाता है उसी प्रकार वह विजयार्थ पर्वत भी वन और भूमि सहित चारों ओरसे सेनाओंसे भर गया था ॥८६॥ भरतकी सेनाओंसे अधिष्ठित हुए विजयार्थ पर्वतके शिखर अलग अलग तने हुए राजमण्डपोंसे स्वर्गकी शोभा धारण कर रहे थे ॥८७॥ जिसमें चारों ओरसे रथ चल रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं, और हाथी गरज रहे हैं ऐसी उस सेनाने उस विजयार्थ पर्वतको एक शब्दोंके ही आधीन कर दिया था अर्थात् शब्दमय बना दिया था ॥८८॥ गुफाओंके छिद्रोंसे जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है ऐसे सेना के शब्दोंको धारण करता हुआ वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो सेनासे घिर जानेके कारण फू फू शब्द ही कर रहा हो अर्थात् रो ही रहा हो ॥८९॥

इसी बीचमें भरतने, देदीप्यमान मुकुटकी कान्तिसे जिसने आकाशको भी पीला कर दिया है और जो पर्वतपरसे नीचे उतर रहा है ऐसा एक देव आकाशमें देखा ॥९०॥ जिसके आभूषण तथा वस्त्र देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा वह देव अपने सेवकों सहित उस पर्वतसे उतरता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसके आभूषण और वस्त्र देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा वनसहित

१ भूपाः ल० । २ तण्डुलादिभारवाहकबलीवर्दाः । ३ लकुटम् आयुधं येषां तैः । ४ प्रभोर्भावदर्शिभिः 'लालाटिकः प्रभोर्भावदर्शी कार्यक्षमश्च यः' इत्यभिधानात् । ५ जयकारं नीतः संजातजयकारी वा जय जयेति स्तुत इति यावत् । ६ मिलित । ७ वनसहितः । ८ अवनिसहितः । ९ सैन्यः । १० सानवः । ११ मण्डलेः ल० । १२ सिंहनादित 'ध्वेडा तु सिंहनादः स्यात्' इत्यभिधानात् । १३ शब्दमयमकरोत् । १४ प्रतिध्वनिभूतम् 'सती प्रतिश्रुतप्रतिध्वाने' इत्यभिधानात् । १५ उत्कटसेनानिरोधः । १६ अनुचरैः सहितः । १७ वनेन सहितः ।

दिव्यः प्रभान्वयः^१ कोऽपि सम्मुख्यति^२ किमम्बरे । तडित्पुञ्जः किमभ्याचिरिति^३ दृष्टः क्षणं जनैः ॥६२॥
 किमप्येतदधिज्योतिरित्यादावविशेषतः । पश्चादवयवव्यक्त्या प्रव्यक्तपुरुषाकृतिः ॥६३॥
 कृतमालश्रुतिव्यक्त्यै^४ कृतमालः स चम्पकैः । कृतमाल इवोत्फुल्लो निदध्यै^५ प्रभुणाऽप्रतः ॥६४॥
 संप्रणामं च संप्राप्तं तं बोक्ष्य सहसा विभुः । यथाहंप्रतिपत्त्याऽस्मै आसनं प्रत्यपादयत् ॥६५॥
 प्रभुणाऽनुमतश्चायं कृतासनपरिग्रहः । क्षणं विसिस्मिये पश्यन् धामा^६मुष्याति^७मानुषम् ॥६६॥
 संभाषितश्च संभाजा पूर्व^८पूर्वार्द्धभाषिणा । सुरः प्रचक्रमे ववतुमिति प्रश्रयवद्वचः ॥६७॥
 क्व वयं क्षुद्रका देवाः क्व भवान्दिव्यमानुषः । पीतन्य^९मुचितं मन्ये^{१०} वाचाटयति^{११} नः स्फुटम् ॥६८॥
 आयुष्मन् कुशलं प्रष्टुं जिह्मीमः^{१२} शासितुस्तव । त्वदायसा धतः^{१३} कृत्स्ना जगतः कुशलक्रिया ॥६९॥
 लोकस्य कुशलाधाने^{१४} निरुद्ध^{१५} यस्य कौशलम् । कुशलं^{१६} दक्षिणस्याऽस्य बाहोस्ते क्षमां जिगीषतः ॥७०॥
 देवानां प्रिय देवत्वं तवाशेषजगज्जयात् । नाम्नैव तु वयं देवा जातिमात्रकृतोक्तयः ॥७१॥
 गीर्वाणा^{१७} वयमन्यत्र^{१८} जिगीषौ शीतशीश्वराः^{१९} । त्वयि कृष्णगिरो^{२०} जाताः प्रस्खलद्गर्वगद्गदाः ॥७२॥

कल्पवृक्ष ही हो ॥९१॥ क्या कोई दिव्य प्रभाका समूह आकाशमें फैल रहा है ? अथवा क्या विजलीका समूह है ? अथवा क्या अग्निकी ज्वाला है ? इस प्रकार अनेक कल्पनाओं से लोगोंने जिसे क्षण भर देखा था जो पहले तो यह कोई कान्तिका समूह है इस प्रकार सामान्य रूपसे देखा गया था, परन्तु बादमें अवयवोंके प्रकट होनेसे जिसका पुरुषका-सा आकार साफ साफ प्रकट हो रहा था, जो अपना कृतमाल नाम प्रकट करनेके लिये चम्पाके फूलोंकी माला पहिने हुआ था और जो उससे फूले हुए कृतमाल वृक्षके समान जान पड़ता था ऐसे उस देवको चक्रवर्ती भरतने अपने सामने खड़ा हुआ देखा ॥९२-९४॥ आनेके साथ ही नमस्कार करते हुए उस देवको अकस्मात् अपने सामने देखकर भरतने उसे यथा योग्य सत्कारके साथ आसन दिया ॥९५॥ भरतकी आज्ञासे वह देव आसनपर बैठा और उनके लोकोत्तर तेजको देखता हुआ क्षण भरके लिये आश्चर्य करने लगा ॥९६॥ प्रथम ही, पहले बोलनेवाले सम्प्राट् भरतने जिसके साथ बातचीत की है ऐसा वह देव नीचे लिखे अनुसार विनयसहित वचन कहने लगा ॥९७॥ हे देव, हम क्षुद्र देव कहाँ ? और आप दिव्य मनुष्य कहाँ ? तथापि मैं ऐसा मानता हूँ कि हम लोगोंका यथायोग्य देवपना ही हम लोगोंको स्पष्ट रूपसे वाचालित कर रहा है अर्थात् जबर्दस्ती बुलवा रहा है ॥९८॥ हे आयुष्मन्, आप जैसे शासन करनेवालोंका कुशल-मंगल पूछनेके लिये हम लोग लज्जित हो रहे हैं क्योंकि इस जगत्का सब तरहका कल्याण करना आपके ही आधीन है ॥९९॥ जगत्का कल्याण करनेके लिये जिसकी चतुराई प्रसिद्ध है और जो समस्त पृथिवीको जीतना चाहती है ऐसी आपकी इस दाहिनी भुजाकी कुशलता है न ? ॥१००॥ हे देव, आप देवोंके भी प्रिय हैं, आपने समस्त जगत्को जीत लिया है इसलिये यह देवपना आपके ही योग्य है हम लोग तो नाममात्रके ही देव हैं—केवल देव जातिमें जन्म होनेसे ही देव कहलाने लगे हैं । यहाँ पर 'देवानां' 'प्रिय' ये दोनों ही पद पृथक्-पृथक् हैं, अथवा ऐसा

१ प्रभासन्तानः । २ व्याप्नोति । ३ अग्निशिखामतिक्रान्तः । ४ कृतमालनामा । कृतमाल आरम्बधः । आरम्बधे राजवृक्षः शम्भाकचनुरंगुलाः । आरेवतव्याधिपातकृतमालसुवर्णाकाः ॥ इत्यभि-
 नानात् । ५ दृश्यते स्म । ६ प्रापयत् । ७ तेजः । ८ चक्रिणः । ९ मानुषमतीतम् । १० संस्कृतभाषिणा ।
 पूर्वाभि—अ० प० स० द० ल० । ११ पूतनायाः अपत्यं पीतनः तस्य भावः पीतन्यम् । देवत्वमित्यर्थः । १२
 पुनम् । १३ वाचालं करोति । १४ लज्जामहे । १५ यस्मात् कारणात् । १६ क्षेमकरणं । १७ प्रख्यातम् ।
 १८ क्षेमं किम् । १९ गीरेव शापानुग्रहसमर्था वाणाः साधनं निग्रहानुग्रहयोरेषामिति गीर्वाणाः देवा
 इत्यर्थः । २० जिगीषोः त्वत्तः अन्यत्र । २१ शीतशीश्वराः ट० । मन्दानामीश्वरा इत्यर्थः । शीत
 रेते एते शीतशयः तेषामीश्वराः क्रियासु मंदानामीश्वरा इत्यर्थः । २२ मन्दवचराः ।

‘राजोक्तिस्त्वयि राजेन्द्र राजतेऽनन्यगामिनी । अखण्डमण्डलां कृत्स्नां षट्षण्डां गां नियच्छति’ ॥१०३॥
 चक्रात्मना ज्वलत्वेव प्रतापस्तव दुःसहः । प्रथमे दण्डनीतिश्च दण्डरत्नछलाद् विभोः ॥१०४॥
 ईशितव्या^१ मही कृत्स्ना स्वतन्त्रस्त्वमसीश्वरः । निधिरत्नद्विरेश्वर्यं कः परस्त्वाद्दशः प्रभुः ॥१०५॥
 भूमत्येकाकिनी लोकं शश्वत्कीर्तिरनर्गला^२ । सरस्वती च वाचाला कथं ते ते^३ प्रिये^४ प्रभोः ॥१०६॥
 इति प्रतीतमाहात्म्यं त्वां सभाजयितुं^५ दिवः । त्वद्वलध्वानसंक्षोभसाध्वसाद् वयमागताः ॥१०७॥
 कूटस्था वयमस्याद्रेः स्वपदा^६दधिचालिनः । भूमिमेतावतीं^७ तावत् त्वया देवावतारिताः ॥१०८॥
 विप्रकृष्टान्तरावासवासिनो व्यन्तरा वयम् । संविधेयास्त्वये^८दानीं प्रत्यासन्नाः पशतयः ॥१०९॥
 विद्धि मां विजयार्द्धस्य मर्मज्ञममृताशनम् । कृतमालं गिरेरस्य कूटेऽमुष्मिन् कृतान्वयम् ॥११०॥
 मयि स्वसात्कृते^९ देव स्वीकृतोऽयं महाचलः । सगुहाकाननस्यास्य गिरेर्गर्भविदस्यहम् ॥१११॥
 गर्भज्ञोऽहं गिरेरस्मीत्यल्पमिदमुच्यते । द्वीपाविधवलये कृत्स्ने नास्माकं कोऽप्यगोचरः ॥११२॥

कार्य करना चाहिये कि हे प्रिय, समस्त जगत्को जीतनेसे आप देवोंके भी देव हैं ॥१०१॥ हम गीर्वाण हैं और आपके अतिरिक्त विजयकी इच्छा करनेवाले किसी दूसरे पुरुषके विषय में यद्यपि हम वचनरूपी तीक्ष्ण वाणोंको धारण करते हैं तथापि आपके विषयमें हम लोग कुण्ठितवचन हो रहे हैं, हमारा अहंकार जाता रहा है और हमारे वचन गद्गद् स्वरसे निकल रहे हैं ॥१०२॥ हे राजेन्द्र, आप छह खण्डोंमें बँटी हुई समस्त प्रदेश सहित इस संपूर्ण पृथिवी का शासन करते हैं इसलिये दूसरी जगह नहीं रहनेवाली राजोक्ति आपमें ही सुगोभित हो रही है—आप ही वास्तवमें राजा हैं ॥१०३॥ हे विभो, चक्ररत्नके बहानेसे यह आपका दुःसह प्रताप देदीप्यमान हो रहा है और दण्डरत्नके छलसे आपकी बंड नीति प्रसिद्ध हो रही है ॥१०४॥ यह समस्त पृथिवी आपके आधीन है—पालन करने योग्य है, आप इसके स्वतन्त्र ईश्वर हैं और निधियाँ तथा रत्न ही आपका ऐश्वर्य है इसलिये आपके समान ऐश्वर्यशाली दूसरा कौन है ? ॥१०५॥ हे प्रभो, आपकी कीर्ति स्वच्छन्द होकर समस्त लोकमें सदा अकेली फिरा करती है और सरस्वती वाचाल है अर्थात् बहुत बोलनेवाली है फिर भी न जाने ये दोनों ही स्त्रियाँ आपको प्रिय क्यों हैं ? ॥१०६॥ इस प्रकार जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध है ऐसे आपकी सेवा करनेके लिये हम लोग आपकी सेनाके शब्दके क्षोभसे भयभीत हो आकाश से यहाँ आये हैं ॥१०७॥ हे देव, हम लोग इस पर्वतकी शिखरपर रहते हैं और अपने स्थानसे कभी भी विचलित नहीं होते परन्तु इस भूमि पर आपके द्वारा ही अवतारित हुए हैं—उतारे गये हैं ॥१०८॥ हम लोग दूर दूर तक अनेक स्थानोंमें रहनेवाले व्यन्तर हैं अब आप हम लोगोंको अपने समीप रहनेवाले सेवक बना लीजिये ॥१०९॥ आप मुझे इस पर्वतके इस शिखरपर रहनेवाला और विजयार्ध पर्वतका मर्म जाननेवाला कृतमाल नामका देव जानिये ॥११०॥ हे देव, आपने मुझे वश कर लिया है इसलिये इस महापर्वतको अपने आधीन हुआ ही समझिये क्योंकि मैं गुफाओं और वन सहित इस पर्वतका समस्त भीतरी हाल जानता हूँ ॥१११॥ अथवा मैं ‘इस पर्वतका भीतरी हाल जाननेवाला हूँ’ यह बहुत ही थोड़ा कहा गया है क्योंकि समस्त द्वीप और समुद्रोंके भीतर ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जो हम लोगोंका जाना

१ राजेति शब्दः । २ शाराति । ३ ऐश्वर्यवती भवितुं योग्या । ४ प्रतिबंधरहिता । ५ कीर्ति-सरस्वत्यौ । ६ प्रियतमे (बभूवतुः) । ७ सेवितुम् । ८ स्वस्थानात् । ९ एतावद्भूमिपर्यन्तम् । ‘यावत्तावच्च साकल्येश्वरी मानेऽवधारणे’ । १० संविद्यापयितुं योग्या । ११ त्वदधीने कृत ।

वटस्थानं वटस्थांश्चैकदस्थान् कोटरोटजान् । 'अजपाटान् क्षपाटांश्च' विद्धि नः सार्व सर्वगान् ॥११३॥
इति प्रज्ञानमोर्जस्विं जघ्नः सम्भाष्य सादरम् । सोऽमरो विततरास्ते भूषणानि चतुर्वर्श ॥११४॥
ताम्यनयोपतभ्यानि प्राप्य चकी परां मुदन् । भजे तत्कुतः सत्कारेः सुरः सोऽप्याप सम्मदम् ॥११५॥
तं रूप्याद्रिगुहाद्वारप्रवेशोपायशसिनम् । प्रविशज्वं स्वसेनान्यं प्राहिणोत् प्रभुरग्रतः ॥११६॥
त्वमुद्घाटय गुहाद्वारं यावन्निर्वर्ति सा गुहा । तावत् पाश्चात्यखण्डस्य निजंयाय कुरुद्यमम् ॥११७॥
इति चक्रधरादेशं मूर्ध्ना माल्यमिवोद्वहन् । कृतमालामरोद्विष्टकृत्स्नोपायप्रयोगवित् ॥११८॥
कृती कतिपयेरेष तुरङ्गः सपरिच्छदेः । प्रतस्थे बाजिरत्नेन दण्डपाणिश्चमूपतिः ॥११९॥
किञ्चिच्चान्तरमुल्लंघ्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम् । विषाह्य विजयार्द्धस्य संप्रापत् तटवेदिकाम् ॥१२०॥
तत्सोपानेन रूप्याद्रेः आरुह्य जगतीतलम् । प्रत्यङ्मुखो गुहोत्सङ्गम् आससाद चमूपतिः ॥१२१॥
जयताञ्चक्रवर्तीति सोऽश्वरत्नमधिष्ठितः । दण्डेन ताडयामास गुहाद्वारं स्फुरद्ध्वनिः ॥१२२॥
दण्डरत्नाभिघातेन गुहाद्वारे निरगले । तदगर्भाद् बलवान्ष्वा निययौ किल संततः ॥१२३॥
दधदण्डाभिघातोत्थं क्रेङ्गकारभररीपुटम् । सवेदनमिवात्वेदि निर्गतासु गुहोष्मणा ॥१२४॥

हुआ न हो ॥११२॥ हे सार्व अर्थात् सबका हित करनेवाले, वटके वृक्षोंपर, छोटे छोटे गड्ढों में, पहाड़ोंकी शिखरोंपर, वृक्षोंकी खोलों और पत्तोंकी झोपड़ियोंमें रहनेवाले तथा दिन और रात्रिमें भ्रमण करनेवाले हम लोगोंको आप सब जगह जाने वाले समझिये ॥११३॥ इस प्रकार आदर सहित शान्त और ओजपूर्ण वचन कहकर उस देवने भरतके लिये चौदह आभूषण दिये ॥११४॥ जो किसी दूसरेको प्राप्त नहीं हो सकते थे ऐसे उन आभूषणोंको पाकर चक्रवर्ती परम हर्षको प्राप्त हुए और चक्रवर्तीके द्वारा किये हुए सत्कारोंसे वह देव भी अत्यन्त हर्षको प्राप्त हुआ ॥११५॥ तदनंतर विजयार्ध पर्वतकी गुफाके द्वारसे प्रवेश करनेका उपाय बतलाने वाले उस देवको भरत चक्रवर्तीने बिदा किया और गुफाका द्वार खोलनेके लिये सबसे आगे अपना सेनापति भेजा ॥११६॥ चक्रवर्तीने सेनापतिसे कहा कि तुम गुफाका द्वार उघाड़कर जब तक गुफा शान्त हो तब तक पश्चिम खण्डको जीतनेका उद्योग करो ॥११७॥ इस प्रकार चक्रवर्तीकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हुआ और कृतमाल देवके द्वारा बतलाये हुए समस्त उपायोंके प्रयोगको जाननेवाला वह चतुर सेनापति कुछ घोड़े और सैनिकों के साथ दंडरत्न हाथमें लेकर अश्वरत्नपर आरुढ़ होकर चला ॥११८-११९॥ और कुछ थोड़ी दूर जाकर तथा सिन्धु नदीके वनकी वेदीको उल्लंघन कर विजयार्ध पर्वतके तटकी वेदी पर जा पहुंचा ॥१२०॥ प्रथम ही वह सेनापति सीढियोंके द्वारा विजयार्ध पर्वतकी वेदिकापर चढ़ा और फिर पश्चिम की ओर मुंहकर गुफाके आगे जा पहुंचा ॥१२१॥ अश्वरत्न पर बैठे हुए सेनापतिने चक्रवर्तीकी जय हो इस प्रकार कहकर दण्डरत्नसे गुफा द्वारका ताड़न किया जिससे बड़ा भारी शब्द हुआ ॥१२२॥ दण्डरत्नकी चोटसे गुफाका द्वार खुल जानेपर उसके भीतरसे बड़ी भारी गर्मी निकलने लगी ॥१२३॥ दण्डरत्नके प्रहारसे उत्पन्न हुए क्रेङ्गकार शब्दको धारण करते हुए दोनों किवाड़ ऐसे जान पड़ते थे मानो वेदनासे सहित होनेके

१ न्यग्रोधस्थान् । २ पातालस्थान् । 'गतीवटौ भुवि श्वभ्रे' इत्यभिधानात् । 'श्वभृगतीवटागादा भुवो विधरवाचकाः' इति कात्येनोक्तम् । ३ वृक्षविवरपर्णशालासु जातान् 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । ४ राक्षसेभ्योऽप्यान् । ५ क्षपा रात्रिः तस्यामटन्तीति क्षपाटाः तान् राक्षसानित्यर्थः । 'पलंकयो रात्रिनटो रात्र्यटो जललोहितः' इत्यभिधानात् । ६ सहितान् । ७ तेजोऽन्वितम् । ८ ददी । ९ तिलकादि-चतुर्दशाभरणानि । १० चक्रिकृत । ११ उपशान्तिमेति । १२ पश्चिमखण्डस्य । १३ आज्ञाम् । १४ पश्चिमा-भिमुखः । १५ समीपम् । १६ आरुढ़ः । १७ दण्डरत्नेन । १८ अर्गलरहिते सति । १९ विस्तृतः । २० ध्वनि-विशेषः । २१ कवाटयुगलम् 'कवाटमररं तुल्ये' इत्यभिधानात् । २२ स्विद्यति स्म स्वेदितमित्यर्थः ।

उव्पाटितकवाटेन द्वारेणोष्माणमुद्गमन् । रराज राजतः शैलो लब्धोच्छ्वासश्चिरादिव ॥१२५॥
 कवाटपुटविश्लेषाद् उच्चचारं महान् ध्वनिः । दण्डेनाभिहतस्याद्रेः प्राक्रोश इव विस्फुरन् ॥१२६॥
 गुहोष्मणा स नाश्लेखि^१ विदूरमपवाहितः^२ । तरश्चिनाऽऽवरत्नेन देवताभिश्च रक्षितः ॥१२७॥
 निपेतुरमरस्त्रीणां दृक्क्षेपैः सममम्बरात् । सुमनःप्रकरास्तस्मिन् हासा इव जयश्रियः ॥१२८॥
 तथ्वेदीं ससोपानां रूप्याद्रेः समतीषिवान् । सोऽभ्येतु^३ सतीरणां सिन्धोः पश्चिमां वनवेदिकाम् ॥१२९॥
 वेदिकां तामातिक्रम्य संजगाहे^४ परां^५ भुवम् । नानाकरपुरग्रामसीभारामैरलङ्कृताम् ॥१३०॥
 प्रविष्टमात्र एवास्मिन् प्रजास्त्रासमुपाययुः । समं^६ दारगवेरन्या घटन्ते स्म^७ पलायितुम् ॥१३१॥
 केचित् कृतधियो धीराः सार्धाः पुण्याक्षतादिभिः । प्रत्यग्रहीधुरभ्येत्य सबलं बलनायकम् ॥१३२॥
 न भेतव्यं न भेतव्यम् आध्वमाध्वं यथासुखम्^८ । इत्य^९ स्यात्ताकरा^{१०} विष्वक् भे^{११} मुराश्वासितप्रजाः ॥१३३॥
 म्लेच्छखण्डमखण्डाजः परिक्रामन् प्रदक्षिणम् । तत्र तत्र विभो राज्ञां म्लेच्छराजैरजिग्रहत्^{१२} ॥१३४॥
 इवं चक्रधरक्षेत्रं स चैष निकटे^{१३} प्रभुः । तमाराधयितुं यूयं त्वरध्वं सह साधनेः ॥१३५॥
 भरतस्यादिराजस्य चक्रिणोऽप्रतिशासनम्^{१४} । शासनं शिरसा दध्वं^{१५} यूयमित्यन्वशाच्च^{१६} तान् ॥१३६॥

कारण चित्ता ही रहे हों, उन्हें दुःखसे पसीना ही आ गया हो और गुफाके भीतरकी गरमी से उनके प्राण ही निकले जा रहे हों ॥१२४॥ जिसके किवाड़ खुल गये हैं ऐसे द्वारसे गरमी को निकालता हुआ वह विजयार्थ पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत दिन बाद उसने उच्छ्वास ही लिया हो ॥१२५॥ दोनों किवाड़ोंके खुलनेसे एक बड़ा भारी शब्द हुआ था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो दण्डरत्नके द्वारा ताड़ित हुए पर्वतके रोनेका शब्द ही हो ॥१२६॥ वेगशाली अश्वरत्न जिसे बहुत दूर तक भगा ले गया है और देवताओंने जिसकी रक्षा की है ऐसे उस सेनापतिको गुफाकी गरमी छू भी नहीं सकी थी ॥१२७॥ उस समय उस सेनापतिपर देवांगनाओंके कटाक्षोंके साथ साथ आकाशसे फूलोंके समूह पड़ रहे थे और वे जयलक्ष्मी के हासके समान जान पड़े थे ॥१२८॥ सेनापति सीढ़ियों सहित विजयार्थ पर्वतके किनारे की वेदीको उल्लंघन करता हुआ तोरण सहित सिन्धु नदीके पश्चिम ओर वाली वनकी वेदिका के सम्मुख पहुंचा ॥१२९॥ उसने उस वेदिकाको भी उल्लंघन कर अनेक खानि, पुर, ग्राम, सीमा और बागवगीचोंसे सुन्दर म्लेच्छखण्डको उत्तम भूमिमें प्रवेश किया ॥१३०॥ उस भूमिमें सेनापतिके प्रवेश करते ही वहाँकी समस्त प्रजा घबड़ा गई, उसमेंसे कितने ही लोग स्त्रियों तथा गाय भैंस आदिके साथ भागनेके लिये तैयार हो गये ॥१३१॥ कितने ही बुद्धिमान् तथा धीर वीर पुरुष पवित्र अक्षत आदिका बना हुआ अर्घ लेकर सेनासहित सेनापतिके सम्मुख गये और उसका सत्कार किया ॥१३२॥ अरे डरो मत, डरो मत, जिसको जिस प्रकार सुख हो उसी प्रकार रहो इस प्रकार प्रजाको आश्वासन देते हुए चक्रवर्तिके सेवक चारों ओर घूमे थे ॥१३३॥ अखण्ड आज्ञाको धारण करनेवाला वह सेनापति प्रदक्षिणा रूपसे म्लेच्छखण्ड में घूमता हुआ जगह जगह म्लेच्छ राजाओंसे चक्रवर्तिकी आज्ञा स्वीकृत करवाता जाता था ॥१३४॥ सेनापतिने म्लेच्छ राजाओंको यह भी सिखलाया कि यह चक्रवर्तिका क्षेत्र है और वह प्रसिद्ध चक्रवर्ती समीप ही है इसलिये तुम सब अपने अपने सेनाओंके साथ उनकी सेवा करनेके लिये शीघ्रता करो । चक्रवर्ती भरत इस युगके प्रथम अथवा सबसे मुख्य राजा हैं इसलिये कभी भंग नहीं होनेवाली उनकी आज्ञाको तुम सब अपने मस्तकपर धारण करो ॥१३५-१३६॥

१ न आलिंगितः । २ अपनीतः । ३ अभ्यगच्छत् । ४ प्रविशति स्म । सज्जगाहे ल० । ५ पश्चि-
 माम् । ६ (द्वन्द्वसमासः) कललधेनुभिः । ७ घटन्ते स्म । ८ यथासुखं तिष्ठत । ९ सेनान्यः । १० भृत्याः ।
 ११ अग्राहयत् । १२ समीपे आस्ते । १३ न विद्यते प्रतिशासनं यस्य । १४ धारयत । १५ शारित स्म ।

जाता वयं चिरादद्य सनाथा इत्युदाशिषः^१ । केचिच्चक्रधरस्याज्ञाम् अशठा^२ प्रत्यपत्सत^३ ॥१३७॥
 संधिविग्रहयानादिषाङ्गुण्यकृतविक्रमाः । बलात् प्रमाणिताः केचिद् ऐश्वर्यलवदूषिताः ॥१३८॥
 कांचिच्चर्गाभितान् म्लेच्छान् अवस्कन्दनिरोधनैः^४ । सेनानीर्वंशमानिन्ये नमत्यज्ञोऽधिकं क्षतः^५ ॥१३९॥
 केचिद् बलेरवष्टब्धाः^६ तत्पीडां सोढुमक्षमाः । शासने चक्रिणस्तस्थुः स्नेहो नापीलितात् खलात् ॥१४०॥
 इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः । तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्मुपाहरत् ॥१४१॥
 (धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः । अन्यथाऽभ्येः^७ समाचारैः आर्यावर्तेन^८ ते समाः ॥१४२॥)
 इति प्रसाध्य तां भूमिम् अभूमि^९ धर्मकर्मणाम् । म्लेच्छराजबलैः सार्द्धं सेनानीन्यवृत्तत् पुनः ॥१४३॥
 रराज राजराजस्य साहवरत्नचमूपतिः । सिद्धदिग्विजयी जैत्रः प्रताप इव मूर्तिमान् ॥१४४॥
 सतोरणामतिक्रम्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम् । विगाढश्च^{१०} ससोपानां रूप्यान्नेस्तटवेदिकाम् ॥१४५॥
 आरुढो जगत्तोमरैः व्यूढोरस्को^{११} महाभुजः । षड्भिमर्सैः प्रशान्तोष्म सोऽध्यवासोद्^{१२} गृहामुखम्^{१३} ॥१४६॥
 तत्रासीत्तच्च संशोध्य बहुपायं गुहोदरम् । कृतारक्षाविधिः सम्यक् प्रत्यायाच्छिबिरं^{१४} प्रभोः ॥१४७॥

‘आज हम लोग बहुत दिनमें सनाथ हुए हैं इसलिये जोर जोरसे आशीर्वाद देते हुए कितने ही बुद्धिमान् लोगोंने चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकृत की थी ॥१३७॥ जिन्होंने सन्धि, विग्रह और यान आदि छह गुणोंमें अपना पराक्रम दिखाया था और जो थोड़ेसे ही ऐश्वर्यसे उन्मत्त हो गये थे ऐसे कितने ही राजाओंसे सेनापतिने जबर्दस्ती प्रणाम कराया था ॥१३८॥ किलेके भीतर रहनेवाले कितने ही म्लेच्छ राजाओंको सेनापतिने उनका चारों ओरसे आवागमन रोककर वश किया था सो ठीक ही है क्योंकि अज्ञानी लोग अधिक दुःखी किये जानेपर ही नम्रीभूत होते हैं ॥१३९॥ कितने ही राजा लोग सेनाओंके द्वारा घिरकर उससे उत्पन्न हुए दुःखको सहन करनेके लिये असमर्थ हो चक्रवर्तीके शासनमें स्थित हुए थे, सो ठीक ही है क्योंकि बिना पेले खल अर्थात् खलीसे स्नेह अर्थात् तेल उत्पन्न नहीं होता (पक्षमें बिना दुःखी किये हुए खल अर्थात् दुर्जनसे स्नेह अर्थात् प्रेम उत्पन्न नहीं होता) ॥१४०॥ इस प्रकार उपायोंको जाननेवाले सेनापति ने अनेक उपायोंके द्वारा म्लेच्छ राजाओंको वश किया और उनसे चक्रवर्तीके उपभोगके योग्य कन्या आदि अनेक रत्न भेंटमें लिये ॥१४१॥ ये लोग धर्मक्रियाओंसे रहित हैं इसलिये म्लेच्छ माने गये हैं, धर्मक्रियाओंके सिवाय अन्य आचरणोंसे आर्य खण्डमें उत्पन्न होनेवाले लोगोंके समान हैं ॥१४२॥ इस प्रकार वह सेनापति, धर्मक्रियाओंसे रहित उस म्लेच्छभूमिको वश कर म्लेच्छराजाओंकी सेनाके साथ फिर वापिस लौटा ॥१४३॥ जिसने दिग्विजय कर लिया है, सबको जीतना ही जिसका स्वभाव है, और जो अश्वरत्नसे सहित है ऐसा वह राजाधिराज भरतका सेनापति ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मूर्तिमान् प्रताप ही हो ॥१४४॥ तोरणोंसहित सिन्धु नदीके वनकी वेदीको उल्लंघन कर वह सेनापति सीढ़ियों सहित विजयार्ध पर्वतके वनकी वेदीपर जा चढ़ा ॥१४५॥ जिसका वक्षःस्थल बहुत बड़ा है और जिसकी भुजाएँ बहुत लम्बी हैं ऐसा वह सेनापति पर्वतकी वेदिकापर चढ़कर छह महीनेमें जिसकी गर्मी शान्त हो गई है ऐसी गुफाके द्वारपर ठहर गया ॥१४६॥ वहाँ ठहरकर उसने अनेक विघ्नों से भरे हुए गुफाके भीतरी भागको शुद्ध (साफ) कराया और फिर अच्छी तरहसे उसकी रक्षा

१ उद्गताशीर्वचनाः । २ निष्कपटवृत्तयो भूत्वा । ३ अंगीकारं कृतवन्तः । ४ घाटीनिरोधनैः । ‘नियहस्तु निरोधः स्याद्’ इत्यमरः । अभ्यासाधनात्मकनियहः । उक्तं च विदाधचूडामणौ ‘अभ्यवस्कन्दनं त्वभ्यासाधनम्’ (बेरेका नाम) । ५ अधिकं पीड़ितो भूत्वा । ६ वेष्टिताः । ७ विवाहादिभिः । ८ पुण्यभूम्या आर्याखण्डेनेत्यर्थः । ‘अ.र्यावर्तः पुण्यभूमिः’ इत्यभिधानत् । ९ अस्थानम् । १० प्रविष्टः । ११ विशालवक्षःस्थलः । १२ तस्थी । १३ गुहाद्वारम् । १४ स्कन्धावारं प्रत्यागात् ।

अथ सम्मुखमागत्य 'सानीकैर्नृपसत्तमैः । प्रत्यगुह्यत सेनानीः सजयानकनिस्वनम् ॥१४८॥
 विभक्ततोरणामुच्चैः प्रचलत्केतुमालिकाम् । महावीथीमतिक्रम्य प्राविक्षत् स नृपालयम् ॥१४९॥
 तुरङ्गमबराद्दूरात् कृतावतरणः कृती । प्रभोर्नृपासनस्थस्य प्रापदास्थानमण्डपम् ॥१५०॥
 दूरानतचलन्मौलिसंघट्टकरकुटुम्बलः । प्रणनाम प्रभुं सभ्यैः व्रीह्यमाणः सविस्मितः ॥१५१॥
 मुखरैर्जयकारेण म्लेच्छराजैः ससाध्वसम् । प्रणमे प्रभुरभ्येत्य ललाटस्पृष्टभूतलैः ॥१५२॥
 तदुपाहृतं रत्नाद्यैः 'अर्घ्ययन्नुपढौकितैः' । नामादेशं च 'तानस्मै' प्रभवेऽसौ न्यवेदयत् ॥१५३॥
 सप्रसादं च सम्मान्य सत्कृतास्ते महीभुजः । प्रभोरनुमताद् भूयः स्वमोकः प्रत्ययासिषुः ॥१५४॥
 इत्थं पुण्योदयाच्चक्री बलात् प्रत्यन्तपालकान् । विजिग्ये दण्डमात्रेण जयः पुण्यादृते कुतः ॥१५५॥

मालिनी

अथ नृपतिसमाजेर्नाचितः सानुरागं विजितसकलदुर्गः प्रह्वयन् म्लेच्छनाथान् ।
 पुनरपि विजयायायोजि सोऽप्रेसरत्वे जय इव जयचिह्नैर्वीजितो रत्नभर्त्रा ॥१५६॥
 जयति जिनवराणां शासनं यत्प्रसादात् पदमिदमधिराज्ञां प्राप्यते हेलयैव ।
 समुचितमिधिरत्नप्राज्यभोगोपभोगप्रकटितसुखसारं भूरि संपत्प्रसारम् ॥१५७॥

का उपाय कर वह चक्रवर्ती की छावनीमें वापिस लौट अया ॥१४७॥ सेनापतिके वहाँ पहुँचने पर अनेक उत्तम उत्तम राजाओंने अपनी सेनाओंके साथ सामने जाकर विजयसूचक तगाड़ोंके शब्दोंके साथ साथ उसका स्वागत-सत्कार किया ॥१४८॥ जिसमें अनेक तोरण लगे हुए हैं और जिसमें बहुत ऊँची अनेक पताकाओंके समूह फहरा रहे हैं ऐसे राजमार्गको उल्लंघन कर वह सेनापति महाराज भरतके डेरेमें प्रविष्ट हुआ ॥१४९॥ वह व्यवहारकुशल सेनापति दूरसे ही उत्तम घोड़ेपरसे उतर पड़ा और जहाँ महाराज भरत राजसिंहासनपर बैठे हुए थे उस सभा-मण्डपमें जा पहुँचा ॥१५०॥ दूरसे ही झुके हुए चंचल मुकुटपर जिसने अपने दोनों हाथ जोड़कर रखे हैं और सभासद् लोग जिसे आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसा सेनापतिने महाराज भरतको नमस्कार किया ॥१५१॥ जिन्होंने अपने ललाटसे पृथिवीतलका रपर्श किया है और जो जय-जय शब्द करनेसे वाचालित हो रहे हैं ऐसे म्लेच्छ राजाओंने भगसहित सामने आकर भरत को नमस्कार किया ॥१५२॥ उन म्लेच्छ राजाओंके द्वारा उपहारमें लाये हुए रत्न आदिको सामने रखकर सेनापतिने महाराज भरतसे नाम ले लेकर सबका परिचय कराया ॥१५३॥ महाराजने प्रसन्नताके साथ सम्मान करके उन सब राजाओंका सत्कार किया, तदनन्तर वे राजा महाराजकी अनुमतिसे अपने अपने स्थान पर वापिस चले गये ॥१५४॥ इस प्रकार चक्रवर्ती ने पुण्य कर्मके उदयसे केवल दण्डरत्नके द्वारा ही विजयार्थ पर्वतके समीपवर्ती राजाओंको जबर्दस्ती जीत लिया था सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके बिना विजय कहाँसे हो सकती है ? ॥१५५॥

अथानन्तर—अनेक राजाओंके समूहने प्रेमपूर्वक जिसका सत्कार किया है, जिसने सब किले जीत लिये हैं, जिसने म्लेच्छ राजाओंको नग्रीभूत किया है, जो साक्षात् विजयके समान सुशोभित हो रहा है और विजयके चिह्नोंसे जिसका सम्मान किया गया है ऐसे उस सेनापति को रत्नोंके स्वामी भरत महाराजने विजय प्राप्त करनेके लिये फिर भी प्रधान सेनापतिके पदपर नियुक्त किया ॥१५६॥ योग्य निधियाँ, रत्न तथा उत्कृष्ट भोग-उपभोगकी वस्तुओं

१ ससैन्यैः । २ तन्म्लेच्छराज्येभ्य आहृत । ३ पूजयन् । ४ प्रभोः समीपं नीतैः । ५ नामोद्देशम् ।
 ६ म्लेच्छराजान् । ७ निजावासं सम्प्रतिजग्मुः । ८ म्लेच्छराजान् 'प्रत्यन्तो' म्लेच्छदेशः स्यादित्य-
 मिधानात् ।

शार्दूलविक्रीडितम्

छत्रं चन्द्रकरापहासि रुचिरं चामीकरप्रोज्ज्वलद्-

दण्डं चामरयुग्मकं सुरसरिर्दण्डिणीरपिण्डच्छविः ।

रुक्माद्वेरिव संविभक्तमपरं कूटं मृगेन्द्रासनं

लेभेऽसौ विजयार्द्धनाथविजयाव्रतान्यथान्यान्यपि ॥१५८॥

गोर्वाणः कृतमाल इष्यभिमतः संपूज्य तं साङ्गरं

प्रादादाभरणानि यानि न पुनस्तेषामिहास्त्युन्मितिः^१ ।

सम्प्रादुर्तेरचका^२ दलङ्कृततनुः कल्पद्रुमः पुष्पितो

मेरोः सानुमिवाश्रितो मणिमयं सोऽध्यासितो विष्टरम् ॥१५९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे

विजयार्द्धगुहाद्वारोद्धाटनवर्णनं नामैकत्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३१ ॥

के द्वारा जिसमें सुखोंका सार प्रकट रहता है, और जिसमें अनेक सम्पदाओंका प्रसार रहता है ऐसा यह चक्रवर्तीका पद जिसके प्रसादसे खीला मात्रमें प्राप्त हो जाता है ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान्का शासन सदा जयवन्त रहे ॥१५७॥ महाराज भरतने विजयार्ध पर्वतक स्वामीको जीतकर उससे चन्द्रमाकी किरणोंकी हंसी करनेवाला सुन्दर छत्र, सुवर्णमय देदीप्यमान दण्डोंसे युक्त तथा गङ्गा नदीके फेदके समान कान्तिवाले दो मनोहर चमर, सुमेरु पर्वतसे अलग किये हुए उसके शिखरके समान सिंहासन तथा और भी अन्य अनेक रत्न प्राप्त किये थे ॥१५८॥ 'कृतमाल' इस नामसे प्रसिद्ध देवने सत्कार कर महाराज भरतके लिये जो आभूषण दिये थे उस भरतक्षेत्रमें उनकी उपमा देने योग्य कोई भी पदार्थ नहीं है । उन अनुपम आभूषणोंसे जिनका शरीर अलंकृत हो रहा है और जो मणियोंके बने हुए सिंहासनपर विराजमान हैं ऐसे महाराज भरतेश्वर उस समय मेरु पर्वतकी शिखरपर स्थित फूले हुए कल्प वृक्षके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥१५९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके हिन्दी भागानुवादमें विजयार्ध पर्वतकी गुफाका द्वार उघाड़नेका वर्णन करनेवाला इकतीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

द्वात्रिंशत्तमं पर्व

अथान्येष्टुहपाखण्डसंभ्रमवैलनायकः । प्रत्यपाल्यतः सन्नद्धः प्रयाणसमयः पभोः ॥१॥

गजताश्चोपरध्याता^१ पादातानां^२ च सङ्कुलैः । न नृपांजिरमेवासीत् रुद्धमदर्वनान्यपि ॥२॥

जयकुञ्जरमारुहः परीतो^३ नृपकुञ्जरैः । रेजे^४ निर्यन्त्रप्रयाणाय सम्म्राट् शक्र इवामरैः ॥३॥

किञ्चित् पदचान्मुखं^५ गत्वा सेतान्या शोधिते पथि । ध्वजिनो सङ्कुचन्त्यासीद् ईर्याशुद्धिं श्रितेव सा ॥४॥

प्रगुणस्थानसोपानां^६ रूप्याद्रेः श्रेणिमध्वमात् । मुनेः शुद्धिरिव श्रेणीम् आरुह्य सा पताकिनी^७ ॥५॥

तमिच्छेति गुहा यासौ गिरिव्याससमायतिः^८ । उच्छ्रिता योजनान्यष्टौ ततोऽर्द्धाधिक^९ विस्तृतिः^{१०} ॥६॥

बाजं कपाटयोयुग्मं या स्वीरुद्धायमितोच्छ्रितिः । दधू^{११} पृथक्^{१२} स्वविष्कम्भसाधिकद्वयंशविस्तृतिः^{१३} ॥

पराधर्मणिनिर्माणहविमद्धारबन्धना । तदवस्तलनिस्सर्पेत्सिन्धुस्रोतोविराजिता ॥७॥

अशक्यीद्वाटनाज्ज्येषां मुक्त्वा चक्रिमूपतिम् । तन्निरगंतितत्वाच्च^{१४} प्रागेव कृतनिर्वृतिः^{१५} ॥८॥

अथानन्तर—दूसरे दिन जिन्हें जल्दी हो रही है और जो हर एक प्रकारमें तैयार हैं ऐसे सेनापति लोग चक्रवर्तीके चलनेके समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥१॥ हाथियोंके समूह की सेना, घोड़ोंके समूहकी सेना और पैदल चलनेवाले सैनिक, इन सबकी भीड़से केवल महाराजका आंगन ही नहीं भर गया था किन्तु विजयार्थ पर्वतके वन भी भर गये थे ॥२॥ विजयी हाथीपर चढ़ा हुआ और अनेक श्रेष्ठ राजाओंसे घिरा हुआ चक्रवर्ती जब विजयके लिये निकला तब ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि ऐरावत हाथीपर चढ़ा हुआ और देवोंसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥३॥ भरतकी वह सेना कुछ पश्चिमकी ओर जाकर सेनापतिके द्वारा शुद्ध किये हुए मार्गमें संकुचित होकर चल रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो वह ईर्यापथ शुद्धिको ही प्राप्त हुई हो ॥४॥ जिस प्रकार मुनियोंकी विशुद्धता उत्तम गुणस्थान (आठवें, नौवें दशवें रूपी सीढ़ियोंसे युक्त श्रेणी (उपग्राम श्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी) पर चढ़ती है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी सेना, जिसपर उत्तम सीधी सीढ़ियां बनी हुई हैं ऐसी विजयार्थ पर्वत की श्रेणीपर जा चढ़ी थी ॥५॥ वहां तमिस्रा नामकी वह गुफा थी जो कि पर्वतकी चौड़ाई के बराबर लम्बी थी, आठ योजन ऊंची थी और उससे डेवढी अर्थात् बारह योजन चौड़ी थी जो अपनी ऊंचाईके बराबर ऊंचे और कुछ अधिक लह लह योजन चौड़े वज्रमयी किवाड़ोंके युगल धारण कर रही थी जिसके दरवाजेकी चौखट महामूल्य रत्नोंसे बनी हुई होनेसे अत्यन्त देदीप्यमान थी, जो अपने नीचेसे निकलते हुए सिन्धु नदीके प्रवाहसे सुशोभित थी, चक्रवर्तीके सेनापतिको छोड़कर जिसे और कोई उधाड़ नहीं सकता था, जो सेनापतिके द्वारा पहले ही उधाड़ दी जानेसे शान्त पड़ गई थी—भीतरकी गरमी निकल जानेसे ठण्डी पड़ गई थी । जो यद्यपि जगत्की सृष्टिके समान अनादि थी तथापि किसीके द्वारा बनाई हुईके समान मालूम

१ प्रतीक्ष्यते रम । २ सैन्यानाम् ल० । ३ पदातीनाम् ल० । ४ परिवृतः । ५ निर्गच्छन् । ६ पश्चिमाभिमुखम् । ७ ऋजुसंस्थानसोपानां प्रकृष्टगुणस्थानसोपानाञ्च । ८ सेना । ९ पञ्चदश-योजनायामेति भावः । १० अष्टयोजनोत्सेधत् । ११ द्वादशयोजनविस्तारेत्यर्थः । १२ यमलकवाटे एकैककवाटम् । १३ द्वादशयोजनविस्तारवद् गुहायाः साधिकाद्वितीयं विस्तारम् । यमलकवाटे एकैक-कवाटस्य साधिकषड्योजनविस्तृतिरित्यर्थः । १४ द्वारबन्धादवस्तलनिर्गच्छत् । देहल्या अधस्तले निर्गच्छदिति भावः । १५ तेन चमूपतिना समुद्घाटितकवाटत्वात् । १६ कृतोपशान्तिः ।

जगत्स्थितिरिवानाद्या पटितेव^१ च केनचित्^२ । जनी श्रुतिरिवोपात्तगाम्भीर्या मुनिभिर्मता ॥१०॥
व्ययता जीविताशेव मूर्च्छेव च तमोमयी । गतेबोलाघतां^३ कृच्छ्रात् मुक्तोष्णा शोधितोदरा^४ ॥११॥
कुटीव च प्रसूताया निषिद्धान्यप्रवेशना । कृतरक्षाविधिद्वारि धृतमङ्गलसन्निधिः ॥१२॥
तामात्रोक्त्य बलं^५ जिष्णोः दूरादासीत्स साध्यसम् । तमसा सूचिभेदेन कज्जलेनेव सम्भृताम् ॥१३॥
चक्रिणा ज्ञापितो भूयः सेनानीः सपुरोहितः । तत्तमोनिर्गमोपाये प्रयत्नमकरोत्ततः ॥१४॥
काकिणीमणिरत्नाभ्यां प्रतियोजनमालिखत् । गुहाभित्तिद्वये सूर्यसोमयोर्मण्डलद्वयम् ॥१५॥
तत्प्रकाशकृतोद्योतं सज्योत्स्नातमसन्निधिम् । गुहामध्यमपध्वान्तं व्यगाहत ततो बलम् ॥१६॥
चक्ररत्नज्वलद्दीपे ससेनान्या^६ पुरः स्थिते । बलं तदनुमार्गेण प्रविभज्य द्विधा ययौ ॥१७॥
परिसिन्धु^७ नदीलोतः प्राक् पश्चाच्चोभयोः^८ पथोः । बलं प्रायः^९ ज्जलं सिन्धोः उपयुज्योपयुज्य तत् ॥१८॥
पथि द्वेधे^{१०} स्थिता तस्मिन् सेनाप्रण्या नियन्त्रिता^{११} । सा चम्पुः संशयद्वेधं^{१२} तदा प्रापद् दिगाश्रयम्^{१३} ॥१९॥
ततः प्रयाणकैः कैश्चित् प्रभूतयवसोदकैः^{१४} । गुहाद्वंसम्भितां^{१५} भूमिं व्यतीयाय^{१६} यतिविशाम् ॥२०॥

होती थी, अत्यन्त गम्भीर (गहरी) होनेके कारण जिसे मुनि लोग जिनवाणीके समान मानते थे क्योंकि जिनवाणी भी अत्यन्त गम्भीर (गूढ़ अर्थोंसे भरी हुई) होती है। जो जीवित रहने की आशाके समान लम्बी थी, मूर्छाके समान अन्धकारमयी थी, गरमी निकल जाने तथा भीतरका प्रदेश शुद्ध हो जानेसे जो नीरोग अवस्थाको प्राप्त हुईके समान जान पड़ती थी, जिसमें चक्रवर्तीकी सेनाको छोड़कर अन्य किसीका प्रवेश करना मना था, जिसके द्वारपर रक्षाकी सब विधि की गई थी, जिसके समीप मङ्गलद्रव्य रक्खे हुए थे और इसलिये जो प्रसूता (बच्चा उत्पन्न करनेवाली) रक्तीकी कुटी (प्रसूतिगृह) के समान जान पड़ती थी ॥६-१२॥ सुई की नोकसे भी जिसका भेद नहीं हो सकता ऐसे कज्जलके समान गाढ़ अन्धकारसे भरी हुई उस गुफाको देखकर चक्रवर्तीकी सेना दूरसे ही भयभीत हो गई थी ॥१३॥ तदनन्तर जिसे चक्रवर्ती ने आज्ञा दी है ऐसे सेनापतिके पुरोहितके साथ साथ, उस अन्धकारसे निकलनेका उपाय करने के लिये फिर प्रयत्न किया ॥१४॥ उन्होंने गुफाकी दोनों ओरकी दीवालोंनेपर काकिणी और जूडामणि रत्नसे एक एक योजनकी दूरीपर सूर्य और चन्द्रमाके मण्डल लिखे ॥१५॥ तदनन्तर उन मण्डलोंके प्रकाशसे जिसमें प्रकाश किया जा रहा है, चांदनी और धूप दोनों ही जिसमें मिल रहे हैं तथा जिसका सब अन्धकार नष्ट हो गया है, ऐसे गुफाके मध्य भागमें सेनाने प्रवेश किया ॥१६॥ आगे आगे सेनापतिके साथ साथ चक्ररत्नरूपी देदीप्यमान दीपक चल रहा था और उसके पीछे पीछे उसी मार्गमें दो भागोंमें विभक्त होकर सेना चल रही थी ॥१७॥ वह सेना, सिन्धु नदीके प्रवाहके पूर्व तथा पश्चिमकी ओरके दोनों मार्गोंमें सिन्धु नदीके जलका उपयोग करती हुई जा रही थी ॥१८॥ उन दोनों मार्गोंपर चलती हुई तथा सेनापतिके द्वारा आज्ञा की हुई वह सेना उस समय दिशाओं सम्बन्धी संशयकी द्विविधताको प्राप्त हो रही थी अर्थात् उसे इस बातका संशय हो रहा था कि पूर्वदिशा कौन है ? और पश्चिम दिशा कौन है ? ॥१९॥ तदनन्तर जिनमें घास और पानी अधिक है ऐसे कितने ही मुकाम चलकर महाराज

१ निमितेव । २ केनचित् पुरुषेण । ३ परमागमः । ४ ऋजुत्वं गतेव । उरुलाघो निर्गतो गदात् । शोधितान्तरा ज० । ५ गुहाम् । ६ सेनापतिसमन्विते । ७ सिन्धुनदीप्रवाहं वर्जयित्वा । परिसद्वस्य निर्गम्यत्वात् । ८ पदवात् पूर्वपर । ९ अगच्छत् । १० द्विप्रकारवती । ११ नियमिता । १२ संशयभेदं शयविनाशं वा । १३ उपदेशाश्रयम् वा संशयभेदं प्राप । पूर्वादिदिग्भेदे सेना सन्देहवती जातेत्यर्थः । १४ तृण, घास । घासी ययत् तृणमर्जयित्वाश्रयान् । १५ गुहानामद्वंसप्रतिताम् । १६ अत्यगात् ।

यत्रोन्मग्नजला सिन्धुः निमग्नजलया समम् । प्रविष्टा तिर्यग्दृष्टां तं प्राप बलमोशितुः ॥२१॥
 तथोरारात्तटे सैन्यं निवेक्ष्य भरतेश्वरः । वषम्यमुभयोर्नद्योः प्रेक्षाञ्चक्रे सकौतुकम् ॥२२॥
 एकाग्रः पातयत्यन्या 'दाबाद्युत्प्लावत्यरम् । मिथोविरुद्धसाङ्गत्ये सङ्गते ते कथंचन ॥२३॥
 नद्योत्तरणोपायः को नु स्यादिति तर्कयन् । द्रुतमाह्वापयामास तत्रस्थः स्थपतिं पतिः ॥२४॥
 'तथोरारात्तटे पश्यन् उत्पतन्निपतज्जलम् । दृष्ट्यैव तुलयामास' जलाञ्जलिमिव' क्षणम् ॥२५॥
 उपमुच्छ्वासयत्येतां महान् वायुः स्फुरन्नघः । वायुस्तदन्यथावृत्तिः' अमुष्यां च विजृम्भते ॥२६॥
 उपनाहादृते' कोऽन्यः प्रतीकारोऽन्योरिति । भिषग्वर इवारेभे संक्रमोपक्रम'० कृती ॥२७॥
 अमानुषेष्वरण्येषु ये केचन महाद्रुमाः । सतानानाययामास' दिव्यशक्त्यनुभावतः ॥२८॥
 सारदारुभिरुत्तम्भ'३ स्तम्भान्तर्जलस्थितान्'३ । स्थपतिः स्थापयामास 'तेषामुपरि सङ्क्रमम्'० ॥२९॥
 बलव्यसनमाशङ्क्य'५ चिरवृत्ती'५ स धीरधीः । क्षणान्निष्पादयामास सङ्क्रमं प्रभुशासनात् ॥३०॥
 कृतः कलकलः सैन्यैः निष्ठिते सेतुकर्मणि । तदेव च बलं कृत्स्नम् उत्तार परं तटम्'० ॥३१॥

भरतने गुफाकी आधी भूमि तय की ॥२०॥ और जहाँ पर 'उन्मग्नजला' नदी 'निमग्नजला' नदीके साथ साथ दोनों तरफकी दीवारोंके कुण्डोंसे निकलकर सिन्धु नदीमें प्रविष्ट होती है उस स्थानपर चक्रवर्तीकी सेना जा पहुँची ॥२१॥ महाराज भरतेश्वर उन दोनों नदियों के किनारेके समीप ही सेना ठहराकर कौतुकके साथ उन दोनों नदियोंकी विषमता देखने लगे ॥२२॥ इन दोनोंमेंसे एक अर्थात् निमग्नजला तो लकड़ी आदिको शीघ्र ही नीचे ले जा रही है और दूसरी अर्थात् उन्मग्नजला प्रत्येक पदार्थको शीघ्र ही ऊपरकी ओर उछाल रही है । यद्यपि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं तथापि किसी प्रकार यहाँ आकर सिन्धु नदीमें मिल रही हैं ॥२३॥ इन नदियोंके उतरनेका उपाय क्या है ? इस प्रकार विचार करते हुए चक्रवर्तीने वहाँ खड़े खड़े ही शीघ्र ही अपने स्थपति (सिलावट) रत्नको बुलाया ॥२४॥ जिनका पानी ऊपर तथा नीचेकी ओर जा रहा है ऐसी उन दोनों नदियोंको देखते हुए सिलावट रत्नने उन्हे अपनी दृष्टिमात्रसे ही क्षणभरमें अंजलि भर जलके समान तुच्छ समझ लिया ॥२५॥ उसने समझ लिया कि इस उन्मग्नजला नदीको इसके नीचे रहनेवाला महावायु ऊपरकी ओर उछालता है और इस निमग्नजला नदीको उसके ऊपर रहनेवाला महावायु नीचेकी ओर ले जाता है ॥२६॥ इसलिये इन दोनोंका पुल बाँधनेके सिवाय और क्या उपाय हो सकता है ऐसा विचार कर उत्तम वैद्यके समान कार्यकुशल सिलावट रत्नने उन नदियोंके पार होनेका उपाय अर्थात् पुल बाँधनेका उपाय प्रारम्भ कर दिया ॥२७॥ उसने अपनी दिव्य शक्तिकी सामर्थ्यसे निर्जन वनोंमें जो कुछ बड़े बड़े वृक्ष थे वे मँगवाये । भावार्थ—अपने आश्रित देवोंके द्वारा सघन जंगलोंसे बड़े बड़े वृक्ष मँगवाये ॥२८॥ उसने मजबूत लकड़ियोंके द्वारा जलके भीतर मजबूत खम्भे खड़े कर उनपर पुल तैयार कर दिया ॥२९॥ अधिक समय लगनेपर सेनाके दुःख होगा इस बातका विचार कर उस गंभीर बुद्धिके धारक सिलावटने भरतेश्वरकी आज्ञा से क्षण भरमें ही पुल तैयार कर दिया था ॥३०॥ पुल तैयार होते ही सेनाओंने आनन्दसे कोलाहल किया और उसी समय चक्रवर्तीकी समस्त सेना उतरकर नदियोंके उस किनारे

१ यस्मिन् प्रदेशे । २ पूर्वापरभित्तिद्वयदण्डान् निर्गत्य । ३ प्रदेशम् । ४ काष्ठादि । ५ स तत्रदी
 द्वयम् ५०, ६०, ७०, ८०, ९० । ६ ददर्शेत्यर्थः । ७ उत्पतन्निपतएवत्वादञ्जलियुक्तजलवत्
 ८ अधोगमनवृत्तिः । ९ वधनात् । १० सेतूपक्रमम् । ११ आनयति स्म । १२ विन्यस्य
 १३ जलं स्थिरान् ५०, ६० । जले स्थिरान् ६० । १४ स्तम्भानाम् । १५ नेतुम् । १६ वनस्य पीठ
 भविष्यन्तीति विश्वस्य । १७ चिरकालेऽतीते सति । १८ अपरतीरम् ।

नाथकः सममन्त्रेणः प्रभुर्गजघटावृतः । महापथेन तेनैव जलदुर्गं व्यलङ्घयत् ॥३२॥
 ततः कतिपयैरेव प्रयाणेरतिवाहितैः^१ । गिरिदुर्गं विलङ्घ्योदगगुहाद्वारमवासदत् ॥३३॥
 निरर्गलीकृतं द्वारं^२ पौरस्त्यैरिभसाधनैः । व्यतीत्य प्रभुरस्याद्रेः श्रद्धुवास वनाबनिम्^३ ॥३४॥
 श्रद्धिशय्य गुहागर्भं चिरं भानुरिवोदरम् । लब्धं जन्मान्तरं मेने^४ निःसृतं सैनिकैर्बहिः ॥३५॥
 गृहेयमतिगृध्वैव^५ मिलित्वा^६ जन्तामिमाम् । जरणाश्विततो^७ नूनम् उज्जगाल^८ बहिः पुनः ॥३६॥
 व्यजनैरिव शाखाग्रैः बीजयन् वनवीरुधाम् । गुहोन्मणां चिरं खिन्नां चमूभाश्वासयन्मरुत् ॥३७॥
 तद्वनं पवनाधूतं चलच्छाखाकरोत्करैः । प्रभोरुपागमे तोषाभनतैव धृतार्तवम्^९ ॥३८॥
 पूर्ववत् पश्चिमे खण्डे बलाग्रण्या प्रसाधिते । विजेतुं मध्यमं खण्डं साधनैः प्रभुरुद्ययौ ॥३९॥
 न करैः पीडितो लोको न भुवः शोषितो रसः । नाकैर्णैव जनस्तप्तः प्रभुणाऽभ्युद्यताप्युदक्^{१०} ॥४०॥
 कौबेरि दिशमास्थाय^{११} तपत्येकान्ततः^{१२} करैः । भानुर्भरतराजस्तु भुवस्तापमपाकरोत् ॥४१॥
 कृतव्यूहानि^{१३} सैन्यानि संहतानि^{१४} परस्परम् । नातिभूमिं ययुर्जिष्णोः न स्वैरं परिवभुमुः ॥४२॥

पर जा पहुँची ॥३१॥ दूसरे दिन हाथियोंके समूहसे घिरे हुए महाराज भरतने अनेक राजाओं के साथ साथ उसी जलमय महामार्गसे कठिन रास्ता तय किया ॥३२॥ तदनन्तर कितने ही मुकाम चलकर और उस पर्वतरूपी दुर्ग (कठिन मार्ग)को उल्लंघन कर वे उस गुफाके उत्तर द्वारपर जा पहुँचे ॥३३॥ आगे चलनेवाली हाथियोंकी सेनाके द्वारा उधाड़े हुए उत्तर द्वारको उल्लंघन कर चक्रवर्तीने विजयार्थ पर्वतके वनकी भूमिमें निवास किया ॥३४॥ माताके उदर के समान गुहाके गर्भमें चिरकाल तक निवास कर वहाँसे बाहर निकले हुए सैनिकोंने ऐसा माना था मानो दूसरा जन्म ही प्राप्त हुआ हो ॥३५॥ सेनाको बाहर प्रकट करती हुई वह गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो पहले वह बड़ी भारी तृष्णा इस मनुष्य समूहको निगल गई थी परन्तु पचानेकी शक्ति न होनेसे अब उसे फिर बाहर उगल रही हो ॥३६॥ उस समय पंखोंके समान वनलताओंकी शाखाओंके अग्रभागसे हवा करता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता था मानो चिरकालतक गुफाकी गरमीसे दुःखी हुई सेनाको आश्वासन ही दे रहा हो ॥३७॥ जिसने ऋतु सम्बन्धी अनेक फल-फूल धारण किये हैं और जो वायुसे हिल रहा है ऐसा वह वन उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्तीके आनेपर संतुष्ट होकर हिलते हुए अपने शाखा रूपी हाथोंके समूहसे नृत्य ही कर रहा हो ॥३८॥ जब सेनापति पहलेकी तरह यहांके भी पश्चिम म्लेच्छ खण्डको जीत चुका तब महाराज भरत अपनी सेनाओंके द्वारा मध्यम म्लेच्छ खण्डको जीतनेके लिये उद्यत हुए ॥३९॥ यद्यपि भरत सूर्यके समान उत्तर दिशाकी ओर निकले थे तथापि जिस प्रकार सूर्य अपने कर अर्थात् किरणोंसे लोगोंको पीड़ित करता है, पृथिवी का रस अर्थात् जल सुखा देता है, और मनुष्योंको संतप्त करता है उस प्रकार उन्होंने अपने कर अर्थात् टेक्ससे लोगोंको पीड़ित नहीं किया था, पृथिवीका रस अर्थात् आनन्द नहीं सुखाया था-नष्ट नहीं किया था और न मनुष्योंको संतप्त अर्थात् दुःखी ही किया था ॥४०॥ सूर्य उत्तर दिशामें पहुँचकर अपनी किरणोंसे सन्ताप करता है परन्तु महाराज भरतने पृथिवीका संताप दूर कर दिया था ॥४१॥ जिनमें अनेक व्यूहोंकी रचना की गई है और जो परस्परमें मिली हुई हैं ऐसी भरतकी सेनाएँ न तो उनसे बहुत दूर ही जाती थीं और न स्वच्छन्दतापूर्वक

१ अपनीतैः । २ उत्तरगुहाद्वारम् । ३ पुरोगतैः । ४ वनभूमिम् । ५ मन्वते स्म । ६ अतिवाञ्छया । ७ निगरणं कृत्वा । ८ जीर्णशक्यभावात् । ९ उद्गलति स्म । १० ऋतौ भवम् आर्तवम् पुण्यादि । ११ धृतमार्तवं येन तत् । १२ उत्तरदिग्भागः । १३ उत्तरस्यां दिशि स्थित्वा । १४ नितराम् । १५ विहितरचनानि । १६ संबद्धानि मिलितानि वा ।

प्रसाधितानि दुर्गाणि कृतं चाशक्यसाधनम् । परचक्रमवष्टब्धं^१ चक्रिणो जयसाधनः ॥४३॥
 बलवान्नाभिधोक्तव्यो^२ रक्षणीयाश्च संश्रिताः । यतितव्यं क्षितित्राणे जिगीषोर्वत्तमोदृशम् ॥४४॥
 इत्यलङ्घ्यबलश्चक्रो चक्ररत्नमनुव्रजन् । कियतीमपि तां^३ भूमिम् अवाष्ट^४म्भीत् स्वसाधनः ॥४५॥
 तावच्च परचक्रेण^५ स्वचक्रस्य^६ पराभवम् । चिलातावर्तनामानौ प्रभू शुश्रुवतुः किल ॥४६॥
 अभूतपूर्वमेतन्नौ^७ परचक्रमुपस्थितम् । व्यसनं प्रतिकर्तव्यम् इत्यास्तां सङ्गतौ मिथः ॥४७॥
 ततो धनुर्धरप्रायं सहाश्वीयं सहास्तिकम् । इतोऽमुतश्च संजग्मे^८ तत्सैन्यं म्लेच्छराजयोः ॥४८॥
 कृतोच्चविग्रहारम्भौ संरम्भं प्रतिपद्य तौ । विक्रम्य^९ चक्रिणः सैन्यैः भेजतुर्विजिगीषुताम् ॥४९॥
 तावच्च सुधियो धीराः कृतकार्यश्च मन्त्रिणः । निषिध्य तौ रणारम्भाद् वचः पथ्यमिदं जगुः ॥५०॥
 न किञ्चिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यता^{१०} । अनालोचितकार्याणां दवीयस्यो^{११}र्थसिद्धयः ॥५१॥
 कोऽयं प्रभुरवष्टम्भो कुतस्त्यो वा कियद्वलः^{१२} । बलवान् इत्यनालोच्य नाभिषेण्यः^{१३} कथञ्चन^{१४} ॥५२॥
 विजयार्द्धचलोलङ्घी नैव सामान्यमानुषः । दिव्यो^{१५} दिव्यानुभावो^{१६} वा भवेदेष न संशयः ॥५३॥

इधर उधर ही घूमती थीं ॥४२॥ चक्रवर्तीकी विजयी सेनाओंने अनेक किले अपने वश किये, जिन्हें कोई वश नहीं कर सकता था, ऐसे राजाओंको वश किया और शत्रुओंके देश घेरे ॥४३॥ बलवान्के साथ युद्ध नहीं करना, शरणमें आये हुएकी रक्षा करना, और अपनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें प्रयत्न करना यही विजयकी इच्छा करनेवाले राजाके योग्य आचरण हैं ॥४४॥ इस प्रकार जिनकी सेना अथवा पराक्रमको कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे पीछे जाते हुए अपनी सेनाके द्वारा वहाँकी कितनी ही भूमिको अपने आधीन कर लिया ॥४५॥ इतनेमें ही चिलात और आवर्त नामके दो म्लेच्छ राजाओंने शत्रुओंकी सेनाके द्वारा अपनी सेनाका पराभव होता सुना ॥४६॥ हमारे देशमें शत्रुओंकी सेना आकर उपस्थित होना यह हम दोनोंके लिये बिलकुल नई बात है, इस आये हुए संकटका हमें प्रतिकार करना चाहिये ऐसा विचार कर वे दोनों ही म्लेच्छ राजा परस्पर मिल गये ॥४७॥ तदनन्तर जिसमें प्रायः करके धनुष धारण करनेवाले योद्धा हैं, तथा जो हाथियों और घोड़ोंके समूहसे सहित हैं ऐसी उन दोनों राजाओंकी सेना इधर उधरसे आकर इकट्ठी मिल गई ॥४८॥ जिन्होंने भारी युद्ध करनेका उद्योग किया है ऐसे वे दोनों ही राजा क्रोधित होकर तथा पराक्रम प्रकट कर चक्रवर्तीकी सेनाओंके साथ विजिगीषुपनको प्राप्त हुए अर्थात् उन्हें जीतनेकी इच्छासे उनके प्रतिद्वन्द्वी हो गये ॥४९॥ इसीके बीच, बुद्धिमान् धीरवीर तथा सफलतापूर्वक कार्य करनेवाले मन्त्रियोंने उन दोनों राजाओंको युद्धके उद्योगसे रोककर नीचे लिखे अनुसार हितकारी वचन कहे ॥५०॥ हे प्रभो, सिद्धिकी इच्छा करनेवालोंको बिना विचारे कुछ भी नहीं करना चाहिये क्योंकि जो बिना विचारे कार्य करते हैं उनके कार्योंकी सिद्धि बहुत दूर हो जाती है ॥५१॥ हमारी सेनाको रोकनेवाला यह कौन राजा है ? कहाँसे आया है ? इसकी सेना कितनी है और यह कितना बलवान् है इन सब बातोंका विचार किये बिना ही उगकी सेनाके सम्मुख किसी भी तरह नहीं जानना चाहिये ॥५२॥ विजयार्थ पर्वतको उल्लंघन करनेवाला यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है, यह या तो कोई देव होगा या कोई दिव्य प्रभावका धारक होगा इसमें

१ व्याप्तम् । २ अभिषेणनीयः । ३ महतीम् । ४ वेष्टयति स्म । ५ परसैन्येन । ६ स्वराष्ट्रस्य । ७ आशयोः । ८ संगतमभूत् । ९ अधिकां शक्तिं विधाय । १० सिद्धिमिच्छता । ११ दूरतराः । १२ कियद्वल अ०, स०, द० । १३ सेनया अभियातव्यः । १४ सर्वथा । १५ देवः । १६ दिव्यमामर्थ्यः ।

तदास्तां समरारम्भः सम्भाव्यो दुर्गसंश्रयः । तदाश्रितैरनायासात् जेतुं शक्यो रिपुर्महान् ॥५४॥
 स्वभावदुर्गमेतन्नः क्षेत्रं केनाभिभूयते । हिमवद्विजयाद्धाद्रिगङ्गासिन्धुतटावधि ॥५५॥
 अन्यच्च देवताः सन्ति सत्यमस्मत्कुलोचिताः । नागामेघमुखा नाम ते निरुन्धन्तु शात्रवान् ॥५६॥
 इति तद्वचनाज्जातजयाशंसो जनेश्वरी । देवतानुस्मृतिं सद्यः चक्रतुः कृतपूजनौ ॥५७॥
 ततस्ते जलदाकारधारिणो घनगजिताः । परितो वृष्टिमातेनः सानिलामनिलाशनाः ॥५८॥
 तज्जलं जलदोद्गोर्णं बलमाप्लाव्य जैष्ठ्यवम् ॥ अधस्तिर्यग्धोऽर्ध्वं च समस्तादभ्यदुद्रवत् ॥५९॥
 न चेल'क्तोपमस्यासीत् शिबिरे वृष्टिरीशितुः । बहिरैकार्णवं कृत्स्नम् अकरोद् व्याप्य रौदसी ॥६०॥
 छत्ररत्नमुपर्यासीच्चर्मरत्नमधोऽभवत् । ताभ्यामावेष्ट्य तद्दुर्द्धं बलं स्पृ'तभिवारभितः ॥६१॥
 मध्येरत्नद्वयस्यास्य स्थितमासप्तमाद् दिनात् । जलप्लवे बलं भर्तुः व्यक्तमण्डायितं ॥६२॥
 चक्ररत्नकृतोद्योते रुद्धद्वादशयोजने । तत्राण्डके स्थितं जिष्णोः निराबाधमभूद् बलम् ॥६३॥
 प्रविभक्तचतुर्द्वारं सेनान्यान्तःसुरक्षितम् । बहिर्जयकुमारेण ररक्षे किल तद्बलम् ॥६४॥
 तदा पटकुटीभेदाः १० कीटिकाश्च विशङ्कटाः ११ । कृताः स्थपतिरत्नेन रथाश्चाम्बर'गोचराः ॥६५॥

कुछ भी सन्देह नहीं है ॥५३॥ इसलिये युद्धका उद्योग दूर रहे, हम लोगोको किसी किलेका आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि किलेका आश्रय लेनेवाले पुरुष बड़ेसे बड़े शत्रुको सहज ही जीत सकते हैं ॥५४॥ हिमवान् पर्वतसे विजयार्थ पर्वत तक और गङ्गा नदीसे सिन्धु नदीके किनारे तक का यह हमारा क्षेत्र स्वभावसे ही किलेके समान है, इसका पराभव कौन कर सकता है ? इसे कौन जीत सकता है ? ॥५५॥ और दूसरी बात यह भी है कि हमारी कुल-परम्परासे चले आये नागमुख और मेघमुख नामके जो देव हैं वे अवश्य ही शत्रुओंको रोक लेंगे ॥५६॥ इस प्रकार मन्त्रियोंके वचनोंसे जिन्हें विजय करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई है ऐसे उन दोनों राजाओं ने शीघ्र ही पूजन कर देवताओंका स्मरण किया ॥५७॥ स्मरण करते ही नागमुख देव, बादलों का आकार धारण कर घनघोर गर्जना करते हुए चारों ओर भ्रंभा वायुके साथ साथ जलकी वृष्टि करने लगे ॥५८॥ मेघोंके द्वारा बरसाया हुआ वह जल भरतेश्वरकी सेनाको डुबोकर ऊपर नीचे तथा अगल बगल चारों ओर बहने लगा ॥५९॥ यद्यपि वह जल इतना अधिक बरसा था कि उसने आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर बाहर एक समुद्र सा बना दिया था परन्तु चक्रवर्तीके शिबिर (छावनी)में वस्त्रका एक टुकड़ा भिगोने योग्य भी वृष्टि नहीं हुई थी ॥५९-६०॥ उस समय भरतकी सेनाके ऊपर छत्ररत्न था और नीचे चर्मरत्न था, उन दोनों रत्नोंसे घिरकर रकी हुई सेना ऐसी मालूम होती थी मानो चारों ओरसे सी ही दी गई हो अर्थात् चर्मरत्न और छत्ररत्न इन दोनोंमें चारों ओरसे टांके लगाकर बीचमें ही रोक दी गई हो ॥६१॥ उस जलके प्रवाहमें भरतकी वह सेना सात दिनतक दोनों रत्नोंके भीतर ठहरी थी और उस समय वह ठीक अंडाके समान जान पड़ती थी ॥६२॥ जिसमें चक्ररत्नके द्वारा प्रकाश किया जा रहा है ऐसे उस बारह योजन लम्बे-चौड़े अण्डाकार तम्बूमें ठहरी हुई भरतकी सेना सब तरहकी पीड़ासे रहित थी ॥६३॥ उस बड़े तम्बूमें चारों दिशाओंमें चार दरवाजे विभक्त किये गये थे, उसके भीतरकी रक्षा सेनापतिने की थी और बाहरसे जय-कुमार उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥६४॥ उस समय सिलावट रत्नने अनेक प्रकारके कपड़े के तम्बू, घासकी बड़ी बड़ी भोपड़ियां और आकाशमें चलनेवाले रथ भी तैयार किये थे ॥६५॥

१ गाडगसिन्धु-ल० । २ नागमेघ-ल० । ३ नागाः । ४ जिष्णोश्चक्रिणः सम्बन्धि । ५ अभिधा-
 बति स्म । ६ पटमाद्रं यथा भवति । ७ ऊतम् तन्तुना सम्बद्धमित्यर्थः । ८ अण्डमिवाचरितम् ।
 ९ पञ्जरे । १० कीटिकाः कुटीराः, शालाः । किटिकाश्च ल०, द०, अ०, प०, स० ।
 ११ विशालाः । १२ रथाः संचरगोचराः प० ।

बहिः कलकलं श्रुत्वा किमेतदिति पार्थिवाः । करं व्यापारयामासुः क्रुद्धाः कौक्षेयकं प्रति ॥६६॥
 ततश्चक्रधरादिष्ठा^१ गणबद्धामरास्तदा । नागानुत्सारयामासुः^२ आरुष्टा^३ हुङ्कृतेः क्षणात् ॥६७॥
 बलवान् कुरुवर्जोऽपि^४ मुषतसिंहगजितः । दिव्यास्त्रैरजयन्नागान् रथं दिव्यमधिष्ठितः ॥६८॥
 तदा रणाङ्गणे वर्षन् शरधारामनारतम् । स रणे धृतसन्नाहः^५ प्रावृषेण्य^६ इवाम्बुदः ॥६९॥
 तन्मुक्ता विशिखा दीप्रा रंजिते समराजिरे^७ । द्रष्टुं तिरोहितान्नागान् दीपिका इव बोधिताः ॥७०॥
 ततो निववृते^८ जित्वा नागान् मेघमुखानसौ । कुमारो रणसरम्भात् प्राप्तमेघस्वरश्रुतिः^९ ॥७१॥
 कुरुवर्जस्तदा स्फूर्जत्पञ्च^{१०}स्तनितोजितैः । गजितैर्निर्जयन् मेघमुखान् ख्यातस्तदाज्ञया ॥७२॥
 तोषितैरवदानेन^{११} घोषितोऽस्य जयोऽमरैः । दग्धनदुन्दुभिध्वानबधिरोकृतदिङ्मुखैः ॥७३॥
 ततो दृष्टापदानोऽयं^{१२} तुष्टुवे^{१३} चक्रिणा मुहुः । नियोजितश्च सत्कृत्य वीरो वीराश्रणीपदे ॥७४॥
 इन्द्रजाल इवामुष्मिन् व्यतिक्रान्तेऽहिविल्वे ।^{१४} प्रत्यापत्तिमगाद् भूयो बलमाविर्भवज्जयम् ॥७५॥
 विध्वस्ते पन्नगानीके विबलौ म्लेच्छतायकौ । चक्रिणश्चरणावेत्य भयभ्रान्तौ प्रणमतुः ॥७६॥
 धनं यशोधनं चास्मै कृतागः परिशोधनम्^{१५} । दत्त्वा प्रसीद देवेति तौ भृत्यत्वमुपेयतुः ॥७७॥

बाहर कोलाहल सुनकर 'यह क्या है' इस प्रकार कहते हुए राजाओंने क्रोधित होकर अपना हाथ तलवारकी ओर बढ़ाया ॥६६॥ तदनन्तर, उस समय जिन्हें चक्रवर्तीने आदेश दिया है ऐसे गणबद्ध जातिके देवोंने क्रुद्ध होकर अपने हुंकार शब्दोंके द्वारा क्षणभरमें नागमुख देवोंको हटा दिया ॥६७॥ अतिशय बलवान् कुरुवंशी राजा जयकुमारने भी दिव्य रथपर बैठकर सिंह-गर्जना करते हुए, दिव्य शस्त्रोंके द्वारा उन नागमुख देवोंको जीता ॥६८॥ उस समय युद्धके आंगनमें निरन्तर बाणोंकी वर्षा करता हुआ और शरीरपर कवच धारण किये हुए वह जयकुमार वर्षाकृतके बादलके समान सुशोभित हो रहा था ॥६९॥ जयकुमारके द्वारा छोड़े हुए वे देदीप्यमान बाण युद्धके आंगनमें ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो छिपे हुए नागमुखों को देखनेके लिये जलाये हुए दीपक ही हों ॥७०॥ तदनन्तर वह जयकुमार नागमुख और मेघ-मुख देवोंको जीतकर तथा मेघेश्वर नाम पाकर उस युद्धसे वापिस लौटा ॥७१॥ उस समय वह जयकुमार बिजली गिरानेके पहले भयंकर शब्द करते हुए बादलोंकी गर्जनाके समान अपनी तेज गर्जनाके द्वारा मेघमुख देवोंको जीतता हुआ मेघेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥७२॥ बार-बार बजते हुए दुन्दुभियोंके शब्दोंसे जिन्होंने समस्त दिशाएँ बहिरी कर दी हैं ऐसे देवों ने इस जयकुमारके पराक्रमसे सन्तुष्ट होकर इसका जयजयकार किया था ॥७३॥ तदनन्तर जिसका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे इस जयकुमारकी चक्रवर्तीने भी बार-बार प्रशंसा की और उस वीरका सत्कार कर उन्होंने उसे मुख्य शूरवीरके पदपर नियुक्त किया ॥७४॥ इन्द्र-जालके समान वह नागमुख देवोंका उपद्रव शान्त हो जानेपर जिसकी जीत प्रकट हो रही है ऐसी वह भरतकी सेना पुनः स्वस्थताको प्राप्त हो गई अर्थात् उपद्रव टल जानेपर सुखका अनुभव करने लगी ॥७५॥ नागमुख देवोंकी सेनाके भाग जानेपर वे दोनों ही चिलात और आवर्त नामके म्लेच्छ राजा निर्बल हो गये और भयसे घबड़ाकर चक्रवर्तीके चरणोंके समीप आकर प्रणाम करने लगे ॥७६॥ उन्होंने अपराध क्षमा कराकर भरतके लिये बहुत सा धन तथा यशरूपी धन दिया और 'हे देव, प्रसन्न होइए' इस प्रकार कहकर उनकी दासता स्वीकार

१ खड्गम् । २ आज्ञापिताः । ३ पालयितान् चक्रुः । ४ क्रुद्धाः । ५ जयकुमारः । ६ धृतकवचः । ७ प्रावृषि भवः । ८ समरांगणे । ९ न्यवृत्तत् । १० प्राप्तमेघस्वरसंज्ञः । ११ मेघः । १२ पराक्रमेण । १३ दृष्टावदानोऽयं स०, ल०, द० । दृष्टावदानोऽयं द०, प० । दृष्टासामर्थ्यः । १४ स्तूयते स्म । १५ पूर्वस्थितिम् । स्वरूपान् प्रच्युतस्य पुनः स्वरूपे अवस्थानम्, आश्वामित्यर्थः । १६ कृतदीपस्य परिशोधनं यस्मात् तत् ।

निस्सपत्नां महीमेनां कुर्वन्नर्वाङ्निधीश्वरः^१ । आ हिमाद्रितटाद् भूयः प्रवाणमकरोद् बलैः ॥७८॥
 सिन्धुरोधोभुवः^२ क्षुब्धन्^३ प्रयाणे जयसिन्धुरैः । सिन्धुप्रपातमासीदन्^४ सिन्धुदेव्या न्यषेचि^५ सः ॥७९॥
 ज्ञात्वा समागतं जिष्णुं देवी स्वावासगोचरम् । उपेयाय^६ समुद्धृत्य रत्नार्घं सपरिच्छदा^७ ॥८०॥
 पुण्यः^८ सिन्धुजलैरेनं हेमकुम्भशतोद्धतः । साभ्यविञ्चत् स्वहस्तेन भद्रासननिवेशितम् ॥८१॥
 कृतमङ्गलनेपथ्यम् अभ्यनन्दज्जयाशिषा । देव त्वद्दर्शनादद्य पूताऽस्मोत्यवदच्च तम् ॥८२॥
 तत्र भद्रासनं दिव्यं लब्ध्वा तदुपदौकितम् । कृतानुव्रजनां^९ किञ्चित् सिन्धुदेवीं व्यसर्जयत् ॥८३॥
 हिमाचलमनुप्राप्तः तत्तटानि जयं^{१०} जयम् । कैश्चित्प्रयाणकैः प्रापत् हिमवत्कूटसन्निधिम्^{११} ॥८४॥
 पुरोहितसखस्तत्र कृतोपवसनक्रियः । अध्यशेत^{१२} शुचिं शय्यां दिव्यास्त्राण्यधिवासयन्^{१३} ॥८५॥
 विधिरेष नचाशक्तिरिति^{१४} सम्भावितो नृपैः । स राज्यमकरोच्चापं^{१५} वज्रकाण्डमवततः ॥८६॥
 तत्रामोघं शरं दिव्यं^{१६} समधत्तोर्ध्वगामिनम् । वैशाखस्थानमास्थाय^{१७} स्वनामाक्षरचिह्नितम् ॥८७॥
 मुक्तसिंहप्रणादेन यदा मुक्तः शरोऽमुना^{१८} । तदा सुरगणंस्तुष्टः मुक्तोऽस्य कुसुमाञ्जलिः ॥८८॥

की ॥७७॥ इस समस्त पृथिवीको शत्रुरहित करते हुए प्रथम निधिपति—चक्रवर्तिने फिर अपनी सेनाके साथ साथ हिमवान् पर्वतके किनारे तक गमन किया ॥७८॥ गमन करते समय अपने विजयी हाथियोंके द्वारा सिन्धु नदीके किनारेकी भूमिको खूँदते हुए भरतेश्वर जब सिन्धुप्रपात पर पहुँचे तब सिन्धु देवीने उनका अभिषेक किया ॥७९॥ वह देवी भरतको अपने निवास स्थानके समीप आया हुआ जानकर रत्नोंका अर्घ लेकर परिवारके साथ उनके पास आई थी ॥८०॥ और उसने अपने हाथसे सुवर्णके सैकड़ों कलशोंमें भरे हुए सिन्धु नदीके पवित्र जलसे भद्रासनपर बैठे हुए महाराज भरतका अभिषेक किया था ॥८१॥ अभिषेक करनेके बाद उस देवीने मंगलरूप वस्त्राभूषण पहने हुए महाराज भरतको विजयसूचक आशीर्वादों से आनन्दित किया तथा यह भी कहा कि हे देव, आज आपके दर्शनसे मैं पवित्र हुई हूँ ॥८२॥ वहाँ उस सिन्धु देवीका दिया हुआ दिव्य भद्रासन प्राप्त कर भरतने आगेके लिये प्रस्थान किया और कुछ दूर तक पीछे पीछे आती हुई सिन्धु देवीको बिदा किया ॥८३॥ हिमवान् पर्वत के समीप पहुँचकर उसके किनारोंको जीतते हुए भरत कितने ही मुकाम चलकर हिमवत् कूट के निकट जा पहुँचे ॥८४॥ वहाँ उन्होंने पुरोहितके साथ साथ उपवास कर और दिव्य अस्त्रों की पूजा कर डामकी पवित्र शय्यापर शयन किया ॥८५॥ अस्त्रोंकी पूजा करना यह एक प्रकारकी विधि ही है, कुछ चक्रवर्तीका असमर्थपना नहीं है, ऐसा विचार कर राजाओंने जिनका सन्मान किया है ऐसे भरतराजने बिना प्रयत्नके ही अपना वज्रकाण्ड नामका धनुष डोरीसे सहित किया ॥८६॥ और वैशाख नामका आसन लगाकर अपने नामके अक्षरोंसे चिह्नित तथा ऊपरकी ओर जानेवाला अपना अमोघ (अव्यर्थ) दिव्य बाण उस धनुषपर रक्खा ॥८७॥ जिस समय सिंहनाद करते हुए भरतने वह बाण छोड़ा था उस समय देवीके समूहने संतुष्ट होकर उनपर फूलोंकी अञ्जलियाँ छोड़ी थीं, अर्थात् फूलोंकी वर्षा की थी ॥८८॥

१ उत्कृष्टनिधिपतिः । २ बरे त्वर्वागित्यभिधानात् । ३ सिन्धुनदीतीरभूमीः । ४ सञ्चूर्णयन् । ५ सिन्धुनदीपतनकुण्डम् । ६ आगच्छन् । ७ न्यषेचि द० । सेवते स्म । ८ उपाययी । ९ सपरिकरा । १० पवित्रैः । ११ विहितानुगमनाम् । १२ जयन् जयन् ल०, अ०, इ०, । जयं जयन् प०, स० । १३ हिमवन्नामकूट । १४ अध्यशेते स्म । १५ मन्त्रैरभिपूजयन् । १६ शक्यभावो न । १७ मौर्वीसहितम् । १८ सन्धानमकरोत् । १९ वैशाखस्थाने स्थित्वा, वितस्त्यन्तरेण स्थिते पादद्वये विशाखाः, तथा चोक्तं धनुर्वेदे । वामपादप्रसारं दक्षिणसंकोचे प्रत्यलीढं दक्षिणजंवाप्रसारं वामसंकोचे चालीढम् । तुल्यपादयुग्मं समपदम् । वितस्त्यन्तरेण स्थिते पादद्वये विशाखाः, मण्डलाकृति पादद्वयं मण्डलम् । १९ चक्रिणा ।

स शरो दूरमुत्पत्य क्वचिदप्यस्वलङ्गतिः । संप्राप्यद्विमवत्कूटं तद्वेश्माकम्पयन् पतन् ॥६१॥
 स मागधवदाध्याय^१ जातचक्रधरागमः । उच्चचाल चलन्मौलिः तस्मिन्वासी सुरोत्तमः ॥६०॥
 सम्प्राप्तश्च तमुद्देशं यमध्यास्ते स्म चक्रभून् । दरोपरुद्ध^२ संरम्भो धनुर्ध्यासकृत्स्पृशन् ॥६१॥
 तुङ्गगोऽयं हिमवानद्रिः श्रलङ्घ्यश्च पृथग्जनैः^३ । लङ्घितोऽद्य त्वया देव त्वद्वृत्तमतिमानुषम्^४ ॥६२॥
 विप्रकुष्ठान्तराः क्वास्मदावासाः क्व भवच्छरः^५ । तथाप्याकम्पितास्तेन^६ पततैकपदे^७ वयम् ॥६३॥
 त्वत्प्रतापः शरव्याजात् उत्पतन् गगनाङ्गणम् । गणबद्धपदे कर्तुम् अस्मान् नाहूतवान् ध्रुवम् ॥६४॥
 विजिताब्धिः समाक्रान्तविजयार्द्धगुहोदरः । हिमाद्रिशिखरेष्वद्य जूम्भते ते जयोद्यमः^८ ॥६५॥
 जयवादोऽनुवादोऽयं^९ सिद्धदिविजयस्य ते । जयतात् नन्दताज्जिष्णो वद्विषीष्ट भवानिति ॥६६॥
 समुच्चरन् जयध्वानमुखरः स सुरैः समम् । प्रभुं सभाजयामास^{१०} सोपचारं सुरोत्तमः ॥६७॥
 अभिषिच्य च राजेन्द्रं राजवद्विधिना^{११} वदौ । गोशीर्षचन्दनं^{१२} सोऽस्मै सममौषधिमालया^{१३} ॥६८॥
 त्वद्भुक्तिवासिनो^{१४} देव दूरानमितमौलयः । देवास्त्वात्मानमन्त्येते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥६९॥

जिसकी गति कहीं भी स्खलित नहीं होती ऐसा वह वाण ऊपरकी ओर दूरतक जाकर वहाँपर रहनेवाले देवके भवनमें पड़कर उस भवनको हिलाता हुआ हिमवत्कूटपर जा पहुँचा ॥६१॥ मागध देवके समान कुछ विचार कर जिसने चक्रवर्तीका आगमन समझ लिया है ऐसा वहाँका रहनेवाला देव अपना मस्तक भुकाता हुआ चला ॥६०॥ और जिसने अपना कुछ क्रोध रोक लिया है ऐसा वह देव धनुषकी चापका स्पर्श करता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा जहाँपर कि चक्रवर्ती विराजमान थे ॥६१॥ वह देव भरतसे कहने लगा कि हे देव, यह हिमवान् पर्वत अत्यन्त ऊँचा है और साधारण पुरुषोंके द्वारा उल्लंघन करने योग्य नहीं है फिर भी आज आपने उसका उल्लंघन कर दिया है इसलिये आपका चरित्र मनुष्योंको उल्लंघन करनेवाला अर्थात् लोकोत्तर है ॥६२॥ हे देव, बहुत दूर बने हुए हम लोगोंके आवास कहाँ ? और आपका वाण कहाँ ? तथापि पड़ते हुए इस वाणने हम सबको एक ही साथ कम्पित कर दिया ॥६३॥ हे देव, यह आपका प्रताप वाणके व्याजसे आकाशमें उछलता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो हम लोगोंको गणबद्ध (चक्रवर्तीके आधीन रहनेवाली एक प्रकारकी देवोंकी सेना) देवोंके स्थानपर नियुक्त होनेके लिये बुला ही रहा था ॥६४॥ जिसने समुद्रको भी जीत लिया है और विजयार्थ पर्वतकी गुफाओंके भीतर भी आक्रमण कर लिया है ऐसा यह आपका विजय करने का उद्यम आज हिमवान् पर्वतके शिखरोंपर भी फैल रहा है ॥६५॥ हे प्रभो, आपका समस्त दिग्विजय सिद्ध हो चुका है इसलिये हे जयशील, आपकी जय हो, आप समृद्धिमान् हों और सदा बढ़ते रहें इस प्रकार आपका जयजयकार बोलना पुनरुक्त है ॥६६॥ इस प्रकार उच्चारण करता हुआ जो जय जय शब्दोंसे वाचाल हो रहा है ऐसा वह उत्तम देव अन्य अनेक उत्तम देवोंके साथ साथ सब तरहके उपचारोंसे भरतकी सेवा करने लगा ॥६७॥ तथा राजाओंके योग्य विधिसे राजाधिराज भरतका अभिषेक कर उसने उनके लिये औषधियोंके समूहके साथ गोशीर्ष नामका चन्दन समर्पित किया ॥६८॥ और कहा कि हे देव, आपके क्षेत्रमें रहनेवाले ये देव आपकी प्रसन्नताकी इच्छा करते हुए दूरसे ही मस्तक भुकाकर आपके लिये नमस्कार

१ सम्प्राप्यद्विम- ५०, ल० । २ विचार्येत्यर्थः । ३ हिमवत्कूटवासी । हेमवान्नाम । ४ ईष- स्वीडित । ५ सामान्यैः । ६ दिव्यमित्यर्थः । ७ दूर । ८ भवतो वाणः । ९ शरेण । १० युगपत् । ११ जयोद्योगः । १२ सार्थकं पुनर्वचनमनुवादः । १३ सम्भावयामास । १४ राजाहं- विधानेन । १५ हरिचन्दनम् । १६ वनपुष्पमालया । १७ तव पावनक्षेत्रवासिनः ।

धेहि^१ देव ततोऽस्मात् प्रसादतरतां दूधम् । स्वामिप्रसादलाभो हि वृत्तिस्वाभो^२ऽनुजीविनाम्^३ ॥१००॥
निदेशं^४ रचितैश्चास्मान् सस्मादयितुमर्हसि । वृत्तिस्वाभादपि प्रायः तस्मात्^५ किङ्ककरैर्मतः ॥१०१॥
मायकप्रति^६ तदाकथं^७ स तानमरसरथान् । व्यसर्जयत्सर्वतत्कृतं यथास्वं कृतमाननान् ॥१०२॥
हिमयज्जयशंसीनि मङ्गलान्यस्य किङ्कराः । जगुस्तत्कुञ्जप्रदेशेषु^८ स्वैरमारब्धमूर्च्छना ॥१०३॥
असकृत् किङ्करस्त्रीणाम् आधुव्यानाः स्तनावृतीः^९ । सरोवीविभिदो नन्दम् आबन्तस्तद्वनानिलाः ॥१०४॥
स्थलादिजनीयनाद्विष्वक् किरन् किञ्जल्कजं रजः । हिमो हिमाद्रिकुञ्जैर्भ्यः तं तिषेवे समीरणः ॥१०५॥
स्थलान्भोषहिणीवास्य कीर्तिः साकं^{१०} जयश्रिया । हिमाचलनिकुञ्जेषु पप्रये^{११} दिग्जयाजिता ॥१०६॥
हिमाचलस्थलेष्वस्य धृतिरासीत् प्रपद्यतः । कृतोपहारकृत्येषु^{१२} स्थलाभोर्जविकस्वरैः ॥१०७॥
तनुत्तैर्वृत्तिमाक्रान्तदिकृचकं विवृतायतिम्^{१३} । स्थण्डिलान्तपरत्नद्वि हिमाद्रिं बह्वर्चस्त^{१४} सः ॥१०८॥

कर रहे हैं ॥१०९॥ इसलिये हे देव, हम लोगोंपर प्रसादतापे चञ्चल हुई दृष्टि डालिये क्योंकि स्वामीकी प्रसन्नता प्राप्त होना ही सेवक लोगोंकी आजीविका प्राप्त होना है । भावार्थ—स्वामी लोग सेवकोंपर प्रसन्न रहें यही उनकी उचित आजीविका है ॥१००॥ हे स्वामिन्, आप उचित आज्ञाओंके द्वारा हम लोगोंको सन्मानित करनेके योग्य हैं अर्थात् आप हम लोगोंको उचित आज्ञाएँ दीजिये क्योंकि सेवक लोग स्वामीकी आज्ञा मिलनेको आजीविका (तनखाह)की प्राप्तिसे भी कहीं बढ़कर मानते हैं ॥१०१॥ इस प्रकारके उस देवके वचनोंकी प्रशंसा करते हुए भरतने उन सब उत्तम देवोंका सत्कार किया और सबको अपने आधीन कर विदा कर दिया ॥१०२॥ उस समय अपने इच्छानुसार स्वर्गोंका चढ़ाव-उतार करनेवाले किन्नर देव उस पर्वतके लतागृहोंके प्रदेशोंमें 'भरतने हिमवान् देवको जीत लिया है' इस बातको सूचित करने-वाले मंगलगीत गा रहे थे ॥१०३॥ उस समय वहाँ किन्नर देवोंकी स्त्रियोंके स्तन ढकनेवाले वस्त्रोंको बार-बार हिलाता हुआ तथा तालाबकी तरंगोंको छिन्न भिन्न करता हुआ उस हिमवान् पर्वतके बनोंका वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥१०४॥ स्थल कमलिनियोंके बनके चारों ओर केशरसे उताप हुआ रज फैलाता हुआ तथा हिमवान् पर्वतके लतागृहोंसे आया हुआ शीतल वायु महाराज भरतकी सेवा कर रहा था ॥१०५॥ दिग्दिजय करनेसे प्राप्त हुई भरतकी कीर्ति जयलक्ष्मीके साथ साथ स्थलकमलिनियोंके समान हिमवान् पर्वतके लतागृहोंमें फैल रही थी ॥१०६॥ जिन्होंने फूले हुए स्थल-कमलोंसे उपहारका काम किया है ऐसे हिमवान् पर्वतके स्थलोंमें चारों ओर देखते हुए भरतको बहुत ही संतोष होता था ॥१०७॥ वह हिमवान् पर्वत ठीक भरतके समान था क्योंकि जिस प्रकार भरत उच्चैर्वृत्ति अर्थात् उत्कृष्ट व्यवहार धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह पर्वत भी उच्चैर्वृत्ति अर्थात् बहुत ऊँचा था, जिस प्रकार भरतने अपने तेजसे समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थीं उसी प्रकार उस पर्वतने भी अपने विस्तार से समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थीं, जिस प्रकार भरत आयति अर्थात् उत्तम भक्तिव्यवस्था (भविष्यत्काल) धारण करते थे उसी प्रकार वह पर्वत भी आयति अर्थात् लम्बाई धारण कर रहा था और जिस प्रकार भरतके पास अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थीं उसी प्रकार उस पर्वत के पास भी अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थीं । इस प्रकार अपनी समानता रखनेवाले उस हिमवान्

१ कुम्भ । २ जीवितलाभः । 'आजीवो जीविका वाता वृत्तिर्वतनजीवनं' इत्यभिधानात् ।

३ सेवानाम् । ४ शासनः । 'अपवादस्तु निदेशो निदेशः शासनं च सः । शिष्टिद्वयाच्च' इत्यभिधानात् ।

५ आज्ञानाम् । ६ पूजयन् । ७ तद्देवस्य वचनम् । ८ हिमवत्त्रिकुञ्जप्रदेशेषु । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा बलीये जनादिभिर्हितादरे' इत्यभिधानात् ।

९ उरीजाच्छादनवस्त्राणि । १० सह । 'साकं सत्रा समं गतं' इत्यभिधानात् । ११ प्रकुण्डीऽभवत् । १२ त्रिहिमपुण्योपहारव्यापारेण । १३ वृत्तव्यागमम् ।

१४ बहुतायतः । १ ।

अत्रान्तरे^१ गिरीन्द्रेऽस्मिन् व्यापारितदृशं प्रभुम् । विनोदयितुमित्युच्चैः पुरोधा गिरमभ्यधात् ॥१०६॥
 हिमवानयमुत्तुङ्गः सङ्गतः सततं श्रिया^२ । कुलक्षोणीभूतां धर्यो^३ धत्ते युष्मदनुक्रियाम्^४ ॥११०॥
 अहो महानयं शैली दुरारोहो दुर्त्तरः^५ । शरसन्धानमात्रेण सिद्धो^६ युष्मन्महोवयात् ॥१११॥
 चित्रैरलङ्कृता रत्नैः अस्य श्रेणी हिरण्मयी । शतयोजनमात्रोच्चा दङ्कच्छिन्नेष भात्यसी ॥११२॥
 स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवम् । स्थितोऽयं गिरिराभाति मानदण्डायितो भुवः ॥११३॥
 'द्विविस्तृतोऽयमद्रीन्द्रो भरताद् भरतर्षभ'^७ । मूले चोपरिभागे च तुल्यविस्तारसम्मतिः^८ ॥११४॥
 अस्यानुसानु रम्येयं वनराजी विराजते । शश्वदध्युषिता सिद्धविद्याधरमहोरगैः ॥११५॥
 तदाभोगा^९ विभात्यस्थ ज्वलन्मणिविचित्रिताः । चित्रिता इव संक्रान्तैः स्वर्वधूप्रतिबिम्बकैः ॥११६॥
 पर्यटन्ति तटेष्वास्य सप्रेयस्यो^{१०} नभश्चराः । स्वरसंभोगयोग्येषु हारिर्भिल्लितिकागूहैः ॥११७॥
 विविक्त^{११} रमणीयेषु सानुष्वस्य धृतोत्सवाः । न धृति दधतेऽन्यत्र गीर्वाणाः साप्सरोगणाः ॥११८॥

पर्वतको भरतने बहुत कुछ माना था—आदरकी दृष्टिसे देखा था ॥१०८॥ इसी बीचमें, जब कि महाराज भरत अपनी दृष्टि हिमवान् पर्वतपर डाले हुए थे—उसकी शोभा निहार रहे थे तब पुरोहित उन्हें आनन्दित करनेके लिये नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट वचन कहने लगा ॥१०९॥ हे प्रभो, यह हिमवान् पर्वत बहुत ही उत्तुङ्ग अर्थात् ऊँचा है, सदा श्री अर्थात् शोभा से सहित रहता है और कुलक्षोणीभूत् अर्थात् कुलाचलोंमें श्रेष्ठ है इसलिये आपका अनुकरण करता है—आपकी समानता धारण करता है क्योंकि आप भी तो उत्तुङ्ग अर्थात् उदारमना हैं, सदा श्री अर्थात् राज्यलक्ष्मीसे सहित रहते हैं और कुलक्षोणीभूत् अर्थात् वंशपरम्परासे आये हुए राजाओंमें श्रेष्ठ हैं ॥११०॥ अहा, कितना आश्चर्य है कि यह बड़ा भारी पर्वत, जो कि कठिनाईसे चढ़ने योग्य है और जिसका पार होना अत्यन्त कठिन है, डोरीपर बाण रखते ही आपके पुण्य प्रतापसे आपके वश हो गया है ॥१११॥ इसकी सुवर्णमयी श्रेणी अनेक प्रकार के रत्नोंसे सुशोभित हो रही है, सौ योजन ऊँची है और ऐसी जान पड़ती है मानो टांकीसे गढ़ कर ही बनाई गई हो ॥११२॥ अपने पूर्व और पश्चिमके कोणोंसे 'लवण समुद्रमें प्रवेश कर' पड़ा हुआ यह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो पृथिवीके नापनेका एक दण्ड ही हो ॥११३॥ हे भरतश्रेष्ठ, यह श्रेष्ठ पर्वत भरतक्षेत्रसे दूने विस्तारवाला है और मूल, मध्य तथा ऊपर तीनों भागोंमें इसका एक समान विस्तार है ॥११४॥ जिसमें सिद्ध, विद्याधर और नागकुमार निरन्तर निवास करते हैं ऐसी यह मनोहर वनकी पंक्ति इस पर्वतके प्रत्येक शिखरपर शोभायमान हो रही है ॥११५॥ देदीप्यमान मणियोंसे चित्र विचित्र हुए इस पर्वतके किनारेके प्रदेश बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे हैं और भीतर पड़ते हुए देवांगनाओंके प्रतिबिम्बोंसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो उनमें अनेक चित्र ही खींचे गये हों ॥११६॥ सुन्दर लतागूहोंसे अपनी इच्छानुसार उपभोग करने योग्य इस पर्वतके किनारोंपर अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर लोग टहल रहे हैं ॥११७॥ जो देव लोग अपनी अप्सराओंके साथ इस पर्वतके निर्जन पवित्र और रमणीय किनारोंपर क्रीड़ा कर लेते हैं फिर उन्हें किसी दूसरी जगह संतोष नहीं होता

१ अस्मिन्नवसरे । २ श्रीदेव्या लक्ष्म्या च । ३ मुख्यः । ४ तवानुकरणम् । ५ अवतरितुमशक्यः । ६ राट्टो ल० । ७ द्विगुणविस्तारः । ८ भरतश्रेष्ठः । ९ तुल्या विस्तार—ल०, द० । १० सानुविस्ताशः । ११ प्रियतमासहिताः । १२ पवित्र । 'विविक्तौ पूतविजनी' इत्यभिधानात् ।

पर्यन्तेऽस्य^१ वनोद्देशा विकासि कुसुमस्मिताः । हसन्तीवामरोद्यानश्रियमात्सीयया श्रिया ॥११६॥

स्वेन मूर्ध्ना विभर्त्येष श्रियं नित्यानपायिनीम् ।

स्मात्तः^२ स्मरन्ति यां शक्याः सौभाग्यमदकषिणीम् ॥१२०॥

मूर्ध्नि पद्महृदोऽस्यास्ति धृतश्रीर्बहुवर्णनः । प्रसन्नवारोऽक्षकुल्लहैमपङ्कजमण्डनः ॥१२१॥

ह्रस्वस्यास्य पुरःप्रत्यक्तोरण^३द्वारनिर्गते । गङ्गासिन्धू महानद्यौ धत्तेऽयं धरणीधरः ॥१२२॥

सरितं रोहितास्यां च दधत्येष शिलोच्चयः । तदुक्तोरण^४द्वारास्त्रिःसुत्योदङ्मुखी^५ गताम् ॥१२३॥

महापगाभिरित्याभिः अलङ्घयाभिर्विभात्ययम् । तिसृभिः शक्तिभिः स्वं वा भूभृद्भावं विभावयन् ॥१२४॥

शिखरंरेष कुत्कीलः कीलयन्निध खाडगणम् । सिद्धाध्वानं^६ रुणद्धीढैः पराध्यं रुद्धविङ्मुखैः ॥१२५॥

‘परदशतमिहाद्गोन्द्रे सत्यावासाः सुधाशिनाम् । येऽनल्पां कल्पजां^७ लक्ष्मीं हसन्तीव स्वसंपदा ॥१२६॥

इत्यनेकगुणोऽप्यस्मिन् दोषोऽस्त्येको महान्निरो । यत् पर्यन्तगतान्धत्ते गुरुरप्यगुरुद्रुमान्^८ ॥१२७॥

अलङ्घ्यमहिमोदग्रो गरिमाक्रान्तविष्टयः । जगद्गुरोः पुरोरा^९भाम् अयं धत्ते धराधरः ॥१२८॥

है ॥११८॥ जो फूले हुए फूलरूपी हास्यसे सहित हैं ऐसे इसके किनारेके वनके प्रदेश ऐसे जान पड़ते हैं मानो अपनी शोभासे देवोंके बगीचेकी शोभाकी हँसी ही कर रहे हों ॥११९॥ यह पर्वत अपने मस्तक (शिखर) से उस शोभाको धारण करता है, जो कि, सदा नाशरहित है और स्मृतिके जानकार पण्डित लोग जिसे इन्द्राणीके सौभाग्यका अहंकार दूर करनेवाली कहते हैं ॥१२०॥ इसके मस्तकपर पद्म नामका वह सरोवर है जिसमें कि श्री देवीका निवास है, शास्त्रकारोंने जिसका बहुत कुछ वर्णन किया है, जिसमें स्वच्छ जल भरा हुआ है, और जो फूले हुए सुवर्ण कमलोंसे सुशोभित है ॥१२१॥ यह पर्वत कमसे इस पद्मसरोवरके पूर्व तथा पश्चिम तोरणसे निकली हुई गङ्गा और सिन्धुनामकी महानदियोंको धारण करता है ॥१२२॥ तथा पद्म सरोवरके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर उत्तरकी ओर गई हुई रोहितास्या नदीको भी यह पर्वत धारण करता है ॥१२३॥ यह पर्वत इन अलङ्घ्य तीन महानदियोंसे ऐसा सुशोभित होता है मानो उत्साह, मन्त्र और प्रभुत्व इन तीन शक्तियोंसे अपना भूभृद्भाव अर्थात् राजा पना (पक्षमें पर्वतपना) ही प्रकट कर रहा हो ॥१२४॥ देदीप्यमान तथा दिशाओंको व्याप्त करनेवाले अपने अनेक शिखरोंसे यह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो आकाशरूपी आँगनको कीलोंसे युक्त कर देवोंका मार्ग ही रोक रहा हो ॥१२५॥ इस पर्वतराजपर देवोंके अनेक आवास हैं जो कि अपनी शोभासे स्वर्गकी बहुत भारी शोभा की भी हँसी करते हैं ॥१२६॥ इस प्रकार इस पर्वतमें अनेक गुण होनेपर भी एक बड़ा भारी दोष है और वह यह कि यह स्वयं गुरु अर्थात् बड़ा होकर भी अपने चारों ओर लगे हुए अगुरु द्रुम अर्थात् छोटे छोटे वृक्षोंको धारण करता है (परिहार पक्षमें अगुरु द्रुमका अर्थ अगुरु चन्दनके वृक्ष लेना चाहिये) ॥१२७॥ यह पर्वत जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी सदृशता धारण करता है क्योंकि जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव अपनी अलङ्घ्य महिमासे उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी अपनी अलङ्घ्य महिमासे उदग्र अर्थात् ऊँचा है और जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवने अपनी गरिमा अर्थात् गुरुपने से समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया था उसी प्रकार इस पर्वतने भी अपनी गरिमा अर्थात् भारीपनसे समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया है । भावार्थ—जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवका गुरुपना समस्त लोकमें प्रसिद्ध है उसी प्रकार इस पर्वतका भारीपना भी लोकमें प्रसिद्ध

१ पर्यन्तस्य ल० । २ स्मृतिवेदिनः । ३ धृता श्रीः (देवी) येन स । ४ पूर्वपश्चिम-दिक्स्थितोरण । ५ तत्पद्मसरोवरस्थोत्तरदिक्स्थितोरण । ६ उत्तरदिङ्मुखीम् । ७ देवभेदमार्गम् । ८ अपरिमिताः । ९ परा संख्या शताधिकात् । १० स्वर्गजाम् । १० कालागुस्तरून्, लघुतरूनि ध्वनिः । ११ उपमाम् ।

इत्यस्याद्रेः परां शोभां संसत्युच्यते^१ पुरोधिंसि । प्रशंससि तमद्रोम्भं सम्प्रीतो भरताधिपः ॥१२६॥
 स्वभुवि तक्षेत्रसीमानं सोऽभिजन्य^२ हिमाचलम् । प्रत्यावृत्तत् प्रभुर्द्रष्टुं^३ वृषभाद्रिं कुतूहलात् ॥१२७॥
 यो योजनशतोच्छ्रयो नूतने तावच्च विस्तृतः । तदद्वैद्विस्तृतिर्मूर्ध्नि भूयो मौलिरिचोद्यतः ॥१२८॥
 यस्योत्सर्गभूयो रम्याः कदली^४ घण्डमण्डितैः । सम्भोगाय तभोगानां कल्पन्ते रम्ये लताखरैः ॥१२९॥
 सनागम^५ सनागैश्च^६ सपुत्रागैः पण्डितैश्च । अजुषान्ते वनं सेव्यं मुच्यते जातु नामरैः ॥१३०॥
 स्वतटस्फटिकोत्सर्पत्प्रभादिश्वहरिमुखम् । शरदभृ^७ रिवारब्धज्जपुषं^८ सनभोजुषम्^९ ॥१३१॥
 तं शैलं भुवनस्यैकं ललाभेयं^{१०} निरूपयत्^{११} । कलधामास लक्ष्मीवान् स्वयशःप्रतिमानतम्^{१२} ॥१३२॥
 तमेकपाण्डुरं^{१३} शैलम् आकल्पान्तमनश्चरम् । स्वयशोराशिनीकाशं^{१४} पश्यन्नभिनन्द^{१५} सः ॥१३३॥
 सोऽञ्जलः प्रभुभाषन्तं^{१६} साधात्तमखिलद्विषाम् । प्रत्यग्रहीद्विवाभ्येत्य^{१७} विध्वज्यभिर्बर्वागिरिः ॥१३४॥
 तत्तटोपान्तविश्रान्तखचरोरगक्षिचरैः । प्रोद्गीयमानममलं शुश्रुवे^{१८} स्वयशोऽमुना ॥१३५॥
 जरावक्षीमुखालोकनमलादर्शविभूषाः । तत्तटीमित्तयो जह्नुः सतोऽस्य स्फटिकामलाः ॥१३६॥

है, अथवा इस पर्वतने अपने विस्तारसे लोकका बहुत कुछ अंश व्याप्त कर लिया है ॥१२८॥
 इस प्रकार जब पुरोहित उस पर्वतकी उत्कृष्ट गोभाका वर्णन कर चुका तब भरतेश्वरसे भी प्रसन्न होकर उस पर्वतकी प्रशंसा की ॥१२९॥ अपने उपभोग करने योग्य क्षेत्रकी सीमा स्वरूप हिमवान् पर्वतकी प्रशंसा कर महाराज भरत कुतूहलवश वृषभान्तको देखनेके लिये लौटे ॥१३०॥

जो सौ योजन ऊँचा है, मूल तथा ऊपर क्रमसे सौ और पचास योजन चौड़ा है एवं ऊपर की ओर उठा हुआ होनेसे पृथिवीके मस्तकके समान जान पड़ता है । जिसके ऊपरके मनोहर प्रदेश केलोंके समूहने सुयोधित उताग्रहोंसे आकाशगामी देव तथा विद्याधरोंके उपभोग करने योग्य हैं, नाग सहजता और नागकेशरके वृक्षोंसे विरे हुए तथा सेवन करने योग्य जिस पर्वत के समीपके वनोंको देव लोग कभी नहीं छोड़ते हैं । अपने तटपर लगे हुए स्फटिक मणियोंकी फैलती हुई प्रभासे जिनने मभस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, जिसका अरीर शरद्वृत्तके बादलों से बना हुआ-सा जान पड़ता है और जो सदा देव तथा विद्याधरोंसे सहित रहता है, ऐसे उस पर्वतको लोकके एक आभूषणके समान देखने हुए श्रीमान् भरतने अपने यशका प्रतिविम्ब माना था ॥१३१-१३५॥ जो एक सफेद रंगका है और जो कल्पान्त काल तक कभी नष्ट नहीं होता ऐसे उस वृषभान्तको अपने यशकी राशिके समान देखते हुए महाराज भरत बहुत ही आनन्दित हुए थे ॥१३६॥ उस समय वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त शत्रुओं की मायाको नष्ट करनेवाले चक्रवर्ती भरतको अपने समीप आता हुआ जानकर चारों ओर बहनेवाले वनके वायुके द्वारा सामने जाकर उनका स्वागत-मत्कार ही कर रहा हो ॥१३७॥ वहाँपर भरतने उस पर्वतके चित्तारेके समीप विश्राम करते हुए विद्याधर नागकुमार और किन्नर देवोंके द्वारा गायी हुआ अपना निर्मल यश भी सुना था ॥१३८॥ स्फटिकके समान

१ स्तुतिं कुर्वन्ति सति । २ प्रशंसय । ३ व्यावृत्तिवत् । ४ गण्ड- अ०, द०, ग०, प० । ५ सनागं भवन्ति । ६ सनागवृषभान्तम् । ७ सनागवृषभान्तम् । ८ यजुषान्तयनं न०, प०, द०, अ०, ग०, स० । ९ निरूपयितुं मुखम् । १० धृतिः । ११ आकाशसर्वजनसहितम्, देव-विद्याधर-जहितम् । १२ निरूपयत् । १३ विनीकयत् । १४ सद्दृशम् । १५ कैवल्यं धवलम् । १६ समानम् । १७ आ गमन्तात् अयः आयः तस्य अन्तः अन्तः नाश इत्यर्थः । विभूषान्तकम् गमन्तात्पुण्यनाशकमित्यर्थः । अयः शुभाशुभौ धितिः स्थितिभिधानात् । १८ गमन्तात् प्रसारिणिः । विध्वज्यः विध्वज्यन्तीत्यभिधानात् । १९ शृणो रम ।

यत्किमेतत्तमस्यासौच्छिन्नाभित्तिषु चक्रिणः । स्वताभाक्षरविन्यासे घृतिर्विद्वत्सत्ताजितः^१ ॥१४०॥
 काकिणीरत्नमादाय यदा लिलिविधत्त्यम्^२ । तदा राजसहस्राणां^३ नामान्यवैशताधिराट् ॥१४१॥
 असंख्यकल्पकोटौषु योऽतिव्यक्ता धराभुजः । तेषां नामभिराकीर्णं तं पश्यन् स तिसृष्टमये ॥१४२॥
 ततः किञ्चित् स्वधदृग्दर्शो विलक्षोभूय^४ चक्रिराट् । अनन्यशासनाभेनां न मेने भरतावनीम् ॥१४३॥
 स्वयं कल्पविदेकस्य निरस्यज्ञागशासनम् । स मेने निखिलं लोकं प्रायः स्वार्थपरायणम् ॥१४४॥
 अथ तत्र शिलापट्टे स्वहस्ततलनिस्तले^५ । प्रशस्तित्थित्युदासार्थं व्यलिखत् स यशोधनः ॥१४५॥
 स्वतोऽध्वाकुलस्योमत्तप्रालेयदीधितिः । चातुरस्त^६ भर्ताकर्ता^७ भरतः शातमातुरः^८ ॥१४६॥
 श्रीमान्मन्त्रिः शेषशरासरभूचरः । प्राजापत्यो^९ मनुनान्यः शूरः शुक्तिहदारधीः ॥१४७॥
 चरमांगवरी धीरो धीरेयश्चक्र^{१०}धारिणाम् । परिक्रातं धराचक्रं जिष्णुना येन दिग्जये ॥१४८॥
 (यस्याप्यावशकोटयोऽध्वा जलस्थलविलङ्घिनः । लक्षाश्चतुरशीतिश्च मदेभा जयसाधने ॥१४९॥
 यस्य दिग्विजये विष्वक्वलरेणुभिरुत्थितैः । सहिदुःखं खमारुहं कपोतगलकर्बुरैः ॥१५०॥)

निर्मल और विजयलक्ष्मीके मुख देखनेके लिये मंगलमय दर्पणके समान उस वृषभाचलके किनारे की दीवारों भरतका मन हरण कर रही थीं ॥१३९॥ समस्त पृथिवीको जीतनेवाले चक्रवर्ती भरतको उस पर्वतके किनारेकी शिलाकी दीवारोंपर अपने नामके अक्षर लिखनेमें बहुत कुछ संतोष हुआ था ॥१४०॥ चक्रवर्ती भरतने काकिणी रत्न लेकर ज्योंही वहाँ कुछ लिखनेकी इच्छा की त्योंही उन्होंने वहाँ लिखे हुए हजारों चक्रवर्ती राजाओंके नाम देखे ॥१४१॥ असंख्यात करोड़ कल्पोंमें जो चक्रवर्ती हुए थे उन सबके नामोंमें भरे हुए उस वृषभाचलको देखकर भरत को बहुत ही विस्मय हुआ ॥१४२॥ तदनन्तर जिसका कुछ अभिमान दूर हुआ है ऐसे चक्रवर्ती ने आश्चर्यचकित होकर इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीको अनन्यशासन अर्थात् जिसपर दूसरेका शासन न चलता हो ऐसा नहीं माना था । भावार्थ—वृषभाचलकी दीवारोंपर असंख्यात चक्रवर्तियोंके नाम लिखे हुए देखकर भरतका सब अभिमान मट्ट हो गया और उन्होंने स्वीकार किया कि इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीपर मेरे समान अनेक शक्तिशाली राजा हो गये हैं ॥१४३॥ चक्रवर्ती भरतने किसी एक चक्रवर्तीके नामकी प्रशस्तिको स्वयं—अपने हाथसे मिटाया और वैसा करते हुए उन्होंने प्रायः समस्त संसारको स्वार्थपरायण समझा ॥१४४॥

अथानन्तर—यश ही जिसका धन है ऐसे चक्रवर्तीने अपने हाथके तलभागके समान चिकने उस शिलापट्टपर नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट अर्थसे भरी हुई प्रशस्ति लिखी ॥१४५॥ स्वस्ति श्री इक्ष्वाकु वंशरूपी आकाशका चन्द्रमा और चारों दिशाओंकी पृथिवीका स्वामी मैं भरत हूँ, मैं अपनी माताके सौ पुत्रोंमें से एक बड़ा पुत्र हूँ, श्रीमान् हूँ, मैंने समस्त विद्याधर देव और भूमिगोचरी राजाओंको नम्रीभूत किया है, प्रजापति भगवान् वृषभदेवका पुत्र हूँ, मनु हूँ, मान्य हूँ, शूरवीर हूँ, पवित्र हूँ, उत्कृष्ट बुद्धिका धारक हूँ, चरमशरीरी हूँ, धीर वीर हूँ, चक्रवर्तियोंमें प्रथम हूँ और इसके सिवाय जिस विजयीने दिग्विजयके समय समस्त पृथिवीमण्डल की परिणामा दी है अर्थात् समस्त पृथिवीमण्डलपर आक्रमण किया है, जिसके जल और स्थल में चलनेवाले अठारह करोड़ घोड़े हैं, जिसकी विजयी सेनामें चौरासी लाख मदोन्मत्त हाथी

१ सन्तोषः । २ गतवहीविजयिणः । ३ लिखितुमिच्छति । ४ अवशिष्टानां राजाभित्यर्थः ।
 ५ निरस्यभित्तिं भूत्वा । 'विलक्षो विलग्यान्यते' इत्यभिधानात् । ६ वर्तुले समतले इत्यर्थः ।
 ७ चतुरस्तो द०, प०, इ०, अ०, स० । ८ विसमुद्र-हिमवद्गिरिपर्यन्तमहीनाथः । ९ शातस्य माना घतमाना तस्या अपत्यं शातमातुरः । १० प्रजापतेः पुरोरात्यं पुमान् । ११ मुख्यः ।

प्रसाधितदिशो यस्य यशः शशिकलामलम् । सुरैरसकृदुद्गीतं कुलक्षोणोष्णकुक्षिषु ॥१५१॥
 दिग्जयो यस्य सैन्यानि विश्रान्तान्यधिद्विषतटम् । चक्रानुभ्रान्तितान्तानि^१ क्रान्त्वा हंभवतीस्थलोः ॥१५२॥
 नप्ता श्रीनाभिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेशिनः । षट्षण्डमण्डितामेनां यः स्म शस्यखिलां महीम् ॥१५३॥
 मत्वाऽक्षौ गत्वरो^२ लक्ष्मीं जित्वरः^३ सर्वभूभृताम् । जगद्विसृत्वरो^४ कीर्तिम् अतिष्ठिपदिहाचले ॥१५४॥
 इति प्रशस्तिमालीयां बिलिखन्^५ स्वयमक्षरैः । प्रसूनप्रकरंमुक्तैः नृपोऽवचकिरेऽ^६मरैः ॥१५५॥
 तत्रोच्चैरुच्चरद्ध्वानामन्द्रबुन्दुभयोऽध्वनन् । विवि देवा जयेत्याशो शशताप्युच्चैरघोषयन् ॥१५६॥
 स्वर्धुनीसीकरासारवाहिनो गन्धवाहिनः । मन्दं विचेहराधूतं^७ सान्द्रमन्दारनन्दनाः ॥१५७॥
 न केवलं शिलाभित्तौ अस्य नाभाक्षरावली । लिखितानेन चान्द्रेऽपि बिम्बे तल्लाञ्छनच्छलात् ॥१५८॥
 लिखितं^८ साक्षिणे भुक्तिरित्यस्तीहापि शासने । लिखितं सोऽचलो भुक्तिः दिग्जयो साक्षिणोऽमराः ॥१५९॥
 अहो महानुभावोऽयं चक्री दिक्चक्रनिर्जये । येनाक्रान्तं महीचक्रम् आनक्रवसतित्रिकात्^९ ॥१६०॥
 खचराद्विरलंघ्योऽपि हेलयालंघितोऽमुना । कीर्तिः स्थलाद्विजनीवास्य रुढा हंमाचलस्थले ॥१६१॥

हैं, जिसकी दिग्विजयके समय चारों ओर उठी हुई कबूतरके गलेके समान कुछ कुछ मलिन सेनाकी धूलसे समस्त दिशाओंके साथ साथ आकाश भर जाता है, समस्त दिशाओंको वश करनेवाले जिसका चन्द्रमाकी कलाओंके समान निर्मल यश कुलपर्वतोंके मध्यभागमें देव लोग बार-बार गाते हैं, दिग्विजयके समय चक्रके पीछे पीछे चलनेसे थकी हुई जिसकी सेनाओंने हिमवान् पर्वतकी तराईको उल्लंघन कर दिशाओंके अन्तभागमें विश्राम लिया है, जो श्री नाभिराजका पौत्र है, श्री वृषभदेवका पुत्र है, जिसने छह खण्डोंसे सुशोभित इस समस्त पृथिवीका पालन किया है और जो समस्त राजाओंको जीतनेवाला है ऐसे मुक्त भरतने लक्ष्मीको नश्वर समझकर जगत्में फैलनेवाली अपनी कीर्तिको इस पर्वतपर स्थापित किया है ॥१४६-१५४॥ इस प्रकार चक्रवर्तीने अपनी प्रशस्ति स्वयं अक्षरोंके द्वारा लिखी, जिस समय चक्रवर्ती उक्त प्रशस्ति लिख रहे थे उस समय देव लोग उनपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥१५५॥ वहाँ जोर जोरसे शब्द करते हुए गम्भीर नगाड़े बज रहे थे, आकाशमें देव लोग जय जय इस प्रकार सैकड़ों आशीर्वाद रूप शब्दोंका उच्चारण कर रहे थे ॥१५६॥ और गङ्गा नदीके जलकी बूंदोंके समूह को धारण करता हुआ तथा कल्पवृक्षोंके सघन वनको हिलाता हुआ वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥१५७॥ भरतके नामके अक्षरोंकी पंक्ति केवल शिलाकी दीवालपर ही नहीं लिखी गई थी किन्तु उन्होंने काले चिन्हके बहानेसे चन्द्रमाके मण्डलमें भी लिख दी थी । भावार्थ—चन्द्रमा के मण्डलमें जो काला काला चिह्न दिखाई देता है वह उसका चिह्न नहीं है, किन्तु भरतके नामके अक्षरोंकी पंक्ति ही है, यहां कविने अपह्नुति अलंकारका आश्रय लेकर वर्णन किया है ॥१५८॥ अन्य प्रशस्तियोंके समान भरतकी इस प्रशस्तिमें भी लेख, साक्षी और उपभोग करने योग्य क्षेत्र ये तीनों ही बातें थीं क्योंकि लेख तो वृषभाचलपर लिखा ही गया था, दिग्विजय करनेसे छह खण्ड भरत उपभोग करने योग्य क्षेत्र था और देव लोग साक्षी थे ॥१५९॥ अहा, यह चक्रवर्ती बड़ा प्रतापी है क्योंकि इसने समस्त दिशाओंको जीतते समय पूर्व पश्चिम और दक्षिणके तीनों समुद्रपर्यन्त समस्त भूमण्डलपर आक्रमण किया है—समस्त भरत को अपने वश कर लिया है । यद्यपि विजयार्थ पर्वत उल्लंघन करने योग्य नहीं है तथापि इसने

१ चक्रानुगमनेन भिन्नानि । २ गमनशीलाम् । ३ जयनशीलः । ४ विसरणशीलाम् । ५ व्यलिखत् ल०, अ०, द०, स० । ६ आकीर्णः । ७—राधमात ल० । ८ पत्रम् । ९ पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रपर्यन्तम् ।

इति वृष्टापदानं^१ तं वृष्टुवर्तिकां नयकाः । विष्टया^२ स्म वर्धयन्त्येनं साङ्गनाश्च नभश्चराः ॥१६२॥
 भूयः प्रोत्साहितो देवः जयोद्योगमनूनयन्^३ । गङ्गापातमभीयाय^४ व्याहृत इव तत्स्वनैः ॥१६३॥
 गलद्गङ्गाम्बुनिष्ठधूताः शीकरा मवशीकरैः । सम्भू^५र्च्छन्तु^६पेभाणां^७ व्यात्युक्षीं^८ वा तितांसवः^९ ॥१६४॥
 पतद्गङ्गाजलावर्तपरिवर्द्धितकौतुकः । प्रत्याग्राहि स तत्पाते गङ्गावेध्या भूतार्धया ॥१६५॥
 सिंहासने निवेश्येनं प्राङ्मुखं सुखशीतलैः । सोऽभ्यधिञ्चज्जलैर्गाङ्गाः शशाङ्ककरहासिभिः ॥१६६॥
 कृतमङ्गलसङ्गीतनान्वीतुर्यरवाकुलम् । निर्वर्त्य मज्जनं जिष्णुः भोजे मण्डनमप्यतः ॥१६७॥
 अथास्मै व्यतरत् प्रांशु^{१०} रत्नांशुस्थगिताम्बरम् । सेन्द्रचापमिवाद्भीन्द्रशिखरं हरिविष्टरम् ॥१६८॥
 चिरं वर्द्धस्व वर्द्धिष्णो जीवताम्रवताद् भवान् । इत्यनन्तरसाक्षात् तिरोऽभूत् सा विसर्जिता ॥१६९॥
 अन्तुगङ्गागतं सैन्यं आब्रजन्विषयाधिपैः । सिधेवै पञ्चमानैश्च गङ्गाम्बुकणवाहिभिः ॥१७०॥
 गङ्गागतदवनोपान्तनिवेशेषु विशाम्पतिम् । सुखधामासुरन्वीपमाया^{११}ता वनमास्ताः^{१२} ॥१७१॥

उसे लीला मात्रमें ही उल्लंघन कर दिया है और इसकी कीर्ति स्थल-कमलिनीके समान हिमालय पर्वतकी शिखरपर आरुढ़ हो गई है । इस प्रकार जिनका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे उन भरत महाराजकी बड़े बड़े देव भी स्तुति कर रहे थे और अपनी अपनी स्त्रियोंसे सहित विद्या-धर लोग भी भाग्यसे उन्हें बढ़ा रहे थे अर्थात् आशीर्वाद दे रहे थे ॥१६०-१६२॥

तदनन्तर—जिन्हें देवोंने फिर भी उत्साहित किया है ऐसे महाराज भरत अपने विजय के उद्योगको कम न करते हुए गङ्गापात (जहाँ हिमवान् पर्वतसे गङ्गा नदी पड़ती है उसे गङ्गा-पात कहते हैं) के सन्मुख इस प्रकार गये मानो उसके शब्दोंके द्वारा बुलाये ही गये हों ॥१६३॥ ऊपरसे गिरती हुई गङ्गा नदीके जलके समीपसे उछटे हुए छोटे छोटे जलकण राजाओंके हाथियों के मदकी बूंदोंके साथ इस प्रकार मिल रहे थे मानो वे दोनों परस्पर फाग ही खेलना चाहते हों अर्थात् एक दूसरेको सींचना ही चाहते हों ॥१६४॥ पड़ते हुए गङ्गाजलकी भंवरीसे जिसका कौतूहल बढ़ रहा है ऐसे भरतका गङ्गापातके स्थानपर अर्घ्य धारण करनेवाली गङ्गा देवीने सामने आकर सत्कार किया ॥१६५॥ गङ्गादेवीने चक्रवर्ती भरतको पूर्व दिशाकी ओर मुख कर सिंहासनपर बैठाया और फिर सुखकारी, शीतल तथा चन्द्रमाकी किरणोंकी हँसी करनेवाले गङ्गा नदीके जलसे उनका अभिषेक किया ॥१६६॥ जिसमें मंगल संगीत, आशीर्वाद वचन और तुरही आदि वाजोंके शब्द मिले हुए हैं ऐसे अभिषेकको समाप्त कर विजयशील भरतने उसी गङ्गादेवीसे सब वस्त्राभूषण भी प्राप्त किये ॥१६७॥ तदनन्तर देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे जिसने आकाश भी व्याप्त कर लिया है और जो इन्द्रधनुष सहित सुमेरु पर्वतकी शिखरके समान जान पड़ता है ऐसा एक सिंहासन गङ्गादेवीने भरतके लिये समर्पित किया ॥१६८॥ और फिर 'सदा बढ़नेवाले हे महाराज भरत, आप चिर कालतक बढ़ते रहिये, चिरकाल तक जीवित रहिये और चिरकाल तक आनन्दित रहिये अथवा समृद्धि-मान् रहिये इस प्रकार आशीर्वाद देकर भरत महाराजके द्वारा विदा की हुई वह गङ्गादेवी तिरोहित हो गई ॥१६९॥

अथानन्तर—सेनाके साथ साथ गङ्गाके किनारे किनारे जाते हुए भरतकी अनेक देशोंके स्वामी-राजाओंने और गङ्गा नदीके जलकी बूंदोंको धारण करनेवाले वायुने सेवा की थी ॥१७०॥ गङ्गा किनारेके वनोंके समीपवर्ती भागोंमें पीछेसे आता हुआ वनका वायु चक्रवर्ती

१ दृष्टसामर्थ्यम् । दृष्टावदानं प०, अ० । दृष्टवदानं ल० । २ सन्तोषेण । ३ अनूनं कुर्वन् संवर्द्धयन्नित्यर्थः । ४ अभिमुखमगच्छत् । ५ प्रसरन्तिस्म । ६ नृपसम्बन्धिगजानाम् । ७ परस्परसेचनम् । ८ विस्तारितुमिच्छवः । ९ ददौ । १० उन्नत । ११ अनुकूलताम् । १२ वनवायवः ल० ।

वने वनचरस्त्रीयाम् उवस्यभक्तकावलीः । मुहुस्त्वत्तन् कपालेषु नृत्यद्वन्द्वशिल्पिभाम् ॥१७२॥
 विलोलितालिरामुन्वमुत्फल्ला वनजलरतीः । गिरिनिर्भरसङ्गलेपशिखिरी मरुदागवौ ॥१७३॥
 प्रतिप्रयाणमानमा नृपास्तद्देशवासिनः । प्रभुभाराधयाञ्चक्रुः आक्रान्ता जयसाधनैः ॥१७४॥
 कृत्स्नामिति प्रसाधयन्ताम् उत्तरं भरतावनिम् । प्रत्यासीदवधो जिह्णुः विजयाहुंचलस्थलीः ॥१७५॥
 तत्रावास्तितैव्यं च सेनायं प्रभुरादिशत् । अपावृतगृहाद्वारः प्राच्यखण्डं जयेत्यरम् ॥१७६॥
 यावदभ्येति सेनानीम्लेच्छराजजयोद्यमात् । तावत्प्रभोः किजातीयुःमासाः षट् सुखसंगिनः ॥१७७॥
 दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः निवसन्तीजम्बरेवराः । विद्याधराधिपः सार्द्धं प्रभुं द्रष्टुमिहावयुः ॥१७८॥
 विद्याधरधराजीशैरारावामनमौलिभिः । नखांशुसालिकाध्याजावासास्य शिरसा धृता ॥१७९॥
 नमिश्च वितमिश्चैव विद्याधरधराधिपौ । स्वस्तारधनस्तामप्रचा विभुं द्रष्टुमुपेतुः ॥१८०॥
 विद्याधरधरातारधनोपायनसंपदा । तदुपासीतयः ॥१८१॥
 तदुपासीतयः ॥१८२॥
 तदुपासीतयः ॥१८३॥
 तदुपासीतयः ॥१८४॥
 तदुपासीतयः ॥१८५॥
 तदुपासीतयः ॥१८६॥
 तदुपासीतयः ॥१८७॥
 तदुपासीतयः ॥१८८॥
 तदुपासीतयः ॥१८९॥
 तदुपासीतयः ॥१९०॥

को सुखी कर रहा था ॥१७१॥ वहाँके वनमें भीलोंकी स्त्रियोंके केशोंके समूहको उड़ाता हुआ, नृत्य करते हुए वनमयूरीकी पूँछपर बार-बार टकराता हुआ, भूमरीको प्रभर-उधर भगाता हुआ, फूली हुई वनकी लताओंको कुछ कुछ हिलाता हुआ और पहाड़ी भरगोंके स्पर्शसे चीनल हुआ वायु चारों ओर बह रहा था ॥१७२-१७३॥ विजय करनेवाली सेनाके द्वारा दवाय हुए उन देशोंमें निवास करनेवाले राजा लोग नम्र होकर प्रत्येक पड़ावपर महाराज भरतकी आराधना करते थे ॥१७४॥ इस प्रकार उत्तर भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवीकी वशकर विजयी महाराज भरत फिरसे विजयार्थ पर्वतकी तराईमें आ पहुँचे ॥१७५॥ वहाँ पर उन्होंने सेना ठहराकर सेनापतिके लिये आज्ञा दी कि 'शुफाका द्वार उघाड़कर शीघ्र ही पूर्व खण्डकी विजय प्राप्त करो' ॥१७६॥ जब तक सेनापति म्लेच्छराजाओंको जीतकर वापिस आया तब तक सुखपूर्वक रहने हुए महाराज भरतके छह महीने वहीपर व्यतीत हो गये ॥१७७॥ विजयार्थ पर्वतकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीपर निवास करनेवाले विद्याधर लोग अपने अपने स्वामियों के साथ महाराज भरतका दर्शन करनेके लिये वहीपर आये ॥१७८॥ दूरसे ही मस्तक झुकाने-वाले विद्याधर राजाओंने नखोंकी किरणोंके समूहके बहानेसे महाराज भरतकी आज्ञा अपने शिरपर धारण की थी । भावार्थ-नमस्कार करते समय विद्याधरराजाओंके मस्तक पर जो भरत महाराजके चरणोंके नखोंकी किरणें पड़ती थीं उनसे वे ऐसे मानुस होते थे मानो भरतकी आज्ञा ही अपने मस्तकपर धारण कर रहे हों ॥१७९॥ नमि और वितमि दोनों ही विद्याधरोंके राजा अपने मुख्य धनकी सामग्रीके साथ भरतके दर्शन करनेके लिये समीप आये ॥१८०॥ नमि और वितमि जो अन्य किसीको नहीं मिलनेवाली विद्याधरोंके देशकी मुख्य धनरूप सम्पत्ति भेड़में लाये थे उससे महाराज भरतको भारी संतोष हुआ था ॥१८१॥ जिस प्रकार नदियोंके प्रवाहसे समुद्र पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार उस समय नमि और वितमिके द्वारा उपहारमें लाये हुए कन्यारत्न आदि अनेक रत्नोंके समूहसे महाराज भरतकी इच्छा पूर्ण हो गई थी ॥१८२॥ श्रीमान् भरतने राजा नमिकी वहिन सुभद्रा नामकी उत्तम कन्याके साथ

१ स्थलीम् ल०, व०, इ०, अ०, स० । २ सैन्यस्य ल० । ३ विभुः । ४ उद्घाटन । ५ पूर्व-खण्डम् । ६ शीघ्रम् । ७ आगच्छन् । ८ श्रेयः । ९ प्रभुं ल०, अ०, ग०, इ०, व० । १० विजयार्थ-रपावनीकृतम् । ११ वितमिन् । १२ वितमि स्वयं उपस्थिताम् । १३ परिणीताम् ।

तां मनोजैरसस्येव क्षुतिं संप्राप्य चक्रभूत् । स्वं मेने सफलं जन्म परमानन्दनिर्भरः ॥१८४॥
 तावाग्निजितनिःशेषम्लेच्छराजबलो बलैः । जयलक्ष्मीं पुरस्कृत्य सेनानीः प्रभुमंक्षत ॥१८५॥
 कृतकार्यं च सत्कृत्य तं तांश्च म्लेच्छनायकान् । विसर्ज्य सम्राट् सज्जोऽभूत् प्रत्यायातुमपाङ्गमहीम् ॥१८६॥
 जयप्रयाणशंसिन्यः तदाभेयः प्रदध्वनुः । विष्वम्बलार्णवे क्षोभम् आतन्वन्त्यो महीभूताम् ॥१८७॥
 तां काण्डकप्रपाताख्यां प्रागेवोद्घातितां गुहाम् । प्रविवेश बलं जिष्णोः चक्ररत्नपुरोगमाम् ॥१८८॥
 गङ्गापगोभयप्रान्तमहावीथीद्वयेन सा । व्यतीयाय गुहां सेना कृतद्वारा चमूभूता ॥१८९॥
 मुच्यमाना गुहा सैन्यैः चिरादुच्छ्वसितेव सा । चमूरपि गुहारोधाग्निः सृत्योज्जीवितेव सा ॥१९०॥
 नाट्यमालामरस्तत्र रत्नार्घ्यैः प्रभुमर्षयन् । प्रत्यगृह्णाद् गुहाद्वारं पूर्णकुम्भादिसंगलैः ॥१९१॥
 कृतोपच्छन्दनं चामुं नाट्यमालं सुरवर्षम् । व्यसर्जयद्यथोद्देशं सत्कृत्य भरतवर्षम् ॥१९२॥
 कृतोदयमिदं ध्वान्तात्परितो गगनेचराः । परिचेरुर्नभोमार्गम् आरुह्य धृतसायकाः ॥१९३॥

मालिनीवृत्तम्

नमिबिनमिपुरोर्गैरन्वितः खेचरेन्द्रैः खचरगिरिगुहान्तर्ध्वान्तमुत्सार्य दूरम् ।
 रविरिव किरणोर्ध्वैर्ध्वान्तमिवभागान् निधिपतिरुदियाय प्रीणयन् जीवलोकम् ॥१९४॥
 सरसकिसलयान्तःस्पन्दमन्दे सुरस्त्रीस्तनतटपरिलग्नक्षौमसंक्रान्तवासे ।
 सरति महति मन्दं कन्दरेष्वग्निभर्तुः निधिपतिशिबिराणां प्रादुरासन्निवेशः ॥१९५॥

विद्याधरोंके योग्य मंगलाचारपूर्वक विवाह किया ॥१८३॥ रसकी धाराके समान मनोहर उस सुभद्राको पाकर उत्कृष्ट आनन्दसे भरे हुए चक्रवर्तीने अपना जन्म सफल माना था ॥१८४॥ इतनेमें ही जिसने अपनी सेनाके द्वारा समस्त म्लेच्छ राजाओंकी सेना जीत ली है ऐसे सेनापति ने जयलक्ष्मीको आगे कर महाराज भरतके दर्शन किये ॥१८५॥ जिसने अपना कार्य पूर्ण किया है ऐसे सेनापतिका सन्मान कर और आये हुए म्लेच्छ राजाओंकी बिदाकर सम्राट् भरतेश्वर दक्षिणकी पृथिवीकी ओर आनेके लिये तैयार हुए ॥१८६॥ उस समय विजयके लिये प्रस्थान करनेकी सूचना देनेवाली भेरियाँ राजाओंकी सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करती हुई चारों ओर बज रही थीं ॥१८७॥ चक्ररत्न जिसके आगे चल रहा है ऐसी भरतकी सेनाने पहलेसे ही उधाड़ी हुई काण्डकप्रपात नामकी प्रसिद्ध गुफामें प्रवेश किया ॥१८८॥ उस सेनाने गङ्गा नदीके दोनों किनारोंपर की दो बड़ी बड़ी गलियोंमेंसे, सेनापतिके द्वारा जिसका द्वार पहलेसे ही खोल दिया गया है ऐसी उस गुफाको पार किया ॥१८९॥ सेनाके द्वारा छोड़ी हुई वह गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो चिरकालसे उच्छ्वास ही ले रही हो और वह सेना भी गुफाके रोध से निकलकर ऐसी मालूम होती थी मानो फिरसे जीवित हुई हो ॥१९०॥ वहाँ नाट्यमाल नामके देवने दक्षिण गुफाके द्वारपर पूर्णकलश आदि मंगलद्रव्य रखकर तथा रत्नोंके अर्घसे अर्घ देकर भरत महाराजकी अगवानी की थी—सामने आकर सत्कार किया था ॥१९१॥ भरत महाराजने अनेक प्रकारकी स्तुति करनेवाले उस नाट्यमाल नामके श्रेष्ठ देवका सत्कार कर उसे अपने स्थानपर जानेके लिये बिदा कर दिया ॥१९२॥ धनुष बाण धारण करनेवाले विद्याधर चारों ओरसे आकाशमार्गको घेरकर, सूर्यके समान अन्धकारसे परे रहकर उदय होनेवाले चक्रवर्तीकी परिचर्या करते थे ॥१९३॥ जिनमें नमि और बिनमि मुख्य हैं ऐसे विद्याधरों सहित तथा विजयार्ध पर्वतकी गुफाके भीतरी अन्धकारको दूर हटाकर सूर्यके समान किरणोंके समूहसे दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह निधियोंका अधिपति चक्रवर्ती समस्त जीवलोकको आनन्दित करता हुआ उदित हुआ अर्थात् गुफाके बाहर निकला ॥१९४॥ रस-

१ मनोज्ञा रसस्येव । २ दक्षिणभूमिम् । ३ सेनान्या । ४ कृतसान्त्वनम् । ५ सुरश्रेष्ठम् ।
 ६ निजदेशमनतिक्रम्य । ७ पुरःसरैः । ८ उदैति स्म । ९ सुगन्धे । १० वाति सति ।

कितलथपुत्रभेदी देवदारुद्रुमाणाम् असकृदमरसिन्धोः सीकरान्वयाधुनातः ।

श्रमसलिलममुष्णा^१दुष्णसम्भूष्ण^२जिष्णोः खचरगिरितटान्ताक्षिपत^३स्मातरिदवा ॥१६६॥

सपविजियसैन्यैर्निजितस्लेच्छखण्डः समुपहृतजयश्रीश्चक्रिणादिष्टमात्रात्^४ ।

जिनमिव जयलक्ष्मीं सन्निधानं निधीनां परि^५वृढमुपतस्थी नमसौलिश्चममृत् ॥१६७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

जित्वा स्लेच्छन्पौ विजित्य च^६ सुरं प्रालेयशैलेर्शिनं देव्यो^७ च प्रणमय दिव्यमभयं स्वीकृत्य भद्राशनम् ।

हेलानिजितखेचरात्रिरधिराट् प्रत्यन्तपालान् जयन् सेनान्या विजयी व्यजेष्ट निखिलां षट्षण्डभूषां भुवम्^८ १६८

पुण्यादित्ययमाहिमाङ्गयगिरेरातोयधेः प्राक्तना^९दाचापा^{१०}द्व्यपयोनिधेर्जलनिधेरा च प्रतीच्यादितः ।

चक्रैक्षमामरिचक्र^{११}भीकरकरश्चक्रैश्च चक्री वशे तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियो जेने मते सुस्थिताः ॥१६९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भरतोत्तरार्द्धविजयवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमं पर्व ॥३२॥

युक्त नवीन कोमल पत्तोंके भीतर प्रवेश करनेसे मन्द हुआ तथा देवांगनाओंके स्तनतटपर लगे हुए रेशमी वस्त्रोंमें जिसकी सुगन्धि प्रवेश कर गई है ऐसा वायु जिस समय उस विजयार्थ पर्वतकी गुफाओंमें धीरे धीरे बह रहा था उस समय निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीकी सेनाके डेरोंकी रचना शुरू हुई थी ॥१९५॥ देवदारु वृक्षोंके कोमल पत्तोंके संपुटकी भेदन करनेवाला तथा गङ्गा नदीके जलकी बूंदोंको बार-बार हिलाता हुआ और विजयार्थ पर्वतके किनारेके अन्त भागसे आता हुआ वायु गर्मीसे उत्पन्न हुए महाराज भरतके पसीनेको दूर कर रहा था ॥१९६॥ चक्रवर्तीके द्वारा आज्ञा प्राप्त होने मात्रसे ही जिसने अपनी विजयी सेनाओंके द्वारा बहुत शीघ्र समस्त म्लेच्छ खण्ड जीत लिये हैं और जो जयलक्ष्मीको ले आया है ऐसा सेनापति अपना मस्तक झुकाये हुए, निधियोंके स्वामी भरत महाराजके समीप आ उपस्थित हुआ । उस समय भरत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान मालूम होते थे क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवके समीप सदा जयलक्ष्मी विद्यमान रहती है उसी प्रकार उनके समीप भी जयलक्ष्मी सदा विद्यमान रहती थीं ॥१९७॥ विजयी भरतने (चिलात और आनर्त नामके) दोनों म्लेच्छराजाओं को जीतकर हिमवान् पर्वतके स्वामी हिमवान् देवको कुछ ही समय में जीता, तथा (गङ्गा सिन्धु नामकी) दोनों देवियोंसे प्रणाम कराकर (उनके द्वारा दिये हुए) दो दिव्य भद्रासन स्वीकृत किये, और विजयार्थ पर्वतको लीला मात्रमें जीतकर उसके समीपवर्ती राजाओंको जीतते हुए उन्होंने सेनापतिके साथ-साथ छह खण्डोंसे सुशोभित भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवी को जीता ॥१९८॥ जिनका हाथ अथवा टैक्स शत्रुओंके समहर्मे भय उत्पन्न करनेवाला है ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके द्वारा पुण्यसे ही हिमवान् पर्वतसे लेकर पूर्व दिशाके समुद्र तट और दक्षिण समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्र तक समस्त पृथिवी अपने वश की थी । द्वात्रिंशे बुद्धिमान् लोगोंको जैन मतमें स्थिर रहकर सदा पुण्य उपार्जन करना चाहिये ॥१९९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी

भाषानुवादमें उत्तरार्ध भरतकी विजयका वर्णन करनेवाला

बत्तीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

१ अनाशयत् । २ दुष्णसञ्जातम् । ३ आगच्छन् । ४ आत्रातः । ५ नाशम् । ६ प्राप्तवानित्यर्थः ।

७ गुचिरं ल०, द० । ८ हिमवद्गिरिपतिम् । ९ गङ्गादेवीसिन्धुदेवी । १० पूर्वतः । ११ दक्षिणसमुद्रात् ।

१२ भयङ्करः । 'भयकरं प्रतिभयमित्यभिधानात् ।

त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व

श्रीमानानभितःशेषन्पविद्याधरामरः । सिद्धदिग्विजयश्चक्री न्यवृत्तत्वां पुरीं प्रति ॥१॥
 नवास्य विधयः सिद्धा रत्नान्यपि चतुर्वशः । सिद्धविद्याधरः साष्टं षट्षण्डधरणीभुजः^३ ॥२॥
 जित्वा महीमिमां कृत्स्नां लवणाम्भोधिमेखलाम् । प्रयाणमकरोच्चक्री साकेतनगरं प्रति ॥३॥
 प्रकीर्णकचलद्वीचिरुल्लसच्छत्रबुद्बुदा । निर्ययी विजयाद्वीद्रितटाद् गङ्गोव सा चमूः ॥४॥
 करिणीनीभिरश्वोयकल्लोलैर्जनतोमिभिः । दिशो रुन्धन्बलाम्भोधिः प्रससर्प स्फुरद्ध्वनिः ॥५॥
 चलतां रथचक्राणां चीत्कारैर्हयहेषितैः । बृहत्तैश्च गजेन्द्राणां शब्दाद्वैतं तदाभवत् ॥६॥
 भेर्यः प्रस्थानशंसिन्यो नेदुरामन्दनिःस्वनाः । श्रोकालस्तमिताशङ्काम् आतन्वानाः शिखण्डिनाम् ॥७॥
 तदाभूद्बुद्धमश्वीयं हास्तिकेन प्रसर्पता । न्यरोधि पत्तिवृन्दं च प्रयाग्या रथकल्पया ॥८॥
 पादातकृतसंवाधात् पथः^४ पर्यन्तपातिनः^५ । हया गजा बरुथाश्च भेजुस्तिर्यक्प्रचोदिताः ॥९॥
 पर्वतोदग्रमारुढो गजं विजयपर्वतम् । प्रतस्थे विचलन्मीलितः चक्री शक्रसमद्युतिः ॥१०॥
 शत्रुगङ्गागतं देशान् विलङ्घय ससरिद् गिरीन् । कैलासशैलसामिध्यं^६ प्रापत्तच्चक्रिणो बलम् ॥११॥

अथानन्तर—जिन्होंने समस्त राजा विद्याधर और देवोंको नम्रीभूत किया है तथा समस्त दिग्विजयमें सफलता प्राप्त की है ऐसे श्रीमान् चक्रवर्ती भरत अपनी अयोध्यापुरीके प्रति लौटे ॥१॥ इन महाराज भरतको नौ निधियां और चौदह रत्न सिद्ध हुए थे तथा विद्याधरोंके साथ साथ छह खण्डोंके समस्त राजा भी इनके वश हुए थे ॥२॥ लवण समुद्र ही जिसकी मेखला है ऐसी इस समस्त पृथिवीको जीतकर चक्रवर्तीने अपने अयोध्या नगरकी ओर प्रस्थान किया ॥३॥ डुलते हुए चमर ही जिसकी लहरें हैं और ऊपर चमकते हुए छत्र ही जिसके बबूले हैं ऐसी वह सेना गंगाके समान विजयार्ध पर्वतके तटसे निकली ॥४॥ हथिनोरूपी नावोंसे, घोड़ोंके समूहरूपी लहरोंसे और मनुष्योंके समूहरूपी छोटी छोटी तरङ्गोंसे दिशाओंको रोकता हुआ तथा खूब शब्द करता हुआ वह सेनारूपी समुद्र चारों ओर फैल गया ॥५॥ उस समय चलते हुए रथोंके पहियोंके चीत्कार शब्दसे, घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे और हाथियोंकी गर्जनासे शब्दाद्वैत हो रहा था अर्थात् सभी ओर एक शब्द ही शब्द नजर आ रहा था ॥६॥ जिनका शब्द अतिशय गम्भीर है ऐसी प्रस्थान-कालको सूचित करनेवाली भेरियाँ मयूरोंको असमयमें ही वादलोंके गरजनेकी शंका बढ़ाती हुई शब्द कर रही थीं ॥७॥ उस समय दौड़ते हुए हाथियोंके समूहसे घोड़ोंका समूह रुक गया था और चलते हुए रथोंके समूहसे पैदल चलनेवाले सिपाहियोंका समूह रुक गया था ॥८॥ पैदल सेनाके द्वारा जिन्हें कुछ बाधा की गई है ऐसे हाथी घोड़े और रथ—थोड़ी दूरतक कुछ तिरछे चलकर ठीक रास्तेपर आ रहे थे । भावार्थ—सामने पैदल मनुष्योंकी भीड़ देखकर हाथी घोड़े और रथ बगलसे बरक कर आगे निकल रहे थे ॥९॥ जिनका मुकुट कुछ कुछ हिल रहा है और जिनकी कान्ति इन्द्रके समान है ऐसे चक्रवर्तीने पर्वतके समान ऊँचे विजय पर्वत नामके हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥१०॥ चक्रवर्तीकी वह सेना गङ्गा नदीके किनारे किनारे अनेक देश, नदी और पर्वतोंको उल्लंघन करती हुई

१ सिद्धा विद्या—ल०, इ०, द०, अ०, स०, प० । २ षट्षण्डस्थितमहीपालाः । ३ मेघध्वनि । ४ मार्गान् । संवाधान्पथः अ०, प०, स०, इ०, द० । ५ मार्गं विहाय पर्यन्ते वर्तमाना भूत्वा । ६ संप्रापच्चक्रिणो बलम् ल० ।

कैलासाचलमम्यर्णम् अथातोऽप्य रथाङ्गभूत् । निवेश्य निकटे संन्यं प्रयधौ जिनमर्चितुम् ॥१२॥
 प्रयान्तमनुजम्भुस्तं भरतेशं महाद्युतिम् । रोचिष्णुमौलयः क्षमायाः सौधमैन्द्रमिवामराः ॥१३॥
 अचिराच्च तमासाद्य शरदम्बरसच्छविम् । जिनस्येव यशोराशिम् अभ्यनन्दद्विशम्पतिः ॥१४॥
 निपतन्निर्भरारावंः आह्वयन्तमिवामरान् । त्रिजगद्गुरुमेतद्वारात् सेवध्वमिति सादरम् ॥१५॥
 मरुदान्दोलितोदप्रशाखाग्रैस्तटपादपैः । प्रतोषादिव नृत्यन्तं विकासिक्तसुमरिभतः ॥१६॥
 तटनिर्भरसम्पातैः दातुं पाद्यमिबोधतम् । वन्दारोभंभ्यवन्दस्य विष्णवास्कन्दतो^१ जिनम् ॥१७॥
 शिखरोल्लिखिताम्भोदपटलोद्गीर्णवारिभिः । दावभीत्येष सिञ्चन्तं स्वपर्यन्तलतावनम् ॥१८॥
 शुचिप्रावविनिर्माणैः शिखरैः स्थगिताम्बरैः । गतिप्रसरमर्कस्य न्यक्कुर्वाणमिबोच्छ्रितैः ॥१९॥
 क्वचित् किन्नरसम्भोगदैः^२ क्वचित् पद्मगसेवितैः । क्वचित्च खचराक्रीडैः^३ वनेरायिकृतश्रियम् ॥२०॥
 क्वचिद्विरलनीलांशुमिलितैः स्फटिकोपलैः । शशाङ्कमण्डलाशङ्काम् आतन्वन्तं^४ नभोजुषाम् ॥२१॥
 हरिन्मणिप्रभाजालैः भाजालैश्च प्रभाभनानाम्^५ । क्वचिदिन्द्रधनुर्लङ्घाम् आलिखन्तं नभोऽङ्गणे ॥२२॥

क्रमसे कैलास पर्वतके समीप जा पहुंची ॥११॥ तदनन्तर चक्रवर्तीने कैलास पर्वतको समीप ही देखकर सेनाओंको वहीं पासमें ठहरा दिया और स्वयं जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेके लिये प्रस्थान किया ॥१२॥ जिस प्रकार सौधमैन्द्रके पीछे पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक देव जाते हैं उसी प्रकार आगे आगे जाते हुए अतिशय कान्तिमान् महाराज भरतके पीछे पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक राजा लोग जा रहे थे ॥१३॥ जिसकी कान्ति शरद्ऋतुके बादलोंके समान है और इसीलिये जो जिनेन्द्र भगवान्के यशके समूहके समान जान पड़ता है ऐसे उस कैलास पर्वतको बहुत शीघ्र पाकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए ॥१४॥ जो पड़ते हुए भरतोंके शब्दोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो समीप आकर तीनों जगत्के गुरु भगवान् वृषभदेवकी सेवा करो इस प्रकार देव लोगोंको आदरपूर्वक बुला ही रहा हो—जिनकी ऊँची ऊँची शाखाओंके अग्रभाग वायुके द्वारा हिल रहे हैं और जिनपर फूले हुए फूल उनके मन्द हास्यके समान मालूम होते हैं ऐसे अपने किनारेपर के वृक्षोंसे जो ऐसा जान पड़ता है मानो सन्तोषसे नृत्य ही कर रहा हो—जो किनारोंपरसे भरतोंके पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो जिनेन्द्र भगवान्की वन्दना करनेके लिये चारों ओरसे आते हुए भव्य जीवों के समूहके लिये पैर धोनेके लिये जल देनेको ही उद्यत हुआ हो—जो शिखरोंसे विदीर्ण हुए बादलोंके समूहसे गिरते हुए जलसे ऐसा जान पड़ता है मानो दावानलके डरसे अपने समीपवर्ती लताओंके वनको सींच ही रहा हो—जो स्फटिक मणिके सफेद पत्थरोंसे बने हुए और आकाश को घेरनेवाले अपने ऊँचे ऊँचे शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यकी गतिके फैलावको रोक ही रहा हो—जिनमें कहीं तो किन्नर जातिके देव संभोग कर रहे हैं, कहीं नागकुमार जाति के देव सेवा कर रहे हैं और कहीं विद्याधर लोग क्रीड़ा करते हैं ऐसे अनेक वनोंसे जिसकी शोभा प्रकट हो रही है—जो कहींपर कुछ कुछ नीलमणियोंकी किरणोंसे मिले हुए स्फटिक मणियोंके पत्थरोंसे देवोंको चन्द्रमण्डलकी आशंका उत्पन्न करता रहता है । जो कहींपर हरे रंगके मणियों की प्रभाके समूहसे और स्फटिक मणियोंकी प्रभाके समूहसे आकाशरूपी आंगनमें इन्द्रधनुष की रेखा लिख रहा था । कहींपर पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे मिले हुए स्फटिक मणियोंकी किरणोंसे जिसके किनारेका समीपभाग कुछ कुछ लाली लिये हुए सफेद रंगका हो गया है और

१ कैलासम् । २ वन्दनशीलस्य । ३ आगच्छतः । ४ विदारित । ५ उदगत । ६ स्फटिक-पाषाण । ७ सम्भोगैः ६०, अ०, स० । ८ खचरा—प० । ९ खचराणाम् आसमन्तात् क्रीडा येषु तानि । १० मातन्वानं—६०, ल०, अ०, स०, इ० । ११ पद्मरागाणाम् ।

पथरागांशुभिर्भिनैः^१ स्फटिकोपलरश्मिभिः । श्रारक्तश्चेतवप्रान्तं^२ किलासिनमिव^३ क्वचित् ॥२३॥

क्वचिद्विश्लिष्टं^४ शैलेयपटलैर्बहुद्वयैः^५ । मृगेन्द्रनखरोल्लेखसहैर्गण्डोपलेस्ततम् ॥२४॥

क्वचिद्गुहान्तराद् गुञ्जन्मृगेन्द्रप्रतिनादिनोः । तटोर्द्विधानमुद्बद्धमदेः परिहृतागजेः ॥२५॥

क्वचित् सितोपलोत्सङ्गचारिणीरमराङ्गनाः । विभ्राणं शरदभ्रान्तर्वन्तिनीरिव विद्युतः ॥२६॥

तमित्यद्भुतया लक्ष्म्या परीतं भूभृतां पतिम् । स्वमिवालङ्घयमानोऽयं चक्रपाणिश्चान्मुदम् ॥२७॥

(गिरेश्वस्तले दूराद् बाहनादिपरिच्छिद्यम् । विहाय पादचारेण ययौ किल स धर्मधीः ॥२८॥

पद्भ्यामारोहतोऽस्याद्रिं नासीत् खेदो मनागपि । हितार्थिनां हि खेदोऽयं नात्मनीनः^६ क्रियाविधिः ॥२९॥)

आरुरोह स तं शैलं सुरशिल्पिनिर्मितैः । विविक्तेर्मणिषोपानैस्स्वर्गस्येवाधिरोहणैः ॥३०॥

अधित्यकासु^७ सोऽस्याद्रेः प्रस्थाप्य वनराजिषु । लम्बितोऽतिथिसत्कारमिव शीतैर्वनानिलैः ॥३१॥

क्वचिदुत्फुल्लमन्दारवणवीथीविहारिणीः । विविक्ते^८ सुमनीभूषाः सोऽपश्यद्वनदेवताः ॥३२॥

क्वचिद्वनान्तसंस्तुतनिजशावानुशायिनीः । मृगोरपश्यदारब्ध^९ मुदुरोमन्थमन्धराः ॥३३॥

क्वचिन्नि^{१०} कुञ्जसंस्तुतान् बृहतः शयु^{११} पोतकान् । पुरीतन्निकरानन्द्रेरिवापश्यत्स पुञ्जितान् ॥३४॥

क्वचिद् गजमदामोदवासितान् गण्डशैलकान् । ददृशे^{१२} हरिरारोषाद् उल्लिखन्नखराङ्कुरैः ॥३५॥

इसलिये जो ऐसा जान पड़ता है मानो उसे किलास (कुण्ठ) रोग ही हो गया हो । जिनपर कहीं कहीं अनेक धातुओंके टुकड़े टूट-टूटकर पड़े हैं तथा जो सिंहोंके नखोंका आघात सहनेवाली हैं और इसलिये जो ऐसी जान पड़ती हैं मानो उनपर बहुतसा दाद हो गया हो ऐसी अनेक चट्टानों से जो व्याप्त हो रहा है । कहीं कहींपर जिनमें गुफाओंके भीतर गरजते हुए सिंहोंकी प्रतिध्वनि व्याप्त हो रही है और इसीलिये जिन्हें मदोन्मत्त हाथियोंने छोड़ दिया है ऐसे अनेक किनारोंको जो धारण कर रहा है—और जो कहीं कहींपर शरद्वृक्षोंके बादलोंके भीतर रहनेवाली बिजलियोंके समान स्फटिक मणियोंकी शिलाओंपर चलनेवाली देवांगनाओंको धारण कर रहा है—इस प्रकार अद्भुत शोभासे सहित उस कैलास पर्वतको देखकर चक्रवर्ती भरत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुए । और उसका खास कारण यह था कि वह चक्रवर्तीके समान ही अलङ्घ्य था और भूभृत अर्थात् पर्वतों (पक्षमें राजाओं) का अधिपति था ॥१५-२७॥ धर्मबुद्धिको धारण करनेवाले महाराज भरत पर्वतके नीचे दूरसे ही सवारी आदि परिकरको छोड़कर पैदल चलने लगे ॥२८॥ पैदल ही पर्वतपर चढ़ते हुए भरतको थोड़ा भी खेद नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको आत्माका हित करनेवाली क्रियाओंका करना खेद के लिये नहीं होता है ॥२९॥ स्वर्गकी सीढियोंके समान देवरूपी कारीगरोंके द्वारा बनाई हुई पवित्र मणिमयी सीढियोंके द्वारा महाराज भरत उस कैलास पर्वतपर चढ़ रहे थे ॥३०॥ चढ़ते चढ़ते वे उस पर्वतके ऊपरकी भूमिपर जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने वनकी पंक्तियोंमें वनकी शीतल वायुके द्वारा मानो अतिथिसत्कार ही प्राप्त किया था ॥३१॥ वहाँ उन्होंने कहीं तो फूले हुए मन्दार वनकी गलियोंमें घूमती हुई तथा फूलोंके पवित्र आभूषण धारण किये हुई वनदेवियोंको देखा ॥३२॥ कहीं वनके भीतर अपने बच्चोंके साथ लेटी हुई और धीरे धीरे रोमन्थ करती हुई हरिणियोंको देखा ॥३३॥ कहीं लतागूहोंमें सोते हुए और एक जगह इकट्ठे हुए अजगरके उन बड़े बड़े बच्चोंको देखा जो कि उस पर्वतकी अंतर्द्वियोंके समूहके समान जान पड़ते थे ॥३४॥ और कहींपर हाथियोंके मदसे सुवासित बड़ी बड़ी काली चट्टानोंको हाथी

१ मिलितः । २ पाटलसान्वन्तम् । 'श्वेत रक्तस्तु पाटल' इत्यभिधानात् । ३ सिंश्मलम् । 'किलासी सिंश्मल' इत्यभिधानात् । ४ शिथिलितकुसुमसमूहैः । ५ दद्रु रोगिसदृशैः । 'दद्रुणो दद्रुरोगी स्याद्' इत्यभिधानात् । ६ स्फटिकशिलामयः । ७ आत्महितः । ८ ऊर्ध्वभूमिः । ९ प्रापितः । १० विभिन्नः । ११ उपक्रान्तः । १२ निकुञ्ज ल०, द०, अ०, प०, इ०, स० । १३ अजगरशिशून् । १४ अन्वसमूहान् । १५ दृश्यते स्म ।

किञ्चिदन्तरमासह्य पश्यन्नरेः परां श्रियम् । प्राप्तावसरमित्यूचे वचनं च पुरोवसा ॥३६॥

पश्य देव गिरेरस्य प्रदेशान्बहुविस्मयान् । रमन्ते त्रिदशा यत्र स्वर्गावासेऽप्यनादराः ॥३७॥

पर्याप्तमेतदेवास्त्य प्राभवं भुवनातिगम् । देवो यदेनमध्यास्ते चराचरगुहः पुरुः ॥३८॥

महाद्विरयनुत्सङ्गसङ्गिनीः सरिदङ्गताः । शशवद् बिभर्ति कामीव गलघ्नीलजलाङ्गुकाः ॥३९॥

क्रीडाहेतोरहिंस्त्रोऽपि मृगेन्द्रो गिरिकन्दरात् । महाहिमयमाकर्षेद्दंघ्यान्मुञ्चत्वपारयन् ॥४०॥

सर्वद्वन्द्वं सहान्सार्वात् जनतातापहारिणः । मुनीनिव दनाभोगानेष धत्तेऽधिमेलनम् ॥४१॥

हरीश्र्वरनिभिन्नमद्विरदमस्तकान् । निर्भरैः पापभीत्येव तर्जयत्येष सारवैः ॥४२॥

धत्ते सानुचरान् भद्रान् उर्व्ववंशान् स्ववग्रहान् । वनद्विपानयं शैलो भवानिय महीभुजः ॥४३॥

ध्वनतो धनसंघातान् शरभा रभसादमी । हिरवाशङ्कयोस्तस्य पतन्तो यान्ति शोच्यताम् ॥४४॥

कपोलकावसरुण्णं त्वचो मदजलाविलाः ॥ द्विपानां वनसम्भोगं सूचयन्तीह ॥ शास्त्रिनः ॥४५॥

समभकर नखरूपी अंकुरोसे विदारण करता हुआ सिंह देखा ॥३५॥ अरन महाराज कुछ दूर आगे चढ़कर जब पर्वतकी शोभा देखने लगे तब पुरोहितने अवसर पाकर नीचे लिये अनुसार वचन कहे ॥३६॥ हे देव, इस पर्वतके अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए उग प्रदेशोंको देखिये जिन पर कि देव लोग भी स्वर्गवासमें अनादर करते हुए क्रीड़ा कर रहे हैं ॥३७॥ समस्त लोकको उल्लंघन करनेवाली इस पर्वतकी महिमा इतनी ही प्रबुध है कि चर और अचर—सभीके गुण भगवान् वृषभदेव इसपर विराजमान हैं ॥३८॥ यह महापर्वत अपनी गोदी अर्थात् नीचले मध्यभागमें रहनेवाली और जिनके नीचे जलरूपी वस्त्र छूट रहे हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंको कामी पुरुषकी तरह सदा धारण करता है ॥३९॥ यह सिंह अहिसक होनेपर भी क्रीड़ा के लिये पर्वतकी गुफामेंसे एक बड़े भारी सर्पको खींच रहा है परन्तु उम्मा होनेसे खींचनेके लिये अभमर्थ होता हुआ उसे छोड़ भी रहा है ॥४०॥ यह पर्वत अपने तटभागपर ऐसे अनेक वनके प्रदेशोंको धारण करता है जो कि ठीक मुनियोंके समान जान पड़ते हैं क्योंकि जिस प्रकार मुनि सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् शीत उष्ण आदिकी बाधा सहन करते हैं उसी प्रकार वे वनके प्रदेश भी सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् पशुपक्षियों आदिके युगल सहन करते हैं—धारण करते हैं, जिस प्रकार मुनि सबका कल्याण करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी सबका कल्याण करते हैं और जिस प्रकार मुनि जनसमूहके संताप अर्थात् मानसिक व्यथाको दूर करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी संताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गरमीको दूर करते हैं ॥४१॥ यह पर्वत शब्द करते हुए भरनोसे ऐसा जान पड़ता है मानो जिन्होंने अपने नखोंसे मधोन्मत्त हाथियों के मस्तक विदारण किये हैं ऐसे सिंहोंको पापके डरसे तर्जना ही कर रहा हो—डाट ही दिखा रहा हो ॥४२॥ हे नाथ, जिस प्रकार आप सानुचर अर्थात् सेवकों सहित, भद्र, उन्नत कुलमें उत्पन्न हुए और उत्तम शरीरवाले अनेक राजाओंको धारण करते हैं—उन्हें अपने आधीन रखते हैं, उसी प्रकार यह पर्वत भी सानुचर अर्थात् शिखरोंपर चलनेवाले, पीठपरकी उच्च रीढ़से युक्त और उत्तम शरीरवाले भद्र जातिके जंगली हाथियोंको धारण करना है ॥४३॥ इधर ये अष्टापद, गरजते हुए मेघोंके समूहको हाथी समभकर उत्तर उल्लसते हैं परन्तु फिर नीचे गिरकर शोचनीय दशाको प्राप्त हो रहे हैं ॥४४॥ कपोलोंके विमनेसे जिनकी छाल घिस

१ अघातुकोऽपि । २ समर्थो भूत्वा । ३ प्राणियुगल, पक्षे दुःख । ४ सर्वहितान् । ५ गिरिः । ६ ध्वनिसहितैः । ७ सानुषु चरन्तीति सानुचरास्तान्, पक्षे अनुचरैः सहितान् । ८ उन्नतपृष्ठास्थीन्, पक्षे इश्वकाव्वादिवंशान् । ९ स्वविग्रहान् ट० । शोभनललाटान् । 'अवग्रहो ललाटं स्याद्' इत्यभिधानात् । पक्षे—मुष्टुस्वतन्त्रतानिषेधान् । 'अवग्रह' इति ख्यातो वृष्टिरोधे गजालिके । स्वतन्त्रतानिषेधेऽपि प्रतिग्रन्थेऽवग्रह' इत्यभिधानात् । १० भूपतीन् । ११ मेघसमूहान् । १२ गण्डस्थलनिघर्पणसंभन । १३ आर्द्राः । १४ गिरी ।

शाखाभूगा^१ मृगेन्द्राणां गजितैरिह तजिताः । पुञ्जीभूता निकुञ्जेषु पश्य तिष्ठन्ति साध्वसात् ॥४६॥
 मुनोन्द्रपाठनिर्घोषितो रम्यमिदं धनम् । तृणाप्रकवलप्रासिकुरङ्गकुलसङ्कुलम् ॥४७॥
 इतश्च हरिणारान्तिकठोरारवभीषणम् । विमुक्तकवलच्छेदप्रपलायितकुञ्जरम् ॥४८॥
 अरञ्जरस्तश्रुङ्गाप्रक्षरुपलमीकरोधसः^२ । इतो रम्या दनोद्देशा वराहोत्प्लातपल्वलाः^३ ॥४९॥
 मृगैः प्रविष्टवैशन्तैर्वैशस्तम्बोपगैर्गजैः । सूच्यते हरिणाकान्तं वनमेतद् भयानकम् ॥५०॥
 वनप्रवेशिभिर्गिर्यं नित्यं स्थण्डिलज्ञाधियिभिः । न मृच्यतेऽयमद्रीन्द्रो मृगेर्मुनिगणैरपि ॥५१॥
 इति प्रशान्तो रौद्रश्च सदैवायं वराधरः । सन्निधानाज्जिनेन्द्रस्य शान्त एवाधुना पुनः ॥५२॥
 गजैः पश्य भूगेन्द्राणां संवासमिह^४ कानने । नखरक्षतमार्गेषु^५ स्वैरभास्पृशतामिमाम् ॥५३॥
 चारणाध्वुषितानेतै गुहो^६ तसङ्गानशङ्किताः । विशन्त्यनुगताः शाबैः पाकसत्त्वैः^७ समं मृगाः^८ ॥५४॥
 अहो परममाश्चर्यं तिरश्चामपि यद्गणैः । अनुयातै^९ मुनोन्द्राणाम् श्रुताभयसम्पदाम् ॥५५॥
 सोऽयमष्टापद^{१०} मृगैरुन्वर्धनासभिः^{११} । पुनरष्टापद^{१२} व्यातिं पुरैति^{१३} त्वदुपक्रमम्^{१४} ॥५६॥
 स्फुरन्मणितटोपालं तारकाचक्रमापत्^{१५} । न याति व्यथितमस्याद्रेस्तद्रोचिः^{१६} मण्डलम् ॥५७॥

गर्द है और जो गंदरूपी जलसे मलिन हो रहे हैं ऐसे इस वनके वृक्ष हाथियोंकी वनकीड़ाको साफ साफ सूचित कर रहे हैं ॥४५॥ इधर देखिये, सिंहोंकी गर्जनासे डरे हुए ये बन्दर भयसे इकट्ठे होकर लतामण्डपोंमें बैठे हुए हैं ॥४६॥ यह वन इधर तो बड़े बड़े मुनियोंके पाठ करने के शब्दोंसे रमणीय हो रहा है और इधर तृणोंके अग्रभागका आस खानेवाले हरिणों के समूहसे व्याप्त हो रहा है ॥४७॥ इधर सिंहोंके कठोर शब्दोंसे भयंकर हो रहा है और इधर खाना-पीना छोड़कर हाथियोंके समूह भाग रहे हैं ॥४८॥ इधर, जिनमें वृद्ध जंगली भैंसाओंने सींगोंकी नाकसे बाँधियोंके किनारे खोद दिये हैं और सूअरोंने छोटे छोटे तालाब खोद डाले हैं ऐसे ये सुन्दर सुन्दर वनके प्रदेश हैं ॥४९॥ छोटे छोटे तालाबोंमें घुसे हुए हरिणों और बाँसकी झाड़ियोंके समीप छिपकर खड़े हुए हाथियोंसे साफ साफ सूचित होता है कि इस भयंकर वनपर अभी अभी सिंहने आक्रमण किया है ॥५०॥ सदा वनमें प्रवेश करनेवाले और सदा जमीनपर सोनेवाले हरिण और मुनियोंके समूह इस वनको कभी नहीं छोड़ते हैं ॥५१॥ इस प्रकार यह पर्वत सदा शान्त और भयंकर रहता है परन्तु इस समय श्री जिनेन्द्रदेवके सन्निधानसे शान्त ही है ॥५२॥ इधर, इस वनमें सिंहोंका हाथियोंके साथ सहवास देखिये, ये सिंह अपने नखोंसे किये हुए हाथियोंके घावोंका इच्छानुसार स्पर्श कर रहे हैं ॥५३॥ जिनके पीछे पीछे बच्चे चल रहे हैं ऐसे हरिण, सिंह, व्याध आदि दुष्ट जीवोंके साथ साथ चारण-मुनियोंसे अधिष्ठित गुफाओंमें निर्भय होकर प्रवेश करते हैं ॥५४॥ अहा, बड़ा आश्चर्य है कि पशुओं के समूह भी, जिन्हें वनके भय और शोभाका कुछ भी पता नहीं है ऐसे मुनियोंके पीछे पीछे फिर रहे हैं ॥५५॥ सार्थक नामको धारण करनेवाले अष्टापद नामके जीवोंसे सेवित हुआ यह पर्वत आपके चढ़नेके बाद अष्टापद नामको प्राप्त होगा ॥५६॥ जिसपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इस पर्वतके किनारेके समीप आता हुआ नक्षत्रोंका समूह उन मणियोंकी किरणोंसे अपना मण्डल तिरोहित हो जानेसे प्रकटताको प्राप्त नहीं हो रहा है । भावार्थ—

१ मर्कटाः । २ सिंह । ३ वृद्धमहिय । ४ वामलूरतटाः । 'वामलूरश्च नाकुरश्च वरुमीकं पुत्रपुंसकम्' इत्यभिधानात् । ५ अल्पसरोवराः । ६ पल्वलाः । 'वैशन्तं पल्वलञ्चाल्पसर' इत्यभिधानात् । ७ वैष्णुपुञ्ज-समीपगैः । ८ सहवासम् । ९ नखरक्षतकीर्णवृत्तिषु । १० चारणमुनिभिराश्रितान् । ११ गुहामध्यान् । १२ सिंहशार्ङ्गादिकूरमृगैः । १३ हरिणादयः । १४ अनुगतम् । १५ सेवितः । १६ सार्थाभिधानैः । १७ शविष्यत्ताने आगमिष्यति । १८ तस्या प्रथमोपक्रमं यथा भवति तथा । १९ आगच्छन् ।

ज्वलत्योपधिजालेऽपि निशि नाभ्येति किन्नरः । तमोविशङ्कयाऽस्याद्रेः इन्द्रनीलमयीस्तटी ॥५८॥
 हरिन्मणितटोत्सर्पन्मयूखानत्र भूधरे । तृणाङ्कुरधियोवेत्य मृगा यान्ति विलक्ष्यताम् ॥५९॥
 सरोजराम रत्नांशुच्छरिता वनराजयः । तताः संध्यातपेनेव पुष्पन्तीह परां श्रियम् ॥६०॥
 सूर्याशुभिः परामृष्टाः सूर्यकान्ता ज्वलन्त्यमी । प्रायस्तेजस्विसंपर्कस्तेजः पुष्पाति तादृशम् ॥६१॥
 इहेन्दुकरसंस्पर्शाप्रक्षरन्तोऽय्यनुक्षपम् ॥ चन्द्रकान्ता न हीयन्ते विचित्रा पुद्गलस्थितिः ॥६२॥
 सुराणामभिगम्यत्वात् सिंहासनपरिग्रहात् ॥ महुत्वादचलत्वाच्च गिरिरेव जिनायते ॥६३॥
 शुद्धस्फटिकसङ्काशनिर्मलोदारविग्रहः । शुद्धात्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिपः ॥६४॥
 इति शंसति तस्याद्रेः परां शोभां पुरोधसि । शंसाद्भूत इवानन्दं परं प्राप परन्तपः ॥६५॥
 किञ्चिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य प्रसन्नेनान्तरात्मना । प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदांघरः ॥६६॥
 निपतत्पुष्पवर्षेण दुन्दुभीनां च निःस्वनेः । विदाम्बभूव लोकेशम् अभ्यासकृतसन्निधिम् ॥६७॥

किनारेके समीप संचार करते हुए नक्षत्रोंके समूहपर मणियोंकी कान्ति पड़ रही है जिससे वे मणियोंके समान ही जान पड़ते हैं, पृथक् रूपसे दिखाई नहीं देते हैं ॥५७॥ यद्यपि यहाँ रात्रि के समय औपधियोंका समूह प्रकाशमान रहता है तथापि किन्नर जातिके देव अंधकारकी आशंका से इन्द्रनील मणियोंके बने हुए इस पर्वतके किनारोंके सन्मुख नहीं जाते हैं ॥५८॥ इस पर्वत पर हरित मणियोंके बने हुए किनारोंकी फैलती हुई किरणोंकी हरी घासके अंकुर समझकर हरिण आते हैं परन्तु घास न मिलनेसे बहुत ही आश्चर्य और लज्जाको प्राप्त होते हैं ॥५९॥ इधर पद्मराम मणियोंकी किरणोंसी व्याप्त हुई वनकी पंक्तियाँ ऐसी उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही हैं मानो उनपर संध्याकालकी लाल लाल धूप ही फैल रही हो ॥६०॥ ये सूर्यकान्त मणि सूर्यकी किरणोंका स्पर्श पाकर जल रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः तेजस्वी पदार्थका संबंध तेजस्वी पदार्थके तेजको पुष्ट कर देता है ॥६१॥ इस पर्वतपर चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श होनेपर चन्द्रकान्त मणियोंसे यद्यपि प्रत्येक रात्रिको पानी झरता है तथापि ये कुछ भी कम नहीं होते सो ठीक ही है क्योंकि पुद्गलका स्वभाव बड़ा ही विचित्र है ॥६२॥ अथवा यह पर्वत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान जान पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके समीप देव आते हैं उसी प्रकार इस पर्वतपर भी देव आते हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवने सिंहासन स्वीकार किया है उसी प्रकार इस पर्वतने भी सिंहासन अर्थात् सिंहके आसनोको स्वीकार किया है—इसपर जहाँ-तहाँ सिंह बैठे हुए हैं अथवा सिंह और असन वृक्ष स्वीकार किये हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव महान् अर्थात् उत्कृष्ट हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी महान् अर्थात् ऊँचा है और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अचल अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थिर हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी अचल अर्थात् स्थिर है ॥६३॥ हे देव, जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है ऐसा यह पर्वतराज कैलास शुद्धात्माकी तरह आपका कल्याण करनेवाला हो ॥६४॥ इस प्रकार जब पुरोहितने उस पर्वतकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब शत्रुओंको संतप्त करनेवाले महाराज भरत इस प्रकार परम आनन्दको प्राप्त हुए मानो सुखरूप ही हो गये हों ॥६५॥ विद्वानोंमें श्रेष्ठ भरत चक्रवर्ती प्रसन्न चित्तसे कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें वहाँ समीप ही जिनेन्द्रदेवका समवसरण जान पड़ा ॥६६॥ ऊपरसे पड़ती हुई पुष्पवृष्टिसे और दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंसे उन्होंने जान

१ विस्मयताम् । २ पद्मराम । ३ मिश्रिताः । ४ बद्धयन्ति । ५ रात्री रात्री । ६ न कृशा भवन्ति ।

७ हरिविष्टरस्वीकारात्, पक्षे सिंहाणामसनवृक्षाणाञ्च स्वीकारात् । ८ स्तुतिं कुर्वन्ति सति । ९ मुखायतः ।

१० परं शत्रु तापयन्तीति परन्तपदवक्त्री । ११ जानाति स्म । १२ समीपविहितस्थितिम् ।

मन्दारकसुमोद्गन्धिः आन्दोलितलतावनः । पवनस्तमभीयाय^१ प्रत्युद्यस्त्रिव पावनः ॥६८॥
सुमनोवृष्टिरापत्तद् आपूरिततभोजाणा । विरजोऽकृतभूलोकैः समं शीतैरपा^२ कर्णैः ॥६९॥
'शुश्रुवे ध्वनिरामन्द्रो दुन्दुभिनां तभोऽङ्गणो । श्रुतः केकिभिरुद्वीरैः घनस्तनितशङ्किभिः ॥७०॥
गुल्फदधन्^३ प्रसूनोघसम्मर्दमृदुना पथा^४ । तमद्रिशेषमश्रान्तः^५ प्रययौ स नृपाग्रणीः ॥७१॥
ततोऽधिष्ठेयं तं जलम् अपश्यत् सोऽस्य^६ मूर्धनि । प्रागुक्तवर्णनोपेतं जैनमास्थानमण्डलम् ॥७२॥
सनेत्या^७ वसरवैशास्तिष्ठन्त्य^८ स्मिन् सुरासुराः । इति तज्ज्ञैर्निरुक्तं तत्सरणं समवादिकम्^९ ॥७३॥
आखण्डलवनुल्लेखाम् अखण्डपरिमण्डलाम् । जनयन्तं निजोद्योतैः धूलिसालमयासदत्^{१०} ॥७४॥
हेमस्तम्भाप्रविन्यस्तरत्नतोरणभासुरम् । धूलिसालमतीत्यासौ मानस्तम्भमपूजयत् ॥७५॥
मानस्तम्भस्य पर्वन्ते^{११} सरसीः ससरोरुहाः । जनीरिव श्रुतीः स्वच्छशीत^{१२} लापो वदन् सः ॥७६॥
धूलिसालपरिक्षेपस्यान्तर्भागे समन्ततः । वीथ्यन्तरेषु सोऽपश्यद् देवाद्यासोचिता भुवः^{१३} ॥७७॥
अतीत्य परतः किञ्चिद् वदन् जलखातिकाम् । सुप्रसन्नामगाथां च मनोवृत्तिं सतामिव ॥७८॥
वल्ग्वेव न ततोऽद्राक्षीक्षानापुष्पलताततम् । पुष्पासवरसामन्तभूमद्भूमरसङ्कुलम् ॥७९॥

लिया था कि त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव समीप ही विराजमान हैं ॥६७॥ मन्दार वृक्षोंके फूलों से सुगन्धित और लताओंके वनको कम्पित करनेवाला वायु उनके सामने इस प्रकार आया था मानो उनकी अगवानी ही कर रहा हो ॥६८॥ जिन्होंने पृथिवीको धूलि रहित कर दिया है ऐसी जलकी शीतल बूंदोंके साथ साथ आकाशरूपी आँगनको भरती हुई फूलोंकी वर्षा पड़ रही थी ॥६९॥ जिन्हें मेघोंकी गर्जना समझनेवाले मयूर, अपनी गर्दन ऊँची कर सुन रहे हैं ऐसे आकाशरूपी आँगनमें होनेवाले दुन्दुभि बाजोंके गम्भीर शब्द भी महाराज भरतने सुने थे ॥७०॥ राजाओंमें श्रेष्ठ महाराज भरत, पैरकी गाँठों तक ऊँचे फैले हुए फूलोंके संमर्दसे जो अत्यन्त कोमल हो गया है ऐसे मार्गके द्वारा बिना किसी परिश्रमके बाकी बचे हुए उस पर्वत पर चढ़ गये थे ॥७१॥ तदनन्तर उस पर्वतपर चढ़कर भरतने उसके मस्तकपर पहले कही हुई रचनासे सहित जिनेन्द्रदेवका समवसरणमण्डल देखा ॥७२॥ इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्य ध्वनिके अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं इसलिये जानकार गणधरादि देवोंने इसका समवसरण ऐसा सार्थक नाम कहा है ॥७३॥

अथानन्तर—महाराज भरत, जो अपने प्रकाशसे अखण्ड मण्डलवाले इन्द्रधनुषकी रेखा को प्रकट कर रहा है ऐसे धूलिसालके समीप जा पहुँचे ॥७४॥ सुवर्णके खंभोंके अग्रभागपर लगे हुए रत्नोंके तोरणोंसे जो अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा है ऐसे धूलिसालको उल्लङ्घन कर उन्होंने मानस्तम्भकी पूजा की ॥७५॥ जिनमें स्वच्छ और शीतल जल भरा हुआ है और कमल हूल रहे हैं ऐसी जिनेन्द्र भगवान्की वाणीके समान मानस्तम्भके चारों ओरकी बावड़ियाँ भी महाराज भरतने देखीं ॥७६॥ धूलिसालकी परिधिके भीतर चारों ओरसे गलियोंके बीच बीचमें उन्होंने देवोंके निवास करने योग्य पृथिवी भी देखी ॥७७॥ कुछ और आगे चलकर उन्होंने जलसे भरी हुई परिखा देखी । वह परिखा सज्जन पुरुषोंके चित्तकी वृत्तिके समान स्वच्छ और गम्भीर थी ॥७८॥ तदनन्तर जो अनेक प्रकारके फूलोंकी लताओंसे व्याप्त हो रहा है और जो फूलोंके आसवरूपी रससे मत्त होकर फिरते हुए भूमरोंसे व्याप्त है ऐसा लता-

१ अभिमुखं जगाम । २ जलानाम् । ३ भरतेन श्रूयते स्म । ४ घुण्टिकप्रमाण । 'तद् ग्रन्थी घुण्टिके तुल्यो' इत्यभिधानात् । ५ मार्गेण । ६ श्रमरहितः । ७ कैलासस्य । ८ समागत्य । ९ प्रभोरवसरमाश्लोकान्तः । १० समवसरणम् । ११ आगमत् । १२ पर्वन्तसरसी ल० । १३ शैत्यजलाः, पक्षे शान्तिजलाः । १४ देवप्रासादभूमौ ।

ततः किञ्चित्पुरो गच्छन् सालमाद्यं व्यलोकयत् । निषधद्रितदस्पर्धिवपुषं रत्नभाजुषम् ॥८०॥
 सुरदौवारिकारक्ष्यतत्रतोलीतलाश्रितान् । सोऽपश्यन्मङ्गलद्रव्यभेदांस्तत्राष्टधा स्थितान् ॥८१॥
 ततोऽन्तः प्रविशन्वीक्ष्य द्वितयं नाट्यशालयोः । प्रीतिं प्राप परां चक्री शक्रस्त्रीवर्तनोचितम् ॥८२॥
 स धूपघटयोर्धूमं तत्र वीथ्युभयान्तयोः । सुगन्धिध्वनसन्दोहोद्गन्धिधूपं व्यलोकयत् ॥८३॥
 कक्षान्तरे द्वितीयेऽस्मिन्नसौ वनचतुष्टयम् । निदधौ^१ विगलत्पुष्पैः कृतार्घमिव शाखिभिः ॥८४॥
 प्रफुल्ल^२वनमाशोकं साप्तपर्णं च चाम्पकम् । आम्बुडितं वनं^३ प्रेक्ष्य सोऽभूदाम्बुडितोत्सवः^४ ॥८५॥
 तत्र चैत्यद्रुमास्तुङ्गान् जिनबिम्बैरधिष्ठितान् । पूजयामास लक्ष्मीवान् पूजिताभ्युसुरीशनाम् ॥८६॥
 तत्र किन्नरनारीणां गीतैरामन्त्रमूर्च्छनैः । लेभे परां धृतिं चक्री गायन्तीनां जिनोत्सवम् ॥८७॥
 सुगन्धिपवनामोदनिःश्वासा कमुमस्मिता । वनश्रीः कोकिलालापैः सञ्जजल्पे^५ चक्रिणा ॥८८॥
 भृङ्गीसङ्गीतसम्मूर्च्छत्^६ कोकिलानकनिस्सवनैः । अनङ्गविजयं जिष्णोर्वनानीबोदघोषयन् ॥८९॥
 त्रिजगज्जनताजस्रप्रवेशरभसोत्थितम् । तत्राशृणोन्महाघोषमपां घोषमिवोदधेः ॥९०॥
 वनवेदीमथापश्यद् वनरुद्धावनैः परम् । वनराजीविलासिन्याः काञ्चीमिव कण्ठमणिम्^७ ॥९१॥
 तद्गोपुरावतिं कान्त्वा ध्वजरुद्धावतिं सुरान्^८ । आजुह्वेषुमिवाऽपश्यन्महदूतैर्ध्वजांशुकैः ॥९२॥

वन देखा ॥७९॥ वहाँसे कुछ आगे जाकर उन्होंने पहला कोट देखा जो कि निषध पर्वतके किनारेके साथ स्पर्धा कर रहा था और रत्नोंकी दीप्तिसे सुशोभित था ॥८०॥ देवरूप द्वारपाल जिसकी रक्षा कर रहे हैं ऐसे गोपुरद्वारके समीप रखे हुए आठ मङ्गलद्रव्य भी उन्होंने देखे ॥८१॥ तदनन्तर भीतर प्रवेश करते हुए चक्रवर्ती भरत इन्द्राणीके नृत्य करनेके योग्य दोनों ओरकी दो नाट्यशालाओंको देखकर परम प्रीतिको प्राप्त हुए ॥८२॥ वहाँसे कुछ आगे चलकर मार्गके दोनों ओर बगलमें रखे हुए तथा सुगन्धित ईंधनके समूहके द्वारा जिनसे अत्यन्त सुगन्धित धूम निकल रहा है ऐसे दो धूपघट देखे ॥८३॥ इस दूसरी कक्षामें उन्होंने चार वन भी देखे जो कि झड़ते हुए फूलोंवाले वृक्षोंसे अर्घ्य देते हुऐके समान जान पड़ते थे ॥८४॥ फूले हुए अशोक वृक्षोंका वन, साप्तपर्ण वृक्षोंका वन, चम्पक वृक्षोंका वन और आमोंका सुन्दर वन देखकर भरत महाराजका आनन्द भी दूना हो गया था ॥८५॥ श्रीमान् भरतने उन वनोंमें जिनप्रतिमाओंसे अधिष्ठित और इन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूजित बहुत ऊँचे चैत्यवृक्षोंकी भी पूजा की ॥८६॥ उन्हीं वनोंमें किन्नर जातिकी देवियाँ भगवान्का उत्सव गा रही थीं, उनके गंभीर तानवाले गीतोंसे चक्रवर्ती भरतने परम संतोष प्राप्त किया था ॥८७॥ सुगन्धित पवन ही जिसका सुगन्धिपूर्ण निःश्वास है और फूल ही जिसका मंद हास्य है ऐसी वह वनकी लक्ष्मी कोयलोंके मधुर शब्दोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो चक्रवर्तीके साथ बातलाप ही कर रही हो ॥८८॥ भूमरियोंके संगीतसे मिले हुए कोकिलारूपी नगाड़ोंके शब्दोंसे वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र भगवान्ने जो कामदेवको जीत लिया है उसीकी घोषणा कर रहे हों ॥८९॥ वहाँपर तीनों लोकोंके जनसमूहके निरन्तर प्रवेश करनेकी उतावलीसे जो समुद्र के जलकी गर्जनाके समान बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था उसे भी भरत महाराजने सुना था ॥९०॥ तदनन्तर उन वनोंसे रुकी हुई पृथिवीके आगे उन्होंने वनपंक्तिरूपी विलासिनी स्त्रीकी मणिमयी मेखलाके समान मणियोंसे जड़ी हुई वनकी वेदी देखी ॥९१॥ वनवेदीके मुख्य द्वारकी भूमिको उल्लंघन कर चक्रवर्ती भरतने ध्वजाओंसे रुकी हुई पृथिवी देखी, वह पृथिवी उस समय ऐसी मालूम हो रही थी मानो वायुसे हिलते हुए ध्वजाओंके वस्त्रोंके द्वारा

१ ददर्श । २ प्रफुल्लवन— ल० । ३ आम्बुडितवनं ल० । आम्बुमिति स्तुतम् । ४ द्वित्रिगुणितोत्सवः । ५ जल्पति स्म । ६ संमिश्रोभयत् । ७ स्फुरद्गन्ताम् । ८ सुराट् ल०, द० । ९ आह्वानुगच्छन् ।

सावनिः 'सावनीबोद्यद् ध्वजमालातताम्बरा । सचक्रा सगजा रेजे जिनराजजयोर्जिता ॥६३॥
 केतवो हरिवस्त्राब्जवर्हिणेभगरुत्मनाम् । खगुक्षहंसचक्राणां दशधोक्ता जिनेशिनः ॥६४॥
 तानेकशः^१ शतं चाष्टौ ध्वजान् प्रतिदिशं स्थितान् । वरीवश्यन्^२ गाञ्चकी स तद्गुह्यावनेः परम् ॥६५॥
 द्वितीयमार्जुनं सालं सगोपुरचतुष्टयम् । व्यतीत्य परतोऽपश्यन्नाट्यशालाविपूर्ववत्^३ ॥६६॥
 तत्र पश्यन्सुरस्त्रीणां नृत्यं गीतं निशामयन्^४ । धूपामोदं च सञ्जिघृन्^५ सुप्रीताक्षोऽभवद् विभुः ॥६७॥
 कक्षान्तरे ततस्तस्मिन् कल्पवृक्षवनावलिम्^६ । खग्वस्त्राभरणादीष्टफलदां स निरूपयन्^७ ॥६८॥
 सिद्धार्थपादपांस्तत्र सिद्धबिम्बैरधिष्ठितान् । परीत्य प्रणमन् प्राचींश्च श्रिताभ्राकिनायकैः ॥६९॥
 वनवेदीं ततोऽतीत्य चतुर्गोपुरमण्डनम् । प्रासादखट्वाभमवनीं स्तूपंश्च प्रभुरैक्षत ॥७०॥
 प्रासादा विविधास्तत्र सुरावासाय कल्पिताः । त्रिचतुष्टयञ्चभूम्याद्याः 'नानाच्छन्दैरलङ्कृताः ॥७१॥
 स्तूपश्च रत्ननिर्मणाः सान्तरा रत्नतोरणैः । समन्ताज्जिनबिम्बैस्ते निचिताङ्गाश्चक्राक्षरैः ॥७२॥
 तां पश्यन्सर्वयस्तांश्च तांश्च तांश्च स कीर्तयन् । तां च कक्षां व्यतीयाय^८ विस्मयं परमीयिवान् ॥७३॥

उन्हें बुला ही रही हो ॥९२॥ वह ध्वजाभूमि यज्ञभूमिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार यज्ञभूमिका आकाश अनेक फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे व्याप्त होता है उसी प्रकार उस ध्वजाभूमिका आकाश भी अनेक फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे व्याप्त हो रहा था, जिस प्रकार यज्ञभूमि धर्मचक्र तथा हाथी आदिके मांगलिक चिह्नोंसे सहित होती है उसी प्रकार वह ध्वजाभूमि भी चक्र और हाथीके चिह्नोंसे सहित थी, तथा जिस प्रकार यज्ञभूमि जिनेन्द्रदेवके जय अर्थात् जयजयकार शब्दोंसे व्याप्त होती है उसी प्रकार वह ध्वजाभूमि भी जिनेन्द्रदेवके जयजयकार शब्दोंसे व्याप्त थी अथवा कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लेनेसे प्रकट हुई थी ॥९३॥ जिनराजकी वे ध्वजाएँ सिंह, वस्त्र, कमल, मयूर, हाथी, गरुड़, माला, बैल, हंस और चक्र इन चिह्नोंके भेदसे दश प्रकारकी थीं ॥९४॥ वे ध्वजाएँ प्रत्येक दिशामें एक-एक प्रकारकी एक सौ आठ स्थित थीं, उन सबकी पूजा करते हुए चक्रवर्ती महाराज उस ध्वजाभूमिसे आगे गये ॥९५॥ आगे चलकर उन्होंने चार गोपुर दरवाजों सहित चांदीका बना हुआ दूसरा कोट देखा और उसे उल्लंघन कर उसके आगे पहिलेके समान ही नाट्यशाला आदि देखीं ॥९६॥ वहाँ देवाङ्गनाओंके नृत्य देखते हुए, उनके गीत सुनते हुए और धूपकी सुगन्ध सूँघते हुए महाराज भरतकी इन्द्रियां बहुत ही संतुष्ट हुई थीं ॥९७॥ आगे चलकर उन्होंने उसी कक्षाके मध्यमें माला, वस्त्र और आभूषण आदि अभीष्ट फल देनेवाली कल्प वृक्षोंके वनकी भूमि देखी ॥९८॥ उसी वनभूमिमें उन्होंने सिद्धोंकी प्रतिमाओंसे अधिष्ठित और इन्द्रोंके द्वारा पूजित सिद्धार्थ वृक्षोंकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें प्रणाम किया और उनकी पूजा की ॥९९॥ तदनन्तर चार गोपुर दरवाजोंसे सुशोभित वनकी वेदीको उल्लंघन कर चक्रवर्ती ने अनेक महलोंसे भरी हुई पृथिवी और स्तूप देखे ॥१००॥ वहाँ देवोंके रहनेके लिये जो महल बने हुए थे वे तीन खण्ड, चार खण्ड, पांच खण्ड आदि अनेक प्रकारके थे तथा नाना प्रकारके उपकरणोंसे सजे हुए थे ॥१०१॥ जिनके बीच बीचमें रत्नोंके तोरण लगे हुए हैं और जिनपर चारों ओरसे जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाएँ विराजमान हैं ऐसे वे रत्नमयी स्तूप भी बहुत अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१०२॥ उन स्तूपोंको देखते हुए, उनकी पूजा करते हुए और उन्हींका वर्णन करते हुए जिन्हें परम आश्चर्य प्राप्त हो रहा है ऐसे भरतने क्रम-क्रमसे उस कक्षाको उल्लंघन

१ यज्ञसम्बन्धिनीव । सवनः यज्ञः । २ मालावृषभ । ३ एकैकस्मिन् (दिशि) । ४ पूजयन् ।

५ प्रथमसालोक्तवत् । ६ शृण्वन् । ७ आप्राणयन् । ८ प्रीतेन्द्रियः । ९ वनावलिम् ल०, प० । १० पश्यन् ।

११ स्वस्तिक-सर्वतोभद्रनन्द्यावर्तरुचक्रवर्द्धमानादिरचनाविशेषः । १२ व्यतीतवान् ।

नभःस्फटिकनिर्माणं प्राकारवलयं ततः । प्रत्यासर्तेजिनस्येव लब्धशुद्धिं ददर्श सः ॥१०४॥

(तत्र कल्पोपमं देवैः^१ महाद्वारपालकैः । सादरं सोऽभ्यनुज्ञातः प्रविवेश सभां विभोः ॥१०५॥

समन्ताद्योजनायामविष्कम्भपरिमण्डलम् । श्रीमण्डपं जगद्विश्वम् अपश्यन्मान्तमात्मनि ॥१०६॥

तत्रापश्यन्मुनीनिद्विबोधान्देवीश्च कल्पजाः । सार्पिका नृपकान्ताश्च ज्योतिर्वन्द्योरगामरीः ॥१०७॥

भावनव्यन्तरज्योतिः कल्पेन्द्रान्पार्थिवान्मृगान् । भगवत्पादसंप्रेक्षाप्रीतिप्रोत्फुल्ललोचनान् ॥१०८॥

गणानिति क्रमात् पश्यन्परीषाय परन्तपः । त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलां श्रितः ॥१०९॥

तत्रानर्चं मुदा चक्री धर्मचक्रचतुष्टयम् । यक्षेन्द्रं विधृतं मूर्ध्ना ब्रह्मविम्बानुकारि यत् ॥११०॥

त्रितीयमेखलायां च प्राचंदण्डौ महाध्वजान् । चक्रेभोक्षाञ्जपञ्चास्यस्त्रावस्त्रगरुडाङ्कितान् ॥१११॥

मेखलायां तृतीयस्याम् अर्थैश्छिष्टं जगद्गुरुम् । वृषभं स कृती यस्यां श्रीमद्गन्धकुटीस्थिता ॥११२॥

तद्गर्भे रत्नसन्दर्भरुचिरे हरिविष्टरे । मेरुशृङ्ग इवोत्तुङ्गं सुनिविष्टं महातनुम् ॥११३॥

छत्रत्रयकृतच्छादयमप्यच्छादयमघच्छिदम् । स्वतेजोमण्डलाक्रान्तनसुरासुरमण्डलम् ॥११४॥

अशोकशाखिचिह्नेन व्यञ्जयन्तमिवाञ्जसा । स्वपादाश्रयिणां शोकनिरासे^२ शक्तिमात्मनः ॥११५॥

चलत्प्रकीर्णकाकीर्णपर्यन्तं कान्तविग्रहम् । स्वमात्रिमिव यप्रान्तं पतन्निर्भरसङ्कुलम् ॥११६॥

किया ॥१०३॥ आगे चलकर उन्होंने आकाशस्फटिकका बना हुआ तीसरा कोट देखा । वह कोट ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्रदेवकी समीपताके कारण उसे शुद्धि ही प्राप्त हो गई हो ॥१०४॥ वहां महाद्वारपालके रूपमें खड़े हुए कल्पवासी देवोंसे आदरसहित आज्ञा लेकर भरत महाराजने भगवान्की सभामें प्रवेश किया ॥१०५॥ वहां उन्होंने चारों ओरसे एक योजन लम्बा, चौड़ा, गोल और अपने भीतर समस्त जगत्को स्थान देनेवाला श्रीमण्डप देखा ॥१०६॥ उसी श्रीमण्डपके मध्यमें उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंके दर्शन करने से उत्पन्न हुई प्रीतिसे जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे क्रमसे बैठे हुए उज्ज्वल ज्ञानके धारी मुनि, कल्पवासिनी देवियां, आर्यिकाओंसे सहित रानी आदि स्त्रियां, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंकी देवियां, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव, राजा आदि मनुष्य और मृग आदि पशु ऐसे बारह संघ देखे तथा इन्हींको देखते हुए महाराज भरतने तीन कटनीदार पीठकी प्रथम कटनीका आश्रय लेकर उसकी प्रदक्षिणा दी ॥१०७-१०९॥ उस प्रथम कटनीपर चक्रवर्तीने, जिन्हें यक्षोंके इन्द्रोंने अपने मस्तकपर धारण कर रखा है और जो सूर्यके बिम्बका अनुकरण कर रहे हैं ऐसे चारों दिशाओंके चार धर्मचक्रोंकी प्रसन्नताके साथ पूजा की ॥११०॥ दूसरी कटनीपर उन्होंने चक्र, हाथी, बैल, कमल, सिंह, माला, वस्त्र और गरुड़के चिह्नोंसे चिह्नित आठ महाध्वजाओंकी पूजा की ॥१११॥ तदनन्तर विद्वान् चक्रवर्ती ने, जिसपर शोभायुक्त गन्धकुटी स्थित थी ऐसी तीसरी कटनीपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव को देखा ॥११२॥ उस गन्धकुटीके भीतर जो रत्नोंकी बनावटसे बहुत ही सुन्दर और मेरु पर्वतकी शिखरके समान ऊंचे सिंहासनपर बंटे हुए थे, जिनका शरीर बड़ा-जिनपर तीन छत्र छाया कर रहे थे परन्तु जो स्वयं छाया रहित थे, पापोंको नष्ट करनेवाले थे, जिन्होंने अपने प्रभामण्डलसे मनुष्य, देव और धरणेन्द्र सभीके समूहको व्याप्त कर लिया था-जो अशोक वृक्षके चिह्नसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने चरणोंका आश्रय लेनेवाले जीवोंका शोक दूर करनेके लिये अपनी शक्ति ही प्रकट कर रहे हों-जिनके समीपका भाग चारों ओरसे ढुल्लते हुए चामरोंसे व्याप्त हो रहा था, जो सुन्दर शरीरके धारक थे और इसीलिये जो उस समूह

१ सामीप्यात् । २ कल्पजः । ३ दिव्यैः । ४ अपूजयत् । ५ समूहम् । ६ शोकविच्छेदे ।

तेजसां चक्रवालेन स्फुरता परितो वृतम् । परिवेषवृतस्यार्कमण्डलस्यानुकारकम् ॥११७॥

विषद्दुन्दुभिर्भेन्द्घोषं ह्रदोषितोदयम् । सुमनोवर्षाभिर्विव्यजोभूतैरुजितश्रियम् ॥११८॥

स्फुरद्गम्भीरनिर्घोषप्रीणितत्रिजगत्समम् । प्रावृषेण्य^१ पयोवाहमिव धर्मास्त्रुवर्षिणम् ॥११९॥

नामाभावात्मिकां दिव्यभाषामेकात्मिकामपि । प्रथयन्तमयत्नेन हृद्धान्तं मुदतीं नृणाम् ॥१२०॥

अमेयवीर्यमाह्वारविरहेऽप्यतितुन्दरम् । सुवाग्निभवमुत्सर्पत्सौरभं शुभलक्षणम् ॥१२१॥

अश्वेदमलमच्छायम् अपक्वमस्पन्दवन्धुरम् । सुसंस्थानं मभेद्यं च दधानं वपुरुजितम् ॥१२२॥

रत्यप्रतर्क्यमाहात्म्यं दूरादालोकयन् जिनम् । प्रह्वोऽभूत्स महीस्पृष्ट^२ जानुरानन्दनिर्भरः ॥१२३॥

दूरानतचलन्मौलिः श्रालोलमणिकुण्डलः । स रेजे प्रणमन् भक्त्या जितं रत्नैरिवार्घयन् ॥१२४॥

ततो विधिवदानञ्च जलगन्धस्त्रगक्षतैः । चरुप्रदीपधूपैश्च सफलैः स फलेप्सया ॥१२५॥

कृतपूजाविधिर्भूयः प्रणम्य परमेष्ठिनम् । स्तोतुं स्तुतिभिरत्युच्चैः श्रारेभे भरताधिपः ॥१२६॥

त्वां स्तोष्ये परमात्मानम् अघारपुणमच्युतम् । चोदितोऽहं बलाद् भक्त्या शक्त्या मन्दोऽप्यमन्दया ॥१२७॥

पर्वतके समान जान पड़ते थे जोकि शिखरोंके समीप भागसे पड़ते हुए झरनोंसे व्याप्त हो रहा है—जो चारों ओरसे फैलते हुए कान्तिमण्डलसे व्याप्त हो रहे थे और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो गोल परिधिसे घिरे हुए सूर्यमण्डलका अनुकरण ही कर रहे हों—गम्भीर शब्द करने-वाले आकाशदुन्दुभियोंके द्वारा जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा था तथा फूलोंकी वर्षा करने-वाले दिव्य मेघोंके द्वारा जिनकी शोभा बढ़ रही थी—जिन्होंने चारों ओर फैलती हुई अपनी गम्भीर गर्जनासे तीनों लोकोंके जीवोंकी सभाको संतुष्ट कर दिया था और इसीलिये जो धर्मरूपी जलकी वर्षा करते हुए वर्षाकृतिके मेघके समान जान पड़ते थे, जो उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा एक रूप होकर भी अतिशयवश श्रोताओंके कर्णकुहरके समीप अनेक भाषाओंरूप परिणमन करनेवाली और जीवोंके हृदयका अन्धकार दूर करनेवाली दिव्य ध्वनिको बिना किसी प्रयत्न के प्रसारित कर रहे थे—जो अनन्त वीर्यको धारण कर रहे थे, आभूषणरहित होनेपर भी अतिशय सुन्दर थे, वाणीरूपी उत्तम विभूतिके धारक थे, जिनके शरीरसे सुगन्धि निकल रही थी, जो शुभ लक्षणोंसे सहित थे, पसीना और मलसे रहित थे, जिनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती थी, जो आंखोंके पलक न लगनेसे अतिशय सुन्दर थे, समचतुरस्र संस्थानके धारक थे, और जो छेदन भेदन रहित अतिशय बलवान् शरीरको धारण कर रहे थे—ऐसे अचिन्त्य माहात्म्यके धारक श्री जिनन्द्र भगवान्को दूरसे ही देखते हुए भरत महाराज आनन्दसे भर गये तथा उन्होंने अपने दोनों घुटने जमीनपर टेककर श्री भगवान्को नमस्कार किया ॥११३-१२३॥ दूरसे ही नम्र होनेके कारण जिनका मुकुट कुछ कुछ हिल रहा है और मणिमय कुण्डल चञ्चल हो रहे हैं ऐसे भक्तिपूर्वक जिनन्द्रदेवको प्रणाम करते हुए चक्रवर्ती भरत ऐसे जान पड़ते थे मानो उन्हें रत्नोंके द्वारा अर्घ्य ही दे रहा हो ॥१२४॥ तदनन्तर उन्होंने मोक्षरूपी फल प्राप्त करनेकी इच्छासे विधिपूर्वक जल, चन्दन, पुष्पमाला, अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंके द्वारा भगवान्की पूजा की ॥१२५॥ पूजाकी विधि समाप्त कर चुकनेके बाद भरतेश्वरने परमेष्ठी वृषभदेवको प्रणाम किया और फिर अच्छे अच्छे स्तोत्रोंके द्वारा उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥१२६॥ हे भगवन्, आप परमात्मा हैं, अपार गुणोंके धारक हैं, अविनश्वर हैं और मैं शक्तिसे हीन हूँ तथापि बड़ी भारी भक्तिसे जबदस्ती प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता

१ विष्वग् इ० । २ आकाशे ध्वनदुन्दुभिः । ३ सुरमेघैः । ४ प्रावृषि भवम् । ५ आभरणाद् विरहितेऽपि । ६ समचतुरस्र । ७ महीपृष्ठ ज० ।

क्व ते गुणा गणेन्द्राणामप्यगण्याः^१ क्व मादृशः । तथापि प्रयते^२ स्तोतुं भक्त्या त्वद्गुणनिघ्नया^३ ॥१२८॥
 फलाय त्वद्गता भक्तिः अनल्पाय प्रकल्पते । स्वामिसंपत्प्रपुष्पाति ननु संपत्परम्पराम् ॥१२९॥
 घातिकर्ममलापायात् प्रादुरासन् गुणास्तव । घनावरणनिर्मुक्तमूर्त्तैर्भानोर्यथाऽश्वः ॥१३०॥
 यथार्थदर्शनज्ञानसुखवीर्यादिलब्धयः । क्षायिक्यस्तव निर्जिता^४ घातिकर्मबिनिर्जयात् ॥१३१॥
 केवलाख्यं परं ज्योतिस्तव देव यदोदगात्^५ । तदा लोकमलोकं च त्वमबद्धा विनावधेः ॥१३२॥
 सार्वज्ञ्यं^६ तव वक्तीश वचः शुद्धिरशेषगा^७ । न हि काग्विभवो मन्दधियामस्तीह पुष्कलः^८ ॥१३३॥
 वक्तृप्रामाण्यतो देव वचःप्रामाण्यमिष्यते । न ह्यशुद्धतराद् वक्तुः प्रभवन्त्युज्ज्वला गिरः ॥१३४॥
 सप्तभङ्ग्यात्मिकेयं ते भारती विश्वगोचरा । आप्तप्रतीति^९ भमलां त्वद्युद्भावयितुं क्षमा ॥१३५॥
 स्यादस्त्येव हि नास्त्येव स्यादवक्तव्यमित्यपि । स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति^{१०} ते सर्वं^{११} भारती ॥१३६॥

हूँ ॥१२७॥ हे देव, जो गणधर देवोंके द्वारा भी गम्य नहीं हैं ऐसे कहाँ तो आपके अनन्त गुण और कहाँ मुझ सरीखा मन्द पुरुष ? तथापि आपके गुणोंके आधीन रहनेवाली भक्तिसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति करनेका प्रयत्न करता हूँ ॥१२८॥ हे भगवन्, आपके विषय में की हुई थोड़ी भक्ति भी बहुत भारी फल देनेके लिये समर्थ रहती है सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीकी सम्पत्ति सेवक जनोंकी सम्पत्तिकी परम्पराको पुष्ट करती ही है ॥१२९॥ हे नाथ, जिस प्रकार मेघोंके आवरणसे छूटे हुए सूर्यकी अनेक किरणें प्रकट हो जाती हैं उसी प्रकार घातिया कर्मरूपी मलके दूर हो जानेसे आपके अनेक गुण प्रकट हुए हैं ॥१३०॥ हे प्रभो, घातिया कर्मोंको जीत लेनेसे आपके यथार्थ दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट हुई हैं ॥१३१॥ हे देव, जिस समय आपके केवल ज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट हुई थी उसी समय आपने मर्यादाके बिना ही समस्त लोक और अलोकको जान लिया था ॥१३२॥ हे ईश, सब जगह जानेवाली अर्थात् संसारके सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाली आपके वचनोंकी शुद्धि आपके सर्वज्ञपनेको प्रकट करती है सो ठीक ही है क्योंकि इस जगत्में मन्द बुद्धि-वाले जीवोंके इतना अधिक वचनोंका वैभव कभी नहीं हो सकता है ॥१३३॥ हे देव, वक्ता की प्रमाणतासे ही वचनोंकी प्रमाणता मानी जाती है क्योंकि अत्यन्त अशुद्ध वक्तासे उज्ज्वल वाणी कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है ॥१३४॥ हे नाथ, समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाली आपकी यह सप्तभङ्गरूप वाणी ही आपमें आप्तपनेकी निर्मल प्रतीति उत्पन्न करानेके लिये समर्थ है ॥१३५॥ हे सबका हित करनेवाले, आपकी सप्तभङ्गरूप वाणी इस प्रकार है कि जीवादि पदार्थ कथंचित् हैं ही, कथंचित् नहीं ही हैं, कथंचित् दोनों प्रकार ही हैं, कथंचित् अवक्तव्य ही हैं, कथंचित् अस्तित्व रूप होकर अवक्तव्य हैं, कथंचित् नास्तित्व रूप होकर अवक्तव्य हैं और कथंचित् अस्तित्व तथा नास्तित्व—दोनों रूप होकर अवक्तव्य हैं । विशेषार्थ-जैनागममें प्रत्येक वस्तुमें एक एक धर्मके प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षासे सात सात भङ्ग माने गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं—१ स्यादस्त्येव, २ स्यान्नास्त्येव, ३ स्यादस्ति च नास्त्येव, ४ स्यादवक्तव्यमेव, ५ स्यादस्ति चावक्तव्यं च, ६ स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च और ७ स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यं च । इनका स्पष्ट अर्थ यह है कि संसारका

१—मप्यगम्या ल० । २ प्रयत्नं करिष्ये । ३ त्वद्गुणाधीनतया । ४ नितरां जाता । ५ उदेति स्म । ६ सर्वज्ञताम् । ७ सर्वगा । ८ सम्पूर्णः । ९ आप्तस्य निश्चितिम् । १० स्यादस्त्येवेत्यादिना सप्तभङ्गी योजनीया, कथमिति चेत् । १ स्यादस्त्येव, २ स्यान्नास्त्येव, ३ द्वयमपि मिलित्वा स्यादस्ति नास्त्येव, ४ स्यादवक्तव्यमेव, ५ स्यादवक्तव्यपदेन सह स्यादस्ति नास्तीति द्वयं योजनीयम्, कथम् ? स्यादस्त्यवक्तव्यम्, ६ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमिति, ७ स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति । ११ सर्वहित ।

विरुद्धाबद्धावाजालरुद्धव्यामुग्धबुद्धिषु । अश्रद्धेयमनाप्तेषु सार्वज्ञ्यं त्वयि तिष्ठते ॥१३७॥

रविः पयोधरोत्सङ्गसुप्तरश्मिविकासिभिः । सूच्यतेऽब्जैर्यथा तद्वद् उद्भैर्वाग्विभवैर्भवान् ॥१३८॥

प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा अस्तित्व रूप ही है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व रूप ही है और एक साथ दोनों धर्म नहीं कहे जा सकनेके कारण अवक्तव्य रूप भी है, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थमें मुख्यतासे अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य ये तीन धर्म पाये जाते हैं। इन्हीं मुख्य धर्मोंके संयोगसे सात सात धर्म हो जाते हैं। जैसे 'जीवोऽस्ति' जीव है। यहांपर जीव और अस्तित्व क्रियामें विशेष्य विशेषण सम्बन्ध है। विशेषण विशेष्यमें ही रहता है इसलिये जीवका अस्तित्व जीवमें ही है दूसरी जगह नहीं है, इसी प्रकार 'जीवोनास्ति'-जीव नहीं है यहांपर भी जीव और नास्तित्वमें विशेष्यविशेषण सम्बन्ध है इसलिये ऊपर कहे हुए नियमसे नास्तित्व जीवमें ही है दूसरी जगह नहीं है। जीवके इन अस्तित्व और नास्तित्व रूप धर्मोंको एक साथ कह नहीं सकते इसलिये उसमें एक अवक्तव्य नामका धर्म भी है। इन तीनों धर्मोंमेंसे जब जीवके केवल अस्तित्व धर्मकी विवक्षा करते हैं तब 'स्याद् अस्त्येव जीवः' ऐसा पहला भङ्ग होता है, जब नास्तित्व धर्मकी विवक्षा करते हैं तब 'नास्त्येव जीवः' ऐसा दूसरा भङ्ग होता है, जब दोनोंकी कम कमसे विवक्षा करते हैं तब 'स्यादस्ति च नास्त्येव जीवः' इस प्रकार तीसरा भङ्ग होता है, जब दोनोंकी अक्रम अर्थात् एक साथ विवक्षा करते हैं तब दो विरुद्ध धर्म एक कालमें नहीं कहे जा सकनेके कारण 'स्यादवक्तव्यमेव' ऐसा चौथा भङ्ग होता है, जब अस्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोंकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यादस्ति चावक्तव्यं च' ऐसा पाँचवाँ भङ्ग होता है, जब नास्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोंकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च' ऐसा छठवाँ भङ्ग हो जाता है और जब अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्य इन धर्मोंकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यं' च ऐसा सातवाँ भङ्ग हो जाता है। संयोगकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक धर्म सात सात भङ्गके रूप रहता है इसलिये उन्हें कहनेके लिये जिनेन्द्र भगवान्ने सप्त-भङ्गी (सात भङ्गोंके समूह) रूप वाणी के द्वारा उपदेश दिया है। जिस समय जीवके अस्तित्व धर्मका निरूपण किया जा रहा है उस समय उसके अवशिष्ट धर्मोंका अभाव न समझ लिया जावे इसलिये उसके साथ विवक्षा सूचक स्याद् शब्दका भी प्रयोग किया जाता है तथा सन्देह दूर करनेके लिये नियमवाचक एव या च आदि निपातोंका भी प्रयोग किया जाता है जिससे सब मिलाकर 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यका अर्थ होता है कि जीव किसी अपेक्षासे है ही। इसी प्रकार अन्य वाक्योंका अर्थ भी समझ लेना चाहिये। जैनधर्म अपनी व्यापक दृष्टिसे पदार्थके भीतर रहनेवाले उसके समस्त धर्मोंका विवक्षानुसार कथन करता है इसलिये वह स्याद्वाटरूप कहलाता है। वास्तव में इस सर्वमुखी दृष्टिके बिना वस्तुका पूर्ण स्वरूप कहा भी तो नहीं जा सकता॥१३६॥ हे देव, जिनकी बुद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध तथा सम्बन्धरहित वचनोंके जालमें फँसकर व्यामुग्ध हो गई है ऐसे कुदेवोंमें श्रद्धान नहीं करने योग्य सर्वज्ञता आपमें विराजमान है। भावार्थ—सर्वज्ञ वही हो सकता है जिसके वचनोंमें कहीं भी विरोध नहीं आता है। संसारके अन्य देवी-देवताओं के वचनोंमें पूर्वापर विरोध पाया जाता है और इसीसे उनकी भ्रान्त बुद्धिका पता चल जाता है इन सब कारणोंको देखते हुए 'वे सर्वज्ञ थे' ऐसा विश्वास नहीं होता परन्तु आपके वचनों अर्थात् उपदेशोंमें कहीं भी विरोध नहीं आता तथा आपने वस्तुके समस्त धर्मोंका वर्णन किया है इससे आपकी बुद्धि-ज्ञान-निर्भ्रान्त है और इसीलिये आप सर्वज्ञ हैं ॥१३७॥ जिस प्रकार मेघोंके

१ प्रमाणभूते निर्णयाय तिष्ठतीत्यर्थः । 'स्थेयप्रकाशने इति स्थेयविषये आत्मने पदे-विवादपदे निष्तेता प्रमाणभूतः पुरुषः स्थेयः ।

यथान्धतमसे दूरासर्व्यं^१ ते विरतेः शिखी^२ । तथा त्वमपि सुव्यक्तः सूक्ष्मेराप्तोक्तिमर्हसि^३ ॥१३६॥
 आस्तामाध्यात्मकीयं ते ज्ञानसंपन्नमहोदया । बहिर्विभूतिरेवैषा शास्ति नः शास्तुता^४ त्वयि ॥१४०॥
 परार्थमासन्नं संहं कल्पितं सुरशिल्पिभिः । रत्नरुक्छरितं^५ भाति तावकं^६ मेरुऋडगवत् ॥१४१॥
 'सुररुक्छितमेतत्ते छत्राणां त्रयमूर्जितम् । विजगत्प्राग्भवं^७ चिह्नं न प्रतीमः कथं वयम् ॥१४२॥
 चामराणि तवामृति क्षीज्यमानानि चामरः । शंसन्त्यनन्यसामान्यम् ऐश्वर्यं भुवनातिगम् ॥१४३॥
 परितस्त्वत्सभां देव वर्धन्त्येते सुराभ्युदाः । सुमनोवर्धमुद्गन्धि व्याहृतमधुपत्रजम् ॥१४४॥
 सुरकुन्दुभयो मन्द्रं ध्वनन्त्येते^८ नभोऽङ्गणे । सुरकिङ्करहस्ताप्रताडितास्त्वज्जयोत्सवे ॥१४५॥
 सुरैरासेक्षितोपान्तो जनताशोकतापनुत्^९ । प्रायस्त्वामयमन्वेति^{१०} तवाशोकमहीरुहः ॥१४६॥
 त्वद्देहवीप्तयो दीप्राः प्रसरन्त्यभितः सभाम् । धृतबालातपच्छायास्तन्वाना नयनोत्सवम् ॥१४७॥

बीचमें जिसकी समस्त किरणें छिप गई हैं ऐसा सूर्य यद्यपि दिखाई नहीं देता तथापि फूले हुए कमलोंसे उसका अस्तित्व सूचित हो जाता है उसी प्रकार आपका प्रत्यक्ष रूप भी दिखाई नहीं देता तथापि आपके श्रेष्ठ वचनोंके वैभवके द्वारा आपके प्रत्यक्ष रूपका अस्तित्व सूचित हो रहा है । भावार्थ—आपके महान् उपदेश ही आपको सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं ॥१३८॥ अथवा जिस प्रकार सघन अन्धकारमें यद्यपि मयूर दिखाई नहीं देता तथापि अपने शब्दोंके द्वारा दूर से ही पहिचान लिया जाता है उसी प्रकार आपका आप्तपना यद्यपि प्रकट नहीं दिखाई देता तथापि आप अपने स्पष्ट और सत्यार्थ वचनोंसे आप्त कहलानेके योग्य हैं ॥१३९॥ अथवा हे देव, जिसका बड़ा भारी अभ्युदय है ऐसी यह आपकी अध्यात्मसम्बन्धी ज्ञानरूपी सम्पत्ति दूर रहे, आपकी यह बाह्य विभूति ही हम लोगोंको आपके हितोपदेशीपनका उपदेश दे रही है । भावार्थ—आपकी बाह्य विभूति ही हमें बतला रही है कि आप मोक्षमार्गरूप हितका उपदेश देनेवाले सच्चे वक्ता और आप्त हैं ॥१४०॥ हे भगवन्, देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनाया हुआ और रत्नोंकी किरणोंसे मिला हुआ आपका यह श्रेष्ठ सिंहासन मेरु पर्वतकी शिखर के समान सुशोभित हो रहा है ॥१४१॥ देवोंके द्वारा ऊपरकी ओर धारण किया हुआ यह आपका प्रकाशमान छत्रत्रय आपकी तीनों लोकोंकी प्रभुताका चिह्न है ऐसा हम क्यों न विश्वास करें ? भावार्थ—आपके मस्तकके ऊपर आकाशमें जो देवोंने तीन छत्र लगा रखे हैं वे ऐसे मालूम होते हैं मानो आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं यही सूचित कर रहे हों ॥१४२॥ देवोंके द्वारा ढुलाये हुए ये चमर तीनों जगत्को उल्लंघन करनेवाले आपके असाधारण ऐश्वर्यको सूचित कर रहे हैं ॥१४३॥ हे देव, ये देवरूपी मेघ आपकी सभाके चारों ओर अत्यन्त सुगन्धित तथा भूमरोंके समूहको बुलानेवाली फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥१४४॥ हे प्रभो, आपके विजयोत्सवमें देवरूप किकरोंके हाथोंके अग्र भागसे ताड़ित हुए ये देवोंके कुन्दुभि बाजे आकाश रूप आंगनमें गम्भीर शब्द कर रहे हैं ॥१४५॥ जिसका समीप भाग देवोंके द्वारा सेवित है अर्थात् जिसके समीप देव लोग बैठे हुए हैं और जो जनसमूहके शोक तथा संतापको दूर करने वाला है ऐसा यह अशोकवृक्ष प्रायः आपका ही अनुकरण कर रहा है क्योंकि आपका समीप भाग भी देवोंके द्वारा सेवित है और आप भी जनसमूहके शोक और संतापको दूर करनेवाले हैं ॥१४६॥ जिसने प्रातःकालके सूर्यकी कान्ति धारण की है और जो नेत्रोंका उत्सव बढ़ा रही है ऐसी यह आपके शरीरकी देदीप्यमान कान्ति सभाके चारों ओर फैल रही है । भावार्थ—

१ बहिः । २ श्रुतेर्योग्यो भवसि । ३ शिक्षकत्वम् । ४ रत्नकान्तिमिश्रितम् । ५ त्वत्सम्बन्धि । ६ देवरुद्धतम् । ७ वैलोचयप्रभुत्वे । ८ कथं न विश्वासं कुर्मः । ९ नदन्त्येते जगः । १० सन्तापहारि । ११ अनुकरोति ।

दिव्यभाषा तवाशेषभाषा भेदाङ्कारिणी । निरस्यति मनोध्वान्तम् अवाचामपि^१ देहिनाम् ॥१४८॥
 प्रातिहार्यमयी भूतिः इयमष्टययी प्रभो । महिमानं तवाचष्टे विस्पष्टं विष्टपातिगम् ॥१४९॥
 त्रिमेखलस्य पीठस्य मेरोरिव गरीयसः । चूलिकेव विभात्युच्चैः सेव्या गन्धकुटी तव ॥१५०॥
 वन्दारूपां मुनीन्द्राणां स्तोत्रप्रतिरवैर्मुहुः । स्तोतुकामेव भक्त्या त्वां सेवा भात्यतिसंमदात् ॥१५१॥
 परार्धरत्ननिर्माणाम् एनामरयन्तभास्वराम् । त्वामध्यासीनमानसा नाकभाजो भजन्त्यमी ॥१५२॥
 सशिखामणयोऽमीषां नग्नाणां भान्ति मौलयः । सदीपा इव रत्नार्घाः स्थापितास्त्वत्पदान्तिके^२ ॥१५३॥
 नतानां सुरकोटीनां वक्रास्त्यधिमस्तकम् । प्रसादांशा इवालग्न्या युष्मत्पादनखांशवः ॥१५४॥
 नखदर्पणसंक्रान्तबिम्बान्यमरयोषिताम् । दधत्यनूनि यक्त्राणि त्वदुपाङ्घ्र्यम्बुजश्रियम् ॥१५५॥
 वक्त्रेश्वरनरारीणां सन्धत्ते कुङ्कुमश्रियम् । युष्मत्पादतलच्छाया प्रसरंती जयाङ्गणा ॥१५६॥
 गणाधपुत्रितभूभागमध्यवर्ती त्रिमेखलः । पीठान्निरयसाभाति तवानिष्कृतमङ्गलः ॥१५७॥
 प्रथमोऽयं परिक्षेपो धर्मचक्रैरलङ्कृतः । द्वितीयोऽपि तथाऽमीभिः दिक्षवष्टासु महाध्वजैः ॥१५८॥
 श्रीमण्डपनिवेशस्ते योजनप्रमितोऽध्ययम् । त्रिजगज्जनताङ्गलप्रावेशोपग्रहक्षमः^३ ॥१५९॥
 धूलीतालपरिक्षेपो मानस्तम्भाः सरोसि च । खातिश्या सलिलापूर्णा बल्लीवनपरिच्छदः ॥१६०॥

आपके भामण्डलकी प्रभा सभाके चारो ओर फैल रही है ॥१४७॥ समस्त भाषाओंके भेदोंका अनुकरण करनेवाली अर्थात् समस्त भाषाओं रूप परिणत होनेवाली आपकी यह दिव्य ध्वनि जो वचन नहीं बोल सकते ऐसे पशु पक्षी आदि तिर्यञ्चोंके भी हृदयके अन्धकारको दूर कर देती है ॥१४८॥ हे प्रभो, आपकी यह प्रातिहार्यरूप आठ प्रकारकी विभूति आपकी लोकोत्तर महिमाको स्पष्ट रूपसे प्रकट कर रही है ॥१४९॥ मेरु पर्वतके समान ऊँचे तीन कटनीदार पीठपर रात्रके द्वारा सेवन करने योग्य आपकी यह ऊँची गन्धकुटी मेरुकी चूलिकाके समान सुशोभित हो रही है ॥१५०॥ वन्दना करनेवाले उत्तम मुनियोंके स्तोत्रोंकी प्रतिध्वनिसे यह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती है मानो भवितव्य हर्षसे आपकी स्तुति ही करना चाहती हो ॥१५१॥ हे प्रभो, जो श्रेष्ठ रत्नोंसे बनी हुई और अतिशय देदीप्यमान इस गन्धकुटीमें विराजमान हैं ऐसे आपकी, स्वर्गमें रहनेवाले देव तम् होकर सेवा कर रहे हैं ॥१५२॥ हे देव, जो अग्रभागमें लगे हुए मणिप्रोंसे सहित हैं ऐसे इन नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुट ऐसे जान पड़ते हैं मानो आपके चरणोंके समीप दीगदसहित रत्नोंके अर्थ ही स्थापित किये गये हों ॥१५३॥ नमस्कार करते हुए करोड़ों देवोंके मस्तकोंपर जो आपके चरणोंके नखोंकी किरणें पड़ रही थीं वे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो उनपर प्रसन्नताके अंश ही लग रहे हों ॥१५४॥ आपके नखरूपी दर्पणमें जितना प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसे ये देवांगनाओंके मुख आपके चरणोंके समीपमें कमलोंकी शोभा धारण कर रहे हैं ॥१५५॥ जवाके फूलके समान लाल वर्ण जो यह आपके पैरोंके तलवोंकी कान्ति फैल रही है वह देवांगनाओंके मुखोंपर कुङ्कुमकी शोभा धारण कर रही है ॥१५६॥ जो बारह सभाओंसे भरी हुई पृथिवीके मध्यभागमें वर्तमान है और जिसपर अनेक मङ्गल द्रव्य प्रकट हो रहे हैं ऐसा यह तीन कटनीदार आपका पीठरूपी पर्वत बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा है ॥१५७॥ इस पीठकी पहली परिधि धर्मचक्रोंसे अलंकृत है और दूसरी परिधि भी आठों दिशाओंमें फहराती हुई आपकी इन बड़ी बड़ी ध्वजाओंसे सुशोभित है ॥१५८॥ यद्यपि आपके श्रीमण्डपकी रचना एक ही योजन लम्बी-चौड़ी है तथापि वह तीनों जगत्के जनसमूहके निरन्तर प्रवेश कराते रहने रूप उपकार में समर्थ हैं ॥१५९॥ हे प्रभो, यह धूलीतालकी परिधि, ये मानस्तम्भ, सरोवर, स्वच्छ जलसे भरी हुई परिखा, लता-

१ निरञ्चाम् । २ तव पादसमीपे । ३ द्वादशगणस्थित । ४ उपकारदक्षः । त्रिजगज्जनानां

स्थानदाने समर्थ इत्यर्थः ।

सालत्रितयमुत्तुङ्गचतुर्गोपुरमण्डितम् । मङ्गलद्रव्यसन्दोहो निधयस्तोरणनि च ॥१६१॥
 नाट्यशालाद्वयं दीप्तं लसद्भूषणदीप्तम् । वनराजिपरिक्षेपश्चैत्यद्रुमपरिष्कृतः^१ ॥१६२॥
 वनवेदीद्वयं प्रोच्चैर्ध्वजमालाततावनिः । कल्पद्रुमवनाभोगाः^२ स्तूपहर्म्यावलीत्यपि ॥१६३॥
 सदोऽवनि^३रियं देव नृसुरासुरपावनी । त्रिजगत्सारसन्दोह इव कत्र निवेशितः ॥१६४॥
 बहिर्विभूतिरित्युच्चैः श्राविष्कृतमहोदयाः । लक्ष्मीमाध्यात्मिकीं व्यक्तं व्यनक्ति जिन तावकीम् ॥१६५॥
 सभापरिच्छदः सोऽयं सुरैस्तव विनिर्मितः । वैराग्यातिशयं नाथ नोपहृत्य^४प्रतर्कितः^५ ॥१६६॥
 इत्यप्यद्भुतमाहारमयः त्रिजगद्वल्लभो भवान् । स्तुत्योपतिष्ठमानः^६ मां पुनीतात्पूतशासनः ॥१६७॥
 श्रुत्वा स्तुतिप्रपञ्चेन तवाचिन्त्यतमा गुणाः । जयेशान नमस्तुभ्यमिति सङ्क्षेपतः स्तुवे ॥१६८॥
 जयेश जय निर्दग्धकर्मन्धनजयाजर । जय लोकगुरो सार्व जयताञ्जय जित्वर^७ ॥१६९॥
 जय लक्ष्मीपते जिष्णो जयानन्तगुणोज्ज्वल । जय विश्वजगद्बन्धो जय विश्वजगद्धित ॥१७०॥
 जयाखिलजगद्वेदिन् जयाखिलसुखोदय । जयाखिलजगज्ज्येष्ठ जयाखिलजगद्गुरो ॥१७१॥
 जय निर्जितमोहारे जय तजितमन्मथ । जय जन्मजरातङ्कविजयिन् विजितान्तक ॥१७२॥

वनोका समूह—ऊँचे ऊँचे चार गोपुर, दरवाजोंसे सुशोभित तीन कोट, मङ्गल द्रव्योंका समूह, निधियां, तोरण—दो-दो नाट्यशालाएँ, दो-दो सुन्दर भूषण, चैत्यवृक्षोंसे सुशोभित वन पंक्तिर्योंकी परिधि—दो वनवेदी, ऊँची ऊँची ध्वजाओंकी पंक्तिसे भरी हुई पृथिवी, कल्पवृक्षों के वनका विस्तार, स्तूप और मकानोंकी पंक्ति—इस प्रकार मनुष्य देव और धरणेन्द्रोंको पवित्र करनेवाली आपकी यह सभाभूमि ऐसी जान पड़ती है मानो तीनों जगत्की अच्छी अच्छी वस्तुओंका समूह ही एक जगह इकट्ठा किया गया हो ॥१६०—१६४॥ हे जिनेन्द्र, जिससे आपका महान् अभ्युदय या ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसी यह आपकी अतिशय उत्कृष्ट बाह्य विभूति आपकी अन्तरङ्ग लक्ष्मीको स्पष्ट रूपसे प्रकट कर रही है ॥१६५॥ हे नाथ, जिसके विषयमें कोई तर्क-वितर्क नहीं कर सकता ऐसी यह देवोंके द्वारा रची हुई आपके समवसरणकी विभूति आपके वैराग्यके अतिशयको नष्ट नहीं कर सकती है । भावार्थ—समवसरण सभाकी अनुपम विभूति देखकर आपके हृदयमें कुछ भी रागभाव उत्पन्न नहीं होता है ॥१६६॥ इस प्रकार जिनकी अद्भुत महिमा है, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, और जिनका शासन अतिशय पवित्र है ऐसे आप स्तुतिके द्वारा उपस्थान (पूजा) करनेवाले मुझे पवित्र कीजिये ॥१६७॥ हे भगवन्, आपकी स्तुतिका प्रपञ्च करना व्यर्थ है क्योंकि आपके गुण अत्यन्त अचिन्त्य हैं इसलिये मैं संक्षेपमें उतनी ही स्तुति करता हूँ कि हे ईशान, आपकी जय हो और आपको नमस्कार हो ॥१६८॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे कर्मरूप ईश्वरको जलानेवाले, आपकी जय हो, हे जरारहित, आपकी जय हो, हे लोकोंके गुरु, आपकी जय हो, हे सबका हित करने वाले, आपकी जय हो, और हे जयशील, आपकी जय हो ॥१६९॥ हे अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी जयशील, आपकी जय हो । हे अनन्तगुणोंसे उज्ज्वल, आपकी जय हो । हे समस्त जगत् के बन्धु, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्का हित करनेवाले, आपकी जय हो ॥१७०॥ हे समस्त जगत्को जाननेवाले, आपकी जय हो । हे समस्त सुखोंको प्राप्त करनेवाले, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्में श्रेष्ठ, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्के गुरु, आपकी जय हो ॥१७१॥ हे मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले, आपकी जय हो । हे कामदेवकी भर्त्सना करने

१ अलङ्कृतः 'परिष्कारो विभूषणम्' इत्यभिधानात् । २ नवाभोगः द०, इ०, । ३ समवसरण-भूमिः । ४ न ताशयति । ५ ऊहातीतः ऊहितुमशक्य इत्यर्थः । ६ स्तोत्रेणाचंयनम् । ७ पवित्रं कुरु । ८ जयशील ।

जय निर्मल निर्माय जय निर्मोह निर्मम । जय निर्मल निर्द्वन्द्व जय निष्कल^१ पुष्कल ॥१७३॥
 जय प्रबुद्ध सन्मार्ग जय दुर्मागरोधन । जय कर्मारिमर्माविद्ध^२ मंचक जयोद्धुर^३ ॥१७४॥
 जयाध्वरपते यज्वन् जय पूज्य महोदय । जयोद्धुर जयाचिन्त^४ सद्धर्मरथसारथे ॥१७५॥
 जय निस्तीर्णसंसारपापारवारगुणाकर । जय निःशेषनिष्पीतविद्यारत्नाकर प्रभो ॥१७६॥
 नमस्ते परमानन्तसुखरूपाय तायिने^५ । नमस्ते परमानन्दमयाय परमात्मने ॥१७७॥
 नमस्ते भुवनोद्भासिज्ञानभाभारभासिने^६ । नमस्ते नयनानन्दिपरमौदारिकत्विषे ॥१७८॥
 नमस्ते मस्तकन्यस्तस्वहस्ताञ्जलिकुङ्मलेः । स्तुताय त्रिदशाधीशेः स्वर्गावतरणोत्सवे ॥१७९॥
 नमस्ते प्रचलन्मौलिघटिताञ्जलिबन्धनेः । नृताय^७ मेरुशैलाग्रस्नाताय सुरसत्तमेः ॥१८०॥
 नमस्ते मुकुटोपाग्रलनहस्तपुटोद्भटः^८ । लौकान्तिकरंध्रीष्टाय^९ परिनिष्क्रमणोत्सवे ॥१८१॥
 नमस्ते स्वकिरीटाग्ररत्नप्रावान्तचुम्बिभिः । कराब्जमुकुलैः प्राप्तकेवलज्याय नाकिनाम् ॥१८२॥
 नमस्ते पारनिर्वाणकल्याणेषुपि प्रवत्स्यति^{१०} । पूजनीयाय वल्लिन्द्रज्वलन्मुकुटकोटिभिः ॥१८३॥

वाले, आपकी जय हो । हे जन्मजरारूपी रोगको जीतनेवाले, आपकी जय हो । हे मृत्युको जीतनेवाले, आपकी जय हो ॥१७२॥ हे मदरहित, मायारहित, आपकी जय हो । हे मोह रहित, ममतारहित, आपकी जय हो । हे निर्मल और निर्द्वन्द्व, आपकी जय हो । हे शरीर-रहित, और पूर्ण ज्ञानसहित, आपकी जय हो ॥१७३॥ हे समीचीन मार्गको जाननेवाले, आप की जय हो । हे मिथ्या मार्गको रोकनेवाले, आपकी जय हो । हे कर्मरूपी शत्रुओंके मर्मको वेधन करनेवाले, आपकी जय हो । हे धर्मचक्रके द्वारा विजय प्राप्त करनेमें उत्कट, आपकी जय हो ॥१७४॥ हे यज्ञके अधिपति, आपकी जय हो । हे कर्मरूप ईंधनको ध्यानरूप अग्नि में होम करनेवाले, आपकी जय हो । हे पूज्य तथा महान् वैभवको धारण करनेवाले, आपकी जय हो । हे उत्कृष्ट दयारूप चिह्नसे सहित तथा हे समीचीन धर्मरूपी रथके सारथि, आपकी जय हो ॥१७५॥ हे संसाररूपी समुद्रको पार करनेवाले, हे गुणोंकी खानि, आपकी जय हो । हे समस्त विद्यारूपी समुद्रका पान करनेवाले, हे प्रभो, आपकी जय हो ॥१७६॥ आप उत्कृष्ट अनन्त सुखरूप हैं तथा सबकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो । आप परम आनन्दमय और परमात्मा हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१७७॥ आप समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी दीप्तिके समूहसे देदीप्यमान हो रहे हैं इसलिये आपको नमस्कार हो । आपके परमौदारिक शरीरकी कान्ति नेत्रोंको आनन्द देनेवाली है इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१७८॥ हे देव, स्वर्गावतरण अर्थात् गर्भकल्याणकके उत्सवके समय इन्द्रोंने अपने हाथों की अञ्जलिरूपी बिना खिले कमल अपने मस्तकपर रखकर आपकी स्तुति की थी इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१७९॥ अपने तम्र हुए मस्तकपर दोनों हाथ जोड़कर रखनेवाले उत्तम उत्तम देवोंने जिनकी स्तुति की है तथा सुमेरु पर्वतके अग्रभागपर जिनका जन्माभिषेक किया गया है ऐसे आपके लिये नमस्कार है ॥१८०॥ दीक्षाकल्याणकके उत्सवके समय अपने मुकुट के समीप ही हाथ जोड़कर लगा रखनेवाले लौकान्तिक देवोंने जिनका अधिष्ठान अर्थात् स्तुति की है ऐसे आपके लिये नमस्कार हो ॥१८१॥ अपने मुकुटके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंका चुम्बन करनेवाले देवोंके हाथरूपी मुकुलित कमलोंके द्वारा जिनके केवलज्ञानकी पूजा की गई है ऐसे आपके लिये नमस्कार हो ॥१८२॥ हे भगवन्, जब आपका मोक्षकल्याणक होगा

१ शरीरबन्धनरहित । २ मर्म विध्यति ताडयतीति भर्माधित् तस्य सम्बुद्धिः । 'नहिवृत्तिवृषि ध्यधिसहितनिरुचि बवौ कारकस्येति' दीर्घः । ३ उद्भट । ४ दयाचिन्ह द०, ल०, इ०, अ०, प०, स० । ५ पालकाय । ६ जानकिरणसमूहप्रकाशिने । ७ स्तुताय । ८ भूमद्भिः समर्थः वा । ९ अधिकमिष्टाय सत्कारानुमतायेत्यर्थः । १० भाविनि ।

नमस्ते प्राप्तकल्याणमहेज्याय महौजसे । प्राज्यत्रैलोक्यराज्याय ज्यायसे ज्यायसामपि ॥१८४॥
 नमस्ते मतनाकीन्द्रचूलारत्नाब्जिताडव्यू । नमस्ते दुर्जयारातिनिर्जयोपाजितश्रिये ॥१८५॥
 नमोऽस्तु तुभ्यमिद्वद्धं सपर्यामर्हते^१ पराम् । रहोरजोऽरिघाताच्च^२ प्राप्ततन्नामरूढये^३ ॥१८६॥
 जितान्तक नमस्तुभ्यं जितमोह नमोऽस्तु ते । जितानङ्ग नमस्ते स्ता^४द् विरागाय स्वयम्भुवे ॥१८७॥
 त्वां नमस्यन्^५ जनेनैर्मनस्यते सुकृती पुमान् । गां जयेज्जितजेतव्यस्त्वज्जयोद्धोषणात्कृती ॥१८८॥
 त्वत्स्तुतेः पूतवागस्मि त्वत्समृतेः पूतमानसः । त्वन्नतेः पूतवेहोऽस्मि धन्योऽस्म्यद्य त्वदीक्षणात् ॥१८९॥
 ब्रह्मद्य कृतार्थोऽस्मि जन्माद्य सफलं मम । मुनिवृत्ते^६ दृशौ मेऽद्य सुप्रसन्नं मनोऽद्य मे ॥१९०॥
 त्वत्तीर्थसरसि स्वच्छे पुण्यतोयसुसम्भृते । सुस्नातोऽहं चिरादद्य पूतोऽस्मि सुखनिवृत्तः^७ ॥१९१॥
 त्वत्पादनखभाजालसलिलैरस्तकल्मषैः । अधिभस्तकमालभ्नेरभिषिक्त इवास्यहम् ॥१९२॥
 एकतः सार्वभौमश्रीः इयमप्रतिशासता । एकतश्च भवत्पादसेवालोकैकपावनी ॥१९३॥

उस समय भी देदीप्यमान मुकुटोंको धारण करनेवाले बल्लिकुमार देवोंको इन्द्र आपकी पूजा करेंगे इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१८३॥ हे नाथ, आपको गर्भ आदि कल्याणकोंके समय बड़ी भारी पूजा प्राप्त हुई है, आप महान् तेजके धारक हैं, आपको तीन लोकका उत्कृष्ट राज्य प्राप्त हुआ है और आप वड़ोंमें भी वड़े अथवा श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१८४॥ नमस्कार करते हुए स्वर्गके इन्द्रोंके मुकुटमें लगे हुए मणियोंसे जिनके चरणोंकी पूजा की गई है ऐसे आपके लिये नमस्कार हो और जिन्होंने कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओंको जीतकर अतन्तचतुष्टयरूपी उत्तम लक्ष्मी प्राप्त की है ऐसे आपके लिये नमस्कार हो ॥१८५॥ हे उत्कृष्ट ऋद्धियोंको धारण करनेवाले, आप उत्कृष्ट पूजाके योग्य हैं तथा रहम् अर्थात् अन्तराय रज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण और अरि अर्थात् मोहनीय कर्मके नष्ट करनेसे आपने 'अरिहन्त' ऐसा सार्थक नाम प्राप्त किया है इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१८६॥ हे मृत्युको जीतनेवाले, आपको नमस्कार हो । हे मोहको जीतनेवाले, आपको नमस्कार हो । और हे कामको जीतनेवाले, आप वीतराग तथा स्वयंभू हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१८७॥ हे नाथ, जो आपको नमस्कार करता है वह पुण्यात्मा पुरुष अन्य अनेक नमः पुरुषोंके द्वारा नमस्कृत होता है और जो आपके विजयकी घोषणा करता है वह कुशल पुरुष जीतने योग्य समस्त कर्मरूपी शत्रुओंको जीतकर गो अर्थात् पृथिवी या वाणीको जीतता है ॥१८८॥ हे देव, आज आपकी स्तुति करनेसे मेरे वचन पवित्र हो गये हैं, आपका स्मरण करनेसे मेरा मन पवित्र हो गया है, आपको नमस्कार करनेसे मेरा शरीर पवित्र हो गया है और आपके दर्शन करनेसे मैं धन्य हो गया हूं ॥१८९॥ हे भगवन्, आज मैं कृतार्थ हो गया हूं, आज मेरा जन्म सफल हो गया है, आज मेरे नेत्र संतुष्ट हो गये हैं और आज मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न हो गया है ॥१९०॥ हे देव, स्वच्छ और पुण्यरूप जलसे खूब भरे हुए आपके तीर्थरूपी सरोवरमें मैंने चिरकालसे अच्छी तरह स्नान किया है इसीलिये मैं आज पवित्र तथा सुखसे सन्तुष्ट हो रहा हूं ॥१९१॥ हे प्रभो, जिसने समस्त पाप नष्ट कर दिये हैं ऐसा जो यह आपके चरणोंके नखोंकी कान्तिका समूहरूप जल मेरे मस्तकपर लग रहा है उससे मैं ऐसा मालूम होता हूं मानो मेरा अभिषेक ही किया गया हो ॥१९२॥ हे विभो, एक ओर तो मुझे दूसरेके शासनसे रहित यह चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त हुई है और एक ओर

१ पूजायाः योग्याय । २ अन्तरायज्ञानावरणमोहनीयघातात् । ३ अर्हन्निति नामप्रसिद्धाय ।
 ४ भवतु । ५ नमस्कृतेन । ६ भोजितजेतव्यपक्ष । ७ अत्यन्तसुखवत्यौ । ८ सुखनृत्तः ।

यद्विभ्रान्तिविमूढेन^१ महद्देवेन^२ मयार्जितम् । तत्त्वत्सन्दर्शनाल्लीन^३ तमो नृपं^४ रवेर्यथा ॥१६४॥
त्वत्पदस्मृतिमात्रेण पुमानेति पवित्रताम् । किमुत त्वद्गुणस्तुत्या भक्त्यैवं सुप्रयुक्तया ॥१६५॥
भगवंस्त्वद् गुणस्तोवाद्यन्यथा पुण्यमाजितम्^५ । तेनास्तु त्वत्पदाम्भोजे परा भक्तिः सदापि मे ॥१६६॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं चरावरगुहं परमादिदेवं स्तुत्वाऽधिराट् धरणिपेः सममिद्वबोधः ।
आनन्दबाष्पलवसिक्तपुरःप्रदेशो भक्त्या ननाम करकुङ्मललग्नमौलिः ॥१६७॥
श्रुत्वा पुराणपुरुषाच्च पुराणधर्मं कर्मरिचक्रजयलब्धविशुद्धबोधात् ।
सत्प्रीतिमाप परमां भरताधिराजः प्रायो धृतिः कृतधियां स्वहितप्रवृत्तौ ॥१६८॥
ग्रामूच्छ्रय च स्वगुरुमादिगुहं निधीशो व्यालोलमौलितटताडितपादपीठः ।
भूयोऽनुगम्य च मुनीन् प्रणतेन मूर्ध्ना स्वावासभूमिमभिगन्तुमना बभूव ॥१६९॥
भक्त्यार्पितां स्रजमिवाधिपदं जिनस्य स्वां दृष्टिमन्वितलसत्सुमनोविकासाम्^६ ।
शेषास्थयैवं^७ च पुनर्विनिवर्त्य कृच्छात् चक्राधिपो जिनसभाभवनात्प्रतस्थे ॥१७०॥

समस्त लोकको पवित्र करनेवाली आपके चरणोंकी सेवा प्राप्त हुई है ॥१६३॥ हे भगवन्, विशाभूम होनेसे विमूढ होकर अथवा दिग्विजयके लिये अनेक दिशाओंमें भ्रमण करनेके लिये मुग्ध होकर मैंने जो कुछ पाप उपार्जन किया था वह आपके दर्शन मात्रसे उस प्रकार विलीन हो गया है जिस प्रकार कि सूर्यके दर्शनसे रात्रिका अन्धकार विलीन हो जाता है ॥१६४॥ हे देव, आपके चरणोंके स्मरणमात्रसे ही जब मनुष्य पवित्रताको प्राप्त हो जाता है तब फिर इस प्रकार भक्तिसे की हुई आपके गुणोंकी स्तुतिसे क्यों नहीं पवित्रताको प्राप्त होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥१६५॥ हे भगवन्, आपके गुणोंकी स्तुति करनेसे जो मैंने पुण्य उपार्जन किया है उससे यही चाहता हूँ कि आपके चरणकमलोंमें मेरी भक्ति सदा बनी रहे ॥१६६॥ इस प्रकार चर अचर जीवोंके गुरु सर्वोत्कृष्ट भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर जिसने आनन्द के आँसुओंकी वृद्धीसे सामनेका प्रदेश सींच दिया है, जिसका ज्ञान प्रकाशमान हो रहा है, और जिसने दोनों हाथ जोड़कर अपने मस्तकसे लगा रखे हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने भक्तिपूर्वक भगवान् को नमस्कार किया ॥१६७॥ कर्मरूपी शत्रुओंके समूहको जीतनेसे जिन्हें विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे पुराण पुरुष भगवान् वृषभदेवसे पुरातन धर्मका स्वरूप सुनकर भरताधिपति महाराज भरत बड़ी प्रसन्नताको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषोंको प्रायः अपना हित करनेमें ही सन्तोष होता है ॥१६८॥ तदनन्तर अपने चञ्चल मुकुटके किनारेसे जिन्होंने भगवान् के पाद पीठका स्पर्श किया है ऐसे निधियोंके स्वामी भरत महाराज अपने पिता आदिनाथ भगवान् से पूछकर तथा वहाँ विराजमान अन्य मुनियोंको नम्र हुए मस्तकसे नमस्कार कर अपनी निवासभूमि अयोध्याको जानेके लिये तत्पर हुए ॥१६९॥ चक्राधिपति भरतने जिसमें अनुक्रमसे खिले हुए सुन्दर फूल गुंथे हुए हैं और जो श्री जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें भक्तिपूर्वक अर्पित की गई है ऐसी मालाके समान, सुन्दर मनकी प्रसन्नतासे युक्त अपनी दृष्टिको शेषाक्षत समझ बड़ी कठिनाईसे हटाकर भगवान् के सभाभवन अर्थात् समवसरणसे प्रस्थान किया ॥१७०॥

१ दिग्विजयभ्रमणमूढेन । २ महत्पापम् । ३ नष्टम् । ४ आदित्यस्य । ५-मर्जितम् ल० ।
६ शोभनमनोविकासाम्, सुपुष्पविकासञ्च । ७ सिद्धशेषास्थया ।

आलोकयन् जिनसभादनिभूतिभिर्द्धां विस्फारितेक्षणयुगो युगदीर्घबाहुः ।

पृथ्वीश्वरैरनुगतः प्रणतोत्तमाङ्गैः प्रत्यावृतत्स्वसदनं मनुवंशकेतुः ॥२०१॥

(पुण्योदयान्निधिपतिविजिताखिलाशस्तभिजितौ^१ गमितषष्टिसमा^२सहस्रः ।

प्रीत्याऽभिवन्द्य जिनमाप परं प्रमोदं^३ तत्पुण्यसङ्ग्रहविधौ सुधियो यतध्वम्^४ ॥२०२॥

इत्याषं भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण-

सङ्ग्रहे भरतराजकैलासाभिगमनवर्णनं नाम

त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३३ ॥

भगवान्के समवसरणकी प्रकाशमान विभूतिको देखनेसे जिनके दोनों नेत्र खुल रहे हैं, जिनकी भुजायें युग (जुवाँरी) के समान लम्बी हैं, मस्तक भुकाये हुए अनेक राजा लोग जिनके पीछे पीछे चल रहे हैं और जो कुलकरींके वंशकी पताकाके समान जान पड़ते हैं ऐसे भरत महाराज अपने घरकी ओर लौटे ॥२०१॥ चूँकि पुण्यके उदयसे ही चक्रवर्तीने समस्त दिशाएं जीतीं, तथा उनके जीतनेमें साठ हजार वर्ष लगाये और फिर प्रीतिपूर्वक जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त किया । इसलिये हे बुद्धिमान् जन, पुण्यके संग्रह करनेमें प्रयत्न करो ॥२०२॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहके भाषानुवादमें भरतराजका कैलाश पर्वतपर जानेका वर्णन करनेवाला तैंतीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व

अथावरुह्य^१ कैलासाद् अग्नीन्द्रादिव^२ देवराट् । चक्री प्रयाणमकरोद् विनीताभिमुखं कृती ॥१॥
 सैन्यैरनुगतो रेजे^३ प्रयांश्चक्री निजालयम् । गङ्गाय^४ इव दुर्वारः सरिदोर्ध्वैरपाम्पतिः ॥२॥
 ततः कतिपर्यरेव प्रयाणंश्चक्रिणो बलम् । अयोध्यां प्रापवाबद्धतीरणां चित्रकेतनाम् ॥३॥
 चन्दनद्रवससिक्तसुसम्पुष्ट^५ महीतला । पुरी स्नातानुलिप्तेषु सा रेजे पत्युरागमे ॥४॥
 नातिदूरे^६ निविष्टस्य प्रवेशसमये प्रभोः^७ । चक्रमस्तारि चक्रं च नाक्रंत^८ पुरगोपुरम् ॥५॥
 सा पुरी गोपुरोपान्तस्थितचक्रांशुरञ्जिता । धृतसन्ध्यातपेवासीत् कुङ्कुमापिञ्जरच्छविः ॥६॥
 सत्यं भरतराजोऽयं धौरेयश्चक्रिणामिति । धृतदिव्येव^९ सा जज्ञे ज्वलच्चक्रा पुरः^{१०} पुरी ॥७॥
 ततः कतिपर्ये^{११} देवाश्चक्ररत्नाभिरक्षिणः । स्थितमेकपदे^{१२} चक्रं वीक्ष्य विस्मयमाययुः ॥८॥
 सुरा जातरुषः केचित्किं किमित्युच्चरद्गिरः । अलातचक्रव^{१३} द्ध्रेमः करवालापितः करैः ॥९॥
 किमम्बरमणैर्विम्बम्बरात्परिलम्बते । प्रतिसूर्यः किमुद्भूत इत्यन्ये^{१४} सुमुहुर्मुहुः ॥१०॥

अथानन्तर—सुमेरु पर्वतसे इन्द्रकी तरह कैलास पर्वतसे उतरकर उस बुद्धिमान् चक्रवर्ती ने अयोध्याकी ओर प्रस्थान किया ॥१॥ सेनाके साथ-साथ अपने घरकी ओर प्रस्थान करता हुआ चक्रवर्ती ऐसा सुशोभित होता था मानो नदियोंके समूहके साथ किसीसे न रुकनेवाला गङ्गाका प्रवाह समुद्रकी ओर जा रहा हो ॥२॥ तदनन्तर कितने ही मुकाम तय कर चक्रवर्ती की वह सेना जिसमें तोरण बंधे हुए हैं और अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसी अयोध्या नगरी के समीप जा पहुँची ॥३॥ जिसकी बृहत्कार साफ की हुई पृथिवी घिसे हुए गीले चन्दनसे सींची गई है ऐसी वह अयोध्यानगरी उस समय इस प्रकार सुशोभित हो रही थी मानो उसने पतिके आनेपर स्नान कर चन्दनका लेप ही किया हो ॥४॥ महाराज भरत नगरीके समीप ही ठहरे हुए थे वहाँसे नगरीमें प्रवेश करते समय जिसने समस्त शत्रुओंके समूहको नष्ट कर दिया है ऐसा उनका चक्ररत्न नगरके गोपुरद्वारको उल्लंघन कर आगे नहीं जा सका—बाहर ही रुक गया ॥५॥ गोपुरके समीप रुके हुए चक्रकी किरणोंसे अनुरक्त होनेके कारण जिसकी कान्ति कुंकुमके समान कुछ कुछ पीली हो रही है ऐसी वह नगरी उस समय इस प्रकार जान पड़ती थी मानो उसने संध्याकी लालिमा ही धारण की हो ॥६॥ जिसके आगे चक्ररत्न देदीप्यमान हो रहा है ऐसी वह नगरी उस समय ऐसी जान पड़ती थी मानो यह भरतराज रात्रिमुच ही सब चक्रवर्तियोंमें मुख्य है इसलिये उसने दिव्य शक्ति धारण की हो अथवा अपनी वातकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिये उसने तप्त अयोगोलक आदिको धारण किया हो ॥७॥ तदनन्तर चक्ररत्नकी रक्षा करनेवाले कितने ही देव चक्रको एक स्थानपर खड़ा हुआ देख कर आश्चर्य को प्राप्त हुए ॥८॥ जिन्हें क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे कितने ही देव, क्या है ? क्या है ? इस प्रकार चिल्लाते हुए हाथमें तलवार लेकर अलातचक्रकी तरह चारों ओर घूमने लगे ॥९॥ क्या यह आकाशसे सूर्यका बिम्ब लटक पड़ा है ? अथवा कोई दूसरा ही सूर्य उदित हुआ है ? ऐसा विचार कर कितने ही लोग बार बार मोहित हो रहे थे ॥१०॥

१ अयतीर्थ । २ मेरीः । ३ गच्छन् । ४ गङ्गाय ल०, । ५ सुष्ठुसम्माजित । ६ समीपे । ७ विभोः ल०, द० । ८ प्रवेशं नाकरोत् । ९ पुष्पगोपुरे ल०, ल० । १० शपथ । ११ अग्रभागे । १२ केचन । १३ युगपत् सपदि वा । १४ चक्रवत्काष्ठाग्निभ्रमणवत् । १५ मुह्यन्ति स्म ।

कस्याप्यकालचक्रेण^१ पतितव्यं^२ विरोधिनः । क्रूरेणैव ग्रहेणाद्य यतश्चक्रेण वक्रितम् ॥११॥
 अथवाद्यापि जेतव्यः^३ पक्षः कोऽप्यस्ति चक्रिणः । चक्रस्खलनतः कश्चिद्वित्थं तज्जेवितकितम् ॥१२॥
 सेनानीप्रमुखास्तावत् प्रभवे^४ तन्म्यवेदयन् । तद्वातेऽङ्कणनाचचक्री किमप्यासीत्स्वस्मयः ॥१३॥
 अचिन्त्यच्च किं नाम चक्रमप्रतिशासने । मयि स्थितेस्खलत्यद्य क्वचिदप्यस्खलद्गति ॥१४॥
 सम्प्रधार्यमिव^५ तावद्विद्याहूय पुरोधसम् । धीरो धीरतरां वाचमित्युच्चैराजगो मनुः ॥१५॥
 वदनोऽस्य मुखाम्भोजाद् व्यक्ताकूता^६ सरस्वती । निर्ययी सदलङ्कारा शम्फलीव^७ जयश्रियः ॥१६॥
 चक्रमाक्रान्तदिवचकम् अरिचक्रभयङ्करम् । कस्मान्नास्मत्पुरद्वारि क्रमते न्यक्ताकूतम् ॥१७॥
 विश्वदिग्विजये पूर्वदक्षिणापरवर्द्धिषु । यदासीदस्खलद्वृत्ति रूपादेश्च गुहादये ॥१८॥
 चक्रं तदधुना कस्मात् स्खलत्यस्मद्गुहाङ्गणे । प्रायोऽस्माभिर्विरुद्धेन भवितव्यं जितोषुणा ॥१९॥
 किमसाध्यो द्विषत्कश्चिदस्त्यस्मद्भक्तिगोचरे^८ । सनाभिः^९ कोऽपि किं वाऽस्मान्द्वेष्टि दुष्टान्तराशयः ॥२०॥
 यः कोऽप्यकारणद्वेषी खलोऽस्मान्नाभिनन्दति । प्रायः स्खलन्ति चेतांसि महस्वपि दुरात्मनाम् ॥२१॥
 विमत्सराणि चेतांसि महतां परवृद्धिषु । मत्सरीणि तु तान्येव क्षुद्राणामन्यवृद्धिषु ॥२२॥
 अथवा दुर्वदाविष्टः कश्चिदप्रणतोऽस्ति मे । स्ववर्ग्यस्तन्मदोच्छ्रियै^{१०} नूनं चक्रेण वक्रितम् ॥२३॥

आज यह चक्र क्रूरग्रहके समान वक्र हुआ है इसलिये अकालचक्रके समान किसी विरोधी शत्रु पर अवश्य ही पड़ेगा ॥११॥ अथवा अब भी कोई चक्रवर्तीके जेतव्य पक्षमें हैं-जीतने योग्य शत्रु विद्यमान है इस प्रकार चक्रके रुक जानेसे चक्रके स्वरूपको जाननेवाले कितने ही लोग विचार कर रहे थे ॥१२॥ सेनापति आदि प्रमुख लोगोंने यह बात चक्रवर्तीसे कही और उसके सुनते ही वे कुछ आश्चर्य करने लगे ॥१३॥ वे विचार करने लगे कि जिसकी आज्ञा कहीं भी नहीं रुकती ऐसे मेरे रहते हुए भी, जिसकी गति कहीं भी नहीं रुकी ऐसा यह चक्ररत्न आज क्यों रुक रहा है ? ॥१४॥ इस बातका विचार करना चाहिये यही सोचकर धीर वीर मनु ने पुरोहितको बुलाया और उससे नीचे लिखे हुए बहुत ही गम्भीर वचन कहे ॥१५॥ कहते हुए भरत महाराजके मुखकमलसे स्पष्ट अभिप्रायवाली और उत्तम उत्तम अलंकारोंसे सजी हुई जो वाणी निकल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो विजयलक्ष्मीकी दूती ही हो ॥१६॥ जिसने समस्त दिशाओंके समूहपर आक्रमण किया है जो शत्रुओंके समूहके लिये भयंकर है और जिसने सूर्यकी किरणोंका भी तिरस्कार कर दिया है ऐसा यह चक्र मेरे ही नगरके द्वारमें क्यों नहीं आगे बढ़ रहा है-प्रवेश कर रहा है ? ॥१७॥ जो समस्त दिशाओंको विजय करनेमें पूर्व-दक्षिण और पश्चिम समुद्रमें कहीं नहीं रुका, तथा जो विजयावकी दोनों गुफाओंमें नहीं रुका वही चक्र आज मेरे घरके आंगनमें क्यों रुक रहा है ? प्रायः मेरे साथ विरोध रखनेवाला कोई विजिगीषु (जीतकी इच्छा करनेवाला) ही होना चाहिये ॥१८-१९॥ क्या मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्र (राज्य) में ही कोई असाध्य शत्रु मौजूद है अथवा दुष्ट हृदयवाला मेरे गोत्र का ही कोई पुरुष मुझसे द्वेष करता है ॥२०॥ अथवा बिना कारण ही द्वेष करनेवाला कोई दुष्ट पुरुष मेरा अभिनन्दन नहीं कर रहा है-मेरी वृद्धि नहीं सह रहा है सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट पुरुषोंके हृदय प्रायः कर बड़े आदमियोंपर भी बिगड़ जाते हैं ॥२१॥ महापुरुषोंके हृदय दूसरोंकी वृद्धि होनेपर मात्सर्यसे रहित होते हैं परन्तु क्षुद्र पुरुषोंके हृदय दूसरोंकी वृद्धि होनेपर ईर्ष्या सहित होते हैं ॥२२॥ अथवा दुष्ट अहंकारसे घिरा हुआ कोई मेरे ही घरका

१ अपमृत्युना । २ गन्तव्यम् मर्त्यव्यमित्यर्थः । ३ जेतव्यपक्षः ल०, द० । ४ चक्रिणः । ५ विचार्यम् ।

६ व्यक्ताभिप्राया । ७ कुट्टणी । ८ भुक्तिक्षेत्रे । ९ सपिण्डः । 'सपिण्डास्तु सनामयः' एवमभिधानात् । नाभिसम्बन्धीत्यर्थः । १० आत्मवर्गो भवः ।

खलूपेक्ष्य^१ लघोया^२ नप्युच्छेद्यो लघु^३ तावृशः । क्षुद्रो रेणुरिवाक्षिस्थो ह^४ जल्परिरुपेक्षितः ॥२४॥
 बलाबुद्धरणीयो हि क्षोबीयानपि^५ कण्टकः । अनुद्धतः पदस्थोऽसौ भवेत्पीडाकरो भृशम् ॥२५॥
 चक्रं नाम परं देवं रत्नानामिदमग्रिमम् । गतिस्खलनमेतस्य न विना कारणाद् भवेत् ॥२६॥
 ततो बाल्यमिदं कार्यं यच्चक्रेणार्यं सूचितम् । सूचिते^६ खलु राज्याङ्गे^७ विकृतिर्नाल्पकारणात् ॥२७॥
 तदत्र कारणं चित्यं त्वया धीमन्निदन्तया^८ । अनिरूपितं कार्याणां नेह नामुत्र सिद्ध्यः ॥२८॥
 त्वयोदं कार्यं विज्ञानं तिष्ठते^९ दिव्यचक्षुषि । तमसां छेदने कोऽन्यः प्रभवदंशुमालिनः ॥२९॥
 निवेद्य कार्यमित्यस्मै देवज्ञाय^{१०} मितक्षरैः । विरराम प्रभुः प्रायः प्रभवो मितभाषिणः ॥३०॥
 ततः प्रसन्नगम्भीरपदालङ्कारकोमलाम् । भारतीं भरतेशस्य प्रबोधयेति सोऽब्रवीत् ॥३१॥
 अस्ति माधुर्यमस्त्योजस्तदस्ति पदसौष्ठवम् । अस्त्यर्थानुगमोऽन्यत्किं^{११} यन्नास्ति त्वद्वचोमये^{१२} ॥३२॥
 शास्त्रज्ञा वयमेकान्तात् नाभिज्ञाः कार्ययुक्तिषु । शास्त्रप्रयोगवित् कोऽन्यस्त्वत्समो राजनीतिषु ॥३३॥
 त्वमादिराजो राजर्षिस्तद्विद्यास्त्व^{१३} दुपक्रमम्^{१४} । तद्विद्वत्प्रयुञ्जाना न जिह्मीमः कथं वयम् ॥३४॥

मनुष्य नम् नहीं हो रहा है, जान पड़ता है यह चक्र उसीका अहंकार दूर करनेके लिये वक्र हो रहा है ॥२३॥ शत्रु अत्यन्त छोटा भी हो तो भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, द्वेष करने वाला छोटा होनेपर भी शीघ्र ही उच्छेद करने योग्य है क्योंकि आँखमें पड़ी हुई धूलिकी कणिका के समान उपेक्षा किया हुआ छोटा शत्रु भी पीड़ा देनेवाला हो जाता है ॥२४॥ कांटा यदि अत्यन्त छोटा हो तो भी उसे जबरदस्ती निकाल डालना चाहिये क्योंकि पैरमें लगा हुआ कांटा यदि निकाला नहीं जावेगा तो वह अत्यन्त दुःखका देनेवाला हो सकता है ॥२५॥ यह चक्ररत्न उत्तम देवरूप है और रत्नोंमें मुख्य रत्न है इसकी गतिका स्खलन बिना किसी कारण के नहीं हो सकता है ॥२६॥ इसलिये हे आर्य, इस चक्रने जो कार्य सूचित किया है वह कुछ छोटा नहीं है क्योंकि यह राज्यका उत्तम अङ्ग है इसमें किसी अल्पकारणसे विकार नहीं हो सकता है ॥२७॥ इसलिये हे बुद्धिमान् पुरोहित, आप इस चक्ररत्नके रक्कनेमें क्या कारण है इसका अच्छी तरह विचार कीजिये क्योंकि बिना विचार किये हुए कार्योंकी सिद्धि न तो इस लोकमें होती है और न परलोक हीमें होती है ॥२८॥ आप दिव्य नेत्र हैं इसलिये इस कार्य का ज्ञान आपमें ही रहता है अर्थात् आप ही चक्ररत्नके रक्कनेका कारण जान सकते हैं क्योंकि अन्धकारको नष्ट करनेमें सूर्यके सिवाय और कौन समर्थ हो सकता है ? ॥२९॥ इस प्रकार महाराज भरत थोड़े ही अक्षरोंके द्वारा इस निमित्तज्ञानीके लिये अपना कार्य निवेदन कर चुप हो रहे सो ठीक ही है क्योंकि प्रभु लोग प्रायः थोड़े ही बोलते हैं ॥३०॥ तदनन्तर निमित्तज्ञानी पुरोहित भरतेश्वरको समझानेके लिये प्रसन्न तथा गम्भीर पद और अलंकारोंसे कोमल वचन कहने लगा ॥३१॥ जो माधुर्य, जो ओज, जो पदोंका सुन्दर विन्यास और जो अर्थकी सरलता आपके वचनोंमें नहीं है वह क्या किसी दूसरी जगह है ? अर्थात् नहीं है ॥३२॥ हम लोग तो केवल शास्त्रको जाननेवाले हैं कार्य करनेकी युक्तियोंमें अभिज्ञ नहीं हैं परन्तु राजनीतिमें शास्त्रके प्रयोगको जाननेवाला आपके समान दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है ॥३३॥ आप राजाओंमें प्रथम राजा हैं और राजाओंमें ऋषिके समान श्रेष्ठ होनेसे राजर्षि हैं यह राजविद्या केवल आपसे ही उत्पन्न हुई है इसलिये उसे जाननेवाले हम लोग

१ नोपेक्षणीयः । २ अतिशयने लघुः । ३ शीघ्रम् । ४ पीडां करोति । ५ अतिशयने क्षुद्रः । ६ सूच्छते । ७ चक्रे । ८ प्रतीयमानस्वरूपतया । ९ अविवारित । १० निश्चितं भवति । ११ निमित्तिकाय । १२ व्यक्तं प०, ल० । १३ तत्र वचन-प्रपञ्चे । १४ राजविद्याः । १५ त्वदुपक्रमात् ल० । त्वया पूर्व प्रवर्तितं कार्यविज्ञानम् ।

तथापि त्वत्कृतोऽस्मासु सत्कारोऽनन्यगोचरः । तनोति गौरवं लोके ततः स्मो वक्तुमुद्यताः ॥३५॥
 इत्यनुश्रुतमस्माभिर्देवं दैवज्ञशासनम्^१ । नास्ति चक्रस्य विश्रान्तिः सावशेषे दिशां जये ॥३६॥
 ज्वलद्भिः करालं वो जैत्रमस्त्रमिदं ततः । संस्तम्भितमिवातर्क्यं^२ पुरद्वारि वितम्बते ॥३७॥
 अरिभिन्नमरेमित्रं मित्रमित्रमिति श्रुतिः । श्रुतिमात्रे स्थिता देव प्रजास्त्वय्यनुशासति ॥३८॥
 तथाप्यस्त्वेष्वेव जेतव्यः पक्षः कोऽपि तवाधुना । योऽन्तर्गृहे कृतोऽध्यामः कूरो रोग इवोदरे ॥३९॥
 बहिर्मण्डलमेवासीत् परिक्रान्तमिदं त्वया । अन्तर्मण्डलसंशुद्धिर्भनाग्न्याद्यापि जायते ॥४०॥
 जितजेतव्यपक्षस्य न नम्रा भूतरस्तव । व्युत्थिताश्च^३ सजातीया विघाताय न नु प्रभोः ॥४१॥
 स्वपक्षेरेव तेजस्वी महानप्यपुरुषद्वये^४ । प्रत्यर्कमर्ककान्तेन^५ ज्वलतेदमुदाहृतम् ॥४२॥
 विबलोऽपि सजातीयो लब्ध्वा तीक्ष्णं प्रतिष्कसम्^६ । दण्डः परश्वधस्येव^७ निवर्हयति^८ पार्थिवम्^९ ॥४३॥
 भूतरोऽमी तवाजय्या बलिनो भानशालिनः । यवीयांस्तेषु धीरेयो धीरो बाहुबली बली ॥४४॥
 एकाग्रशत^{१०} संख्यास्ते^{११} सोदर्या कीर्षशालिनः । प्रभोरादिगुरोर्नान्यं प्रणमाम इति स्थिताः ॥४५॥

आपके ही सामने उसका प्रयोग करते हुए क्यों न लज्जित हों ॥३४॥ तथापि आपके द्वारा किया हुआ हमारा असाधारण सत्कार लोकमें हमारे गौरवको बढ़ा रहा है इसलिये ही मैं कुछ कहनेके लिये तैयार हुआ हूँ ॥३५॥ हे देव, हम लोगोंने निमित्तज्ञानियोंका ऐसा उपदेश सुना है कि जबतक दिग्विजय करना कुछ भी बाकी रहता है तब तक चक्रवर्त्तन विश्राम नहीं लेता अर्थात् चक्रवर्तीकी इच्छाके विरुद्ध कभी भी नहीं रुकता है ॥३६॥ जो जलती हुई ज्वालाओं से भयंकर है ऐसा वह आपका विजयी शस्त्र नगरके द्वारपर गुप्त रीतिसे रोके हुऐके समान अटक कर रह गया है ॥३७॥ हे देव, आपके प्रजाका शासन करते हुए शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, और मित्रका मित्र ये शब्द केवल शास्त्रमें ही रह गये हैं अर्थात् व्यवहारमें न आपका कोई मित्र है और न कोई शत्रु ही है सब आपके सेवक हैं ॥३८॥ तथापि अब भी कोई आपके जीतने योग्य रह गया है और वह उदरमें किसी भयंकर रोगके समान आपके घरमें ही प्रकट हुआ है ॥३९॥ आपके द्वारा यह बाह्यमण्डल ही आक्रान्त—पराजित हुआ है परन्तु अन्तर्मण्डलकी विशुद्धता तो अब भी कुछ नहीं हुई है । भावार्थ—यद्यपि आपने बाहरके लोगोंको जीत लिया है तथापि आपके घरके लोग अब भी आपके अनुकूल नहीं हैं ॥४०॥ यद्यपि आपने समस्त शत्रु पक्षको जीत लिया है तथापि आपके भाई आपके प्रति नम्र नहीं हैं—उन्होंने आपके लिये नमस्कार नहीं किया है । वे आपके विरुद्ध खड़े हुए हैं और सजातीय होनेके कारण आपके द्वारा विघात करने योग्य भी नहीं हैं ॥४१॥ तेजस्वी पुरुष बड़ा होनेपर भी अपने सजातीय लोगों के द्वारा रोका जाता है यह बात सूर्यके सन्मुख जलते हुए सूर्यकान्त मणिके उदाहरणसे स्पष्ट है ॥४२॥ सजातीय पुरुष निर्वल होनेपर भी किसी बलवान् पुरुषका आश्रय पाकर राजा का उस प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार निर्वल दण्ड कुल्हाड़ीका तीक्ष्ण आश्रय पाकर अपने सजातीय वृक्ष आदिको नष्ट कर देता है ॥४३॥ ये आपके बलवान् तथा अभिमानी भाई अजेय हैं और इनमें भी अतिशय युवा धीर वीर तथा बलवान् बाहुबली मुख्य है ॥४४॥ आपके ये निन्यानबे भाई बड़े बलशाली हैं, हमलोग भगवान् आदिनाथको छोड़कर और

१ विभिन्नशास्त्रम् । २—मिवात्यर्थं स० इ०, अ० ।—मिवाध्यक्तं प०, ल० । ३ विरुद्धाचरणाः । ४ बाध्यते । ५ सूर्यकान्तपाषाणेन । ६ उदाहरणं कृतम् । ७ प्रतिश्रयम् प०, ल० । सहायम् । ८ परशोः । 'परशुश्च परश्वधः' इत्यभिधानात् । ९ नाशयति (लूष वर्हं हिंसायाम्) । १० पृथिव्यां भवम् । वृक्षं नृपञ्च । ११ कनिष्ठः । 'जघन्यजे स्युः कनिष्ठयवीयोऽवरजानुजाः' इत्यभिधानात् । १२ एकोन—न०, द०, इ०, प० । १३ बाहुबलिना रहितेन सह इयम् । संख्या-वृषभसेनेन प्रागेव दीक्षावग्रहणात् ।

तद्वत्^१ प्रतिकर्तव्यम् आशु चक्रधर त्वया । ऋणद्वणाग्निशत्रूणां शेषं नोपेक्षते कृती ॥४६॥
 राजन् राजन्वती भूयात् त्वयैवेयं वसुन्धरा । माभूद्राजवती^२ तेषां भूमना द्वैराजदुःस्थिता^३ ॥४७॥
 त्वयि राजनि राजोक्तिर्वै नान्यत्र राजते । सिंहे स्थिते मृगेन्द्रोक्तिं हरिणा बिभृयुः कथम् ॥४८॥
 देव त्वामनुवर्तन्तां भ्रातरी धूतमत्सराः । ज्येष्ठस्य कालमुख्यस्य शास्त्रोक्तमनुवर्तनम् ॥४९॥
 तच्छासनहरा^४ गत्वा सोपायमुप^५जप्य तान् । त्ववाज्ञानुवशान् कुर्मजिगृह्य^६ ब्रूयुरन्यथा ॥५०॥
 मिथ्यामदोद्धतः कोऽपि नोपेधाद्यदि ते वशम् । स नाशयेद्वतात्मानम् आत्मगृह्य^७ च राजकम् ॥५१॥
 राज्यं कुलकलत्रं च नेष्ट साधारणं^८ द्वयम् । भुङ्क्ते सार्द्धं परैर्यस्तन्न^९ नरः पशुरेव सः ॥५२॥
 किमत्र बहुनोक्तेन त्वामेत्य प्रणमन्तु ते । यान्तु वा शरणं देवं त्रातारं जगतां जिनम् ॥५३॥
 न तृतीया गतिस्तेषामेवैवा^{१०} द्वितीया गतिः^{११} । प्रविशन्तु त्वदास्थानं वनं वामी मृगः सप्तम् ॥५४॥
 स्वकुलान्कुलमुकानीव^{१२} बहुन्त्यननुवर्तनैः । अनुवर्तीनि तान्येव नेत्रस्थानन्दयुः परम्^{१३} ॥५५॥

किसीको प्रणाम नहीं करेंगे ऐसा वे निश्चय कर बैठे हैं ॥४५॥ इसलिये हे चक्रधर, आपको इस विषयमें शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिये क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ऋण, घाव, अग्नि और शत्रुके बाकी रहे हुए थोड़े भी अंशकी उपेक्षा नहीं करते हैं ॥४६॥ हे राजन्, यह पृथिवी केवल आपके द्वारा ही राजन्वती अर्थात् उत्तम राजासे पालन की जानेवाली हो, आपके भाइयों के अधिक होनेसे अनेक राजाओंके सम्बन्धसे जिसकी स्थिति बिगड़ गई है ऐसी होकर राजवती अर्थात् अनेक साधारण राजाओंसे पालन की जानेवाली न हो। भावार्थ—जिस पृथिवीका शासक उत्तम हो वह राजन्वती कहलाती है और जिसका शासक अच्छा न हो, नाम मात्रका ही हो वह राजवती कहलाती है। पृथिवीपर अनेक राजाओंका राज्य होनेसे उसकी स्थिति छिन्न भिन्न हो जाती है इसलिये एक आप ही इस रत्नमयी वसुन्धराके शासक हों, आपके अनेक भाइयोंमें यह विभक्त न होने पावे ॥४७॥ हे देव, आपके राजा रहते हुए राजा यह शब्द किसी दूसरी जगह सुशोभित नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि सिंहके रहते हुए हरिण मृगेन्द्र शब्दको किस प्रकार धारण कर सकते हैं ? ॥४८॥ हे देव, आपके भाई ईर्ष्या छोड़कर आपके अनुकूल रहें क्योंकि आप उन सबमें बड़े हैं और इस कालमें मुख्य हैं इसलिये उनका आपके अनुकूल रहना शास्त्रमें कहा हुआ है ॥४९॥ आपके दूत जावें और युक्तिके साथ बातचीत कर उन्हें आपके आज्ञाकारी बनावें, यदि वे इस प्रकार आज्ञाकारी न हों तो विग्रह कर (बिगड़कर) अन्य प्रकार भी बातचीत करें ॥५०॥ मिथ्या अभिमानसे उद्धत होकर यदि कोई आपके वश नहीं होगा तो खेद है कि वह अपने आपको तथा अपने आधीन रहनेवाले राजाओंके समूहका नाश करावेगा ॥५१॥ राज्य और कुलवती स्त्रियाँ ये दोनों ही पदार्थ साधारण नहीं हैं, इनका उपभोग एक ही पुरुष कर सकता है। जो पुरुष इन दोनोंका अन्य पुरुषोंके साथ उपभोग करता है वह पशु ही है ॥५२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है या तो वे आकर आपको प्रणाम करें या जगत्की रक्षा करनेवाले जिनेन्द्रदेवकी शरणको प्राप्त हों ॥५३॥ आपके उन भाइयों की तीसरी गति नहीं है, इनके ये ही दो मार्ग हैं कि या तो वे आपके शिविरमें प्रवेश करें या मृगों के साथ वनमें प्रवेश करें ॥५४॥ सजातीय लोग परस्परके विरुद्ध आचरणसे अंगारेके समान

१ कारणात् । २ कुत्सितराजवती । 'सुराशि देशे राजन्वान् स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान्' इत्यभिधानात् । ३ द्वयो राज्ञो राज्येन दुःस्थिताः । ४ त्वच्छासन—द०, ल० । दूताः । ५ उक्त्वा । ६ विवादं कृत्वा । ७ आत्मना स्वीकरणीयम् । ८ सर्वेषामनुभवनीयम् । ९ द्वयम् । १०—मेवेषां ल० । ११ उपायः । १२ स्वगोत्राणि । तव भ्रातरः इत्यर्थः । १३ परः अ०, इ०, स० ।

प्रशान्तमत्सराः शान्तास्त्वां नत्वा नम्रमौलयः । सोदर्याः सुखमेधन्तां त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥५६॥
 इति शासति शास्त्रज्ञे पुरोधसि सुमेधसि । प्रतिपद्यापि तत्कार्यं चक्री चक्रोध तत्क्षणम् ॥५७॥
 ग्राह्यकलुषां वृष्टिं क्षिपन्दिक्षिव दिग्बलिम् । सधूमाग्नौ कोपाग्नेः शिखां भृकुटिमुत्क्षिपन् ॥५८॥
 भ्रातृभाण्डकृतामर्षविषवेगमिवोद्वमन् । वाक्छलेनोच्छलन् रोषाद् बभावे परुषा गिरः ॥५९॥
 किं किमात्स्यं बुरात्मानो भ्रातरः प्रणतां न माम् । पश्य मद्दण्डचण्डोल्कापातात्तान् शल्कसात् कृतान् ॥६०॥
 श्रवृष्टमभुतं कृत्यमिदं वैरमकारणम् । श्रवध्याः किल कृत्यत्वादिति^१ तेषां मनोषितम् ॥६१॥
 यौवनोभावजस्तेषां भटवातोऽस्ति^२ दुर्मदः^३ । ज्वलच्चक्राभितापेन स्वेदस्तस्य प्रतिक्रिया ॥६२॥
 अकरां भोक्तुमिच्छन्ति गुरुवत्तामिमान्तके^४ । तत्किं^५ भटावलेपेन^६ भुक्तिं ते श्रावयन्तु^७ मे ॥६३॥
 प्रतिशय्यानिपातेन^८ भुक्तिं ते साधयन्तु वा । शितास्त्रकण्टकोत्सङ्गपतिताङ्गा रणाङ्ग गणे ॥६४॥
 क्व वयं जितजेतव्या भोक्तव्ये^९ सङ्गताः क्व ते । तथापि संविभागे^{१०} ऽस्तु तेषां मवनुवर्तने ॥६५॥

जलते रहते हैं और वे ही लोग परस्परमें अनुकूल रहकर नेत्रोंके लिये अतिशय आनन्द रूप होते हैं ॥५५॥ इसलिये ये आपके भाई मात्सर्य छोड़कर शान्त हो मस्तक झुकाकर आपको नमस्कार करें और आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते हुए सुखसे वृद्धिको प्राप्त होते रहें ॥५६॥ इस प्रकार शास्त्रके जाननेवाले बुद्धिमान् पुरोहितके कह चुकनेपर चक्रवर्ती भरतने उसीके कहे अनुसार कार्य करना स्वीकार कर उसी क्षण क्रोध किया ॥५७॥ जो क्रोधसे कलुषित हुई अपनी दृष्टिको दिशाओंके लिये बलि देते हुएके समान सब दिशाओंमें फेंक रहे हैं, क्रोध-रूपी अग्निकी धूमसहित शिखाके समान भृकुटियाँ ऊंची चढ़ा रहे हैं, भाईरूपी मूलधनपर किये हुए क्रोधरूपी विषके वेगको जो वचनोंके छलसे उगल रहे हैं और जो क्रोधसे उछल रहे हैं ऐसे महाराज भरत नीचे लिखे अनुसार कठोर वचन कहने लगे ॥५८-५९॥ हे पुरोहित, क्या कहा ? क्या कहा ? वे दुष्ट भाई मुझे प्रणाम नहीं करते हैं, अच्छा तो तू उन्हें मेरे दण्ड रूपी प्रचण्ड उल्कापातसे टुकड़े किया हुआ देख ॥६०॥ उनका यह कार्य न तो कभी देखा गया है, न सुना गया है, उनका यह वैर बिना कारण ही किया हुआ है, उनका ख्याल है कि हम लोग एक कुलमें उत्पन्न होनेके कारण अवध्य हैं ॥६१॥ उन्हें यौवनके उन्मादसे उत्पन्न हुआ योद्धा होनेका कठिन वायुरोग हो रहा है इसलिये जलते हुए चक्रके संतापसे पसीना आना ही उसका प्रतिकार-उपाय है ॥६२॥ वे लोग पूज्य पिताजीके द्वारा दी हुई पृथिवीको बिना कर दिये ही भोगना चाहते हैं परन्तु केवल योद्धापनेके अहंकारसे क्या होता है ? अब या तो वे लोगोंको सुनावें कि भरत ही इस पृथिवीका उपभोग करनेवाला है हम सब उसके आधीन हैं या युद्धके मैदानमें तीक्ष्ण शस्त्ररूपी काँटोंके ऊपर जिनका शरीर पड़ा हुआ है ऐसे वे भाई प्रतिशय्या-दूसरी शय्या अर्थात् रणशय्यापर पड़कर उसका उपभोग प्राप्त करें । भावार्थ-जीतेजी उन्हें इस पृथिवीका उपभोग प्राप्त नहीं हो सकता ॥६३-६४॥ जिसने जीतने योग्य समस्त लोगोंको जीत लिया है ऐसा कहाँ तो मैं, और मेरे उपभोग करने योग्य क्षेत्रमें स्थित कहाँ वे लोग ? तथापि मेरे आज्ञानुसार चलनेपर उनका भी विभाग (हिस्सा)

१ 'भाण्ड' भवणमात्रेऽपि भाण्डमूला वणिग्धने । नदीमात्रे तुरङ्गाणां भूषणे भाजनेऽपि च ।
 २ उत्पत्तन् । ३ वदसि । ४ खण्ड । ५ कुले भवाः कुल्यास्तेषां भावः तस्मात् । ६ वयं भटा इति गर्वः । ७ दुर्निवारः । ८ अवलिम् । 'भागधेयः करोबलिः' इत्यभिधानात् । ९ भूमिम् । १० कुसिताः ।
 ११ तर्हि । १२ भटगर्वेण । १३ साधयन्तिवत्यर्थः । १४ पूर्व शय्यायाः प्रतिशय्या-अन्य शय्या तस्यां निपातेन मरणप्राप्त्या इत्यर्थः । १५ वृत्तिक्षेत्रे । १६ सम्यक्क्षेत्रादिविभागः ।

न भोक्तुमन्यथाकारं^१ महीं तेभ्यो वदाम्यहम् । कथङ्कारमिव^२ चक्रं विश्रमं यात्वतज्जये^३ ॥६६॥
 इव^४ महबलनाथये^५ यत्प्राप्तो बन्धवत्सलः । स बाहुबलिसाह्वोऽपि^६ भजते विकृतिं कृती ॥६७॥
 अबाहुबलिनानेन^७ राजकेन नतेन किम् । नगरेण गरणेव^८ भुक्तेनापोदनेन^९ किम् ॥६८॥
 किं किङ्करः करालास्त्रप्रतिनिजित^{१०}शात्रवः । अनाज्ञावशमेतस्मिन् नवविक्रमशालिनि^{११} ॥६९॥
 किं वा सुरभट्टैरेभिः उद्भटारभटोरसः^{१२} । मयेवमसमानं स्पृष्ट्वा तस्मिन्कुर्वन्ति गर्विते ॥७०॥
 इति जल्पति संरम्भाच्च^{१३} कृपाणाव्युपक्रमम्^{१४} । तस्योपचक्रमे कर्तुं पुनरित्थं पुरोहितः ॥७१॥
 जितजेतव्यतां देव घोषयन्नपि किं मृधा । जितोऽसि क्रोधवेगेन प्राग्ज्यो वशिनां हि सः ॥७२॥
 बालास्ते बालभावेन^{१५} विलसन्त्वपथे^{१६}ऽप्यलम् । देवे जितारिषड्वेधो^{१७}त्तरितुमलन्तराम् ॥७३॥
 क्रोधान्तमसे मग्नं यो नात्मानं समुद्धरेत् । स कृत्यसंशयद्वेधाभो^{१८}त्तरितुमलन्तराम् ॥७४॥
 किं तरां स विजानाति कार्याकार्यमनात्मवित् । यः स्वान्तःप्रभवान् जेतुम् अरीन् प्रभवेत्प्रभुः ॥७५॥
 तद्देव विरमामुष्मात् संरम्भादपकारिणः । जितात्मानो जयन्ति क्षमां क्षमया हि जिगीषवः ॥७६॥

हो सकता है ॥६५॥ और किसी तरह उनके उपभोगके लिये मैं उन्हें यह पृथिवी नहीं दे सकता हूँ । उन्हें जीते बिना यह चक्ररत्न किस प्रकार विश्राम ले सकता है ? ॥६६॥ यह बड़ी निन्दाकी बात है कि जो अतिशय बुद्धिमान् है, भाइयोंमें प्रेम रखनेवाला है, और कार्यकुशल है वह बाहुबली भी विकारको प्राप्त हो रहा है ॥६७॥ बाहुबलीको छोड़कर अन्य सब राज-पुत्रोंने नमस्कार भी किया तो उससे क्या लाभ है और पोदनपुरके बिना विषके समान इस नगरका उपभोग भी किया तो क्या हुआ ॥६८॥ जो नवीन पराक्रमसे शोभायमान बाहुबली हमारी आज्ञाके वश नहीं हुआ तो भयंकर शस्त्रोंसे शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाले सेवकोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥६९॥ अथवा अहंकारी बाहुबली जब इस प्रकार मेरे साथ अयोग्य ईर्ष्या कर रहा है तब अतिशय शूरवीरतारूप रसको धारण करनेवाले मेरे इन देवरूप योद्धाओं से क्या प्रयोजन है ? ॥७०॥ इस प्रकार जब चक्रवर्ती क्रोधसे बहुत बड़ बड़कर बातचीत करने लगे तब पुरोहितने उन्हें शान्त कर उपायपूर्वक कार्य प्रारम्भ करनेके लिये नीचे लिखे अनुसार उद्योग किया ॥७१॥ हे देव, मैंने जीतने योग्य सबको जीत लिया है ऐसी घोषणा करते हुए भी आप क्रोधके वेगसे व्यर्थ ही क्यों जीते गये ? जितेन्द्रिय पुरुषोंको तो क्रोधका वेग पहले ही जीतना चाहिये ॥७२॥ वे आपके भाई बालक हैं इसलिये अपने बालस्वभाव से कुमार्गमें भी अपने इच्छानुसार क्रीड़ा कर सकते हैं परन्तु जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छहों अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीत लिया है ऐसे आपमें यह अन्धकार ठहरने के योग्य नहीं है अर्थात् आपको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥७३॥ जो मनुष्य क्रोधरूपी गाढ़ अन्धकारमें डूबे हुए अपने आत्माका उद्धार नहीं करता वह कार्यके संशयरूपी द्विविधासे पार होनेके लिये समर्थ नहीं है । भावार्थ—क्रोधसे कार्यकी सिद्धि होनेमें सदा सन्देह बना रहता है ॥७४॥ जो राजा अपने अन्तरङ्गसे उत्पन्न होनेवाले शत्रुओंको जीतनेके लिये समर्थ नहीं है वह अपने आत्माको नहीं जाननेवाला कार्य और अकार्यको कैसे जान सकता है ? ॥७५॥ इसलिये हे देव, अपकार करनेवाले इस क्रोधसे दूर रहिये क्योंकि जीतकी इच्छा रखनेवाले जिते-

१ अन्यथा । २ कथम् । ३ तेषां जयाभावः । ४ अवाच्यम् । ५ बाहुबलिनामा । ६ बाहुबलिकुमार-रहितेन । ७ गरलेनेव । ८ पोदनपुररहितेन । ९ तजित-ल० द० । १० बाहुबलिनि । ११ अधिकभयानकरसः । १२ क्रोधात् । १३ युद्धारम्भम् । १४ बालत्वेन । १५ गर्विता भूत्वा वर्तन्त इत्यर्थः । १६ अज्ञानम् । १७ कार्यसन्देहद्वेध्यात् ।

विजितेन्द्रियवर्गणां सुश्रुतश्रुतसम्पदाम् । परलोकजिगीषूणां क्षमा साधनमुत्तमम् ॥७७॥
 लेखसाध्ये च कार्येऽस्मिन् विकलोऽतिपरिश्रमः । तृणाढकुरे नखच्छेद्ये कः परश्वधमुद्धरेत् ॥७८॥
 ततस्तितिक्षमाणेन^१ साध्यो भ्रातृगणस्त्वया । सोपचारं प्रयुक्तेन वचोहरगणेन सः ॥७९॥
 अद्यैव च प्रहेतव्याः समं लेखेवचोहराः । गत्वा बभूवुश्च तानेत^२ चक्रिणं भजताग्रजम् ॥८०॥
 कल्पानोकहसेवेव तत्सेवाऽभीष्टदायिनी । गुरुकल्पोऽग्रजश्चक्री स मान्यः^३ सर्वथापि वः ॥८१॥
 विदूरस्थेन^४ युष्माभिः ऐश्वर्यं तस्य राजते । तारागणैरनासन्नैरिव बिम्बनिशां पतेः ॥८२॥
 साम्राज्यं नास्य तोषाय यद्भवद्भविता भवेत् । सहभोग्यं हि बन्धूनाम् अधिराज्यं सतां मुदे ॥८३॥
 इदं वाचिकमन्यन्तु लेखार्थादिवधार्यताम् । इति सोपायनेल्लेखः प्रत्याव्यास्ते^५ मनस्विनः ॥८४॥
 यशस्य^६ मिदमेवायं कार्यं श्रेयस्यमेव^७ च । चिन्त्यमुत्तरकार्यं च साम्ना तेष्ववशेषो वः ॥८५॥
 बिभ्यता जनैर्निर्वादाद् अनुष्ठेयमिदं त्वया । स्थायुक^८ हि यशो लोके ग^९त्वर्यो ननु संपदः ॥८६॥
 इति तद्वचनाच्चक्री वृत्तिभारभटी जही । अनुवर्तनसाध्या हि महतां चित्तवृत्तयः ॥८७॥
 आस्तां भुजबली तावद् यत्तसाध्यो^{१०} महाबलः । शेषरेवे परीक्षित्ये भ्रातृभिस्तद् द्विजिह्वताम्^{११} ॥८८॥

न्द्रिय पुरुष केवल क्षमाके द्वारा ही पृथिवीकी जीतते हैं ॥७६॥ जिन्होंने इन्द्रियोंके समूहको जीत लिया है, शास्त्ररूपी सम्पदाका अच्छी तरह श्रवण किया है और जो परलोकको जीतने की इच्छा रखते हैं ऐसे पुरुषोंके लिये सबसे उत्कृष्ट साधन क्षमा ही है ॥७७॥ जो लेख लिख कर भी किया जा सकता है ऐसे इस कार्यमें अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है क्योंकि जो तृणका अंकुर नखसे तोड़ा जा सकता है उसके लिये भला कौन कुल्हाड़ी उठाता है ॥७८॥ इसलिये आपको शान्त रहकर भेंटसहित भेजे हुए दूतोंके द्वारा ही यह भाइयोंका समूह वश करना चाहिये ॥७९॥ आज ही आपको पत्रसहित दूत भेजना चाहिये, वे जाकर उनसे कहें कि चलो और अपने बड़े भाईकी सेवा करो ॥८०॥ उनकी सेवा कल्पवृक्षकी सेवाके समान आपके सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली होगी । वह आपका बड़ा भाई पिताके तुल्य है, चक्रवर्ती है और सब तरहसे आप लोगोंके द्वारा पूज्य है ॥८१॥ जिस प्रकार दूर रहनेवाले तारागणोंसे चन्द्रमाका बिम्ब सुशोभित नहीं होता है उसी प्रकार दूर रहनेवाले आप लोगोंसे उनका ऐश्वर्य सुशोभित नहीं होता है ॥८२॥ आप लोगोंके बिना यह राज्य उनके लिये संतोष देनेवाला नहीं हो सकता क्योंकि जिसका उपभोग भाइयोंके साथ साथ किया जाता है वही साम्राज्य सज्जन पुरुषोंको आनन्द देनेवाला होता है ॥८३॥ 'यह मौखिक संदेश है, बाकी समाचार पत्रसे मालूम कीजिये' इस प्रकार भेंटसहित पत्रोंके द्वारा उन प्रतापी भाइयोंको विश्वास दिलाना चाहिये ॥८४॥ हे आर्य, आपके लिये यही कार्य यश देनेवाला है और यही कल्याण करनेवाला है यदि वे इस तरह शास्त्रसे वश न हों तो फिर आगेके कार्यका विचार करना चाहिये ॥८५॥ आपको लोकपवादसे डरते हुए यही कार्य करना चाहिये क्योंकि लोकमें यश ही स्थिर रहनेवाला है, सम्पत्तियाँ तो नष्ट हो जानेवाली हैं ॥८६॥ इस प्रकार पुरोहितके वचनोंसे चक्रवर्तीने अपनी क्रोधपूर्ण वृत्ति छोड़ दी सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों की चित्तकी वृत्ति अनुकूल वचन कहनेसे ही ठीक हो जाती है ॥८७॥ इस समय जो प्रयत्नसे वश नहीं किया जा सकता ऐसा महाबलवान् बाहुबली दूर रहे पहले शेष भाइयोंके द्वारा ही

१ परशुम् । २ सहमानेन । ३ आगच्छत । ४ पूज्यः । ५ संदेशवाक् । 'संदेशवाग् वाचिकं स्यादित्यभिधानात् । ६ विश्वास्याः । ७ यशस्करम् । ८ श्रेयस्करम् । ९ जनापवादात् । १० स्थिरतरम् । ११ गमनशीलाः । १२ यत्र साध्या महाभुजः अ०, प०, स०, इ०, ल० । १३ बाहुबलिनः कुटिलताम् ।

इति निर्द्धार्य कार्यज्ञानं कार्ययुक्तौ विविक्तधीः । प्राहिणोत्स निसृष्टार्थान्^१ दूताननुजसन्निधिम् ॥८६॥
 गत्वा च ते^२ यथोद्देशं दृष्ट्वा तांस्तान्यथोचितम् । जगुः सन्देशमीशस्य तेभ्यो दूता यथास्थितम् ॥८७॥
 अथ ते सह सम्भूय कृतकार्यनिवेदनात् । दूतानित्युच्चराख्यप्रभुत्वमदकर्कशाः ॥८८॥
 यदुक्तमादिराजेन तत्सत्यं^३ नोऽभिसम्मतम् । गुरोरसन्निधौ पूज्यो ज्यायान्भ्राताऽनुजैरिति ॥८९॥
 प्रत्यक्षो गुरुरस्माकं प्रतपत्येष^४ विश्वदूक । स नः प्रमाणमेश्वर्यं तद्वितीर्णमिदं हि नः ॥९०॥
 तदत्र गुरुपादाज्ञा तन्त्रा^५ न स्वरिणो^६ वयम् । न देयं भरतेशेन नादेयमिह किञ्चन ॥९१॥
 यत् नः संविभागार्थम् इदमामन्त्रणं कृतम् । चक्रिणा तेन सुप्रीता^७ प्रीणाश्च^८ वयमागतात् ॥९२॥
 इति सत्कृत्य तान्दूतान् सन्मानः प्रभुधत्प्रभौ । विहितोपायनाः^९ सद्यः प्रतिलेखैर्व्यसर्जयन् ॥९३॥
 दूतसात्कृतसन्मानाः^{१०} प्रभुसात्कृतवीचिकाः^{११} । गुरुसात्कृत्य तत्कार्यं^{१२} प्रापुस्ते गुरुसन्निधिम् ॥९४॥
 गत्वा च गुरुमद्राक्षुः मिदोचितपरिच्छदाः^{१३} । महागिरिमिवोत्तुङ्गां कैलासशिखरालयम्^{१४} ॥९५॥
 प्रणियत्य विधानेन प्रपूज्य च यथाविधि । व्यजिज्ञपन्निदं वाक्यं कुमारं मारविद्विषम् ॥९६॥
 त्वत्तः स्मो लब्धजन्मानस्त्वत्तः प्राप्ताः परां श्रियम् । त्वत्प्रसादैषिणो देव त्वत्तो नान्यमुपास्महे^{१५} ॥१००॥

उनकी कुटिलताकी परीक्षा कहेगा । इस प्रकार निश्चय कर कार्य करनेमें जिसकी बुद्धि कभी भी मोहित नहीं होती ऐसे चक्रवर्तीने कार्यके जाननेवाले निःसृष्टार्थ दूतोंको अपने भाइयों के समीप भेजा ॥८८-८९॥ उन दूतोंने भरतके आज्ञानुसार जाकर उनके योग्यरीतिसे दर्शन किये और उनके लिये चक्रवर्तीका संदेश सुनाया ॥९०॥ तदनन्तर—प्राप्त हुए ऐश्वर्यके मद से जो कठोर हो रहे हैं ऐसे वे सब भाई दूतोंके द्वारा कार्यका निवेदन हो चुकनेपर परस्परमें मिलकर उनसे इस प्रकार वचन कहने लगे ॥९१॥ कि जो आदिराजा भरतने कहा है वह सच है और हम लोगोंको स्वीकार है क्योंकि पिताके न होनेपर बड़ा भाई ही छोटे भाइयोंके द्वारा पूज्य होता है ॥९२॥ परन्तु समस्त संसारको जानने देखनेवाले हमारे पिता प्रत्यक्ष विराजमान हैं वे ही हमको प्रमाण हैं, यह हमारा ऐश्वर्य उन्हींका दिया हुआ है ॥९३॥ इसलिये हम लोग इस विषयमें पिताजीके चरणकमलोंकी आज्ञाके आधीन हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं । इस संसारमें हमें भरतेश्वरसे न तो कुछ लेना है और न कुछ देना है ॥९४॥ तथा चक्रवर्तीने हिरसा देनेके लिये जो हम सबको आमन्त्रण दिया है अर्थात् बुलाया है उससे हम लोग बहुत संतुष्ट हुए हैं और गले तक तृप्त हो गये हैं ॥९५॥ इस प्रकार राजाओंकी तरह योग्य सन्मानोंसे उन दूतों का सत्कार कर तथा भरतके लिये उपहार देकर और बदलेके पत्र लिखकर उन राजकुमारोंने दूतोंको शीघ्र ही विदा कर दिया ॥९६॥ इस प्रकार जिन्होंने दूतोंका सन्मान कर भरतके लिये योग्य उत्तर दिया है ऐसे वे सब राजकुमार, पूज्य पिताजीका दिया हुआ कार्य उन्हींको सौंपनेके लिये उनके समीप पहुंचे ॥९७॥ जिनके पास परिमित तथा योग्य सामग्री है ऐसे उन राजकुमारोंने किसी महापर्वतके समान ऊंचे और कैलासकी शिखरपर विद्यमान पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके जाकर दर्शन किये ॥९८॥ उन राजकुमारोंने विधिपूर्वक प्रणाम किया, विधिपूर्वक पूजा की और फिर कामदेवको नष्ट करनेवाले भगवान्से नीचे लिखे वचन कहे ॥९९॥ हे देव, हम लोगोंने आपसे ही जन्म पाया है, आपसे ही यह उत्कृष्ट विभूति पाई है और अब भी आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते हैं, हम लोग आपको छोड़कर और किसीकी

१ न्यस्तार्थान् । असकृत्सम्पादितप्रयोजनान्तिथ्यर्थः । २ कुमारः । ३ अस्माकम् । ४ प्रकाशते । ५ प्रधानाः । ६ त्वेच्छाचारिणः । ७ सन्तोषिताः । ८ तृप्ताः । ९ कन्धरपर्यन्तम् । १० कृतप्राभूताः । ११ दूतानामयत्तीकृत । १२ भरतायत्तीकृतसन्देशाः । १३ भरतकृतकार्यम् । १४ परिकराः । १५ कैलासशिखरमालयो यस्य । १६ आराधयामः ।

गुरुप्रसाद इत्युच्चैः जनो वक्तव्येव केवलम् । वयं तु तद्वसाभिज्ञास्त्वत्प्रसादाजितेभ्यः ॥१०१॥
 त्वत्प्रणामानुरक्तानां त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणाम् । त्वद्वचःकिङ्कराणां नो यद्वा तद्वास्तु^१ नापरम् ॥१०२॥
 इति स्थिते प्रणामार्थं भरतोऽस्माञ्जुह्वयति^२ । तस्माच्च कारणं विद्मः किं मदः किम्भु मत्सरः ॥१०३॥
 युष्मत्प्रणमनाभ्यासरसदुर्लभित^३ शिरः । नान्यप्रणमने देव धृतिं ब्रध्नाति जातु नः ॥१०४॥
 किमम्भोजरजःपुञ्जपिञ्जरं वारि मानसे । निषेध्य राजहंसोऽयं रमतेऽन्यसरोजले ॥१०५॥
 किमप्सरः शिरोजान्तं^४ सुमनोगन्धलासितः । तुम्बीवनान्तं^५ मभ्येति^६ प्राणान्तेऽपि मधुघृतः ॥१०६॥
 मुक्ताफलाच्छमापायं^७ गगनाम्बुनवाम्बुवात् । शुष्यत्सरोऽम्बु किं वाञ्छेदुद्वयस्रपि^८ चातकः ॥१०७॥
 इति युष्मत्पदारुणम्^९ रजोरञ्जितमस्तकाः । प्रणन्तुमसदाप्ता^{१०} नामिहामुत्र^{११} च नेश्महे^{१२} ॥१०८॥
 परप्रणामविमुखी भयसङ्गविवर्जिताम् । वीरदीक्षां वयं धर्तुं भवत्पाद्वन्द्युपागताः ॥१०९॥
 तदेव कथयास्माकं हितं पश्यं च वत्सं यत् । येनेहामुत्र च स्याम^{१३} त्वद्भक्तिवृद्धवासनाः ॥११०॥
 परप्रणामसञ्ज्ञातमानभङ्गभयातिगाम्^{१४} । पदवीं तावकीं^{१५} देव भवेमहि^{१६} भवे भवे ॥१११॥
 मानखण्डनसम्भूतपरिभूति^{१७} भयातिगाः । योगिनः सुखमेधन्ते वनेषु हरिभिः समम् ॥११२॥

उपासना नहीं करना चाहते ॥१००॥ इस संसारमें लोग यह 'पिताजीका प्रसाद है' ऐसा केवल कहते ही हैं परन्तु आपके प्रसादसे जिन्हें उत्तम सम्पत्ति प्राप्त हुई है ऐसे हम लोग इस वाक्यके रसका अनुभव ही कर चुके हैं ॥१०१॥ आपको प्रणाम करनेमें तत्पर, आपके प्रसन्नता को चाहनेवाले और आपके वचनोंके किकर हम लोगोंका चाहे जो हो परन्तु हम लोग और किसीकी उपासना नहीं करना चाहते हैं ॥१०२॥ ऐसा होनेपर भी भरत हम लोगोंको प्रणाम करनेके लिये बुलाता है सो इस विषयमें उसका मद कारण है अथवा मात्सर्य यह हम लोग कुछ नहीं जानते ॥१०३॥ हे देव, जो आपको प्रणाम करनेके अभ्यासके रससे मस्त हो रहा है ऐसा यह हमारा शिर किसी अन्यको प्रणाम करनेमें संतोष प्राप्त नहीं कर रहा है ॥१०४॥ क्या यह राजहंस मानसरोवरमें कमलोंकी परागकी समूहसे पीले हुए जलकी सेवा कर किसी अन्य तालाबके जलकी सेवा करता है ? अर्थात् नहीं करता है ? ॥१०५॥ क्या अप्सराओं के केशोंमें लगे हुए फूलोंकी सुगन्धसे संतुष्ट हुआ भ्रमर प्राण जानेपर भी तूँबीके वनमें जाता है अर्थात् नहीं जाता है ॥१०६॥ अथवा जो चातक नवीन मेघसे गिरते हुए मोतीके समान स्वच्छ आकाशगत जलको पी चुका है क्या वह प्यासा होकर भी सूखते हुए सरोवरके जलको पीना चाहेगा ? अर्थात् नहीं ॥१०७॥ इस प्रकार आपके चरणकमलोंकी परागसे जिनके मस्तक रंग रहे हैं ऐसे हम लोग इस लोक तथा परलोक—दोनों ही लोकोंमें आप्तभिन्न देव और मनुष्यों को प्रणाम करनेके लिये समर्थ नहीं हैं ॥१०८॥ जिसमें किसी अन्यको प्रणाम नहीं करना पड़ता, और जो भयके सम्बन्धसे रहित है ऐसी वीरदीक्षाको धारण करनेके लिये हम लोग आपके समीप आये हुए हैं ॥१०९॥ इसलिये हे देव, जो मार्ग हित करनेवाला और सुख पहुंचाने वाला हो वह हम लोगोंको कहिये जिससे इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें हम लोगों की वासना आपकी भक्तिमें दृढ़ हो जावे ॥११०॥ हे देव, जो दूसरोंको प्रणाम करनेसे उत्पन्न हुए मानभङ्गके भयसे दूर रहती है ऐसी आपकी पदवीको हम लोग भवभवमें प्राप्त होते रहें ॥१११॥ मानभङ्गसे उत्पन्न हुए तिरस्कारके भयसे दूर रहनेवाले योगी लोग वनों

१ गुरुप्रसादसामर्थ्य । २ प्रसादाजित—द०, ल० । ३ यत्किञ्चिद् भवति तदस्तु । ४ आह्वानुमिच्छति । ५ गवितम् । ६ देवस्त्रीणां केशमध्यपुष्पगन्धलालितः । ७ अलावुवनमर्थम् । ८ अभिगच्छति । ९ मापीय द०, ल० । आपाय — पीत्वा । १० पिपासस्रपि । ११ पदकमल । १२ नमस्कृतम् । १३ अनाप्तानाम् । १४ समर्था न भवामः । १५ भवाम । लोट् । १६ अतिक्रान्ताम् । १७ तव सम्बन्धिनीम् । १८ प्राप्नुमः । भूपाप्तावात्मनेपदम् । १९ परिभव ।

ब्रुवाणानिति साक्षेपं स्थापयन्पथि शाश्वते । भगवानिति तानुच्चैः अन्वशादनृणांसासिता^१ ॥११३॥
 महामना^२ वपुष्मन्तो^३ वयस्सत्त्वगुणान्विताः । कथमन्यस्य संवाह्या यूयं भद्रा द्विषा इव ॥११४॥
 भङ्गिना^४ किम् राज्येन जीवितेन चलेन किम् । किञ्च भो यौवनोन्मादः ऐश्वर्यबलदूषितः ॥११५॥
 किं बलैर्बलिनां गर्भ्यः किं हार्थैर्वस्तुवाहनैः । तृष्णाग्निबोधनैरेभिः किं धनैरिन्धनैरिव ॥११६॥
 भुक्त्वापि सुचिरं कालं यन्नं तृप्तिः क्लमः^५ परम् । विषयैस्तेरलं भुक्तैर्विषमिधैरिवाशनैः ॥११७॥
 किं च भो विषयास्वादः कोऽप्यनास्वादितोऽस्ति वः । स एव पुनरास्वादः किं तेनास्त्याशितम्भवः^६ ॥११८॥
 यत्र शस्त्राणि मित्राणि शत्रवः पुत्रबान्धवाः । कलत्रं सर्वभोगीणा^७ धरा राज्यं धिगीदृशम् ॥११९॥
 भुक्त्वु नृपशार्दूलो^८ भरतो भरतावनिम् । यावत्पुण्योदयस्तावत्तत्रालं वोऽतितिक्षया^९ ॥१२०॥
 तेनापि^{१०} त्याज्यमेवेदं राज्यं भङ्गि^{११} यदा तदा । हेतोरशाश्वतस्यास्य युध्वध्ये बत किं मुधा ॥१२१॥
 तदलं स्पृहया दध्वं यूयं धर्ममहातरोः । दयाकुसुममल्लानि यत्तन्मुक्तिफलप्रदम्^{१२} ॥१२२॥
 पराराधनदैर्न्योनं परैराराध्यमेव यत् । तद्वो महाभिमानानां तपो मानाभिरक्षणम् ॥१२३॥
 दीक्षा रक्षा गुणा भृत्या दयेयं प्राणवत्लभः । इति व्याय^{१३} स्तपोराज्यमिदं श्लाघ्यपरिच्छदम् ॥१२४॥

में सिद्धोंके साथ सुखसे बढ़ते रहते हैं ॥११२॥ इस प्रकार आक्षेपसहित कहते हुए राजकुमारों को अविनाशी भोक्षमार्गमें स्थित करते हुए हितोपदेशी भगवान् वृषभदेव इस प्रकार उपदेश देने लगे ॥११३॥ महा अभिमानी और उत्तम शरीरको धारण करनेवाले तथा तारुण्य अवस्था, बल और गुणोंसे सहित तुम लोग उत्तम हाथियोंके समान दूसरोंके संवाह्य अर्थात् सेवक (पक्ष में वाहन करने योग्य सवारी) कैसे हो सकते हो ? ॥११४॥ हे पुत्रो, इस विनाशी राज्यसे क्या हो सकता है ? इस चंचल जीवनसे क्या हो सकता है ? और ऐश्वर्य तथा बलसे दूषित हुए इस यौवनके उन्मादसे क्या हो सकता है ? ॥११५॥ जो बलवान् मनुष्योंके द्वारा जीती जा सकती है ऐसी सेनाओंसे क्या प्रयोजन है ? जिनकी चोरी की जा सकती है ऐसे सोना चाँदी हाथी घोड़ा आदि पदार्थोंसे क्या प्रयोजन है ? और ईंधनके समान तृष्णारूपी अग्निको प्रज्वलित करनेवाले इस धनसे भी क्या प्रयोजन है ? ॥११६॥ चिरकाल तक भोग कर भी जिनसे तृप्ति नहीं होती, उल्टा अत्यन्त परिश्रम ही होता है ऐसे विष मिले हुए भोजन के समान इन विषयोंका उपभोग करना व्यर्थ है ॥११७॥ हे पुत्रो, तुमने जिसका कभी आस्वादन नहीं किया हो ऐसा भी क्या कोई विषय बाकी है ? यह सब विषयोंका वही आस्वाद है जिसका कि तुम अनेक बार आस्वादन (अनुभव) कर चुके हो फिर भला तुम्हें इनसे संतोष कैसे हो सकता है ? ॥११८॥ जिसमें शस्त्र मित्र हो जाते हैं, पुत्र और भाई वगैरह शत्रु हो जाते हैं तथा सबके भोगने योग्य पृथिवी ही स्त्री हो जाती है ऐसे राज्यको धिक्कार हो ॥११९॥ जब तक पुण्यका उदय है तब तक राजाओंमें श्रेष्ठ भरत इस भरत क्षेत्रकी पृथिवीका पालन करें इस विषयमें तुम लोगोंका क्रोध करना व्यर्थ है ॥१२०॥ यह विनश्वर राज्य भरतके द्वारा भी जब कभी छोड़ा ही जावेगा इसलिये इस अस्थिर राज्यके लिये तुम लोग व्यर्थ ही क्यों लड़ते हो ॥१२१॥ इसलिये ईर्ष्या करना व्यर्थ है, तुम लोग धर्मरूपी महावृक्षके उस दयारूपी फूलको धारण करो जो कभी भी म्लान नहीं होता और जिसपर मुक्तिरूपी महाफल लगता है ॥१२२॥ जो दूसरोंकी आराधनासे उत्पन्न हुई दीनतासे रहित है बल्कि दूसरे पुरुष ही जिसकी आराधना करते हैं ऐसा तपश्चरण ही महाअभिमान धारण करनेवाले तुम लोगोंके मानकी रक्षा करनेवाला है ॥१२३॥ जिसमें दीक्षा ही रक्षा करनेवाली है, गुण ही सेवक

१ उपदेशकः । २ महाभिमानिनः प्रमाणाश्च । ३ संवाह्याः । ४ विनश्वरेण । ५ हन्तुं योग्यः । ६ म्लानिः । ७ तृप्तिः । ८ राज्ये । ९ सर्वेषां भोगेभ्यो हिता । १० नृपश्रेष्ठः । ११ अक्षमया । १२ भरतेनापि । १३ यस्मिन् काले विनश्वरमिति । १४ कारणात् । १५ महाफलम् त० । १६ श्रेष्ठम् ।

इत्याकर्ष्य विभोर्वाक्यं परं निर्वेदमागताः । महाप्राज्ञाज्यमास्थाय^१ निष्कान्तास्ते गृहाद्धनम्^२ ॥१२२५॥
 निहिष्टं गुहणा साक्षादीक्षां नववधूमिव । नवा इव वराः प्राप्य रेजुस्ते युवपाथिवाः ॥१२२६॥
 या कचग्रहपूर्वेण प्रणयेनातिभूमिगा^३ । तया पाणिगृहीत्येवं दीक्षया ते धृति^४ दधुः ॥१२२७॥
 तपस्तीव्रमथासाद्य ते चकासुनृपर्वयः । स्वतेजोरुद्धविश्वशा^५ ग्रीष्मकर्माश्रयो यथा ॥१२२८॥
 तेऽतितीव्रेस्तपोयोगैस्तनूभूतां तनुं दधुः । तपोलक्ष्म्या समुत्कीर्णमिव दीप्तां तपोगुणं ॥१२२९॥
 स्थिताः सामयिके धृते^६ जिनकल्पविशेषिते । ते तेषिरे तपस्तीव्रं ज्ञानशुद्ध्युपबृंहितम् ॥१२३०॥
 वैराग्यस्य परा^७ कोटीम् आरूढास्ते युगेद्वराः । स्वसान्त्वकुस्तपोलक्ष्मीं राज्यलक्ष्म्यामनुत्सुकाः ॥१२३१॥
 तपोलक्ष्म्या परिष्वक्ता^८ भुक्तिरूप्यां कृतस्पृहाः । ज्ञानसंपत्प्रसक्तास्ते राजलक्ष्मीं विसस्मरुः ॥१२३२॥
 द्वादशाङ्गरुभुतस्कन्धमधीत्येते महाधियः । तपो भावनयात्मानमलञ्चक्रुः प्रकृष्टया ॥१२३३॥
 स्वाध्यायेन मनोरोधस्ततोऽक्षाणां विनिर्जयः । इत्याकलय्य ते धीराः स्वाध्यायधियमावधुः ॥१२३४॥
 आचाराङ्गेन निःशेषं साध्वाचारमवेदिषुः । चर्याशुद्धि^९मतो^{१०} रेजुः अतिक्रम^{११}विवर्जिताम् ॥१२३५॥

है, और यह दया ही प्राणप्यारी स्त्री है इस प्रकार जिसकी सब सामग्री प्रयोजनीय है ऐसा यह तपस्वी राज्य ही उत्कृष्ट राज्य है ॥१२२४॥ इस प्रकार भगवान् के वचन सुनकर वे सब राजकुमार परम वैराग्यको प्राप्त हुए और महादीक्षा धारण कर घरसे वनके लिये निकल पड़े ॥१२२५॥ साक्षात् भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई दीक्षाको नई स्त्रीके समान पाकर वे तरुण राजकुमार नये वरके समान बहुत ही अधिक सुखोभित हो रहे थे ॥१२२६॥ उनकी वह दीक्षा किसी राजकन्याके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार राजकन्या कचग्रह अर्थात् केश पकड़कर बड़े प्रणय अर्थात् प्रेमसे समीप आती है उसी प्रकार वह दीक्षा भी कचग्रह अर्थात् केश लोंचकर बड़े प्रणय अर्थात् शुद्ध नयोंसे उनके समीप आई हुई थी इस प्रकार राजकन्याके समान सुखोभित होनेवाली दीक्षाके दोनों हाथ पाकर (पक्षमें पाणिग्रहण संस्कार कर) वे राजकुमार अन्तःकरणमें सुखको प्राप्त हुए थे ॥१२२७॥ अथानन्तर जिन्होंने अपने तेजसे समस्त दिशाओंको रोक लिया है ऐसे वे राजपि तीव्र तपश्चरण धारण कर ग्रीष्म ऋतुके सूर्यकी किरणोंके समान अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे ॥१२२८॥ वे राजपि जिस शरीरको धारण किये हुए थे वह तीव्र तपश्चरणसे कृश होनेपर भी तपके गुणोंसे अत्यन्त देदीप्यमान हो- रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो तपस्वी लक्ष्मीके द्वारा उकेरा ही गया हो ॥१२२९॥ वे लोग जिनकल्प नामके सामायिक चारित्र्यमें स्थित हुए और ज्ञानकी विभुद्धिमें बढ़ा हुआ तीव्र तपश्चरण करने लगे ॥१२३०॥ वैराग्यकी चरम सीमाको प्राप्त हुए उन तरुण राजपियों ने राज्यलक्ष्मीसे इच्छा छोड़कर तपस्वी लक्ष्मीको अपने वश किया था ॥१२३१॥ वे राजकुमार तपस्वी लक्ष्मीके द्वारा आलिङ्गित हो रहे थे, भुक्तिरूपी लक्ष्मीमें उनकी इच्छा लग रही थी और ज्ञानरूपी संयममें आसक्त हो रहे थे । इस प्रकार वे राज्यलक्ष्मीको विलकल ही भूल गये थे ॥१२३२॥ उन महाबुद्धिमानोंने द्वादशाङ्गरुभुतस्कन्धका अध्ययन कर तपकी उत्कृष्ट भावनासे अपने आत्माको अलंकृत किया था ॥१२३३॥ स्वाध्याय करनेसे मन का निरोध होता है और मनका निरोध होनेसे इन्द्रियोंका निग्रह होता है यही समझकर उन धीरवीर मुनियोंने स्वाध्यायमें अपनी बुद्धि लगाई थी ॥१२३४॥ उन्होंने आचारांगके

१ आश्रित्य । २ वनं प्रति गृहाद्विष्कान्ताः—निर्गताः । ३ प्रकृष्टवयेन स्नेहेन । ४ ग्रीष्माति-
 कान्ता । ५ तस्याः पाणिद्वयीं प्राप्य मुखमन्तरुपागताः प०, ल० । पत्नी । ६ सन्तोषम् । ७ सकर्णदिशः ।
 ८ ग्रीष्मकालं प्राप्य । ९ चारित्र्ये । १० काण्डा—म०, अ०, प०, द०, म०, इ०, ल० । ११ आलिङ्गिताः ।
 १२ चारित्र्यशुद्धिम् । १३ आचाराङ्गपरिज्ञानम् । १४ अतीतम् ।

ज्ञात्वा सूत्रकृतं^१ सूक्तं निखिलं सूत्रतोऽर्थतः । धर्मक्रियासमाधाने ते दधुः सूत्रधारताम् ॥१३६॥
 स्थानाध्ययनं^२ मध्यायशतैर्गम्भीरमग्निवत् । विगाह्य तत्स्वरत्नानाम् श्रयुक्ते भेदमञ्जसा ॥१३७॥
 समवायस्यमङ्गलं ते समधीत्य सुमेधसः । द्रव्यादिविषयं सम्यक् समवायं^३ भुत्सत ॥१३८॥
 स्वभ्यस्तात्पञ्चमादङ्गाद् व्याख्याप्रज्ञप्ति संज्ञितात् । साध्ववादीधरन्^४ धीराः प्रश्नार्थान् विविधानमी १३९
 ज्ञातुं^५ धर्मकथां सम्यक् बुद्ध्वा बोद्धुन्बोधयन् । धर्मा कथामसंमोहास्ते यथोक्तं^६ महर्षिणा ॥१४०॥
 तेऽधीत्योपासकाध्यायमङ्गलं सप्तममूर्जितम् । निखिलं श्रावकाचारं श्रोतव्यः समुपादिशन् ॥१४१॥
 तथातत्कृद्दशादङ्गात् मुनीनन्तकृतो^७ दश^८ । तीर्थं प्रति^९ विदामासुः सोढासह्योपसर्गकान् ॥१४२॥
 अनुत्तरविमानौपपादिकान्दश तादृशान् । शमिनो नवमादङ्गाद् विदाञ्चक्रुर्विदाम्बराः ॥१४३॥
 प्रश्नव्याकरणात्प्रश्नमुपादाय शरीरिणाम् । सुखदुःखादिसम्प्राप्तिं व्याचक्रुस्ते समाहिताः ॥१४४॥
 विपाकसूत्रनिर्ज्ञातसदसत्कर्मपङ्क्तयः । बद्धकक्षास्तदुच्छ्रितौ^{१०} तपश्चक्रुस्तन्निताः ॥१४५॥
 दृष्टिवादेन निर्ज्ञातदृष्टिभेदा जिनागमे । ते तेनः परमां भक्तिं परं संवेगमाश्रिताः ॥१४६॥
 तदन्तर्गतं^{११} निःशेषश्रुततत्त्वावधारिणः । चतुर्विंशमहाविद्यास्थानान्यध्येषत क्रमात् ॥१४७॥

द्वारा मुनिर्गोत्रा समस्त आचरण जान लिया था इसीलिये वे अतिचाररहित चर्याकी विशुद्धता को प्राप्त हुए थे ॥१३५॥ वे शब्द और अर्थसहित समस्त सूत्रकृतांगको जानकर धर्मक्रियाओं के धारण करनेमें सूत्रधारपना अर्थात् मुख्यताको धारण कर रहे थे ॥१३६॥ जो सैकड़ों अध्यायोंसे समुद्रके समान गम्भीर हैं ऐसे स्थानाध्ययन नामके तीसरे अंगका अध्ययन कर उन्होंने तत्त्वस्वी रत्नोंके भेद शीघ्र ही जान लिये थे ॥१३७॥ समीचीन बुद्धिको धारण करनेवाले उन राजकुमारोंने समवाय नामके चौथे अंगका अच्छी तरह अध्ययन कर द्रव्य आदिके समूह को जान लिया था ॥१३८॥ अच्छी तरह अभ्यास किये हुए व्याख्याप्रज्ञप्ति नामके पाँचवें अङ्गसे उन धीर-धीर राजकुमारोंने अनेक प्रकारके प्रश्न-उत्तर जान लिये थे ॥१३९॥ वे धर्म-कथा नामके छठवें अंगको जानकर और उसका अच्छी तरह अवगम कर महर्षि भगवान् वृषभदेवके द्वारा कही हुई धर्मकथाएं अज्ञानी लोगोंको बिना किसी त्रुटिके ठीक-ठीक बतलाते थे ॥१४०॥ अतिशय श्रेष्ठ उपासकाध्ययन नामके सातवें अङ्गका अध्ययन कर श्रोताओंके लिये समस्त श्रावकाचारका उपदेश दिया था ॥१४१॥ उन्होंने अन्तःकृत नामके दशवें अङ्गसे प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें असह्य उपसर्गोंको जीतकर मुक्त होनेवाले दश अन्तःकृत मुनियों का वृत्तान्त जान लिया था ॥१४२॥ जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उन राजकुमारोंने अनुत्तर विमानौपपादिक नामके तीर्थ अङ्गसे प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें असह्य उपसर्ग जीतकर अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले दश-दश मुनियोंका हाल जान लिया था ॥१४३॥ वे स्थिर चित्त-वाले मुनिराज प्रश्नव्याकरण नामके दशवें अङ्गसे प्रश्न सभ्यकर जीवोंके सुख-दुःख आदिका वर्णन करने लगे ॥१४४॥ विपाकसूत्र नामके ग्यारहवें अङ्गसे जिन्होंने कर्मोंकी शुभ-अशुभ समस्त प्रकृतियाँ जान ली हैं ऐसे वे मुनि कर्मोंका नाश करनेके लिये तत्पर हो प्रमाद छोड़कर तीव्र तपश्चरण करते थे ॥१४५॥ दृष्टिवाद नामके बारहवें अङ्गसे जिन्होंने समस्त दृष्टिके भेद जान लिये हैं ऐसे वे राजकुमार परम संवेगको प्राप्त होकर जैनशास्त्रोंमें उत्कृष्ट भक्ति करने लगे थे ॥१४६॥ उस बारहवें अङ्गके अन्तर्गत समस्त श्रुतज्ञानके रहस्यका निश्चय करनेवाले उन मुनियोंने क्रमसे चौदह महा विद्याओंके स्थान अर्थात् चौदह पूर्वोंका भी अध्ययन

१ अङ्गम् । २ अङ्गम् । ३ समूहम् । 'समवायश्चयो गण' इत्यभिधानात् । ४ अवधारयन्ति स्म । ५ ज्ञात्वा ल०, द० । ६ यथोक्तां ल०, द० । ७ संसारविनाशकारिणः । ८ दश प्रकाशान् । ९ तीर्थंकर-प्रवर्तनकालमुद्दिश्य । १० तदुच्छ्रित्ये अ०, द०, स० । ११ द्वादशाङ्गान्तर्गत ।

सतोऽमी श्रुतनिःशेषश्रुतार्थाः श्रुतचक्षुषः । श्रुतार्थभावनोत्कर्षाद् दधुः शुद्धिं तपोविधौ ॥१४८॥
 बाग्देव्या सममालापो मया मौनमनारतम् । इतोऽर्थतीव्र सन्तापं ध्ययतैषु तपःक्रिया ॥१४९॥
 तनुतापमसह्यं ते सहमानाः मनस्विनः । बाह्यमाध्यात्मिकं चोग्रं तपः सुचिरमाचरन् ॥१५०॥
 ग्रीष्मेऽर्कंकरसन्तापं सहमानाः सुदुःसहम् । ते भेजुरातपस्थानम् आरूढगिरिमस्तकाः ॥१५१॥
 शिलातलेषु तप्तेषु निवेशितपदद्वयाः । प्रलम्बितभुजास्तस्थुर्गिर्यग्रप्रावगोचरे^१ ॥१५२॥
 तप्तपांशुचिता भूमिः दावदग्धा वनस्थली । याता जलाशयाः शोषं दिशो धूमाग्धकारिताः ॥१५३॥
 इत्यनूपतरे ग्रीष्मे संप्लुष्ट^२ गिरिकानने । तस्थुरातपयोगेन ते सोढजरटातपाः^३ ॥१५४॥
 मेघान्धकारिता शोषदिवक्त्रे जलदागमे । योगिनो गमयन्ति स्म तरुमूलेषु शर्वरीः ॥१५५॥
 मूसलस्थूलधाराभिः वर्षत्सु जलबाहिधु^४ । निशामनैषुर^५ व्यध्या^६ वर्षिकी^७ ते महर्षयः ॥१५६॥
 ध्यानगर्भ^८ गृहान्तःस्था धृतिप्रावारसंवृताः^९ । सहन्ते स्म महासत्त्वास्ते घनाघनदुर्दिनम् ॥१५७॥
 ते हिमानी^{१०} परिक्लिष्टा तनूयष्टि हिमागमे । दधु^{११} रभ्यवकाशेषु^{१२} शयाना मौनमास्थिताः ॥१५८॥
 अग्नगन्मुषिता^{१३} एव नग्नास्तेऽग्निसेविनः । धृतिसंवर्धितै^{१४} रङ्गैः सेहिरे हिमसारुताम् ॥१५९॥

क्रिया था ॥१४७॥ तदनन्तर जिन्होंने समस्त श्रुतके अर्थोंका श्रवण किया है और श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे वे मुनि श्रुतज्ञानकी भावनाके उत्कर्षसे तपश्चरणमें विशुद्धता धारण करने लगे ॥१४८॥ ये लोग सरस्वती देवीके साथ तो बातचीत करते हैं और मेरे साथ निरन्तर मौन धारण करते हैं इस प्रकार ईर्ष्या करती हुईके समान तपश्चरणकी क्रिया उन्हें बहुत संताप देती थी ॥१४९॥ असह्य कायक्लेश सहन करते हुए वे तेजस्वी मुनि अतिशय कठिन अन्तरङ्ग और बाह्य दोनों प्रकारका तप चिरकाल तक करते रहे ॥१५०॥ ग्रीष्मऋतुमें पर्वतोंके शिखरपर आरूढ़ होकर अत्यन्त असह्य सूर्यकी किरणोंके संतापको सहन करते हुए वे आतापन योगको प्राप्त हुए थे अर्थात् धूपमें बैठकर तपस्या करते थे ॥१५१॥ पर्वतोंके अग्रभागकी चट्टानोंकी तपी हुई शिलाओंपर दोनों पैर रखकर तथा दोनों भुजाएं लटका कर खड़े होते थे ॥१५२॥ जिस ग्रीष्मऋतुमें पृथिवी तपी हुई कुल्लिसे व्याप्त हो रही है, वनके सब प्रदेश दावानलसे जल गये हैं, तालाव सूख गये हैं और दिशाएं धूपमें अन्धकारपूर्ण हो रही हैं इस प्रकारके अत्यन्त कठिन और जिसमें पर्वतोंके वन जल गये हैं ऐसी ग्रीष्मऋतुमें तीव्र संताप सहन करते हुए वे मुनिराज आतापन योग धारण कर खड़े होते थे ॥१५३-१५४॥ जिसमें समस्त दिशाओंका समूह बादलोंके छा जानेसे अन्धकारयुक्त हो गया है ऐसी वर्षाऋतु में वे योगी वृक्षोंके नीचे ही अपनी रात्रियाँ बिता देते थे ॥१५५॥ जब बादल मूसलके समान मोटी मोटी धाराओंसे पानी बरसाते थे तब वे महर्षि वर्षाऋतुकी उन रात्रियोंको निश्चल होकर व्यतीत करते थे ॥१५६॥ ध्यानरूपी गर्भगृहके भीतर स्थित और धैर्यरूपी ओढ़नी को ओढ़े हुए वे महाबलवान् मुनि बादलोंसे ढके हुए दुर्दिनोंको सहन करते थे ॥१५७॥ शीतऋतुके दिनोंमें मौन धारण कर खुले आकाशमें शयन करते हुए वे मुनि बहुत भारी वर्षासे अत्यन्त दुःखी हुई अपने शरीरको लकड़ीके समान निश्चल धारण करते थे ॥१५८॥ वे मुनि नग्न होकर भी कभी अग्निसेवन नहीं करते थे, वस्त्रोंसे सहित हुए के गमान सदा निर्द्वन्द्व रहते थे

१ पर्वतशिखरपाषाणप्रदेशे । २ रावदग्धा । ३ प्रवृद्धातपाः । ४ मेघेषु । ५ नयन्ति स्म ।
 ६ निश्चला निर्भया इत्यर्थः । ७ वर्षाकालसम्बन्धिनीम् । ८ वासगृहम् । ९ धैर्यकम्बलपरिवेष्टिताः ।
 १० हिमसंहतिः । ११ -रभ्राव-प०, ल० । १२ तरुलतागुल्मगुहादिरहितप्रयत्नवायुमिश्रितप्रदेशेषु ।
 १३ अतमनं यथा भवति तथा सावरणमिवेत्यर्थः । १४ स्थिताः । १५ धैर्यकवचितैः ।

॥ हेमनीषु^१ त्रियामासु स्थगितास्ते^२ हिमोच्चयैः । प्रवारितैरिवाङ्गैः स्वर्धोराः स्वरमशेरत ॥१६०॥
 त्रिकालविषयं योगमास्थायैवं^३ दुष्टहम् । सुचिरं धारयन्ति स्म धीरास्ते धृतियोगतः ॥१६१॥
 दधानास्ते तपस्तापमन्तर्दोषं^४ दुरासदम् । रेजुस्तरङ्गितैरङ्गैः प्रायोऽनुकृतवाङ्मयैः ॥१६२॥
 ते स्वभूक्तोष्णं भूयो न च्छन् भोगपरिच्छदम् । निभूक्तमाल्यनिसारं मन्यमाना मनोषिणः ॥१६३॥
 फेनोर्मिहिमसन्ध्याभ्रचलं जीवितमङ्गिनाम् । भवना दृढमार्सांक्तं भोजुस्ते पथि शाश्वते ॥१६४॥
 संसारावासनिर्विण्णा गृहावासाद्विनिःसृताः । जने मार्गे विमुक्त्वङ्गैः ते परां धृतिमादधुः ॥१६५॥
 इतो^५ ज्यधुत्तरं^६ नास्तीत्यारूढदृढभावनाः । तेऽमी मनोवचःकार्यैः श्रद्धुर्गुह्यशासनम् ॥१६६॥
 तेऽनुरक्ता जिनप्रोक्ते सूक्ते धर्मे सनातने । उत्तिष्ठन्ते स्म मुक्त्यर्थं बद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥१६७॥
 संवेगजनितश्रद्धाः शुद्धे वर्त्मन्यनुत्तरं । दुरायां भावयामासुस्ते महाव्रतभावनाम् ॥१६८॥
 अहिंसा सत्यमस्त्येयं ब्रह्मचर्यं^७ विमुक्तताम्^८ । रात्र्यभोजनषष्ठानि व्रतान्येतान्यभावयन् ॥१६९॥
 यावज्जीवं व्रतेष्वेषु ते दृढीकृतसगङ्गराः^९ । त्रिविधेन^{१०} प्रतिक्रान्त^{११} दोषाः शुद्धिं परां दधुः ॥१७०॥
 सर्वारम्भविनिर्मुक्ता निर्मला^{१२} निष्परिग्रहाः । मार्गमाराधयन् जैनं व्युत्सृष्टतनुयष्टयः ॥१७१॥

और धैर्यरूपी कवचसे ढके हुए अंगोंसे शीतल पवनको सहन करते थे ॥१५९॥ शीतऋतुकी रात्रियोंमें बर्कके समूहसे ढके हुए वे धीरवीर मुनिराज स्वतन्त्रतापूर्वक इस प्रकार शयन करते थे मानो उनके अंग वस्त्रसे ही ढके हों ॥१६०॥ इस प्रकार वे धीरवीर मुनि तीनों काल-सम्बन्धी कठिन योग लेकर अपने धैर्यगुणके योगसे उन्हें चिर कालतक धारण करते थे ॥१६१॥ अन्तरङ्गमें देशीयमान और अतिशय कठिन तपके तेजको धारण करते हुए वे मुनि तरङ्गोंके समान अपने अङ्गोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो समुद्रका ही अनुकरण कर रहे हों ॥१६२॥ वे बुद्धिमान् अपने द्वारा उपभोग कर छोड़ी हुई भोगसामग्रीको भोगमें आई हुई मालाके समान सारहीन मानते हुए फिर उसकी इच्छा नहीं करते थे ॥१६३॥ वे प्राणियोंके जीवनको फेन, ओस अथवा संध्याकालके बादलोंके समान चञ्चल मानते हुए अविनाशी मोक्षमार्गमें दृढ़ता के साथ आसक्तिको प्राप्त हुए थे ॥१६४॥ संसारके निवाससे विरक्त हुए और घरके आवास से छूटे हुए वे मुनिराज मोक्षके कारणभूत जिनेन्द्रदेवके मार्गमें परम संतोष धारण करते थे ॥१६५॥ इससे बढ़कर और कोई शासन नहीं है इस प्रकारकी मजबूत भावनाएं जिन्हें प्राप्त हो रही हैं ऐसे वे राजर्षि मन वचन कायसे भगवान्‌के शासनका श्रद्धान करते थे ॥१६६॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए और अनादिसे चले आये यथार्थ जैनधर्ममें अनुरक्त हुए वे मोक्षाभिलाषी मुनिराज मोक्षके लिये कमर कसकर खड़े हुए थे ॥१६७॥ संवेग होनेसे जिन्हें शुद्ध और सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्गमें श्रद्धान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे मुनि कठिनाईसे प्राप्त होने योग्य महाव्रतकी भावनाओंका निरन्तर चिंतन किया करते थे ॥१६८॥ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग और रात्रिभोजनत्याग इन छह महाव्रतोंका वे निरन्तर पालन करते थे ॥१६९॥ जिन्होंने ऊपर कहे हुए छह व्रतोंकी जीवनपर्यन्तके लिये दृढप्रतिज्ञा धारण की है और मन, वचन तथा कायसे उन व्रतोंके समस्त दोष दूर कर दिये हैं ऐसे वे मुनिराज परम विशुद्धिको धारण कर रहे थे ॥१७०॥ जिन्होंने सब प्रकारके आरम्भ छोड़ दिये हैं, जो ममता रहित हैं, परिग्रहरहित हैं और शरीररूप लकड़ीसे भी जिन्होंने ममत्व छोड़ दिया है ऐसे वे

१ हिमानीषु ल०, प० । हेमन्तसम्बन्धिनीषु । २ आच्छादिताः । ३ हिमोच्चयस्थगितान्तत्वात् प्रावणान्वितैरिव । ४ प्रतिज्ञां कृत्वा । ५ गुह्यशासनात् । ६ अधिकम् । ७ निःपरिग्रहताम् । ८ दृढीकृत-प्रतिज्ञाः । ९ मनोवाक्यायेन । १० प्रतिक्रमणरूपेण निरस्त । ११ निर्ममा ल०, इ०, अ०, य०, प०, द० ।

सर्वोपनिधिनिर्मुक्ता युक्ताः धर्मं जिनोदिते । नैच्छन् बालाग्रमात्रं च द्विधाप्नोत^१ परिग्रहम् ॥१७२॥
 निर्मुच्छास्ते^२ स्वदेहेऽपि धर्मवर्त्मनि सुस्थिताः । सन्तोषभावनापास्ततृष्णाः सन्तो विजिह्वरे^३ ॥१७३॥
 वसन्ति स्मानिकेतास्ते^४ यत्रास्तं^५ भानुमानितः^६ । तत्रैकत्र^७ क्वचिद्देशे नैस्सङ्गं परमास्थिताः^८ ॥१७४॥
 विविक्तैकान्तसेवित्वावृ^९ ग्रामेऽथैकाहवासिनः^{१०} । पुरेष्वपि न पञ्चाहात्परं तस्थुर्नृपर्वयः^{११} ॥१७५॥
 शून्यागारस्मशानादिविविक्तालयागोचराः^{१२} । ते वीरवसतीर्भोजुः उज्जिताः सन्तभिर्भयैः ॥१७६॥
 तेऽभ्यनन्दन्महासत्त्वाः पाकसत्त्वरधिष्ठिताः । गिर्यग्रकन्दरारण्यवसतीः प्रतिवासरम् ॥१७७॥
 सिंहसर्वकशादूल्लरक्षवादि^{१३} निषेविते । वनान्ते ते वसन्ति स्म तयारसितभीषणे^{१४} ॥१७८॥
 स्फुरत्पुरुषशार्दूलगजितप्रतिनिःस्वनैः । आगुञ्जत्पर्वतप्रान्ते^{१५} ते स्म तिष्ठन्त्यसाध्वसाः ॥१७९॥
 कण्ठीरवकिशोराणां^{१६} कठोरैः^{१७} कण्ठनिस्वनैः । प्रोन्नादिनि^{१८} वने ते स्म निवसन्त्यस्तभीतयः ॥१८०॥
 नृत्यत्कबन्धपर्वन्त^{१९} सञ्चरद्वाकिनीगणाः । प्रबद्धकौशिकै^{२०} ध्वाननिहृद्धै^{२१} पान्तकाननाः ॥१८१॥
 शिवानाम^{२२} शिवैर्धनैः आरुद्धास्त्रिदिव्यमुखाः । महापितृवनोद्देशा निशास्वेभिः^{२३} सिषेबिरे^{२४} ॥१८२॥

मुनि जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए मोक्षमार्गकी आराधना करते थे ॥१७१॥ सब प्रकार के परिग्रहसे रहित होकर जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए धर्मका आचरण करते हुए वे राजकुमार बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारके कहे हुए परिग्रहोंमेंसे बालकी नोकके बराबर भी किसी परिग्रहकी चाह नहीं करते थे ॥१७२॥ जिन्हें अपने शरीरमें भी ममत्व नहीं है, जो धर्मके मार्गमें स्थित हैं और संतोषकी भावनासे जिन्होंने तृष्णाको दूर कर दिया है ऐसे वे उत्तम मुनिराज सब जगह विहार करते थे ॥१७३॥ परिग्रह-त्याग श्रतकी उत्कृष्ट रूपसे पालन करने-वाले वे गृहरहित मुनिराज जहाँ सूर्य डूब जाता था वहीं किसी एक स्थानमें ठहर जाते थे ॥१७४॥ वे राजर्षि एकान्त और पवित्र स्थानमें रहना पसन्द करते थे इसलिये गाँवोंमें एक दिन रहते थे और नगरोंमें पाँच दिनसे अधिक नहीं रहते थे ॥१७५॥ वे मुनि सात भयोंसे रहित होकर शून्यगृह अथवा श्मशान आदि एकान्त-स्थानोंमें वीरताके साथ निवास करते थे ॥१७६॥ वे महाबलवान् राजकुमार सिंह आदि दुष्ट जीवोंसे भरी हुई पर्वतोंकी गुफाओं और जंगलों में ही प्रतिदिन निवास करना अच्छा समझते थे ॥१७७॥ सिंह, रीछ, भेड़िया, व्याघ्र, चीता आदिसे भरे हुए और उन्हींके शब्दोंसे भयंकर वनके बीचमें वे मुनिराज निवास करते थे ॥१७८॥ चारों ओर फैलते हुए व्याघ्रकी गर्जनाकी प्रतिध्वनियोंसे गुंजते हुए पर्वतके किनारों-पर वे मुनि निर्भय होकर निवास करते थे ॥१७९॥ सिंहोंके बच्चोंकी कठोर कंठगर्जनासे शब्दायमान वनमें मुनिराज भयरहित होकर निवास करते थे ॥१८०॥ जहाँ नाचते हुए शिररहित श्रद्धोंके समीप डाकिनियोंके समूह फिर रहे हैं, जिनके समीपके वन उल्लुओंके प्रचण्ड शब्दोंसे भर रहे हैं और जहाँ शृगालोंके अमङ्गलरूप शब्दोंसे सब दिशाएं व्याप्त हो रही हैं ऐसी बड़ी बड़ी श्मशानभूमियोंमें रात्रिके समय वे मुनिराज निवास करते थे ॥१८१-१८२॥

१ स्थिता प०, ल० । २ बाह्याभ्यन्तररूपेण द्विधा प्रोक्तम् । ३ निर्मोहाः । ४ विहरन्ति स्म । ५ अनगराः । ६ आदित्यः । ७ प्रायः । ८ क्वचिदतिशयप्रदेशे । ९ आश्रिताः । १० विशुद्धविजयप्रदेशेषु स्थातुं प्रियत्वादिति भावः । ११ एकदिवसवासिनः । १२ निवसन्ति स्म । १३ एकान्तप्रदेशो गोचर-विषयो येषां ते । १४ ऋक्ष-भल्लूक-वृक्ष-ईहामृगशार्दूलदीपितरक्षुमृगादि । १५ तेषां सिंहादीनाम् आरावैर्भयङ्करैः । १६ ध्वनत्पर्वतसानुमध्ये । १७ सिंहशिवानाम् । १८ कठिनैः प०, ल०, द० । १९ ध्वनिं कुर्वन्ति । २० समीप । २१ प्रचण्ड ल०, द० । २२ कृतघ्नकनिनादिव्याप्त । २३ जम्बूकाणाम् । २४ अमङ्गलानां । २५ तपोधनैः । २६ सेव्यन्ते स्म ।

सिंहा इव नृसिंहास्ते^१ तस्युगिरिगुहाश्रयाः । जिनोक्त्यनुगतैः स्वान्तैः अनुद्विग्नैः^२ समाहिताः ॥१८३॥
पाकसत्त्वशतकीर्णा वनभूमि भयानकाम्^३ । तेऽध्यवत्सुस्त^४ मित्रासु^५ निशासु ध्यानमास्थिताः^६ ॥१८४॥
अधेवन्त वनोद्देशान् निषेव्यान्वनदन्तिभिः । ते तद्वन्ताग्रनिभिन्नतरुस्थपुटितान्तरान्^७ ॥१८५॥
अनेषु वनमातङ्गबृंहितप्रतिनादिनीः । दरीस्तेऽध्यषु^८ रासुष्टैः आक्रान्ताः करिशत्रुभिः^९ ॥१८६॥
स्वाध्याययोगसंस्तृता न स्वपन्ति स्म रात्रिषु । सूत्रार्थभावनोद्युक्ता जागरुकाः^{१०} सदापयमी ॥१८७॥
पल्लवकेन निषण्णास्ते वीरासनजुषोऽथवा^{११} । शयानावैकपाश्वेन शर्वरीरत्यवाहयन्^{१२} ॥१८८॥
त्यक्तोपधिभरा धीरा व्युत्सुष्टाङ्गा निरम्बराः । नैष्किञ्चन्यविशुद्धास्ते मुक्तिमार्गममार्गयन् ॥१८९॥
निव्यपेक्षा निराकाङ्क्षा वायुवीथ्यनुगामिनः^{१३} । व्यहरन् वसुधामेनां सप्रामनगराकराम् ॥१९०॥
विहरन्तो महीं कृत्स्नां ते कस्यान्यनभिद्रुहः^{१४} । मातृकल्पा दयालुत्वात्पुत्रकल्पेषु देहिषु ॥१९१॥
जीवाजीवविभागज्ञा ज्ञानोद्योतस्फुरद्दृशः । सावद्यं परिजह्युस्ते प्रासुकावसथाशनाः^{१५} ॥१९२॥
स्याद्यत्किञ्चिच्च सावद्यं तत्सर्वं त्रिविधेन ते । रत्नत्रितयशुद्ध्यर्थं यावज्जीवमवर्जयन् ॥१९३॥
व्रसान् हरितकायाश्च पृथिव्यप्पवनानलान् । जीवकायानपायेभ्यस्ते^{१६} स्म रक्षन्ति यत्नतः ॥१९४॥

सिंहके समान निर्भय, सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ और पर्वतोंकी गुफाओंमें ठहरनेवाले वे मुनिराज जिनेन्द्र-
देवके उपदेशके अनुसार चलनेवाले खेदरहित चित्तसे शान्त होकर निवास करते थे ॥१८३॥
वे मुनिराज अंधेरी रातोंके समय सैकड़ों दुष्ट जीवोंसे भरी हुई भयंकर वनकी भूमियोंमें ध्यान
धारण कर निवास करते थे ॥१८४॥ जो जंगली हाथियोंके द्वारा सेवन करने योग्य हैं तथा
जिनके मध्यभाग हाथियोंके दाँतोंके अग्रभागसे दूटे हुए वृक्षोंमें ऊँचे नीचे हो रहे हैं ऐसे वन-
के प्रदेशोंमें वे महामुनि निवास करते थे ॥१८५॥ जिनमें जंगली हाथियोंकी गर्जनाकी
प्रतिध्वनि हो रही है और उस प्रतिध्वनिसे कुपित हुए सिंहोंसे जो भर रही हैं ऐसी वनकी
गुफाओंमें वे मुनि निवास करते थे ॥१८६॥ वे मुनिराज स्वाध्याय और ध्यानमें आसक्त
होकर रात्रियोंमें भी नहीं सोते थे, किन्तु सूत्रोंके अर्थके चिन्तनमें तत्पर होकर सदा जागते
रहते थे ॥१८७॥ वे मुनिराज पर्यङ्कासनसे बैठकर, वीरासनसे बैठकर अथवा एक करवट-
से ही सोकर रात्रियाँ बिता देते थे ॥१८८॥ जिन्होंने परिग्रहका भार छोड़ दिया है, शरीरसे
ममत्व दूर कर दिया है, जो वस्त्ररहित हैं और परिग्रहत्यागसे जो अत्यन्त विशुद्ध हैं ऐसे वे
धीरवीर मुनि मोक्षका मार्ग ही खोजते रहते थे ॥१८९॥ किसीकी अपेक्षा न करनेवाले, आकां-
क्षाओंसे रहित और आकाशकी तरह निर्लेप वे मुनिराज गाँव और नगरोंके समूहसे भरी हुई
इस पृथिवीपर विहार करते थे ॥१९०॥ समस्त पृथिवीपर विहार करते हुए और किसी
भी जीवसे द्रोह नहीं करते हुए वे मुनि दयालु होनेसे समस्त प्राणियोंकी पुत्रके तुल्य मानते
थे और उनके साथ माताके समान व्यवहार करते थे ॥१९१॥ वे जीव और अजीवके विभाग
को जाननेवाले थे, ज्ञानके प्रकाशसे उनके नेत्र देशीयमान हो रहे थे अथवा ज्ञानका प्रकाश
ही उनका स्फुराद्यमान नेत्र था, वे प्रासुक अर्थात् जीवरहित स्थानमें ही निवास करते थे और
उनका भोजन भी प्रासुक ही था, इस प्रकार उन्होंने समस्त सावद्य भोगका परिहार कर दिया
था ॥१९२॥ उन मुनियोंने रत्नत्रयकी विमुक्तिके लिये, संसारमें जितने सावद्य (पापारम्भ-
सहित) कार्य हैं उनका जीवन पर्यन्तके लिये त्याग कर दिया था ॥१९३॥ वे व्रसकाय, वनस्पति

१ पुरुषश्रेष्ठाः । २ अवेदिनैः । ३ क्रूरगण । ४ भयंकराम् । ५ निवसन्ति स्म । ६ अन्वकारवर्तीषु
'तमित्रा तामसी रात्रि' इत्यभिधानात् । ७ आश्रिताः । ८ निम्नोन्नतमध्यात् । ९ अधिवसन्ति स्म ।
१० मित्रैः । ११ जागरणशीलाः । १२ वा । १३ नगन्ति स्म । १४ वायवन्तिःपरिग्रहा इत्यर्थः ।
१५ अवातुताः । १६ निरवयान्तभाद्रायाः । १७ अपसार्थः ।

अदीनमनसः शान्ताः परमोपेक्षेयान्विताः। मुक्तिशाय्यास्त्रिभिर्गुप्ताः कामभोगेऽवविस्मिताः ॥१६५॥
 जिनाज्ञानुगताः शश्वत्संसारोद्विग्नमानसाः। गर्भवासं जरामृत्युपरिवर्तनभिरवः ॥१६६॥
 श्रुतज्ञानदृशो दृष्टपरमार्था विचक्षणाः। ज्ञानदीपिकया साक्षाच्चक्रुस्ते पदमक्षरम् ॥१६७॥
 ते चिरं भावयन्ति स्म सन्मार्गं मुक्तिसाधनम्। परदत्तविशुद्धान्नभोजिनः पाण्यमत्रकाः ॥१६८॥
 शङ्कितमभिहृतो दृष्टः क्रयक्रीतादि लक्षणम्। सूत्रं निषिद्धमाहारं नेच्छन्प्राणान्त्यग्रेऽपि ते ॥१६९॥
 भिक्षां नियतवेलायां गृहपङ्कत्यनतिक्रमात्। शुद्धामाददरे धीरा मुनिवृत्तौ समाहिताः ॥२००॥
 शीतमुष्णं विरुद्धं च स्निग्धं सत्वणं न वा। तनुस्थित्यर्थमाहारमाज्जहुस्ते^{१०} गतस्पृहाः ॥२०१॥
 अक्षमृक्षणमात्रं ते प्राणधृत्य^{११} विषज्वणुः^{१२}। धर्मार्थमेव^{१३} च प्राणान् धारयन्ति स्म केवलम् ॥२०२॥
 न तुष्यन्ति स्म ते लब्धौ^{१४} व्यधीदन्नाप्यलब्धितः। मन्यमानास्तपोलाभमधिकं धुतकल्मषाः ॥२०३॥

काय, पृथिवीकाय, जलकाय, वायु काय और अग्नि काय इन छह कायके जीवोंकी वड़े यत्न से रक्षा करते थे ॥१९४॥ उन मुनियोंका हृदय दीनतासे रहित था, वे अत्यन्त शान्त थे, परम उपेक्षासे सहित थे, मोक्ष प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था, तीन गुणियोंके धारक थे और काम भोगोंमें कभी आश्चर्य नहीं करते थे ॥१९५॥ वे सदा जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अनुसार चला करते थे, उनका हृदय संसारसे उदासीन रहा करता था और वे गर्भमें निवास करना, बुढ़ापा और मृत्यु इन तीनोंके परिवर्तनसे सदा भयभीत रहते थे ॥१९६॥ श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं और जो परमार्थको अच्छी तरह जानते हैं ऐसे वे चतुर मुनिराज ज्ञानरूपी दीपिका के द्वारा अविनाशी परमात्मपदका साक्षात्कार करते थे ॥१९७॥ जो दूसरेके द्वारा दिये हुए विशुद्ध अन्नका भोजन करते हैं तथा हाथ ही जिनके पात्र हैं ऐसे वे मुनिराज मोक्षके कारणस्वरूप समीचीन मार्गका निरन्तर चिन्तन करते रहते थे ॥१९८॥ शङ्कित अर्थात् जिसमें ऐसी शंका हो जावे कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध, अभिहृत अर्थात् जो किसी दूसरेके यहाँसे लाया गया हो, उद्दिष्ट अर्थात् जो खासकर अपने लिये तैयार किया गया हो, और क्रयक्रीत अर्थात् जो कीमत देकर बाजारसे खरीदा गया हो इत्यादि आहार जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके लिये निषिद्ध बताया है। वे मुनिराज प्राण जानेपर भी ऐसा निषिद्ध आहार लेनेकी इच्छा नहीं करते थे ॥१९९॥ मुनियोंकी वृत्तिमें सदा सावधान रहनेवाले वे धीरवीर मुनि घरोंकी पंक्तियोंका उल्लंघन न करते हुए निश्चित समयमें शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते थे ॥२००॥ जिनकी लालसा नष्ट हो चुकी है ऐसे वे मुनिराज शरीरकी स्थितिके लिये ठंडा, गर्म, सूखा, चिकना, नमक-सहित अथवा बिना नमकका जैसा कुछ प्राप्त होता था वैसा ही आहार ग्रहण करते थे ॥२०१॥ वे मुनि प्राण धारण करनेके लिये अक्षमृक्षण मात्र ही आहार लेते थे और केवल धर्मसाधन करनेके लिये ही प्राण धारण करते थे। भावार्थ—जिस प्रकार गाड़ी ओगनेके लिये थोड़ी सी चिकनाईकी आवश्यकता होती है भले ही वह चिकनाई किसी भी पदार्थकी हो उसी प्रकार शरीररूपी गाड़ीको ठीक ठीक चलानेके लिये कुछ आहारकी आवश्यकता होती है भले ही वह सरस या नीरस कैसा ही हो। अल्प आहार लेकर मुनिराज शरीरको स्थिर रखते हैं और उससे संयम धारण कर मोक्षकी प्राप्ति करते हैं वे मुनिराज भी ऐसा ही करते थे ॥२०२॥ वे पाप रहित मुनिराज, आहार मिल जानेपर संतुष्ट नहीं होते थे और नहीं मिलनेपर तपश्चरण

१ मुक्तसाध्या अ०, प०, इ०, स०। मुक्तसाध्या ल०। २ जन्म। ३ पाणिपानकाः द०, ल०, स०, इ०। पाणिपुटभाजनाः। ४ स्थूलतण्डुलाशनादिकं दत्त्वा स्वीकृत कलमीदनादिक। ५ आत्मानमुद्दिश्य। ६ पणादिकं दत्त्वा स्वीकृतम्। ७ परमागमे। ८ निषेधितम्। ९ यत्याचारे। १० आददुः। ११ प्राणधारणार्थम्। १२ भुज्जते रम। १३ धर्म-निगितम्। १४ लाभे लब्धि।

स्तुतिं निन्दां सुखं दुःखं तथा मानं^१ विमाननाम्^२ । समभावेन तेषपश्यन् सर्वत्र समदर्शिनः ॥२०४॥
 वाच्यमत्वं^३ मास्थाय चरन्तो गो^४चरार्थिनः । निर्यान्ति स्माप्यलाभेन नाभञ्जन् मौनसङ्गपरम्^५ ॥२०५॥
 महोपवासमत्त्वानाङ्गा यतस्ते स्म तनुस्थितौ । तत्राप्यशुद्धमाहारं^६ नैषिषुर्मनसाज्यमी ॥२०६॥
 गोचराग्रगतां^७ योग्यं भुक्त्वान्नमविलम्बितम्^८ । प्रत्याख्यायं पुनर्वीरा निर्ययुस्ते तपोवनम् ॥२०७॥
 तपस्तापतनूभूततनवोऽपि मुनीश्वराः । अनबुद्धातपोयोगात्त चे^९तुद्वड^{१०}सङ्गराः ॥२०८॥
 तीव्रं तपस्यतां^{११} तेषां गात्रेषु श्लथताऽभवत् । प्रतिज्ञा या तु सद्धान्सिद्धावशिथिलैव सा ॥२०९॥
 नाभूत्पश्चिह्नैर्भङ्गगस्तेषां चिरमुपोषणम् । गताः परिषदा एव भङ्गं तान् जेतुमक्षमाः ॥२१०॥
 तपस्तनूतपात्तापाद^{१२}भूतेषां पराद्युतिः । निष्ठस्तस्य सुवर्णस्य दीप्तिर्नग्वतिरेकिणी^{१३} ॥२११॥
 तपोऽग्निजन्तवोऽप्युत्ताङ्गास्तेऽन्तःशुद्धिं परां दधुः । तपस्यां तनुमूषायां शुद्धयत्यात्मा हि हेमवत् ॥२१२॥
 त्वगस्थिमात्रदेहास्ते ध्यानशुद्धिमधुस्तराम् । सर्वं हि परिकमदं^{१४} बाह्यमध्यात्मशुद्धये ॥२१३॥
 योगजाः सिद्धयस्तेषाम् अणिमादिगुणर्द्धयः । प्रादुरासन्विशुद्धं हि तपः सूते महत्फलम् ॥२१४॥

रूपी अधिक लाभ समझते हुए विषाद नहीं करते थे ॥२०३॥ सब पदार्थोंमें समान दृष्टि रखने वाले वे मुनि स्तुति, निन्दा, सुख, दुःख तथा मान-अपमान सभीको समान रूपसे देखते थे ॥२०४॥ वे मुनि मौन धारण करके ईर्यासमितिसे गमन करते हुए आहारके लिये जाते थे और आहार न मिलनेपर भी मौनव्रतकी प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं करते थे ॥२०५॥ अनेक महोपवास करनेसे जिनका शरीर म्लान हो गया है ऐसे वे मुनिराज केवल शरीरकी स्थितिके लिये ही प्रयत्न करते थे परन्तु अशुद्ध आहारकी मनसे भी कभी इच्छा नहीं करते थे ॥२०६॥ गोचरीवृत्तिके धारण करनेवालोंमें मुख्य वे धीरवीर मुनिराज शीघ्र ही योग्य अन्नका भोजन कर तथा आगेके लिये प्रत्याख्यान कर तपोवनके लिये चले जाते थे ॥२०७॥ यद्यपि तपश्चरणके संतापसे उनका शरीर कुश हो गया था तथापि दृढ़ प्रतिज्ञाको धारण करनेवाले वे मुनिराज प्रारम्भ किये हुए तपसे विराम नहीं लेते थे ॥२०८॥ तीव्र तपस्या करनेवाले उन मुनियोंके शरीरमें यद्यपि शिथिलता आ गई थी तथापि समीचीन ध्यानकी सिद्धिके लिये जो उनकी प्रतिज्ञा थी वह शिथिल नहीं हुई थी ॥२०९॥ चिरकाल तक उपवास करनेवाले उन मुनियोंका परीषहोंके द्वारा पराजय नहीं हो सका था बल्कि परीषह ही उन्हें जीतनेके लिये असमर्थ होकर स्वयं पराजय को प्राप्त हो गये थे ॥२१०॥ तपरूपी अग्निके संतापसे उनके शरीरकी कान्ति बहुत ही उत्कृष्ट हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि तपे हुए सुवर्णकी दीप्ति बढ़ ही जाती है ॥२११॥ तपश्चरणरूपी अग्निसे तप्त होकर जिनके शरीर अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे वे मुनिराज अन्तरङ्गकी परम विशुद्धिके धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि शरीररूपी मूसा (साँचा) तपाये जानेपर आत्मा सुवर्णके समान शुद्ध हो ही जाती है ॥२१२॥ यद्यपि उनके शरीरमें केवल चमड़ा और हड्डी ही रह गई थी तथापि वे ध्यानकी उत्कृष्ट विशुद्धता धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उपवास आदि समस्त बाह्य साधन केवल आत्मशुद्धिके लिये ही हैं ॥२१३॥ योगके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाली अणिमा महिमा आदि ऋद्धियां उन मुनियों के प्रकट हो गई थीं सो ठीक ही है क्योंकि विशुद्ध तप बहुत बड़े बड़े फल उत्पन्न करता है ॥२१४॥

१ पूजाम् । २ अवज्ञाम् । ३ मानित्वम् । ४ गोचार । ५ मौनप्रतिज्ञाम् । ६ इच्छां न चक्रुः । ७ गोचारभिक्षायां मुख्यतां गताः । ८ शीघ्रम् । ९ प्रत्याख्यातं गृहीत्वा । १० -नारेमु-
 अ०, स०, इ०, प०, द० । ११ दृढ़प्रतिज्ञाः । १२ तपः कुर्वताम् । १३ तपोऽग्निजन्तवस्तपस्तापात् ।
 १४ न व्यतिरेकिणी ज०, द० । १५ अनयनादि ।

तपोमयः प्रणीतोऽग्निः कर्माण्याहुतयोऽभवन् । विधिगास्ते^१ सुयज्वानो मन्त्रः स्वायम्भुर्व वचः ॥२१५॥
 महाध्वर^२पतिर्वैवो वृषभो दक्षिणा^३ दया । फलं कामितसंसिद्धिः अपवर्गः क्रियावधिः^४ ॥२१६॥
 'इतीमामार्षभीमिष्टि'म् अभिसन्धाय तेऽज्जसा । प्राचीवृत्^५अनूचानाः^६ तपोयज्ञमनुत्तरम् ॥२१७॥
 इत्यमूमनगराणां परां सङ्गीर्य^७ भावनाम् । ते तथा 'निर्वहन्ति स्म निसर्गोऽयं महीयसाम् ॥२१८॥
 किमत्र बहुना धर्मक्रिया यावत्प्रविप्लुता । तां कृत्स्नां ते स्वसाक्षकः त्यक्तराज्यविक्रियाः'^८ ॥२१९॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं पुराणपुरुषादधिगम्य बोधिं

तत्तीर्थमानससरःप्रियराजहंसः ।

ये राज्यभूमिसम्बधूय^१ विधूतमोहाः

प्राश्नाजिषुर्भरतराजमननुकामाः^२ ॥२२०॥

ते धीरवा^३ मुनिवराः पुरुषैर्यसारा

धीरानगरचरितेषु^४ कृतावधानाः ।

योगीश्वरानु^५गतमार्गमनुप्रपन्नाः

शं^६ नो^७ दिशन्त्वखिललोकहितकतानाः^८ ॥२२१॥

जिसमें तपश्चरण ही संस्कार की हुई अग्नि थी, कर्म ही आहुति अर्थात् होम करने योग्य द्रव्य थे, विधिविधानको जाननेवाले वे मुनि ही होम करनेवाले थे । श्री जिनेन्द्रदेवके वचन ही मन्त्र थे, भगवान् वृषभदेव ही यज्ञके स्वामी थे, दया ही दक्षिणा थी, इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होना ही फल था और मोक्षप्राप्त होना ही कार्यकी अन्तिम अवधि थी । इस प्रकार भगवान् ऋषभदेवके द्वारा कहे हुए यज्ञका संकल्प कर उन तपस्वियोंने तपस्वी श्रेष्ठ यज्ञकी प्रवृत्ति चलाई थी ॥२१५-२१७॥ इस तरह वे मुनि, मुनियोंकी उत्कृष्ट भावनाकी प्रतिज्ञा कर उसका अच्छी तरह निर्वाह करते थे सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंका यह स्वभाव ही है ॥२१८॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है उन सब मुनियोंने राज्यअवस्थामें होनेवाले ममस्त विकार भावोंको छोड़कर अनादि कालसे जितनी भी वास्तविक क्रियाएं चली आती थीं उन सबको अपने आधीन कर लिया था ॥२१९॥

इस प्रकार पुराण पुरुष-भगवान् आदिनाथसे रत्नत्रयकी प्राप्ति कर जो उनके तीर्थ-रूपी मानससरोवरके प्रिय राजहंस हुए थे, जिन्होंने राज्यभूमिका परित्याग कर सब प्रकार का मोह छोड़ दिया था, जो भरतराजको नमस्कार नहीं करनेकी इच्छासे ही दीक्षित हुए थे, उत्कृष्ट धैर्य ही जिनका बल था, जो धीरवीर मुनियोंके आचरण करनेमें सदा गावधान रहने थे, जो योगिराज भगवान् वृषभदेवके द्वारा अंगीकार किये हुए मार्गका पालन करने थे और जो

१ संस्कृताग्निः 'प्रणीतः संस्कृतानलः' इत्यभिधानात् । २ तपोयज्ञः । ३ महायज्ञः । ४ होमान्ने याचकादीनां देय द्रव्यम् । ५ क्रियावसानः । ६ ऋषभसम्बन्धित्वम् । ७ यज्ञम् । ८ ननुकः । ९ प्रवचने साङ्गो अधीतिनः । 'अनूचानः प्रवचने साङ्गोऽधीती' इत्यभिधानात् । १० प्रतिज्ञां कृत्वा । ११ निर्वहन्ति स्म स०, ल० । १२ त्यक्तराजसमूहविकाराः । १३ त्यक्त्वेत्यर्थः । १४ नमस्कारं न वर्तकामाः । १५ पुरोः सम्बन्धिनः । १६ यत्प्रचारेण । १७ अधीकृतम् । १८ गतम् । १९ वो प०, ग०, ल० । नः अग्राधकम् । २० जगद्दिनेऽन्यवृत्तयः ।

शार्दूलविक्रीडितम्

नत्वा विश्वसृजं चराचरगुहं देवं दिव्योशाचितं
 नान्यस्य प्रणतिं ब्रजाम् इति ये दीक्षां परां संश्रिताः ॥
 ते नः सन्तु तपोविभूतिमुचितां स्वीकृत्य मुक्तिश्रियां
 बद्धेच्छावृषभात्मजा जिनजुषामं ग्रेसराः श्रेयसे ॥२२२॥
 स श्रीमान् भरतेश्वरः प्रणिधिभिर्यान्त्र ह्यतां नानयत्
 सम्भोक्तुं निखिलां विभज्य वसुधां सार्द्धं च येनोक्तम् ।
 निर्वाणाय पितृषभं जिनवृषं ये शिश्रियुः श्रेयसे
 ते नो मानधना हरन्तु दुरितं निर्दग्धकर्मन्धनाः ॥२२३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे
 भरतराजानुजदीक्षावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३४ ॥

समस्त लोकका हित करनेवाले थे ऐसे थे भगवान् वृषभदेवके पुत्र तुम सबका कल्याण करें ॥२२०-२२१॥ वस और रथावर जीवोंके गुरु तथा इन्द्रोंके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर अब हम किसी दूसरेको प्रणाम नहीं करेंगे ऐसा विचारकर जिन्होंने उत्कृष्ट दीक्षा धारण की थी, जिन्होंने योग्य तपश्चरणरूपी विभूतिको स्वीकार कर मोक्षरूपी लक्ष्मीके प्रति अपनी इच्छा प्रकट की थी और जिनेन्द्र भगवान्की सेवा करनेवालोंमें सबसे मुख्य हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवके पुत्र हम सबके कल्याणके लिये हों ॥२२२॥ वह प्रसिद्ध श्रीमान् भरत अपने दूतोंके द्वारा जिन्हें नमूना प्राप्त नहीं करा सका और न विभाग कर जिनके साथ समस्त पृथिवीका उपभोग ही कर सका तथा जिन्होंने निर्वाणके लिये अपने पिता श्री जिनेन्द्रदेवका आश्रय लिया ऐसे अभिमानरूपी धनको धारण करनेवाले और कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले वे मुनिराज हम सब लोगोंके पापोंका नाश करें ॥२२३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके भाषानुवादमें
 भरतराजके छोटे भाइयोंकी दीक्षा का वर्णन करनेवाला
 चौतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

१ इन्द्र । २ जिनं जुषन्ते सेवन्ता इति जिनजुषः नेषाम् । ३ चरैः । 'प्रणिधिः प्रार्थने चरै' इत्यभिधानात् ।
 ४ समर्थो नाभूत् । ५ आश्रयन्ति स्म ।

पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरस्यासीत् किञ्चित् चिन्ताकुलं मनः । दोर्बलिन्यनुनेतव्ये^१ यूनि दोर्दपशालिनि ॥१॥
 ग्रहो भ्रातृगणोऽस्माकं नाभिनन्दति^२ नन्दधुम्^३ । सनाभित्वादवध्यत्वं मन्यमानोऽयमात्मनः^४ ॥२॥
 अवध्यं^५ शतमित्यास्या नूनं भ्रातृशतस्थ मे । यतः^६ प्रणामविमुखं गतवध्नः^७ प्रतीपताम्^८ ॥३॥
 न तथाऽस्मादृशां खेदो भवत्यप्रणते द्विषि । दुर्गचिते यथा ज्ञातिवर्गेऽन्तर्गह्वरिति ॥४॥
 मुखैरनिष्टवाग्बह्विदीपितैरतिधूमिताः । दहन्त्यलातवच्च स्वाः^९ प्रातिकूल्यानिलैरिताः ॥५॥
 प्रतीपवृत्तयः^{१०} कर्म सन्तु वान्यं कुमारकाः । बाल्यात् प्रभृति येऽस्माभिः स्वातन्त्र्येणोपलालिताः ॥६॥
 युवा तु दोर्बली प्राज्ञः क्रमज्ञः प्रश्रयो^{११} षट् । कथं नाम गतोऽस्मासु विक्रियां^{१२} सुजनोऽपि सन् ॥७॥
 कथं च सोऽनुनेतव्यो^{१३} बली मानधनोऽधुना । जयाङ्गं यस्य दोर्दपः श्लाघ्यते रणमूर्द्धनि ॥८॥
 सोऽयं भुजबली बाहुबलशाली मदोद्धतः । महानिव गजो माद्यन् दुर्ग्रहोऽनुनयैर्विना ॥९॥
 न स सामान्यसन्देशैः प्रह्वीभवति दुर्मदी । ग्रहो दुष्ट इवाविष्टो^{१४} मन्त्रविद्याचर्णविना^{१५} ॥१०॥

अथानन्तर भुजाओंके गर्वसे शोभायमान युवा बाहुबलीको वश करनेके लिये चक्रवर्ती-
 का मन कुछ चिन्तासे आकुल हुआ ॥१॥ वह विचारने लगा कि यह हमारे भाइयोंका समूह
 एक ही कुलमें उत्पन्न होनेसे अपने आपको अवध्य मानता हुआ हमारे आनन्दका अभिनन्दन
 नहीं करता है अर्थात् हमारे आनन्द-वैभवसे ईर्ष्या रखता है ॥२॥ हमारे भाइयोंके समूहका
 यह विश्वास है कि हम सौ भाई अवध्य हैं इसीलिये ये प्रणाम करनेसे विमुख होकर मेरे शत्रु
 हो रहे हैं ॥३॥ किसी शत्रुके प्रणाम न करनेपर मुझे वैसा खेद नहीं होता जैसा कि घरके
 भीतर रहनेवाले मिथ्याभिमानी भाइयोंके प्रणाम नहीं करनेसे हो रहा है ॥४॥ अनिष्ट वचन-
 रूपी अग्निसे उड़ीपित हुए मुखोंसे जो अत्यन्त धूम सहित हो रहे हैं और जो प्रतिकूलतारूपी
 वायुसे प्रेरित हो रहे हैं ऐसे ये मेरे निजी भाई अलातचक्रकी तरह मुझे जला रहे हैं ॥५॥ जिन्हें
 हमने बालकपनसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक खिला-पिलाकर बड़ा किया है ऐसे अन्य कुमार यदि
 मेरे विरुद्ध आचरण करनेवाले हों तो खुशीसे हों परन्तु बाहुबली तरुण, बुद्धिमान्, परिपाटी-
 को जाननेवाला, विनयी, चतुर और सज्जन होकर भी मेरे विषयमें विकारको कैसे प्राप्त हो
 गया ? ॥६-७॥ जो अतिशय बलवान् है, मानरूपी धनसे युक्त है, और विजयका अङ्ग
 स्वरूप जिसकी भुजाओंका बल युद्धके अग्रभागमें बड़ा प्रशंसनीय गिना जाता है ऐसे इस बाहु-
 बलीको इस समय किस प्रकार अपने अनुकूल बनाना चाहिये ॥८॥ जो भुजाओंके बलसे शोभाय-
 मान है और अभिमानरूपी मदसे उद्धत हो रहा है ऐसा यह बाहुबली किसी मदोन्मत्त बड़े हाथी-
 के समान अनुनय अर्थात् शान्तिसूचक कोमल वचनोंके बिना वश नहीं हो सकता ॥९॥ यह
 अहंकारी बाहुबली सामान्य संदेशोंसे वश नहीं हो सकता क्योंकि शरीरमें घुसा हुआ दुष्ट पिशाच

१ बाहुबलिकुमारे । २ वशीकर्तुं योग्ये सति । ३ नाभिवर्द्धयति । ४ आनन्दम् । ५ भ्रातृ-
 गणः । ६ बहुजन एकपुद्गलेणावध्य इति बुद्ध्या । ७ भ्रातृगणस्य ५०, ६०, ८० । ८ यस्मात् कारणात् ।
 ९ प्राप्तम् । १० प्रतिकूलत्वम् । ११ बान्धवाः । १२ प्रतिकूलवर्तनाः । १३ वितयवान् । १४ विका-
 रम् । १५ स्वीकार्यः । १६ प्रवेधितः । १७ प्रतीतिः । समर्थरित्यर्थः ।

शेषक्षत्रिययूनां च तस्य चास्त्यन्तरं^१ महत् । मृगसामान्यमानार्थैः^२ धर्तुं किं शक्यते हरिः ॥११॥
 सोऽभेद्यो नीतितुच्छत्वाद् दण्डसाध्यो न विक्रयो । नैव सामप्रयोगस्य विषयो विकृताशयः ॥१२॥
 ज्वलत्येव स तेजस्वी स्नेहेनोपकृतोऽपि सन् । घृताहुति प्रसेकेन यथेद्वार्चिर्मखानिलः^३ ॥१३॥
 स्वभावपक्षे चास्मिन् प्रयुक्तं साम नार्थक्यं^४ । वपुषि द्विरदस्येव योजितं त्वच्यमौषधम् ॥१४॥
 प्रायो व्याख्यात एवास्य भावः शेषैः कुमारकैः । मदाज्ञाविमुखस्त्यक्तराज्यभोगैर्वनोन्मुखैः^५ ॥१५॥
 भूयोऽप्यनुनयस्य परीक्षिष्यामहे मतम्^६ । तथाप्यप्रणते तस्मिन् विधेयं चिन्त्यमुत्तरम् ॥१६॥
 ज्ञातिव्याजनिगूढान्तर्विक्रियो^७ निष्प्रतिक्रियः । सोऽन्तर्ग्रहोत्थितो बहिरिवाशेषं बहेत् कुलम्^८ ॥१७॥
 अन्तः^९ प्रकृतिजः कोपो विघाताय प्रभोर्मतः । तरुशाखाग्रसंघट्टजन्मा बह्विर्यथा गिरेः ॥१८॥
 तदाशु प्रतिकर्तव्यं स बली वक्रतां श्रितः । क्रूरे ग्रह इवामुष्मिन् प्रशान्ते शान्तिरेव नः ॥१९॥
 इति निश्चित्य कार्यज्ञं दूतं मन्त्रविशारदम् । तत्प्रान्तं प्राहिणोच्चक्री निसृष्टार्थतयाऽन्वितम्^{१०} ॥२०॥

मन्त्रविद्यामें चतुर पुरुषोंके बिना वश नहीं हो सकता ॥१०॥ शेष क्षत्रिय युवाओंमें और बाहुबलीमें बड़ा भारी अन्तर है, साधारण हरिण यदि पाशसे पकड़ लिया जाता है तो क्या उससे सिंह भी पकड़ा जा सकता है ? अर्थात् नहीं । भावार्थ—हरिण और सिंहमें जितना अन्तर है उतना ही अन्तर अन्य कुमारों तथा बाहुबलीमें है ॥११॥ वह नीतिमें चतुर होनेसे अभेद्य है, अर्थात् फोड़ा नहीं जा सकता, पराक्रमी है इसलिये युद्धमें भी वश नहीं किया जा सकता और उसका आशय अत्यन्त विकारयुक्त हो रहा है इसलिये उसके साथ शान्तिका भी प्रयोग नहीं किया जा सकता । भावार्थ—उसके साथ भेद, दण्ड और साम तीनों ही उपायोंसे काम लेना व्यर्थ है ॥१२॥ जिस प्रकार यज्ञकी अग्नि घीकी आहुति पड़नेसे और भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार वह तेजस्वी बाहुबली स्नेह अर्थात् प्रेमसे उपकृत होकर और भी अधिक प्रज्वलित हो रहा है क्रोधित हो रहा है ॥१३॥ जिस प्रकार हाथीके शरीरपर लगाई हुई चमड़ाको कोमल करनेवाली औषधि कुछ काम नहीं करती उसी प्रकार स्वभावसे ही कठोर रहनेवाले इस बाहुबलीके विषयमें साम उपायका प्रयोग करना भी कुछ काम नहीं देगा ॥१४॥ जो मेरी आज्ञासे विमुख हैं, जिन्होंने राज्यभोग छोड़ दिये हैं और जो वनमें जानेके लिये उन्मुख हैं ऐसे बाकी समस्त राजकुमारोंने इसका अभिप्राय प्रायः प्रकट ही कर दिया है ॥१५॥ यद्यपि यह सच है तथापि फिर भी कोमल वचनोंके द्वारा उसकी परीक्षा करेंगे । यदि ऐसा करनेपर भी नम्रीभूत नहीं हुआ तो फिर आगे क्या करना चाहिये इसका विचार करना चाहिये ॥१६॥ भाईपनेके कपटसे जिसके अन्तरङ्गमें विकार छिपा हुआ है और जिसका कोई प्रतिकार नहीं है ऐसा यह बाहुबली घरके भीतर उठी हुई अग्नि के समान समस्त कुलको भस्म कर देगा ॥१७॥ जिस प्रकार वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग की रगड़से उत्पन्न हुई अग्नि पर्वतका विघात करनेवाली होती है उसी प्रकार भाई आदि अन्तरङ्ग प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ प्रकोप राजाका विघात करनेवाला होता है ॥१८॥ यह बलवान् बाहुबली इस समय प्रतिकूलताको प्राप्त हो रहा है इसलिये इसका शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिये क्योंकि क्रूर ग्रहके समान इसके शान्त हो जानेपर ही मुझे शान्ति हो सकती है ॥१९॥ ऐसा निश्चय कर चक्रवर्तिन कार्यको जाननेवाले मन्त्र करनेमें चतुर तथा निःसृष्टार्थतासे सहित

१ भेदः । 'अन्तरमवशाशावधि परिधानान्तरि भेदतादर्थ्य' इत्यभिधानात् । २ सामान्यं कृत्वा । ३ जालः । 'आनायं पुंसि जालं स्यात्' इत्यभिधानात् । ४ यज्ञाग्निः । ५ कार्यकारी न । ६ त्वचे हितम् । ७ मम शासनम् । न वनाभिमुखैः । ८ अभिप्रायः । ९ अन्तर्गूढविकारः । १० गृहं गोत्रं च । १२ स्ववर्गे जातः । १३ असङ्गन् सम्पादितप्रयोजनतया ।

उचितं युग्यमाहूढो वयसा नातिकर्कशः । अनुद्धतेन वेषेण प्रतस्थे स तदन्तिकम् ॥२१॥

आत्मनेव द्वितीयेन स्निग्धेनानुगतो द्रुतम् । निजानुजीविलोकेन^१ हस्तशम्बल^२वाहिना ॥२२॥

सोऽन्वीप^३ वक्ति चेदेवम्^४ अहं ब्रूयामकत्थनः^५ । विगृह्य^६ यदि स ब्रूयाद् विरहं^७ विप्रहे घटे^८ ॥२३॥

सन्धिं च पणवन्धं^९ च कुर्यात् सोऽन्तरमेव नः । विक्रम्य^{१०} क्षिप्रमेष्यामि^{११} विजिगीषावसङ्गते^{१२} ॥२४॥

गुणयन्निति सम्पत्तिविपत्ती स्वायपक्षयोः । स्वयं निगूढमन्त्रत्वाद् अग्निर्भेषोऽन्यमन्त्रिभिः ॥२५॥

मन्त्रभेदभयाद् गूढं स्वपक्षेकः^{१३} प्रयाणके । युद्धापसारभूमीश्च^{१४} स पश्यन् दूरमत्थगात्^{१५} ॥२६॥

कमेण देशान् सिन्धुश्च^{१६} देशसन्धीश्च^{१७} सोऽतिथत्^{१८} । प्रापत् सङ्ख्यातरावन्तत् पुरं पोदन साह्वयम् ॥२७॥

बहिःपुरमथासाद्य रम्याः सस्यवतीर्भुवः । पक्वशालिवनोद्देशान् स पश्यन् प्राप नन्दथुम्^{१९} ॥२८॥

पश्यन् स्तम्बकरिस्तम्बान्^{२०} प्रभूतफलं^{२१} शालितः । कृतरक्षान् जनैर्यत्नान् स मेने स्वार्थिनं^{२२} जनम् ॥२९॥

सकृदुन्विभि^{२३} रुद्राचैः^{२४} नृत्यद्भिरभिनन्दितान् । केदारस्ताव^{२५} सङ्घर्षन्तं^{२६} पंघोषान्वशामयत्^{२७} ॥३०॥

द्रुतको बाहुबलीके समीप भेजा । भावार्थ—जिस द्रुतके ऊपर कार्य सिद्ध करनेका सब भार सौंप दिया जाता है वह निःसृष्टार्थ द्रुत कहलाता है । यह द्रुत स्वामीके उद्देश्यकी रक्षा करता हुआ प्रसङ्गानुसार कार्य करता है । चक्रवर्ती भरतने ऐसा ही द्रुत बाहुबलीके पास भेजा था ॥२०॥ जो उमरमें न तो बहुत छोटा था और न बहुत बड़ा ही था ऐसा वह द्रुत अपने योग्य रथ पर सवार होकर नमूताके वेपसे बाहुबलीके समीप चला ॥२१॥ जिसने मार्गमें काम आने-वाली भोजन आदिकी समस्त सामग्री अपने साथ ले रखी है और जो प्रेम करनेवाला है ऐसे अपने ही समान एक सेवकसे अनुगत होकर वह द्रुत वहाँसे शीघ्र ही चला ॥२२॥ वह द्रुत मार्गमें विचार करता जाता था कि यदि वह अनुकूल बोलेगा तो मैं भी अपनी प्रशंसा किये बिना ही अनुकूल बोलूंगा और यदि वह विरुद्ध होकर युद्धकी बात करेगा तो मैं युद्ध नहीं होनेके लिये उद्योग करूँगा ॥२३॥ यदि वह सन्धि अथवा पणवन्ध (कुछ भेंट देना आदि) करना चाहेगा तो मेरा यह अन्तरङ्ग ही है अर्थात् मैं भी यही चाहता हूँ, इसके सिवाय यदि वह चक्रवर्तीको जीतनेकी इच्छा करेगा तो मैं भी कुछ पराक्रम दिखाकर शीघ्र बापिरा लौट आऊँगा ॥२४॥ इस प्रकार जो अपने पक्षकी सम्पत्ति और दूसरेके पक्षकी विपत्तिका विचार करता जाता था, जो अपने मन्त्रको छिपाकर रखनेसे दूसरे मन्त्रियोंके द्वारा कभी फोड़ा नहीं जा सकता था और जो मन्त्रभेदके डरसे पड़ावपर किसी एकान्त स्थानमें गुप्त रीतिसे शयन करता था ऐसा वह द्रुत युद्ध करने तथा उससे निकलनेकी भूमियोंको देखता हुआ बहुत दूर निकल गया ॥२५-२६॥ क्रम क्रमसे अनेक देश, नदी और देशोंकी सीमाओंका उल्लंघन करता हुआ वह द्रुत बाहुबली के पोदनपुर नामक नगरमें जा पहुँचा ॥२७॥ नगरके बाहर धानोंसे युक्त मनोहर पृथिवी को पाकर और पके हुए चावलोंके खेतोंको देखता हुआ वह द्रुत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुआ था ॥२८॥ जो बहुतसे फलोंसे शोभायमान हैं और किसानोंके द्वारा बड़े यत्नसे जिनकी रक्षा की जा रही है ऐसे धानके गुच्छोंको देखते हुए द्रुतने मनुष्योंको बड़ा स्वार्थी समझा था ॥२९॥ जो खेतोंको देखकर आनन्दसे नाच रहे हैं और खेत काटनेके लिये जिन्होंने हँगिया ऊँचे उठा रखे

१ बाह्वन् । 'सर्वं स्याद् बाह्वन् धानं युग्यं पक्वं च शीरणम्' इत्यभियानात् । २ अनुवचनेन ।

३ पाथेय । ४ अनुकूलम् । ५ अनकूलवृत्त्या । ६ अश्लाघयानः । ७ मन्त्रकृतः । ८ कलहं कृत्वा ।

९ नाशम् । १० करोमि । ११ निक्रम्यन्ति । १२ आमन्त्र्यामि । १३ सन्धिं न गते सति । १४ शयनः । १५ युद्धापसारणयोग्यभूमिः । १६-मन्त्रयान् । १७, १८, १९, २० ।

२१ नदीः । २२ देशसीमन्तः । २३ अतीत्य गच्छन् । २४ आनन्दम् । २५ श्रीहिगुच्छान् ।

'धान्यं त्रीहिः स्तम्बकरिः स्तम्बो गुच्छस्तुणादितः' इत्यभियानात् । २६ बहल । २७ विजप्रयोजन-

वन्तम् । २४ कृषीवलैः २५ उद्गन्तव्यविधैः । २६ छेदन । २७ सम्मर्द । २८ अशृणोन् ।

ववच्चिच्छुक्कमुखाकृष्टकणाः^१ कणिशमञ्जरीः । शालिवप्रेषु^२ सोऽपश्यद् विटंभुक्ता इव स्त्रियः ॥३१॥
 सुगन्धिकलमामोदसंवादि^३इवसि^४तानिलैः । वासयन्तीदिशः शालिकणिशैरवतंसिताः ॥३२॥
 पीनस्तनतटोत्सङ्गलङ्घमम्बुबिन्दुभिः । मुक्तालङ्कारजां लक्ष्मीं घटयन्तीनिजोरसि ॥३३॥
 सरजोऽञ्जरजःकीर्णसीमन्तरुचिरैः कचैः । चूडामाबध्नतीः स्वैरग्रन्थितोत्पलदामकैः ॥३४॥
 दधतीरातपकलान्तमुखपर्यन्तसङ्गिनीः । लावण्यस्यैव कणिकाः श्रमघर्भाम्बुविप्रुषः ॥३५॥
 शुकान् शुकच्छदच्छाद्यैः रुचिराङ्गभीस्तनांशुकैः । छोट्कुर्वतीः कलकवार्यं सोऽपश्यच्छालिगोपिकाः ॥३६॥
 भ्रमद्यत्र^५कुटीयन्त्रचीत्कारैरिक्षुवाटकान् । फूत्कुर्वत इवाद्राक्षीद् अतिपीडाभयेन सः ॥३७॥
 उपक्षेत्रं च गोधेनूः^६ महोधीभरमन्थराः^७ । वात्सकेनोत्सुकाः स्तन्यं^८ क्षरतीनिचचाय^९ सः ॥३८॥
 इति रम्यान् पुरस्यास्य सीमान्तान् स विलोकयन् । मेने कृतार्थमात्मानं लब्धतद्दर्शनोत्सवम् ॥३९॥
 उपशयभुवः^{१०} कुल्याप्रणालीप्रसूतोदकाः । शालीक्षुजोरकक्षेत्रैः वृतास्तस्य^{११} मनोऽहरन् ॥४०॥
 वापीकूपतडागैश्च सारामैरम्बुजाकरैः । पुरस्यास्य बहिर्देशाः तेनादृश्यन्तं हारिणः ॥४१॥
 पुरगोपुरमुल्लङ्घय स निचायन् वणिक्पथान् । तत्र^{१२}पूगीकृतान् मेने रत्नराशौन्निधीनिव ॥४२॥

हैं ऐसे कटुमुख सहित किसानोंके द्वारा प्रशंसनीय, खेत काटनेके संघर्षके लिये बजती हुई तुरई-
 के शब्दोंकी भी वह दूत सुन रहा था ॥३०॥ कहीं धानके खेतोंमें वह दूत जिनके कुछ दाने तोताओं
 ने अपने मुखसे खींच लिये हैं ऐसी वालोंके समूह इस प्रकार देखता था मानो विट पुरुषोंके द्वारा
 भोगी हुई स्त्रियां ही हों ॥३१॥ जो सुगन्धित धानकी सुगन्धिके समान सुवासित अपनी
 श्वासकी वायुसे दशों दिशाओंको सुगन्धित कर रही थीं, जिन्होंने धानकी वालोंसे अपने कानों
 के आभूषण बनाये थे, जो अपने वक्षःस्थलपर स्थूल स्तनतटके समीपमें गिरती हुई पसीनेकी
 बूंदोंसे मोतियोंके अलंकारसे उत्पन्न होनेवाली शोभाको धारण कर रही थीं, जो परागसहित
 कमलोंकी रजसे भरे हुए माँगसे सुन्दर तथा अच्छी तरह गुंथी हुई नीलकमलोंकी मालाओंसे
 सुशोभित केशोंमें चोटियाँ बाँधे हुई थीं, जो वामसे दुःखी हुए मुखपर लगी हुई सौन्दर्यके छोटे
 छोटे टुकड़ोंके समान पसीनेकी बूंदोंको धारण कर रही थीं, जिनके शरीर तोतेके पंखोंके समान
 कान्ति वाली—हरी हरी चोलियोंसे सुशोभित हो रहे थे, और जो मनोहर शब्द करती हुई
 छो छो करके तोताओंको उड़ा रही थीं ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ उस दूतने देखीं
 ॥३२-३६॥ जो चलते हुए कोल्लुओंके चीत्कार शब्दोंके बहाने अत्यन्त पीड़ासे मानो रो ही
 रहे थे ऐसे ईश्वरके खेत उस दूतने देखे ॥३७॥ खेतोंके समीप ही, बड़े भारी स्तनके भारसे जो
 धीरे धीरे चल रही हैं, जो वल्लड़ोंके समूहमें उत्कण्ठित हो रही हैं और जो दूध भरा रही
 हैं ऐसी नवीन प्रसूता गायें भी उसने देखी ॥३८॥ इस प्रकार इस नगरके मनोहर सीमाप्रदेशों
 को देखा हुआ और उन्हें देखकर आनन्द प्राप्त करता हुआ वह दूत अपने आपको कृतार्थ
 मानने लगा ॥३९॥ जिनके चारों ओर नहरकी नालियोंमें पानी फैला हुआ है और जो धान
 ईश्वर और जीरेके खेतोंसे धिरी हुई हैं ऐसी उस नगरके बाहरकी पृथिवियाँ उस दूतका मन हरण
 कर रही थीं ॥४०॥ बावड़ी, कुएँ, तालाब, बगीचे और कमलोंके समूहोंसे उस नगरके
 बाहरके प्रदेश उस दूतको बहुत ही मनोहर दिखाई दे रहे थे ॥४१॥ नगरके गोपुरद्वारको

१ धान्यांशाः । २ केदारपु । ३ परिस्पर्धि । ४ उच्छ्वास । ५ शिखाम् । 'शिखा चूडा केशपाशः'
 इत्यभिधानात् । ६ इच्छुयन्त्रगृह । ७ क्षेत्रसमीपे । ८ गोनिधसूतिकाः । 'धेनुः स्यान्नदप्रसूतिका' इत्यभि-
 धानात् । ९ महापीनभारमन्दगमनाः । १० क्षीरम् । ११ ददर्श । 'वायुञ् पृजानिशामनयोः' ।
 १२ ग्रामान्तर्भासः । 'ग्रामान्तमपश्यत्यं स्यात्' इत्यभिधानात् । १३ हनस्य । १४ वृन्दाकृतान् । 'पुगः
 प्रभुत्ववृन्दयोः' इत्यभिधानात् । पुञ्जीपुजानित्यर्थं पुञ्जीकृतान् ल० । पुगङ्कृतान् अ०, प०, स०, उ० ।

नूपोपायनवाजीभलालामदजलाविलम्^१ । कृतच्छटमिवालोक्ष्य सोऽभ्यनन्दनूपाङ्गणम् ॥४३॥
 स निवेदितवृत्तान्तो महादौवारपालकैः । नृपं नृपासनासीनम् उपासीदद् वचोहरः ॥४४॥
 पृथुवक्षस्त^२दं तुङ्गमुकुटोदग्रभृङ्गकम् । जयलक्ष्मीविलसिन्याः क्रीडाशैलमिवैककम् ॥४५॥
 ललाटपट्टमारुढपट्टबन्धं सुविस्तृतम् । जयश्रिय इवोद्वाहपट्टं दधतमुक्चकैः ॥४६॥
 दधानं तुलिताशेषराजन्यकयशोधनम् । तुलादण्डमिवोद्दभभारं भुजदण्डकम् ॥४७॥
 मुखेन पङ्कजच्छायां नेत्राभ्यामुत्पलश्रियम् । दधानमप्यना^३सन्नविजातिमजलाशयम्^४ ॥४८॥
 विभ्राणमतिविस्तीर्णं मनो वक्षश्च यद्वयम् । वाग्देवीकमलावत्योः गतं नित्यावकाशताम् ॥४९॥
 रक्षावृत्तिपरिक्षेपं गुणग्रामं^५ महाफलम् । निवेशयन्तमात्माङ्गो मनःसु च महीयसाम् ॥५०॥
 स्फुरदामरणोद्योतच्छन्नना निखिला दिशः । प्रतापज्वलनेनेव लिम्पन्तमलघीयसा ॥५१॥
 मुखेन चन्द्रकान्तेन^६ पद्मभरणेन^७ चारुणा । चरणेन विराजन्तं वज्रसारेण^८ वर्धनेन ॥५२॥

उल्लंघन कर बाजारके मार्गोंको देखता हुआ वह दूत वहाँ इकट्ठी की हुई रत्नोंकी राशियोंको निधियोंके समान मानने लगा ॥४२॥ जो राजाकी भेंटमें आये हुए घोड़े और हाथियोंकी लार तथा मदजलसे कीचड़सहित हो रहा था और उससे ऐसा मायूम होता था मानो उसपर जल ही छीटा गया हो ऐसे राजाके आँगनको देखकर वह दूत बहुत ही प्रसन्न हो रहा था ॥४३॥ जिसने मुख्य मुख्य द्वारपालोंके द्वारा अपना वृत्तान्त कहला भेजा है ऐसा वह दूत राजसिंहासन पर बैठे हुए महाराज बाहुबलीके समीप जा पहुँचा ॥४४॥ वहाँ जाकर उसने महाराज बाहुबलीको देखा, उनका वक्षस्थल किनारेके समान चौड़ा था, वे स्वयं ऊँचे थे और उनका मुकुट शिखरके समान उन्नत था इसलिये वे विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीके क्रीड़ा करनेके लिये एक अद्वितीय पर्वतके समान जान पड़ते थे—जिसपर यह बंधा हुआ है ऐसे लम्बे-चौड़े ललाटपट्टको धारण करते हुए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो विजयलक्ष्मीका उत्कृष्ट विवाहपट्ट ही धारण कर रहे हों । वे बाहुबली स्वामी, जिसने समस्त राजाओंका यशरूपी धन तोल लिया है और जिसने समस्त पृथिवीका भार उठा रक्खा है ऐसे तराजूके दण्डके समान भुजदण्डको धारण कर रहे थे—यद्यपि वे मुखसे कमलकी और नेत्रोंसे उत्पलकी शोभा धारण कर रहे थे तथापि उनके समीप न तो विजाति अर्थात् पक्षियोंकी जानियाँ थीं और न वे स्वयं जलाशय अर्थात् सरोवर ही थे । भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अङ्कार है इसलिये विरोधका परिहार इस प्रकार करना चाहिये कि वे यद्यपि मुख और नेत्रोंसे कमल तथा उत्पलकी शोभा धारण करते थे तथापि उनके पास विजाति अर्थात् वर्णसंकर लोगोंका निवास नहीं था और न वे स्वयं जलाशय अर्थात् जड़ आशयवाले मूर्ख ही थे । वे बाहुबली जिनपर क्रमसे सरस्वती देवी और लक्ष्मीदेवीका निरन्तर निवास रहता था ऐसे अत्यन्त विस्तृत (उदार और लम्बे चौड़े) मन और वक्षस्थलको धारण कर रहे थे—वे, प्रजाकी रक्षाके कारण तथा बड़े बड़े फल देनेवाले गुणोंके समूहको अपने शरीरमें धारण कर रहे थे और अन्य महापुरुषोंके मनमें धारण कराते थे—वे अपने देदीप्यमान आभूषणोंकी कान्तिके लालसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने विशाल प्रतापरूपी अग्निसे समस्त दिशाओंकी लिप्त ही कर रहे हों । वे चन्द्रकान्त मणिके समान मुखसे, पद्मभरण मणिके समान सुन्दर चरणोंसे और वज्रके समान सुदृढ़ अपने

१ परनूपैः प्राभृतीकृत । २ वर्द्धमितम् । ३ उपागमत् । ४ सानुम् । ५ अनासन्नहीन-जातिम् । पक्षे पक्षिजातिम् । ६ अमन्दबुद्धिम् । ७ सरस्वतीलक्ष्म्योः । ८ गुणसमूहम् । निगम (गांव) मिति ध्वनिः । ९ चन्द्रवत् कान्तेन । चन्द्रकान्तश्चिलयेति ध्वनिः । १० पद्मवदरणेन । पद्मरागरत्नेनेति ध्वनिः । ११ वज्रवत् स्थिरावयवेन । वज्राग्रातःसारेणेति ध्वनिः ।

हरिन्मणिमयस्तम्भमिबकं हरितत्वयम् । लोकावष्टम्भमाघातुं सृष्टमाद्येन वेधसा^१ ॥५३॥
^२सर्वाङ्गसङ्गतं तेजो दधानं क्षात्रमूजितम् । नूनं^३ तेजोमयेरेव घटितं परमाणुभिः ॥५४॥
 तमित्यालोकयन् दूराद् धास्तः^४ पुञ्जमिवोच्छ्रवम् । चञ्चल प्रणिधिः^५ किञ्चित् प्रणिधाना^६ प्रिथोशितुः ५५
 प्रणमश्चरणावेत्य दधद्दूरानतं शिरः । सत्कारं^७ कुमारेण नातिदूरे न्यवेशि सः ॥५६॥
 तं शासनहरं जिष्णोः निविष्टमुचितासने । कुमारो निजगादेति स्मितशून् विष्वगाकिरन् ॥५७॥
 चिराच्चक्रधरस्याद्य वयं चिन्त्यत्वमागताः । भद्र भद्रं^८ जगद्भर्तुर्बहुचिन्त्यस्य चक्रिणः ॥५८॥
 विश्वक्ष^९ ब्रजयोद्योगम् अद्यापि न समापयन्^{१०} । स कच्चिद्^{११} भूभुजां भर्तुः कुशलो दक्षिणो भुजः ॥५९॥
 श्रुता विश्वदिशः सिद्धा जिताश्च निखिला नृपाः । कर्तव्यशेषमस्याद्य किमस्ति वद नास्ति वा ॥६०॥
 इति प्रशान्तमोजस्वि वचःसारं मितक्षरम् । वदन् कुमारो दूतस्य वचनावसरं^{१२} व्यधात् ॥६१॥
 अथोपात्तक्रमे वक्तुं वचो हारि^{१३} वचोहरः । वागर्थविद्य सन्धिषण्डय^{१४} दर्शयन् दशनान्शुभिः^{१५} ॥६२॥
 त्वद्वचः^{१६} सम्मुखीनेऽस्मिन् कार्यं सुव्यक्तमीक्ष्यते । असंस्कृतोऽपि^{१७} यत्रार्थं प्रत्यक्षयति^{१८} मादृशः^{१९} ॥६३॥
 वयं वचोहरा नाम प्रभोः शासनहारिणः । गुणदोषविचारेषु मन्दास्तच्छब्द^{२०} वर्तितः ॥६४॥

शरीरसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे । उनकी कान्ति हरे रङ्गकी श्री इसलिये वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके द्वारा लोकको सहारा देनेके लिये बनाया हुआ हरित मणियोंका एक खम्भा ही हो । समस्त शरीरमें फैले हुए अतिशय श्रेष्ठ क्षात्रतेज को धारण करते हुए महाराज बाहुबली ऐसे जान पड़ते थे मानो तेजरूप परमाणुओंसे ही उनकी रचना हुई हो । जिसकी ज्वाला ऊपरकी ओर उठ रही है ऐसे तेजके पुंजके समान महाराज बाहुबलीकी दूरसे देखता हुआ वह चक्रवर्तीका दूत अपने ध्यानसे कुछ विचलित-सा हो गया अर्थात् घबड़ा-सा गया ॥५५-५५॥ दूरसे ही भुके हुए शिरको धारण करनेवाले उस दूतने जाकर कुमारके चरणोंमें प्रणाम किया और कुमारने भी उसे सत्कारके साथ अपने समीप ही बैठाया ॥५६॥ कुमार बाहुबली अपने मन्दहास्यकी किरणोंको चारों ओर फैलाते हुए योग्य आसनपर बैठे हुए उस भरतके दूतसे इस प्रकार कहने लगे ॥५७॥ कि आज चक्रवर्ती ने बहुत दिनमें हम लोगोंका स्मरण किया, हे भद्र, जो समस्त पृथिवीके स्वामी हैं और जिन्हें बहुत लोगोंकी चिन्ता रहती है ऐसे चक्रवर्तीकी कुशल तो है न ? ॥५८॥ जिसने समस्त क्षत्रियोंको जीतनेका उद्योग आज तक भी समाप्त नहीं किया है ऐसे राजाधिराज भरतेश्वर की वह प्रसिद्ध दाहिनी भुजा कुशल है न ? ॥५९॥ सुना है कि भरतने समस्त दिशाएँ वश कर ली हैं और समस्त राजाओंको जीत लिया है । हे दूत, कहो अब भी उनको कुछ कार्य बाकी रहा है या नहीं ? ॥६०॥ इस प्रकार जो अत्यन्त शान्त हैं, तेजस्वी हैं, साररूप हैं, और जिनमें थोड़े अक्षर हैं ऐसे वचन कहकर कुमारने दूतको कहनेके लिये अवसर दिया ॥६१॥

तदनन्तर दाँतोंकी किरणोंसे शब्द और अर्थ दोनोंको मिलाकर दिखलाता हुआ दूत मनोहर वचन कहनेके लिये तैयार हुआ ॥६२॥ वह कहने लगा कि हे प्रभो, आपके इस वचन-रूपी दर्पणमें आगेका कार्य स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है क्योंकि उसका अर्थ मुझ जैसा मूर्ख भी प्रत्यक्ष जान लेता है ॥६३॥ हे नाथ, हम लोग तो दूत हैं केवल स्वामीका समाचार ले जाने-

१ आधारम् । २ आदिब्रह्मणेत्यर्थः । ३ सप्ताङ्ग अथवा सर्वशरीर । ४ इव । ५ धाम्नां तेजसाम् । ६ चरः । ७ गुणदोषविचारानुस्मरणं प्रणिधानम्, तस्मात् । अभिप्रायादित्यर्थः । ८ चिन्तितुं योग्यादिचिन्त्याः तेषां भावः चिन्त्यत्वम् । ९ कुशलम् । १० क्षेत्र-इ० । ११ सम्पूर्णं न कुर्वन् । १२ किम् । १३ वचनस्यावसरम् । १४ मन्त्रोक्तम् । १५ पिण्डोक्तम् । १६ दन्तकान्तिभिः । १७ तत्र वाग्दर्पणे । १८ संस्काररहितः । १९ प्रत्यक्षं करोति । २० मर्दविद्यः । २१ चक्रिवशवर्तितः ।
 -च्छन्दचारिणः ल०, द० ।

ततश्चक्रधरेणार्थं यदाक्लिष्टं^१ प्रियोचितम् । प्रयोक्तुर्गौरवादेव तद्ग्राह्यं साध्वसाधु वा ॥६५॥
 गुरोर्वचनमादेयम् अक्लिष्टयेति^२ या श्रुतिः । तत्प्रामाण्यादमुष्याज्ञा संविधेया त्वयाधुना ॥६६॥
 ऐश्वराकः^३ प्रथमो राज्ञां भरतो भवदग्रजः । परिक्रान्ता मही कृत्स्ना येन नामयताऽमरान् ॥६७॥
 गङ्गाद्वारं समुल्लङ्घय यो रथेनाप्रतिष्कशः^४ । चलदाविद्धकल्लोलं^५ भ्रकरोन्मकरालयम् ॥६८॥
 शरव्याजः प्रतापाग्निः ज्वलत्यस्य जलेऽम्बुधेः । पपी न केवलं बद्धिमानं च त्रिविद्वीकसाम् ॥६९॥
 मा नाम प्रणतिं यस्य त्राजिबुधसुदः कथम् । आकृष्टाः शरपाशेन प्राध्वंकृत्य^६ गले बलात् ॥७०॥
 शरव्यमकरोद् यस्य शरपातो महाम्बुधौ । प्रसभं मगधावासं क्रान्तद्वादशयोजनः ॥७१॥
 विजयाद्धाचले यस्य विजयो घोषितोऽमरैः । जयतो विजयाद्धेशं शरेणामोघपातिना ॥७२॥
 कृतमालादयो देवा गता यस्य विधेयताम्^७ । 'कृतमस्योभयश्रेणीन'^८ भोग्यजयवर्णनैः ॥७३॥
 गुह्यमुखमपध्वान्तं^९ व्यतीत्य जयसाधनैः । उत्तरां विजयाद्धात्रिः यो व्यगाहत् तां महीम् ॥७४॥
 म्लेच्छाननिच्छतोऽप्याज्ञां प्रच्छाद्य^{१०} जयसाधनैः । सेनान्या यो जयं प्राप बलादाच्छिद्य^{११} तद्धनम् ॥७५॥

वाले हैं हम लोग सदा स्वामीके अभिप्रायके अनुसार चलते हैं तथा गुण और दोषोंका विचार करनेमें भी असमर्थ हैं ॥६४॥ इसलिये हे आर्य, चक्रवर्तीने जो प्रिय और उचित आज्ञा दी है वह अच्छी हो या बुरी, केवल कहनेवालेके गौरवसे ही स्वीकार करने योग्य है ॥६५॥ गुरुके वचन बिना किसी तर्क-वितर्कके मान लेना चाहिये यह जो शास्त्रका वचन है उसे प्रमाण मानकर इस समय आपको चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकार कर लेनी चाहिये ॥६६॥ वह भरत इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुआ है अथवा इक्ष्वाकु अर्थात् भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, राजाओंमें प्रथम है, आपका बड़ा भाई है और इसके सिवाय देवोंसे भी नमस्कार कराते हुए उसने ससस्त पृथिवी अपने वश कर ली है ॥६७॥ उसने गंगाद्वारको उल्लंघन कर अकेले ही रथपर बैठकर समुद्रको जिसकी चञ्चल लहरें एक दूसरेसे टकरा रही हैं ऐसा कर दिया ॥६८॥ बाणके बहाने से इसकी प्रतापरूपी अग्नि समुद्रके जलमें भी प्रज्वलित रहती है, उस अग्निने केवल समुद्र को ही नहीं पिया है किन्तु देवोंका मान भी पी डाला है ॥६९॥ भला, देव लोग उसे कैसे न नमस्कार करेंगे ? क्योंकि उसने बाणरूपी जालसे गलेमें बांधकर उन्हें जबरदस्ती अपनी ओर खींच लिया था ॥७०॥ बारह योजन दूरतक जानेवाले उसके बाणने महासागरमें रहनेवाले मागधदेवके निवासस्थानको भी जबरदस्ती अपना निशाना बनाया था ॥७१॥ व्यर्थ न जाने-वाले बाणके द्वारा विजयार्ध पर्वतके स्वामी विजयार्धदेवको जीतनेवाले उस भरतकी विजय घोषणा देवोंने भी की थी ॥७२॥ कृतमाल आदि देव उसकी आधीनता प्राप्त कर चुके हैं और उत्तर दक्षिण दोनों श्रेणियोंके विद्याधरोंने भी उसकी जयघोषणा की है ॥७३॥ जिगका अन्धकार दूर कर दिया गया है ऐसे गुफाके दरवाजेको अपनी विजयी सेनाके साथ उल्लंघन कर उसने विजयार्ध पर्वतकी उत्तर दिशाकी भूमिपर भी अपना अधिकार कर लिया है ॥७४॥ म्लेच्छ लोग यद्यपि उसकी आज्ञा नहीं मानना चाहते थे तथापि उसने सेनापतिके द्वारा अपनी

१ उपदेशितम् । २ भेदमकृत्वा । ३ इक्ष्वाकोः सकाशात् संजातः । ४ असहायः । ५ परम्पर-
 ताडित । अथवा कुटिल । 'आविद्धं कुटिलं भुम्नं बेत्तितं वक्रमित्यभिधानात् । ६ अगुः । माद्वयो-
 गादङ्गभावः । ७ बन्धनं कृत्वा । 'प्राध्वं बन्धे' इति सूत्रेण तिसंज्ञायां 'तिदुस्वरत्याङ्गान्यस्त सत्पुरुषः'
 इति समासः, समासो को नञः प्यः इति क्त्वाप्रत्ययस्य' प्यादेशः । ८ लक्ष्यम् । ९ विनयग्राहिताम् ।
 'विनेयो विनयग्राही' इत्यभिधानात् । १० पर्याप्तम् । ११ श्रेणीनभोगैर्जयवर्णनम् द०, द० । श्रेणिनभो-
 गैर्जयवर्णनैः स० । १२ अपगतान्धकारं कृत्वा । १३ संवेष्टय । १४ बलादाकुप्य ।

कृतोऽभिषेको यस्याराद् अर्धेत्य सूरसप्तमः । यस्याचलेन्द्रकूटेषु स्थलपदाधितं यशः ॥७६॥
 रत्नार्घ्यः पर्युपासात्^१ यं स्वर्धुन्यधिदेवते^२ । वृषभाद्रितटे येन दृङ्कोत्कीर्णं कृतं यशः ॥७७॥
 घटदासीकृता लक्ष्मीः सुराः किङ्करतां गताः । यस्य स्वाधीनरत्नस्य निधयः सुवते धनम् ॥७८॥
 स यस्य जयसैन्यानि निर्जित्य निखिला दिशः । भूमन्ति स्माखिलाम्भोधितटान्तवनभूमिषु ॥७९॥
 त्वामायुष्यन् जगन्मान्यो मानयन्^३ कुशलाशिषा । समादिशन्ति चक्राङ्कां प्रययन्नाधिराजताम् ॥८०॥
 मदीयं राज्यमाक्रान्तनिखिलद्वीपसागरम् । राजतेऽस्मत्प्रियभावा न बाहुबलिना विना ॥८१॥
 ताः सम्पदस्तद्देश्वर्यं ते भोगाः स परिच्छदः । ये समं बन्धुभिर्भुक्ताः संविभक्तसुखोदयैः ॥८२॥
 अन्यच्च नमिताशेषनृसुरासुरखेचरम् । नाधिराज्यं विभात्यस्य^४ प्रणामविमुखे त्वमि ॥८३॥
 न दुनोति मनस्तीक्ष्णं रिपुरप्रणतस्तथा । बन्धुरप्रणमन् गर्वाद् दुर्विदग्धो यथा प्रभुम् ॥८४॥
 तदुपेत्य प्रणामेन पूज्यतां प्रभुरक्षमी । प्रभुप्रणतिरेवेष्टा प्रसूतिर्नेनु सम्पदाम् ॥८५॥
 अवन्ध्यशासनस्यास्य शासनं^५ ये विमन्वते^६ । शासनं द्विषतां तेषां चक्रमप्रतिशासनम् ॥८६॥
 प्रचण्डदण्डनिर्घात^७ निपातपरिखण्डितान् । तदाज्ञाखण्डनव्यापान् पश्यन्तान्^८ मण्डलाधिपान् ॥८७॥

सेनासे हराकर और जवरदस्ती उनका धन छीनकर उनपर विजय प्राप्त की है ॥७५॥ अच्छे अच्छे देवोंने आकर उसका अभिषेक किया है और उसका निर्मल यश बड़े बड़े पर्वतोंकी शिखरों पर स्थलकमलोंके समान सुशोभित हो रहा है ॥७६॥ गङ्गा-सिन्धु दोनों नदियोंके देवताओं ने रत्नोंके अर्घ्योंके द्वारा उसकी पूजा की है तथा वृषभाचलके तटपर उसने अपना यश टांकीसे उधेर कर लिखा है ॥७७॥ उसने लक्ष्मीको घटदासी अर्थात् पानी भरनेवाली दासीके समान किया है, देव उसके सेवक हो रहे हैं, समस्त रत्न उसके स्वाधीन हैं और निधियाँ उसे धन प्रदान करती रहती हैं ॥७८॥ और उसकी विजयी सेनाओंने समस्त दिशाओंको जीतकर सब समुद्रोंके किनारेके बनोंकी भूमिमें भ्रमण किया है ॥७९॥ हे आयुष्यन्, जगत्में माननीय वही महाराज भरत अपने चक्रवर्तीपनेको प्रसिद्ध करते हुए कल्याण करनेवाले आशीर्वादसे आपका सन्मान कर आज्ञा कर रहे हैं ॥८०॥ कि समस्त द्वीप और समुद्रों तक फैला हुआ, यह हमारा राज्य हमारे प्रिय भाई बाहुबलीके बिना शोभा नहीं देता है ॥८१॥ सम्पत्तियाँ वही हैं, ऐश्वर्य वही है, भोग वही है और सामग्री वही है जिसे भाई लोग सुखके उदयको बाँटते हुए साथ साथ उपभोग करें ॥८२॥ दूसरी एक बात यह है कि आपके प्रणाम करनेसे विमुख रहनेपर जिसमें समस्त मनुष्य, देव, धरणेन्द्र और विद्याधर नमस्कार करते हैं ऐसा उनका चक्रवर्तीपना भी सुशोभित नहीं होता है ॥८३॥ प्रणाम नहीं करनेवाला शत्रु स्वामीके मन को उतना अधिक दुखी नहीं करता है जितना कि अपनेको भूठमूठ चतुर माननेवाला और अभिमानसे प्रणाम नहीं करनेवाला भाई करता है ॥८४॥ इसलिये आप किसी अपराधकी क्षमा नहीं करनेवाले महाराज भरतके समीप जाकर प्रणामके द्वारा उनका सत्कार कीजिये क्योंकि स्वामीको प्रणाम करना अनेक सम्पदाओंको उत्पन्न करनेवाला है और यही सबको इष्ट है ॥८५॥ जिसकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती ऐसे उस भरतकी आज्ञाका जो कोई भी उल्लंघन करते हैं उन शत्रुओंका शासन करनेवाला उसका वह चक्ररत्न है जिसपर स्वयं किसीका शासन नहीं चल सकता ॥८६॥ आप भरतकी आज्ञाका खण्डन करनेसे व्याकुल हुए इन मण्डलाधिपति राजाओंको देखिये जो भयंकर दण्डरूपी वज्रके गिरनेसे खण्ड खण्ड

१ अपूजयताम् । २ गङ्गासिन्धू देव्यौ । ३ पूजयन् । ४ चक्रिणः । ५ तत्कारणात् । ६ आज्ञाम् । ७ अवज्ञां कुर्वन्ति । ८ शिक्षकम् । ९ दण्डरत्नाशनिः । १० पश्यन्तान् ब०, अ०, प०, द०, स०, इ० ।

‘तदेव्य द्रुतमायुष्मन् पूरयास्य मनोरथम् । युवयोरस्तु साङ्गत्यात् सङ्गतं निखिलं जगत् ॥८८॥
 इति तद्वचनस्यान्ते कृतमन्दस्मितो युवा । धीरं वचो गभीरार्थम् आचचक्षे विचक्षणः ॥८९॥
 साधूक्तं साधुवृत्तत्वं त्वया घटयता प्रभोः । दाक्षस्पत्यं तदेवेष्टं पोषकं स्वमतस्य यत् ॥९०॥
 सामं^१ दर्शयता नाम भेददण्डौ विशेषतः । प्रयुञ्जानेन साध्येऽर्थे^२ स्वातन्त्र्यं दर्शितं त्वया ॥९१॥
 स्वतन्त्रस्य प्रभोः सत्यं स त्वमन्तश्चैरश्चरः । अन्यथा कथमेवास्य व्यनक्ष्यन्तर्गतं गतम् ॥९२॥
 निसृष्टार्थतयाऽस्मात्^३ निदिष्टत्वं निधीशिता । विशिष्टोऽसि न वंशिष्टं परममस्पृगोद्दशम् ॥९३॥
 अयं खलु खलाचारो यद्बलात्कारदर्शनम् । स्वगुणोत्कीर्तनं दोषोद्भावनं च परेषु यत् ॥९४॥
 विवृणोति खलोज्येषां दोषान् स्वांश्च गुणान् स्वयम् । संवृणोति च दोषान् स्वान् परकीयान् गुणानपि ॥९५॥
 अनिराकृतसन्तापा सुमनोभिः^४ समुज्जिताम् । फलहीनां श्रयत्यज्ञः^५ खलतां^६ खलतामिव^७ ॥९६॥
 सतामसम्प्रतां विष्वग् आचितां विरसैः फलैः । मन्ये दुःखलतामेनां खलतां लोकतापिनीम् ॥९७॥
 सोपप्रदानं^८ सामादौ प्रयुक्तमपि बाध्यते । पराभ्यां भेददण्डाभ्यां न्याय्ये^९ विप्रतिषेधिति^{१०} ॥९८॥

हो रहे हैं ॥८७॥ इसलिये हे दीर्घायु कुमार, आप शीघ्र ही चलकर इसके मनोरथ पूर्ण कीजिये आप दोनों भाइयोंके मिलापसे यह समस्त संसार मिलकर रहेगा ॥८८॥ इस प्रकार उस दूतके कह चुकनेके बाद चतुर और जवान बाहुबली कुमार कुछ मन्दमन्द हँसकर गंभीर अर्थसे भरे हुए धीर वीर वचन कहने लगे ॥८९॥ वे बोले कि हे दूत, अपने स्वामी की साधु वृत्तिको प्रकट करते हुए तूने सब सच कहा है क्योंकि जो अपने मतकी पुष्टि करने-वाला हो वही कहना ठीक होता है ॥९०॥ साम अर्थात् शान्ति दिखलाते हुए तूने विशेषकर भेद और दण्ड भी दिखला दिये हैं तथा उनका प्रयोग करते हुए तूने यह भी बतला दिया कि तू अपना अर्थ सिद्ध करनेमें कितना स्वतन्त्र है ? ॥९१॥ इस प्रकार कहनेवाला तू सचमुच ही अपने स्वतन्त्र स्वामीका अन्तरङ्ग दूत है, यदि ऐसा न होता तो तू उसके हृदयगत अभिप्रायको कैसे प्रकट कर सकता था ॥९२॥ चक्रवर्तिने तुझपर समस्त कार्यभार सौंपकर मेरे पास भेजा है, यद्यपि तू चतुर है तथापि इस प्रकार दूसरेका मर्महृदन करना चतुराई नहीं है ॥९३॥ अपनी जबरदस्ती दिखलाना वास्तवमें दुष्टोंका काम है तथा अपने गुणोंका वर्णन करना और दूसरोंमें दोष प्रकट करना भी दुष्टोंका ही काम है ॥९४॥ दुष्ट पुरुष, दूसरेके दोष और अपने गुणोंका स्वयं वर्णन किया करते हैं तथा अपने दोष और दूसरेके गुणोंको छिपाते रहते हैं ॥९५॥ खलता अर्थात् दुष्टता खलता अर्थात् आकाशकी बेलके समान है क्योंकि जिस प्रकार आकाशकी बेलसे किसीका संताप दूर नहीं होता उसी प्रकार दुष्टतासे किसीका संताप दूर नहीं होता, जिस प्रकार आकाशकी बेल सुमन अर्थात् फूलोंसे शून्य होती है उसी प्रकार दुष्टता भी सुमन अर्थात् विद्वान् पुरुषोंसे शून्य होती है और जिस प्रकार आकाशकी बेल फलरहित होती है उसी प्रकार दुष्टता भी फलरहित होती है अर्थात् उससे किसीको कुछ लाभ नहीं होता, ऐसी इस दुष्टताका केवल मूर्ख लोग ही आश्रय लेते हैं ॥९६॥ जो सज्जन पुरुषोंको इष्ट नहीं है, जो सब ओरसे विरस अर्थात् नीरस अथवा विद्वेषरूपी फलोंसे व्याप्त है तथा लोगोंको संताप देनेवाली है ऐसी इस खलता-दुष्टताको मैं दुःखलता अर्थात् दुःखकी बेल ही समझता हूँ ॥९७॥ यदि न्यायपूर्ण विरोध करनेवाले पुरुषके विषय-

१ तत् कारणात् । २ वचः । ३ शान्तिम् । ४ परब्रह्मकरणादिप्रयोजने । ५ हृदये वर्तमानः । ६ व्यक्तं करोषि । ७ बुद्धिम् । ८ असकृत् सम्पादितप्रयोजनतया । ९ नियुक्तः । १० कुसुमैः । शोभन-हृदयैश्च । ११ श्रयन्त्यज्ञाः ल०, द० । १२ दुर्जनेतवम् । १३ आकाशखलतामिव । १४ दानसहितम् । १५ न्यायान्विते पुरुषे । १६ भेददण्डाभ्यां विकारं गच्छति सति ।

यथा^१ विषयमेवंषाम् उपायानां नियोजनम् । सिद्धयङ्गं तद्विपर्यासः^२ फलिष्यति पराभयम् ॥६६॥
नैकान्तशमनं साम समाप्नातं सहोष्मणि^३ । स्निग्धेऽपि हि जने तप्ते सर्पिषीवाम्बुसेचनम् ॥१००॥
उपप्रदानमप्येवं प्राय^४ मन्ये महीजसि । समित्सहस्रदानेऽपि दीप्तस्याग्नेः कृतः शमः ॥१०१॥
लोहस्येवोपतप्तस्य^५ मृदुता न मनस्विनः । दण्डोऽप्यनुनयग्राह्ये सामजे न मृगद्विषि^६ ॥१०२॥
ततो व्यत्यासपक्षे^७ नानुपायाननुपायवित् । स्वयं प्रयोगवंगुण्यात् सीदत्येव न मादृशः^८ ॥१०३॥

में पहले कुछ देनेके विधानके साथ सामका प्रयोग किया जावे और बादमें भेद तथा दण्ड उपाय काममें लाये जावें तो उनके द्वारा पहले प्रयोगमें लाया हुआ साम उपाय बाधित हो जाता है । भावार्थ—यदि न्यायवान् विरोधीके लिये पहले कुछ देनेका प्रलोभन देकर साम अर्थात् शान्ति का प्रयोग किया जावे और बादमें उसीके लिये भेद तथा दण्डकी धमकी दी जावे तो ऐसा करने से उसका पहले प्रयोग किया हुआ साम उपाय व्यर्थ हो जाता है क्योंकि न्यायवान् विरोधी उसकी कूटनीतिकी सहज ही समझ जाता है ॥९८॥ साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारों उपायोंका यथायोग्य स्थानमें नियोग करना कार्यसिद्धिका कारण है और विपरीत नियोग करना पराभवका कारण है । भावार्थ—जो जिसके योग्य है उसके साथ वही उपाय काममें लानेसे सफलता प्राप्त होती है और विरुद्ध उपाय काममें लानेसे तिरस्कार प्राप्त होता है ॥९९॥ प्रतापशाली पुरुषके साथ साम अर्थात् शान्तिका प्रयोग करना एकान्तरूपसे शान्ति करनेवाला नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रतापशाली मनुष्य स्निग्ध अर्थात् स्नेही होनेपर भी यदि क्रोधसे उत्तप्त हो जावे तो उसके साथ शान्तिका प्रयोग करना स्निग्ध अर्थात् चिकने किन्तु गर्म घीमें पानी सींचनेके समान है । भावार्थ—जिस प्रकार गर्म घीमें पानी डालनेसे वह शान्त नहीं होता बल्कि और भी अधिक चटपटाने लगता है उसी प्रकार क्रोधी मनुष्य शान्तिके व्यवहारसे शान्त नहीं होता बल्कि और भी अधिक बड़बड़ाने लगता है ॥१००॥ इसी प्रकार अतिशय प्रतापशाली पुरुषको कुछ देनेका विधान करना भी मैं निःसार समझता हूँ क्योंकि हजारों समिधाएँ (लकड़ियाँ) देनेपर भी प्रज्वलित अग्नि कैसे शान्त हो सकती है । ॥१०१॥ जिस प्रकार लोहा तपानेसे नर्म नहीं होता उसी प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्ट देनेसे नर्म नहीं होता इसलिये उसके साथ दण्डका प्रयोग करना निरर्थक है क्योंकि अनुनय विनय कर पकड़ने योग्य हाथीपर ही दण्ड चल सकता है सिंहपर नहीं । विशेष—लोहा गर्म अवस्था में नर्म हो जाता है इसलिये यहाँ लोहाका उदाहरण व्यतिरेकरूपसे मानकर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि जिस प्रकार तपा हुआ लोहा नर्म हो जाता है उस प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्ट में पड़कर नर्म नहीं होता इसलिये उसपर दण्डका प्रयोग करना व्यर्थ है । अरे, दण्ड भी प्रेम पुचकार कर पकड़ने योग्य हाथीपर ही चल सकता है न कि सिंहपर भी ॥१०२॥ इसलिये इन साम दान आदि उपायोंका विपरीत प्रयोग करनेवाले और इसलिये ही उपाय न जाननेवाले आप जैसे लोग इन चारों उपायोंके प्रयोगका ज्ञान न होनेसे स्वयं दुःखी होते हैं ॥१०३॥

१ सामभेदादियोग्यपुरुषमनतिक्रम्य । २ वचननियोजनम् । ३ सप्रतापे । ४ एतत्सदृशम् । ५ इन्धनसमूह । ६ उपतप्तस्य लोहस्य यथा मृदुतास्ति तथा उपतप्तस्य मनस्विनो मृदुता नास्तीत्यर्थः । ७ सिंहे । ८ वैपरीत्येन योजयन् । ९ त्रेतानु—ल०, द०, अ०, प०, स० । समाधीन । १० भवादृशः द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० ।

साम्नाऽपि दुष्करं साध्या वयमित्युपसंहृते^१ । तत्रोत्सेकं प्रयुञ्जानो व्यक्तं मुन्धायते भवान् ॥१०४॥
 वयसाधिक इत्येव न श्लाघ्यो भरताधिपः । जरन्नपि गजः कक्षा^२ गाहते^३ किं हरेः शिशोः ॥१०५॥
 प्रणयः^४ प्रशयश्चेति^५ सङ्गतेषु सनाभिषु । तेष्वेवासङ्गतेष्वङ्ग^६ तद्वयस्य^७ हता गतिः ॥१०६॥
 ज्येष्ठः प्रणम्य इत्येतत्काममस्त्वन्यथा सदा । मूढन्यारोपितखड्गस्य प्रणाम इति कः क्रमः ॥१०७॥
 दूत नो^८ दूयते चित्तम् अन्योत्सेकानुवर्णनः^९ । तेजस्वी भानुरेवैकः किमन्योऽप्यस्त्यतः परम्^{१०} ॥१०८॥
 राजोक्तिर्मयि तस्मिंश्च^{११} संविभक्ताऽदिवेधसा^{१२} । राजराजः^{१३} स इत्यद्य^{१४} स्फोटो गण्डस्य^{१५} मूर्धनि^{१६} ॥१०९॥
 कामं स राजराजोऽस्तु^{१७} रत्नैर्यातोऽतिगृध्नुताम् । वयं राजा न इत्येव सौराज्ये^{१८} स्वै^{१९} व्यवस्थिताः ॥११०॥
 बालानिव^{२०} छलादस्मान् आहूय प्रणमय^{२१} च । पिण्डीखण्ड^{२२} इवाभाति महीखण्डस्तदपितः^{२३} ॥१११॥
 स्वदोदु^{२४} मफलं श्लाघ्यं यत्किञ्चन मनस्विनाम् । न जातुरन्तर्भ्यैश्च^{२५} परभूलतिकाफलम् ॥११२॥

हे दूत, हम लोग शान्तिसे भी बश नहीं किये जा सकते यह निश्चय होनेपर भी आप हमारे साथ अहंकारका प्रयोग कर रहे हैं, इससे स्पष्ट मालूम होता है कि आप मूर्ख हैं ॥१०४॥ भरतेश्वर उभरमें बड़े हैं इतने ही से वे प्रशंसनीय नहीं कहे जा सकते क्योंकि हाथी बूढ़ा होनेपर भी क्या सिंहके बच्चेकी बराबरी कर सकता है ? ॥१०५॥ हे दूत, प्रेम और विनय ये दोनों परस्पर मिले हुए कुटुम्बी लोगोंमें ही संभव हो सकते हैं, यदि उन्हीं कुटुम्बियोंमें विरोध हो जावे तो उन दोनों हीकी गति नष्ट हो जाती है । भावार्थ—जब तक कुटुम्बियोंमें परस्पर मेल रहता है तब तक प्रेम और विनय दोनों ही रहते हैं और ज्योंही उनमें परस्पर विरोध हुआ त्यों ही दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥१०६॥ बड़ा भाई नमस्कार करने योग्य है यह बात अन्य समयमें अच्छी तरह हमेशा हो सकती है परन्तु जिसने मस्तकपर तलवार रख छोड़ी है उसको प्रणाम करना यह कौन-सी रीति है ? ॥१०७॥ हे दूत, दूसरेके अहंकारके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे हमारा चित्त दुःखी होता है, क्योंकि संसारमें एक सूर्य ही तेजस्वी है । क्या उसमें अधिक और भी कोई तेजस्वी है ॥१०८॥ आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने 'राजा' यह शब्द मेरे लिये और भरतके लिये—दोनोंके लिये दिया है, परन्तु आज भरत 'राजराज' हो गया है सो यह कपोल के ऊपर उठे हुए गूमड़ेके समान व्यर्थ है ॥१०९॥ अथवा रत्नोंके द्वारा अत्यन्त लोभको प्राप्त हुआ वह भरत अपने इच्छानुसार भले ही 'राजराज' रहा आवे, हम अपने धर्मराज्यमें स्थिर रहकर राजा ही बने रहेंगे ॥११०॥ वह भरत बालकीके समान छलसे हम लोगोंको बुझाकर और प्रणाम कराकर कुछ पृथिवी देना चाहता है तो उसका दिया हुआ पृथिवीका टुकड़ा खलीके टुकड़ेके समान तुच्छ मालूम होता है ॥१११॥ तेजस्वी मनुष्योंके लिये जो कुछ थोड़ा-बहुत अपनी भुजारूपी वृक्षका फल प्राप्त होता है वही प्रशंसनीय है, उनके लिये दूसरेकी मौह-रूपी लताका फल अर्थात् मौहके इशारेसे प्राप्त हुआ चार समुद्रपर्यन्त पृथिवीका गेस्वर्य भी

१ विरति गते सति । २ तत्र तूष्णीं स्थिते पुंसि । उत्सेकं साहसम्, गर्वमित्यर्थः । ३ समानताम् । ४ प्राप्नोति । ५ स्नेहः । ६ विनयः । ७ भोः । ८ प्रणयप्रश्रयस्य । ९ अस्माकम् । १० वर्तनः सः, दः, अः, पः, सः । ११ भानोः सकाशादन्यः । १२ भरते । १३ आदिब्रह्मणा । १४ भरतेश्वरपक्षे राज्ञां प्रभूणां राजा राजराजः, राज्ञां यक्षाणां राजा राजराजः लोभेजित इति ध्वनिः । भूजवलिपक्षे तिस्रः शक्तयः षड्गुणाः चतुरोपायाः सप्ताङ्गराज्यानि एतैर्गुणै राजन्त इति राजानः । १५ पिटकः । विस्फोटः पिटकस्त्रिषु इत्यभिधानात् । १६ गलगण्डस्य । 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात् । १७ उपरीत्यर्थः । १८ कुबेर इति ध्वनिः । १९ सुराज्यव्यापारे । २० आत्मीये । २१ बलादिव दः । २२ व्याजात् । २३ नमस्कारयित्वा । २४ पिण्याकशकलः । २५ भरतेन दत्तः । २६ चत्वारो दिगन्तो यस्य तत् । २७ प्रभुत्वम् ।

पराज्ञोपहृतां लक्ष्मीं यो वाञ्छेत् पाथिवोऽपि सन् । सोऽप्यर्थयति^१ तामुक्तिं^२ सर्पोक्तिमिव दुण्डुभः^३ ॥११३॥
 परावमानमलिनं भूतिं^४ धत्ते नृपोऽपि यः । नृपशोस्तस्य^५ नन्वेव भारो राज्यपरिच्छदः ॥११४॥
 मानभङ्गमार्जितैर्भोगैः यः प्राणान्धर्तुमीहते । तस्य भन्तरहस्येव द्विरदस्य कुतो भिदा^६ ॥११५॥
 छत्रभङ्गाद्विनाप्यस्य^७ छायाभङ्गोऽभिलक्ष्यते । यो मानभङ्गाभाारेण बिभर्त्यवनतं शिरः ॥११६॥
 मनुष्योऽपि समानाश्चेत् त्यक्तभोगपरिच्छदाः । को नाम राज्यभोगार्थी पुमानुज्जेत् समानताम्^८ ॥११७॥
 वरं जनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनम् । कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाविधेयता^९ ॥११८॥
 मानभेदाभिरक्षन्तु धीराः प्राणैः प्रणश्वरैः । नन्वलङ्कुरुते विश्वं शश्वन्मानार्जितं यशः ॥११९॥
 ११३ चक्रधरस्यायं त्वयाऽऽमुक्तः^{१०} पराक्रमः । कुतो यतोऽर्थवादोऽयं^{११} स्तुतिनिन्दापरायणः^{१२} ॥१२०॥
 वचोभिः पोषयन्त्येव पण्डिताः परिफलवपि^{१३} । प्रकान्तायां^{१४} स्तुताविष्टः सिंहो ग्रामसृगौ^{१५} ननु ॥१२१॥
 इदं वाचनिकं कृत्स्नं त्वदुक्तं प्रतिभाति नः । वदास्य दिग्विजयारम्भः क्व धनोच्छ्रितं^{१६} चुञ्चुता ॥१२२॥

प्रशंसनीय नहीं है ॥११२॥ जिस प्रकार पनया साँप 'सर्प' इस शब्दको व्यर्थ ही धारण करता है उसी प्रकार जो मनुष्य राजा होकर भी दूसरेकी आज्ञासे उपहृत हुई लक्ष्मीको धारण करता है वह 'राजा' इस शब्दको व्यर्थ ही धारण करता है ॥११३॥ जो पुरुष राजा होकर भी दूसरे के अपमानसे मलिन हुई विभूतिको धारण करता है निश्चयसे उस मनुष्यरूपी पशुके लिये यह राज्यकी समस्त सामग्री भारके समान है ॥११४॥ जिसके दाँत टूट गये हैं ऐसे हाथीके समान जो पुरुष मानभंग होनेपर प्राप्त हुए भोगोपभोगोंसे प्राण धारण करना चाहता है उस पुरुषमें और पशुमें भेद कैसे हो सकता है ? ॥११५॥ जो राजा मानभंगके भारसे झुके हुए शिरको धारण करता है उसकी छायाका नाश छत्रभंग होनेके बिना ही हो जाता है । भावार्थ— यहाँ छाया शब्दके दो अर्थ हैं अन्ततप और कान्ति । जब छत्रभंग होता है तभी छाया अर्थात् अन्ततप का नाश होता है परन्तु यहाँपर छत्रभंगके बिना ही छायाके नाशका वर्णन किया गया है इसलिये विरोध मालूम होता है परन्तु छत्र भंगके बिना ही उनकी छाया अर्थात् कान्तिका नाश हो जाता है, ऐसा अर्थ करनेसे उसका परिहार हो जाता है ॥११६॥ जिन्होंने भोगोपभोग की सब सामग्री छोड़ दी है ऐसे मुनि भी जब अभिमान (आत्मगौरव) से सहित होते हैं तब फिर राज्य भोगनेकी इच्छा करनेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो अभिमानको छोड़ देगा ? ॥११७॥ वनमें निवास करना अच्छा है और प्राणोंको छोड़ देना भी अच्छा है किन्तु अपने कुलका अभिमान रखनेवाले पुरुषको दूसरेकी आज्ञाके आधीन रहना अच्छा नहीं है ॥११८॥ धीर वीर पुरुषोंको चाहिये कि वे इन नश्वर प्राणोंके द्वारा अभिमानकी ही रक्षा करें क्योंकि अभिमान को शाय कमाया हुआ यश इस संसारको सदा सुशोभित करना रहता है ॥११९॥ तूने जो बहुत कुछ बड़ाकर चक्रवर्तीके पराक्रमका वर्णन किया है सो ठीक है क्योंकि तेरा यह सब कहना स्तुति निन्दा में उत्तर है अर्थात् स्तुतिरूप होकर भी निन्दाको सूचित करनेवाला है ॥१२०॥ पण्डित लोग निःसार वस्तुको भी अपने वचनोंसे पुष्ट किया ही करते हैं सो ठीक ही है क्योंकि स्तुति प्रारम्भ करनेपर कुत्तेको भी सिंह कहना पड़ता है ॥१२१॥ हे दूत, तेरे द्वारा कहा

१ अपगतार्थं करोति । २ पाथिवाख्याम् । ३ राजिलः । 'समौ राजिलदुण्डुभौ' इत्यभिधानात् । ४ सम्पदम् । ५ मनुजानुहः । ६ भेदः । ७ तेजोहानिः । ८ अभिमानान्विताः । ९ साधिमानीताम् । १० अर्धीजता । ११ वरं ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । १२ अतिक्रम्योक्तः । १३ मयवाचः अथवा असत्यारोपमर्थवादः । १४ स्तुतिरूपोऽर्थवादो निन्दारूपोऽर्थवादश्चेति द्वये तत्परः । १५ अतिनिःस्सारवस्त्वपि । १६ प्रारम्भितायां सत्याम् । १७ सारमेयः । १८ धनापनयन ।

दधच्चाक्रवर्ती^१ वृत्तिं बलिं भिक्षामिवाहरन् । दीनतायाः परां कोटिं^२ प्रभुरारोपितस्त्वया ॥१२३॥
 सत्यं दिग्विजयं चक्री जितवानमरानिति । 'प्रत्येयमिदमेतत्' चिन्त्यमत्रं ननु त्वया ॥१२४॥
 स किं न दर्भशय्यायां सुप्तो नोपोषितोऽथवा । प्रवृत्तो जलमायायां^३ शरपातं समाचरन् ॥१२५॥
 कृतचक्रपरिभ्रान्तिः 'दण्डेनायतिशालिता । घटयन्^४ पार्थिवानेष सकुलालायते वत ॥१२६॥
 प्रागः^५ परागमातन्वन् स्वयमेष कलङ्कितः । चिरं कलङ्कयत्येष कुलं^६ कुलभूतामपि ॥१२७॥
 नृपानाकर्षतो दूरान्मन्त्रैः तन्त्रैश्च योजितैः । इलाध्यते कियदेतस्य पौरुषं लज्जया विना ॥१२८॥
 दुनोति नो भृशं दूत इलाध्यतेऽस्य यदाहवः । दोलायितं जले यस्य बलं म्लेच्छबलैस्तदा ॥१२९॥
 यशोधनमसंहार्य क्षत्रपुत्रेण रक्ष्यताम् । निखनन्तो^७ निधीन् भूमौ बहवो निधनं^८ गताः ॥१३०॥
 रत्नैः किमस्ति वा कृत्यं यान्यरत्निभित्तां^९ भुवम् । 'न यान्ति यत्कृते यान्ति केवलं निधनं नृपाः ॥१३१॥

हुआ यह समस्त कार्य हम लोगोंको केवल वचनाडम्बर ही जान पड़ता है क्योंकि कहां तो इसका दिग्विजयका प्रारम्भ करना और कहां धन इकट्ठा करनेमें तत्पर होना ? ॥१२२॥ जिस प्रकार भिक्षुक चक्र धारण कर भिक्षा मांगता हुआ अतिशय दीनताको प्राप्त होता है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी वृत्ति धारण कर भिक्षाके समान कर वसूल करता हुआ तेरा स्वामी भरत तेरे द्वारा दीनताकी परम सीमाको प्राप्त करा दिया गया है ॥१२३॥ यह ठीक है कि चक्रवर्तीने दिग्विजयके समय देवोंको भी जीत लिया है परन्तु यह बात केवल विश्वास करने योग्य है अन्यथा तू यहां इतना तो विचार कर कि जलस्तम्भन करनेमें प्रवृत्त हुए तेरे स्वामी भरतने जब बाण छोड़ा था तब वह क्या दर्भकी शय्यापर नहीं सोया था अथवा उसने उपवास नहीं किया था ॥१२४-१२५॥ जिस प्रकार कुम्हार आयति अर्थात् लम्बाईसे शोभायमान डंडे के द्वारा चक्रको घुमाता हुआ पार्थिव अर्थात् मिट्टीके घट बनाता है उसी प्रकार भरत भी आयति अर्थात् सुन्दर भविष्यसे शोभायमान डंडे (दण्डरत्न)से चक्र (चक्ररत्न) को घुमाता हुआ पार्थिव अर्थात् पृथिवीके स्वामी राजाओंको वश करता फिरता है, इसलिये कहना पड़ता है कि तुम्हारा यह राजा कुम्हारके समान आचरण करता है ॥१२६॥ वह भरत पाषाणकी धूलिको उड़ाता हुआ स्वयं कलङ्कित हुआ है और कुलीन मनुष्योंके कुलको भी सदाके लिये कलङ्कित कर रहा है ॥१२७॥ हे दूत, प्रयोगमें लाये हुए मन्त्र-तन्त्रोंके द्वारा दूरसे ही अनेक राजाओंको बलानेवाले इस भरतका पराक्रम तू लज्जाके विना कितना वर्णन कर रहा है ? ॥१२८॥ हे दूत, जिस समय तू इसके यूढ़की प्रशंसा करता है उस समय हम लोगोंको बहुत दुःख होता है क्योंकि उस समय म्लेच्छोंकी सेनाके द्वारा भरतकी सेना पानीमें हिडोले भूल रही थी अर्थात् हिडोलेके समान कैप रही थी ॥१२९॥ क्षत्रियपुत्रको तो जिसे कोई हरण न कर सके ऐसे यशस्वी धनकी ही रक्षा करनी चाहिये क्योंकि इस पृथिवीमें निधियों को गाड़ कर रखनेवाले अनेक लोग मर चुके हैं । भावार्थ—अमरता यशसे ही प्राप्त होती है ॥१३०॥ अथवा जो रत्न एक हाथ पृथिवी तक भी साथ नहीं जाते और जिनके लिये राजा लोग केवल मृत्युको ही प्राप्त होते हैं ऐसे रत्नोंसे क्या कार्य निकल सकता है ? ॥१३१॥

१ चक्रस्येयं चाक्री सा चाक्री चरी च चाक्रचरी ताम् । चक्रचरसम्बन्धिनीम् । चाक्रधरी ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । २ करम् । ३ परमप्रकर्षम् । ४ शपथं कृत्वा विश्वास्यम् । ५ वक्ष्यमाणम् । ६ अमरजये । ७ समुद्रजलस्तम्भनरूपमायायाम् । ८ दण्डरत्नेन सैन्येन वा । ९ नृपान् । पृथिवी-विकारांश्च । मृत्पिण्डान् । १० परागः । अपराधरेणुम् । 'पापापराधयोरागः' इत्यभिधानात् । ११ मनुनाम् । कुलघृतामपि ष० । १२ निक्षिपन्तः । १३ विनाशम् । १४ हस्तप्रतिताम् । 'अरत्निस्तु निष्कतिष्ठेन मुष्टिना' इत्यभिधानात् । १५ गत्यन्तरगमनेन सह न यान्ति ।

तुलापुरुष एवायं यो नाम निखिलैर्नृपैः । तुलितो रत्नपुञ्जेन बत नैश्वर्यमीदृशम् ॥१३२॥
 ध्रुवं स्वगुणा दत्ताम् श्रविचिच्छत्सति^१ नो भुवम् । 'प्रत्याख्येयत्वमुत्सृज्य गृध्नोरस्य'^२ किमीषधम् ॥१३३॥
 दूत तातवितीर्णा नो महीमेना कुलोचिताम् । 'भ्रातृजायामिवाऽऽवित्सोः'^३ नास्य लज्जा भवत्यतेः ॥१३४॥
 देयमन्यत् स्वतन्त्रेण पथाकामं जिगीषुणा । मुक्त्वा कुलकलत्रं च क्षमातलं च भुजार्जितम् ॥१३५॥
 भूयस्त'दलमालप्य' स वा भुङ्क्ता महीतलम् । चिरमेकातपत्राङ्कम् अहं वा भुजविक्रमी ॥१३६॥
 कृतं वथा भटालापैः अर्थसिद्धिबहिष्कृतं । सङ्ग्रामनिकषे व्यक्तिः पौरुषस्य ममास्य च ॥१३७॥
 ततः समरसंघट्टे यद्वा तद्वाऽस्तु नो द्वयोः । नीर'कमिदमेकं नो वचो हर'^४ वचोहर'^५ ॥१३८॥
 इत्याविष्कृतमानेन कुमारेण वचोहरः । द्रुतं विसर्जितोज्ज्वलत्^६ पतिं सन्नाहयेत्^७ परम् ॥१३९॥
 तदा मुकुटसंघट्टाद् उच्छलन्मणिकोटिभिः^८ । कृतोलमुक्^९ शतश्रेपैः इवोत्तस्थे महीशिभिः ॥१४०॥
 क्षणं समरसंघट्टपिशुनो भटसङ्कटैः^{१०} । भूयते स्म भटालापो बले भुजबलीशितुः ॥१४१॥
 चिरात् समरसम्मर्दः स्वामिनोऽयमभूविह । किं वयं स्वामिसत्काराद् अनृणीभवितुं क्षमाः ॥१४२॥

जो समस्त राजाओंके द्वारा रत्नोंकी राशिसे तोला गया है ऐसा यह भरत एक प्रकारका तुलापुरुष है खेद है कि ऐसा ऐश्वर्य नहीं होता ॥१३२॥ अवश्य ही वह भरत अपने पूज्य पिता श्री भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई हमारी पृथिवीको छीनना चाहता है सो इस लोभीका प्रत्याख्यान अर्थात् तिरस्कार करनेके सिवाय और कुछ उपाय नहीं है ॥१३३॥ हे दूत, पिताजीके द्वारा दी हुई यह हमारे ही कुलकी पृथिवी भरतके लिये भाईकी स्त्रीके समान है अब वह उसे ही लेना चाहता है सो तेरे ऐसे स्वामीको क्या लज्जा नहीं आती ? ॥१३४॥ जो मनुष्य स्वतन्त्र हैं और इच्छानुसार शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते हैं वे अपने कुलकी स्त्रियों और भुजाओंसे कमाई हुई पृथिवीको छोड़कर बाकी सब कुछ दे सकते हैं ॥१३५॥ इसलिये बार-बार कहना व्यर्थ है, एक छत्रसे चिह्नित इस पृथिवीको वह भरत ही चिरकालतक उपभोग करे अथवा भुजाओंमें पराक्रम रखनेवाला मैं ही उपभोग करूं । भावार्थ—मुझे पराजित किये बिना वह इस पृथिवीका उपभोग नहीं कर सकता ॥१३६॥ जो प्रयोजनकी सिद्धिसे रहित हैं ऐसे शूरवीरताके इन व्यर्थ वचनोंसे क्या लाभ है? अब तो युद्धरूपी कसौटी पर ही मेरा और भरतका पराक्रम प्रकट होना चाहिये ॥१३७॥ इसलिये हे दूत, तू यह हमारा संदेहरहित एक वचन ले जा अर्थात् जाकर भरतसे कह दे कि अब तो हम दोनोंका जो कुछ होना होगा वह युद्धकी भीड़में ही होगा ॥१३८॥ इस प्रकार अभिमान प्रकट करनेवाले कुमार बाहुबलीने उस दूतको यह कहकर शीघ्र ही बिदा कर दिया कि जा और अपने स्वामी को युद्धके लिये जल्दी तैयार कर ॥१३९॥ उस समय जिनके मुकुटोंके संघर्षणसे करोड़ों मणि उछल-उछलकर इधर-उधर पड़ रहे हैं और उन मणियोंसे जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो अग्नि के सैकड़ों फूलझोंकी ही इधर उधर फैला रहे हों ऐसे राजा लोग उठ खड़े हुए ॥१४०॥ उसी क्षण अनेक योद्धाओंसे भरी हुई महाराज बाहुबलीकी सेनामें युद्धकी भीड़को सूचित करने-वाला योद्धा लोगोंका परस्परका आलाप सुनाई देने लगा था ॥१४१॥ इस समय स्वामीके यह युद्धकी तैयारी बहुत दिनमें हुई है, क्या अब हम लोग स्वामीके सत्कारसे ऊर्ध्व (ऋण-मुक्त) हो सकेंगे ? भावार्थ—स्वामीने आजतक पालन-पोषण कर जो हम लोगोंका महान्

१ रत्नार्थम् । २ छेत्तुमिच्छति । ३ निराकरणीयत्वम् । 'प्रत्याख्यातो निराकृतः' इत्यभिधानात् ।
 हेयत्वमित्यर्थः (हेयत्वमेव औषधमित्यर्थः) । ४ लुब्धस्य । ५ अनुजकलत्रम् । ६ आदातुमिच्छोः ।
 ७ तत् कारणात् । ८ बहुप्रलापैरलम् । ९ निःसन्देहम् । १० स्वीकुरु । ११ भो दूत । १२ गच्छ पति
 द०, ल०, । १३ सन्नद्धं कुरु । १४ रत्नसमूहैः । १५ अलातः । १६ भटसमूहैः ।

पोषयन्ति महीपाला भृत्यान्वसरं प्रति । न चेद्वसरः सार्यः^१ किमेभिस्तृणमानुषैः ॥१४३॥
 कलेवरमिदं त्याज्यम् अर्जनीयं यशोधनम् । जयश्रीविजये लभ्या नात्पोवर्को रणोत्सवः ॥१४४॥
 मन्दातपशरच्छाये प्रत्यङ्गर्वाणजर्जरैः । लप्स्यामहे कदा नाम विश्रमं^२ रणमण्डपे ॥१४५॥
 प्रत्यनीककृतानेकव्यूहं^३ निर्भिद्य सायकैः । शरशय्यामसम्बाधम् अध्याशिक्ष्ये कदा न्वहम् ॥१४६॥
 कर्णतालानिलाधूतिं^४ विधूतसमरश्रमः । गजस्कन्धे निषीदामि^५ कदाहं क्षणमूर्छितः ॥१४७॥
 दन्तिदन्ता^६ गलप्रोतीद्गलदन्त्रं^७ स्वतद्वचाः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणां कदाऽहं लक्ष्यतां भजे ॥१४८॥
 गजदन्तान्तरालम्बिस्वान्त्रमालावरत्रया^८ । कर्हि^९ बोलाभिवारोप्य तुलयामि जयधियम् ॥१४९॥
 बुवाणेरिति सङ्ग्रामरसिकैरुद्भटेर्भटैः । शस्त्राणि सशिरस्त्राणि सज्जान्यासन् बले बले ॥१५०॥
 ततः कृतभयं भूयो भटभ्रुकुटितजितैः । पलायितमिव क्वाऽपि प^{१०}रिच्छित्तिमगादहः^{११} ॥१५१॥
 'अथोरुण्यद्भटानीकेनेत्रच्छायापितां रुचम् । दधान इव तिग्मांशुः श्रासीदारक्तमण्डलः ॥१५२॥
 क्षणमस्ताचलप्र^{१२}स्थकाननकमाजपल्लवैः । सवृगालोहितच्छायो ददृशेऽर्काशुसंस्तरः^{१३} ॥१५३॥

सत्कार किया है क्या उसका बदला हम कुछ दे सकेंगे ? ॥१४२॥ राजा लोग समयके लिये ही सेवक लोगोंका पालनपोषण करते हैं, यदि समय नहीं साधा गया अर्थात् अवसर पड़नेपर स्वामीका कार्य सिद्ध नहीं किया गया तो फिर तृणसे बने हुए इन पुरुषोंमें क्या लाभ है ? भावार्थ—जो पुरुष अवसर पड़नेपर स्वामीका साथ नहीं देते वे घाम-फूयके बने हुए पुरुषों के समान सर्वथा सारहीन हैं ॥१४३॥ अब यह शरीर छोड़ना चाहिये, यशस्वी धन कमाना चाहिये और विजय लाभकर जयलक्ष्मी प्राप्त करनी चाहिये, यह युद्धका उत्सव कुछ थोड़ा फल देनेवाला नहीं है ॥१४४॥ हम लोग, चावोंसे जर्जर हुए शरीरके प्रत्येक अंगोंमें, जिसमें घामको मन्द करनेवाली बाणोंकी छाया पड़ रही है ऐसे युद्धके मण्डपमें कब विश्राम करेंगे ? ॥१४५॥ कोई कहता था कि मैं कब अपने बाणोंसे शत्रुओंकी सेनाके द्वारा किये हुए अनेक व्यर्थोंको छेदकर बिना किसी उपद्रवके बाणोंकी शय्यापर शयन करूँगा ॥१४६॥ कोई कहता था कि मैं कब युद्धमें क्षण भरके लिये मूर्छित होकर हाथीके कानरूपी ताड़पत्रकी वायुके चलने से जिसके युद्धका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसा होता हुआ हाथीके कंधेपर बैठूँगा ? ॥१४७॥ हाथीके दांतरूपी अर्गलोंमें पिरोये जानेसे जिसकी अँतड़ियां निकल रही हैं तथा जिसके मुखसे टूटे-फटे शब्द निकल रहे हैं ऐसा होता हुआ मैं कब जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका निशाना बन सकूँगा ? भावार्थ—वह दिन कब होगा जब कि मैं भरता हुआ भी विजय प्राप्त करूँगा ? ॥१४८॥ कोई कहता था कि हाथियोंके दांतोंके बीचमें लटकती हुई अपनी अंतड़ियोंके समूहरूपी मजबूत रस्सीपर झूलाके समान विजयलक्ष्मीको बैठाकर मैं कब उसे तोलूँगा ? ॥१४९॥ उभ प्रकार कहते हुए युद्धके प्रेमी बड़े बड़े योद्धाओंने प्रत्येक सेनामें अपने अपने शस्त्र तथा धारकी रक्षा करनेवाली टोपियां सँभाल लीं ॥१५०॥

तदनन्तर दिन समाप्त हो गया सो ऐसा मालूम होता था मानो योद्धाओंकी भीहोंके तिरस्कारसे भयभीत होकर कहीं भाग ही गया हो ॥१५१॥ अथानन्तर सूर्यका मंडल लाल हो गया मानो उसने क्रोधित हुए योद्धाओंकी सेनाके नेत्रोंकी छायाके द्वारा दी हुई लाल कान्ति ही धारण की हो ॥१५२॥ उस समय क्षण भरके लिये सूर्यकी किरणोंका समूह अस्ताचल

१ न गम्यश्चेत् । २ विश्रामं ल०, द०, अ०, प०, स० । ३ शत्रुकृतसेनायचनाम् । ४ अवधूतन । ५ निषण्णो भवामि । 'कदावह्योवा' इति भविष्यदर्थे लट् । ६ परिघ । ७ -तोदयलदन्त्र-ट० । निर्यद्रक्तः । ८ निजपुरीतद्मालदूष्यया । 'दूष्या कक्ष्या वरत्रा स्याद्' इत्यभिधानात् । ९ कदा । १० विनाशम् । ११ दिवसः । १२ अथारुण्य-ल० । १३ सान् । १४ रविकिरणसमूहः ।

करेगिर्यग्रसंलग्नः भानुरालक्ष्यत क्षणम् । पातभोत्या करालाग्रेः^१ करालम्बमिवाश्रयन् ॥१५४॥
 पतन्तं वारुणी^२ सङ्गात्^३ परिलुप्तविभावसुम्^४ । नालम्बत^५ बतास्ताविः भानुं बिभ्र्यदिवंसः^६ ॥१५५॥
 गतो नु विनमन्वेष्टुं^७ प्रविष्टो नु रसातलम् । तिरोहितो नु शृङ्गाग्रैः अस्तादेर्नेक्षि भानुमान् ॥१५६॥
 विघटय्य तमो नंशं^८ करैराक्रम्य भूभूतः^९ । दिनावसाने^{१०} पर्यस्थिद्^{११} ग्रहो रविरनंशुकः^{१२} ॥१५७॥
 तिर्यङ्मण्डलगत्येव^{१३} शश्वद् भानुरयं भूमन् । वि^{१४}प्रकर्षज्जनेर्मूर्धेः अप्राहोव^{१५} पतन्मघः ॥१५८॥
 व्यसनेऽस्मिन्^{१६} दिनेशस्य शुचेव परिपोडिताः । बिच्छ्यायानि मुखान्यूहुः^{१७} तमोरुद्धा विगङ्गानाः ॥१५९॥

की शिखरपर लगे हुए वनके वृक्षोंकी कोपलोंके समान कुछ कुछ लाल रंगका दिखाई दे रहा था ॥१५३॥ उस समय वह सूर्य अस्ताचलकी शिखरपर लगे हुए किरणोंसे क्षणभरके लिये ऐसा जान पड़ता था मानो नीचे गिरनेके भयसे अपने किरणरूपी हाथोंसे किसीके हाथका सहारा ही ले रहा हो ॥१५४॥ जो सूर्य वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) के समागमसे पतित हो रहा है और जिसका कान्तिरूपी धन नष्ट हो गया है ऐसे सूर्यको मानो पापसे डरते हुए ही अस्ताचलने आलम्बन नहीं दिया था । भावार्थ—वारुणी शब्दके दो अर्थ होते हैं मदिरा और पश्चिम दिशा । पश्चिम दिशामें पहुँचकर सूर्य प्राकृतिक रूपसे नीचे की ओर ढगने लगता है । यहाँ कविने इसी प्राकृतिक दृश्यमें श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा अलंकारकी पुष्ट देकर उसे और भी सुन्दर बना दिया है । वारुणी अर्थात् मदिराके समागमसे मनुष्य अपवित्र हो जाता है उसका स्पर्श करना भी पाप समझा जाने लगता है, सूर्य भी वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) के समागमसे मानो अपवित्र हो गया था । उसका स्पर्श करनेसे कहीं मैं भी पापी न हो जाऊँ इस भयसे अस्ताचलने उसे सहारा नहीं दिया—गिरते हुए को हस्तालम्बन देकर गिरनेसे नहीं बचाया । सूर्य डूब गया ॥१५५॥ उस समय सूर्य दिखाई नहीं देता था सो ऐसा जान पड़ता था मानो बीते हुए दिनको खोजनेके लिये गया हो, अथवा पाताललोकमें धुस गया हो अथवा अस्ताचलकी शिखरोंके अग्रभागसे छिप गया हो ॥१५६॥ जिस प्रकार कोई बीर पुरुष दारिद्र्यरूपी अन्धकारको नष्ट कर और अपने कर अर्थात् टैक्स द्वारा भूभूत अर्थात् राजाओंपर आक्रमण कर दिन अर्थात् भाग्यके अन्तमें अनंशुक अर्थात् बिना वस्त्रके यों ही चला जाता है उसी प्रकार सूर्य रात्रिसम्बन्धी अन्धकारको नष्ट कर तथा कर अर्थात् किरणोंसे भूभूत अर्थात् पर्वतोंपर आक्रमण कर दिनके अन्तमें अनंशुक अर्थात् किरणोंके बिना यों ही चला गया—अस्त हो गया, यह कितने दुःखकी बात है । ॥१५७॥ वह सूर्य तो मेरे पर्वतके चारों ओर गोलाकार तिरछी गतिसे निरन्तर घूमता रहता है तथापि दूर होनेसे दिखाई नहीं देता इसलिये मूर्ख पुरुषोंको नीचे गिरता हुआ सा जान पड़ता है ॥१५८॥ सूर्यकी इस विपत्तिके समय मानो शोकसे पीड़ित हुई दिशारूपी स्त्रियां अन्धकारसे भर जाने के कारण कान्तिरहित मुख धारण कर रही थीं । भावार्थ—पतिकी विपत्तिके समय जिस प्रकार कुलवती स्त्रियोंके मुख शोकसे कान्तिहीन हो जाते हैं उसी प्रकार सूर्यकी विपत्तिके समय दिशारूपी स्त्रियोंके मुख शोकसे कान्तिहीन हो गये थे । अन्धकार छा जानेसे दिशाओंकी

१ विस्तृताग्रैः । 'करालो दन्तुरे तुङ्गगे विशाले विकृतेऽपि च' इत्यभिधानात् । २ वरुणसम्बन्धिविद्वत्-सङ्गात् । मल्लसङ्गादिति ध्वनिः । ३ कान्तिरेव धनं यस्य । पक्षे विभा च वस् च विभावसुनी, परिप्लुते विभावसुनी यस्य तम् । ४ न धरति स्म । ५ पापात् । ६ गवेयणाय । ७ निशासम्बन्धि । ८ पर्वतानाम् । नृपांश्च । ९ दिवसान्ते । भाग्यावसाने च । दिवाय—ल०, द० । १० पतितवान् । ११ कान्तिरहितः, वस्त्ररहित इति ध्वनिः । १२ मेरुप्रदक्षिणरूपतिर्यग्बिम्बगमनेन । १३ दूरात् । १४ स्वीकृतः । १५ विपदि । १६ धरन्ति स्म ।

पश्चिन्यो म्लानपद्मास्या द्विरेफकन्दधारतः । शोचन्त्य इव संवृता वियोगादहिमन्विषः ॥१६०॥

सन्ध्यातपततान्यासन् वनान्यस्तमहोभूतः । परोतानीव दावाग्निशिखयातिकरालया ॥१६१॥

अनुरक्तापि सन्ध्येयं परित्यक्ता खिन्नस्वता । प्रविष्टेवाग्निमारुतच्छविरालक्ष्यताम्बरे ॥१६२॥

शनैराकाशवाराशिविद्रुमोद्यानराजिवित् । रुच्ये दिशि वारुण्यां सन्ध्यासिन्दूरसच्छविः ॥१६३॥

चक्रवाकीमनस्तापदीपनो नु हुताशनः । पप्रथे पश्चिमाशान्ते सन्ध्यारागो जपारुणः ॥१६४॥

सान्ध्यो रागः स्फुरन् दिक्षु क्षणमैक्षि प्रियत्नम् । मानिनीनां मनोरागः कृत्स्नो भूद्विभवेकतः ॥१६५॥

धूतरक्तांशुकां सन्ध्याम् अनुयान्तीं दिनाधिपम् । बहुमेने सतीं लोकः कृतानुभरणामिव ॥१६६॥

चक्रवाकीं धृतोत्कण्ठम् अनुयान्तीं कृतस्वनाम् । विजहज्वेद चक्राह्वो नित्यति को नु लङ्घयेत् ॥१६७॥

रवेः क्रिमपराधोऽयं कालस्य नियतेः किमु । रथाङ्गमिधुनान्यासन् वियुक्तानि यतो मिथः ॥१६८॥

घनं तमो विनाकेण व्यानक्षे निखिला दिशः । विना तेजस्विता प्रायस्तमो रन्ध्रे नु सन्ततम् ॥१६९॥

तमोऽवगुण्ठिता रेजे रजनी तारकातता । विनीलवसना भास्वन्मौक्तिकेवाभिसारिका ॥१७०॥

शोभा जाती रही थी ॥१५९॥ कमलनियोके कमलरूपी मुख मुरझा गये थे जिससे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो सूर्यका वियोग होनेसे भूमरीके करुणाजनक शब्दोंके वहाने रुदन करती हुई शोक ही कर रही हों ॥१६०॥ सायंकालके लाल लाल प्रकाशसे व्याप्त हुए अस्ताचल के वन ऐसे जान पड़ते थे मानो अत्यन्त भयंकर दावानलकी शिखासे ही घिर गये हों ॥१६१॥ यद्यपि यह संध्या अनुरक्त अर्थात् प्रेम करनेवाली (पक्षमें लाल) थी तथापि सूर्यने उसे छोड़ दिया था इसलिये ही वह लाल रंगकी संध्या आकाशमें ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने अग्निमें ही प्रवेश किया हो । भावार्थ—पतिव्रता स्त्रियां पतियोंके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विशुद्धताका परिचय देनेके लिये सीताके समान अग्निमें प्रवेश करती हैं यहांपर कविने भी समासोक्ति अलंकारका आश्रय लेकर संध्यारूपी स्त्रीको सूर्यरूपी पतिके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विशुद्धता—सच्चरित्रताका परिचय देनेके लिये संध्या कालकी लालिमारूपी अग्निमें प्रवेश कराया है ॥१६२॥ सिन्दूरके समान श्रेष्ठ कान्तिको धारण करनेवाली वह संध्या धीरे धीरे पश्चिम दिशामें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाशभागी समुद्रमें मृगोंके बगीचोंकी पंक्ति ही हो ॥१६३॥ जवाके फूलके समान लाल लाल वह संध्याकाल की लाली पश्चिम दिशाके अन्तमें ऐसी फैल रही थी मानो चक्रवियोंके मनके सतापको बढ़ाने वाली अग्नि ही हो ॥१६४॥ समस्त दिशाओंमें फैलती हुई संध्याकालकी लाली क्षण भरके लिये ऐसी दिखाई देती थी मानो पतियोंके आनेपर मान करनेवाली स्त्रियोंके मनका समस्त अनुराग ही एक जगह इकट्ठा हुआ हो ॥१६५॥ लाल किरणेंरूपी वस्त्र धारणकर सूर्यरूपी पतिके पीछे पीछे जाती हुई संध्याको लोग पतिके साथ मरनेवाली सतीके समान बहुत कुछ मानते थे ॥१६६॥ चक्रवाने बड़ी उत्कंठासे अपने पीछे पीछे आती हुई और शब्द करती हुई चक्रवीको आखिर छोड़ ही दिया था सो ठीक ही है क्योंकि नियति अर्थात् दैविक नियमका उल्लंघन कौन कर सकता है ? ॥१६७॥ उस समय चक्रवा चक्रवियोंके जोड़े परस्परमें बिलुब्ध गये थे—अलग अलग हो गये थे, सो यह क्या सूर्यका अपराध है ? अथवा कालका अपराध है ? अथवा भाग्यका ही अपराध है ? ॥१६८॥ सूर्यके बिना सब दिशाओंमें गाढ़ अन्धकार फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वीके बिना प्रायः सब ओर अन्धकार ही भर जाता है ॥१६९॥ अन्धकारसे घिरी हुई और ताराओंसे व्याप्त हुई वह रात्रि ऐसी सुशोभित हो रही

१ उद्दीपनकारी । २ सन्ध्यारागः ल०, द० । ३ प्रसर्पन् । ४ सममरणम् । अग्निप्रवेशं कुर्वन्तीमित्यर्थः । ५ मुमुचे । ६ चक्राङ्को ल०, द०, अ०, स०, इ० । ७ व्याप्नोति । ८ तमसाच्छादिता । ९ वेश्या ।

ततान्धतमसे लोके जनैरुन्मीलितेक्षणैः । नादृश्यत पुरः किञ्चित् मिथ्यात्वेनेव दूषितैः ॥१७१॥
 प्रसह्य^१ तमसा रुद्धो लोकोऽन्तःस्थोऽव्याकुलीभवन् । दृष्टिवैकल्य^२दृष्टेर्नु बहु मेने शयालुताम्^३ ॥१७२॥
 दीपिका रचिता रेजुः प्रतिवेशम स्फुरत्विषः । घनान्धतमसोद्भेदे प्रकल्पता^४ इव सूचिकाः ॥१७३॥
 तमो विधूय दूरेण जगदानन्दिभिः करैः । उदियाय शशी लोकं क्षीरेण क्षालयन्निव ॥१७४॥
 अखण्डमनुरागेण निजं मण्डलमुद्वहन् । सुराजेव कृतानन्दम् उदगाद् विधुस्तकरः ॥१७५॥
 दृष्ट्वेवाकृष्टहरिणं हरिं हरिणलाञ्छनम् । तिमिरौघः प्रदुग्धाव करिष्यथसदृग् महान् ॥१७६॥
 तततारावली रेजे ज्योत्स्नापूरः सुधाछये । सबुद्बुद इवाकाशसिन्धोरोधः परिक्षरन् ॥१७७॥
 हंसपोत इवाविच्छन्^५ शशी तिमिरशैवलम् । तारा सहचरीकान्तं विजयाहे^६ नभःसरः ॥१७८॥
 तमो निःशेषमुद्धूय जगदाग्लावयन् करैः । प्रालेयांशुस्तदा विश्वं सुधामयमिवातनोत् ॥१७९॥
 तमो दूरं विधूयाऽपि विधुरासीत् कलङ्कवान् । निसर्गजं तमो नूनं महताऽपि सुदुस्त्यजम् ॥१८०॥

श्री मानो नील वस्त्र पहिने हुई और चमकीले मोतियोंके आभूषण धारण किये हुई कोई अभि-
 सारिणी स्त्री ही हो ॥१७०॥ जिस प्रकार मिथ्या दर्शनसे दूषित पुरुषोंको कुछ भी दिखाई
 नहीं देता—पदार्थके स्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार गाढ़ अन्धकारसे भरे
 हुए लोकमें पुरुषोंको आंख खोलनेपर भी सामनेकी कुछ भी वस्तु दिखाई नहीं देती थी ॥१७१॥
 जबर्दस्ती अन्धकारसे घिरे हुए लोग भीतर ही भीतर व्याकुल हो रहे थे और उनकी दृष्टि
 भी कुछ काम नहीं देती थी इसलिये उन्होंने सोना ही अच्छा समझा था ॥१७२॥ घर घर
 में लगाये हुए प्रकाशमान दीपक ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो अत्यन्त गाढ़ अन्धकार-
 को भेदन करनेके लिये बहुत सी सुइयां ही तैयार की गई हों ॥१७३॥ इतने ही में जगत्को
 आनन्दित करनेवाली किरणोंसे अन्धकारको दूरसे ही नष्ट कर चन्द्रमा इस प्रकार उदय हुआ
 मानो लोकको दूधसे नहला ही रहा हो ॥१७४॥ वह चन्द्रमा किसी उत्तम राजाके समान
 संसारको आनन्दित करता हुआ उदय हुआ था, क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा अनुराग अर्थात्
 प्रेमसे अपने अखण्ड (संपूर्ण) मण्डल अर्थात् देशको धारण करता है उसी प्रकार वह चन्द्रमा
 भी अनुराग अर्थात् लालिमासे अपने अखण्डमण्डल अर्थात् प्रतिबिम्बको धारण कर रहा था
 और उत्तम राजा जिस प्रकार चारों ओर अपना कर अर्थात् टैक्स फैलाता है उसी प्रकार
 वह चन्द्रमा भी चारों ओर अपने कर अर्थात् किरणें फैला रहा था ॥१७५॥ हरिणके चिह्न
 वाले चन्द्रमाको देखकर अन्धकारका समूह बड़ा होनेपर भी इस प्रकार भाग गया था जिस
 प्रकार कि हरिणको पकड़े हुए सिंहको देखकर हाथियोंका बड़ा भारी भुण्ड भाग जाता है ।
 ॥१७६॥ जिसमें ताराओंकी पङ्क्ति फैली हुई है ऐसा चन्द्रमाकी चांदनीका समूह उस समय
 ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो बुद्बुदों सहित ऊपरसे पड़ता हुआ आकाशरूपी समुद्रका
 प्रवाह ही हो ॥१७७॥ हंसके बच्चेके समान वह चन्द्रमा अन्धकाररूपी शैवालको खोजता हुआ
 तारे रूपी हंसियोंसे भरे हुए आकाशरूपी सरोवरमें अवगाहन कर रहा था—इधर-उधर
 घूम रहा था ॥१७८॥ समस्त अन्धकारको नष्ट कर जगत्को किरणोंसे भरते हुए चन्द्रमा-
 ने उस समय यह समस्त संसार अमृतमय बना दिया था ॥१७९॥ अन्धकारको दूर करके भी
 वह चन्द्रमा कलंकी बन रहा था सो ठीक ही है क्योंकि स्वाभाविक अन्धकार बड़े पुरुषोंसे छूटना

भिवज्जैव करः स्पृष्टा दिशस्तिमिरभेदिभिः । शनैर्दश इवालोक्तम् आतेनः शिशिरत्विषा ॥१८१॥
 इति प्रदोषसमये जाते प्रस्पष्टतारके । सौधोत्सङ्गभुवो भेजुः पुरन्ध्रचः सह कामिभिः ॥१८२॥
 चन्दनद्रवसिक्ताङ्गयः स्रग्विष्यः^१ सावर्तसिकाः । लसदाभरणा रेजुस्तन्व्यः कल्पलता इव ॥१८३॥
 इन्दुपादः समुत्कर्षम् अगान्मकरकेतनः । तदोदन्वानिबोद्वेलो मनोवृत्तिषु कामिनाम् ॥१८४॥
 रमणा^२ रमणीयाश्च चन्द्रपादाः सचन्दनाः ।^३ मदाश्च मदमारम्भम् आतन्वन् रमणीजने ॥१८५॥
 शशाङ्ककरजैत्रास्त्रैः तर्जयन्निखिलं जगत् । नृपवल्लभिकावासान्मनोभूरभ्यषेणयन्^४ ॥१८६॥
 नास्वादि मविरा स्वरं नाजघ्ने न करेऽपिता । केवलं मदनावेशात्तरुण्यो भेजुरुत्कताम्^५ ॥१८७॥
 उत्सङ्गसङ्गिनी भर्तुः काचिन्मदविधूणिता । कामिनी मोहनास्त्रेण बतानङ्गेन तजिता ॥१८८॥
 सखीवचनमुल्लङ्घ्य भङ्गत्वा मानं निर्वर्णा^६ । प्रयान्ती रमणावासं काप्यनङ्गेन धीरिता^७ ॥१८९॥
 शंफलीवचनैर्दूना काचित् पर्यश्रुलोचना । चक्राह्वेव भृशं तेषु नायाति प्राणवल्लभे ॥१९०॥
 शून्यमानस्वनेः^८ स्त्रीणां भ्रल्लिज्याकलभङ्गकृतेः^९ । पूर्वैरङ्गभिवानङ्गो रचयामास कामिनाम् ॥१९१॥

भी कठिन है ॥१८०॥ जिस प्रकार वैद्यके द्वारा तिमिर रोगको नष्ट करनेवाले हाथोंसे स्पर्श की हुई आंखें धीरे धीरे अपना प्रकाश फैलाने लगती हैं उसी प्रकार चन्द्रमाके द्वारा अन्धकार-को नष्ट करनेवाली किरणोंसे स्पर्श की हुई दिशाएँ धीरे धीरे अपना प्रकाश फैलाने लगी थीं ॥१८१॥ इस प्रकार जिसमें तारागण स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं ऐसा सायंकालका समय होने-पर सब स्त्रियाँ अपने अपने पतियोंके साथ महलोंकी छतोंपर जा पहुँचीं ॥१८२॥ जिनके समस्त शरीरपर घिसे हुए चन्दनका लेप लगा हुआ है, जो मालाएँ धारण किये हुई हैं, कानोंमें आभूषण पहने हैं और जिनके समस्त आभरण देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी वे स्त्रियाँ कल्पलताओं के समान सुशोभित हो रही थीं ॥१८३॥ उस समय चन्द्रमाकी किरणोंसे जिस प्रकार समुद्र लहराता हुआ वृद्धिको प्राप्त होने लगता है उसी प्रकार कामी मनुष्योंके मनमें काम उद्बलित होता हुआ बढ़ रहा था ॥१८४॥ सुन्दर पति, चन्द्रमाकी किरणें और चन्दन सहित मद पे सव मिलकर स्त्रियोंमें कामकी उत्पत्ति कर रहे थे ॥१८५॥ चन्द्रमाकी किरणेंरूपी विजयी शस्त्रों-के द्वारा समस्त जगत्को तिरस्कृत करता हुआ कामदेव राजाकी स्त्रियोंके निवासस्थानमें भी सेना सहित जा पहुँचा था ॥१८६॥ तरुण स्त्रियोंने न तो मदिराका स्वाद लिया, न इच्छा नुसार उसे सूँघा और न हाथमें ही लिया, केवल कामदेवके आवेशसे ही उत्कण्ठाको प्राप्त हो गईं, अर्थात् कामसे विह्वल हो उठीं ॥१८७॥ पतिकी गोदमें बैठी हुई और मदसे भ्रमती हुई कोई स्त्री कामदेवके द्वारा मोहन अस्त्रसे ताड़ित की गई थी ॥१८८॥ कामदेवसे प्रेरित हुई कोई स्त्री सखीके वचन उल्लंघन कर तथा मान छोड़कर स्वतंत्र हो अपने पतिके निवासस्थान को जा रही थी ॥१८९॥ कोई स्त्री पतिके न आनेपर वापिस लौटी हुई दूतीके वचनोंसे दुखी होकर आंखोंसे आंसू छोड़ रही थी और चकवीके समान अत्यन्त विह्वल हो रही थी—तड़प रही थी ॥१९०॥ शून्य हृदयसे गाये हुए स्त्रियोंके सुन्दर गीतोंसे तथा भ्रमरपंक्तिके मनोहर भंकारोंसे कामदेव कामी पुरुषोंके लिये पूर्वैरङ्ग अर्थात् नाटकके प्रारम्भमें होनेवाला एक अंग विशेष ही मानो बना रहा था । भावार्थ—उस समय स्त्रियाँ पतियोंकी प्राप्तिके लिये बेसुध होकर गा रही थीं और उड़ते हुए भ्रमरोंकी गुंजार फैल रही थी जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवरूपी नट कामकीड़ारूप नाटकके पहले होनेवाले संगीत विशेष ही दिखला रहा हो । नाटकके पहले जो मंगल-संगीत होता है उसे पूर्वैरङ्ग कहते हैं ॥१९१॥

१ मालभारिणः । २ प्रियतमाः । ३ मदाश्च ल० । ४ सेनया सहाभ्यगमयन् । ५ उत्कण्ठताम् । ६ प्रतिबन्धरहिता । ७ धैर्यं नीता । ८ चित्तसंमोहनहेतुगीतविशेषः । ९ कलध्वनिभेदः ।

‘गोत्रस्खलनसंबृद्धे’ मनुमन्यामनन्यजः^१ । नोपेक्षिष्ट प्रियोत्सङ्गम् अनयन्नवसङ्गताम्^२ ॥१६२॥
 नेन्दुपादेषूँति लेभे नोशीरेन^३ जलाद्रया^४ । खण्डिता^५ मानिनी काचिद् अन्तस्तापे बलीयसि ॥१६३॥
 काचिदुत्तापिभिर्बाणैः तापिताऽपि मनोभुवा । नितम्बिनी प्रतीकारं नेच्छद्द्वैयावलम्बिनी ॥१६४॥
 अनुरक्ततया दूरं नीतया प्रणयोचिताम् । भूमि^६ यूनाऽन्यथा सोढः सन्देशः^७ पशुधाक्षरः ॥१६५॥
 आलि^८ त्वं नालिक^९ बूहि गतः किञ्चु धिलक्षताम्^{१०} । प्रियानामा^{११}क्षरं क्षीणैः मोहान्मप्यवतारितैः ॥१६६॥
 यथा तव हृतं चेतः तथा लज्जाऽप्यहारि किम् । येन निस्त्रप^{१२} भूयोऽपि प्रणयोऽस्मासु तन्यते ॥१६७॥
 संवानुवर्तनीया ते सुभग^{१३} मन्यमानिनी । अस्थाने योजिता प्रीतिः जायतेऽनुशयाय^{१४} ते^{१५} ॥१६८॥
 इति प्राणप्रियां काञ्चित् सन्दिशन्ती^{१६} सखीजने । युवा सादरमभ्येत्य नानुनित्ये^{१७} न मानिनीम् ॥१६९॥
 चन्द्रपादास्तपतीव चन्दनं दहतीव माम् । सन्धुक्ष्यत इवाऽग्नीभिः कामाग्निर्व्यजनातिलैः ॥१७०॥

गोत्रस्खलन अर्थात् भूलसे किसी दूसरी स्त्रीका नाम ले देनेसे जिसका क्रोध बढ़ रहा है ऐसी किसी अन्य नवीन ब्याही हुई स्त्रीकी भी कामदेवने उपेक्षा नहीं की थी किन्तु उसे भी पतिके समीप पहुँचा दिया था । भावार्थ—प्रौढ़ा स्त्रियोंकी अपेक्षा नवोढ़ा स्त्रियोंमें अधिक मान और लज्जा रहा करती है परन्तु उस चन्द्रोदयके समय वे भी कामसे उन्मत्त हो सब मान और लज्जा भूलकर पतिप्राणोंके पास जा पहुँची थी ॥१६२॥ जिस किसी स्त्रीका पति वचन देकर भी अन्य स्त्रीके पास चला गया था ऐसी अभिमानिनी खण्डिता स्त्रीके मनका संताप इतना अधिक बढ़ गया था कि उसे न तो चन्द्रमाकी किरणोंसे संतोष मिलता था, न उशीर (खस) से और न पंखसे ही ॥१६३॥ धीरज धारण करनेवाली कोई स्त्री कामदेवके द्वारा अत्यन्त पीड़ा देनेवाले बाणोंसे दुखी होकर भी उसका प्रतीकार नहीं करना चाहती थी । भावार्थ—अपने धैर्यगुणसे कामपीड़ाको चुपचाप सहन कर रही थी ॥१६४॥ कोई तरुण पुरुष प्रेमसे भरी हुई अपनी अन्य स्त्रीको प्रेम करने योग्य किसी दूर स्थानमें ले गया था, वहाँ वह उसके कठोर अक्षरोंसे भरे हुए संदेशको चुपचाप सहन कर रही थी ॥१६५॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि हे सखि, सच कह कि क्या वह भूमसे मेरे विषयमें कहे हुए और अत्यन्त क्षीण अपनी प्रियाके नामके अक्षरोंसे कुछ चकित हुआ था ? ॥१६६॥ कोई स्त्री अपने अपराधी पतिसे कह रही थी कि हे निर्लज्ज, जिसने तेरा चित्त हरण किया है क्या उसने तेरी लज्जा भी छीन ली है ? क्योंकि तू फिर भी मुझपर प्रेम करना चाहता है ॥१६७॥ कोई स्त्री पतिको ताना दे रही थी कि आप अपने आपको बड़ा सौभाग्यशाली समझते हैं इसलिये जाइये उसी मान करनेवाली स्त्रीकी सेवा कीजिये क्योंकि अयोग्य स्थानमें की गई प्रीति आपके संतापके लिये ही होगी । भावार्थ—मुझसे प्रेम करनेपर आपको संताप होगा इसलिये अपनी उसी प्रेयसीके पास जाइये ॥१६८॥ इस प्रकार सखियोंके लिये संदेश देती हुई किसी अहंकार करनेवाली प्यारी स्त्रीको उसका तरुण पति आकर बड़े आदरके साथ नहीं मना रहा था क्या ? अर्थात् अवश्य ही मना रहा था ॥१६९॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि ये चन्द्रमा की किरणें मुझे संताप दे रही हैं, यह चन्दन जला सा रहा है और यह पंखोंकी हवा मेरी कामाग्नि

१ नामस्खलन । २ प्रबृद्धक्रोधात् । ३ कामः । ४ नववधूमित्यर्थः । ५ लामज्जकैः । ‘मूलेऽप्योशीरमस्त्रियाम्’ । ‘अभयं नलदं सेव्यममृणालं जलाशयम् । लामज्जकं लघुलयमधदाहेष्टकापथे ।’ इत्यभिधानात् । ६ व्यजनेन । ७ विमुक्ता । ८ संधानम् (शय्यागृहम्) । ९ वाचिकम् । १० भो सखि । ११ अनुत्तम् । १२ विस्मयान्विताम् । १३ दिव्यैः । १४ निर्लज्ज । १५ अहं सुभगेति मन्यमाना रामा । १६ पश्चात्तापाय । १७ तव । १८ सज्जल्पन्तीम् । वचनं प्रेषयन्तीम् । १९ न्येऽथ ल०, द० । अनुनयं नाकरोदिति न । (अपि तु करोत्येव) ।

तमानयानुनीयेह नय मां वा तदन्तिकम् । त्वदधीना मम प्राणाः प्राणेशे बहुवल्लभे ॥२०१॥
 इत्यनङ्गातुरा काचित् सन्दिशन्ती सखीं मियः^१ । भुजोपरोधमाश्लेषित्या प्रत्यग्रखण्डिता^२ ॥२०२॥
 राज्ये मनोभवस्यास्मिन् स्वरं रंरम्यतामिति । कामिनीकलकाञ्चीभिः उदघोषीय घोषणा ॥२०३॥
 कर्णोत्पलनितीनालिकुलकोलाहलस्वनैः । उपजेपे^३ किमु स्त्रीणां कर्णजाहे^४ मनोभुवा ॥२०४॥
 स्तनाङ्गरागसम्भर्षी परिरम्भोऽतिनिर्दयः । यवधे कामिवृत्तेषु रभसश्च कचग्रहः ॥२०५॥
 (प्रारक्तकलुषा दृष्टिः मुखमापाटलाधरम् । रतान्ते कामिनामासीत् सीकृतं वासकृत्कृतम् ॥२०६॥
 पुष्पसम्मर्दसुरभिः^५ आस्त्रस्तजघनांशुका । सम्भोगावसतो^६ शय्या मिथुनान्यधिशेरत ॥२०७॥
 केचिद् वीरभटैर्भाविरणारम्भकृतोत्सवैः । प्रियोपरोधान्देच्छैरप्यासेवि रतोत्सवः ॥२०८॥
 केचित् कीर्त्यङ्गनासङ्गमुखसङ्गकृतस्पृहाः । प्रियाङ्गनापरिष्वङ्गम् श्रङ्गीचक्रुर्मानिनः ॥२०९॥
 निजितारिभटैर्भोग्या प्रिया मास्माभि^७ अन्यथा । इति जातिभटाः केचिन्न भेजुं शयनान्यपि ॥२१०॥
 शरत्तपगतानल्पसुखसङ्कल्पतः परे । नाभ्यनन्दन् प्रियातल्पम् अनल्पेच्छा भटोत्तमाः ॥२११॥
 स्वकामिनीभिरारब्धवीरालापेभटैः परैः । विभावरी विभाताऽपि^८ सा नावेदि रणोन्मुखैः ॥२१२॥

को बड़ा सी रही है ॥२००॥ इसलिये मनाकर या तो उन्हें यहां ले आ या मुझे ही उनके पास ले चल, यह ठीक है कि प्राणपतिके अनेक स्त्रियां हैं इसलिये उन्हें मेरी परवाह नहीं है किन्तु मेरे प्राण तो उन्हींके अधीन हैं ॥२०१॥ इस प्रकार कामदेवसे पीड़ित होकर कोई स्त्री अपनी सखीसे संदेश कह ही रही थी कि इतनेमें उस नवीन विरहिणी स्त्रीको पास ही छिपे हुए उसके पतिने दोनों भुजाओंसे पकड़कर परस्पर आलिंगन किया ॥२०२॥ उस समय मनोहर शब्द करती हुई स्त्रियोंकी करधनियां मानो यही घोषणा कर रही थीं कि आप लोग कामदेवके इस राज्यमें इच्छानुसार क्रीड़ा करो ॥२०३॥ उन स्त्रियोंके कर्णफूलके कमलोंमें छिपे हुए भ्रमरोंके समूह कोलाहल कर रहे थे और उससे ऐसा जान पड़ता था कि कामदेव स्त्रियोंके कानों के समीप लगकर कुछ गुप्त बातें ही कर रहा हो ॥२०४॥ उस समय कामी लोगोंके समूहमें स्त्रियोंके स्तनोंपर लगे हुए लेपकी मर्दन करनेवाला और अत्यन्त निर्दय आलिंगन बढ़ रहा था तथा वेगपूर्वक केशोंकी पकड़ा-पकड़ी भी बढ़ रही थी ॥२०५॥ संभोगके बाद कामी लोगोंके नेत्र कुछ कुछ लाल और कलुषित हो गये थे, मुख कुछ कुछ गुलाबी अधरोसे युक्त हो गया था तथा उससे सी सी शब्द भी बार बार हो रहा था ॥२०६॥ संभोग-क्रियाके समाप्त होनेपर स्त्री और पुरुष दोनों ही उस शय्यापर सो गये जो कि फूलोंके सम्मर्दसे सुगन्धित हो रही थी और जिसपर खुलकर अधोवस्त्र पड़े हुए थे ॥२०७॥ जिन्हें होनेवाले युद्धके प्रारम्भमें बड़ा आनन्द आ रहा था ऐसे कितने ही शूरवीर योद्धाओंने इच्छा न रहते हुए भी अपनी प्यारी स्त्रियोंके आग्रहसे संभोग सुखका अनुभव किया था ॥२०८॥ कीर्तिरूपी स्त्री के समागमसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें जिनकी इच्छा लग रही है ऐसे कितने ही मानी योद्धाओं ने अपनी प्यारी स्त्रियोंका आलिंगन स्वीकार नहीं किया था ॥२०९॥ 'जब हम लोग शत्रुके योद्धाओंको जीत लेंगे तभी प्रियाका उपभोग करेंगे अन्यथा नहीं' ऐसी प्रतिज्ञा कर कितने ही स्वाभाविक शूरवीर शय्याओंपर ही नहीं गये थे ॥२१०॥ बड़ी बड़ी इच्छाओंको धारण करनेवाले कितने ही उत्तम शूरवीरोंने बाणोंकी शय्यापर सोनेसे प्राप्त हुए भारी सुखका संकल्प किया था इसलिये ही उन्होंने प्यारी स्त्रियोंकी शय्यापर सोना अच्छा नहीं समझा था ॥२११॥ जिन्होंने अपनी स्त्रियोंके साथ अनेक शूरवीरोंकी कथाएँ कहना प्रारम्भ किया है ऐसे युद्धके

१ बहुस्त्रीके सति । २ रहसि । ३ नूतनवियुक्ता । ४ रही बभाषे । भेदकुमन्त्रः सूचितः ।

५ कर्णमूले । ६ ईषदहण । ७ सुरतावसाने । ८ नास्माभि-ल०, द०, अ०, प०, स०, द० । ९ प्रभातापि ।

केचिदणरसासक्तमनसोऽपि पुरः स्थितम् । कान्तासङ्गरसं स्वरं भेजुः समरसा भटाः ॥२१३॥
 प्रहारकर्कशो दण्डशनच्छदनिष्ठुरः । रतारम्भो रणारम्भनिधिशेषो न्यवेवि तैः ॥२१४॥
 रतानुवर्तनेर्गाढपरिरम्भैर्मुखावर्णैः । मनांसि कामिनां ज हः कामिन्यस्ताः स्मरानुराः ॥२१५॥
 दृगद्वयोक्षितैः सान्तर्हसैर्ममनजल्पितैः^१ । अकाण्डरुषितैश्चण्डैः विवृतेरसमभ्रुभिः^२ ॥२१६॥
 तासामकृतकस्नेहगर्भैः कृतककैतवैः । रसिकोऽभूद् रतारम्भः तम्भोगान्तेषु कामिनाम् ॥२१७॥
 तेषां निवृत्तारम्भमतिभूमिगतं तदा । संद्रष्टुमसहृत्तीव पर्यवर्तत^३ सा निशा ॥२१८॥
 अलं वत चिरं रंत्वा दम्पती ताम्यथो^४ युवाम् । लम्बितेन्दुमुखी तस्थौ इतीवापरदिग्बधूः ॥२१९॥
 विषट्थ्य रथाङ्गानां मिथुनानि मिथोऽशुभान् । तापेन तत्कृतेनेव^५ परितोऽश्वयुदिवाय सः ॥२२०॥
 तावदासीद् दिनारम्भो गतं नशं तमो लयम् । सहस्रांशुविशं प्राचीं परिरमे^६ करोत्करैः ॥२२१॥
 किरणस्तकशैरेव तस्मै शार्वरमुद्धतम् । तरणैः करणीयं तु दिनश्चोपरिरम्भणम्^७ ॥२२२॥
 कोकयास्त्रानुरागेषु लसं पद्माकरं श्रियम् । पुष्पज्जङ्गांसुल्लच्छन्^८ अमुष्णात्कोमुदीं श्रियम् ॥२२३॥

सन्मुख हुए अन्य योद्धा लोगोंको सवेरा होते हुए भी वह रात जान नहीं पड़ी थी । भावार्थ—
 कथानु कलने कलने रात्रि समाप्त हो गई, सवेरा हो गया फिर भी उन्हें मायूम नहीं हुआ
 ॥२१२॥ युद्ध और संभोगमें एकसा आसन्द माननेवाले कितने ही योद्धाओंका चित्त यद्यपि
 युद्धके रसमें आसक्त हो रहा था तथापि उन्होंने सामने प्राप्त हुए स्त्रीसंभोगके रसका भी इच्छा-
 नुसार उपभोग किया था ॥२१३॥ उन योद्धाओंने रणके प्रारम्भके समान ही संभोगका प्रारंभ
 किया था, क्योंकि जिस प्रकार रणका प्रारम्भ परस्परके प्रहारों (चोटों) से कठोर होता है
 उसी प्रकार संभोगका प्रारम्भ भी परस्परके प्रहारों अर्थात् कचग्रह, नखक्षत आदिसे कठोर
 था, और जिस प्रकार रणका प्रारम्भ ओठ चबाये जानेसे निर्दय होता है उसी प्रकार संभोगका
 प्रारम्भ भी ओठोंके चुम्बन आदिसे निर्दय था ॥२१४॥ कामसे पीड़ित हुई कितनी ही स्त्रियां
 पतियोंका गाढ़ आश्रितन कर, चुम्बनके लिये उन्हें अपना मुख देकर और उनके साथ संभोग
 कर उनका मन हरण कर रही थीं ॥२१५॥ आधी नजरसे देखना, भीतर ही भीतर हंसते
 हुए अव्यक्त पान्द कहना, अगम्यमें रूस जाना, बड़ी तेजीके साथ करवट बदलना भौंहोंको
 आड़ी निरुद्धी चलाना और स्वाभाविक स्नेहसे भरा हुआ भूडा छल-कपट दिखाना आदि
 स्त्रियोंके अनेक व्यापारोंसे संभोगका एक दौर समाप्त हो जानेपर भी कामी पुरुषोंका पुनः
 संभोग प्रारम्भ हो रहा था और वह बड़ा ही रसीला था ॥२१६-२१७॥ उस समय वह
 रात्रि पौदनपुरके स्त्री-पुरुषोंके उस बड़े हुए संभोगको देख नहीं सकी थी इसलिये ही मानो उलट
 पड़ी थी अर्थात् समाप्त हो चुकी थी—प्रातःकालके रूपमें बदल गई थी ॥२१८॥ जिसका
 चन्द्रमाक्षी मुख नीचेकी ओर लटक रहा है ऐसी पश्चिम दिशाक्षी स्त्री मानो यही कहती
 हुई खड़ी थी कि हे स्त्री पुरुषो, रहने दो, बहुत देर तक क्रीड़ा कर चुके, नहीं तो तुम दोनों ही
 दुःख पाओगे ॥२१९॥ सूर्यने सायंकालके समय चक्रवा-चकवियोंको परस्पर अलग-अलग
 किया था उसी संतापसे व्याप्त हुआ मानो वह फिरसे उदय होने लगा ॥२२०॥ इतनेमें ही
 दिनका प्रारम्भ हुआ, रात्रिका अन्धकार विलीन हो गया और सूर्यने अपनी किरणोंके समूहसे
 पूर्वदिशाका आलिंगन किया ॥२२१॥ रात्रिका अन्धकार तो सूर्यकी लाल किरणोंसे ही
 नष्ट हो गया था अब तो सूर्यको केवल दिनरूपी लक्ष्मीका आलिंगन करना बाकी रह गया था
 ॥२२२॥ सूर्य चकवियोंके अनुरागके साथ ही साथ कमलोंकी शोभा बढ़ा रहा था और उदय

१ गाढ़ परिल ० । २ अन्धकारभाषणीः । ३ विषमभ्रुभिः । ४ प्रलयं गता । ५ ताम्यता ल० ।
 ६ विषट्कृतनेन । ७ व्याप्तः । ८ आलिङ्गनं चकार । ९ आलिङ्गनम् । १० -रद्गच्छन् ल०, द० ।

तमः कवाटमुद्धाट्य विद्धमुखानि प्रकाशयन् । जगद्बुद्धाटिताक्षं वा व्यधादुष्णकरः करैः ॥२२४॥
 १ प्रातस्तारामथोत्थाय पद्माकरपरिग्रहम् । तन्वन् भानुः प्रतापेन जिगीषोर्वृत्तिमन्वगात् ॥२२५॥
 सुकण्ठा पेटुरत्युच्चैः प्रभोः प्राबोधिकास्तदा । स्वयं प्रबुद्धमन्येन प्रबोधेन युयुक्षवः ॥२२६॥

हरिणीच्छन्दः

अशिशिरकरो लोकानन्दी जनैरभिनन्दितो
 बहुमतकरं तेजस्तन्वन्नितोऽयमुदेक्षति ।
 नृवर जगतामुद्योताय त्वमप्युदयोचितम्
 विधिमनुसरन् शय्योत्सङ्गं जहीहि मुदे श्रियः ॥२२७॥
 कतरकलमे नाक्रान्तास्ते बलैर्बलशालिनो
 भुजबलमिदं लोकः प्रायो न वेत्ति तवात्पकः ।
 भरतपतिना सार्द्धं युद्धे जयाय कृतोद्यमो
 नृपवर भवान् भूयाद् भर्ता नृवीरजयश्रियः ॥२२८॥
 रविरविरलानभून् जातानिवाश्रमशालिनां
 तुहिनकणिकपातानाशु १० प्रमृज्य करोत्करैः ।
 अयमुदयति प्राप्तानन्वैरितोऽम्बुजिनीवनैः
 उदयसमये प्रत्युद्यतो ११ धृतार्घमिवाऽम्बुजः ॥२२९॥

होते ही चांदनीकी शोभाको भी चुराता जाता था—नष्ट करता जाता था ॥२२३॥ सूर्यने अपने किरणरूपी हाथोंसे अन्धकाररूपी किवाड़ खोलकर दिशाओंके मुंह प्रकाशित कर दिये थे और समस्त जगत्के नेत्र खोल दिये थे ॥२२४॥ वह सूर्य विजयकी इच्छा करनेवाले किसी राजाकी वृत्तिका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाला राजा बड़े सबेरे उठकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् लक्ष्मीका हाथ स्वीकार करता है उसी प्रकार सूर्य भी बड़े सबेरे उदय होकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् कमलोंके समूहकी स्वीकार कर रहा था—अपने तेजसे उन्हें विकसित कर रहा था ॥२२५॥ यद्यपि उस समय महाराज बाहुबली स्वयं जाग गये थे तथापि उन्हें जगानेका उद्योग करते हुए सुन्दर कण्ठवाले बदीजन जोर जोरसे नीचे लिखे हुए मंगलपाठ पढ़ रहे थे ॥२२६॥ हे पुरुषोत्तम, जो लोगोंको आनन्द देनेवाला है और लोग जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा यह सूर्य सब लोगोंको अच्छा लगनेवाले तेजको फैलाता हुआ इधर पूर्व दिशासे उदय हो रहा है इसलिये आप भी जगत्को प्रकाशित और लक्ष्मीको आनन्दित करनेके लिये सूर्योदयके समय होनेवाली योग्य क्रियाओंको करते हुए शय्याका मध्यभाग छोड़िये ॥२२७॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ, आपकी सेनाओंने कितने कितने बलशाली राजाओंपर आक्रमण नहीं किया है, ये छोटे छोटे लोग प्रायः आपकी भुजाओंके बलको जानते भी नहीं हैं । हे नरवीर, आपने भरतेश्वरके साथ युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये उद्यम किया है इसलिये विजयलक्ष्मीके स्वामी आप ही हों ॥२२८॥ हे देव, वशीचे-के वृक्षोंपर पड़ी हुई ओसकी बूंदोंको निरन्तर पड़ते हुए आंसुओंके समान अपनी किरणोंके समूहसे शीघ्र ही पोंछता हुआ यह सूर्य उदय हो रहा है और उदय होते समय ऐसा जान पड़ता है मानो कमलिनियोंके वन जिन्हें आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे कमलोंके द्वारा अर्घ्य लेकर उसकी

१ विवृतनेत्रम् । २ अतिशयप्रातःकाले । ३ अनुकरोति स्म । ४ प्रबोधन—द०, ल० ।
 ५ योक्तुमिच्छवः । ६ अनुगच्छन् । ७ के के । ८ तव । ९ नश्रुवाता—द० । १० कपाता—ल०, द० ।
 ११ प्रतिगृहीतः ।

अयमनुसरन् कोकः कान्तां तदान्तरशाधिनीम्
 अविरलगलद्वाष्पव्याजादिवोत्सृजतीं शुचम् ।
 विशतिं बिसिनीपत्रच्छन्नां सरोजसरस्तटीं
 सरसिजरजःकीर्णौ पक्षौ विधूय शनः शनः ॥२३०॥
 जरठबिसिनीकन्दच्छायामुषस्तरलास्त्रिष-
 स्तुहिनकिरणो दिक्पर्यन्तादयं प्रतिसंहरन् ।
 अनुकुमुदिनीषण्डं तन्वन् करानमृतश्च्युतो
 द्रढयति परिष्वङ्गासङ्गं वियोगभयादिव ॥२३१॥
 तिमिरकरिणां मूर्धं भित्वा तदस्त्रपरिप्लुता-
 मिव तनुमयं बिभृच्छोणां निशाकरकेसरी ।
 वनमिव नभः कान्त्वाऽस्ताद्रेर्गुहागहनान्यतः
 अश्रयति नियतं निद्रासङ्गात् विजिह्विततारकः^१ ॥२३२॥
 सरति सरसीतीरं हंसः ससारसकूजितं
 भटिति घटते कोकद्वन्द्वं^२ विशापमिवाधुना ।
 पतति^३ पततां^४ वृन्दं विष्वक् द्रुमेषु कृतारुतं^५
 गतमिव जगत्प्रत्यापत्तिं^६ समुद्यति^७ भास्वति^८ ॥२३३॥
 उदयशिखरिप्रावश्रेणीसरोरुहरागिणो
 गगनजलधेरातन्वानां^९ प्रवालवनभियम् ।
 दिगिभवदने सिन्दूरश्रीरलक्तकपाटला
 प्रसरतितरां सन्ध्यादीप्तिविगाननमण्डनी^{१०} ॥२३४॥

अगवानी ही कर रहे हों ॥२२९॥ इधर देखिये, जो दूसरे किनारेपर सो रही है और निरन्तर बहते हुए आँसुओंके बहानेसे जो मानो शोक ही छोड़ रही है ऐसी अपनी स्त्री चकवीके पीछे पीछे जाता हुआ यह चकवा कमलोंके परागसे भरे हुए अपने दोनों पंखोंको झटकाकर कमलि-
 नियोंके पत्तोंसे ढके हुए कमलसरोवरके तटपर धीरे धीरे प्रवेश कर रहा है ॥२३०॥ यह चन्द्रमा पके हुए मृणालकी कान्तिको चुरानेवाली अपनी कान्तिको सब दिशाओंके अन्तसे खींच रहा है तथा अमृत वरसनेवाली अपनी किरणोंको प्रत्येक कुमुदिनियोंके समूहपर फैलाता हुआ वियोगके डरसे ही मानो उनके साथ आलिङ्गनके सम्बन्धकी दृढ़ कर रहा है ॥२३१॥ जो अन्धकाररूपी हाथियोंके समूहको भेदन कर उनके रक्तसे ही तर हुएके समान लाल लाल दिखनेवाले शरीर (मण्डल) को धारण कर रहा है तथा नींद आ जानेसे जिसकी नक्षत्ररूपी आँखोंकी पुतलियां तिरोहित अथवा कुटिल हो रही हैं ऐसा यह चन्द्रमारूपी सिंह वनके समान आकाशको उल्लंघन कर अब अस्ताचलकी गुहारूप एकान्त स्थानका निश्चित रूपसे आश्रय ले रहा है ॥२३२॥ सूर्य उदय होते ही हंस, सारस पक्षियोंकी बोलीसे सहित सरोवरके किनारे पर जा रहे हैं, चकवा चकवियोंके जोड़े परस्परमें इस प्रकार मिल रहे हैं मानो अब उनका शाप ही दूर हो गया हो, पक्षियोंके समूह चारों ओर शब्द करते हुए वृक्षोंपर पड़ रहे हैं और यह जगत् फिरसे अपने पहले रूपको प्राप्त हुआ सा जान पड़ता है ॥२३३॥ उदयाचलकी चट्टानोंपर पैदा होनेवाले कमलोंके समान लाल तथा आकाशरूपी समुद्रमें मृगाके वनकी

१ अभिनिवेशात् । २ वक्रिततारकः । अक्षःकनीनिकेति ध्वनिः । ३ विगतशापम् । आक्रोश-
 मित्यर्थः । ४ आश्रयति । ५ पक्षिणाम् । ६ कृतसमन्ताद् ध्वनिः । कृतारवं ल० । ७ पूर्वस्थितिम् ।
 ८ उदिते सति । ९ आदित्ये । १० विद्रुमं । ११ मण्डयतीति मण्डनी ।

कमलमलिनी नालं^१ वेष्टुं^२ बत प्रविकस्वरं
 गतमरुणतां बालार्कस्य प्रसारिभिरंशुभिः ।
 परिगतमिव^३ प्रादुष्यद्भिः कणैरनिलार्चिषां
 नियतविपदं धिग् व्यामूढि धिवेकपराङ्मुखीम् ॥२३५॥
 उपनततरुनाधुन्वाना विलोलितषट्पदाः
 कृतपरिचया वीचीचक्रैः सरस्तु सरोरुहाम् ।
 ४रतिपरिमलानाकर्षस्तः सरोजरजो जडाः^५
 प्रतिदिशमभी मन्दं वान्ति ६प्रगेतनमारुताः ॥२३६॥

मालिनीच्छन्दः

नृपवर जिनभर्तुर्मंडगलेरेभिरिष्टैः
 प्रकटितजयघोषैस्त्वं विबुध्यस्व भूयः ।
 भवति निखिलविघ्नप्रशान्तिर्यतस्ते
 रणशिरसि जयश्रीकामिनी कामुकस्य ॥२३७॥
 जयति दिविजनार्थैः प्राप्तपूजार्द्धिरहेन्
 धुतदुरितपरागो वीतरागोऽपरागः^१ ।
 कृतनतिशतयज्वप्रज्वलन्भीलिरत्न-
 २च्छुरितश्चिररोचिमंजरीपिञ्जराङ्घ्रिः ॥२३८॥

शोभा फैलाती हुई, दिशारूपी हाथियोंके मुखपर सिन्दूरके समान दिव्यवेवाली, महावरके समान गुलाबी और दिशाओंके मुखोंको अलङ्कृत करनेवाली यह प्रभात-संध्याकी कान्ति चारों ओर बड़ी तेजीसे फैल रही है ॥२३४॥ हे नाथ, यह किया हुआ कामल-काल-संध्याकी फैलने-वाली किरणोंसे लाल लाल हो रहा है और ऐसा साफ़ होता है मानो अग्निके फैलते हुए किरणोंसे व्याप्त ही हो रहा हो तथा इसी भयसे यह भूमरी उसमें प्रवेश करनेके लिये गमय नहीं हो रही है । आचार्य कहते हैं कि जिसमें आपत्ति सदा निश्चित रहती है और जो धिवेकसे पराङ्मुख है ऐसी मूर्खताको धिक्कार है ॥२३५॥ हे राजन्, जो उपवनके वृक्षोंको हिला रहा है, भूमरोंको चंचल कर रहा है, जिसने कमलोंके तालावमें लहरोंके साथ परिचय प्राप्त किया है, जो स्त्री-पुरुषोंके संभोगकी सुगन्धिको खींच रहा है और जो कमलोंके परागसे भागी हो रहा है ऐसा यह प्रातःकालका वायु सब दिशाओंमें धीरे धीरे बह रहा है ॥२३६॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ, जिनमें जय जयकी घोषणा प्रकट रूपसे की गई है ऐसे जितेन्द्र भगवान्‌के इन इष्ट मंगलोंसे आप फिरसे जग जादये क्योंकि इन्हीं मंगलोंके द्वारा रणके अश्वभागमें विजयलक्ष्मी रूपी स्त्रीको चाहनेवाले आपके समस्त विघ्नोंकी अच्छी तरह वान्ति होगी ॥२३७॥

अनेक इन्द्रोंके द्वारा जिन्हें पूजाकी ऋद्धि प्राप्त हुई है, जिन्होंने पापक्षयी धूल नष्ट कर डाली है, जो वीतराग हैं—जिन्होंने रागद्वेष नष्ट कर दिये हैं और नमस्कार करते हुए इन्द्रोंके देदीप्यमान मुकुटके रत्नोंसे मिली हुई सुन्दर किरणोंकी मंजरीसे जिनके चरण कुछ कुछ पीले हो

जयति जयविलासः सूच्यते यस्य पौष्पैः-

अलिकुलतरुर्भूनिजितानङ्गमुक्तेः ।

१अनुपदयुगमस्त्रैर्भङ्गशोकादिवावि-

कृतकरुणभिनादैः सोऽयमाद्यो जिनेन्द्रः ॥२३६॥

जयति जितमनोभूर्भूरिधामा^२ स्वयम्भूः

जिनपतिरपरागः^३ क्षालितागः परागः ।

सुरमुपुष्टविडङ्कोद्वृ^४पादाम्बुजश्रीः-

जगद^५जगदगारप्रान्तविश्रान्तबोधः ॥२४०॥

जयति मदनबाणैरक्षतात्मापि योऽधात्^६

त्रिभुवनजयलक्ष्मीकामिनीं वक्षसि स्वे ।

स्वयमवृत च मुक्तिप्रेयसी यं विरूपा^७

प्यनवमसुखताति तन्यती सोऽयमर्हन् ॥२४१॥

जयति समरभेरीभैरवारावभीमं

बलमरवि न कूजच्छण्डकोवण्डकाण्डम् ।

भृकुटिकुटिलमास्थं येन नाकारि वोच्चैः

मनसिजरिपुघाते सोऽयमाद्यो जिनेशः^८ ॥२४२॥

स जयति जिनराजो दुविभाव^९प्रभावः

प्रभुरभिभितुं यं^{१०}नाशकन्मारवीरः ।

दिविजविजयदूरा^{११}खड्गवोऽपि गर्व

न हृदि हृदिः सोऽयाद् यत्र^{१२} ११कुण्डास्त्रवीर्यः ॥२४३॥

रहे हैं ऐसे श्री अर्हन्तदेव सदा जयवन्त रहें ॥२३८॥ जिनके भीतर भूमरोंके समूह गुंजार कर रहे हैं और उनसे जो ऐसे भायूम होते हैं मानो अपनी पञ्चजयके शोकसे रोते हुए कामदेवके कर्ण कन्दको ही प्रकट कर रहे हों तथा उसी हारे हुए कामदेवने अपने पुष्परूपी शस्त्र भगवान्के चरण-युगलके सामने डाल रखे हों ऐसे पुष्पोंके समूहसे जिनके विजयकी लीला सूचित होती है वे प्रथम जिनेन्द्र श्री वृषभदेव जयवन्त हों ॥२३९॥ जिन्होंने कामदेवको जीत लिया है, जिनका तेज अपार है, जो स्वयंभू हैं, जिनपति हैं, वीतराग हैं, जिन्होंने पाप रूपी धूलि धो डाली है, जिनके चरणकमलोंकी शोभा देव लोभोंने अपने मुकुटके अग्रभागपर धारण कर रखी है और जिनका ज्ञान लोक अलोक रूपी घरके अन्त तक फैला हुआ है ऐसे श्री प्रथम जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥२४०॥ जिनकी आत्मा कामदेवके बाणोंसे बायल नहीं हुई है तथापि जिन्होंने तीनों लोकोंकी जयलक्ष्मीरूपी स्त्रीको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया है और मुक्तिरूपी स्त्रीने जिन्हें स्वयं वर बनाया इसके सिवाय वह मुक्तिरूपी स्त्री विरूपा अर्थात् कुरूपा (पक्षमें आकाररहित) होकर भी जिनके लिये उत्कृष्ट सुख-समूहको बढ़ा रही है वे अर्हन्तदेव सदा जयवन्त हों ॥२४१॥ जिन्होंने जगद्विजयी कामदेवरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिये न तो युद्धके नगाड़ोंके भयंकर शब्दोंसे भीषण तथा शब्द करते हुए धनुषोंसे युक्त सेना ही रची और न अपना मुंह ही भौंहोंसे टेढ़ा किया वे प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥२४२॥ जो रात्र जगत्के स्वामी हैं, कामदेवरूपी योद्धा भी जिन्हें जीतने-

१ पदयुगममीपे । २ बहलतेजाः । ३ अपमतरागः । ४ बलभ्या धृत । ५ लोकालोकालयप्रान्त । ६ धारयति स्म । ७ अमूर्तापि, कुरूपापीति ध्वनिः । ८ अप्रमितसुखपरम्पराम् । ९ जिनेन्द्रः ल०, द० । १० अचिन्त्य । ११ समर्थो ना भूत् । १२ अत्यर्थ । १३ सर्वज्ञे । १४ मन्द । 'कुण्डो मन्दः क्रियासु च' इत्यभिधानात् ।

जयति तरुशोको दुन्दुभिः पुष्पवर्ष
 चमरिहसमेतं विष्टरं संहमुद्धम्^१ ।
 वचनमसममुच्चैरातपत्रं च तेजः^२
 त्रिभुवनजयचिह्नं यस्य^३ सार्वो जिनोऽसौ ॥२४४॥
 जयति जनतापच्छेदि यस्य क्रमाब्जं
 विपुलफलदमारान्नमृताकोन्द्रभुङ्गम् ।
 समुपतज्जनानां प्रीणनं कल्पवृक्ष-
 स्थितिमतनुमहिम्ना सोऽवतात्तीर्थकृद् ॥२४५॥
 नृवर भरतराज्योऽयूजितस्यास्य युष्म-
 द्भुजपरिधयुगस्य प्राप्तुयाश्रय कक्षाम्^४ ।
 भुजबलमिदमास्तां दृष्टिमात्रेऽपि कस्ते
 रणनिषकगतस्य स्थातुमीशः क्षितीशः ॥२४६॥
 तद्वलमधिप कालक्षेपयोगेन निद्रां
 जहिहि महति कृत्ये^५ जागरूकस्त्वमेधि^६ ।
 सपदि च जयलक्ष्मीं प्राप्य भूयोऽपि देवं
 जितम^७ वनम भक्त्या शासितारं जयाय ॥२४७॥

हरिणीच्छन्दः

इति समुचितैरुच्चैरुच्चावच्चैर्जयमङ्गलैः
 सुघटितपदैर्भूयोऽमीभिर्जयाय विबोधितः ।
 शयनममुचन्निद्रापायात् स पाथिवकुञ्जरः
 सुरगज इवोत्सङ्गं गङ्गाप्रतीरभुवः शनैः ॥२४८॥

के लिये समर्थ नहीं हो सका तथा जिनके सामने, देवोंको जीतनेसे जिसका अहंकार बढ़ गया है ऐसा कामदेव भी शस्त्र और सामर्थ्यके कुण्ठित हो जानेसे हृदयमें अहंकार धारण नहीं कर सका ऐसे अचिन्त्य प्रभावके धारक वे प्रसिद्ध जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त रहें ॥२४३॥ अशोक वृक्ष, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, चमर, उत्तम सिंहासन, अनुपम वचन, ऊंचा छत्र और भामण्डल ये आठ प्रातिहार्य जिनके तीनों लोकोंको जीतनेके चिह्न हैं वे सबका हित करनेवाले श्री वृषभ-जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥२४४॥ जिनके चरणकमल जन्मरूप संतापको नष्ट करनेवाले हैं, स्वर्ग मोक्ष आदि बड़े बड़े फल देनेवाले हैं, दूरसे नमस्कार करते हुए इन्द्र ही जिनके भूमर हैं और जो शरणमें आये हुए लोगोंको कल्पवृक्षके समान संतुष्ट करनेवाले हैं ऐसे वे तीर्थंकर भगवान् सदा विजयी हों और अपने विशाल माहात्म्यसे तुम सबकी रक्षा करें ॥२४५॥ हे पुरुषोत्तम, महाराज भरत भी आपके दोनों भुजारूपी अर्गलदण्डोंकी तुलना नहीं प्राप्त कर सकते हैं, अथवा भुजाओंका बल तो दूर रहे, जब आप युद्धके निकट जा पहुँचते हैं तब आपके देखने मात्रसे ही ऐसा कौन राजा है जो आपके सामने खड़ा रहनेके लिये समर्थ हो सके ॥२४६॥ इसलिये हे अधीश्वर, समय व्यतीत करना व्यर्थ है, निद्रा छोड़िये, इस महान् कार्यमें सदा जागरूक रहिये और शीघ्र ही विजयलक्ष्मीको पाकर अन्य सब जगह विजय प्राप्त करनेके लिये सबपर शासन करनेवाले देवाधिदेव जिनेन्द्रदेवको भक्तिपूर्वक फिरसे नमस्कार कीजिये ॥२४७॥ इस प्रकार जिनमें अच्छे अच्छे पदोंकी योजना की गई है ऐसे अनेक प्रकारके

१ प्रशस्तम् । २ प्रभामण्डलम् । ३ सर्वहितः । ४ समानताम् । ५ तत् कारणात् । ६ जागरणशीलः । ७ भव । ८ नमस्कुह । ९ नानाप्रकारैः ।

जयकरिघटाबन्धे^१रुन्धन्^२ दिशो मदविह्वलैः

^३बलपरिवृढं रारुढश्रीरुद्रपराक्रमः ।

^४नृपकतिपयं रारादेत्य प्रणम्य दिदृक्षितो

भुजबलि युवा भजे सन्धैर्भुवं समरोचिताम् ॥२४६॥

इत्थार्थे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण

श्रीमहापुराणसङ्ग्रहे कुमारबाहुबलिरणोद्योग-

वर्णनं नाम पञ्चविंशत्तमं पर्व ॥ ३५ ॥

उत्कृष्ट तथा राजाओंके योग्य, विजय करानेवाले मंगल-गीतोंके द्वारा बाहुबली महाराज विजय प्राप्त करनेके लिये जगे और जिस प्रकार ऐरावत हाथी निद्रा छूट जानेसे गंगाके किनारे-की भूमिका साथ धीरे धीरे छोड़ता है उसी प्रकार उन्होंने भी निद्रा छूट जानेसे धीरे धीरे शय्या-का साथ छोड़ दिया ॥२४८॥ सेनाके मुख्य मुख्य लोगोंके द्वारा जिसकी शोभा बढ़ रही है, जो स्वयं विशाल पराक्रम धारण किये हुए हैं और कितने ही राजा लोग दूर दूरसे आकर प्रणाम करते हुए जिसे देखना चाहते हैं ऐसा वह तरुण बाहुबली मदोन्मत्त विजयी हाथियोंकी घटाओंसे दिशाओंको रोकता हुआ सेनाके साथ साथ युद्धके योग्य भूमिमें जा पहुँचा ॥२४९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत तिरसठशलाकापुरुषोंका वर्णन करनेवाले महापुराणसंग्रहमें कुमार बाहुबलीके युद्धका उद्योग वर्णन करनेवाला पैंतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

षट्त्रिंशत्तमं पर्व

अथ दूतवचश्चण्डमरुदाघातघूर्णितः । प्रचचाल बलाम्भोधिः जिष्णोराख्य रोदसी^१ ॥१॥
 साङ्गप्राप्तिर्यो^२ महाभयैः तदा धीरं प्रदध्वन्^३ । यद्वानैः साध्वसं भेजुः^४ खड्गव्यघ्रा नभश्चराः ॥२॥
 बलानि प्रविभक्तानि^५ निधीशस्य विनिर्ययुः । पुरः पादातमश्वीयम् आरादारत्न^६ हास्तिकम् ॥३॥
 रथकट्यापरिक्षेपो^७ बलस्योभयपक्षयोः^८ । अघ्नतः पृष्ठतश्चासीद् ऊर्ध्वं च खचरामराः ॥४॥
 षडङ्गबलसामग्र्या सम्पन्नः पार्थिवैरसा^९ । प्रतस्थे भरताधीशो निजानुजिगीषया ॥५॥
 महान् गजघटाबन्धो^{१०} रजं सजयकेतनः । गिरीणामिव संघातः सञ्चारी सह शाखिभिः^{११} ॥६॥
^{१२}इक्ष्योतन्मदजलासारसिक्त^{१३}भूमिर्मदद्विपैः । प्रतस्थे रद्धविकृचकैः शैलैरिव सनिर्भरैः ॥७॥
 जयस्तम्बेरमा रेजुः तुङ्गाः शृङ्गारिताङ्गकाः । सान्द्रसन्ध्यातपकान्ताः चलन्त इव भूधराः ॥८॥
 चमूमतङ्गजा रेजुः सज्जाः^{१४} सजयकेतनाः । कुलशैला इवाघाताः प्रभोः स्वबलदर्शने^{१५} ॥९॥
 गजस्कन्ध^{१६}गता रेजुः धूर्गता विधूताङ्गुशाः । प्रदीप्तोद्भटनेपथ्या^{१७} दर्पाः समिष्टिताः इव ॥१०॥

अथानन्तर—दूतके वचनरूपी तेज वायुके आघातसे प्रेरित हुआ चक्रवर्तीका सेना रूपी समुद्र आकाश और पृथिवीको रोकता हुआ चलने लगा ॥१॥ उस समय युद्धकी सूचना करनेवाले बड़े बड़े नगाड़े गम्भीर शब्दोंसे बज रहे थे और उनके शब्दोंसे तलवार उठानेमें व्यग्र हुए विद्याधर भयभीत हो रहे थे ॥२॥ चक्रवर्तीकी सेनाएँ अलग अलग विभागोंमें विभक्त होकर चल रही थीं, सबसे आगे पैदल सैनिकोंका समूह था, उससे कुछ दूरपर घोड़ोंका समूह था और उससे कुछ दूर हटकर हाथियोंका समूह था ॥३॥ सेनाके दोनों ओर रथोंके समूह थे तथा आगे पीछे और ऊपर विद्याधर तथा देव चल रहे थे ॥४॥ इस प्रकार लड़ प्रकारकी सेना-पान्नामीसे सम्पन्न हुए महाराज भरतेश्वरने अपने छोटे भाईको जीतनेकी उच्छ्वाससे अनेक राजाओंके साथ प्रस्थान किया ॥५॥ उस समय विजय-पताकाओंसे सज्जा बड़े बड़े हाथियोंके समूह ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वृक्षोंके साथ साथ चलते हुए पर्वतोंके समूह ही हों ॥६॥ जिनसे भरते हुए मदजलकी वृष्टि से समस्त भूमि सींची गई है और जिन्होंने सब दिशाएँ रोक ली हैं ऐसे गदोन्मत्त हाथियोंके साथ चक्रवर्ती भरत चल रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे मालूम होते थे मानो भरतसे सहित पर्वत ही हों ॥७॥ जिनके समस्त शरीर-पर शृङ्गार किया गया हो और जो बहुत ऊँचे हैं ऐसे वे विजयके हाथी ऐसे सुशोभित होते थे मानो सन्ध्याकालकी सघन धूपसे व्याप्त हुए चलते-फिरते पर्वत ही हों ॥८॥ जो सब प्रकारसे सजाये गये हैं और जिनपर विजय-पताकाएँ फहरा रही हैं ऐसे वे सेनाके हाथी इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो महाराज भरतको अपना बल दिखानेके लिये कुलाचल ही आये हों ॥९॥ जिन्होंने देदीप्यमान तथा वीररसके योग्य वेप धारण किया है, और जिन्होंने अंकुश हाथमें ले रखा है ऐसे हाथियोंके कंधोंपर बैठे हुए महाबल लोग ऐसे जान पड़ते थे मानो एक जगह

१ चावापृथिवी । २ युद्धहेतवः । ३ मुध्वानैः ल० । ४ आयुधश्रीकाख्याकुलाः ।
 ५ संकरमकृत्वा प्रविभाजितानि । ६ समीपे । ७ रथसमूहपरिवृत्तिः । ८ उभयपादयोस्त्वर्थः, मौल-
 व्रतनिकयोः, मूलं कारणं पुरुषं प्राप्तः मौलाः । ९ वेतनेन जीवन्तो वेतनिकाः । १० सह । ११ आसमूहः
 १२ वृक्षैः । १३ स्रक्त । १४ वेगवद्बर्ष । 'धारासम्पात आसारः' । १५ सञ्चलीकृताः । १६ निजबलदर्शने ।
 १७ गजारीहकाः । १८ वीररसानुकाराः ।

कोक्षेयकैर्निशाता^१प्रधाराशः सादिनो^२ बभुः । मूर्त्तीभूय भुजोपाग्रतानेर्वा^३ स्वेः पराक्रमेः ॥११॥
 धन्विनः शरनाराच^४सम्भूतेषुधयो^५ बभुः । वनक्षमाज महाग्राखाः कोटरस्थैरिवाहिभिः ॥१२॥
 रथिनो रथकटचासु सम्भूतोचितहेतयः । सङ्ग्रामवार्धि^६तरणे प्रस्थिता नाविका^७ इव ॥१३॥
 भटा हस्त्युरसं^८ भेजुः सशिरस्त्रतनुत्रकाः^९ । समुत्खातनिशातासिपाणयः पादरक्षणे^{१०} ॥१४॥
 पुस्कुरः^{११} स्फुरदस्त्रोवा भटाः सन्देशितः^{१२} परे । ओत्पातिका^{१३} इवानीलाः सोल्का मेघाः समुत्थिताः ॥१५॥
 करवालं करात्पात्रं करे कृत्वा भटोऽपरः । पश्यन् मुखरसं तस्मिन्^{१४} स्वशौर्यं परिजिज्ञिवान्^{१५} ॥१६॥
 कराग्रविवृतं खड्गं तुलयन् कोऽप्यभाद भरः । प्रमिमित्सुरिवानेन^{१६} स्वामिसत्कारगौरवम् ॥१७॥
 महामुकुटबद्धानां साधनानि^{१७} प्रतस्थिरे । पादातहास्तिकाश्चोपरथकटचापरिच्छदैः^{१८} ॥१८॥
 बभुर्भुकुटबद्धास्ते रत्नांशूदग्रमोलयः । सलीलालोकपालानाम् शंशा^{१९} भुवमिवागताः ॥१९॥
 परिवेष्टय निरेयन्त^{२०} पाथिवाः पृथिवीश्वरम् । दूरात् स्वबलसामग्रीं दर्शयन्तो यथायथम् ॥२०॥
 प्रत्यग्रसमरारम्भसंश्रवोद्भ्रान्तचेतसः । भटोराजवासयामासुः भटाः प्रत्याग्र्यधीरितैः^{२१} ॥२१॥

इकट्ठा हुआ अभिमान ही हो ॥१०॥ घुड़सवार लोग, जिनकी आगेकी धारका अग्रभाग बहुत तेज है ऐसी तलवारोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो उनके पराक्रम ही मूर्तिमान् होकर उनकी भुजाओंके अग्रभाग अर्थात् हाथोंमें आ लगे हों ॥११॥ जिनके तरकस अनेक प्रकारके बाणोंसे भरे हुए हैं ऐसे धनुर्धारी लोग इस प्रकार जान पड़ते थे मानो बड़ी बड़ी शाखावाले वनके वृक्ष कोटरोंमें रहनेवाले सर्पोंसे ही सुशोभित हो रहे हों ॥१२॥ जिन्होंने रथोंके समूहमें युद्ध के योग्य सब शस्त्र भर लिये हैं ऐसे रथोंपर बैठनेवाले योद्धा लोग इस प्रकार चल रहे थे मानो युद्धरूपी समुद्रको पार करनेके लिये नाव चलानेवाले खेवटिया ही हों ॥१३॥ जिन्होंने शिरपर टोप और शरीरपर कवच धारण किया है तथा हाथमें पैनी तलवार ऊँची उठा रखी है ऐसे कितने ही योद्धा लोग हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये उनके सामने चल रहे थे ॥१४॥ जिनके हाथोंमें शस्त्रोंके समूह चमक रहे हैं और जो लोहेके कवच पहने हुए हैं ऐसे कितने ही योद्धा ऐसे देदीप्यमान हो रहे थे मानो किसी उत्पातको सूचित करनेवाले उत्कासहित काले काले मेघ ही उठ रहे हों ॥१५॥ कोई अन्य योद्धा पैनी धरवाली तलवार हाथमें लेकर उसमें अपने मुखका रङ्ग देखता हुआ अपने पराक्रमका परिज्ञान प्राप्त कर रहा था ॥१६॥ कोई अन्य योद्धा हाथके अग्र भागपर रखी हुई तलवारको तोलता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वह उससे अपने स्वामीके आदर-सत्कारका गौरव ही तोलना चाहता हो ॥१७॥ पैदल सेना, हाथियोंके समूह, घुड़सवार और रथोंके समूह आदि सामग्रीके साथ साथ महामुकुटबद्ध राजाओंकी सेनाएँ भी चल रही थीं ॥१८॥ रत्नोंकी किरणोंसे जिनके मुकुट ऊँचे उठ रहे हैं ऐसे वे मुकुटबद्ध राजा इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो लीला सहित लोकपालोंके अंश ही पृथ्वीपर आ गये हों ॥१९॥ अनेक राजा लोग महाराज भरतको घेरकर चल रहे थे और दूरसे ही अपनी सेनाकी सामग्री यथायोग्यरूपसे दिखलाते जाते थे ॥२०॥ नवीन

१ निधितः । २ अश्वारोहाः । 'अश्वारोहस्तु सादिनः' इत्यभिधानात् । ३ इव । ४ प्रध्वेडनास्तु नाराचाः । ५ इपुथिः तूणीरः । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषड्गता इपुथिर्द्वयोः । तूण्यामित्यभिधानात् । सम्भूतेषुधयः ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । ६ समरसमुद्रोत्तरणार्थम् । ७ कर्णधाराः । 'कर्णधारस्तु नाविकः' इत्यभिधानात् । ८ हस्तिसूत्रम् । ९ कवच । १० पादरक्षार्थम् । ११ स्फुरन्ति स्म । १२ कवचिताः । 'सन्नद्धो वमितः सज्जो दंशितो व्यूढकण्टकः' इत्यभिधानात् । १३ उत्पातहेतवः । १४ स्वं शौर्यम् ल० । १५ वृत्रधे । १६ प्रमातुमिच्छुः । प्रतिमित्सु-द०, ल०, प०, इ०, अ०, स० । १७ खड्गेन सह । १८ वनानि । १९ पाथकरैः । २० केवललोकपाला इत्यर्थः । २१ निययुः । २२ नूतनरणाभसंश्रवणादुद्भ्रान्तचेतो यामां तास्ताः । २३ भटयोपितः । २४ विषयास्य । २५ धीरवचनैः ।

भूरेणवस्तदांबीयखुरोद्धूताः खलङ्घिनः^१ । क्षणविघ्नितसंप्रेक्षाः^२ प्रचक्रुरमराङ्गनाः ॥२२॥
 रजः^३सप्तमसे रुद्धविचक्रे व्योमलङ्घिनि । चक्रोद्योतो नृणां चक्रे नृशः स्वविषयोन्मुखीः ॥२३॥
 समुद्भटसरप्रायैः^४ भटालापर्महीश्वराः । प्रयाणके धृति प्रापुः जनजल्पैरपोद्वशः ॥२४॥
 रणभूमिं प्रसाध्यारात्^५ स्थितो बाहुबली नृपः । अयं च नृपशार्दूलः^६ प्रस्थितो नितिन्यन्त्रणः^७ ॥२५॥
 न विघ्नः किञ्च खल्वत्र स्याद् भ्रात्रोरनयोरिति । प्रायो न शान्तये युद्धम् एतयोरनुजोविनाम्^८ ॥२६॥
 निरूपकमिदं^९ युद्धम् आरब्धं भरतेशिता । ऐश्वर्यमददुर्वाराः स्वरिणः प्रभवोऽथवा^{१०} ॥२७॥
 इमे मकुटबद्धाः किं नैनौ वारयितुं क्षमाः । येऽमी समप्रसामप्रघा^{११} सङ्ग्रामयितुमागताः ॥२८॥
 ग्रहो महानुभावोऽयं कुमारो भुजविक्रमी । क्रुद्धं चक्रधरेऽप्येवं यो योद्धुं सम्मुखं स्थितः ॥२९॥
^{१२}अथवा तन्त्रभूयस्त्वं^{१३} न जयाङ्गं मनस्विनः । ननु सिंहो जयत्येकः संहितानपि^{१४} दन्तिनः ॥३०॥
 अयं च चक्रभृद् देवो नेष्टः सामान्यमानुषः । योऽभिरक्ष्यः सहस्रेण प्रणम्याणां सुधाभुजाम्^{१५} ॥३१॥
^{१६}तन्मा भूदनयोर्युद्धं जनसङ्क्षयकारणम् । कुर्वन्तु देवताः शान्तिं यदि सन्निहिता इमाः ॥३२॥
 इति माध्यस्थ्यवृत्त्यै^{१७} जनाः श्लाघ्यं वचो जगुः । पक्षपातहताः केचित् स्वपक्षोत्कर्षगुञ्जगुः ॥३३॥

युद्धका प्रारम्भ सुनकर जिनके चित्त व्याकुल हो रहे हैं ऐसी स्त्रियोंको वीर योद्धा बड़ी वीरता-
 के साथ समझाकर आश्वासन दे रहे थे ॥२१॥ उस समय घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई
 और आकाशको उल्लंघन करनेवाली पृथिवीकी धूल क्षण भरके लिये देवांगनाओंके देखनेमें
 भी बाधा कर रही थी ॥२२॥ समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले और आकाशको उल्लंघन
 करनेवाले उस धूलिसे उत्पन्न हुए अन्धकारमें चक्ररत्नका प्रकाश ही मनुष्योंके नेत्रोंको अपना
 अपना विषय ग्रहण करनेके सम्मुख कर रहा था ॥२३॥ राजा लोग रास्तेमें अत्यन्त उत्कट
 वीररससे भरे हुए योद्धाओंके परस्परके बातलापसे तथा इसी प्रकारके अन्य लोगोंकी बात-
 चीतसे ही उत्साहित हो रहे थे ॥२४॥ उधर राजा बाहुबली रणभूमिको दूरसे ही युद्धके योग्य
 बनाकर ठहरे हुए हैं और इधर राजाओंमें सिंहके समान तेजस्वी महाराज भरत भी यन्त्रणा-
 रहित (उच्छृङ्खल) होकर उनके सम्मुख जा रहे हैं ॥२५॥ नहीं मालूम इस युद्धमें इन दोनों
 भाइयोंका क्या होगा ? प्रायः कर इनका यह युद्ध सेवकोंकी शान्तिके लिये नहीं है । भावार्थ—
 इस युद्धमें सेवकोंका कल्याण दिखाई नहीं देता है ॥२६॥ भग्नैश्वर्यने यह युद्ध बहुत ही अयोग्य
 प्रारम्भ किया है सो ठीक ही है क्योंकि जो ऐश्वर्यके मदसे रोकें नहीं जा सकते ऐसे प्रभु लोग
 स्वेच्छाचारी ही होते हैं ॥२७॥ जो ये मकुटबद्ध राजा समस्त सामग्रीके साथ युद्ध करनेके
 लिये आये हुए हैं वे क्या इन दोनोंको नहीं रोक सकते हैं ? ॥२८॥ अहो, भुजाओंका परा-
 क्रम रखनेवाला यह कुमार बाहुबली भी महाप्रतापी है जो कि चक्रवर्तीके कुपित होनेपर भी
 इस प्रकार युद्धके लिये सम्मुख खड़ा हुआ है ॥२९॥ अथवा शूरवीर लोगोंको सामग्रीकी
 अधिकता विजयका कारण नहीं है क्योंकि एक ही सिंह भुण्डके भुण्ड हाथियोंको जीत लेता है
 ॥३०॥ नमस्कार करने हुए हजारों देव जिसकी रक्षा करते हैं ऐसा यह चक्रको धारण करने-
 वाला भरत भी साधारण पुरुष नहीं है ॥३१॥ इसलिये जो अनेक लोगोंके विनाशका कारण
 है ऐसा इन दोनोंका युद्ध नहीं हो तो अच्छा है, यदि देव लोग यहां समीपमें हों तो वे इस युद्धकी
 शान्ति करें ॥३२॥ इस प्रकार कितने ही लोग मध्यस्थ भावरो प्रशंगनीय वचन कह रहे थे

१ आकाशलङ्घिनः । २ आलोकनाः । ३ रजोऽश्वकारः । ४ वीररसबहुलः । ५ अलङ्कृतवा ।
 ६ समीपे । ७ नृपश्रेष्ठः भरत इत्यर्थः । ८ निरङ्कुशः । ९ भटानाम् । १० कण्ठम् । ११ —वो यतः ल० ।
 १२ युद्धं कारयितुम् । १३ तथाहि । १४ सेनाबाहुन्यम् । १५ संयुक्तान् । १६ देवानाम् । १७ तन्
 कारणात् । १८ अन्ये ।

एवं प्रायर्जनलापः महीनाया विनोदिताः । इत्वं प्रापुस्तमुद्देशं यत्र वीराग्रणीरसौ ॥३४॥
 दोर्दवं विगणय्यास्य दुर्विलङ्घ्यमरातिभिः । त्रेसुः प्रतिभटाः प्रायः तस्मिन्नासन्नसन्निधौ ॥३५॥
 इत्यभ्यर्णं बले जिष्णोः^१ बलं भुजबलीशिनः । जलमब्धेरिवाक्षुभ्यद् वीरध्वाननिरुद्धदिक् ॥३६॥
 अयोभयबले घोराः^२ सन्नद्धगजवाजयः^३ । बलान्पारचयामासुः अन्योऽन्यं प्रययुस्तसा^४ ॥३७॥
 तावच्च मन्त्रिणो मुख्यः सम्प्रधार्यावदञ्जितः । शान्तये नैनयोर्युद्धं^५ ग्रहयोः शूरयोरिव ॥३८॥
 चरमागन्धरावेतौ नानयोः काचन क्षतिः । क्षयो जनस्य पक्षस्य^६ व्याजेनानेन^७ जृम्भितः ॥३९॥
 इति निश्चित्य मन्त्रज्ञा भीत्वा भूयो जनक्षयात् । तयोरनुमतिं लब्ध्वा धर्म्यं रणमघोषयन् ॥४०॥
 अकारणरणेनालं जनसंहारकारिणा । महानेव^८ मधर्मश्च गरीयाश्च यक्षोवधः^९ ॥४१॥
 बलोत्कवंपरीक्षेयम् अन्यथाऽप्युपपद्यते^{१०} । तदस्तु युवयोरेव मिथो युद्धं त्रिधात्मकम् ॥४२॥
 भूभङ्गेन^{११} विना भङ्गः सोढव्यो युवयोरिह । विजयश्च विनोत्सेकात्^{१२} धर्मो ह्येष सनाभिषु ॥४३॥
 इत्युक्तौ पार्थिवैः सर्वैः सोपरोधश्च मन्त्रिभिः । तौ कृच्छ्रात् प्रत्यपत्तातां^{१३} तादृशं युद्धमुद्धतौ ॥४४॥

और कितने ही पक्षातसे प्रेरित होकर अपने ही पक्षकी प्रशंसा कर रहे थे ॥३३॥ प्रायः लोगोंके इसी प्रकारके वक्तव्योंसे मन बहलाते हुए राजा लोग जीष् ही उस स्थानपर जा पहुँचे जहाँ वीरशिरोमणि कुमार बाहुबली पहलेसे विराजमान था ॥३४॥ बाहुबलीके समीप पहुँचने ही भरतके योद्धा, जिसका शत्रु कभी उल्लंघन नहीं कर सकते ऐसा बाहुबलीकी भुजाओंका दर्प देखकर प्रायः कुछ डर गये ॥३५॥ इस प्रकार चक्रवर्ती भरतकी सेनाके समीप पहुँचनेपर वीरोंके शब्दोंसे दिशाओंको भरनेवाली बाहुबलीकी सेना समुद्रके जलके समान क्षोभको प्राप्त हुई ॥३६॥

अथानन्तर—दोनों ही सेनाओंमें जो शूरवीर लोग थे वे परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे आने हाथी घोड़े आदि सजाकर सेनाकी रचना करने लगे—अनेक प्रकारके व्यूह आदि बनाने लगे ॥३७॥ इतनेमें ही दोनों ओरके मुख्य मुख्य मंत्री विचार कर इस प्रकार कहने लगे कि कूरग्रहोंके समान इन दोनोंका युद्ध शान्तिके लिये नहीं है ॥३८॥ क्योंकि ये दोनों ही चरम शरीरी हैं, इनकी कुछ भी क्षति नहीं होगी, केवल इनके युद्धके बहानेसे दोनों ही पक्षके लोगोंका क्षय होगा ॥३९॥ इस प्रकार निश्चय कर तथा भारी मनुष्योंके संहारसे डरकर मंत्रियोंने दोनोंकी आज्ञा लेकर धर्मयुद्ध करनेकी घोषणा कर दी ॥४०॥ उन्होंने कहा कि मनुष्योंका संहार करनेवाले इस कारणहीन युद्धसे कोई लाभ नहीं है क्योंकि इसके करनेसे बड़ा भारी अधर्म होगा और यशका भी बहुत विघात होगा ॥४१॥ यह बलके उत्कर्षकी परीक्षा अन्य प्रकारसे भी हो सकती है इसलिये तुम दोनोंका ही परस्पर तीन प्रकारका युद्ध हो ॥४२॥ इस युद्धमें जो पराजय हो वह तुम दोनोंको भीहके चढ़ाये बिना ही—सरलतासे सहन कर लेना चाहिये तथा जो विजय हो वह भी अहंकारके बिना तुम दोनोंको सहन करना चाहिये क्योंकि भाई भाइयोंका यही धर्म है ॥४३॥ इस प्रकार जब समस्त राजाओं और मंत्रियोंने बड़े आग्रहके साथ कहा तब कहीं नहीं भङ्गी कठिन्तासे उद्धत हुए उन दोनों भाइयोंने वैसा युद्ध करना स्वीकार

१ एवमाद्यैः । २ प्राप्ता ल०, प०, द० । ३ भुजबली स्थितः । ४ विचार्य । ५ बाहुबलिनि । ६ अत्यासन्ने सति । ७ भरतस्य । ८ वीराः ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । ९ वाजिनः अ०, स०, द० । १० प्रकर्षेण योद्धुमिच्छया । ११ नावयो— ल० । १२ सहायस्य । १३ युद्धच्छलेन । १४ एवं सति । युद्धे सतीत्यर्थः । १५ कीर्तिनाशः । १६ घटते इत्यर्थः । १७ तत् कारणात् । १८ क्रोधाभावेनेत्यर्थः । १९ गर्वाभावावित्यर्थः । २० अनुमेनाते ।

जलदृष्टिनिमुद्धेषु^१ योऽनयोर्जयमाप्स्यति । स जयश्रीविलासिन्याः पतिरस्तु स्वयंवृतः ॥४५॥
 इत्युद्धोष्य कृतानन्दम् श्रानन्दिन्या गभीरया । भेयां चमूपधानानां न्यधुरेकत्र सन्निधिम् ॥४६॥
 नृपा भरतगृह्या ये तानेकत्र न्यवेशयन् । ये बाहुबलिगृह्याश्च पार्थिवांस्तानतोऽन्यतः ॥४७॥
 मध्ये महीभूतां तेषां रेजनुस्तौ नृपौ स्थितौ । गतौ निषधनीलाद्रौ कुतश्चिदिव^३ सन्निधिम् ॥४८॥
 'तयोर्भुजबली रेजे गरुडप्रावसच्छविः । जम्बूद्वीप इवोत्तुङ्गः सभृङ्गोऽक्षित^४मूर्द्धजः ॥४९॥
 रराज राजराजोऽपि तिरीटोदग्रविग्रहः । सचूलिक इवाद्भीष्टः तप्तचामीकरच्छविः ॥५०॥
 वधद्वीरतरां दृष्टिं निनिमेषामनुद्भटाम्^५ । दृष्टियुद्धे जयं प्राप प्रसभं^६ भुजविक्रमी ॥५१॥
 विनिवार्य कृतक्षोभम् अनिवार्यं बलार्णवम् । मर्यादया यवीयांसं जयेतायो जयभूषाः ॥५२॥
 सरसीजलमागाढौ^७ जलयुद्धे मदोद्धतौ । दिग्गजाविव तौ दीर्घः व्यात्यु^८क्षीमासतुर्भुजैः ॥५३॥
 अधिवक्षस्तरे जिष्णो रेजुरच्छा जलच्छटाः । शूलभर्तुरिवोत्सङ्गसङ्गिग्न्यः^९ स्तुतयोम्भसाम् ॥५४॥
 जलोद्यो भरतेशेन मुक्तो दीर्बलशालिनः । प्रांशोरप्राप्य दूरेण मुखमारात् समापतत् ॥५५॥

किया ॥४४॥ 'इन दोनोंके बीच जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और बाहु युद्धमें जो विजय प्राप्त करेगा वही विजय-लक्ष्मीका स्वयं स्वीकार किया हुआ पति हो, इस प्रकार सबको आनन्द देनेवाली गंभीर भरियोंके द्वारा जिसमें सबको हर्ष हो इस रीतिसे घोषणा कर मंत्री लोगोंने सेनाके मुख्य मुख्य पुरुषोंको एक जगह इकट्ठा किया ॥४५-४६॥ जो भरतके पक्षवाले राजा थे उन्हें एक ओर बैठाया और जो बाहुबलीके पक्षके थे उन्हें दूसरी ओर बैठाया ॥४७॥ उन सब राजाओंके बीचमें बैठे हुए भरत और बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी कारणसे निषध और नीलपर्वत ही पास पास आ गये हों ॥४८॥ उन दोनोंमें नीलमणिके समान सुन्दर छविको धारण करता हुआ और काले काले केशोंसे सुशोभित कुमार बाहुबली ऐसा जान पड़ता था मानो भूमरोंसे सहित ऊँचा जम्बूवृक्ष ही हो ॥४९॥ इसी प्रकार मुकुटसे जिसका शरीर ऊँचा हो रहा है और जो तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाला है ऐसा राज-राजेश्वर भरत भी इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो चूलिकासहित गिरिराज-सुमेरु ही हो ॥५०॥ अत्यन्त धीर तथा पलकोंके संचारसे रहित शान्त दृष्टिको धारण करते हुए कुमार बाहुबलीने दृष्टियुद्धमें बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर ली ॥५१॥ हर्षसे क्षोभ मचाते हुए बाहुबलीके दुर्निवार सेनारूपी समुद्रको रोककर राजाओंने बड़ी मर्यादाके साथ कुमार बाहुबलीको विजयसे युक्त किया अर्थात् दृष्टियुद्धमें उनकी विजय स्वीकार की ॥५२॥ तदनन्तर मदोन्मत्त दिग्गजोंके समान अभिमानसे उद्धत हुए वे दोनों भाई जलयुद्ध करनेके लिये सरोवरके जलमें प्रविष्ट हुए और अपनी लम्बी लम्बी भुजाओंसे एक दूसरेपर पानी उछालने लगे ॥५३॥ चक्रवर्ती भरतके वक्षःस्थलपर बाहुबलीके द्वारा छोड़ी हुई जलकी उज्ज्वल छटाएं ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो सुमेरुपर्वतके मध्यभागमें जलका प्रवाह ही पड़ रहा हो ॥५४॥ भरतेश्वरके द्वारा छोड़ा हुआ जलका प्रवाह अत्यन्त ऊँचे बाहुबलीके मुख-को दूर छोड़कर दूरसे ही नीचे जा पड़ा ॥ भावार्थ—भरतेश्वरने भी बाहुबलीके ऊपर पानी फेंका था परन्तु बाहुबलीके ऊँचे होनेके कारण वह पानी उनके मुखतक नहीं पहुँच सका, दूरसे ही नीचे जा पड़ा । भरतका शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा था और बाहुबलीका पाँचसौ पञ्चीस

१ जलयुद्धदृष्टियुद्धबाहुयुद्धेषु । 'निमुद्धं बाहुयुद्धे' इत्यभिधानात् । २ चक्रुः । ३ कारणात् । ४ सम्मेलनमित्यर्थः । ५ तयोर्मध्ये । ६ नीलकेशः । 'क्षितः कृष्णे क्षिते भूर्जे' इति विश्वतोन्नतः । ७ शान्ताम् । ८ शीघ्रम् । ९ अनुजम् । 'जघ्नन्यजे स्युः कनिष्ठयवीयोऽवरजानुजाः' इत्यभिधानात् । १० प्रविष्टौ । ११ परस्परं जलमेचनं चक्रतुः । १२ प्रवाहाः । १३ उन्नतग्न्यः ।

भरतेशः किलात्रापि न यदाप जयं तदा । बलैर्भुजबलीशस्य भूयोऽयुद्धोषितो जयः ॥५६॥

नियुद्धमय^१ सङ्गीर्य^२ नृसिंहो सिंहविक्रमो । धीरावाचिष्कृतस्पृहो^३ तो रङ्गमवतेरनु^४ ॥५७॥

वल्गितास्फोटितश्चित्रैः^५ 'करणबन्ध'पोलितैः । दोर्ध्वंशालिनोरासीद् बाहुयुद्धं तयोर्बहुत् ॥५८॥

ज्वलन्मुकुटभाचक्रो हेलयोद्भामितोऽमुना । लीलामलातचक्रस्य^६ चक्री भेजे क्षणं भूमन् ॥५९॥

यवोयान्^७ नृपशार्दूलं ज्यायांसं^८ जितशरतम् । जित्वाऽपि नानयद् भूमिं प्रभुरित्येव गौरवात् ॥६०॥

भुजोपरोधमुद्धृत्य स तं धत्ते स्म दोर्बली । हिमाद्रिभिव नीलाद्रिः महाकटकभास्वरम् ॥६१॥

तदा कलकलश्चक्रे पथ्यैर्भुजबली शिखः । नृपैर्भरतगृह्यैस्तु सञ्जया नमितं शिरः ॥६२॥

समक्षमोक्षमाणेषु पार्थिवेषु भवेष्वपि । परां विमानतां^९ प्राप्य ययौ चक्री विलक्षताम्^{१०} ॥६३॥

बद्धभुक्तुष्टिद्भान्तहधिराहणलोचनः । क्षणं दुरीक्षतां भेजे चक्री प्रज्वलितः क्रुधा ॥६४॥

क्रोधान्धेन तदा दध्ये कर्तुमस्य पराजयम् । चक्रमुत्कृत्तनिः^{११} शेषद्विषच्चक्रं निधीशिता ॥६५॥

प्राध्यान्तमात्रमेत्याराद अदः^{१२} कृत्वा प्रदक्षिणाम् । अवध्यस्यास्य^{१३} पर्यन्तं^{१४} तस्थौ मन्दीकृतातपम् ॥६६॥

धनुष । इसलिये बाहुबलीके द्वारा छोड़ा हुआ पानी भरतके मुख तथा वक्षःस्थलपर पड़ता था परन्तु भरतके द्वारा छोड़ा हुआ पानी बीचमें ही रह जाता था—बाहुबलीके मुखतक नहीं पहुँच पाता था ॥५५॥ इस प्रकार जब भरतेश्वरने इस जलयुद्धमें भी विजय प्राप्त नहीं की तब बाहुबलीकी सेनाओंने फिरसे अपनी विजयकी घोषणा कर दी ॥५६॥ अथानन्तर सिंहके समान पराक्रमको धारण करनेवाले धीरवीर तथा परस्पर स्पर्धा करनेवाले वे दोनों नरशार्दूल—श्रेष्ठ पुरुष बाहुयुद्धकी प्रतिज्ञा कर रंगभूमिमें आ उतरे ॥५७॥ अपनी अपनी भुजाओंके अहंकारसे सुशोभित उन दोनों भाइयोंका, अनेक प्रकारसे हाथ हिलाने, ताल ठोकने, पैतरा बदलने और भुजाओंके व्यायाम आदिसे बड़ा भारी बाहु युद्ध (मल्ल युद्ध) हुआ ॥५८॥ जिसके मुकुटकी दीप्तिका समूह अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसे भरतको बाहुबलीने लीला मात्रमें ही घुमा दिया और उस समय घूमते हुए चक्रवर्तिने क्षण भरके लिये अलातचक्रकी लीला धारण की थी ॥५९॥ बाहुबलीने राजाओंमें श्रेष्ठ, बड़े तथा भरत क्षेत्रको जीतनेवाले भरतको जीतकर भी 'ये बड़े हैं' इसी गौरवसे उन्हें पृथिवीपर नहीं पटका ॥६०॥ किन्तु भुजाओंसे पकड़कर ऊँचा उठाकर कन्धेपर धारण कर लिया । उस समय भरतेश्वरको कन्धेपर धारण करते हुए बाहुबली ऐसे जान पड़ते थे मानो नील गिरिने बड़े बड़े शिखरोंसे देदीप्यमान हिमवान् पर्वतको ही धारण कर रक्खा हो ॥६१॥ उस समय बाहुबलीके पक्षवाले राजाओंने बड़ा कोलाहल मचाया और भरतके पक्षके लोगोंने लज्जासे अपना शिर झुका लिया ॥६२॥ दोनों पक्षके राजाओंके साक्षात् देखते हुए चक्रवर्ती भरतका अत्यन्त अपमान हुआ था इसलिये वे भारी लज्जा और आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥६३॥ जिसने भीहें चढ़ा ली हैं, जिसकी रक्तके समान लाल लाल आँखें डूबर उधर फिर रही हैं और जो क्रोधसे जल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती क्षण भरके लिये भी दुर्निरीक्ष्य हो गया अर्थात् वह क्रोधसे ऐसा जलने लगा कि उसे कोई क्षणभर नहीं देख सकता था ॥६४॥ उस समय क्रोधसे अन्धे हुए निधियोंके स्वामी भरतने बाहुबलीका पराजय करनेके लिये समस्त बाहुओंके समूहको उखाड़कर फेंकनेवाले चक्ररत्नका स्मरण किया ॥६५॥ स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरतके समीप आया, भरतने बाहुबलीपर चलाया

१ बाहुयुद्धम् । २ प्रतिज्ञां कृत्वा । ३ प्रविष्टावित्यर्थः । ४ बलग्नभुजास्फालनः । वलिता—प०, द० ।

५ पदवारिभिः । ६ बाहुबन्ध । ७ काण्डाग्निभ्रमणस्य । ८ अनुजः । ९ ज्येष्ठम् । १० बाहुपीडनं यथा भवति तथा । ११ परिभवम् । १२ विस्मयान्वितम् । १३ उच्छिन्नः ।—मुक्षिप्त—ल०, द० । १४ स्मृतः । १५ पतच्चक्रम् । १६ भुजवनिनः । १७ समीपे ।

कृतं कृतं बतानेन साहसेनेति धिक्कृतः । तदा महत्तमेश्वक्री जगामानुशयं परम् ॥६७॥

(कृतापदान इत्युच्चैः करेण तुलयन्मूपम् । सोऽवतीर्यासतो धीरोऽनिकृष्टां भूमिमापिपत् ॥६८॥

सत्कृतः स जयाशंसम् अभ्येत्य नृपसत्तमैः । मेने सोत्कर्षमात्मानं तदा भुजबली प्रभुः ॥६९॥

अचिन्तयच्च किन्नाम कृते राज्यस्य भङ्गिनः । लज्जाकरो विधिर्भात्रा ज्येष्ठेनायमतुष्टितः ॥७०॥

विपाककटुसाम्राज्यं क्षणध्वंसि धिगस्त्वदम् । दुस्त्यजं त्यजदप्येतद् अङ्गिभिर्दुष्कलत्रवत् ॥७१॥

अहो विषयसौख्यानां वैरूप्यम् पकारिता । भङ्गगुरत्वमश्च्यत्यं सवर्तेनान्विष्यते जनैः ॥७२॥

को नाम मतिमानोप्सेद् विषयान् वेषदारुणान् । येषां वशगतो जन्तुः यात्यनर्थपरम्पराम् ॥७३॥

वरं विषं यदेकस्मिन् भवे हन्ति न हन्ति वा । विषयास्तु पुनर्धनन्ति हन्त जन्तूननन्तशः ॥७४॥

आपातमात्रं रम्पाणां विपाककटुकात्मनाम् । विषयाणां कृते नाज्ञो यात्यनर्थनिपार्थकम् ॥७५॥

परन्तु उनके अवध्य होनेसे वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजरहित हो उन्हींके पास जा ठहरा । भावार्थ—देवोपनीत शस्त्र कुटुम्बके लोगोंपर सफल नहीं होते, बाहुबली भरतेश्वरके एक पितृक भाई थे इसलिये भरतका चक्र बाहुबलीपर सफल नहीं हो सका, उसका तेज फीका पड़ गया और वह प्रदक्षिणा देकर बाहुबलीके समीप ही ठहर गया ॥६६॥ उस समय बड़े बड़े राजाओं-ने चक्रवर्तीको धिक्कार दिया और दुःखके साथ कहा कि 'बस बस' 'यह साहम रहने दो'—बन्द करो, यह सुनकर चक्रवर्ती और भी अधिक संतापको प्राप्त हुए ॥६७॥ आपने खूब पराक्रम दिखाया, इस प्रकार उच्च स्वरसे कहकर धीर वीर बाहुबलीने पहले तो भरतराजको हाथोंसे तोला और फिर कन्धेसे उतारकर नीचे जमीनपर रख दिया अथवा (धीरो अनिकृष्टां ऐसा पदच्छेद करनेपर) उच्च स्थानपर विराजमान किया ॥६८॥ अनेक अच्छे अच्छे राजाओंने समीप आकर महाराज बाहुबलीके विजयकी प्रशंसा करते हुए उनका सत्कार किया और बाहुबलीने भी उस समय अपने आपको उत्कृष्ट अनुभव किया ॥६९॥ साथ ही साथ वे यह भी चिन्तन करते लगे कि देखो, हमारे बड़े भाई ने इस नश्वर राज्यके लिये यह कैसा लज्जा-जनक कार्य किया है ॥७०॥ यह साम्राज्य फलकालमें बहुत दुख देनेवाला है, और क्षणभंगुर है इसलिये इसे धिक्कार हो, यह व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चली जाती है उसी प्रकार यह साम्राज्य भी एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चला जाता है । यह राज्य प्राणियोंको छोड़ देता है परन्तु अविवेकी प्राणी इसे नहीं छोड़ते यह दुःखकी बात है ॥७१॥ अहा, विषयोंमें आसक्त हुए पुरुष, इन विषयजनित सुखोंका निन्द्यपना, अपकार, क्षणभंगुरता और नीरस-पनेको कभी नहीं सोचते हैं ॥७२॥ जिनके वशमें पड़े हुए प्राणी अनेक दुःखोंकी परम्पराको प्राप्त होते हैं ऐसे विषके समान भयंकर विषयोंको कौन बुद्धिमान् पुरुष प्राप्त करना चाहेगा ? ॥७३॥ विष खा लेना कहीं अच्छा है क्योंकि वह एक ही भवमें प्राणीको मारता है अथवा नहीं भी मारता है परन्तु विषय सेवन करना अच्छा नहीं है क्योंकि ये विषय प्राणियोंको अनन्तवार फिर फिरसे मारते हैं ॥७४॥ जो प्रारम्भ कालमें तो मनोहर मालूम होते हैं परन्तु फलकाल-

१ अलमलम् । २ पश्चात्तापम् । ३ कृतपराक्रमस्त्वमिति । कृतोपादान-अ०, ल० । ४ भुजविश्रान्त । 'स्कन्धो भुजशिरोऽसौऽस्त्री' इत्यभिधानात् । -तीर्यासतो-ल० । ५ अवस्थाम् । ६-मापयत प०, ल० । ७ निमित्तम् । ८ विनश्वरस्य । ९-मधिष्ठितः प०, ल० । १० परिणमत । ११ कुटुम्बत्वम् । १२ विनश्वरत्वम् । १३ आसक्तैः । १४ न मृष्यते । न विचार्यत इत्यर्थः । १५ अनुभवनकाल । १६ निमित्तम् । १७ पुमान् ।

अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिणः । किम्पाकपाकविषमान् विषयान् कः कृती भजेत् ॥७६॥
 शस्त्रप्रहारबीप्ताग्निवज्राग्निमहोरगाः । न तथोद्वेजकाः पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः ॥७७॥
 महाब्धिरौद्रसङ्ग्रामभोमारण्यसरिर्दगिरीन् । भोगार्थिनो भजत्यज्ञा धनलाभधनायया ॥७८॥
 दीर्घदीर्घानिर्घातनिर्घातनिर्घोषविषमोक्रुते । यादसां यादसांपत्यौ चरन्ति विषयार्थिनः ॥७९॥
 समापतच्छरवातनिरुद्धगगनाङ्गणम् । रणाङ्गणं विशन्त्यस्तभियो भोगेविलोभिताः ॥८०॥
 चरन्ति वनमानुष्या यत्र सत्रासलोचनाः । ताः पर्यटन्त्यरण्यानीः भोगाशोपहृता जडाः ॥८१॥
 सरितो विषमावर्तभीषणा ग्राहसङ्कुलाः । तितीर्वन्ति बताविष्टा विषमेविषयग्रहेः ॥८२॥
 आरोहन्ति दुरारोहान् गिरीनप्यभियोऽङ्गिनः । रसायनरसज्ञानबलवादविमोहिताः ॥८३॥
 अनिष्टवन्तिवेपथुम् आलिङ्गति बलाज्जरा । कुर्वती पलितव्याजाद् रभसेन कचग्रहम् ॥८४॥
 भोगेष्वस्तुसुकः प्रायो न च वेदः हितहितम् । भुक्तस्य जरसा जन्तोः मृतस्य च किमन्तरम् ॥८५॥
 प्रसह्य पातयन् भूमौ गात्रेषु कुतवेपथुः । जरापातो नृणां कष्टो ज्वरः शीत इवोद्भवन् ॥८६॥

में कड़वे (दुःख देनेवाले) जान पड़ते हैं ऐसे विषयोंके लिये यह अज्ञ प्राणी क्या व्यर्थ ही अनेक दुःखोंको प्राप्त नहीं होता है ? ॥७५॥ जो प्रारम्भकालमें तो अत्यन्त आनन्द देनेवाले हैं और अन्तमें प्राणोंका अपहरण करते हैं ऐसे किपाक फल (विषफल) के समान विषम इन विषयों को कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा ? ॥७६॥ ये विषयरूपी शत्रु प्राणियोंको जैसा उद्वेग करते हैं वैसा उद्वेग शस्त्रोंका प्रहार, प्रज्वलित अग्नि, वज्र, बिजली और बड़े बड़े सर्प भी नहीं कर सकते हैं ॥७७॥ भोगोंकी इच्छा करनेवाले मूर्ख पुरुष धन पानेकी इच्छासे बड़े बड़े समुद्र, प्रचण्ड युद्ध, भयंकर वन, नदी और पर्वतोंमें प्रवेश करते हैं ॥७८॥ विषयोंकी चाह रखनेवाले पुरुष जलचर जीवोंकी लम्बी लम्बी भुजाओंके आघातसे उत्पन्न हुए वज्रपात जैसे कठोर शब्दोंसे क्षुब्ध हुए समुद्रमें भी जाकर संचार करते हैं ॥७९॥ भोगोंसे लुभाये हुए पुरुष, चारों ओरसे पड़ते हुए वाणोंके समूहसे जहां आकाशरूपी आंगन भर गया है ऐसे युद्धके मैदानमें भी निर्भय होकर प्रवेश कर जाते हैं ॥८०॥ जिनमें वनचर लोग भी भय सहित नेत्रोंसे संचार करते हैं ऐसे भयंकर बड़े-बड़े वनोंमें भी भोगोंकी आशासे पीड़ित हुए मूर्ख मनुष्य घूमा करते हैं ॥८१॥ कितने दुःखकी बात है कि विषयरूपी विषम ग्रहोंसे जकड़े हुए कितने ही लोग, ऊंची-नीची भँवरोंसे भयंकर और मगरमच्छोंसे भरी हुई नदियोंको भी पार करना चाहते हैं ॥८२॥ रसायन तथा रस आदिके ज्ञानका उपदेश देनेवाले धूर्तोंके द्वारा मोहित होकर उद्योग करनेवाले कितने ही पुरुष कठिनाईसे चढ़ने योग्य पर्वतोंपर भी चढ़ जाते हैं ॥८३॥ यह जरा सफेद बालोंके बहानेसे वेगपूर्वक केशोंको पकड़ती हुई अनिष्ट स्त्रीके समान जबर्दस्ती आलिङ्गन करती है ॥८४॥ जो प्राणी भोगोंमें अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है वह हित और अहितको नहीं जानता तथा जिसे वृद्धावस्थाने घेर लिया है उसमें और मरे हुएमें क्या अन्तर है ? अर्थात् बेकार होनेसे वृद्ध मनुष्य भी मरे हुएके समान है ॥८५॥ यह बुढ़ापा मनुष्यको शीतज्वरके समान अनेक कष्ट देनेवाला है क्योंकि जिस प्रकार शीतज्वर उत्पन्न होते ही जबर्दस्ती जमीन-

१ अम्बीरपक्वफल । २ वज्ररूपाग्नि । ३ भयङ्कराः । ४ धनलाभवाञ्छया । ५ अग्नि । ६ जलजन्तूनाम् । 'यादसां जलजन्तवः' इत्यभिधानात् । यादसां पत्यौ समुद्रे । 'रत्नाकरो जलनिधिर्याद-पतिरपां पतिः' इत्यभिधानात् । ७ वनेचराः । ८ भयसहिताः । ९ तरीतुमिच्छन्ति । १० प्रस्ता इत्यर्थः । ११-प्यभियोगिनः ल०, प०, अ०, इ० । १२ पलितस्तम्भीषथसिद्धरसज्ञानाज्जातबलवादान्मोहिताः । १३ भोक्तुं योग्यवस्तुषु । १४ न जानाति । १५ भेदः । १६ बलात्कारेण । १७ कम्पः । १८ प्राप्तिः ।

अङ्गसाद^१ मतिभे^२ वाचामस्फुटतामपि । जरा सुरा च निविष्टा^३ घटयत्याशु देहिताम् ॥८७॥
 कालव्यालजवेदेमायुरालानकं बलात् । चात्यते यद्बलाधानं जीवितालम्बनं नृणाम् ॥८८॥
 शरीरबलमेतच्च गजकर्णवद्वियम् । रोगा^४ खूपहतं चेदं जरद्देहकुटीरकम् ॥८९॥
 इत्यशाद्वतमप्येतच्च राज्यादि भरतेश्वरः । शाद्वतं मन्यते कष्टं मोहोपहतचेतनः ॥९०॥
 चिरमाकलयन्नेवम् अग्रजस्यानुदात्तताम्^५ । व्याजहारेनमुद्दिश्य गिरः प्रपक्षाक्षराः ॥९१॥
 शृणु भो नृपशार्दूल क्षणं^६ बलक्षयमुत्सृज । मुह्यतेदं^७ त्वयाऽलम्बि दुरीहमतिताहसम् ॥९२॥
 अभ्येधे मम देहाद्री त्वया चक्रं नियोजितम् । विद्वच्चकिञ्चित्करं^८ वाजं जले वज्रमिवापतत् ॥९३॥
 अन्यत्र भ्रातृभाण्डानि भङ्क्त्वा राज्यं यदीप्सितम् । त्वया धर्मो यशश्चैव^९ तेन^{१०} पेशलमजितम् ॥९४॥
 चक्रभृद्भरतः खटुः सूनुः आशस्य योऽग्रणीः । कुलस्योद्धारकः सोऽभूद्विती^{११} डाऽश्वापि च त्वया ॥९५॥
 जितां च भवतैवाद्य^{१२} यस्यापोपहतामिनाम् । सन्धसेजन्यभोगीनां^{१३} नृपश्रियमनश्चरीम् ॥९६॥
 प्रेषसीयं तवैवास्तु राज्यश्रीयां त्वयाऽदृता । नोचितैषा ममायुष्मन् बन्धो^{१४} न हि सतां मुदे ॥९७॥

पर पटक देता है उसी प्रकार बुढ़ापा भी जवर्दस्ती जमीनपर पटक देता है और जिस प्रकार शीतज्वर शरीरमें कम्पन पैदा कर देता है उसी प्रकार बुढ़ापा भी शरीरमें कम्पन पैदा कर देता है ॥८६॥ शरीरमें प्रविष्ट हुई तथा उपभोगमें आई हुई जरा और मदिरा दोनों ही लोगों-के शरीरको शिथिल कर देती हैं, उनकी बुद्धि भुष्ट कर देती हैं और वचनोंमें अस्पष्टता ला देती हैं ॥८७॥ जिसके बलका सहारा मनुष्योंके जीवनका आलम्बन है ऐसा यह आयुष्यपी खंभा कालरूपी दुष्ट हाथीके द्वारा जवर्दस्ती उखाड़ दिया जाता है ॥८८॥ यह शरीरका बल हाथीके कानके समान चंचल है और यह जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी भोंपड़ा रोगरूपी चूहोंके द्वारा नष्ट किया हुआ है ॥८९॥ इस प्रकार यह राज्यादि सब विनश्वर हैं फिर भी मोहके उदयसे जिसकी चेतना नष्ट हो गई है ऐसा भरत इन्हें नित्य मानता है यह कितने दुःखकी बात है ? ॥९०॥ इस प्रकार बड़े भाईकी नीचताका चिरकाल तक विचार करते हुए बाहुबली-ने भरतको उद्देश्य कर नीचे लिखे अनुसार कठोर अक्षरोंवाली वाणी कही ॥९१॥ हे राजाओं-में श्रेष्ठ, क्षणभरके लिये अपनी लज्जा या भोग छोड़, मैं कहता हूँ सो गुन । तूने मोहित होकर ही इस न करने योग्य बड़े भारी साहसका सहारा लिया है ॥९२॥ जो कभी भिद नहीं सकता । ऐसे मेरे शरीररूपी पर्वतपर तूने चक्र चलाया है सो तेरा यह चक्र वज्रके बने हुए पर्वतपर पड़ते हुए वज्रके समान व्यर्थ है ऐसा निश्चयसे समझ ॥९३॥ दूसरी बात यह है कि जो तूने भाइयोंकी सामग्री नष्ट कर राज्य प्राप्त करना चाहा है सो उसी तूने बहुत ही अच्छा धर्म और यशका उपार्जन किया है ॥९४॥ तूने अपनी यह स्तुति भी स्थापित कर दी कि चक्रवर्ती भरत आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवका ज्येष्ठ पुत्र था तथा वह अपने कुलका उद्धारक हुआ था ॥९५॥ हे भरत, आज तूने जिसे जीता है और जो पापसे भरी हुई है ऐसी इस राज्य-लक्ष्मीको तू एक अपने ही द्वारा उपभोग करने योग्य तथा अविनाशी ममभूता है ॥९६॥ जिसका तूने आदर किया है ऐसी यह राज्यलक्ष्मी अब तुझे दूरी प्रिय रहे, हे आयुष्मन्, अब यह मेरे योग्य नहीं है क्योंकि बन्धन सज्जन पुरुषोंके आनन्दके लिये नहीं होता है । भावार्थ—यह लक्ष्मी स्वयं एक प्रकारका बन्धन है अथवा कर्म बन्धका कारण है इसलिये सज्जन पुरुष इसे

१ श्रमम् । २ भ्रंशम् । ३ अनुभूतः । ४ मूषिकः । ५ जीर्णः । ६ निष्कृष्टताम् । ७ विस्मया-
 निवात्वम् । ८ मुह्यतीति मुह्यन् तेन । ९ न किञ्चित्कृतः । किमपि कर्तुमसमर्थं इत्यर्थः । १० राज्या-
 भिलाषेण । ११ प्रशस्तम् । १२ स्तुतिः । १३ यस्मात् कारणात् । १४ अनन्यगोपायिताम् ।
 १५ बन्धकारणपरिग्रहः ।

दूषितां कटकैरेतां फलिनीमपि ते श्रियम् । करेणापि स्पृशेद् धीमान् लतां कण्टकिनीं च कः ॥६८॥
 विषकण्टकजालीष त्याज्येषा सर्वथाऽपि नः । निष्कण्टकां तपोलक्ष्मीं स्वाधेनां कर्तुमिच्छताम् ॥६९॥
 मूष्यतां च तदस्माभिः कृतमागो यदीदृशम् । प्रच्युतो विनयात् सोऽहं स्वं चापलमदीदृशम् ॥१००॥
 इत्युच्चरद् गिरामोषो^१ मुखाद् बाहुबलीशितुः । ध्वनिरब्दादिवाऽस्तप्तं^२ जिष्णोराह्णाद्यग्नमनः ॥१०१॥
 हा दुष्ट^३ कृतमित्युक्चं आत्मानं स विगर्हयन् । अन्वयातप्त पापेन कर्मणा स्वेन चक्राद् ॥१०२॥
 प्रयुक्तानुनयं भूयो मनुमन्त्यं स धीरयन् । न्यवृत्तस्य स्वसङ्कल्पाद्^४ अहो स्थैर्यं मनस्विनाम् ॥१०३॥
 महाबलिनि निक्षिप्तराज्याद्विः स स्वतन्वने । दीक्षामुपादधे जैनीं गुरोराराधयन् पदम् ॥१०४॥
 दीक्षावल्या परित्वक्तः^५ त्यक्तशेषपरिच्छदः । स रजे सलतः^६ पञ्चमोक्षक्षामं^७ इव द्रुमः ॥१०५॥
 गुरोरनुमतेऽधीती^८ दधदेकविहारिताम् । प्रतिमायोगमावर्षम्^९ आतस्ये किल संवृतः^{१०} ॥१०६॥
 स^{११} शंसितव्रतोऽनाद्वान्^{१२} वनवल्लीततान्तिकः । वल्मीकरन्ध्रनिःसर्पत् सर्परासीद् भयानकः^{१३} ॥१०७॥
 श्वसदाविभवंद्भोगं^{१४} भुजङ्गशिशुजम्भितः । विषाङ्कुरैरिषोपाङ्गि^{१५} स रजे वेष्टितोऽभितः ॥१०८॥

कभी नहीं चाहते ॥९७॥ यद्यपि यह तेरी लक्ष्मी फलवती है तथापि अनेक प्रकारके कांटोंसे-
 विपत्तियोंसे दूषित है । भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो कांटेवाली लताको हाथसे
 छुएगा भी ॥९८॥ अब हम कंटक रहित तपरूपी लक्ष्मीको अपने आधीन करना चाहते हैं
 इसलिये यह राज्यलक्ष्मी हम लोगोंके लिये विषके कांटोंकी श्रेणीके समान सर्वथा त्याज्य
 है ॥९९॥ अतएव जो मैंने यह ऐसा अपराध किया है उसे क्षमा कर दीजिये । मैं विनयसे
 च्युत हो गया था अर्थात् मैंने आपकी विनय नहीं की सो इसे मैं अपनी चंचलता ही समझता
 हूँ ॥१००॥ जिस प्रकार मेघसे निकलती हुई गर्जना संतप्त मनुष्योंको आनन्दित कर देती
 है उसी प्रकार महाराज बाहुबलीके मुखसे निकलते हुए वाणीके समूहने चक्रवर्ती भरतके संतप्त
 मनको कुछ-कुछ आनन्दित कर दिया था ॥१०१॥ 'हा मैंने बहुत ही दुष्टताका कार्य किया है'
 इस प्रकार जोर जोरसे अपनी निन्दा करता हुआ चक्रवर्ती अपने पाप कर्मसे बहुत ही संतप्त
 हुआ ॥१०२॥ जिसमें अनेक प्रकारके अनुनय विनयका प्रयोग किया गया है इस रीतिसे
 अन्तिम कुलकर महाराज भरतको बार-बार प्रसन्न करता हुआ बाहुबली अपने संकल्पसे पीछे
 नहीं हटा सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुषोंकी स्थिरता भी आश्चर्यजनक होती है ॥१०३॥
 उसने आने पुत्र महाबलीको राज्यलक्ष्मी सौंन दी और स्वयं गुरुदेवके चरणोंकी आराधना करते
 हुए जैनी दीक्षा धारण कर ली ॥१०४॥ जिसने समस्त परिग्रह छोड़ दिया है तथा जो दीक्षा
 रूपी लतासे आलिङ्गित हो रहा है ऐसा वह बाहुबली उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो
 पत्तोंके गिर जानेसे कुश लतायुक्त कोई वृक्ष ही हो ॥१०५॥ गुरुकी आज्ञामें रहकर शास्त्रों
 का अध्ययन करनेमें कुशल तथा एक विहारीपन धारण करनेवाले जितेन्द्रिय बाहुबलीने एक
 वर्षतक प्रतिमा योग धारण किया अर्थात् एक ही जगह एक ही आसनसे खड़े रहनेका नियम
 लिया ॥१०६॥ जिन्होंने प्रशंसनीय व्रत धारण किये हैं, जो कभी भोजन नहीं करते, और
 जिनके समीपका प्रदेश वनकी लताओंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे वे बाहुबली वामीके छिद्रोंसे
 निकलते हुए सर्पोंसे बहुत ही भयानक हो रहे थे ॥१०७॥ जिनके फणा प्रकट हो रहे हैं ऐसे
 फुंकारते हुए सर्पके वच्चोंकी उछल-कूदसे चारों ओरसे घिरे हुए वे बाहुबली ऐसे सुशोभित

१ क्षम्यताम् । २ अपराधः । ३ भृशमपश्यम् । ४ प्रवाहः । ५ भरतस्य । ६ दुष्टु ट० ।
 निन्दा । 'निन्दायां दुष्टु सुष्टु प्रशंसने ।' इत्यभिधानात् । ७ निजबैराग्यादित्यर्थः । ८ आलिङ्गितः ।
 ९ लतया सहितः । १० पर्णमोचनकृतः । ११ अधीतवान् । १२ वर्षावधि । १३ निभृतः । १४ स्तुत ।
 १५ उपवासी । १६ भयङ्करः । १७ उच्छ्वसत् । १८ फणा । १९ अङ्घ्रिसमीपे ।

दधानः स्कन्ध^१पर्यन्तलम्बिनीः केशवल्लरीः । सोऽ^२न्वगादूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् ॥१०६॥
 माधवीलतया गाढम् उपगूढः^३ प्रकुल्लया । शाखात्राहुभिरावेष्ट्य सखीच्येव^४ सहासया^५ ॥११०॥
 विद्याधरी करात्न^६पल्लवा सा किलाशुवत् । पादयोः कामिनीवास्य^७ साभि नम्राऽनुनेध्यती^८ ॥१११॥
 रोजे स तदवस्थोऽपि तपो दुश्चरमाचरन् । कामीव मुक्तिकाभिण्यां स्पृह्यालुः कृशीभवन् ॥११२॥
 तपस्तनूनपात्ताप^९सन्तप्तस्यास्य केवलम् । शरीरमशुष्योर्ध्वशोष^{१०} कर्माप्यशर्मदम् ॥११३॥
 तीव्रं तपस्थतोऽप्यस्य नासीत् काश्चिदुपप्लवः । अचिन्त्यं महतां धैर्यम् येना^{११}यान्ति न विक्रियाम् ॥११४॥
 सर्वसहः^{१२} क्षमाभारं प्रशान्तः शीतलं जलम् । निःसङ्गः पवनं दीप्तः^{१३} स जिगाय हुताशनम् ॥११५॥
 श्रुधं पिपासां शीतोष्णं सर्वशमशकद्वयम् । मार्गाच्यवनसंसिद्धये^{१४} द्वन्द्वानि सहते स्म सः ॥११६॥
 स नाग्य^{१५} परमं बिभृन्नाभेदीन्द्रियधूर्तकैः । ब्रह्मचर्यस्य^{१६} सा^{१७} गुप्तिः नाग्यं नाम परं तपः ॥११७॥
 रति चारितमप्येष द्वितयं स्म तितिक्षते^{१८} । न रत्यरतिबाधा हि विषयानभिषङ्गिणः^{१९} ॥११८॥

हो रहे थे मानो उनके चरणोंके समीप विषके अंकुरे ही लग रहे हों ॥१०८॥ कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओंको धारण करनेवाले वे बाहुवली मुनिराज अनेक काले सर्पोंके समूहको धारण करनेवाले हरिचन्दन वृक्षका अनुकरण कर रहे थे ॥१०९॥ फूली हुई वासंती-लता अपनी शाखारूपी भुजाओंके द्वारा उनका गाढ आलिगन कर रही थी और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हार लिये हुए कोई सखी ही अपनी भुजाओंसे उनका आलिगन कर रही हो ॥११०॥ जिसके कोमल पत्ते विद्याधरियोंने अपने हाथमें तोड़ लिये हैं ऐसी वह वासन्ती लता उनके चरणोंपर पड़कर सूख गई थी और ऐसी मालूम होती थी मानो कुछ नमू होकर अनुनय करती हुई कोई स्त्री ही पैरोंपर पड़ी हो ॥१११॥ ऐसी अवस्था होनेपर भी वे कठिन तपश्चरण करते थे जिससे उनका शरीर कृश हो गया था और उससे ऐसे जान पड़ने थे मानो मुक्तिरूपी स्त्रीकी इच्छा करता हुआ कोई कामी ही हो ॥११२॥ तपरूपी अग्निके संवापसे संतप्त हुए बाहुवलीका केवल शरीर ही खड़े-खड़े नहीं सूख गया था किन्तु दुःख देनेवाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे ॥११३॥ तीव्र तपस्या करते हुए बाहुवलीके कभी कोई उपद्रव नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुषोंका धैर्य अचिन्त्य होता है जिससे कि वे कभी विकार-को प्राप्त नहीं होते ॥११४॥ वे सब बाधाओंको सहन कर लेते थे, अत्यन्त शान्त थे, परिग्रह रहित थे और अतिशय देदीप्यमान थे इसलिये उन्होंने अपने गुणोंसे पृथ्वी, जल, वायु और अग्निको जीत लिया था ॥११५॥ वे मार्गसे च्युत न होनेके लिये भूख, प्यास, शीत, गर्मी तथा डांस मच्छर आदि परीपणोंके दुःख सहन करते थे ॥११६॥ उत्कृष्ट नाग्य व्रतको धारण करते हुए बाहुवली इन्द्रियरूपी धूर्तोंके द्वारा नहीं भेदन किये जा सके थे । ब्रह्मचर्यकी उत्कृष्ट रूपसे रक्षा करना ही नाग्य व्रत है और यही उत्तम तप है । भावार्थ—वे यद्यपि नग्न रहते थे तथापि इन्द्रियरूप धूर्त उन्हें विकृत नहीं कर सके थे ॥११७॥ वे रति और अरति इन दोनों परिपणोंको भी सहन करते थे अर्थात् रागके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे राग नहीं करते थे और द्वेषके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे द्वेष नहीं करते थे सो ठीक ही है क्योंकि विषयों-

१ भुजशिखर । २ अनुकरोति स्म । ३ आलिङ्गितः । ४ सख्या । ५ सहायया अ०, स०, इ०, ल० । ६ छेदित । ७ ईषद् । ८ अनुनयं कुर्वती । ९ अग्नि । १० 'ऊर्ध्वार्त्तं पुः शुषः' इति राम् प्रत्ययान्तः । ऊर्ध्वभूतं शरीरमित्यर्थः । ११ धैर्येण । १२ सकलपरीपणसंगं सहमानः । १३ भूभारमित्यर्थः । १४ तपोविशेषेण दीप्तः । १५ परीपहान् । १६ तपस्त्वम् । १७ प्रसिद्धा । १८ रक्षा । १९ सहते स्म । २० विषयवाञ्छारहितस्य ।

नास्यासीत् स्त्रीकृता बाधा भोगनिर्वेदमायुषः^१ । शरीरमशुचि स्त्रैण^२ पश्यतश्चर्मपुत्रिकाम् ॥११६॥
स्थितश्चर्या निषद्या च शय्या चासोढ हेलया । मनसाऽनभि^३सन्धित्सन्नुपा^४नच्छयनासनम् ॥१२०॥
स सेहे बधमाक्रोश परमार्थविदां वरः । शरीरके स्वयं त्याज्ये निःस्पृहोऽनभिनन्दयुः^५ ॥१२१॥
'याच्चित्रिणेन नास्पेष्टा विष्वाणेन' तनुस्थितिः । तेन^६ याचयामो^७ भूत्वा याच्नाबाधामसोढ सः ॥१२२॥
जलं भवं तृणस्पर्श सोऽसोढो^८ ढोलमक्षमः । व्युत्सृष्टतनुसंस्कारो निविशेषसुखसुखः^९ ॥१२३॥
रोगस्यापतनं^{१०} देहम् आध्यायन्^{११} धीरधीरसौ । विविधातड्कजां बाधां सहते स्म सुदुःसहाम् ॥१२४॥
प्रज्ञा परिषहं प्राज्ञो ज्ञानजं गर्वमुत्सृजन् । आसर्वज्ञं तदु^{१२}त्कर्षात् स सप्ताह^{१३}सप्ताहसः ॥१२५॥
स सत्कारपुरस्कारे नासीज्जातु समुत्सुकः । पुरस्कृतो मुदं नागात् सत्कृतो न स्म तुष्यति ॥१२६॥
परीषहमलाभं च सन्तुष्टो जयति स्म सः । अज्ञानादर्शनीदृशूता बाधासोऽन्नास्य योगिनः ॥१२७॥

की इच्छा न रखनेवाले पुरुषको रति तथा अरतिकी बाधा नहीं होती ॥११८॥ भोगोंसे विरक्त हुए तथा स्त्रियोंके अपवित्र शरीरको चमड़ेकी पुतलीके समान देखते हुए उन बाहुबली महाराजको स्त्रियोंके द्वारा की हुई कोई बाधा नहीं हुई थी अर्थात् वे अच्छी तरह स्त्रीपरिषह सहन करते थे ॥११९॥ वे हमेशा खड़े रहते थे और जूता तथा शयन आसन आदिकी मनसे भी इच्छा नहीं करते थे इसलिये उन्होंने चर्या, निषद्या और शय्या परिषहको लीला मात्रमें ही जीत लिया था ॥१२०॥ जो स्वयं नष्ट हो जानेवाले शरीरमें निःस्पृह रहते हैं और न उसमें कोई आनन्द ही मानते हैं ऐसे परमार्थके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ बाहुबली महाराज बध और आक्रोश परिषहको भी सहन करते थे ॥१२१॥ याचनासे प्राप्त हुए भोजनके द्वारा शरीरकी स्थिति रखना उन्हें इष्ट नहीं था इसलिये वे भौन रहकर याचना परिषहकी बाधाको सहन करते थे ॥१२२॥ जिन्होंने उत्तम क्षमा धारण की है, शरीरका संस्कार छोड़ दिया है और जिन्हें सुख तथा दुःख दोनों ही समान हैं ऐसे उन मुनिराजने स्वेद मल तथा तृण स्पर्श परिषहको भी सहन किया था ॥१२३॥ 'यह शरीर रोगोंका घर है' इस प्रकार चिन्तन करते ही वे धीरवीर बुद्धिके धारक बाहुबली बड़ी कठिनतासे सहन करनेके योग्य रोगोंसे उत्पन्न हुई बाधाको भी सहन करते थे ॥१२४॥ ज्ञानका उत्कर्ष सर्वज्ञ होने तक है अर्थात् जबतक सर्वज्ञ न हो जाये तबतक ज्ञान घटता बढ़ता रहता है इसलिये ज्ञानसे उत्पन्न हुए अहंकारका त्याग करते हुए अतिशय बुद्धिमान् और साहसी वे मुनिराज प्रज्ञा परिषहको सहन करते थे । भावार्थ—केवलज्ञान होनेके पहले सभीका ज्ञान अपूर्ण रहता है ऐसा विचार कर वे कभी ज्ञानका गर्व नहीं करते थे ॥१२५॥ वे अपने सत्कार पुरस्कारमें कभी उत्कण्ठित नहीं होते थे । यदि किसीने उन्हें अपने कार्यमें अगुआ बनाया तो वे हर्षित नहीं होते थे और किसीने उनका सत्कार किया तो संतुष्ट नहीं होते थे । भावार्थ—अपने कार्यमें किसीको अगुआ बनाना पुरस्कार कहलाता है तथा स्वयं आये हुएका सम्मान करना सत्कार कहलाता है वे मुनिराज सत्कार पुरस्कार दोनोंमें ही निःस्तुक रहते थे—उन्होंने सत्कार पुरस्कार परिषह अच्छी तरह सहन किया था ॥१२६॥ सदा सन्तुष्ट रहनेवाले बाहुबलीजीने अलाभ परिषहको जीता था तथा अज्ञान और अदर्शनसे उत्पन्न होनेवाली बाधाएं भी उन मुनिराजको नहीं हुई थीं ॥१२७॥

१ निर्वेद गतस्य । —मोयुपः ५०, ६०, ६० । २ स्त्रीसाम्बन्धि । ३ अभिसंधानमकुर्वन् । ४ पादत्राणः । 'पादुस्थानत् स्त्री' इत्यभिधानात् । ५ आनन्दरहितः । ६ याचनया निवृत्तेन । ७ भोजनेन । ८ तेन कारणेन । ९ मोनी भूत्वा । १० धृतः । ११ समानसुखदुःखः । १२ गृहम् । १३ स्मरन् । १४ ज्ञानोत्कर्षात् । उपर्युपरि केवलज्ञानादित्यर्थः । १५ सहते स्म ।

परीषहजयादस्य विरूपा निर्जराऽभवत् । कर्मणां निर्जरोपायः परीषहजयः परः ॥१२८॥
 क्रोधं तितिक्षया^१ मानम् उत्सेक^२परिवर्जनैः । मायामृजुतया लोभं सन्तोषेण जिगाय सः ॥१२९॥
^३पञ्चेन्द्रियाण्यनायासात् सोऽजयज्जितमन्मथः । विषयेन्धनदीप्तस्य कायाग्नेः शमनं तपः ॥१३०॥
 आहारभयसंज्ञे च समेयुनपरिग्रहे । अनङ्गविजयादेताः संज्ञाः क्षपयतिस्म सः ॥१३१॥
 इत्यन्तरङ्गशत्रूणां स भञ्जन्^४ प्रसारं मुहुः । जयति स्मऽऽत्मनाऽऽत्मानम् आत्मविद् विविताखिलः^५ ॥१३२॥
 व्रतं च समितीः सर्वाः सम्यगिन्द्रियरोधनम् । अचेलतां च केशानां प्रतिलुञ्चनसङ्गैरम् ॥१३३॥
 आवश्यकैष्वसम्बाधम् अस्नानं क्षितिशायिताम् । अदन्तधावनं स्थित्वा भुक्तिं भक्तं च नासकृत्^६ ॥१३४॥
 प्राहुर्बलगुणानेतान् तथोत्तरगुणाः परे । तेषां माराधने यत्नं सोऽतनिष्ठातनुर्मुनिः^७ १३५
^८एतेष्वहापयन्^९ काञ्चिच्च व्रतशुद्धिं परां श्रितः । सोऽदोपि किरणैर्भस्वानिव दीप्तस्तपोऽशुभिः ॥१३६॥
 गौरवैस्त्रिभिरनुभुक्तः परां निःशल्यतां गतः ।^{१०}धर्मैर्दशभिरारुढदाढ्योऽभून्भुक्तिवर्त्मनि ॥१३७॥
 गुप्तित्रयमयी^{११} गुप्ति श्रितो ज्ञानासिभासुरः । संवर्तितः^{१२} समितिभिः स भजे विजिगीषुताम् ॥१३८॥

इस प्रकार परिषहोंके जीतनेसे उनके बहुत बड़ी कर्मोंकी निर्जरा हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि परिषहोंको जीतना ही कर्मोंकी निर्जरा करनेका श्रेष्ठ उपाय है ॥१२८॥ उन्होंने क्षमासे क्रोधको, अहंकारके त्यागसे मानको, सरलतासे मायाको और संतोषसे लोभको जीता था ॥१२९॥ कामदेवको जीतनेवाले उन मुनिराजने पांच इन्द्रियोंको अनायास ही जीत लिया था सो ठीक ही है क्योंकि विषयरूपी ईंधन जलती हुई कामरूपी अग्निको शमन करने-वाला तपश्चरण ही है । भावार्थ—इन्द्रियोंको वश करना तप है और यह तभी हो सकता है जब कामरूपी अग्निको जीत लिया जावे ॥१३०॥ उन्होंने कामको जीत लेनेसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओंको नष्ट किया था ॥१३१॥ इस प्रकार अन्तरङ्ग शत्रुओंके प्रसारको बार बार नष्ट करते हुए उन आत्मज्ञानी तथा समस्त पदार्थोंको जाननेवाले मुनिराजने अपने आत्माके द्वारा ही अपने आत्माको जीत लिया था ॥१३२॥ पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांच इन्द्रियदमन, वस्त्रपरित्याग, केशोंका लोच करना, छह आवश्यकोंमें कभी बाधा नहीं होना, स्नान नहीं करना, पृथिवीपर सोना, दांतोंनहीं करना, खड़े होकर भोजन करना और दिनमें एक बार आहार लेना, इन्हें अष्टादश मूलगुण कहते हैं इनके सिवाय औरगसी लाव उत्तर गुण भी हैं, वे महामुनि उन सबके पालन करनेमें प्रयत्न करते थे ॥१३३-१३५॥ इनमें कुछ भी नहीं छोड़ते हुए अर्थात् सबका पूर्ण रीतिसे पालन करते हुए वे मुनिराज व्रतोंकी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हुए थे तथा जिस प्रकार देदीप्यमान किरणोंसे सूर्य प्रकाशमान होता है उसी प्रकार वे भी तपकी देदीप्यमान किरणोंसे प्रकाशमान हो रहे थे ॥१३६॥ वे रसगौरव, शब्द गौरव, और ऋद्धिगौरव इन तीनोंसे रहित थे, अत्यन्त निःशल्य थे और दशधर्मोंके द्वारा उन्हें मोक्षमार्गमें अत्यन्त दृढ़ता प्राप्त हो गई थी ॥१३७॥ वे मुनिराज किसी विजिगीषु अर्थात् शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करनेवाले राजाके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा किसी दुर्ग आदि सुरक्षित स्थानका आश्रय लेता है, तलवारसे देदीप्यमान होता है और कवच पहने रहता है उसी प्रकार उन मुनिराजने भी तीन गुप्तियोरूपी दुर्गोंका आश्रय ले रखा था, वे भी जातरूपी तलवारसे देदीप्यमान हो रहे थे और पांच समितियोंरूप कवच पहिन रखा था । भावार्थ—यथार्थमें वे कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते थे

१ क्षमया । २ गर्व । ३ त०, व०, अ०, स०, इ०, प०, द० पुस्तकसम्मतोऽयं प्रमः । ज० पुस्तके १२९-१३० श्लोकयोर्व्यतिक्रमोऽस्ति । ४ समूहम् । ५ जातसकलपदार्थः । ६ प्रतिज्ञाम् । ७ एकभुक्तमित्यर्थः । ८ मूलोत्तरगुणानाम् । ९ महान् । १० प्रोक्तगुणेषु । ११ ज्ञानिमकुर्वन् । १२ उत्तमक्षमादिभिः । १३ रक्षाम् । १४ कवचित् ।

कषायतस्करैरनस्य हृतं रत्नत्रयं धनम् । सततं जागरूकस्य भूयो भूयोऽप्रमाद्यतः ॥१३६॥
 वाचंयमस्य^१ तस्यासीत् जातु विकथादरः । नाभिद्यतेन्द्रियैरस्य मनोदुर्गं सुसंवृतम् ॥१४०॥
 मनोऽगारे मह्यस्य बोधिता ज्ञानदीपिका । व्यदीपि तत^२ एवासन् विश्वेऽर्था ध्येयतापदे ॥१४१॥
 मतिभृताभ्यां निःशेषम् अयंतत्त्वं विचिन्वतः^३ । करामलकवद् विश्वं तस्य विस्पष्टतामगात् ॥१४२॥
 परीषद्दुर्जयदीप्तो विजितेन्द्रियशात्रवः । कषायशत्रूनुच्छेद्य स तपो राज्यमन्वभूत् ॥१४३॥
 योगजाश्चर्द्धयस्तस्य प्रादुरासस्तपोबलात् । यतोऽस्याविरभूच्छ्रुतिः त्रैलोक्यक्षोभणं प्रति ॥१४४॥
 चतुर्भेदेऽपि बोधेऽस्य समुत्कर्षस्तदोदभूत्^४ । तत्तदावरणीयानां क्षयोपशमजृम्भितः ॥१४५॥
 मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्ध्यादयोऽभवन् । श्रुतज्ञानेन^५ विश्वाङ्गापूर्ववित्त्वादिविस्तरः ॥१४६॥
 परमाधिमूललङ्घय स सर्वाविधिसदत् । मनःपर्ययबोधे^६ च सम्प्राप्तं विपुलं^७ मतिम् ॥१४७॥
 ज्ञानशुद्ध्या तपःशुद्धिः अस्यासीदतिरेकिणी । ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूले महातरोः ॥१४८॥

॥१३८॥ कषायरूपी चोरोके द्वारा उनका रत्नत्रयरूपी धन नहीं चुराया गया था क्योंकि वे सदा जागते रहते थे और बार बार प्रमादरहित होते रहते थे । भावार्थ—लोकमें भी देखा जाता है कि जो मनुष्य सदा जागता रहता है और कभी प्रमाद नहीं करता उसकी चोरी नहीं होती । भगवान् बाहुवली अपने परिणामोंके शोधमें निरन्तर लवलीन रहते थे और प्रमादकों पासमें भी नहीं आने देते थे इसलिये कषायरूपी चोर उनके रत्नत्रयरूपी धनको नहीं चुरा सके थे ॥१३९॥ वे सदा मौन रहते थे इसलिये कभी उनका विकथाओंमें आदर नहीं होता था । और उनका मनरूपी दुर्ग अत्यन्त सुरक्षित था इसलिये वह इन्द्रियोंके द्वारा नहीं तोड़ा जा सका था । भावार्थ—वे कभी विकथाएं नहीं करते थे और पांचों इन्द्रियों तथा मनको वशमें रखते थे ॥१४०॥ उनके मनरूपी विशाल घरमें सदा ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान रहता था इसलिये ही समस्त पदार्थ उनके ध्येयकोटिमें थे अर्थात् ध्यान करने योग्य थे । भावार्थ—पदार्थोंका ध्यान करनेके लिये उनका ज्ञान होना आवश्यक है, मुनिराज बाहुवलीको सब पदार्थोंका ज्ञान था इसलिये सभी पदार्थ उनके ध्यान करने योग्य थे ॥१४१॥ वे मति और श्रुत ज्ञानके द्वारा संसारके समस्त पदार्थोंका चिन्तवन करते रहते थे इसलिये उन्हें यह जगत् हाथपर रखे हुए आंखलेके समान अत्यन्त स्पष्ट था ॥१४२॥ जो परिषद्को जीत लेनेसे देदीप्यमान हो रहे हैं और जिन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीत लिया है ऐसे वे बाहुवली कषायरूपी शत्रुओंको छेदकर तपरूपी राज्यका अनुभव कर रहे थे ॥१४३॥ तपश्चरणका बल पाकर उन मुनिराजके योगके निमित्तसे होनेवाली ऐसी अनेक ऋद्धियां प्रकट हुई थीं जिनसे कि उनके तीनों लोकोंमें क्षोभ पैदा करनेकी शक्ति प्रकट हो गई थी ॥१४४॥ उस समय उनके मतिज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षमोपशमसे मतिज्ञान आदि चारों प्रकारके ज्ञानोंमें वृद्धि हो गई थी ॥१४५॥ मतिज्ञानकी वृद्धि होनेसे उनके कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियां प्रकट हो गई थीं और श्रुत ज्ञानके बढ़नेसे समस्त अंगों तथा पूर्वोंके ज्ञानने आदिकी शक्तिका विस्तार हो गया था ॥१४६॥ वे अवधिज्ञानमें परमाधिको उल्लंघन कर सर्वाधिको प्राप्त हुए थे तथा मनःपर्यय ज्ञानमें विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानको प्राप्त हुए थे ॥१४७॥ उन मुनिराजके ज्ञानकी शुद्धि होनेसे तपकी शुद्धि भी बहुत अधिक हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार किसी बड़े वृक्षके ठहरनेमें मूल कारण उसकी जड़ है उसी प्रकार तपके ठहरने आदिमें मूल कारण ज्ञान है ॥१४८॥

१ मोनिव्रतितः । २ ज्ञानदीपिकायाः सकाशात् । ३ चिन्तयतः । ४ उदेति स्म । ५ द्वादशाङ्ग-चतुर्दशपूर्ववेदित्वतन्त्रिरूपणादिविस्तरः । ६ बोधि ५०, ल० । ७ विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानम् ।

तपसोऽग्रेण चोधोयतपसा चातिकशितः^१ । स दीप्ततपसाऽत्यन्तं दिदीपे^२ दीप्तिमानिव ॥१४६॥
 सोऽस्तप्यत तपस्तप्तं तपो घोरं महच्च यत् । तथोत्तराण्यपि प्राप्तसमुत्कर्षानुक्रमात् ॥१४७॥
 तपोभिरकृशंरैभिः स बभौ मुनिसत्तमः ।^३ घनोपरोधनिर्मुक्तः करैरिव गभस्तिमान्^४ ॥१४८॥
 विक्रियाऽष्टतयी^५ चित्रं प्रादुरासीत्तपोबलात् ।^६ विक्रियां निखिलां हित्वा तीव्रमस्य तपस्यतः^७ ॥१४९॥
 प्राप्नोवधर्द्धेरस्यासीत् सन्निधिर्जगते हितः ।^८ आमर्शश्चैलं जल्लाद्यैः^९ प्राणिनामुपकारिणः ॥१५०॥
 अना^{१०} शुषोऽपि तस्यासीद्^{११} रसः शक्तिमाव्रतः । तपोबलसमुद्भूता बलद्विरपि पप्रथे ॥१५१॥
 अक्षीणावसथः^{१२} सोऽभूत्तथाऽक्षीण^{१३} महाशनः (नसः)^{१४} । सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षु^{१५} णमुपासितम् ॥१५२॥
 निर्द्वन्द्ववृत्तिरध्यात्मम् इति निजित्य जित्वरः । ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे योगी योगविदां वरः ॥१५३॥
 क्षमामथोत्तमां भेजे परं मार्दवमार्जवम् । सत्यं शौचं तपस्त्यागावाकिञ्चन्यं च संयमम् ॥१५४॥
 ब्रह्मचर्यं च धर्म्यस्य ध्यानस्यैता हि भावनाः । योग^{१६} सिद्धौ परां सिद्धिन्^{१७} ग्रामनन्तीह योगिनः ॥१५५॥

वे महामुनि उग्र, और महाउग्र तपसे अत्यन्त कृश हो गये थे तथा दीप्त नामक तपसे सूर्यके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१४६॥ उन्होंने तप्तघोर और महाघोर नामके तपश्चरण किये थे तथा इनके सिवाय उत्तर तप भी उनके खूब बढ़ गये थे ॥१४७॥ इन बड़े बड़े तपोंसे वे उत्तम मुनिराज ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघोंके आवरणसे निकला हुआ सूर्य ही अपनी किरणोंसे सुशोभित हो रहा हो ॥१४८॥ यद्यपि वे मुनिराज समस्त प्रकारकी विक्रिया अर्थात् विकार भावोंको छोड़कर कठिन तपस्या करते थे तथापि आश्चर्यकी बात है कि उनके तपके बलसे आठ प्रकारकी विक्रिया प्रकट हो गई थी । भावार्थ—रागद्वेष आदि विकार भावोंको छोड़कर कठिन तपस्या करनेवाले उन बाहुवली महाराजके अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व यह आठ प्रकारकी विक्रिया ऋद्धि प्रकट हुई थीं ॥१४९॥ जिन्हें अनेक प्रकारकी औषध ऋद्धि प्राप्त है और जो आमर्श, क्ष्वेल तथा जल्ल आदिके द्वारा प्राणियोंका उपकार करते हैं ऐसे उन मुनिराजकी समीपता जगत्का कल्याण करनेवाली थी । भावार्थ—उनके समीप रहनेवाले लोगोंके समस्त रोग नष्ट हो जाते थे ॥१५०॥ यद्यपि वे आहार नहीं लेते थे तथापि शक्ति मात्रसे ही उनके रसऋद्धि प्रकट हुई थी और तपश्चरणके बलसे प्रकट हुई उनकी बल ऋद्धि भी विस्तार पा रही थी । भावार्थ—भोजन करनेवाले मुनिराजके ही रसऋद्धिका उपयोग हो सकता है परन्तु वे भोजन नहीं करते थे इसलिये उनके शक्तिमात्रसे रसऋद्धिका सद्भाव बतलाया है ॥१५१॥ वे मुनिराज अक्षीणसंवास तथा अक्षीणमहानस ऋद्धिको भी धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि पूर्ण रीतिसे पालन किया हुआ तप अक्षीण फल उत्पन्न करता है ॥१५२॥ विकल्प रहित चित्तकी वृत्ति धारण करना ही अध्यात्म है ऐसा निश्चयकर योगके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उन जितेन्द्रिय योगिराजने मनको जीतकर उसे ध्यानके अभ्यासमें लगाया ॥१५३॥ उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमार्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मध्यानकी भावनाएं हैं । इस लोकमें योगकी सिद्धि होनेपर ही उत्कृष्ट सिद्धि-सफलता-मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ऐसा योगी लोग मानते हैं ॥१५४-१५५॥

१ कृशीकृतः । २ रविः । ३ मेघः । ४ तरणिः । ५ अष्टप्रकाराः । ६ विकारम् । ७ तपः कुर्वतः । ८ छदिः । ९ निष्ठीवन । १० स्वेदोत्थमल्लाद्यैः । ११ अनशनव्रतिनः । १२ अमृतव्यादि । १३ आलय । १४ महत् । १५ 'त०' पुस्तके 'महानसः' पाठः सुपाठः इति टिप्पणो विधितम् । १६ अन्योन्यम् । १७ ध्याननिष्पन्ने सति । १८ मुक्तिम् ।

अनित्यात्राणसंसारं कत्वाऽन्यत्वान्यशौचताम् । निर्जरास्त्रयसंरोधलोकस्थित्यनुचिन्तनम् ॥१५६॥
 धर्मस्याख्याततां बोधेः दुर्लभत्वं च लक्षयन् । सोऽनुप्रेक्षाविधिं दध्यां विशुद्धं द्वादशात्मकम् ॥१५७॥
 'आज्ञापायी विपाकं च संस्थानं चानुचिन्तयन् । सध्यानमभजद् धर्म्यं कर्मांशान् परिशातयन्' ॥१५८॥
 दीपिकायामिवाभुष्यां ध्यानदीप्ती निरीक्षिताः । क्षणं विशीर्णाः कर्मांशाः कज्जलांशा इवाभिताः ॥१५९॥
 तद्देहदीप्तिप्रसरो दिङ्मुखेषु परिस्फुरन् । तद्वनं गारुडप्रावच्छयाततं मित्रातनोत् ॥१६०॥
 तत्पदोपान्तविश्रान्ता विस्त्राधा मृगजातयः । बबाधिरं मृगैर्नान्यैः क्रूरैरक्रूरतां धितैः ॥१६१॥
 विरोधिनीऽप्यमी लुप्तविरोधस्त्वेरभासिताः । तस्योपाङ्गधीर्भसिहाद्याः शशंसुर्दभञ्चं मुनेः ॥१६२॥
 जरज्जम्बूकमाध्याय मस्तके व्याधधेनुका । स्वशावनिर्विशेषं^{१०} ताम् पीयत्^{११} स्तन्यं^{१२} सात्मनः ॥१६३॥
 करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह धूपैः । स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणोः सिंहपीतकाः ॥१६४॥
 कलभान् कलभाङ्गकारमुखरान् तखरैः खरैः । कण्ठीरवः स्पृशन् कण्ठे नाभ्यनन्दि^{१३} न यूथपैः ॥१६५॥
 करिण्यो विसिनीपुत्रपुटैः पानीयमानयत् । तद्योगपीठपर्यन्तभुवः सम्मार्जनेच्छया ॥१६६॥
 'पुष्करं' ^{१४}पुष्करोदस्तैः स्तनैरधिपदद्वयम् । स्तम्बेरसा मुनि भेजुः अहो शमकरं तपः ॥१६७॥
 उपाङ्गधि भोगिनां^{१५} भोगैः विनीलेऽर्घ्यहचन्मुनिः । विन्यस्तेरर्चनायेव नीलहत्पलदामकैः ॥१६८॥

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्मस्यातत्त्व इत बारह भावनाओंका उन्होंने विशुद्ध चित्तसे चिन्तन किया था ॥१५७-१५८॥ वे आज्ञा, अयाय, विपाक और संस्थानका चिन्तन करते हुए तथा कर्मों-के अंशोंको क्षीण करते हुए धर्मध्यान धारण करते थे ॥१५९॥ जिस प्रकार दीपिकाके प्रज्वलित होनेपर उसके चारों ओर कज्जलके अंश दिखाई देते हैं उसी प्रकार उनकी ध्यानरूपी दीपिकाके प्रज्वलित होनेपर उसके चारों ओर क्षणभर नष्ट हुए कर्मोंके अंश दिखाई देते थे ॥१६०॥ सब दिशाओंमें फैला हुआ उनके शरीरकी दीप्तिका समूह उस वनको नीलमणि-की कान्तिसे व्याप्त हुआ सा बना रहा था ॥१६१॥ उनके चरणोंके समीप विश्राम करनेवाले मृग आदि पशु सदा विश्वस्त अर्थात् निर्भय रहते थे, उन्हें सिंह आदि दुष्ट जीव कभी बाधा नहीं पहुँचाते थे क्योंकि वे स्वयं वहाँ आकर अक्रूर अर्थात् शान्त हो जाते थे ॥१६२॥ उनके चरणों-के समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्परका वैर-भाव छोड़कर इच्छानुसार उठते बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराजके ऐश्वर्यको सूचित करते थे ॥१६३॥ हालकी व्याई हुई सिही भैंसेके बच्चेका मस्तक सूँघकर उसे अपने बच्चेके समान अपना दूध पिला रही थी ॥१६४॥ हाथी अपने भुण्डके मुखियोंके साथ साथ सिंहोंके पीछे पीछे जा रहे थे और स्तन-को पीनेमें उत्सुक हुए सिंहके बच्चे हथिनियोंके समीप पहुँच रहे थे ॥१६५॥ बालकपनके कारण मधुर शब्द करते हुए हाथियोंके बच्चोंको सिंह अपने पैंने नाखूनोंसे उनकी गर्दनपर स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंहको हाथियोंके सरदार बहुत ही अच्छा समझ रहे थे—उसका अभिनन्दन कर रहे थे ॥१६६॥ उन मुनिराजके ध्यान करनेके आसनके समीपकी भूमिको साफ करनेकी इच्छासे हथिनियाँ कमलिनीके पत्तोंका दोना बनाकर उनमें भर भरकर पानी ला रही थीं ॥१६७॥ हाथी अपनी सूँड़के अग्रभागसे उठाकर लाये हुए कमल उनके दोनों चरणोंपर रख देते थे और इस तरह वे उनकी उपासना करते थे । अहा,

- १ संवर । २ ध्यायति स्म । ३ आज्ञाविचयापायविचयी । ४ कुशीकुर्वन् । ५ व्याप्तम् ।
 ६ निश्चलाः । ७ विरोधाः ल०, प०, अ०, स०, द०, । ८ जरज्जन्तुक ल०, इ० । जरत् बुद्ध ।
 ९ नवप्रभूतव्याधी । १० समानम् । ११ पाययति स्म । १२ स्तनक्षीरम् । १३ मनोज्ञ-श्वनिनिविशेषान् ।
 १४ द्वौ नद्यो पूर्वमर्थं गमयतः, अभ्यनन्दीदित्यर्थः । १५ कमलैः । १६ कराग्रोद्धतः । १७ सर्पाणां शरीरैः ।

फणमात्रोद्गता रन्धात्^१ फणिनः सितयोऽद्युतम् । कृताः कुवलयैरर्वा मुनेरिव पदान्तिके ॥१७२॥
 रेजुर्बनलता नर्मः शाखाग्रैः कुतुमोज्ज्वलैः । मुनि भजन्तपो भक्त्येव पुष्पाधर्नेतिपूर्वकम् ॥१७३॥
 शश्वद्विकासिकुसुमैः शाखाग्रैरतिनाहतैः । बभुर्वनद्रुमास्तोषान्तिनृत्सव^२ इवासकृत् ॥१७४॥
 कलैरलिखितोद्गातः^३ फणिनो ननूतुः किल । उत्फणाः फणरत्नांशुबीप्रैर्भोगैर्विवर्तितैः ॥१७५॥
 पुंस्कोकिलकलापडिण्डिमानुगनैर्लयैः^४ । चक्षुःश्रवस्सु पश्यत्सु तद्विषोऽनटिषु^५ मृहुः ॥१७६॥
 महिम्ना शमिनः^६ शान्तमित्यभूत्तच्च काननम् । धत्ते हि महतां योगः^७ शममप्यशमात्मसु^८ ॥१७७॥
 शान्तस्वनेर्नदन्ति स्म वनान्तैऽस्मिन् शकुन्तयः । घोषयन्त इवात्यन्तं^९ शान्तमेतत्तपोवनम् ॥१७८॥
 तपोऽनुभावादस्यैव प्रशान्तैऽस्मिन् वनाश्रये । विनिपातः^{१०} कुतोऽप्यासीत् कस्यापि न कथञ्चन ॥१७९॥
 महसास्य तपोयोगज्जम्भितेन महीयसा । बभूवुर्हृतहृदध्वान्ताः तिर्यञ्चोऽयनभिद्रुहः^{११} ॥१८०॥
 गतिस्खलनतो ज्ञात्वा योगस्थं तं मुनीश्वरम् । असकृत्पूजयामासुः श्रवतीर्य नभश्चराः ॥१८१॥
 महिम्नाऽस्य तपोवीर्यं जनितेनालधीयसा । मुहुरासनकम्पोऽभून्नतमूर्ध्ना सुधाशिनाम् ॥१८२॥

तपश्चरण कैसी शान्ति उत्पन्न करनेवाला है, ॥१७०॥ वे मुनिराज चरणोंके समीप आये हुए सर्पोंके काले फणाओंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पूजाके लिये नीलकमलोंकी मालाएँ ही बनाकर रक्खी हों ॥१७१॥ बामीके छिद्रोंसे जिन्होंने केवल फणा ही बाहर निकाले हैं ऐसे काले सर्प उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो मुनिराजके चरणोंके समीप किसीने नील-कमलोंका अर्घ्य ही बनाकर रक्खा हो ॥१७२॥ वनकी लताएँ फूलोंसे उज्ज्वल तथा नीचेको झुकी हुई छोटी छोटी डालियोंसे ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थीं मानो फूलोंका अर्घ्य लेकर भक्तिसे नमस्कार करती हुई मुनिराजकी सेवा ही कर रही हों ॥१७३॥ वनके वृक्ष, जिनपर सदा फूल खिले रहते हैं और जो वायुसे हिल रहे हैं ऐसे शाखाओंके अग्रभागोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो संतोषसे बार बार नृत्य ही करना चाहते हों ॥१७४॥ जिनके फणा ऊँचे उठ रहे हैं ऐसे सर्प, भूमरोंके शब्दरूपी सुन्दर गानेके साथ साथ फणाओंपर लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे देदीप्यमान अपने फणाओंकी घुमा घुमाकर नृत्य कर रहे थे ॥१७५॥ मोर, कोकिलोंके सुन्दर शब्दरूपी डिण्डिम बाजेके अनुसार होनेवाले लयके साथ साथ सर्पोंके देवते रहते भी बार बार नृत्य कर रहे थे ॥१७६॥ इस प्रकार अतिशय शान्त न्हनेवाले उन मुनिराजके माहात्म्यसे वह वन भी शान्त हो गया था सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषोंका संयोग क्रूर जीवों में भी शान्ति उत्पन्न कर देता है ॥१७७॥ इस वनमें अनेक पक्षी शान्त शब्दोंसे चहक रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इस बातकी घोषणा ही कर रहे हों कि यह तपोवन अत्यन्त शान्त है ॥१७८॥ उन मुनिराजके तपके प्रभावसे यह वनका आश्रम ऐसा शान्त हो गया था कि यहांके किसी भी जीवकी किसीके भी द्वारा कुछ भी उपद्रव नहीं होता था ॥१७९॥ तपके सम्बन्धसे बड़े हुए मुनिराजके बड़े भारी तेजसे तिर्यंचोंके भी हृदयका अन्धकार दूर हो गया था और अब वे परस्परमें किसीसे द्रोह नहीं करते थे—अहिंसक हो गये थे ॥१८०॥ विद्याधर लोग गति भंग हो जानेसे उनका सद्भाव जान लेते थे और विमानसे उतरकर ध्यान में बैठे हुए उन मुनिराजकी बार बार पूजा करते थे ॥१८१॥ तपकी शक्तिसे उत्पन्न हुए मुनिराजके बड़े भारी माहात्म्यसे जिनके मस्तक भक्ते हुए हैं ऐसे देवोंके आसन भी बार बार कम्पाय-

१ बल्मीकविलात् । २ कृष्णाः । ३ नतिमुमिच्छवः । ४-दगीतैः ल० । ५ दीप्तै-इ०, ल० । ६ शरीरैः । ७ तालनिवद्वैः । ८ सर्पेषु । 'कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवाः काकोदरः फणी' इत्यभिधानात् । ९ सर्पद्विषः । मयूरा इत्यर्थः । १० नटन्ति स्म । ११ यतैः । १२ संयोगः । १३ क्रूरस्वरूपेषु । १४ अत्यन्तं प्रसन्नम् । १५ वाचेत्यर्थः । १६ तेजसा । १७ अहिंसकाः ।

विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः । वल्लीरुद्धेष्टयामासुः^१ मुनेः सर्वाङ्गसङ्गिनीः ॥१८३॥

इत्युपाखुटं सद्ध्यानबलोद्भूततपोबलः । स लेख्याशुद्धिमास्कन्दन्^२ शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत् ॥१८४॥

वत्सराजशनस्यास्ते भरतेशेन पूजितः । स भजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षरम् ॥१८५॥

संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्^३ इति यत्किल । हृद्यस्य^४ हार्दं^५ तेनासीत् तत्पूजापेक्षि^६ केवलम् ॥१८६॥

केवलाकौडयात् प्राक्च पश्चाच्च विधिवद् व्यधात् । सपर्या भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः ॥१८७॥

^७स्वागः प्रमार्जनार्थं जया ^८प्राक्तनी भरतेशिनः । ^९पाश्चात्याऽत्यायता^{१०}ऽपोज्या केवलौत्पत्तिमन्वभूत् ॥१८८॥

या कृता भरतेशेन महेश्या स्वानुजन्मनः । प्राप्तकेवलबोधस्य को हि तद्वर्णने क्षमः ॥१८९॥

^{११}स्वाजन्मानुमो^{१२}ऽस्त्येको धर्मरागस्तयाऽपरः । जन्मान्तरानुबन्धश्च^{१३} प्रेमबन्धोऽतिनिर्भरः ॥१९०॥

^{१४}इत्येकशोऽस्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः । तेषां नु सर्वसामर्थ्यं कां न पुष्पाति सत्क्रियाम् ॥१९१॥

सामात्यः समहीपालः^{१५} सान्तःपुरपुरोहितः । तं बाहुबलियोगीन्द्रं प्रणनामाधिराट् मुदा ॥१९२॥

मान होने लगते थे ॥१८२॥ कभी कभी क्रीडाके हेतुसे आई हुई विद्याधरियां उनके सर्व शरीर-पर लगी हुई लताओंकी हटा जाती थीं ॥१८३॥ इस प्रकार धारण किये हुए समीचीनधर्म-ध्यानके बलसे जिनके तपकी शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनि लेख्याकी विशुद्धिको प्राप्त होते हुए शुक्लध्यानके सन्मुख हुए ॥१८४॥ एक वर्षका उपवास समाप्त होनेपर भरतेश्वरने आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली कभी नष्ट नहीं होनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिको प्राप्त हुए । भावार्थ—दीक्षा लेते समय बाहुबलीने एक वर्षका उपवास किया था । जिस दिन उनका वह उपवास पूर्ण हुआ उसी दिन भरतने आकर उनकी पूजा की और पूजा करते ही उन्हें अविनाशी उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया ॥१८५॥ वह भरतेश्वर मुझसे संकशको प्राप्त हुआ है अर्थात् मेरे निमित्तसे उसे दुःख पहुंचा है यह विचार बाहुबली-के हृदयमें विद्यमान रहता था, इसलिये केवलज्ञानने भरतकी पूजा की अपेक्षा की थी । भावार्थ—भरतके पूजा करते ही बाहुबलीका हृदय शल्यरहित हो गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान भी प्राप्त हो गया ॥१८६॥ प्रसन्न है बुद्धि जिसकी ऐसे सम्राट् भरतने केवलज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेके पहले और पीछे—दोनों ही समय विधिपूर्वक उन मुनिराजकी पूजा की थी ॥१८७॥ भरतेश्वरने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करनेके लिये की थी और केवलज्ञान होनेके बाद जो बड़ी भारी पूजा की थी वह केवलज्ञानकी उत्पत्ति का अनुभव करनेके लिये की थी ॥१८८॥ जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे अपने छोटे भाई बाहुबलीकी भरतेश्वरने जो बड़ी भारी पूजा की थी उसका वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? ॥१८९॥ प्रथम तो बाहुबली भरतके छोटे भाई थे, दूसरे भरतको धर्मका प्रेम बहुत था, तीसरे उन दोनोंका अन्य अनेक जन्मोंसे सम्बन्ध था, और चौथे उन दोनोंमें बड़ा भारी प्रेम था इस प्रकार इन चारोंमेंसे एक एक भी भक्तिकी अधिकताको बढ़ानेवाले हैं, यदि यह सब सामग्री एक साथ मिल जाए तो वह कौन-सी उत्तम क्रियाको पुष्ट नहीं कर सकती अर्थात् उससे कौन सा अच्छा कार्य नहीं हो सकता ? ॥१९०—१९१॥ सम्राट् भरतेश्वरने

१ मोक्षयामासुः । २ प्रकटीभूत । ३ गच्छत् । ४ मत् । ५ भुजबलिनः । ६ स्नेहः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यभिधानात् । ७ हार्दं । ८ भरतपूजापेक्षि । ९ केवलज्ञानम् । १० निजा-पराधनिवारणार्थात् । ११ प्राग्भवा । १२ पश्चाद्भवा । १३ अत्यधिका । १४ निजजवनेन । १५ अनु-गमनम् । सहोत्पत्तिरित्यर्थः । १६ —नुबद्धश्च ब०, अ०, स०, प०, इ० । १७ एकैकमपि । १८ मही-पालः सहितः ।

किमत्र बहुना रत्नैः कृतोऽर्थः स्वर्णदोजलम् । पाद्यं रत्नाचिषी दीपास्तण्डुलेज्या च मोषितकैः ॥१६३॥
 हविः^१ पीयूषपिण्डेन धूपो देवद्रुमांशकैः^२ । पुष्पार्चा पारिजातादिसुरागसुमनश्चयेः ॥१६४॥
 सरस्वती निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः । पूजां रत्नमयीमित्थं रत्नेशो निरवर्तयत् ॥१६५॥
 सुराश्चासनकम्पेन ज्ञाततत्केवलोदयाः । चक्रुरस्य परामिज्यां शता^३ध्वरपुरःसराः ॥१६६॥
 ध्रुवमन्वं स्वस्थानतस्मिन् ननु चञ्चवः । तदा सुगन्धयो वाताः स्वर्धनीशोकराहराः ॥१६७॥
 मन्त्रं पथोमुचां मार्गे दध्वनुश्च तुरातकाः । पुष्पोत्करो दिवोऽपतत् कल्पानोकहसंभयः ॥१६८॥
 रत्नातपत्रमस्योच्चैः निर्मितं सुरशिल्पिभिः । परार्धमणिनिर्माणम् अभाद् दिव्यं च चिष्टरम् ॥१६९॥
 स्वयं व्यधूयतास्योच्चैः^४ प्रान्तयोश्चामरोत्करः । सभावनिश्च तद्योग्या पत्रथे प्रथितोदया ॥२००॥
 सुरैरित्यचितः प्राप्तकेवलद्विः स योगिराट् । व्यद्युतमुनिभिर्जुष्टः^५ शशीबोडुभिराश्रितः ॥२०१॥
 घातिकर्मक्षयोद्भूताम् उद्बहन् परमेष्ठिताम् । विजहार महीं कृत्स्नां सोऽभिगम्यः^६ सुधाशिनाम् ॥२०२॥
 इत्थं स विश्वविद्विष्वं प्रीणयन् स्ववचोऽमृतं । कैलासमचलं प्रापत् पूतं सन्निधिना गुरोः^७ ॥२०३॥

मंत्रियोंके साथ, राजाओंके साथ और अन्तःपुरकी समस्त स्त्रियों तथा पुरोहितके साथ उन बाहुबली मुनिराजको बड़े हर्षसे नमस्कार किया था ॥१९२॥ इस निषयमें अधिक कहाँ तक कहा जावे, संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि उसने रत्नोंका अर्घ्य बनाया था, गंगाके जलकी जलधारा दी थी, रत्नोंकी ज्योतिके दीपक चढ़ाये थे, मोतियोंसे अक्षतकी पूजा की थी, अमृतके पिण्डसे नैवेद्य अर्पित किया था, कल्पवृक्षके टुकड़ों (चूर्णों)से धूपकी पूजा की थी, पारिजात आदि देववृक्षोंके फूलोंके समूहसे पुष्पोंकी अर्चा की थी, और फलोंके स्थानपर रत्नोंसहित समस्त निधियां चढ़ा दी थीं इस प्रकार उसने रत्नमयी पूजा की थी ॥१९३-१९५॥ आसन कम्पायमान होनेसे जिन्हें बाहुबलीके केवलज्ञान उत्पन्न होनेका बोध हुआ है ऐसे इन्द्र आदि देवोंने आकर उनकी उत्कृष्ट पूजा की ॥१९६॥ उस समय स्वर्गके बगीचेके वृक्षोंको हिलानेमें चतुर तथा गंगा नदीकी बूंदोंको हरण करनेवाला सुगन्धित वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥१९७॥ देवोंके नगाड़े आकाशमें गंभीरतासे बज रहे थे और कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुआ फूलोंका समूह आकाशसे पड़ रहा था ॥१९८॥ उनके ऊपर देवरूपी कारीगरोंके द्वारा बनाया हुआ रत्नोंका छत्र सुशोभित हो रहा था और नीचे बहुमूल्य मणियोंका बना हुआ दिव्य सिंहासन देदीप्यमान हो रहा था ॥१९९॥ उनके दोनों ओर ऊंचाईपर चमरोंका समूह स्वयं ढुल रहा था तथा जिसका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है ऐसी उनके योग्य सभाभूमि अर्थात् गन्धकुटी भी बनाई गई थी ॥२००॥ इस प्रकार देवोंने जिनकी पूजा की है और जिन्हें केवलज्ञानरूपी ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे वे योगिराज अनेक मुनियोंसे घिरे हुए इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो नक्षत्रोंसे घिरा हुआ चन्द्रमा ही हो ॥२०१॥ जो घातियाकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुई अर्हन्त परमेष्ठी की अवस्थाको धारण कर रहे हैं तथा इसीलिये देव लोग जिनकी उपासना करते हैं ऐसे भगवान् बाहुबलीने समस्त पृथिवीमें विहार किया ॥२०२॥ इस प्रकार समस्त पदार्थोंको जाननेवाले बाहुबली अपने वचनरूपी अमृतके द्वारा समस्त संसारको संतुष्ट करते हुए, पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके सामीप्यसे पवित्र हुए कैलास पर्वतपर जा पहुंचे ॥२०३॥

माहिनी

सकलनृपसमाजे^१ दृष्टिमल्लाम्बयुद्धः
 विजितभरतकीर्तियः प्रवव्राज मुक्त्यं ।
 तूणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं
 चरमतनुधराणामग्रणीः सोऽवताद् वः ॥२०४॥
 भरतविजयलक्ष्मीर्जाज्वलच्चक्रमूर्त्या
 यमिनमभिसरन्ती क्षत्रियाणां समक्षम् ।
 चिरतरमवधूतापत्रपापात्रमासीद्
 अधिगतगुरुमार्गः सोऽवताद् दोर्बली वः ॥२०५॥
 स जयति जयलक्ष्मीसङ्गमाशामवस्थया
 विदधदधिकधामा सन्निधौ पार्थिवानाम् ।
 सकलजगदगारव्याप्तकीर्तिस्तपस्याम्^२
 अभजत यशसे यः सूनुराद्यस्य धातुः ॥२०६॥
 जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य
 प्रथितमभवदग्रे क्षत्रियाणां नियुद्धे ।
 भरतनृपतिनामा^३ यस्य नामाक्षराणि
 स्मृतिपथमुपयान्ति^४ प्राणिवृद्धं पुनन्ति ॥२०७॥
 जयति भुजगवक्त्रोद्गान्तनिर्वद्गराग्निः^५
 प्रशममसकृदापत् प्राप्य पादौ यदीधौ ।
 सकलभुवनभान्यः खेचरस्त्रीकराग्नौ—
 दग्धश्चितविततवीरुद्धेष्टितो दोर्बलीशः ॥२०८॥

जिन्होंने समस्त राजाओंकी सभामें दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध और जलयुद्धके द्वारा भरतकी समस्त कीर्ति जीत ली थी, जिन्होंने बड़े भारी राज्यके भारको तूणके समान तुच्छ समझ कर मुक्ति प्राप्त करनेके लिये दीक्षा धारण की थी और जो चरम शरीरियोंमें सबसे मुख्य थे ऐसे भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करें ॥२०४॥ सब क्षत्रियोंके सामने भरतकी विजयलक्ष्मी देदीप्यमान चक्रकी मूर्तिके वहानेसे जिन बाहुबलीके समीप गई थी परन्तु जिनके द्वारा सदाके लिये तिरस्कृत होकर लज्जाका पात्र हुई थी और जिन्होंने अपने पिताका मार्ग (मुनिमार्ग) स्वीकृत किया था वे भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करें ॥२०५॥ जो अनेक राजाओंके सामने सफल हुई जयलक्ष्मीके समागमकी आशाको धारण कर रहे थे, सबसे अधिक तेजस्वी थे, जिनकी कीर्ति समस्त जगत् रूपी घरमें व्याप्त थी और जिन्होंने वास्तविक यशके लिये तप धारण किया था वे आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके पुत्र सदा जयवन्त हों ॥२०६॥ जिनकी भुजाओंका बल क्षत्रियोंके सामने भरतराजके साथ हुए मल्लयुद्धमें प्रसिद्ध हुआ था, और जिनके नामके अक्षर स्मरणमें आते ही प्राणियोंके समूहको पवित्र कर देते हैं वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हों ॥२०७॥ जिनके चरणोंको पाकर सर्पोंके मुँहके उच्छ्वाससे निकलती हुई विषकी अग्नि बार बार शान्त हो जाती थी, जो समस्त लोकमें मान्य हैं, और जिनके शरीरपर फैली हुई लताओंको विद्याधरियां अपने हाथोंके अग्रभागसे हटा देती थीं वे बाहुबली स्वामी

१ समक्षे । २ भृशं ज्वलत् । ३ भुजबलिना अवधीरिता । ४ लज्जाभाजनम् । ५ सङ्ग-
 वाञ्छाम् । ६ तप इत्यर्थः । ७ सह । ८ उपगतानि भूत्वा । ९ विषाग्निः ।

जयति भरतराजप्रांशुमौल्यप्ररत्नी-

पलतुलितनखेन्दुः सृष्टुराद्यस्य सूनुः ।

भुजगकुलकलापैराकुलेनाकुलत्वं

धूतिबलकलितो यो योगभुम्नैव मेजे ॥२०६॥

१शितिभिरलिकुलाभैराभुजं सम्बमानैः

२पिहितभुजविटङ्को भूर्धजैर्बलितैः तापैः ।

जलधरपरिरोधध्याममूर्द्धैव भूधः

श्रियमपुषदनुमां धोर्बली यः स नोऽज्यात् ॥२१०॥

स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीतं

वपुश्चल इषोर्ध्वविभ्रदाविर्धमूष ।

नवघनसलिलौघैर्यद्वच धीतोऽब्दकाले

३खरघृणिकिरणानप्युष्णकाले बिभेहे ॥२११॥

जयति 'जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यः

अधिगतमहिमामं मानितं माननीयैः ।

स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा

भजति बिजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम् ॥२१२॥

(इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे भुजबलिजल-
मल्लदृष्टियुद्धविजयदीक्षाकेवलोत्पत्तिवर्णनं नाम षट्त्रिंशत्तमं पर्व ॥३६॥)

सदा जयवन्त हों ॥२०८॥ भरतराजके ऊँचे मुकुटके अग्र भागमें लगे हुए रत्नोंसे जिनके चरण के नखरूपी चन्द्रमा अत्यन्त चमक रहे थे, जो धैर्य और बलसे सहित थे तथा जो इसलिये ही क्षोभको प्राप्त हुए सर्पोंके समूहसे कभी आकुलताको प्राप्त नहीं हुए थे वे आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके पुत्र बाहुबली योगिराज सदा जयवन्त रहें ॥२०९॥ भूमरोंके समूहके समान काले, भुजाओं तक लटकते हुए तथा जिनका अग्रभाग टेढ़ा हो रहा है ऐसे मस्तकके वालोंसे जिनकी भुजाओंका अग्रभाग ढक गया है और इसलिये ही जो मेधोंके आवरणसे मलिन शिखरवाले पर्वतकी पूर्ण शोभाको पुष्ट कर रहे हैं वे भगवान् बाहुबली हम सबकी रक्षा करें ॥२१०॥ जो शीतकालमें वर्षासे ढके हुए ऊँचे शरीरको धारण करते हुए पर्वतके समान प्रकट होते थे, वर्षाऋतुमें नवीन मेवोंके जलके समूहसे प्रक्षालित होते थे—भीगते रहते थे और ग्रीष्मकालमें सूर्यकी किरणोंको सहन करते थे वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हों ॥२११॥ जिन्होंने अन्तरङ्ग—बहिरङ्ग शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली है, बड़े बड़े योगिराज ही जिनकी महिमा जान सकते हैं, और जो पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूजनीय हैं ऐसे इन योगिराज बाहुबलीको जो पुरुष अपने हृदयमें स्मरण करता है उसका अन्तरात्मा शान्त हो जाता है और वह शीघ्र ही जिनेन्द्रभगवान्की अजय्य (जिसे कोई जीत न सके) विजयलक्ष्मी—मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥२१२॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके भाषा-

नुवादमें बाहुबलीका जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध और नेत्र-युद्धमें विजय प्राप्त करना,

दीक्षा धारण करना, और केवलज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन

करनेवाला—छत्तीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

१ कृत्तरोः । २ आच्छादितबाहुबलीभिः । ३ वक्र । 'अविरुद्धं कुटिलं भुम्नं वेतिलतं वक्रमित्यपि' इत्यभिधानात् । ४ हिमसंहतिवेष्टितम् । 'हिमानी हिमसंहतिः' इत्यभिधानात् । ५ प्रावृट्काले । ६ सूर्यः । ७ सहति स्म । ८ जयशीलम् । ९ पजितम् । १० उपशान्तचित्तः ।

सप्तत्रिंशत्तमं पर्व

अथ निर्वर्तिताशेषदिग्जयो भरतेश्वरः । पुरं साकेतमुत्केतुं प्राचिक्षत् परया श्रिया ॥ १ ॥
 'तत्रास्य' नृपशार्दूलः अभिवेकः कृतो मृदा । 'चातुरन्तजयश्रीस्ते' प्रथमां भुवनेष्विति ॥ २ ॥
 तमभ्यषिञ्चन् पौराश्च सान्तःपुरपुरोधसः । चिरायुः पृथिवीराज्यं 'क्रियाद्' देव भवानिति ॥ ३ ॥
 राज्याभिवेचने भर्तुर्गो विधिर्बृषभेशिनः । स सर्वोऽत्रापि तीर्थाम्बुसंभारादिः कृतो नृपः ॥ ४ ॥
 'तथाऽभिषिक्तस्तेनैव' विधिनाऽलङ्कृतोऽधिराट् । तथैव जयघोषादिः प्रयुक्तः सामरैर्नृपैः ॥ ५ ॥
 तथैव सत्कृता विश्वे पाथिवाः ससनाभयः । तथैव तपितो लोकः परया दानसम्पदा ॥ ६ ॥
 'तथाध्वनन् महाघोषा' नान्दोघोषा महानकाः । प्रक्षुब्धदन्विनिर्घोषो येषां घोषैरथः कृतः ॥ ७ ॥
 आनन्दिन्यो महाभेर्यः तथैवाभिहता मुहुः । सङ्क्षोतविधिरारब्धः तथा प्रमदमण्डपे ॥ ८ ॥
 मूर्धाभिषिक्तैः प्राप्ताभिवेकस्यास्याजनि द्युतिः । मेराविवाभिषिक्तस्य नाकीन्द्रैरादिवेधसः ॥ ९ ॥
 गङ्गासिन्धु सरिद्देव्यौ साक्षतस्तीर्थवारिभिः । 'अभ्यौक्षिष्ठां' तमभ्येत्य रत्नभृङ्गारसम्भृतैः ॥ १० ॥
 कृताभिवेकमेनं च नृपासनमधिष्ठितम् । 'गणबद्धामरा भेजुः' प्रणम्यैर्मणिमौलिभिः ॥ ११ ॥

अथानन्तर जिसने समस्त दिग्बिजय समाप्त कर लिया है ऐसे भरतेश्वरने जिसमें अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे अयोध्यानगरमें बड़े वैभवके साथ प्रवेश किया ॥१॥ चतुरंग बिजयसे उत्पन्न हुई आपकी लक्ष्मी संसारमें अतिशय वृद्धि और प्रसिद्धिको प्राप्त होती रहे यही विचार कर बड़े बड़े राजाओंने उस अयोध्या नगरमें हर्षके साथ महाराज भरतका अभिषेक किया था ॥२॥ हे देव, आप दीर्घजीवी होते हुए चिरकालतक पृथिवीका राज्य करें, इस प्रकार कहते हुए अन्तःपुर तथा पुरोहितोंके साथ नगरके लोगोंने उनका अभिषेक किया था ॥३॥ जो विधि भगवान् वृषभदेवके राज्याभिषेकके समय हुई थी, तीर्थोंका जल इकट्ठा करना आदि वह सब विधि महाराज भरतके अभिषेकके समय भी राजाओंने की थी ॥४॥ देवोंके साथ साथ राजाओंने भगवान् वृषभदेवके समान ही भरतेश्वरका अभिषेक किया था, उसी प्रकार आभूषण पहिनाये थे और उसी प्रकार जयघोषणा आदि की ॥५॥ उसीप्रकार परिवारके लोगोंके साथ साथ राजाओंका सत्कार किया गया था, और उसीप्रकार दानमें दी हुई सम्पत्तिसे सब लोग संतुष्ट किये गये थे ॥६॥ जिनके शब्दोंने क्षोभित हुए समुद्रके शब्दको भी तिरकृत कर दिया था, ऐसे बड़े बड़े शब्दोंवाले मांगलिक नगाड़े उसीप्रकार बजाये गये थे ॥७॥ उसी प्रकार आनन्दकी महाभेरियां बार बार बजाई जा रही थीं और आनन्दमण्डपमें संगीतकी विधि भी उसी प्रकार प्रारम्भ की गई थी ॥८॥ मेरु पर्वतपर इन्द्रोंके द्वारा अभिषेक किये हुए आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवकी जैसी कान्ति हुई थी उसी प्रकार राजाओंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त हुए महाराज भरतकी भी हुई थी ॥९॥ गंगा-सिन्धु नदियोंकी अधिष्ठात्री गंगा-सिन्धु नामकी देवियोंने आकर रत्नोंके भृङ्गारोंमें भरे हुए अक्षत सहित तीर्थजलसे भरतका अभिषेक किया था ॥१०॥ जिनका अभिषेक समाप्त हो चुका है और जो राजसिंहासनपर बैठे हुए हैं ऐसे महाराज भरतकी अनेक गणबद्धदेव अपने मणिमयी मुकुटोंको नवा-नवाकर

१ साकेतपुर्याम् । २ चक्रिणः । ३ चतुर्दिक्षु भवा जयलक्ष्मीः । चातुरङ्ग-ल०, अ०, प०, स०, इ० । ४ कुरु । ५ समूह । ६ यथा वृषभोऽभिषिक्तः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । ७ प्रथम-मङ्गलरवाः । ८ अभिषेकं चक्रतुः । ९ अङ्गरक्षदेवाः ।

हिमवद्विजयार्धेशी मागध्याद्याश्च देवताः । खेचराश्चोभयश्रेण्योः तं नेमुर्मन्मौलयः ॥ १२ ॥
 सोऽभिषिक्तोऽपि नोत्सिक्तो बभूव नृपसत्तमः । महतां हि मनोवृत्तिः नोत्सेकं^१परिरम्भिणी ॥ १३ ॥
 चामरैर्वीज्यमानोऽपि न निर्वृत्तिमगाव विभुः । भ्रातृष्वसंविभक्ता श्रीः इतीहानुशयानुगः ॥ १४ ॥
 दोर्बलिभ्रातृसङ्घर्षात् नास्य तेजो विकषितम् । प्रत्युत्तोत्कषिहेम्नो वा घृष्टस्य निकषोपले ॥ १५ ॥
 निष्कण्टकमिति प्राप्य साम्राज्यं भरताधिपः । बभौ भास्वानिवोद्विक्तप्रतापः शुद्धमण्डलः ॥ १६ ॥
 क्षेमकतानतां भेजुः प्रजास्तस्मिन् सुराजनि । योगक्षेमौ वितन्वाने मन्वानाः स्वां सनाथताम् ॥ १७ ॥
 यथास्वं संविभज्यामी सम्भुक्ता निधयोऽमुना । सम्भोगः संविभागश्च फलमर्थार्जने द्वयम् ॥ १८ ॥
 रत्नान्यपि यथाकामं^२निविष्टानि निधीशिता । रत्नानि ननु तान्येव दानि दान्त्युपयोगिताम् ॥ १९ ॥
 मनुश्चक्रभूतामाद्यः षट्खण्डभरताधिपः । राजराजोऽधिराट् सम्राडित्यस्योद्धोषितं यशः ॥ २० ॥
 नन्दनो वृषभेशस्य भरतः शातमातुरः । इत्यस्य रोदसी व्याप शुभ्रा कीर्तिरनश्वरी ॥ २१ ॥
 कोदूक् परिच्छदस्तस्य विभवश्चक्रवर्तिनः । इति^३प्रश्नवशादस्य विभवोद्देशकीर्तनम् ॥ २२ ॥
 गलन्मदजलास्तस्थ गजाः सुरगजोपमाः । लक्षाश्चतुरशीतिस्ते^४रदैर्बद्धैः^५सुकल्पितैः ॥ २३ ॥

सेवा कर रहे थे ॥११॥ हिमवान् और विजयार्ध पर्वतके अधीश्वर हिमवान् तथा विजयार्ध-
 देव, मागध आदि अन्य अनेक देव, और उत्तर-दक्षिण श्रेणीके विद्याधर अपने मस्तक भुका
 भुकाकर उन्हें नमस्कार कर रहे थे ॥१२॥ अनेक अच्छे अच्छे राजाओंके द्वारा अभिषिक्त
 होनेपर भी उन्हें कुछ भी अहंकार नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी मनोवृत्ति
 अहंकारका स्पर्श नहीं करती ॥१३॥ यद्यपि उनके ऊपर चमर ढुलाये जा रहे थे तथापि वे
 उससे संतोषको प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि उन्हें निरन्तर इस बातका पछतावा हो रहा था
 कि मैंने अपनी विभूति भाइयोंकी नहीं बांट पाई ॥१४॥ भाई बाहुबलीके संघर्षसे उनका
 तेज कुछ कम नहीं हुआ था किन्तु कसौटीपर घिसे हुए सोनेके समान अधिक ही हो गया था
 ॥१५॥ इस प्रकार निष्कण्टक राज्यको पाकर महाराज भरत उस सूर्यके समान देदीप्यमान
 हो रहे थे जिसका कि प्रताप बढ़ रहा है और मण्डल अत्यन्त शुद्ध है ॥१६॥ योग (अप्राप्त
 वस्तुकी प्राप्ति करना) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना) को फैलानेवाले उन उत्तम
 राजा भरतके विद्यमान रहते हुए प्रजा अपने आपको सनाथ समझती हुई कुशल मंगलको
 प्राप्त होती रहती थी ॥१७॥ महाराज भरतने निधियोंका यथायोग्य विभागकर उनका
 उपभोग किया था सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं संभोग करना और दूसरेको विभाग कर देना
 ये दो ही धन कमानेके मुख्य फल हैं ॥१८॥ निधियोंके स्वामी भरतने रत्नोंका भी इच्छानुसार
 उपभोग किया था सो ठीक ही है क्योंकि वास्तवमें रत्न वही हैं जो उपयोगमें आवें ॥१९॥
 यह सोलहवां मनु है, चक्रवर्तियोंमें प्रथम चक्रवर्ती है, षट् खण्ड भरतका स्वामी है, राजराजेश्वर
 है, अधिराट् है और सम्राट् है इस प्रकार उसका यश उद्घोषित हो रहा था ॥२०॥ यह
 भरत भगवान् वृषभदेवका पुत्र है और इसकी माताके सौ पुत्र हैं इस प्रकार इसकी कभी नष्ट
 नहीं होनेवाली उज्ज्वल कीर्ति आकाश तथा पृथिवीमें व्याप्त हो रही थी ॥२१॥ उस चक्रवर्ती-
 का परिवार कितना था ? और विभूति कितनी थी ? राजा श्रेणिकके इस प्रश्नका उत्तर
 देनेके लिये गौतमस्वामी उसकी विभूतिका इस प्रकार वर्णन करने लगे ॥२२॥ महाराज
 भरतके, जिनके गण्डस्थलसे मदरूपी जल भर रहा है, और जो जड़े हुए सुसज्जित दांतोंसे सुशो-

१ उत्सेकः अहङ्कारवान् । गर्वाल्लङ्घिनी । २ सुखम् । ३ अनुभूतानि । ४ श्रेणिप्रश्नवशात् ।
 ५ रदैः उपलक्षिताः । ६ स्वर्णकटकखण्डैः ।

दिव्यरत्नविनिर्माणरथास्तावन्त^१ एव हि । मनोवायुजवाः सूर्यरथप्रस्पधिरंहसः^२ ॥ २४ ॥
 कोटयोऽष्टादशश्वानां भूजलाम्बरचारिणाम् । यत्खुराग्राणि धौतानि पूतैस्त्रिपथगा^३ जलैः ॥ २५ ॥
 चतुर्भिरधिकाशीतिः कोटयोऽस्य पदातयः । येषां सुभटसम्मर्दे निरुद्ध^४ पुरुषव्रतम्^५ ॥ २६ ॥
 वज्रास्थिवन्धन^६ वाज्रैः बलवैर्वेष्टितं वपुः । वज्रनाराचनिभिन्नम्^७ अभेद्यमभवत् प्रभोः ॥ २७ ॥
 समसुप्रविभक्ताङ्गां चतुरस्र^८ सुसंहति^९ । वपुः सुन्दरमस्यासीत् संस्थानेनादिना विभोः ॥ २८ ॥
 निःस्पृक्तकनकच्छायं सञ्चतुःषष्टिलक्षणम् । रुक्ते व्यञ्जनैस्तस्य निसर्गसुभगं वपुः ॥ २९ ॥
 शरीरं यच्च यावच्च बलं षट्षण्डभूभुजाम् । ततोऽधिकतरं तस्य बलमासीद् बलीयसः ॥ ३० ॥
 शासनं तस्य चक्राङ्कम् आसिन्धोरनिवारितम् । शिरोभिरुडमारुढविक्रमैः पृथिवीश्वरैः ॥ ३१ ॥
 द्वात्रिंशन्मौलिवद्वानां सहस्राणि महोक्षिताम्^{१०} । कुलाचलैरिवाद्भोन्द्रः स रेजे यैः परिष्कृतः ॥ ३२ ॥
 तावन्त्येव सहस्राणि देशानां सुनिवेशिताम् । यैरलङ्कृतमाभाति चक्रभृत्क्षेत्रमायतम् ॥ ३३ ॥
^{११}कलाभिजात्यसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमास्मृताः । रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः ॥ ३४ ॥
 म्लेच्छराजादिभिर्दत्ताः तावन्त्यो नृपवल्लभाः । अन्तरःसंकथाः क्षीर्णा यकाभिरवतारिताः ३५ ॥
 श्रवणद्वयश्च तावन्त्यः तन्व्यः कोमलविग्रहाः । मदनीहीपनैर्यासां दृष्टिबाणैर्जितं जगत् ॥ ३६ ॥

भित हैं ऐसे ऐरावत हाथीके समान चौरासी लाख हाथी थे ॥२३॥ जिनका वेग मन और वायुके समान है अथवा जिनकी तेज चाल सूर्यके साथ स्पर्धा करनेवाली है ऐसे दिव्य रत्नोंके बने हुए उतने ही अर्थात् चौरासी लाख ही रथ थे ॥२४॥ जिनके खुरोंके अग्रभाग पवित्र गंगा-जलसे धुले हुए हैं और जो पृथिवी, जल तथा आकाशमें समान रूपसे चल सकते हैं ऐसे अठारह करोड़ घोड़े हैं ॥२५॥ अनेक योद्धाओंके मर्दन करनेमें जिनका पुरुषार्थ प्रसिद्ध है ऐसे चौरासी करोड़ पैदल सिपाही थे ॥२६॥ महाराज भरतका शरीर वज्रकी हड्डियोंके बन्धन और वज्रके ही वेष्टनोंसे वेष्टित था, वज्रमय कीलोंसे कीलित था और अभेद्य अर्थात् भेदन करने योग्य नहीं था । भावार्थ—उनका शरीर वज्रवृषभनाराचसंहननका धारक था ॥२७॥ उनका शरीर चतुरस्र था—चारों ओरसे मनोहर था, उसके अंगोंपांगोंका विभाग समानरूपसे हुआ था अंगोंकी मिलावट भी ठीक थी और समचतुरस्र नामके प्रथम संहननसे अत्यन्त सुन्दर था ॥२८॥ जिसकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी और जिसपर चौंसठ लक्षण थे ऐसा उसका स्वभावसे ही सुन्दर शरीर तिल आदि व्यञ्जनोसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥२९॥ छहों खण्डके राजाओंका जो और जितना कुछ शारीरिक बल था उससे कहीं अधिक बल उस बलवान् भरतके शरीरमें था ॥३०॥ जिसका चक्र ही चिह्न है और समुद्रपर्यन्त जिसे कोई नहीं रोक सकता ऐसे उसके शासनको बड़े बड़े पराक्रमको धारण करनेवाले राजालोग अपने शिरपर धारण करते थे ॥३१॥ उनके बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा थे, उन राजाओंसे वेष्टित हुए महाराज भरत कुलाचलोंसे घिरे हुए सुमेरु पर्वतके समान सुशोभित होते थे ॥३२॥ महाराज भरतके अच्छी अच्छी रचनावाले बत्तीस हजार ही देश थे और उन सबसे सुशोभित हुआ चक्रवर्तीका लम्बा चौड़ा क्षेत्र बहुत ही अच्छा जान पड़ता था ॥३३॥ उनके उतनी ही अर्थात् बत्तीस हजार ही देवियां थीं जो कि उच्च कुल और जातिसे सम्पन्न थीं तथा जो रूप लावण्य और कान्तिकी शुद्ध खानिके समान जान पड़ती थीं ॥३४॥ इनके सिवाय जिन्होंने पृथिवीपर अप्सराओंकी कथाओंको उतार लिया था ऐसी म्लेच्छ राजा आदिकोंके द्वारा दी हुई बत्तीस हजार प्रियरानियां थीं ॥३५॥ इसी प्रकार जिनका शरीर अत्यन्त कोमल था और कामको उत्तेजित करने-

नखांशु कुसुमोद्भेदैः आरवैः पाणिपल्लवैः । तास्तन्व्यो भुजशाखाभिः भेजुः कल्पलताभ्रियम् ॥ ३७ ॥
 स्तनाब्जकुटुम्बलेरास्यपङ्कजैश्च विकसिभिः । अञ्जिन्य इव ता रेजुः मदनावासभूमिकाः ॥ ३८ ॥
 मन्ये पात्राणि गात्राणि तासां कामग्रहोच्छ्रितौ । पद्मवैशवशावैषं वशां प्राप्नोऽतिवर्तिनोम् ॥ ३९ ॥
 शङ्कै^१ निशातपाषाणाभ्रखानासां मनोभुवः । यत्रोपाखण्ड^२ तैक्ष्ण्यैः स्वेः अविध्यत् कामिनः शरैः ॥ ४० ॥
 सत्यं महेशुधी जडधे तासां मदनवन्धनः । कामस्यारोहनिःश्रेणी^३ स्थानीयावूरुवण्डकौ ॥ ४१ ॥
 कटी कुटी मनोजस्य काञ्चीसालकृतावृत्तिः । नाभिरासां गभीरंका कूपिका चित्तजन्मनः ॥ ४२ ॥
 मनोभुवोऽतिवृद्धस्य मन्थे^४ ज्वलन् घण्टिका । रोमराजिः स्तनौ चासां कामरत्नकरण्डकी ॥ ४३ ॥
 कामपाशायतौ बाहू शिरीषोद्गमकोमलौ । कामस्योच्छ्रवसितं^५ कण्ठः सुकण्ठीतां मनोहरः ॥ ४४ ॥
 मुखं रतिसुखागारप्रमुखं^६ मुखबन्धनम् । वैराग्यरससङ्गस्य तासां च दशनच्छदः^७ ॥ ४५ ॥
 द्विविलासाः शरास्तासां कर्णान्तौ लक्ष्यतां गतौ । भ्रूल्लरी धनुर्यष्टिः जिगीषोः पृष्पधन्विनः ॥ ४६ ॥
 ललाटाभोगमेतासां मन्ये बाह्यालिका^८ स्थलम् । अनङ्गनृपतेरिष्ट^९ भोगकन्दुकचारिणः ॥ ४७ ॥
^{१०} अलकाः कामकृष्णाहैः शिशवः^{११} परिवुञ्जिताः । कुञ्चिताः केशवल्लर्यो मदनस्येव बागुराः^{१२} ॥ ४८ ॥

वाले जिनके नेत्ररूपी बाणोंसे यह समस्त संसार जीता गया था ऐसी बत्तीस हजार रानियां और भी उनके अन्तःपुरमें थीं ॥३६॥ वे छियानवे हजार रानियां नखोंकी किरणरूपी फूलों-के खिलनेसे, कुछ कुछ लाल हथेलीरूपी पल्लवोंसे और भुजारूपी शाखाओंसे कल्पलताकी शोभा धारण कर रही थीं ॥३७॥ कामदेवके निवास करनेकी भूमिस्वरूप वे रानियां स्तनरूपी कमलोंकी बोड़ियोंसे और खिले हुए मुखरूपी कमलोंसे कमलिनियोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥३८॥ मैं समझता हूँ कि उन रानियोंके शरीर कामरूपी पिशाचकी उन्नतिके पात्र थे क्योंकि उनके आवेशके वशसे ही यह कामदेव सबको उल्लंघन करनेवाली विशाल अवस्था-को प्राप्त हुआ था ॥३९॥ अथवा मुझे यह भी शंका होती है कि उन रानियोंके नख, काम-देवके बाण पाने करनेके पाषाण थे क्योंकि वह उन्हींपर घिसकर पाने किये हुए बाणोंसे कामी लोगोंपर प्रहार किया करता था ॥४०॥ यह भी सच है कि उनकी जंघाएँ कामदेवरूपी धनु-धारीके बड़े बड़े तरकस थे और ऊरुदण्ड (घुटनोंसे ऊपरका भाग) कामदेवके चढ़नेकी नर्सनी के समान थे ॥४१॥ करधनीरूपी कोटसे घिरी हुई उनकी कमर कामदेवकी कुटीके समान थी और उनकी नाभि कामदेवकी गहरी कूपिका (कुड़ियाँ) के समान जान पड़ती थी ॥४२॥ मैं मानता हूँ कि उनकी रोमराजि कामदेवरूपी अत्यन्त वृद्ध पुरुषके सहारेकी लकड़ी थी और उनके स्तन कामदेवके रत्न रखनेके पिटारे थे ॥४३॥ शिरीषके फूलके समान कोमल उनकी दोनों भुजाएँ कामदेवके पाशके समान लम्बी थीं और अच्छे कण्ठवाली उन रानियोंका मनोहर कण्ठ कामदेवके उच्छ्वासके समान था ॥४४॥ उनका मुख रति (प्रीति) रूपी सुखका प्रधान भवन था और उनके ओठ वैराग्यरसकी प्राप्तिके मुखबन्धन अर्थात् द्वार बन्द करनेवाले कपाट थे ॥४५॥ उन रानियोंके नेत्रोंके कटाक्ष विजयकी इच्छा करनेवाले कामदेवके बाणोंके समान थे, कानके अन्तभाग उसके लक्ष्य अर्थात् निशानोंके समान थे और भौंहरूपी लता धनुषकी लकड़ीके समान थी ॥४६॥ मैं समझता हूँ कि उन रानियोंके ललाटका विस्तार इष्टभोग रूपी गेदसे खेलनेवाले कामदेवरूपी राजाके खेलनेका मानो मैदान ही हो ॥४७॥ उनके

१ चक्री । २ शङ्कां करोमि । ३ प्राप्त । ४ सदृशी इत्यर्थः । ५ आधार । ६ जीवितम् । ७ प्रकृष्टद्वारम् । ८ पीनाहः । 'पीनाहो मुखबन्धनमस्य यत्' इत्यभिधानात् । ९ रदनच्छदः - ल० । १० सेतुः । 'सेतुरालौ स्त्रियां पुमान्' । ११ इष्टभोगा एव कन्दुक । १२ चूर्णकुन्तला । 'अलकाश्चूर्ण-कुन्तला' इत्यभिधानात् । १३ शावकाः । 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यभिधानात् । १४ मृगबन्धनी ।

इत्यनङ्गमयीं सृष्टिं तन्वानाः स्वाङ्गसङ्गिनोम् । मनोऽस्य^१ जगृहुः कान्ताः कान्तैः स्वैः कामचेष्टितैः
तासां मृदुकरस्पर्शः प्रेमस्निग्धैश्च वीक्षितैः । महती धृतिरस्यासीज्जल्पितैरपि मन्मदैः^२ ॥ ५० ॥
स्मितेष्वासां दरोद्भिन्नो^३ हसितेषु विकस्वरः । फलितः^४ परिरम्भेषु^५ रसिकोऽभूद्रतद्रुमः ॥ ५१ ॥
भूक्षेपयन्त्रपाषाणैः दूक्षेपक्षेपणीकृतैः । बहुदुर्गणस्तासां स्मरोऽभूत् सकचग्रहः ॥ ५२ ॥
खरः प्रणयगर्भेषु कोरेष्वनुनये मृदुः । स्तब्धो व्यलीकमानेषु मुग्धः प्रणयकैतवे ॥ ५३ ॥
निर्दयः परिरम्भेषु सानुज्ञानो मुखार्पणे । प्रतिपत्तिषु सम्मूढः पटुः करणचेष्टिते ॥ ५४ ॥
संकल्पेष्वाहितोत्कर्षो मन्दः प्रत्यग्रसङ्गमे । प्रारम्भे रसिको दीप्तः प्रान्ते करुणकातरः^६ ॥ ५५ ॥
इच्छा^७ चर्चितां भजे तासां दीप्तः स मन्मथः । प्रायो भिन्नरसः कामः कामिनां हृदयङ्गमः ॥ ५६ ॥
प्रकाममधुरानित्यं कामान्^८ कामातिरेकिणः । स ताभिर्निविशन् रेमे^९ बपुष्मानिव मन्मथः ॥ ५७ ॥
ताश्च तच्चित्तहारिण्यः तरुण्यः प्रणयोद्भुराः । बभूवुः प्राप्तसाम्राज्या इव^{१०} रत्युत्सवश्रियः ॥ ५८ ॥

इकट्ठे हुए आगेके सुन्दर बाल कामदेवरूपी काले सर्पके बच्चाके समान जान पड़ते थे तथा कुछ कुछ टेढ़ी हुई केशरूपी लताएँ कामदेवके जालके समान जान पड़ती थीं ॥४८॥ इस प्रकार अपने शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली काममयी रचनाको प्रकट करती हुई वे रानियाँ अपनी सुन्दर कामकी चेष्टाओं से महाराज भरतका मन हरण करती थीं ॥४९॥ उनके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, प्रेमपूर्ण सरस अवलोकनसे, और अव्यक्त मधुर शब्दोंसे इसे बहुत ही संतोष होता था ॥५०॥ रससे भरा हुआ सुरतरूपी वृक्ष इन रानियोंके मन्द मन्द हँसनेपर कुछ खिल जाता था, जोरसे हँसनेपर पूर्णरूपसे खिल जाता था और आलिंगन करनेपर फलोंसे युक्त हो जाता था ॥५१॥ भौंहोंके चलानेरूप यन्त्रोंसे फेंके हुए पत्थरोंके द्वारा तथा दृष्टियोंके फेंकनेरूपी यन्त्रविशेषों (गुथनों)के द्वारा उन स्त्रियोंका बहुत प्रकारका किलेबन्दीका युद्ध होता था और कामदेव उसमें सबकी चोटी पकड़नेवाला था । भावार्थ—कामदेव उन स्त्रियोंसे अनेक प्रकारकी चेष्टा कराता था ॥५२॥ कामदेव इनके प्रेमपूर्ण क्रोधके समय कठोर हो जाता था, अनुनय करने अर्थात् पतिके द्वारा मनाये जानेपर कोमल हो जाता था, झूठा अभिमान करनेपर उद्दण्ड हो जाता था, प्रेमपूर्ण कपट करते समय भोला या अनजान हो जाता था, आलिंगनके समय निर्दय हो जाता था, चुम्बनके लिये मुख प्रदान करते समय आज्ञा देनेवाला हो जाता है, स्वीकार करते समय विचार मूढ़ हो जाता है, हाव-भाव आदि चेष्टाओंके समय अत्यन्त चतुर हो जाता है, संकल्प करते समय उत्कर्षको धारण करनेवाला हो जाता है, नवीन समागमके समय लज्जासे कुछ मन्द हो जाता है, संभोग प्रारम्भ करते समय अत्यन्त रसिक हो जाता था और संभोगके अन्तमें करुणासे कातर हो जाता था । इस प्रकार उन रानियोंका अत्यन्त प्रज्वलित हुआ कामदेव ऊँची-नीची अवस्थाको प्राप्त होता था अर्थात् घटता-बढ़ता रहता था सो ठीक ही है जो काम प्रायः भिन्न भिन्न रसोंसे भरा रहता है वही कामी पुरुषोंको सुन्दर मालूम होता है ॥५३-५६॥ इस प्रकार वह चक्रवर्ती उन रानियोंके साथ अत्यन्त मधुर तथा इच्छाओंसे भी अधिक भोगोंको भोगता हुआ शरीरधारी कामदेवके समान क्रीड़ा करता था ॥५७॥ भरतके चित्तको हरण करनेवाली और प्रेमसे भरी हुई वे तरुण स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो साम्राज्यको प्राप्त हुई रत्युत्सवरूपी लक्ष्मी ही हों ॥५८॥

१ भरतस्य । २ अव्यक्तेः । ३ ईषद्विकसित । ४ फलितः ल० । ५ आलिंगनेषु । ६ दुर्गयुद्धसदृशः । ७ नव । ८ करुणरसातुरः । ९ नानालंकारताम् । १० मनोरथवृद्धिकरान् । ११ मूर्तिमान् । १२ रत्युत्सवे श्रियः ल० ।

नाटकानां सहस्राणि द्वात्रिंशत्प्रमितानि वै । सातोद्यानि सगेयानि यानि रम्याणि भूमिभिः ॥ ५६ ॥
 द्वासप्ततिः सहस्राणि पुरामिन्द्रपुरश्चियम् । स्वर्गलोक इवाभाति नृलोको यैरलङ्कृतः ॥ ५७ ॥
 ग्रामकोट्यश्च विज्ञेया विभोः षण्णवतिप्रमाः । नन्दनोद्देशजित्वर्यो याताभारामभूमयः ॥ ५८ ॥
 द्रोणामुखसहस्राणि नवतिर्नव चैव हि । धनधान्यसमृद्धीनाम् अधिष्ठानानि यानि वै ॥ ५९ ॥
 पत्तनानां सहस्राणि चत्वारिंशत्तथाऽष्ट च । रत्नाकरा इवाभास्ति येनानुद्धा वणिक्पथाः ॥ ६० ॥
 षोडशैव सहस्राणि खेटानां पुरिमा मता । प्राकारगोपुराट्टालखातयप्राविशोभिनाम् ॥ ६१ ॥
 भवेयुरन्तरद्वीपाः षट्पञ्चाशत्प्रमाभिताः । कुमानुषजनाकीर्णा येऽर्णवस्य खिलायिताः ॥ ६२ ॥
 संवाहानां सहस्राणि संख्यातानि चतुर्दश । वहन्ति यानि लोकस्य योगक्षेमविधाविधिम् ॥ ६३ ॥
 स्थालीनां कोटिरैकोक्ता रन्धने वा नियोजिता । पक्वो स्थालीबिलीयानां तण्डुलानां महानसे ॥ ६४ ॥
 कोटीशतसहस्रं स्याद्वलानां कुटिबैः समम् । कमन्तिकर्षणे यस्य विनियोगो निरन्तरः ॥ ६५ ॥
 तिस्त्रोऽस्य वज्रकोटयः स्युः गोकुलं शङ्खदाकुलाः । यत्र मन्थरवाकुष्टाः तिष्ठन्ति स्माध्वगाः क्षणम् ॥ ६६ ॥
 कुक्षिवासशतान्यस्य सप्तैवोक्तानि कोविदैः । प्रत्यन्तवासिनो यत्र न्यवात्सुः कृतसंभयाः ॥ ६७ ॥

उनकी विभूतिमें बत्तीस हजार नाटक थे जो कि भूमियोंसे मनोहर थे और अच्छे अच्छे बाजों तथा गानोंसे सहित थे ॥५९॥ इन्द्रके नगर समान शोभा धारण करनेवाले ऐसे बहत्तर हजार नगर थे जिनसे अलङ्कृत हुआ यह नरलोक स्वर्गलोकके समान जान पड़ता था ॥६०॥ उस चक्रवर्ती ऐसे छियानवे करोड़ गांव थे कि जिनके वणिचोंकी शोभा नन्दन वनको भी जीत रही थी ॥६१॥ जो धन-धान्यकी समृद्धियोंके स्थान थे ऐसे निन्द्यानवे हजार द्रोणामुख अर्थात् बन्दरगाह थे ॥६२॥ जिनके प्रशंसनीय बाजार रत्नाकर अर्थात् समुद्रोंके समान सुशोभित हो रहे थे ऐसे अड़तालीस हजार पत्तन थे ॥६३॥ जो कोट, कोटक प्रमुख दरवाजे, अटारियां, परिखाएं और परकोटा आदिसे शोभायमान हैं ऐसे सोलह हजार खेट थे ॥६४॥ जो कुभोगभूमि या मनुष्योंसे व्याप्त थे तथा समुद्रके सारभूत पदार्थके समान जान पड़ते थे ऐसे छप्पन अन्तरद्वीप थे ॥६५॥ जो लोगोंके योग अर्थात् नवीन वस्तुओंकी प्राप्ति और क्षेम अर्थात् प्राप्त हुई वस्तुओंकी रक्षा करना आदिकी समस्त व्यवस्थाओंको धारण करते थे तथा जिनके चारों ओर परिखा थी ऐसे चौदह हजार संवाह थे * ॥ ६६ ॥ पकानेके काम आनेवाले एक करोड़ हंडे थे जो कि पाकशालामें अपने भीतर डाले हुए बहुतसे चावलोंको पकानेवाले थे ॥६७॥ फसल आनेके बाद जो निरन्तर खेतोंको जोतनेमें लगाये जाते हैं और जिनके साथ बीज बोनेकी नाली लगी हुई है ऐसे एक लाख करोड़ हल थे ॥६८॥ दही मथनेके शब्दोंसे आकर्षित हुए पथिक लोग जहां क्षणभरके लिये ठहर जाते हैं और जो निरन्तर गायोंके समूहसे भरी रहती हैं ऐसी तीन करोड़ ब्रज अर्थात् गौशालाएँ थीं ॥६९॥ जहां आश्रय पाकर समीपवर्ती लोग आकर ठहरते थे ऐसे कुक्षिवासोंकी संख्या पण्डित लोगोंने सातसौ

१ वैषेः । २ पुराणम् । ३ जयशीलाः । ४ नवाधिकनवतिः । ५ प्रशस्ताः । ६ घुलिकुट्टिम । ७ अप्रतिहतस्थानायिताः । ८ द्वे खिलाप्रहते सप्ते इत्यभिधानात् । ९ सख्यातानि-ज० । १० पचने । ११ पचनकरी । १२ स्थालीबिलमर्हन्तीति स्थालीबिलीयास्तेषाम् । पचनार्हताम् इत्यर्थः । १३ कोटीनां लक्षम् । १४ कुलिपेः ६०, ८०, १००, १२०, १४० । कुलिभेः ८० । कुटिभेः ६० । १५ आसन्नफल-विषयक्षेत्रकर्षणे । १६ गोस्थानकम् । 'ब्रजो ग्रीष्ठाध्ववृन्देषु' इत्यभिधानात् । १७ रत्नानां क्रयविक्रयस्थान । १८ म्लेच्छाः । १९ निवसन्ति स्म । * पहाड़ोंपर बसनेवाले नगर संवाह कहलाते हैं । † जहां रत्नों का व्यापार होता है उन्हें कुक्षिवास कहते हैं ।

दुर्गादेवी^१सहस्राणि तस्याष्टाविंशतिर्मता ।^२वनधन्वाननिम्नादिविभागैर्था विभागिताः ॥७१॥
 म्लेच्छराजसहस्राणि तस्याष्टदशसंख्यया ।^३रत्नानामुद्भवक्षेत्रं यैः^४समन्तादधिष्ठितम् ॥७२॥
 कालाख्यश्च महाकालो नैस्सर्प्यः पाण्डुकाह्वया ।^५पद्ममाणवपिङ्गाब्ज^६सर्वरत्नपदादिकाः ॥७३॥
 निधयो नव तस्यासन् प्रतोतैरिति नामभिः ।^७यैरयं गृहवार्तायां^८निश्चिन्तोऽभून्निधीश्वरः ॥७४॥
 निधिः पुण्यनिधेरस्य कालाख्यः प्रथमो मतः ।^९यतो^{१०}लौकिकशब्दादिवार्तानां प्रभवोऽन्वहम् ॥७५॥
 इन्द्रियार्था मनोज्ञा ये वीणावंशानकादयः । तान् प्रसूते यथाकालं निधिरेष विशेषतः ॥७६॥
 अस्मिन्धादिषु^{११}कर्तृसाधनद्रव्यसम्पदः । यतः शश्वत् प्रसूयन्ते महाकालो निधिः स वै ॥७७॥
 शय्यासनालयादीनां नैःसर्प्यात् प्रभवो निधिः । पाण्डुकाह्वान्यसम्भूतिः षड्रसोत्पत्तिरप्यतः ॥७८॥
 पट्टांशुकदुकूलादिवस्त्राणां प्रभवो यतः । स पद्माख्यो निधिः पद्मागर्भाविर्भावितोऽद्युतत् ॥७९॥
 दिव्याभरणभेदानाम् उद्भवः पिङ्गलाग्निधेः । माणवानोतिशास्त्राणां शस्त्राणां च समुद्भवः ॥८०॥
 शङ्खत् प्रदक्षिणावर्तात् सोवर्णं सृष्टिमुत्सृजन्^{१२} । स शङ्खनिधिरुत्प्रेङ्ख^{१३}द्वहक्मरोर्चाजितार्कहृक् ॥८१॥
 सर्वरत्नान्महानीलनीलस्थूलो^{१४}पलादयः । प्रादुःसन्ति^{१५}मणिच्छायाचित्तेन्द्रापुधत्विषः ॥८२॥
 रत्नानि द्वितयान्यस्य जीवाजीवविभागतः ।^{१६}क्षमात्राणैश्वर्यसम्भोगसाधनानि चतुर्वश ॥८३॥

वतलाई है ॥७०॥ अट्टाईस हजार ऐसे सघन वन थे जो कि निर्जल प्रदेश और ऊंचे ऊंचे पहाड़ी विभागोंमें विभक्त थे ॥७१॥ जिनके चारों ओर रत्नोंके उत्पन्न होनेके क्षेत्र अर्थात् खानें विद्यमान हैं ऐसे अठारह हजार म्लेच्छ राजा थे ॥७२॥ महाराज भरतके काल, महाकाल, नैस्सर्प्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिङ्ग, शंख और सर्वरत्न इन प्रसिद्ध नामोंसे युक्त ऐसी नौ निधियां थीं कि जिनसे चक्रवर्ती घरकी आजीविकाके विषयमें बिलकुल निश्चिन्त रहते थे ॥७३-७४॥ पुण्यकी निधिस्वरूप महाराज भरतके पहली काल नामकी निधि थी जिससे प्रत्येक दिन लौकिक शब्द अर्थात् व्याकरण आदिके शास्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥७५॥ तथा वीणा, धांसुरी, नगाड़े आदि जो जो इन्द्रियोंके मनोज्ञ विषय थे उन्हें भी यह निधि समयानुसार विशेष रीतिसे उत्पन्न करती रहती थी ॥७६॥ जिससे असि, मषी आदि छह कर्मोंके साधनभूत द्रव्य और संपदाएं निरन्तर उत्पन्न होती रहती थीं वह महाकाल नामकी दूसरी निधि थी ॥७७॥ शय्या, आसन तथा मकान आदिकी उत्पत्ति नैस्सर्प्य नामकी निधिसे होती थी । पाण्डुक निधिसे धान्योंकी उत्पत्ति होती थी इसके सिवाय छह रसोंकी उत्पत्ति भी इसी निधिसे होती थी ॥७८॥ जिससे रेशमी सूती आदि सब तरहके वस्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती हैं और जो कमलके भीतरी भागोंसे उत्पन्न हुएके समान प्रकाशमान हैं ऐसी पद्म नामकी निधि अत्यन्त देदीप्यमान थी ॥७९॥ पिङ्गल नामकी निधिसे अनेक प्रकारके दिव्य आभरण उत्पन्न होते रहते थे और माणव नामकी निधिसे नीतिशास्त्र तथा अनेक प्रकारके शस्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥८०॥ जो अपने प्रदक्षिणावर्त नामके शंखसे सुवर्णकी सृष्टि उत्पन्न करती थी और जिसने उछलती हुई सुवर्ण जैसी कान्तिसे सूर्यकी किरणोंको जीत लिया है ऐसी शंख नामकी निधि थी ॥८१॥ जिसके मणियोंकी कान्तिसे इन्द्रधनुषकी शोभा प्रकट हो रही है ऐसी सर्वरत्न नामकी निधिसे महानील, नील तथा पद्मराग आदि अनेक तरहके रत्न प्रकट होते थे ॥८२॥ इनके सिवाय भरत महाराजके जीव और अजीवके भेदसे दो विभागोंमें बंटे हुए चौदह रत्न भी थे जो कि पृथिवीकी रक्षा और ऐश्वर्यके उपभोग करनेके साधन थे ॥८३॥

१ मरुभूमि । 'समानो मरुधन्वानो' इत्यभिधानात् । २ धन्वनिम्नानिम्नादि-द० । वनधन्व-
 ननग्रादि-ल० । ३ कुक्षिवासम् । ४ म्लेच्छराजैः । ५ पिङ्ग पिङ्गल । अब्ज कमल । ६ व्यापारे ।
 ७ कालनिधेः । ८ जनयन् । ९ उच्चलत् । १० पद्मरागः । ११ प्रकटीभवन्ति । १२ पृथ्वीरक्षा ।

चक्रातपत्रदण्डासिमणयश्चर्म काकिणी । चमूगृहपतीभास्वयोषितक्षपुरोधसः ॥८४॥
 'चक्रासिदण्डरत्नानि सच्छत्राण्यायुधालयात् । जातानि मणिचर्मभ्यां काकिणी श्रीगृहोदरे ॥८५॥
 स्त्रीरत्नगजवाजीनां प्रभवो रौप्यशैलतः । रत्नान्यन्यानि साकेताज्जज्ञिरे निधिभिः समम् ॥८६॥
 निधीनां सह रत्नानां गुणान् को नाम वर्णयेत् । 'वैरावजितमूर्जस्वि' हृदयं चक्रवर्तिनः ॥८७॥
 भेजे षट्शतुजानिष्ठान् भोगान् पञ्चेन्द्रियोचितान् । स्त्रीरत्नसार'थिस्तद्धि' निधानं सुखसम्पदाम् ॥८८॥
 कान्तारत्नमभूत्स्य सुभद्रैत्यनुपद्रुतम् । 'भद्रिकाऽसौ प्रकृत्यैव' जात्या विद्याधरान्वया ॥८९॥
 शिरीषसुकुमाराङ्गी चम्प'कच्छदसच्छविः । बकुलामोदनिःश्वासा पाटला' पाटलाधराः' ॥९०॥
 प्रबुद्धपद्मसौम्यास्या नीलोत्पलवलेक्षणा । सुभूरलिकुलानीलमृदुकृञ्चितमूर्दजा ॥९१॥
 तनूदरी वरारोहा' 'वामोरूनिविडस्तनी । मृदुबाहुलता साऽभून्मदनाग्नेरिवारणिः' ॥९२॥
 तत्कमौ' नूपुरामञ्जुगुज्जितमृखरीकृतौ । मदनद्विरदस्येव तेनतुर्जयडिण्डिमम् ॥९३॥
 निःश्रेणीकृत्य तज्जडध्वं सद्गुह्यारबन्धनाम् । वासोहोस्थयाऽनङ्गस्तच्छोणी' नूनमासदत् ॥९४॥

चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न थे और सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, सिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे ॥८४॥ चक्र, दण्ड, असि और छत्र ये चार रत्न आयुधशालामें उत्पन्न हुए थे तथा मणि, चर्म और काकिणी ये तीन रत्न श्रीगृहमें प्रकट हुए थे ॥८५॥ स्त्री, हाथी और घोड़ाकी उत्पत्ति विजयार्ध शैलपर हुई थी तथा अन्य रत्न निधियोंके साथ साथ अयोध्यामें ही उत्पन्न हुए थे ॥८६॥ जिनके द्वारा सेवन किया हुआ चक्रवर्तीका हृदय अतिशय बलिष्ठ हो रहा था उन निधियों और रत्नोंका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥८७॥ वह चक्रवर्ती स्त्रीरत्नके साथ साथ छहों ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पञ्चेन्द्रियोंके योग्य भोगोंका उपभोग करता था सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री ही समस्त सुख सम्पदाओंका भण्डार है ॥८८॥ महाराज भरतके रोगादि उपद्रवोंसे रहित सुभद्रा नामकी स्त्रीरत्न थी, वह सुभद्रा स्वभावसे ही भद्रा अर्थात् कल्याणरूप थी और जातिसे विद्याधरोंके वंशकी थी ॥८९॥ उसके समस्त अंग शिरीषके फूलके समान कोमल थे, कान्ति चम्पाकी कलीके समान थी, स्वासोच्छ्वास वकौली (मौलश्री) के फूलके समान सुगन्धित था, अधर गुलाबके फूलके समान कुछ कुछ लाल थे, मुख प्रफुल्लित कमलके समान सुन्दर था, नेत्र नील कमलके दलके समान थे, भौंहें अच्छी थीं, केश भूमरोंके समूहके समान काले, कोमल और कुछ कुछ टेढ़े थे, उदर कुश था, नितम्ब सुन्दर थे, जाँवें मनोहर थीं, स्तन कठोर थे और भुजारूपी लताएँ कोमल थीं, इस प्रकार वह सुभद्रा कामरूपी अग्निकी उत्पन्न करनेके लिये अरुणिके समान थी । भावार्थ—जिस प्रकार अरुणि नामकी लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार उस सुभद्रासे दर्शकोंके मनमें कामाग्नि उत्पन्न हो उठती थी ॥९०-९२॥ नूपुरोंकी मनोहर मङ्कारसे वाचालित हुए उसके दोनों चरण ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवरूपी हाथीके विजय के नगाड़े ही बजा रहें हों ॥९३॥ ऐसा मालूम होता था मानो कामदेव अपने निवासगृहपर पहुंचनेकी इच्छासे उस सुभद्राकी दोनों जंवाओंको नसैनी बनाकर जिसमें उत्तम ऊँह ही

१ चक्रदण्डासि—ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । २ उत्पत्तिः । ३ रत्नसहितानाम् ।
 ४ रत्ननिधिभिः । ५ वशीकृतम् । ६ सहायः । ७ स्त्रीरत्नम् । ८ स्थानम् । ९ रोगादिभिरपीडितम् ।
 १० मङ्गलमूर्तिः । ११ स्वभावेन । १२ चम्पककुसुमदल । १३ कुबेराक्षी । १४ ईषदण्ड ।
 १५ उत्तमनितम्बा । "वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवणिनी" इत्यभिधानात् । १६ मनोहर ।
 १७ अग्निमन्थनकाष्ठम् । १८ सुभद्राचरणी । १९ कटिम् । 'कटो ना श्रोणिफलकं कटिः श्रोणिः ककुद्मती' इत्यभिधानात् ।

(निःसृत्य नाभिवल्मीकात् कामकृष्णभुजङ्गमः । रोमावलीछलेनास्या ययौ कुचकरण्डकौ^१ ॥६५॥
निर्माकमिव कामाहेः दधानोद्ध^२ स्तनांशुकम् । भुजगीमिव तद्धृत्यै^३ सै^४ कामेकावलीमथात् ॥६६॥
बभ्रे हारलतां कण्ठलनां सा नाभिलम्बिनीम् । मन्त्ररक्षामिवानङ्गप्रथितां कामदीपिनीम् ॥६७॥
हाराक्रान्तस्तनाभोगा सा स्म धत्ते परां श्रियम् । सीतेव^५ यमकात्रिस्पृकप्रवाहा सरिदुत्तमा ॥६८॥
बाहू तस्या जितानङ्गपाशौ लक्ष्मीमुद्दहतुः^६ । कामकल्पद्रुमस्येव प्ररोहौ दीप्तभूषणौ ॥६९॥
रेजे करतलं तस्याः सूक्ष्मरेखाभिराततम् । जयरेखा इवाभिभूदन्यस्वीनिर्जयार्जिताः ॥१००॥
मुखमुद्भू तनूदर्याः तरलापाङ्गमाबभौ । सशरं समहेष्वासं^७ 'जयागारमिवातनोः' ॥१०१॥
वक्रमस्याः शशाङ्कस्य कान्तिं जित्वा स्वशोभया । दधे नु^८ भू पताकाङ्कं कर्णाभ्यां जयपत्रकम् ॥१०२॥
हे^९ 'मपत्राङ्कितौ तन्व्याः'^{१०} कर्णौ लीलामवापतुः । स्वर्धनैर्जयायेव कृतपत्रावलम्बनौ ॥१०३॥
कपोलावुज्ज्वलौ तस्या दधतुर्दपर्णश्रियम् । द्रष्टुकामस्य कामस्य^{११} स्वा दशा दशधा स्थिताः ॥१०४॥
^{१२} 'मध्येचक्षुरधीराक्ष्या नासिकाऽभान्मुखोन्मुखौ'^{१३} । तदामोवमिवापातुं कृतपत्ना कुतूहलात् ॥१०५॥
कृत्वा श्रोतुपदे^{१४} कर्णौ तन्नेत्रे बिभर्मेभिधः । कृतस्पधे^{१५} इवाभातां पुष्पद्वाने^{१६} सभापतौ ॥१०६॥

दरवाजे के बन्धन हैं ऐसे उसके नितम्बोंपर जा पहुँचा हो ॥९४॥ रोमावलीके छलसे कामदेव-
रूपी काला सर्प उसकी नाभिरूपी बामीसे निकलकर उसके स्तनरूपी पिटारेके समीप जा
पहुँचा था ॥९५॥ वह सुभद्रा कामरूपी सर्पकी कांचलीके समान सुन्दर स्तनपरका वस्त्र
(चोली) धारण करती थी और उस कामरूप सर्पको सन्तुष्ट करनेके लिये सर्पिणीके समान
श्रेष्ठ एकावली हारको धारण करती थी ॥९६॥ वह कण्ठमें पड़ी हुई, नाभि तक लटकती
हुई और कामको उदीपित करनेवाली जिस हाररूपी लताको धारण कर रही थी वह ऐसी
मालूम होती थी मानो कामदेवके द्वारा गूँथा हुआ और मन्त्रोंसे मंत्रित हुआ रक्षाका डोरा ही
हो ॥९७॥ जिसके स्तनोंका मध्यभाग हारसे व्याप्त हो रहा है ऐसी वह सुभद्रा इस प्रकारकी
उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही थी मानो जिसका प्रवाह दोनों ओरके यमक पर्वतोंको स्पर्श
कर रहा है ऐसी उत्तम सीता नदी ही हो ॥९८॥ कामदेवके पाशको जीतनेवाली तथा देदीप्य-
मान आभूषणोंसे सुशोभित उसकी दोनों भुजाएं ऐसी शोभा धारण कर रही थीं मानो काम-
रूपी कल्पवृक्षके दो अंकुरे ही हों ॥९९॥ सूक्ष्म रेखाओंसे व्याप्त हुआ उसका करतल ऐसा
सुशोभित हो रहा था मानो अन्य स्त्रियोंके पराजयसे उत्पन्न हुई विजयकी रेखाएं ही धारण
कर रहा हो ॥१००॥ जिसकी भीहें ऊपरको उठी हुई हैं और जिसमें चंचल कटाक्ष हो रहे
हैं ऐसा उस कुशोदरीका मुख ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बाण और महाधनुषसे सहित
कामदेवकी आयुधशाला ही हो ॥१०१॥ उसका मुख अपनी शोभाके द्वारा चन्द्रमाकी कान्ति-
को जीतकर क्या कानोंके बहानेसे भौंहरूपी पताकाके चिह्न सहित विजयपत्र (जीतका प्रमाण-
पत्र) ही धारण कर रहा था ॥१०२॥ सोनेके पत्रोंसे चिह्नित उसके दोनों कान ऐसी शोभा
धारण कर रहे थे मानो उन्होंने देवांगनाओंको जीतनेके लिये कागज-पत्र ही ले रखे हों
॥१०३॥ उसके दोनों उज्ज्वल कपोल ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी दश प्रकारकी अवस्थाओं
को देखनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके दर्पणकी शोभा ही धारण कर रहे हों ॥१०४॥ उस
चञ्चल लोचनवाली सुभद्राकी नाक आँखोंके बीचमें मुंहकी ओर झुकी हुई थी और उससे

१-करण्डकम् द०, ल०, इ०, अ०, प०, स० । २ प्रशस्तम् । ३ कामाहेः सन्तोषाय । ४ मुख्याम् ।
५ सीतानदी । ६ दधाते स्म । ७ महाचापसहितम् । ८ शस्त्रशालाम् । ९ अनङ्गस्य । १० इव ।
११ कर्णपत्र । १२ तरयाः ल०, द० । १३ आत्मीयाः । १४ चक्षुषोर्मध्ये । १५ मुखस्याभिमुखी ।
१६ श्रोतृजनस्थाने । १७ कामे सभापतौ सति ।

अभूत् कान्तिश्चकोराक्ष्या ललाटे लुलितालके । हेमपट्टान्तसंलग्ननीलोत्पलविडम्बिनी ॥१०७॥
 तस्या विनीलबिखस्तकबरीबन्धबन्धुरम्^१ । केशपाशमनङ्गस्य मन्ये पाशं प्रसारितम् ॥१०८॥
 इत्यस्या रूपमुद्भूतसीष्ठबं त्रिजगज्जयि । मत्वाऽनङ्गस्तदङ्गेषु सन्निधानं व्यधात् ध्रुवम् ॥१०९॥
 तद्रूपालोकनोच्चक्षुः तद्गात्रस्पर्शनोत्तुक्^२ । तन्मुखामोदमाजिघृन् रसयश्चासकृन्मुखम् ॥११०॥
 तद्गोपकलनिबन्धनश्रुतिसंसक्तकर्णकः । तद्गात्रविपुलारामे स रेमे सुखनिर्वृतः^३ ॥१११॥
 पञ्च बाणाननङ्गस्य वदन्त्येतान्^४ कुण्ठितान्^५ । पुण्ड्रेषुसंकवालोके प्रसिद्धयैव गता प्रथाम् ॥११२॥
 धनुर्लतां मनोजस्य प्राहुः पुष्पमयीं जडाः । सुकुमारतरं स्त्र्यै^६ वपुरेवातनोधनुः ॥११३॥
 पञ्च बाणाननङ्गस्य नियच्छन्ति^७ कुतो^८ जडाः । यदेव कामिनां हारि तदस्त्रं कामदीपनम् ॥११४॥
 स्मितमालोकितां हासो जल्पितं मदमन्मनम्^९ । कामाङ्गमिदमेवान्यत् केतवं तस्य^{१०} पोषकम् ॥११५॥
 आरूढयौवनोष्माणौ स्तनावस्या हिमागमे । रोम्णां^{११} हृषितमस्याङ्गं शिशिरोत्थं विनियनुः^{१२} ॥११६॥
 हिमानिलैः कुचोत्कम्पम् आहितं^{१३} सा हृतकलनेः । प्रियस्करतलस्पर्शः अप्रान्त्ये^{१४} ऽङ्कशाग्रिनी ॥११७॥

वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कीतूहलसे मुंहका सुगन्ध सूँघनेके लिये प्रयत्न ही कर रही हो ॥१०५॥ उसके दोनों नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामदेवके सभापति रहते हुए कानों-को साक्षी बनाकर परस्परमें हाव-भावके द्वारा स्पर्धा ही कर रहे हों ॥१०६॥ जिसपर काली काली अलकें बिखर रही हैं ऐसे चकोरके समान नेत्रवाली उस सुभद्राके ललाटपर जो कान्ति थी वह सुवर्णके पटियेपर लटकती हुई नीलकमलकी मालाके समान बहुत ही सुन्दर जान पड़ती थी ॥१०७॥ अत्यन्त काले और नीचेकी ओर लटकते हुए कबरीके बन्धनसे सुशोभित उसके केशपाश ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो फैला हुआ कामदेवका पाश ही हो ॥१०८॥ इस प्रकार जिसकी उत्तमता प्रकट है ऐसे उस सुभद्राके रूपको तीनों जगत्का जीतनेवाला जानकर ही मानो कामदेवने उसके प्रत्येक अंगोंमें अपना निवासस्थान बनाया था ॥१०९॥ उसका रूप देखनेके लिये जो सदा चक्षुओंको ऊपर उठाये रहता है, उसके शरीरका स्पर्श करनेके लिये जो सदा उत्कण्ठित बना रहता है, जो बार बार उसके मुखकी सुगन्ध सूँघ करता है, बार बार उसके मुखका स्वाद लिया करता है और उसके संगीतके सुन्दर शब्दोंके सुननेमें जिसके कान सदा तल्लीन रहते हैं ऐसा वह चक्रवर्ती उस सुभद्राके शरीररूपी बड़े बगीचेमें सुखसे सन्तुष्ट होकर क्रीड़ा किया करता था ॥११०-१११॥ कविलोग, जिनका कहीं प्रतिबन्ध नहीं होता ऐसा सुभद्राका रूप, कोमल स्पर्श, मुखकी सुगन्ध, ओठोंका रस और संगीतमय सुन्दर शब्द इन पाँचको ही कामदेवके पाँच बाण बतलाते हैं । लोकमें जो कामदेवके पाँचो बाणोंकी चर्चा है वह रूढ़ि मात्रसे ही प्रसिद्ध हो गई है ॥११२॥ मूर्ख लोग कहते हैं कि कामदेवका धनुष फूलोंका है परन्तु वास्तवमें स्त्रियोंका अत्यन्त कोमल शरीर ही उसका धनुष है ॥११३॥ न जाने क्यों मूर्ख लोग कामदेवको पाँच बाण ही प्रदान करते हैं अर्थात् उसके पाँच बाण बतलाते हैं क्योंकि जो कुछ भी कामीलोगोंके चित्तको हरण करनेवाला है वह सभी कामको उत्तेजित करनेवाला कामदेवका बाण है । भावार्थ—कामदेवके अनेक बाण हैं ॥११४॥ स्त्रियोंका मन्द हास्य, तिरछी चितवन, जोरसे हँसना और कामके आवेशसे अस्पष्ट बोलना यही सब काम-देवके अङ्ग हैं इनके सिवाय जो उनका कपट है वह इन्हीं सबका पोषण करनेवाला है ॥११५॥ जो जवातीके कारण गर्म हो रहे हैं ऐसे सुभद्राके दोनों स्तन हेमन्तऋतुमें ठण्डसे उठे हुए भरत के शरीरके रोमांचोंको दूर करते थे ॥११६॥ गोदमें शयन करनेवाली सुभद्रा शीतलवायुके

१ गलित । २ सुखतृप्तः । ३ तद्रूपादीन् । ४ अमन्दान् । ५ स्त्रिया इदम् । ६ नियमयन्ति ।

७ किं कारणम् । ८ मदेनाव्यक्तभाषिणम् । ९ कामस्य । १० रोमाञ्चम् । 'रोमाञ्चो रोमहर्षणम्' इत्यभिधानात् । ११ नाशं चक्रुरित्यर्थः । १२ कृतम् । १३ प्रियतमहस्ततल । १४ अपहरति रम ।

साशोककलिकां चूतमञ्जरीं कर्णसङ्गिनीम् । दधतीं चम्पकप्रोत्तः^१ केशान्तः साऽरुच्यन्मधौ ॥११८॥
 मधौ^२ मधुमदारवतलोचनामास्थलदगतिम् । बहु मेने प्रियः कान्तां मूर्तामिव मदश्रियम् ॥११९॥
 कलैरलिकुलक्वणैः सान्यपुष्टविकूजितैः । मधुरं मधुरभ्यण्डीत्^३ तुष्टयैवाम्^४ विशाम्पतिम् ॥१२०॥
 'कलकण्ठीकलक्वणमूर्छितैरलिभङ्गकृतैः'^५ । व्यज्यते स्म स्मराकण्डावस्कन्दो डिण्डिमाधितः^६ ॥१२१॥
 पुष्पचूतवनोदगन्धिः^७ उत्फुल्लकमलाकरः । पप्रथे सुरभिर्मासः^८ सुरभीकृतदिग्मुखः ॥१२२॥
 हुतालिकुलभङ्गकारः सञ्चरन्मलयानिलः । अनङ्गनूपतेरासीद् घोषयन्निव शासनम्^९ ॥१२३॥
 सन्ध्यासर्णां कलामिन्वोः मेने लोको जगद्व्रसः^{१०} । करालामिव रक्ताक्तां^{११} वंष्टां मदनरक्षसः ॥१२४॥
 उन्मत्तकोकिले काले तस्मिन्नुन्मत्तवदपदे । नानुन्मत्तो जनः कोऽपि मुक्त्वानङ्ग^{१२} द्रुहो मुनीन् ॥१२५॥
 सायमुदगाहनिर्णिवर्तः^{१३} अङ्गस्तुहिनशीतलैः । ग्रीष्मे मदनतापार्तं सास्याङ्गं निरवापयत्^{१४} ॥१२६॥
 चन्दनद्रवसंसिक्तसुन्दराङ्गलतां प्रियाम् । परिरभ्य^{१५} दृढं दोभ्यां स लेभे गात्रनिर्बृतिम्^{१६} ॥१२७॥
 मदनज्वरतापातां तीव्रग्रीष्मोष्मनिःसहाम्^{१७} । स तां निर्वापयामास स्वाङ्गस्पर्शसुखाम्बुभिः ॥१२८॥

द्वारा उत्पन्न हुई स्तनोंकी कपकपीकी क्लेश दूर करनेवाले प्रिय पतिके करतलके स्पर्शसे दूर करती थी ॥११७॥ अशोकवृक्षकी कलीके साथ साथ कानोंमें लगी हुई आमकी मंजरीकी धारण करती हुई वह सुभद्रा वसन्तऋतुमें चम्पाके फूलोंसे गुंथी हुई चोटीसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी ॥११८॥ वसन्तऋतुमें मधुके मदसे जिसकी आंखें कुछ कुछ लाल हो रही हैं और जिसकी गति कुछ कुछ लड़खड़ा रही है—स्खलित हो रही है ऐसी उस सुभद्राको भरत महाराज मूर्तिमती मदकी शोभाके समान बहुत कुछ मानते थे ॥११९॥ वह वसन्तऋतु सन्तुष्ट होकर भूमरोंकी सुन्दर भंकार और कोकिलाओंकी कमनीय कूकसे मानो राजा भरतकी सुन्दर स्तुति ही करता था ॥१२०॥ कोयलोंके सुन्दर शब्दोंसे मिली हुई भूमरोंकी भंकारसे ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवने नगाड़ोंके साथ अकस्मात् आक्रमण ही किया हो—छापा ही मारा हो ॥१२१॥ फूले हुए आमके वनोंसे जो अत्यन्त सुगन्धित हो रहा है, जिसमें कमलोंके समूह फूले हुए हैं और जिसने समस्त दिशाएं सुगन्धित कर दी हैं ऐसा वह वसन्तका चैत्र मास चारों ओर फैल रहा था ॥१२२॥ भूमरसमूहकी भंकारको हरण करनेवाला, चारों ओर फिरता हुआ मलयसमीर ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवरूपी राजाके शासनकी घोषणा ही कर रहा हो ॥१२३॥ उस समय सन्ध्याकालकी लालीसे कुछ कुछ लाल हुई चन्द्रमा की कलाको लोग ऐसा मानते थे मानो जगत्को निगलनेवाले कामदेवरूपी राक्षसकी रक्तसे भोगी हुई भयंकर डाँढ़ ही हो ॥१२४॥ जिसमें कोयल और भूमर सभी उन्मत्त हो जाते हैं ऐसे उस वसन्तके समय कामदेवके साथ द्रोह करनेवाले मुनियोंको छोड़कर और कोई ऐसा मनुष्य नहीं था जो उन्मत्त न हुआ हो ॥१२५॥ सायंकालके समय जलमें अवगाहन करनेसे जो स्वच्छ किये गये हैं और जो बर्फके समान शीतल हैं ऐसे अपने समस्त अंगोंसे वह सुभद्रा ग्रीष्मकालमें कामके संतापसे संतप्त हुए भरतके शरीरको शान्त करती थी ॥१२६॥ जिसकी शरीररूपी सुन्दर लतापर घिसे हुए चन्दनका लेप किया गया है ऐसी अपनी प्रिया सुभद्राको भरत महाराज दोनों हाथोंसे गाढ़ आलिंगन कर अपना शरीर शान्त करते थे ॥१२७॥ जो कामज्वरके संतापसे पीड़ित हो रही है और जिसे ग्रीष्मकालकी तीव्र गर्मी बिलकुल ही सहन

१ वध्नन्ती ल० । २ खचितः । ३ वसन्ते । ४ स्तौति स्म । ५ तोषेणैव । ६ कोकिला । ७ मिथ्रितः । ८ प्रकटीक्रियते स्म । ९ कामकालघाटीः । १० पुष्पीभवत् । पुष्पचूत—इ०, अ०, प०, स०, द०, ल० । ११ वसन्तः । १२ आज्ञाम् । १३ लोकभक्षकस्य । १४ रुधिरलिप्ताम् । १५ कामघातकान् । १६ सन्ध्याकालजलप्रवेशशुद्धैः । १७ उष्णं परिहृत्य शीतं चकारेत्यर्थः । १८ आलिङ्ग्य । १९ शरीरसुखम् । २० असहमानाम् ।

उत्कुलमल्लिकामोदवाहिभिर्गन्ध^१वाहिभिः । स^२ सायंप्रातिकर्मजे धृति रतिसुखाहरैः^३ ॥१२६॥
 उत्कुलपाटलोद्गन्धि मल्लिकामालभारिणीम्^४ । उपगृह्य^५ प्रियां प्रेम्णा नैदाघी^६ सोऽन्यत्रिशाम् ॥१२७॥
 सा घनस्तनितव्याजात् तजितेव मनोभुवा । भुजोपपीडमाश्लिष्य^७ शिश्ये पत्या तपात्यये^८ ॥१२८॥
 नवाम्बुकलुषाः पूरा ध्वनिरुन्मदकेकिनाम् । कदम्बामोदिनो वाताः कामिनां^९ धृतयेऽभवन् ॥१२९॥
 आरूढकालिकां पश्यन् बलाकामालभारिणीम् । घनालीं पथिकः साधुः दिशो मेनेऽन्धकारिताः ॥१३०॥
 धारारज्जुभिरानद्धा वागुरेव^{१०} प्रसारिता । रोधाय पथिकेणानां^{११} लुब्धकेनेव हृद्भुवा ॥१३१॥
 कृतावधिः प्रियो नागाद् अगान्त्व जलदागमः । इत्पुडीक्ष्य^{१२} घनात्^{१३} कान्चिद् हृदि शून्याऽभवत् सती ॥१३२॥
 विभिन्दन् केतकीसूचीः^{१४} तत्पांसूनाकिरन्मरुत् । पान्थानां दृष्टिरोधाय धूलिक्षेपनिवाकरोत् ॥१३३॥
 इत्यभर्णतमे तस्मिन् काले जलदमालिनि । स वासभवने रम्ये प्रियामरमयन्मुहुः ॥१३४॥
 आरूढनिचुलामोदं^{१५} तद्वज्रामोदमाहरन् । तस्याः स्तनतटोत्सङ्गे सोऽनेषोद् वापिकी^{१६} निशाम् ॥१३५॥
 स रमे शरदारम्भे विहरन् कान्तया समम् । वनेष्वभिनवोद्भिन्नसप्तच्छदसुगन्धिषु ॥१३६॥

नहीं हो सकती ऐसी उस सुभद्राको महाराज भरत अपने शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखरूपी जलसे शान्त करते थे ॥१२८॥ खिली हुई मालतीकी सुगन्धको धारण करनेवाले तथा रतिसमयमें सुख पहुंचानेवाले सायंकाल और प्रातःकालकी वायुके द्वारा चक्रवर्ती भरत बहुत ही अधिक संतोष प्राप्त करते थे ॥१२९॥ फूले हुए गुलाबकी सुगन्धयुक्त मालतीकी मालाओंको धारण करनेवाली उस सुभद्राको आलिंगन कर महाराज भरत बड़े प्रेमसे श्रीधमकालकी रात व्यतीत करते थे ॥१३०॥ वर्षाऋतुमें मेघोंकी गर्जनाके बहानेसे मानो कामदेवने जिसे घुड़की दिखाकर भयभीत किया है ऐसी वह सुभद्रा भुजाओंसे आलिंगनकर पतिके साथ शयन करती थी ॥१३१॥ उस वर्षाऋतुमें नये जलसे मलिन हुए नदियोंके प्रवाह, उन्नत मयूरों के शब्द और कदंबके फूलोंकी सुगन्धिसे युक्त वायु ये सब कामी लोगोंके संतोषके लिये थे ॥१३२॥ जिसपर कालिमा छाई हुई है और जो गुलाबोंकी पंक्तिको धारण कर रही है ऐसी मेघमालाको देखते हुए पथिक आंसू डालते हुए दिशाओंको अन्धकारपूर्ण मानते थे ॥१३३॥ उस वर्षाऋतुमें जो जलकी धाराएं पड़ती थीं उनसे रस्सियोंके समान व्याप्त हुई यह पृथिवी ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवरूपी शिकारीने पथिकरूपी हिरणोंको रोकनेके लिये जाल ही फैलाया हो ॥१३४॥ जो आनेकी अवधि करके गया था ऐसा पति अब तक नहीं आया और यह वर्षा ऋतु आ गई इस प्रकार बादलोंको देखकर कोई पतिव्रता स्त्री अपने हृदयमें शून्य हो रही थी अर्थात् चिन्तासे उसकी विचारशक्ति नष्ट हो गई थी ॥१३५॥ केतकीकी बौड़ियोंको भेदन करता हुआ और उनकी धूलकी चारों ओर बिखेरता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता था मानो पथिकोंकी दृष्टि रोकनेके लिये धूलि ही उड़ा रहा हो ॥१३६॥ इस प्रकार उस वर्षाकालमें जब बादलों के समूह अत्यन्त निकट आ जाते थे तब चक्रवर्ती भरत अपने मनोहर महलमें प्रिया सुभद्राको बार बार प्रसन्न करता था—उसके साथ क्रीड़ा करता था ॥१३७॥ जिसने पानीमें उत्पन्न होनेवाले बेंतकी सुगन्धि खींच ली है ऐसे उस सुभद्राके मुखकी सुगन्धको ग्रहण करता हुआ चक्रवर्ती उसके स्तनतटके समीप ही वर्षाऋतुकी रात्रि व्यतीत करता था ॥१३८॥ शरदऋतु-

१ पवनैः । २ सन्ध्याकालप्रभातकालभेदैः । ३ रतिसुखकरैरित्यर्थः । ४ विभ्रतीम् । ५ आलिंग्य । उपगृह्य ७०, ५०, ६० । उपगृह्य ७०, ८०, ९० । ६ निदाघसम्बन्धिनीम् । ७ भुजाभ्यां पीडयित्वा । ८ वर्षाकाले । ९ सन्तोषाय । १० मृगबन्धिनी । ११ पान्थमृगाणाम् । १२ आलोक्य । १३ घनान्तस्तेषु प्रेषितभर्तृका ६० । १४ अग्रान् । १५ हिज्जुल । 'निचुलो हिज्जुलोऽम्बुजः' इत्यभिधानात् । १६ वर्षाकालसम्बन्धिनीम् ।

सकान्तां रमयामास हारज्योत्स्नाञ्चितस्तनीम् । शारदीं निविशन् ज्योत्स्नां सौधोत्सङ्गेषु हारिषु ॥१४०॥
 सोत्पत्तां 'कुब्जकैर्द्व्या' मालां चूडान्तलम्बिनीम् । बाला पत्युश्चरः सङ्गान्मेने बहुरतिश्रियम्^१ ॥१४१॥
 इति सोत्कथनेवास्यां प्रथयन् प्रेमनिष्कृताम्^२ । स रेमे रतिसाद्भूतो^३ भोगाङ्गैर्दशधोदितैः ॥१४२॥
 सरत्ना निधयो दिव्याः^४ पुरं शय्यासने चमूः । नाट्यं सभाजनं^५ भोज्यं बाहनं चेति तानि वै ॥१४३॥
 दशाङ्गमिति भोगाङ्गं निविशन् स्वाशितं भवम् । 'स चिरं पालयामास भुवमेकोऽणवारणाम्'^६ ॥१४४॥
 षोडशास्य सहस्राणि गणबद्धामराः प्रभोः । ये युक्ता धृतनिस्त्रिंशा निधिरत्नात्परक्षणे ॥१४५॥
 क्षितिसारः^७ इति ख्यातः प्राकारोऽस्य गृहावृत्तिः । गोपुरं सर्वतोभद्रं प्रोल्लसद्गन्तोरणम् ॥१४६॥
 नन्दावर्तं निवेशोऽस्य शिबिरस्यालघोयसः । प्रासादो वैजयन्ताख्यो यः सर्वत्र सुखावहः ॥१४७॥
 दिक्स्वस्तिका सभाभूमिः परार्ध्यमणिकुट्टिमा । तस्य चङ्क्रमणी^८ यष्टिः 'सुविधिर्मणिनिर्मिता ॥१४८॥
 गिरिकूटकमित्यासीत् सौधं दिग्बल्लोके'^९ । वर्धमानकमित्यन्यत् 'प्रेक्षागृहमभूत् विभोः ॥१४९॥
 धर्मान्तोऽस्य'^{१०} महानासीद् धारागृहसमाह्वयः । गृहकूटकमित्युच्चैः वर्षावातः प्रभोरभूत् ॥१५०॥
 पुष्करावर्त्यभिर्लभ्यं च हर्म्यमस्य सुधासितम् । कुबेरकान्तमित्यासीद् भाण्डागारं यदक्षयम् ॥१५१॥

के प्रारम्भमें वह चक्रवर्ती, जिनमें नवीन खिले हुए सप्तच्छद वृक्षोंकी सुगन्ध फैल रही है ऐसे वनोंमें अपनी स्त्रीके साथ विहार करता हुआ क्रीडा करता था ॥१३९॥ राजभवनकी मनोहर छतोंपर शरदऋतुकी चांदनीका उपभोग करता हुआ वह चक्रवर्ती हारकी कान्तिसे जिसके स्तन सुशोभित हो रहे हैं ऐसी प्रिया सुभद्राको प्रसन्न करता था—उसके साथ क्रीडा करता था ॥१४०॥ जब कभी रानी सुभद्रा पतिके वक्षःस्थलपर लेट जाती थी उस समय उसके मस्तक-पर कंचुकियोंके द्वारा गुंथी हुई भरतकी कमलों सहित माला लटकने लगती थी और उसे वह बड़े प्रेमसे सूँघती थी ॥१४१॥ इस प्रकार इस सुभद्रादेवीमें प्रेमकी परवशताको अच्छी तरह प्रकट करता हुआ और रतिसुखके आधीन हुआ वह चक्रवर्ती दश प्रकारके कहे हुए भोगोंके साधनों-से क्रीडा करता था ॥१४२॥ रत्नसहित नौ निधियां, रानियां, नगर, शय्या, आसन, सेना नाट्यशाला, वर्तन, भोजन और सवारी ये दश भोगके साधन कहलाते हैं ॥१४३॥ इस प्रकार अपनेको तृप्त करनेवाले दश प्रकारके भोगके साधनोंका उपभोग करते हुए महाराज भरतने चिरकालतक जिसपर एक ही छत्र है ऐसी पृथिवीका पालन किया ॥१४४॥ चक्रवर्ती भरतके ऐसे सोलह हजार गणबद्ध देव थे जो कि तलवार धारणकर निधि, रत्न और स्वयं उनकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहते थे ॥१४५॥ उनके घरको घेरे हुए क्षितिसार नामका कोट था और देवीप्यमान रत्नोंके तोरणोंसे युक्त सर्वतोभद्र नामका गोपुर था ॥१४६॥ उनकी बड़ी भारी छावनीके ठहरनेका स्थान नन्दावर्त नामका था और जो सब ऋतुओंमें सुख देनेवाला है ऐसा वैजयन्त नामका महल था ॥१४७॥ बहुमूल्य मणियोंसे जड़ी हुई दिक्स्वस्तिका नामकी सभाभूमि थी और टहलनेके समय हाथमें लेनेके लिये मणियोंकी बनी हुई सुविधि नामकी लकड़ी थी ॥१४८॥ सब दिशाएं देखनेके लिये गिरिकूटक नामका राजमहल था और उन्हीं चक्रवर्तीके नृत्य देखनेके लिये वर्धमानक नामकी नृत्यशाला थी ॥१४९॥ उन चक्रवर्तीके गर्मीको नष्ट करनेवाला धारागृह नामका बड़ा भारी स्थान था और वर्षाऋतुमें निवास करनेके लिये बहुत ऊंचा गृहकूटक नामका महल था ॥१५०॥ चूनासे सफेद हुआ पुष्करावर्त नामका

१ 'कुब्जिका भद्रतरणी बृहत्पात्रातिकेशरा । महासहा' इति बन्वन्तरिः । २ रचिताम् । ३ रतिश्रीस-
 मानामिति । पत्युश्चरस्यस्य स्थिता संजिघृतिं स्म सा । प०, ल० । ४ स्नेहाधीनताम् । ५ रत्यधीनः ।
 ६ देव्यः द०, ल०, प० । ७ भाजनसहितम् । ८ स्वस्य तृप्तिजनकम् । ९ सुचिरं ल० ।
 १० एकच्छत्राम् । ११ क्षितिसार इति नामा । १२ आलिङ्गभूमिः, आन्दोलनभूमिरित्यर्थः ।
 १३ सुविधिनामा । १४ दिशावलोकार्थम् । १५ नृत्तदर्शनगृहम् । १६ धर्मान्तसंज्ञाम् ।

वसुधारकमित्यासीत् कोष्ठागारं महाव्ययम् । जीमूतनामधेयं च मञ्जनागारमूर्जितम् ॥१५२॥
 रत्नमालाऽतिरोचिष्णुः बभूवास्यावतंसिका । देवरम्येति रम्या सा मता वृष्यकुटी^१ पृथुः ॥१५३॥
 सिंहवाहिन्यभूच्छ्रद्धया सिंहैरूढा भयानकः । सिंहासनमथोऽस्योच्चैः गुणैर्नाम्नाऽप्यनुत्तरम् ॥१५४॥
 चामरारण्यपमामानं^२ व्यतीत्यानुपमा यभान्^३ । विजयार्द्धकुमारेण वितोर्णानि निधोशिते ॥१५५॥
 भास्वत्सूर्यप्रभं तस्य बभूवातपवारणम् । परार्ध्यरत्ननिर्माणं जितसूर्यशतप्रभम् ॥१५६॥
 नाम्ना विद्युत्प्रभे चास्य रुचिरे मणिकुण्डले । जित्वा ये^४ वैद्युतीं^५ दीप्तिं रुचाते स्फुरत्स्वयी ॥१५७॥
 रत्नांशुजटिलास्तस्य पावुका विषमोचिकाः^६ । परेषां पदसंस्पर्शाद् मुञ्चन्त्यो विषमुत्बणम् ॥१५८॥
 अभेद्याख्यमभूत्तस्य तनुत्राणं प्रभास्वरम् । द्विषतां शरनाराचैः यदभेद्यं महाहवे ॥१५९॥
 रथोऽजितञ्जयो नाम्ना जयलक्ष्मीभरोद्बहः । यत्र शस्त्राणि जैत्राणि दिव्यान्यासस्रनेकशः ॥१६०॥
 चण्डाकाण्डाशनप्रस्थज्याघाताऽकम्पिताखिलम् । जितवैत्यामरं तस्य वज्रकाण्डममूढनुः ॥१६१॥
 अमोघपातास्तस्यासन् नामोघाख्या महेश्वरः । यैरसाध्यजये चक्री कृतश्लाघो रणाङ्गणे ॥१६२॥
 प्रचण्डा वज्रतुण्डाख्या शक्तिरस्थारिखण्डिनी । बभूव वज्रनिर्माणाश्लाघ्या वज्रजयेऽपि या ॥१६३॥
 कुन्तः सिंहाटको नाम यः सिंहनखराडकुरः । स्पर्धते स्म निशाताग्री मणिदण्डाग्रमण्डनः^७ ॥१६४॥

खास महल था और कुबेरकान्त नामका भाण्डारगृह था जो कभी खाली नहीं होता था ॥१५१॥
 वसुधारक नामका बड़ा भारी अटूट कोठार था और जीमूत नामका बड़ा भारी स्नानगृह था ॥१५२॥ उस चक्रवर्तीके अवतंसिका नामकी अत्यन्त देदीप्यमान रत्नोंकी माला थी और देवरम्या नामकी बहुत बड़ी सुन्दर चांदनी थी ॥१५३॥ भयंकर सिंहोंके द्वारा धारण की हुई सिंहवाहिनी नामकी शय्या थी और गुण तथा नाम दोनोंसे अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट बहुत ऊंचा सिंहासन था ॥१५४॥ जो विजयार्द्धकुमारके द्वारा निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीके लिये समर्पित किये गये थे ऐसे अनुपमान नामके उनके चमर उपमाको उल्लंघन कर अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥१५५॥ उस चक्रवर्तीके बहुमूल्य रत्नोंसे बना हुआ और सैकड़ों सूर्यकी प्रभाको जीतने-वाला सूर्यप्रभ नामका अतिशय देदीप्यमान छत्र था ॥१५६॥ उनके देदीप्यमान कान्तिके धारक विद्युत्प्रभ नामके दो ऐसे सुन्दर कुण्डल थे जो कि विजलीकी दीप्तिको पराजित कर सुशोभित हो रहे थे ॥१५७॥ महाराज भरतके रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त हुई विषमोचिका नामकी ऐसी खड़ाऊं थीं जो कि दूसरेके पैरका स्पर्श होते ही भयंकर विष छोड़ने लगती थीं ॥१५८॥ उनके अभेद्य नामका कवच था जो कि अत्यन्त देदीप्यमान था और महायुद्धमें शत्रुओंके तीक्ष्ण बाणोंसे भी भेदन नहीं किया जा सकता था ॥१५९॥ विजयलक्ष्मीके भारको धारण करनेवाला अजितंजय नामका रथ था जिसपर शत्रुओंको जीतनेवाले अनेक दिव्य शस्त्र रखे रहते थे ॥१६०॥ असमयमें होनेवाले प्रचण्ड वज्रपातके समान जिसकी प्रत्यंचाके आघातसे समस्त संसार कंप जाता था और जिसने देव, दानव-सभीको जीत लिया था ऐसा वज्रकाण्ड नामका धनुष उस चक्रवर्तीके पास था ॥१६१॥ जो कभी व्यर्थ नहीं पड़ते ऐसे उसके अमोघ नामके बड़े बड़े बाण थे । इन बाणोंके द्वारा ही चक्रवर्ती जिसमें विजय पाना असाध्य हो ऐसे युद्धस्थलमें प्रशंसा प्राप्त करता था ॥१६२॥ राजा भरतके शत्रुओंको खण्डित करनेवाली वज्रतुण्डा नामकी शक्ति थी, जो कि वज्रकी बनी हुई थी और इन्द्रको भी जीतनेमें प्रशंसनीय थी ॥१६३॥ जिसकी नोक बहुत तेज थी, जो मणियोंके बने हुए डंडेके अग्रभागपर सुशोभित

१ पटकुटी । २ उपमाप्रमाणम् । ३ भान्ति स्म । ४ कुण्डले । ५ विद्युत्सम्बन्धिनीम् ।
 ६ विषमोचिकासंज्ञाः । ७ महाशरः । ८ मणिभयदण्डाग्रं मण्डनम् अलंकारी यस्य ।

तस्यासि^१पुत्रिका दीप्रा रत्नानन्दस्फुरत्सरः^२ । लोहवाहिन्यभूभ्राम्ना जयश्रीदर्पणायिता ॥१६५॥
 कणवो^३स्स्य^४ मनोवेगो जयश्रीप्रणयावहः । द्विषत्कुलकुलक्ष्मा^५धूदलने योऽज्ञानीयितः ॥१६६॥
 सौनन्दकाख्यमस्याभूद् असिरत्नं स्फुरद्भुति । यस्मिन् करतलारूढे दोलारूढमिवाखिलम् ॥१६७॥
 प्राहुर्भूतमुखं खेटं विभोर्भूतमुखाङ्गकितम् । स्फुरताऽऽजीमुखे येन द्विषां मृत्युमुखायितम् ॥१६८॥
 चक्ररत्नमभूजिष्णोः दिक्चक्राक्रमणक्षमम् । नाम्ना सुदर्शनं दीपं यद्दुर्दर्शमरातिभिः ॥१६९॥
 प्रचण्डचण्डवेगाख्यो दण्डोऽभूच्चक्रिणः पृथुः । स यस्य विनियोगोऽभूद् बिलकण्टकशोधने ॥१७०॥
 नाम्ना वज्रमयं विष्यं चर्मरत्नमभूद् विभोः । तद्बलं यद्बलाधानाभिस्तीर्णं^६ जलविप्लवात् ॥१७१॥
 मणिचूडामणिनाम चिन्तारत्नमनुत्तरम् । जगच्चूडामणेरस्य चित्तं येनानुरञ्जितम् ॥१७२॥
 सा चिन्ताजननीत्यस्य काकिणी भास्वराऽभवत् । या रूप्याद्रिगुहाध्वान्तविनिर्भेदकदीपिका ॥१७३॥
 चमूपतिरयोध्याख्यो नृरत्नमभवत् प्रभोः । समरेऽरिजयाद्यस्य रोदसी व्यानशो यशः ॥१७४॥
 बुद्धिसागरनामास्य पुरोधाः पुरुषीरभूत् । धर्मा क्रिया यदायत्ता प्रतीकारोऽपि वैविके ॥१७५॥
 सुधीर्गृहपतिर्नामा कामवृष्टिरभोष्टदः । व्ययोर्^७व्ययचिन्तायां नियुक्तो यो निधीनिनः^८ ॥१७६॥

हो रहा था और जो सिंहके नाखूनोंके साथ स्पर्धा करता था ऐसा उनका सिंहाटक नामका भाला था ॥१६४॥ जो अत्यन्त देदीप्यमान थी, जिसकी रत्नोंसे जड़ी हुई मूठ बहुत ही चमक रही थी, और जो विजयलक्ष्मीके दर्पणके समान जान पड़ती थी ऐसी लोहवाहिनी नामकी उनकी छुरी थी ॥१६५॥ मनोवेग नामका एक कणप (अस्त्रविशेष) था जो कि विजयलक्ष्मी-पर प्रेम करनेवाला था और शत्रुओंके वंशरूरी कुलाचलोंको खण्डित करनेके लिये वजूके समान था ॥१६६॥ भरतके सौनन्दक नामकी श्रेष्ठ तलवार थी जिसकी कान्ति अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जिसे हाथमें लेते ही यह समस्त जगत् भूलामें बैठे हुएके समान कांप उठता था ॥१६७॥ उनके भूतोंके मुखोंसे चिह्नित भूतमुख नामका खेट (अस्त्रविशेष) था, जो कि युद्धके प्रारम्भमें चमकता हुआ शत्रुओंके लिये मृत्युके मुखके समान जान पड़ता था ॥१६८॥ उन विजयी चक्रवर्तीके सुदर्शन नामका चक्र था, जो कि समस्त दिशाओंपर आक्रमण करनेमें समर्थ था, देदीप्यमान था और जो शत्रुओंके द्वारा देखा भी नहीं जा सकता था ॥१६९॥ जिसका नियोग गुफाके कांटे वगैरह शोधनेमें था ऐसा चण्डवेग नामका बहुत भारी प्रचण्ड (भयंकर) दण्ड उस चक्रवर्तीके था ॥१७०॥ भरतेश्वर महाराजके वज्रमय चर्मरत्न था, वह चर्मरत्न, कि जिसके बलसे उनकी सेना जलके उपद्रवसे पार हुई थी—बची थी ॥१७१॥ उनके चूडामणि नामका वह उत्तम चिन्तामणि रत्न था जिसने कि जगत्के चूडामणि-स्वरूप महाराज भरतका चित्त अनुरक्त कर लिया था ॥१७२॥ चिन्ताजननी नामकी वह काकिणी थी जो कि अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जो विजयार्थ पर्वतकी गुफाओंका अन्धकार दूर करनेके लिये मुख्य दीपिकाके समान थी ॥१७३॥ उन प्रभुके अयोध्य नामका सेनापति था जो कि मनुष्योंमें रत्न था और युद्धमें शत्रुओंको जीतनेसे जिसका यश आकाश और पृथिवी-के बीच व्याप्त हो गया था ॥१७४॥ समस्त धार्मिक क्रियाएं जिसके आधीन थीं और दैविक उपद्रव होनेपर उनका प्रतिकार करना भी जिसके आश्रित था ऐसा बुद्धिसागर नामका महा-बुद्धिमान् पुरोहित था ॥१७५॥ उनके कामवृष्टि नामका गृहपति रत्न था, जो कि अत्यन्त बुद्धिमान् था, इच्छानुसार सामग्री देनेवाला था तथा जो चक्रवर्तीके छोटे बड़े सभी खचोंकी

१ क्षुरिका । 'स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च क्षुरिका चासिधेनुका ।' इत्यभिधानात् । २ मुष्टिः । 'त्सरः खड्गादिमुष्टिः स्याद्' इत्यभिधानात् । ३ कणवोस्स्य ल० । ४ पर्वत । ५ निस्तरणमकरोत् । ६ आय । ७ चक्रिणः ।

रत्नं स्थपतिरप्यस्य वास्तुविद्यापदात्तधीः । नाम्ना भद्रमुखोऽनेकप्रासादघटने पटुः ॥१७७॥
 शैलोदग्रो महानस्य यागहस्तीक्ष्णमदः । भद्रो गिरिचरः^३ शुभ्रो नाम्ना विजयपर्वतः ॥१७८॥
 पवनस्य जयन् वेगं हयोऽस्य पवनञ्जयः । विजयार्द्रगुहोत्सङ्गं हेलया यो व्यलङ्घयत् ॥१७९॥
 प्रागुक्तवर्णनं चास्य स्त्रीरत्नं रूढनामकम् । स्वभावमधुरं हृद्यं रसायनमिवापरम् ॥१८०॥
 रत्नान्येतानि दिव्यानि बभूवुश्चक्रवर्तिनः । देवताकृतरक्षाणि यान्यलङ्घयानि विद्विषाम् ॥१८१॥
 आनन्दिन्योऽब्धिनिर्घोषा भेर्योऽस्य द्वादशाभवन् । द्विषड्योजनमापूर्य स्वैर्ध्वनिर्याः प्रदध्वन् ॥१८२॥
 आसन् विजयघोषाख्याः पटहा द्वादशापरे । गूहकैकिभिरुद्ग्रीवैः सानन्दं श्रुतनिःस्वनाः ॥१८३॥
 गम्भीरावर्तनामानः शङ्खला गम्भीरनिःस्वनाः । चतुर्विंशतिरस्यासन् शुभाः पुण्यान्धिसम्भवाः ॥१८४॥
 कटका रत्ननिर्माणा विभोर्वीराङ्गदाह्वयाः । रेजुः प्रकोष्ठमावेष्टय तडिद्बलयविभूमाः ॥१८५॥
 पताकाकोटयोऽस्याष्टचत्वारिंशत्प्रमा मताः । मरुत्प्रेङ्खली^४ तोत्प्रेङ्खलवंशुकोन्मृष्टखाङ्गणाः ॥१८६॥
 महाकल्याणकं नाम दिव्याशनमभूद् विभोः । कल्याणाङ्गस्य येनास्य तृप्तिपुष्टीबलान्विते ॥१८७॥
 भक्षाश्चामृतगर्भाख्या रुच्यास्वादाः सुगन्धयः । नान्ये^५ जरयितुं शक्ता यान् गरिष्ठरसोत्कटान् ॥१८८॥
 स्वाद्यं^६ चामृतकल्पाख्यं हृद्यास्वाद्यं सुसंस्कृतम् । रसायनरसं दिव्यं पानकं चामृताह्वयम् ॥१८९॥

चिन्तामें नियुक्त था । ॥१७६॥ मकान बनानेकी विद्यामें जिसकी बुद्धि प्रवेश पाये हुई है और जो अनेक राजभवनोके बनानेमें चतुर है ऐसा भद्रमुख नामका उनका शिलाघटरत्न (इंजीनियर) था ॥१७७॥ जो पर्वतके समान ऊंचा था, बहुत बड़ा था, पूज्य था, जिससे मद भर रहा था, भद्र जातिका था और जिसका गर्जन उत्तम था ऐसा विजयपर्वत नामका सफेद हाथी था ॥१७८॥ जिसने विजयार्धपर्वतकी गुफाके मध्यभागको लीलामात्रमें उल्लंघन कर दिया था ऐसा वायुके वेगको जीतनेवाला पवनञ्जय नामका घोड़ा था ॥१७९॥ और जिसका वर्णन पहले कर चुके हैं, जिसका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो स्वभावसे ही मधुर है और जो किसी अन्य रसायनके समान हृदयको आनन्द देनेवाला है ऐसा सुभद्रा नामका स्त्रीरत्न था ॥१८०॥ इस प्रकार चक्रवर्तीके ये दिव्य रत्न थे जिनकी देव लोग रक्षा किया करते थे, और जिन्हें शत्रु कभी उल्लंघन नहीं कर सकते थे ॥१८१॥ उस चक्रवर्तीके समुद्रके समान गम्भीर आवाजवाली आनन्दिनी नामकी बारह भेरियां थीं जो अपनी आवाजको बारह योजन दूर तक फैलाकर बजती थीं ॥१८२॥ इनके सिवाय बारह नगाड़े और थे जिनकी आवाज घरके मयूर ऊंची गर्दन कर बड़े आनन्दके साथ सुना करते थे ॥१८३॥ जिनकी आवाज अतिशय गम्भीर है, जो शुभ हैं, और पुण्यरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुए हैं ऐसे गम्भीरावर्त नामके चौबीस शंख थे ॥१८४॥ उस प्रभुके रत्नोंके बने हुए वीरांगद नामके कड़े थे जो कि हाथकी कलाई-को घेरकर सुशोभित हो रहे थे और जिनकी कान्ति बिजलीके कड़ोंके समान थी ॥१८५॥ वायुके भँकोरेसे उड़ते हुए कपड़ोंसे जिन्होंने आकाशरूपी आंगनको झाड़कर साफ कर दिया है ऐसी उसकी अड़तालीस करोड़ पताकाएं थीं ॥१८६॥ महाराज भरतके महाकल्याण नाम का दिव्य भोजन था जिससे कि कल्याणमय शरीरको धारण करनेवाले उनके बलसहित तृप्ति और पुष्टि दोनों ही होती थीं ॥१८७॥ जो अत्यन्त गरिष्ठ रससे उत्कट हैं, जिन्हें कोई अन्य पचा नहीं सकता तथा जो रुचिकर, स्वादिष्ट और सुगन्धित है ऐसे उसके अमृतगर्भ नामके भक्ष्य अर्थात् खाने योग्य मोदक आदि पदार्थ थे ॥१८८॥ जिनका स्वाद हृदयको अच्छा

१ वास्तुविद्यास्थाने स्वीकृतबुद्धिः । २ पूज्य । ३ गिरिचरः ल०, प० । ४ चलनेनोच्चलन् । ५ आहारैः । ६ पुरुषाः । ७ जीर्णीकर्तुम् । ८ अतिगुरु । ९ क्रमुकदाडिमादि । 'ओदनाघ-शनं स्वाद्यं ताम्बूलादि जलादिकम् । पेयं स्वाद्यमपूपाद्यं त्याज्यान्येतानि शक्तिकैः ।'

पुण्यकल्पतरोरासन् फलान्प्रेतानि चक्रिणः । यान्यनन्योपभोग्यानि भोगाङ्गान्यतुलानि वै ॥१६०॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग्रूपसंपदनीदृशी । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् अभेद्यं गात्रबन्धनम् ॥१६१॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृङ्निधिरत्नद्विरुजिता । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् इभास्वादिपरिच्छदः ॥१६२॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग् अन्तःपुरमहोदयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् दशाङ्गी भोगसम्भवः ॥१६३॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग् आज्ञाद्वीपाब्धिलङ्घिनी । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् जयश्रीजित्वरो दिशाम् ॥१६४॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृक्प्रतापः प्रणतामरः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् उद्योगो लङ्घितार्णवः ॥१६५॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग् प्राभवं त्रिजगज्जयि । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् नगराजजयोत्सवः ॥१६६॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृक् सत्कारस्तत्कृतोऽधिकः । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् सरिद्व्यभिषेचनम् ॥१६७॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृक् खचराचलनिर्जयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग्नलामोऽन्यदुर्लभः ॥१६८॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग् आयतिर्भरतेऽखिले । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् कीर्तिद्विद्वन्द्वलङ्घिनी ॥१६९॥
 ततः पुण्योदयोद्भूतां मत्वा चक्रभूतः श्रियम् । चितुध्वं भो बुधाः पुण्यं यत्पुण्यं सुखसम्पदाम् ॥२००॥

लगनेवाला है और मसाले वगैरहसे जिनका संस्कार किया गया है ऐसे अमृतकल्प नामके उनके स्वाद्य पदार्थ थे तथा रसायनके समान रसीला अमृत नामका दिव्य पानक अर्थात् पीने योग्य पदार्थ था ॥१८९॥ चक्रवर्तीके ये सब भोगोपभोगके साधन उसके पुण्यरूपी कल्पवृक्षके फल थे, उन्हें अन्य कोई नहीं भोग सकता था और वे संसारमें अपनी बराबरी नहीं रखते थे ॥१९०॥

पुण्यके बिना चक्रवर्तीके समान अनुपम रूपसम्पदा कैसे मिल सकती है ? पुण्यके बिना वैसा अभेद्य शरीरका बंधन कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना अतिशय उत्कृष्ट निधि और रत्नोंकी ऋद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके बिना वैसे हाथी घोड़े आदिका परिवार कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना वैसे अन्तःपुरका वैभव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना दस प्रकारके भोगोपभोग कहां मिल सकते हैं ? पुण्यके बिना द्वीप और समुद्रोंको उल्लंघन करनेवाली वैसी आज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके बिना दिशाओंको जीतनेवाली वैसी विजयलक्ष्मी कहां मिल सकती है ? पुण्यके बिना देवताओंको भी नम्र करनेवाला वैसा प्रताप कहां प्राप्त हो सकता है ? पुण्यके बिना समुद्रको उल्लंघन करनेवाला वैसा उद्योग कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना तीनों लोकोंको जीतनेवाला वैसा प्रभाव कहां हो सकता है ? पुण्यके बिना वैसा हिमवान् पर्वतको विजय करनेका उत्सव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना हिमवान् देवके द्वारा किया हुआ वैसा अधिक सत्कार कहां मिल सकता है ? बिना पुण्यके नदियोंकी अधिष्ठात्री देवियोंके द्वारा किया हुआ वैसा अभिषेक कहां हो सकता है ? पुण्यके बिना विजयार्थ पर्वतको जीतना कैसे हो सकता है ? पुण्यके बिना अन्य मनुष्योंको दुर्लभ वैसे रत्नोंका लाभ कहां हो सकता है ? पुण्यके बिना समस्त भरतक्षेत्रमें वैसा सुन्दर विस्तार कैसे हो सकता है ? और पुण्यके बिना दिशाओंके किनारेको उल्लंघन करनेवाली वैसी कीर्ति कैसे हो सकती है ? इसलिये हे पण्डित जन, चक्रवर्तीकी विभूतिको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर उस पुण्यका संवय करो जो कि समस्त सुख और सम्पदाओंकी दुकानके समान

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्यादिष्कृतसम्पदो विजयिनस्तस्याखिलक्षमाभूताम्
 स्फोतामप्रतिशासनां प्रथयतः षट्खण्डराज्यश्रियम् ।
 कालोऽनल्पतरोऽप्यगात् क्षण इव प्राक्पुण्यकर्मोदयाद्
 उद्भूतैः प्रमदावहैः षड्ऋतुजैर्भोगैरतिस्वाद्भुभिः ॥२०१॥
 नानारत्ननिधानदेशविलसत्सम्पत्तिगुर्वीमिमां
 साम्राज्यश्रियमेकभोगनियतां कृत्वाऽखिलां पालयन् ।
 योऽभून्नैव किलाकुलः कुलवधूमेकामिवाङ्कस्थितां
 सोऽयं चक्रधरोऽभून्नक् भुवमसूमेकातपत्रां चिरम् ॥२०२॥
 यन्नाम्ना भरतावनित्वसगमत् षट्खण्डभूषां मही
 येनां सेतुहिमाद्रिरक्षितमिदं क्षेत्रं कृतारिक्षयम् ।
 यस्याविनिधिरत्नसम्पदुचिता लक्ष्मीरुरःशाधिनी
 स श्रीमान् भरतेश्वरो निधिभुजामग्रेसरोऽभूत् प्रभुः ॥२०३॥
 यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचिद्
 षट्त्रयो योगिजनस्य यश्च न तरां ध्याता स्वयं कस्यचित् ।
 यो नन्तु नपि नेतुमुन्नतिमलं नन्तव्यपक्षे स्थितः
 स श्रीमान् जयताज्जगत्त्रयगुरुर्देवः पुरुः पावनः ॥२०४॥

है ॥१९१-२००॥ इस प्रकार जिसने सम्पदाएं प्रकट की हैं, जिसने समस्त राजाओंको जीत लिया है, और जो दूसरेके शासनसे रहित अपने छह खण्डकी विस्तृत राज्यलक्ष्मीको निरन्तर फैलाता रहता है ऐसे उस चक्रवर्ती भरतका बड़ा भारी समय पूर्व पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए, सब तरहका आनन्द देनेवाले और अत्यन्त स्वादिष्ट छहों ऋतुओंके भोगोंके द्वारा क्षण-भरके समान व्यतीत हो गया था ॥२०१॥ अनेकों रत्नों, निधियों और देशोंसे सुशोभित हुई सम्पत्तिके द्वारा जो भारी गौरवको प्राप्त हो रही है ऐसी इस समस्त साम्राज्यलक्ष्मीको एक अपने ही उपभोग करनेके योग्य बनाकर उसका पालन करता हुआ जो चक्रवर्ती गोदमें बैठी हुई कुलवधूकी रक्षा करते हुऐके समान कभी व्याकुल नहीं हुआ वह भरत एक छत्रवाली इस पृथिवीका चिरकाल तक पालन करता रहा था ॥२०२॥ छह खण्डोंसे विभूषित पृथिवी जिसके नामसे भरतभूमि नामको प्राप्त हुई, जिसने दक्षिण समुद्रसे लेकर हिमवान् पर्वततकके इस क्षेत्रमें शत्रुओंका क्षय कर उसकी रक्षा की, तथा प्रकट हुई निधि और रत्न आदि सम्पदाओंसे योग्य लक्ष्मी जिसके वक्षःस्थलपर शयन करती थी वह प्रभु-श्रीमान् भरतेश्वर निधियोंके स्वामी अर्थात् चक्रवर्तियोंमें प्रथम और मुख्य चक्रवर्ती हुआ था ॥२०३॥ जो तीनों जगत्के जीवोंके द्वारा स्तुति करनेके योग्य हैं परन्तु जो स्वयं किसीकी स्तुति नहीं करते, बड़े बड़े योगी लोग जिनका ध्यान करते हैं परन्तु जो किसीका ध्यान नहीं करते, जो नमस्कार करनेवालोंको भी उन्नत स्थानपर ले जानेके लिये समर्थ हैं परन्तु स्वयं नमस्कार करने योग्य पक्षमें स्थित हैं अर्थात् किसीको नमस्कार नहीं करते, वे तीनों जगत्के गुरु अत्यन्त पवित्र श्रीमान् भगवान्

१ निधि । २ आत्मनः एकस्यैव भोगनियताम् । ३ पालयति स्म । ४ षट्खण्डालङ्कारा ।

५ दक्षिणसमुद्रात् प्रारभ्य हिमवद्गिरिपर्यन्तम् । ६ नमनशीलान् । ७ समर्थः । ८ नमनयोग्यपक्षे । स्वयं कस्यापि नन्ता नेत्यर्थः ।

यं नत्वा पुनरानमन्ति न परं स्तुत्वा च यं नापरं

भय्याः संस्तुवते श्रेयन्ति न परं यं संश्रिताः श्रेयसे ।

यं सत्कृत्य कृतादरं कृतधियः सत्कुर्वते नापरम्

स श्रीमान् वृषभो जिनो भवभयासस्त्रायतां तीर्थकृत् ॥२०५॥

इत्याषो भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण-

महापुराणसङ्ग्रहे भरतेश्वराभ्युदयवर्णनं नाम

सप्तत्रिंशत्तमं पर्व ॥३७॥

वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥२०४॥ भव्य लोग जिन्हें नमस्कार कर फिर किसी अन्यको नमस्कार नहीं करते, जिनकी स्तुति कर फिर किसी अन्यकी स्तुति नहीं करते, जिनका आश्रय लेकर कल्याणके लिये फिर किसी अन्यका आश्रय नहीं लेते, और बुद्धिमान् लोग जिनका सबने आदर किया है ऐसे जिनका सत्कार कर फिर किसी अन्यका सत्कार नहीं करते वे श्रीमान् वृषभ जिनेन्द्र तीर्थ कर हम सबकी संसारके भयसे रक्षा करें ॥२०५॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके

भाषानुवादमें भरतेश्वरके वैभवका वर्णन करनेवाला यह

सैंतीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अष्टत्रिंशत्तमं पर्व

जयन्त्यखिल^१वाङ्मार्गगामिन्यः सूक्तयोऽर्हताम् । धृतान्धतमसा दीप्रा यास्त्विषोऽशुमतामिव ॥१॥
 स जीयात् वृषभो मोहविषसुप्तमिव जवात् । पटविद्येव^२ यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठपत् ॥२॥
 तं नत्वा परमं ज्योतिः वृषभं वीरमन्वतः । द्विजन्मनामथोत्पत्तिं वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥३॥
 भरतो भारतं वर्षं^३ निजित्य सह पार्थिवैः । षण्ड्या वर्षसहस्रैस्तु दिशां निववृते जयात् ॥४॥
 कृतकृत्यस्य तस्यान्तश्चिन्तेयमुदपद्यत । परार्थे सम्पदास्माकी सोपयोगा कथं भवेत् ॥५॥
 महामहमहं कृत्वा जिनेन्द्रस्य महोदयम् । प्रीणयामि जगद्विश्वं विष्वक् विश्राणयन् धनम् ॥६॥
 नानगारा वसून्वस्मत् प्रतिगृह्णन्ति निःस्पृहाः । सागारः कतमः^४ पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभिः ॥७॥
 'येऽणुव्रतधरा धीरा धीरेया' गृहमेधितान् । तर्पणीया हि तेस्माभिः ईप्सितवंसुवाहनैः ॥८॥
 इति निश्चित्य राजेन्द्रः सत्कर्तुमुचितानिमान् । 'परीक्षिषुराह्वास्त तदा सर्वान् महीभुजः ॥९॥
 सदाचारैर्निजैरिष्टैः अनुजीविभि^५ रन्विताः । अद्यास्मदुत्सवे यूयम् आयातेति^६ पृथक् पृथक् ॥१०॥
 हरितैरङ्कुरैः पुष्पैः फलैश्चाकीर्णमङ्गणम् । सम्मूढचीकरत्तेषां परीक्षायै स्वदेमनि ॥११॥
 तेष्वव्रता विना सङ्गात्^७ प्राविक्षन् नृपमन्त्रिणम् । तानेकतः समुत्सार्य शोषानाह्वययत् प्रभुः ॥१२॥

जो समस्त भाषाओंमें परिणत होनेवाली है, जिसने अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर दिया है और जो सूर्यकी किरणोंके समान देदीप्यमान है वह अरहन्त भगवान्की सुन्दर वाणी सदा जयवन्त हो ॥१॥ गारुडी विद्याके समान जनकी विद्याने मोहरूपी विषसे सोये हुए इस समस्त संसारको बहुत शीघ्र जगा दिया वे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥२॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक, मैं उन परमज्योति-स्वरूप भगवान् वृषभदेव तथा भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कारकर अब यहांसे द्विजोंकी उत्पत्ति कहता हूं सो सुनो ॥३॥ भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओंके साथ भारतवर्षको जीतकर साठ हजार वर्षमें दिग्विजयसे वापिस लौटे ॥४॥ जब वे सब कार्य कर चुके तब उनके चित्तमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरेके उपकारमें मेरी इस संपदाका उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? ॥५॥ मैं श्री जिनेन्द्रदेवका बड़े ऐश्वर्यके साथ महामह नामका यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसारको संतुष्ट करूं ? ॥६॥ सदा निःस्पृह रहनेवाले मुनि तो हम लोगोंसे धन लेते नहीं हैं परन्तु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्तिके द्वारा पूजा करनेके योग्य है ॥७॥ जो अणु व्रतको धारण करनेवाले हैं, धीर वीर हैं और गृहस्थोंमें मुख्य हैं ऐसे पुरुष ही हम लोगोंके द्वारा इच्छित धन तथा सवारी आदिक वाहनोके द्वारा तर्पण करनेके योग्य हैं ॥८॥ इस प्रकार निश्चय कर सत्कार करनेके योग्य व्यक्तियोंकी परीक्षा करनेकी इच्छासे राजराजेश्वर भरतने उस समय समस्त राजाओंको बुलाया ॥९॥ और सबके पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने अपने सदाचारी इष्ट मित्र तथा नौकर चाकर आदिके साथ आज हमारे उत्सवमें अलग अलग आवें ॥१०॥ इधर चक्रवर्तीने उन सबकी परीक्षा करनेके लिये अपने घरके आंगनमें हरे हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये ॥११॥ उन लोगोंमें जो अव्रती थे वे

१ सर्वभावात्मिका इत्यर्थः । २ गारुडविद्या । ३ क्षेत्रम् । ४ वितरन् । ५ कश्चन । ६ अणुव्रता- ल० । ७ धुरीणाः । ८ परीक्षितुमिच्छः । ९ मृत्युः । १० आगच्छत । ११ विचारात् प्रतिबन्धाद् वा ।

ते तु स्वव्रतसिद्धयर्थम् ईहमाना^१ महान्वयाः । नैकुः^२ प्रवेशनं तावद् यावदाद्रिङ्कुराः पथि ॥१३॥
 सधान्यैर्हरितैः कोणम् अनाक्रम्य नृपाङ्गणम् । निश्चक्रमुः^३ कृपालुत्वात् केचित् सावद्यभीरवः ॥१४॥
 कृतानुबन्धना^४ भूयश्चक्रिणः किल तेऽस्तिकम् । प्रासुकेन^५ पथाऽन्येन भेजुः कान्त्वा नृपाङ्गणम् ॥१५॥
 प्राक् केच हेतुना यूयं नायाताः पुनरागताः । केन ब्रूतेति पृष्टास्ते प्रत्यभाषन्त चक्रिणम् ॥१६॥
 प्रबालपत्रपुष्पादेः पत्राणि व्यपरोपणम्^६ । न कल्पतेऽद्य तज्जानां^७ जन्तूनां नोऽनभिद्रुहाम् ॥१७॥
 सन्त्रेवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु । निर्गता इति सावज्ञं^८ देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥१८॥
 तस्मात्तस्माभिराक्रान्तम्^९ अद्यत्वे त्वद्गुहाङ्गणम् । कृतोपहारमार्द्राङ्गैः^{१०} फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥१९॥
 इति तद्वचनात् सर्वान् सोऽभितन्ध दृढव्रतान् । पूजयामास लक्ष्मीवान्^{११} दानमानादिसत्कृतैः ॥२०॥
 तेषां कृतानि चिह्नानि सूत्रैः पद्माह्वयान्वितैः । उपार्त्तब्रह्मसूत्राह्नैः^{१२} एकाङ्गेकादशाह्नैः^{१३} ॥२१॥
 गुणभूमिकृताद् भेदात्^{१४} कल्पत्^{१५} यज्ञोपवीतिनाम् । सत्कारः क्रियते स्मैषाम् अव्रताश्च बहिः कृताः ॥२२॥
 अथ ते कृतसन्मानाः चक्रिणा व्रतधारिणः । भजन्ति स्म परं दाढर्यं^{१६} लोकश्चैतानपूजयत् ॥२३॥
 इज्यां वातीं च दत्ति च स्वाध्यायं संयमं तपः । श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥

बिना किसी सोच-विचारके राजमन्दिरमें घुस आये । राजा भरतने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी बचे हुए लोगोंको बुलाया ॥१२॥ परन्तु बड़े बड़े कुलमें उत्पन्न हुए और अपने व्रतकी सिद्धिके लिये चेष्टा करनेवाले उन लोगोंने जब तक मार्गमें हरे अंकुरे हैं तब तक उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं की ॥१३॥ पापसे डरनेवाले कितने ही लोग दयालु होनेके कारण हरे धान्योंसे भरे हुए राजाके आंगनको उल्लंघन किये बिना ही वापिस लौटने लगे ॥१४॥ परन्तु जब चक्रवर्तीने उनसे बहुत ही आग्रह किया तब वे दूसरे प्रासुक मार्गसे राजाके आंगनको लांघकर उनके पास पहुंचे ॥१५॥ आप लोग पहले किस कारणसे नहीं आये थे, और अब किस कारणसे आये हैं, ऐसा जब चक्रवर्तीने उनसे पूछा तब उन्होंने नीचे लिखे अनुसार उत्तर दिया ॥१६॥ आज पर्वके दिन कोंपल, पत्ते तथा पुष्प आदिका विघात नहीं किया जाता और न जो अपना कुछ विगाड़ करते हैं ऐसे उन कोंपल आदिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका भी विनाश किया जाता है ॥१७॥ हे देव, हरे अंकुर आदिमें अनन्त निर्गोदिया जीव रहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ-देवके वचन हमलोगोंने सुने हैं ॥१८॥ इसलिये जिसमें गीले गीले फल, पुष्प और अंकुर आदिसे शोभा की गई है ऐसा आगके घरका आंगन आज हम लोगोंने नहीं खूँदा है ॥१९॥ इस प्रकार उनके वचनोंसे प्रभावित हुए सम्पत्तिशाली भरतने व्रतोंमें दृढ़ रहनेवाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान मान आदि सत्कारसे सन्मानित किया ॥२०॥ पद्म नामकी निधि से प्राप्त हुए एकसे लेकर ग्यारह तककी संख्यावाले ब्रह्मसूत्र नामके सूत्रसे (व्रतसूत्रसे) उन सबके चिह्न किये ॥२१॥ प्रतिमाओंके द्वारा किये हुए भेदके अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं ऐसे इन सबका भरतने सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे उन्हें वैसे ही जाने दिया ॥२२॥ अथानन्तर चक्रवर्तीने जिनका सन्मान किया है ऐसे व्रत धारण करनेवाले वे लोग अपने अपने व्रतोंमें और भी दृढ़ताको प्राप्त हो गये तथा अन्य लोग भी उनकी पूजा आदि करने लगे ॥२३॥ भरतने उन्हें उपासकाध्ययनांगसे इज्या, वाती, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और

१ चेष्टमानाः । २ नेच्छन्ति स्म । ३ निर्गताः । ४ निर्वन्धाः । ५ मार्गेण । ६ हिंसनम् । ७ प्रबालपत्रपुष्पादिजातानाम् । ८ अस्माकम् । ९ अहिंसकानाम् । १० सर्वज्ञस्येदम् । ११ इदानीम् । १२ नितरामार्द्रैः । १३ वस्त्रादिदानसद्वचनादिपूजासत्कारैः । १४ स्वीकृतैः । १५ दार्शनिकादिगुण-नित्यविहितात् । १६ कृत । १७ जनः ।

कुलधर्मोऽभित्येषाम् अर्हत्पूजादिवर्णनम् । तदा भरतराजर्षिः अन्वबोचदनुक्रमात् ॥२५॥
 प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदाचर्चनम्^१ । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमादृष्टाष्टाह्निकोऽपि च ॥२६॥
 तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति । स्वगृहाग्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षताविका ॥२७॥
 चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्माणं च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदाचर्चनम् ॥२८॥
 या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथा शक्त्युपकल्पितः ॥२९॥
 महामुकुटबद्धश्च क्रियमाणो महामहः । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥३०॥
 दत्त्वा किमिच्छकं दानं समाङ्गभिर्भ्यः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ॥३१॥
 आष्टाह्निको महः सार्वजनिको^२ रुढ एव सः । महान्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः ॥३२॥
 बलिस्नपनमित्यन्यः त्रिसंध्यासेवया समम् । उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तावृशम् ॥३३॥
 एवंविधविधानेन या महेश्या जिनेशनाम् । विधिज्ञास्तामुशन्तोऽप्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम्^३ ॥३४॥
 वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः^४ । चतुर्धा वर्णिता दत्तिः दया पात्रसमान्वये ॥३५॥
 सानुकम्पमनुग्राह्यो प्राणिबन्धेऽभयप्रदा । विशुद्धचतुर्गता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥३६॥
 महातपोधनायाचप्रतिग्रहपुरःसरम्^५ । प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥३७॥

तपका उपदेश दिया ॥२४॥ यह इनका कुलधर्म है ऐसा विचार कर राजर्षि भरतने उस समय अनुक्रमसे अर्हत्पूजा आदिका वर्णन किया ॥२५॥ वे कहने लगे कि अर्हन्त भगवान्की पूजा नित्य करनी चाहिये, वह पूजा चार प्रकारकी है सदाचर्चन, चतुर्मुख, कल्पद्रुम और आष्टाह्निक ॥२६॥ इन चारों पूजाओंमेंसे प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत इत्यादि ले जाकर जिनालयमें श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना सदाचर्चन अर्थात् नित्यमह कहलाता है ॥२७॥ अथवा भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम खेत आदिका दान देना भी सदाचर्चन (नित्यमह) कहलाता है ॥२८॥ इसके सिवाय अपनी शक्तिके अनुसार नित्य दान देते हुए महामुनियोंकी जो पूजा की जाती है उसे भी नित्यमह समझना चाहिये ॥२९॥ महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिये । इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है ॥३०॥ जो चक्रवर्तियोंके द्वारा किमिच्छक (मुहमांगा) दान देकर किया जाता है और जिसमें जगत्के समस्त जीवोंकी आशाएं पूर्ण की जाती हैं वह कल्पद्रुम नामका यज्ञ कहलाता है । भावार्थ—जिस यज्ञमें कल्पवृक्षके समान सबकी इच्छाएं पूर्ण की जावें उसे कल्पद्रुम यज्ञ कहते हैं, यह यज्ञ चक्रवर्ती ही कर सकते हैं ॥३१॥ चौथा आष्टाह्निक यज्ञ है जिसे सब लोग करते हैं और जो जगत्में अत्यन्त प्रसिद्ध है । इनके सिवाय एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है ॥३२॥ बलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना, तीनों संध्याओंमें उपासना करना तथा इगके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे सब उन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हैं ॥३३॥ इस प्रकारकी विधिसे जो जिनेन्द्रदेवकी महापूजा की जाती है उसे विधिके जाननेवाले आचार्य इज्या नामकी प्रथम वृत्ति कहते हैं ॥३४॥ विशुद्ध आचरणपूर्वक खेती आदिका करना वार्ता कहलाती है तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार प्रकारकी दत्ति कही गई हैं ॥३५॥

अनुग्रह करने योग्य प्राणियोंके समूहपर दयापूर्वक मन वचन कायकी शुद्धिके साथ उनके भय दूर करनेकी पण्डित लोग दयादत्ति मानते हैं ॥३६॥ महातपस्वी मुनियोंके लिये

१—तां नित्या सा ल० । २ नित्यमहः । 'अर्चा पूजा च नित्यमहः' । ३ भवतः किमिष्टमिति प्रश्नपूर्वकं तदभिवाञ्छितस्य दानम् । ४ सर्वजने भवः । ५ प्रथमकल्पे भवाम् । षट्कर्मसु प्रथमोक्तानित्यर्थः । ६ अनुष्ठानम् । ७ पूजास्थानविधिपूर्वकम् ।

समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः । 'निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम्' ॥३८॥

समानवृत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता ॥३९॥

आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यवशेषतः । समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥४०॥

संवा सकलवृत्तिः स्यात् स्वाध्यायः श्रुतभावना । तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥४१॥

विशुद्धा वृत्तिरेवंषां षट्तीयोष्ठा द्विजन्मनाम् । योऽतिक्लामेदिमां सोऽज्ञो नाम्नं व न गुणद्विजः ॥४२॥

तपः श्रुतञ्च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् । तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥४३॥

अपापोपहतां वृत्तिः स्यादेवां जातिरुत्तमा । इत्तीज्याधीति मुख्यत्वाद् व्रतशुद्ध्या सुसंस्कृता ॥४४॥

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोऽङ्गुवा । 'वृत्तिभेदाहिताङ्गेदाङ्गानुविध्यमिहाङ्गुते ॥४५॥

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिजोऽर्थार्जनान्याप्यात् शूद्रा न्यवृत्तिसंश्रयात् ॥४६॥

तपःश्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते । असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः ॥४७॥

द्विजातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः । क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ॥४८॥

तदेषां जातिसंस्कारं ब्रह्ममिति सोऽधिराद् । स प्रोवाच द्विजन्मेभ्यः क्रियाभेदानशेषतः ॥४९॥

संस्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं ॥३७॥ क्रिया, मंत्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है तथा जो संसारसमुद्रसे पार कर देनेवाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है उसके लिये पृथिवी सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्रके लिये समान बुद्धिसे श्रद्धाके साथ जो दान दिया जाता है वह समानवृत्ति कहलाता है ॥३८-३९॥ अपने वंशकी प्रतिष्ठाके लिये पुत्रको समस्त कुलपद्धति तथा धनके साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करनेको सकलवृत्ति कहते हैं । शास्त्रोंकी भावना (चिन्तन) करना स्वाध्याय है, उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम है ॥४०-४१॥ यह ऊपर कही हुई छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्ति इन द्विजोंके करने योग्य है । जो इनका उल्लंघन करता है वह मूर्ख नाममात्रसे ही द्विज है, गुणसे द्विज नहीं है ॥४२॥ तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं, जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसे ही ब्राह्मण है ॥४३॥ इन लोगोंकी आजीविका पापरहित है इसलिये इनकी जाति उत्तम कहलाती है तथा दान, पूजा, अध्ययन आदि कार्य मुख्य होनेके कारण व्रतोंकी शुद्धि होनेसे वह उत्तम जाति और भी सुसंस्कृत हो गई है ॥४४॥ यद्यपि जाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है तथापि आजीविकाके भेदसे होनेवाले भेदके कारण वह चार प्रकारकी हो गई है ॥४५॥ व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमानेसे वैश्य और नीच वृत्तिका आश्रय लेनेसे मनुष्य शूद्र कहलाते हैं ॥४६॥ इसलिये द्विज जातिका संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे ही माना जाता है परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे जिसका संस्कार नहीं हुआ है वह जातिमात्रसे द्विज कहलाता है ॥४७॥ जो एक बार गर्भसे और दूसरी बार क्रियासे इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा अथवा द्विज कहते हैं परन्तु जो क्रिया और मंत्र दोनोंसे ही रहित है वह केवल नामको धारण करनेवाला द्विज है ॥४८॥ इसलिये इन द्विजोंकी जातिके संस्कारको दृढ़ करते हुए समाद् भरतेश्वरने द्विजोंके लिये नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके समस्त भेद कहे ॥४९॥

१ संसारसागरोत्तारक । २ दानम् । ३ मध्यमत्वं गते । ४ प्रवृत्त्या ल० । ५ सद्धर्मधनाभ्याम् ।

६ गुणोद्विजः ल०, अ०, प०, स०, इ० । ७ स्वाध्याय । ८ सुसंस्कृता सती । ९ वर्तेन । १० नीचवृत्ति ।

११ अतः कारणात् ।

ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽप्ताः श्रावकाध्यायसङ्ग्रहे । सद्बुद्धिभिरनुष्ठेया महोदकाः शुभावहाः ॥५०॥
 गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः । कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधेवं बुधैर्मताः ॥५१॥
 आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत् शेषा गर्भान्वयक्रियाः । चत्वारिंशदथाष्टी च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः ॥५२॥
 कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्जैः समुन्विताः । तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूयते ॥५३॥
 अङ्गानां^१ सप्तमादङ्गाद्^२ दुस्तरादणवादिपि । श्लोकैरष्टाभिरुपेक्ष्ये^३ प्राप्तं ज्ञानत्वं मया ॥५४॥
 आधानं प्रीतिसुप्रीती धृतिमोदः प्रियोद्भवः । नामकर्मबहिर्यानिषद्याः प्राशनं तथा ॥५५॥
 व्युष्टिश्च^४ केशवापश्च लिपिसङ्ख्यानसङ्ग्रहः । उपनीतिर्व्रतं चर्या व्रतावतरणं तथा ॥५६॥
 विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता । प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्यं जिनरूपता ॥५७॥
 मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्स्वस्य भावना । गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥५८॥
 स्वगुरुस्थानसंक्रान्तिः निःसङ्गतत्वात्मभावना । योगनिर्वाणसम्प्राप्तिः योगनिर्वाणसाधनम् ॥५९॥
 इन्द्रोपपादाभिषेको विधिदानं सुखोदयः । इन्द्रत्यागावतारी च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥६०॥
 मन्दरेन्द्राभिषेकश्च गुरुपूजोपलम्भनम् । यौवराज्यं स्वराज्यं च चक्रलाभो दिशाञ्जयः ॥६१॥
 चक्राभिषेकसाम्राज्ये निष्क्रान्तिर्योगसम्महः । आर्हन्त्यं तद्विहारश्च योगत्यागोऽग्रनिर्वृतिः ॥६२॥
 त्रयः पञ्चाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः । गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ताः परमागमे ॥६३॥
 अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः । पूजाराध्यपुण्ययज्ञो दृढचर्योपयोगिता ॥६४॥
 द्युष्टिद्विष्टाभिरष्टाभिः उपनीत्यादयः^५ क्रियाः । चत्वारिंशत्प्रमायुक्ताः ताः स्युर्दीक्षान्वयक्रियाः ॥६५॥

उन्होंने कहा कि श्रावकाध्याय संग्रहमें वे क्रियाएं तीन प्रकारकी कही गई हैं, सम्यग्बुद्धि पुरुषोंको उन क्रियाओंका पालन अवश्य करना चाहिये क्योंकि वे सभी उत्तम फल देनेवाली और शुभ करनेवाली हैं ॥५०॥ गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया इस प्रकार विद्वान् लोगोंने तीन प्रकारकी क्रियाएं मानी हैं ॥५१॥ गर्भान्वय क्रियाएं, आधान आदि तिरपन जानना चाहिये और दीक्षान्वय क्रियाएं अड़तालीस समझना चाहिये ॥५२॥ इनके सिवाय उस विषयके जानकार विद्वानोंने कर्त्रन्वय क्रियाएं सात संग्रह की हैं । अब आगे यथाक्रमसे उन क्रियाओंका नाम निर्देश किया जाता है ॥५३॥ जो समुद्रसे भी दुस्तर है ऐसे बारह अंगोंमें सातवें अंग (उपासकाध्ययनांग) से जो कुछ मुझे ज्ञानका अंश प्राप्त हुआ है उसे मैं नीचे लिखे हुए आठ श्लोकोंसे प्रकट करता हूँ ॥५४॥ १ आधान, २ प्रीति, ३ सुप्रीति, ४ धृति, ५ मोद, ६ प्रियोद्भव, ७ नामकर्म, ८ बहिर्यानि, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपि संख्यानसंग्रह, १४ उपनीति, १५ व्रतचर्या, १६ व्रतावतरण, १७ विवाह, १८ वर्णलाभ, १९ कुलचर्या, २० गृहीशिता, २१ प्रशान्ति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४ जिनरूपता, २५ मौनाध्ययनवृत्तत्व, २६ तीर्थकृत्भावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगम, २८ गणोपग्रहण, २९ स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति, ३० निःसङ्गत्वात्मभावना, ३१ योगनिर्वाणसंप्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन, ३३ इन्द्रोपपाद, ३४ अभिषेक, ३५ विधिदान, ३६ सुखोदय, ३७ इन्द्रत्याग, ३८ अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्टजन्मता, ४० मन्दरेन्द्राभिषेक, ४१ गुरुपूजोपलम्भन, ४२ यौवराज्य, ४३ स्वराज्य, ४४ चक्रलाभ, ४५ दिग्विजय, ४६ चक्राभिषेक, ४७ साम्राज्य, ४८ निष्क्रान्ति, ४९ योगसम्मह, ५० आर्हन्त्य, ५१ तद्विहार, ५२ योगत्याग और ५३ अग्रनिर्वृति । परमागम में ये गर्भसे लेकर निर्वाणपर्यन्त तिरपन क्रियाएं मानी गई हैं ॥५५-६३॥ १ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३ स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या और ८ उपयोगिता

१ नामसंकीर्तनम् ।

२ अनुवादयते ।

३ -द्वादशाङ्गानाम् मध्ये ।

४ उपासकाध्ययनात् ।

५ उद्देशं करिष्ये इत्यर्थः ।

६ अभ्युपगमः ।

७ गर्भान्वयक्रियासु आदौ त्रयोदशक्रियाः मुक्त्वा शेषा उपनीत्यादयः ।

तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुण्यकर्तृभिः । कलरूपतया वृत्ताः^१ सन्मार्गाराधनस्य वै ॥६६॥
 सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता । साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥६७॥
 स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये । अर्हद्भागमृतास्वादात् प्रतिलभ्यन्ति देहिनाम् ॥६८॥
 क्रियाकल्पोऽयमाभ्यातो बहुभेदो महर्षिभिः । सङ्क्षेपतस्तु^२ तल्लक्ष्यं वक्ष्ये सञ्चक्ष्यं^३ विस्तरम् ॥६९॥
 आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वकः । पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हद्विज्यया ॥७०॥
 'तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितम् । जिनार्चमभितः'^४ स्थाप्य समं पुण्याग्निभिस्त्रिभिः ॥७१॥
 त्रयोऽभ्युदयार्हद्विज्यया भूच्छेवकेवलनिर्वृत्तौ । ये हुतास्ते प्रणेतव्याः^५ सिद्धार्चावेद्युपाश्रयाः^६ ॥७२॥
 'तत्रार्हद्विज्यया शेषांशः आहुतिर्मन्त्रपूर्विका । विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्त्रुतोत्पत्तिकाम्यया'^७ ॥७३॥
 तन्मन्त्रास्तु यथाभ्यासार्थं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि^८ । सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागतः ॥७४॥
 विनियोगस्तु सर्वान् क्रियास्त्रेषां^९ मतो जिनैः । अग्र्यामोहादलस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त^{१०} उपासकैः ॥७५॥
 गर्भाधानक्रियामेतां प्रयुज्यादौ यथाविधि । सन्तानार्थं विना रागाद् दम्पतिभ्यां^{११} न्यवेयताम् ॥७६॥
 इति गर्भाधानम् ।

इन कही हुई आठ क्रियाओंके साथ उपनीति नामकी चौदहवीं क्रियासे तिरपनवीं निर्वाण (अग्र-
 निर्वृति) क्रिया तककी चालीस क्रियाएं मिलाकर कुल अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएं कहलाती
 हैं ॥६४-६५॥ कर्त्रन्वय क्रियाएं वे हैं जो कि पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती
 हैं और जो समीचीन मार्गकी आराधना करनेके फल स्वरूप प्रवृत्त होती हैं ॥६६॥ १ सज्जाति,
 २ सद्गृहित्व, ३ पारिव्राज्य, ४ सुरेन्द्रता, ५ साम्राज्य, ६ परमार्हन्त्य और ७ परमनिर्वाण ये सात
 स्थान तीनों लोकोंमें उत्कृष्ट माने गये हैं और ये सातों ही अर्हन्त भगवान् के वचनरूपी अमृत
 के आस्वादनसे जीवोंको प्राप्त हो सकते हैं ॥६७-६८॥ महर्षियोंने इन क्रियाओंका समूह
 अनेक प्रकारका माना—अनेक प्रकारसे क्रियाओंका वर्णन किया है परन्तु मैं यहां विस्तार छोड़-
 कर संक्षेपसे ही उनके लक्षण कहता हूँ ॥६९॥ चतुर्थ स्नानके द्वारा शुद्ध हुई रजस्वला पत्नी
 को आगे कर गर्भाधानके पहले अर्हन्तदेवकी पूजाके द्वारा मन्त्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है
 उसे आधान क्रिया कहते हैं ॥७०॥ इस आधान क्रियाकी पूजामें जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाके
 दाहिनी ओर तीन चक्र, बाईं ओर तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नि स्थापित करे ॥७१॥
 अर्हन्त भगवान् (तीर्थंकर) के निर्वाणके समय, गणधरदेवोंके निर्वाणके समय और सामान्य
 केवलियोंके निर्वाणके समय जिन अग्नियोंमें होम किया गया था ऐसी तीन प्रकारकी पवित्र
 अग्नियां सिद्ध प्रतिमाकी वेदीके समीप ही तैयार करनी चाहिये ॥७२॥ प्रथम ही अर्हन्त देवकी
 पूजा कर चुकनेके बाद शेष वक्षे हुए पवित्र द्रव्यसे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मन्त्रपूर्वक
 उन तीन अग्नियोंमें आहुति करनी चाहिये ॥७३॥ उन आहुतियोंके मंत्र आगेके पर्वमें शास्त्रा-
 नुसार कहे जावेंगे । वे पीठिका मंत्र, जातिमंत्र आदिके भेदसे सात प्रकारके हैं ॥७४॥
 श्रीजिनेन्द्रदेवने इन्हीं मंत्रोंका प्रयोग समस्त क्रियाओंमें बतलाया है इसलिये उस विषयके जान-
 कार श्रावकोंको व्यामोह (प्रमाद) छोड़कर उन मंत्रोंका प्रयोग करना चाहिये ॥७५॥ इस
 प्रकार कही हुई इस गर्भाधानकी क्रियाको पहले विधिपूर्वक करके फिर स्त्री-पुरुष दोनोंको विध-
 यानुरागके बिना केवल सन्तानके लिये समागम करना चाहिये ॥७६॥ इस प्रकार यह गर्भा-
 धान क्रियाकी विधि समाप्त हुई ।

१ प्रवृत्तिताः । २ क्रियालक्षणम् । ३ वर्जयित्वा । ४ तत्र आदानक्रियायाम् । तत्रार्चनाविधौ
 ल० । ५ जिनविम्बस्य समन्ततः । ६ संस्कार्याः । ७ सिद्धप्रतिमाश्रिततियोगवेदिसमीपाश्रिताः ।
 ८ अग्निषु । ९ वाञ्छया । १० सर्गे । ११ मन्त्राणाम् । १२ मन्त्राः । १३ विधीयताम् ल० ।
 व्यधीयताम् ल० । अभिगम्यताम् ।

गर्भाधानात् परं मासे तृतीये सम्प्रवर्तते । प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैः याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥७७॥
तत्रापि पूर्ववन्मन्त्रपूर्वा पूजा जिनेशिताम् । द्वारि तोरणविन्यासः पूर्णकुम्भौ च सम्मतौ ॥७८॥
तवादि प्रत्यहं भेरीशब्दो घण्टाध्वनान्वितः^१ । यथाविभवमेवैतैः प्रयोज्यो गृहमेधिभिः ॥७९॥

इति प्रीतिः ।

आधानात् पञ्चमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते । या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकवर्तैः ॥८०॥
तत्राध्वुक्तो विधिः पूर्वः सर्वोऽहंविंशसन्निधौ । कार्यो मन्त्रविधानज्ञैः साक्षीकृत्याग्निदेवताः ॥८१॥

इति सुप्रीतिः ।

धृतिस्तु सप्तमे मासि कार्या तद्वत्क्रियादरैः । गृहमेधिभिरव्यग्रमनोभिर्गर्भवृद्धये ॥८२॥

इति धृतिः ।

नवमे मास्यतोऽभ्यर्णं मोदो नाम क्रियाविधिः । तद्वदेवादृतैः कार्यो गर्भपुष्टये द्विजोत्तमैः ॥८३॥
तत्रेष्टो गात्रिकाबन्धो^२ मङ्गल्यं^३ च प्रसाधनम्^४ । रक्षासूत्रविधानं^५ च गर्भिण्या द्विजसत्तमैः ॥८४॥

इति मोदः ।

प्रियोद्भवः प्रसूतायां^६ जातकर्मविधिः स्मृतः । जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५॥

अवान्तरविशेषोऽत्र क्रियामन्त्रादितक्षणः । भूयान्^७ समस्त्यसौ श्रेयो मूलोपासकसूत्रतः ॥८६॥

इति प्रियोद्भवः ।

गर्भाधानके बाद तीसरे माहमें प्रीति नामकी क्रिया होती है जिसे संतुष्ट हुए द्विज लोग करते हैं ॥७७॥ इस क्रियामें भी पहलेकी क्रियाके समान मन्त्रपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिये, दरवाजेपर तोरण बांधना चाहिये तथा दो पूर्ण कलश स्थापन करना चाहिये ॥७८॥ उस दिनसे लेकर गृहस्थोंको प्रतिदिन अपने वैभवके अनुसार घंटा और नगाड़े बजवाने चाहिये ॥७९॥ यह दूसरी प्रीति क्रिया है ।

गर्भाधानसे पांचवें माहमें सुप्रीति क्रिया की जाती है जो कि प्रसन्न हुए उत्तम श्रावकोंके द्वारा की जाती है ॥८०॥ इस क्रियामें भी मंत्र और क्रियाओंको जाननेवाले श्रावकोंको अग्नि तथा देवताकी साक्षी कर अर्हन्त भगवान्की प्रतिमाके समीप पहले कही हुई समस्त विधि करनी चाहिये ॥८१॥ यह तीसरी सुप्रीति नामकी क्रिया है ।

जिनका आदर किया गया है और जिनका चित्त व्याकुल नहीं है ऐसे गृहस्थोंको गर्भकी वृद्धिके लिये गर्भसे सातवें महीनेमें पिछली क्रियाओंके समान ही धृति नामकी क्रिया करनी चाहिये ॥८२॥ यह चौथी धृति नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर नौवें महीनेके निकट रहनेपर मोद नामकी क्रिया की जाती है यह क्रिया भी पिछली क्रियाओंके समान आदरयुक्त उत्तम द्विजोंके द्वारा गर्भकी पुष्टिके लिये की जाती है ॥८३॥ इस क्रियामें उत्तम द्विजोंको गर्भिणीके शरीरपर गात्रिकाबन्ध करना चाहिये अर्थात् मंत्रपूर्वक बीजाक्षर लिखना चाहिये, मङ्गलमय आभूषणादि पहिनाना चाहिये और रक्षाके लिये कंकणसूत्र आदि बांधनेकी विधि करनी चाहिये ॥८४॥ यह पांचवीं मोदक्रिया है ।

तदनन्तर प्रसूति होनेपर प्रियोद्भव नामकी क्रिया की जाती है, इसका दूसरा नाम जातकर्म विधि भी है । यह क्रिया जिनेन्द्र भगवान्का स्मरण कर विधिपूर्वक करनी चाहिये ॥८५॥ इस क्रियामें क्रिया मंत्र आदि अवान्तर विशेष कार्य बहुत भारी हैं इसलिये इसका पूर्ण ज्ञान मूलभूत उपासकाध्ययनाङ्गसे प्राप्त करना चाहिये ॥८६॥ यह छठवीं प्रियोद्भव क्रिया है ।

१ स्वनान्वितः ल० । २ गात्रेषु बीजाक्षराणां मन्त्रपूर्वकं न्यासः । ३ शोभनम् । ४ अलङ्कारः । ५ रक्षार्थं कङ्कणसूत्रबन्धनविधानम् । ६ प्रसूतायां सत्याम् । ७ महान् ।

द्वादशाहात् परं नामकर्म जन्मदिनान्ततम् । अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥८७॥
यथाविभवमश्रेष्ठं देवविद्विजपूजनम् । शस्तं च नामधेयं तत् स्थाप्यमन्त्रयवृद्धिकृत् ॥८८॥
अष्टोत्तरसहस्राद् वा जिननामकदम्बकान् । घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्यतमं शुभम् ॥८९॥
इति नामकर्म ।

बहिर्यानिं ततो ^१द्वित्रैः मासैस्त्रिचतुरेकतः^२ । यथानुकूलमिष्टेऽङ्गि कार्यं तूर्यादिमङ्गलैः ॥९०॥
ततः प्रभृत्यभीष्टं हि शिशोः प्रसववेश्मनः^३ । बहिःप्रणयनं मात्रा धात्र्युत्सङ्गगतस्य वा ॥९१॥
तत्र बन्धुजनादर्धलाभो यः पारितोषिकः^४ । स तस्योत्तरकालेऽर्घ्यो धनं पित्र्यं यदाप्स्यति ॥९२॥
इति बहिर्यानिम् ।

ततः परं निषद्यास्य क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योग्ये तत्प^५ आस्तीर्णे^६ कृतमङ्गलसन्निधौ ॥९३॥
सिद्धान्तनाविकः सर्वो विधिः पूर्ववदत्र^७ च । यतो^८ दिव्यासनाहृत्यम् अस्य स्यादुत्तरोत्तरम् ॥९४॥
इति निषद्या ।

जन्मदिनसे बारह दिनके बाद, जो दिन माता पिता और पुत्रके अनुकूल हो, सुख देनेवाला हो उस दिन नामकर्मकी क्रिया की जाती है ॥८७॥ इस क्रियामें अपने वैभवके अनुसार अर्हन्तदेव और ऋषियोंकी पूजा करनी चाहिये, द्विजोंका भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिये तथा जो वंशकी वृद्धि करनेवाला हो ऐसा कोई उत्तम नाम बालकका रखना चाहिये ॥८८॥ अथवा जिनेन्द्रदेवके एक हजार आठ नामोंके समूहसे घटपत्रकी विधिसे कोई एक शुभ नाम ग्रहण कर लेना चाहिये । भावार्थ—भगवान् के एक हजार आठ नामोंको एक हजार आठ कागजके टुकड़ोंपर अष्टगंधसे सुवर्ण अथवा अनार की कलमसे लिखकर उनकी गोली बना लेवे और पीले वस्त्र तथा नारियल आदिसे ढके हुए एक घड़ेमें भर देवे, कागजके एक टुकड़ेपर 'नाम' ऐसा शब्द लिखकर उसकी गोली बना लेवे इसी प्रकार एक हजार सात कोरे टुकड़ोंकी गोलियां बनाकर इन सबको एक दूसरे घड़ेमें भर देवे, अनन्तर किसी अबोध कन्या या बालकसे दोनों घड़ोंमेंसे एक एक गोली निकलवाता जावे । जिस नामकी गोलीके साथ नाम ऐसा लिखी हुई गोली निकले वही नाम बालकका रखना चाहिये । यह घटपत्र विधि कहलाती है ॥८९॥ यह सातवीं नामकर्म क्रिया है ।

तदनन्तर दो-तीन अथवा तीन-चार माहके बाद किसी शुभ दिन तुरही आदि मांगलिक बाजोंके साथ साथ अपनी अनुकूलताके अनुसार बहिर्यानि क्रिया करनी चाहिये ॥९०॥ जिस दिन यह क्रिया की जावे उसी दिनसे माता अथवा धायकी गोदमें बैठे हुए बालकका प्रसूतिगृहसे बाहर ले जाना शास्त्रसम्मत है ॥९१॥ उस क्रियाके करते समय बालकको भाई बान्धव आदिसे पारितोषिक-भेंटरूपसे जो कुछ धनकी प्राप्ति हो उसे इकट्ठा कर, जब वह पुत्र पिताके धनका अधिकारी हो तब उसके लिये सौंप देवे ॥९२॥ यह आठवीं बहिर्यानि क्रिया है ।

तदनन्तर, जिसके समीप मङ्गलद्रव्य रखे हुए हैं और जो बालकके योग्य हैं ऐसे बिछाये हुए आसनपर उस बालककी निषद्या क्रिया की जाती है अर्थात् उसे उत्तम आसनपर बैठाते हैं ॥९३॥ इस क्रियामें सिद्ध भगवान्की पूजा करना आदि सब विधि पहलेके समान ही करनी चाहिये जिससे इस बालककी उत्तरोत्तर दिव्य आसनपर बैठनेकी योग्यता होती रहे ॥९४॥ यह नौवीं निषद्या क्रिया है ।

१ द्वौ वा त्रयो वा द्वित्रास्तैः । २ अथवा । ३ प्रसववेश्मनः सकाशात् । ४ पारितोषे भवः । ५ शय्यायाम् । ६ विस्तीर्णम् । ७ निषद्याक्रियायाम् । ८ निषद्याक्रियायाः ।

गते मासपृथक्स्थे^१ च जन्माद्यस्य^२ यथाक्रमम् । अन्नप्राशनमाप्नोत पूजाविधिपुरःसरम् ॥६५॥

इति अन्नप्राशनम् ।

ततोऽस्य हायने^३ पूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षवर्धनपर्यायशब्दवाच्या यथाश्रुतम् ॥६६॥

“अत्रापि पूर्ववद्दानं जनी पूजा च पूर्ववत् । इष्टबन्धसमाह्वानं समाशादिश्च^४ लक्ष्यताम् ॥६७॥

इति व्युष्टिः ।

केशवपस्त्र केशानां शुभेऽङ्गि व्यपरोपणम्^५ । क्षीरेण कर्मणा देवगुरुपूजापुरःसरम् ॥६८॥

गन्धोदकाद्रितान् कृत्वा केशान् शोषाक्षतोचितान् । मौञ्जचमस्य विधेयं स्यात् सचूलं^६ स्वाञ्ज्वयोचितम्^७
स्नपनीदकधौताङ्गम् अनुलिप्तं सभूषणम्^८ । प्रणम्य^९ मुनीन् पश्चाद् योजयेद् बन्धुनाशिषा^{१०} ॥१००॥

चौलाख्यया प्रतीतेयं कृतपुण्याहमङ्गला । क्रियास्याभादृती लोकी यत्ते परया मुदा ॥१०१॥

इति केशवापः ।

(ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसङ्ख्यानसङ्ग्रहः ॥१०२॥

यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः । उपाध्यायपदे चास्य सतोऽधोती^{११} गृहव्रती ॥१०३॥

इति लिपिसङ्ख्यानसङ्ग्रहः ।

क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता । यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जी सव्रतबन्धना ॥१०४॥

जब क्रम क्रमसे सात आठ माह व्यतीत हो जायें तब अर्हन्त भगवान्की पूजा आदि कर बालकको अन्न खिलाना चाहिये ॥९५॥ यह दसवीं अन्नप्राशन क्रिया है ।

तदनन्तर एक वर्ष पूर्ण होनेपर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है इस क्रियाका दूसरा नाम शास्त्रानुसार वर्षवर्धन है ॥९६॥ इस क्रियामें भी पहले ही के समान दान देना चाहिये, जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनी चाहिये, इष्टवन्धुओंको बुलाना चाहिये और सबको भोजन कराना चाहिये ॥९७॥ यह ग्यारहवीं व्युष्टि क्रिया है ।

तदनन्तर, किसी शुभ दिन देव और गुरुकी पूजाके साथ साथ क्षीरकर्म अर्थात् उस्तरासे बालकके बाल बनवाना केशवाप क्रिया कहलाती है ॥९८॥ प्रथम ही बालोंको गन्धोदकसे गीला कर उनपर पूजाके बचे हुए शेष अक्षत रखे और फिर चोटी सहित अथवा अपनी कुलपद्धतिके अनुसार उसका मुंडन करना चाहिये ॥९९॥ फिर स्नान करानेके लिये लाये हुए जलसे जिसका समस्त शरीर साफ कर दिया गया है, जिस पर लेप लगाया गया है और जिसे उत्तम आभूषण पहिनाये गये हैं ऐसे उस बालकसे मुनियोंको नमस्कार करावे, पश्चात् सब भाई, बन्धु उसे आशीर्वादसे युक्त करें ॥१००॥ इस क्रियामें पुण्याह-मंगल किया जाता है और यह चौल क्रिया नामसे प्रसिद्ध है इस क्रियामें आदरको प्राप्त हुए लोग बड़े हर्षसे प्रवृत्त होते हैं ॥१०१॥ यह केशवाप नामकी बारहवीं क्रिया है ।

तदनन्तर पांचवें वर्षमें बालकको सर्वप्रथम अक्षरोंका दर्शन करानेके लिये लिपिसंख्यान नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१०२॥ इस क्रियामें भी अपने वैश्वके अनुसार पूजा आदिकी सामग्री जुटानी चाहिये और अध्ययन करानेमें कुशलव्रती गृहस्थकी ही उस बालकके अध्यापकके पदपर नियुक्त करना चाहिये ॥१०३॥ यह तेरहवीं लिपिसंख्यान क्रिया है ।

गर्भसे आठवें वर्षमें बालककी उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) क्रिया होती है । इस क्रियामें केशोंका मुण्डन, व्रतबन्धन तथा मौञ्जीबन्धनकी क्रियाएं की

१ सप्ताष्टमासे । २ जन्मदिनात् प्रारभ्य । ३ संवत्सरे । ‘संवत्सरो वत्सरोऽद्वौ हायनोऽस्त्री शरत् समा’ इत्यभिधानात् । ४ शास्त्रानुसारेण । ५ तत्रापि ल० । ६ सहभोजनादिः । ७ अपनयनम् । ८ चूडासहितम् । शिखासहितमित्यर्थः । ९ बान्धवोचितम् ल० । बान्धवोचितम् द० । १० अलङ्कार-युक्तशिषुम् । ११ मुनिभ्यो नमनं कारयित्वा । १२ बन्धुसमूहकृताशीर्वचनेन । १३ अधीनवान् ।

कृताहंत्यूनस्यास्य मौञ्जीबन्धो जिनालये । गुरुसाक्षिविधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरम् ॥१०५॥
 शिखी सिलाशुकः सान्तर्वासा^१ निर्वेषविक्रियः^२ । व्रतचिह्नं वक्षस्त्रं^३ तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ॥१०६॥
 चरणोचितमन्यच्च^४ नामधेयं तदस्य^५ वै । वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥१०७॥
 'सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्यां' नियोग इति केवलम् । 'तदयं देवसात्कृत्यं' ततोऽयं योग्यमाहरेत्^६ ॥१०८॥
 इत्युपनीतिः ।

व्रतचर्यामते^१ वक्ष्ये क्रियामस्योपबिभूतः । कटचूरः शिरोलिङ्गम्^२ अनूचानव्रतोचितम् ॥१०९॥
 कटोलिङ्गं भवेदस्य मौञ्जीबन्धात्त्रिभिर्गुणैः । रत्नव्रतयशुद्ध्यङ्गं तद्वि चिह्नं द्विजात्मनाम् ॥११०॥
 तस्येष्टमूरुलिङ्गं च सुधौतसितशटकम्^३ । आहृतानां कुलं पूतं विशालं चेति सूचने ॥१११॥
 उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः । यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकम् ॥११२॥
 शिरोलिङ्गं च तस्येष्टं परं मौण्ड्यमनाविलम्^४ । मौण्ड्यं मनोवचःकायगतमस्योपबृंहयत् ॥११३॥
 एवंप्रायेण^५ लिङ्गेन विशुद्धं धारयेद् व्रतम् । स्थूलहिंसाविरत्यादि ब्रह्मचर्योपबृंहितम् ॥११४॥
 दन्तकाष्ठग्रहो नास्य न ताम्बूलं न चाञ्जनम् । न हरिद्रादिभिः स्नानं शुद्धस्नानं दिनं प्रति ॥११५॥

जाती हैं ॥१०४॥ प्रथम ही जिनालयमें जाकर जिसने अहन्तदेवकी पूजा की है ऐसे उस बालकको व्रत देकर उसका मौञ्जीबन्धन करना चाहिये अर्थात् उसकी कमरमें मूँजकी रस्सी बांधनी चाहिये ॥१०५॥ जो चोटी रखाये हुए है, जिसकी सफेद धोती और सफेद दुपट्टा है, जो वेष और विकारोंसे रहित है, तथा जो व्रतके चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीत सूत्रको धारण कर रहा है ऐसा वह बालक उस समय ब्रह्मचारी कहलाता है ॥१०६॥ उस समय उसके आचरणके योग्य और भी नाम रखे जा सकते हैं । उस समय बड़े वैभवशाली राजपुत्रको छोड़कर सबको भिक्षावृत्तिसे ही निर्वाह करना चाहिये और राजपुत्रको भी अन्तः-पुरमें जाकर माता आदिसे किसी पात्रमें भिक्षा मांगनी चाहिये, क्योंकि उस समय भिक्षा लेने-का यह नियोग ही है । भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो उसका अग्रभाग श्री अरहन्तदेवको समर्पण कर बाकी बचे हुए योग्य अन्नका स्वयं भोजन करना चाहिये ॥१०७-१०८॥ यह चौदहवीं उपनीति किया है ।

अथानन्तर ब्रह्मचर्य व्रतके योग्य कमर, जांघ, वक्षःस्थल और शिरके चिह्नको धारण करनेवाले इस ब्रह्मचारी बालककी व्रतचर्या नामकी क्रियाका वर्णन करते हैं ॥१०९॥ तीन लरकी मूँजकी रस्सी बांधनेसे कमरका चिह्न होता है, यह मौञ्जीबन्धन रत्न-त्रयकी विशुद्धिका अंग है और द्विज लोगोंका एक चिह्न है ॥११०॥ अन्त्यन्त धुली हुई सफेद धोती उसकी जांघका चिह्न है, वह धोती यह सूचित करती है कि अरहन्त भगवान् का कुल पवित्र और विशाल है ॥१११॥ उसके वक्षःस्थलका चिह्न सात लरका गुंथा हुआ यज्ञोपवीत है, यह यज्ञोपवीत सात परमस्थानोंका सूचक है ॥११२॥ उसके शिरका चिह्न स्वच्छ और उत्कृष्ट मुण्डन है जो कि उसके मन, वचन, कायके मुण्डनको बढ़ानेवाला है । भावार्थ—शिर मुण्डनसे मन, वचन, काय पवित्र रहते हैं ॥११३॥ प्रायः इस प्रकारके चिह्नोंसे विशुद्ध और ब्रह्मचर्यसे बड़े हुए स्थूल हिंसाका त्याग (अहिंसाणु व्रत) आदि व्रत उसे धारण करना चाहिये ॥११४॥ इस ब्रह्मचारीको वृक्षकी दातौन नहीं करनी चाहिये, न पान खाना चाहिये, न अंजन लगाना चाहिये और न हल्दी आदि लगाकर स्नान करना चाहिये, उसे प्रतिदिन केवल

१ अन्तर्वस्त्रेण सहितः । २ वेषविकाररहितः । ३ यज्ञसूत्रम् । ४ वर्तनायोग्यम् । ५ तदास्य ल० । ६ राजन्यः । ७ पात्रे भिक्षां प्रार्थयेदित्यर्थः । ८ भिक्षान्नम् । ९ देवस्य चरं समर्प्यं । १० शेषां भुञ्जीत । ११ -महं ल० । १२ ब्रह्मचर्यव्रत । १३ भवत्ववस्त्रम् । १४ उष्णीषादिरहितम् । १५ एवं प्रकारेण ।

न खट्वाशयनं तस्य नान्याङ्गपरिघट्टनम् । भूमी केवलमेकाकी शयीत व्रतशुद्धये ॥११६॥

यावद् विद्यासमाप्तिः स्यात् तावदस्येदं व्रतम् । ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत् स्याद् तन्मूलं गृहमेधिनाम् ॥११७॥

सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात् । विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८॥

शब्दविद्याऽर्थशास्त्रादि^१ चाध्येयं नास्य दुष्यति । सुसंस्कारप्रबोधाय^२ वैद्यात्यख्यातयेऽपि च ॥११९॥

“ज्योतिर्ज्ञानमथच्छब्दोज्ञानं” ज्ञानं च शाकुनम् ।^३ सङ्ख्याज्ञानमितीव च तेनाध्येयं विशेषतः ॥१२०॥

इति व्रतचर्या ।

ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रतवृत्त्यवतारणम् । विशेषविषयं तच्च स्थितस्थौत्सगिके^४ व्रते ॥१२१॥

मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम् ॥१२२॥

व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षिकृताचनम्^५ । वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वम् अथवा षोडशात् परम् ॥१२३॥

कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम् । वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया ॥१२४॥

शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद्^६ धारयेच्छस्त्रमप्यदः ।^७ स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तदग्रहः ॥१२५॥

भोगब्रह्मव्रतादेवम् श्रवतीर्णो भवेत्तदा । कामब्रह्मव्रतं^८ त्वस्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा^९ ॥१२६॥

इति व्रतावतरणम् ।

जलसे शुद्ध स्नान करना चाहिये ॥११५॥ उसे खाट अथवा पलंगपर नहीं सोना चाहिये, दूसरेके शरीरसे अपना शरीर नहीं रगड़ना चाहिये, और व्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिये अकेला पृथिवीपर सोना चाहिये ॥११६॥ जब तक विद्या समाप्त न हो तब तक उसे यह व्रत धारण करना चाहिये और विद्या समाप्त होनेपर वे व्रत धारण करना चाहिये जो कि गृहस्थोंके मूलगुण कहलाते हैं ॥११७॥ सबसे पहले इस ब्रह्मचारीको गुरुके मुखसे श्रावकाचार पढ़ना चाहिये और फिर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढ़ना चाहिये ॥११८॥ उत्तम संस्कारोंको जागृत करनेके लिये और विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिये इस व्याकरण आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्रका भी अभ्यास करना चाहिये क्योंकि आचार-विषयक ज्ञान होनेपर इनके अध्ययन करनेमें कोई दोष नहीं है ॥११९॥ इसके बाद ज्योतिष शास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदिका भी उसे विशेषरूपसे अध्ययन करना चाहिये ॥१२०॥ यह पन्द्रहवीं व्रतचर्या क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याओंका अध्ययन कर लिया है ऐसे उस ब्रह्मचारीकी व्रतावतरण क्रिया होती है । इस क्रियामें वह साधारण व्रतोंका तो पालन करता ही है परन्तु अध्ययनके समय जो विशेष व्रत ले रखे थे उनका परित्याग कर देता है । ॥१२१॥ इस क्रियाके बाद उसके मधुत्याग, मांसत्याग, पांच उदुम्बर फलोंका त्याग और हिंसा आदि पांच स्थूल पापोंका त्याग, ये सदा काल अर्थात् जीवन पर्यन्त रहनेवाले व्रत रह जाते हैं ॥१२२॥ यह व्रतावतरण क्रिया गुरुकी साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्की पूजा कर बारह अथवा सोलह वर्ष बाद करनी चाहिये ॥१२३॥ पहले द्विजोंका सत्कार कर फिर व्रतावतरण करना उचित है और व्रतावतरणके बाद गुरुकी आज्ञासे वस्त्र, आभूषण और माला आदिका ग्रहण करना उचित है ॥१२४॥ इसके बाद यदि वह शस्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रिय वर्गका है तो वह अपनी आजीविकाकी रक्षाके लिये शस्त्र भी धारण कर सकता है अथवा केवल शोभाके लिये भी शस्त्र ग्रहण किया जा सकता है ॥१२५॥ इस प्रकार इस क्रियामें यद्यपि वह भोगोप-भोगोंके ब्रह्मव्रतका अर्थात् ताम्बूल आदिके त्यागका अवतरण (परित्याग) कर देता है तथापि

१ मञ्चक । २ नीतिशास्त्र । ३ दूष्यते ल०, द० । ४ धाष्ट्यं । ५ ज्योतिःशास्त्रम् ।

६ छन्दःशास्त्रम् । ७ गणितशास्त्रम् । ८ वृत्ति जीवन । ९ साधारण्य । १० कृताराधनम् । ११ वर्गं भवः ।

१२ निजजीवन । १३ चास्य ल० । १४ वक्ष्यमाणा, वैवाहिकी ।

ततोऽस्य ^१गुर्वनुज्ञानाद् इष्टा वैवाहिकी क्रिया । वैवाहिके कुले कन्याम् उचितां परिणेष्यतः ॥१२७॥
 सिद्धार्चनविधिं सम्पक्त्वा निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः । कृतान्निव्रजसम्पूजाः कुर्युस्तत्साक्षितां ^२क्रियाम् ॥१२८॥
 पुण्याश्रमे ^३क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः । दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिप्रहोत्सवः ॥१२९॥
 वेद्यां ^४प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम् । ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य चिन्तिवेशनम् ॥१३०॥
 पाणिप्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् । आसप्ताहं ^५चरेद् ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥१३१॥
 क्रात्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमौ विहृत्य च । स्वगृहं प्रविशेद् भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥१३२॥
 विमुक्तकङ्कणं पश्चात् स्वगृहे शयनीयकम् । अधिशय्यं यथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥१३३॥
 सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् । शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं ^६क्रमोऽज्ञातेष्वतोऽन्यथा ॥१३४॥
 इति विवाहक्रिया ।

एवं कृतविवाहस्य गार्हस्थ्यमनु तिष्ठतः । स्वधर्मानतिवृत्त्यर्थं वर्णलाभमर्थो ^७ब्रुवे ॥१३५॥
^८ऊढभार्योऽप्ययं तावद् अस्वतन्त्रो गुरोर्गृहे । ततः स्वातन्त्र्यसिद्धयर्थं वर्णलाभोऽस्य वर्णितः ॥१३६॥
 गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसम्पदः । पृथक्कृतालयस्यास्य वृत्तिवर्णान्तिरिष्यते ॥१३७॥
 तवापि पूर्ववत्सिद्धप्रतिमानर्चनप्रतः ^९१० । कृत्वाऽस्यो ^{११}पासकान् मुख्यान् साक्षीकृत्यार्पयेद् धनम् ॥१३८॥

जब तक उसके आगेकी क्रिया नहीं होती तब तक वह काम परित्यागरूप ब्रह्मव्रतका पालन करता रहता है ॥१२६॥ यह सोलहवीं व्रतावतरण क्रिया है ।

तदनन्तर विवाहके योग्य कुलमें उत्पन्न हुई कन्याके साथ जो विवाह करना चाहता है ऐसे उस पुरुषकी गुरुकी आज्ञासे वैवाहिकी क्रिया की जाती है ॥१२७॥ उत्तम द्विजोंको चाहिये कि वे सबसे पहले अच्छी तरह सिद्ध भगवान्की पूजा करें और फिर तीनों अग्नियोंकी पूजा कर उनकी साक्षीपूर्वक उस वैवाहिकी (विवाह सम्बन्धी) क्रियाको करें ॥१२८॥ किसी पवित्र स्थानमें बड़ी विभूतिके साथ सिद्ध भगवान्की प्रतिमाके सामने वधू-वरका विवाहोत्सव करना चाहिये ॥१२९॥ वेदीमें जो तीन, दो अथवा एक अग्नि उत्पन्न की थी उसकी प्रदक्षिणाएं देकर वधू-वरको समीप ही बैठना चाहिये ॥१३०॥ विवाहकी दीक्षामें नियुक्त हुए वधू और वरको देव और अग्निकी साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये ॥१३१॥ फिर अपने योग्य किसी देशमें भूमण कर अथवा तीर्थभूमिमें विहारकर वर और वधू बड़ी विभूतिके साथ अपने घरमें प्रवेश करें ॥१३२॥ तदनन्तर जिनका कंकण छोड़ दिया है, ऐसे वर और वधू अपने घरमें समया-नुसार भोगोपभोगके साधनोंसे सुशोभित शय्यापर शयन कर केवल संतान उत्पन्न करनेकी इच्छासे ऋतुकालमें ही परस्पर काम-सेवन करें । काम-सेवनका यह कम काल तथा शक्ति की अपेक्षा रखता है इसलिये शक्तिहीन पुरुषोंके लिये इससे विपरीत क्रम समझना चाहिये अर्थात् उन्हें ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये ॥१३३-१३४॥ यह सत्रहवीं विवाह-क्रिया है ।

इस प्रकार जिसका विवाह किया जा चुका है और जो गार्हस्थ्यधर्मका पालन कर रहा है ऐसा पुरुष अपने धर्मका उल्लंघन न करे इसलिये उसके अर्थ वर्णलाभ क्रियाको कहते हैं ॥१३५॥ यद्यपि उसका विवाह हो चुका है तथापि वह जबतक पिताके घर रहता है तबतक अस्वतन्त्र ही है इसलिये उसको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिये यह वर्णलाभकी क्रिया कही गई है ॥१३६॥ पिताकी आज्ञासे जिसे धनधान्य आदि सम्पदाएं प्राप्त हो चुकी हैं और मकान भी जिसे अलग मिल चुका है ऐसे पुरुषकी स्वतन्त्र आजीविका करने लगनेको वर्णलाभ कहते हैं ॥१३७॥ इस क्रियाके समय

१ पितुरनुमतात् । २ विवाहोचिते । ३ साक्षि तां ल० । ४ पवित्रप्रदेशे । ५ संस्कृतम् ।
 ६ सप्तदिवसपर्यन्तम् । ७ सन्तानार्थम् ऋतुकाले कामसेवाक्रमः । ८ -मतो ल० । ९ विवाहित ।
 १० आदी । ११ कृत्वान्योप-ल० ।

धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन् स्वगृहे पृथक् । गृहधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षणः ॥१३६॥
 यथाऽस्मत्पितृदत्तेन धनेनास्माभिरार्जितम् । यशो धर्मश्च तद्वत्त्वं यशोधर्मनुपार्जय ॥१४०॥
 इत्येवमनुशिष्येन^१ वर्णलाभे नियोजयेत् । सदारः सोऽपि तं धर्मं तथानुष्ठातुमर्हति ॥१४१॥
 इति वर्णलाभक्रिया ।

लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्याऽनुकीर्यते । सां त्विज्यादत्तिवार्तादिलक्षणा प्राक् प्रपञ्चिता ॥१४२॥
 विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्तनम् । गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥१४३॥

इति कुलचर्या क्रिया ।

कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मो दाढधर्मयोद्धहन् । गृहस्थाचार्यभावेन संभवेत् स गृहीशिनाम् ॥१४४॥
 ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत् स्वां गृहीशिताम् । शुभवृत्तिक्रियामन्त्रविवाहैः सोत्तरक्रियैः ॥१४५॥
 श्रनन्यसदृशैरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः । स्वमुन्नतिं नयन्नेष तदाऽर्हति गृहीशिताम् ॥१४६॥
 वर्णोत्तमो महीदेवः सुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको^२ ग्रामपतिः मानार्हश्चेति मानितः ॥१४७॥

इति गृहीशिता ।

सोऽनुरूपं ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षमम् । तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशान्तिमतः भवेत् ॥१४८॥

भी पहलेके समान सिद्ध प्रतिमाओंका पूजन कर पिता अन्य मुख्य श्रावकोंको साक्षी कर उनके सामने पुत्रको धन अर्पण करे तथा यह कहे कि यह धन लेकर तुम इस अपने घरमें पृथक् रूपसे रहो । तुम्हें दान पूजा आदि समस्त गृहस्थधर्म पालन करते रहना चाहिये । जिस प्रकार हमारे पिताके द्वारा दिये हुए धनसे मैंने यश और धर्मका अर्जन किया है उसी प्रकार तुम भी यश और धर्मका अर्जन करो । इस प्रकार पुत्रको समझाकर पिता उसे वर्णलाभमें नियुक्त करे और सदाचारका पालन करता हुआ वह पुत्र भी पिताके धर्मका पालन करनेके लिये समर्थ होता है ॥१३८-१४१॥ यह अठारहवीं वर्णलाभ क्रिया है ।

जिसे वर्णलाभ प्राप्त हो चुका है ऐसे पुत्रके लिये कुलचर्या क्रिया कही जाती है और पूजा, दत्ति तथा आजीविका करना आदि सब जिसके लक्षण हैं ऐसी कुलचर्या क्रियाका पहले विस्तारके साथ वर्णन कर चुके हैं ॥१४२॥ निर्दोषरूपसे आजीविका करना तथा आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कार्य करना यही गृहस्थोंकी कुलचर्या कहलाती है और यही उनका कुलधर्म माना जाता है ॥१४३॥ यह उन्नीसवीं कुलचर्या क्रिया है ।

तदनन्तर कुलचर्याको प्राप्त हुआ वह पुरुष धर्ममें दृढताको धारण करता हुआ गृहस्थाचार्यरूपसे गृहीशिताको स्वीकार करे अर्थात् गृहस्थोंका स्वामी बने ॥१४४॥ फिर उसे आपको उत्तमवर्ण मानकर आपमें गृहीशिता स्थापित करनी चाहिये । जो दूसरे गृहस्थोंमें न पाई जावे ऐसी शुभ वृत्ति, क्रिया, मन्त्र, विवाह तथा आगे कही जानेवाली क्रियाएं, शास्त्रज्ञान और चारित्र आदिकी क्रियाओंसे अपने आपको उन्नत करता हुआ वह गृहीश अर्थात् गृहस्थोंके स्वामी होनेके योग्य होता है ॥१४५-१४६॥ उस समय वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इत्यादि कहकर लोगोंको उसका सत्कार करना चाहिये ॥१४७॥ यह बीसवीं गृहीशिता क्रिया है ।

तदनन्तर वह गृहस्थाचार्य अपना भार संभालनेमें समर्थ योग्य पुत्रको पाकर उसे अपनी

विषयेष्वनभिष्वङ्गो^१ नित्यस्वाध्यायशीलता । नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशान्तता ॥१४६॥

इति प्रशान्तिः ।

ततः कृतार्थमात्मानं मन्यमानो गृहाश्रमे । यदोद्यतो गृहत्यागे तदाऽस्यैष क्रियाविधिः ॥१५०॥

सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मत्तान् । तत्साक्षिं सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ॥१५१॥

कुलक्रमस्त्वया तात सम्पात्नोऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो^२ द्रव्यं त्वयेत्यं विनियोज्यताम् ॥१५२॥

एकोऽंशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीयः संविभागाय भवेत्स्वत्सहजन्मनाम् ॥१५३॥

पुत्र्यश्च संविभागाहर्हः समं पुत्रैः समांशकैः । त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्ठः सन्तति नोऽनुपालय ॥१५४॥

भुतवृत्तिक्रियामन्त्रविधिज्ञस्त्वमतन्त्रितः । प्रपालय^३ कुलाम्नायं गुरुं देवांश्च पूजयन् ॥१५५॥

इत्येवमनुशिष्यं स्वं ज्येष्ठं सन्नुमनाकुलः । ततो दीक्षामुपादातुं द्विजः स्वं गृहमुत्सृजेत् ॥१५६॥

इति गृहत्यागः ।

त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशान्तस्य गृहीशिनः । प्राग्दीक्षौपयिकात्^४ कालाद् एकशटकधारणः ॥१५७॥

यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रति धार्यते । दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेयं क्रियाजातं^५ द्विजन्मनः ॥१५८॥

इति दीक्षाद्यम् ।

त्यक्तवेलादिसङ्गस्य जनीं दीक्षामुपेयुषः^६ । धारणं जातरूपस्य यत्तत् स्याज्जिनरूपता ॥१५९॥

गृहस्थीका भार सौप दे और आप स्वयं उत्तम शान्तिका आश्रय ले ॥१४८॥ विषयोंमें आसक्त नहीं होना, नित्य स्वाध्याय करनेमें तत्पर रहना तथा नाना प्रकारके उपवास आदि करते रहना प्रशान्त वृत्ति कहलाती है ॥१४९॥ यह इक्कीसवीं प्रशान्ति क्रिया है ।

तदनन्तर गृहस्थाश्रममें अपने आपको कृतार्थ मानता हुआ जब वह गृहत्याग करनेके लिये उद्यत होता है तब उसके यह गृहत्याग नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१५०॥ इस क्रियामें सबसे पहले सिद्ध भगवान्का पूजन कर समस्त इष्टजनोंको बुलाना चाहिये और फिर उनकी साक्षीपूर्वक पुत्रके लिये सब कुछ सौंपकर गृहत्याग कर देना चाहिये ॥१५१॥ गृहत्याग करते समय ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर उससे इस प्रकार कहना चाहिये कि पुत्र, हमारे पीछे यह कुलक्रम तुम्हारे द्वारा पालन करने योग्य है । मैंने जो अपने धनके तीन भाग किये हैं उनका तुम्हें इस प्रकार विनियोग करना चाहिये कि उनमेंसे एक भाग तो धर्मकार्यमें खर्च करना चाहिये, दूसरा भाग अपने घर खर्चके लिये रखना चाहिये और तीसरा भाग अपने भाइयोंमें बांट देनेके लिये है । पुत्रोंके समान पुत्रियोंके लिये भी बराबर भाग देना चाहिये । हे पुत्र, तू कुलका बड़ा होकर मेरी सब संतानका पालन कर । तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मन्त्र और विधिको जाननेवाला है इसलिये आलस्यरहित होकर देव और गुरुओंकी पूजा करता हुआ अपने कुलधर्मका पालन कर । इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्रको उपदेश देकर वह द्विज निराकुल होवे और फिर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये अपना घर छोड़ दे ॥१५२-१५६॥ यह बाईसवीं गृहत्याग नामकी क्रिया है ।

जिसने घर छोड़ दिया है, जो सम्यग्दृष्टि है, प्रशान्त है, गृहस्थोंका स्वामी है और दीक्षाधारण करनेके समयके कुछ पहले जिसने एक वस्त्र धारण किया है उसके दीक्षाग्रहण करनेके पहले जो कुछ आचरण किये जाते हैं उन आचरणों अथवा क्रियाओंके समूहको द्विजकी दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं ॥१५७-१५८॥ यह तेईसवीं दीक्षाद्य क्रिया है ।

जिसने वस्त्र आदि सब परिग्रह छोड़ दिये हैं और जो जिनदीक्षाको प्राप्त करना चाहता है ऐसे पुरुषका दिगम्बररूप धारण करना जिनरूपता नामकी क्रिया कहलाती है ॥१५९॥

१ निष्प्रभः । २ अस्माकम् । ३ कुलपरम्पराम् । ४ दीक्षास्वीकारात् प्राक् । ५ क्रियासमूहः ।

६ गतस्य ।

अशक्यधारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् । जैनं निस्सङ्गतामुख्यं रूपं धीरेनिवेद्यते ॥१६०॥
इति जिनरूपता ।

कृतबीक्षोपवासस्य प्रवृत्तेः, पारणाविधौ । मौनाध्ययनवृत्तत्वम् इष्टमाश्रुतनिष्ठितेः^१ ॥१६१॥
वाचंयमो विनीतात्मा विशुद्धकरणत्रयः । सोऽधीयीत^२ श्रुतं कृत्स्नम् ग्रामूलाद् गुरुसन्निधौ ॥१६२॥
श्रुतं हि विधिनानेन भव्यात्मभिरुपासितम् । योग्यतामिह पुष्पाति परत्रापि प्रसीदति ॥१६३॥
इति मौनाध्ययनवृत्तत्वम् ।

ततोऽधीताखिलाचारः शास्त्राविश्रुतविस्तरः । विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत् तीर्थकृत्स्वस्य भावनाम् ॥१६४॥
सा तु षोडशधाऽऽम्नाता महाभ्युदयसाधिनी । सम्यग्दर्शनशुद्ध्याविलक्षणा प्राक्प्रपञ्चिता ॥१६५॥
इति तीर्थकृद्भावना ।

ततोऽस्य विद्विषाशेष^३वेद्यस्य विजितात्मनः । गुरुस्थानाभ्युपगमः सम्मतो गुर्वनुग्रहात् ॥१६६॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः स्वगुरोरभिसम्मतः । विनीतो धर्मशीलश्च यः सोऽर्हति गुरोः पदम् ॥१६७॥
गुरुस्थानाभ्युपगमः ।

ततः सुविहितस्यास्य^४ युक्तस्य गणपोषणो । गणोपग्रहणं नाम क्रियाम्नाता महर्षिभिः ॥१६८॥

जिनका आत्मा कातर है ऐसे पुरुषोंको जिनरूप (दिगम्बररूप) का धारण करना कठिन है इसलिये जिसमें परिग्रह त्यागकी मुख्यता है ऐसा यह जिनेन्द्रदेवका रूप धीरवीर मनुष्योंके द्वारा ही धारण किया जाता है ॥१६०॥ यह चौबीसवीं जिनरूपता क्रिया है ।

जिसने दीक्षा लेकर उपवास किया है और जो पारणकी विधिमें अर्थात् विधिपूर्वक आहार लेनेमें प्रवृत्त होता है ऐसे साधुका शास्त्रकी समाप्ति पर्यन्त जो मौन रहकर अध्ययन करनेमें प्रवृत्ति होती है उसे मौनाध्ययनवृत्तत्व कहते हैं ॥१६१॥ जिसने मौन धारण किया है, जिसका आत्मा विनय युक्त है, और मन वचन काय शुद्ध हैं ऐसे साधुको गुरुके समीपमें प्रारम्भसे लेकर समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये ॥१६२॥ क्योंकि इस विधिसे भव्यजीवोंके द्वारा उपासना किया हुआ शास्त्र इस लोकमें उनकी योग्यता बढ़ाता है और परलोकमें प्रसन्न रखता है ॥१६३॥ यह पच्चीसवीं मौनाध्ययनवृत्तत्व क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त आचार शास्त्रका अध्ययन किया है, तथा अन्य शास्त्रोंके अध्ययनसे जिसने समस्त श्रुतज्ञानका विस्तार प्राप्त किया है और जिसका आचरण विशुद्ध है ऐसा साधु तीर्थङ्कर पदकी भावनाओंका अभ्यास करे ॥१६४॥ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि रखना आदि जिसके लक्षण हैं जो महान् ऐश्वर्यको देनेवाली हैं तथा पहले जिनका विस्तारके साथ वर्णन किया जा चुका है ऐसी वे भावनाएँ सोलह मानी गई हैं ॥१६५॥ यह छब्बीसवीं तीर्थकृद्भावना नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याएं जान ली हैं और जिसने अपने अन्तःकरणको वश कर लिया है ऐसे साधुका गुरुके अनुग्रहसे गुरुका स्थान स्वीकार करना शास्त्रसंमत है ॥१६६॥ जो ज्ञान विज्ञान करके सम्पन्न है, अपने गुरुको इष्ट है अर्थात् जिसे गुरु अपना पद प्रदान करना योग्य समझते हैं, जो विनयवान् और धर्मत्मा है वह साधु गुरुका पद प्राप्त करनेके योग्य है ॥१६७॥ यह सत्ताईसवीं गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है ।

तदनन्तर जो सदाचारका पालन करता है गण अर्थात् समस्त मुनिसंघके पोषण

श्रावकानार्यिकासङ्घं श्राविकाः संयतानपि । सन्मार्गे वर्तयन्नेष गणपोषणमाचरेत् ॥१६६॥
 श्रुताथिभ्यः श्रुतं दद्याद् दीक्षाथिभ्यश्च दीक्षणम् । धर्माथिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वत् प्रतिपादयेत् ॥१७०॥
 सद्बृत्तान् धारयन्^१ सूरिरसद्बृत्ताश्वारयन् । शोधयंश्च कृतादागोमलात् स^२ बिभृयाद् गणम् ॥१७१॥
 इति गणोपग्रहणम् ।

गणपोषणमित्याविष्कुर्वन्नाचार्यसत्तमः । ततोऽयं स्वगुरुस्थानसंक्रान्तो यत्नवान् भवेत् ॥१७२॥
 अधीतविद्यं तद्विद्यं आदृतं मुनिसत्तमैः । योग्यं शिष्यमयाहूय तस्मै स्वं भारमर्पयेत् ॥१७३॥
 गुरोरनुमतात् सोऽपि गुरुस्थानमधिष्ठितः । गुरुवृत्तौ स्वयं^३ तिष्ठन् वर्तयेदखिलं गणम् ॥१७४॥
 इति स्वगुरुस्थानावाप्तिः ।

तत्रारोप्य भरं कृत्स्नं कालं कस्मिंश्चिदव्ययः । कुयदेकविहारी स निःसङ्गत्वात्मभावनाम् ॥१७५॥
 निःसङ्गवृत्तिरेकाको विहरन् स महातपाः । चिकीर्षुरात्मसंस्कारं नान्यं संस्कर्तुमर्हति ॥१७६॥
 अग्निं रागं समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वेकतानः संश्रय्याशुद्धिं तदाश्रयेत् ॥१७७॥
 इति निःसङ्गत्वात्मभावना ।
 कुर्वन्ममत्संस्कारं ततः सल्लेखनोद्यतः । कृतात्मशुद्धिरध्यात्मं योगनिर्वाणमत्यनुयात् ॥१७८॥

करनेमें जो तत्पर रहता है उसके महर्षियोंने गणोपग्रहण नामकी क्रिया मानी है ॥१६८॥
 इस आचार्यको चाहिये कि वह मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओंको समीचीन मार्गमें लगाता हुआ अच्छी तरह संघका पोषण करे ॥१६९॥ उसे यह भी चाहिये कि वह शास्त्र अध्ययनकी इच्छा करनेवालोंको दीक्षा देवे और धर्मात्मा जीवोंके लिये धर्मका प्रतिपादन करे ॥१७०॥ वह आचार्य सदाचार धारण करनेवालोंको प्रेरित करे, दुराचारियोंको दूर हटावे और किये हुए स्वकीय अपराधरूपी मलको शोधता हुआ अपने आश्रितगणकी रक्षा करे ॥१७१॥ यह अट्ठाईसवीं गणोपग्रहण क्रिया है ।

तदनन्तर इस प्रकार संघका पालन करता हुआ वह उत्तम आचार्य अपने गुरुका स्थान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न सहित हो ॥१७२॥ जिसने समस्त विद्याएं पढ़ ली हैं और उन विद्याओंके जानकार उत्तम उत्तम मुनि जिसका आदर करते हैं ऐसे योग्य शिष्यको बुलाकर उसके लिये अपना भार सौंप दे ॥१७३॥ गुरुकी अनुमतिसे वह शिष्य भी गुरुके स्थानपर अधिष्ठित होता हुआ उनके समस्त आचरणोंका स्वयं पालन करे और समस्तसंघको पालन करावे ॥१७४॥ यह उन्तीसवीं स्वगुरु-स्थानावाप्ति क्रिया है ।

इस प्रकार सुयोग्य शिष्यपर समस्त भार सौंपकर जो किसी कालमें दुःखी नहीं होता है ऐसा साधु अकेला विहार करता हुआ 'मेरा आत्मा सब प्रकारके परिग्रहसे रहित है' इस प्रकारकी भावना करे ॥१७५॥ जिसकी वृत्ति समस्त परिग्रहसे रहित है, जो अकेला ही विहार करता है, महातपस्वी है और जो केवल अपने आत्माका ही संस्कार करना चाहता है उसे किसी अन्य पदार्थका संस्कार नहीं करना चाहिये अर्थात् अपने आत्माको छोड़कर किसी अन्य साधु या गृहस्थके सुधारकी चिन्तामें नहीं पड़ना चाहिये ॥१७६॥ शिष्य पुस्तक आदि सब पदार्थोंमें राग छोड़कर और निर्ममत्वभावनामें एकाग्र बुद्धि लगाकर उस समय उसे चारित्र्यकी शुद्धि धारण करनी चाहिये ॥१७७॥ यह तीसवीं निःसङ्गत्वात्मभावना क्रिया है ।

तदनन्तर इस प्रकार अपने आत्माका संस्कार कर जो सल्लेखना धारण करनेके लिये उद्यत हुआ है और जिसने सब प्रकारसे आत्माकी शुद्धि कर ली है ऐसा

योगो ध्यानं तदर्थो यो यत्नः संवेगपूर्वकः । तमाहुर्योगनिर्वाणसम्प्राप्तं परमं तपः ॥१७६॥
 कृत्वा परिकरं योग्यं तनुशोधनपूर्वकम् । शरीरं कर्शयेद्दोषैः समं रागादिभिस्तदा ॥१७७॥
 तदेतद्योगनिर्वाणं संन्यासे पूर्वभावना^१ । जीविताशां मृतीच्छां च हित्वा^२ भव्यात्मलब्धये ॥१७८॥
 रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोवाप्तौ च संशयम् । अनात्मीयेषु चात्मीयसङ्कल्पाद् विरमेत्तदा ॥१७९॥
 माहं वेहो मनो नास्मि न वाणी न च कारणम् । तत्रयस्येत्यनुद्विग्नो भजेदन्यत्वभावनाम् ॥१८०॥
 ग्रहमेको न मे कश्चिद्वैवाहमपि कस्यचित् । इत्यदीनमनाः सम्यगेकत्वमपि भावयेत् ॥१८१॥
 यत्तिमाधाय लोकाग्रे नित्यानन्तसुखास्पदे । भावयेद् योगनिर्वाणं स योगी योगसिद्धये ॥१८२॥

इति निर्वाणसम्प्राप्तिः ।

ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन् । योगेन्द्रो योगनिर्वाणसाधनाद्योद्यतो भवेत् ॥१८३॥
 उत्तमार्थे^३ कृतास्थानः^४ सन्यस्ततनुद्विधीः । ध्यायन् मनोवचः^५ कायान् बहिर्भूतान् स्वकान् स्वतः ॥१८४॥
 प्रणिधाय^६ मनोवृत्तिं पदेषु^७ परमेष्ठिनाम् । जीवितान्ते स्वसात्कुर्याद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८५॥
 योगः समाधिर्निर्वाणं तत्कृता चित्तनिर्वृतिः^{१०} । तेनेष्टं साधनं यत्तद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८६॥

इति योगनिर्वाणसाधनम् ।

पुरुष योगनिर्वाण क्रियाको प्राप्त हो ॥१७८॥ योग नाम ध्यानका है उसके लिये जो संवेग-पूर्वक प्रयत्न किया जाता है उस परम तपको योगनिर्वाण संप्राप्ति कहते हैं ॥१७९॥ प्रथम ही शरीरको शुद्ध कर सल्लेखनाके योग्य आचरण करना चाहिये और फिर रागादि दोषोंके साथ शरीरको कृश करना चाहिये ॥१८०॥ जीवित रहने की आशा और मरनेकी इच्छा छोड़कर 'यह भव्य है' इस प्रकारका सुयश प्राप्त करनेके लिये संन्यास धारण करनेके पहले भावना की जाती है वह योगनिर्वाण कहलाता है ॥१८१॥ उस समय रागद्वेष छोड़कर कल्याणकी प्राप्ति में प्रयत्न करना चाहिये और जो पदार्थ आत्माके नहीं हैं उनमें 'यह मेरे हैं' इस संकल्पका त्याग कर देना चाहिये ॥१८२॥ न मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न इन तीनोंका कारण ही हूँ । इस प्रकार तीनोंके विषयमें उद्विग्न न होकर अन्यत्व भावनाका चिन्तन करना चाहिये ॥१८३॥ इस संसारमें मैं अकेला हूँ न मेरा कोई है और न मैं भी किसीका हूँ, इस प्रकार उदार चित्त होकर एकत्वभावनाका अच्छी तरह चिन्तन करना चाहिये ॥१८४॥ जो नित्य और अनन्त सुखका स्थान है ऐसे लोकके अग्रभाग अर्थात् मोक्षस्थानमें बुद्धि लगाकर उस योगीको योग (ध्यान) की सिद्धिके लिये योग निर्वाण क्रियाकी भावना करनी चाहिये । भावार्थ-सल्लेखनामें बैठे हुए साधुको संसारके अन्य पदार्थोंका चिन्तन न कर एक मोक्षका ही चिन्तन करना चाहिये ॥१८५॥ यह इकतीसवीं योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया है ।

तदनन्तर-समस्त आहार और शरीरको छोड़ता हुआ वह योगिराज योगनिर्वाण साधनके लिये उद्यत हो ॥१८६॥ जिसने उत्तम अर्थात् मोक्षपदार्थमें आदर बुद्धि की है, शरीरसे ममत्व छोड़ दिया है और जिसकी बुद्धि उत्तम है ऐसा वह साधु अपने मन, वचन, कायको अपने आत्मासे भिन्न अनुभव करता हुआ अपने मनकी प्रवृत्ति पञ्चपरमेष्ठियोंके चरणोंमें लगावे और इस प्रकार जीवनके अन्तमें योगनिर्वाण साधनको अपने आधीन करे-स्वीकार करे ॥१८७-१८८॥ योग नाम समाधिका है उस समाधिके द्वारा चित्तको जो आनन्द होता है उसे निर्वाण कहते हैं, चूँकि यह योगनिर्वाण इष्ट पदार्थोंका साधन है-इसलिये इसे योगनिर्वाण साधन कहते हैं ॥१८९॥ यह बत्तीसवीं योगनिर्वाण साधनक्रिया है ।

१ तद् ध्यानम् अर्थप्रयोजनं यस्य । २ प्रथम भावना । ३ भव्याङ्कल-ल०, द० । ४ संश्रयेद् अ०, प०, स० । ५ देहमनोवाक्त्रयस्य । ६ संन्यासे । ७ कृतादरः । ८ हिरुभतात्मकान् स्वतः द० । ९ पृथग्भूतस्वरूपकान् । १० एकाग्रं कृत्वा । ११ पञ्चपदेषु । १२ चित्ताह्लादः ।

तथा योगं समाधाय कृतप्राणविसर्जनः । इन्द्रोपपादमाप्नोति गते^१ पुण्ये पुरोगताम्^२ ॥१६०॥
 इन्द्राः समुत्तिवदशाधीशाः तेषुत्पादस्तपोबलात् । यः स इन्द्रोपपादः स्यात् क्रियाऽर्हन्मार्गसेविनाम् ॥१६१॥
 ततोऽसी दिव्यशय्यायां क्षणादापूर्णयौवनः । परमानन्दसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥१६२॥
 अणिमादिभिरष्टाभिः युतोऽसाधारणैर्गुणैः । सहजान्तरदिव्यस्त्रङ्गमणिभूषणभूषितः ॥१६३॥
 दिव्यानुभावसंभूतप्रभावं परमुद्वहन् । बोबुध्यते तदाऽस्मीयम् ऐन्द्रं दिव्यावधित्विषा ॥१६४॥
 इति इन्द्रोपपादक्रिया ।
 पर्याप्तमात्र एवायं^३ प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनरिन्द्राभिषेकेण योज्यतेऽमरसत्तमैः ॥१६५॥
 दिव्यसङ्गीतवादित्रमङ्गलोद्गीतिनिःस्वनैः । विचित्रैश्चाप्सरोनुतैः निवृत्तेन्द्राभिषेचनः ॥१६६॥
 ति (कि)रीटमुद्वहन् दीप्तं स्वसाम्राज्यकलाञ्छनम् । सुरकोटिभिरारूढप्रमदंजयकारितः ॥१६७॥
 त्र्यम्बो सबंशुको दीप्तः भूषितो दिव्यभूषणैः । ऐन्द्रविष्टरमारूढो महानेष महीपते ॥१६८॥
 इति इन्द्राभिषेकः ।
 ततोऽप्यमानतानेतान् सत्कृत्य सुरसत्तमान् । पदेषु स्थापयन् स्वेषु विधिदाने प्रवर्त्तते ॥१६९॥
 'स्वविमानद्विदानेन प्रीणितैर्विबुधैर्वृतः । सोऽनुभुङ्क्ते चिरं कालं सुकृतौ सुखमामरम्' ॥२००॥
 तदेतद्विधिदानेन्द्रसुखोदयविकल्पितम् । क्रियाद्वयं समाप्नातं स्वर्लोकप्रभवोचितम् ॥२०१॥
 इति विधिदानसुखोदयो ।

ऊपर लिखे अनुसार योगोंका समाधान कर अर्थात् मन, वचन, कायको स्थिरकर जिसने प्राणोंका परित्याग किया है ऐसा साधु पुण्यके आगे आगे चलनेपर इन्द्रोपपाद क्रियाको प्राप्त होता है ॥१९०॥ देवोंके स्वामी इन्द्र कहलाते हैं, तपश्चरणके बलसे उन इन्द्रोंमें जन्म लेना इन्द्रोपपाद कहलाता है । वह इन्द्रोपपादक्रिया अर्हत्प्रणीत मोक्षमार्ग का सेवन करनेवाले जीवोंके ही होती है ॥१९१॥ तदनन्तर वह इन्द्र उसी उपपाद शय्यापर क्षणभरमें पूर्णयौवन हो जाता है और दिव्य तेजसे देदीप्यमान होता हुआ परमानन्दमें निमग्न हो जाता है ॥१९२॥ वह अणिमा महिमा आदि आठ असाधारण गुणोंसे सहित होता है और साथ साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, दिव्यमाला, तथा मणिमय आभूषणोंसे सुशोभित होता है । दिव्य माहात्म्यसे उत्पन्न हुए उत्कृष्ट प्रभावको धारण करता हुआ वह इन्द्र दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जान लेता है कि मैं इन्द्रपदमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥१९३-१९४॥ यह इन्द्रोपपाद नामकी तैत्तिरीयों क्रिया है ।

पर्याप्तक होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान हो गया है ऐसे इन्द्रका फिर उत्तमदेव लोग इन्द्राभिषेक करते हैं ॥१९५॥ दिव्य संगीत, दिव्य बाजे, दिव्य मंगल-गीतोंके शब्द और अप्सराओंके विचित्र नृत्योंसे जिसका इन्द्राभिषेक सम्पन्न हुआ है, जो अपने साम्राज्यके मुख्य चिह्नस्वरूप देदीप्यमान मुकुटको धारण कर रहा है, हर्षको प्राप्त हुए करोड़ों देव जिसका जयजयकार कर रहे हैं जो उत्तम मालाएं और वस्त्र धारण किये हुए हैं तथा देदीप्यमान वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित हैं ऐसा वह इन्द्र इन्द्रके पदपर आरूढ़ होकर अत्यन्त पूजाको प्राप्त होता है ॥१९६-१९८॥ यह तैत्तिरीयों इन्द्राभिषेक क्रिया है ।

तदनन्तर नम्रीभूत हुए इन उत्तम उत्तम देवोंको अपने अपने पदपर नियुक्त करता हुआ वह इन्द्र विधिदान क्रियामें प्रवृत्त होता है ॥१९९॥ अपने अपने विमानोंकी ऋद्धि देनेसे संतुष्ट हुए देवोंसे धिरा हुआ वह पुण्यात्मा इन्द्र चिरकालतक देवोंके सुखोंका अनुभव करता है ॥२००॥

१ गते सति । २ अग्रेसरत्वम् । ३ सम्भूतं ल०, द० । ४ इन्द्रः । ५ निजविमानैश्वर्यवितरणेन ।

६ अमरसम्बन्धि ।

प्रोक्तास्विन्द्रोपपादाभिषेकदानं सुखोदयाः । इन्द्रत्यागाख्यमधुना संप्रवक्ष्ये क्रियान्तरम् ॥२०२॥
 किञ्चिन्मात्रावशिष्टायां स्वस्यामायुःस्थितौ सुरे^१ । बद्ध्वा स्वर्गवितारं स्वं सोऽनुशास्यमरानिति ॥२०३॥
 भो भोः सुधाशनायूयम्^२ अस्माभिः पालिताश्चिरम् । केचित् पित्रीयिताः^३ केचित् पुत्रप्रीत्योपललिताः ॥२०४॥
 पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां पदे केचिन्नियोजिताः । वयस्यपीठ^४मर्दीयस्थाने दृष्टाश्च केचन ॥२०५॥
 स्वप्राणनिविशेषञ्च^५ केचित् त्राणाय सम्मताः । केचिन्मान्यपदे दृष्टाः पालकाः^६ स्वर्निवासिनाम् ॥२०६॥
 केचिच्चमूचरस्थाने^७ केचिच्च स्वजनास्थया । प्रजासामान्यसन्धे च केचिच्चानुचराः पृथक् ॥२०७॥
 केचित् परिजनस्थाने केचिच्चान्तःपुरे चराः । काश्चिद् वल्लभिका देव्यो महादेव्यश्च काश्चन ॥२०८॥
 इत्यसाधारणा प्रीतिर्मया युष्मासु वसिता । स्वामिभक्तिश्च युष्माभिः मध्यसाधारणी धृता ॥२०९॥
 साम्प्रतं स्वर्गभोगेषु गतो मन्देच्छतामहम् । प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मीः अद्य भूलोकगोचरा ॥२१०॥
 युष्मत्साक्षिततः^८ कृत्स्नं स्वः साम्राज्यं मयोज्झितम् । यश्चान्यो मत्समो भावी तस्मै सर्वं समर्पितम् ॥२११॥
 इत्यनुत्सुकतां तेषु भावयन्ननुशिष्यं तान् । कुर्वन्नन्द्रपदत्यागं स व्यथां नेति^९ धीरधीः ॥२१२॥
 इन्द्रत्यागक्रिया संषा तत्स्वर्भागातिसर्जनम् । धीरास्त्यजन्त्यनायासादैश्वर्यं तावृशमप्यहो ॥२१३॥

इति इन्द्रत्यागः ।

इस प्रकार स्वर्गलोकमें उत्पन्न होनेके योग्य ये विधिदान और इन्द्र सुखोदय नामकी दो क्रियाएं मानी गई हैं ॥२०१॥ ये पैंतीसवीं और छत्तीसवीं विधिदान तथा सुखोदय क्रियाएं हैं ।

इस प्रकार इन्द्रोपपाद, इन्द्राभिषेक, विधिदान और सुखोदय ये इन्द्र सम्बन्धी चार क्रियाएं कहीं । अब इन्द्रत्याग नामकी पृथक् क्रियाका निरूपण करता हूँ ॥२०२॥ इन्द्र जब अपनी आयुकी स्थिति थोड़ी रहनेपर अपना स्वर्गसे च्युत होना जान लेता है तब वह देवोंको इस प्रकार उपदेश देता है ॥२०३॥ कि भो देवो, मैंने चिरकालसे आपका पालन किया है, कितने ही देवोंको मैंने पिताके समान माना है, कितने ही देवोंको पुत्रके समान बड़े प्रेमसे खिलाया है, कितने हीको पुरोहित, मन्त्री और अमात्यके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने हीको मैंने मित्र और पीठमर्दके समान देखा है । कितने ही देवोंको अपने प्राणोंके समान मानकर उन्हें अपनी रक्षाके लिये नियुक्त किया है, कितने हीको देवोंकी रक्षाके लिये सम्मानयोग्य पदपर देखा है, कितने हीको सेनापतिके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने हीको अपने परिवारके लोग समझा है, कितने हीको सामान्य प्रजाजन माना है, कितने हीको सेवक माना है, कितने हीको परिजनके स्थानपर और कितने हीको अन्तःपुरमें रहनेवाले प्रतीहारी आदिके स्थानपर नियुक्त किया है । कितने ही देवियोंको वल्लभिका बनाया है और कितनी ही देवियोंको महादेवी पदपर नियुक्त किया है, इस प्रकार मैंने आप लोगोंपर असाधारण प्रेम दिखलाया है और आप लोगोंने भी हमपर असाधारण प्रेम धारण किया है ॥२०४-२०९॥ इस समय स्वर्गके भोगोंमें मेरी इच्छा मन्द हो गई है और निश्चय ही पृथिवी लोककी लक्ष्मी आज मेरे निकट आ रही है ॥२१०॥ इसलिये आज तुम सबकी साक्षीपूर्वक मैं स्वर्गका यह समस्त साम्राज्य छोड़ रहा हूँ और मेरे पीछे मेरे समान जो दूसरा इन्द्र होनेवाला है उसके लिये यह समस्त सामग्री समर्पित करता हूँ ॥२११॥ इस प्रकार उन सब देवोंमें अपनी अनुत्कण्ठा अर्थात् उदासीनताका अनुभव करता हुआ इन्द्र उन सबके लिये शिक्षा दे और धीरवीर बुद्धिका धारक हो, इन्द्र पदका त्याग कर दुःखी न हो ॥२१२॥ इस तरह जो स्वर्गके भोगोंका त्याग करता है वह इन्द्रत्याग क्रिया है । यह भी एक

१ विधिदान । २ स्वराट् प०, ल० । ३ पिता इवाचरितः । ४ कामाचार्य । ५ रामानं यथा श्रवति तथा । ६ लोकपाला इत्यर्थः । ७ सेनापति । ८ ततः कारणम् । ९ उपशिष्य । १० न मच्छति ।

अवतारक्रियाऽस्यान्या ततः संपरिवर्तते । कृताहंत्यूनजनस्यान्ते स्वर्गादवतरिष्यतः ॥२१४॥
'सोऽयं नृजन्मसंप्राप्त्या सिद्धिं द्रागभिलाषुकः । चेतः सिद्धनमस्यायां समाधत्ते' सुराधिराट् ॥२१५॥
शुभैः षोडशभिः स्वप्नैः संसूचितमहोदयः । तदा स्वर्गावताराख्यां कल्याणीमश्नुते' क्रियाम् ॥२१६॥
इति इन्द्रावतारः ।

ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ रत्नगर्भगृहोपमे । जनयिष्या' महादेव्या 'श्रीदेवीभिर्विशोधिते ॥२१७॥
हिरण्यवर्षिण धनदे प्राक् षण्मासान् प्रवर्षति । 'अन्वायान्त्यामिवानन्दात् स्वर्गसंपदि भूतलम् ॥२१८॥
अमृतश्वसने' मन्दम् आवाति व्याप्तसौरभे'१० । भूदेव्या इव निःश्वासे प्रकल्पते पवनामरैः' ॥२१९॥
दुन्दुभिध्वनिते मन्दम् उत्थिते पथि वार्मुचाम् । अकालस्तनिताशङ्ककाम् आतन्वति शिखण्डिनाम् ॥२२०॥
मन्दारलजमम्लानिम् आमोदाहृतषट्पदाम् । मुञ्चत्सु गुह्यकाख्येषु'१२ निकायेष्वमृताशिनाम् ॥२२१॥
देवीष्वपचरन्तीषु देवीं भुवनमातरम् । कक्षम्या समं'१३ समागत्य श्रीह्रीधीधृतिकीर्तिषु ॥२२२॥
कस्मिंश्चित् सुकृतादासे'१४ पुण्ये राजर्षिमन्दरे । हिरण्यगर्भो धत्तेऽसौ हिरण्योत्कृष्टजन्मताम् ॥२२३॥
हिरण्यसूचितोत्कृष्टजन्मत्वात् स तथा श्रुतिम्'१५ । बिभ्राणां तां क्रियां धत्ते गर्भस्थोऽपि त्रिविधभूत् ॥२२४॥
इति हिरण्यजन्मता ।

आश्चर्यकी बात है कि धीरवीर पुरुष स्वर्गके वैसे ऐश्वर्यको भी बिना किसी कष्टके छोड़ देते हैं ॥२१३॥ इस प्रकार यह सैंतीसवीं इन्द्रत्याग क्रिया है ।

तदनन्तर—जो इन्द्र आयुके अन्तमें अरहन्तदेवका पूजन कर स्वर्गसे अवतार लेना चाहता है उसके आगेकी अवतार नामकी क्रिया होती है ॥२१४॥ मैं मनुष्य जन्म पाकर बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त किया चाहता हूँ यही विचार कर वह इन्द्र अपना चित्त सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार करनेमें लगाता है ॥२१५॥ शुभ सोलह स्वप्नोंके द्वारा जिसने अपना बड़ा भारी अभ्युदय—माहात्म्य सूचित किया है ऐसा वह इन्द्र उस समय कल्याण करनेवाली स्वर्गावतार नामकी क्रियाको प्राप्त होता है ॥२१६॥ यह अड़तीसवीं इन्द्रावतार क्रिया है ।

तदनन्तर—वे माता महादेवीके श्री आदि देवियोंके द्वारा शुद्ध किये हुए रत्नमय गर्भागारके समान गर्भमें अवतार लेते हैं ॥२१७॥ गर्भमें आनेके छह महीने पहलेसे जब कुबेर धरपर रत्नोंकी वर्षा करने लगता है और वह रत्नोंकी वर्षा ऐसी जान पड़ती है मानो आनन्दसे स्वर्गकी सम्पदा ही भगवान्‌के साथ साथ पृथिवीतलपर आ रही हो ॥ जब अमृतके समान सुख देनेवाली वायु मन्द मन्द बहकर सब दिशाओंमें फैल रही हो तथा ऐसी जान पड़ती हो मानो पवनकुमार देवोंके द्वारा निर्माण किया हुआ पृथिवीरूपी देवीका निःश्वास ही हो । जब आकाशमें उठी हुई—फैली हुई दुन्दुभि बाजोंकी गंभीर आवाज मयूरोंको असमय में होनेवाली मेघगर्जनाकी शंका उत्पन्न कर रही हो । जब गुह्यक नामके देवोंके समूह कभी म्लान न होनेवाली और सुगन्धिके कारण भूमरोंको अपनी ओर खींचनेवाली कल्पवृक्षके फूलों की मालाओंको वरसा रहे हों । और जब श्री, ह्री, बुद्धि, धृति और कीर्ति नामकी देवियां लक्ष्मी के साथ आकर स्वयं जगन्माता महादेवीकी सेवा कर रही हों उस समय पुण्यके निवासभूत किसी पवित्र राजमन्दिरमें वे हिरण्यगर्भ भगवान् हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते हैं ॥२१८—२२३॥ जो गर्भमें स्थित रहते हुए भी तीन ज्ञानको धारण करनेवाले हैं ऐसे भगवान्, हिरण्य

१ सोऽहं ल० । २ भटिति । ३ नमस्कारे । ४ समाहितं कुरुते । ५ गच्छति । ६ जनन्याः ।
'जनयिषी प्रसूमाता जननी' इत्यभिधानात् । ७ श्रीह्रीधृत्यादिभिः । ८ सहागच्छन्त्याम् । ९ अमृत-
वदाह्लादकरमास्ते । १० व्याप्तमास्ते ल० । ११ वायुकुमारैः । १२ देवभेदेषु । १३ स्वयं ल० ।
१४ पुण्यस्थाने । १५ हिरण्योत्कृष्टजन्मताभिधानम् ।

विश्वेश्वरा जगन्माता महादेवी महासती । पूज्या सुमङ्गला चेति धत्ते रुडि जिनाम्बिका ॥२२५॥

कुलाग्रिनिलया देव्यः श्रीह्रीधौधृतिकीर्तयः । समं लक्ष्म्या षडेताश्च सम्मता जिनमातृकाः ॥२२६॥

जन्मानन्तरमायातैः सुरेन्द्रैरुमूर्द्धनि । योऽभिषेकविधिः क्षीरपयोधेः शुचिभिर्जलैः ॥२२७॥

मन्दरेन्द्राभिषेकोऽसौ क्रियाऽस्य परमेष्ठिनः । सा पुनः सुप्रतीतत्वात् भूयो नैह प्रतन्यते ॥२२८॥

इति मन्दरेन्द्राभिषेकः ।

ततो विद्योपदेशोऽस्य स्वतन्त्रस्य स्वयम्भुवः । शिष्यभावव्यतिक्रान्तिः^१ गुरुपूजोपलम्भनम्^२ ॥२२९॥

तदेन्द्राः पूजयन्त्येनं^३ त्रातारं त्रिजगद्गुरुम् । अशिक्षितोऽपि देवत्वै^४ सम्मतोऽसीति विस्मिताः ॥२३०॥

इति गुरुपूजनम् ।

ततः कुमारकालेऽस्य यौवराज्योपलम्भनम् । पट्टबन्धोऽभिषेकश्च तदास्य स्यान्महोजसः ॥२३१॥

इति यौवराज्यम् ।

स्वराज्यमधि राज्येऽभिषिक्तस्यास्य क्षितौश्वरं^५ । शासतः^६ सार्णवामेनां क्षितिमप्रतिशासनाम् ॥२३२॥

इति स्वराज्यम् ।

चक्रलाभो भवेदस्य निधिरत्नसमुद्भवं । निजप्रकृतिभिः^७ पूजा साभिषेकाधिराडिति ॥२३३॥

इति चक्रलाभः ।

अर्थात् सुवर्णकी वर्षासे जन्मकी उत्कृष्टता सूचित होनेके कारण हिरण्योत्कृष्ट जन्म इस सार्थक नामको धारण करनेवाली क्रियाको धारण करते हैं ॥२२४॥ यह उनतालीसवीं हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया है ।

उस समय वह भगवान्की माता विश्वेश्वरी, जगन्माता, महादेवी, महासती, पूज्या और सुमङ्गला इत्यादि नामोंको धारण करती है ॥२२५॥ कुलाचलोपर रहनेवाली श्री, ह्री, बुद्धि, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी ये छह देवियां जिनमातृका अर्थात् जिनमाताकी सेवा करनेवाली कहलाती हैं ॥२२६॥ जन्मके अनन्तर आये हुए इन्द्रोंके द्वारा मेरु पर्वतके मस्तक पर क्षीरसागरके पवित्र जलसे भगवान्का जो अभिषेक किया जाता है वह उन परमेष्ठीकी मन्दराभिषेक क्रिया है । वह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है इसलिये यहां उसका फिरसे विस्तार नहीं किया जाता है ॥२२७-२२८॥ यह चालीसवीं मन्दराभिषेक क्रिया है ।

तदनन्तर स्वतन्त्र और स्वयंभू रहनेवाले भगवान्के विद्याओंको उपदेश होता है वे शिष्यभावके बिना ही गुरुकी पूजाको प्राप्त होते हैं अर्थात् किसीके शिष्य हुए बिना ही सबके गुरु कहलाने लगते हैं ॥२२९॥ उस समय इन्द्र लोग आकर हे देव, आप अशिक्षित होनेपर भी सबको मान्य हैं इस प्रकार आश्चर्यको प्राप्त होते हुए सबकी रक्षा करनेवाले और तीनों जगत्के गुरु भगवान्की पूजा करते हैं ॥२३०॥ यह इकतालीसवीं गुरुपूजन क्रिया है ।

तदनन्तर कुमारकाल आनेपर उन्हें युवराजपदकी प्राप्ति होती है, उस समय महा-प्रतापवान् उन भगवान्के राज्यपट्ट बांधा जाता है और अभिषेक किया जाता है ॥२३१॥ यह बियालीसवीं यौवराज्य क्रिया है ।

तत्पश्चात् समस्त राजाओंने राजाधिराज(सम्राट्)के पदपर जिनका अभिषेक किया है और जो दूसरेके शासनसे रहित इस समुद्र पर्यन्तकी पृथिवीका शासन करते हैं ऐसे उन भगवान्के स्वराज्यकी प्राप्ति होती है ॥२३२॥ यह तैतालीसवीं स्वराज्य क्रिया है ।

इसके बाद निधियों और रत्नोंकी प्राप्ति होनेपर उन्हें चक्रकी प्राप्ति होती है उस समय

१ विश्वेश्वरी ल० । २ शिष्यत्वाभावः । ३ गुरुपूजाप्राप्तिः । स्वस्य स्वयमेव गुरुरिति भावः ।

४ पूजयन्त्येतं ल०, द० । ५ रक्षतः । ६ आत्मीयप्रजापरिवारैः ।

दिशाञ्जयः स विज्ञेयो योऽस्य दिग्विजयोद्यमः । चक्ररत्नं पुरस्कृत्य जयतः सार्णवां महीम् ॥२३४॥

इति दिशाञ्जयः ।

सिद्धदिग्विजयस्यास्य स्वपुरानुप्रवेशने । क्रिया चक्राभिषेकाद्वा साऽधुना सम्प्रकीर्त्यते ॥२३५॥

चक्ररत्नं पुरोधाय प्रविष्टः स्वं निकेतनम् । परार्ध्यविभवोपेतं स्वविमानापहसि यत् ॥२३६॥

तत्र क्षणमिवासौने^१ रम्ये प्रमदमण्डपे । चामरंवीज्यमानोऽयं सतिर्भर इवादिराट् ॥२३७॥

संपूज्य निधिरत्नानि^२ कृतचक्रमहोत्सवः । दत्त्वा किमिच्छकं दानं मान्यान्^३ सम्मान्य पार्थिवान् ॥२३८॥

ततोऽभिषेकमाप्नोति पार्थिवैर्महितान्वयैः । नान्दीतूर्येषु गम्भीरं प्रध्वनत्सु सहस्रशः ॥२३९॥

यथावदभिषिक्तस्य तिरीदारोपणं ततः । क्रियते पार्थिवैर्मूढ्यैः चतुर्भिः प्रथितान्वयैः ॥२४०॥

महाभिषेकसामग्र्या कृतचक्राभिषेचनः । कृतमङ्गलनेपथ्यः^४ पार्थिवैः प्रणतोऽभिताः ॥२४१॥

तिरीटं स्फुटरत्नांशुजटिलीकृतदिग्मुखम् । दधानश्चक्रसाम्राज्यककुदं^५ नृपपुङ्गवाः ॥२४२॥

रत्नांशुच्छुरितं^६ विभूत् कर्णाभ्यां कुण्डलद्वयम् । यद्वाग्देव्याः समाक्रीडारथं^७ चक्रद्वयायितम् ॥२४३॥

तारालितरलस्थूलमुक्ताफलमुरोगृहे । धारयन् हारमाबद्धमिव मङ्गलतोरणम् ॥२४४॥

समस्त प्रजा उन्हें राजाधिराज मानकर उनकी अभिषेक सहित पूजा करती है ॥२३३॥ यह चक्रलाभ नामकी चवालीसवीं क्रिया है ।

तदनन्तर चक्ररत्नको आगे कर समुद्रसहित समस्त पृथिवीको जीतनेवाले उन भगवान्का जो दिशाओंको जीतनेके लिये उद्योग करना है वह दिशाञ्जय कहलाता है ॥२३४॥ यह दिशाञ्जय नामकी पैंतालीसवीं क्रिया है ।

जब भगवान् दिग्विजय पूर्णकर अपने नगरमें प्रवेश करने लगते हैं तब उनके चक्राभिषेक नामकी क्रिया होती है । अब इस समय उसी क्रियाका वर्णन किया जाता है ॥२३५॥ वे भगवान् चक्ररत्नको आगेकर अपने उस राजभवनमें प्रवेश करते हैं जो कि बहुमूल्य वैभवसे सहित होता है और स्वर्गके विमानोंकी हँसी करता है ॥२३६॥ वहाँपर वे मनोहर आनन्दमण्डपमें क्षणभर विराजमान होते हैं उस समय उनपर चमर ढुलाये जाते हैं जिससे वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो निर्भरनोंसहित सुमेरु पर्वत ही हो ॥२३७॥ उस समय वे निधियों और रत्नोंकी पूजाकर चक्र प्राप्त होनेका बड़ा भारी उत्सव करते हैं, किमिच्छक दान देते हैं और माननीय राजाओंका सन्मान करते हैं ॥२३८॥ तदनन्तर तुरही आदि हजारों मांगलिक बाजोंके गम्भीर शब्द करते रहनेपर वे उत्तम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए राजाओंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होते हैं ॥२३९॥ तदनन्तर—विधिपूर्वक जिनका अभिषेक किया गया है ऐसे उन भगवान्के मस्तकपर प्रसिद्ध प्रसिद्ध कुलमें उत्पन्न हुए मुख्य चार राजाओंके द्वारा मुकुट रक्खा जाता है ॥२४०॥ इस प्रकार महाभिषेककी सामग्री से जिनका चक्राभिषेक किया गया है, जिन्होंने माङ्गलिक वेष धारण किया है, जिन्हें चारों ओर से राजा लोग नमस्कार कर रहे हैं, जो देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले तथा चक्रवर्तीके साम्राज्यके चिह्नस्वरूप मुकुटको धारण कर रहे हैं, राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, जो अपने दोनों कानोंमें रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त तथा सरस्वतीके क्रीडारथके पहियोंकी शोभा देनेवाले दो कुण्डलोंको धारण कर रहे हैं, जो वक्षःस्थलरूपी घरके सामने खड़े किये हुए मांगलिकतोरणके समान सुशोभित होनेवाले और ताराओंकी पंक्तिके समान चंचल तथा

१ क्षणपर्यन्तमेव । २ विहितचक्रपूजनः । ३ सम्पूज्य । ४ अलङ्कारः । ५ चिह्नं प्रधानं वा । 'प्रधाने राजलिङ्गे च वृषाङ्गे कुमुदोऽस्त्रियामित्यभिधानात् । ६ मिश्रितम् । ७ क्रीडानिमित्तस्पन्दन ।

विलसद्गङ्गासूत्रेण प्रविभक्ततनून्नतिः । तदनिर्भरसम्पातरम्यमूर्तिरिवादिपः ॥२४५॥
 सद्रत्नकटकं प्रोच्यैः शिखरं भुजयोर्युगम् । द्वाधिसदलाधि बिभ्राणः^१ कुलक्षमाध्वद्वयायितम् ॥२४६॥
 कटिमण्डलसंसक्तलसत्काञ्चीपरिच्छदः । महाद्वीप इवोपान्तरत्नवेदीपरिष्कृतः^२ ॥२४७॥
 मन्दारकुसुमामोदलग्नालिकुलभङ्कृतैः । किमप्यारब्धसङ्गीतमिव शेखरमुद्वहन् ॥२४८॥
 तत्कालोचितमन्यच्च दधन्मङ्गलभूषणम् । स तदा लक्ष्यते साक्षात्लक्ष्म्याः पुञ्ज इवोज्ज्वलः ॥२४९॥
 प्रोताश्चाभिष्टुब्धन्त्येनं तदामी नृपसत्तमाः । विश्वञ्जयो दिशाञ्जयेता दिव्यमूर्तिर्भवानिति ॥२५०॥
 पौराः प्रकृतिमुख्याश्च कृतपादाभिषेचनाः । तत्कमार्चनमादाम कुर्वन्ति स्वशिरोधृतम् ॥२५१॥
 श्रीदेव्यश्च सरिद्देव्यो^३ देव्यो विश्वेश्वरा अपि । समुपेत्य नियोगोः स्वैस्तदेनं पर्युपासते ॥२५२॥
 इति चक्राभिषेकः ।

चक्राभिषेक इत्येकः समाख्यातः क्रियाविधिः । तदनन्तरमस्य स्यात् सामाज्याख्यं क्रियान्तरम् ॥२५३॥
 अपरेष्टुदितारम्भे धृतपुष्पप्रसाधनः^४ । मध्ये महानृपसभ^५ नृपासनमधिष्ठितः ॥२५४॥
 दीपैः प्रकीर्णकक्षातैः स्वधुनीसीकरोज्ज्वलैः । वारनारीकराधृतैः वीज्यमानः समन्ततः ॥२५५॥
 सेवागतैः पृथिव्यादिदेवतांशैः^६ परिष्कृतः^७ । धृतिप्रशान्तदीप्त्योजो^८ निर्मलत्वोपमा^९दिभिः ॥२५६॥

बड़े बड़े मोतियोंसे युक्त हार धारण किये हुए हैं, शोभायमान यज्ञोपवीतसे^१ जिनके शरीरकी उच्चता प्रकट हो रही है और इसी कारण जो तटपर पड़ते हुए निर्भरन्तोसे सुन्दर आकारवाले सुमेरु पर्वतके समान जान पड़ते हैं, जो रत्नोंके कटक अर्थात् कड़ों (पक्षमें रत्नमय मध्यभागों) से सहित, ऊंचे ऊंचे शिखरों अर्थात् कन्धों (पक्षमें चोटियों) से युक्त, लम्बाईसे सुशोभित और इसलिये ही दो कुलाचलोंके समान आचरण करनेवाली दो भुजाओंको धारण कर रहे हैं, जिनकी कमरपर देदीप्यमान करवनी सटी हुई है और उससे जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो चारों ओरसे रत्नमयी वेदीके द्वारा विरा हुआ कोई महाद्वीप ही हो, जो मन्दार वृक्षके फूलोंकी सुगन्धिके कारण आकर लगे हुए भूमरोंके समूहकी भङ्कारोंसे कुछ गाते हुएके समान सुशोभित होनेवाले शेखरको धारण कर रहे हैं तथा उस कालके योग्य अन्य अन्य मांगलिक आभूषण धारण किये हुए हैं ऐसे वे भगवान् उस समय ऐसे जान पड़ते हैं मानो जिसकी शिखा ऊंची उठ रही है ऐसा साक्षात् लक्ष्मीका पुञ्ज ही हो ॥२४१-२४९॥ उस समय अन्य उत्तम उत्तम राजा लोग संतुष्ट होकर उनकी इस प्रकार स्तुति करते हैं कि आपने समस्त संसारको जीत लिया है, आप दिशाओंको जीतनेवाले हैं और दिव्यमूर्ति हैं ॥२५०॥ नगरनिवासी लोग तथा मंत्री आदि मुख्य मुख्य पुरुष उनके चरणोंके अभिषेक करते हैं और उनका चरणोदक लेकर अपने अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥२५१॥ श्री ह्री आदि देवियां, गङ्गा सिन्धु आदि देवियां तथा विश्वेश्वरा आदि देवियां अपने अपने नियोगोंके अनुसार आकर उस समय उनकी उपासना करती हैं ॥२५२॥ यह चक्राभिषेक नामकी छियालीसवीं क्रिया है ।

इस प्रकार उनकी यह एक चक्राभिषेक नामकी क्रिया कही । अब इसके बाद सामाज्य नामकी दूसरी क्रिया कहते हैं ॥२५३॥ दूसरे दिन प्रातःकालके समय जिन्होंने पवित्र आभूषण धारण किये हैं जो बड़े बड़े राजाओंकी सभाके बीचमें राजसिंहासनपर विराजमान हैं, जिनपर देदीप्यमान, गङ्गा नदीके जलके छींटोंके समान उज्ज्वल और गणिकाओंके हाथसे हिलाये हुए चमर चारों ओरसे ढुलाये जा रहे हैं, जो धृति, शान्ति, दीप्ति, ओज और निर्मलताको उत्पन्न करनेवाले

१ देधेनं श्लाघि । २ परिवेष्टितः । ३ ईषद् । ४ गंगादेव्यादयः । ५ पवित्रालङ्कारः । ६ महानृपसभायाः मध्ये । ७ पृथिव्यप्तेजोवायुगगनाधिदेवताविक्रियाशरीरैः इत्यर्थः । ८ भूषितः । ९ बलम् । 'ओजो दीप्तौ बले' इत्यभिधानात् । १० उत्पादकैः ।

तान्^१ प्रजानुग्रहे नित्यं समाधानेन योजयन् । सम्मानदानविश्रम्भैः^२ प्रकृतीरनुरञ्जयन् ॥२५७॥
 पाथिवान् प्रणतान् यूयं न्यायेः पालयत प्रजाः । अन्यायेषु^३ प्रवृत्तास्त्वेद् वृत्तिलोपो^४ ध्रुवं हि वः ॥२५८॥
 न्यायश्च द्वितयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनम् । सोऽयं सनातनः क्षात्री धर्मो रक्षयः प्रजेश्वरः ॥२५९॥
 दिव्यास्त्रदेवताश्चामूराराध्याः स्फुटिधानतः । ताभिस्तु सुप्रसन्नाभिः श्रवण्यं^५ भावुको जयः ॥२६०॥
 राजवृत्तिमिमां सस्यक् पालयद्भिरतन्द्रितैः । प्रजासु वर्तितव्यं भो भवद्भिन्नन्यायवर्त्मना ॥२६१॥
 पालयेद्य इमं धर्मं स धर्मविजयी भवेत् । क्मां जयेद् विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविकः ॥२६२॥
 इहैव^६ स्याद् यशोलाभो भूलाभश्च महोदयः । अमृताभ्युदयावाप्तिः क्रमात् त्रैलोक्यनिर्जयः ॥२६३॥
 इति भूयोऽनु^७ शिष्यैतान् प्रजापालनसंबन्धो । स्वयं च पालयत्येतान् योगक्षेमानुचिन्तनैः ॥२६४॥
 तदिदं तस्य साम्राज्यं नाम धर्म्यं क्रियान्तरम् । येनानुपालितेनायमिहामुत्र च तन्दति ॥२६५॥
 इति साम्राज्यम् ।

एवं प्रजाः प्रजापालानपि पालयतश्चिरम् । काले कस्मिंश्चिदुत्पन्नबोधे दीक्षोद्यमो भवेत् ॥२६६॥

पृथिवी आदि देवताओंके अंशोंसे अर्थात् उनके वैक्रियिक शरीरोंसे हैं, जो उन देवताओंको समाधान-पूर्वक निरन्तर प्रजाके उपकार करनेमें लगा रहे हैं और आदर सत्कार, दान तथा विश्वास आदि से जो मंत्री आदि प्रमुख कार्यकर्ताओंको आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज नमस्कार करते हुए राजाओंको इस प्रकार शिक्षा देते हैं कि तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करो, यदि अन्यायमें प्रवृत्ति रखोगे तो अवश्य ही तुम्हारी वृत्तिका लोप हो जावेगा ॥२५४-२५८॥ न्याय दो प्रकारका है—एक दुष्टोंका निग्रह करना और दूसरा शिष्ट पुरुषोंका पालन करना । यह क्षत्रियोंका सनातन धर्म है । राजाओंको इसकी रक्षा अच्छी तरह करनी चाहिये ॥२५९॥ ये दिव्य अस्त्रोंके अधिष्ठाता देव भी विधिपूर्वक आराधना करने योग्य हैं क्योंकि इनके प्रसन्न होनेपर युद्धमें विजय अवश्य ही होती है ॥२६०॥ इस राजवृत्तिका अच्छी तरह पालन करते हुए आप लोग आलस्य छोड़कर प्रजाके साथ न्याय-मार्गसे बर्ताव करो ॥२६१॥ जो राजा इस धर्मका पालन करता है वह धर्मविजयी होता है क्योंकि जिसने अपना आत्मा जीत लिया है तथा न्यायपूर्वक जिसकी आजीविका है ऐसा क्षत्रिय ही पृथिवीको जीत सकता है ॥२६२॥ इस प्रकार न्यायपूर्वक बर्ताव करनेसे इस संसारमें यशका लाभ होता है, महान् वैभवके साथ साथ पृथिवीकी प्राप्ति होती है, और परलोकमें अभ्युदय अर्थात् स्वर्गकी प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे वह तीनों लोकोंको जीत लेता है अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त कर लेता है ॥२६३॥ इस प्रकार वे महाराज प्रजापालनकी रीतियोंके विषयमें उन राजाओंको बार-बार शिक्षा देते हैं तथा योग और क्षेमका बार बार चिन्तन करते हुए उनका स्वयं पालन करते हैं ॥२६४॥ इस प्रकार यह उनकी धर्मसहित साम्राज्य नामकी वह क्रिया है जिसके कि पालन करनेसे यह जीव इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें समृद्धिको प्राप्त होता है ॥२६५॥ यह सैता-लीसवीं साम्राज्य क्रिया है ।

इस प्रकार बहुत दिन तक प्रजा और राजाओंका पालन करते हुए उन महाराजके किसी समय भेदविज्ञान उत्पन्न होनेपर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये उद्यम होने

१ पृथिव्यादिदेवतांशान् । २ स्नेहैः विश्वासेर्वा । ३ प्रवृत्तिस्त्वेत् ५०, ल०, व० । ४ निजनिज-राज्यलोपो भवति । ५ नियमेन भवति । ६ एवं सति । ७ शिक्षां कृत्वा । ८ पालयत्येतान् ल०, प०, व० । ९ साम्राज्यनामक्रियान्तरेण ।

संवा निष्कान्तिरस्येष्टा क्रिया राज्याद् विरज्यतः । लौकान्तिकामरंभूयो बोधितस्य समागतः ॥२६७॥
 कृतराज्यापणो ज्येष्ठे स्तूनी^१ पार्थिवसाक्षिकम् । सन्तानपालने चास्य करोतीत्यनुशासनम् ॥२६८॥
 त्वया न्यायधनेनाङ्ग भवितव्यं प्रजाधृतौ । प्रजा कामदुघा धेनुः सता न्यायेन योजिता ॥२६९॥
 राजवृत्तमिदं विद्धि यत्न्यायेन धनार्जनम् । वर्धनं रक्षणं चास्य^२ तीर्थं च प्रतिपादनम् ॥२७०॥
 प्रजानां पालनार्थं च भूतं मत्पुत्रपालनम्^३ । मतिर्हिताहितज्ञानम् आत्रिकामुन्निकार्थयोः ॥२७१॥
 ततः^४ कृतेन्द्रियजयो बृद्धसंयोगसम्पदा । धर्मार्थ^५ शास्त्रविज्ञानात् प्रजां संस्कर्तुमर्हसि ॥२७२॥
 अन्यथा विमतिर्भूयो^६ युक्तायुक्तानभिज्ञकः । अन्यथाज्ज्येः प्रणयः^७ स्यान्मिथ्याज्ञानलवोद्धितः ॥२७३॥
 कुलानुपालने चायं महान्तं यत्नमाचरेत् । अज्ञातकुलधर्मो हि दुर्षं तर्द्वेषयेत् कुलम् ॥२७४॥
 तदायमात्मरक्षायां सदा यत्नपरो भवेत् । रक्षितं हि भवेत् सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते ॥२७५॥
 अपायो हि सपत्नेभ्यो^८ नृपस्यारक्षितात्मनः । आत्मानुजीविवर्गाञ्च क्रुद्धतुल्यविमानितात्^९ ॥२७६॥
 तस्माद् रसवतीक्ष्णादीन्^{१०} अपायानरिभ्योजितान् । परिहृत्य निजैरिष्टैः स्वं प्रयत्नेन पालयेत् ॥२७७॥
 स्यात् समञ्जसवृत्तित्वमप्यस्यात्माभिरक्षणे^{११} । असमञ्जसवृत्तौ हि निजैरप्यभिभूयते ॥२७८॥

लगना है ॥२६६॥ जो राज्यसे विरक्त हो रहे हैं और आये हुए लौकान्तिक देव जिन्हें बार बार प्रबोधित कर रहे हैं ऐसे उन भगवान्की यह निष्कान्त नामकी क्रिया कही जाती है ॥२६७॥ वे समस्त राजाओंकी साक्षीपूर्वक अपने बड़े पुत्रके लिये राज्य सौंप देते हैं और संतान-पालन करनेके लिये उसे इस प्रकार शिक्षा देते हैं ॥२६८॥ हे पुत्र, तुझे प्रजाके पालन करनेमें न्यायरूप धनसे मुक्त होना चाहिये अर्थात् तू न्यायको ही धन समझ, क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु गायके समान मानी गई है ॥२६९॥ हे पुत्र, तू इसे ही राजवृत्त अर्थात् राजाओंका कर्तव्य समझ कि न्यायपूर्वक धन कमाना, उसकी वृद्धि करना, रक्षा करना तथा तीर्थस्थान अथवा योग्य पात्रोंका देना ॥२७०॥ प्रजाका पालन करनेके लिये सबसे अपनी बुद्धिकी रक्षा करनी चाहिये, इस लोक और परलोक दोनों लोकसम्बन्धी पदार्थोंके विषयमें हित तथा अहितका ज्ञान होना ही मति कहलाती है ॥२७१॥ इसलिये बृद्ध मनष्योंकी संगति रूपी सम्पदासे इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर तुम धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के ज्ञानसे अपनी बुद्धिको सुसंस्कृत बनानेके योग्य हो अर्थात् बुद्धिके अच्छे संस्कार बनाओ ॥२७२॥ यदि राजा इससे विपरीत प्रवृत्ति करेगा तो वह हित तथा अहितका जानकार न होनेसे बुद्धिभ्रष्ट हो जावेगा और ऐसी दशामें वह मिथ्याज्ञानके अंश मात्रसे उद्धत हुए अन्य कुमार्गगामियोंके वश हो जावेगा ॥२७३॥ राजाओंको अपने कुलकी मर्यादा पालन करने के लिये बहुत भारी प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि जिसे अपनी कुलमर्यादाका ज्ञान नहीं है वह अपने दुराचारोंसे कुलको दूषित कर सकता है ॥२७४॥ इसके सिवाय राजाको अपनी रक्षा करनेमें भी सदा यत्न करते रहना चाहिये क्योंकि अपने आपके सुरक्षित रहनेपर ही अन्य सब कुछ सुरक्षित रह सकता है ॥२७५॥ जिसने अपने आपकी रक्षा नहीं की है ऐसे राजाका शत्रुओंसे तथा क्रोधी, लोभी और अपमानित हुए अपने ही सेवकोंसे विनाश हो जाता है ॥२७६॥ इसलिये शत्रुओंके द्वारा किये हुए प्रारम्भमें सरल किन्तु फलकालमें कठिन अपायोंका परिहार कर अपने इष्ट वर्गोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥२७७॥ इसके सिवाय

१ प्रजापती निमित्तम् । २ धनस्य । ३ पात्रे । ४ निजबुद्धिरक्षणम् । ५ ततः कारणात् । ६ नीतिशास्त्र । ७ भूयो इ०, प०, स० । ८ वश्यः । ९ दायदेभ्यः शत्रुभ्यो वा । १० तिरस्कृतात् । ११ तस्मात् कारणात् । १२ रसतामास्वावं कुर्वतामकटुकादीन् रसनकाले अनुभवनकाले स्वादुरसप्रदान् विपाककाले कटुकानित्यर्थः । १३ आत्मरक्षानिमित्तम् । —स्मादिरक्षणे अ०, प०, द० ।

समञ्जसस्त्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमेक्षिता^१ । अनाशंस्यमवान्दण्डपारुष्यादिविशेषितम् ॥२७६॥
 ततो जितारिषड्वर्गः स्वां वृत्तिं पालयन्निमाम् । स्वराज्ये सुस्थितो राजा प्रेत्य^२ चेह च नन्दति ॥२८०॥
 समं समञ्जसत्वेन कुलमत्यात्मपालनम् । प्रजानुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिताम् ॥२८१॥
^३ततः क्षात्रमिमं धर्मं यथोक्तमनुपालयन् । स्थितो राज्ये यशोधर्मं विजयं च त्वमानुहि ॥२८२॥
 प्रशान्तधीः समुत्पन्नबोधिरित्यनुशिष्य तम्^४ । परिनिष्क्रान्तिकल्याणे सुरेन्द्रैरभिपूजितः ॥२८३॥
 महादानमथो दत्त्वा साम्राज्यपदमुत्सृजन् । स राजराजो राजर्षिनिष्क्रामति गृहाद् वनम्^५ ॥२८४॥
 धीरयः पार्थिवः किञ्चित् समुत्क्षिप्तं महीतलात् । स्कन्धाधिशोपितां भूयः सुरेन्द्रैर्भक्तिनिर्भरेः ॥२८५॥
 आरूढः शिबिकां दिव्यां दीप्तरत्नविनिर्मिताम् । विमानवसतिं भानोरिवाऽऽयातां महीतलम् ॥२८६॥
 पुरस्सरेषु निःशेषनिरुद्धद्योमयीषु । सुरासुरेषु तन्वत्सु संदिग्धार्कप्रभं नभः ॥२८७॥
^६अनुत्थितेषु सम्प्रीत्या पार्थिवेषु ससंभ्रमम् । कुमारमग्रतः कृत्वा प्राप्तं राज्यं नवोदयम् ॥२८८॥
 अनुपायिनि तत्प्रागाविव मन्दोभवद्द्युतौ । निधीनां सह रत्नानां सन्दोहेऽभ्यर्णसंक्षये ॥२८९॥

राजाको अपनी तथा प्रजाकी रक्षा करनेमें समञ्जसवृत्ति अर्थात् पक्षपातरहित होना चाहिये क्योंकि जो राजा असमञ्जसवृत्ति होता है, वह अपने ही लोगोंके द्वारा अपमानित होने लगता है ॥२७८॥ समस्त प्रजाको समान रूपसे देखना अर्थात् किसीके साथ पक्षपात नहीं करना ही राजाका समञ्जसत्व गुण कहलाता है । उस समञ्जसत्व गुणमें क्रूरता या घातकपना नहीं होना चाहिये और न कठोर वचन तथा दण्डकी कठिनता ही होनी चाहिये ॥२७९॥ इस प्रकार जो राजा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीतकर अपनी इस वृत्तिका पालन करता हुआ स्वकीय राज्यमें स्थिर रहता है वह इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें समृद्धिवान् होता है ॥२८०॥ पक्षपातरहित होकर सबको एक समान देखना, कुलकी मर्यादाकी रक्षा करना, बुद्धिकी रक्षा करना, अपनी रक्षा करना और प्रजाका पालन करना यह सब राजाओंकी वृत्ति कहलाती है ॥२८१॥ इसलिये हे पुत्र, ऊपर कहे हुए इस क्षात्रधर्मकी रक्षा करता हुआ तू राज्यमें स्थिर रहकर अपना यश, धर्म और विजय प्राप्त कर ॥२८२॥ जिनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त है और जिन्हें भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भगवान् ऊपर लिखे अनुसार पुत्रको शिक्षा देकर दीक्षाकल्याणके लिये इन्द्रोंके द्वारा पूजित होते हैं ॥२८३॥ अथानन्तर महादान देकर साम्राज्यपदको छोड़ते हुए वे राजाधिराज राजर्षिघरसे वनके लिये निकलते हैं ॥२८४॥ प्रथम ही मुख्य मुख्य राजा लोग जिसे पृथिवीतलसे उठाकर कंधेपर रखकर कुछ दूर ले जाते हैं और फिर भक्तिसे भरे हुए देव लोग जिसे अपने कंधोंपर रखते हैं, जो देदीप्यमान रत्नोंसे बनी हुई है और जो पृथिवीतलपर आये हुए सूर्यके विमानके समान जान पड़ती है ऐसी दिव्य पालकीपर वे भगवान् सवार होते हैं ॥२८५-२८६॥ जिस समय समस्त आकाश-मार्गको रोकते हुए और अपनी कान्तिसे आकाशमें सूर्यकी प्रभाका संदेह फैलाते हुए सुर और असुर आगे चलते हैं, जिसे राज्य प्राप्त हुआ है और जिसका नवीन उदय प्रकट हुआ है ऐसे कुमारको आगे कर वड़े प्रेम और संभ्रमके साथ जब समस्त राजा लोग भगवान्के समीप खड़े होते हैं, जिनका भगवान्के समीप रहना छूट चुका है और भगवान्के छोड़ देनेसे ही मानो जिनकी कान्ति मन्द पड़ गई है ऐसे निधि और रत्नोंका समूह जब उनके पीछे पीछे आता है, जिसने वायुके वेगसे उड़ती हुई ध्वजाओंके समूहसे आकाशको व्याप्त

१ समदर्शित्वम् । २ अनुशंस्य भावः । अघातुक्त्वमित्यर्थः । ३ भवान्तरे । ४ ततः कारणात् ।

५ स्वमानुहि प०, इ० । ६ पुत्रम् । ७ दीक्षावनम् । ८ अन्तःस्थितेषु ल० ।

सैन्ये च कृतसहै शनैः समनुगच्छति । मरुदूतध्वजप्रातनिरुद्धपचनाध्वनि ॥२६०॥
 ध्वनत्सु सुरतूर्येषु नृत्यत्यप्सरसां गणे । गायन्तीषु कलकवाणं किन्नरीषु च मङ्गलम् ॥२६१॥
 भगवानभिनिष्क्रान्तः पुण्ये^१ कस्मिँश्चिदाश्रमे^२ । स्थितः शिलातले स्वरिमँश्चेतसीवातिविस्तृते ॥२६२॥
 निर्वाणदीक्षयात्मानं योजयन्नद्भुतोदयः । सुराधिपैः कृतानन्दमर्चितः परयेज्यया ॥२६३॥
 योज्ञ शेषो^३ विधिर्युक्तः केशपूजाविलक्षणः । प्रागेव स तु निर्णीतो निष्क्रान्तौ वृषभेशिनः ॥२६४॥
 इति निष्क्रान्तिः ।

(परिनिष्क्रान्तिरेषा स्यात् क्रिया निर्वाणवायिनी । अतः परं भवेदस्य मुमुक्षोर्योगसम्महः ॥२६५॥
 यदायं त्यक्तबाह्यान्तस्सङ्गो^४ निःसङ्गमाचरेत् । सद्गुरुचरं तपोयोगं जिनकल्पमनुत्तरम् ॥२६६॥
 तदाऽस्य क्षपकश्रेणीम् आरूढस्योचिते पदे^५ । शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धघातिकर्मघनाटवेः ॥२६७॥
 प्रादुर्भवति निःशेषबहिरन्तर्मलक्षयात् । केवलाख्यं परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकम् ॥२६८॥
 तदेतत्सिद्धसाध्यस्य प्रापुषः^६ परमं महः । योगसम्मह इत्याख्याम् अनुधत्ते क्रियान्तरम् ॥२६९॥
 ज्ञानध्यानसमायोगो योगो यस्तत्कृतो महः । महिमातिशयः सोऽयम् आम्नातो योगसम्महः ॥२७०॥
 इति योगसम्महः ।

ततोऽस्य केवलोत्पत्तौ पूजितस्यामरेश्वरैः । बहिर्विभूतिरुद्धता प्रातिहार्याविलक्षणा ॥२७१॥

कर लिया है ऐसी सेना अपनी विशेष रचना बनाकर जिस समय धीरे धीरे उनके पीछे चलने लगती है तथा जिस समय देवोंके तुरही आदि बाजे बजते हैं, अप्सराओंका समूह नृत्य करता है और किन्नरी देवियां मनोहर शब्दोंसे मंगलगीत गाती हैं, उस समय वे भगवान् किसी पवित्र आश्रममें अपने चित्तके समान विस्तृत शिलातलपर विराजमान होकर दीक्षा लेते हैं । इस प्रकार जिनका उदय आश्चर्य करनेवाला है और जो निर्वाणदीक्षाके द्वारा अपने आपको युक्त कर रहे हैं ऐसे भगवान्की इन्द्र लोग उत्कृष्ट सामग्रीके द्वारा आनन्दके साथ पूजा करते हैं ॥२८७-२९३॥ इस क्रियामें केश लोंच करना, भगवान्की पूजा करना आदि जो भी कार्य अवशिष्ट रह गया है उस सबका भगवान् वृषभदेवकी दीक्षाके समय वर्णन किया जा चुका है ॥२९४॥ इस प्रकार यह अड़तालीसवीं निष्क्रान्ति क्रिया है ।

यह निर्वाणको देनेवाली परिनिष्क्रान्ति नाम की क्रिया है । अब इसके आगे मोक्षकी इच्छा करनेवाले उन भगवान्के योगसम्मह नामकी क्रिया होती है ॥२९५॥ जब वे भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़कर निष्परिग्रह अवस्थाको प्राप्त होते हैं और अत्यन्त कठिन तथा सर्वश्रेष्ठ जिनकल्प नामके तपोयोगको धारण करते हैं तब क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ हुए और योग्य पद अर्थात् गुणस्थानमें जाकर शुक्लध्यानरूपी अग्निसे घातियाकर्मरूपी सघन वनको जला देनेवाले उन भगवान्के समस्त बाह्य और अन्तरङ्ग मलके नष्ट हो जानेसे लोक तथा अलोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट होती है ॥२९६-२९८॥ इस प्रकार जिनके समस्त कार्य सिद्ध हो चुके हैं और जिन्हें उत्कृष्ट तेज प्राप्त हुआ है ऐसे भगवान्के यह एक भिन्न क्रिया होती है जो कि 'योगसम्मह' इस नामको धारण करती है ॥२९९॥ ज्ञान और ध्यानके संयोगको योग कहते हैं और उस योगसे जो अतिशय तेज उत्पन्न होता है वह योगसम्मह कहलाता है ॥३००॥ यह योगसम्मह नामकी उनचासवीं क्रिया है ।

तदनन्तर केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर इन्द्रोंने जिनकी पूजा की है ऐसे उन भगवान्के

प्रातिहार्याष्टकं दिव्यं गणो द्वादशधोदितः । स्तूपहर्म्यावली सालवलयः केतुमालिका ॥३०२॥
इत्यादिकामिमां भूतिम् अद्भुतामुपबिभूतः । स्यादाहृत्यमिति ख्यातं क्रियान्तरमनन्तरम् ॥३०३॥

इति आहृत्यक्रिया ।

विहारस्तु प्रतीतार्थो धर्मचक्रपुरस्सरः । प्रपञ्चितश्च प्रागेव ततो न पुनरुच्यते ॥३०४॥

इति विहारक्रिया ।

ततः परार्थसम्पत्त्यै धर्ममार्गोपदेशने । कृततीर्थविहारस्य योगत्यागः परा क्रिया ॥३०५॥

विहारस्योपसंहारः संहृतिश्च सभावनैः । वृत्तिश्च योगरोधार्या योगत्यागः स उच्यते ॥३०६॥

यच्च दण्डकपाटादिप्रतीतार्थं क्रियान्तरम् । तदन्तर्भूतमेवादस्ततो न पृथगुच्यते ॥३०७॥

इति योगत्यागक्रिया ।

ततो निरुद्धनिःशेषयोगस्यास्य जिनेशिनः । प्राप्तशैलेन्द्रियवस्थस्य प्रक्षीणा घातिकर्मणः ॥३०८॥

क्रियाग्रनिर्वृतिर्नाम परनिर्वाणमापुषः । स्वभावजनितामूर्ध्वव्रज्यामास्कन्दतो मता ॥३०९॥

इति अग्रनिर्वृतिः ।

इति निर्वाणपर्यन्ताः क्रिया गर्भादिकाः सदा । भव्यात्मभिरनुष्ठेयाः त्रिपञ्चाशत्समुच्चयात् ॥३१०॥

यथोक्तविधिनेताः स्युः अनुष्ठेया द्विजन्मभिः । योऽप्यत्रान्तर्गतो भेदस्तं वक्ष्यन्तरपर्वणि ॥३११॥

प्रातिहार्यं आदि बाह्य विभूति प्रकट होती है ॥३०१॥ इस प्रकार आठ प्रातिहार्य, बारह दिव्य सभा, स्तूप, मकानोंकी पंक्तियां, कोटका घेरा और पताकाओंकी पंक्ति इत्यादि अद्भुत विभूतिकी धारण करनेवाले उन भगवान्‌के आहृत्य नामकी एक भिन्न क्रिया कही गई है ॥३०२-३०३॥ यह आहृत्य नामकी पचासवीं क्रिया है ।

धर्मचक्रको आगे कर जो भगवान्‌का विहार होता है वह विहार नामकी क्रिया है । यह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है और पहले ही इसका विस्तारके साथ निरूपण किया जा चुका है इसलिये फिरसे यहाँ नहीं कहते हैं ॥३०४॥ यह इक्यावनवीं विहारक्रिया है ।

तदनन्तर धर्ममार्गके उपदेशके द्वारा परोपकार करनेके लिये जिन्होंने तीर्थ विहार किया है ऐसे भगवान्‌के योगत्याग नामकी उत्कृष्ट क्रिया होती है ॥३०५॥ जिसमें विहार करना समाप्त हो जावे, सभाभूमि (समवसरण) विघट जावे, और योगनिरोध करनेके लिये अपनी वृत्ति करनी पड़े उसे योगत्याग कहते हैं ॥३०६॥ दण्ड, कपाट आदि रूपसे प्रसिद्ध जो केवलि-समुद्घात नामकी क्रिया है वह इसी योगत्याग क्रियामें अन्तर्भूत हो जाती है इसलिये अलगसे उसका वर्णन नहीं किया है ॥३०७॥ यह बावनवीं योगत्याग नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर जिनके समस्त योगोंका निरोध हो चुका है, जो जिनोंके स्वामी हैं, जिन्हें शीलके ईश्वरपनेकी अवस्था प्राप्त हुई है, जिनके अघातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं जो स्वभावसे उत्पन्न हुई ऊर्ध्वगतिकी प्राप्त हुए हैं और जो उत्कृष्ट मोक्षस्थानपर पहुँच गये हैं ऐसे भगवान्‌के अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया मानी गई है ॥३०८-३०९॥ यह तिरपनवीं अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया है ।

इस प्रकार गर्भसे लेकर निर्वाण पर्यन्त जो सब मिलाकर तिरपन क्रियाएं हैं भव्य पुरुषोंको सदा उनका पालन करना चाहिये ॥३१०॥ द्विज लोगोंको ऊपर कही हुई विधिके अनुसार इन क्रियाओंका पालन करना चाहिये । इन क्रियाओंके जो भी अन्तर्गत भेद

१ धृतमार्गपि-प० । २ यत्र दण्ड-प०, ल० । ३ योगत्यागान्तर्भूतम् । ४ शैलेशितावस्थस्य ।

५ -मायुषः अ०, इ०, प०, स०, द० । ६ ऊर्ध्वगमनम् । ७ गच्छतः । ८ समुच्चयाः ल० । ९ त्रिप-
ञ्चाशत्क्रियासु ।

शार्दूलविकीर्णितम्

इत्युच्चैर्भरताधिपः स्वसमर्थे संस्थापयन् तान् द्विजान्
 सम्प्रोवाच कृती सतां बहुमता गर्भान्वयोत्थाः क्रियाः ।
 गर्भाद्याः परिनिर्वृतिप्रगमनप्रान्तास्त्रिपञ्चाशत्
 प्रारम्भेऽथ पुनः प्रवक्तुमुचिता दीक्षान्वयाख्याः क्रियाः ॥३१२॥
 यस्त्वेताः द्विजसत्तमैरभिमता गर्भादिकाः सत्क्रियाः
 श्रुत्वा सम्यगधीत्यभावितमतिर्जनेश्वरे दर्शने ।
 सामग्रीमुचितां स्वतश्च परतः सम्पादयन्नाचरेद्
 भव्यात्मा स समग्रधीस्त्रिजगति चूडामणित्वं भजेत् ॥३१३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे द्विजोत्पत्तौ
 गर्भान्वयक्रियावर्णनं नाम अष्टत्रिंशत्तमं पर्वः ।

हैं उनका आगेके पर्वमें निरूपण करेंगे ॥३११॥ इस प्रकार पुण्यवान् भरत महाराजने उन द्विजोंको अपने धर्ममें स्थापित करते हुए गर्भसे लेकर निर्वाणगमन पर्यन्तकी तिरेपन गर्भान्वय क्रियाएं कहीं और उनके बाद कहने योग्य जो दीक्षान्वय क्रियाएं थीं उनका कहना प्रारम्भ किया ॥३१२॥ उत्तम उत्तम द्विजोंको माननीय इन गर्भाधानादि समीचीन क्रियाओंको सुनकर तथा अच्छी तरह पढ़कर जो जिनेन्द्र भगवान्के दर्शनमें अपनी बुद्धि लगाता है और योग्य सामग्री प्राप्त कर दूसरोंसे आचरण कराता हुआ स्वयं भी इनका आचरण करता है वह भव्य पुरुष पूर्ण ज्ञानी होकर तीनों लोकोंके चूडामणिपनेको प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर तीनों लोकोंके अग्रभागपर विराजमान होता है ॥३१३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें द्विजोंकी उत्पत्ति तथा गर्भान्वय क्रियाओंका वर्णन करनेवाला अड़तीसवां पर्व समाप्त हुआ

एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व

(अथाब्रवीद् द्विजन्मभ्यो 'मनुर्दीक्षान्वयक्रियाः । यास्ता निःश्रेयसोदकश्चत्वारिंशदथाष्ट च ॥१॥
श्रूयतां भो द्विजन्मानो वक्ष्ये नैःश्रेयसीः' क्रियाः । अवतारादिनिर्वाणपर्यन्ता दीक्षितोचिताः ॥२॥
व्रता'विष्करणं दीक्षा द्विधाप्नातं च तद्व्रतम् । महच्चाणु च दोषाणां 'कृत्स्नदेशनिवृत्तिः ॥३॥
महाव्रतं भवेत् कृत्स्नहिंसाद्यागोविर्वाजितम् । विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम् ॥४॥
तदुन्मुखस्य' या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्यसौ मता । 'तामन्विता' क्रिया या तु सा स्याद् दीक्षान्वया क्रिया ॥५॥
तस्यास्तु भेदसङ्ख्यानं प्राप्तिर्णोतं षडष्टकम्' । क्रियते तद्विकल्पानाम् अधुना लक्ष्मवर्णनम् ॥६॥
तत्रावतारसंज्ञा स्याद् आद्या दीक्षान्वयक्रिया । मिथ्यात्वदूषिते भव्ये सन्मार्गग्रहणोन्मुखे ॥७॥
स तु संसृत्य योगीन्द्रं युक्ताचारं महाधियम् । गृहस्थाचार्यमथवा पृच्छतीति विचक्षणः ॥८॥
व्रतं यं महाप्राज्ञा' मर्त्यं धर्ममनाविलम्' । प्रायो मतानि तीर्थानि' हेयानि प्रतिभाति मे ॥९॥
'श्रौतान्यपि हि वाक्यानि सम्मतानि क्रियाविधौ । न विचारसहिष्णूनि' दुःप्रणीतानि तान्यपि' ॥१०॥

अथानन्तर—सोलहवें मनु महाराज भरत उन द्विजोंके लिये मोक्ष फल देनेवाली अड़-
तालीस दीक्षान्वय क्रियाएं कहने लगे ॥१॥ वे बोले कि हे द्विजो, मैं अवतारसे लेकर निर्वाण
पर्यन्तकी मोक्ष देनेवाली दीक्षान्वय क्रियाओंको कहता हूँ सो तुम लोग सुनो ॥२॥ व्रतोंका
धारण करना दीक्षा है और वे व्रत हिंसादि दोषोंके पूर्ण तथा एकदेश त्याग करनेकी अपेक्षा
महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥३॥ सूक्ष्म अथवा स्थूल—
सभी प्रकारके हिंसादि पापोंका त्याग करना महाव्रत कहलाता है और स्थूल हिंसादि दोषोंसे
निवृत्त होनेको अणुव्रत कहते हैं ॥४॥ उन व्रतोंके ग्रहण करनेके लिये सन्मुख पुरुषकी जो
प्रवृत्ति है उसे दीक्षा कहते हैं और उस दीक्षासे सम्बन्ध रखनेवाली जो क्रियाएं हैं वे दीक्षान्वय
क्रियाएं कहलाती हैं ॥५॥ उस दीक्षान्वय क्रियाके भेद अड़तालीस हैं जिनका कि निर्णय
पहले किया जा चुका है । अब इस समय उन भेदोंके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है ॥६॥ उन
दीक्षान्वय क्रियाओंमें पहली अवतार नामकी क्रिया है जब मिथ्यात्वसे दूषित हुआ कोई भव्य
पुरुष समीचीन मार्गको ग्रहण करनेके सन्मुख होता है तब यह क्रिया की जाती है ॥७॥ प्रथम
ही वह चतुर भव्य पुरुष योग्य आचरणवाले महाबुद्धिमान् मुनिराजके समीप जाकर अथवा
किसी गृहस्थाचार्यके समीप पहुंचकर उनसे इस प्रकार पूछता है कि ॥८॥ महाबुद्धिमन्, आप
मेरे लिये निर्दोष धर्म कहिये क्योंकि मुझे अन्य लोगोंके मत प्रायः दुष्ट मालूम होते हैं ॥९॥
धार्मिक क्रियाओंके करनेमें जो वेदोंके वाक्य माने गये हैं वे भी विचारको सहन नहीं कर सकते
अर्थात् विचार करनेपर वे निःसार जान पड़ते हैं, वास्तवमें वे वाक्य दुष्ट पुरुषोंके बनाये हुए

१ भरतः । २ निःश्रेयसं मोक्ष उदकम् उत्तरफलं यासु ताः । ३ मोक्षहेतून् । निःश्रेयसीः ल० ।
४ व्रताधिकरणं प०, द०, ल० । ५ सकलनिवृत्त्येकदेशनिवृत्तिः । ६ तन्महाशत्रुताभिमुखस्य ।
७ दीक्षाम् । ८ अनुगता । ९ षण्णामष्टकं षडष्टकम् अष्टोत्तरचत्वारिंशत् इत्यर्थः । १० महाप्राज्ञा
ल०, द० । ११ निर्दोषम् । १२ हेयानि प्रतिभाति माम् इ०, स०, अ० । हतानि प्रतिभाति माम्
ल०, द० । १३ वेदसम्बन्धीनि । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नातः' इत्यभिधानात् । १४ दुष्टैः कथितानि ।
१५ प्रसिद्धान्यपि । तानि वै ल० ।

इति पृष्ठवते तस्मै व्याचष्टे स^१ विंशंवरः । तथ्यं मुक्तिपथं धर्मं विचारपरिनिष्ठितम् ॥११॥

विद्धि सत्योद्यमाप्तीयं वचः श्रेयोऽनुशासनम् । अनाप्तोपज्ञमन्यस्तु वचो वाङ्मलमेव तत् ॥१२॥

विरागः सर्ववित् सार्वः सूक्तसूनुतपूतवाक् । आप्तः सन्मार्गदेशी यस्तदाभासास्ततोऽपरै^३ ॥१३॥

रूपतेजोगुणस्थानध्यानलक्ष्म्यनुवर्तिभिः^४ । काङ्क्ष्यता विजयज्ञानदृष्टिवीर्यसुखामृतैः ॥१४॥

प्रकृष्टो यो गुणैरेभिः चक्रिकल्पा^५धिपादिषु । स आप्तः स च सर्वज्ञः स लोकपरमेश्वरः ॥१५॥

ततः^६ श्रेयोऽधिना श्रेयं मतमाप्तप्रणेतृकम् । अव्याहतमनालीढपूर्व^७ सर्वज्ञमानिभिः ॥१६॥

हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैतं^८ वीप्तं गम्भीरशासनम् । अल्पाक्षरमसन्दिग्धं वाक्यं स्वायम्भुवं विदुः ॥१७॥

इतश्च^९ तत्प्रमाणं स्यात् श्रुतमन्त्रक्रियादयः । पदार्थाः सुस्थितास्तत्र^{१०} यतो नान्यमतोचिता ॥१८॥

यथाक्रममतो ब्रूमः तान्पदार्थान्^{११} प्रपञ्चतः । यैः^{१२} सन्तिः कृष्यमाणाः^{१३} स्युः दुःस्थिताः परसूक्तयः^{१४} ॥१९॥

वेदः पुराणं स्मृतयः चारित्रं च क्रियाविधिः । मन्त्राश्च देवतालिङ्गम् आहाराद्याश्च शुद्धयः ॥२०॥

एतेऽर्थाः^{१५} यत्र तत्त्वेन प्रणीताः परमर्षिणा । स धर्मः स च सन्मार्गः तदाभासाः स्युरन्यथा ॥२१॥

हैं ॥१०॥ इस प्रकार पूछनेवाले उस भव्य पुरुषके लिये, महाज्ञानी मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्य सत्य, विचारसे परिपूर्ण तथा मोक्षके मार्गस्वरूप धर्मका व्याख्यान करते हैं ॥११॥ वे कहते हैं—हे भव्य, मोक्षका उपदेश देनेवाले आप्तके वचनको ही तू सत्य वचन मान और इसके विपरीत जो वचन आप्तका कहा हुआ नहीं है उसे केवल वाणीका मल ही समझ ॥१२॥ जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, सबका कल्याण करनेवाला है, जिसके वचन समीचीन, सत्य और पवित्र हैं, तथा जो उत्कृष्ट-मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला है वह आप्त कहलाता है, इनसे भिन्न सभी आप्ता-भास हैं अर्थात् आप्त न होनेपर भी आप्तके समान मालूम होते हैं ॥१३॥ जो रूप, तेज, गुण-स्थान, ध्यान, लक्षण, ऋद्धि, दान, सुन्दरता, विजय, ज्ञान, दृष्टि, वीर्य और सुखामृत इन गुणोंसे चक्रवर्ती तथा इन्द्रादिकोंसे भी उत्कृष्ट है वही आप्त है, सर्वज्ञ है और समस्त लोकोंका परमेश्वर है ॥१४-१५॥ इसलिये जो आप्तका कहा हुआ है, जिसका कोई खण्डन नहीं कर सकता और अपने आपको सर्वज्ञ माननेवाले पुरुष जिसका स्पर्श भी नहीं कर सके हैं ऐसा जैन मत है । कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके लिये कल्याणकारण है ॥१६॥ जो युक्ति तथा आगमसे युक्त है, अनुपम है, देदीप्यमान है, जिसका शासन गंभीर है, जो अल्पाक्षर वाला है और जिसके पढ़नेसे किसी प्रकारका संदेह नहीं होता ऐसा वाक्य ही अरहन्त भगवान्का कहा हुआ कहलाता है ॥१७॥ चूंकि अरहन्तदेवके मतमें अन्य मतोंमें नहीं पाये जानेवाले शास्त्र, मंत्र तथा क्रिया आदि पदार्थोंका अच्छी तरह निरूपण किया गया है इसलिये वह प्रमाणभूत है ॥१८॥ हे वत्स, मैं यथाक्रमसे विस्तारके साथ अपदार्थोंका निरूपण करता हूं क्योंकि उन पदार्थोंके समीप आनेपर अन्य मतोंके वचन दुष्ट जान पड़ते हैं ॥१९॥ जिसमें वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रियाओंकी विधि, मन्त्र, देवता, लिङ्ग और आहार आदिकी शुद्धि इन पदार्थों का यथार्थ रीतिसे परमर्षियोंने निरूपण किया है वही धर्म है और वही समीचीन मार्ग है । इसके

१ योगीन्द्रः । २ सत्यवचनम् । ३ एवंविधलक्षणादन्ये । ४ लक्ष्मद्विदतिभिः अ०, प०, द०, स०, इ०, ल० । ५ कान्तता अ०, प०, इ०, स०, द०, ल० । आदरणीयता । ६ इन्द्र । ७ ततः कारणात् । ८ पूर्वस्मिन्ननालीढमपृष्टम् । ९ युक्त्यागमपरमागमाभ्यां कलितः । १० अद्वितीयम् । ११ आप्तवचनतः । १२ मतम् । १३ मते । १४ विस्तरतः । १५ पदार्थैः । १६ निघर्षणं क्रियमाणाः । समीपं गम्यमाना वा । १७ कुतीर्थ्यसूचकाः । १८ पदार्थाः ।

भूतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषम् । हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥२२॥
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद् वधनिषेधं यत् । वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥२३॥
सायणविरतिवृत्तम् आर्यवट्कर्मलक्षणम् । चातुराश्रम्यवृत्तं तु परोक्तमसदञ्जसा ॥२४॥
क्रियागर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ताः परोदिताः । आधानादिश्मशानान्ता न ताः सम्यक्क्रिया मताः ॥२५॥
मन्वास्त एव धर्म्याः स्युः ये क्रियासु नियोजिताः । दुर्मन्वास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिभारणे ॥२६॥
विश्वेश्वरादयो ज्ञेया वेद्यताः शान्तिहेतवः । क्रूरास्तु देवता हेया यासां स्याद् वृत्तिरामिषः ॥२७॥
निर्वाणसाधनं यत् स्यात्तल्लिङ्गं जिनदेशितम् । एणाजिनादिचिह्नं तु कुलिङ्गं तद्वि वैकृतम् ॥२८॥
स्यान्निरामिषभोजित्वं शुद्धिराहारगोचरा । सर्वङ्कपास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिनः ॥२९॥
अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद् ये निःसङ्गा दयालवः । रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः ॥३०॥
कामशुद्धिर्मता तेषां विकामा ये जितेन्द्रियाः । सन्तुष्टाश्च स्वदारेषु शेषाः सर्वे विडम्बकाः ॥३१॥
इति शुद्धं मतं यस्य विचारपरिनिष्ठितम् । स एवाप्तस्तदुच्यते १० धर्मः श्रेयो हितार्थिनाम् ॥३२॥

सिवाय सब धर्माभास तथा मार्गाभास हैं ॥२०-२१॥ जिसके बारह अंग हैं, जो निर्दोष हैं और जिसमें श्रेष्ठ आचरणोंका विधान है ऐसा शास्त्र ही वेद कहलाता है, जो हिंसाका उपदेश देनेवाला वाक्य है वह वेद नहीं है उसे तो यमराजका वाक्य ही समझना चाहिये ॥२२॥ पुराण और धर्मशास्त्र भी वही हो सकता है जो हिंसाका निषेध करनेवाला है । इसके विपरीत जो पुराण अथवा धर्मशास्त्र हिंसाका उपदेश देते हैं उन्हें धूर्तोंका बनाया हुआ समझना चाहिये ॥२३॥ पापारम्भके कार्योंसे विरक्त होना चारित्र कहलाता है । वह चारित्र आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मरूप है । इसके सिवाय अन्य लोगोंने जो ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों का चारित्र निरूपण किया है वह वास्तवमें बुरा है ॥२४॥ क्रियाएं जो गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यन्त पहले कही जा चुकी हैं वे ही समझनी चाहिये, इनके सिवाय गर्भसे मरणपर्यन्त जो क्रियाएं अन्य लोगोंने कही हैं वे ठीक नहीं मानी जा सकतीं ॥२५॥ जो गर्भाधानादि क्रियाओं में उपयुक्त होते हैं वे ही मन्त्र धार्मिक मन्त्र कहलाते हैं किन्तु जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें प्रयुक्त होते हैं उन्हें यहां दुर्मन्त्र अर्थात् छोटे मन्त्र समझना चाहिये ॥२६॥ शान्तिको करनेवाले तीर्थ-कर आदि ही देवता हैं । इनके सिवाय जिनकी मांससे वृत्ति है वे दुष्ट देवता छोड़ने योग्य हैं ॥२७॥ जो साक्षात् मोक्षका कारण है ऐसा जनेन्द्रदेवका कहा हुआ निर्ग्रन्थपना ही सच्चा लिङ्ग है । इसके सिवाय मृगचर्म आदिको चिह्न बनाना यह कुलिङ्गियोंका बनाया हुआ कुलिङ्ग है ॥२८॥ मांसरहित भोजन करना आहार-विषयक शुद्धि कहलाती है । जो मांसभोजी हैं उन्हें सर्वघाती समझना चाहिये ॥२९॥ अहिंसा शुद्धि उनके होती है जो परिग्रहरहित हैं और दयालु हैं, परन्तु जो पशुओंकी हिंसा करनेमें तत्पर रहते हैं वे दुष्ट अभिप्रायवाले शुद्ध नहीं हैं ॥३०॥ जो कामरहित जितेन्द्रिय मुनि हैं उन्हींके कामशुद्धि मानी जाती है अथवा जो गृहस्थ अपनी स्त्रियोंमें संतोष रखते हैं उनके भी कामशुद्धि मानी जाती है परन्तु इनके सिवाय जो अन्य लोग हैं वे केवल विडम्बना करनेवाले हैं ॥३१॥ इस प्रकार विचार करनेपर जिसका मत शुद्ध हो वही आप्त कहला सकता है और उसीके द्वारा कहा हुआ धर्म हित चाहनेवाले लोगोंको कल्याणकारी हो सकता है ॥३२॥ वह भव्य उन उत्तम उपदेशकसे इस प्रकारका उपदेश

१ यमस्य वचनम् । २ धर्मशास्त्रम् । ३ इज्यावार्तादित्तिस्वाध्यायसंयमतपोरूप । ४ ब्रह्म-
चर्यादिवचातुराश्रमे भव । ५ निश्चयेन । ६ परोदिताः ६०, ल०, अ०, प०, इ० । ७ कुष्णाजिन ।
८ तद्विधैः कृतम् प०, ल०, द० । ९ सकलविनाशका इत्यर्थः । १० तत्परोक्तः ।

श्रुत्वेति देशनां तस्माद् भव्योऽसौ देशकोत्तमात् । सन्मार्गे मतिमाधत्ते दुर्मार्गरतिमुत्सृजन् ॥३३॥

गुरुर्जनयिता^१ तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः । तदा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना^२ ॥३४॥

अवतारक्रियाऽस्यैवा गर्भाधानब्रदिष्यते । यतो^३ जन्मपरिप्राप्तिः उभयत्र^४ न विद्यते ॥३५॥

इत्यवतारक्रिया ।

ततोऽस्य वृत्तलाभः स्यात् तदेव गुरुपादयोः । प्रणतस्य व्रतघातं^५ "विधानेनोपसेदुषः" ॥३६॥

इति वृत्तलाभः ।

(ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरःसरः । स्थानलाभो भवेदस्य "तत्रायमुचितो विधिः ॥३७॥

जिनालये शुचौ रङ्गो पद्ममण्डलं लिखेत् । विलिखेद् वा जिनास्थानमण्डलं समवृत्तकम् ॥३८॥

इलक्षेण पिण्डचूर्णेन "सलिलालोडितेन वा । वर्तनं" मण्डलस्येष्टं चन्द्रनादिद्रव्येण वा ॥३९॥

तस्मिन्मण्डले पद्मे जने वाऽऽस्थानमण्डले । विधिना लिखिते तज्जन्विष्वग्विबरचितार्चने ॥४०॥

जिनार्चाभिमुखं सूरिः विधिनैतं निवेशयेत् । तत्रोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥४१॥

"पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकम्"^६ । पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषा च लम्भयेत्^७ ॥४२॥

ततः पञ्चनमस्कारपदान्यस्मा उपदिशेत्^८ । मन्त्रोऽयमखिलात् "पापास्त्वां पुनीता"^९दितोरयन्^{१०} ॥४३॥

कृत्वाविधिनिर्गमं पश्चात् पारणाय त्रिसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात् सोऽपि सम्प्रीतः स्वगृहं व्रजेत् ॥४४॥

इति स्थानलाभः ।

सुनकर मिथ्यामार्गमें प्रेम छोड़ता हुआ समीचीन मार्गमें अपनी बुद्धि लगाता है ॥३३॥ उस समय गुरु ही उसका पिता है और तत्त्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है । वह भव्य पुरुष धर्म रूप जन्मके द्वारा उस तत्त्वज्ञानरूपी गर्भमें अवतीर्ण होता है ॥३४॥ इसकी यह क्रिया गर्भाधानक्रियाके समान मानी जाती है क्योंकि जन्मकी प्राप्ति दोनों ही क्रियाओंमें नहीं है ॥३५॥ इस प्रकार यह पहली अवतारक्रिया है ।

तदनन्तर—उसी समय गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करते हुए और विधिपूर्वक व्रतोंके समूहको प्राप्त होते हुए उस भव्यके वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया होती है ॥३६॥ यह वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया है ।

तत्पश्चात् जिसने उपवास किया है ऐसे उस भव्यके पूजाकी विधिपूर्वक स्थानलाभ नामकी तीसरी क्रिया होती है । इस क्रियामें यह विधि करना उचित है ॥३७॥ जिनालयमें किसी पवित्र स्थानपर आठ पांखुरीका कमल बनावे अथवा गोलाकार समवसरणके मंडलकी रचना करे ॥३८॥ इस कमल अथवा समवसरणके मण्डलकी रचना पानी मिले हुए महीन चूर्णसे अथवा घिसे हुए चन्दन आदिसे करनी चाहिये ॥३९॥ उस विषयके जानकार विद्वानोंके द्वारा लिखे हुए उस अष्टदलकमल अथवा जिनेन्द्र भगवान्के समवसरणमण्डलकी जब सम्पूर्ण पूजा हो चुके तब आचार्य उस भव्य पुरुषको जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके सन्मुख बैठावे और बार बार उसके मस्तकको स्पर्श करता हुआ कहे कि यह तेरी श्रावककी दीक्षा है ॥४०—४१॥ पञ्चमुष्टिकी रीतिसे उसके मस्तकका स्पर्श करे तथा 'तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ' इस प्रकार कहकर उससे पूजाके बच्चे हुए शेषाक्षत ग्रहण करावे ॥४२॥ तत्पश्चात् 'यह मन्त्र तुझे समस्त पापोंसे पवित्र करे' इस प्रकार कहता हुआ उसे पञ्च नमस्कार मन्त्रका उपदेश करे ॥४३॥ यह विधि करके आचार्य उसे

१ पिता । २ धर्म एव जन्म तेन । ३ यस्मात् कारणात् । ४ गर्भाधानावतारयोः । ५ व्रतविचरणेशास्त्रोक्तविधिना । ६ उपगतस्य । ७ स्थानलाभे । ८ जलमिश्रितेन वा । ९ उद्धरणम् । १० पञ्चगुरुमुद्राविधानेन । ११ मूर्ध्नि । १२ प्रापयेत् । १३ अस्मै उपदेशं कुर्यात् । १४ दुष्कृतात् अपसार्य । १५ पवित्रं कुर्यात् । १६ ब्रुवन् ।

‘निदिष्टस्थानलाभस्य पुनरस्य गणग्रहः । स्थान्मिथ्यादेवताः स्वस्माद् विनिःसारयतो गृहात् ॥४५॥

इयन्तं कालमज्ञानात् पूजिताः स्थ^१ कृताद्वरम् । पूज्यास्त्विदानीमस्माभिः अस्मत्समयदेवताः ॥४६॥

‘ततोऽपमू^२षितेनालम् अन्यत्र स्वरमास्यताम् । इति ‘प्रकाशमेवंतान् नीत्वाऽन्यत्र क्वचित्पुजेत् ॥४७॥

गणग्रहः स एव स्यात् प्राप्तनं देवताङ्गणम् । विसृज्यार्चयतः शान्ता देवताः ‘समयोचिताः ॥४८॥

इति ग्रहणक्रिया ।

पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा । पूजोपवाससम्पत्त्या श्रृण्वतोऽङ्गार्थसङ्ग्रहम् ॥४९॥

इति पूजाराध्यक्रिया ।

ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी । श्रृण्वतः पूर्व^३विद्यानाम् अर्थं सत्रह्यचारिणः ॥५०॥

इति पुण्ययज्ञक्रिया ।

तथाऽस्य दृढचर्या स्यात् क्रिया स्वसमयश्रुतम् । निष्ठाप्य^४ श्रृण्वतो ग्रन्थान् बाह्यान्त्यांश्च कांश्चन ॥५१॥

इति दृढचर्याक्रिया ।

दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता । ‘पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिमायोगधारणम् ॥५२॥

इति उपयोगिताक्रिया ।

पारणाके लिये विदा करे और वह भव्य भी गुरुके अनुग्रहसे संतुष्ट होता हुआ अपने घर जावे ॥४४॥ यह तीसरी स्थानलाभ क्रिया है ।

जिसके लिये स्थानलाभकी क्रियाका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसा भव्य पुरुष जब मिथ्यादेवताओंको अपने घरसे बाहर निकालता है तब उसके गणग्रह नामकी क्रिया होती है ॥४५॥ उस समय वह उन देवताओंसे कहता है कि ‘मैंने अपने अज्ञानसे इतने दिनतक आदरके साथ आपकी पूजा की परन्तु अब अपने ही मतके देवताओंकी पूजा करूंगा इसलिये क्रोध करना व्यर्थ है । आप अपनी इच्छानुसार किसी दूसरी जगह रहिये ।’ इस प्रकार प्रकट रूपसे उन देवताओंको ले जाकर किसी अन्य स्थानपर छोड़ दे ॥४६-४७॥ इस प्रकार पहले देवताओंका विसर्जन कर अपने मतके शान्त देवताओंकी पूजा करते हुए उस भव्यके यह गणग्रह नामकी चौथी क्रिया होती है ॥४८॥ यह चौथी गणग्रह क्रिया है ।

तदनन्तर पूजा और उपवासरूप सम्पत्तिके साथ साथ अंगोंके अर्थसमूहको सुननेवाले उस भव्यके पूजाराध्या नामकी प्रसिद्ध क्रिया होती है । भावार्थ—जिनेन्द्रदेवकी पूजा तथा उपवास आदि करते हुए द्वादशाङ्गका अर्थ सुनना पूजाराध्य क्रिया कहलाती है ॥४९॥ यह पांचवीं पूजाराध्य क्रिया है ।

तदनन्तर साधर्मी पुरुषोंके साथ साथ चौदह पूर्वविद्याओंका अर्थ सुननेवाले उस भव्यके पुण्यको बढ़ानेवाली पुण्ययज्ञा नामकी भिन्न क्रिया होती है ॥५०॥ यह छठवीं पुण्ययज्ञा क्रिया है ।

इस प्रकार अपने मतके शास्त्र समाप्त कर अन्य मतके ग्रन्थों अथवा अन्य किन्हीं दूसरे विषयोंको सुननेवाले उस भव्यके दृढचर्या नामकी क्रिया होती है ॥५१॥ यह दृढचर्या नामकी सातवीं क्रिया है ।

तदनन्तर जिसके व्रत दृढ़ हो चुके हैं ऐसे पुरुषके उपयोगिता नामकी क्रिया होती है ।

१ उपदेशित । २ भव्य । ३ ततः कारणात् । ४ ईर्ष्या क्रोधेन वा । ५ प्रकटं यथा भवति तथा । ६ निजमत । ७ द्वादशाङ्गसम्बन्धिद्रव्यसंग्रहादिकम् । ८ चतुर्दशविद्यानां सम्बन्धिनम् । ९ सहाध्यायिसहितस्य । ‘एकब्रह्मव्रताचारा मिथः सत्रह्यचारिणः ।’ इत्यभिधानात् । १० सम्पूर्णमधीत्य । ११ पर्वोपवासरान्नावित्यर्थः ।

क्रियाफलापेनोक्तेन शुद्धिमस्योपविभूतः । उपनीतिरनूचानयोग्यलिङ्गग्रहो भवेत् ॥५३॥
 उपनीतिर्हि वेषस्य वृत्तस्य समयस्य च । देवतागुरुसाक्षि स्याद् विधिवत्प्रतिपालनम् ॥५४॥
 शुक्लवस्त्रोपवीतादिधारणं वेष उच्यते । श्राव्यषट्कर्मजीवित्वं वृत्तमस्य प्रचक्षते ॥५५॥
 जैनोपासकदीक्षा स्यात् समयः समयोचितम् । दधतो गोत्रजात्यादि नामान्तरभूतः परम् ॥५६॥

इत्युपनीतिक्रिया ।

(ततोऽयमुपनीतः सन् व्रतचर्या समाश्रयेत् । सूत्रमोपासकं सम्यग् अभ्यस्य ग्रन्थतोऽर्थतः ॥५७॥
 इति व्रतचर्याक्रिया ।

व्रतावतारणं तस्य भूयो भूषादिसङ्ग्रहः । भवेदधोतविद्यस्य यथावद्गुरुसन्निधौ ॥५८॥

इति व्रतावतरणक्रिया ।

विवाहस्तु भवेदस्य नियुञ्जानस्य दीक्षया । सुव्रतोचितया सम्यक् स्वां धर्मसहचारिणीम् ॥५९॥

पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वः सर्वोऽस्य सम्मतः । सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य पत्न्याः संस्कारमिच्छतः ॥६०॥

इति विवाहक्रिया ।

पर्वके दिन उपवासके अन्तमें अर्थात् रात्रिके समय प्रतिमायोग धारण करना उपयोगिता क्रिया कहलाती है ॥५२॥ यह उपयोगिता नामकी आठवीं क्रिया है ।

ऊपर कहे हुए क्रियाओंके समूहसे शुद्धिको धारण करनेवाले उस भव्यके उत्कृष्ट पुरुषोंके योग्य चिह्नको धारण करनेरूप उपनीति क्रिया होती है ॥५३॥ देवता और गुरुकी साक्षीपूर्वक विधिके अनुसार अपने वेष, सदाचार और समयकी रक्षा करना उपनीति क्रिया कहलाती है ॥५४॥ सफेद वस्त्र और यज्ञोपवीत आदि धारण करना वेष कहलाता है, आर्योंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मोंके करनेको वृत्त कहते हैं और इसके बाद अपने शास्त्रके अनुसार गोत्र जाति आदिके दूसरे नाम धारण करनेवाले पुरुषके जो जैन श्रावककी दीक्षा है उसे समय कहते हैं ॥५५-५६॥ यह उपनीति नामकी नौवीं क्रिया है ।

तदनन्तर यज्ञोपवीतसे युक्त हुआ भव्य पुरुष शब्द और अर्थ दोनोंसे अच्छी तरह उपासका-ध्ययनके सूत्रोंका अभ्यास कर व्रतचर्या नामकी क्रियाको धारण करे । भावार्थ—यज्ञोपवीत धारण कर उपासकाध्ययनाङ्ग (श्रावकाचार) का अच्छी तरहसे अभ्यास करते हुए व्रतादि धारण करना व्रतचर्या नामकी क्रिया है ॥५७॥ यह दसवीं व्रतचर्या क्रिया है ।

जिसने समस्त विद्याएं पढ़ ली हैं ऐसा श्रावक जब गुरुके समीप विधिके अनुसार फिरसे आभूषण आदि ग्रहण करता है तब उसके व्रतावतरण नामकी क्रिया होती है ॥५८॥ यह व्रतावतरण नामकी ग्यारहवीं क्रिया है ।

जब वह भव्य अपनी पत्नीको उत्तम व्रतोंके योग्य श्रावककी दीक्षासे युक्त करता है तब उसके विवाह नामकी क्रिया होती है ॥५९॥ अपनी पत्नीके संस्कार चाहने वाले उस भव्यके उसी स्त्रीके साथ फिरसे विवाह संस्कार होता है और उस संस्कारमें सिद्ध भगवान्की पूजाको आदि लेकर पहले कहीं हुई समस्त विधि करनी चाहिये ॥६०॥ यह बारहवीं विवाहक्रिया है ।

१ क्रियासमूहेन । २ प्रवचने साङ्गोऽधीती । ३ यज्ञोपवीत । 'उपवीत' यज्ञसूत्रं प्रोद्धृतं दक्षिणे करे' । ४ व्रतावतरणम् ल० । ५ धर्मपत्नीम् । ६ गर्भान्वयक्रियासु प्रोक्तः । ७ जिनदर्शनस्वीकारात् प्राग्विवाहितभार्यायाः ।

वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात् सम्बन्धं^१ संविधिततः^२ । ^३समानाजीविभिलब्ध^४वर्णैरन्यैरुपासकैः ॥६१॥
चतुरः^५ श्रावकज्येष्ठान् ग्राह्य कृतसत्क्रियान् । तान् ब्रूयादस्यनुग्राह्यो भवद्भिः स्वसमीकृतः^६ ॥६२॥
यूयं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकपूजिताः । ग्रहं च कृतदीक्षोऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ॥६३॥
मया तु चरितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनाम् । दत्तान्यपि च दानानि कृतं च गुरुपूजनम् ॥६४॥
अयोनिस्तम्भं जन्म लब्ध्वाहं गुर्वनुग्रहात् । चिरभावितामुत्सृज्य प्राप्तो वृत्तमभावितम्^७ ॥६५॥
व्रतसिद्ध्यर्थमेवाहम् उपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् । कृतविद्यश्च जातोऽस्मि ^८स्वग्रीतोपासकश्रुतः^९ ॥६६॥
व्रतावतरणस्यान्ते^{१०} स्वीकृताभरणोऽस्म्यहम् । पत्नी च संस्कृताऽऽत्मीया कृतपाणिग्रहा पुनः ॥६७॥
एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो भवोचितः । सुलभः सोऽपि युष्माकम् अनुज्ञानात् सधर्मेणाम् ॥६८॥
इत्युक्तास्ते च तं सत्यम् एवमस्तु समञ्जसम्^{११} । त्वयोक्तं श्लाघ्यमेवैतत् कोऽन्यस्त्वत्सदृशो द्विजः ॥६९॥
युष्मादृशमलाभे तु मिथ्यादृष्टिभिरप्यमा । समानाजीविभिः कर्तुं सम्बन्धोऽभिमतो हि नः ॥७०॥
इत्युक्त्वा न समाश्वास्य वर्णलाभेन युञ्जते । विधिवत् सोऽपि तं लब्ध्वा याति तत्समकक्षताम् ॥७१॥
इति वर्णलाभक्रिया ।

वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः कुलचर्याधुनोच्यते । आर्यणदकर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्यास्य पुष्कला ॥७२॥

इति कुलचर्या ।

तदनन्तर—जिन्हें वर्णलाभ हो चुका है और जो अपने समान ही आजीविका करते हैं ऐसे अन्य श्रावकोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छा करनेवाले उस भव्य पुरुषके वर्णलाभ नामकी क्रिया होती है ॥६१॥ इस क्रियाके करते समय वह भव्य चार बड़े बड़े श्रावकोंको आदर सत्कार कर बुलावे और उनसे कहे कि आप लोग मुझे अपने समान बनाकर मेरा अनुग्रह कीजिये ॥६२॥ आप लोग संसारसे पार करनेवाले देव ब्राह्मण हैं, संसारमें पूज्य हैं और मैंने भी दीक्षा लेकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये हैं ॥६३॥ मैंने गृहस्थोंके संपूर्ण धर्मका आचरण किया है, दान भी दिये हैं और गुरुओंका पूजन भी किया है ॥६४॥ मैंने गुरुके अनुग्रहसे यौनिके बिना ही उत्पन्न होनेवाला जन्म धारण किया है, और चिर कालसे पालन किये हुए मिथ्याधर्मको छोड़कर जिसका पहले कभी चिन्तन भी नहीं किया था ऐसा सम्यक् चारित्र्य धारण किया है ॥६५॥ व्रतोंकी सिद्धिके लिये ही मैंने इस समय यज्ञोपवीत धारण किया है और श्रावकाचारका अच्छी तरह अध्ययन कर विद्वान् भी हो गया हूँ ॥६६॥ व्रतावतरण क्रियाके बाद ही मैंने आभूषण स्वीकार किये हुए हैं, मैंने अपनी पत्नीके भी संस्कार किये हैं और उसके साथ दुबारा विवाहसंस्कार भी किया है ॥६७॥ इस प्रकार व्रत धारण करनेवाले मुझको वर्णलाभकी प्राप्ति होना उचित है और वह भी आप साधर्मी पुरुषोंकी आज्ञासे सहज ही प्राप्त हो सकती है ॥६८॥ इस प्रकार कह चुकनेपर वे श्रावक कहें कि ठीक है, ऐसा ही होगा, तुमने जो कुछ कहा है वह सब प्रशंसनीय है, तुम्हारे समान और दूसरा द्विज कौन है ? ॥६९॥ आप जैसे पुरुषोंके न मिलनेपर हम लोगोंको समान जीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियों के साथ भी सम्बन्ध करना पड़ता है ॥७०॥ इस प्रकार कहकर वे श्रावक उसे आश्वासन दें और वर्णलाभसे युक्त करावें तथा वह भव्य भी विधिपूर्वक वर्णलाभको पाकर उन सब श्रावकोंकी समानताकी प्राप्ति होता है ॥७१॥ यह तेरहवीं वर्णलाभ नामकी क्रिया है ।

यह वर्णलाभ क्रिया कह चुके । अब कुलचर्या क्रिया कही जाती है । आर्य पुरुषोंके करने

१ कन्याप्रदानादानादिसम्बन्धम् । २ संविधातुमिच्छतः । ३ सदृशार्थदकर्मविवृत्तिभिः । ४ विचक्षणीः । ५ चतुःसंख्यान् । ६ युष्मत्सदृशोऽस्मि । ७ चिरकालसंस्कारितम् । ८ मिथ्यात्ववृत्तमित्यर्थः । ९ पूर्वस्मिन्नभावितम् । सद्वृत्तमित्यर्थः । १० सम्पूर्णविद्यः । ११ सुष्ठुवधीतः । १२ —सकव्रतः ल०, द० । १३ सावधीकृतकतिचिद्व्रतावतारणावसाने । १४ इष्टम् ।

विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम् । वृत्ताध्ययनसम्पत्त्या परानुग्रहणक्षमः ॥७३॥

प्रायश्चित्तविधानज्ञः श्रुतिस्मृतिपुराणवित् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तः तदा धत्ते गृहीशिताम् ॥७४॥

इति गृहीशिताक्रिया ।

ततः पूर्वबदेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नानाविधोपवासादिभावनाः समुपेयुषः ॥७५॥

इति प्रशान्तताक्रिया ।

गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद् गृहवासाद् विरज्यतः । योग्यं सूनू यथान्यायम् अनुशिष्य गृहोत्थनम् ॥७६॥

इति गृहत्यागक्रिया ।

त्यक्तागारस्य तस्यातः तपोवनमुपेयुषः । एकशटकधारित्वं प्राग्वदीक्षाद्यमिष्यते ॥७७॥

इति दीक्षाद्यक्रिया ।

ततोऽस्य जिनरूपत्वम् इष्यते त्यक्तवाससः । धारणं जातरूपस्य युक्ताचाराद् गणेशिनः ॥७८॥

इति जिनरूपता ।

क्रियाशेषास्तु निःशेषाः प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । सर्वेव प्रतिपाद्याः स्युः न भेदोऽस्थत्र कश्चन ॥७९॥

यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा भव्यः समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वाणम् अचिरात्सुखसाद्भुतम् ॥८०॥

इति दीक्षान्वयक्रिया ।

योग्य देवपूजा आदि छह कार्योमें पूर्ण प्रवृत्ति रखना कुलचर्या कहलाती है ॥७२॥ यह कुलचर्या नामकी चौदहवीं क्रिया है ।

ऊपर कहे हुए चारित्र्यसे विशुद्ध हुआ श्रावक गृहीशिता क्रियाको प्राप्त होता है । जो सम्यक्चारित्र्य और अध्ययनरूपी सम्पत्तिसे परपुरुषोंका उपकार करनेमें समर्थ है, जो प्रायश्चित्तकी विधिका जानकार है, श्रुति, स्मृति और पुराणका जानने वाला है ऐसा भव्य गृहस्थाचार्य पदको प्राप्त होकर गृहीशिता नामकी क्रियाको धारण करता है ॥७३-७४॥ यह गृहीशिता नामकी पन्द्रहवीं क्रिया है ।

तदनन्तर नाना प्रकारके उपवास आदिकी भावनाओंको प्राप्त होनेवाले उस भव्यके पहलेके समान ही प्रशान्तता नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७५॥ यह सोलहवीं प्रशान्तता क्रिया है ।

तत्पश्चात् जब वह घरके निवाससे विरक्त होकर योग्य पुत्रको नीतिके अनुसार शिक्षा देकर घर छोड़ देता है तब उसके गृहत्याग नामकी क्रिया होती है ॥७६॥ यह सत्रहवीं गृहत्याग क्रिया है ।

तदनन्तर जो घर छोड़कर तपोवनमें चला गया है ऐसे भव्य पुरुषका पहलेके समान एक वस्त्र धारण करना यह दीक्षाद्य नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७७॥ यह दीक्षाद्य नामकी अठारहवीं क्रिया है ।

इसके बाद जब वह गृहस्थ वस्त्र छोड़कर किन्हीं योग्य आवरणवाले मुनिराजसे दिगम्बर रूप धारण करता है तब उसके जिनरूपता नामकी क्रिया कही जाती है ॥७८॥ यह उन्नीसवीं जिनरूपता क्रिया है ।

इनके सिवाय जो कुछ क्रियाएं बाकी रह गई हैं वे सब जिस प्रकार गर्भान्वय क्रियाओंमें कहीं गई हैं उसी प्रकार प्रतिपादन करने योग्य हैं । इनमें और उनमें कोई भेद नहीं है ॥७९॥ जो भव्य इन क्रियाओंको यथार्थरूपसे जानकर उनका पालन करता है वह सुखके आधीन होता हुआ बहुत शीघ्र निर्वाणको प्राप्त होता है ॥८०॥ इस प्रकार यह दीक्षान्वय क्रियाओंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि द्विजाः^१ कर्त्रन्वयक्रियाः । याः^२ प्रत्यासन्नमिष्टस्य भवेयुर्भव्यदेहिनः ॥८१॥
तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी । या सा^३ वासन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत् ॥८२॥
स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये । विशुद्धं लभते जन्म संवा सज्जातिरिष्यते ॥८३॥
विशुद्धकुलजात्यादिसंपत्सज्जातिरुच्यते ।^४ उदितोदितवंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती ॥८४॥
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलष्यते ॥८५॥
विशुद्धिरभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता । यत्प्राप्तौ^५ सुलभा बोधिः^६ अयत्नोप^७ नतैर्गुणैः ॥८६॥
‘सज्जन्मप्रतिलम्भोऽयम् आर्यावर्त’^८ विशेषतः । सत्यां देहादिसामग्र्यां श्रेयः सूते हि देहिनाम् ॥८७॥
शरीरजन्मना संवा सज्जातिरुपवर्णिता ।^९ एतन्मूला यतः^{१०} सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः ॥८८॥
संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते ।^{११} यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाप्नुते ॥८९॥
विशुद्धाकरसम्भूतो मणिः संस्कारयोगतः । यत्पुत्कर्षं ययाऽऽत्मेव^{१२} क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥९०॥
^{१३} सुवर्णधातुरथवा शुद्ध्येदासाद्य संस्क्रियाम् । यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यत्यासादितक्रियः ॥९१॥
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम् । यदाय लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥९२॥

अथानन्तर—हे द्विजो, मैं आगे उन कर्त्रन्वय क्रियाओंको कहता हूँ जो कि अल्पसंसारी भव्य प्राणी हीके हो सकती हैं ॥८१॥ उन कर्त्रन्वयक्रियाओंमें कल्याण करनेवाली सबसे पहली क्रिया सज्जाति है जो कि किसी निकट भव्यको मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर होती है ॥८२॥ मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर जब वह दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंशमें विशुद्ध जन्म धारण करता है तब उसके यह सज्जाति नामकी क्रिया होती है ॥८३॥ विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिरूपी संपदा सज्जाति कहलाती है । इस सज्जातिसे ही पुण्यवान् मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम उत्तम वंशोंको प्राप्त होता है ॥८४॥ पिताके वंशकी जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और माताके वंशकी शुद्धि जाति कहलाती है ॥८५॥ कुल और जाति इन दोनोंकी विशुद्धिको सज्जाति कहते हैं, इस सज्जातिके प्राप्त होनेपर बिना प्रयत्नके सहज ही प्राप्त हुए गुणोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है ॥८६॥ आर्यखण्डकी विशेषतासे सज्जातित्वकी प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्री मिलनेपर प्राणियोंके अनेक प्रकारके कल्याण उत्पन्न करती है । भावार्थ—यदि आर्यखण्डके विशुद्ध वंशोंमें जन्म हो और शरीर आदि योग्य सामग्रीका सुयोग प्राप्त हो तो अनेक कल्याणोंकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है ॥८७॥ यह सज्जाति उत्तम शरीर के जन्मसे ही वर्णन की गई है क्योंकि पुरुषोंके समस्त इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिका मूलकारण यही एक सज्जाति है ॥८८॥ संस्काररूप जन्मसे जो सज्जातिका वर्णन किया जाता है वह दूसरी ही सज्जाति है उसे पाकर भव्य जीव द्विजन्मपनेको प्राप्त होता है ॥८९॥ जिस प्रकार विशुद्ध खानमें उत्पन्न हुआ रत्न संस्कारके योगसे उत्कर्षको प्राप्त होता है उसी प्रकार क्रियाओं और मंत्रोंसे सुसंस्कारको प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त हो जाता है ॥९०॥ अथवा जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम संस्कारको पाकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार भव्य जीव उत्तम क्रियाओंको पाकर शुद्ध हो जाता है ॥९१॥ वह संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है, सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, जिस समय वह पुण्यवान् भव्य साक्षात् सर्वज्ञ देवके मुखसे उस उत्तम ज्ञान-

१ भो विप्राः । २ प्रत्यासन्नमोक्षस्य । ३ सा वासन्न-ल० । ४ उत्तरोत्तराभ्युदयवदन्वयत्वम् । ५ यत् सज्जातौ प्राप्ता सत्याम् । ६ रत्नत्रयप्राप्तिः । ७ उपागतैः । ८ सज्जातिपरिप्राप्तिः । ९ आर्यखण्ड । ‘आर्यावर्तः पुण्यभूमिरित्यभिधानात् । १० एषा सज्जातिर्मूलं कारणं यासां ताः । ११ यतः कारणात् । १२ संस्कारजन्मसज्जातिम् । १३ उत्कर्षं याति । १४ सुवर्णपाषाणः ।

तदेष परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना । जातो भवेद् द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥९३॥
 व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं^१ मन्त्रपुरःसरम् । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पितम् ॥९४॥
 यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यतस्त्रिगुणात्मकम् । सूत्रमौपासिकं^२ तु स्याद् 'भावाखण्डस्त्रिभिर्गुणैः'^३ ॥९५॥
 यदैव लब्धसंस्कारः परं^४ ब्रह्माधिगच्छति । तदैवमभिनन्द्याशीर्बचोभिर्गणनायकाः^५ ॥९६॥
 'लम्भयन्तु चित्तां शेषां जैनीं पुष्पैरथाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं'^६ परम् ॥९७॥
 अयोनिसम्भवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवं । सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्यभवेत् ॥९८॥
 ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृह्णित्वमसौ भजेत् । गृहमेधीभवन्नायं षट्कर्माभ्यन्तुपालयन् ॥९९॥
 यदुक्तं गृहचर्यायाम् अनुष्ठानं विशुद्धिमत् । तदाप्तबिहितं कृत्स्नम् अतन्नालुः समाचरेत्^७ ॥१००॥
 जिनेन्द्रललब्धसज्जन्मा गणेन्द्रैरनुशिखितः । स घत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं^८ द्विजसत्तमः ॥१०१॥
 तमेनं धर्मसाङ्गुतं^९ इत्याचन्ते धामिकाः जनाः । परं तेज इव ब्राह्मणं^{१०} अवतीर्णं महोत्तमम् ॥१०२॥
 स यजन्^{११} याजयन्^{१२} धीमान् यजमाने^{१३} रूपासितः^{१४} । अध्यापयन्नधीमानो^{१५} 'वेदवेदाङ्गविस्तरम् ॥१०३॥

को प्राप्त करता है उस समय वह उत्कृष्ट ज्ञानरूपी गर्भसे संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है और व्रत तथा शीलसे विभूषित होकर द्विज कहलाता है ॥९२-९३॥ सर्वज्ञ देवकी आज्ञा-को प्रधान माननेवाला वह द्विज जो मन्त्रपूर्वक सूत्र धारण करता है वही उसके व्रतोंका चिह्न है, वह सूत्र द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥९४॥ तीन लरका जो यज्ञोपवीत है वह उसका द्रव्यसूत्र है और हृदयमें उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूपी गुणोंसे बना हुआ जो श्रावकका सूत्र है वह उसका भावसूत्र है ॥९५॥ जिस समय वह भव्य जीव संस्कारोंको पाकर परम ब्रह्मको प्राप्त होता है उस समय आचार्य लोग आशीर्वादरूप वचनोंसे उसकी प्रशंसा कर उसे पुष्प अथवा अक्षतोंसे जिनेन्द्र भगवान्की आशिषिका ग्रहण कराते हैं अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजासे बचे हुए पुष्प अथवा अक्षत उसके शिर आदि अंगोंपर रखवाते हैं क्योंकि यह एक प्रकारका स्थिरीकरण है और धर्ममें अत्यन्त उत्साह बढ़ानेवाला है ॥९६-९७॥ इस प्रकार जब वह भव्य जीव बिना योनिके प्राप्त हुए दिव्यज्ञानरूपी गर्भसे उत्पन्न होनेवाले उत्कृष्ट जन्मको प्राप्त होता है तब वह सज्जातिको धारण करनेवाला समझा जाता है ॥९८॥ यह सज्जाति नामकी पहली क्रिया है ।

तदनन्तर जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुई है ऐसा वह भव्य सद्गृह्णित्व क्रियाको प्राप्त होता है इस प्रकार जो सद्गृहस्थ होता हुआ आर्य पुरुषोंके करने योग्य छह कर्मोंका पालन करता है, गृहस्थ अवस्थामें करने योग्य जो जो विशुद्ध आचरण कहे गये हैं अरहन्त भगवान्के द्वारा कहे हुए उन उन समस्त आचरणोंका जो आलस्य-रहित होकर पालन करता है, जिसने श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्तम जन्म प्राप्त किया है और गणेशदेवने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज-आत्मतेजको धारण करता है ॥९९-१०१॥ उस समय धर्मस्वरूप हुए उस भव्यकी अन्य धर्मत्तिमा लोग यह कहते हुए प्रशंसा करते हैं कि तू पृथिवीतलपर अवतीर्ण हुआ उत्कृष्ट ब्रह्मतेजके समान है ॥१०२॥ पूजा करनेवाले यजमान जिसकी पूजा करते हैं, जो स्वयं पूजन करता है, और दूसरोंसे भी कराता

१ यज्ञसूत्रम् । २ उपासकाचारसम्बन्धि । ३ मनसा विकल्पितः । ४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यैः । उपलब्धि-उपयोगसंस्कारैर्वा । ५ परमज्ञानम्, परमतपो वा । ६ आचार्याः । ७ प्रापयन्ति । ८ प्रवर्तनम् । ९ समाचरन् द०, अ०, ल०, प०, इ०, स० । १० वृत्ताध्ययनसम्पत्तिम् । 'स्याद् ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनद्विः' इत्यभिधानात् । ११ ज्ञानसम्बन्धयुत्कृष्टतेज इव । १२ यजनं कुर्वन् । १३ यजनं कारयन् । १४ पूजाकारकैः । १५ आराधितः । १६ अध्ययनं कारयन् । १७ आगम-आगमाङ्ग ।

स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो बोधैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्याद् इहैवाभ्यर्चितैर्गुणैः ॥१०४॥
 नाणिमा महिमेवास्य गरिमैव न लाघवम् । प्राप्तिः प्राकान्यमोशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥१०५॥
 गुणैरेभिरुपाख्यमहिमा देवसाद्भवम्^१ । विभूत्लोकातिर्गं धाम मह्यामेष महीयते ॥१०६॥
 धर्मैराचरितैः सत्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वस्मिन् सम्भावयत्यसौ ॥१०७॥
 अथ जातिमदावेशात् कश्चिदेनं द्विजश्रुवः । ब्रूयादेवं किमद्यैव देवभूय^२ गतो भवान् ॥१०८॥
 त्वमाप्नुष्यायणः^३ किञ्च किन्तेऽम्बाऽमुष्य पुत्रिका^४ । येनैवमुन्नतो^५ भूत्वा यास्यसत्कृत्य मद्रिधान् ॥१०९॥
 जातिः सैव कुलं तच्छ सोऽसि योऽसि प्रगेतनः^६ । तथापि देवतात्मानम् आत्मानं मन्यते भवान् ॥११०॥
 देवतातिथिपित्रग्निकार्येष्वप्रयतो^७ भवान् । गुरुद्विजातिदेवानां प्रणामाच्च पराङ्मुखः ॥१११॥
 दीक्षां जैनीं प्रपन्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव । यतोऽद्यापि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन् ॥११२॥
 इत्युपाख्यसंरम्भम्^८ उपालब्धः^९ स केनचित् । ददात्युत्तरमित्यस्मै वचोभिर्युक्तिपेशलैः^{१०} ॥११३॥
 श्रूयतां भो द्विजमन्य त्वयाऽस्मद्विष्यसम्भवः^{११} । जिनो^{१२} जनयिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः ॥११४॥

है, जो वेद और वेदाङ्गके विस्तारको स्वयं पढ़ता है तथा दूसरोंको भी पढ़ाता है, जो यद्यपि पृथिवीका स्पर्श करता है तथापि पृथिवीसम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं, जो अपने प्रशंसनीय गुणोंसे इसी पर्यायमें देवपर्यायको प्राप्त होता है, जिसके अणिमा ऋद्धि अर्थात् छोटापन नहीं है किन्तु महिमा अर्थात् बड़प्पन है, जिसके गरिमाऋद्धि है परन्तु लघिमा नहीं है, जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओंके गुण विद्यमान हैं, उपर्युक्त गुणोंसे जिसकी महिमा बढ़ रही है, जो देवरूप हो रहा है और लोकको उल्लंघन करनेवाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है ऐसा यह भव्य पृथिवीपर पूजित होता है ॥१०३-१०६॥ सत्य, शौच, क्षमा और दम आदि धर्मसम्बन्धी आचरणोंसे वह अपनेमें प्रशंसनीय देवब्राह्मणपनेकी संभावना करता है अर्थात् उत्तम आचरणोंसे अपने आपको देवब्राह्मणके समान उत्तम बना देता है ॥१०७॥

यदि अपनेको झूठमूठ ही द्विज माननेवाला कोई पुरुष अपनी जातिके अहंकारके आवेश से इस देवब्राह्मणसे कहे कि आप क्या आज ही देवपनेको प्राप्त हो गये हैं ? ॥१०८॥ क्या तू अमुक पुरुषका पुत्र नहीं है ? और क्या तेरी माता अमुक पुरुषकी पुत्री नहीं है ? जिससे कि तू इस तरह नाक ऊंची कर मेरे ऐसे पुरुषोंका सत्कार किये बिना ही जाता है ? ॥१०९॥ यद्यपि तेरी जाति वही है, कुल वही है और तू भी वही है जो कि सबेरेके समय था तथापि तू अपने आपको देवतारूप मानता है ॥११०॥ यद्यपि तू देवता, अतिथि, पितृगण और अग्निके कार्योंमें निपुण है तथापि गुरु, द्विज और देवोंको प्रणाम करनेसे विमुख है ॥१११॥ जैनी दीक्षा धारण करनेसे तुझे कौनसा अतिशय प्राप्त हो गया है ? क्योंकि तू अब भी मनुष्य ही है और पृथिवीको स्पर्श करता हुआ पैरोंसे ही चलता है ॥११२॥ इस प्रकार क्रोध धारणकर यदि कोई उलाहना दे तो उसके लिये युक्तिसे भरे हुए वचनोंसे इस प्रकार उत्तर दे ॥११३॥ हे अपने आपको द्विज माननेवाले, तू मेरा दिव्य जन्म सुन, श्री जिनेन्द्रदेव ही मेरा पिता है और

१ रत्नत्रयादिगुणालाभः । २ प्रकर्षेणासमन्तात् सकलाभिलषणीयत्वम् । ३ देवाधीनम् । देवसाद्भवन् ल०, द०, इ० । देवसाद्भवेत् अ०, प०, स० । ४ देवत्वम् । ५ कुलीनः । 'प्रसिद्धपितृ-
 रुत्पन्न आमुष्यायण उच्यते ।' ६ तव । ७ कुलीना पुत्री । ८ येन कारणेन । ९ उद्गततासिकः ।
 १० प्राग्भवः । ११ -स्वप्राकृतो ल०, द० । १२ स्वीकृतक्रोधं यथा भवति तथा । १३ दूषितः ।
 १४ पटुभिः । १५ अस्माकं देवोत्पत्तिः । १६ पिता ।

‘तत्राहंती त्रियां’ भिन्नां शक्तिं त्रैगुण्यसंभिताम्^१ । स्वसात्कृत्य समुद्भूता वयं संस्कारजन्मना ॥११५॥
 अयोनिसम्भवस्तेन देवा एव न मानुषाः । वयं वयमिवान्येऽपि सन्ति चेद् ब्रूहि तद्विधानं^२ ॥११६॥
 स्वायम्भुवान्मुखाज्जाताः ततो देवद्विजा वयम् । वतचिह्नं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम्^३ ॥११७॥
 पापसूत्रानुगा यय न द्विजा सूत्रकण्ठकाः^४ । सन्मार्गकण्ठकास्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः ॥११८॥
 शरीरजन्म संस्कारजन्म चेति द्विधा मतम् । जन्माङ्गिनां मृतिदत्तं द्विधास्नाता जिनागमे ॥११९॥
 देवान्तरपरिप्राप्तिः पूर्वदेहपरिक्षयात् । शरीरजन्म विज्ञेयं देहभाजां भवान्तरे ॥१२०॥
 तथा लब्धात्मलाभस्य पुनः संस्कारयोगतः । द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म संस्कारजं स्मृतम् ॥१२१॥
 शरीरमरणं स्वायुरन्ते देहविसर्जनम् । संस्कारमरणं प्राप्तव्रतस्यागः समुद्भूतम् ॥१२२॥
 ‘यतोऽयं लब्धसंस्कारो विजहाति प्रगेतनम्’^५ । मिथ्यादर्शनपर्यायं ततस्तेन^६ मृतो भवेत् ॥१२३॥
 तत्र^७ संस्कारजन्मेदम् अपापोपहतं परम् । जातं नो^८ गुर्वनुज्ञानाद्^९ अतो देवद्विजा वयम् ॥१२४॥
 इत्यात्मनो गुणोत्कर्षं ख्यापयन्त्यायवर्त्मना । गृहमेधी भवेत् प्राप्य सद्गृहित्वमनुत्तरम् ॥१२५॥
 भूयोऽपि संप्रवक्ष्यामि ब्राह्मणान् सत्क्रियोचितान् । जातिवादावलेपस्य^{१०} निरासार्थमतः परम् ॥१२६॥

ज्ञान ही अत्यन्त निर्मल गर्भ है ॥११४॥ उस गर्भमें उपलब्धि, उपयोग और संस्कार इन तीन गुणोंके आश्रित रहनेवाली जो अरहन्तदेवसम्बन्धिनी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ये तीन भिन्न भिन्न शक्तियां हैं उन्हें अपने अधीन कर हम संस्काररूपी जन्मसे उत्पन्न हुए हैं ॥११५॥ हम लोग बिना योनिसे उत्पन्न हुए हैं इसलिये देव ही हैं मनुष्य नहीं हैं, हमारे समान जो और भी हैं उन्हें भी तू देवब्राह्मण कह ॥११६॥ हम लोग स्वयंभूके मुखसे उत्पन्न हुए हैं इसलिये देवब्राह्मण हैं और हमारे व्रतोंका चिह्न शास्त्रोंमें कहा यह पवित्र सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत है ॥११७॥ आप लोग तो गलेमें सूत्र धारणकर समीचीन मार्गमें तीक्ष्ण कण्ठक बनते हुए पापरूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले हैं, केवल मलसे दूषित हैं, द्विज नहीं हैं ॥११८॥ जीवोंका जन्म दो प्रकारका है एक तो शरीरजन्म और दूसरा संस्कार-जन्म । इसी प्रकार जैनशास्त्रोंमें जीवोंका मरण भी दो प्रकारका माना गया है ॥११९॥ पहले शरीरका क्षय हो जानेसे दूसरी पर्यायमें जो दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है उसे जीवोंका शरीरजन्म जानना चाहिये । ॥१२०॥ इसी प्रकार संस्कारयोगसे जिसे पुनः आत्मलाभ प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुषको जो द्विजपनेकी प्राप्ति होना है वह संस्कारज अर्थात् संस्कारसे उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है ॥१२१॥ अपनी आयुके अन्तमें शरीरका परित्याग करना शरीरमरण है तथा व्रती पुरुषका पापोंका परित्याग करना संस्कारमरण है ॥१२२॥ इस प्रकार जिसे सब संस्कार प्राप्त हुए हैं ऐसा जीव मिथ्यादर्शनरूप पहलेके पर्यायको छोड़ देता है इसलिये वह एक तरहसे मरा हुआ ही कहलाता है ॥१२३॥ उन दोनों जन्मोंमेंसे जो पापसे दूषित नहीं है ऐसा संस्कारसे उत्पन्न हुआ यह उत्कृष्ट जन्म गुरुकी आज्ञानुसार मुझे प्राप्त हुआ है इसलिये मैं देवद्विज या देवब्राह्मण कहलाता हूँ ॥१२४॥ इस प्रकार न्यायमार्गसे अपने आत्माके गुणोंका उत्कर्ष प्रकट करता हुआ वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ सद्गृहित्व अवस्थाको पाकर सद्गृहस्थ होता है ॥१२५॥ उत्तम क्रियाओंके करने योग्य ब्राह्मणोंसे उनके जातिवादका अहंकार दूर करनेके लिये इसके

१ ज्ञानगर्भ । २ सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्याणीति त्रिप्रकारः । ३ उपलब्ध्युपयोगसंस्कारात्मतां गताम् । ४ अयोनिसम्भवप्रकारान् । अयोनिसम्भवसदृशानित्यर्थः । ५ आगमप्रोक्तम् । ६ सूत्रमात्रमेव कण्ठे येषां ते । ७ यस्मात् कारणात् । ८ प्राक्तनम् । ९ मिथ्यादर्शनतज्जनरूपेणेत्यर्थः । १० शरीरजन्मसंस्कारजन्मनोः । ११ अस्माकम् । १२ गुरोरनुज्ञायाः । १३ गर्वस्य । १४ निराकरणाय ।

ब्रह्मणोऽपत्यमित्येवं ब्राह्मणाः समुदाहृताः । ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् परमेष्ठी^१ जिनोत्तमः ॥१२७॥
 स दृष्टादिपरमब्रह्मा जिनेन्द्रो गुणबृंहणात् । परं ब्रह्म यदायत्तम् आत्मनन्ति मुनीश्वराः ॥१२८॥
 नैर्णाजिनधरो ब्रह्मा जटाकूर्चादिलक्षणः । यः कामगर्वभो^२ भूत्वा प्रच्युतो ब्रह्मवर्चसात्^३ ॥१२९॥
 दिव्यमूर्तेजिनेन्द्रस्य ज्ञानगर्भाविनाबिलात्^४ । समीक्षादितज्जन्मानो द्विजन्मानस्ततो मताः ॥१३०॥
 'वर्णान्तिपातिनो नैते सन्तव्या द्विजसत्तमाः । व्रतमन्त्रादिसंस्कारसमारोपितगौरवाः ॥१३१॥
 वर्णोत्तमानिमान् विद्यः क्षान्तिशौचपरायणान् । सन्तुष्टान् प्राप्तवैशिष्ट्यान् श्रविलष्टाचारभूषणान् ॥१३२॥
 'क्विलष्टाचाराः परे नैव ब्राह्मणा द्विजमानिनः । पापारम्भरता शश्वद् आहत्य^५ पशुघातिनः ॥१३३॥
 सर्वमेधमयं^६ धर्मं अभ्युपेत्य पशुघ्नताम्^७ । का नाम गतिरेषां स्यात् पापशास्त्रोपजीविनाम् ॥१३४॥
 'चोदनालक्षणं^८ धर्मं प्रत्यक्षं प्रतिजानते^९ । ये तेभ्यः कर्मचाण्डालान् पश्यामो नापरान् भुवि ॥१३५॥
 पार्थिवैर्वण्डनीयाश्च लुष्टाकाः^{१०} पापपण्डिताः । तेऽमी धर्मजुषां बाह्या ये निघ्नन्त्यघृणाः^{११} पशून् ॥१३६॥
 'पशुहत्यासमारम्भात् कव्यदेभ्योऽपि^{१२} निष्कृपाः । यद्युच्छ्रितिं^{१३} मुशन्त्येते हन्तैव धार्मिका हताः ॥१३७॥

आगे फिर भी कुछ कहता हूं ॥१२६॥ जो ब्रह्माकी संतान हैं, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं और स्वयंभू, भगवान्, परमेष्ठी तथा जिनेन्द्रदेव ब्रह्मा कहलाते हैं । भावार्थ—जो जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश सुनकर उनकी शिष्य-परम्परामें प्रविष्ट हुए हैं वे ब्राह्मण कहलाते हैं ॥१२७॥ श्रीजिनेन्द्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा हैं क्योंकि वे ही गुणोंको बढ़ानेवाले हैं और उत्कृष्ट ब्रह्म अर्थात् ज्ञान भी उन्हींके अधीन है ऐसा मुनियोंके ईश्वर मानते हैं ॥१२८॥ जो मृगचर्म धारण करता है, जटा, डाढ़ी आदि चिह्नोंसे युक्त है तथा कामके वश गधा होकर जो ब्रह्मतेज अर्थात् ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता ॥१२९॥ इसलिये जिन्होंने दिव्य मूर्तिके धारक श्री जिनेन्द्रदेवके निर्मल ज्ञानरूपी गर्भसे जन्म प्राप्त किया है वे ही द्विज कहलाते हैं ॥१३०॥ व्रत, मन्त्र तथा संस्कारोंसे जिन्हें गौरव प्राप्त हुआ है ऐसे इन उत्तम द्विजोंको वर्णोंके अन्तर्गत नहीं मानना चाहिये अर्थात् ये वर्णोत्तम हैं ॥१३१॥ जो क्षमा और शौच गुणके धारण करनेमें सदा तत्पर हैं, संतुष्ट रहते हैं, जिन्हें विशेषता प्राप्त हुई है और निर्दोष आचरण ही जिनका आभूषण है ऐसे इन द्विजोंको सब वर्णोंमें उत्तम मानते हैं ॥१३२॥ इनके सिवाय जो मलिन आचारके धारक हैं, अपनेको भूठमूठ द्विज मानते हैं, पापका आरम्भ करनेमें सदा तत्पर रहते हैं और हठपूर्वक पशुओंका घात करते हैं वे ब्राह्मण नहीं हो सकते ॥१३३॥ जो समस्त हिंसामय धर्म स्वीकार कर पशुओंका घात करते हैं ऐसे पापशास्त्रोंसे आजीविका करनेवाले इन ब्राह्मणोंकी न जाने कौन सी गति होगी ? ॥१३४॥ जो अधर्म स्वरूप वेदमें कहे हुए प्रेरणात्मक धर्मको धर्म मानते हैं मैं उनके सिवाय इस पृथिवीपर और किसीको कर्म चाण्डाल नहीं देखता हूं अर्थात् वेदमें कहे हुए धर्मको माननेवाले सबसे बढ़कर कर्म चाण्डाल हैं ॥१३५॥ जो निर्दय होकर पशुओंका घात करते हैं वे पापरूप कार्योंमें पण्डित हैं, लुटेरे हैं, और धर्मात्मा लोगोंसे बाह्य हैं; ऐसे पुरुष राजाओंके द्वारा दण्डनीय होते हैं ॥१३६॥ पशुओंकी हिंसा करनेके उद्योगसे जो राक्षसोंसे भी अधिक निर्दय हैं यदि ऐसे पुरुष ही उत्कृष्टताको प्राप्त होते हों तब

१ परमपदे स्थितः । २ कामाद् गर्वभाकारमुख इत्यर्थः । ३ अध्ययनसम्पत्तेः । ४ अकलुषात् । ५ वर्णमात्रवर्तिन इत्यर्थः । ६ दुष्ट । ७ हठात्, साक्षात् वा । ८ हिंसामयम् । ९ हिंसा कुर्वताम् । १० वेदोक्तलक्षणम् । ११ प्रतिज्ञां कुर्वते । १२ चौराः । १३ निष्कृपाः । १४ पशुहन्तप्रारम्भात् । १५ राक्षसेभ्यः । 'राक्षसः कोरापः कव्यात् कव्यादोऽस्त्रप आशरः' इत्यभिधानात् । १६ उन्नतिम् ।

मलिनाचरिता ह्येते 'कृष्णवर्गे द्विजन्वाः । जैनास्तु निर्मलाचाराः 'शुक्लवर्गे मता बुधः ॥१३८॥
 'श्रुतिस्मृति'पुरावृत्त'वृत्तमन्त्रक्रियाश्रिता । देवताल्लिङ्गकामान्तकृता शुद्धिद्विजन्मनाम् ॥१३९॥
 ये विशुद्धतरा वृत्तिं तत्कृतां समुपाश्रिताः । ते शुक्लवर्गे बोधव्याः शेषाः शुद्धेः बहिः कृता ॥१४०॥
 तच्छुद्धपशुद्धी' बोधव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः । न्यायो दयाद्रवृत्तित्वम् अन्यायः प्राणिमारणम् ॥१४१॥
 विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः । 'वर्णान्तःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ॥१४२॥
 स्यादारेका' च षट्कर्मजीविना गृहमेधिनाम् । हिंसादोषोऽनुसङ्गी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ॥१४३॥
 इत्यत्र'० ब्रूमहे सत्यम्'१ अल्पसाधयसङ्गतिः । 'तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रवर्णिता ॥१४४॥
 अपि चैषां विशुद्धपञ्चगं पक्षचर्या च साधनम् । इति त्रितयमस्त्येव तद्विद्वानां चिबुष्महे ॥१४५॥
 तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम् । मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्येवपक्व'हितम् ॥१४६॥
 चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्धयर्थमेव वा । औषधाहारकल्प्यं वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥१४७॥
 तत्राकामकृते'३ शुद्धिः प्रायश्चित्तविधीयते । पञ्चाच्चात्मात्मन्य'४ सूनी व्यवस्थाप्य गृहोज्जनम् ॥१४८॥

तो दुःखके साथ कहना पड़ेगा कि बेचारे धर्मात्मा लोग व्यर्थ ही नष्ट हुए ॥१३७॥ ये द्विज लोग मलिन आचारका पालन करते हैं और भूठमूठ ही अपनेको द्विज कहते हैं इसलिये विद्वान् लोग इन्हें कृष्णवर्ग अर्थात् पापियोंके समूहमें गभित करते हैं और जैन लोग निर्मल आचारका पालन करते हैं इसलिये इन्हें शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें शामिल करते हैं ॥१३८॥ द्विज लोगोंकी शुद्धि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मन्त्र और क्रियाओंके आश्रित है तथा देवताओंके चिह्न धारण करने और कामका नाश करनेसे भी होती है ॥१३९॥ जो श्रुत स्मृति आदिके द्वारा की हुई अत्यन्त विशुद्ध वृत्तिको धारण करते हैं उन्हें शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें समझना चाहिये और जो इनसे शेष बचते हैं उन्हें शुद्धिसे बाहर समझना चाहिये अर्थात् वे महा अशुद्ध हैं ॥१४०॥ उनकी शुद्धि और अशुद्धि, न्याय और अन्यायरूप प्रवृत्तिसे जाननी चाहिये । दयासे कोमल परिणाम होना न्याय है और प्राणियोंका मारना अन्याय है ॥१४१॥ इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं । वे ही द्विज हैं । ये ब्राह्मण आदि वर्णोंके अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम हैं और जगत्पूज्य हैं ॥१४२॥

अब यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो असि मषी आदि छह कर्मोंसे आजीविका करनेवाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ हैं उनके भी हिंसाका दोष लग सकता है परन्तु इस विषयमें हम यह कहते हैं कि आपने जो कहा है वह ठीक है, आजीविकाके लिये छह कर्म करनेवाले जैन गृहस्थोंके थोड़ी सी हिंसाकी संगति अवश्य होती है परन्तु शास्त्रोंमें उन दोषोंकी शुद्धि भी तो दिखलाई गई है ॥१४३-१४४॥ उनकी विशुद्धिके अङ्ग तीन हैं पक्ष, चर्या और साधन । अब मैं यहाँ इन्हीं तीनका वर्णन करता हूँ ॥१४५॥ उन तीनोंमेंसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य-भावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनियोंका पक्ष कहलाता है ॥१४६॥ किसी देवताके लिये, किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिये अथवा किसी औषधि या भोजन बनवानेके लिये मैं किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है ॥१४७॥ इस प्रतिज्ञामें यदि कभी इच्छा न रहते हुए प्रमादसे दोष लग जावे तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि

१ पाप । २ पुण्य । ३ आगम । ४ धर्मसंहिता । ५ पुराण । ६ श्रुतिस्मृत्यादिकृताम् ।
 ७ जैनद्विजोत्तरयोः शुद्धयशुद्धिः । ८ वर्णमात्रवर्तिनः । ९ शङ्का । १० 'हिंसादोषोऽनुसङ्गी स्याद्' इत्यत्र ।
 ११ सत्यमित्यङ्गीकारे । १२ चेष्टिते । व्यापारे इत्यर्थः । १३ प्रमादजनिते दोषे । १४ -चात्मान्वयं
 ८०, ८०, ८०, ८०, ८०, ८० ।

चर्या गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम् । वेदाहारेहितत्यागात्^१ ध्यानशुद्धात्मशोधनम् ॥१४६॥

त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्विजन्मनाम् । इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्याद्विराकृतिः ॥१४७॥

चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादाहंते मते । चतुराश्रम्यमन्येषाम् अविचारितसुन्दरम् ॥१४८॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु ज्ञानात्मा उत्तरोत्तरशुद्धितः ॥१४९॥

ज्ञातव्याः स्युः प्रपञ्चेन सान्तर्भेदाः पृथग्विधाः^३ । ग्रन्थगौरवभीत्या तु नात्रैतेषां प्रपञ्चना ॥१५०॥

सद्गुह्यत्वमिदं ज्ञेयं गुणरात्मोपबृंहणम् । पारिव्राज्यमितो वक्ष्ये विशुद्धं क्रियान्तरम् ॥१५१॥

इति सद्गुह्यत्वम् ।

गार्हस्थ्यमनुपालयेवं गृहवासाद् विरज्यतः^४ । यद्दीक्षाग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्षते ॥१५२॥

पारिव्राज्यं परिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षणम् । तत्र निममता वृत्त्या जातरूपस्य धारणम् ॥१५३॥

प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलग्नं^५ ग्रहांशकं^६ । निर्ग्रन्थाचार्यमार्गाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥१५४॥

विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्बृत्तस्य वपुष्मतः^७ । दीक्षायोग्यत्वमाप्नोतं सुमुखस्य सुमेधसः ॥१५५॥

ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः । चक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे ॥१५६॥

की जाती है तथा अन्तमें अपना सब कुटुम्ब पुत्रके लिये सौंपकर घरका परित्याग किया जाता है ॥१४८॥ यह गृहस्थ लोगोंकी चर्या कही, अब आगे साधन कहते हैं । आयुके अन्त समयमें शरीर आहार और समस्त प्रकारकी चेष्टाओंका परित्याग कर ध्यानकी शुद्धिसे जो आत्माको शुद्ध करना है उसे साधन कहते हैं ॥१४९॥ अरहन्तदेवको माननेवाले द्विजोंका पक्ष, चर्या और साधन इन तीनोंमें हिसाके साथ स्पर्श भी नहीं होता, इस प्रकार अपने ऊपर ठहराये हुए दोषोंका निराकरण हो सकता है ॥१५०॥ चारों आश्रमोंकी शुद्धता भी श्री अहन्तदेवके मतमें ही है । अन्य लोगोंने जो चार आश्रम माने हैं वे विचार किये बिना ही सुन्दर हैं अर्थात् जब तक उनका विचार नहीं किया गया है तभी तक सुन्दर हैं ॥१५१॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोंके चार आश्रम हैं जो कि उत्तरोत्तर अधिक विशुद्ध होनेसे प्राप्त होते हैं ॥१५२॥ ये चारों ही आश्रम अपने अपने अन्तर्भेदोंसे सहित होकर अनेक प्रकारके हो जाते हैं, उनका विस्तारके साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये परन्तु ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे यहाँ उनका विस्तार नहीं लिखा है ॥१५३॥ इस प्रकार गुणोंके द्वारा अपने आत्माकी वृद्धि करना यह सद्गुह्यत्व क्रिया है । अब इसके आगे अत्यन्त विशुद्ध पारिव्रज्य नामकी तीसरी क्रियाका निरूपण करेंगे ॥१५४॥ यह दूसरी सद्गुह्यत्व क्रिया है ।

इस प्रकार गृहस्थधर्मका पालन कर घरके निवाससे विरक्त होते हुए पुरुषका जो दीक्षा ग्रहण करना है उसे पारिव्रज्य कहते हैं ॥१५५॥ परिव्राट्का जो निर्वाणदीक्षारूप भाव है उसे पारिव्रज्य कहते हैं, इस पारिव्रज्य क्रियामें ममत्व भाव छोड़कर दिगम्बररूप धारण करना पड़ता है ॥१५६॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहोंके अंशमें निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये ॥१५७॥ जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य माना गया है ॥१५८॥ जिस दिन ग्रहोंका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य-चन्द्रमापर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहोंका उदय हो, आकाश मेघपटलसे ढका हुआ हो, नष्ट मास

१ चेष्टा । २ चतुराश्रमत्वम् । ३ नानाप्रकाराः । ४ विरक्ति गच्छतः । ५ मुहूर्तः ।

६ ग्रहांशकः ल०, द०, अ०, प०, इ०, स० । ७ चन्द्रादिग्रहणे ।

नष्टाधिमासत्रिनयोः संक्रान्तौ हानिमत्तिथौ । दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः^१ ॥१६०॥
 सम्प्रदायमनादृत्य यस्त्विदं^२ वीक्षयेदधीः । स साधुभिर्बहिः कार्यो बृद्धात्यासादनारतः^३ ॥१६१॥
 तत्र सूत्रपदान्याहुः योगीन्द्राः सप्तविंशतिम् । येनिणीतैर्भवेत्साक्षात् पारिव्राज्यस्य लक्षणम् ॥१६२॥
 जातिमूर्तिश्च तत्रत्यं^४ लक्षणं सुन्दराङ्गता । प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते^५ ॥१६३॥
 सिंहासनोपधानं च छत्रचामरघोषणः । अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहनं ॥१६४॥
 क्षेत्रज्ञाऽज्ञा सभाः कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च । भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥१६५॥
 जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनम् । गुणानाहुर्भजेद्दीक्षां स्वेषु^६ ॥१६६॥
 जातिमानप्यनुत्तिष्ठतः^७ सम्भजेदहंतां क्रमो^८ । यतो जात्यन्तरे^९ जात्यां^{१०} याति जातिं^{११} चतुष्टयोम् ॥१६७॥
 जातिरेन्द्री^{१२} भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता । परमा जातिराहन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम् ॥१६८॥

अथवा अधिक मासका दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षयतिथिका दिन हो उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्योंके लिये दीक्षाकी विधि नहीं करना चाहते हैं अर्थात् उस दिन किसी शिष्यको नवीन दीक्षा नहीं देते हैं ॥१५९-१६०॥ जो मन्दबुद्धि आचार्य इस सम्प्रदायका अनादर कर नवीन शिष्यको दीक्षा दे देता है वह बृद्ध पुरुषोंके उल्लंघन करनेमें तत्पर होनेसे अन्य साधुओंके द्वारा बहिष्कार कर देने योग्य है । भावार्थ-जो आचार्य असमयमें ही शिष्योंको दीक्षा दे देता है वह बृद्ध आचार्योंकी मान्यताको उल्लंघन करता है इसलिये साधुओंको चाहिये कि वे ऐसे आचार्योंको अपने संघसे बाहर कर दे ॥१६१॥ मुनिराज इस पारिव्राज्य क्रियामें उन सत्ताईस सूत्र पदोंका निरूपण करते हैं जिनका कि निर्णय होनेपर पारिव्राज्यका साक्षात् लक्षण प्रकट होता है ॥१६२॥ जाति, मूर्ति, उसमें रहनेवाले लक्षण, शरीरकी सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं ॥१६३-१६५॥ ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद परमेष्ठियोंके गुण कहलाते हैं । उस भव्य पुरुषको अपने जाति आदि गुणोंसे आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिये । भावार्थ-ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेष्ठियोंमें होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेनेवाले शिष्यमें भी यथासंभव रूपसे होते हैं परन्तु शिष्यको अपने जाति आदि गुणोंका सन्मान नहीं कर परमेष्ठियोंके ही जाति आदि गुणोंका सन्मान करना चाहिये । क्योंकि ऐसा करनेसे वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणोंसे बचकर अपने आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है ॥१६६॥ स्वयं उत्तम जातिवाला होनेपर भी अहंकाररहित होकर अरहन्तदेवके चरणोंकी सेवा करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे वह भव्य दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रित, परमा और स्वा इन चार जातियोंको प्राप्त होता है ॥१६७॥ इन्द्रके दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियोंके विजयाश्रिता, अरहन्तदेवके परमा और मोक्षको प्राप्त हुए जीवोंके अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाली स्वा-

१ नष्टमासस्याधिकमासस्य दिनयोः । २ असम्पूर्णतिथौ । ३ सम्पूर्णमतयः । ४ आम्नायम् (परम्पराम्) । ५ दीक्षां स्वीकृत्य । ६ बृद्धातिक्रमणे तत्परः । ७ पारिव्राज्यः । ८ निश्चितः । ९ प्रत्यक्षम् । १० मूर्तिस्थितम् । तत्रत्यं ल० । ११ अभिषवश्च अभिषेको नाथता च स्वामित्वं च । १२ आत्मीयेषु । १३ जात्यादिषु । १४ अगवित । १५ चरणी । १६ जन्मान्तरे । १७ उत्पत्तौ सत्याम् । १८ दिव्यजातिविजयजातिः परमजातिः स्वामोत्थजातिरिति । १९ इन्द्रस्य इयम् ।

मूर्त्यादिविषयि^१ नैतव्या कल्पनेयं चतुष्टयो । पुराणजेरसम्मोहात् क्वचिच्च^२ त्रितयी मता ॥१६६॥
 कर्शयेन्मूर्तिमात्मीयां रञ्जन्मूर्तीः शरीरिणाम् । तपोऽधितिष्ठेद् दिव्यादिमूर्तीराप्नुमना मुनिः ॥१७०॥
 स्वलक्षणमनिर्देश्य^३ मन्थमानो जिनेशिनम् । लक्षणाभ्यभिसन्धाय^४ तपस्येत् कृतलक्षणः^५ ॥१७१॥
 म्लापयन्^६ स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत् । वाञ्छन्विद्व्यादिसौन्दर्यम् अनिवार्यपरस्परम् ॥१७२॥
 मयीमसाङ्गो षुत्सुष्टस्वकायप्रभवप्रभः । प्रभोः^७ प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत् क्षिप्रं प्रभास्वरः ॥१७३॥
 स्वं मणिस्तेह^८ दीपादितैजोऽपास्य जिनं भजन् । तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलज्ज्वलः ॥१७४॥
 त्यक्त्वाऽस्त्र^९ वस्त्र^{१०} शस्त्राणि^{११} प्राक्तनानि प्रशान्तिभाक् । जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधियो भवेत् ॥
 त्यक्तस्नानादिसंस्कारः संश्रित्य स्नातकं^{१२} जिनम् । मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति परं जन्माभिषेचनम् ॥१७६॥
 स्वं^{१३} स्वाम्यर्महिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनम् । सेवित्वा सेवनीयत्वम् एष्यत्येष जगज्जनेः ॥१७७॥
 स्वोचितासनभेदानां त्यागात्पञ्चतान्वरो मुनिः । संहं विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रस्थापको भवेत् ॥१७८॥
^{१४}स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभूतिरूप^{१५} धिर्भुवि । शयानः स्थण्डिले बाहुमात्रापितशिरस्तटः ॥१७९॥

जाति होती है ॥१६८॥ इन चारोंकी कल्पना मूर्ति आदिमें कर लेनी चाहिये, अर्थात् जिस प्रकार जातिके दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदिके भी समझ लेना चाहिये । परन्तु पुराणोंकी जाननेवाले आचार्य मोहरहित होनेसे किसी किसी जगह तीन ही भेदोंकी कल्पना करते हैं । भावार्थ -सिद्धोंमें स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं ॥१६९॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंकी प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कुश करना चाहिये तथा अन्य जीवोंके शरीरोंकी रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिये ॥१७०॥ इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करनेवाला वह पुरुष अपने लक्षणोंको निर्देश करनेके अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्रदेवके लक्षणोंका चिन्तनकर तपश्चरण करे ॥१७१॥ जिनकी परम्परा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्योंकी इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीरके सौन्दर्यको मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे ॥१७२॥ जिसका शरीर मलिन हो गया है, जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाली प्रभा का त्याग कर दिया है और जो अर्हन्तदेवकी प्रभाका ध्यान करता है ऐसा साधु शीघ्र ही देदीप्यमान हो जाता है अर्थात् दिव्यप्रभा आदि प्रभाओंको प्राप्त करता है ॥१७३॥ जो मुनि अपने मणि और तेलके दीपक आदिका तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान्की आराधना करता है वह प्रभामण्डलसे उज्ज्वल हो उठता है ॥१७४॥ जो पहलेके अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदि को छोड़कर अत्यन्त शान्त होता हुआ जिनेन्द्रभगवान्की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्रका अधिपति होता है ॥१७५॥ जो मुनि स्नान आदिका संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्रका आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिन्तन करता है वह मेरुपर्वतके मस्तकपर उत्कृष्ट जन्माभिषेकको प्राप्त होता है ॥१७६॥ जो मुनि अपने इस लोक-सम्बन्धी स्वामीपनेको छोड़कर परमस्वामी श्रीजिनेन्द्रदेवकी सेवा करता है वह जगत्के जीवोंके द्वारा सेवनीय होता है अर्थात् जगत्के सब जीव उसकी सेवा करते हैं ॥१७७॥ जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदोंका त्यागकर दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासनपर आरूढ़ होकर तीर्थको प्रसिद्ध करनेवाला अर्थात् तीर्थंकर होता है ॥१७८॥ जो मुनि अपने तकिया आदिका अनादर कर परिग्रह-

१ दिव्यमूर्तिविजयमूर्तिः परममूर्तिः स्वात्मोत्थमूर्तिरिति एवमुत्तरत्रापि योजनीयम् । २ सिद्धादौ ।

३ नामसंकीर्तनं कर्तुमयोग्यमिति । ४ ध्यात्वा । ५ गुरोः प्रतीतः । 'गुरोः प्रतीते तु कृतलक्षणाहितलक्षणौ'-इत्यभिधानात् । ६ म्लानिं कुर्वन् । ७ जिनस्य । ८ तैलाभ्यङ्गन । ९ दिव्यास्त्र । १० -व्यस्त्र-टः । करमुक्तः । ११ सामान्यास्त्र । १२ प्रकृष्टज्ञानातिशयम् । १३ स्वामित्वम् । १४ निजोप-वर्हासनादि । 'उपधानं तूपवर्हम्' इत्यभिधानात् । १५ निःपरिग्रहः ।

स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः । देवीं विरचितं वीप्रम् आस्कन्दत्युपधानकम्^१ ॥१८०॥
 त्यक्तशीतातपत्राण^२ सकलात्मपरिच्छदः । त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासितरत्नैरुद्भासते स्वयम् ॥१८१॥
 विविधव्यजन^३ त्यागाद् अगुण्डिततपोविधिः । चामराणां चतुःषष्ठ्या बीज्यते जिनपर्यये^४ ॥१८२॥
 उज्ज्वलानकसङ्गीतघोषः कृत्वा तपोविधिम् । स्याद् द्युदुन्दुभिनिर्घोषैः घुष्यमाणजयोदयः ॥१८३॥
 उद्यानादिकृतां छायां अपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः ॥१८४॥
 स्वं^५ स्वापतेयमुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामृतः^६ । स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥१८५॥
 गृहशोभां कृतारशां दूरीकृत्य तपस्यतः । श्रीमण्डपादिशोभास्य स्वतोऽभ्येति पुरोगताम्^७ ॥१८६॥
 तपोऽवगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठतः । त्रिजगज्जनतास्थानसहं स्यादवगाहनम् ॥१८७॥
 क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गत्^८ क्षेत्रज्ञत्वमुपैष्युषः । स्वाधीनत्रिजगत्क्षेत्रम् ऐश्वर्यमस्योपजायते ॥१८८॥
 आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानयम् । प्राप्नोति परमामाज्ञां सुरासुरशरोधृताम् ॥१८९॥
 स्वामिण्डभृत्यबन्धवादिसभामुत्सृज्य तपः । परमाप्तपदप्राप्तौ अध्यास्ते त्रिजगत्सभाम् ॥१९०॥

रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजापर शिरका किनारा रखकर पृथिवीके ऊंचे-नीचे प्रदेशपर शयन करता है वह महाअभ्युदय (स्वर्गादिकी विभूति) को पाकर जिन हो जाता है, उस समय सब लोग उसका आदर-सत्कार करते हैं और वह देवोंके द्वारा बने हुए देदीप्यमान तकियाको प्राप्त होता है ॥१७९-१८०॥ जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रह-का त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नोंसे युक्त तीन छत्रोंसे सुशोभित होता है ॥१८१॥ अनेक प्रकारके पंखाओंके त्यागसे जिसने तपश्चरणकी विधिका पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्रपर्यायमें चौंसठ चमरोंसे वीजित होता है अर्थात् उसपर चौंसठ चमर डूलाये जाते हैं ॥१८२॥ जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदिकी घोषणाका त्याग कर तपश्चरण करता है उसके विजयका उदय स्वर्गके दुन्दुभियोंके गम्भीर शब्दोंसे घोषित किया जाता है ॥१८३॥ चूंकि पहले उसने अपने उद्यान आदिके द्वारा की हुई छायाका परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिये ही अब उसे (अरहन्तअवस्थामें) महाअशोक वृक्षकी प्राप्ति होती है ॥१८४॥ जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्वभावको प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजेपर खड़ी हुई निधियोंसे सेवित होता है अर्थात् समवसरण भूमिमें निधियाँ दरवाजेपर खड़े रहकर उसकी सेवा करती हैं ॥१८५॥ जिसकी रक्षा सब ओरसे की गई थी ऐसी घरकी शोभाको छोड़कर इसने तपश्चरण किया था इसीलिये श्रीमण्डपकी शोभा अपने आप इसके सामने आंती है ॥१८६॥ जो तप करनेके लिये सबन वनमें निवास करता है उसे तीनों जगत्के जीवोंके लिये स्थान दे सकनेवाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकोंके समस्त जीव सुखसे स्थान पा सकते हैं ॥१८७॥ जो क्षेत्र मकान आदिका परित्याग कर शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनों जगत्के क्षेत्रको अपने आधीन रखनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१८८॥ जो मुनि आज्ञा देनेका अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसे सुर और असुरोंके द्वारा शिरपर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते हैं ॥१८९॥ जो यह मुनि अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदिकी सभाका परित्याग करता है इसलिये उत्कृष्ट अरहन्त पदकी प्राप्ति होनेपर

१ उपवर्हम् । २ छत्र । ३ चामर । ४ अर्हपर्याये सति । ५ स्वर्दुन्दुभिभिः । ६ धनम् ।
 'ब्रह्मं वृत्तं स्वापतेयं रिक्तं दृक्तं धनं वसुः' इत्यभिधानात् । ७ निर्गमत्वं गतः । ८ अग्रेसरताम् ।
 ९ प्रवेशनात् । १० आत्मस्वरूपत्वम् । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यभिधानात् ।

स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः । स्तुतिनिन्दासमो भूयः कीर्त्यते भुवनेश्वरः ॥१६१॥
 वन्दित्वा बन्धमर्हन्तं यतोऽनुष्ठितवांस्तपः । ततोऽयं बन्धते बन्धैः^३ अनिन्द्यगुणसन्निधिः ॥१६२॥
 तपोऽयमनुपान्तकः^४ पादचारी विवाहनः । कृतवान् पद्मगर्भे चरणन्यासमर्हति^५ ॥१६३॥
 वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्त्या यतोऽयं तपसि स्थितः । ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात् प्रीणयन्त्यखिलां सभाम् ॥१६४॥
 'अनाश्वान्नियताहारपारणोऽस्तपः' यत्तपः^६ । तदस्य दिव्यविजयपरमामृततृप्तयः ॥१६५॥
 त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थान्छिरं यतः । ततोऽयं सुखसाद्भूत्वा परमानन्दयुं^७ भजेत् ॥१६६॥
 किमत्र बहुनोषतेन यद्यदिष्टं यथाविधम् । त्यजेन्मुनिरसंकल्पः तत्तत्सूतेऽस्य तत्तपः^८ ॥१६७॥
 प्राप्नोतकैवं तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणेः फलम् । यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः संघाऽनुवर्णिता ॥१६८॥
 जनेश्वरीं परामाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन् । तपस्यां यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदाञ्जसम्^९ ॥१६९॥
 अन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं प्रकृतबाधितम् । पारिव्राज्यं परित्यज्य ग्राह्यं^{१०} जेदमनुत्तरम्^{११} ॥१७०॥
 इति पारिव्राज्यम् ।

वह तीनों लोकोंकी सभा अर्थात् समवसरण भूमिमें विराजमान होता है ॥१९०॥ जो सब प्रकारकी इच्छाओंका परित्याग कर अपने गुणोंकी प्रशंसा करना छोड़ देता है और महा-तपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दामें समान भाव रखता है वह तीनों लोकोंके इन्द्रोंके द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते हैं ॥१९१॥ इस मुनिने वन्दना करने योग्य अर्हन्तदेवकी वन्दना कर तपश्चरण किया था इसीलिये यह वन्दना करने योग्य-पूज्य पुरुषोंके द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणोंका भाण्डार हुआ है ॥१९२॥ जो जूता और सवारीका परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलोंके मध्यमें चरण रखनेके योग्य होता है अर्थात् अर्हन्त अवस्थामें देवलोग उसके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं ॥१९३॥ चूँकि यह मुनि वचनगुप्तिको धारण कर अथवा हित मित वचनरूप भाषासमितिका पालन कर तपश्चरणमें स्थित हुआ था इसलिये ही इसे समस्त सभाको संतुष्ट करनेवाली दिव्य ध्वनि प्राप्त हुई है ॥१९४॥ इस मुनिने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणाएं कर तप तपा था इसलिये ही इसे दिव्यतृप्ति, विजय-तृप्ति, परमतृप्ति और अमृततृप्ति ये चारोंही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं ॥१९५॥ यह मुनि काम जनित सुखको छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरणमें स्थिर रहा था इसलिये ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्दको प्राप्त हुआ है ॥१९६॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? संक्षेप में इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्परहित होकर जिस प्रकारकी जिस जिस वस्तुका परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिये वही वही वस्तु उत्पन्न कर देता है ॥१९७॥ जिस तपश्चरणरूपी चिन्तामणिका फल उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अर्हन्तदेवकी जाति तथा मूर्ति आदिकी प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिव्राज्य नामकी क्रियाका वर्णन किया ॥१९८॥ जो आगममें कही हुई जिनन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसीके वास्तविक पारिव्राज्य होता है ॥१९९॥ अनेक प्रकारके वचनोंके जालमें निबद्ध तथा युक्तिसे बाधित अन्य लोगोंके पारिव्राज्य

१ यस्मात् कारणात् । २ गणधरादिभिः । ३ पादत्राणरहितः । ४ पादन्यासस्य योग्यो भवति । ५ अनशनव्रती । ६ अकरोत् । ७ यत् कारणात् । ८ दिव्यतृप्तिविजयतृप्तिपरमतृप्त्य-मृततृप्तयः । ९ आनन्दम् । १० प्रसिद्धं तपः । ११ पारमार्थिकम् । १२ अर्हत्सम्बन्धि पारिव्राज्यम् । १३ -मनुत्तमम् ल० ।

या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात्^१ । संधा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता ॥२०१॥
इति सुरेन्द्रता ।

साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्ररत्नपुरःसरम् । निधिरत्नसमुद्भूतं भोगसम्पत्परम्परम् ॥२०२॥

इति साम्राज्यम् ।

आर्हन्त्यमर्हतो भावो कर्म वेति परा क्रिया । यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसम्पदः ॥२०३॥

याऽसौ दिव्योऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणसम्पदाम् । तदाहर्हन्त्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥२०४॥

इत्याहर्हन्त्यम् ।

भवबन्धनमुक्तस्य यावस्था परमात्मनः । परिनिर्वृत्तिरिष्टा सा परं निर्वाणमित्यपि ॥२०५॥

कुरस्तकर्ममलापायात् संशुद्धिर्याऽन्तरात्मनः । सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सा नाभावो न गुणोच्छिन्ना^३ ॥२०६॥

इति निर्वृतिः ।

(इत्यागमानुसारेण प्रोक्ताः कर्त्रन्वयक्रियाः । सप्तैताः परमस्थानसङ्गतिर्धनं योगिनाम् ॥२०७॥)

योऽनुतिष्ठत्यतन्द्रालुः क्रिया ह्येतास्त्रिधोदिताः । सोऽधिगच्छेत् परं धाम यत्सम्प्राप्नोति परं शिवम्^४ ॥२०८॥

पुष्पिताग्राधृत्तम्

(जितमतविहितं पुराणधर्मं य इममनुस्मरति क्रियानिबद्धम् ।

अनुचरति च पुण्यधीः स भव्यो भवभयबन्धनमाशु निर्धुनाति ॥२०९॥)

को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्राज्यकी ग्रहण करना चाहिये ॥२००॥ यह तीसरी पारिव्राज्य क्रिया है ।

पारिव्राज्यके फलका उदय होनेसे जो सुरेन्द्र पदकी प्राप्ति होती है वही यह सुरेन्द्रता नामकी क्रिया है इसका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥२०१॥ यह चौथी सुरेन्द्रता क्रिया है ।

जिसमें चक्ररत्नके साथ साथ निधियों और रत्नोंसे उत्पन्न हुए भोगोपभोगरूपी संपदाओं की परम्परा प्राप्त होती है ऐसा चक्रवर्तीका बड़ा भारी राज्य साम्राज्य कहलाता है ॥२०२॥ यह पाँचवीं साम्राज्यक्रिया है ।

अर्हत् परमेष्ठीका भाव अथवा कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं । इस क्रियामें स्वर्गावतार आदि महाकल्याणकरूप सम्पदाओंकी प्राप्ति होती है ॥२०३॥ स्वर्गसे अवतीर्ण हुए अर्हन्त परमेष्ठीको जो पञ्चकल्याणकरूप सम्पदाओंकी प्राप्ति होती है उसे आर्हन्त्य क्रिया जानना चाहिये, यह आर्हन्त्यक्रिया तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाली है ॥२०४॥ यह छठवीं आर्हन्त्यक्रिया है ।

संसारके बन्धनसे मुक्त हुए परमात्माकी जो अवस्था होती है उसे परिनिर्वृति कहते हैं । इसका दूसरा नाम परनिर्वाण भी है ॥२०५॥ समस्त कर्मरूपी मलके नष्ट हो जानेसे जो अन्तरात्माकी शुद्धि होती है उसे सिद्धि कहते हैं, यह सिद्धि अपने आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप है अभावरूप नहीं है और न ज्ञान आदि गुणोंके नाशरूप ही है ॥२०६॥ यह सातवीं परिनिर्वृति क्रिया है ।

इस प्रकार आगमके अनुसार ये सात कर्त्रन्वय क्रियाएं कही गई हैं, इन क्रियाओंका पालन करनेसे योगियोंको परम स्थानकी प्राप्ति होती है ॥२०७॥ जो भव्य आलस्य छोड़कर निरूपण की हुई इन तीन प्रकारकी क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह उस परम धाम (मोक्ष) को प्राप्त होता है जिसके प्राप्त होनेपर उसे उत्कृष्ट सुख मिल जाता है ॥२०८॥ पवित्र बुद्धिको धारण करने

१ फलोदये प० । २ तुच्छाभावरूपो न । ३ 'बुद्धिसुखदुःखादिनवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छि-
त्तिर्भोक्ष' इति मतप्रोक्तो मोक्षो न । ४ सुखम् ।

परमजिनपदानुरक्तधीः

भजति पुमान् य इमं क्रियाविधिम् ।

स धुतनिखिलकर्मबन्धनो

जननजरामरणान्त'कृद् भवेत् ॥२१०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गुही

पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवम् ।

तत्रैन्द्रीं श्रियमाप्तवान् पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रिताम्

प्राप्ताहंत्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिम् ॥२११॥

इत्याषं भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहा-

पुराणसङ्ग्रहे दीक्षाकर्त्तृन्वयक्रियावर्णनं नाम

एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥३६॥

वाला जो भव्य पुरुष उक्त क्रियाओंसहित जिनमतमें कहे हुए इस पुराणके धर्मका अथवा प्राचीन धर्मका स्मरण करता है और उसीके अनुसार आचरण करता है वह संसारसम्बन्धी भयके बन्धनोंको शीघ्र ही तोड़ देता है—नष्ट कर देता है ॥२०९॥ जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्कृष्ट जिनेन्द्रभगवान्के चरणकमलोंमें अनुरागको प्राप्त हो रही है ऐसा जो पुरुष इन क्रियाओंकी विधिका सेवन करता है वह समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ जन्म, बुढ़ापा और मरणका अन्त करनेवाला होता है ॥२१०॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जातिको पाकर सद्गृहस्थ होता है फिर गुरुकी आज्ञासे उत्कृष्ट पारिव्राज्यको प्राप्तकर स्वर्ग जाता है, वहाँ उसे इन्द्रकी लक्ष्मी प्राप्त होती है, तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर चक्रवर्ती पदको प्राप्त होता है, फिर अरहन्त पदको प्राप्त होकर उत्कृष्ट महिमाका धारक होता है और इसके बाद निर्वर्णिको प्राप्त होता है ॥२११॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण

संग्रहके भाषानुवादमें दीक्षान्वय और कर्त्तृन्वय क्रियाओं

का वर्णन करनेवाला उन्तालीसवां पर्व

समाप्त हुआ ।

चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि क्रियासूत्तरचूलिकाम्^१ । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणां^२ तिसृणामपि ॥१॥
तत्रादौ तावदुत्प्रेक्षे^३ क्रियाकल्पप्रकल्पत्वे^४ । मन्त्रोद्धारक्रियासिद्धिः मन्त्राधीना हि योगिनाम् ॥२॥
(आधानादि क्रियारम्भे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणिच्छत्राणि चक्राणां त्रयं त्रींश्च हविर्भुजः^५ ॥३॥
'मध्येवेदि जिनेन्द्रार्चाः स्थापयेच्च यथाविधि । मन्त्रकल्पोऽयमास्नातस्तत्र' तत्पूजनाविधौ^६ ॥४॥
नमोऽन्तो नीरजशब्दश्चतुर्थ्यन्तोऽत्र पठ्यताम् । जलेन भूमिबन्धार्थं^७ परा शुद्धिस्तु तत्फलम्^८ ॥५॥
(नीरजसे नमः)

दर्भास्तरणसम्बन्धस्ततः पश्चादुदीर्यताम् । विघ्नोपशान्तये दर्पमथनाय नमः पदम् ॥६॥
(दर्पमथनाय नमः)

गन्धप्रदानमन्त्रश्च शीलगन्धाय वं नमः । (शीलगन्धाय नमः)
पुष्पप्रदानमन्त्रोऽपि विमलाय नमः पदम् ॥७॥ (विमलाय नमः)

अथानन्तर—आगे इन क्रियाओंकी उत्तरचूलिकाका कथन करेंगे जिसमें कि इन तीनों क्रियाओंका विशेष निर्णय किया गया है ॥१॥ इस उत्तरचूलिकामें भी सबसे पहले क्रियाकल्प अर्थात् क्रियाओंके समूहकी सिद्धिके लिये मन्त्रोंका उद्धार करूंगा अर्थात् मन्त्रोंकी रचना आदि का निरूपण करूंगा सो ठीक ही है क्योंकि मुनियोंके कार्यकी सिद्धि भी मन्त्रोंके ही आधीन होती है ॥२॥ आधानादि क्रियाओंके प्रारम्भमें सबसे पहले तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्नियां स्थापित करना चाहिये ॥३॥ और वेदीके मध्य भागमें विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा विराजमान करनी चाहिये । उक्त क्रियाओंके प्रारम्भमें उन छत्र, चक्र, अग्नि तथा जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाकी जो पूजा की जाती है वह मन्त्रकल्प कहलाता है ॥४॥ इन क्रियाओंके करते समय जलसे भूमि शुद्ध करनेके लिये जिसके अन्तमें नमः शब्द लगा हुआ है ऐसे नीरजस् शब्दको चतुर्थीके एकवचनका रूप पढ़ना चाहिये अर्थात् 'नीरजसे नमः' (कर्मरूप धूलिसे रहित जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार हो) यह मंत्र बोलना चाहिये । इस मन्त्रका फल उत्कृष्ट विशुद्धि होना है ॥५॥ तदनन्तर डाभका आसन ग्रहण करना चाहिये और उसके बाद विघ्नोंको शान्त करने के लिये 'दर्पमथनाय नमः' (अहंकारको नष्ट करनेवाले भगवान्को नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये ॥६॥ गन्ध समर्पण करनेका मन्त्र है 'शीलगन्धाय नमः' (शील रूप सुगन्ध धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो) । तथा पुष्प देनेका मन्त्र है 'विमलाय

१ उपरितनाशं यत् चूलिकायाम् । २ गर्भान्वयादीनाम् । ३ वक्ष्ये । ४ क्रियाकलापकरणार्थम् ।
५ अग्नीन् । ६ वेदिमध्ये । ७ गर्भाधानादिक्रियारम्भे । ८ छत्रत्रयादिपूजन । ९ भूमिसंयोगार्थं भूमि-
सेवनार्थमित्यर्थः । १० जलसेचनफलम् ।

कुर्यादक्षतपूजार्थम् अक्षताय नमः पदम् । (अक्षताय नमः)
 'धूपार्थं श्रुतधूपाय नमः पदमुदाहरेत् ॥८॥ (श्रुतधूपाय नमः)
 ज्ञानोद्योताय पूर्व च दीपदाने नमः पदम् । (ज्ञानोद्योताय नमः)
 मन्त्रः परमसिद्धाय नमः इत्यामृतोद्धृती^१ ॥९॥ (परमसिद्धाय नमः)
 मन्त्रैरेभिस्तु संस्कृत्य यथावज्जगतीतलम् । ततोऽन्वक्^२ पीठिकामन्त्रः पठनीयो द्विजोत्तमः ॥१०॥
 पीठिकामन्त्रः—
 सत्यजातपदं पूर्व चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । 'ततोऽर्हज्जातशब्दश्च तदनन्तस्तत्परो' मतः ॥११॥
 ततः परमजाताय नम इत्यपरं पदम् । ततोऽनुपमजाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥१२॥
 ततश्च स्वप्रधानाय नम इत्युत्तरो ध्वनिः^३ । अचलाय नमः शब्दाद् अक्षयाय नमः परम् ॥१३॥
 अव्याबाधपदं चान्यद् अनन्तज्ञानशब्दनम् । अनन्तदर्शनानन्तवीर्यशब्दौ ततः पृथक् ॥१४॥
 अनन्तसुखशब्दश्च नीरजःशब्द एव च । निर्मलाच्छेद्यशब्दौ च तथाऽभेदाजरश्रुती ॥१५॥

नमः (कर्ममलसे रहित जिनेन्द्रभगवान्को लिये नमस्कार हो) ॥७॥ अक्षतसे पूजा करनेके लिये 'अक्षताय नमः' (क्षयरहित जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र बीले और धूपसे पूजा करते समय 'श्रुतधूपाय नमः' (प्रसिद्ध वासनावाले भगवान्को नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करे ॥८॥ दीप चढ़ाते समय 'ज्ञानोद्योताय नमः' (ज्ञानरूप उद्योत-प्रकाश) को धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़े और अमृत अर्थात् नैवेद्य चढ़ाते समय 'परमसिद्धाय नमः' (उत्कृष्ट सिद्धभगवान्को नमस्कार हो) ऐसा मन्त्र बीले ॥९॥ इस प्रकार इन मन्त्रोंसे विधिपूर्वक भूमिका संस्कार कर उसके बाद उन उत्तम द्विजोंको पीठिका मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥१०॥ पीठिका मन्त्र इस प्रकार है—सबसे पहले, जिसके आगे 'नमः' शब्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति अन्तमें है ऐसे सत्यजात शब्दका उच्चारण करना चाहिये अर्थात् 'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) बोलना चाहिये, उसके बाद चतुर्थ्यन्त अर्हज्जात शब्दके आगे 'नमः' पद लगा कर 'अर्हज्जाताय नमः' (प्रशंसनीय जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र बीले ॥११॥ तदनन्तर 'परमजाताय नमः' (उत्कृष्ट जन्मग्रहण करनेवाले अर्हन्तदेवको नमस्कार हो) बोलना चाहिये और उसके बाद 'अनुपमजाताय नमः' (उपमारहित जन्म धारण करनेवाले जिनेन्द्रको नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥१२॥ इसके बाद 'स्वप्रधानाय नमः' (अपने आप ही प्रधान अवस्थाको प्राप्त होनेवाले जिनराजको नमस्कार हो) यह मन्त्र बीले और उसके पश्चात् 'अचलाय नमः' (स्वरूपमें निश्चल रहनेवाले वीतराग को नमस्कार हो) तथा 'अक्षयाय नमः' (कभी नष्ट न होनेवाले भगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥१३॥ इसी प्रकार 'अव्याबाधाय नमः' (बाधाओंसे रहित परमेश्वर को नमस्कार हो), 'अनन्तज्ञानाय नमः' (अनन्त ज्ञानको धारण करनेवाले जिनराजको नमस्कार हो), 'अनन्तदर्शनाय नमः' (अनन्तदर्शन—केवल दर्शनको धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो), 'अनन्तवीर्याय नमः' (अनन्त बलके धारक अर्हन्तदेवको नमस्कार हो), 'अनन्तसुखाय नमः' (अनन्तसुखके भाण्डार जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो), 'नीरजसे

ततोऽमराप्रमेयोक्ती^१ सागर्भावासशब्दने^२ । ततोऽक्षोभ्याविलीनोक्ती परमाविर्धानध्वनिः^३ ॥१६॥
 पृथक्पृथगिमे^४ शब्दास्तदन्तास्तत्परा^५ मताः । उत्तराण्यनुसन्धाय पदान्ध्वेभिः पद्वैवेत् ॥१७॥
 आदौ परमकाष्ठेति योगरूपायवाक्परम् । नमः शब्दमुदीर्यन्ते मन्त्रविन्मन्त्रमुद्धरेत् ॥१८॥
 लोकाग्रवासिनेशब्दात्परः कार्यो नमो नमः । एवं परमसिद्धेभ्योऽर्हत्सिद्धेभ्य इत्यपि ॥१९॥
 एवं केवलसिद्धेभ्यः पदाद् भूयोऽन्तकृत्वदात् । सिद्धेभ्य इत्यमुष्माच्च परम्परपदादपि^६ ॥२०॥
 अनादिपदपूर्वाच्च तस्मादेव^७ पदात्परम् । अनाद्यनुपमादिभ्यः सिद्धेभ्यश्च नमो नमः ॥२१॥

नमः' (कर्मरूपी धूलिसे रहित जिनराजको नमस्कार हो), 'निर्मलाय नमः' (कर्मरूप मलसे रहित जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) 'अच्छेद्याय नमः' (जिनका कोई छेदन नहीं कर सके ऐसे जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो), 'अभेद्याय नमः' (जो किसी तरह भिद नहीं सके ऐसे अरहन्त को नमस्कार हो), 'अजराय नमः' (जो बुढ़ापासे रहित है उसे नमस्कार हो), 'अमराय नमः' (जो मरणसे रहित है उसे नमस्कार हो), 'अप्रमेयाय नमः' (जो प्रमाणसे रहित है—छद्मस्थ पुरुषके ज्ञानसे अगम्य है, उसे नमस्कार हो) 'अगर्भवासाय नमः' (जो जन्म-मरणसे रहित होनेके कारण किसीके गर्भमें निवास नहीं करते ऐसे जिनराजको नमस्कार हो), 'अक्षोभ्याय नमः' (जिन्हें कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता ऐसे भगवान्को नमस्कार हो), 'अविलीनाय नमः' (जो कभी विलीन-नष्ट नहीं होते उन परमात्माको नमस्कार हो) और 'परमघनाय नमः' (जो उत्कृष्ट घनरूप हैं—उन्हें नमस्कार हो) इन अव्यावाद्य आदि शब्दोंके आगे चतुर्थी-विभक्ति तथा नमः शब्द लगाकर ऊपर लिखे अनुसार अव्यावाधाय नमः आदि मन्त्र पदोंका उच्चारण करना चाहिये ॥१४-१७॥ तदनन्तर मन्त्रको जाननेवाला द्विज जिसके आदिमें 'परमकाष्ठ' है और अन्तमें योगरूपाय है ऐसे शब्दका उच्चारण कर उसके आगे 'नमः' पद लगाता हुआ 'परमकाष्ठयोगाय नमः' (जिनका योग उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त हो रहा है ऐसे जिनेन्द्रको नमस्कार हो) इस मन्त्रका उद्धार करे ॥१८॥ फिर लोकाग्रवासिने शब्दके आगे 'नमो नमः' लगाना चाहिये इसी प्रकार परम सिद्धेभ्यः और अर्हत्सिद्धेभ्यः शब्दोंके आगे भी नमो नमः शब्दका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् क्रमसे 'लोकाग्रवासिने नमो नमः' (लोकके अग्रभाग पर निवास करनेवाले सिद्ध परमेश्वरीको बार बार नमस्कार हो), 'परमसिद्धेभ्यो नमो नमः' (परम सिद्धभगवान्को बार बार नमस्कार हो) और 'अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः' (जिन्होंने अरहन्त अवस्थाके बाद सिद्ध अवस्था प्राप्त की है ऐसे सिद्ध महाराजको बार बार नमस्कार हो) इन मन्त्रोंका उच्चारण करना चाहिये ॥१९॥ इसी प्रकार 'केवलसिद्धेभ्यो नमो नमः' (केवली सिद्धोंको नमस्कार हो) 'अन्तःकृत्सिद्धेभ्यो नमो नमः' (अन्तकृत् केवली होकर सिद्ध होनेवालोंको नमस्कार हो), 'परम्परसिद्धेभ्यो नमः' (परम्परासे हुए सिद्धोंको नमस्कार हो) 'अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमः' (अनादि कालसे हुए परम सिद्धोंको नमस्कार हो) और 'अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः' (अनादिकालसे हुए उपमारहित सिद्धोंको नमस्कार हो), इन मन्त्रपदों का उच्चारण कर नीचे लिखे पद पढ़ना चाहिये । इन नीचे लिखे शब्दोंको सम्बोधनरूपसे दो दो बार बोलना चाहिये । प्रथम ही हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे आसन्नभव्य

१ अमराप्रमेयशब्दौ । २ सागर्भावासशब्दसहिते । ३ परमधनशब्दः । ४ अव्यावाधपदमित्यादयः । ५ चतुर्थ्यन्ताः । ६ नमःशब्दपराः । ७ परम्परशब्दात् । ८ सिद्धेभ्य इति पदात् ।

इति मन्त्रपदान्युक्त्वा पदानोमान्यतः पठेत् । द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्र्य^१ वक्तव्यं सम्यग्दृष्टिपदं ततः ॥२२॥
आसन्नभयशब्दश्च द्विर्वाच्यस्तद्वदेव^२ हि । निर्वाणादिश्च पूजार्हः स्वाहान्तोऽग्नीन्द्र इत्यपि ॥२३॥
काम्यमन्त्रः—

ततः स्वकाम्यसिद्ध्यर्थमिदं^३ पदमुदाहरेत् । सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु तत्परम्^४ ॥२४॥

अपमृत्युविनाशनं भवत्वन्तं^५ पदं भवेत् । भवत्वन्तमतो वाच्यं समाधिमरणाक्षरम्^६ ॥२५॥

चूणिः—‘सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्यावाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तदर्शनाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः, अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमघनाय नमः, परमकाष्ठायोयोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हसिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्तकृतसिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमः, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभय आसन्नभय निर्वाण-पूजार्ह निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

पीठिकामन्त्र एष स्यात् पदरेभिः समुच्चितैः । जातिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतमनुक्रमात्^७ ॥२६॥

सत्यजन्मपदं तान्तमावी^८ शरणमुपयतः । प्रपद्यामीति व्याख्यं स्यादर्हज्जन्मपदं तथा ॥२७॥

हे आसन्नभय, हे निर्वाणपूजार्ह हे निर्वाणपूजार्ह, और फिर अग्नीन्द्र स्वाहा इस प्रकार उच्चारण करना चाहिये (इन सबका अर्थ यह है कि हे सम्यग्दृष्टि, हे निकटभय, हे निर्वाण कल्याणकी पूजा करने योग्य, अग्निकुमार देवोंके इन्द्र, तेरे लिये यह हवि सम-पित करता हूँ) ॥२०-२३॥ (अब इसके आगे काम्य मन्त्र लिखते हैं) । तदनन्तर अपनी इष्टसिद्धिके लिये नीचे लिखे पदका उच्चारण करना चाहिये ‘सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु’ अर्थात् मुझे सेवाके फलस्वरूप छह परम स्थानोंकी प्राप्ति हो, अपमृत्युका नाश हो और समाधिमरण प्राप्त हो ॥२४-२५॥ ऊपर कहे हुए सब मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्व-प्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्यावाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्त-दर्शनाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः, अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षो-भ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमघनाय नमः, परमकाष्ठायोयोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हसिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्त-कृतसिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनु-पमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभय आसन्नभय निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

इस प्रकार इन समस्त पदोंके द्वारा यह पीठिका मन्त्र कहा, अब इसके आगे शास्त्रोंके अनुसार अनुक्रमसे जातिमन्त्र कहते हैं ॥२६॥ तान्त अर्थात् षष्ठीविभक्त्यन्त सत्यजन्म पदके आगे शरण और उसके आगे प्रपद्यामि शब्द कहना अर्थात् ‘सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि’ (मैं

१ सम्बोधनं कृत्वा । २ आमन्त्रणं कृत्वेत्यर्थः । ३ अभीष्टम् । ४ तस्मादुपरि । ५ भवतुशब्दोऽन्ते यस्य तत् । ६ पठेत् द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । ७ समाधिमरणपदम् । ८ आगमानतिक्रमेण । ९ नान्तमिति पाठः, नकारः अन्ते यस्य तत् ।

अर्हन्मातृपदं तद्वत्सुतस्य अर्हन्मातृपदं । अनादिगमनस्येति तथाऽनुपमजन्मनः ॥२८॥

रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामीत्यतः परम् । बोध्यन्तं^१ च ततः सम्यग्दृष्टि^२ द्वित्वेन^३ योजयेत् ॥२९॥

ज्ञानमूर्तिपदं तद्वत्सरस्वतिपदं तथा । स्वाहान्तमन्ते वक्तव्यं काम्यमन्त्रश्च^४ पूर्ववत् ॥३०॥

वृत्तिः—सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु ।

जातिमन्त्रोऽप्यमाप्नातो^५ जातिसंस्कारकारणम् । मन्त्रं निस्तारकादि च यथाभ्यायमितो ब्रुवे ॥३१॥
निस्तारकमन्त्रः—

स्वाहान्तं सत्यजाताय पदमादावनुस्मृतम् । तदन्तमर्हज्जातायपदं स्यात्तदनन्तरम् ॥३२॥

ततः षट्कर्मणे स्वाहा पदमुच्चारयेत् द्विजः । स्याद्ग्रामयतये स्वाहा पदं तस्मादनन्तरम् ॥३३॥

अनादिश्रोत्रियायेति ब्रूयात् स्वाहापदं ततः । तद्वच्च स्नातकायेति श्रावकायेति च द्वयम् ॥३४॥

सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवका शरण लेता हूँ), इस प्रकार कहना चाहिये । इसके बाद 'अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं अरहन्त पदके योग्य जन्म धारण करनेवाले का शरण लेता हूँ) 'अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि' (अर्हन्तदेवकी माताका शरण लेता हूँ), 'अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि' (अरहन्तदेवके पुत्रका शरण लेता हूँ), 'अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि' (अनादि ज्ञानको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ), 'अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (उपमारहित जन्मको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ) और 'रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि' (रत्नत्रयका शरण ग्रहण करता हूँ) ये मन्त्र बोलना चाहिये । तदनन्तर सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमूर्ति और सरस्वती पदका दो दो बार उच्चारणकर अन्तमें स्वाहा शब्द बोलना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, सरस्वति सरस्वति, स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते हे ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति, मैं तेरे लिये हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र कहना चाहिये और फिर काम्य मन्त्र पहलेके समान ही पढ़ना चाहिये ॥२७—३०॥ ऊपर कहे हुए पीठिका मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे ज्ञानमूर्ते ज्ञानमूर्ते, सरस्वति सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।'

ये मन्त्र जातिसंस्कारका कारण होनेसे जाति मन्त्र कहलाते हैं अब इसके आगे निस्तारक मन्त्र कहते हैं ॥३१॥ सबसे पहले 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्यरूप जन्मको धारण करने वालेके लिये मैं हवि समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रका स्मरण किया गया है फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तरूप जन्मको धारण करनेवालेके लिये मैं हवि समर्पित करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिये और इसके बाद षट्कर्मणे स्वाहा (देवपूजा आदि छह कर्म करनेवालेके लिये हवि समर्पित करता हूँ), इस मन्त्रका द्विजको उच्चारण करना चाहिये । फिर 'ग्रामयतये स्वाहा' (ग्रामयतिके लिये समर्पण करता हूँ), यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥३२—३३॥ फिर

१ तु शब्दः अन्ते यस्य तत् । २ सम्बुद्धयन्तम् । ३ सम्यग्दृष्टिपदम् । ४ द्विः कृत्वा योजयेदित्यर्थः । ५ षट्परमस्थानेत्यादि । ६ प्रोक्तः । ७ स्वाहान्तम् ।

स्यादेवब्राह्मणायेति स्वाहेत्यन्तमतः पदम् । सुब्राह्मणाय स्वाहान्तः स्वाहान्ताऽनुपमाय गीः ॥३५॥

सम्यग्दृष्टिपदं चैव तथा निधिपतिश्रुतिम् । ब्रूयाद् वैश्रवणोक्तिं च द्विः स्वाहेति ततः परम् ॥३६॥

काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात् पूर्ववन्मन्त्रविद् द्विजः । ऋषिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽहोपासकश्रुतिः ॥३७॥

धूर्जिः—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादि-
श्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय
स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु,
अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ऋषिमन्त्रः—

प्रथमं सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । गृह्णीयादर्हज्जाताय नमः शब्दं ततः परम् ॥३८॥

निर्ग्रन्थाय नमो वीतरागाय नम इत्यपि । महाव्रताय पूर्व च नमः पदमनन्तरम् ॥३९॥

त्रिगुप्ताय नमो महायोगाय नम इत्यतः । ततो विविधयोगाय नम इत्यनुपठ्यताम् ॥४०॥

विविधद्विपदं चास्मान्नमः शब्देन योजितम् । ततोऽङ्गधरपूर्वञ्च पठेत् पूर्वधरध्वनिम् ॥४१॥

‘अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा’ (अनादिकालीन श्रुतके अध्येताको समर्पण करता हूँ), यह मन्त्र-
पद बोलना चाहिये तदनन्तर इसी प्रकार ‘स्नातकाय स्वाहा’ और ‘श्रावकाय स्वाहा’ ये दो
मन्त्र पढ़ना चाहिये (केवली अरहन्त और श्रावकके लिये समर्पण करता हूँ) ॥३४॥ इसके
बाद ‘देवब्राह्मणाय स्वाहा’ (देवब्राह्मणके लिये समर्पण करता हूँ), ‘सुब्राह्मणाय स्वाहा’
(सुब्राह्मणके लिये समर्पण करता हूँ), और ‘अनुपमाय स्वाहा’ (उपमारहित भगवान्के
लिये हवि समर्पित करता हूँ), ये शब्द बोलना चाहिये ॥३५॥ तदनन्तर सम्यग्दृष्टि, निधि-
पति और वैश्रवण शब्दको दो दो बार कहकर अन्तमें स्वाहा शब्दका प्रयोग करना चाहिये
अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते, वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा’ (हे सम्यग्दृष्टि
हे निधियोंके अधिपति, हे कुबेर, मैं तुम्हें हवि समर्पित करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥३६॥
इसके बाद मन्त्रोंको जाननेवाला द्विज पहलेके समान काम्यमन्त्र बोले । अब इसके आगे
उपासकाध्ययन-शास्त्रके अनुसार ऋषिमन्त्र कहता हूँ ॥३७॥ जातिमन्त्रोंका संग्रह इस
प्रकार है—

‘सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादि-
श्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय
स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा,
सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधियरणं भवतु ।

ऋषिमन्त्र—प्रथम ही ‘सत्यजाताय नमः’ (सत्यजन्मको धारण करनेवालेको नमस्कार
हो) यह पद बोलना चाहिये और उसके बाद ‘अर्हज्जाताय नमः’ (अरहन्त रूप जन्मको धारण
करनेवालेके लिये नमस्कार हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिये ॥३८॥ तदनन्तर
‘निर्ग्रन्थाय नमः’ (परिग्रहरहितके लिये नमस्कार हो), ‘वीतरागाय नमः’ (रागद्वेषरहित जिनेन्द्र
देवको नमस्कार हो), ‘महाव्रताय नमः’ (महाव्रत धारण करनेवालोंके लिये नमस्कार हो),
‘त्रिगुप्ताय नमः’ (तीनों गुप्तियोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो), ‘महायोगाय नमः’
(महायोगको धारण करनेवाले ध्यानियोंको नमस्कार हो) और ‘विविधयोगाय नमः’ (अनेक
प्रकारके योगोंको धारण करनेवालोंके लिये नमस्कार हो) ये मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥३९-४०॥
फिर नमः शब्दके साथ चतुर्थी विभक्त्यन्त विविधद्वि शब्दका पाठ करना चाहिये अर्थात् ‘विवि-

नमः शब्दपरी चेतो चतुर्थ्यन्त्यावनुस्मृती । ततो गणधरावेति पदं युक्तनमः पदम् ॥४२॥

परमविभ्य इत्यस्मात्परं वाच्यं नमो नमः । ततोऽनुपमजाताय नमो नम इतीरयेत् ॥४३॥

सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विहदाहरेत् । ततो भूपतिशब्दश्च नगरोपपदः पतिः ॥४४॥

द्विर्वाच्यौ ताविसौ शब्दौ बोध्यन्तौ मन्त्रवेदिभिः । मन्त्रलोषोऽप्ययं तस्मादनन्तरमुदीर्यताम् ॥४५॥

कालश्रमणशब्दं च द्विह्वत्वाऽऽमन्त्रणे ततः । स्वाहेति पदमुच्चार्य प्राग्ब्रह्मात्म्यानि चोद्धरेत् ॥४६॥

चूणिः—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधधर्मे नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमविभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

(मुनिमन्त्रोऽयमात्मना मुनिभिस्तत्त्वदर्शभिः । वक्ष्ये सुरेन्द्रमन्त्रं च यथा 'स्माद्धार्यमै' श्रुतिः ॥४७॥

प्रथमं सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥४८॥

धर्मे नमः (अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो) ऐसा उच्चारण करना चाहिये । इसी प्रकार जिनके आगे नमः शब्द लगा हुआ है ऐसे चतुर्थ्यन्त अङ्गधर और पूर्वधर शब्दोंका पाठ करना चाहिये अर्थात् 'अङ्गधराय नमः' (अङ्गोंके जाननेवालेको नमस्कार हो) और 'पूर्वधराय नमः' (पूर्वोंके जाननेवालोंको नमस्कार हो) ये मन्त्र बोलना चाहिये । तदनन्तर 'गणधराय नमः' (गणधरको नमस्कार हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिये ॥४१-४२॥ फिर परमविभ्यः शब्दके आगे नमो नमः का उच्चारण करना चाहिये अर्थात् 'परमविभ्यो नमो नमः' (परम ऋद्धियोंको बार बार नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिये और इसके बाद 'अनुपमजाताय नमो नमः' (उपमारहित जन्मधारण करनेवालेको बार बार नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये ॥४३॥ फिर अन्तमें सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिये और इसी प्रकार मन्त्रोंको जाननेवाले द्विजों को सम्बोधनान्त भूपति और नगरपति शब्दका भी दो दो बार उच्चारण करना चाहिये । तदनन्तर आगे कहा जानेवाला मन्त्रका अवशिष्ट अंश भी बोलना चाहिये । कालश्रमण शब्दको सम्बोधन विभक्तिमें दो बार कहकर उसके आगे स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिये और फिर यह सब कह चुकनेके बाद पहलेके समान काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिये ॥४४-४६॥ इन सब ऋषिमन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

'सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधधर्मे नमः' अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमविभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

तत्त्वोंके जाननेवाले मुनियोंके द्वारा ये ऊपर लिखे हुए मन्त्र मुनिमन्त्र अथवा ऋषिमन्त्र माने गये हैं । अब इनके आगे भगवान् ऋषभदेवकी श्रुतिने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार मैं सुरेन्द्र मन्त्रोंको कहता हूँ ॥४७॥

प्रथम ही मैं 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्यजन्म लेनेवालेको हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिये, फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तको योग्य जन्म लेनेवालेको हवि

ततश्च दिव्यजाताय स्वाहेत्येवमुदाहरेत् । ततो दिव्यार्च्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् ॥४६॥

ब्रूयाच्च नेमिनाथाय स्वाहेत्येतदनन्तरम् । सौधर्माय पदं चास्मात्स्वाहोक्त्यन्तमनुस्मरेत् ॥४७॥

कल्पाधिपतये स्वाहापदं वाच्यमतः परम् । भूयोऽप्यनुचरायादि स्वाहाशब्दमुदीरयेत् ॥४८॥

ततः परम्परेन्द्राय स्वाहेत्युच्चारयेत्पदम् । सम्पठेदहमिन्द्राय स्वाहेत्येतदनन्तरम् ॥४९॥

ततः परमार्हताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततोऽप्यनुपमायेति पदं स्वाहापदान्वितम् ॥५०॥

सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् । तथा कल्पपतिं चापि दिव्यमूर्तिं च सम्पठेत् ॥५१॥

द्विर्वाच्यं वज्रनामेति ततः स्वाहेति संहरेत्^१ । पूर्ववत् काम्यमन्त्रोऽपि पाठ्योऽस्यान्ते त्रिभिः^२ पदैः ॥५२॥

चूर्णिः—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधि-मरणं भवतु ।

समर्पण करता हूँ) यह उत्कृष्ट पद पढ़ना चाहिये ॥४८॥ फिर 'दिव्यजाताय स्वाहा' (जिसका जन्म दिव्यरूप है उसे हवि समर्पण करता हूँ) ऐसा उच्चारण करना चाहिये और फिर 'दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा' (दिव्य तेजःस्वरूप जन्म धारण करनेवालेके लिये हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिये ॥४९॥ तदनन्तर 'नेमिनाथाय स्वाहा' (धर्मचक्रकी धुरीके स्वामी जिनेन्द्रदेवको समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिये और इसके बाद 'सौधर्माय स्वाहा' (सौधर्मन्द्रके लिये समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रका स्मरण करना चाहिये ॥५०॥ फिर 'कल्पाधिपतये स्वाहा' (स्वर्गके अधिपतिके लिये समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र कहना चाहिये और उसके बाद 'अनुचराय स्वाहा' (इन्द्रके अनुचरोंके लिये समर्पण करता हूँ) यह शब्द बोलना चाहिये ॥५१॥ फिर 'परम्परेन्द्राय स्वाहा' (परम्परासे होनेवाले इन्द्रोंके लिये समर्पण करता हूँ) इस पदका उच्चारण करे और उसके अनन्तर 'अहमिन्द्राय स्वाहा' (अहमिन्द्रके लिये समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र अच्छी तरह पढ़े ॥५२॥ फिर 'परमार्हताय स्वाहा' (अरहन्तदेवके परम-उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये और उसके पश्चात् 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहितके लिये समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिये ॥५३॥ तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिये तथा सम्बोधनान्त कल्पपति और दिव्यमूर्ति शब्दको भी दो दो बार पढ़ना चाहिये इसी प्रकार सम्बोधनान्त वज्रनामन् शब्द को भी दो बार बोलकर स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिये और अन्तमें तीन तीन पदोंके द्वारा पहलेके समान काम्य मन्त्र पढ़ना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे स्वर्गके अधिपति, हे दिव्य-मूर्तिको धारण करनेवाले, हे वज्रनाम, मैं तेरे लिये हवि समर्पण करता हूँ) यह बोलकर काम्य मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥५४-५५॥

ऊपर कहे हुए सुरेन्द्र मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु

१ सम्यग्ब्रूयात् । २ षट्परमस्थानेत्यादिभिः ।

सुरेन्द्रमन्त्र एषः स्यात् सुरेन्द्रस्यानुत्तर्पणम् । मन्त्रं परमराजादि वक्ष्यामीतो यथाश्रुतम् ॥५६॥
 प्राग्वत् सत्यजाताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततः स्वावर्हंज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥५७॥
 ततश्चानुपमेन्द्राय स्वाहेत्येतत्पदं मतम् । विजयार्च्यंदिजाताय पदं स्वाहान्तमन्वतः ॥५८॥
 ततोऽपि नेमिनाथाय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः परमराजाय स्वाहेत्येतदुवाहरेत् ॥५९॥
 परमार्हताय स्वाहा पदमस्मात्परं पठेत् । स्वाहान्तमनुपायोक्तिरतो वाच्या द्विजन्मभिः ॥६०॥
 सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् । उग्रतेजः पदं चैव दिशाञ्जयपदं तथा ॥६१॥
 नैम्यादिविजयं चैव कुर्यात् स्वाहापदोत्तरम् । काम्यमन्त्रं च तं ब्रूयात् प्राग्वदन्ते पदैस्त्रिभिः ॥६२॥

चूणिः—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हंज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्च्यंजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमराजाय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशाञ्जय दिशाञ्जय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

मन्त्रः परमराजादिर्मतोऽयं परमेष्ठिताम् । परं मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽह परमा श्रुतिः ॥६३॥

अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

यह सुरेन्द्रको संतुष्ट करनेवाला सुरेन्द्र मन्त्र कहा । अब आगे शास्त्रोंके अनुसार परमराजादि मन्त्र कहते हैं ॥५६॥ इन मन्त्रोंमें सर्वप्रथम 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्य जन्म धारण करनेवालेको हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिये, फिर 'अर्हंज्जाताय स्वाहा' (अरहन्त पदके योग्य जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ) यह उत्कृष्ट पद पढ़ना चाहिये ॥५७॥ इसके बाद 'अनुपमेन्द्राय स्वाहा' (उपमारहित इन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीके लिये समर्पण करता हूँ) यह पद कहना चाहिये । तदनन्तर 'विजयार्च्यंजाताय स्वाहा' (विजयरूप तथा तेजःपूर्ण जन्मको धारण करनेवालेके लिये समर्पण करता हूँ) इस पदका उच्चारण करना चाहिये ॥५८॥ इसके पश्चात् 'नेमिनाथाय स्वाहा' (धर्मरूप रथके प्रवर्तकको समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिये और उसके बाद 'परमजाताय स्वाहा' (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिये ॥५९॥ फिर 'परमार्हताय स्वाहा' (उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिये और इसके बाद द्विजोंको 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहित के लिये समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥६०॥ तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिये तथा इसी प्रकार सम्बोधनान्त उग्रतेजः पद, दिशाञ्जय पद और नेमिविजय पदको दो दो बार बोलकर अन्तमें स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिये और अन्तमें पहलेके सयान तीन तीन पदोंसे काम्य मन्त्र बोलना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशाञ्जय दिशाञ्जय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे प्रचण्ड प्रतापके धारक, हे दिशाओंको जीतनेवाले, हे नेमिविजय, मैं तुम्हें हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलकर काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिये ॥६१-६२॥

परमराजादि मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हंज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्च्यंजाय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, उग्रतेजः, उग्रतेजः, दिशाञ्जय दिशाञ्जय, नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट् परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ये मन्त्र परमराजादि मन्त्र माने गये हैं । अब यहाँसे आगे जिस प्रकार परम शास्त्रमें

तत्राद्यौ सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । वाच्यं ततोऽर्हज्जाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥६४॥

ततः परमजाताय नमः पदमुदाहरेत् । परमार्हतशब्दं च चतुर्थ्यन्तं नमः परम् ॥६५॥

ततः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नम इत्युभयं वाच्यं पदमध्यात्मदर्शभिः ॥६६॥

परमाविगुणायैति पदं चान्यत्रमोद्युतम् । परमस्थानशब्दश्च चतुर्थ्यन्तो नमोऽन्वितः ॥६७॥

उदाहार्यं कर्म ज्ञात्वा ततः परमयोगिने । नमः परमभाग्याय नम इत्युभयं पदम् ॥६८॥

परमद्विपदं चान्यच्चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । स्यात्परमप्रसादाय नम इत्युत्तरं पदम् ॥६९॥

स्यात्परमकाङ्क्षिताय नम इत्यत उत्तरम् । स्यात्परमविजयाय नमः इत्युत्तरं वचः ॥७०॥

स्यात्परमविज्ञानाय नमो वास्तवदन्तरम् । स्यात्परमदर्शनाय नमः पदमतः परम् ॥७१॥

ततः परमवीर्याय पदं चास्मान्नमः परम् । परमादिसुखायैति पदमस्मादनन्तरम् ॥७२॥

सर्वज्ञाय नमोवाक्यमर्हते नम इत्यपि । नमो नमः पदं चास्मात्स्यात्परं परमेष्ठिने ॥७३॥

परमाविपवासेत्र इत्यस्मान्च नमो नमः । सम्पद्विष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विः प्रयुज्यताम् ॥७४॥

कहा है उसी प्रकार परमेष्ठियोंके उत्कृष्ट मन्त्र कहता हूँ ॥६३॥ उन परमेष्ठी मन्त्रोंमें सबसे पहले 'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार हो) यह पद बोलना चाहिये और उसके बाद 'अर्हज्जाताय नमः' (अरहन्तके योग्य जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिये ॥६४॥ तदनन्तर 'परमजाताय नमः' (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार हो) यह पद कहना चाहिये और इसके बाद चतुर्थी विभक्त्यन्त परमार्हत शब्दके आगे नमः पद लगाकर 'परमार्हताय नमः' (उत्कृष्ट जिनधर्मके धारकके लिये नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥६५॥ तत्पश्चात् अध्यात्म शास्त्रको जाननेवाले द्विजोंको 'परमरूपाय नमः' (उत्कृष्ट निर्यन्थरूपको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो) और परम-तेजसे नमः (उत्तम तेजको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो) ये दो मन्त्र बोलना चाहिये ॥६६॥ फिर नमः शब्दके साथ परमगुणाय यह पद अर्थात् 'परमगुणाय नमः' (उत्कृष्ट गुण वालेके लिये नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिये और उसके अनन्तर नमः शब्दसे सहित चतुर्थी विभक्त्यन्त परमस्थान शब्द अर्थात् 'परमस्थानाय नमः' (मोक्षरूप उत्तमस्थानवालेके लिये नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिये ॥६७॥ इसके पश्चात् क्रमको जानकर 'परम-योगिने नमः' (परम योगीके लिये नमस्कार हो) और 'परमभाग्याय नमः' (उत्कृष्ट भाग्य-शालीको नमस्कार हो) ये दोनों पद बोलना चाहिये ॥६८॥ तदनन्तर जिसके आगे नमः शब्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति जिसके अन्तमें है ऐसा परमद्वि पद अर्थात् 'परमर्द्धये नमः' (उत्तम ऋद्धियोंके धारकके लिये नमस्कार हो) और 'परमप्रसादाय नमः' (उत्कृष्ट प्रसन्नताको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो) ये दो मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥६९॥ फिर 'परमकाक्षिताय नमः' (उत्कृष्ट आत्मानन्दकी इच्छा करनेवालेके लिये नमस्कार हो) और परमविजयाय नमः (कर्मरूप शत्रुओंपर उत्कृष्ट विजय पानेवालेके लिये नमस्कार हो) ये दो मन्त्र बोलना चाहिये ॥७०॥ तदनन्तर 'परमविज्ञानाय नमः' (उत्कृष्ट ज्ञानवालेके लिये नमस्कार हो) और उसके बाद 'परमदर्शनाय नमः' (परम दर्शनके धारकके लिये नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिये ॥७१॥ इसके पश्चात् 'परमवीर्याय नमः' (अनन्त बल शालीके लिये नमस्कार हो) और फिर 'परमसुखाय नमः' (परम सुखके धारकको नमस्कार हो) ये मन्त्र कहना चाहिये ॥७२॥ इसके अनन्तर सर्वज्ञाय नमः (संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेवालेके लिये नमस्कार हो) 'अर्हते नमः' (अरहन्तदेवके लिये नमस्कार हो), और फिर 'परमेष्ठिने नमो नमः' (परमेष्ठीके लिये बार बार नमस्कार हो) ये मन्त्र बोलना चाहिये ॥७३॥ तदनन्तर 'परमनेत्रे नमो नमः' (उत्कृष्ट नेताके लिये नमस्कार हो) यह मन्त्र

द्विः^१ स्तां^२ त्रिलोकविजयधर्ममूर्तिपदे ततः । धर्मनेमिपदं वाच्यं द्विः स्वाहेति ततः परम् ॥७५॥

काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्पूर्वध्वनिविधिवद्विजः । काम्यसिद्धिप्रधाना हि सर्वे मन्त्राः स्मृता बुधैः ॥७६॥

चूर्णिः—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाक्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

^३एते तु पीठिकामन्त्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः । एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाद्यानादिक्रियाविधौ ॥७७॥

क्रियामन्त्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ । सूत्रे गणधरोद्धार्य यान्ति साधनमन्त्रताम् ॥७८॥

संध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि । भवन्त्याहुतिमन्त्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥७९॥

सिद्धार्चासिधौ मन्त्रान् जपेदष्टोत्तरं शतम् । गन्धपुष्पाक्षतार्घ्यादिनिर्बदनपुरःसरम् ॥८०॥

सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभिः कर्म समाचरेत् । शुक्लवासाः शुचिर्यज्ञोपवीत्यव्यग्रमानसः ॥८१॥

कहना चाहिये और उसके बाद सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार प्रयोग करना चाहिये ॥७४॥ तथा इसी प्रकार त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ति और धर्मनेमि शब्दको भी दो दो बार उच्चारण कर अन्तमें स्वाहा पद बोलना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे तीनों लोकोंको विजय करनेवाले, हे धर्ममूर्ति और हे धर्मके प्रवर्तक, मैं तेरे लिये हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥७५॥ तत्पश्चात् द्विजोंको पहलेके समान विधिपूर्वक काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिये क्योंकि विद्वान् लोग सब मन्त्रोंसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होना ही मुख्य फल मानते हैं ॥७६॥

परमेष्ठी मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाक्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

ब्राह्मणोंको ये ऊपर लिखे हुए सात पीठिका मन्त्र जानना चाहिये और गर्भाधानादि क्रियाओंको विधि करनेमें इनसे सिद्धपूजन करना चाहिये ॥७७॥ गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमें ये मन्त्र क्रियामन्त्र कहलाते हैं और गणधरोंके द्वारा कहे हुए सूत्रमें ये ही साधन मन्त्रपनेको प्राप्त हो जाते हैं ॥७८॥ विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए ये ही मन्त्र संध्याओंके समय तीनों अग्नियोंमें देवपूजनरूप नित्य कर्म करते समय आहुति मन्त्र कहलाते हैं ॥७९॥ सिद्ध भगवान्की प्रतिमाके सामने पहले गन्ध, पुष्प, अक्षत और अर्घ आदि समर्पण कर एक सौ आठ बार उक्त मन्त्रोंका जप करना चाहिये ॥८०॥ तदनन्तर जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गई हैं, जो

त्रयोऽनयः प्रणेयाः^१ स्युः कर्मारम्भे द्विजोत्तमैः । रत्नत्रितयसङ्कल्पादग्नीन्द्रमुकुटोद्भवाः ॥८२॥

तीर्थकुङ्कुमभृच्छेषकेवल्यन्तमहोत्सवै^२ । पूजाङ्गत्वं^३ समासाद्य पवित्रत्वमुपागताः ॥८३॥

(कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्तत्र एते महान्नयः । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धयः ॥८४॥)

अस्मिन्नग्नित्रये पूजा मन्त्रैः कुर्वन् द्विजोत्तमः । आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सन्नयि ॥८५॥

“हविष्पाके च धूपे च दीपोद्बोधनसंविधौ । वल्लीनां^४ विनियोगः स्याद् अग्नीषां नित्यपूजने ॥८६॥

(प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्याद् इदमग्नित्रयं गृहे । नैव वातव्यमन्येभ्यस्तेज्ये ये स्युरसंस्कृताः” ॥८७॥)

न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं देवतारूपमेव वा । किन्त्वहं दिव्यमूर्तीज्यासम्बन्धात् पावनोऽनलः ॥८८॥

(ततः पूजाङ्गतामस्य सत्त्वाचन्ति द्विजोत्तमाः । निर्वाणक्षेत्रपूजावत्तत्पूजाऽतो^५ न दुष्यति ॥८९॥

व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजेः । जैनैरध्यवहार्यो^६ऽयं नयोऽद्यत्वेऽग्रजन्मनः” ॥९०॥)

साधारणास्त्विमे मन्त्राः सर्वत्रैव क्रियाविधौ । यथा सम्भवमुन्नेष्ये^७ विशेषविषयाश्च तान् ॥९१॥

सफेद वस्त्र पहने हुए हैं, पवित्र हैं, यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं और जिसका चित्त आकुलतासे रहित है ऐसा द्विज इन मन्त्रोंके द्वारा समस्त क्रियाएँ करें ॥८१॥ क्रियाओंके प्रारम्भमें उत्तम द्विजोंकी रत्नत्रयका संकल्प कर अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई तीन प्रकारकी अग्नियाँ प्राप्त करनी चाहिये ॥८२॥ ये तीनों ही अग्नियाँ तीर्थङ्कर, गणधर और सामान्य केवलीके अन्तिम अर्थात् निर्वाणमहोत्सवमें पूजाका अंग होकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई मानी जाती हैं ॥८३॥ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामसे प्रसिद्ध इन तीनों महाअग्नियोंको तीन कुण्डोंमें स्थापित करना चाहिये ॥८४॥ इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंमें मन्त्रोंके द्वारा पूजा करनेवाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकारकी पूजा नित्य होती रहती है वह आहिताग्नि अथवा अग्निहोत्री कहलाता है ॥८५॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंका विनियोग नैवेद्यके पकानेमें, धूपखेनेमें और दीपक जलानेमें होता है अर्थात् गार्हपत्य अग्निसे नैवेद्य पकाया जाता है, आहवनीय अग्निमें धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्निसे दीपक जलाया जाता है ॥८६॥ घरमें बड़े प्रयत्नके साथ इन तीनों अग्नियोंकी रक्षा करनी चाहिये और जिनका कोई संस्कार नहीं हुआ है ऐसे अन्य लोगोंको कभी नहीं देनी चाहिये ॥८७॥ अग्निमें स्वयं पवित्रता नहीं है और न वह देवतारूप ही है किन्तु अरहन्तदेवकी दिव्य मूर्तिकी पूजाके सम्बन्धसे वह अग्नि पवित्र हो जाती है ॥८८॥ इसलिये ही द्विजोत्तम लोग इसे पूजाका अंग मानकर इसकी पूजा करते हैं अतएव निर्वाणक्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमें कोई दोष नहीं है । भावार्थ—जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके सम्बन्धसे क्षेत्र भी पूज्य हो जाते हैं उसी प्रकार उनके सम्बन्धसे अग्नि भी पूज्य हो जाती है अतएव जिस प्रकार निर्वाण आदि क्षेत्रोंकी पूजा करनेमें दोष नहीं है उसी प्रकार अग्निकी पूजा करनेमें भी कोई दोष नहीं है ॥८९॥ ब्राह्मणोंको व्यवहार नयकी अपेक्षा ही अग्निकी पूज्यता इष्ट है इसलिये जैन ब्राह्मणोंको भी आज यह व्यवहारनय उपयोगमें लाना चाहिये ॥९०॥ ये ऊपर कहे हुए मन्त्र साधारण मन्त्र हैं, सभी क्रियाओंमें काम आते हैं अब विशेष क्रियाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले विशेष मन्त्रोंको यथासम्भव कहता हूँ ॥९१॥

१ संस्कार्याः । २ केवली । ३ परिनिर्वाणमहोत्सवै । ४ कारणात्त्वम् । ५ चरुपचने ।

६ गार्हपत्यादीनाम् अग्नित्रयाणां । यथासंख्येन हविःपाकादिषु त्रिषु विनियोगः स्यात् । ७ गर्भाधाना-
विसंस्काररहिताः । ८ अग्नित्रयपूजा । ९ कारणात् । १० व्यवहृत्य योग्यः । ११ विप्रस्य ।—जन्मभिः
६०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । १२ लृट् । वक्ष्ये ।

गर्भाधानमन्त्रः—

सज्जातिभागी भव सद्गृहिभागी भवेति च । पदद्वयमुदीर्यादौ पदानिमान्यतः पठेत् ॥६२॥

आदौ मुनीन्द्रभागीति भवेत्यन्ते पदं वदेत् । सुरेन्द्रभागी परमराज्यभागीति च द्वयम् ॥६३॥

आर्हन्त्यभागी भवेति पदमस्मादनन्तरम् । ततः परमनिर्वाणभागी भव पदं भवेत् ॥६४॥

आधाने^१ मन्त्र एष स्यात् पूर्वमन्त्रपुरःसरः^२ । विनियोगश्च मन्त्राणां यथास्नायं प्रदर्शितः ॥६५॥

चूर्णिः—सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव, (आधानमन्त्रः)

स्यात्प्रीतिमन्त्रस्त्रैलोक्यनाथो भवपदादिकः । त्रैकाल्यज्ञानी भव त्रिरत्नस्वामी भवेत्ययम् ॥६६॥

चूर्णिः—त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैलोक्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव, (प्रीतिमन्त्रः) ?

^१मन्त्रोऽवतारकल्याणभागी भवपदादिकः । सुप्रीतो मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणवाक्परः ॥६७॥

भागीभव पदोपेतस्ततो निष्क्रान्तिवाक्परः । कल्याणमध्यमो भागी भवेत्येतेन योजितः ॥६८॥

ततश्चार्हन्त्यकल्याणभागी भव पदान्वितः । ततः परमनिर्वाणकल्याणपदसङ्गतः ॥६९॥

गर्भाधानके मन्त्र—प्रथम ही 'सज्जातिभागी भव' (उत्तम जातिको धारण करनेवाला हो) और 'सद्गृहिभागी भव' (उत्तम गृहस्थ अवस्थाको प्राप्त होओ) इन दो पदोंका उच्चारण कर पश्चात् नीचे लिखे पद पढ़ना चाहिये ॥६२॥ पहले 'मुनीन्द्रभागी भव' (महामुनिका पद प्राप्त करनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये और फिर 'सुरेन्द्रभागी भव' (इन्द्र पदका भोक्ता हो) तथा 'परमराज्यभागी भव' (उत्कृष्ट राज्यका उपभोग करनेवाला हो) इन दो पदोंका उच्चारण करना चाहिये ॥६३॥ तदनन्तर 'आर्हन्त्यभागी भव' (अरहन्त पदका प्राप्त करनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये और फिर 'परमनिर्वाणभागी भव' (परम निर्वाण पदको प्राप्त करनेवाला हो), यह पद कहना चाहिये ॥६४॥ गर्भाधानकी क्रियामें पहलेके मन्त्रोंके साथ साथ यह मन्त्र काममें लाना चाहिये इस प्रकार यह आस्नायके अनुसार मन्त्रोंका विनियोगका क्रम दिखलाया है ॥६५॥

गर्भाधानके समय काम आनेवाले विशेष मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव ।

अब प्रीतिमन्त्र कहते हैं—'त्रैलोक्यनाथो भव' (तीनों लोकोंके अधिपति होओ) 'त्रैकाल्यज्ञानी भव' (तीनों कालका जाननेवाला हो) और 'त्रिरत्नस्वामी भव' (रत्नत्रयका स्वामी हो) ये तीन प्रीतिक्रियाके मन्त्र हैं ॥६६॥

संग्रह—'त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव' ।

अब सुप्रीति क्रियाके मन्त्र कहते हैं—सुप्रीति क्रियामें 'अवतारकल्याणभागी भव' (गर्भकल्याणको प्राप्त करनेवाला हो), 'मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव' (सुमेरु पर्वतपर इन्द्रके द्वारा जन्माभिषेकके कल्याणको प्राप्त हो), 'निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव' (निष्क्रमण कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो), 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त अवस्था—केवलज्ञानकल्याणको प्राप्त करनेवाला हो), और 'परमनिर्वाणकल्याणभागी भव' (उत्कृष्ट निर्वाण कल्याणको

१ गर्भाधाने । २ पीठिकामन्त्रादिपुरःसरः । ३ अवतारादिकल्याणादिपरमनिर्वाणपदान्तानां सर्वपदानाम् । मन्त्र इति पदं विशेष्यपदं भवति ।

भागी भवपदान्तश्च क्रमाद्वाच्यो मनीषिभिः । धृतिमन्त्रमिदो' वक्ष्ये प्रीत्या शृणुत भो द्विजाः ॥१००॥

चूर्णिः—अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाण-कल्याणभागी भव, (सुप्रीति मन्त्रः) ।

धृतिक्रियामन्त्रः—

आधानमन्त्र एषात्र' सर्वत्राहितदातृवाक् । मध्ये यथाकृतं वाच्यो नान्यो भेदोऽत्र कश्चन ॥१०१॥

चूर्णिः—सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यपददातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव, (धृतिक्रिया मन्त्रः) ।

मोदक्रियामन्त्रः—

मन्त्रो मोदक्रियायां च मतोऽयं मुनिसत्तमैः । पूर्वं सज्जातिकल्याणभागी भव पदं वदेत् ॥१०२॥

ततः सद्गृहिकल्याणभागी भव पदं पठेत् । ततो वैवाहकल्याणभागी भव पदं सतम् ॥१०३॥

ततो मुनीन्द्रकल्याणभागी भव पदं स्मृतम् । पुनः सुरेन्द्रकल्याणभागी भव पदात्परम् ॥१०४॥

मन्दराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादिकल्याणपदसंयुतम् ॥१०५॥

प्राप्त करनेवाला हो) ये मन्त्र विद्वानोंको अनुक्रमसे बोलना चाहिये । अब आगे धृतिमन्त्र कहते हैं सो हे द्विजो, उन्हें तुम प्रीतिपूर्वक सुनो ॥१००-१००॥

संग्रह—'अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव' ।

धृति क्रियाके मन्त्र—गर्भाधान क्रियाके मंत्रोंमें सब जगह दातृ शब्द लगा देनेसे धृति क्रियाके मन्त्र हो जाते हैं, विद्वानोंको अनुक्रमसे उन्हींका प्रयोग करना चाहिये, आधान क्रियाके मंत्रोंसे इन मन्त्रोंमें और कुछ भेद नहीं है । भावार्थ—'सज्जातिदातृभागी भव' (सज्जाति-उत्तम जातिको देनेवाला हो), 'सद्गृहिदातृभागी भव' (सद्गृहस्थपदका देनेवाला हो), 'मुनीन्द्रदातृभागी भव' (महामुनिपदका देनेवाला हो), 'सुरेन्द्रदातृभागी भव' (सुरेन्द्रपदको देनेवाला हो), 'परमराज्यदातृभागी भव' (उत्तमराज्य—चक्रवर्तीके पदका देनेवाला हो), 'आर्हन्त्यदातृभागी भव' (अरहन्त पदका देनेवाला हो) तथा 'परमनिर्वाणदातृभागी भव' (उत्कृष्ट निर्वाण पदका देनेवाला हो) धृति क्रियामें इन मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये ॥१०१॥

संग्रह—'सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्र-दातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव' ।

अब मोदक्रियाके मन्त्र कहते हैं—उत्तम मुनियोंने मोदक्रियाके मन्त्र इस प्रकार माने हैं सबसे पहले 'सज्जातिकल्याणभागी भव' (सज्जातिके कल्याणको धारण करनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये, फिर सद्गृहिकल्याणभागी भव (उत्तम गृहस्थके कल्याणका धारण करनेवाला हो) यह पद पढ़ना चाहिये, तदनन्तर 'वैवाहकल्याणभागी भव' (विवाहके कल्याण को प्राप्त करनेवाला हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिये, फिर 'मुनीन्द्रकल्याणभागी भव' (महामुनि पदके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) यह मन्त्र बोलना चाहिये, इसके बाद 'सुरेन्द्रकल्याणभागी भव' (इन्द्र पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो), यह पद कहना चाहिये, फिर 'मन्दराभिषेककल्याणभागी भव' (सुमेरु पर्वतपर अभिषेकके कल्याणको प्राप्त हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये, अनन्तर 'यौवराज्यकल्याणभागी भव' (युवराज पदके कल्याण-का उपभोग करनेवाला हो) यह पद कहना चाहिये, तत्पश्चात् मन्त्रोंके प्रयोग करनेमें विद्वान् लोगोंको 'महाराज्यकल्याणभागी भव' (महाराज पदके कल्याणका उपभोक्ता हो) यह

भागीभवपदं वाक्यं मन्त्रयोगविशारदः । स्यान्महाराज्यकल्याणभागी भव पदं परम् ॥१०६॥

भूयः परमराज्यादिकल्याणोपहितं सतम् । भागी भवेत्यर्थाहन्त्यकल्याणेन च योजितम् ॥१०७॥

चूर्णः—सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहिकल्याणभागी भव, मुनीन्द्र-
कल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव,
महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, (मोदक्रिया मन्त्रः) ।

प्रियोद्भवमन्त्रः—

प्रियोद्भव च मन्त्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरम् । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥१०८॥

विजयायेत्यर्थाहन्त्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मन्त्राक्षरैरेभिः स्वाहान्तः सम्मतो द्विजैः ॥१०९॥

चूर्णः—दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा ।
(प्रियोद्भवमन्त्रः) ।

जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयम् एतेनार्भकमादितः । सिद्धाभिषेकगन्धाम्बुसंसिक्तं शिरसि स्थितम् ॥११०॥

कुलजातिवयोरुपगुणैः शीलप्रजान्वयैः । भग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्ठिता ॥१११॥

सम्यग्दृष्टिस्तवाम्बेयमतस्त्वमपि पुत्रकः । सम्प्रीतिमाप्नुहि त्रीणि प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥११२॥

इत्यङ्गानि स्पृशेदस्य प्रायः सारूप्ययोगतः । तत्रार्थायात्मसङ्कल्पं ततः सूक्तमिदं पठेत् ॥११३॥

मन्त्र बोलना चाहिये, फिर 'परमराज्यकल्याणभागी भव' (परमराज्यके कल्याणको प्राप्त हो) यह पद पढ़ना चाहिये और उसके बाद 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त पदके कल्याण-का उपभोग करनेवाला हो) यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥१०३-१०७॥

संग्रह—'सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहिकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' ।

अब प्रियोद्भव मन्त्र कहते हैं—प्रियोद्भव क्रियामें सिद्ध भगवान्की पूजा करनेके बाद नीचे लिखे मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये—

'दिव्यनेमिविजयाय', 'परमनेमिविजयाय', और 'आर्हन्त्यनेमिविजयाय' इन मन्त्राक्षरोंके साथ द्विजोंको अन्तमें स्वाहा शब्दका प्रयोग करना अभीष्ट है अर्थात् 'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा' (दिव्यनेमिके द्वारा कर्मरूप शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवालेके लिये हवि समर्पण करता हूँ), 'परमनेमिविजयाय स्वाहा' (परमनेमिके द्वारा विजय प्राप्त करनेवालेके लिये समर्पण करता हूँ) और 'आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' (अरहन्त अवस्थारूप नेमिके द्वारा कर्म शत्रुओंको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवके लिये समर्पण करता हूँ) ये तीन मन्त्र बोलना चाहिये ॥१०८-१०९॥

संग्रह—'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' ।

अब जन्म संस्कारके मन्त्र कहते हैं—प्रथम ही सिद्ध भगवान्के अभिषेकके गन्धोदकसे सिंचन किये हुए बालकको यह मन्त्र पढ़कर शिरपर स्पर्श करना चाहिये और कहना चाहिये कि यह तेरी माता कुल, जाति, अवस्था, रूप आदि गुणोंसे सहित है, शीलवती है, सन्तानवती है, भाग्यवती है, अवैधव्यसे युक्त है, सौम्यशान्तमूर्तिसे सहित है और सम्यग्दृष्टि है इसलिये हे पुत्र, इस माताके सम्बन्धसे तू भी अनुक्रमसे दिव्य चक्र, विजयचक्र और परमचक्र तीनों चक्रोंको पाकर सत्प्रीतिको प्राप्त हो ॥११०-११२॥ इस प्रकार आशीर्वाद देकर पिता

१ सहितम् । २ कुलजात्यादियथायोग्यगुणैरधिष्ठितः । ३ दिव्यचक्रविजयचक्रपरमचक्राणि ।

४ समानरूपत्वसम्बन्धात् । ५ बालके । ६ विधाय । ७ निजसङ्कल्पम् ।

(अङ्गपादङ्गात्सम्भवसि हृदयादपि जायसे । आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः^१ शतम् ॥११४॥)
 क्षीराज्यममृतं^२ पूतं नाभावावर्ज्यं^३ युक्तिभिः^४ । घातिञ्जयो भवेत्यस्य^५ ह्यासयेन्नाभिनालकम्^६ ॥११५॥
 श्रीदेव्यो जातः^७ ते जातक्रियां कुर्वन्त्विति ब्रुवन् । तत्तनुं चूर्णवासेन^८ शनैरुद्धृत्य यत्नतः ॥११६॥
 त्वं मन्दराभिषेकाहो^९ भवेति स्नपयेत्ततः । गन्धाम्बुभिश्चिरं जीव्या^{१०} इत्याशास्याक्षतं क्षिपेत् ॥११७॥
 नश्यात्कर्ममलं कृत्स्नमित्यास्ये^{११}स्य सनासिके । घृतमौषधसंसिद्धमाव^{१२}पेन्मात्रया^{१३} द्विजः ॥११८॥
 ततो विश्वेश्वरास्तन्यभागी^{१४} भूया इतीरयन्^{१५} । मातुस्तनमुपामन्त्र्य वदनेऽस्य समासजेत्^{१६} ॥११९॥
 प्राग्वर्णितमथानन्दं प्रीतिदानपुरःसरम् । विधाय विधिवत्तस्य जातकर्म समापयेत्^{१७} ॥१२०॥
 जरायुपटलं चास्य नाभिनालसमायुतम् । शुचौ भूमौ निखातायां विक्षिपेन्मन्त्रमापठन् ॥१२१॥
 सम्यग्दृष्टिपदं बोध्ये सर्वमातेति चापरम् । वसुन्धरापदं चैव स्वाहान्तं द्विरुदाहरेत् ॥१२२॥
 चूर्णिः—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा ।
 मन्त्रेणानेन सम्मन्त्र्य भूमौ सोदकमक्षतम् । क्षिप्त्वा गर्भमलं^{१८} न्यस्तपञ्चरत्नतले क्षिपेत् ॥१२३॥

उसके समस्त अंगोंका स्पर्श करे और फिर प्रायः अपने समान होनेसे उसमें अपना संकल्पकर अर्थात् यह मैं ही हूँ ऐसा आरोपकर नीचे लिखे हुए सुभाषित पढ़े ॥११३॥ हे पुत्र, तू मेरे अङ्ग अङ्गसे उत्पन्न हुआ है और मेरे हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है इसलिये तू पुत्र नामको धारण करनेवाला मेरा आत्मा ही है । तू सैकड़ों वर्षों तक जीवित रह ॥११४॥ तदनन्तर दूध और धीरूपी पवित्र अमृत उसकी नाभिपर डालकर 'घातिजयो भव' (तू घातिया कर्मोंको जीतने-वाला हो) यह मन्त्र पढ़कर युक्तिसे उसकी नाभिका नाल काटना चाहिये ॥११५॥ तत्पश्चात् 'हे जात, श्रीदेव्यः ते जातक्रियां कुर्वन्तु अर्थात् हे पुत्र, श्री, ह्री आदि देवियाँ तेरी जन्मक्रियाका उत्सव करें यह कहते हुए धीरे धीरे यत्नपूर्वक सुगन्धित चूर्णसे उस बालकके शरीरपर उबटन करे फिर 'त्वं मन्दराभिषेकाहो भव' अर्थात् तू मेरे पर्वतपर अभिषेक करने योग्य हो यह मन्त्र पढ़कर सुगन्धित जलसे उसे स्नान करावे और फिर 'चिरं जीव्याः' अर्थात् तू चिरकालतक जीवित रह इस प्रकार आशीर्वाद देकर उसपर अक्षत डाले ॥११६-११७॥ इसके अनन्तर द्विज, 'नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नम्'—अर्थात् तेरे समस्त कर्ममल नष्ट हो जावें यह मन्त्र पढ़ कर उसके मुख और नाकमें, औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ धी मात्राके अनुसार छोड़े ॥११८॥ तत्पश्चात् 'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूयाः' अर्थात् तू तीर्थंकरकी माताके स्तनका पान करने वाला हो ऐसा कहता हुआ माताके स्तनको मन्त्रितकर उसे बालकके मुहमें लगा दे ॥११९॥ तदनन्तर जिस प्रकार पहले वर्णन कर चुके हैं उसी प्रकार प्रीतिपूर्वक दान देते हुए उत्सव कर विधिपूर्वक जातकर्म अथवा जन्मकालकी क्रिया समाप्त करनी चाहिये ॥१२०॥ उसके जरायु पटलको नाभिकी नालके साथ साथ किसी पवित्र जमीनको खोदकर मन्त्र पढ़ते हुए गाड़ देना चाहिये ॥१२१॥ उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद, सर्वमाता पद और वसुन्धरा पदको दो दो बार कहकर अन्तमें स्वाहा शब्द कहना चाहिये । अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा (सम्यग्दृष्टि, सर्वकी माता पृथ्वीमें यह समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रसे मन्त्रितकर उस भूमिमें जल और अक्षत डालकर पाँच प्रकारके रत्नोंके नीचे गर्भका वह मल रख देना चाहिये और फिर कभी 'त्वत्पुत्रा इव

१ बहुसंवत्सरमित्यर्थः । २ क्षीराज्यरूपममृतम् । ३ सिक्त्वा । ४ युक्तितः ल० । भक्तितः द० । ५ बालस्य । ६ ह्रस्वं कृयात् । छिन्द्यादित्यर्थः । ७ पुत्र । ८ जातकर्म । ९ परिमलचूर्णेन । १० जीव । ११ वक्त्रे । १२ आवर्जयेद्, क्षिपेद् वा । १३ किञ्चित् परिमाणेन । १४ जिनजननीस्तन्यपान-भागी भव । १५ ब्रुवन् । १६ संयोजयेत् । १७ सम्प्रापयेत् । १८ जरायुपटलम् ।

त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्रा भूयासुश्चिरजीविनः । इत्युवाहृत्य सत्याहं तत्क्षेप्तव्यं महीतले ॥१२४॥

क्षीरवृक्षोपशाखाभिः उपहृत्य च भूतलम् । स्नाप्या तत्रास्य माताऽसौ सुशोभितं मन्त्रितं जलम् ॥१२५॥

सम्यग्दृष्टिपदं बोध्यविषयं द्विरुदीरयेत् । पदमासन्नभवेति तद्वद् विश्वेश्वरेत्यपि ॥१२६॥

सत ऊजितपुण्येति जिनमातृपदं तथा । स्वाहान्तो मन्त्र एषः स्यान्मातुः स्नानसंबिधौ ॥१२७॥

चूर्णिः—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरे विश्वेश्वरे ऊजितपुण्ये ऊजितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा ।

यथा जिनाम्बिका पुत्रकल्याणान्यभिपश्यति । तथेयमपि मत्पत्नीत्यास्ययेयं विधिं भजेत् ॥१२८॥

तृतीयेऽहनि चानन्तज्ञानदर्शी भवेत्यमुम् । आलोकयेत्समुत्क्षिप्य निशि ताराङ्कितं तमः ॥१२९॥

पुण्याहघोषणापूर्वं कुर्याद् दानं च शक्तितः । यथायोग्यं विदध्याच्च सर्वस्याभयघोषणाम् ॥१३०॥

जातकर्मविधिः सोऽयम् आम्नातः पूर्वसूरिभिः । यथायोगमनुष्ठेयः सोऽद्यत्वेऽपि द्विजोत्तमः ॥१३१॥

नामकर्मविधाने च मन्त्रोऽयमनुकीर्त्यते । सिद्धार्चनविधौ सप्त मन्त्राः प्रागनुवर्णिताः ॥१३२॥

ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिकम् । पदत्रितयमुच्चार्य मन्त्रोऽत्र परिवर्त्यताम् ॥१३३॥

चूर्णिः—‘दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव’ ।

मत पुत्राः चिरंजीविनी भूयासुः’ (हे पृथ्वी तेरे पुत्र-कुलपर्वतोंके समान मेरे पुत्र भी चिरंजीवी हों) यह कहकर धान्य उत्पन्न होनेके योग्य खेतमें जमीनपर वह मल डाल देना चाहिये ॥१२२-१२४॥ तदनन्तर क्षीर वृक्षकी डालियोंसे पृथिवीको सुशोभित कर उसपर उस पुत्रकी माताको बिठाकर मन्त्रित किये हुए सुहाते गर्म जलसे स्नान कराना चाहिये ॥१२५॥ माताको स्नान करानेका मन्त्र यह है—प्रथम ही सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदको दो बार कहना चाहिये फिर आसन्नभव्या, विश्वेश्वरी, अजितपुण्या, और जिन माता इन पदोंको भी सम्बोधनान्त कर दो दो बार बोलना चाहिये और अन्तमें स्वाहा शब्द पढ़ना चाहिये । भावार्थ—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि अजितपुण्ये अजितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे निकटभव्य, हे सबकी स्वामिनी, हे अत्यन्त पुण्य संचय करनेवाली, जिन माता तू कल्याण करनेवाली हो) यह मन्त्र पुत्रकी माताको स्नान कराते समय बोलना चाहिये ॥१२६-१२७॥ जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी माता पुत्रके कल्याणोंको देखती है उसी प्रकार यह मेरी पत्नी भी देखे ऐसी श्रद्धासे यह स्नानकी विधि करनी चाहिये ॥१२८॥ तीसरे दिन रातके समय ‘अनन्तज्ञानदर्शी भव’ (तू अनन्तज्ञानको देखनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़कर उस पुत्रको गोदीमें उठाकर ताराओंसे सुशोभित आकाश दिखाना चाहिये ॥१२९॥ उसी दिन पुण्याहवाचनके साथ साथ शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये और जितना बन सके उतना सब जीवोंके अभयकी घोषणा करनी चाहिये ॥१३०॥ इस प्रकार पूर्वार्चयोंने यह जन्मोत्सवकी विधि मानी है—कही है । उत्तम द्विजको आज भी इसका यथायोग्य रीतिसे अनुष्ठान करना चाहिये ॥१३१॥

अब आगे नामकर्म करते समय जिन मन्त्रोंका प्रयोग होता है उन्हें कहते हैं—इस विधिमें सिद्ध भगवान्की पूजा करनेके लिये जिन सात पीठिका मन्त्रोंका प्रयोग होता है उन्हें पहले ही कह चुके हैं । उनके आगे ‘दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव’ आदि तीनों पदोंका उच्चारण कर मन्त्र परिवर्तित कर लेना चाहिये अर्थात् ‘दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव’ (एक हजार आठ दिव्य नामोंका पानेवाला हो), ‘विजयाष्टसहस्रनामभागी भव’ (विजयरूप एक हजार आठ

शेषो विधिस्तु निःशेषः प्रागुक्तो नोच्यते पुनः । बहिर्यानि क्रियामन्त्रः ततोऽयमनुगम्यताम् ॥१३४॥

बहिर्यानि क्रिया—

तत्रोपनयनिष्क्रान्तिभागी भव पदात्परम् । भवेद् वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः ॥ १३५॥

क्रमान्मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं वदेत् । ततः सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं स्मृतम् ॥१३६॥

मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः । यौवराज्यमहाराज्यपदे भागी भवान्विते ॥१३७॥

निष्क्रान्तिपदमध्ये स्तां परमराज्यपदं तथा । आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव शिखापदम् ॥१३८॥

पदैरेभिरयं मन्त्रस्तद्विद्विरनुजप्यताम् । प्रागुक्तो विधिरन्यस्तु निषद्यामन्त्र उत्तरः ॥१३९॥

वृत्तिः—उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्र-निष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्ति-भागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव, (बहिर्यानिमन्त्रः)

निषद्या—

दिव्यसिंहासनपदाद् भागी भव पदं भवेत् । एषं विजयपरमसिंहासनपदद्वयात् ॥१४०॥

नामोंका धारक हो और 'परमाष्टसहस्रनामभागी भव' (अत्यन्त उत्तम एक हजार आठ नामोंका पानेवाला हो) ये मन्त्र पढ़ना चाहिये ।

संग्रह—'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्ट-सहस्रनामभागी भव' ॥१३२-१३३॥ बाकीकी समस्त विधि पहले कही जा चुकी है इसलिये दुबारा नहीं कहते हैं अब आगे बहिर्यानि क्रियाके मन्त्र नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये ॥१३४॥

सबसे पहले 'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव', (तू यज्ञोपवीतके लिये निकलनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये और फिर 'वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव' (विवाहके लिये बाहर निकलने वाला हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥१३५॥ तदनन्तर अनुक्रमसे 'मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (मुनिपदके लिये निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिये और उसके बाद 'सुरेन्द्र-निष्क्रान्तिभागी भव' (सुरेन्द्र पदकी प्राप्तिके लिये निकलनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये ॥१३६॥ तत्पश्चात् 'मन्दरेन्द्राभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुमेरुपर्वतपर अभिषेकके लिये निकलनेवाला हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये और फिर 'यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (युवराज पदके लिये निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिये ॥१३७॥ तदनन्तर 'महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (महाराज पदकी प्राप्तिके लिये निकलनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये और उसके बाद 'परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (चक्रवर्तीका उत्कृष्ट राज्य पानेके लिये निकलनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये और इसके अनन्तर 'आर्हन्त्यराज्य-भागी भव' (अर्हन्त पदकी प्राप्तिके लिये निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिये ॥१३८॥ इस प्रकार मन्त्रोंको जाननेवाले द्विजोंको इन उपर्युक्त पदोंके द्वारा मन्त्रोंका जाप करना चाहिये । बाकी समस्त विधि पहले कह चुके हैं अब आगे निषद्या मन्त्र कहते हैं ॥१३९॥

संग्रह—'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्ति-भागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्ति-भागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्ति-भागी भव' ।

निषद्यामन्त्रः—'दिव्यसिंहासनभागी भव' (दिव्य सिंहासनका भोक्ता हो—इन्द्रके

चूर्णिः—दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी (भव इति निषद्यामन्त्रः) ।

अन्नप्राशनक्रिया—

प्राशनेऽपि तथा मन्त्रं पदैस्त्रिभिरुदाहरेत् । तानि स्युर्दिव्यविजयाक्षीणामृतपदानि वै ॥१४१॥

भागी भव पदेनान्ते युक्तेनानुगतानि तु । पदैरेभिरयं मन्त्रः प्रयोज्यः प्राशने बुधैः ॥१४२॥

चूर्णिः—दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव ।

व्युष्टिः—

व्युष्टिक्रियाश्रितं मन्त्रम् इतो वक्ष्ये यथाश्रुतम् । तत्रोपनयनं जन्मवर्षवर्द्धनवायुतम् ॥१४३॥

भागी भव पदं ज्ञेयम् आदौ शेषपदाष्टके । वैवाहनिष्ठशब्देन मुनिजन्मपदेन च ॥१४४॥

सुरेन्द्रजन्मना मन्दराभिषेकपदेन च । यौवराज्यमहाराज्यपदाभ्यामप्यनुक्रमात् ॥१४५॥

परमार्हन्त्यराज्याभ्यां वर्षवर्धनसंयुतम् । भागी भव पदं योज्यं ततो मन्त्रोऽयमुद्भवेत् ॥१४६॥

चूर्णिः—उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव, (व्युष्टिक्रियामन्त्रः)

आसनपर बैठनेवाला हो), 'विजयसिंहासनभागी भव' (चक्रवर्तीके विजयोल्लसित सिंहासन पर बैठनेवाला हो) और 'परमसिंहासनभागी भव' (तीर्थंकरके उत्कृष्ट सिंहासनपर बैठने वाला हो) ये तीन मन्त्र कहना चाहिये । ॥१४०॥

संग्रह—'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव' ।

अब अन्नप्राशन क्रियाके मन्त्र कहते हैं—अन्नप्राशन क्रियाके समय तीन पदोंके द्वारा मन्त्र कहने चाहिये और वे पद दिव्यामृत, विजयामृत और अक्षीणामृत इनके अन्तर्में भागी भव ये योग्य पद लगाकर बनाने चाहिये । विद्वानोंको अन्नप्राशन क्रियामें इन पदोंके द्वारा मन्त्रका प्रयोग करना चाहिये । भावार्थ—इस क्रियामें निम्नलिखित मन्त्र पढ़ने चाहिये—'दिव्यामृत-भागी भव' (दिव्य अमृतका भोग करनेवाला हो), 'विजयामृतभागी भव' (विजयरूप अमृतका उपभोक्ता हो) और 'अक्षीणामृतभागी भव' (अक्षीण अमृतका भोक्ता हो) ॥१४१-१४२॥

संग्रह—'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव' ।

अब यहाँसे आगे शास्त्रानुसार व्युष्टि क्रियाके मन्त्र कहते हैं—सबसे पहले 'उपनयन' के आगे 'जन्मवर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' पद लगाना चाहिये और फिर अनुक्रमसे वैवाह-निष्ठ, मुनीन्द्रजन्म, सुरेन्द्रजन्म, मन्दराभिषेक, यौवराज्य, महाराज्य, परमराज्य और आर्हन्त्य-राज्य इन शेष आठ पदोंके साथ 'वर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' यह पद लगाना चाहिये । ऐसा करनेसे व्युष्टिक्रियाके सब मन्त्र बन जावेंगे । भावार्थ—व्युष्टिक्रियामें निम्नलिखित मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिये—'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव' (यज्ञोपवीतरूप जन्मके वर्षका बढ़ानेवाला हो), 'वैवाहनिष्ठवर्षवर्धनभागी भव' (विवाह क्रियाके वर्षका वर्धक हो), 'मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव' (मुनि पद धारण करनेवाले वर्षकी वृद्धिसे युक्त हो), 'सुरेन्द्र-जन्मवर्षवर्धनभागी भव' (इन्द्र जन्मके वर्षका बढ़ानेवाला हो), 'मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव' (सुमेरु पर्वतपर होनेवाले अभिषेककी वर्ष वृद्धि करनेवाला हो), 'यौवराज्यवर्षवर्धन-भागी भव' (युवराज पदकी वर्ष वृद्धि करनेवाला हो), 'महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (महाराज पदकी वर्षवृद्धिका उपभोक्ता हो) 'परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (चक्रवर्तीके उत्कृष्ट राज्य

चौलकर्म—

चौलकर्मण्यथो मन्त्रः स्याच्छोपनयनादिकम् । मुण्डभागी भवान्तं च पदमादावनुस्मृतम् ॥१४७॥

ततो निर्ग्रन्थमुण्डादिभागी भवपदं परम् । ततो निष्क्रान्तिमुण्डादिभागी भव पदं परम् ॥१४८॥

स्यात्परमनिस्तारककेशभागी भवेत्यतः । परमेन्द्रपदादिश्च केशभागी भवध्वनिः ॥१४९॥

परमार्हन्त्यराज्यादिकेशभागीति बाग्व्यम् । भवेत्यन्तपदोपेतं मन्त्रोऽस्मिन्स्याच्छ्रितापदम् ॥१५०॥

शिखाभेतेन मन्त्रेण स्थापयेद्विधिवद् द्विजः । ततो मन्त्रोऽप्यमाप्नोति लिपिसंख्यानसङ्ग्रहे ॥१५१॥

चूणिः—उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेश-
भागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव । (इति चौलक्रियामन्त्रः)

शब्दपारभागी भव अर्थपारभागी भव । पदं शब्दार्थसम्बन्धपारभागी भवेत्यपि ॥१५२॥

चूणिः—शब्दपारगामी (भागी) भव, अर्थपारगामी (भागी) भव, शब्दार्थपारगामी (भागी) भव,
(लिपिसंख्यानमन्त्रः)

उपनीतिक्रियामन्त्रं स्मरन्तीमं द्विजोत्तमाः । परमनिस्तारकादिलिङ्गभागी भवेत्यतः ॥१५३॥

की वर्षवर्द्धि करनेवाला हो) और 'आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (अरहन्त पदवीरूपी राज्यके वर्षका बढ़ानेवाला हो) ॥१४३-१४६॥

संग्रह—'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्म-
वर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव,
यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव,
आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव' ।

अब चौलक्रियाके मन्त्र कहते हैं—जिसके आदिमें उपनयन शब्द है और अन्तमें 'मुण्ड-
भागी भव' शब्द है ऐसा पहला मन्त्र जानना चाहिये अर्थात् 'उपनयनमुण्डभागी भव' (उपनयन
क्रियामें मुण्डन करनेवाला हो) यह चौलक्रियाका पहला मन्त्र है ॥१४७॥ फिर 'निर्ग्रन्थ-
मुण्डभागी भव' (निर्ग्रन्थ दीक्षा लेते समय मुण्डन करनेवाला हो) यह दूसरा मन्त्र है और
उसके बाद 'निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव' (मुनि अवस्थामें केशलोच करनेवाला हो) यह तीसरा
मन्त्र है ॥१४८॥ तदनन्तर 'परमनिस्तारककेशभागी भव' (संसारसे पार उतारनेवाले
आचार्यके केशोंको प्राप्त हो) यह चौथा मन्त्र है और उसके पश्चात् परमेन्द्रकेशभागी भव
(इन्द्र पदके केशोंको धारण करनेवाला हो) यह पाँचवाँ मन्त्र बोलना चाहिये ॥१४९॥ इसके
बाद 'परमराज्यकेशभागी भव' (चक्रवर्तीके केशोंको प्राप्त हो) यह छठवाँ मन्त्र है और 'आर्ह-
न्त्यराज्यकेशभागी भव' (अरहन्त अवस्थाके केशोंको धारण करनेवाला हो) यह सातवाँ मन्त्र
बोलना चाहिये । द्विजोंको इन मन्त्रोंसे विधिपूर्वक चोटी रखवाना चाहिये । अब आगे लिपि-
संख्यानके मन्त्र कहते हैं ॥१५०-१५१॥

संग्रह—'उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव,
परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्य-
केशभागी भव' ।

लिपिसंख्यानके मन्त्र—'शब्दपारभागी भव' (शब्दोंका पारगामी हो), 'अर्थपारगामी
भागी भव' (सम्पूर्ण अर्थका जाननेवाला हो) और 'शब्दार्थसम्बन्धपारभागी भव' (शब्द
तथा अर्थ दोनोंके सम्बन्धका पारगामी हो) ये पद लिपिसंख्यानके समय कहने चाहिये ॥१५२॥

संग्रह—'शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थपारगामी भव' ।

उत्तम द्विज नीचे लिखे हुए मन्त्रोंको उपनीति क्रियाके मन्त्ररूपसे स्मरण करते हैं—

युक्तं परमर्षिलिङ्गमेव भागीभवपदं भवेत् । परमेन्द्रादिलिङ्गादिभागी भवपदं परम् ॥१५४॥

एवं परमराज्यादि परमार्हन्त्य्यादि च कृमात् । युक्तं परमनिर्वाणपदेन च शिखापदम् ॥१५५॥

चूर्णिः—परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव, (इत्युपनीतिक्रियास्तत्रः)

मन्त्रेणानेन शिष्यस्य कृत्वा संस्कारमादितः । निष्कारेण वस्त्रेण कुर्यादिनं सवाससम् ॥१५६॥

कौपीनाच्छादनं चैनम् अन्तर्वासि न कारयेत् । मौञ्जीबन्धमतः कुर्याद् अनुबद्धत्रिमेलकम् ॥१५७॥

सूत्रं गणधरं ब्रह्मं व्रतचिह्नं नियोजयेत् । मन्त्रपूतमतो यज्ञोपवीती स्यादसौ द्विजः ॥१५८॥

जात्येव ब्राह्मणः पूर्वम् इदानीं व्रतसंस्कृतः । द्विजो द्विज इत्येवं रुढिमास्तिघ्नते गुणः ॥१५९॥

वेदान्यणुव्रतान्यस्मै गुरुसाक्षि यथाविधिः । गुणशीलानुगैश्चैनं संस्कुर्याद् व्रतजातकैः ॥१६०॥

ततोऽतिबालविद्यादीन् योगादस्य निर्विशेत् । दत्त्वोपासकाध्ययनं नामापि चरणोचितम् ॥१६१॥

ततोऽयं कृतसंस्कारः सिद्धार्चनपुरःसरम् । यथाविधानमाश्चैव्यं पूजां कुर्यादितः परम् ॥१६२॥

तस्मिन्दिने प्रविष्टस्य भिक्षार्थं जातिवेदमसु । योऽर्धलाभः स देयः स्याद् उपाध्यायाय सावरम् ॥१६३॥

सबसे पहले 'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव' (तू उत्कृष्ट आचार्यके चिह्नोको धारण करनेवाला हो), फिर 'परमर्षिलिङ्गभागी भव' (परमऋषियोंके चिह्नको धारण करनेवाला हो) और 'परमेन्द्रलिङ्गभागी भव' (परम इन्द्रपदके चिह्नोको धारण करनेवाला हो) ये मन्त्र बोलना चाहिये । इसी प्रकार अनुक्रमसे परम राज्य, परमार्हन्त्य और परम निर्वाण पदको 'लिङ्गभागी भव' पदसे युक्तकर 'परमराज्यलिङ्गभागी भव' (परमराज्यके चिह्नोको धारण करनेवाला हो), 'परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव' (उत्कृष्ट अरहन्तदेवके चिह्नोको धारण करनेवाला हो) और 'परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव' (परमनिर्वाणके चिह्नोका धारक हो) ये मन्त्र बना लेना चाहिये ।

संग्रह—'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव' ।

इन मन्त्रोंसे प्रथम ही शिष्यका संस्कार कर उसे विकाररहित वस्त्रके द्वारा वस्त्रसहित करना चाहिये अर्थात् साधारण वस्त्र पहिनाना चाहिये ॥१५६॥ इसे वस्त्रके भीतर लँगोटी देनी चाहिये और उसपर तीन लड़की बनी हुई मूँजकी रस्सी बाँधनी चाहिये ॥१५७॥ तदनन्तर गणधरदेवके द्वारा कहा हुआ, व्रतोंका चिह्नस्वरूप और मन्त्रोंसे पवित्र किया हुआ सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत धारण कराना चाहिये । यज्ञोपवीत धारण करनेपर वह बालक द्विज कहलाने लगता है ॥१५८॥ पहले तो वह केवल जन्मसे ही ब्राह्मण था और अब व्रतोंसे संस्कृत होकर दूसरी बार उत्पन्न हुआ है इसलिये दो बार उत्पन्न होनेरूप गुणोंसे वह द्विज ऐसी रुढिको प्राप्त होता है ॥१५९॥ उस समय उस पुत्रके लिये विधिके अनुसार गुरुकी साक्षीपूर्वक अणुव्रत देना चाहिये और गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत रूपशीलसे सहित व्रतोंके समूहसे उसका संस्कार करना चाहिये । भावार्थ—उसे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार व्रत और शील देकर उसके संस्कार अच्छे बनाना चाहिये ॥१६०॥ तदनन्तर गुरु उसे उपासकाध्ययन पढ़ाकर और चारित्रिके योग्य उसका नाम रखकर अतिबाल विद्या आदिका नियोगरूपसे उपदेश दे ॥१६१॥ इसके बाद जिसका संस्कार किया जा चुका है ऐसा वह पुत्र सिद्ध भगवान् की पूजा कर फिर विधिके अनुसार अपने आचार्यकी पूजा करे ॥१६२॥ उस दिन उस पुत्रको

शेषो विधिस्तु प्राक्प्रोक्तः तन्मनूनं समाचरेत् । यावत्सोऽधीतविद्यः सन् भजेत् सन्नह्युच्चारिताम् ॥१६४॥
 अथातोऽन्यं प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात् । स्याद्यज्ञोपासकाध्यायः समासेनानुसंहृतः ॥१६५॥
 शिरोलिङ्गमुरोलिङ्गं लिङ्गकटपुरुसंश्रितम् । लिङ्गमस्योपनीतस्य प्राग्निर्णीतं चतुर्विधम् ॥१६६॥
 सत् स्यादसिबुत्या वा मध्या कृष्या वणिज्यया । ययास्वं वर्तमानानां सद्दृष्टीनां द्विजन्मनाम् ॥१६७॥
 कुतश्चित् कारणाद् यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम् । सोऽपि राजादिसम्भृत्या शोधयेत् स्वं यदा कुलम् ॥१६८॥
 तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततौ । न निषिद्धं हि दीक्षाहं कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥१६९॥
 श्रीदीक्षाहं कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः ॥१७०॥
 तेषां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम् । एकशाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥१७१॥
 स्यान्निरामिषभोजित्वं कुलस्त्रीसेवनव्रतम् । अनारम्भबधोत्सर्गो ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम् ॥१७२॥
 इति शुद्धतरां वृत्तिं व्रतपूतामुपेयिवान् । यो द्विजस्तस्य सम्पूर्णो व्रतचर्याविधिः स्मृतः ॥१७३॥
 वशाधिकारास्तस्योक्ताः सूत्रेणोपासिकेन हि । तान्यथाक्रममुद्देशमात्रेणानुप्रचक्ष्महे ॥१७४॥

अपनी जाति या कुटुम्बके लोगोंके घरमें प्रवेश कर भिक्षा माँगना चाहिये और उस भिक्षामें जो कुछ अर्थका लाभ हो उसे आदर सहित उपाध्यायके लिये सौप देना चाहिये ॥१६३॥ बाकीकी सब विधि पहले कही जा चुकी है । उसे पूर्णरूपसे करना चाहिये । इसके सिवाय वह जबतक विद्या पढ़ता रहे तब तक उसे ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना चाहिये ॥१६४॥

अथानन्तर जिसमें उपासकाध्ययनका संक्षेपसे संग्रह किया है ऐसी इसकी व्रतचर्या-को अनुक्रमसे कहता हूँ ॥१६५॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका है ऐसे बालकके लिये शिरका चिह्न (मुण्डन), वक्षःस्थलका चिह्न—यज्ञोपवीत, कमरका चिह्न—मूँजकी रस्सी और जाँघका चिह्न—सफेद धोती ये चार प्रकारके चिह्न धारण करना चाहिये । इनका निर्णय पहले हो चुका है ॥१६६॥ जो लोग अपनी योग्यताके अनुसार तलवार आदि शस्त्रोंके द्वारा, स्याही अर्थात् लेखनकलाके द्वारा, खेती और व्यापारके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं ऐसे सद्दृष्टि, द्विजों को वह यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये ॥१६७॥ जिसके कुलमें किसी कारणसे दोष लग गया हो ऐसा पुरुष भी जब राजा आदिकी संमतिसे अपने कुलको शुद्ध कर लेता है तब यदि उसके पूर्वज दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों तो उसके पुत्र पौत्र आदि संततिके लिये यज्ञोपवीत धारण करनेकी योग्यताका कहीं निषेध नहीं है । भावार्थ—यदि दीक्षा धारण करने योग्य कुलमें किसी कारणसे दोष लग जावे तो राजा आदिकी संमतिसे उसकी शुद्धि हो सकती है और उस कुलके पुरुषको यज्ञोपवीत भी दिया जा सकता है । न केवल उसी पुरुषको किन्तु उसके पुत्र पौत्र आदि संतानके लिये भी यज्ञोपवीत देनेका कहीं निषेध नहीं है ॥१६८—१६९॥ जो दीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हैं तथा नाचना गाना आदि विद्या और शिल्पसे अपनी आजीविका करते हैं ऐसे पुरुषोंको यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंकी आज्ञा नहीं है ॥१७०॥ किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो उनके योग्य यह चिह्न हो सकता है कि वे संन्यासमरण पर्यन्त एक धोती पहनें ॥१७१॥ यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुरुषोंको माँस-रहित भोजन करना चाहिये, अपनी विवाहिता कुलस्त्रीका सेवन करना चाहिये, अनारम्भी हिसाका त्याग करना चाहिये और अभक्ष्य तथा अपेय पदार्थका परित्याग करना चाहिये ॥१७२॥ इस प्रकार जो द्विज व्रतोंसे पवित्र हुई अत्यन्त शुद्ध वृत्तिको धारण करता है उसके व्रतचर्याकी पूर्ण विधि समझनी चाहिये ॥१७३॥ अब उन द्विजोंके लिये उपासकाध्ययन सूत्रमें जो दश

तत्रातिबालविद्यायाः कुलावधिरनन्तरम् । वर्णोत्तमत्वपात्रत्वे तथा सृष्ट्यधिकारिणा ॥१७५॥
 व्यवहारेतिताऽन्या स्याद् अवध्यत्वमदण्ड्यता । मानार्हता प्रजासम्बन्धान्तरं चेत्यनुकमात् ॥१७६॥
 दशाधिकारि वास्तुनि स्मृत्पासकसङ्ग्रहे । तानीमानि यथोद्देशं सङ्क्षेपेण विवृण्वहे ॥१७७॥
 बाल्यात्प्रभृति या विद्याशिक्षोद्योगाद् द्विजन्मनः । प्रीयतातिबालविद्येति सा क्रिया द्विजसम्भवात् ॥१७८॥
 तस्यामसत्यां मूढाग्रमा हेयादेयानभिज्ञकः । मिथ्याश्रुतिं प्रपद्येत द्विजम्भान्यैः प्रतारितः ॥१७९॥
 बाल्य एव ततोऽभ्यस्येद् द्विजन्मोपासिकीं श्रुतिम् । स तथा प्राप्तसंस्कारः स्वपरोत्तारको भवेत् ॥१८०॥
 कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः । तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोजन्यकुलतां भजेत् ॥१८१॥
 वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्ववधिव्यमस्य वै । तेनायं श्लाघ्यतामेति स्वपरोद्धारणक्षमः ॥१८२॥
 वर्णोत्तमत्वं यद्यस्य न स्याज्ज स्यात्प्रकृष्टता । अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयेन्न परानपि ॥१८३॥
 ततोऽयं शुद्धिकाशः सन् सेवेतान्य कुलिङ्गिगन्तुः । कुब्रह्म वा ततस्तज्जान् दोषान् प्राप्नोत्यसंशयम् ॥१८४॥
 प्रदानार्हत्वमस्येष्टं पात्रत्वं गुणगौरवात् । गुणधिकोऽहि लोकेऽस्मिन् पूज्यः स्यात्लोकपूजितः ॥१८५॥
 ततो गुणकृतां स्वस्मिन् पात्रतां ब्रह्मदेद्विजः । तदभावे विमान्यत्वाद् ह्रियतेऽस्य धनं नृपैः ॥१८६॥

अधिकार कहे हैं उन्हें यथाक्रमसे नामके अनुसार कहता हूँ ॥१७४॥ उन दश अधिकारोंमें पहला अतिबाल विद्या, दूसरा कुलावधि, तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पाँचवाँ सृष्ट्यधिकारिता, छठवाँ व्यवहारेतिता, सातवाँ अवध्यत्व, आठवाँ अदण्ड्यता, नौवाँ मानार्हता और दशवाँ प्रजा सम्बन्धान्तर है । उपासकसंग्रहमें अनुक्रमसे ये दश अधिकारवस्तुएँ बतलाई गई हैं । उन्हीं अधिकार वस्तुओंका उनके नामके अनुसार यहाँ संक्षेपसे कुछ विवरण करता हूँ । ॥१७५-१७७॥ द्विजोंको जो बाल्य अवस्थासे ही लेकर विद्या सिखलानेका उद्योग किया जाता है उसे अतिबालविद्या कहने हैं, यह विद्या द्विजोंको अत्यन्त इष्ट है ॥१७८॥ इस अतिबाल विद्याके अभावमें द्विज मूर्ख रह जाता है उसे हेय उपादेयका ज्ञान नहीं हो पाता और वह अपनेको भ्रूभूट द्विज माननेवाले पुरुषोंके द्वारा ठगाया जाकर मिथ्या शास्त्रके अध्ययनमें लग जाता है ॥१७९॥ इसलिये द्विजोंको उचित है कि वे बाल्य अवस्थामें ही श्रावकाचारके शास्त्रोंका अभ्यास करें क्योंकि उपासकाचारके शास्त्रोंके द्वारा जिसे अच्छे संस्कार प्राप्त हो जाते हैं वह निज और परको तारनेवाला हो जाता है ॥१८०॥ अपने कुलके आचारकी रक्षा करना द्विजोंकी कुलावधि क्रिया कहलाती है । कुलके आचारकी रक्षा न होनेपर पुरुषकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह अन्य कुलको प्राप्त हो जाता है ॥१८१॥ समस्त वर्णोंमें श्रेष्ठ होना ही इसकी वर्णोत्तम क्रिया है, इस वर्णोत्तम क्रियासे ही यह प्रशंसाको प्राप्त होता है और निज तथा परका उद्धार करनेमें समर्थ होता है ॥१८२॥ यदि इसके वर्णोत्तम क्रिया नहीं है अर्थात् इसका वर्ण उत्तम नहीं है तो इसके उत्कृष्टता नहीं हो सकती और जो उत्कृष्ट नहीं है वह न तो अपने आपको शुद्ध कर सकता है और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकता है ॥१८३॥ जो स्वयं उत्कृष्ट नहीं है ऐसे द्विजको अपनी शुद्धिकी इच्छासे अन्य कुलिङ्गियों अथवा कुब्रह्मकी सेवा करनी पड़ती है और ऐसी दशामें वह निःसन्देह उन लोगोंमें उत्पन्न हुए दोषोंको प्राप्त होता है । भावार्थ—सदा ऐसे ही कार्य करना चाहिये जिससे वर्णकी उत्तमता में बाधा न आवे ॥१८४॥ गुणोंका गौरव होनेसे दान देनेके योग्य पात्रता भी इन्हीं द्विजोंमें होती है क्योंकि जो गुणोंसे अधिक होता है वह संसारमें सब लोगोंके द्वारा पूजित होनेवाले लोगोंके द्वारा भी पूजा जाता है ॥१८५॥ इसलिये द्विजोंको चाहिये कि वे अपने आपमें गुणों-

१ यो विद्याशिक्षोद्योगो द्विजन्मनः द०, ल०, अ०, स०, इ० । २ द्विजम्भान्यैः द० । ३ व्रजेत् द०, ल० । ४ कुत्सितब्रह्माणम् । ५ कुत्सितकुब्रह्मसेवनात् ।

रक्ष्यः सुष्ठुअधिकारोऽपि द्विजैस्तनसृष्टिभिः । असद्वृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विदूरतः ॥१८७॥
 अन्यथा सृष्टिवादेन दुर्दृष्टेन' कुदृष्टयः । लोकं नृपांश्च सम्मोह्य नयन्त्युत्पथगामिताम् ॥१८८॥
 सुष्ठुचन्तरमतो दूरम् अपास्य नयतस्त्वचित् । अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत् ॥१८९॥
 तीर्थङ्करिरियं सुष्ठु धर्मसृष्टिः सनातनी । तां संश्रिताम्रूपानेव' सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ॥१९०॥
 अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिं प्रपन्नाः स्पृन्'पोतमाः । ततो नैश्वर्यमेवां स्यात्तत्रत्याश्च स्युरार्हताः ॥१९१॥
 व्यवहारेजितां प्राहुः प्रायश्चित्तादिकर्मणि । स्वतन्त्रतां द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिम् ॥१९२॥
 तदभावे स्वमन्याश्च न शोधयितुमर्हति । अशुद्धः परतः शुद्धिम् अभोऽसन्नयवकृतो' भवेत् ॥१९३॥
 स्यादवध्याधिकारोऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः । ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतो' वधमर्हति ॥१९४॥
 सर्वः प्राणो न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः । गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वधेऽपि द्व्यात्मता' मता ॥१९५॥
 तस्मादवध्यतामेव पोषयेद् धार्मिके जने । धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्थो यन्नाभिभूयते ॥१९६॥
 तदभावे च वध्यत्वम् अयमृच्छति सर्वतः । एव' च सति धर्मस्य नश्येत् प्रामाण्यमर्हताम् ॥१९७॥

के द्वारा की हुई पात्रताको दृढ़ करें अर्थात् गुणी पात्र वनें क्योंकि पात्रताके अभावमें मान्यता नहीं रहती और मान्यताके न होनेसे राजा लोग भी धन हरण कर लेते हैं ॥१८६॥ जिनकी सृष्टि उत्तम है ऐसे द्विजोंको मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा की हुई सृष्टिको दूरसे ही छोड़कर अपनी सृष्टिके अधिकारोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥१८७॥ अन्यथा मिथ्यादृष्टि लोग अपने दूषित सृष्टिवादसे लोगोंको और राजाओंको मोहित कर कुमार्गगामी बना देंगे ॥१८८॥ इसलिये नय और तत्त्वोंको जाननेवाले द्विजको चाहिये कि वह मिथ्यादृष्टियोंकी अन्यसृष्टिको दूरसे ही छोड़कर अनादिक्षत्रियोंके द्वारा रची हुई धर्मसृष्टिकी ही प्रभावना करे ॥१८९॥ तथा इस धर्मसृष्टिका आश्रय लेनेवाले राजाओंसे ऐसा कहे कि तीर्थङ्करोंके द्वारा रची हुई यह सृष्टि अनादिकालसे चली आई है । भावार्थ—यह धर्मसृष्टि तीर्थङ्करोंके द्वारा रची हुई है और अनादि कालसे चली आ रही है इसलिये आप भी इसकी रक्षा कीजिये ॥१९०॥ यदि द्विज राजाओंसे ऐसा नहीं कहेंगे तो वे अन्य लोगोंके द्वारा की हुई सृष्टिको मानने लगेंगे जिससे उनका ऐश्वर्य नहीं रह सकेगा तथा अरहन्तके मतको माननेवाले लोग भी उसी धर्मको मानने लगेंगे ॥१९१॥ परमागमका आश्रय लेनेवाले द्विजोंको जो प्रायश्चित्त आदि कार्योंमें स्वतन्त्रता है उसे ही व्यवहारेक्षिता कहते हैं ॥१९२॥ व्यवहारेक्षिताके अभावमें द्विज न अपने आपको शुद्ध कर सकेगा और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकेगा तथा स्वयं अशुद्ध होनेपर यदि दूसरेसे अपनी शुद्धि करना चाहे तो वह कभी कृती नहीं हो सकेगा ॥१९३॥ जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसा उत्तम द्विज अवध्याधिकारमें भी स्थित रहता है अर्थात् अवध्य है क्योंकि ब्राह्मण गुणोंकी अधिकताके कारण किसी दूसरेके द्वारा वध करने योग्य नहीं होता ॥१९४॥ सब प्राणियोंको नहीं मारना चाहिये और विशेषकर ब्राह्मणोंको नहीं मारना चाहिये । इस प्रकार गुणोंकी अधिकता और हीनतासे हिसामें भी दो भेद माने गये हैं ॥१९५॥ इसलिये यह धार्मिक जनोंमें अपनी अवध्यताको पुष्ट करे । यथार्थमें वह धर्मका ही माहात्म्य है कि जो इस धर्ममें स्थित रहकर किसी से तिरस्कृत नहीं हो पाता ॥१९६॥ यदि वह अपनी अवध्यताको पुष्ट न करेगा तो सब लोगों से वध्य हो जावेगा अर्थात् सब लोग उसे मारने लगेंगे और ऐसा होनेपर अर्हन्तदेवके धर्मकी

१ असमीक्षितेन कुदृष्टान्तेन वा । २ तां धर्मसृष्टिं प्रकाशयेदित्यर्थः । ३ आत्मानमाश्रिता ।
 अथवा पूर्व तां संश्रितां बोधयत् तदवक्त्यर्थम् । ४ -अकृतो ल० । -अकृती द० । ५ नृपादेः सकाशात् ।
 ६ द्विरूपता (दुष्टनिग्रहशिष्टप्रतिपालनता) ।

ततः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः । स हि संरक्षितो रक्षां करोति सत्तराचरे ॥१६८॥

स्यादण्ड्यत्वमप्येवम् अस्य धर्मो स्थिरात्मनः । धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दण्डप्रस्थापने प्रभुः ॥१६९॥

‘तद्धर्मस्थी’यमान्ताय^१ भावयन् धर्मदर्शिभिः^२ । अधर्मस्थेषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः ॥२००॥

परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्यं हितार्थिभिः । ब्रह्मस्थं च तथाभूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः ॥२०१॥

युक्त्यानया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन् वशी । अदण्ड्यचपक्षे स्वात्मानं स्थापयेदण्डधारिणाम्^३ ॥२०२॥

अधिकारे ह्यसत्यस्मिन् स्यादण्ड्योऽयं यथेतरः । ततश्च निस्स्वतां प्राप्तो नेहामुत्र च नन्दति ॥२०३॥

मान्यत्वमस्य सन्वत्ते मानार्हत्वं सुभावितम् । गुणाधिको हि मान्यः स्याद् वन्धः पूज्यश्च सत्तमः ॥२०४॥

असत्यस्मिन्नमान्यत्वम् अस्य स्यात् सम्मर्तजनैः । ‘ततश्च स्थानमानादिलाभाभावात्’ पदच्युतिः ॥२०५॥

तस्मादयं गुणै^४ र्यन्ताद् आत्मन्यारोप्यतां द्विजैः^५ । यत्तश्च ज्ञानवृत्तादिसम्पत्तिः सोऽर्च्यतां नृपैः^६ ॥२०६॥

स्यात् प्रजान्तरसम्बन्धे^७ स्वोन्नतेरपरिच्युतिः । याऽस्य सोक्ता प्रजासम्बन्धान्तरं नामतो गुणः ॥२०७॥

यथा कालायसाविद्धं^८ स्वर्णं याति विवर्णताम् । न तथाऽस्यान्यसम्बन्धे स्वगुणोत्कर्षविप्लवः ॥२०८॥

प्रामाणिकता नष्ट हो जावेगी ॥१९७॥ इसलिये सब प्रकारके प्रयत्नोंसे सनातनधर्मकी रक्षा करनी चाहिये । क्योंकि अच्छी तरह रक्षा किया हुआ धर्म ही चराचर पदार्थोंसे भरे हुए संसार-में उसकी रक्षा कर सकता है ॥१९८॥ इसी प्रकार धर्ममें जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसे इस द्विजको अपने अदण्ड्यत्वका भी अधिकार है क्योंकि धर्ममें स्थिर रहनेवाला मनुष्य ही दूसरेके लिये दण्ड देनेमें समर्थ हो सकता है ॥१९९॥ इसलिये धर्मदर्शी लोगोंके द्वारा दिखलाई हुई धर्मात्मा जनोकी आम्नायका विचार करता हुआ ही धार्मिक राजा अधर्मी जनोको दण्ड देता है ॥२००॥ जिस प्रकार अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा देव द्रव्य और गुरुद्रव्य त्याग करने योग्य है उसी प्रकार ब्राह्मणका धन भी त्याग करने योग्य है । इसलिये ही द्विज दण्ड देनेके योग्य नहीं है ॥२०१॥ इस युक्तिसे अपनेमें अधिक गुणोंका आरोप करता हुआ वह जितेन्द्रिय दण्ड देनेवाले राजा आदिके समक्ष अपने आपको अदण्ड्य अर्थात् दण्ड न देने योग्य पक्षमें ही स्थापित करता है । भावार्थ—वह अपने आपमें इतने अधिक गुण प्राप्त कर लेता है कि जिससे उसे कोई दण्ड नहीं दे सकते ॥२०२॥ इस अधिकारके अभावमें अन्य पुरुषोंके समान ब्राह्मण भी दण्डित किया जाने लगेगा जिससे वह दरिद्र हो जावेगा और दरिद्र होनेसे न तो इस लोकमें सुखी हो सकेगा और न परलोकमें ही ॥२०३॥ यह ब्राह्मण जो अच्छी तरह सन्मानके योग्य होता है वही इसका मान्यत्व अधिकार है सो ठीक ही है क्योंकि जो गुणोंसे अधिक होता है अर्थात् जिसमें अधिक गुण पाये जाते हैं वही सत्पुरुषोंके द्वारा सन्मान करने योग्य, वन्दना करने योग्य और पूजा करने योग्य होता है ॥२०४॥ इस अधिकारके न होनेसे उत्तम पुरुष इसका सन्मान नहीं करेंगे और उससे स्थान मान लाभ आदिका अभाव होनेके कारण वह अपने पदसे च्युत हो जावेगा । इसलिये द्विजको चाहिये कि वह यह गुण (मान्यत्व गुण) बड़े यत्नसे अपने आपमें आरोपित करे क्योंकि ज्ञान चारित्र आदि सम्पदाएँ ही उसका यत्न हैं इसलिये राजाओंको उसकी पूजा करनी चाहिये ॥२०५--२०६॥ प्रजान्तर अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जो अपनी उन्नतिसे च्युत नहीं होना है वह इसका प्रजासम्बन्धान्तर नामका गुण है ॥२०७॥ जिस प्रकार काले लोहके साथ मिला हुआ सुवर्ण

१ तत्कारणात् । २ धर्मसम्बन्धिनम् । ३ आगमम् । ४ धर्माचार्यमतात् दण्डं करोतीति तात्पर्यम् । ५-धारिणम् अ०, प०, इ०, स० । ६ अमान्यत्वात् । ७ पूर्वस्थितस्य स्थानमानादिलाभाभावात् । ८ गुणो द० । ९ द्विजः ल० । १० सोऽर्च्यतां न तैः द० । ११ सम्बन्धे सति । १२ अयोयुक्तम् ।

किन्तु प्रजान्तरं स्वेन सम्बद्धं स्वगुणानयम् । प्रापयत्यचिरादेव लोहधातुं यथा रसः ॥२०६॥
ततो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुणः । 'येनायं' स्वगुणैरन्यान् आत्मसात्कर्तुमर्हति ॥२१०॥
असत्यस्मिन् गुणेष्वस्मात् प्राप्नुयात् स्वगुणच्छ्रुतिम् । सत्येवंगुणवत्तास्य निष्कृष्येत^१ द्विजन्मवः ॥२११॥
अतोऽतिबालविद्यादीन्प्रयोगान्^२ दशधोदितान् । यथार्हमात्मसात्कुर्वन् द्विजः स्याल्लोकसम्मतः ॥२१२॥
(गुणेष्वेव विशेषोऽन्यो यो बाध्यो बहुविस्तरः । स उपासकसिद्धान्ताद् अधिगम्यः प्रपञ्चतः ॥२१३॥)
'क्रियामन्त्रानुषङ्गेण व्रतचर्याक्रियाविधौ' । दशाधिकारा व्याख्याताः सद्वृत्तेराहता द्विजैः ॥२१४॥
क्रियामन्त्रास्तिबह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः । सामान्यविषयाः सप्त पीठिकामन्त्ररूढयः ॥२१५॥
ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः । तत 'औत्सर्गिकानेतान् मन्त्रान् मन्त्रविदो विदुः ॥२१६॥
विशेषविषया मन्त्राः क्रियासूक्तासु दर्शिताः । इतः प्रभृति चाभ्यूह्यास्ते यथाम्नायमग्नयः ॥२१७॥
मन्त्रानिमान् यथायोग्यं यः क्रियासु नियोजयेत् । स लोके सम्मतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥२१८॥
क्रियामन्त्रविहीनास्तु प्रदीवतृणां न सिद्धये । यथा सुकृतसन्नाहाः^३ सेनाध्यक्षा विनायकाः^४ ॥२१९॥

विवर्णताको प्राप्त हो जाता है उस प्रकार अन्य पुरुषोंके साथ सम्बन्ध होनेपर इस ब्राह्मणके अपने गुणोंके उत्कर्षमें कुछ बाधा नहीं आती है । भावार्थ—लोहेके सम्बन्धसे सुवर्णमें तो खराबी आ जाती है परन्तु उत्तम द्विजमें अन्य लोगोंके सम्बन्धसे खराबी नहीं आती ॥२०८॥ किन्तु जिस प्रकार रसायन अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले लोहेको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देती है उसी प्रकार यह ब्राह्मण भी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है ॥२०९॥ इसलिये कहना चाहिये कि यह प्रजासम्बन्धान्तर गुण, धर्मकी प्रभावनाको बढ़ानेवाला सबसे बड़ा गुण है क्योंकि इसीके द्वारा यह द्विज अपने गुणोंसे अन्य लोगोंको अपने आधीन कर सकता है ॥२१०॥ इस गुणके न रहनेपर ब्राह्मण अन्य लोगोंके सम्बन्धसे अपने गुणोंकी हानि कर सकता है और ऐसा होनेपर इसकी गुणवत्ता ही नष्ट हो जावेगी ॥२११॥ इसलिये जो अतिबालविद्या आदि दश प्रकारके नियोग निरूपण किये हैं उन्हें यथायोग्य रीतिसे स्वीकार करनेवाला द्विज ही सब लोगोंको मान्य हो सकता है ॥२१२॥ इन गुणोंमें जो अन्य विशेष गुण बहुत विस्तारके साथ विवेचन करनेके योग्य हैं उन्हें उपासकाध्ययनशास्त्रसे विस्तारपूर्वक समझ लेना चाहिये ॥२१३॥ इस प्रकार व्रतचर्या क्रियाकी विधि का वर्णन करते समय उस क्रियाके योग्य मन्त्रोंके प्रसंगसे उत्तम आचरणवाले द्विजोंके द्वारा माननीय दश अधिकारोंका निरूपण किया ॥२१४॥ इस प्रकरणमें जिनका वर्णन पहले कर चुके हैं उन्हें क्रियामन्त्र जानना चाहिये और जो सात पीठिकामन्त्र इस नामसे प्रसिद्ध हैं उन्हें सामान्यविषयक समझना चाहिये अर्थात् वे मन्त्र सभी क्रियाओंमें काम आते हैं ॥२१५॥ वे साधारण मन्त्र सभी क्रियाओंमें काम आते हैं इसलिये मन्त्रोंके जाननेवाले विद्वान् उन्हें औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य मन्त्र कहते हैं ॥२१६॥ इनके सिवाय जो विशेष मन्त्र हैं वे ऊपर कही हुई क्रियाओंमें दिखला दिये गये हैं । अब व्रतचर्यासे आगेके जो मन्त्र हैं वे द्विजोंको अपनी आम्नाय (शास्त्र परम्परा)के अनुसार समझ लेना चाहिये ॥२१७॥ जो इन मन्त्रोंको क्रियाओं में यथायोग्य रूपसे काममें लाता है वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज लोकमें सन्मान को प्राप्त होता है ॥२१८॥ जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र धारण कर तैयार हुए मुख्य मुख्य योद्धा

१ प्रजान्तरसम्बन्धतः । २ द्विजः । ३ सम्बन्ध्येत । नश्येदित्यर्थः । ४ अधिकारान् । ५ क्रियाणां मन्त्राः क्रियामन्त्रास्तेषामनुषङ्गो योगस्तेन । ६ पूर्वोक्तव्रतचर्याक्रियाविधाने । ७ साधारणान् । ८ यथायुक्ति । 'योगसंज्ञहृत्पादध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । ९ सुविहितकवचाः । १० स्वामिरहिताः ।

ततो विधिंमम्^१ सम्यग् अवगम्य कृतागमैः^२ । विधानेन प्रयोक्तव्याः क्रियामन्त्रपुरस्कृतम्^३ ॥२२०॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो
धर्मक्रियासु^४ कृतधीर्नृपलोकसाक्षि ।
तान् सुवतान् द्विजवरान् विनियम्य सम्यक्
धर्मप्रियः समसृजत् द्विजलोकसर्गम् ॥२२१॥

मालिनी

इति भरतनरेन्द्रात् प्राप्तसत्कारयोगा
व्रतपरिचयचारुद्वारवृत्ताः श्रुताद्याः^५ ।
जिनवृषभमतानु^६ व्रज्यया पूज्यमानाः
जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणाः ख्यातिमीयुः ॥२२२॥
वृत्तस्थान^७थ तान् विधाय सभवानिष्वाकुचूडामणिः^८
जने वर्त्मनि सुस्थितान् द्विजवरान् सम्मानयन् प्रत्यहम् ।
स्वं मेने कृतिर्न मुदा^९ परिगतां स्वां सृष्टिमुच्चैः कृतां
पश्यन् कः सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत् ॥२२३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिवण्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे द्विजोत्पत्ती
क्रियामन्त्रानुवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४०॥

सेनापतिके बिना कुछ भी नहीं कर सकते उसी प्रकार मंत्रोंसे रहित क्रियाएं भी प्रयोग करने-
वाले पुरुषोंकी कुछ भी सिद्धि नहीं कर सकती ॥२१९॥ इसलिये शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाले
द्विजोंको यह सब विधि अच्छी तरह जानकर मन्त्रोच्चारणके साथ साथ सब क्रियाएं विधि-
पूर्वक करनी चाहियें ॥२२०॥ इस प्रकार जिसने धर्मके द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक
क्रियाओंमें निपुण है और जिसे धर्म प्रिय है ऐसे भरतक्षेत्रके अधिपति महाराज भरतने राजा
लोगोंकी साक्षीपूर्वक अच्छे अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजोंको अच्छी शिक्षा
देकर ब्राह्मणवर्णकी सृष्टि की अर्थात् ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की ॥२२१॥ इस प्रकार महाराज
भरतसे जिन्हें सत्कारका योग प्राप्त हुआ है, व्रतोंके परिचयसे जिनका चारित्र्य सुन्दर और
उदार हो गया है, जो शास्त्रोंके अर्थोंको जाननेवाले हैं और श्रीवृषभ जिनेन्द्रके मतानुसार धारण
की हुई दीक्षासे जो पूजित हो रहे हैं ऐसे वे ब्राह्मण संसारमें बहुत ही प्रसिद्धिको प्राप्त हुए और
खूब ही उनका आदर-सन्मान किया गया ॥२२२॥ तदनन्तर इक्ष्वाकुकुलचूडामणि महाराज
भरत जैनमार्गमें अच्छी तरह स्थित रहनेवाले उन ब्राह्मणोंको सदाचारमें स्थिर कर प्रतिदिन
उनका सन्मान करते हुए अपने आपको धन्य मानने लगे सो ठीक ही है क्योंकि आनन्दसे युक्त
तथा उत्कृष्टताको प्राप्त हुई अपनी सृष्टिको देखता हुआ ऐसा कौन पुण्यवान् पुरुष है जो अपने
आपको कृतकृत्य न माने ॥२२३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिवण्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषा-
नुवादमें द्विजोंकी उत्पत्तिमें क्रियामन्त्रोंका वर्णन करनेवाला
यह चालीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

१ सम्पूर्णशास्त्रैः । २ सम्पूर्णबुद्धिः । ३ व्रताभ्यास । ४ श्रुतार्थाः ४०, स० । ५ मतानु-
गमनेन । ६ चारित्र्यपदं गतान् । ७ पूज्यः । ८ सन्तोषेण सह । ९ समन्वितामित्यर्थः ।

एकचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरः काले व्यतिक्रान्ते कियत्यपि । स्वप्नान्यशाभयत्^१ कांश्चिद् एकदाऽद्भुतदर्शनात् ॥१॥
तत्स्वप्नदर्शनात् किञ्चिद् उत्त्रस्त इव चेतसा । प्रबुद्धः सहसा तेषां फलानीति व्यसर्कयन् ॥२॥
अस्तफला इमे स्वप्नाः प्रायेण प्रतिभान्ति^२ माम् । मन्ये दूरफलाश्चेतान् पुराकल्पे^३ कल्पप्रदान् ॥३॥
कुतश्चिद् भगवत्यद्य^४ 'प्रतपत्यादिभर्त्सरि । प्रजानां कथमेवैवंविधोपप्लवसम्भवः ॥४॥
ततः^५ कृतयुगस्यास्य^६ व्यतिक्रान्तौ कदाचन । फलमेते प्रदास्यन्ति नूनमेतः^७ प्रकर्षतः ॥५॥
'युगान्तविप्लवोदकास्त एतेऽनिष्टशंसिनः । स्वप्नाः प्रजाप्रजापालसाधारणफलोदयाः ॥६॥
यद्वचनद्रार्कविम्बोत्पत्तिक्रियाजनितं फलम् । जगत्साधारणं तद्वत् सदसच्चास्मदीक्षितम्^८ ॥७॥
इतीदमनुमानं नः स्थूलार्थानुप्रचिन्तनम् । सूक्ष्मतत्त्वप्रतीतिस्तु प्रत्यक्षज्ञानं^९ गोचरा ॥८॥
केवलाकाङ्क्षिते नान्यः संशयध्वान्तभेदकृत् । को हि नाम तमो^{१०} नैशं हन्यादन्यत्र भास्करात् ॥९॥
तत्त्वादर्थो स्थिते देवे को नामास्मन्मतिभ्रमः । सत्यादर्शो^{११} करामर्शात् कः पश्येन्मुखसौष्ठवम् ॥१०॥
'तदत्र भगवद्वक्त्रमङ्गलादर्शदर्शनात् । युक्ता नस्तत्त्वनिर्णीतिः^{१२} स्वप्नानां शान्तिकर्म च ॥११॥
अपि चास्मदुपशं^{१३} यद् द्विजलोकस्य सर्जनम् । गत्वा तदपि विज्ञाप्यं भगवत्पादसन्निधौ ॥१२॥

अथानन्तर—कितना ही काल बीत जानेपर एक दिन चक्रवर्ती भरतने अद्भुत फल दिखानेवाले कुछ स्वप्न देखे ॥१॥ उन स्वप्नोंके देखनेसे जिन्हें चित्तमें कुछ खेद-सा उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भरत अचानक जाग पड़े और उन स्वप्नोंके फलका इस प्रकार विचार करने लगे ॥२॥ कि ये स्वप्न मुझे प्रायः बुरे फल देनेवाले जान पड़ते हैं तथा साथमें यह भी जान पड़ता है कि ये स्वप्न कुछ दूर आगेके पंचम कालमें फल देनेवाले होंगे ॥३॥ क्योंकि इस समय भगवान् वृषभदेवके प्रकाशमान रहते हुए प्रजाको इस प्रकारका उपद्रव होना कैसे संभव हो सकता है? ॥४॥ इसलिये कदाचित् इस कृतयुग (चतुर्थकाल)के व्यतीत हो जानेपर जब पापकी अधिकता होने लगेगी तब ये स्वप्न अपना फल देंगे ॥५॥ युगके अन्तमें विप्लव फैलाना ही जिनका फल है ऐसे ये स्वप्न अनिष्टको सूचित करनेवाले हैं और राजा तथा प्रजा दोनोंको समान फल देनेवाले हैं ॥६॥ जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्यके बिम्बसे उत्पन्न होनेवाली विक्रिया से प्रकट हुआ फल जगत्के जीवोंको समानरूपसे उठाने पड़ते हैं उसी प्रकार मेरे द्वारा देखे हुए स्वप्नोंके फल भी समस्त जीवोंको सामान्यरूपसे उठाने पड़ेंगे ॥७॥ इस प्रकार हमारा यह अनुमान केवल स्थूल पदार्थका चिन्तन करनेवाला है, सूक्ष्म तत्त्वकी प्रतीति प्रत्यक्ष ज्ञानसे ही हो सकती है ॥८॥ केवलज्ञानरूपी सूर्यको छोड़कर और कोई पदार्थ संशयरूपी अन्धकार को भेदन करनेवाला नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यको छोड़कर ऐसा कौन है जो रात्रिका अन्धकार नष्ट कर सके ॥९॥ तत्त्वोंका वास्तविक स्वरूप दिखलानेवाले भगवान् वृषभदेवके रहते हुए मुझे बुद्धिका भ्रम क्यों होना चाहिये, भला दर्पणके रहते हुए ऐसा कौन पुरुष है जो हाथके स्पर्शसे मुखकी सुन्दरता देखे? ॥१०-११॥ इसलिये इस विषयमें भगवान्के मुखरूपी मङ्गल

१ ददर्श । २ मम प्रकाशन्ते । ३ पश्चाद्भाविकाले । ४ पञ्चमकाले इत्यर्थः । ५ प्रकाशमाने सति । ६ तस्मात् कारणात् । ७ चतुर्थकालस्य । ८ पाप । ९ युगस्य चतुर्थकालस्यान्ते विप्लव एव उदकं उत्तरफलं येषां ते । १० मयेक्षितम् । ११ केवलज्ञानविषया । १२ निशासम्बन्धि । १३ दर्पणे विद्यमाने सति । १३ तत् कारणात् । १४ स्वरूपनिर्णयः । १५ मया प्रथमोपक्रान्तम् ।

दृष्टव्या गुरवो नित्यं प्रष्टव्याश्च हिताहितम् । महेज्यया च यष्टव्याः^१ शिष्टानामिष्टनीदृशम् ॥१३॥
 इत्यात्मगतमालोच्य शय्योत्सङ्गात् परार्द्धघतः । प्रातस्तरां समुत्थाय कृतप्राभातिकक्रियः ॥१४॥
 ततः^२ क्षणमिव स्थित्वा महास्थाने नृपैर्वृतः । वन्दनाभक्तये गन्तुम् उद्यतोऽभूद् विशाम्पतिः ॥१५॥
 वृतः परिमितरेव मौलिबद्धैरनूत्थितः^३ । प्रतस्थे वन्दनाहेतोः विभूत्या परयान्वितः ॥१६॥
 ततः क्षेपीय^४ एवासी गत्वा संन्यः परिष्कृतः । सम्प्राट् प्रापतमुद्देशं^५ यत्रास्ते स्म जगद्गुरुः ॥१७॥
 दूरादेव जिनास्थानभूमिं पश्यन्निधीश्वरः । प्रणनाम चलन्मौलिघटिताञ्जलिकुड्मलः ॥१८॥
 स तां प्रदक्षिणीकृत्य बहिर्भागे सवोऽब्जनिम् । प्रविवेश विशामीशः कान्त्वा कक्षाः पृथग्विधाः^६ ॥१९॥
 मानस्तम्भमहाचैत्यद्रुमसिद्धार्थपादपान्^७ । प्रेक्षमाणो व्यतीयाय स्तूपांश्चाचित्पूजितान् ॥२०॥
 चतुष्टयीं वनश्रेणीं ध्वजान् हर्म्यावलीमपि । तत्र तत्रेक्षमाणोऽसी तां तां कक्षामलङ्घयत् ॥२१॥
 प्रतिकक्षं सुरस्त्रीणां गीतेनूतैश्च हारिभिः । रज्यमानमनोवृत्तिः तत्रास्थासीत् परा धृतिः ॥२२॥
 ततः प्राविशदुत्तुङ्गगोपुरद्वारवर्त्मना । गणैरध्युषितां भूमिं श्रीमण्डपपरिष्कृताम् ॥२३॥
 त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलामतः । सोऽधिरुह्य परीयाय^८ धर्मचक्राणि पूजयन् ॥२४॥

दर्पणको देखकर ही मुझे स्वप्नोंके यथार्थ रहस्यका निर्णय करना उचित है और वहीं खोटे स्वप्नोंका शान्तिकर्म करना भी उचित है ॥१२॥ इसके सिवाय मैंने जो ब्राह्मण लोगोंकी नवीन सृष्टि की है उसे भी भगवान्‌के चरणोंके समीप जाकर निवेदन करना चाहिये ॥१३॥ फिर अच्छे पुरुषोंका यह कर्तव्य भी है कि वे प्रतिदिन गुरुओंके दर्शन करें, उनसे अपना हित अहित पूछा करें और बड़े वैभवसे उनकी पूजा किया करें ॥१४॥ इस प्रकार मनमें विचारकर महाराज भरतने बड़े सबेरे बहुमूल्य शय्यासे उठकर प्रातःकालकी समस्त क्रियाएँ कीं और फिर थोड़ी देरतक सभामें बैठकर अनेक राजाओंके साथ भगवान्‌की वन्दना तथा भक्तिके अर्थ जानेके लिये उद्यम किया ॥१५॥ जो साथ ही साथ उठकर खड़े हुए कुछ परिमित मुकुटबद्ध राजाओंसे घिरे हुए हैं और उत्कृष्ट विभूतिसे सहित हैं ऐसे महाराज भरतने वन्दनाके लिये प्रस्थान किया ॥१६॥ तदनन्तर सेना सहित सम्प्राट् भरत शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये जहाँ जगद्गुरु भगवान् विराजमान थे ॥१७॥ दूरसे ही भगवान्‌के समवसरणकी भूमिको देखते हुए निधियोंके स्वामी भरतने तन्म्रीभूत मस्तकपर कमलकी बौड़ीके समान जोड़े हुए दोनों हाथ रखकर नमस्कार किया ॥१८॥ उन महाराजने पहले उस समवसरण भूमिके बाहरी भागकी प्रदक्षिणा दी और फिर अनेक प्रकारकी कक्षाओंका उल्लंघन कर भीतर प्रवेश किया ॥१९॥ मानस्तम्भ, महाचैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष और पूजाकी सामग्रीसे पूजित स्तूपोंको देखते हुए उन सबको उल्लंघन करते गये ॥२०॥ अपने अपने निश्चित स्थानोंपर चारों प्रकारकी वनकी पंक्तियों, ध्वजाओं और हर्म्यावलीको देखते हुए उन्होंने उन कक्षाओंका उल्लंघन किया ॥२१॥ समवसरणकी प्रत्येक कक्षामें होनेवाले देवांगनाओंके मनोहर गीत और नृत्योंसे जिनके चित्तकी वृत्ति अनुरक्त हो रही है ऐसे महाराज भरतको बहुत ही संतोष हो रहा था ॥२२॥ तदनन्तर बहुत ऊँचे गोपुर दरवाजोंके मार्गसे उन्होंने जहाँ गणधरदेव विराजमान थे और जो श्रीमण्डपसे सुशोभित हो रही थी ऐसी सभाभूमिमें प्रवेश किया ॥२३॥ वहाँपर तीन कटनीवाले पीठकी प्रथम कटनीपर चढ़कर धर्मचक्रकी पूजा करते हुए प्रदक्षिणा दी ॥२४॥ तदनन्तर चक्रवर्ती दूसरी कटनीपर महाध्वजाओंकी पूजा कर तीनों जगत्की लक्ष्मीको तिरस्कृत करनेवाली गन्ध-

१ यजनीयाः । २ क्षणपर्यन्तम् । ३ सहोत्थितः । ४ अतिशयेन क्षिप्रम् । ५ प्रदेशम् । ६ सभाभूमिम् । ७ नानाप्रकाराः । ८ -पाधिवान् ल०, म० । ९ प्रदक्षिणां चक्रे ।

मेखलायां द्वितीयस्यां^१ वरिवस्यन् महाध्वजाम् । प्रापद् गन्धकुटीं चक्री न्य^२वकुतत्रिजगच्छिद्यम् ॥२५॥
 देवदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरेडितम् । भगवन्तमथालोक्य प्राणमद्^३ भक्तिनिर्भरः ॥२६॥
 स्तुत्वा स्तुतिभिरीशानम् अभ्यर्च्य च यथाविधि । निषसाद^४ यथास्थानं धर्मामृतपिपासितः^५ ॥२७॥
 भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपङ्कजे । विशुद्धिपरिणामाङ्गमवधिज्ञानमुद्बभौ ॥२८॥
 पीत्वाऽथो धर्मपीयूषं परां तृप्तिमवापिवान् । स्वमनोगतमित्युच्चैः भगवन्तं व्यजिज्ञपत् ॥२९॥
 मया सृष्टा द्विजन्मानः श्रावकाचारबुञ्चवः^६ । त्वद्गीतोपासकाध्यायसूत्रमार्गानुगामिनः ॥३०॥
 एकाद्येकादशान्तानि^७ दत्तान्बेभ्यो मया विभो । व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः ॥३१॥
 विश्वस्य धर्मसर्गस्य^८ त्वयि साक्षात्प्रणेतारि । स्थिते मयातिबालिश्याद्^९ इदमाचरितं विभो ॥३२॥
 दोषः कोऽत्र गुणः कोऽत्र किमेतत् साम्प्रतं^{१०} न वा । दोलायमानमिति मे मनः स्थापय निश्चितौ^{११} ॥३३॥
 अपि चाद्य मया स्वप्ना निशान्ते षोडशोक्षिताः । प्रायोऽनिष्टफलाश्चैते मया देवाभिलक्षिताः ॥३४॥
 यथादृष्टमुपन्यस्ये^{१२} तानिमान् परमेश्वरः । यथास्वं तत्फलान्यस्मत्प्रतीतिविषयं^{१३} नय ॥३५॥
 सिंहो मूगेन्द्रपोतश्च तुरगः करिभारभृत्^{१४} । छाया वृक्षलतागुल्मशृङ्खपत्रोपभोगिनः^{१५} ॥३६॥
 शाखामृगाद्विपस्कन्धम् आरूढाः कौशिकाः^{१६} खगेः । विहितोपद्रवा ध्वाङ्क्षः^{१७} प्रमथाश्च^{१८} प्रमोदिनः ॥३७॥

कुटीके पास जा पहुँचे ॥२५॥ वहाँपर भक्तिसे भरे हुए भरतने देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध और विद्याधर आदिके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको देखकर उन्हें नमस्कार किया ॥२६॥ महाराज भरत उन भगवान्की अनेक स्तोत्रोंके द्वारा स्तुति कर और विधिपूर्वक पूजा कर धर्मरूप अमृतके पीनेकी इच्छा करते हुए योग्य स्थानपर जा बैठे ॥२७॥ भक्तिपूर्वक भगवान्के चरण-कमलोंको प्रणाम करते हुए भरतके परिणाम इतने अधिक विशुद्ध हो गये थे कि उनके उसी समय अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया ॥२८॥ तदनन्तर धर्मरूपी अमृतका पान कर वे बहुत ही संतुष्ट हुए और उच्च स्वरसे अपने हृदयका अभिप्राय भगवान्से इस प्रकार निवेदन करने लगे ॥२९॥ कि हे भगवन्, मैंने आपके द्वारा कहे हुए उपासकाध्याय सूत्रके मार्गपर चलनेवाले तथा श्रावकाचारमें निपुण ब्राह्मण निर्माण किये हैं अर्थात् ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की है ॥३०॥ हे विभो, मैंने इन्हें ग्यारह प्रतिमाओंके विभागसे व्रतोंके चिह्न स्वरूप एकसे लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत दिये हैं ॥३१॥ हे प्रभो, समस्त धर्मरूपी सृष्टिको साक्षात् उत्पन्न करनेवाले आपके विद्यमान रहते हुए भी मैंने अपनी बड़ी मूर्खतासे यह काम किया है ॥३२॥ हे देव, इन ब्राह्मणों की रचनामें दोष क्या है ? गुण क्या है ? और इनकी यह रचना योग्य हुई अथवा नहीं ? इस प्रकार भूलके समान भूलते हुए मेरे चित्तको किसी निश्चयमें स्थिर कीजिये अर्थात् गुण, दोष, योग्य अथवा अयोग्यका निश्चयकर मेरा मन स्थिर कीजिये ॥३३॥ इसके सिवाय हे देव, आज मैंने रात्रिके अन्तिमभागमें सोलह स्वप्न देखे हैं और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये स्वप्न प्रायः अनिष्ट फल देनेवाले हैं ॥३४॥ हे परमेश्वर, वे स्वप्न मैंने जिस प्रकार देखे हैं उसी प्रकार उपस्थित करता हूँ । उनका जैसा कुछ फल हो उसे मेरी प्रतीतिका विषय करा दीजिए ॥३५॥ (१) सिंह, (२) सिंहका बच्चा, (३) हाथीके भारको धारण करनेवाला घोड़ा, (४) वृक्ष, लता और झाड़ियोंके सूखे पत्ते खानेवाले बकरे, (५) हाथीके स्कन्धपर बैठे

१ पूजयन् । २ अधःकुत । ३ नमस्करोति स्म । ४ निविष्टवान् । ५ पातुमिच्छामितः सन् । ६ कारणम् । ७ प्रतीताः । ८ -दशाङ्गानि ल०, म० । ९ सृष्टेः । १० मूर्खत्वेन । 'अज्ञे मूढयथा-जातमूर्खवैधेयबालिशः' इत्यमरः । ११ युक्तम् । १२ निश्चये । १३ विज्ञापयामि । १४ ज्ञानम् । १५ करिणो भारं विभति । १६ भक्षिणः । १७ उलूकाः । १८ काकेः । 'काके तु करटारिष्ट-बलिपुष्टसकृत्प्रजाः । ध्वाङ्क्षात्मघोषपरमृद्बलिभुग्वायसा अपि ॥' इत्यभिधानात् । १९ भूताः ।

शुक्लमध्यं तडागं च पर्यस्तप्रचुरोदकम् । पांशुधूसरितो रत्नराशिः स्वार्थं मण्यहितः ॥३८॥
 तारुण्यशाली वृषभः शीतांशुः परित्रेवृक्षः । मियोऽङ्गोऽङ्गुतसाङ्गस्यौ पुङ्गवौ सङ्गलच्छिद्यौ ॥३९॥
 रविराशावधूरत्नवत्सोऽन्देस्तिरोहितः । संशुष्कस्तहरच्छायो जीर्णपर्णसमुच्चयः ॥४०॥
 षोडशैतेऽद्य धात्रिण्यां दुष्टदाः स्वप्ना विदा वर । फलविप्रतिपत्तिं मे तद्गतां त्वम्पाकुरु ॥४१॥
 इति तत्फलविज्ञाननिपुणोऽप्यवधित्विषा । सभाजनप्रबोधार्थं पप्रच्छ निधिराट् जितम् ॥४२॥
 'तत्प्रश्नावसितावित्थं व्यावृष्टं स्म जगद्गुरुः । वचनामृतसंसेकैः प्रीणयन्निखिलं सदः ॥४३॥
 भगवद्विव्यवाग्यं शुश्रूषावहितं तदा । ध्यानापगमिवाभूत्तत्सदश्चित्तवर्गं नृषा ॥४४॥
 साधु वत्स कृतं साधु धार्मिकद्विजपूजनम् । किन्तु दोषानुषङ्गोऽत्र कोऽप्यस्ति स निश्चिन्मताम् ॥४५॥
 आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः । ते तावदुक्षिताचारा यावत्कृत्युगस्थितिः ॥४६॥
 ततः 'कलियुगेऽभ्यर्गे' जातिवादादलेपतः । भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते सन्मार्गप्रत्यनीकताम् ॥४७॥
 तेऽमी जातिमदाविष्टा ययं लोकाधिका इति । 'पुरा दुरागमैर्लोकं मोहयन्ति' धनशया ॥४८॥
 सत्कारलाभसंबुद्धगर्वा मिथ्यामदोद्धताः । जनान् प्रतारयिष्यन्ति स्वयमुत्पाद्य दुःश्रुतीः ॥४९॥

हुए वानर, (६) कौआ आदि पक्षियोंके द्वारा उपद्रव किये हुए उलूक, (७) आनन्द करते हुए भूत, (८) जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है और किनारोंपर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा तालाब, (९) धूलिसे धूसरित रत्नोंकी राशि, (१०) जिसकी पूजा की जा रही है ऐसा नैवेद्यको खाने-वाला कुत्ता, (११) जवान बैल, (१२) मण्डलसे युक्त चन्द्रमा, (१३) जो परस्परमें मिल रहे हैं और जिनकी शोभा नष्ट हो रही है ऐसे दो बैल, (१४) जो दिशारूपी स्त्रीरत्नोंके से बने हुए आभूषणके समान हैं तथा जो मेवोंसे आच्छादित हो रहा है ऐसा सूर्य, (१५) छाया-रहित सूखा वृक्ष और (१६) पुराने पत्तोंका समूह । हे जानियोंमें श्रेष्ठ, आज मैंने रात्रिके समय ये सोलह स्वप्न देखे हैं । हे नाथ, इनके फलके विषयमें जो मुझे संदेह है, उसे दूर कर दीजिये ॥३६-४१॥ यद्यपि निधियोंके अधिपति महाराज भरत अपने अवधिज्ञानके द्वारा उन स्वप्नोंका फल जाननेमें निपुण थे तथापि सभाके लोगोंको समझानेके लिये उन्होंने भगवान् से इस प्रकार पूछा था ॥४२॥ भरतका प्रश्न समाप्त होनेपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव अपने वचनरूपी अमृतके सिचनसे समस्त सभाको संतुष्ट करते हुए इस प्रकार व्याख्यान करने लगे ॥४३॥ उस समय भगवान्की दिव्य ध्वनिके अर्थको सुननेकी इच्छा से सावधान हुई वह सभा ऐसी जान पड़ती थी मानो ध्यानमें मग्न हो रही हो अथवा चित्रकी बनी हुई हो ॥४४॥ वे कहने लगे कि हे वत्स, तूने जो धर्मात्मा द्विजोंकी पूजा की है सो बहुत अच्छा किया है परन्तु इसमें कुछ दोष है उसे तू सुन ॥४५॥ हे आयुष्मन्, तूने जो गृहस्थोंकी रचना की है सो जबतक कृतयुग अर्थात् चतुर्थकालकी स्थिति रहेगी तबतक तो ये उचित आचारका पालन करते रहेंगे परन्तु जब कलियुग निकट आ जायगा तब ये जातिवादके अभिमानसे सदाचारसे भ्रष्ट होकर समीचीन मोक्ष-मार्गके विरोधी बन जावेंगे ॥४६॥ पंचम कालमें ये लोग, हम सब लोगोंमें बड़े हैं, इस प्रकार जातिके मदसे युक्त होकर केवल धनकी आशासे छोटे छोटे शास्त्रोंके द्वारा लोगोंको मोहित करते रहेंगे ॥४७॥ सत्कारके लाभसे जिनका गर्व बढ़ रहा है और जो मिथ्या मदसे उद्धत हो रहे हैं ऐसे ये ब्राह्मण लोग स्वयं मिथ्या शास्त्रोंको बना बनाकर लोगोंको ठगा करेंगे ॥४८॥ जिनकी चेतना पापसे दूषित हो रही है ऐसे ये मिथ्यादृष्टि लोग इतने समय

१ ईषत्पाण्डुरितः । २ चरुभुक् । ३ पूजितः । ४ सन्देहम् । ५ तस्य प्रश्नावसाने । ६ अवधानपरम् । ७ योगः । ८ चतुर्थकाल । ९ पञ्चमकाले । १० समीपे सति । ११ गर्वतः । १२ यास्यन्ति । १३ प्रतिकूलताम् । १४ पञ्चमकाले । १५ 'पुरायावतोर्लडिति भविष्यत्यर्थे लङ् । १६ वञ्चयिष्यन्ति । १७ दुःशास्त्राणि ।

त इमे कालपर्वन्ते विक्रियां प्राप्य दुर्दशः । धर्मद्रोहो^१ भविष्यन्ति पापोपहतचेतनाः ॥५०॥
 सत्वोपघातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः । प्रवृत्तिलक्षणं^२ धर्मं घोषयिष्यन्त्यधामिकाः ॥५१॥
 अहिंसालक्षणं धर्मं दूषयित्वा दुराशयाः । चोदनालक्षणं धर्मं पोषयिष्यन्त्यमी वत ॥५२॥
 पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिभारणतत्पराः । 'वत्सर्वंयुगे प्रवत्स्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः'^३ ॥५३॥
 द्विजातिसर्जनं^४ तस्मान्नाद्य यद्यपि दोषकृत् । स्याद्दोषबीजमायत्यां^५ कुपाखण्डप्रवर्तनात् ॥५४॥
 इति कालान्तरे दोषबीजमप्येतदञ्जसा । नाधुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्ट्यनतिक्रमात् ॥५५॥
 यथाश्रमुपरुक्तं सत् वदचित्कस्यापि दोषकृत् । तथाऽप्यपरिहार्यं तद् बुधैर्बहुगुणास्थया ॥५६॥
 तथेदमपि भन्तव्यम् अस्त्येव गुणवत्तया । पृथग्मांशयवैषम्यात् पश्चाद् यद्यपि दोषकृत् ॥५७॥
 इवमेवं गतं हन्त यच्च ते स्वप्नदर्शनम् । तदप्येव्यद्^६ युगे धर्मस्थितिह्रासस्य सूचनम् ॥५८॥
 ते च स्वप्ना द्विधाऽऽम्नाताः स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः । तमैस्तु धातुभिः स्वस्था विषमैरितरे मताः ॥५९॥
 तथ्याः स्युः स्वस्य सन्दृष्टाः मिथ्यास्वप्ना विषमयति । जगत्प्रतीतमेतद्धि विद्धि स्वप्नविमर्शनम्^७ ॥६०॥
 स्वप्नानां द्वैतमस्त्यन्यद्दोषदैवतमुद्भवम् । दोषप्रकोपजा मिथ्या तथ्याः स्युर्दैवतम्भवाः ॥६१॥

तक विकारभावको प्राप्त होकर धर्मके द्रोही बन जायेंगे ॥५०॥ जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें तत्पर हैं तथा मधु और मांसका भोजन जिन्हें प्रिय है ऐसे ये अधर्मी ब्राह्मण हिंसारूप धर्मकी घोषणा करेंगे ॥५१॥ खेद है कि दुष्ट आशयवाले ये ब्राह्मण अहिंसारूप धर्मको दूषित कर वेदमें कहे हुए हिंसारूप धर्मको पुष्ट करेंगे ॥५२॥ पापका समर्थन करनेवाले, शास्त्रको जानने वाले अथवा पापके चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले और प्राणियोंके मारनेमें सदा तत्पर रहनेवाले ये धूर्त ब्राह्मण आगामी युग अर्थात् पंचम कालमें समीचीन मार्गके विरोधी हो जावेंगे ॥५३॥ इसलिये यह ब्राह्मणोंकी रचना यद्यपि आज दोष उत्पन्न करनेवाली नहीं है तथापि आगामी कालमें छोटे पाखण्ड मतोंकी प्रवृत्ति करनेसे दोषका बीजरूप है ॥५४॥ इस प्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोंकी सृष्टि कालान्तरमें दोषका बीजरूप है तथापि धर्म सृष्टिका उल्लंघन न हो इसलिये इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नहीं है ॥५५॥ जिस प्रकार खाया हुआ अन्न यद्यपि कहीं किसीको दोष उत्पन्न कर देता है तथापि अनेक गुणोंकी आस्थासे विद्वान् लोग उसे छोड़ नहीं सकते उसी प्रकार यद्यपि ये पुरुषोंके अभिप्रायोंकी विषमतासे आगामी कालमें दोष उत्पन्न करनेवाले हो जावेंगे तथापि इस समय इन्हें गुणवान् ही मानना चाहिये ॥५६-५७॥ इस प्रकार यह तेरी ब्राह्मण रचनाका उत्तर तो ही चुका, अब तूने जो स्वप्न देखे हैं, खेद है, कि वे भी आगामी युग (पंचम काल) में धर्मकी स्थितिके ह्रासको सूचित करनेवाले हैं ॥५८॥ वे स्वप्न दो प्रकारके माने गये हैं एक अपनी स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले और दूसरे अस्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले । जो धातुओंकी समानता रहते हुए दिखते हैं वे स्वस्थ अवस्थाके कहलाते हैं और जो धातुओंकी विषमता-न्यूनाधिकता रहते हुए दिखते हैं वे अस्वस्थ अवस्थाके कहलाते हैं ॥५९॥ स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न सत्य होते हैं और अस्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न असत्य हुआ करते हैं इस प्रकार स्वप्नोंके फलका विचार करनेमें यह जगत्प्रसिद्ध बात है ऐसा तू समझ ॥६०॥ स्वप्नोंके और भी दो भेद हैं एक दोषसे उत्पन्न होनेवाले और दूसरे दैवसे उत्पन्न होनेवाले । उनमें दोषोंके प्रकोप-

१ धर्मघातिनः । २ चोदनालक्षणम् । ३ भावि । ४ प्रतिकूल । ५ सृष्टिः । ६ उत्तरकाले ।
 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यभिधानात् । ७ भविष्यद्युगे । ८ विचारणम् ।

कल्याणाङ्गास्त्वमेकान्ताद् देवताभिष्ठितश्च यत्^१ । न मिथ्या तदिमे स्वप्नाः फलमेवा^२ निबोध मे^३ ॥६२॥

दृष्टाः स्वप्ने मृगावीशा ये त्रयोविंशतिप्रमाः । निस्सपत्नां विद्वत्येसां क्षमा^४ क्षमाभृक्कृतमाश्रिताः^५ ॥६३॥

तत्फलं सन्मतिं मुक्त्वा शेषतीर्थकरोदये । दुर्न्यातामनुद्भूतिरुयापनं लक्ष्यतां स्फुटम् ॥६४॥

पुनरेकाकिनः सिंहपोतस्यान्वक्^६ मृगक्षणात् । भवेयुः सन्मतेस्तीर्थे सानुषङ्गाः^७ कुलिङ्गगिनः ॥६५॥

करीन्द्रभारनिर्भृगुपृष्ठस्यान्वस्य वीक्षणात् । कृत्स्नान् तपोगुणान्वोदु^८ नालं दुष्पमसाधवः ॥६६॥

मूलोत्तरगुणेष्वत्तसङ्गराः केचनालसाः । भक्ष्यन्ते मूलतः केचित्तेषु यास्यन्ति मन्दताम् ॥६७॥

निध्यानादजयूयस्य शुष्कपत्रोपयोगिनः । यान्त्यसद्वृत्ततां त्यक्तसदाचाराः पुरा नराः ॥६८॥

करीन्द्रकन्धरारुढशालामृगविलोकनात् । आदिश्वान्वायोच्छ्रितौ क्षमां^९ पास्यन्त्यकुलीनकाः ॥६९॥

काकैरलूकसम्बाधदर्शनाद्धर्मकास्यया । मुक्त्वा जैनाम्मुनीनन्यमतस्थानन्विद्युर्जनाः ॥७०॥

प्रनृत्यतां प्रभूतानां^{१०} भूतानाम्नीक्षणात् प्रजाः । भजेयुर्नामिकर्मार्थं व्यन्तरान् देवतास्थया^{११} ॥७१॥

शुष्कमध्यतडागस्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितोक्षणात् । प्रच्युत्यार्यनिवासात् स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु^{१२} ॥७२॥

पांसुवृत्तरत्नौघनिध्यानाद्धिसत्तमाः । नैव प्रादुर्भविष्यन्ति मुनयः पञ्चमे युगे ॥७३॥

शूनोऽर्चितस्य सत्कारेऽश्चरभाजनदर्शनात् । गुणवत्पात्रसत्कारमाप्स्यन्त्यव्रतिनो द्विजाः ॥७४॥

से उत्पन्न होनेवाले भूट होते हैं और देवसे उत्पन्न होनेवाले सच्चे होते हैं ॥६१॥ हे कल्याणरूप, चूँकि तू अवश्य ही देवताओंसे अधिष्ठित है इसलिये तेरे ये स्वप्न मिथ्या नहीं हैं । तू इनका फल मुझसे समझ ॥६२॥ तूने जो स्वप्नमें इस पृथ्वीपर अकेले विहार कर पर्वतकी शिखरपर चढ़े हुए तेईस सिंह देखे हैं उसका स्पष्ट फल यही समझ कि श्रीमहावीर स्वामीको छोड़कर शेष तेईस तीर्थङ्करोंके समयमें दुष्ट नयोंकी उत्पत्ति नहीं होगी । इस स्वप्नका फल यही बतलाता है ॥६३-६४॥ तदनन्तर दूसरे स्वप्नमें अकेले सिंहके बच्चेके पीछे चलते हुए हरिणोंका समूह देखनेसे यह प्रकट होता है कि श्री महावीर स्वामीके तीर्थमें परिग्रहको धारण करनेवाले बहुतसे कुलिङ्गी हो जावेंगे ॥६५॥ बड़े हाथीके उठाने योग्य बोझसे जिसकी पीठ झुक गई है ऐसे घोड़ेके देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचम कालके साधु तपश्चरणके समस्त गुणोंको धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकेंगे ॥६६॥ कोई मूलगुण और उत्तरगुणोंके पालन करनेकी प्रतिज्ञा लेकर उनके पालन करनेमें आलसी हो जायेंगे, कोई उन्हें मूलसे ही भंग कर देंगे और कोई उनमें मन्दता या उदासीनताको प्राप्त हो जायेंगे ॥६७॥ सूखे पत्ते खानेवाले बकरीका समूह देखनेसे यह मालूम होता है कि आगामी कालमें मनुष्य सदाचारको छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे ॥६८॥ गजेन्द्रके कंधेपर चढ़े हुए वानरोंके देखनेसे जान पड़ता है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रिय वंश नष्ट हो जायेंगे और नीच कुलवाले पृथ्वीका पालन करेंगे ॥६९॥ कौवोंके द्वारा उलूकको त्रास दिया जाना देखनेसे प्रकट होता है कि मनुष्य धर्मकी इच्छासे जैनमनियोंको छोड़कर अन्य मतके साधुओंके समीप जायेंगे ॥७०॥ नाचते हुए बहुतसे भूतोंके देखनेसे मालूम होता है कि प्रजाके लोग नामकर्म आदि कारणोंसे व्यन्तरीको देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे ॥७१॥ जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है ऐसे तालाबके चारों ओर पानी भरा हुआ देखनेसे प्रकट होता है कि धर्म आर्यखण्डसे हटकर प्रत्यन्तवासी-म्लेच्छ खण्डोंमें ही रह जायगा ॥७२॥ धूलिसे मलिन हुए रत्नोंकी राशिके देखनेसे यह जान पड़ता है कि पंचमकालमें ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होंगे ॥७३॥ आदर-सत्कारसे जिसकी पूजा की

१ यस्मात् कारणात् । २ जानीहि । ३ मम सकाशात् । ४-मास्थिताः ट० । ५ अनुगच्छतु ।

६ सपरिग्रहाः । ७ दर्शनात् । ८ पालयिष्यन्ति । ९ भूरीणाम् । १० देवबुद्ध्या । ११ म्लेच्छदेशेषु ।

१२ प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात् ।

तरुणस्य वृधस्योच्चैः नदतो^१ विहृतीक्षणात् । तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे ॥७५॥
 परिवेषोपरवतस्य श्वेतभानोनिशामनात्^२ । नोत्पत्स्यते^३ तपोभृत्सु समनःपर्ययोऽवधिः ॥७६॥
 श्रम्योन्यं सह सम्भूय वृधयोर्मनोक्षणात् । वत्स्यन्ति मुनयः साहचर्यन्नैकविहारिणः ॥७७॥
 घनावरणरुद्धस्य दर्शनादंशुमालिनः । केवलाकीदयः प्रायो^४ न भवेत् पञ्चमे युगे ॥७८॥
 पुंसां स्त्रीणां च चारित्र्यवृत्तिः शुष्कद्रुमेक्षणात् । महौषधिरसोच्छेदो जीर्णपर्णावलोकनात् ॥७९॥
 स्वप्नानेवंफलानेतान् विद्धि दूरविपाकिनः^५ । नाद्य दोषस्ततः कोऽपि फलमेषां युगान्तरे ॥८०॥
 इति स्वप्नफलान्यस्माद् बुध्वा वत्स यथा तथा । धर्मं मतिं दृढं धत्स्व विद्वद्विघ्नोपशान्तये ॥८१॥
 इत्थ्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं स वर्णाश्रमपालकः । सन्देहकर्मपायात् स प्रसन्नमध्यात्मनः ॥८२॥
 भूयो भूयः प्रणम्येशं समापृच्छच्च पुनः पुनः । पुनराववृत्ते कृच्छ्रात् स प्रीतो गुर्वनुग्रहात् ॥८३॥
 ततः प्रविश्य साकेतपुरमाबद्धतोरणम् । केतुमालाकुलं पौरैः सानन्दमभिनन्दिनः ॥८४॥
 शान्तिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशान्तये । जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥८५॥
 गोबोहैः^६ प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्षयः । महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयी जनः^७ ॥८६॥
 निर्मापितास्ततो घण्टा जिनबिम्बैरलङ्कृताः । परार्ध्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभिः ॥८७॥

गई है ऐसे कुत्तेको नैवेद्य खाते हुए देखनेसे मालूम होता है कि व्रतरहित ब्राह्मण गुणी पात्रोंके समान सत्कार पायेंगे ॥७४॥ ऊंचे स्वरसे शब्द करते हुए तरुण बैलका विहार देखनेसे सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमें ठहर सकेंगे, अन्य अवस्थामें नहीं ॥७५॥ परिमण्डलसे घिरे हुए चन्द्रमाके देखनेसे यह जान पड़ता है कि पंचमकालके मुनियोंमें अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान नहीं होगा ॥७६॥ परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलोंके देखनेसे यह सूचित होता है कि पंचमकालमें मुनिजन साथ साथ रहेंगे, अकेले विहार करनेवाले नहीं होंगे ॥७७॥ मेवोंके आवरणसे रुके हुए सूर्यके देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचमकालमें प्रायः केवल-ज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होगा ॥७८॥ सूखा वृक्ष देखनेसे सूचित होता है कि स्त्री-पुरुषोंका चारित्र्य भ्रष्ट हो जायगा और जीर्ण पत्तोंके देखनेसे मालूम होता है कि महाऔषधियोंका रस नष्ट हो जायगा ॥७९॥ ऐसा फल देनेवाले इन स्वप्नोंको तू दूरविपाकी अर्थात् बहुत समय बाद फल देनेवाले समझ इसलिये इनसे इस समय कोई दोष नहीं होगा, इनका फल पञ्चमकालमें होगा ॥८०॥ हे वत्स, इस प्रकार मुझसे इन स्वप्नोंका यथार्थ फल जानकर तू समस्त विघ्नोंकी शान्तिके लिये धर्ममें अपनी बुद्धि कर ॥८१॥ वर्णाश्रमकी रक्षा करनेवाले भरतने गुरुदेवके उपर्युक्त वचन सुनकर संदेहरूपी कीचड़के नाश होनेसे अपना चित्त निर्मल किया ॥८२॥ वे भगवान्को बार-बार प्रणाम कर तथा बार-बार उनसे पूछकर गुरुदेवके अनुग्रहसे प्रसन्न होते हुए बड़ी कठिनाईसे वहाँसे लौटे ॥८३॥ तदनन्तर नगरके लोग आनन्दके साथ जिनका अभिनन्दन कर रहे हैं ऐसे उन महाराज भरतने जिसमें जगह जगह तोरण बाँधे गये हैं और जो पताकाओंकी पंक्तियोंसे भरा हुआ है ऐसे अयोध्या नगरमें प्रवेश कर छोटे स्वप्नोंसे होनेवाले अनिष्टकी शान्तिके लिये जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करना, उत्तम पात्रको दान देना आदि पुण्य क्रियाओंसे शान्ति कर्म किया ॥८४-८५॥ उन्होंने गायके दूधसे पृथिवीका सिंचन किया, महर्षियोंकी पूजा की, बड़े बड़े दान दिये और प्रेमीजनोंको संतुष्ट किया ॥८६॥ तदनन्तर उन्होंने बहुमूल्य रत्नोंसे बने हुए, सुवर्णकी रस्सियोंसे बँधे हुए और जिनेन्द्रदेवकी प्रति-

१ ध्वनतः । २ विहरण । ३ चन्द्रस्य । ४ दर्शनात् । ५ नोदेष्यति । ६ भूशम् । ७ दूरोदयात् ।
 ८ गोक्षीरैः । ९ बन्धुः ।

लम्बिताश्च पुरद्वारि^१ ताश्चतुर्विंशतिप्रभाः । राजवेश्ममहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥८८॥
 यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यध्ययं प्रभुः । तदा मौल्यप्रलम्बनाभिः अस्य स्यादहंता स्मृतिः ॥८९॥
 स्मृत्वा ततोऽर्हदचिनां भक्त्या कृत्वाभिनन्दनाम् । पूजयत्यभिनष्कामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥९०॥
 रेजुः सूत्रेषु सम्प्रोक्ता घण्टास्ताः परमेष्ठिनाम् । सदैर्यघटिताष्टीका ग्रन्थानामिव पेशलाः ॥९१॥
 लोकबूडामणस्तस्य मौलिलम्बा विरेजिरे । पादच्छाया जिनस्येव घण्टास्ता लोकसम्मताः ॥९२॥
 रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना । वृष्टबार्हद्वन्द्वनाहेतोः लोकोऽप्यासीत्तदावरः ॥९३॥
 पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु । यथाविभवमाबद्धा घण्टास्ता सपरिच्छदाः^२ ॥९४॥
 आदिराजकृतां सृष्टिं प्रजास्तां बहुमेतिरे । प्रत्यगारं यतोऽद्यापि लक्ष्या वन्दनमालिकाः ॥९५॥
 वन्दनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिना । ततो वन्दनमालाख्यां प्राप्य रुढिं गताः क्षितौ ॥९६॥
 धर्मशीले महीपाले यान्ति तच्छीलतां^३ प्रजाः । श्रुताच्छील्यमतच्छीलै^४ यथा राजा तथा प्रजाः ॥९७॥
 तदा कालानुभावेन प्रायो धर्मप्रिया नराः । साधोयः साधुवृत्तेऽस्मिन् स्वामिन्यासन् हिते रताः ॥९८॥
 सुकालश्च सुराजा च समं सन्निहितं द्वयम् । ततो धर्मप्रिया जाताः प्रजास्तदनुरोधतः ॥९९॥

माओसे सजे हुए बहुतसे घंटे बनवाये तथा ऐसे ऐसे चौबीस घंटे बाहरके दरवाजेपर, राजभवन के महाद्वारपर और गोपुर दरवाजोंपर अनुक्रमसे टँगा दिये ॥८७-८८॥ जब वे चक्रवर्ती उन दरवाजोंसे बाहर निकलते अथवा भीतर प्रवेश करते तब मुकुटके अग्रभागपर लगे हुए घंटाओंसे उन्हें चौबीस तीर्थं करोँका स्मरण हो आता था । तदनन्तर स्मरणकर उन अरहन्तदेवकी प्रतिमाओंको वे नमस्कार करते थे इस प्रकार पुण्यरूप बुद्धिको धारण करनेवाले महाराज भरत निकलते और प्रवेश करते समय अरहन्तदेवकी पूजा करते थे ॥८९-९०॥ सूत्र अर्थात् रस्सियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले वे परमेष्ठियोंके घंटा ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो उत्तम उत्तम अर्थोंसे भरी हुई और सूत्र अर्थात् आगम वाक्योंसे सम्बन्ध रखनेवाली ग्रन्थोंकी सुन्दर टीकाएं ही हों ॥९१॥ महाराज भरत स्वयं तीनों लोकोंके बूडामणि थे उनके मस्तक पर लगे हुए वे लोकप्रिय घंटा ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी छाया ही हो ॥९२॥ निधियोंके स्वामी भरतने अर्हन्तदेवकी वन्दनाके लिये जो घंटा रत्नोंके तोरणोंकी रचनामें स्थापित किये थे उन्हें देखकर अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे थे अर्थात् अपने अपने दरवाजेके तोरणोंकी रचनामें घंटा लगवाने लगे थे । उसी समयसे नगरवासी लोगोंने भी अपने अपने घरकी तोरणमालाओंमें अपने अपने वैभवके अनुसार जिनप्रतिमा आदि सामग्रीसे युक्त घंटा बाँधे थे ॥९३-९४॥ उस समय प्रथमराजा भरतकी बनाई हुई इस सृष्टिको प्रजाके लोगोंने बहुत माना था, यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घरपर वन्दन मालाएं दिखाई देती हैं ॥९५॥ चूँकि भरतेश्वरने वे मालाएं अरहन्तदेवकी वन्दनाके लिये बनवाई थीं इसलिये ही वे वन्दनमाला नाम पाकर पृथिवीमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुई हैं ॥९६॥ यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है और राजा धर्मात्मा नहीं होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा नहीं होती है, यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है ॥९७॥ उस समय कालके प्रभावसे प्रायः सभी लोग धर्मप्रिय थे सो ठीक ही है क्योंकि सदाचारी भरतके राजा रहते हुए सब लोग अपना हित करनेमें लगे हुए थे ॥९८॥ उस समय अच्छा राजा और अच्छी प्रजा दोनों ही एक साथ मिल गये थे इसलिये राजाके अनुरोधसे प्रजा

१ बहिर्द्वारि ल०, म०, द० । २ रत्नादिसम्यगर्थः । ३ तोरणमालासु । ४ जिनविम्बादिपरिक-
 रसहिताः । ५ धर्मशीलताम् । ६ अधर्मत्वम् । ७ अधर्मशीले सति ।

एष धर्मप्रियः सम्राट् धर्मस्थानभितन्दति । भवेति निखिलो लोकः तदा धर्मे रतिं व्यधात् ॥१००॥

स धर्मविजयी सम्राट् सद्गुणैः शुचिर्लजितः । प्रकृतिष्वनुरक्तासु व्यधाद् धर्मक्रियादरम् ॥१०१॥

भरतोऽभरतो धर्मे बयं तदनुजीविनः । इति तद्वृत्तमन्वीयुः मौलिबद्धा महोक्षितः ॥१०२॥

सोऽयं साधितकामार्थश्चक्रे चक्रानुभावतः । चरितार्थद्वये तस्मिन् भजे धर्मकतानताम् ॥१०३॥

दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वभूषोषितम् । धर्मश्चतुर्विधः सोऽयम् आम्नातो गृहमेधिनाम् ॥१०४॥

देवो दानमसौ सद्भ्यो मुनिभ्यो विहितादरम् । समेतो नवभिः पुण्यैः गुणैः सप्तभिरन्वितः ॥१०५॥

सोऽयद् विशुद्धमाहारं यथायोगं च भेषजम् । प्राणिभ्योऽभयदानं च दानस्यैतावती गतिः ॥१०६॥

जिनेषु भक्तिभातस्वनत्तपूजायां धृतिं दधी । पूज्यानां पूजनाल्लोके पूज्यत्वमिति भावयन् ॥१०७॥

चैत्यचैत्यालयादीनां निर्माणपुरस्सरम् । स चक्रे परमाभिज्ञां कल्पवृक्षपृथग्रथाम् ॥१०८॥

शीलानुपालने यत्नो मनस्यस्य विभोरभूत् । शीलं हि रक्षितं यत्नाद् आत्मानमनुरक्षति ॥१०९॥

व्रतानुपालनं शीलव्रतानुव्रतान्यगारिणाम् । स्थूलहिंसाविरत्यादिलक्षणानि च लक्षणैः ॥११०॥

समावनानि तत्पेषे यथायोगं प्रपालयन् । प्रजानां पालकः सोऽभूद् धीरेयो गृहमेधिनाम् ॥१११॥

पर्वोपवासमास्थाय^१ जिनागारे समाहितः । कुर्वन् सामयिकं सोऽध्यामुनिवृत्तं च तत्क्षणम्^२ ॥११२॥

धर्मप्रिय हो गई थी ॥१०१॥ यह सम्राट् स्वयं धर्मप्रिय है और धर्महिमा लोगोंका सम्मान करता है यही मानकर उस समय लोग धर्ममें प्रीति करने लगे थे ॥१००॥ वह चक्रवर्ती धर्मविजयी था, सदाचारी था, पवित्र था और बलिष्ठ था इसलिये ही वह अपनेपर प्रेम रखनेवाली प्रजामें धार्मिक क्रियाओंका आदर करता था अर्थात् प्रजाको धार्मिक क्रियाएं करनेका उपदेश देता था ॥१०१॥ 'भरत धर्ममें तत्पर है और हम लोग उसके सेवक हैं' यही समझकर मुकुटबद्ध राजा उनके आचरणका अनुसरण करते थे । भावार्थ—अपने राजाको धर्महिमा जानकर आश्रित राजा भी धर्महिमा बन गये थे ॥१०२॥ चक्रके प्रभावसे अर्थ और काम दोनों ही जिनके स्वाधीन हो रहे हैं ऐसे चक्रवर्ती भरत अर्थ और कामकी सफलता होनेपर केवल धर्ममें ही एकाग्रता को प्राप्त हो रहे थे ॥१०३॥ दान देना, पूजा करना, शील पालन करना और पर्वके दिन उपवास करना यह गृहस्थोंका चार प्रकारका धर्म माना गया है ॥१०४॥ नव प्रकारके पुण्य और सात गुणोंसे सहित भरत उत्तम मुनियोंके लिये बड़े आदरके साथ दान देते थे ॥१०५॥ वे विशुद्ध आहार, योग्यतानुसार औषधि और समस्त प्राणियोंके लिये अभय दान देते थे सो ठीक ही है क्योंकि दानकी यही तीन गति हैं ॥१०६॥ संसारमें पूज्य पुरुषोंकी पूजा करनेसे पूज्यपना स्वयं प्राप्त हो जाता है ऐसा विचार करते हुए महाराज भरत जिनेन्द्रदेवमें अपनी भक्ति बढ़ाते हुए उनकी पूजा करनेमें बहुत ही संतोष धारण करते थे ॥१०७॥ उन्होंने अनेक जिनविम्ब और जिनमन्दिरोंकी रचना कराकर कल्पवृक्ष नामका बहुत बड़ा यज्ञ (पूजन) किया था ॥१०८॥ उनके मनमें शीलकी रक्षा करनेका प्रयत्न सदा विद्यमान रहता था सो ठीक ही है क्योंकि प्रयत्नपूर्वक रक्षा किया हुआ शील आत्माकी रक्षा करता है ॥१०९॥ व्रतोंका पालन करना शील कहलाता है और स्थूलहिंसाका त्याग करना (अहिंसाणु व्रत) आदि जो गृहस्थोंके व्रत हैं वे लक्षणोंके साथ पहले कहे जा चुके हैं ॥११०॥ उन व्रतोंको भावनाओं सहित यथायोग्य रीतिसे पालन करते हुए प्रजापालक महाराज भरत गृहस्थोंमें मुख्य गिने जाते थे ॥१११॥ वे पर्वके दिन उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर चित्तको स्थिर कर सामायिक करते

१ प्रजापरिवारेषु । २ भरतो निरतो ल०, म० । ईशानोऽभरतो अ०, स० । ३ अनुगच्छन्ति स्म ।

४ नृपाः । ५ स्वाधीन—ल०, म०, स०, अ०, प० । ६ धर्मे अनन्यवर्तिताम् । 'एकतान अनन्यवृत्तिः' इत्यभिधानात् । ७ उपवासः । ८ कथितः । ९ मैत्रीप्रमोदादिभावनासहितानि । १० प्रतिज्ञां कृत्वा । —माध्याय ल०, प० । ११ सामायिककालपर्यन्तम् ।

जिनानुस्मरणे तस्य समाधानमुपेयुषः । शैथिल्याद् गात्रबन्धस्य 'सस्तान्याभरणान्यहो ॥११३॥
 तथापि बहुचिन्तस्य धर्मचिन्ताऽभवद् दृढा । धर्मो हि चिन्तिते सर्वं चिन्त्यं स्यादनुचिन्तितम् ॥११४॥
 तस्याखिलाः क्रियारम्भा धर्मचिन्तापुरस्सराः । जाता जातमहोदकं पुण्यपाकोत्थसम्पदः ॥११५॥
 प्रातरुन्मीलिताक्षः सन् सन्ध्यारागारुणा दिशः । स मेनेऽहं तपदाम्भोजरागेण जानुरञ्जिताः ॥११६॥
 प्रातश्चान्तमुद्धूतनैशान्वतमसं^१ रविम् । भगवत्केवलार्कस्य प्रतिबिम्बममस्त सः ॥११७॥
 प्रभातमहोदूतप्रबुद्ध^२ कमलाकरात् । हृदि सोऽधाज्जिनालापकलापानिव शीतलान् ॥११८॥
 धार्मिकस्यास्य कामार्यचिन्ताऽभूदानुषङ्गिकी^३ । तात्पर्यं त्वभवद्धर्मं कृत्स्नध्वेयोऽनुबन्धिनि ॥११९॥
 प्रातरुत्थाय धर्मस्यैः^४ कृतधर्मानुचिन्तनः । ततोऽयंकामसम्पत्तिं सहामात्यैर्न्यैरूपयत्^५ ॥१२०॥
 तलपादुतियतमात्रोऽसौ सम्पूज्य गुरुदैवतम् । कृतमङ्गलनेपथ्यो^६ 'धर्मासनमधिष्ठितः ॥१२१॥
 प्रजानां सदसद्वृत्तचिन्तनैः क्षणमासितः । तत आयुक्तकान्^७ स्वेषु नियोगेष्वन्वशाद् विभुः ॥१२२॥
 नृपासनमवाध्यास्य महादर्शनं^८ मध्यगः । नृपान् सन्भावयामास सेवावसरकाङ्क्षिणः ॥१२३॥
 कांश्चिदालोकनैः कांश्चित्स्मितैराभाषणैः परान् । कांश्चित्समानदानाद्यैः तर्पयामास पायिवान् ॥१२४॥

हुए जिनमन्दिरमें ही रहते थे और उस समय ठीक मुनियोंका आचरण धारण करते थे ॥११२॥
 जिनेन्द्रदेवका स्मरण करनेमें वे समाधानको प्राप्त हो रहे थे—उनका चित्त स्थिर हो रहा था और
 आश्चर्य है कि शरीरके बन्धन शिथिल होनेसे उनके आभूषण भी निकल पड़े थे ॥११३॥
 यद्यपि उन्हें बहुत पदार्थोंकी चिन्ता करनी पड़ती थी तथापि उनके धर्मकी चिन्ता अत्यन्त दृढ़
 थी सो ठीक ही है क्योंकि धर्मकी चिन्ता करनेपर चिन्ता करने योग्य समस्त पदार्थोंका चिन्तवन
 अपने आप हो जाता है ॥११४॥ बड़े भारी फल देनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे जिन्हें अनेक संपदाएं
 प्राप्त हुई हैं ऐसे भरतकी समस्त क्रियाओंका प्रारम्भ धर्मके चिन्तवनपूर्वक ही होता था अर्थात्
 महाराज भरत समस्त कार्योंके प्रारम्भमें धर्मका चिन्तवन करते थे ॥११५॥ वे प्रातःकाल
 आँख खोलकर जब समस्त दिशाओंको सबेरेकी लालिमासे लाल लाल देखते थे तब ऐसा मानते
 थे मानों ये दिशाएं जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंकी लालिमासे ही लाल लाल हो गई हैं ॥११६॥
 जिसने रात्रिका गाढ़ अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे सूर्यको प्रातःकालके समय उदय होता
 हुआ देखकर वे ऐसा समझकर उठते थे मानों यह भगवान्के केवलज्ञानका प्रतिबिम्ब ही हो
 ॥११७॥ प्रातःकालकी वायुके चलनेसे खिले हुए कमलोंके समूहको वे अपने हृदयमें जिनेन्द्र
 भगवान्की दिव्यध्वनिके समूहके समान शीतल समझते थे ॥११८॥ वे बहुत ही धर्मात्मा
 थे, उनके काम और अर्थकी चिन्ता गौण रहती थी तथा उनका मुख्य तात्पर्य सब प्रकारका
 कल्याण करनेवाले धर्ममें ही रहता था ॥११९॥ वे सबेरे उठकर पहले धर्मात्मा पुरुषोंके साथ
 धर्मका चिन्तवन करते थे और फिर मंत्रियोंके साथ अर्थ तथा कामरूप संपदाओंका विचार
 करते थे ॥१२०॥ वे शय्यासे उठते ही देव और गुरुओंकी पूजा करते थे और फिर माङ्गलिक
 वेष धारणकर धर्मासनपर आरुढ़ होते थे ॥१२१॥ वहाँ प्रजाके सदाचार और असदाचारका
 विचार करते हुए वे क्षणभर ठहरते थे तदनन्तर अधिकारियोंको अपने अपने कामपर नियुक्त
 करते थे अर्थात् अपना अपना कार्य करनेकी आज्ञा देते थे ॥१२२॥ इसके बाद सभाभवनके
 बीचमें जाकर राजसिंहासनपर विराजमान होते तथा सेवाके लिये अवसर चाहनेवाले राजाओं
 का सम्मान करते थे ॥१२३॥ वे कितने ही राजाओंको दर्शनसे, कितनोंहीको मुसकानसे,

१ गलितानि । २ निशासम्बन्धि । ३ विकसित । ४ अमुल्या । ५ धर्मस्यैः सह । ६ विचारभक्तरोत् ।

७ मङ्गलालङ्कारः । ८ आसनमण्डलविशेषम् । ९ तत्परान् । १० सभादर्शन-अ०, स० । सभासदन-
 प०, ल०, म० । महादर्शनं येषां ते महादर्शनास्तेषां मध्यगः । सभ्यजनमध्यवर्ती सन्नित्यर्थः ।

तत्रोपायनसम्पत्त्या समायातान् महत्तमान्^१ । वचोहरांश्च^२ सम्मान्य कृतकार्यान् व्यसर्जयत् ॥१२५॥
 कलाविदश्च नृत्यादिदर्शनैः समुपस्थितान् ।^३ पारितोषिकदानेन महता समतर्पयत् ॥१२६॥
 ततो विसर्जितास्थानः प्रोत्थाय नृपविष्टरात् । स्वच्छाविहारमकरोद् विनोदः सुकुमारकैः^४ ॥१२७॥
 ततो 'मध्यंदिनेऽभ्यर्णं कृतमज्जनसंविधिः । तनूस्थितिं स निर्वर्त्य निरविक्षत्^५ प्रसाधनम्^६ ॥१२८॥
 चासरोत्क्षेपताम्बूलदानसंवाहनादिभिः ।^७ परिचेरुहयेत्यनं परिवाराङ्गनाः स्वतः ॥१२९॥
 ततो 'भुक्तोत्तरास्थाने स्थितः कतिपर्यन्तं^८ । समं विदग्ध'^९ मण्डल्या विद्यागोष्ठीरभावयत् ॥१३०॥
 तत्र वारविलासिन्यो नृपवल्लभिकाश्च तम् । परिववृषपाकृताकृष्यमदकंशाः ॥१३१॥
 तासामालापसंल्लापपरिहास'^{१०} कथादिभिः ।^{११} सुखासिकामसौ भजे भोगाङ्गैश्च मुहूर्तकम् ॥१३२॥
 ततस्तुपर्ववशेऽङ्गि पर्यटन्मणिकुट्टिमे । वीक्षते स्म परां शोभाम् अभितो राजवेश्मनः ॥१३३॥
 सनर्मसचिव'^{१२} कञ्चित् समालम्ब्यांसपीठके^{१३} । परिक्रामन्नितश्चेतो^{१४} रेजे सुरकुमारवत् ॥१३४॥
 रजन्यामपि यत्कृत्यम् उचितं चक्रवर्तिनः । तदाचरन् सुखेनैष त्रियामा^{१५} मत्यबाहयत् ॥१३५॥
 कदाचिदुचितां^{१६} वलां नियोग इति केवलम् । मन्त्रयामास मन्त्रज्ञैः कृतकार्यैर्ऽपि चक्रभूत् ॥१३६॥
 तन्वावायगता चिन्ता नास्थासीद् विजितक्षितेः । तन्त्र'^{१७} चिन्तैव नन्वस्य स्वतन्त्रस्येह भारते ॥१३७॥

कितनोंहीको वार्तालापसे, कितनोंहीको सन्मानसे और कितनोंहीको दान आदिसे संतुष्ट करते थे ॥१२४॥ वे वहांपर भेंट ले लेकर आये हुए बड़े बड़े पुरुषों तथा दूतोंको सन्मानित कर और उनका कार्य पूराकर उन्हें बिदा करते थे ॥१२५॥ नृत्य आदि दिखानेके लिये आये हुए कलाओंके जाननेवाले पुरुषोंको बड़े बड़े पारितोषिक देकर संतुष्ट करते थे ॥१२६॥ तदनन्तर सभा विसर्जन करते और राजसिंहासनसे उठकर कोमल क्रीड़ाओंके साथ साथ अपनी इच्छानुसार विहार करते थे ॥१२७॥ तत्पश्चात् दोपहरका समय निकट आनेपर स्नान आदि करके भोजन करते और फिर अलंकार धारण करते थे ॥१२८॥ उस समय परिवारकी स्त्रियां स्वयं आकर चमर डोलना, पान देना और पैर दाबना आदिके द्वारा उनकी सेवा करती थीं । ॥१२९॥ तदनन्तर भोजनके बाद बैठने योग्य भवनमें कुछ राजाओंके साथ बैठकर चतुर लोगों की मंडलीके साथ साथ विद्याकी चर्चा करते थे ॥१३०॥ वहां जवानीके मदसे जिन्हें उद्दण्डता प्राप्त हो रही है ऐसी वेश्याएं और प्रियरानियां आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेती थीं ॥१३१॥ उनके आभाषण, परस्परकी बातचीत और हास्यपूर्ण कथा आदि भोगोंके साधनोंसे वे वहां कुछ देरतक सुखसे बैठते थे ॥१३२॥ इसके बाद जब दिनका चौथाई भाग शेष रह जाता था तब मणियोंसे अड़ी हुई जमीनपर टहलते हुए वे चारों ओर राजमहलकी उत्तम शोभा देखते थे ॥१३३॥ कभी वे क्रीडासचिव अर्थात् क्रीडामें सहायता देने वाले लोगोंके कंधोंपर हाथ रखकर इधर उधर घूमते हुए देवकुमारोंके समान सुशोभित होते थे ॥१३४॥ रातमें भी चक्रवर्तीके योग्य जो कार्य थे उन्हें करते हुए वे सुखसे रात्रि व्यतीत करते थे ॥१३५॥ यद्यपि वे चक्रवर्ती कृतकृत्य हो चुके थे अर्थात् विजय आदिका समस्त कार्य पूर्ण कर चुके थे तथापि केवल नियोग समझकर कभी कभी उचित समयपर मंत्रियोंके साथ सलाह करते थे ॥१३६॥ जिन्होंने

१ महत्तरान् । २ दूतान् । ३ पारितोषे भवः । ४ मृदुभिः । ५ मध्याह्न । ६ अन्वभवत् । ७ अनुलेपनम् । वस्त्रमाल्याभरणादि । 'आकल्पवेशी नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनम्' । ८ पादभर्दन । ९ परिचर्या-ञ्चक्रिरे । १० भोजनान्ते स्थातुं योग्यास्थाने । ११ विद्वत्समूहेन । १२ मिथोभाषण । 'संल्लापो भाषणं मिथः' इत्यभिधानात् । १३ सुखस्थलम् । १४ क्रीडासहाय । 'क्रीडा लीला च नर्म च' इत्यभिधानात् । १५ असौ भुजशिर एव पीठस्तस्मिन् । १६ इतस्ततः । १७ रात्रिं नयति स्म । १८ उचितकालपर्यन्तम् । १९ स्वराष्ट्रचिन्ताम्, अथवा शस्त्रचिन्ताम् । 'तन्त्रप्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छेदे' इत्यभिधानात् ।

तेन^१ षाड्गुण्यमभ्यस्तम् अपरिज्ञानहानये । शासतोऽस्याविपक्षां क्षमां कृतं^२ सन्ध्यादिचर्चया^३ ॥१३८॥
 "राजविद्याश्चतस्रोऽभूः कदाचिच्च कृतक्षणः" । व्याख्यौ^४ राजपुत्रेभ्यः ख्यातये स विचक्षणः ॥१३९॥
 कदाचिन्निधिरत्नानाम् अकरोत्स निरीक्षणम् । भाण्डागारपदे तानि तस्य तन्त्र^५पदेऽपि च ॥१४०॥
 कदाचिद्धर्मशास्त्रेषु याः स्युर्विप्रतिपत्तयः^६ । निराचकार^७ ताः कृत्स्नाः ख्यातयन्^८ विप्रविज्जितम्^९ ॥१४१॥
 आप्तोपज्ञेषु तत्त्वेषु कांश्चित् संजातसंशयान् । ततोऽपाकृत्य संजीतेस्तत्त्व^{१०} निरणीनयत्^{११} ॥१४२॥
 तथाऽसावर्थशास्त्रार्थे^{१२} कामनीतो च पुष्कलम् । प्रावीण्यं प्रथयामास यथात्र न परः कृती^{१३} ॥१४३॥
 "हस्तितन्त्रेऽश्वतत्रे च दृष्ट्वा स्वातन्त्र्यमीशितुः । मूलतन्त्रस्य^{१४} कर्ताऽयमित्यास्था^{१५} तद्विदामभूत् ॥
 "आयुर्वेदे स दीर्घायुरायुर्वेदो नु मूर्तिमान् । इति लोको निरारेकं^{१६} श्लाघते स्म निधीशिनम् ॥१४५॥
 सोऽधीतो^{१७} पदविद्यायां सकृत्^{१८} वागलङ्कृतौ^{१९} । स छन्दसां प्रतिच्छन्द^{२०} इत्यासीत् सम्मतः सताम् ॥१४६॥
 "तदुपज्ञं निमित्तानि शाकुनं^{२१} तदुपक्रमम्^{२२} । तत्सर्गो^{२३} ज्योतिषां^{२४} ज्ञानं तन्मतं तेन^{२५} तत्त्रयम्^{२६} ॥१४७॥

समस्त पृथिवी जीत ली है और जो इस भरतक्षेत्रमें स्वतन्त्र हैं ऐसे उन भरतको अपने तथा परराष्ट्रकी कुछ भी चिन्ता नहीं थी, यदि चिन्ता थी तो केवल तन्त्र अर्थात् स्वराष्ट्र की ही चिन्ता थी ॥१३७॥ उन्होंने अपना अज्ञान नष्ट करनेके लिये ही छह गुणोंका अभ्यास किया था क्योंकि जब वे शत्रुरहित पृथिवीका पालन करते थे तब उन्हें सन्धि विग्रह आदिकी चर्चासे क्या प्रयोजन था ॥१३८॥ अतिशय विद्वान् महाराज भरत केवल प्रसिद्धिके लिये ही कभी कभी बड़े उत्साहके साथ राजपुत्रोंके लिये आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार राजविद्याओंका व्याख्यान करते थे ॥१३९॥ वे कभी कभी निधियों और रत्नोंका भी निरीक्षण करते थे । क्योंकि निधियों और रत्नोंमेंसे कुछ तो उनके भाण्डारमें थे और कुछ उनकी सेनामें थे ॥१४०॥ कभी कभी वे सर्वज्ञदेवका मत प्रकट करते हुए धर्मशास्त्रमें जो कुछ विवाद थे उन सबका निराकरण करते थे ॥१४१॥ भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए तत्त्वोंमें जिन किन्हींको संदेह उत्पन्न होता था उन्हें वे उस संदेहसे हटाकर तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय कराते थे ॥१४२॥ इसी प्रकार वे अर्थशास्त्रके अर्थमें और कामशास्त्रमें अपना पूर्ण चातुर्य इस तरह प्रकट करते थे कि फिर इस संसारमें उनके समान दूसरा चतुर नहीं रह जाता था ॥१४३॥ हस्तितन्त्र और अश्वतन्त्रमें महाराज भरतकी स्वतन्त्रता देखकर उन शास्त्रोंके जाननेवाले लोगोंको यही विश्वास हो जाता था कि इन सबके मूल शास्त्रोंके कर्ता यही हैं ॥१४४॥ आयुर्वेद के विषयमें तो सब लोग निधियोंके स्वामी भरतकी बिना किसी शंकाके यही प्रशंसा करते थे कि यह दीर्घायु क्या मूर्तिमान् आयुर्वेद ही है अर्थात् आयुर्वेदने ही क्या भरतका शरीर धारण किया है ॥१४५॥ इसी प्रकार सज्जन लोग यह भी मानते थे कि वे व्याकरण-विद्यामें कुशल हैं, शब्दालंकारमें निपुण हैं, और छन्दशास्त्रके प्रतिविम्ब हैं ॥१४६॥ निमित्तशास्त्र सबसे पहले उन्हींके बनाये हुए हैं, शकुनशास्त्र उन्हींके कहे हुए हैं और ज्योतिष शास्त्रका ज्ञान उन्हीं-

१ चक्रिणा । २ पर्याप्तम् । अलमित्यर्थः । ३ सन्धिविग्रहभावादिविचारेण । ४ आन्वीक्षिकीत्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चतस्रो राजविद्याः । ५ कृतोत्साहः । ६ वदति स्म । ७ सैन्यस्थाने परिग्रहे बभूवुरित्यर्थः । ८ विस्वादाः । ९ निराकृतवान् । १० प्रकटीकुर्वन् । ११ सर्वज्ञमतम् । १२ संशयात् । १३ निर्णयमकारयत् । १४ नीतिशास्त्रार्थः । १५ कुशलः । १६ गजशास्त्रे । १७ मूलशास्त्रस्य । १८ इति बुद्धिः । १९ वैद्यशास्त्रे । २० निःशङ्कम् । २१ व्याकरणशास्त्रमधीतवान् । २२ कुशलः । २३ शब्दालङ्कारे । २४ प्रतिनिधिः । २५ तदुपज्ञनिमित्तानि ल०, म० । तेन प्रथमोक्तम् । २६ शकुनशास्त्रम् । २७ तेन प्रथममुपक्रान्तम् । २८ तस्य भरतस्य सृष्टिः । २९ ज्योतिषशास्त्रम् । ३० तेन कारणेन । ३१ निमित्तादित्यम् ।

स निमित्तं^१ निमित्तानां^२ तन्त्रे मन्त्रे शशाकुने । देवज्ञाने^३ परं देवमित्यभूत्समतोऽधिकम्^४ ॥१४८॥
तत्सम्भूतो समुद्भूतम् अभूत् पुरुषलक्षणम् । उदाहरणसम्यक् लक्षितं येन तत्तनोः ॥१४९॥
अन्वेष्टव्यं कलाशास्त्रसङ्ग्रहेषु कृतागमाः^५ । तमेवाददर्श^६मालोक्य संशयांशाद् व्यरंसिषुः^७ ॥१५०॥
‘येनास्य सहजा प्रज्ञा पूर्वजन्मानुषङ्गिणी’ । तेनैवा विश्वविद्यासु जाता परिणतिः परा ॥१५१॥
इत्थं सर्वेषु शास्त्रेषु कलासु सकलासु च । लोके स सम्मतिं प्राप्य तद्विद्यानां मतोऽभवत् ॥१५२॥
किमत्र बहुनोक्तेन प्रज्ञापारमिती मनुः । कृत्स्नस्य लोकवृत्तस्य स भेजे सूत्रधारताम् ॥१५३॥
राजसिद्धान्ततत्त्वज्ञो^८ धर्मशास्त्रार्थतत्त्ववित् । परिख्यातः कलाज्ञाने सोऽभून्मूढिन सुमेधसाम् ॥१५४॥
इत्यादिराजं^९ तत्सम्राट् अहो राजषिनायकम्^{१०} । तत्सार्वभौममित्यस्य दिशासूच्छलितं यशः ॥१५५॥

मालिनी

इति सकलकलानामे^{११}कमोकः^{१२} स चक्री
कृतमतिभिरजयं^{१३} सङ्गतं संविधित्सन् ।
बुधसदसि^{१४} सदस्यान् बोधयन् विश्वविद्या
व्यवृणुत^{१५} बुधचक्रीत्युच्छलत्कीतिकेतुः^{१६} ॥१५६॥

की सृष्टि है इसलिये उक्त तीनों शास्त्र उन्हींके मत हैं ऐसा समझना चाहिये ॥१४७॥ वे निमित्त शास्त्रोंके निमित्त हैं, और तन्त्र, मन्त्र, शकुन तथा ज्योतिष शास्त्रमें उत्तम अधिष्ठाता देव हैं इस प्रकार सब लोगोंमें अधिक मान्यताको प्राप्त हुए थे ॥१४८॥ महाराज भरतके उत्पन्न होनेपर पुरुषके सब लक्षण उत्पन्न हुए थे इसलिये दूसरी जगह उनके शरीरके उदाहरण ही देखे जाते थे ॥१४९॥ शास्त्रोंके जाननेवाले पुरुष ऊपर कहे हुए शास्त्रोंके सिवाय अन्य कलाशास्त्रोंके संग्रहमें भी भरतको ही दर्पणके समान देखकर संशयके अंशोंसे विरत होते थे अर्थात् अपने अपने संशय दूर करते थे ॥१५०॥ चूँकि उनकी स्वाभाविक बुद्धि पूर्वजन्मसे संपर्क रखनेवाली थी इसलिये ही उनकी समस्त विद्याओंमें उत्तम प्रगति हुई थी ॥१५१॥ इस प्रकार समस्त शास्त्र और समस्त कलाओंमें प्रतिष्ठा पाकर वे भरत उन विद्याओंके जानने-वालोंमें मान्य हुए थे ॥१५२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? इतना कहना ही पर्याप्त है कि बुद्धिके पारगामी कुलकर भरत समस्त लोकाचारके सूत्रधार हो रहे थे ॥१५३॥ वे राजशास्त्रके तत्त्वोंको जानते थे, धर्मशास्त्रके तत्त्वोंके जानकार थे, और कलाओंके ज्ञानमें प्रसिद्ध थे । इस प्रकार उत्तम विद्वानोंके मस्तकपर सुशोभित हो रहे थे अर्थात् सबमें श्रेष्ठ थे ॥१५४॥ अहो, इनका प्रथम राज्य कैसा आश्चर्य करनेवाला है, यह सम्राट् हैं, राजषियोंमें मुख्य हैं, इनका सार्वभौम पद भी आश्चर्यजनक है इस प्रकार उनका यश समस्त दिशाओंमें उछल रहा था ॥१५५॥ इस प्रकार जो समस्त कलाओंका एकमात्र स्थान है, जो बुद्धिमान् पुरुषोंके साथ अविनाशी मित्रता करना चाहता है और ‘यह विद्वानोंमें चक्रवर्ती है अथवा विद्वान् चक्रवर्ती है’ इस प्रकार जिसकी कीर्तिरूपी पताका पहना रही है ऐसा वह चक्रवर्ती भरत विद्वानोंकी सभामें समस्त विद्याओंका उपदेश देता हुआ समस्त विद्याओंका व्याख्यान

१ कारणम् । २ निमित्तशास्त्राणाम् । ३ ज्योतिःशास्त्रे । ४ स मतोऽधिकम् इ० । स गतोऽधिकम् ल०, म० । ५ सम्पूर्णशास्त्रम् । ६ मुकुरम् । ७ विरमन्ति स्म । ८ कारणेन । ९ अनुसम्बन्धिनी । १० नृपविद्यास्वरूपज्ञः । ११ आदिराजस्य प्रथा । १२ राजषिनायकस्य प्रथा । १३ सर्वभूमीशस्य प्रकाश । १४ मुख्यः । १५ गृहः । १६ अविनाशी । १७ सदसि योग्यान् । १८ विवरणमकरोत् । १९ विद्वज्जन ।

जिनविहितमनूनं संस्मरन् धर्ममार्गं
 स्वयमधिगततत्त्वो बोधयन् मार्गमन्यान् ।
 कृतमतिरखिलां क्षमां पालयन्निःसपत्तां
 चिरमरमत भोगैर्भूरिसारः स सद्याद् ॥१५७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

लक्ष्मीवाग्वनितासमागमसुखस्यैकाधिपत्यं वधत्
 दूरोत्सारितदुर्णयः प्रशमिनीं तेजस्वितामुब्रुहन् ।
 न्यायोपाजितवित्तकासघटनः शास्त्रे च शास्त्रे कृती
 राजर्षिः परमोदयो जिनजुषाभग्रेसरः सोऽभवत् ॥१५८॥
 इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहा-
 पुराणसङ्ग्रहे भरतराजस्वप्नदर्शनतत्फलोपवर्णनं
 नाम एकचत्वारिंशत्तमं पर्वं ॥४१॥

करता था ॥१५६॥ जिसने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जिसकी बुद्धि परिपक्व है ऐसा सम्राट् भरत, जिनेन्द्रदेवके कहे हुए न्यूनतारहित धर्ममार्गका स्मरण करता हुआ तथा वही मार्ग अन्य लोगोंको समझाता हुआ और शत्रुरहित सम्पूर्ण पृथिवीका पालन करता हुआ सारपूर्ण भोगोंके द्वारा चिरकालतक कीड़ा करता रहा था ॥१५७॥ जो लक्ष्मी और सरस्वतीके समागमसे उत्पन्न हुए सुखके एक स्वामित्वको धारण कर रहा है, जिसने समस्त दुष्ट नय दूर हटा दिये हैं, जो शान्तियुक्त तेजस्वीपनेको धारण कर रहा है, जिसने न्यायपूर्वक कमाये हुए धनसे कामका संयोग प्राप्त किया है, जो शास्त्र और शास्त्र दोनोंमें ही निपुण है, राजर्षि है और जिसका अभ्युदय अतिशय उत्कृष्ट है ऐसा वह भरत जिनेन्द्रदेवकी सेवा करनेवालोंमें अग्रेसर अर्थात् सर्वसे श्रेष्ठ था ॥१५८॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें भरतराजके स्वप्न तथा उनके फलका वर्णन करनेवाला इकतालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व

‘मध्येसभमथान्येषुः निविष्टो’ हरिविष्टरे । क्षात्रं^१ वृत्तमुपादिक्षत्संहितान्^२ पाथिवान् प्रति ॥१॥
 श्रूयतां भो महात्मानः सर्वे^३ क्षत्रियपुङ्गवाः । क्षत्रत्राणे नियुक्ताः स्थ^४ यूयमाद्येन वेधसा ॥२॥
 तत्राणे च नियुक्तानां वृत्तं वः पञ्चधोदितम् । तन्निशम्य^५ यथाम्नायं प्रवर्तध्वं प्रजाहिते ॥३॥
 तच्चेवं कुलमत्यात्मप्रजातामनुपालनम् । समञ्जसत्वं चेत्येवम् उद्दिष्टं पञ्चभेदभाक् ॥४॥
 कुलानुपालनं तत्र कुलाम्नायानुरक्षणम् । कुलोचितसमाचारपरिरक्षणलक्षणम् ॥५॥
 क्षत्रियाणां कुलाम्नायः कीदृशश्चेन्निशम्यताम्^६ । आद्येन वेधसा सृष्टः सर्गोऽयं क्षत्रपूर्वकः^७ ॥६॥
 स चैव भारत^८ ‘वर्षभवतीर्णो द्विबोऽग्रतः । पुरा’^९ भवे समाराध्य रत्नत्रितयमूर्जितम् ॥७॥
 द्विरष्टौ भावनास्तत्र तीर्थकृत्वोपपादिनीः । भावयित्वा शुभोदकां द्युलोकाग्रमधिष्ठितः^{१०} ॥८॥
 तेनास्मिन् भारते वर्षं धर्मतीर्थप्रवर्तने । ततः^{११} कृतावतारेण क्षात्रसर्गः प्रवर्तितः ॥९॥
 तत्कथं कर्मभूमित्वाद् अद्यत्वे द्वितयो प्रजा । कर्तव्या^{१२} रक्षणोद्यंका प्रजान्या रक्षणोद्यता ॥१०॥
 रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः । सोऽन्वयोऽनादिसन्तत्या बीजवृक्षवदिष्यते ॥११॥

अथानन्तर—किसी एक दिन सभाके बीचमें सिंहासनपर बैठे हुए भरत इकट्ठे हुए राजाओंके प्रति क्षात्रधर्मका उपदेश देने लगे ॥१॥ वे कहने लगे कि हे समस्त क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ महात्माओ, आप लोगोंको आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया है ॥२॥ दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त हुए आप लोगोंका धर्म पाँच प्रकारका कहा है उसे सुनकर तुम लोग शास्त्रके अनुसार प्रजाका हित करनेमें प्रवृत्त होओ ॥३॥ वह तुम्हारा धर्म कुलका पालन करना, बुद्धिका पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजाकी रक्षा करना और समंजसपना इस प्रकार पाँच भेदवाला कहा गया है ॥४॥ उनमेंसे अपने कुलाम्नायकी रक्षा करना और कुलके योग्य आचरणकी रक्षा करना कुल-पालन कहलाता है ॥५॥ अब क्षत्रियोंका कुलाम्नाय कैसा है ? सो सुनिये । आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने क्षत्रपूर्वक ही इस सृष्टिकी रचना की है अर्थात् सबसे पहले क्षत्रियवर्णकी रचना की है ॥६॥ जिन्होंने पहले भवमें अतिशय श्रेष्ठ रत्नत्रयकी आराधना कर तथा तीर्थकर पद प्राप्त करानेवाली और शुभ फल देनेवाली सोलह भावनाओंका चिन्तनकर स्वर्गलोकके सबसे ऊपर अर्थात् सर्वार्थसिद्धिमें निवास किया था वे ही भगवान् सर्वार्थसिद्धिसे आकर इस भारतवर्षमें अवतीर्ण हुए हैं ॥७-८॥ जिसमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनी है ऐसे इस भारतवर्षमें सर्वार्थसिद्धिसे अवतार लेकर उन्होंने क्षत्रियोंकी सृष्टि प्रवृत्त की है ॥९॥ वह क्षत्रियोंकी सृष्टि किस प्रकार प्रवृत्त हुई थी ? इसका समाधान यह है कि आज कर्मभूमि होनेसे प्रजा दो प्रकारकी पाई जाती है । उनमें एक प्रजा तो वह है जिसकी रक्षा करनी चाहिये और दूसरी वह है जो रक्षा करनेमें तत्पर है ॥१०॥ जो प्रजा रक्षा करनेमें तत्पर है उसीकी वंशपरम्पराको क्षत्रिय कहते हैं यद्यपि यह वंश अनादिकालकी संततिसे बीज वृक्षके समान अनादि कालका है तथापि

१ सभामध्ये । २ निविष्टो ल०, म० । ३ क्षत्रियसम्बन्धि । ४ मिलितान् । ५ सर्व-प०, ल०, म० । ६ भव प० । ७ श्रुत्वा । ८ श्रूयताम् । ९ क्षत्रशब्द । १० क्षेत्रम् । ११ पूर्वस्मिन् । १२ आश्रितः । १३ कृतावतारेण इ०, स०, अ० । १४ रक्षितुं योग्या ।

विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया^१ । तेषां तमुचिताचारः प्रजायं न्यायवृत्तिता ॥१२॥
 स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्थायसमर्जनम् । रक्षणं वर्धनं चास्य पात्रे च विनियोजनम् ॥१३॥
 सैषा चतुष्टयी वृत्तिर्न्यायः सद्भिरुदीरितः^२ । जैनधर्मानुवृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः ॥१४॥
 दिव्यमूर्तैरुत्पन्नं जिनादुत्पादयज्जिनात् । रत्नत्रयं तु तद्योनिर्नृपास्तस्माद्योनिजाः ॥१५॥
 ततो महान्वयोत्पन्ना नृपा लोकोत्तमा मताः । पथिस्थिताः स्वयं धर्म्यं स्थापयन्तः परानपि ॥१६॥
 तैस्तु सर्वप्रयत्नेन कार्यं स्वान्वयरक्षणम् । तत्पालनं कथं कार्यमिति चेत्तदनूचते^३ ॥१७॥
 स्वयं महान्वयत्वेन महिम्नि क्षत्रियाः स्थिताः । धर्मस्थिता न शेषादि^४ ग्राह्यं तैः परलिङ्गिणाम् ॥१८॥
 तच्छ्रेषादिग्रहे दोषः कश्चेन्माहात्म्यविच्युतिः । अपायाः बहवश्चास्मिन् अतस्तत्परिवर्जनम् ॥१९॥
 माहात्म्यप्रच्युतिस्तावत् कृत्वाऽन्यस्य^५ शिरोनतिम् । ततः^६ शेषाद्युपादाने स्यान्निकृष्टत्वमात्मनः ॥२०॥
 प्रदिषन् परपाषण्डी विषपुष्पाणि निक्षिपेत् । यद्यस्य मूर्ध्नि नन्वेवं स्यादपायो महीपतेः ॥२१॥
 वशीकरणपुष्पाणि निक्षिपेद्यदि मोहने^७ । ततोऽयं मूढवद्वृत्तिः उपेयादन्यवश्यताम् ॥२२॥
 तच्छ्रेषाशीर्षचः^८ शान्तिवचनाद्यन्यलिङ्गिणाम्^९ । पार्थिवैः परिहर्तव्यं भवेन्न्यक्^{१०} कुलताऽन्यथा^{११} ॥२३॥

विशेषता इतनी है कि क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे उसकी रूढ़ि होती है । तथा प्रजाके लिये न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही उनका योग्य आचरण है ॥११-१२॥ धर्मका उल्लंघन न कर घनका कमाना, रक्षा करना, बढ़ाना और योग्य पात्रमें दान देना ही उन क्षत्रियोंका न्याय कहा-
 लाता है ॥१३॥ इस चार प्रकारकी प्रवृत्तिको सज्जन पुरुषोंने क्षत्रियोंका न्याय कहा है तथा जैनधर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना संसारमें सबसे उत्तम न्याय माना गया है ॥१४॥ दिव्य-
 मूर्तिको धारण करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्पन्न होकर तीर्थंकरोंको उत्पन्न करनेवाला जो रत्नत्रय है वही क्षत्रियोंकी योनि है अर्थात् क्षत्रिय पदकी प्राप्ति रत्नत्रयके प्रतापसे ही होती है । यही कारण है कि क्षत्रिय लोग अयोनिज अर्थात् विना योनिके उत्पन्न हुए कहलाते हैं ॥१५॥
 इसलिये बड़े बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए राजा लोग लोकोत्तम पुरुष माने गये हैं । ये लोग स्वयं धर्ममार्गमें स्थित रहते हैं तथा अन्य लोगोंको भी स्थित रखते हैं ॥१६॥ उन क्षत्रियोंको सर्वप्रकारके प्रयत्नोंसे अपने वंशकी रक्षा करनी चाहिये । वह वंशकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये यदि तुम लोग यह जानना चाहते हो तो मैं आगे कहता हूँ ॥१७॥ बड़े बड़े वंशोंमें उत्पन्न होनेसे क्षत्रिय लोग स्वयं बड़प्पनमें स्थिर हैं इसलिये उन्हें अन्यमतियोंके धर्ममें श्रद्धा रखकर उनके शेषाक्षत आदि ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१८॥ उनके शेषाक्षत आदिके ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? कदाचित् कोई यह कहे तो उसका उत्तर यह है कि उससे अपने महत्त्वका नाश होता है और अनेक विघ्न या अनिष्ट आते हैं इसलिये उनका परित्याग ही कर देना चाहिये ॥१९॥ अन्य मतावलम्बियोंको शिरोनति करनेसे अपने महत्त्वका नाश हो जाता है इसलिये उनके शेषाक्षत आदि लेनेसे अपनी निवृष्टता हो सकती है ॥२०॥ संभव है द्वेष करनेवाला कोई पाषण्डी राजाके शिरपर विषपुष्प रख दे तो इस प्रकार भी उसका नाश हो सकता है ॥२१॥ यह भी हो सकता है कि कोई वशीकरण करनेके लिये इसके शिरपर वशीकरण पुष्प रख दे तो फिर यह राजा पागलके समान आचरण करता हुआ दूसरोंकी वश्यताको प्राप्त हो जावेगा ॥२२॥ इसलिये राजाओंको अन्यमतियोंके शेषाक्षत, आशीर्वाद और शान्तिवचन

१ भरतक्षेत्रावसपिण्युत्सपिणीकाल । २-रुद्रादृतः व०, ल०, म० । ३ क्षत्रियाणामुत्पत्तिस्थानम् ।

४ तस्मात् कारणात् । ५ अनुकथ्यते—दनुच्यते प०, ल०, म० । ६ शेषाक्षतस्नानोदकादिकम् । ७ अन्य-
 लिङ्गिनः । ८ शेषादिदातुः सकाशात् । ९ मोहने निमित्तं । १० तत् कारणात् । ११ शान्तिमन्त्र-
 पुण्याहवाचनादि । १२ नीचकुलता । १३ तच्छ्रेषादिस्वीकारप्रकारेण ।

जैनास्तु पार्थिवास्तेषाम् अर्हन्तादोपसेविनाम् । तच्छेषानुमतिन्याय्या यतः पापक्षयो भवेत् ॥२४॥
 रत्नत्रितयमूर्तित्वाद् आदिक्षत्रियवंशजाः । जिनाः सनाभयोऽमीवाम्^१ अतस्तच्छेषधारणम् ॥२५॥
 यथा हि कुलपुत्राणां मान्यं गुरुशिरोद्धृतम् । मान्यमेवं जिनेन्द्रादधिस्पर्शान्माल्यादिभूषितम्^२ ॥२६॥
 कथं मुनिजनादेषां^३ शेषोपादानमित्यपि । नाशङ्ककथं तत्सजातीयैस्ते^४ राजपरमर्षयः ॥२७॥
 अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताः । यतो रत्नत्रयायत्तजन्मना तेऽपि^५ तद्गुणाः^६ ॥२८॥
 ततः स्थितमिदं^७ जैनान्मतादन्यमतस्थिताः । क्षत्रियाणां न शेषादिप्रदानेऽधिकृता इति ॥२९॥
 कुलानुपालने यत्नम् अतः कुर्वन्तु पार्थिवाः । अन्यथाऽन्यैः प्रतार्थैरन्^८ पुराणाभासदेशनात् ॥३०॥
 कुलानुपालनं प्रोक्तं वक्ष्ये मत्पुत्रपालनम् । मतिहिताहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥३१॥
 तत्पालनं कथं स्याच्चेद् अविद्यापरिवर्जनात् । मिथ्याज्ञानमविद्या स्याद् अतस्त्वे तत्त्वभावना ॥३२॥
 आप्तोपज्ञं भवेत्तत्त्वम् आप्तो दोषावृत्ति^९ क्षयात् । तस्मात्तन्मतमभ्यस्येन्मनोमलमपासितुम् ॥३३॥

आदिका परित्राग कर देना चाहिये अन्यथा उनके कुलमें हीनता हो सकती है ॥२३॥ राजा लोग जैन हैं इसलिये अरहन्तदेवके चरणोंकी सेवा करनेवाले उन राजाओंको अरहन्तदेवके शेषाक्षत आदि ग्रहण करनेकी अनुमति देना न्याययुक्त ही है क्योंकि उससे उनके पापका क्षय होता है ॥२४॥ रत्नत्रयकी मूर्तिरूप होनेसे आदि क्षत्रिय श्री वृषभदेवके वंशमें उत्पन्न हुए जिनेन्द्रदेव इन राजाओंके एक ही गोत्रके भाई-बन्धु हैं इसलिये भी इन्हें उनके शेषाक्षत आदि धारण करना चाहिये । भावार्थ—रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे जिस प्रकार अन्य तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवके वंशज कहलाते हैं उसी प्रकार ये राजा लोग भी रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे भगवान् वृषभदेवके वंशज कहलाते हैं । एक वंशमें उत्पन्न होनेसे ये सब परस्परमें एक गोत्रवाले भाई-बन्धु ठहरते हैं इसलिये राजाओंको अपने एकगोत्री जिनेन्द्रदेवके शेषाक्षत आदिका ग्रहण करना उचित ही है ॥२५॥ जिस प्रकार कुलपुत्रोंको गुरुदेवके शिरपर धारण की हुई माला मान्य होती है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेवके चरणोंके स्पर्शसे सुशोभित हुई माला आदि भी राजाओंको मान्य होनी चाहिये ॥२६॥ कदाचित् कोई यह कहे कि राजाओंको मुनियोंसे शेषाक्षत आदि किस प्रकार ग्रहण करना चाहिये तो उनकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि राजर्षि और परमर्षि दोनों ही सजातीय हैं ॥२७॥ जो क्षत्रिय नहीं है वे भी दीक्षा लेकर यदि सम्यक्चारित्र्य धारण कर लेते हैं तो क्षत्रिय ही हो जाते हैं इसलिये रत्नत्रयके आधीन जन्म होनेसे मुनिराज भी राजाओंके समान क्षत्रिय माने जाते हैं ॥२८॥ उपर्युक्त उल्लेखसे यह बात निश्चित हो चुकी कि जैन मतसे भिन्न मतवाले लोग क्षत्रियोंको शेषाक्षत आदि देनेके अधिकारी नहीं हैं ॥२९॥ इसलिये राजा लोगोंको अपने कुलकी रक्षा करनेमें सदा यत्न करते रहना चाहिये अन्यथा अन्य मत्तावलम्बी लोग भूँडे पुराणोंका उपदेश देकर उन्हें ठग लेंगे ॥३०॥ इस प्रकार क्षत्रियोंका कुलानुपालन (कुलके आम्नायकी रक्षा करना) नामका पहला धर्म कह चुके अब दूसरा मत्पुत्रपालन (बुद्धिकी रक्षा करना) नामका धर्म कहते हैं । इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थोंके हित-अहितका ज्ञान होना बुद्धि कहलाती है ॥३१॥ उस बुद्धिका पालन किस प्रकार हो सकता है ? यदि यह जानना चाहो तो उसका उत्तर यह है कि अविद्या का नाश करनेसे ही उसका पालन होता है । मिथ्या ज्ञानको अविद्या कहते हैं और अतत्त्वोंमें तत्त्वबुद्धि होना मिथ्या ज्ञान कहलाता है ॥३२॥ जो अरहन्तदेवका कहा हुआ हो वही तत्त्व

१ ततः ल०, म० । २ क्षत्रियाणाम् । ३ भूषणम् । ४ क्षत्रियाणाम् । ५ तत्समानजातिभवाः । ६ मुनयः । ७ जिनगुणाः । ८ प्रतिष्ठितम् । ९ वञ्चेरन् । १० आवरण ।

राजविद्यापरिज्ञानादेहिकेऽर्थे दृढा मतिः । धर्मशास्त्रपरिज्ञानाभ्यन्तिलोकद्वयाश्रिता ॥३४॥
 क्षत्रियास्तीर्थंमुत्पाद्य येऽभूवन् परमवयः । ते महादेवशब्दाभिधेया माहात्म्ययोगतः ॥३५॥
 श्राविक्षत्रियवृत्तस्थाः पार्थिवा ये महान्वयाः । महत्त्वानुगतास्तेऽपि महादेवप्रथां गताः ॥३६॥
 तद्देव्यश्च महादेव्यो महाभिजनयोगतः । महद्भिः परिणीतत्वात् प्रसूतेश्च महात्मनाम् ॥३७॥
 इत्येवमास्थिते पक्षे जैनैरन्यमताश्रयो । यदि कश्चित् प्रतिब्रूयान्मिथ्यात्वोपहृताशयः ॥३८॥
 वयमेव महादेवा जगन्निस्तारका वयम् । नास्मदाप्तात् परोऽस्त्याप्तो मतं नास्मन्मतात्परम् ॥३९॥
 इत्यत्र ब्रूमहे नैतत्सारं संसारवारिधेः । यः समुसरणोपायः स मार्गो जिनदेशितः ॥४०॥
 आप्तोऽहंन्वीतदोषत्वाद् आप्तमन्यास्ततोऽपरं । तेषु वागात्मभाग्यातिशयानामविभाजनात् ॥४१॥
 वागाद्यतिशयोपेतः सार्वः सर्वाधिदुर्गिजनः । स्यादाप्तः परमेष्ठी च परमात्मा सनातनः ॥४२॥
 स वागतिशयो ज्ञेयो येनायं विभुरक्रमात् । वचसंकेत दिव्येन प्रीणयत्यखिलां सभाम् ॥४३॥
 तथाऽऽत्मातिशयोऽयस्य दोषावरणसङ्गमयात् । अनन्तज्ञानदुर्गवीर्यसुखातिशयसन्निधिः ॥४४॥
 प्रातिहार्यमयी भूतिः उद्भूतिश्च सभावनेः । गणाश्च द्वादशेत्येष स्याद्वाग्यातिशयोऽर्हतः ॥४५॥

हो सकता है और अरहंत भी वही हो सकता है जो ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्त-
 राय कर्मका क्षय कर चुका हो । इसलिये अपने मनका मल दूर करनेके लिये अरहन्तदेवके
 मतका अभ्यास करना चाहिये ॥३३॥ राजविद्याका परिज्ञान होनेसे इस लोक सम्बन्धी पदार्थों
 में बुद्धि दृढ़ हो जाती है और धर्मशास्त्रका परिज्ञान होनेसे इस लोक तथा परलोक दोनों लोक
 सम्बन्धी पदार्थोंमें दृढ़ हो जाती है ॥३४॥ जो क्षत्रिय तीर्थ उत्पन्न कर परमर्षि हो गये हैं वे
 अपने माहात्म्यके योगसे महादेव कहलाते हैं ॥३५॥ बड़े बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए जो राजा
 लोग आदिक्षत्रिय-भगवान् वृषभदेवके चारित्र्यमें स्थिर रहते हैं वे भी माहात्म्यके योगसे महादेव
 इस प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥३६॥ ऐसे पुरुषोंकी स्त्रियां भी बड़े पुरुषोंके साथ सम्बन्ध होनेसे-
 बड़े पुरुषोंके द्वारा विवाहित होनेसे और महापुरुषोंको उत्पन्न करनेसे महादेवियां कहलाती
 हैं ॥३७॥ इस प्रकार जैनियोंके द्वारा अपना पक्ष स्थिर कर लेनेपर मिथ्यादर्शनसे जिसका
 हृदय नष्ट हो रहा है ऐसा कोई अन्यमतावलम्बी पुरुष यदि कहे कि हम ही महादेव हैं, संसारसे
 तारनेवाले भी हम ही हैं, हमारे देवके सिवाय अन्य कोई देव नहीं हैं और हमारे धर्मके सिवाय
 अन्य कोई धर्म नहीं है ॥३८-३९॥ परन्तु इस विषयमें हम यही कहते हैं कि उसका यह
 कहना सारपूर्ण नहीं है क्योंकि संसारसमूहसे तिरनेका जो उपाय है वह जिनेन्द्रदेवका कहा
 हुआ मार्ग ही है ॥४०॥ रागद्वेष आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण एक अर्हन्तदेव ही आप्त
 हैं उनके सिवाय जो अन्य देव हैं वे सब आप्तमन्य हैं अर्थात् झूठमूठ ही अपनेको आप्त मानते
 हैं क्योंकि उनमें वाणी, आत्मा और भाग्यके अतिशय का कुछ भी निश्चय नहीं है ॥४१॥
 जिनेन्द्र भगवान् वाणी आदिके अतिशय से सहित हैं, सबका हित करनेवाले हैं, समस्त पदार्थोंको
 साक्षात् देखनेवाले हैं, परमेष्ठी हैं, परमात्मा हैं और सनातन हैं इसलिये वे ही आप्त हो सकते
 हैं ॥४२॥ भगवान् अरहन्तदेव अपनी जिस एक दिव्य वाणीके द्वारा समस्त सभाको संतुष्ट
 करते हैं वही उनकी वाणीका अतिशय जानना चाहिये ॥४३॥ इसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्श-
 नावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मके अत्यन्त क्षय हो जानेसे जो उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त
 दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बलकी समीपता प्रकट होती है वही उनके आत्माका अतिशय
 है ॥४४॥ तथा आठ प्रातिहार्यरूप विभूति प्राप्त होना, समवसरणभूमिकी रचना होना

वागाद्यतिशयेरेभिः श्रन्वितोऽनन्यगोचरेः । भगवान्निष्ठितार्थोऽर्हन् परमेष्ठी जगद्गुरुः ॥४६॥
 न च तादृग्विधः कश्चित् पुमानस्ति मतान्तरे । ततोऽन्ययोगव्यावृत्त्या सिद्धमाप्तत्वमर्हति^१ ॥४७॥
 इत्याप्तानुभूतं क्षात्रम् इमं धर्ममनुस्मरन् । मतान्तरादनाप्तीयात्^२ स्वान्वयं विनिवर्तयेत् ॥४८॥
 वृत्तादनात्मनीनाद्धीः^३ स्यादेवमनुरक्षिता । तद्रक्षणाय च संरक्षेत् क्षत्रियः क्षितिमक्षताम् ॥४९॥
 उक्तस्पर्धार्थतत्त्वस्य भूयोऽप्याविश्चकीर्षया । निदर्शनानि त्रीण्यत्र वक्ष्यामस्तान्यनुक्रमान् ॥५०॥
 व्यक्तये पुरुषार्थस्य स्यात् पूरुषनिदर्शनम् । तथा निगलदृष्टान्तः स संसारनिदर्शनः ॥५१॥
 ज्ञेयः पुरुषदृष्टान्तो नाम मुक्तैतरात्सूतोः । यस्मिदर्शनभावेन मुक्त्यमुक्तयोः समर्थनम् ॥५२॥
 संसारीन्द्रियविज्ञानदुःखीर्यसुखचाकृताः । तन्वावाप्तौ च निर्वेष्टुं^४ यतते सुखलिप्सया ॥५३॥
 मुक्तस्तु न तथा किन्तु गुणैरुत्तरीन्द्रियैः । परं सौख्यं स्वसाद्भूतम् अनुभुङ्क्ते निरन्तरम् ॥५४॥
 तत्रैन्द्रियकविज्ञानः स्वल्पज्ञानतया स्वयम् । परं शास्त्रोपयोगाय श्रयति ज्ञानचित्तकम्^५ ॥५५॥
 तथैन्द्रियकविक्षक्तिः^६ आत्मावर्गभागदर्शनः^७ । अर्थानां विप्रकृष्टानां^८ भवेत् संदर्शानोत्सुकः ॥५६॥
 तथैन्द्रियकवीर्येण सहयापेक्षेयसितस् । कार्यं घटयितुं वाञ्छेत् स्वयं तत्साधनाक्षमः ॥५७॥
 तत्रैन्द्रियसुखी कामभोगैरत्यन्तमुन्मत्तः^९ । वाञ्छेत् सुखं पराधीनम् इन्द्रियार्थानुत्पत्तः^{१०} ॥५८॥

और बारह सभाएं होना यह सब अरहन्तदेवके भाग्यका अतिशय है ॥४५॥ जो किन्हीं दूसरों में न पाये जानेवाले इन वाणी आदिके अतिशयोंसे सहित हैं तथा कृतकृत्य हैं ऐसे भगवान् अरहन्त परमेष्ठी ही जगत्के गुरु हैं ॥४६॥ अन्य किसी भी मतमें ऐसा-अरहन्तदेवके समान कोई पुरुष नहीं है इसलिये अन्य योगकी व्यावृत्ति होनेसे अरहन्तदेवमें ही आप्तपना सिद्ध होता है ॥४७॥ इस प्रकार आप्तके द्वारा कहे हुए इस क्षात्रधर्मका स्मरण करते हुए क्षत्रियोंको अनाप्त पुरुषोंके द्वारा कहे हुए अन्य मतोंसे अपने वंशको पृथक् करना चाहिये ॥४८॥ इस प्रकार जिनमें आत्माका हित नहीं है ऐसे आचरणसे अपनी बुद्धिकी रक्षा की जा सकती है और बुद्धिकी रक्षासे ही क्षत्रिय अखण्ड पृथिवीकी रक्षा कर सकता है ॥४९॥ ऊपर जो पदार्थका स्वरूप कहा है उसीको फिर भी प्रकट करनेकी इच्छासे यहांपर क्रमानुसार तीन उदाहरण कहते हैं ॥५०॥ अपना पुरुषार्थ प्रकट करनेके लिये पहला पुरुषका दृष्टान्त है, दूसरा निगल अर्थात् बेड़ीका दृष्टान्त है और तीसरा संसारी जीवोंका दृष्टान्त है ॥५१॥ जिस उदाहरणसे मुक्त और कर्मबन्ध सहित जीवोंके मोक्ष और बन्ध दोनों अवस्थाओंका समर्थन किया जावे उसे पुरुषका दृष्टान्त अथवा उदाहरण जानना चाहिये ॥५२॥ यह संसारी जीव सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख और सुन्दरताको शरीररूपी घरमें ही अनुभव करनेका प्रयत्न करता है ॥५३॥ परन्तु मुक्त जीव ऐसा नहीं करता वह तो ऊपर कहे हुए अतीन्द्रिय गुणोंसे अपने स्वाधीन हुए परम सुखका निरन्तर अनुभव करता रहता है ॥५४॥ इनमेंसे ऐन्द्रियिक ज्ञानवाला संसारी जीव स्वयं अल्प ज्ञानी होनेसे शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ज्ञानका चिन्तन करनेवाले अन्य पुरुषोंका आश्रय लेता है ॥५५॥ इसी प्रकार जिसके इन्द्रियोंसे देखने की शक्ति है ऐसा पुरुष अपने समीपवर्ती कुछ पदार्थोंको ही देख सकता है इसलिये वह दूरवर्ती पदार्थोंको देखनेके लिये सदा उत्कण्ठित होता रहता है ॥५६॥ जिसके इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ वीर्य है वह किसी इष्ट कार्यको स्वयं करनेमें असमर्थ होकर उसे दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा से करना चाहता है ॥५७॥ तथा जिसके इन्द्रियजनित सुख है ऐसा पुरुष काम भोगादिकोंसे

१ अन्येषु वागाद्यतिशययोगाभावात् । २ जिने । ३ आप्ताभावप्रोक्तात् । ४ आत्महितादपसार्थ ।

५ देहालयौ । ६ अनुभवितुम् । ७ इन्द्रियानिन्द्रियज्ञानिनोर्मध्ये । ८-चित्तकम् प० । चिन्तकम् ल०, म० ।

९ इन्द्रियजनितदर्शनशक्तिमान् । १० वस्तुनि द्विधाप्रविभक्ते आसन्नभागदर्शनः । ११ दूरवर्तिनाम् ।

१२ समुत्कण्ठः । १३ विषयवाञ्छया ।

तथेन्द्रियकसौन्दर्यः स्नानमात्मानुजेषनैः । त्रिभूषणैश्च सौन्दर्यं संस्कर्तुमभिलष्यति ॥५६॥
 दोषधातुमलस्थानं देहपेन्द्रियकं वहन् । पुमान्निब्रह्माणं भैषज्यतद्रक्षास्वाकुलो भवेत् ॥५७॥
 दोषान्पश्येच्च जात्यादीन् देहान्तस्तज्जिहासया । प्रेक्षाकारी तपः कर्तुं प्रयस्यति यदा कदा ॥५८॥
 स्वीकुर्वन्निन्द्रियावासं सुखमायुश्च तद्गतम् । आवासान्तरमन्विच्छेत् प्रेक्षमाणः प्रणश्वरम् ॥५९॥
 यस्त्वतीन्द्रियविज्ञानदुर्वीर्यसुखसन्ततिः । शरीरावाससौन्दर्यः स्वात्मभूतैरधिष्ठितः ॥६०॥
 तस्योक्तदोषसंशयो भवेन्नैव कदाचन । तद्वाताप्तस्ततो ज्ञेयः स्यादनाप्तस्त्वत्तद्गुणः ॥६१॥
 स्फुटीकरणमस्यैव वाक्यार्थस्याधुनोच्यते । यतोऽनाविष्कृतं तत्त्वं तत्त्वतो नायबुध्यते ॥६२॥
 तद्यथाऽतीन्द्रियज्ञानः शास्त्रार्थं न परं श्रयेत् । शास्ता स्वयं त्रिकालज्ञः केवलामललोचनः ॥६३॥
 तयाऽतीन्द्रियद्वन्द्वार्थो स्यादपूर्वार्थदर्शनः । तेनादृष्टं न वै किञ्चिद्युगपद्विश्वदृशना ॥६४॥
 क्षायिकान्तद्वीर्यश्च नान्यसाच्चि व्यमोक्षते । कृतकृत्यः स्वयं प्राप्तलोकाग्रशिखरालयः ॥६५॥

अत्यन्त उत्कंठित होता हुआ इन्द्रियोंके विषयोंकी तृष्णासे पराधीन सुखकी इच्छा करता है ॥५८॥ इसी प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाली सुन्दरतासे युक्त पुरुष स्नान, माला, विलेपन और आभूषण आदिसे अपनी सुन्दरताका संस्कार करना चाहता है । भावार्थ—आभूषण आदि धारणकर आने शरीरकी सुन्दरता बढ़ाना चाहता है ॥५९॥ दोष, धातु और मलके स्थान स्वरूप इस इन्द्रियजनित शरीरको धारण करता हुआ पुरुष भोजन और औषधि आदिके द्वारा उसकी रक्षा करनेमें सदा व्याकुल रहता है ॥६०॥ जन्म मरण आदि अनेक दोषोंको देखता हुआ और शरीरसे दुखी हुआ कोई विचारवान् पुरुष जब उसे छोड़नेकी इच्छासे तप करनेका प्रयास करता है तब वह इन्द्रियोंके निवास स्वरूप शरीरको, उससे सम्बन्ध रखनेवाले सुख और आयुको भी स्वीकार करता है और अन्तमें उसे भी नष्ट होता हुआ देखकर दूसरे ऐन्द्रियिक निवासकी इच्छा करता है । भावार्थ—तपश्चरण करनेका इच्छुक पुरुष यद्यपि शरीरको हेय समझकर छोड़ना चाहता है परन्तु साधन समझकर उसे स्वीकार करता है और जब तक इष्ट—मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक प्रथम शरीरके जर्जर हो जानेपर द्वितीय शरीरकी इच्छा करता रहता है ॥६१—६२॥ परन्तु जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय बल और अतीन्द्रिय सुखकी संतान है और जो अपने आत्मस्वरूप शरीर, आवास तथा सुन्दरता आदिसे सहित है उसके ऊपर कहे हुए दोषोंका स्पर्श कभी नहीं होता है, इसलिये जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, वीर्य और सुखकी संतान है उसे ही आप्त जानना चाहिये और जिसके उक्त गुण नहीं हैं उसे अनाप्त समझना चाहिये ॥६३—६४॥ अब आगे इसी वाक्यार्थका स्पष्टीकरण करते हैं क्योंकि जबतक किसी पदार्थका स्पष्टीकरण नहीं हो जाता है तब तक उसका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता है ॥६५॥ जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान है ऐसा पुरुष किसी दूसरे शास्त्र के अर्थका आश्रय नहीं लेता, किन्तु केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंको धारण करनेवाला और तीनों कालोंके सब पदार्थोंको जाननेवाला वह स्वयं सबको उपदेश देता है ॥६६॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय दर्शन हैं ऐसा जीव कभी अपूर्व पदार्थको देखनेकी इच्छा नहीं करता क्योंकि जो एक साथ समस्त पदार्थोंको देखता है उसका न देखा हुआ कोई पदार्थ भी तो नहीं है ॥६७॥ जिसके क्षायिक अनन्तवीर्य है वह पुरुष भी किसी अन्य जीवकी सहायता नहीं चाहता किन्तु

१ आहार । २ देहरक्षणम् । ३ उत्पत्त्यादीन् । ४ शरीरपीडितः । ५ तत्त्यागेच्छया । ६ समीक्ष्यकारी । ७ प्रयत्नं करोति । ८ इन्द्रियसुखहेतुप्रासादिकम् । ९ विचारयन् । १० स्पर्शनम् । ११ अतीन्द्रियविज्ञानादिमान् । १२ ततः कारणात् । १३ अतीन्द्रियेत्यादिद्विलोकद्वयार्थस्य । १४ निश्चयेन । १५ शास्त्रनिमित्तम् । १६ अन्यसहायत्वम् ।

अतीन्द्रियसुखोऽप्यात्मा स्याद्भोगैरुत्सुको न वै । भोग्यवस्तुगता चिन्ता जायते नास्य जात्वतः ॥६६॥
प्राप्तातीन्द्रियसौन्दर्यं नेच्छेत्स्नानादिसत्कियाम् । स्नातको नित्यशुद्धात्मा बहिरन्तरमलक्षयात् ॥७०॥
अतीन्द्रियात्मदेहश्च नाहारादीनपेक्षते । क्षुध्याधिविषशस्त्रादिबाधातीततनुः स वै ॥७१॥
भवेच्च न तपःकामो वीतजातिजरामृतिः । नावासान्तरमन्विच्छेद् आत्मवासे च सुस्थितः ॥७२॥
स एवमखिलैर्दोषैः मुक्तो युक्तोऽखिलैर्गुणैः । परमात्मा परं ज्योतिः परमेष्ठीति गीयते ॥७३॥
कामरूपित्वमाप्तस्य लक्षणं वेद्य साम्प्रतम्^१ । सरागः कामरूपी स्याद् अकृतार्थश्च सोऽञ्जसा ॥७४॥
प्रकृतिस्थेन^२ रूपेण प्राप्तुं यो नालमीप्सितम्^३ । स वैकृतेन^४ रूपेण कामरूपी कथं सुखी ॥७५॥

इति पुरुषनिर्दर्शनम् ।

निगलस्थो^५ यथानेष्टं गन्तुं देशमलन्तराम् । कर्मबन्धनबद्धोऽपि नेष्टं धाम^६ तथैययात्^७ ॥७६॥
यथेह बन्धनान्मुक्तः परं स्वातन्त्र्यमृच्छति । कर्मबन्धनमुक्तोऽपि तथोपाच्छेत्^८ स्वतन्त्रताम् ॥७७॥
निगलस्थो विपाशश्च स एवैकः पुमान्यथा । कर्मबद्धो विमुक्तश्च स एवात्मा मतस्तथा ॥७८॥

इति निगलनिर्दर्शनम् ।

मुक्तेतरात्मनोऽयं कथं द्वयमेतन्निर्दर्शितम्^९ । तद्बुद्धीकरणायेष्टं^{१०} सत्संसारिनिर्दर्शनम् ॥७९॥

वह स्वयं कृतकृत्य होकर लोकके अग्र शिखरपर सिद्धालयमें जा पहुँचता है ॥६८॥ इसी प्रकार अतीन्द्रिय सुखको धारण करनेवाला पुरुष भी भोगोंसे उत्कण्ठित नहीं होता, क्योंकि उसे भोग करने योग्य वस्तुओंकी चिन्ता ही कभी नहीं होती है ॥६९॥ जिसे अतीन्द्रिय सौन्दर्य प्राप्त हुआ है वह भी कभी स्नान आदि क्रियाओंकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग मलका क्षय हो जानेसे वह स्वयं स्नातक कहलाता है और उसका आत्मा निरन्तर शुद्ध रहता है ॥७०॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय आत्मा ही शरीर है वह आहार आदिकी अपेक्षा नहीं करता क्योंकि उसका आत्मारूप शरीर क्षुधा, व्याधि, विष और शस्त्र आदिकी बाधासे रहित होता है ॥७१॥ जिसके जन्म, जरा और मरण नष्ट हो चुके हैं वह कभी तपकी इच्छा नहीं करता तथा जो आत्मारूपी घरमें सुखसे स्थित रहता है वह कभी दूसरे आवासकी इच्छा नहीं करता ॥७२॥ इस प्रकार जो समस्त दोषोंसे रहित है, समस्त गुणोंसे सहित है, परमात्मा है और उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप है वही परमेष्ठी कहलाता है ॥७३॥ कदाचित् आप यह कहें कि कामरूपित्व अर्थात् इच्छानुसार अनेक अवतार धारण करना आप्तका लक्षण है तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कामरूपी होता है वह अवश्य ही रागसहित तथा अकृतकृत्य होता है ॥७४॥ जो स्वाभाविक रूपसे अपना इष्ट प्राप्त करनेके लिये समर्थ नहीं है वह कामरूपी विकृत रूपसे कैसे सुखी हो सकता है ? ॥७५॥ यह पुरुषका उदाहरण कहा, अब निगलका उदाहरण कहते हैं ।

जिस प्रकार निगल अर्थात् बेड़ीमें बंधा हुआ जीव अपने इष्ट स्थानपर जानेके लिये समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार कर्मरूप बन्धनसे बंधा हुआ जीव भी अपने इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकता ॥७६॥ जिस प्रकार इस लोकमें बन्धनसे छूटा हुआ पुरुष परम स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्मबन्धनसे छूटा हुआ पुरुष भी स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है ॥७७॥ और जिस प्रकार बेड़ीसे बंधा हुआ तथा बेड़ीसे छूटा हुआ पुरुष एक ही माना जाता है उसी प्रकार कर्मोंसे बंधा हुआ तथा कर्मोंसे छूटा हुआ पुरुष भी एक ही माना जाता है ॥७८॥ यह निगलका उदाहरण है, इस प्रकार मुक्त और संसारी आत्माओंको प्रकट करनेके लिये ये दो

१ युक्तम् । २ स्वभावस्थेन । ३ अशक्तः । ४ विकारजेन । ५ शृंखलाबन्धनस्थः । ६ स्थानम् । ७ गच्छेत् । ८ गच्छेत् । ९ -दर्शनम् प०, ल०, म० । १० पुरुषार्थवृद्धिकरणाय ।

यत्संसारिणमात्मातम् ऊरीकृत्यात्यतन्त्रताम्^१ । तस्योपदेशे मुक्तस्य स्वातन्त्र्योपनिर्देशनम् ॥८०॥
 भतः संसारिदृष्टान्तः सोऽयमाप्तीयदर्शने^२ । मुक्तात्मना भवेदेव^३ स्वातन्त्र्यं प्रकटीकृतम् ॥८१॥
 तद्यथा संसृती देही न स्वतन्त्रः कथञ्चन । कर्मबन्धवशीभावाज्जीवत्यन्याश्रितश्च यत्^४ ॥८२॥
 ततः परप्रधानत्वम्^५ अस्पर्शनत्वं प्रतिपादितम् ॥ स्याच्चलत्वं च पुंसोऽस्य वेदनासहगादिभिः^६ ॥८३॥
 वेदनाव्याकुलीभावश्चलत्वमिति लक्ष्यताम्^७ । क्षयवत्त्वं^८ च देवादिभ्ये^९ लब्धाद्विसंक्षयात् ॥८४॥
 बाध्यत्वं ताडनानिष्टवचनप्राप्तिरस्य वै^{१०} । अन्तवच्चास्य^{११} विज्ञानम् अक्षबोधः^{१२} परिक्षणी^{१३} ॥८५॥
 अन्तवद्दर्शनं चास्य स्यादैन्द्रियकदर्शनम् । वीर्यं च तद्विधं तस्य शरीरबलमल्पकम् ॥८६॥
 स्यादस्य सुखमग्रे^{१४} वन्प्राप्यमिन्द्रियगोचरम् । रजस्वलत्वमप्यस्य^{१५} स्यात्कर्मशैः कलङ्कनम् ॥८७॥
 भवेत् कर्ममलावेशाद् अत एव मलीनसः । छेद्यत्वं चास्य गात्राणां द्विधाभावेन सण्डनम् ॥८८॥
 मृद्गराद्यभिधातेन भेद्यत्वं स्याद् विदारणम् । जरावत्त्वं वयोहानिः प्राणत्यागो मृतिर्मता ॥८९॥
 प्रमेयत्वं^{१६} परिच्छिन्नदेहभात्रावद्वृत्ता । गर्भवासोऽर्भकत्वेन जनन्मुदरदुःस्थितिः ॥९०॥

उदाहरण कहे, अब उक्त कथनको दृढ़ करनेके लिये संसारी जीवोंका उदाहरण कहना चाहिये ॥७९॥ संसारी जीवोंको लेकर जो उनकी परतन्त्रताका कथन करता है उनकी उसी परतन्त्रता के उपदेशमें मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रताका उदाहरण हो जाता है । भावार्थ—संसारी जीवोंकी परतन्त्रताका वर्णन करनेसे मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रताका वर्णन अपने आप हो जाता है क्योंकि संसारी जीवोंकी परतन्त्रताका अभाव होना ही मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रता है ॥८०॥ अरहंत देवके मतमें संसारीका उदाहरण वही माना गया है कि जिसमें मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रता प्रकट हो सके ॥८१॥ आगे इसी उदाहरणको स्पष्ट करते हैं—संसारमें यह जीव किसी प्रकार स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि कर्मबन्धनके बश होनेसे यह जीव अन्यके आश्रित होकर जीवित रहता है ॥८२॥ यह संसारी जीवकी परतन्त्रता बतलाई, इसी प्रकार सुख-दुःख आदिकी वेदनाओंके सहनेसे इस पुरुषमें चंचलता भी होती है ॥८३॥ सुख-दुःख आदिकी वेदनाओंसे जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे चञ्चलता समझना चाहिये और देव आदिकी पर्याक्षमें प्राप्त हुई ऋद्धियोंका जो क्षय होता है उससे इस जीवके क्षयनता (नश्वरता) जानना चाहिये ॥८४॥ इस जीवको जो ताड़ना तथा अनिष्ट वचनोंकी प्राप्ति होती है वही इसकी बाध्यता है और इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान क्षय होनेवाला है इसलिये वह अन्तःसहित है ॥८५॥ इसका दर्शन भी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है इसलिये वह भी अन्तःसहित है और इसका वीर्य भी वैसा ही है अर्थात् अन्तःसहित है क्योंकि इसके शरीरका बल अत्यन्त अल्प है ॥८६॥ इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला इसका सुख भी प्रायः ऐसा ही है तथा कर्मोंके अंशोंसे जो कलङ्कित हो रहा है वही इसका मैलापन है ॥८७॥ कर्मरूपी मलके सम्बन्धसे मलिन भी है और शरीरके दो दो टुकड़े होनेसे इसमें छेद्यत्व अर्थात् छिन्नभिन्न होनेकी शक्ति भी है ॥८८॥ मृद्गर आदिके प्रहारसे इसका शरीर विदीर्ण हो जाता है इसलिये इसमें भेद्यत्व भी है, जो इसकी अवस्था कम होती जाती है वही इसका बुढ़ापा है, और जो प्राणोंका परित्याग होता है वह इसकी मृत्यु है ॥८९॥ यह जो परिमित

१ पराधीनत्वमिति यत् । २ परतन्त्रस्य । ३ सर्वज्ञमते । ४ एवञ्च सति । ५ यत् कारणात् । ६ संसारिणः । ७ वेदनाभवनादिभिः । ८ लक्षणम् ३० । ९ क्षयोऽस्यास्तीति क्षयवान् तस्य भावः क्षयवत्त्वम् । १० देवादिभ्ये ८० । देवादिभ्ये । ११ अन्तोऽस्यास्तीति अन्तवत् । १२ इन्द्रियज्ञानम् । १३ स्वयं परिक्षायित्वादिति हेतुगमितविशेषणमेतत् । एवमुत्तरोत्तराणि योज्यम् । १४ एवंविधम् । अन्तवदित्यर्थः । १५ बूलिदूसरत्वम् । १६ प्रमातुं योग्यत्वम् । १७ परिमित ।

अथवा कर्मनोकर्मगर्भेऽस्य परिवर्तनम् । गर्भवासो विलीनत्वं स्याद् देहान्तरसङ्क्रमः ॥६१॥
 क्षुभितत्वं च संक्षोभः क्रोधाद्यादिद्वेषेतसः । भवेद् विविधयोगोऽस्य नानायोगिषु संक्रमः ॥६२॥
 संसारावास एवोऽस्य चतुर्गतिविवर्तनम् । प्रतिजन्मान्यथाभावो ज्ञानादीनामसिद्धता ॥६३॥
 सुखासुखं बलाहारौ देहावासी च देहिनाम् । विवर्तन्ते तथा ज्ञानं दृक्शक्तीं च रजोजुषाम् ॥६४॥
 एवं प्रायास्तु ये भावाः संसारिषु विनश्वराः । मुक्तात्मनां न सन्त्येते भावास्तेषां ह्यनश्वराः ॥६५॥
 मुक्तात्मनां भवेद् भावः स्वप्रधानत्वमग्रिमम् । प्रतिलब्धात्मलाभत्वात् परद्रव्यानपेक्षणम् ॥६६॥
 वेदनाभिभवाभावाद् अचलत्वं गभीरता । स्यादक्षयत्वमक्षयं क्षयिकातिशयोदयः ॥६७॥
 अव्याबाधत्वमश्लेषं जीवाजीवैर्बाध्यता । भवेदनन्तज्ञानत्वं विश्वार्याक्रमबोधनम् ॥६८॥
 अनन्तदर्शनत्वं च दिश्वतत्वाक्रमेक्षणम् । योग्यैरप्रतिघातोऽस्य सा मतानन्तवीर्यता ॥६९॥
 भोग्यैष्वर्यैष्वगतौत्सुक्यमनन्तसुखता मता । नीरजस्त्वं भवेदस्य व्यपायः पुण्यपापयोः ॥१००॥
 निर्मलत्वं तु तस्मिन् बहिरन्तर्मलव्युत्तिः । स्वभावविमलोऽनादिसिद्धो नास्तीह कश्चन ॥१०१॥
 योऽस्य जीवघनाकारपरिणामो मलक्षयात् । तदच्छेद्यत्वभाप्नोतम् अभेद्यत्वं च तत्कृतम् ॥१०२॥
 अक्षरत्वं च मुक्तस्य क्षरणाभावतो मतम् । अप्रमेयत्वमात्मोत्थैर्गुणैरुद्धरमेयता ॥१०३॥

शरीरमें रुका रहता है वह इसका प्रमेयपना है और जो बालक होकर माताके पेटमें दुःखसे रहता है वह इसका गर्भवास है ॥९०॥ अथवा कर्म नोकर्मरूपी गर्भमें जो इसका परिवर्तन होता रहता है वह इसका गर्भावास है और एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जो संक्रमण करना है वह विलीनता है ॥९१॥ क्रोध आदिसे आक्रान्त चित्तमें जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह इसका क्षुभितपना है, और नाना योगियोंमें परिभ्रमण करता इसका विविध योग कहलाता है ॥९२॥ चारों गतियों में परिवर्तन करते रहना इस जीवका संसारावास कहलाता है और प्रत्येक जन्ममें ज्ञानादि गुणोंका अन्य अन्य रूप होते रहना असिद्धता कहलाती है ॥९३॥ कर्मरूपी रजसे युक्त रहनेवाले इन संसारी जीवोंके जिस प्रकार सुख दुःख, बल, आहार, शरीर और घर बदलते रहते हैं उसी प्रकार उनके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य भी बदलते रहते हैं ॥९४॥ इस प्रकार संसारी जीवोंके जो विनश्वरभाव हैं वे मुक्त जीवोंके नहीं हैं, उनके सब भाव अविनश्वर हैं ॥९५॥ मुक्त जीवोंके उन भावोंमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे परद्रव्यकी अपेक्षासे रहित जो सर्व श्रेष्ठ स्वतन्त्रपना है वही पहला भाव है ॥९६॥ सुख दुःख आदिकी वेदनासे होनेवाले परभाव का अभाव होनेसे जो अचञ्चलता होती है वही उनकी गभीरता है और कर्मोंके क्षयसे जो अतिशयोंकी प्राप्ति होती है वही उनका अविनाशी अक्षयपना है ॥९७॥ किसी भी जीव अथवा अजीवसे इन्हें बाधा नहीं पहुंचती यही इनका अव्याबाधपना है और संसारके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानते हैं यही इनका अनन्तज्ञानीपन है ॥९८॥ समस्त तत्त्वोंको एक साथ देखना ही इनका अनन्तदर्शनपन है और अन्य पदार्थोंके द्वारा प्रतिघातका न होना अनन्तवीर्यपना है ॥९९॥ भोग करने योग्य पदार्थोंमें उत्कंठा न होना अनन्तसुखपना माना जाता है और पुण्य तथा पापका अभाव हो जाना नीरजसपन कहलाता है ॥१००॥ बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग मलका नाश होना ही इसका निर्मलपना कहलाता है क्योंकि इस संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जो स्वभावसे ही निर्मल हो और अनादि कालसे सिद्ध हो ॥१०१॥ कर्मरूपी मलके नाश होनेसे जो जीवके प्रदेशोंका घनाकार परिणमन होता है वही इसका अच्छेद्यपना है और उसी कर्मरूपी मलके नाश होनेसे इसके अभेद्यपना माना जाता है ॥१०२॥ मुक्त जीवका

१ दृक् च शक्तिश्च दृक्छक्ती । २ कर्मफलभाजाम् । ३ एवमादयः । ४ स्वभावः । ५ चेतनाचेतनः ।

६ युग्मपत् । ७ परिणमनम् ।

बहिरन्तर्मलापायाद् अगर्भवसतिर्मता । कर्मनोकर्मविश्लेषात् स्यादगौरवलाघवम् ॥१०४॥
 तादवस्थ्य^१ गुणैरुद्धैः^२ अक्षोभ्यत्वमतो भवेत् । अखिलीनत्वमात्मीयैर्गुणैरप्यवपृक्तता^३ ॥१०५॥
 प्राग्देहाकारमूर्तित्वं यदस्याहेयपक्षरम् । साऽभीष्टा परमा काष्ठा योगरूपत्वमात्मनः ॥१०६॥
 लोकाप्रवासस्त्रैलोक्यशिखरे शाश्वती स्थितिः । अशेषपुरुषार्थानां निष्ठा^४ परमसिद्धता ॥१०७॥
 यः समग्रैर्गुणैरेभिः ज्ञानादिभिरलङ्कृतः । किं तस्य कृतकृत्यस्य परद्रव्योपसर्पणैः ॥१०८॥
 एष संसारिवृष्टान्तो व्यतिरेकेण^५ साधयेत् । परमात्मानमात्मानं प्रभुमप्रतिशासनम् ॥१०९॥
 त्रिभिनिवर्तनैरेभिः आबिष्कृतमहोदयः । स आप्तस्तन्मते धीरैः आर्धेया मतिरात्मनः ॥११०॥
 'एवं हि क्षत्रियश्रेष्ठो भवेद् वृष्टपरम्परः । मतान्तरेषु दौःस्थित्यं भावयन्नुपपत्तिभिः ॥१११॥
 विगन्तरेभ्यो व्यावर्त्यं प्रबुद्धां मतिमात्मनः । सन्मार्गे स्थापयन्नेवं कुर्यान्मत्यनुपालनम् ॥११२॥
 आत्रिहामृत्रिकापायात् परिरक्षणमात्मनः । आत्मानुपालनं नाम तदिदानीं विवृणुमहे ॥११३॥
 आत्रिकापायसंरक्षा सुप्रतीतेव धीमताम् । विवशस्त्राद्यपायानां परिरक्षणलक्षणा ॥११४॥

कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता इसलिये इसमें अक्षरता अर्थात् अविनाशीपन है और आत्मासे उत्पन्न हुए श्रेष्ठ युगोंसे इसका प्रमाण नहीं किया जा सकता इसलिये इसमें अप्रमेय-पना है ॥१०३॥ बहिरंग और अन्तरंग मलका नाश हो जानेसे इसका गर्भावास नहीं माना जाता है और कर्म तथा नोकर्मका नाश हो जानेसे इसमें गुरुता और लघुता भी नहीं होती है ॥१०४॥ यह आत्मासे उत्पन्न हुए प्रशंसनीय गुणोंसे अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है इसलिये इसमें अक्षोभ्यपना है और आत्माके गुणोंसे कभी पृथक् नहीं होता इसलिये अखिलीनपना है ॥१०५॥ जो कभी न छूटने योग्य और कभी न नष्ट होने योग्य पहलेके शरीरके आकार इसकी मूर्ति रहती है वही इसकी परम हृद् है और वही इसकी योगरूपता है ॥१०६॥ तीनों लोकोंके शिखरपर जो इसकी सदा रहनेवाली स्थिति है वही इसका लोकाप्रवास गुण है और जो समस्त पुरुषार्थोंकी पूर्णता है वही इसकी परमसिद्धता है ॥१०७॥ इस प्रकार जो इन ज्ञान आदि समस्त गुणोंसे अलङ्कृत है उस कृतकृत्य हुए मुक्त जीवको अन्य द्रव्योंकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥१०८॥ यह संसारी जीवका दृष्टान्त व्यतिरेक रूपसे आत्मा को, जिसपर किसीका शासन नहीं है और जो प्रभुरूप है ऐसा परमात्मा सिद्ध करता है । भावार्थ—इस संसारी जीवके उदाहरणसे यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा ही परमात्मा हो जाता है ॥१०९॥ इस प्रकार इन तीन उदाहरणोंसे जिसका महोदय प्रकट हो रहा है वही आप्त है, उसी आप्तके मतमें धीरवीर पुरुषोंको अपनी बुद्धि लगानी चाहिये ॥११०॥ इस तरह जिसने सब परम्परा देख ली हैं, और जो अन्य मतोंमें युक्तियोंसे दुष्टताका चिन्तन करता है वही सब क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ कहलाता है ॥१११॥ क्षत्रियको चाहिये कि वह अपनी जागृत बुद्धिको अन्य दिशाओं अर्थात् मतोंसे हटाकर समीचीन मार्गमें लगाता हुआ उसकी रक्षा करे ॥११२॥ इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायोंसे आत्माकी रक्षा करना आत्माका पालन करना कहलाता है । अब आगे इसी आत्माके पालनका वर्णन करते हैं ॥११३॥ विष शस्त्र आदि अपायोंसे अपनी रक्षा करना ही जिसका लक्षण है ऐसी इस लोकसम्बन्धी अपायोंसे

१ अगुरुलघुत्वम् । २ स्वस्वरूपावस्थानम् । ३ न केवलं देहादिभिः । ज्ञानादिगुणैरपि ।

४ अत्यक्तता । —रप्यवपृक्तता । 'अपवृक्तता' इति पाठे अपवर्तनत्वं गुणगुणीभावराहित्यम् । ५ निष्पत्तिः । परिसमाप्तिरित्यर्थः । ६ व्यतिरेकिदृष्टान्तेन । ७ एवं कृते सति । ८ —त्रेव इ०, ल०, म० ।

तत आनुत्रिकापायरक्षाविधिरनूद्यते । तद्रक्षणं च धर्मेण धर्मो ह्यापत्प्रतिक्रिया ॥११५॥
 धर्मो रक्षत्यपारेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः । धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मेणेहाभिनन्दयुः ॥११६॥
 तस्माद्धर्मेकतानः सन् कृपद्विष्यत्प्रतिक्रियाम् । एवं हि रक्षितोऽपायाद् भवेदात्मा भवान्तरे ॥११७॥
 बहुपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विनाम् । यत्र पुत्राः ससौदर्या वैराघन्ते^१ निरन्तरम् ॥११८॥
 अपि चात्र मनःखेदबहुले का सुखासिका^२ । मनसो निर्वृतिं सौख्यम् उशन्तीह विचक्षणाः ॥११९॥
 राज्ये न सुखलेशोऽपि दुरन्ते दुरितावहे । सर्वतः शङ्कमानस्य प्रत्युतात्रासुखं^३ महत् ॥१२०॥
 ततो राज्यमिव हेयमपथ्यमिव भेषजम् । उपादेयं तु विद्वद्भिस्तपः पथ्यमिवाशनम् ॥१२१॥
 इति प्रागेव निर्विद्यं^४ राज्यं भोगं त्यजेत् सुधीः । तथा त्यक्तुमशक्तीऽन्ते त्यजेद् राज्यपरिच्छदम् ॥१२२॥
 कालज्ञानिभिराविष्टे निर्णयिते स्वयमेव वा । जीवितान्ते तनुत्यागमिति ब्रह्मादतः सुधीः ॥१२३॥
 त्यागो हि परमो धर्मस्त्याग एव परं तपः । त्यागाविह यशोलाभः परत्राभ्युदयो महान् ॥१२४॥
 मत्वेति तनुमाहारं राज्यं च सपरिच्छदम् । त्यजेदायतनं^५ पुण्यं पूजाविधिपुरस्सरम् ॥१२५॥

होनेवाली रक्षा तो विद्वान् पुरुषोंको विदित ही है ॥११४॥ इसलिये अब परलोक सम्बन्धी अपायोंसे होनेवाली रक्षाकी विधि कहते हैं । परलोक सम्बन्धी अपायोंसे रक्षा धर्मके द्वारा ही हो सकती है क्योंकि धर्म ही समस्त आपत्तियोंका प्रतिकार है—उनसे बचनेका उपाय है ॥११५॥ धर्म ही अपायोंसे रक्षा करता है, धर्म ही मनचाहा फल देनेवाला है, धर्म ही परलोक में कल्याण करनेवाला है और धर्मसे ही इस लोकमें आनन्द प्राप्त होता है ॥११६॥ इसलिये धर्ममें एकचित्त होकर भविष्यत् कालमें आनेवाली विपत्तियोंका प्रतिकार करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे ही आत्माकी दूसरे भवमें विपत्तिसे रक्षा हो सकती है ॥११७॥ जिस राज्यके लिये पुत्र तथा सगे भाई आदि भी निरन्तर शत्रुता किया करते हैं और जिसमें बहुत अपाय हैं ऐसा यह राज्य बुद्धिमान् पुरुषोंको अवश्य ही छोड़ देना चाहिये ॥११८॥ एक बात यह भी है कि जिसमें मानसिक खेदकी बहुलता है ऐसे इस राज्यमें सुखपूर्वक कैसे रहा जा सकता है क्योंकि इस संसारमें पण्डितजन मनकी निराकुलताको ही सुख कहते हैं ॥११९॥ जिसका अन्त अच्छा नहीं है और जिसमें निरन्तर पाप उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे इस राज्यमें सुखका लेश भी नहीं है बल्कि सब ओरसे शंकित रहनेवाले पुरुषको इस राज्यमें बड़ा भारी दुःख बना रहता है ॥१२०॥ इसलिये विद्वान् पुरुषोंको अपथ्य औषधिके समान इस राज्यका त्याग कर देना चाहिये और पथ्य भोजनके समान तप ग्रहण करना चाहिये ॥१२१॥ इस तरह बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह राज्यके विषयमें पहलेसे ही विरक्त होकर भोगोपभोगका त्याग कर दे, यदि वह इस प्रकार त्याग करनेके लिये समर्थ न हो तो कमसे कम अन्त समय उसे राज्यके आडम्बरका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये ॥१२२॥ इसलिये यदि कालको जाननेवाला निमित्तज्ञानी अपने जीवनका अन्त समय बतला दे अथवा अपने आप ही उसका निर्णय हो जावे तो बुद्धिमान् क्षत्रियको चाहिये कि वह उस समयसे शरीर परित्यागकी बुद्धि धारण करे अर्थात् सल्लेखना धारण करनेमें बुद्धि लगावे ॥१२३॥ क्योंकि त्याग ही परम धर्म है, त्याग ही परम तप है, त्यागसे ही इस लोकमें कीर्तिकी प्राप्ति होती है और त्यागसे ही परलोकमें महान् ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१२४॥ ऐसा मानकर क्षत्रियको किसी पवित्र स्थानमें रहकर पूजा आदिकी विधि करके शरीर आहार और चमर छत्र आदि उपकरणोंसे सहित राज्यका परित्याग कर देना

१ अत अ०, स०, म०, ल० । २ एकोदरे जाता । ३ वैरं कुर्वन्ति । ४ सुखास्थता । ५ पुनः किमिति चेत् । ६ वैराग्यपरो भूत्वा । ७ आवासे । ८ पवित्रे ।

गुरुसाक्षि तथा त्यक्तदेहाहारस्य तस्य वै । परीयहजयायता सिद्धिरिष्टा महात्मनः ॥१२६॥
 ततो ध्यायेदनुप्रेक्षाः कृती जेतुं परीयहान् । विनाऽनुप्रेक्षणं चित्तसमाधानं हि दुर्लभम् ॥१२७॥
 'प्राग्यभाजितमेवाहं भावयामि न भावितम्' । भावयामीति भावेन भावयेत्तत्त्वभावनाम् ॥१२८॥
 समुत्सृजेदनात्मीयं शरीरादिपरिग्रहम् । आत्मीयं तु स्वसात्कुर्याद् रत्नत्रयमनुत्तरम् ॥१२९॥
 मनोव्याक्षेपरक्षार्थं ध्यायन्निति स धीरधीः । प्राणान् विसर्जयेदन्ते संस्मरन् परमेष्ठिनाम् ॥१३०॥
 तथा विसर्जितप्राणः प्रणिधानपरायणः^१ । शिथिलीकृत्य कर्माणि शुभां गतिमथाप्नुते^२ ॥१३१॥
 तस्मिन्नेव भवे शक्तः कृत्वा कर्मपरिक्षयम् । सिद्धिभाप्नोत्यशक्तस्तु त्रिदिवाग्रसवाप्नुयात् ॥१३२॥
 ततश्च्युतः परिप्राप्तमानुष्यः परमं तपः । कृत्वान्ते निर्बृतिं याति निर्द्वैताखिलबन्धनः ॥१३३॥
 क्षत्रियो यस्त्वनैतन्मज्जः कुर्यान्नात्मानुपालनम् । विषशस्त्रादिभिस्तस्य दुर्मतिश्च भवविनी ॥१३४॥
 दुर्मतश्च दुर्गतेऽस्मिन् भवावर्ते दुर्गतरि । पतित्वाऽबुध दुःखानां दुर्गतां भाजनं भवेत् ॥१३५॥
 ततो भतिमत्ताऽऽजीयविनिपातानुरक्षणे । विधेयोऽस्मिन् महायत्नो लोकद्वयहितावहे ॥१३६॥
 कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने । राजा यत्नं प्रकुर्वीत राज्ञां मौलो ह्ययं^३ गुणः ॥१३७॥

चाहिये ॥१२५॥ इस प्रकार जिसने गुरुकी साक्षीपूर्वक शरीर और आहारका त्याग कर दिया है ऐसे महात्मा पुरुषकी इष्टसिद्धि परीषहोंके विजय करनेके आधीन होती है अर्थात् जो परीषह सहन करता है उसीके इष्टकी सिद्धि होती है ॥१२६॥ इसलिये निपुण पुरुषको परीषह जीतनेके लिये अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये क्योंकि अनुप्रेक्षाओंके चिन्तन किये बिना चित्तका समाधान कठिन है ॥१२७॥ जिसका पहले कभी चिन्तन नहीं किया था ऐसे सम्यक्त्व आदिका चिन्तन करता हूं और जिसका पहले चिन्तन किया था ऐसे मिथ्यात्व आदिका चिन्तन नहीं करता इस प्रकारके भावोंसे तत्त्वोंकी भावनाओंका चिन्तन करना चाहिये ॥१२८॥ जो आत्माके नहीं है ऐसे शरीर आदि परिग्रहका त्याग कर देना चाहिये और जो आत्मा के हैं ऐसे सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रयका ग्रहण करना चाहिये ॥१२९॥ धीर वीर बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषको मनकी चंचलता नष्ट करनेके लिये इस प्रकार ध्यान करते हुए और पंचपरमेष्ठियों का स्मरण करते हुए आयुके अन्तमें प्राणत्याग करना चाहिये ॥१३०॥ जो पुरुष ध्यानमें तत्पर रहकर ऊपर लिखे अनुसार प्राणत्याग करता है वह कर्मोंको शिथिल कर शुभ गतिको प्राप्त होता है ॥१३१॥ जो समर्थ है वह उसी भवमें कर्मोंका क्षय कर मोक्षको प्राप्त होता है और जो असमर्थ है वह स्वर्गके अग्रभाग अर्थात् सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त होता है ॥१३२॥ वह वहांसे च्युत हो मनुष्यपर्याय प्राप्त कर और परम तपश्चरण कर आयुके अंतमें समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ निर्वाणको प्राप्त होता है ॥१३३॥ आत्माका स्वरूप न जाननेवाला जो क्षत्रिय अपने आत्माकी रक्षा नहीं करता है उसकी विष, शस्त्र आदिसे अवश्य ही अपमृत्यु होती है ॥१३४॥ और अपमृत्युसे मरा हुआ प्राणी दुःखदायी तथा कठिनाईसे पार होने योग्य इस संसाररूप आवर्तमें पड़कर परलोकमें दुर्गंतियोंके दुःखका पात्र होता है ॥१३५॥ इसलिये बुद्धिमान् क्षत्रियको दोनों लोकोंमें हित करनेवाले, आत्माके इस विघ्नबाधाओंसे रक्षा करनेमें महाप्रयत्न करना चाहिये ॥१३६॥ इस प्रकार जिसने आत्माकी रक्षा की है ऐसे राजाको प्रजाका पालन करनेमें प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि यह राजाओंका मौलिक गुण है ॥१३७॥

१ सम्यक्त्वादिकम् । २ मिथ्यात्वादिकम् । ३ मानसबाधाया नाशार्थम् । ४ एकाग्रतां मतः ।
 ५ -मुपाप्नुते अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ६ प्रजापालनयत्नः ।

कथञ्च पालनीयास्ताः प्रजापतेस्तत्प्रपञ्चतः^१ । पुष्टं^२ गोपालदृष्टान्तम्^३ ऊरीकृत्य विवृण्वहे ॥१३८॥
 गोपालको यथा यत्नाद् गाः संरक्ष्यतन्निद्रतः^४ । क्षमापालश्च प्रयत्नेन तथा रक्षेन्नृजाः प्रजाः ॥१३९॥
 तद्यथा यदि गौः कश्चिद् अपराधी^५ स्वगोकुले । तमङ्गगच्छेदनाद्युग्रदण्डेस्तीव्रमयोजयन्^६ ॥१४०॥
 पालयेदनुरूपेण दण्डेनैव नियन्त्रयन्^७ । यथा गोपस्तथा भूपः प्रजाः स्वाः प्रतिपालयेत्^८ ॥१४१॥
 तीक्ष्णदण्डो हि नृपतिस्तीव्रमुद्वेजयेत्प्रजाः । ततो विरक्तप्रकृति^९ जह्यदुरेनममूः प्रजाः ॥१४२॥
 यथा गोपालको मौलं पशुवर्गं स्वगोकुले । पोषयन्नेव पुष्टः स्याद् गोपोषं^{१०} प्राज्यगोधनः^{११} ॥१४३॥
 तथैष नृपतिर्मौलं^{१२} तन्त्रमात्मीयनेकतः^{१३} । पोषयन्पुष्टिमाप्नोति स्वे परस्मिन्श्च मण्डले ॥१४४॥
 पुष्टो मौलेन तन्त्रेण यो हि पाथिवकुञ्जरः । स जयेत् पृथिवीमेनां सागरान्तामयन्ततः ॥१४५॥
 प्रभन्नवरणं किञ्चिद् गोद्वयं^{१४} चेत् प्रमादतः । गोपालस्तस्य सन्धानं कुर्याद् बन्धाद्युपक्रमः ॥१४६॥
 बद्धाय च तु शाश्वतं दत्त्वा दण्ड्यं नियोजयेत् । उपद्रवान्तरेऽप्येवम् आशु कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥१४७॥
 यथा तथा नरेन्द्रोऽपि स्वबले वणितं भटम् । प्रतिकुर्याद्^{१५} निषग्वर्यान्निषोर्ज्यौषधसम्पदा ॥१४८॥
 वृत्तीकृतस्य चास्योद्ध^{१६} जीवनादि^{१७} प्रचिन्तयेत् । सत्येवं भृत्यवर्गोऽस्य शश्वदाप्नोति नन्दधुम्^{१८} ॥१४९॥

उस प्रजाका किस प्रकार पालन करना चाहिये यदि आप यह जानना चाहते हैं तो हम ग्वालिये-
 का सुदृढ़ उदाहरण लेकर विस्तारके साथ उसका वर्णन करते हैं ॥१३८॥ जिस प्रकार ग्वालिया
 आलस्यरहित होकर बड़े प्रयत्नसे अपनी गायोंकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको बड़े
 प्रयत्नसे अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥१३९॥ आगे इसीका खुलासा करते हैं-यदि
 अपनी गायोंके समूहमें कोई गाय अपराध करती है तो वह ग्वालिया उसे अंगछेदन आदि कठोर
 दण्ड नहीं देता हुआ अनुरूप दण्डसे नियन्त्रण कर जिस प्रकार उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार
 राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥१४०-१४१॥ यह निश्चय है कि कठोर
 दण्ड देनेवाला राजा अपनी प्रजाको अधिक उद्दिग्न कर देता है इसलिये प्रजा ऐसे राजाको
 छोड़ देती है तथा मंत्री आदि प्रकृतिजन भी ऐसे राजासे विरक्त हो जाते हैं ॥१४२॥ जिस
 प्रकार ग्वालिया अपने गायोंके समूहमें मुख्य पशुओंके समूहकी रक्षा करता हुआ पुष्ट अर्थात्
 सम्पत्तिशाली होता है क्योंकि गायोंकी रक्षा करके ही यह मनुष्य विशाल गोधनका स्वामी
 हो सकता है, उसी प्रकार राजा भी अपने मुख्य वर्गकी मुख्य रूपसे रक्षा करता हुआ अपने और
 दूसरेके राज्यमें पुष्टिको प्राप्त होता है ॥१४३-१४४॥ जो श्रेष्ठ राजा अपने अपने मुख्य बलसे
 पुष्ट होता है वह इस समुद्रान्त पृथिवीको बिना किसी यत्नके जीत लेता है ॥१४५॥ यदि
 कदाचित् प्रमादसे किसी गायका पैर टूट जाय तो ग्वालिया उसे बांधना आदि उपायोंसे उस
 पैरको जोड़ता है, गायको बांधकर रखता है-बंधी हुई गायके लिये घास देता है और उसके पैर
 को मजबूत करनेमें प्रयत्न करता है तथा इसी प्रकार उन पशुओंपर अन्य उपद्रवोंके आनेपर
 भी वह शीघ्र ही उनका प्रतिकार करता है ॥१४६-१४७॥ जिस प्रकार अपने आश्रित गायों
 की रक्षा करनेके लिये ग्वालिया प्रयत्न करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिये कि वह अपनी
 सेनामें घायल हुए योद्धाको उत्तम वैद्यसे औषधिरूप संपदा दिलाकर उसकी विपत्तिका प्रति-
 कार करे अर्थात् उसकी रक्षा करे ॥१४८॥ और वह वीर जब अच्छा हो जावे तो राजाको
 उसकी उत्तम आजीविका कर देनेका विचार करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे भृत्यवर्ग सदा

१ प्रपञ्चनम् ल०, म० । प्रपञ्चते अ०, स० । २ समृद्धम् । ३ स्वीकृत्य । ४ अनालस्यः ।
 ५ दोषी । ६ संयोजनमकुर्वन् । ७ नियमयन् । ८ उद्वेगं कुर्यात् । ९ त्यक्तानुरागप्रजापरिवारवत्सम् ।
 १० गाः पोषयन्तीति गोपोषस्तम् । ११ बहुगोत्रजः । १२ बलम् । १३ एकस्मिन् स्थाने । १४ गोधनम् ।
 १५ प्रतिकारं कुर्यात् । १६ वैद्यश्रेष्ठात् । १७ अधिवाम् । १८ जीवितादिवाम् । १९ आनन्दम् ।

यथैव खलु गोपालो सन्ध्यस्थिचलने गवाम् । तदस्थि स्थापयन् प्राग्वत् कुर्याद् द्योग्यां प्रतिक्रियाम् ॥१५०॥
 तथा नृपोऽपि सङ्ग्रामे भृत्यमुख्ये व्यसौ^१ सति । तत्पदे पुत्रमेवास्य भ्रातरं वा नियोजयेत् ॥१५१॥
 सति चैवं कृतज्ञोऽयं नृप इत्यनुरक्तताम् । उर्वेति भृत्यवर्गोऽस्मिन्^२ भवेच्च धृज्योधनः^३ ॥१५२॥
 यथा खल्वपि गोपालः कृमिदण्डे गवाङ्गणे । तद्योग्यमौषधं दत्त्वा करोत्यस्य प्रतिक्रियाम् ॥१५३॥
 तथैव पृथिवीपालो दुर्बिधं^४ स्वानुजीविनम्^५ । विमनस्कं विदित्वेनं सौचित्ये^६ सन्निवोजयेत् ॥१५४॥
 विरक्तो ह्यनानुजीवी^७ स्याद् अलब्धोचितजीवनः^८ । प्रभोर्विमानं^९ नाच्छेवं तस्मान्नैनम् विरुक्षयेत्^{१०} ॥१५५॥
 'तद्द्वौर्गत्यं व्रणस्थानकृमिसम्भवसन्निभम् । विदित्वा तत्प्रतीकारम् आशु कुर्याद्विशाम्पतिः ॥१५६॥
 बहुनापि न दत्तेन सौचित्यमनुजीविनाम् । उचिततात् स्वामिसन्मानाद् यथेषां जायते धृतिः ॥१५७॥
 गोपालको यथा यथैव स्वो महोक्षं^{११} भरक्षमम् । ज्ञात्वास्य नस्यकर्मदि विदध्याद् गात्रपुण्ड्रये ॥१५८॥
 तथा नृपोऽपि सैन्ये स्वो योद्धारं भटसत्तमम् । ज्ञात्वेनं जीवनं प्राज्यं दत्त्वा सम्मानयेत् कृती ॥१५९॥
 कृतापदानं^{१२} तद्योग्यैः सत्कारैः प्रीणयन् प्रभुः । न मुच्यतेऽनुरक्तैः स्वैः अनुजीविभिरन्वहम् ॥१६०॥
 यथा च गोषो गोयूथं कण्टकोपलवर्जिते । शीततापादिबाधाभिः उज्जिहते चारयन्^{१३} वने ॥१६१॥

आनन्दको प्राप्त होते रहते हैं—संतुष्ट बने रहते हैं ॥१४९॥ जिस प्रकार ग्वालिया रांचीस्थान से गायोंकी हड्डीके विचलित हो जानेपर उस हड्डीको वहीं पैठालता हुआ उसका योग्य प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी युद्धमें किसी मुख्य भृत्यके मर जानेपर उसके पदपर उसके पुत्र अथवा भाईको नियुक्त करना चाहिये ॥१५०—१५१॥ ऐसा करनेसे भृत्य लोग 'यह राजा बड़ा कृतज्ञ है' ऐसा मानकर उसपर अनुराग करने लगेंगे और अवसर पड़नेपर निरन्तर युद्ध करनेवाले बन जायेंगे ॥१५२॥ कदाचित् गायोंके समूहको कोई कीड़ा काट लेता है तो जिस प्रकार ग्वालिया योग्य औषधि देकर उसका प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिये कि वह अपने सेवकको दरिद्र अथवा खेदखिन्न जानकर उसके चित्तको संतुष्ट करे ॥१५३—१५४॥ क्योंकि जिस सेवकको उचित आजीविका प्राप्त नहीं है वह अपने स्वामी के इस प्रकारके अपमानसे विरक्त हो जायगा इसलिये राजाको चाहिये कि वह कभी अपने सेवकको विरक्त न करे । ॥१५५॥ सेवककी दरिद्रताको धावके स्थानमें कीड़े उत्पन्न होनेके समान जानकर राजाको शीघ्र ही उसका प्रतिकार करना चाहिये ॥१५६॥ सेवकोंको अपने स्वामीसे उचित सन्मान पाकर जैसा संतोष होता है वैसा संतोष बहुत धन देनेपर भी नहीं होता है ॥१५७॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओंके भुण्डमें किसी बड़े बैलको अधिक भार धारण करनेमें समर्थ जानकर उसके शरीरकी पुष्टिके लिये नस्य कर्म आदि करता है अर्थात् उसकी नाकमें तेल डालता है और उसे खली आदि खिलाता है उसी प्रकार चतुर राजाको भी चाहिये कि वह अपनी सेनामें किसी योद्धाको अत्यन्त उत्तम जानकर उसे अच्छी आजीविका देकर सन्मानित करे ॥१५८—१५९॥ जो राजा अपना पराक्रम प्रकट करनेवाले वीर पुरुषको उसके योग्य सत्कारोंसे संतुष्ट रखता है उसके भृत्य उसपर सदा अनुरक्त रहते हैं और कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते हैं ॥१६०॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओंके समूहको कांटे और पत्थरों से रहित तथा शीत और गरमी आदिकी बाधासे शून्य वनमें चराता हुआ बड़े प्रयत्नसे उसका

१ विगतप्राणो । २ नृपे । ३ योद्धा । युद्धकारीत्यर्थः । ४ दरिद्रम् । ५ निजभृत्यम् । ६ शोभनचित्तत्वे । ७ विरक्तोऽस्यानुजीवी । ८ जीवित । ९ अवमाननात् । १० कर्कशं न कुर्यात् । स्नेहरहितमित्यर्थः । ११ विमनस्कत्वम् । १२ महान्तमनङ्वाहम् । १३ कृतपराक्रमम् । १४ भक्षणं चारयन् ।

पोषप्रत्यतिशवेन तथा भूषोऽप्यविश्वे । देशे स्वानुगतं लोकं स्थापयित्वाऽभिरक्षतुं ॥१६२॥
 राज्यादिपरिवर्तये जनोंऽयं पीडयतेऽन्यथा । चौरैर्दामरकैरन्यैरपि प्रत्यन्तनायकैः ॥१६३॥
 "प्रसह्य च तथाभूतान् वृत्तिच्छेदेन योजयेत् । कण्टकोद्धरणेनैव प्रजानां क्षेमधारणम् ॥१६४॥
 यथैव गोपः संजातं वत्सं मात्रासहामुकम् (नुगम्) । दिनमेकमवस्थाप्य ततोऽन्येषुर्दयाद्वंधीः ॥१६५॥
 विधाय चरणे तस्य शनैर्बन्धनतन्निधिम् । नाभिनालं पुनर्गर्भनालं नापास्थं यत्नतः ॥१६६॥
 जन्तुसम्भवशङ्कायां प्रतीकारं विधाय च । क्षीरोपयोगदानाद्यैर्बद्धयेत् प्रतिवासरम् ॥१६७॥
 भूषोऽप्येवमुपासत्तं वृत्त्यै स्वमुपासितुम् । यथाऽनुरूपैः सम्मानैः स्वीकृत्य विनुजीविनम् ॥१६८॥
 स्वीकृतस्य च तस्योद्धजीवनादिप्रचिन्तया । योगक्षेमं प्रयुञ्जीत कृतकलेशस्य साधरम् ॥१६९॥
 यथैव खलु गोपालः पशून् क्रेतुं समुद्यतः । क्षीरावलोकनाद्यैस्तान् परीक्ष्य गुणवत्तमान् ॥१७०॥
 श्रोणाति शकुनादीनाम् अवधारणतत्परः । कुलपुत्राभूषोऽप्येवं क्रीणीयात् सुपरीक्षितान् ॥१७१॥
 क्रीतांश्च वृत्तिमूल्येन तान् यथावसरं प्रभुः । कृत्स्नं विनियुञ्जीत भृत्यैः साध्यं फलं हि तत् ॥१७२॥
 "यद्वच्च प्रतिभुः कश्चिद् यो कथं प्रतिगृह्यते । बलवान् प्रतिभूस्तद्ग्राह्यो मृत्योपसङ्गग्रहे ॥१७३॥
 "याममात्रावशिष्टायां रात्रावुत्थाय यत्नतः । चारयित्वाचिते देशे गाः प्रभूततृणोदके ॥१७४॥

पोषण करता है उसी प्रकार राजाको भी अपने सेवक लोगोंको किसी उपद्रवहीन स्थानमें रखकर उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥१६१-१६२॥ यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्य आदिका परिवर्तन होनेपर चोर, डाकू तथा समीपवर्ती अन्य राजा लोग उसके इन सेवकोंको पीड़ा देने लगेंगे ॥१६३॥ राजाको चाहिये कि वह ऐसे चोर डाकू आदिकी आजीविका जबरन नष्ट कर दे क्योंकि कांटोंको दूर कर देनेसे ही प्रजाका कल्याण हो सकता है ॥१६४॥ जिस प्रकार ग्वाला हालके उत्पन्न हुए बच्चेको एक दिन तक माताके साथ रखता है, दूसरे दिन दयाबुद्धिसे मुक्त हो उसके पैरमें धीरेसे रस्सी बांधकर खूंटिसे बांधता है, उसकी जरायू तथा नाभिके नालको बड़े यत्नसे दूर करता है, कीड़े उत्पन्न होनेकी शंका होनेपर उसका प्रतीकार करता है, और दूध पिलाना आदि उपायोंसे उसे प्रतिदिन बढ़ाता है ॥१६५-१६७॥ उसी प्रकार राजाको भी चाहिये कि वह आजीविकाके अर्थ अपनी सेवा करनेके लिये आये हुए सेवकको उसके योग्य आदर सम्मानसे स्वीकृत करे और जिन्हें स्वीकृत कर लिया है तथा जो अपने लिये बलेश सहन करते हैं ऐसे उन सेवकोंकी प्रशस्त आजीविका आदिका विचार कर उनके साथ योग और क्षेमका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् जो वस्तु उनके पास नहीं है वह उन्हें देनी चाहिये और जो वस्तु उनके पास है उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥१६८-१६९॥ जिस प्रकार शकुन आदि के निश्चय करनेमें तत्पर रहनेवाला ग्वाला जब पशुओंको खरीदनेके लिये तैयार होता है तब वह दूध देखना आदि उपायोंसे परीक्षा कर उनमेंसे अत्यन्त गुणी पशुओंको खरीदता है उसी प्रकार राजाको भी परीक्षा किये हुए उच्चकुलीन पुत्रोंको खरीदना चाहिये ॥१७०-१७१॥ और आजीविकाके मूल्यसे खरीदे हुए उन सेवकोंको समयानुसार योग्य कार्यमें लगा देना चाहिये क्योंकि वह कार्यरूपी फल सेवकोंके द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है ॥१७२॥ जिस प्रकार पशुओंके खरीदनेमें किसीको जामिनदार बनाया जाता है उसी प्रकार सेवकोंका संग्रह करनेमें भी किसी बलवान् पुरुषको जामिनदार बनाना चाहिये ॥१७३॥ जिस प्रकार ग्वाला रात्रिके

१ मूलबलम् । २-रक्षयेत् ल०, म० । ३ परिवर्तयेत्य ल०, म० । राज्यादि मुक्त्वा राज्यान्तर-
 प्राप्तिषु । ४ अरक्षणप्रकारेण । ५ घाटीकारैः युद्धकारिभिर्वा । ६ म्लेच्छनायकैः । ७ हठात्कारेण ।
 ८ वत्सस्य । ९ जरायुना । १० जीवनाय । ११ सेवां कर्तुम् । १२ क्रयणाय । १३ अतिशयेन गुणवत्तः ।
 १४ कार्येषु । १५ यथैव ल०, म० । १६ धरकः । १७ प्रहर । १८ भक्षयित्वा ।

प्रातस्तारामथानीय वस्तुपीतावशिष्टकम् । पयो दोषि यथा गोपो नवनीताविलिप्सया ॥१७५॥
 तथा भूषीज्यतन्नालर्भक्तग्रामेषु^१ कारयेत् । कृषिं^२ कर्मन्तिकर्त्रीजप्रदानार्हं हयक्रमेः ॥१७६॥
 देशेऽपि कारयेत् कृत्स्ने कृषिं सम्यक्कृषीबलैः । धान्यानां सङ्ग्रहार्थं च न्याय्यमंशं ततो^३ हरेत् ॥१७७॥
 संत्येवं पुष्टतन्त्रः स्याद् भाण्डागारदिसम्पदा । पुष्टो देशश्च तस्यैवं स्याद् धान्यैराशितम्भवेः^४ ॥१७८॥
 स्वदेशे वाक्षरम्लेच्छान्^५ प्रजाबाधाविधायिनः । कुलशुद्धिप्रदानार्हः स्वसात्कुर्यादुपक्रमेः ॥१७९॥
 विक्रियां न भजन्त्येते प्रभुणा कृतसत्क्रियाः । प्रभोरलब्धसम्माना विक्रियन्ते हि तेऽन्वहम् ॥१८०॥
 ये केचिच्चाक्षरम्लेच्छाः स्वदेशे प्रचरिष्यन्तः । तेऽपि कथं कसाभान्यं^६ कर्तव्याः करवा नृपैः ॥१८१॥
 तान्प्राहुरक्षरम्लेच्छा योज्जो वेदोपजीविनः । प्रधर्माक्षरसम्पादेलोकव्यामोहकारिणः ॥१८२॥
 यतोऽक्षरकृतं गर्वम्^७ अविद्याबलतस्तके^८ । वहन्त्यतोऽक्षरम्लेच्छाः पापसूत्रोपजीविनः ॥१८३॥
 म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिमासाशनेऽपि च । बलात्परस्वहरणं निर्द्वैतत्वमिति स्मृतम् ॥१८४॥
 सोऽस्त्यमीषां च^९ यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः । तादृशं^{१०} बहुभन्यन्ते जातिवादावल्लेपतः^{११} ॥१८५॥
 प्रजासामान्यतैर्वैषां मता वा स्यान्निष्कृष्टता । ततो^{१२} न मान्यतास्त्येषां द्विजा मान्याः स्युरार्हताः ॥१८६॥

प्रहरमात्र शेष रहनेपर उठकर जहां बहुतसा घास और पानी होता है ऐसे किसी योग्य स्थानमें गायोंको बड़े प्रयत्नसे चराता है तथा बड़े सबेरे ही वापिस लाकर बछड़ेके पीनेसे बाकी बचे हुए दूधको मक्खन आदि प्राप्त करनेकी इच्छासे दुह लेता है उसी प्रकार राजाको भी आलस्य-रहित होकर अपने आधीन ग्रामोंमें बीज देना आदि साधनों द्वारा किसानोंसे खेती कराना चाहिये ॥१७४-१७६॥ राजाको चाहिये कि वह अपने समस्त देशमें किसानों द्वारा भली भांति खेती करावे और धान्यका संग्रह करनेके लिये उनसे न्यायपूर्ण उचित अंश लेवे ॥१७७॥ ऐसा होनेसे उसके भांडार आदिमें बहुत सी सम्पत्ति इकट्ठी हो जावेगी और उससे उसका बल बढ़ जावेगा तथा संतुष्ट करनेवाले उन धान्योंसे उसका देश भी पुष्ट अथवा समृद्धिशाली हो जावेगा ॥१७८॥ अपने आश्रित स्थानोंमें प्रजाको दुःख देनेवाले जो अक्षरम्लेच्छ अर्थात् वेद से आजीविका करनेवाले हों उन्हें कुलशुद्धि प्रदान करना आदि उपायोंसे अपने आधीन करना चाहिये ॥१७९॥ अपने राजासे सत्कार पाकर वे अक्षरम्लेच्छ फिर उपद्रव नहीं करेंगे । यदि राजाओंसे उन्हें सन्मान प्राप्त नहीं होगा तो वे प्रतिदिन कुछ न कुछ उपद्रव करते ही रहेंगे ॥१८०॥ और जो कितने ही अक्षरम्लेच्छ अपने ही देशमें संचार करते हों उनसे भी राजाओं को सामान्य किसानोंकी तरह कर अवश्य लेना चाहिये ॥१८१॥ जो वेद पढ़कर अपनी आजीविका करते हैं और अधर्म करनेवाले अक्षरोंके पाठसे लोगोंको ठगा करते हैं उन्हें अक्षरम्लेच्छ कहते हैं ॥१८२॥ चूंकि वे अज्ञानके बलसे अक्षरों द्वारा उत्पन्न हुए अहंकारको धारण करते हैं इसलिये पापसूत्रोंसे आजीविका करनेवाले वे अक्षरम्लेच्छ कहलाते हैं ॥१८३॥ हिंसा और मांस खानेमें प्रेम करना, बलपूर्वक दूसरेका धन हरण करना और धूर्तता करना (स्वेच्छा-चार करना) यही म्लेच्छोंका आचार माना गया है ॥१८४॥ चूंकि यह सब आचरण इनमें हैं और जातिके अभिमानसे ये नीच द्विज हिंसा आदिको प्ररूपित करनेवाले वेद शास्त्रके अर्थ-को बहुत कुछ मानते हैं इसलिये इन्हें सामान्य प्रजाके समान ही मानना चाहिये अथवा उससे भी कुछ निकृष्ट मानना चाहिये । इन सब कारणोंसे इनकी कुछ भी मान्यता नहीं रह जाती

१ आरम्भग्रामेष्वित्यर्थः । २ कृषीबलभृत्यैः । ३ कृषीबलेभ्यः । ४ स्वीकुर्यात् । ५ तृप्तिकरैः । ६ प्रदेशे अ०, सं०, ल०, म० । ७ कृषीबलसामान्यं यथा भवति तथा । ८ अज्ञानबलात् । ९ कुत्सितास्ते । १० मत् कारणात् । ११ हिंसनादिप्रकारम् । १२ गर्वतः । १३ प्रजासामान्यत्वमेव । १४ प्रजाभ्यः ।

ययं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकसम्मतः । धान्यभागमतो राज्ञे न वक्ष्य इति ज्ञेयतम् ॥१८७॥
 वैशिष्ट्यं किङ्कृतं शेषवर्णभ्यो भवतामिह । न जातिमात्राद् वैशिष्ट्यं अप्रतिभेदाप्रतीतिः ॥१८८॥
 गुणतोऽपि न वैशिष्ट्यम् अस्ति वो नामधारकाः । व्रतिनो ब्राह्मणा जेना ये न पृथ्वीगुणाधिकाः ॥१८९॥
 निर्दत्ता निर्नमस्कारा निर्घृणाः पशुघातिनः । म्लेच्छाचारपरा यूयं न स्थाने^१ वामिका द्विजाः ॥१९०॥
 तस्मादन्ते कुरु म्लेच्छा इव तेऽमी नहीभुजाम् । प्रजासामान्यधान्याशदानाद्यैरविशेषिताः ॥१९१॥
 किमत्र बहुनोक्तेन जनान्मुक्त्वा द्विजोत्तमान् । तान्ये साम्या नरेन्द्राणां प्रजासामान्यजीविकाः ॥१९२॥
 अन्यच्च गोधनं गोवो व्याघ्रचौराश्चपकमात्^२ । यथा रक्षत्यतन्द्रालुः भूपोऽप्येवं निजाः प्रजाः ॥१९३॥
 यथा च गोकुलं गोमिन्यायाते संदिग्धया । सोपचारमुपेत्येनं तोषयेद् धनसम्पदा^३ ॥१९४॥
 भूपोऽप्येवं बली कश्चित् स्वराष्ट्रं यद्यभिद्रवेत्^४ । तदा युद्धं समसर्त्तव्यं सन्ध्यात्^५ पणबन्धतः^६ ॥१९५॥
 जनक्षयाय सङ्ग्रामो बहुपायो दुरन्तरः । तस्मादुपप्रदानाद्यैः^७ सन्धेयोऽनिर्बलाधिकः ॥१९६॥
 इति गोपालदृष्टान्तम् ऊरीकृत्य नरेश्वरः । प्रजानां पालने यत्नं^८ विदध्याश्रयवर्त्मना ॥१९७॥

हैं, जो द्विज अरहन्त भगवान् के भक्त हैं वही मान्य गिने जाते हैं ॥१८५-१८६॥ “हम ही लोगोंको संसार-सागरसे तारनेवाले हैं, हम ही देव-ब्राह्मण हैं और हम ही लोकसम्मत हैं अर्थात् सभी लोग हम ही को मानते हैं इसलिये हम राजाको धान्यका उचित अंश नहीं देते” इस प्रकार यदि वे द्विज कहें तो उनसे पूछना चाहिये कि आप लोगोंमें अन्य वर्णवालोंसे विशेषता क्यों है ? कदाचित् यह कहो कि हम जातिकी अपेक्षा विशिष्ट हैं तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जातिकी अपेक्षा विशिष्टता अनुभवमें नहीं आती है, कदाचित् यह कहो कि गुणकी अपेक्षा विशिष्टता है सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आप लोग केवल नामके धारण करनेवाले हो, जो व्रतोंको धारण करनेवाले जैन ब्राह्मण हैं वे ही गुणोंसे अधिक हैं । आप लोग व्रतरहित, नमस्कार करनेके अयोग्य, दयाहीन, पशुओंका घात करनेवाले और म्लेच्छोंके आचरण करनेमें तत्पर हो इसलिये आप लोग धर्मार्त्मा द्विज नहीं हो सकते । इन सब कारणों से राजाओंको चाहिये कि वे इन द्विजोंको म्लेच्छोंके समान समझें और उनसे सामान्य प्रजाकी तरह ही धान्यका योग्य अंश ग्रहण करें । अथवा इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? जैनधर्मको धारण करनेवाले उत्तम द्विजोंको छोड़कर प्रजाके समान आजीविका करनेवाले अन्य द्विज राजाओंके पूज्य नहीं हैं ॥१८७-१९२॥

जिस प्रकार ग्वाला आलस्यरहित होकर अपने गोधनकी व्याघ्र चोर आदि उपद्रवोंसे रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥१९३॥ जिस प्रकार ग्वाला उन पशुओंके देखनेकी इच्छासे राजाके आनेपर भेंट लेकर उसके समीप जाता है और धन सम्पदाके द्वारा उसे संतुष्ट करता है उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्यके सन्मुख आवे तो वृद्ध लोगोंके साथ विचारकर उसे कुछ देकर उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिये । चूंकि युद्ध बहुतसे लोगोंके विनाशका कारण है, उसमें बहुत सी हानियाँ होती हैं और उसका भविष्य भी बुरा होता है अतः कुछ देकर बलवान् शत्रुके साथ सन्धि कर लेना ही ठीक है ॥१९४-१९६॥ इस प्रकार राजाको ग्वालाका दृष्टान्त स्वीकार कर नीति-

१ न भवथ । २ -युपद्रवात् ल०, म०, प० । ३ गोमती । गोमान् गोमतीभिधानात् । गोमत्या- म०, ल०, प० । ४ क्षीरघृतादिविक्रयज्जातधनसमृद्ध्या । ५ अभिगच्छेत् । ६ सन्धानं कुर्यात् । ७ मिष्कप्रदानादित्यर्थः । ८ उचितवस्तुवाहनप्रदानाद्यैः । ९ सन्धि कर्तुं योग्यः । १० कुर्यात् ।

प्रजानुपालनं प्रोक्तं पाथिवस्य जितात्मनः । समञ्जसस्त्वमधुना वक्ष्यामस्तद्गुणान्तरम् ॥१६८॥
 राजा चित्तं समाधाय यत्कुर्याद् दुष्टनिग्रहम् । शिष्टानुपालनं चैव तत्सामञ्जस्यमुच्यते ॥१६९॥
 द्विषन्तमथवा पुत्रं निगृह्णन्निग्रहोचितम् । अपक्षपतितो^१ दुष्टम् इष्टं चेच्छन्ननागसम्^२ ॥२००॥
 मध्यस्थवृत्तिरेवं यः समदर्शी समञ्जसः । समञ्जसत्वं तद्भावः^३ प्रजास्वविषमेक्षिता ॥२०१॥
 गुणेनैतेन शिष्टानां पालनं न्यायजीविनाम् । दुष्टानां निग्रहं चैव नृपः कुर्यात् कृतागताम् ॥२०२॥
 दुष्टा हिंसादिदोषेषु निरताः पापकारिणः । शिष्टास्तु क्षान्तिशौचादिगुणैर्धर्मपरा नराः ॥२०३॥

इत्थं मनुः सकलचक्रभूदादिराजः

तान् क्षत्रियान् नियमयन् पथि सुप्रणीते^४ ।

उच्छ्वावर्चैर्गुरुभर्तैरुचितैर्धर्मोभिः

शास्ति स्म वृत्तमखिलं पृथिवीश्वराणाम् ॥२०४॥

इत्थुच्चैर्भरतेशितानुकथितं सर्वोयमुर्वीश्वराः^५

क्षेत्रं धर्ममनुप्रपद्य मुदिताः स्वां वृत्तिमन्वयसुः^६ ।

योगक्षेमपथेषु तेषु^७ सहिताः^८ सर्वे च वर्णाश्रमाः

स्वे स्वे वर्त्मनि सुस्थिता धृतिमधुर्वर्भर्तृसवैः प्रत्यहम् ॥२०५॥

मार्गसे प्रजाका पालन करनेमें प्रयत्न करना चाहिये ॥१९७॥ इस प्रकार इन्द्रियोंको जीतनेवाले राजाका प्रजापालन नामका गुण कहा । अब समंजसत्व नामका अन्य गुण कहते हैं ॥१९८॥

राजा अपने चित्तका समाधान कर जो दुष्ट पुरुषोंका निग्रह और शिष्ट पुरुषोंका पालन करता है वही उसका समंजसत्व गुण कहलाता है ॥१९९॥ जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र दोनोंका निग्रह करता है, जिसे किसीका पक्षपात नहीं है, जो दुष्ट और मित्र, सभी को निरपराध बनानेकी इच्छा करता है और इस प्रकार मध्यस्थ रहकर जो सबपर समान दृष्टि रखता है वह समंजस कहलाता है तथा प्रजाओंको विषम दृष्टिसे नहीं देखता अर्थात् सबपर समान दृष्टि रखना ही राजाका समंजसत्व गुण है ॥२००-२०१॥ इस समंजसत्व गुणसे ही राजाको न्यायपूर्वक आजीविका करनेवाले शिष्ट पुरुषोंका पालन और अपराध करनेवाले दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करना चाहिये ॥२०२॥ जो पुरुष हिंसा आदि दोषोंमें तत्पर रहकर पाप करते हैं वे दुष्ट कहलाते हैं और जो क्षमा, संतोष आदि गुणोंके द्वारा धर्म धारण करनेमें तत्पर रहते हैं वे शिष्ट कहलाते हैं ॥२०३॥ इस प्रकार सोलहवें मनु तथा समस्त चक्रवर्तियोंमें प्रथम राजा महाराज भरतने उन क्षत्रियोंको भगवत्प्रणीत मार्गमें नियुक्त करते हुए, अपने पिता श्री वृषभदेवको इष्ट ऊंचे नीचे योग्य वचनोंसे राजाओंके समस्त आचारका उपदेश दिया ॥२०४॥

इस प्रकार भरतेश्वरने जिसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया है ऐसे सबका हित करनेवाले, क्षत्रियोंके उत्कृष्ट धर्मको स्वीकार कर सब राजा लोग प्रसन्न हो अपने अपने आचरणोंका पालन करने लगे और उन राजाओंके योग (नवीन वस्तुकी प्राप्ति) तथा क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा) में प्रवृत्त रहनेपर अपना हित चाहनेवाले सब वर्णाश्रमोंके लोग अपने अपने

१ पक्षपातरहितः । २ अपराधरहितम् । ३ समञ्जसत्वसद्भावः अ०, प०, स०, ल०, म० ।
 ४ सुष्टु प्रोक्ते । ५ सर्वेभ्यो हितम् । ६ अनुजग्मुः । ७ गतौ लुङि । ह्यादित्वात् शपः श्लुपि द्विभवि,
 भैर्जुसिति उत्तरऋकारस्य अकारादेशे, पूर्वऋकारस्य इत्वे, पुनर्यादेशेऽपि च कृते, 'एयसुः' इति सिद्धिः ।
 ७ ऊर्वीश्वरेषु । ८ हितेन सहिताः ।

जातिक्षत्रियवृत्तमजिततरं रत्नत्रयाविष्कृतं

तीर्थक्षत्रियवृत्तमप्यनुजगौ यच्चक्रिणामप्रणीः ।

तत्सर्वं मगधाधिपाय भगवान् वाचस्पतिर्गौतमो

व्याचक्ष्यवाचितार्थतत्त्वविषयां जैनीं श्रुतिं ख्यापयन् ॥२०६॥

वन्दारोर्भरताधिपस्य जगतां भर्तुः क्रमौ वेधसः

तस्यानुस्मरतो गुणान् प्रणमतस्तं देवमाद्यं जिनम् ।

तस्यैवोपचिन्ति^१ सुरासुरगुरोर्भक्त्या मुहुस्तन्वतः

कालोज्ज्वलपतरः सुखाद् व्यतिगतो^२ नित्योत्सवं सम्भूतः^३ ॥२०७॥

जैनीमिज्यां वितन्वन्नियतमनुविनं प्रीणयन्नभिसार्थं

शश्वद्विष्वम्भरेक्षरवनिधृतलसन्मौलिभिः सेव्यमानः ।

ध्मां कृत्स्नामापयोधरेपि^४ च हिमवतः पालयन्निससपत्नां

रम्यैः स्वेच्छाविनोर्देनिरविश^५ दधिराड् भोगसारं वशाङ्गम्^६ ॥२०८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहा-

पुराणसङ्ग्रहे भरतराजवर्णाश्रमस्थितिप्रति-

पादनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४२॥ *

मार्गमें स्थिर रहकर प्रतिदिन धर्मोत्सव करते हुए संतोष धारण करने लगे ॥२०५॥ चक्र-
वर्तियोंमें अग्रेसर महाराज भरतने जो अत्यन्त उत्कृष्ट जातिक्षत्रियोंका चरित्र तथा रत्नत्रय
से प्रकट हुआ तीर्थक्षत्रियोंका चरित्र कहा था वह सब, समस्त पदार्थोंके स्वरूपको विषय करने-
वाले जैन शास्त्रोंको प्रकट करते हुए वाचस्पति (श्रुतकेवली) भगवान् गौतम गणधरने मगध
देशके अधिपति श्रेणिकके लिये निरूपण किया ॥२०६॥ तीनों लोकोंके स्वामी भगवान्
वृषभदेवके चरणोंकी वन्दना करनेवाले, उन्हीं परब्रह्मके गुणोंका स्मरण करनेवाले, उन्हीं
प्रथम जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करनेवाले और सुर तथा असुरोंके गुरु उन्हीं भगवान् वृषभदेवकी
भक्तिपूर्वक बार बार पूजा करनेवाले भरतेश्वरका निरन्तर होनेवाले उत्सवोंसे भरा हुआ
भारी समय सुखसे व्यतीत हो गया ॥२०७॥ जो नियमित रूपसे प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान्
की पूजा करता है, जो प्रतिदिन याचकोंके समूहको संतुष्ट करता है, पृथिवीपर भुके हुए मुकुटों
से सुशोभित होनेवाले राजा लोग जिसकी निरन्तर सेवा करते हैं और जो हिमवान् पर्वतसे
लेकर समुद्रपर्यन्तकी शत्रुरहित समस्त पृथिवीका पालन करता है ऐसा वह सम्राट् भरत अपनी
इच्छानुसार क्रीड़ाओंके द्वारा दश प्रकारके उत्तम भोगोंका उपभोग करता था ॥२०८॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके

हिन्दी भाषानुवादमें भरतराजकी वर्णाश्रमकी रीतिका प्रतिपादन

करनेवाला बयालीसवां पर्व समाप्त हुआ ॥४२॥

१ उवाच । २ प्रकटीकुर्वन् । ३ पूजाम् । ४ व्यतिक्रान्तः । ५ सम्पोषितः । ६ समुद्रादारभ्य हिमव-
त्पर्यन्तम् । ७ अन्वभूत् । ८ दिव्यपुररत्ननिधिसेनाभाजनशयनाशनवाहननाट्यादीनीं दशाङ्गानि यस्य स तम् ।

* ल० म० ६० १० पुस्तकेषु निम्नांकितः पाठोऽधिको वृश्यते । त० ब० अ० स० पुस्तकेष्वेव पाठो
न दृश्यते ।

वृषभाय नमोऽशेषस्थितिप्रभवहेतवे । त्रिकालगोचरानन्तप्रमेयाक्रान्तमूर्तये ॥१॥
 नमः सकलकल्याणपथनिर्माणहेतवे । आदिदेवाय संसारसागरोत्तारसेतवे ॥२॥
 जयन्ति जितमृत्युवो विपुलवीर्यभाजो-जिना जगत्प्रमदहेतवो विपदमन्दकन्दच्छिदः ॥
 सुरासुरशिरस्फुरितरागरत्नावलीविलम्बिकिरणोत्कराखणितचाहपादद्वयाः ॥३॥
 कृतिर्महाकवेर्भगवतः श्रीजिनसेनाचार्यस्येति ।
 धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेशिनश्चरितमत्र महापुराणे ।
 यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्दनिर्यद्वचांसि न हरन्ति मनांसि केषाम् ॥४॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते महापुराणे आद्यं

खण्डं समाप्तिमगमत् ॥३॥

जो समस्त मर्यादाकी उत्पत्तिके कारण हैं और जिनकी केवलज्ञानरूपी मूर्ति त्रिकाल विषयक अनन्त पदार्थोंसे व्याप्त है उन वृषभदेवके लिये नमस्कार हो ॥१॥ जो सब कल्याणों के मार्गकी रचनामें कारण हैं और जो संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिये पुलके समान हैं ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवको नमस्कार हो ॥२॥ जिन्होंने मृत्युको जीत लिया है, जो अनन्त बलको धारण करनेवाले हैं। जो जगत्के आनन्दके कारण हैं, जो विपत्तियोंकी बहुत भारी जड़को काटनेवाले हैं, और सुर तथा असुरोंके मस्तकपर चमकते हुए पद्मराग-मणियोंकी पंक्तिसे निकलती हुई किरणोंके समूहसे जिनके दोनों सुन्दर चरणकमल कुछ कुछ लाल हो रहे हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त हों ॥३॥

(इस प्रकार महाकवि भगवान् जिनसेनाचार्यकी कृति समाप्त हुई)

इस महापुराणमें धर्मका निरूपण है, मोक्ष पद अथवा मोक्षमार्गका कथन है, उत्तम कविता है और तीर्थंकर भगवान्का चरित है अथवा इस प्रकार समझना चाहिये कि कवियों में श्रेष्ठ श्री जिनसेनके मुखकमलसे निकले हुए वचन किसके मनको हरण नहीं करते हैं ? ॥४॥

(इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणका प्रथम खण्ड समाप्त हुआ)

महापुराणम्

[उत्तरखण्डम्]

त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व

श्रियं तनोतु स श्रीमान् वृषभो वृषभध्वजः । यस्यैकस्य गतेर्मुक्तेमार्गेऽचित्रं महानभूत् ॥१॥
विक्रमं कर्मचक्रस्य यशशक्राभ्यांचितकमः । आक्रम्य धर्मचक्रेण चक्रे त्रैलोक्यचक्रिताम् ॥२॥
योऽस्मिंश्चतुर्थकालादौ दिनादौ वा दिवाकरः । जगदुद्योतयामास प्रोद्गच्छद्वाग्भास्तिभिः ॥३॥
नष्टमण्डावशाम्भोधिकोटिकोटौवु कालयोः । निर्वाणमार्गे निदिश्य येन सिद्धाश्च वद्धिताः ॥४॥
तीर्थंकृत्सु स्वतैः प्राप्यो नामदानपराभवः । यमस्मिन्सस्पृशन्नासौ स्वसूनुमिव चक्रिषु ॥५॥
येन प्रकाशिते मुक्तेमार्गेऽस्मिन्नपरेषु तत् । प्रकाशितं प्रकाशोक्तव्यर्थं तीर्थंकृत्स्वभूत् ॥६॥

अथानन्तर, जिनकी ध्वजामें वृषभका चिह्न है और सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि जिन एकके जानेसे ही बहुत बड़ा मोक्षका मार्ग बन गया ऐसे अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्री वृषभदेव सबका कल्याण करें ॥१॥ जिनके चरणकमलकी इन्द्र स्वयं पूजा करता है और जिन्होंने धर्मचक्रके द्वारा कर्मसमूहके पराक्रमपर आक्रमणकर तीनों लोकोंका चक्रवर्तीपना प्राप्त किया है ॥२॥ दिनके प्रारम्भमें सूर्यकी तरह इस चतुर्थकालके प्रारम्भमें उदय होकर जिन्होंने फैलती हुई अपनी वाणीरूपी किरणोंसे समस्त जगत्को प्रकाशित किया है अर्थात् दिव्य ध्वनिके द्वारा समस्त तत्त्वोंका उपदेश दिया है ॥३॥ उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल के अठारह कोड़ी सागरतक जो मोक्षका मार्ग नष्ट हो रहा था उसका निर्देशकर जिन्होंने सिद्धों की संख्या बढ़ाई है ॥४॥ जिस प्रकार चक्रवर्तियोंमें अपने पुत्र भरत चक्रवर्तीको उसके पहले किसी अन्य चक्रवर्तीका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव नहीं छू सका था उसी प्रकार तीर्थङ्करों में अपने पहले किसी अन्य तीर्थङ्करका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव जिन्हें छू भी नहीं सका था । भावार्थ—जिस प्रकार भरत इस युगके समस्त चक्रवर्तियोंमें पहले चक्रवर्ती थे उसी प्रकार जो इस युगके समस्त तीर्थङ्करोंमें पहले तीर्थंकर थे ॥५॥ जिनके द्वारा इस मोक्षमार्गके प्रकाशित किये जानेपर अन्य तीर्थंकरोंमें प्रकाशित हुए मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके कारण उपदेशकी व्यर्थता हुई थी । भावार्थ—इस समय जो मोक्षका मार्ग चल रहा है उसका उपदेश सबसे पहले भगवान् वृषभदेवने ही दिया था उनके पीछे होनेवाले अन्य तीर्थंकरोंने भी उसी मार्गका उपदेश दिया है इसलिये उनका उपदेश पुनरुक्त होनेके कारण व्यर्थ सा जान पड़ता

१ गमनात् । २ मुक्तिमार्ग—प०, ल०, म० । ३ कर्मराजसैन्यस्य । ४ जित्वा । ५ चतुर्थ-कालस्यादौ । ६ इव । ७ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः । ८ उपदेशं कृत्वा । ९ अजितादिषु । १० आत्मनः पुरुजिनात् । ११ पूर्वस्मिन् काले । १२ नामदानपराभवः इति पाठस्य ल० पुस्तके संकेतः । नामदानपराभवः इति पाठस्य 'द०' पुस्तके संकेतः । अदानपराभवः—आहारादिदानाभाव इति पराभवः । नामदानपराभवः इति पाठे कीर्तिदानयोरभाव इति पराभवः । १३ चतुर्थकालस्यादौ । १४ वृषभेण । १५ चतुर्थकालादौ । १६ मोक्षमार्गप्रकाशनम् । १७ प्रकाशितस्य प्रकाशने प्रोक्तव्यर्थत्वम् ।

* भगवान् वृषभदेव तृतीय कालके अन्तमें उत्पन्न हुए और तृतीय कालमें ही मोक्ष पधारें हैं इसलिए आचार्य गुणभद्रने चतुर्थ कालके आदिमें होना किस दृष्टिसे लिखा है यह विचारणीय है ।

युगभारं^१ बहुल्लेकश्चिरं धर्मरथं पुष्टम् । व्रतशीलगुणापूर्णं चित्रं वर्तयति स्म यः ॥७॥
 तमेकमक्षरं^२ ध्यात्वा व्यक्तमेकमिवाक्षरम्^३ । वक्ष्ये समीक्ष्य लक्ष्याणि^४ तत्पुराणस्य^५ चूलिकाम्^६ ॥८॥
 स्वोक्ते^७ प्रयुक्ताः सर्वे नो^८ रसा गुरुभिरेव ते । स्नेहादिह^९ तदुत्सृष्टान्^{१०} भक्त्या^{११} तानुपयुञ्ज्महे ॥९॥
 रागादीन् दूरतस्त्यक्त्वा शृङ्गारद्विरसोक्तिभिः । पुराणकारकाः शुद्धबोधाः शुद्धा मुमुक्षवः ॥१०॥
 निमित्तोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभिः^{१२} । तच्छेषे यतमानानां प्रासादस्यैव^{१३} नः श्रमः ॥११॥
 पुराणे प्रौढशब्दार्थे सत्प्रफलशालिनि । वच्चांसि पल्लवानीव कर्णे कुर्वन्तु मे बुधाः ॥१२॥
 अर्थे^{१४} 'गुरुभिरेवास्य' पूर्वं निष्पादितं परैः^{१५} । परैः^{१६} निष्पाद्यमानं^{१७} 'सच्छब्दबोधातिसुन्दरम्' ॥१३॥
 इक्षोरिवास्य पूर्वाढमेवाभावि^{१८} रसावहम् । यथा तथास्तु^{१९} निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥१४॥
 अनन्विष्य^{२०} मयि प्रौढि धर्मोऽयमिति गृह्यताम् । चाटुके^{२१} स्वादुमिच्छन्ति न भोक्तारस्तु भोजनम् ॥१५॥

हे ॥६॥ और आश्चर्य है कि जिन्होंने अकेले ही बहुत कालतक इस अवसर्पिणी युगके भारको (पक्षमें जुवारोके बोझको) धारण करते हुए व्रतशील आदि गुणोंसे भरे हुए बड़े भारी धर्म-रथको चलाया था ॥७॥ ऐसे उन अद्वितीय अविनाशी भगवान् वृषभदेवको एक प्रसिद्ध ओम् अक्षरके समान ध्यान कर तथा पूर्वशास्त्रोंका विचार कर इस महापुराणकी चूलिका कहता हूँ ॥८॥ हमारे गुरु जिनसेनाचार्यने हमारे स्नेहसे अपने द्वारा कहे हुए पुराणमें सब रस कहे हैं इसलिये उनकी भक्तिसे छोड़े गये रसोंका ही हम आगे इस ग्रन्थमें उपयोग करेंगे ॥९॥ राग आदिको दूरसे ही छोड़कर शृङ्गार आदि रसोंका निरूपण कर पुराणोंकी रचना करने-वाले शुद्ध ज्ञानी, पवित्र और मोक्षकी इच्छा करनेवाले होते हैं ॥१०॥ इस पुराणका समस्त सार तो महात्मा जिनसेनाचार्यने पूर्ण ही कर दिया है अब उसके बाकी बचे हुए अंशमें प्रयत्न करनेवाले हम लोगोंका परिश्रम ऐसा समझना चाहिये जैसा कि किसी मकानके किसी बचे हुए भागको पूर्ण करनेके लिये थोड़ा सा परिश्रम करना पड़ा हो ॥११॥ यह पुराणरूपी वृक्ष शब्द और अर्थसे प्रौढ है तथा उत्तम उत्तम पत्ते और फलोंसे सुशोभित हो रहा है इसमें मेरे वचन नवीन पत्तोंके समान हैं इसलिये विद्वान् लोग उन्हें अवश्य ही अपने कर्णोंपर धारण करें । भावार्थ—जिस प्रकार वृक्षके नये पत्तोंको लोग अपने कानोंपर धारण करते हैं उसी प्रकार विद्वान् लोग हमारे इन वचनोंको भी अपने कानोंमें धारण करें अर्थात् स्नेहसे श्रवण करें ॥१२॥ इस पुराणका पूर्व भाग गुरु अर्थात् जिनसेनाचार्य अथवा दीर्घ वर्णोंसे बना हुआ है और उत्तर भाग पर अर्थात् गुरुसे भिन्न शिष्य (गुणभद्र) अथवा लघु वर्णोंके द्वारा बनाया जाता है इसलिये क्या वह छन्दके समान सुन्दर नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा । भावार्थ—जिस प्रकार गुरु और लघु वर्णोंसे बना हुआ छन्द अत्यन्त सुन्दर होता है उसी प्रकार गुरु और शिष्यके द्वारा बना हुआ यह पुराण भी अत्यन्त सुन्दर होगा ॥१३॥ 'जिस प्रकार ईश्वरका पूर्वार्ध भाग ही रसीला होता है उसी प्रकार इस पुराणका भी पूर्वार्ध भाग ही रसीला हो' यह विचार कर मैं इसके उत्तरभागकी रचना प्रारम्भ करता हूँ ॥१४॥ मुझमें प्रौढता (योग्यता) की खोज न कर इसे केवल धर्म समझकर ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि भोजन करनेवाले प्रिय वचन

१ चतुर्थकालधुरम् । दण्डभेदञ्च । २ अविनश्वरम् । ३ ओङ्कारमिव । ४ पूर्वोक्तशास्त्राणि । ५ पुरुषाथपुराणस्य । ६ अग्रम् । ७ आत्मना प्रणीते पुराणे । ८ अस्माकम् । ९ मयि प्रेमणः । १० उत्तरपुराणे । ११ तज्जिनसेनाचार्येणावशेषितान् (प्रणीतानेव) । १२ रसान् । १३ महात्मकः व० । १४ निमित्तप्रासादावशेषे यतमानानामिव । १५ जिनसेनाचार्यैः । छन्दःपक्षे गुर्वक्षरैः । १६ पुराणस्य । १७ अस्मदादिभिः । पक्षे लघ्वक्षरैः अल्पाक्षरैः । १८ अपराद्धम् । १९ उक्तात्युक्तादिछन्दोभेदवत् । २० निश्चितम् । २१ निष्ठा । २२ अविमृश्य । २३ प्रियवचने ।

अथवाऽपि^१ भवेदस्य विरसं नेति निश्चयः । धर्माग्रं ननु केनापि नादशि विरसं क्वचित् ॥१६॥
 गुरुणामेव माहात्म्यं^२ यद्यपि स्वादु मद्भक्षः । तर्ह्यणां हि प्रभावेण^३ यत्फलं स्वादु जायते ॥१७॥
 निर्दिष्टं हृदयाद् वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः । ते^४ तत्र संस्करिष्यन्ते तत्र मेऽत्र परिश्रमः ॥१८॥
 इदं शुभ्रूषवो^५ भव्याः कथितोऽर्थो जिनेश्वरैः । तस्याभिधायकाः शब्दास्तत्र^६ निन्दन्त्र वतन्ते ॥१९॥
 दोषान् गुणान् गुणी गृह्णन् गुणान् दोषान्स्तु दोषवान् । सदसज्ज्ञानयोश्चित्रम् अत्र माहात्म्यमीदृशम् ॥२०॥
 गुणिनां गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः । असद्विषयमादानाद् दोषवान् दुर्जनोऽद्भुतम् ॥२१॥
 सज्जने दुर्जनः कोपं कामं कर्तुमिहर्हति । तद्वैरिणामनाथानां गुणानामाश्रयो^७ यतः^८ ॥२२॥
 यथा^९ स्वानुगमर्हन्ति सदा स्तोतुं कवीश्वराः । तथा निन्दितुमस्थानुवृत्तं कुक्कवयोऽपि माम् ॥२३॥
 कविरेव कवेर्वैति कामं काव्यपरिश्रमम् । बन्ध्या स्तनन्धयोत्पत्तिर्वेदनामिव नाकविः ॥२४॥
 गूहाणोहास्ति चेदोषं स्वं धनं न निषिध्यते । खलासि प्राथितो भूयस्त्वं गुणाग्र ममाग्रहीः ॥२५॥

कहनेपर ही स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा नहीं करते । भावार्थ—जिस प्रकार भोजन करनेवाले पुरुष प्रिय वचनोंकी अपेक्षा न कर स्वादिष्ट भोजनका ही विचार करते हैं उसी प्रकार धर्मात्मा लोग मेरी योग्यताकी अपेक्षा न कर केवल धर्मका ही विचार करें—धर्म समझकर ही इसे ग्रहण करें ॥१६॥ अथवा इस पुराणका अग्रभाग भी नीरस नहीं होगा यह निश्चय है क्योंकि धर्मका अग्रभाग कहीं किसी पुरुषने नीरस नहीं देखा है ॥१६॥ यदि मेरे वचन स्वादिष्ट हों तो इसमें गुरुओंका ही माहात्म्य समझना चाहिये क्योंकि जो फल मीठे होते हैं वह वृक्षोंका ही प्रभाव समझना चाहिये ॥१७॥ चूँकि वचन हृदयसे निकलते हैं और मेरे हृदयमें गुरु विद्यमान हैं इसलिये वे मेरे वचनोंमें अवश्य ही संस्कार करेंगे अर्थात् उन्हें सुधार लेंगे अतः मुझे इस ग्रन्थके बनानेमें कुछ भी परिश्रम नहीं होगा ॥१८॥ इस पुराणकी सुननेकी इच्छा करनेवाले भव्य जीव हैं, इसका अर्थ जिनेन्द्रदेवने कहा है और उसके कहनेवाले शब्द हैं इसलिये इसमें निन्दा (दोष) नहीं है ॥१९॥ गुणी लोग दोषोंको भी गुणरूपसे ग्रहण करते हैं और दोषी लोग गुणोंको भी दोषरूपसे ग्रहण करते हैं, इस संसारमें सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानका यह ऐसा ही विचित्र माहात्म्य है ॥२०॥ सज्जन पुरुष गुणी लोगोंके गुण ग्रहण कर गुणी हों यह ठीक है परन्तु दुष्ट पुरुष अविद्यमान दोषोंको ग्रहणकर दोषी हो जाते हैं यह आश्चर्यकी बात है ॥२१॥ इस संसारमें दुर्जन पुरुष सज्जनोंपर इच्छानुसार क्रोध करनेके योग्य हैं क्योंकि वे उन दुष्टोंके शत्रु स्वरूप, अनाथ गुणोंके आश्रयभूत हैं । भावार्थ—चूँकि सज्जनोंने दुर्जनोंके शत्रुभूत, अनाथ गुणोंको आश्रय दिया है इसलिये वे सज्जनोंपर यदि क्रोध करते हैं तो उचित ही है ॥२२॥ जिस प्रकार कवीश्वर लोग अपने अनुकूल चलनेवालेकी सदा स्तुति करनेके योग्य होते हैं उसी प्रकार कवि भी अपने अनुकूल नहीं चलनेवाले मेरी निन्दा करनेके योग्य हैं । भावार्थ—उत्तम कवियोंके मार्गपर चलनेके कारण जहाँ वे मेरी प्रशंसा करेंगे वहाँ कुक्कवियोंके मार्गपर न चलनेके कारण वे मेरी निन्दा भी करेंगे ॥२३॥ कवि ही कविके काव्य करनेके परिश्रमको अच्छी तरह जान सकता है, जिस प्रकार बन्ध्या स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेकी वेदनाको नहीं जानती उसी प्रकार अकवि कविके परिश्रमको नहीं जान सकता ॥२४॥ रे दुष्ट, यदि मेरे इस ग्रन्थमें दोष हों तो उन्हें तू ग्रहण कर, क्योंकि वह तेरा ही धन है उसके लिये तुझे रुकावट नहीं है, परन्तु

१ उत्तरार्द्धम् । २ यद्यपि प०, ल०, म० । ३ प्रभावोऽसौ अ०, प०, इ०, स०, ल०, म० ।

४ गुरवः । ५ श्रोतुमिच्छवः । ६ तत् कारणात् । ७ दुर्जनद्वेषिणाम् । ८ सज्जनः । आधारः । ९ यतः कारणात् । १० निजानुवर्तिनम् ।

गुणागुणानभिज्ञेन कृता निन्दाऽथवा स्तुतिः । जात्यन्धस्येव धृष्टस्य रूपे हासाय केवलम् ॥२६॥
 अथवा सोज्जभिज्ञेऽपि निन्दतु स्तौतु वा कृतिम् । विदग्धपरिहासानाम् अन्यथा क्वास्तु विश्रमः ॥२७॥
 गणयन्ति महान्तः किं क्षुद्रोपद्रवमल्पवत् । दाह्यं तृणाग्निना तूलं पत्युस्तापोऽपि नाम्भसाम् ॥२८॥
 काष्ठजोऽपि दहत्यग्निः काष्ठं तं तत्तु^१ वर्द्धयेत् । प्रदीपायितमेताभ्यां^२ सदसद्भावभासने ॥२९॥
 स्तुतिनिन्दे कृतिं श्रुत्वा कस्मेतु गुणदोषयोः । ते^३ तस्य कुरुतः कीर्तिम् अकतुरपि सत्कृतेः ॥३०॥
 सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः । कर्णं दुस्संस्कृतं प्राप्य तुवन्ति हृदयं भृशम् ॥३१॥
 प्रवृत्तये^४ कृतिः कृत्वा गुरुन् पूर्वकवीश्वरान् । भाविनोद्यतनाश्चास्या^५ विदग्ध्युः शुद्ध्यन्मग्रहम् ॥३२॥
 मतिमं केवलं सूते कृतिं राज्ञीव तत्सुताम् । धियस्तां वर्तयिष्यन्ति धात्रीकल्पाः कवीशिनाम् ॥३३॥
 इदं बुधा ग्रहीष्यन्ति सा गृहीषुः पृथग्जनाः । किमतौल्यानि रत्नानि^६ 'क्रीणन्त्यकृतपुण्यकाः ॥३४॥
 हृदि धर्ममहारत्नम् आगमाम्भोधिसम्भवम् । कौस्तुभादधिकं मत्वा दधातु पुरुषोत्तमः^७ ॥३५॥

मैं तुझसे यह फिर भी प्रार्थना करता हूँ कि तू मेरे गुणोंका ग्रहण मत कर । भावार्थ—दुर्जनोंके द्वारा दोष ग्रहण किये जानेपर रचना निर्दोष हो जावेगी और निर्दोष होनेसे सदाकी रुचिकर होगी परन्तु गुण ग्रहण किये जानेपर वह निर्गुण हो जानेसे किसीकी रुचिकर नहीं होगी अतः यहाँ आचार्यने दुर्जन पुरुषसे कहा है कि तू मेरी इस रचनाके दोष ग्रहण कर क्योंकि वह तेरा धन है परन्तु गुणोंपर हाथ नहीं लगाना ॥२५॥ जिस प्रकार जन्मके अन्धे किसी धृष्ट पुरुषके द्वारा की हुई किसीके रूपकी स्तुति या निन्दा उसकी हँसीके लिये होती है उसी प्रकार गुण और दोषोंके विषयमें अज्ञानकार पुरुषके द्वारा की हुई स्तुति या निन्दा केवल उसकी हँसीके लिये होती है ॥२६॥ अथवा वह अज्ञानकार मनुष्य भी मेरी रचनाकी निन्दा या स्तुति करे क्योंकि ऐसा न करनेसे चतुर पुरुषोंकी हास्यका स्थान कहाँ प्राप्त होगा । भावार्थ—जो मनुष्य उस विषयका जानकार न होकर भी किसीकी निन्दा या स्तुति करता है चतुर मनुष्य उसकी हँसी ही करते हैं ॥२७॥ महापुरुष क्या तुच्छ मनुष्योंके समान छोटे छोटे उपद्रवोंको गिना करते हैं ? अर्थात् नहीं । तृणकी आगसे रुई जल सकती है परन्तु उससे समुद्रके जलको संताप नहीं हो सकता ॥२८॥ काष्ठसे उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठको जला देती है परन्तु काष्ठ उसे बढ़ाता ही है, ये दोनों उदाहरण अच्छे और बुरे भावोंको प्रकट करनेके विषयमें दोषकके समान आचरण करते हैं ॥२९॥ दुष्ट पुरुष मेरी रचनाको सुनकर गुणोंकी स्तुति और दोषोंकी निन्दा करें क्योंकि यद्यपि वे उत्तम रचना करना नहीं जानते तथापि मेरी रचनाकी स्तुति अथवा निन्दा ही उनकी कीर्तिको करनेवाली होगी ॥३०॥ उत्तम कविके वचन ठीक अर्जुनके बाणोंके समान होते हैं क्योंकि जिस प्रकार अर्जुनके बाण काममें लानेपर खोटे संस्कारवाले कर्ण (कर्ण नामका राजा) को पाकर उसके हृदयको दुःख पहुँचाते थे उसी प्रकार उत्तम कविके वचन काममें लानेपर खोटे संस्कारवाले कर्ण (श्रवण इन्द्रिय) को पाकर हृदयको अत्यन्त दुःख पहुँचाते हैं ॥३१॥ पहलेके कवीश्वरोंको गुरु मानकर ही यह रचना की गई है इसलिये जो कवि आज विद्यमान हैं अथवा आगे होंगे वे सब इसे शुद्ध करनेकी कृपा करें ॥३२॥ जिस प्रकार रानी किसी उत्तम कन्याको केवल उत्पन्न करती है उसका पालन पोषण धाय करती है उसी प्रकार मेरी बुद्धि इस रचनाको केवल उत्पन्न कर रही है इसका पालन पोषण धायके समान कवीश्वरों की बुद्धि ही करेगी ॥३३॥ मेरे इस काव्यको पण्डितजन ही ग्रहण करेंगे अन्य मूर्ख लोग भले ही ग्रहण न करें क्योंकि जिन्होंने पुण्य नहीं किया है ऐसे दरिद्र पुरुष क्या अमूल्य रत्नोंको खरीद सकते हैं ? अर्थात् नहीं ॥३४॥ पुरुषोत्तम (नारायण अथवा उत्तम मनुष्य) आगमरूपी

श्रीत्रयाश्राज्जलिं कृत्वा पीत्वा धर्मरसायनम् । अजरामरतां प्राप्तुम् उपयुज्यमिदं बुधाः ॥३६॥

नूनं पुष्पं पुराणाब्धेमध्यमध्यासितं मया । तत्सुभाषितरत्नानि सञ्चितानीति निश्चितिः ॥३७॥

सुदूरपारगम्भीरमिति नात्र भयं मम । पुरोगा गुरवः सन्ति प्रष्टाः सर्वत्र दुर्लभाः ॥३८॥

पुराणस्यास्य संसिद्धिर्नाम्ना स्वेनैव सूचिता । निर्बक्ष्याम्यत्र नो वेत्ति ततो नास्म्यहमाकुलः ॥३९॥

पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुशा ध्रुवम् । भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥४०॥

अयो मनसि जिह्वाग्रं शब्दः 'सालङ्कृतिस्तयोः' । अतः पुराणसंसिद्धिर्नास्ति कालविलम्बनम् ॥४१॥

आकरेष्विव रत्नानाम् ऊहानां नाशये क्षयः । विचित्रालङ्कृतीः कर्तुं दीर्घतयं किं कवेः कृतीः ॥४२॥

विचित्रपदविन्यासा रसिका सर्वसुन्दरा । कृतिः सालङ्कृतिर्न स्यात् कस्यप्यं कामसिद्धये ॥४३॥

सञ्चितस्त्र्येनसो हन्त्री नयन्त्री चागमिष्यतः । आमन्त्रिणी^{१०} च पुण्यानां ध्यातव्येयं कृतिः शुभा ॥४४॥

समुद्रसे उत्पन्न हुए इस धर्मरूपी महारत्नको कौस्तुभ मणिसे भी अधिक मानकर अपने हृदयमें धारण करें । ॥३५॥ पण्डितजन कामरूपी पात्रकी अंजलि बना इस धर्मरूपी रसायनको पीकर अजर अमरपना प्राप्त करनेके लिये उद्यम करें ॥३६॥ मुझे यह निश्चय है कि मैंने अवश्य ही इस पुराणरूपी समुद्रके पवित्र मध्यभागमें अधिष्ठान किया है और उससे सुभाषित-रूपी रत्नोंका संचय किया है ॥३७॥ यह पुराणरूपी समुद्र अत्यन्त गंभीर है, इसका किनारा बहुत दूर है इस विषयका मुझे कुछ भी भय नहीं है क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबमें श्रेष्ठ गुरु जिनसेनाचार्य मेरे आगे हैं ॥३८॥ इस पुराणकी सिद्धि अपने महापुराण इस नामसे ही सूचित है इसलिये मैं इसे कह सकूँगा अथवा इसमें निर्वाह पा सकूँगा या नहीं इसकी मुझे कुछ भी आकुलता नहीं है ॥३९॥ जिनसेनाचार्यके अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्गका आलम्बन कर अवश्य ही संसाररूपी समुद्रसे पार होनेकी इच्छा करते हैं फिर इस पुराणके पार होनेकी बात तो कहना ही क्या है ? भावार्थ—जिनसेनाचार्यके द्वारा बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करनेसे जब संसाररूपी समुद्रका पार भी प्राप्त किया जा सकता है तब पुराणका पार (अन्त) प्राप्त करना क्या कठिन है ? ॥४०॥ अर्थ मनमें हैं, शब्द जिह्वाके अग्रभागपर हैं और उन दोनोंके अलंकार प्रसिद्ध हैं ही अतः इस पुराणकी सिद्धि (पूर्ति) होनेमें समयका विलम्ब नहीं है अर्थात् इसकी रचना शीघ्र ही पूर्ण होगी ॥४१॥ जिस प्रकार खानिमें रत्नोंकी कमी नहीं है उसी प्रकार जिसके मनमें तर्क अथवा पदार्थोंकी कमी नहीं है फिर भला जिसमें अनेक प्रकारके अलंकार हैं ऐसे काव्यके बनानेवाले कविको दरिद्रता किस बातकी है ? ॥४२॥ मेरी यह रचना अत्यन्त सुन्दरी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार सुन्दर स्त्री विचित्र पदव्यासा अर्थात् अनेक प्रकारसे चरण रखनेवाली होती है उसी प्रकार यह रचना भी विचित्र पदव्यासा अर्थात् अनेक प्रकारके सुबन्त तिङन्त रूपपद रखनेवाली है, जिस प्रकार सुन्दर स्त्री रसिका अर्थात् रसीली होती है उसी प्रकार यह रचना भी रसिका अर्थात् अनेक रसोंसे भरी हुई है, और जिस प्रकार सुन्दर स्त्री सालंकारा अर्थात् कटक कुण्डल आदि आभूषणोंसे सहित होती है उसी प्रकार यह रचना भी सालंकारा अर्थात् उपमा रूपक आदि अलंकारोंसे सहित है । इस प्रकार मेरी यह रचना सुन्दरी स्त्रीके समान भला किसके मनोरथकी सिद्धिके लिये न होगी ? भावार्थ—इसके पढ़नेसे सबके मनोरथ पूर्ण होंगे ॥४३॥ यह शुभ रचना पहलेके संचित पापोंको नष्ट

१ उपयुज्यमिदम् । २ प्रसिद्धा । ३ अलङ्काररच जिह्वाग्रं वर्तते । ४ शब्दार्थयोः । ५ -लङ्कृतेः कर्तुर्दीर्घतयं अ०, प०, ल०, म० । -लङ्कृतेः कर्तुं दीर्घतयं इ०, स० । ६ कृतेः अ०, प०, ल०, म०, इ०, स० । ७ -सुन्दरी ल०, म० । ८ विनाशिनी । ९ प्रतिषेद्धी । १० आमन्त्रिणी स० ।

संस्कृतानां^१ हिते^२ प्रीतिः प्राकृतानां^३ प्रियं^४ प्रियम्^५ । एतद्विर्तं^६ प्रियं चातः सर्वान् सन्तोषयत्यलम् ॥४५॥
इवं निष्पन्नमेवात्र स्थितमेवायुगान्तरम् । इत्याविर्भावितोत्साहः प्रस्तुवे^७ प्रस्तुतां कथाम् ॥४६॥
इति पीठिका ।

अथातः श्रेणिकः पीत्वा पुरोः^८ सुचरितामृतम् । आसिस्वादयिषुः^९ शेषं^{१०} हस्तलग्नमिवोत्सुकः ॥४७॥
समुत्थाय सभामध्ये प्राञ्जलिः प्रणतो मनाक्^{११} । पुनर्विज्ञापयामास गौतमं गणनायकम् ॥४८॥
त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं सम्यक्पुराणं परमं पुरोः । निवृत्तोऽसौ यथास्यान्ते तथाहं चातिनिवृत्तः^{१२} ॥४९॥
(किल तस्मिन् जयो नाम तीर्थभूत् पार्थिवाग्रणीः ।^{१३} यस्याद्यापि जितार्कस्य प्रतापः प्रथते क्षितौ ॥५०॥
यस्य दिग्विजय मेघकुमारविजये स्वयम् । वीरपटुं समुद्धृत्य बबन्ध भरतेश्वरः ॥५१॥
पुरस्तीर्थकृतां पूर्वशक्तिणां भरतेश्वरः । दानतीर्थकृतां श्रेयान् किलासौ^{१४} च स्वयंवरः ॥५२॥
अर्ककीर्ति पुरोः पौत्रं^{१५} सङ्गरे कृतसङ्गरः^{१६} । जित्वा निगलयामास^{१७} किलंकाकी सहेलया ॥५३॥
सेनान्तो वृषभः कुम्भो रथान्तो दृढसंज्ञकः । धनुरन्तः शतो देवशर्मा भावान्तदेवभाक् ॥५४॥
नन्दनः सोमदत्ताह्वः सूरदत्तो गुणैर्गुरुः । वायुशर्मा यशोबाहुर्देवाग्निश्चाग्निदेववाक् ॥५५॥
अग्निगुप्तोऽथ मित्राग्निर्हलभृत् समहीधरः । महेन्द्रो वसुदेवश्च ततः पश्चाद्वसुन्धरः ॥५६॥

करनेवाली है, आनेवाले पापोंको रोकनेवाली है और पुण्योंको बुलानेवाली है इसलिये इसका सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥४४॥ उत्तम मनुष्योंकी हितमें प्रीति होती है और साधारण मनुष्योंको जो इष्ट है वही प्रिय होता है, यह पुराण हितरूप भी है और प्रिय भी है अतः सभी-को अच्छी तरह सन्तुष्ट करता है ॥४५॥ यह तैयार हुआ पुराण अवश्य ही इस संसारमें युगान्तर तक स्थिर रहेगा इस प्रकार जिसे उत्साह प्रकट हुआ है ऐसा मैं अब प्रकृत कथाका प्रारम्भ करता हूँ ॥४६॥ (इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई ।)

अथानन्तर—राजा श्रेणिक भगवान् वृषभदेवके उत्तम चरितरूपी अमृतको पीकर हाथमें लगे हुए की तरह उसके शेष भागको भी आस्वादन करनेकी इच्छा करता हुआ अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठा ॥४७॥ उसने सभाके बीचमें खड़े होकर हाथ जोड़े, कुछ शिर झुकाकर नमस्कार किया और फिर गौतम गणधरसे इस प्रकार प्रार्थना की कि हे भगवन्, मैंने आपके प्रसादसे श्री वृषभदेवका यह उत्कृष्ट पुराण अच्छी तरह श्रवण किया है । जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव इस पुराणके अन्तमें निर्वर्णिको प्राप्त होकर सुखी हुए हैं उसी प्रकार मैं भी इसे सुनकर अत्यन्त सुखी हुआ हूँ । ऐसा सुना जाता है कि भगवान् वृषभदेवके तीर्थमें सब राजाओंमें श्रेष्ठ जयकुमार नामका वह राजा हुआ था, जिसने अर्ककीर्तिको भी जीता था और जिसका प्रताप आज भी पृथिवीपर प्रसिद्ध है ॥ दिग्विजयके समय मेघकुमारको जीत लेनेपर जिसके लिये स्वयं महाराज भरतने वीरपटु निकालकर बाँधा था, जिस प्रकार तीर्थंकरोंमें वृषभदेव, चक्रवर्तियों में सम्राट् भरत और दान तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवालोंमें राजा श्रेयांस सर्वप्रथम हुए हैं उसी प्रकार जो स्वयंवरकी विधि चलानेमें सर्वप्रथम हुआ है, जिसने युद्धमें प्रतिज्ञा कर श्री वृषभदेवके पीते अर्ककीर्तिको अकेले ही लीलामात्रमें जीतकर बाँध लिया था तथा वृषभसेन १, कुम्भ २, दृढरथ ३, शतधनु ४, देवशर्मा ५, देवभाव ६, नन्दन ७, सोमदत्त ८, गुणोंशे श्रेष्ठ सूरदत्त ९, वायुशर्मा १०, यशोबाहु ११, देवाग्नि १२, अग्निदेव १३, अग्निगुप्त १४, मित्राग्नि १५, हलभृत् १६,

१ उत्तमपुरुषाणाम् । २ परिणमनसुखावधे । ३ साधारणानाम् । ४ आपातरमणीयम् । अनुभवनकाले सुन्दरमित्यर्थः । ५ इष्टम् । ६ पुराणम् । ७ प्रारम्भे । ८ वृषभस्य । ९ आस्वादयितुमिच्छुः । १० हस्तालग्न-अ०, प०, ल०, म० । ११ ईषत् । १२ अतिसुखी । १३ जयस्य । १४ जयकुमारः । १५ नप्तारम् । १६ कृतप्रतिज्ञः । १७ बबन्ध ।

अचलो मेरुसंज्ञश्च ततो मेरुधनाह्वयः । मेरुभूतिर्यशोयज्ञप्रान्तसर्वाभिधानकौ ॥५७॥
 सर्वगुप्तः प्रियप्रान्तसर्वो देवान्तसर्ववाक् । सर्वादिबिजयो गुप्तो विजयादिस्ततः परः ॥५८॥
 बिजयमित्रो विजयिलोऽपराजितसंज्ञकः । वसुमित्रः सविश्रवादिसेनः सेनान्तसाधुवाक् ॥५९॥
 देवान्तसत्यः सत्यान्तदेवो गुप्तान्तसत्यवाक् । सत्यमित्रः सतां ज्येष्ठः सस्मितो निर्मलो गुणैः ॥६०॥
 विनीतः सम्बरो गुप्तो मुन्यादिर्मुनिदत्तवाक् । मुनियज्ञो मुनिदेवप्रान्तो यज्ञान्तगुप्तवाक् ॥६१॥
 मित्रयज्ञः स्वयम्भूश्च देवदत्तान्तगौ भगौ । भगादिफल्युः फलवन्तगुप्तो मित्रादिफल्युः ॥६२॥
 प्रजापतिः सर्वसन्धो वरुणो धनपालकः । मधवान् राश्यन्ततेजो महावीरो महारथः ॥६३॥
 विशालाक्षो महाबालः शुचिशालस्ततः परः । वज्रश्च वज्रसारश्च चन्द्रचूलसमाह्वयः ॥६४॥
 जयो महारसः कच्छमहाकच्छावतुच्छकौ । नमिबिनमिरन्यौ च बलातिबलसंज्ञकौ ॥६५॥
 बलान्तभद्रो नन्दी च महाभागी परस्ततः । मित्रान्तनन्दी देवान्तकामोऽनुपमलक्षणः ॥६६॥
 चतुर्भिरधिकाशीतिरिति लब्धगुणाधिपाः । एते सप्तद्विसंयुक्ताः सर्वे वेद्यनुवादिनः ॥६७॥
 स एवासीद् गृहत्यागाद् एतेष्वप्युदितोदितः । एकसप्ततिः संख्यानसम्प्राप्तगणनो गणी ॥६८॥
 पुराणं तस्य मे ब्रूहि महत्तत्रास्ति कौतुकम् । भव्यचातकवृन्दस्य प्रधनो भगवानिति ॥६९॥
 ततः स्वस्य समालक्ष्य गणावीशादनुग्रहम् । अलञ्चकार स्वस्थानम् इङ्गितना हि धीधनाः ॥७०॥
 यत्प्रष्टुमिष्टमस्माभिः पृष्ठं शिष्टं त्वयैव तत् । चेतो जिह्वा त्वमस्माकमित्यस्तावीत् सभा च तम् ॥७१॥

प्रसिद्ध महीधर १७, महेन्द्र १८, वसुदेव १९, उसके अनन्तर वसुंधर २०, अचल २१, मेरु २२, तदनन्तर मेरुधन २३, मेरुभूति २४, सर्वयज्ञ २५, सर्वयज्ञ २६, सर्वगुप्त २७, सर्वप्रिय २८, सर्वदेव २९, सर्वविजय ३०, विजयगुप्त ३१, फिर विजयमित्र ३२, विजयिल ३३, अपराजित ३४, वसुमित्र ३५, प्रसिद्ध विश्वसेन ३६, साधुसेन ३७, सत्यदेव ३८, देवसत्य ३९, सत्यगुप्त ४०, सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ सत्यमित्र ४१, गुणोंसे युक्त निर्मल ४२, विनीत ४३, संवर ४४, मुनिगुप्त ४५, मुनिदत्त ४६, मुनियज्ञ ४७, मुनिदेव ४८, गुप्तयज्ञ ४९, मित्रयज्ञ ५०, स्वयंभू ५१, भगदेव ५२, भगदत्त ५३, भगफल्यु ५४, गुप्तफल्यु ५५, मित्रफल्यु ५६, प्रजापति ५७, सर्वसंध ५८, वरुण ५९, धनपालक ६०, मधवान् ६१, तेजोराशि ६२, महावीर ६३, महारथ ६४, विशालाक्ष ६५, महाबाल ६६, शुचिशाल ६७, फिर वज्र ६८, वज्रसार ६९, चन्द्रचूल ७०, जय ७१, महारस ७२, अतिशय श्रेष्ठ कच्छ ७३, महाकच्छ ७४, नमि ७५, विनमि ७६, बल ७७, अतिबल ७८, भद्रबल ७९, नन्दी ८०, फिर महाभागी ८१, नन्दिमित्र ८२, कामदेव ८३ और अनुपम ८४ । इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके ये ८४ गणधर थे, ये सभी सातों ऋद्धियोंसे सहित थे और सर्वज्ञ देवके अनुरूप थे । इन चौरासी गणधरोंमें जो घरका त्याग कर अत्यन्त प्रभावशाली, गुणवान् और इकहत्तरवीं संख्याको प्राप्त करनेवाला अर्थात् इकहत्तरवाँ गणधर हुआ था, उन्हीं जयकुमारका पुराण मुझे कहिये क्योंकि उसमें बहुत भारी कौतुक है । आप भव्यजीवरूपी चातक पक्षियोंके समूहके लिये उत्तम मेघके समान हैं ॥४८-६९॥

तदनन्तर गणधरदेवसे अपना अनुग्रह जानकर राजा श्रेणिक अपने स्थानको अलंकृत करने लगा अर्थात् अपने स्थानपर जा बैठा सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष संकेतको जाननेवाले होते हैं ॥७०॥ 'हे शिष्ट' जिसे हम लोग पूछना चाहते थे वही तूने पूछा है इसलिये

१ सर्वयज्ञाः सर्वयज्ञाः । २ देवदत्तभगदत्तौ । ३ सर्वज्ञसुदृशः । ४ पर्यभ्युदयवान् । प्रतिख्यात इत्यर्थः । ५ एतेषु चतुरशीतिगणधरदेवेष्वेकसप्ततिसंख्यां प्राप्तगणनाः । ६ गुणी ल०, म० । ७ जयस्य । ८ प्रकृष्टमेघ इति विज्ञापयामास । ९ ज्ञात्वेत्यर्थः । १० स्तुतिमकरोत् ।

गणी तेनेति सम्पृष्टः प्रवृत्तस्तदनुग्रहे । नार्थिनो विमुखान् सन्तः कुर्वन्ते तद्धि तद्व्रतम् ॥७२॥
शृणु श्रेणिक संप्रशस्तव्यात्रावसरे कृतः । नाराधयन्ति^१ कान्वाते^२ सन्तोऽवसरवेदिनः ॥७३॥

कथोमुत्तम

इह जम्बूमति द्वीपे दक्षिणे भरते महान् । वर्णाश्रमसमाकीर्णो देशोऽस्ति कुरुजाङ्गलः ॥७४॥

धर्मार्थकाममोक्षाणाम् एको लोकेऽयमाकरः । भाति स्वर्गं इव स्वर्गं विमानं^३ वाऽमरेशितुः ॥७५॥

हास्तिनाम्न्यं पुरं तत्र विचित्रं सर्वसम्पदा । सम्भवं^४ मूषयद्वाह्यं^५ लक्ष्म्याः^६ कुलगृहायितम् ॥७६॥

पतिः पतिव्रता ताराणाम् अस्य सोमप्रभोऽभवत् । कुर्वन्^७ कुवलयद्वारां^८ सत्करः स्वर्बुधाश्रयः^९ ॥७७॥

तस्य लक्ष्मीमनाक्षिप्य^{१०} वक्षःस्थलनिवासिनी । लक्ष्मीरियं द्वितीयेति प्रेक्ष्या^{११} लक्ष्मीवती सती^{१२} ॥७८॥

तयोज्योऽभवत् सूनुः प्रज्ञाविक्रमयोरिव । तन्वभ्राजन्मनः^{१३} कीर्ति लक्ष्मीमिव गुणार्जिताम् ॥७९॥

सुताश्चतुर्दशास्यान्ये जज्ञिरे विजयादयः । गुणमनून् व्यतिक्रान्ताः संख्याया^{१४} सद्दृशोऽपि ते ॥८०॥

प्रवृद्धनिजचेतोभिस्तैः पञ्चदशभिर्भुशम् । कान्तैः कलाविशेषैर्वा^{१५} राजराजो रराज सः ॥८१॥

तू ही हमारा मन है और तू ही मेरी जीभ है' इस प्रकार समस्त सभाने उसकी प्रशंसा की थी ॥७१॥ राजा श्रेणिकके द्वारा इस प्रकार पूछे गये गौतम गणधर उसका अनुग्रह करनेके लिये तत्पर हुए सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष याचकोंको विमुख नहीं करते, निश्चयसे यही उनका व्रत है ॥७२॥ गौतम स्वामी कहने लगे कि हे श्रेणिक ! सुन, तूने यह प्रश्न अच्छे अवसरपर किया है अथवा यह ठीक है कि अवसरको जाननेवाले सत्पुरुष अन्तमें किसको वश नहीं कर लेते ॥७३॥

इस जम्बू द्वीपके दक्षिण भरतक्षेत्रमें वर्ण और आश्रमोंसे भरा हुआ कुरुजाङ्गल नामका बड़ा भारी देश है ॥७४॥ संसारमें यह देश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की एक खान है । तथा यह देश स्वर्गके समान है अथवा स्वर्गमें भी इन्द्रके विमानके समान है ॥७५॥ उस देशमें हस्तिनापुर नामका एक नगर है जो कि सब प्रकारकी सम्पदाओंसे बड़ा ही विचित्र है तथा जो समुद्रमें लक्ष्मीकी उत्पत्तिको झूठा सिद्ध करता हुआ उसके कुलगृहके समान जान पड़ता है ॥७६॥ उस नगरका राजा सोमप्रभ था जो कि ठीक चन्द्रमाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने उत्तम कर अर्थात् किरणोंसे कुवलय अर्थात् कुमुदोंको आनन्दित-विकसित करता हुआ बुध अर्थात् बुध ग्रहके आश्रित रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने उत्तम कर अर्थात् टैक्ससे कुवलय अर्थात् महीमण्डलको आनन्दित करता हुआ बुध अर्थात् विद्वानोंके आश्रयमें रहता था ॥७७॥ उस राजाकी लक्ष्मीवती नामकी अत्यन्त सुन्दरी पतिव्रता स्त्री थी जो कि ऐसी जान पड़ती थी मानो उसकी लक्ष्मीका तिरस्कार न कर वक्षःस्थलपर निवास करनेवाली दूसरी ही लक्ष्मी हो ॥७८॥ जिस प्रकार बुद्धि और पराक्रम से जय अर्थात् विजय उत्पन्न होती है उसी प्रकार उन लक्ष्मीमती और सोमप्रभके जय अर्थात् जयकुमार नामका पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि जन्मसे ही गुणों द्वारा उपार्जन की हुई लक्ष्मी और कीर्तिको विस्तृत कर रहा था ॥७९॥ राजा सोमप्रभके विजयको आदि लेकर और भी चौदह पुत्र उत्पन्न हुए थे जो कि संख्यामें समान होनेपर भी गुणोंके द्वारा कुलकरोको उल्लंघन कर रहे थे ॥८०॥ जिस प्रकार अतिशय सुन्दर विशेष कलाओंसे चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी

१ स्वाधीनान् कुर्वन्ति । २ कान्वैते अ०, स० । कान्वान्ते ल०, म० । ३ इव । ४ उत्पत्तिम् । ५ अनृतं कुर्वन् । ६ अयं लक्ष्मीशब्दः सम्भवं कुलगृहायितमित्युभवापि योजनीयः । ७ कुवलयानन्दं कैरवानन्दं च । ८ विद्वज्जनाश्रयः । सोमसुताश्रयश्च । ९ तिरस्कारमकृत्वा । १० दर्शनीया । ११ पतिव्रता । १२ जननकालात् प्रारभ्य । -जन्मतः ल०, म० । १३ मनुभिः समाना अपि । १४ वा राजा राजा इत्यपि पाठः । चन्द्र इव ।

(राजा राजप्रभो^१ लक्ष्मीवती देवी प्रियानुजः । श्रेयान् ज्यायान् जयः पुत्रस्तद्राज्यं पूज्यते न कः ॥८२॥
 स पुत्रविटपाटोपः^२ सोमकल्पाङ्घ्रिपश्चिरम् । भोग्यः सम्भृतपुण्यानां स्वस्य जाभूतबद्धभूतम् ॥८३॥
 अयान्यदा जगत्कामभोगबन्धून् त्रिभुवः^३ । अनित्याश्चिदुःखान्यान्मत्वा याथात्म्यविक्षणः^४ ॥८४॥
 विरज्य राज्यं संयोज्य^५ धूर्त्य शौर्योजिते जये । 'अजयौदार्यवी'^६ र्यादिप्राज्यराज्यसमुत्सुकः^७ ॥८५॥
 अभ्येत्य वृषभाभ्याशं^८ दीक्षित्वा मोक्षमन्त्रभूत् । श्रेयसा^९ सह नार्पत्यम्^{१०} अनुजेन यथा पुरा^{११} ॥८६॥
 पितुः पदमधिष्ठाय^{१२} जयोऽन्तापि^{१३} महीं महान् । महतोऽनुभवन् भोगान् संविभज्यानुजैः समम्^{१४} ॥८७॥
 एकदाऽग्रं विहारार्थं बाह्योद्यानमुपागतः । तत्रासीनं समालोक्य शीलगुप्तं^{१५} महामुनिम् ॥८८॥
 त्रिःपरीत्य नमस्कृत्य नुत्वा भक्तिभरान्वितः । श्रुत्वा धर्मं तमापुच्छ्य प्रीत्या प्रत्यविक्षत् पुरीम् ॥८९॥
 तस्मिन् वने वसन्नागमियुनं सह भूभुजा । श्रुत्वा धर्मं सुधां भत्वा पयो प्रीत्या दयारसम् ॥९०॥
 कदाचित् प्रावृडारम्भे प्रचण्डाश्रिताडितः । मृत्वाऽसौ शान्तिमादाय नागो नागाऽमरोऽभवत् ॥९१॥

प्रकार अपने तेजको बढ़ानेवाले, अतिशय सुन्दर और विशेष कलाओंको धारण करनेवाले उन पन्द्रह पुत्रोंसे राजाधिराज सोमप्रभ सुशोभित हो रहे थे ॥८१॥ जिस राज्यका राजा सोमप्रभ था, लक्ष्मीमती रानी श्री, प्रिय छोटा भाई श्रेयांस था और बड़ा राजपुत्र जयकुमार था भला वह राज्य किसके द्वारा पूज्य नहीं होता ? ॥८२॥ जिसपर पुत्ररूपी शाखाओंका विस्तार है ऐसा वह राजा सोमप्रभरूपी कल्पवृक्ष, पुण्य संचय करनेवाले अन्य पुत्रोंको तथा स्वयं अपने आपको भोग्य था यह आश्चर्यकी बात है । भावार्थ—पुत्रों द्वारा वह स्वयं सुखी था तथा अन्य सब लोग भी उनसे सुख पाते थे ॥८३॥

अथानन्तर किसी समय, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले राजा सोमप्रभ संसार, शरीर, भोग और भाइयोंको क्रमशः अनित्य, अपवित्र, दुःखस्वरूप और अपनेसे भिन्न मानकर विरक्त हुए तथा कभी नष्ट न होनेवाले अनन्त वीर्य आदि गुणोंसे श्रेष्ठ मोक्षरूपी राज्यके पाने में उत्सुक हो, शूरवीर तथा धुरंधर जयकुमारको राज्य सौंपकर भगवान् वृषभदेवके समीप गये और वहाँ अपने छोटे भाई श्रेयांसके साथ दीक्षा लेकर मोक्षसुखका अनुभव करने लगे । जिस प्रकार वे पहिले यहाँ अपने छोटे भाईके साथ राज्यसुखका उपभोग करते थे उसी प्रकार मोक्षमें भी अपने छोटे भाईके साथ वहाँका सुख उपभोग करने लगे । भावार्थ—दोनों भाई मोक्षको प्राप्त हुए ॥८४—८६॥ इधर श्रेष्ठ जयकुमार पिताके पदपर आसीन होकर पृथिवी का पालन करने लगा । और अपने बड़े भारी भोगोपभोगोंको बाँटकर छोटे भाइयोंके साथ साथ उनका अनुभव करने लगा ॥८७॥ एक दिन वह जयकुमार क्रीड़ा करनेके लिये नगरके बाहर किसी उद्यानमें गया उसने वहाँ विराजमान शीलगुप्त नामके महामुनिके दर्शन कर उनकी तीन प्रदक्षिणाएं दीं, बड़ी भारी भक्तिके साथ साथ नमस्कार किया, स्तुति की, प्रीतिपूर्वक धर्म सुना और फिर उनसे आज्ञा लेकर नगरको वापिस लौटा ॥८८—८९॥ उसी वनमें साँपों का एक जोड़ा रहता था उसने भी राजाके साथ साथ धर्म श्रवणकर उसे अमृत मान बड़े प्रेमसे दयारूपी रसका पान किया था ॥९०॥ किसी समय वर्षाऋतुके प्रारम्भमें प्रचण्ड वज्रके पड़नेसे उस जोड़ेमेंका वह सर्प शान्तिधारण कर मरा जिससे नागकुमार जातिका देव हुआ

१ सोमप्रभः । २ शाखातिशयः । ३ सोमप्रभः । ४ यथात्मस्वरूपदर्शी । ५ धुरन्धरे । ६ अक्षय्य । ७ महत्त्व । ८ प्रकृष्टराज्योत्कण्ठित इत्यर्थः । ९ समीपम् । १० निजानुजेन । ११ नृपतित्वम् । १२ राजकाले यथा । १३ आश्रित्य । १४ पालयति स्म । १५ सह ल०, म० । १६ —गुप्तमहा—ल०, म० ।

अन्येष्टुरिभमारुह्य पुनस्तद्वनभापतत्^१ । नागी^२ श्रुतवती^३ धर्म राजाऽत्रैव सहात्मना ॥६२॥
 वीक्ष्य काकोदरेणामा^४ जातकोपो विजातिना । लीलानीलोत्पलेनाहत्^५ दम्पती तौ धिगित्यसौ ॥६३॥
 पलायमानो पाषाणः काष्ठैर्लोष्ठैः पदातयः । अघ्नन् सर्वे न को वाऽत्र दुश्चरित्राय कुप्यति^६ ॥६४॥
 पापः स तद्वर्णैर्मुत्वा वेदनाकुलधीस्तदा । नाम्नाऽजायत गङ्गायां कालीति जलदेवता ॥६५॥
 सञ्जातानुशया सार्धं धृत्वा धर्मं हृदि स्थिरम् । भूत्वा प्रिया स्वनागस्य^७ राज्ञा स्वमृतिमब्रवीत् ॥६६॥
 नागामरोऽपि तां पश्यन् कोपादेवमन्यत । दर्पात्तेन^८ खलेनैवा वराकी^९ हा हता दया ॥६७॥
 विधवेति विवेकाधीर्नैदृक्षं भामिमं धवम्^{१०} । तत्प्राणान् हरे यावद् भुजङ्गा केन वाऽस्म्यहम् ॥६८॥
 इत्यतोऽसौ दि^{११}दक्षुस्तं जयं तद्गृहमासदत् । न सहन्ते ननु स्त्रीणां तिर्यञ्चोऽपि पराभवम् ॥६९॥
 वासगेहे जयो रात्रौ श्रीमत्याः^{१२} कौतुकं प्रिये । शृण्वेकं वृष्टमित्याख्यत् तद्भुजङ्गोविचेष्टितम् ॥७०॥
 आभिजात्यं वयो रूपं विद्यां वृत्तं यशः श्रियम् । विभुत्वं विक्रमं कान्तिमैहिकं पारलौकिकम् ॥७१॥
 प्रीतिमप्रीतिमादेयम् अनादेयम् कृपां त्रयाम् । हानिं वृद्धिं गुणान् दोषान् गणयन्ति न बोधितः ॥७२॥
 धर्मः कामश्च सञ्चेयो वित्तेनायं तु सत्पथः । क्रौण्त्यथ^{१३} स्त्रियस्ताभ्यां^{१४} धिकं तासां वृद्धगृध्नुताम्^{१५} १०३

॥९१॥ किसी दूसरे दिन वही राजा जयकुमार हाथीपर सवार होकर फिर उसी वनमें गया और वहाँ अपने साथ साथ मुनिराजसे धर्म श्रवण करनेवाली सर्पिणीको काकोदर नामके किसी विजातीय सर्पके साथ देखकर बहुत ही कुपित हुआ तथा उन दोनों सर्प सर्पिणीको धिक्कार देकर क्रीड़ाके नील कमलसे उन दोनोंका ताड़न किया ॥९२-९३॥ वे दोनों वहाँसे भागे किन्तु पैदल चलनेवाले सेनाके सभी लोग भागते हुए उन दोनोंको लकड़ी तथा ढेलोंसे मारने लगे सो उचित ही है क्योंकि इस संसारमें दुराचारी पुरुषोंपर कौन क्रोध नहीं करता है ? ॥९४॥ उन घावोंके द्वारा दुःखसे व्याकुल हुआ वह पापी सर्प उसी समय मरकर गंगा नदीमें काली नामका जलदेवता हुआ ॥९५॥ जिसे भारी पश्चात्ताप हो रहा है ऐसी वह सर्पिणी हृदयमें निश्चल धर्मको धारणकर मरी और मरकर अपने पहलेके पति नागकुमारदेवकी स्त्री हुई । वहाँ जाकर उसने उसे राजाके द्वारा अपने मरणकी सूचना दी ॥९६॥ वह नागकुमार देव भी उसे देखकर क्रोधसे ऐसा मानने लगा कि इस दुष्ट राजाने अहंकारसे इस बेचारी सर्पिणी को व्यर्थ ही मार दिया ॥९७॥ उस मूर्खने इसे विधवा जाना, यह न जाना कि इसका मेरा जैसा पति है इसलिये मैं जबतक उसका प्राण हरण न करूं तबतक सर्प (नागकुमार) कैसे कहला सकता हूँ ? ऐसा सोचता हुआ वह नागकुमार जयकुमारको काटनेकी इच्छासे शीघ्र ही उसके घर आया सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यञ्च भी स्त्रियोंका पराभव सहन नहीं कर सकते हैं ॥९८-९९॥ जयकुमार रात्रिके समय शयनागारमें अपनी रानी श्रीमतीसे कह रहा था कि हे प्रिये, आज मैंने एक कौतुक देखा है उसे सुन, ऐसा कहकर उसने उस सर्पिणीकी सब कुचेष्टाएं कहीं ॥१००॥ इसी प्रकरणमें वह कहने लगा कि देखो स्त्रियाँ कुलीनता, अवस्था, रूप, विद्या, चारित्र्य, यश, लक्ष्मी, प्रभुता, पराक्रम, कान्ति, यह लोक-परलोक, प्रीति, अप्रीति, ग्रहण करने योग्य, ग्रहण न करने योग्य, दया, लज्जा, हानि, वृद्धि, गुण और दोषको कुछ भी नहीं गिनती हैं ॥१०१-१०२॥ धनके द्वारा धर्म और कामका संचय करना चाहिये यह तो

१ आगच्छत् । २ सर्पिणीम् । ३ आकर्णितवतीम् । ४ अन्यजातिसर्पेण सह कामक्रीडां कुर्वतीम् । ५ ताडयति स्म । ६ घ्नन्ति स्म । ७ कोपं करोति । ८ निजभर्तृचरणागामरस्य । ९ नृपेण जातनिजमरणम् । १० जयेन । ११ अगतिका । १२ पतिम् । १३ तत्प्राणान्न हरे ल०, म०, अ० । १४ दंशितुमिच्छः । १५ शय्यागृहे । 'उषन्ति शयनस्थानं वासागारं विशारदः' इति हलायुधः । १६ निजप्रियायाः । १७ कुलजत्वम् । १८ संचेतुं योग्यः । १९ धर्मकामाभ्याम् । २० समृद्धाभिलाषिताम् ।

(बुद्धिकस्य विषं पश्चात् पश्यस्य विषं पुरः । योषितां बुद्धितेच्छानां^१ विद्वतो विषमं विषम् ॥१०४॥
 सत्याभासेन तैः स्त्रीणां वञ्चिता ये न बोधनाः^२ । दुःश्रुतीनामिव ताभ्यो मुक्तास्ते मुक्तिवत्त्वभाः^३ ॥१०५॥
 तासां किमुच्यते कोपः प्रसादोऽपि भयङ्करः । हन्त्यधीकान्^४ प्रविश्यान्तः प्रगाथसरितां यथा ॥१०६॥
 "जालकैरिन्द्रजालेन" वञ्चया ग्राम्या^५ हि मायया ॥ ताभिः^६ सैन्द्रो^७ "गुरुर्वञ्च्यस्त"^८ मायामातरः स्त्रियः
 ताः श्रयन्ते गुणान्नैव नाशभीत्या यदि श्रिताः । तिष्ठन्ति न चिरं प्रान्ते नश्यन्त्यपि च ते स्थिताः ॥१०८॥
 दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः । तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः ॥१०९॥
 निर्गुणान् गुणिनो मन्तुं गुणिनः खलु निर्गुणान् । "नाशकत् परमात्माऽपि मर्यन्ते ता"^{१०} हि हेतया ॥
 मोक्षो गुणमयो नित्यो^{११} "दोषमयः स्त्रियश्चलाः । तासां नेच्छन्ति निर्वाणम् अत एवाप्तसूक्तिषु ॥१११॥
 लक्ष्मीः सरस्वती कीर्तिमु^{१२} क्तिस्तत्त्वमिति विश्रुताः । दुर्लभास्तासु बल्लीषु कल्पवल्ग्व इव प्रिये ॥११२॥
 इत्येतच्चह तच्छ्रुत्वा तं^{१३} "जिघांसुरहिस्तदा । पापिना चिन्तितं पापं मया पापापलापतः"^{१४} ॥११३॥

समीचीन मार्ग है परन्तु स्त्रियां धर्म और कामसे धन खरीदती हैं अतः उनकी इस बड़ी हुई लोलुपताको धिक्कार हो ॥१०३॥ विष विच्छूके पीछे (पूछपर) और साँपके आगे (मुँहमें) रहता है परन्तु जिनकी इच्छाएं दुष्ट हैं ऐसी स्त्रियोंके सभी ओर विषम विष भरा रहता है ॥१०४॥ खोटी श्रुतियोंके समान इन स्त्रियोंके सत्याभास (ऊपरसे सत्य दिखनेवाले परन्तु वास्तवमें झूठे) नमस्कारोंसे जो बुद्धिमान् नहीं ठगे जाते हैं—इनसे बचे रहते हैं वे ही मुक्तिरूपी स्त्रीके वल्लभ होते हैं । भावार्थ—जिस प्रकार कुशास्त्रोंसे न ठगाये जाकर उनसे सदा बचे रहने वाले पुरुष मुक्त होते हैं उसी प्रकार इन स्त्रियोंके हावभाव आदिसे न ठगाये जाकर उनसे बचे रहनेवाले—दूर रहनेवाले पुरुष ही मुक्त होते हैं ॥१०५॥ जिन स्त्रियोंकी प्रसन्नता ही भयंकर है उनके क्रोधका क्या कहना है । जिस प्रकार गहरी नदियोंकी निर्मलता मूर्ख लोगोंको भीतर प्रविष्ट कर मार देती है उसी प्रकार स्त्रियोंकी प्रसन्नता भी मूर्ख पुरुषोंको अपने अधीन कर नष्ट कर देती है ॥१०६॥ इन्द्रजाल करनेवाले अपने इन्द्रजाल अथवा मायासे मूर्ख ग्रामीण पुरुषों को ही ठगा करते हैं परन्तु स्त्रियाँ इन्द्र सहित बृहस्पतिको भी ठग लेती हैं इसलिये स्त्रियाँ माया-चारकी माताएँ कही जाती हैं ॥१०७॥ प्रथम तो गुण स्त्रियोंका आश्रय लेते ही नहीं हैं यदि कदाचित् आश्रयके अभावमें अपना नाश होनेके भयसे आश्रय लेते भी हैं तो अधिक समय तक नहीं ठहरते और कदाचित् कुछ समयके लिये ठहर भी जाते हैं तो अन्तमें अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं ॥१०८॥ दोषोंका तो पूछना ही क्या है ? वे तो स्त्रीस्वरूप ही हैं अथवा दोषोंकी उत्पत्ति स्त्रियोंमें है अथवा दोषोंसे स्त्रियोंकी उत्पत्ति होती है इस बातका निश्चय इस संसार में किसीको भी नहीं हुआ है ॥१०९॥ निर्गुणोंको गुणी और गुणियोंको निर्गुण माननेके लिये परमात्मा भी समर्थ नहीं है परन्तु स्त्रियाँ ऐसा अनायास ही मान लेती हैं ॥११०॥ मोक्ष गुण स्वरूप और नित्य है परन्तु स्त्रियाँ दोषस्वरूप और चंचल हैं मानो इसीलिये अरहन्तदेवके शास्त्रोंमें उनका मोक्ष होना नहीं माना गया है ॥१११॥ हे प्रिये, जिस प्रकार लताओंमें कल्पलता दुर्लभ है उसी प्रकार स्त्रियोंमें लक्ष्मी, सरस्वती, कीर्ति, मुक्ति और तू ये प्रसिद्ध स्त्रियाँ अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥११२॥ यह सब जयकुमारने अपनी स्त्रीसे कहा, उसे सुनकर जयकुमारको

१ दुष्टवाञ्छानाम् । २ दुष्टशास्त्राणाम् । ३ प्रवेशं कारयित्वा । ४ वञ्चकैः । ५ इन्द्रजाल-सञ्जातया माययेति सम्बन्धः । ६ परोक्षाशास्त्रबहिर्भूताः । ७ स्त्रीभिः । ८ इन्द्रजालादिवेताभूतेन्द्र-सहितः । ९ तदिन्द्रमन्त्री बृहस्पतिः । १० तत् कारणात् । ११ नाभवत् । १२ स्त्रियः । १३ दोष-वत्य-सं०, म० । १४ हन्तुमिच्छः । १५ पापिण्याः निह्णवात् । 'अपलापस्तु निह्णवः' इत्यभिधानात् ।

आर्याणामपि वाग्भूयो विचार्या कार्यवेदिभिः । वर्ज्यायाः किं पुनर्नार्याः कामिनां का विचारणा ॥११४॥
 भवेऽस्मिन्नेव भद्रोऽयं भविष्यति भवान्तकः । तन्नास्य भयमन्येभ्यो भयमेतद्भूयैषिणाम् ॥११५॥
 अहं कुतः कुतो धर्मः संसर्गदस्य सोऽप्यभूत् । ममेह मुक्तिपर्यन्तो नान्यत् सत्सङ्गमाद्वितम् ॥११६॥
 इत्यनुध्याय निःकोपः कृतवेदो जयं स्वयम् । रत्नैरनर्घ्यैः सम्पूज्य स्वप्रपञ्चं निगद्य च ॥११७॥
 मां स्वकार्यं स्मरेत्युक्त्वा स्वावासं प्रत्यसौ गतः । हन्ताऽस्य जितपुण्यानां भवत्यभ्युदयावहः ॥११८॥
 स चक्रिणा सहाक्रम्य दिक्चक्रं व्यक्तविक्रमः । क्रमाश्रियम्यै व्यायामं संयमीव शमं श्रितः ॥११९॥
 ज्वलत्प्रतापः सौम्योऽपि निर्गुणोऽपि गुणाकरः । सुसर्वाङ्गोऽप्यनङ्गाभः सुखेन स्वपुरे स्थितः ॥१२०॥
 अथ देशोऽस्ति विस्तीर्णः काशिस्तत्रैव विश्रुतः । पिण्डीभूता भयात्काललुण्ठाकादिव भोगभूः ॥१२१॥
 तदापि खलु विद्यन्ते कल्पवल्लीपरिष्कृताः । दुर्माः कल्पदुर्माभासादिचित्रास्तत्र क्वचित् क्वचित् ॥१२२॥
 तत्रैवाभीष्टमावर्ज्यं यत्तत्रैवानुभूयते । स तज्ज्जेतेति निःशङ्कं शङ्के स्वर्गापवर्गयोः ॥१२३॥

मारनेकी इच्छा करनेवाला वह नागकुमार अपने मनमें कहने लगा कि देखो उस स्त्रीके पाप छिगानेसे ही मुझे पापीने इस पापका चिन्तवन किया है ॥११३॥ कार्यके जाननेवाले पुरुषों को सज्जनोंके वचनोंपर भी एक बार पुनः विचार करना चाहिये फिर त्याग करने योग्य स्त्रियों के वचनोंकी तो बात ही क्या है ? उनपर तो अवश्य ही विचार करना चाहिये परन्तु कामी जनोंको यह विचार कहाँ हो सकता है ? ॥११४॥ यह भव्य जीव इसी भवमें संसारका नाश करनेवाला होगा, इसलिये इसे अन्य लोगोंसे कुछ भय होनेवाला नहीं है बल्कि जो इसे भय देना चाहते हैं उन्हें ही यह भय है ॥११५॥ मैं कहाँ ? और यह धर्म कहाँ ? यह धर्म भी मुझे इसीके संसर्गसे प्राप्त हुआ है इसलिये इस संसारमें मुझे मोक्ष प्राप्त होनेतक सज्जनोंके समागम के सिवाय अन्य कुछ कल्याण करनेवाला नहीं है ॥११६॥ ऐसा विचारकर वह नागकुमार क्रोधरहित हुआ, उपकारको जानकर उसने अमूल्य रत्नोंसे स्वयं जयकुमारकी पूजा की, उसे मारने आदिके जो विचार हुए थे वे सब उससे कहे और अपने कार्यमें मुझे स्मरण करना इस प्रकार कहकर वह अपने स्थानको लौट गया सो ठीक ही है क्योंकि जिसका पुण्य तेज है उसका मारनेवाला भी कल्याण करनेवाला हो जाता है ॥११७-११८॥ व्यवक्त पराक्रमको धारण करनेवाला वह जयकुमार चक्रवर्ती भरत महाराजके साथ साथ सब दिशाओंपर आक्रमण कर और अनुक्रमसे इधर उधरका फिरना बन्द कर संयमीके समान शान्तभावका आश्रय करने लगा ॥११९॥ जो सौम्य होनेपर भी प्रज्वलित प्रतापका धारक था, निर्गुण (गुणरहित, पक्ष में सबमें मुख्य) होकर भी गुणाकर (गुणोंकी खानि) था और सुसर्वाङ्ग (जिसके सब अंग सुन्दर हैं ऐसा) होकर भी अनङ्गाभ (शरीररहित, पक्षमें कामदेवके समान कांतिवाला) था ऐसा वह जयकुमार सुखसे अपने नगरमें निवास करता था ॥१२०॥

अथानन्तर-इसी भरतक्षेत्रमें एक प्रसिद्ध और बहुत बड़ा काशी नामका देश है जो कि ऐसा विदित होता है मानो कालरूपी लुटेरेके भयसे भोगभूमि ही आकर एक जगह एकत्रित हो गई हो ॥१२१॥ वहाँपर कहीं कहीं उस समय भी कल्पलताओंसे घिरे हुए कल्पवृक्षोंके समान अनेक प्रकारके वृक्ष विद्यमान थे ॥१२२॥ चूँकि अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर उनका उपभोग उसी देशमें किया जाता था इसलिये मैं ऐसा समझता हूँ कि वह काशीदेश

१ कृतज्ञः । २ घातकः । ३ निरुद्धः । विविधव्यापारमिति शेषः । त्यक्त्वा विविधव्यापारमित्यर्थः ।
 ४ विविधगमनम् । ५ अप्रधानरहितोऽपि । “गुणोऽप्रधाने रूपादौ मोर्व्यां शूके वृकोदरे । शुभे सत्त्वादिसन्ध्यादिविद्यादिहरितादिषु” इत्यभिधानात् । ६ भरतक्षेत्रे । ७ दुःकालचोरात् सज्जनात् ।
 ८ स्वीकृत्य । ९ यस्मात् कारणात् । १० देशे । ११ देशः । १२ तस्मात् कारणात् ।

वाराणसी पुरी तत्र जित्वा तामामरीं पुरीम् । 'प्रमानेस्तद्विमानानि स्वसौधैरिव सा'ऽहसोत्^१ ॥१२४॥
 प्राक् समुच्चित्तदुष्कर्मा न 'तत्रोत्पत्तुमर्हति । प्रमादादपि तज्जोऽपि स्यात् किं पापी मनस्यपि ॥१२५॥
 एवं भवत्रयश्रेयःसूचनी धर्मवर्त्मनि । विनेयान् जितविद्येव^२ सा'ऽन्यस्थान'प्यवीकृत^३ ॥१२६॥
 नाम्नेव कम्पितारातिस्तस्याः पतिरकम्पनः । विनीत^४ इव विद्यायाः स्वाभिप्रेतार्थसम्पदः^५ ॥१२७॥
 पुरोपाजितपुण्यस्य बद्धने रक्षणे श्रियः । न नीतिः^६ किन्तु कामे च धर्मे चास्योपयोगिनी ॥१२८॥
 न हर्ता केवलं दाता न हन्ता पाति केवलम् । सर्वास्त^७ 'त्पालयान्तां स'^८ धर्मविजयी प्रजाः ॥१२९॥
 पारमात्म्ये पदे पूज्यो भरतेन यथा पुरुः । गृहाश्रमे तथा सोऽपि सा तस्य कुलवृद्धता ॥१३०॥
 तस्यासीत्सुप्रभादेवी जीतांशोर्वा प्रभा तथा । मुमुदे कुमुदाबोधं विदधत् स कलाश्रयः ॥१३१॥
 न लक्ष्मीरपि तत्प्रीत्यै सती सा सुप्रजा^९ यथा । सत्फला इव सद्बल्यः पुत्रवत्यस्त्रियः प्रियाः ॥१३२॥

निःसन्देह स्वर्ग और मोक्षको जीतनेवाला था ॥१२३॥ उस काशीदेशमें एक वाराणसी (बनारस) नामकी नगरी थी जो कि अपने अपरिमित राजभवनोंसे अमरपुरीको जीतकर उसके विमानोंकी हँसी करती हुई सी जान पड़ती थी ॥१२४॥ जिसने पूर्वजन्ममें पापकर्मोंका संचय किया है ऐसा जीव उस वाराणसी नगरीमें उत्पन्न होने योग्य नहीं था । तथा उसमें उत्पन्न हुआ जीव प्रमादसे भी क्या कभी मनमें भी पापी हो सकता था ? अर्थात् नहीं ॥१२५॥

इस तरह भूत, भविष्यत् और वर्तमान सम्बन्धी तीनों भवोंके कल्याणको सूचित करनेवाली वह नगरी जितवाणीके समान दूसरी जगह रहनेवाले शिष्य लोगोंको भी धर्म-मार्गमें प्रवृत्त कराती थी ॥१२६॥ जिस प्रकार विनयी मनुष्य विद्याका स्वामी होता है उसी प्रकार अपने नामसे ही शत्रुओंको कम्पित कर देनेवाला राजा अकम्पन उस नगरीका स्वामी था । जिस प्रकार विद्या अपने अभिलषित पदार्थोंकी देनेवाली होती है उसी प्रकार वह नगरी भी अभिलषित पदार्थोंको देनेवाली थी ॥१२७॥ पूर्व जन्ममें पुण्य उपाजन करनेवाले उस राजाकी नीति केवल लक्ष्मीके बढ़ाने और उसकी रक्षा करनेमें ही काम नहीं आती थी किन्तु धर्म और कामके विषयमें भी उसका उपयोग होता था ॥१२८॥ वह राजा केवल प्रजासे कर वसूल ही नहीं करता था किन्तु उसे कुछ देता भी था और केवल दण्ड ही नहीं देता था किन्तु रक्षा भी करता था इस प्रकार धर्म द्वारा विजय प्राप्त करनेवाला वह राजा समस्त प्रजाका पालन करता था ॥१२९॥ राजा अकम्पनके कुलका बड़प्पन यही था कि भरतमहाराज परमात्मपदमें जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवको पूज्य मानते थे उसी प्रकार गृहस्थाश्रममें उसे पूज्य मानते थे ॥१३०॥ उसके सुप्रभा नामकी देवी थी जोकि चन्द्रमाकी प्रभाके समान थी । जिस प्रकार चन्द्रमा अनेक कलाओंका आश्रय हो अपनी प्रभासे कुमुदाबोध अर्थात् कुमुदिनियों का विकास करता हुआ प्रसन्न (निर्मल) रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अनेक कलाओं-विद्याओंका आश्रय हो अपनी सुप्रभा देवीसे कुमुदाबोध अर्थात् पृथिवीके समस्त जीवोंके आनन्द का विकास करता हुआ प्रसन्न रहता था ॥१३१॥ उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली वह पति-व्रता सुप्रभादेवी जिस प्रकार राजाको आनन्दित करती थी उस प्रकार लक्ष्मी भी उसे आनन्दित नहीं कर सकी थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार अच्छे फल देनेवाली उत्तम लताएँ प्रिय

१ प्रमाणातीतैः । २ पुरी । ३ हसति स्म । ४ नगर्याम् । ५ दिव्यभाषेव । ६ नगरी ।
 ७ देशान्तरस्थान् । ८ वर्तयति स्म । ९ विनेयपरः । १० निजाभीष्टार्थसम्पद् यस्यां सा तस्याः ।
 ११ नयनं करणम् । १२ तत् कारणात् । १३ अकम्पनः । १४ शोभनाः प्रजा अपत्यानि यस्या सा
 सुप्रजाः । सत्पुत्रवतीत्यर्थः ।

तस्यां तन्नाथवंशाग्रगण्यस्येवांशवो रवेः । प्राच्यां दीप्त्याप्तदिवक्त्रकाः सहस्रमभवन् सुताः ॥१३३॥
हेमाङ्गदसुकेतुश्रीसुकान्ताद्या ह्वयैः स तैः । वेण्डितः संव्यदीपिष्ठ शक्रः सामानिकैरिव ॥१३४॥
हिमवत्पद्मयोर्गङ्गासिन्धु इव ततस्तयोः^१ । सुते सुलोचनालक्ष्मीमती चास्तां सुलक्षणे ॥१३५॥
सुलोचनासौ बालेव लक्ष्मीः सर्वमनोरमा । कलागुणैरभासिष्ट चन्द्रिकेव प्रवर्द्धिता ॥१३६॥
सुमत्याख्याम्बलाः शुक्लनिशेवावर्द्धयत् कलाः । धात्री शशाङ्करेखायास्तस्याः सातिमनोहरा ॥१३७॥
अभूद् रागी स्वयं^२ रागस्तत्क्रमाब्जं समाश्रितः । रागाय कस्य वा न स्यात् स्वोचितस्थानसंश्रयः ॥१३८॥
नखेन्दुचन्द्रिका तस्याः शश्वत्कुवलयं किल । विश्वमाह्लाबय^३ चित्रम् श्रुत्वा क्रमाब्जयोः ॥१३९॥
रेजुरङ्गुल्यस्तस्याः क्रमयोर्नखरोचिषा । इयन्त इति मद्देगाः^४ स्मरेणेव निवेशिताः ॥१४०॥
नताशोषो जयः^५ स्नेहाद् भ्रमसीत्ते^६ ततस्तयोः । या श्रोः क्रमाब्जयोस्तस्याः सा किमस्ति सरोरुहे ॥१४१॥

होती हैं उसी प्रकार उत्तम पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्रियाँ भी प्रिय होती हैं ॥१३२॥ जिस प्रकार पूर्व दिशासे अपनी कान्तिके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उस सुप्रभादेवीसे नाथवंशके अग्रगण्य राजा अकम्पनके अपनी दीप्ति अथवा तेजके द्वारा दिशाओंको वश करनेवाले हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥१३३॥ हेमाङ्गद, सुकेतुश्री और सुकान्त आदि उन पुत्रोंसे घिरा हुआ वह राजा ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि सामानिक देवोंसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥१३४॥ जिस प्रकार हिमवान् पर्वत और पद्म नामकी सरसीसे गङ्गा और सिन्धु ये दो नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार राजा अकम्पन और रानी सुप्रभाके सुलोचना तथा लक्ष्मीमती ये उत्तम लक्षणोंवाली कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं ॥१३५॥ वह बालिका सुलोचना लक्ष्मीके समान सबके मनको आनन्दित करनेवाली थी और अपने कलारूपी गुणोंके द्वारा चांदनीके समान वृद्धिको प्राप्त होती हुई सुशोभित हो रही थी ॥१३६॥ जिस प्रकार शुक्ल पक्षकी रात्रि चन्द्रमाकी रेखाओंकी अत्यन्त मनोहर कलाओंको बढ़ाती है उसी प्रकार सुमित्रा नामकी धाय उस सुलोचनाकी अतिशय मनोहर कलाओंको बढ़ाती थी—उसके शरीरका लालन पालन करती थी ॥१३७॥ राग अर्थात् लालिमा उस सुलोचनाके चरण-कमलोंका आश्रय पाकर स्वयं रागी अर्थात् राग करनेवाला अथवा लाल गुणसे युक्त हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि अपने योग्य स्थानका आश्रय जिसके रागके लिये नहीं होता ? ॥१३८॥ आश्चर्य है कि उसके नखरूपी चन्द्रमाकी चांदनी दोनों चरण-कमलोंके अनुकूल रहकर भी समस्त कुवलय अर्थात् कुमुदनियोंको अथवा पृथ्वीमण्डलके आनन्दको निरन्तर विकसित करती रहती थी । भावार्थ—चांदनी कभी कमलोंके अनुकूल नहीं रहती, वह उन्हें निमीलित कर देती है परन्तु सुलोचनाके नखरूपी चन्द्रमाकी चांदनी उसके चरणकमलोंके अनुकूल रहकर भी कुवलय—नीलकमल (पक्षमें महीमण्डल) को विकसित करती थी यह आश्चर्यकी बात थी ॥१३९॥ उसके दोनों पैरोंकी अंगुलियाँ नखोंकी किरणोंसे ऐसी अच्छी जान पड़ती थीं मानो मेरे वेग इतने ही हैं यही समझकर कामदेवने ही स्थापन की हों । भावार्थ—*अभिलाषा चिन्ता आदि कामके दश वेग हैं और दोनों पैरोंकी अंगुलियाँ भी दश हैं इसलिये वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो कामदेवने अपने वेगोंकी संख्या बतलानेके लिये ही उन्हें स्थापित किया हो ॥१४०॥ जिसे सब लोग नमस्कार करते हैं ऐसा जयकुमार भी जिन्हें

१ तेजसा । २ अकम्पनसुप्रभयोः । ३ अरुणगुणः । ४ सुलोचनाचरण । ५ मोदति स्म । ६ अनुकूलवृत्त्या । ७ मम सदृशावस्थाः । ८ जयकुमारः । ९ नमस्करोति स्म । १० क्रमाब्जे ।

* “अभिलाषाचिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।

उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥”—साहित्यदर्पणे ।

न स्थूले न कृशे न र्ज्जु न वक्त्रे न च सङ्कटे^१ । विकटे^२ न च तज्जङ्घये शोभाऽन्येनयोरसौ^३ ॥१४२॥
 काञ्चीस्थानं^४ तदालोच्येवोरु स्थूले सुसङ्गते । कायगर्भगृहद्वारस्तम्भपट्टाकृती कृते ॥१४३॥
 वेदिकेव मनोजस्य शिरो वा^५ स्मरदन्तिनः । सानुर्वाजिनङ्गशैलस्य शुशुभेऽस्याः कटीतटम् ॥१४४॥
 कृत्वा कृशं भृशं मध्यं बद्धं भङ्गभयादिव । रज्जुभिस्तिस्सुमिर्धात्रा^६ बलिभिर्गडिमाबभौ ॥१४५॥
 नाभिकूपप्रवृत्तास्या^७ रसमार्गसमुद्गता । श्यामा शाङ्बलमालेव^८ रोमराजिर्ग्यराजत ॥१४६॥
 भिन्नौ युक्तौ मूढस्तब्धौ^९ उष्णौ सन्तापहारिणौ । स्तनौ विरुद्धधर्माणौ स्याद्वादस्थितिमूहुतुः ॥१४७॥
 सहवक्षोनिवासिन्या समाश्लिष्य जयः श्रिया । स्वीकृतो यदि चेत्ताभ्यां^{१०} वर्ण्येते तद्भुजौ कथम् ॥१४८॥
 वीरलक्ष्मीपरिष्वक्तजयदक्षिणबाहुना । सवामेन^{११} परिष्वक्त^{१२} स्तत्कण्ठस्तस्य कोपमा ॥१४९॥
 निःकूपौ^{१३} पेशलौ^{१४} श्लक्ष्णौ तत्कपोलौ विलेसतुः^{१५} । कान्तौ कलभदन्ताभौ जयवक्त्राब्ज^{१६} दर्पणौ ॥१५०॥
 वटबिम्बप्रवालादिनोपमेयमपीष्यते^{१७} । श्रधरस्थातिदूरत्वाद् वर्णकारररसादिभिः ॥१५१॥

बड़े स्नेहसे नमस्कार करेगा ऐसे उसके दोनों चरणकमलोंमें जो शोभा थी वह क्या कमलोंमें हो सकती है ? अर्थात् नहीं ॥१४१॥ उसकी दोनों जंघाएं न स्थूल थीं, न कृश थीं, न सीधी थीं, न टेढ़ी थीं, न मिली हुई थीं और न दूर दूर ही थीं । उसकी दोनों जंघाओंकी शोभा निराली ही थी ॥१४२॥ उसके करधनी पहननेके स्थान-नितम्बस्थलको देखकर ही मानो स्थूल, परस्परमें मिले हुए और कामदेवके गर्भगृह सम्बन्धी दरवाजेसे खंभोंकी लकड़ीके समान दोनों ऊरु बनाये गये थे ॥१४३॥ उसका नितम्ब प्रदेश ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो कामदेवकी वेदी ही हो अथवा कामदेवरूपी हाथीका शिर ही हो अथवा कामदेवरूपी पर्वत का शिखर ही हो ॥१४४॥ उसका मध्यभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो विधाताने उसे पहले तो अत्यन्त कृश बनाया हो और फिर टूट जानेके भयसे त्रिवलीरूपी तीन रस्सियोंसे मजबूत बांध दिया हो ॥१४५॥ नाभिरूपी कुएंसे निकली हुई उसकी रोमराजि ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो जलमार्गसे निकली हुई हरी हरी छोटी घासकी पड़वित ही हो ॥१४६॥ उसके स्तन भिन्न भिन्न होकर भी (स्थूल होनेके कारण) एक दूसरेसे मिले हुए थे, कोमल होकर भी (उन्नत होनेके कारण) कठोर थे, और उष्ण होकर भी (आह्लादजनक होनेके कारण) संतापको दूर करनेवाले थे, इस प्रकार विरुद्ध धर्मोंको धारण करनेवाले उसके दोनों स्तन स्याद्वादकी स्थितिको धारण कर रहे थे ॥१४७॥ चूँकि उसकी दोनों भुजाओंने वक्षःस्थलपर निवास करनेवाली लक्ष्मीके साथ आलिङ्गन कर जयकुमारको स्वीकृत किया है इसलिये उनका वर्णन भला कैसे किया जा सकता है ? ॥१४८॥ उसका कंठ वीर लक्ष्मीसे सुशोभित जयकुमारके दांये और बांये दोनों हाथोंसे आलिङ्गनको प्राप्त हुआ था अतः उसकी उपमा क्या हो सकती है । भावार्थ—उसकी उपमा किसके साथ दी जा सकती है ? अर्थात् किसीके साथ नहीं—वह अनुपम था ॥१४९॥ हाथीके बच्चेके दांतकी आभाको धारण करनेवाले उसके निष्कूप, कोमल और चिकने दोनों कपोल ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो जयकुमारका मुख-कमल देखनेके लिये सुन्दर दर्पण ही हों ॥१५०॥ वटकी कोंपल, बिम्बी फल और मूंगा आदि पदार्थ, वर्ण, आकार और रस आदिमें ओंठोंसे बहुत दूर हैं अर्थात् उसके ओंठोंके समान न तो

१ सङ्करीण । २ विशाले । ३ विलक्षणैव । ४ कटितटम् । ५ आलोक्य । ६ इव । ७ ब्रह्मणा । ८ सुलोचनायाः । ९ जलमार्ग । १० हरितपङ्क्तिः । 'शाङ्बलः शादहरिते' इत्यभिधानात् । शाङ्बल-स०, म०, अ० । ११ कठिनौ । १२ सुलोचनाभुजाभ्याम् । १३ वामभुजसहितेन । १४ आलिङ्गितः । १५ जनसन्तापहेतुत्वात् । १६ कोमलौ । १७ रंजतुः । १८ जयकुमारमुख । १९ अपिशब्दात् केवल-मुपमानं न ।

चिताः सिताः समाः स्निग्धा दन्ताः कान्ताः प्रभान्विताः । अन्तःकरोति तद्वक्त्रं तानेव कथमन्यथा^१ ॥१५२॥
 कुतः^२ कृता समुत्तुङ्गा स्वादमानास्यसौरभम् । मध्येवक्त्रं किमध्यास्ते न सती यदि नासिका^३ ॥१५३॥
 कर्णान्तगामिनी नेत्रे^४ वृद्धे^५ नरशरोपमे । सोमवंश्यस्य कः क्षेपः^६ पद्मोत्पलजये तयोः^७ ॥१५४॥
 तत्कर्णविवे कर्णेषु कृतपुण्यौ प्रियाज्ञया^८ । तत्प्रेमालापगीतानां^९ पात्रं^{१०} प्रागेव तौ यतः ॥१५५॥
 तद्भूशरासनः^{११} कामस्तत्कटाक्षशरावलिः^{१२} । स्वरूपेणाजितं^{१३} मत्वा जयं मन्ये व्यजेष्ट सः ॥१५६॥
 तस्या लालाटिको^{१४} नैकः कामो वीराप्रणीः स्वयम् । जयोऽपि नोन्नतिः कस्माल्ललाटस्य श्रितश्रियः ॥१५७॥
 मृदवस्तनयः स्निग्धाः कृष्णास्तस्याः सकुञ्चिताः । कामिनां केवलं कालबालव्यालाः^{१५} शिरोरुहाः ॥१५८॥
 भाति तस्याः पुरोभागो भूषितो नयनाविभिः । सुकूपं^{१६} इव पाश्चात्यो^{१७} बाभाति स्वयमेव सः ॥१५९॥
 यो तस्यास्तनुनिर्माणं वेधसा साधनीकृताः^{१८} । अणवस्तूणवच्छेषास्त एव परमाणवः^{१९} ॥१६०॥

इनका वर्ण है, न आकार है और न रस ही है इसलिये ही उसके ओठोंको इनमेंसे किसीकी भी उपमा नहीं दी जा सकती थी ॥१५१॥ अवश्य ही उसके दांत एक दूसरेसे मिले हुए थे—छिद्ररहित थे, सफेद थे, समान थे, चिकने थे, सुन्दर थे, और चमकीले थे, यदि ऐसा न होता तो सुलोचनाका मुख उन्हें भीतर ही क्यों करता ? ॥१५२॥ मुखकी सुगन्धिका स्वाद लेती हुई उसकी नाक यदि इतनी अच्छी नहीं होती तो वह इतनी ऊंची क्यों बनाई जाती ? तथा मुखके बीचमें कैसे ठहर सकती ? ॥१५३॥ अर्जुनके बाणके समान कर्णके (राजा कर्ण अथवा कानके) समीप तक जानेवाले उसके दोनों नेत्र अत्यन्त विशाल थे, उन्होंने लाल कमल और नीलकमल दोनोंको जीत लिया था फिर भला सोमवंश अर्थात् चन्द्रमापर कौनसा आक्षेप बाकी रह गया था अथवा सोमवंश अर्थात् जयकुमारपर कौन सा क्षेप अर्थात् कटाक्ष करना बाकी रह गया था ? ॥१५४॥ उसके कान ही सब कानोंमें अधिक पुण्यवान् थे क्योंकि वे पहलेसे ही अपने प्रिय—जयकुमारकी आज्ञासे उनके प्रेमसंभाषण और गीतोंके पात्र हो गये थे ॥१५५॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि कामदेवने जयकुमारको अपने रूपसे अजेय मानकर सुलोचनाकी भौंहरूपी धनुष और उसीके कटाक्षरूपी बाणोंके समूहसे ही उसे जीता था ॥१५६॥ उस सुलोचनाका सेवक अकेला कामदेव ही नहीं था किन्तु वीरशिरोमणि जयकुमार भी स्वयं उसका सेवक था, फिर भला शोभाको धारण करनेवाले उसके ललाटकी उन्नति—उच्चता अथवा उत्तमता क्यों न होती ? ॥१५७॥ कोमल, बारीक, चिकने, काले और कुछ कुछ टेढ़े उसके शिरके बाल कामी पुरुषोंको केवल काले सांघोंके बच्चोंके समान जान पड़ते थे ॥१५८॥ उस सुलोचनाका आगेका भाग नेत्र आदिसे विभूषित होकर सुशोभित हो रहा था और पिछला भाग किसी सुन्दर वस्तुके समान अपने आप ही सुशोभित हो रहा था ॥१५९॥ विधाताने उसका शरीर बनानेमें जिन अणुओंको साधन बनाया था यथार्थमें वे ही अणु परमाणु अर्थात्

१ निश्छिद्रा इत्यर्थः । २ उक्तगुणान् न सन्ति चेत् । ३ किञ्चिन्मित्रं निमिता इत्येवं पृच्छति । ४ यदि सती प्रशस्ता नासिका न स्यात् तर्हि मध्येवक्त्रं मुखमध्ये किं वस्तु अध्यास्ते । नासिकां मुक्त्वा न किमपि अधिवसितुं योग्यमित्यर्थः । ५ ध्वनी कर्णराजस्य विनाशो वर्तमाने । ६ वृद्धे किं न भवतः, भवत एव । ७ -वंशस्य ल०, म०, अ० । जयकुमारस्य । ध्वनी अर्जुनस्य । ८ तिरस्कारः । ९ नेत्रयोः । १० जयकुमारप्रसिद्ध्या । ११ -लापनीतानां अ०, म०, ल० । १२ भाजनम् । १३ तस्या भुवावेव शरासनं यस्य । १४ -टाक्षाशुगावलिः ल० । बाणसमूहः । १५ आत्मीयस्वरूपेण । १६ भावदर्शी सेवकः । 'लालाटिकः प्रभोसर्विदर्शी कार्याक्षमश्च यः ।' इत्यभिधानात् । न सेवको भवति चेत् । १७ कृष्णबालभुजङ्गाः । १८ मनोज्ञपदार्थ इव । १९ पृष्ठभावः । २० उपादानकारणीकृताः । २१ व्यर्था इत्यर्थः । २२ उत्कृष्टाणवः ।

अतिवृद्धः क्षयासन्नः स्पष्टलक्ष्माहिगोचरः^१ । पूर्णः शेषोऽयसम्पूर्णो^२ न तद्वक्त्रोपमो विधुः ॥१६१॥
 न पञ्चाक्ष पुरा लक्ष्मीर्बोधो^३ पयो क्षणे क्षणे । वक्तव्यन्यां गृह्णती शोभां सा^४ स्याद्वादं तदानने ॥१६२॥
 चन्द्रे तीव्रकरोत्सन्ना^५ पयो शीतकराहता । लक्ष्मीः साऽन्यैव तद्वक्त्रे 'जयलक्ष्मीकरग्रहात्' ॥१६३॥
 रात्राविन्दुदिवाम्भोजं क्षयीन्दुर्लानिधारिजम् । पूर्णमेव विकास्येव तद्वक्त्रं भास्यहविषम्^६ ॥१६४॥
 लक्ष्मीस्त'स्येक्षितुस्तेन' वीक्षितस्यापि निश्चिता । किं पयो तादृशं येन^७ तद्वक्त्रमुपमीयते^८ ॥१६५॥
 कुमार्या त्रिजगज्जेता जितः पुष्पशरासनः^९ । स वीरः कः परो लोके यो न जय्योऽग्र^{१०} तीजनया ॥१६६॥
 कुमार्यैव जितः कामो वीरः पञ्चाज्जयो जितः । स्त्रीसृष्टिः कियती नाम विजयेऽस्या सहभिया ॥१६७॥

उत्कृष्ट अणु थे और उनसे वाकी बचे हुए अणु तृणके समान तुच्छ थे ॥१६०॥ चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नहीं था क्योंकि यदि पूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते हैं तो वह बहुत बृद्ध अर्थात् बड़ा है, उसका क्षय निकट है, कलंक उसका स्पष्ट दिखलाई देता है और राहु उसे दबा देता है । यदि अपूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते हैं तो वह स्वयं अपूर्ण है—अधूरा है । भावार्थ—उसका मुख तृण, अविनश्वर, निष्कलंक और पूर्ण था इसलिये पूर्ण अथवा अपूर्ण कोई भी चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नहीं था ॥१६१॥ यदि कमलकी उपमा दी जावे सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कमलमें विकसित होनेके पहले लक्ष्मी नहीं थी और न पीछे रहती है वह तो क्षण क्षणमें विकसित होती रहती है परन्तु उसके मुखपर की लक्ष्मी एक विलक्षण शोभाको ग्रहण करती हुई स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी । भावार्थ—उसके मुखकी शोभा सदा एक सी रहकर भी क्षण क्षणमें विलक्षण शोभा धारण करती थी इसलिये कमलकी शोभासे कहीं अच्छी थी और इस प्रकार स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी क्योंकि जिस प्रकार स्याद्वाद द्रव्याधिक नयसे एकरूप रहकर भी पर्यायाधिक नयसे नवीन नवीन रूपको प्रकट करता है उसी प्रकार उसके मुखकी लक्ष्मी भी सामान्यतया एकरूप रहकर भी प्रतिक्षण विलक्षण शोभा धारण करती हुई अनेकरूप प्रकट करती थी ॥१६२॥ चन्द्रमाकी शोभा सूर्यसे नष्ट हो जाती है और कमलकी शोभा चन्द्रमासे नष्ट हो जाती है परन्तु उसके मुखकी शोभा जयकुमारकी लक्ष्मीका हस्त ग्रहण करनेसे विलक्षण ही हो रही थी ॥१६३॥ चन्द्रमा रातमें सुशोभित होता है और कमल दिनमें प्रफुल्लित रहता है, चन्द्रमाका क्षय हो जाता है और कमल मुरझा जाता है परन्तु उसका मुख पूर्ण ही था, विकसित ही था और रातदिन सुशोभित ही रहता था ॥१६४॥ सुलोचनाके मुखकी जो देखता था उसकी शोभा बढ़ जाती थी और सुलोचनाका मुख जिसे देखता था उसकी शोभा भी निश्चित रूपसे बढ़ जाती थी । कमलमें क्या ऐसा गुण है जिससे कि उसे सुलोचनाके मुखकी उपमा दी जा सके ? ॥१६५॥ उसने कुमारी अवस्थामें ही तीनों जगत्को जीतनेवाला कामदेव जीत लिया था फिर भला संसारमें ऐसा दूसरा कौन वीर था जो आगे युवावस्थामें उसके द्वारा न जीता जाय ? ॥१६६॥ इसने कुमारी अवस्थामें कामदेव को जीत लिया था और तरुण अवस्थामें जयकुमारको जीता था फिर भला इसके जीतनेके लिये

१ राहुगोचरः । (विषयः) । २ कलाशेषोऽपि । कलाहीन इत्यर्थः । बालचन्द्रोऽपि । ३ विकास-शीला । ४ लक्ष्मीः । ५ हता । ६ जयस्य लक्ष्मीः । ७ —त्यहर्निशम् अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ८ धर्मस्य । ९ वक्त्रेण । १० येन धर्मेण सह । ११ तादृशं धर्मं पक्षे किमस्ति ? नास्तीत्यर्थः । वीक्षितस्यापि अपिशब्दात् तद्वक्त्रं न दृष्टोऽस्ति । यद्यपि दृष्टस्य तस्य पञ्चस्थितधर्मस्य लक्ष्मीः शोभा तेन तद् तद्वक्त्रेण सह ईक्षितुः वीक्षमाणस्य जनस्य निश्चिता स्यात् । १२ पुष्पशरासनो जितः इत्यनेन कमणि पुरुषं नेच्छति इत्यर्थः । १३ यौवने ।

मृगाङ्कस्य कलङ्कोऽयं मन्येऽहं कन्ययाऽनया । स्वकान्त्या निजितस्याभूद् रोगराजश्च चिन्तया^१ ॥१६८॥
 सार्धं कुवलयेनन्दुः सह लक्ष्म्या सरोरुहम् । तद्वक्त्रेण जितं व्यक्तं किमन्यग्रेह जीयते ॥१६९॥
 जलाब्जं जलवासेन स्थलाब्जं सूर्यरश्मिभिः । प्राप्तुं तद्वक्त्रजां शोभां मन्येऽद्यापि तपस्यति^२ ॥१७०॥
 शनैर्बालेन्दुरेखेव सा 'कलाभिरवर्द्धत । वृद्धास्तस्याः प्रवृद्धाया विधुभिः स्पर्धिनो^३ गुणाः ॥१७१॥
 इति सम्पूर्णसर्वाङ्गशोभां शुद्धान्ववायजाम्^४ । स्मरो जयभयाद्वृतां^५ न 'तदाऽप्यकरोत् करे'^६ ॥१७२॥
 कारयन्ती जिनेन्द्रार्चाश्चित्रा^७ भणिमयीर्वह्नी^८ । तासां^९ हिरण्मयान्येव विद्वोपकरणान्यपि ॥१७३॥
 तत्प्रतिष्ठाभिषेकान्ते महापूजाः प्रकुर्वन्ती । मुहुः स्तुतिभिरर्थ्याभिः^{१०} स्तुवती भक्तितोऽर्हतां^{११} ॥१७४॥
 ददती पात्रदानानि मानयन्ती^{१२} महामुनीन् । शृण्वती धर्ममाकर्ष्य भावयन्ती मुहुर्मुहुः ॥१७५॥
 आप्तागमपदार्थाश्च प्राप्तसम्यक्त्वशुद्धिका । अथ फाल्गुननन्दीश्वरेऽसौ भक्त्या जिनेशिनान् ॥१७६॥
 विधायाष्टाह्निकीं पूजाम् अभ्यर्च्यार्चा यथाविधि । कृतोपवासा तन्वङ्गी शेषां^{१३} वातुमुपागता ॥१७७॥
 नृपं सिंहासनासीनं सोऽप्युत्थाय कृताञ्जलिः । तद्दत्तशेषाभादाय^{१४} निधाय शिरसि स्वयम् ॥१७८॥

लक्ष्मीके साथ साथ कितनी सी स्त्रियोंकी सृष्टि बाकी रही थी ? भावार्थ—इसने लक्ष्मी आदि उत्तम उत्तम स्त्रियोंको जीत लिया था ॥१६७॥ चन्द्रमाके बीच जो यह कलंक दिखता है उसे मैं ऐसा मानता हूँ कि इस कन्याने अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया है इसीलिये मानो उसे चिन्ताके कारण क्षयरोग हो गया हो ॥१६८॥ उस सुलोचनाके मुखने चन्द्रमाके साथ कुवलय अर्थात् कुमुदको जीत लिया था और लक्ष्मीके साथ साथ कमलको भी जीत लिया था फिर भला इस संसारमें और रह ही क्या जाता है जो उसके मुखके द्वारा जीता न जा सके ॥१६९॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि उसके मुखकी शोभा प्राप्त करनेके लिये जलकमल जलमें रहकर और स्थल कमल सूर्यकी किरणोंके द्वारा आजतक तपस्या कर रहा है ॥१७०॥ वह सुलोचना द्वितीया के चन्द्रमाकी रेखाके समान कलाओंके द्वारा धीरे धीरे बढ़ती थी और ज्यों ज्यों बढ़ती जाती थी त्यों त्यों चन्द्रमाकी कान्तिके साथ स्पर्धा करनेवाले उसके गुण भी बढ़ते जाते थे ॥१७१॥ इस प्रकार जो समस्त अंगोंकी शोभासे परिपूर्ण है और शुद्ध वंशमें जिसकी उत्पत्ति हुई है ऐसी उस सुलोचनाको कामदेव जयकुमारके भयसे युवावस्थामें भी अपने हाथमें नहीं कर सका था ॥१७२॥

उस सुलोचनाने श्री जिनेन्द्रदेवकी अनेक प्रकारकी रत्नमयी बहुत सी प्रतिमाएं बनवाई थीं और उनके सब उपकरण भी सुवर्ण हीके बनवाये थे । प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी अभिषेक हो जानेके बाद वह उन प्रतिमाओंकी महापूजा करती थी, अर्थपूर्ण स्तुतियोंके द्वारा श्री अर्हन्त-देवकी भक्तिपूर्वक स्तुति करती थी, पात्र दान देती थी, महामुनियोंका सन्मान करती थी, धर्मको सुनती थी तथा धर्मको सुनकर आप्त आगम और पदार्थोंका बार बार चिन्तन करती हुई सम्प्रदर्शनकी शुद्धताको प्राप्त करती थी । अथानन्तर—फाल्गुन महीनेकी अष्टाह्निकामें उसने भक्तिपूर्वक श्री जिनेन्द्रदेवकी अष्टाह्निकी पूजा की, विधिपूर्वक प्रतिमाओंकी पूजा की, उपवास किया और फिर वह कृशांगी पूजाके शेषाक्षत देनेके लिये सिंहासनपर बैठे हुए राजा अकम्पनके

१ क्षयव्याधिः । २ मनोदुःखेन । ३ तपश्चरति । ४ अवयवैः । ५ विधुभास्पर्धिनो ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ६ शुद्धवंशजाताम् । ७ जयकुमारभयादिव । ८ सुलोचनाम् । ९ यौवनकालेऽपि । १० करग्रहणं नाकरोत् । तस्याः कामविकारो नाभूदित्यर्थः । ११ प्रतिमाः । १२ प्रतिमानाम् । १३ सदर्थयुक्ताभिः । १४ अर्हद्देवान् । १५ पूजयन्ती । १६ शेषान् ल०, म० । १७—नादाय ल०, म० ।

उपवासपरिभ्रान्ता पुत्रिके त्वं प्रयाहि^१ ते^२ । शरणं^३ पारणाकाल इति कन्यां व्यसर्जयत् ॥१७६॥
 तां विलोक्य महीपालो बालामापूर्णयौवनाम् । निविकारां सचिन्तः सन् तस्याः^४ 'परिणयोत्सवे ॥१८०॥
 शुभे श्रुतार्थसिद्ध्यर्थसर्वार्थसुमतिश्रुतीन्^५ । कोष्ठादिमतिभेदान्वा^६ दिने व्याहृत्य मन्त्रिणः ॥१८१॥
 'वृणते सर्वभूपाताः कन्यां नः कुलजीवितम् । ब्रूत कस्मै प्रदास्यामो^७ 'विमृश्येमां सुलोचनाम् ॥१८२॥
 'इत्यप्राक्षीतवा प्राह श्रुतार्थः श्रुतसागरः । अत्र सद्बन्धुसम्बन्धो जामाताऽत्र महान्वयः ॥१८३॥
 'सर्वस्वस्य व्ययोऽत्राय^८ जन्मराज्यफलं च नः । ततः सञ्चित्यमेवैतत् कार्यं नयविशारदः ॥१८४॥
 बन्धवः स्युर्नृपाः सर्वे सम्बन्धश्चकर्त्तना । इक्ष्वाकुवंशवत्पूज्यो भद्रवंशश्च जायते ॥१८५॥
 कुलरूपवयोविद्यावृत्तश्रीपौरुषाविकम् । यद्वरेषु सम्बन्धे^९ सर्वं तत्तज^{१०} पिण्डितम् ॥१८६॥
 ततो नास्त्यत्र नश्चर्च^{११} दिगस्तत्प्राप्तकीर्तये । जिताकंमूर्तये देया कन्यै^{१२} धेत्यकंकीर्तये ॥१८७॥
 सिद्ध्यर्थोऽत्राह तत्सर्वमस्ति^{१३} किञ्च पुराविदः^{१४} । कनीयसोऽपि^{१५} सम्बन्धं नेच्छन्ति ज्यायसा सह^{१६} ॥
 ततः प्रतीतभूपालपुत्रा वरगुणान्विताः । प्रभञ्जनो रथवरो बलिबंजायुधाद्वयः ॥१८८॥

पास गई । राजाने भी उठकर और हाथ जोड़कर उसके दिये हुए शेषाक्षत लेकर स्वयं अपने मस्तकपर रखे तथा यह कहकर कन्याको विदा किया कि हे पुत्रि, तू उपवाससे खिन्न हो रही है, अब घर जा, यह तेरे पारणाका समय है ॥१७३-१७९॥ राजा पूर्ण यौवनको प्राप्त हुई उस विकारशून्य कन्याको देखकर उसके विवाहोत्सवकी चिन्ता करने लगा ॥१८०॥ उसने किसी शुभ दिनको कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी और संभिन्नश्रोतृ इन चारों बुद्धि ऋद्धियोंके समान श्रुतार्थ, सिद्ध्यर्थ, सर्वार्थ और सुमति नामके मंत्रियोंको बुलाया ॥१८१॥ और पूछा कि हमारे कुलके प्राणस्वरूप इस कन्याके लिये सभी राजा लोग प्रार्थना करते हैं इसलिये तुम लोग विचार कर कहो कि यह कन्या किसको दी जाय ? ॥१८२॥ इस प्रकार पूछनेपर शास्त्रोंका समुद्र श्रुतार्थ नामका मंत्री बोला कि इस विवाहमें सज्जन बन्धुओंका समागम होना चाहिये, जमाई बड़े कुलका होना चाहिये, इस विवाहमें बहुत सा धन खर्च होगा और हम लोगोंको अपने जन्म तथा राज्यका फल मिलेगा इसलिये नीतिनिपुण पुरुषोंको इस कार्यका अच्छी तरह विचार करना चाहिये ॥१८३-१८४॥ यदि यह सम्बन्ध चक्रवर्तीके साथ किया जाय तो सब राजा अपने बन्धु हो सकते हैं और आपका वंश भी इक्ष्वाकु वंशकी तरह पूज्य हो सकता है ॥१८५॥ कुल, रूप, वय, विद्या, चारित्र, शोभा और पौरुष आदि जो जो गुण वरोंमें खोजना चाहिये वे सब उसमें इकट्ठे हो गये हैं । इसलिये इसमें कुछ चर्चाकी आवश्यकता नहीं है जिसकी कीर्ति सब दिशाओंमें फैल रही है और जिसने अपने तेजसे सूर्यके प्रतिविम्बको भी जीत लिया है ऐसे चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके लिये यह कन्या दी जाय ॥१८६-१८७॥ इसी समय सिद्ध्यर्थ मंत्री कहने लगा कि आपका यह सब कहना ठीक है परन्तु पूर्व व्यवहारको जाननेवाले छोटे लोगोंका बड़ोंके साथ सम्बन्ध होना भी अच्छा नहीं समझते हैं ॥१८८॥ इसलिये बरके गुणोंसे सहित प्रभञ्जन, रथवर, बलि, वज्रायुध, मेघेश्वर (जयकुमार) और भीमभुज आदि अनेक प्रसिद्ध राजपुत्र हैं जो एकसे एक बढ़कर वैभवशाली हैं तथा चतुर

१ गच्छ । २ तव । ३ गृहम् । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यभिधानात् । ४ विवाह । ५ नामधेयान् ।

६ कोष्ठबुद्धिबीजबुद्धिपदानुसारिसंभिन्नश्रोतृभेदानिव । ७ वृण्वते ल०, म०, प०, स०, इ० । प्रार्थयन्ते ।

८ विचार्यम् । ९ पुच्छति स्म । १० धनस्य । ११ अथ वा जन्मतः फलं राज्यस्य फलम् । १२ मृग्यम् ।

१३ अर्ककीर्ती । १४ विचार्यम् । १५ इति प्राहेति सम्बन्धः । १६ -मस्तु ल०, म०, प० । १७ पूर्ववेदिनः ।

१८ अल्पस्य । १९ महता सह । ज्यायसां ल०, व० ।

मेघस्वरो भीमभुजस्तथाऽन्धेऽप्युदितोदिताः^१ । कृतिनो बहवः सन्ति तेषु^२ यत्राशयोत्सवः^३ ॥१६०॥
 शिष्टान् वृष्ट्वा च^४ देवज्ञात्रिरीक्ष्य शकुनानि च । स हितः^५ समसम्बन्धस्तस्मै कथ्येति दीयताम् ॥१६१॥
 श्रुत्वा सर्वार्थवित्सर्वं सर्वार्थः प्रत्युवाच^६ तत् । भूमिगोचरसम्बन्धः स नः प्रागपि विद्यते ॥१६२॥
 अपूर्वलाभः श्लाघ्यश्च विद्याधरसभाश्रयः । विचार्यं तत्र कस्मैचिद्देयेयमिति निश्चितम् ॥१६३॥
 सुमतिस्तं निशम्यार्थं^७ युक्तानामाह युक्तवित् । न युक्तं वक्तुमप्येतत्^८ सर्ववरानुबन्धकृत् ॥१६४॥
 किं भूमिगोचरेष्वस्या वरो नास्तीति चेतसि । चक्रिणोऽपि भवेत्किञ्चिद् वरस्यं प्रस्तुतश्रुतेः^९ ॥१६५॥
 दृष्टः सम्यगुपायोऽयं मयाऽत्रैकोऽविरोधकः । श्रुतः^{१०} पूर्वपुराणेषु स्वयंवरविधिर्वरः ॥१६६॥
 सम्प्रत्यकम्पनोपक्रमं^{११} तदस्त्वायुगावधि^{१२} । पुरुतपुत्रवत्सृष्टि^{१३} ख्यातिरस्यापि जायताम् ॥१६७॥
 दीयतां कृतपुण्याय कस्मैचित् कन्यका स्वयम् । वेधसा^{१४} विप्रियं^{१५} नोऽमा भाभूद् भूभूत्सु^{१६} केनचित् ॥१६८॥
 इष्ट्वेवमुक्तं तत्सर्वैः सम्मतं सहभूभुजा । नहि भत्सरिणः सन्तो न्यायमार्गानुसारिणः ॥१६९॥
 तान्^{१७} सम्पूज्य विसर्ज्याभूद्^{१८} भूभू^{१९} तत्कार्यतत्परः । स्वयमेव गृहं गत्वा सर्वं तत्संविधानकम्^{२०} ॥१७०॥

हैं उनमें जिसके लिये अपना चित्त प्रसन्न हो उसके लिये शिष्ट जन तथा ज्योतिषियोंसे पूछकर और उत्तम शकुन देखकर कन्या देनी चाहिये क्योंकि बराबरीवालोंके साथ सम्बन्ध करना ही कल्याणकारी हो सकता है ॥१८९-१९१॥ यह सब सुनकर समस्त विषयोंको जानने-वाला सर्वार्थ नामका मंत्री बोला कि भूमिगोचरियोंके साथ तो हम लोगोंका सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है, हां, विद्याधरोंके साथ सम्बन्ध करना हम लोगोंके लिये अपूर्व लाभ है तथा प्रशंसनीय भी है इसलिये विचारकर विद्याधरोंमें ही किसीको यह कन्या देनी चाहिये ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥१९२-१९३॥ तदनन्तर वहाँपर एकत्रित हुए सब लोगोंका अभिप्राय जानकर योग्य बातको जाननेवाला सुमति नामका मंत्री बोला कि यह सब कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ये सभी बातें शत्रुता उत्पन्न करनेवाली हैं ॥१९४॥ विद्याधरको कन्या दी हैं यह सुननेसे चक्रवर्तीके चित्तमें भी क्या भूमिगोचरियोंमें इसके योग्य कोई वर नहीं है यह सोचकर कुछ बुरा लगेगा ॥१९५॥ इस विषयमें किसीसे विरोध नहीं करनेवाला एक अच्छा उपाय मैंने सोचा है और वह यह है कि प्राचीन पुराणोंमें स्वयंवरकी उत्तम विधि सुनी जाती है । यदि इस समय सर्वप्रथम अकम्पन महाराजके द्वारा उस विधिका प्रारम्भ किया जाय तो भगवान् वृषभदेव और उनके पुत्र सम्राट् भरतके समान संसारमें इनकी प्रसिद्धि भी युगके अन्ततक हो जाय ॥१९६-१९७॥ इसलिये यह कन्या स्वयंवरमें जिसे स्वीकार करे ऐसे किसी पुण्यशाली राजकुमारको देनी चाहिये । ऐसा करनेसे हम लोगोंका आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेव अथवा युगव्यवस्थापक सम्राट् भरतसे कुछ विरोध नहीं होगा, और न राजाओंका भी परस्पर में किसीके साथ कुछ वैर होगा ॥१९८॥ इस प्रकार सुमति नामके मंत्रीके द्वारा कही सब बातें राजाके साथ साथ सबने स्वीकृत कीं सो ठीक ही है क्योंकि नीतिमार्गपर चलनेवाले पुरुष भात्सर्ग्य नहीं करते ॥१९९॥ तदनन्तर राजाने सन्मानकर मंत्रियोंको विद्वा किया और स्वयं

१ उख्युपर्यभ्युदयवन्तः । २ पुंसि । ३ चित्तोत्सवोऽस्ति । ४ ज्योतिष्कान् । ५ अस्माभिः सह सम्बन्धः सम्बन्धवान् वा । ६ तम् अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ७ भूचर । ८ अभिप्रायम् । ९ मिलितानाम् । श्रुतार्थादीनाम् । १० सर्वं वरं-प०, ल० । ११ विवाहवाताश्रवणात् । १२ पूर्वस्मिन् श्रुतः । १३ अकम्पनेन प्रक्रमोपक्रान्तम् । १४ स्वयंवरनिमिगम् । १५ पुरुजित् भरतराजवत् । १६ सष्टुः ट० । स्वयंवरस्य स्रष्टा इति प्रसिद्धिः । सृष्टिरिति पाठे स्वयंवरस्य सृष्टिप्रसिद्धिः । १७ ब्रह्मणा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृष्ट्विधिः' इत्यभिधानात् । १८ विरुद्धम् । अप्रियमित्यर्थः । १९ नृपेप् । २० मन्त्रिणः । २१ अकम्पनः । २२ स्वयंवरकार्यं । २३ प्रस्तुतं कृत्य ।

निवेद्य 'सुप्रभायाश्च हृष्टो हेमाङ्गदस्य' च । वृद्धः कुलक्रमायातः आलोक्य च सनाभिभिः ॥२०१॥
 अन्नंकेषां^१ निसृष्टार्थान्^२ मितार्थानिपरान्^३ प्रति । परेषां^४ 'प्राभूतान्तःस्थपत्रान् शासनहारिणः'^५ ॥२०२॥
 स दानमार्जः सम्पूज्य निवेद्यैतत्प्रयोजनम्^६ । समानेतुं महीपालान् सर्वविष्कं^७ समादिशत् ॥२०३॥
 ज्ञात्वा तदाशु तद्वन्धुविचित्राङ्गदसंज्ञकः^८ । सौधर्मकल्पादागत्य देवोऽवधिबिलोचनः ॥२०४॥
 अकम्पनमहाराजम् आलोक्य वयमागताः । सुलोचनायाः पुण्यायाः^९ स्वयंवरमवेक्षितुम् ॥२०५॥
 इत्युक्त्यो^{१०}पपुरे योग्ये रम्ये राजानिसम्मतः । ब्रह्मस्थानोत्तरे भागे प्रधीरे^{११} वरवास्तुति^{१२} ॥२०६॥
 प्राङ्मुखं सर्वतोभद्रं मङ्गलद्रव्यसम्भूतम् । विवाहमण्डपोपेतं प्रासादं बहुभूमिकम्^{१३} ॥२०७॥
 चित्रप्रतो^{१४}लीप्राकारपरिकर्मगृहवृत्तम्^{१५} । भास्वरं मणिभर्माभ्यां^{१६} विधाय विधिवत् सुधीः ॥२०८॥
 'तं परीत्य विशुद्धोऽहं सुविभक्तमहीतलम् । चतुरस्रं चतुर्द्वारशालगोपुरसंयुतम्^{१७} ॥२०९॥
 रत्नतोरणसङ्कोर्णकेतुमालाविलासितम् । हृदत्कूटाग्रनिर्भासि भर्मकुम्भाभिर्शोभितम्^{१८} ॥२१०॥
 स्थूलनीलोत्पलाबद्धस्फुरद्दीप्तिधरातलम् । विचित्रनेत्रविस्तीर्णवितानाति^{१९}धिराजितम् ॥२११॥

कार्य करनेमें जुट गया । उसने सबसे पहले घर जाकर ऊपर लिखे हुए समाचार सुप्रभादेवी और हेमाङ्गद नामके ज्येष्ठ पुत्रको कह सुनाये तथा कुलपरम्परासे आये हुए वृद्ध पुरुषों और सगोत्रो बन्धुओंके साथ पूर्वापर विचार किया ॥२००-२०१॥ कितने ही राजाओंके पास निसृष्टार्थ अर्थात् स्वयं विचारकर कार्य करनेवाले दूत भेजे, कितनों हीके पास मितार्थ अर्थात् कहे हुए परिमित समाचार सुनानेवाले दूत भेजे और कितनों हीके पास उपहारके भीतर रखे हुए पत्रको ले जानेवाले दूत भेजे । इस प्रकार दान और सम्मानके द्वारा पूजित कर तथा स्वयंवर का प्रयोजन बतलाकर राजाने भूपालोंको बुलानेके लिये सभी दिशाओंमें अपने दूत भेजे ॥२०२-२०३॥ यह सब समाचार जानकर अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाला विचित्राङ्गद नामका देव जो कि पूर्वभवंमें राजा अकम्पनका भाई था सौधर्म स्वर्गसे आया और अकम्पन महाराजके दर्शन कर कहने लगा कि मैं पुण्यवती सुलोचनाका स्वयंवर देखनेके लिये आया हूँ ॥२०४-२०५॥ ऐसा कहकर उसने राजाकी आज्ञानुसार नगरके समीप ब्रह्मस्थान से उत्तरदिशाकी ओर अत्यन्त शान्त, उत्कृष्ट, योग्य और रमणीय स्थानमें एक सर्वतोभद्र नाम का राजभवन बनाया जिसका मुख पूर्व दिशाकी ओर था, जो मङ्गलद्रव्योंसे भरा हुआ था, विवाहमण्डपसे सहित था तथा कई खण्डका था ॥२०६-२०७॥ वह राजभवन अनेक प्रकार की गलियों, कोठों तथा शृङ्गार करनेके घरोंसे घिरा हुआ था, देदीप्यमान था और मणियों तथा सुवर्णसे बना हुआ था । इस प्रकार उस बुद्धिमान् देवने विधिपूर्वक राजभवनकी रचना कर उसके चारों ओर स्वयंवरका महाभवन बनाया था जो कि विशुद्ध था, बड़ा था, जिसका पृथ्वीभाग अलग अलग विभागोंमें विभक्त था, जो चौकोर था, जिसमें चार दरवाजे थे, जो कोट तथा गोपुरद्वारोंसे सुशोभित था, रत्नोंके तोरणोंसे मिली हुई पताकाओंकी पंक्तियोंसे शोभायमान हो रहा था, देदीप्यमान शिखरोंके अग्रभागपर चमकते हुए सुवर्णके कलशोंसे अलंकृत

१ सुप्रभायाश्च अ०, प० । २ निजज्येष्ठपुत्रस्य । ३ केषाञ्चिन्नृपाणाम् । ४ स्वयमेव विचारितकार्यान् । ५ परिमितकार्यार्थान् । ६ उपायन । ७ बचोहरान् । -पत्रशासन-ल० । ८ स्वयंवरकार्यम् । ९ स्वयंवर-दिशाम् । १० अकम्पनस्य मित्रम् । ११ पवित्रायाः । १२ पुरसमीपे । १३ पदविन्यासान्निश्चितमध्य-भागस्योत्तरे । १४ अतिगम्भीरे । १५ वरवास्तुदेशे । 'वैश्व भूर्वास्तुरस्त्रियाम् इत्यभिधानात् । १६ -भूमिपम् ल०, म० । १७ गोपुररथ्या वा । १८ शृंगारगृह । १९ 'भर्म' इत्थं 'हाटकं' शातकुम्भम् इत्यभिधान-पाठादन्तः । २० सर्वतोभद्रं परिवेष्ट्य । २१ द्वारं शाल-ल०, म०, अ०, प०, स०, इ० । २२ कनककलश । २३ वस्त्रविशेष ।

भोगोपभोगयोगयोहसर्ववस्तुसमाचितम्^१ । यथास्थानगताशेषरत्नकाञ्चननिर्मितम् ॥२१२॥
 मुवा निष्पावयामास स्वयंवरमहागृहम् । न साधयन्ति केऽभीष्टं पुंसां शुभविपाकतः^२ ॥२१३॥
 तं निरीक्ष्य क्षितेर्भर्ता लक्ष्मीलीलागृहायितम् । नासीत् स्वाङ्गे^३ स सन्तोषात् सन्निव्रात् किञ्च जायते ॥
 अथ प्रादुरभूत् कालः 'सुरभिर्मत्तमन्मथः । मुवं सर्वं च सञ्चिन्वन् कामिषु भ्रमरेषु च ॥२१४॥
 ववौ भवं गजोद्धूटचन्दनद्रवसारभृत् । एलालवङ्गासंसर्गपङ्क्तुलो^४ मलयानिलः ॥२१५॥
 मलयानिलमाश्लेष्टुं^५ सम्बन्धिनमुपागतम् । लताद्वयाः सुशाखानां प्रसारणमिवादधुः^६ ॥२१६॥
 यमसम्बन्धिविदित्यागं रविर्भीत इवाकरोत् । मदेन कोकिलाः काले कूजन्ति स्म निरङ्कुशम् ॥२१७॥
 'पुष्पमार्तवमाप्ता नः^७ शाखा न स्पृशतेति तान् । अलीन् वासं निषिध्यन्तश्चम्पकाश्चलपल्लवैः^८ ॥२१८॥
 वसन्तश्रीवियोगो^९ वा सशोकोऽशोकभूरुहः । सपुष्पपल्लवो नाम सार्धं तत्सङ्गाभाद् व्यधात् ॥२१९॥
 मूलस्कन्धाग्रमध्येषु चूताद्यैरिव मत्सरात् । सुरभीणि प्रसूनानि सुरभिश्च^{१०} तदा दधे ॥२२०॥

था, जिसका धरातल बड़े बड़े नीलमणियोंसे जड़ा हुआ होनेके कारण जगमगा रहा था, जो नेत्र जातिके वस्त्रोंसे बने हुए बड़े बड़े चंदोवोंसे सुशोभित था, भोग उपभोगके योग्य समस्त बड़ी बड़ी वस्तुओंसे भरा हुआ था और योग्य स्थानपर लगाये हुए सब प्रकारके रत्नों तथा सुवर्णसे बना हुआ था । इस प्रकारका स्वयंवरका यह महाभवन उस देवने बड़ी प्रसन्नतासे बनाया था सो ठीक ही है क्योंकि पुण्योदयसे पुरुषोंके अभीष्ट अर्थको कौन कौन सिद्ध नहीं करते हैं अर्थात् सभी करते हैं ॥२०८-२१३॥ लक्ष्मीके लीलागृहके समान उस स्वयंवर भवनको देखकर राजा अकंपन संतोषसे अपने शरीरमें नहीं समा रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम मित्रोंसे क्या नहीं होता है ? अर्थात् सभी कुछ होता है ॥२१४॥

अथानन्तर-कामको उत्पन्न करनेवाले तथा कामी लोगों और भ्रमरोंसे क्रमशः आनन्द और मदको बढ़ानेवाले वसन्तऋतुका प्रारम्भ हुआ ॥२१५॥ हाथियोंके द्वारा जिसे हुए चन्दन-वृक्षोंके निष्यन्दरूपी सारको धारण करनेवाला तथा इलायची और लवंगके संसर्गसे कुछ कुछ पीला हुआ मलयपर्वतका वायु धीरे धीरे बहने लगा ॥२१६॥ उस समय लताओं और वृक्षोंकी जो शाखाएं फैल रही थीं उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो समीप आये हुए अपने सम्बन्धी मलयानिलका आलिंगन करनेके लिये ही भुजारूप शाखाएं फैला रहे हों ॥२१७॥ उस समय सूर्यने मानो डरकर ही यम सम्बन्धी-दक्षिण दिशाका त्याग कर दिया था अर्थात् उत्तरायण हो गया था और कोयलें मदसे निरंकुश होकर मधुर शब्द कर रही थीं ॥२१८॥ 'ये हमारी शाखाएं आर्तव अर्थात् वसन्त ऋतुमें उत्पन्न होनेवाले अथवा रजस्वला अवस्थामें प्रकट होने वाले पुष्पको प्राप्त हो रही हैं-धारण कर रही हैं इसलिये इन्हें मत छुओ' यही कहते हुए मानो चंपाके वृक्ष अपने हिलते हुए पल्लवोंके द्वारा भ्रमरोंको वहांपर निवास करनेका निषेध कर रहे थे ॥२१९॥ जो वसन्त ऋतुरूपी लक्ष्मीके वियोगमें सशोक था अर्थात् शोक धारण कर रहा था ऐसा अशोकका वृक्ष उस वसन्त ऋतुके सम्बन्धसे फूल और पल्लवोंसे सहित हो अपना अशोक नाम सार्थक कर रहा था ॥२२०॥ उस समय चमेलीने आम आदि वृक्षोंके साथ ईर्ष्या

१ सम्भूतम् । २ प्रदेशमनतिक्रम्य । ३ शुभकर्मोदयात् । ४ हर्षेण निजशरीरे न समावित्यर्थः । नामात् ल०, म०, अ०, स०, प०, इ० । ५ वसन्तः । 'वसन्ते पुष्पसमयः सुरभिर्ग्रीष्म उष्मकः' इत्यभिधानात् । ६ पदवैकल्यवान् । ७ आलिङ्गनाय । ८ करप्रसारणमिव । ९ चक्रिरे । १० ऋतुं पुष्पोत्पत्तिनिमित्तभूतकालविशेषं रजोत्पत्तिनिमित्तं कालविशेषञ्च । ११ अस्माकम् । १२ वियोगे ल० । १३ सल्लकीतरुः । "गन्धिनी गजभक्ष्या तु सुवहा सुरभी रसा । महेक्षणा कुन्दुष्की सल्लकी ह्लादिनीति च" इत्यभिधानात् ।

आकृष्टदिग्गजालीनि^१ बकुलानि वने वने । हानी^२ गुणाधिकान्यासंस्तुलितानि^३ कुलोद्गतैः^४ ॥
 क्रीडनासक्तकान्ताभिर्बाध्यमानाः सगीतिभिः । आन्दोलाः स्तम्भसम्भूतैः समाक्रोशशिव^५ स्वनैः ॥२२३॥
 सुन्दरेष्वपि कुन्देषु मधुपा मन्दतृप्तयः । माधवीमधुपानेन मुक्ता मधुरमाह्वयन्^६ ॥२२४॥
 भवेदन्ध्र^७ कामस्य रूपवित्तादि^८ साधनम् । कालैकसाधनः^९ सोऽस्मिन्ना^{१०} वनस्पति^{११} जुम्भते^{१२} ॥२२५॥
 नरविद्याधराधीशान् गत्वा^{१३} तत्कालसाधनात् । दूताः स्वयंवरालापं सर्वास्तान् समबोधयन् ॥२२६॥
 ततो नानातन्त्रध्वानप्रोत्कर्णोक्तदिग्द्विधाः । निजाङ्गनानानामभोजपरिम्लानिविधायिनः ॥२२७॥
 विद्यद्विभूतिमाक्रम्य विमानैर्गतमानकैः^{१४} । सद्यो विद्याधराधीशा द्योतमानदिगाननाः ॥२२८॥
 सुलोचनाभिधाकृष्टि^{१५} विद्याकृष्टाः समापतन्^{१६} । कामिनां न पराकृष्टि^{१७} विद्यागुक्त्वेप्सितस्त्रियः ॥

होनेके कारण ही मानो जड़, स्कन्ध, मध्यभाग और ऊपर—सभी जगह सुगन्धित फूल धारण किये थे ॥२२१॥ जिन्होंने दिग्गजोंके भ्रमरोंको भी अपनी ओर खींच लिया है और जो उच्च-कुलमें उत्पन्न हुए बड़े पुरुषोंके समान हैं ऐसे मौलश्रीके वृक्ष प्रत्येक वनमें अपनी हानि होनेपर भी गुणोंकी अधिकता ही धारण कर रहे थे । भावार्थ—जिस प्रकार कुलीन मनुष्य हानि होनेपर भी अपना गुण नहीं छोड़ते हैं उसी प्रकार मौलश्रीके वृक्ष भी भ्रमरों द्वारा रसका पान किया जाना रूप हानिके होनेपर भी अपना सुगन्धिरूप गुण नहीं छोड़ रहे थे ॥२२२॥ जो गीत गा रही हैं तथा खेलनेमें लगी हुई हैं ऐसी सुन्दर स्त्रियां जो भूला भूल रहीं थीं और उनके भूलने से जो उनके खंभोंसे चूँ चूँ शब्द हो रहा था उनसे वे भूले ऐसे जान पड़ते थे मानो उन स्त्रियोंके द्वारा पीड़ित होकर ही चिल्ला रहे हों ॥२२३॥ जिन्हें कुन्दके सुन्दर फूलोंपर अच्छी तृप्ति नहीं हुई है ऐसे भ्रमर माधवी (मधुकामिनी) लताका रस पीकर आनन्दसे मधुर शब्द कर रहे थे ॥२२४॥ वसन्तको छोड़कर अन्य ऋतुओंमें अच्छा रूप होना आदि भी कामदेवके साधन हो सकते हैं परन्तु इस वसन्तऋतुमें एक समय ही जिसका साधन है ऐसा यह काम वनस्पतियों तक फैल जाता है । भावार्थ—अन्य ऋतुओंमें सौन्दर्य आदिसे भी कामकी उद्भूति हो सकती है परन्तु वसन्तऋतुमें कामकी उद्भूतिका कारण समय ही है । उस समय सौन्दर्य आदिका अभाव होनेपर भी केवल समयकी उत्तेजनासे कामकी उद्भूति देखी जाती है और उसका क्षेत्र केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रहता किन्तु वनस्पतियों तकमें फैल जाता है ॥२२५॥ उस वसन्तऋतुकी सहायतासे उन दूतोंने भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके पास जाकर उन सबको स्वयंवरके समाचार बतलाये ॥२२६॥

तदनन्तर अनेक नगाड़ोंके शब्दोंसे दिग्गजोंके वान खड़े करनेवाले अपनी स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंको म्लान करनेवाले, सब दिशाओंके मुखको प्रकाशित करनेवाले और सुलोचना इस नामरूपी आकर्षिणी विद्यासे आकर्षित हुए अनेक विद्याधरोंके अधिपति अपने अनेक विमानों से आकाशके विस्तारको कम करते हुए बहुत शीघ्र आ पहुंचे सो ठीक ही है क्योंकि कामी लोगों को अपनी अभीष्ट स्त्रियोंको छोड़कर और कोई उत्तम आकर्षिणी विद्या नहीं है ॥२२७—२२९॥

१ आकृष्टा दिग्गजगण्डवर्त्यलयो वैस्तानि । २ पुष्पामोदत्यागे सति । ३ गन्धगुणाधिकानि । ४ उक्तादिगुणाधिकानि । ५ सदृशोक्तानि । ६ विशुद्धवशोद्भूतैः । ७ आक्रोशं चक्रिरे । ८ ध्वनन्ति स्म । ९ अन्यस्मिन् काले । १० स्त्रीपुंसां रूपधनभूषणादि । ११ काल एक एव साधनं यस्य सः । १२ वसन्तकाले । १३ वनस्पतिपर्यन्तम् । १४ वदधते । १५ वसन्तकाल । १६ आकाशविस्तृतिम् । १७ अपरिच्छिन्नप्रमाणकैः । अपरिमितैरित्यर्थः । —तत्तमानकैः ल०, म० । १८ सुलोचनानामैव आकर्षण-विद्या तया आकृष्टा आकर्षिता । १९ आगच्छन्ति स्म । २० आकर्षणविद्या ।

अभिगम्य^१ नृपः^२ क्षिप्रं स्वयमाविष्कृतोत्सवः । चेतःसौलोचनं^३ वतान् प्रीतान् प्रावेशयत्पुनः^४ ॥२३०॥
 स्वगोहादिषु सम्प्रीत्या समुद्रबद्धोत्सवध्वजः । आकम्पनिभिराविष्कृतावरैः परिवारितः ॥२३१॥
 सांशुकर्ममिवोद्यन्तम् अर्ककीर्तिं सहानुजम् । अकम्पननृपोऽभेत्य^५ भरतं वा^६ऽनयत्पुनः ॥२३२॥
 स्वादरेणैव^७ संसिद्धिं भाविनीं तस्य सूचयन् । नाथवंशाग्रणीमैधस्वरं चानेतुमभ्ययात् ॥२३३॥
 ततो महीभूतः सर्वे त्रिसमुद्रान्तरस्थिताः । पूरा इव पयोराशिं प्रापुः स्फीतीकृतश्रियः ॥२३४॥
 स्वयमर्थं पथं गत्वा केषाञ्चित् सर्वसम्पदा । केषाञ्चिद् गमयित्वाऽन्यान् मान्यान् हेमाङ्गदादिकान् ॥२३५॥
 ये ये यथा यथा प्राप्ताः पुरींस्तां स्तांस्तथा तथा । आह्वयन्तीं पताकाभिर्बोद्धिताभिरबोद्धित^८ ॥२३६॥
 तदा तं राजगोहस्थं नरविद्याधराधिपं । वृत्तं सुलोचनाङ्गार्षीत् पितरं जितचक्रिणम् ॥२३७॥
 वाराणसीं जितायोध्या^९ स्वनाम्नस्तां^{१०} निराकरोत् । कन्यारत्नात् परं^{११} नाप्यद् इत्यब्राहुः प्रभृत्यतः ॥२३८॥
 तान् स्वयंवरशालायाम् अर्ककीर्तिपुरस्सरान् । निवेद्य प्रीणयामास कृताभ्यागतसत्किमः ॥२३९॥

अनेक उत्सवोंको प्रकट करनेवाले राजा अकंपनने स्वयं ही बहुत शीघ्र उन राजाओंकी अगवानी की और प्रसन्न हुए उन राजाओंको सुलोचनाके चित्तके समान वाराणसी नगरीमें प्रवेश कराया ॥२३०॥ जिसने बड़े प्रेमसे अपने घर आदिमें उत्सवकी ध्वजाएं बंधाई हैं और आदरको प्रकट करनेवाले हेमांगद आदि पुत्र जिसके साथ हैं ऐसे राजा अकम्पनने किरणों सहित उदय होते हुए सूर्यके समान अपने छोटे भाइयों सहित आये हुए अर्ककीर्तिकी अगवानी कर उसे महाराज भरतके समान नगरमें प्रवेश कराया ॥२३१-२३२॥ इसी प्रकार अपने आदरसे ही मानो उसकी आगे होनेवाली सिद्धिके सूचित करता हुआ नाथवंशका अग्रणी राजा अकंपन जयकुमार को लेनेके लिये उसके सामने गया ॥२३३॥ तदनन्तर जिस प्रकार पूर समुद्रकी ओर जाता है उसी प्रकार तीनों (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण) समुद्रोंके बीचके रहनेवाले सब राजा लोग अपनी अपनी शोभा बढ़ाते हुए बनारस आ पहुंचे ॥२३४॥ राजा अकंपन कितने ही राजाओंके सामने तो अपनी सब विभूतिके साथ स्वयं आधी दूरतक गया था और कितनों हीके सामने उसने मान्य हेमाङ्गद आदिको भेजा था ॥२३५॥ जो राजा जिस जिस प्रकारसे आ रहे थे उन्हें उसी उसी प्रकारसे उसने, अपनी फहराती हुई पताकाओंसे जो मानो बुला ही रही हों ऐसी बनारस नगरीमें प्रवेश कराया था ॥२३६॥ उस समय सुलोचनाने राजमहलमें विराजमान तथा भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंसे घिरे हुए अपने पिताको चक्रवर्तीको भी जीतनेवाला बना दिया था । भावार्थ—महलमें इकट्ठे हुए अनेक राजाओंसे राजा अकंपन चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था ॥२३७॥ उस समय अयोध्याको भी जीतनेवाली वाराणसी नगरी अपने नामसे ही उसका तिरस्कार कर रही थी । क्योंकि उस स्वयंवरके समय से ही लेकर इस संसारमें कन्यारत्नके सिवाय और कोई उत्तम रत्न नहीं है, यह बात प्रसिद्ध हुई है । भावार्थ—कदाचित् कोई कहे कि चक्रवर्तीकी राजधानी होनेसे चौदह रत्न अयोध्यामें ही रहते हैं इसलिये वही उत्कृष्ट नगरी हो सकती है न कि वाराणसी भी; तो इसका उत्तर यह है कि संसारमें सर्वोत्कृष्ट रत्न कन्यारत्न है जो कि उस समय वाराणसीमें ही रह रहा था अतः उत्कृष्ट रत्नका निवास होनेसे वाराणसीने अयोध्याका तिरस्कार कर दिया था ॥२३८॥ अतिथियोंका सत्कार

१ अभिमुखं गत्वा । २ अकम्पनः । ३ सुलोचनाचित्तमिव । ४ अकम्पनस्यापत्यैः । ५ अभिमुखं गत्वा । ६ भरतमिव । ७ अकम्पनस्यादरेण । ८ वृद्धीकृत । ९ प्रावेशयत् । १० अयोध्याभिधानात् । ११ अयोध्याविक्रितम् । अथवा योद्धुमशक्या अयोध्या एतल्लक्षणं तदा तस्या अयोध्याया नास्तीति भावः । १२ उत्कृष्टम् ।

पुरोपाजितसद्वर्मात् सर्वमेतत्ततः^१ पुरा^२ । धर्म एव समभ्यर्च्य इति सञ्चित्य विद्वरः^३ ॥२४०॥
 कृत्वा जनेश्वरीं पूजां दीनानाथवनीपकान्^४ । अर्नाथनः^५ समर्थ्याशु^६ सर्वत्यागोत्सवोद्यतः ॥२४१॥
 तां लक्ष्मीमक्षयां मत्वा सफलां चाप्तसद्व्ययाम् । स तदाभूत् क्षतेरेकभोग्यः^७ क्षितिर्वात्मनः ॥२४२॥
 एवं विहिततत्पूजः^८ प्रकृतार्थ^९ प्रचक्रमे । प्रारम्भाः सिद्धिमायान्ति पूज्यपूजा^{१०} पुरस्सराः ॥२४३॥
 आस्फालिता तदा भेरी विवाहोत्सवशंसिनी । व्याप्नोत्^{११} प्रमोदः प्राक् चेतः पश्चात् कर्णेषु तद्भ्वनिः॥
 पुष्पोपहारिभूभागानृत्यत्केतुनभस्तला । निजिताब्धिमहात्सूर्यध्वानाध्मातदिगन्तरा ॥२४४॥
 विशोधितमहावीथिदेशा प्रोद्बद्धतोरणा । पुनर्नवसुधाक्षोदधवलीकृतसौधिका^{१२} ॥२४५॥
 रञ्जिताञ्जनससेत्रा मालाभारिशिरोरुहा । संस्कृतभूलतोपेता सविशेषललाटिका^{१३} ॥२४६॥
 मणिकुण्डलभारेण प्रलम्बश्रवणोज्ज्वला । सचित्रकरवित्यस्त^{१४} पत्रचित्रकपोलिका ॥२४७॥
 ताम्बूलरससंसर्गाद् द्विगुणारुणिताधरा । मुक्ताभरणभाभारभासिबन्धुरकण्ठिका^{१५} ॥२४८॥
 सचन्दनरसस्फुरहारवक्षःकुचाञ्चिता^{१६} । महामणिमयूखा^{१७} तिभास्वद्भुजलतातता ॥२४९॥

करनेवाले राजा अकम्पनने उत अर्ककीर्ति आदि राजाओंको स्वयंवरशालामें ठहराकर प्रसन्न किया था ॥२३९॥ यह सब पहले उपाजित किये हुए समीचीन धर्मसे ही होता है इसलिये सबसे पहले धर्म ही पूजा करनेके योग्य है ऐसा विचारकर विद्वानोंमें श्रेष्ठ राजा अकम्पन श्री जिनेन्द्र-देवकी पूजाकर तथा दीन, अनाथ और याचकोंको अयाचक बनाकर सबका त्याग करनेरूप उत्सवके लिये शीघ्र ही तयार हो गया । वह अच्छे कामोंमें खर्च की हुई लक्ष्मीको क्षयरहित और सफल मानने लगा तथा जिस प्रकार उसकी पृथिवी उसके उपभोग करनेके योग्य थी उसी प्रकार उस समय वह समस्त पृथिवीके उपभोग करने योग्य हो गया था । भावार्थ—पृथिवीके सब लोग उसके राज्यका उपभोग करने लगे थे ॥२४०—२४२॥ इस प्रकार उसने जिनेन्द्रदेवकी पूजाकर अपना प्रकृत कार्य प्रारम्भ किया सो ठीक ही है क्योंकि पूज्य पुरुषोंकी पूजा पूर्वक किये हुए कार्य अवश्य ही सफलताको प्राप्त होते हैं ॥२४३॥ उसी समय विवाह-के उत्सवको सूचित करनेवाली भेरी बज उठी सो पहले सबके चित्तमें आनन्द छा गया और पीछे भेरीकी आवाज कानोंमें व्याप्त हुई ॥२४४॥ उस समय वहां पृथिवीपर जहां तहां फूलों के उपहार पड़े हुए थे, आकाशमें पताकाएं नृत्य कर रही थीं, समुद्रमें गर्जनाको जीतनेवाले बड़े बड़े नगाड़ोंसे दिशाएं शब्दायमान हो रही थीं, वहांकी बड़ी बड़ी गलियां शुद्ध की गई थीं उनमें तोरण बंधे गये थे और बड़े बड़े महल नये चूनाके चूर्णसे पुनः सफेद किये गये थे ॥२४५—२४६॥ वहांकी स्त्रियोंके उत्तम नेत्र कज्जलसे रंगे हुए थे, शिरके केश मालाओंको धारण कर रहे थे, भौंहरूपी लताएं संस्कार की हुई थीं, उनके ललाटपर सुन्दर तिलक लगा हुआ था, उज्ज्वल कर्ण मणियोंके बने हुए कुण्डलोंके भारसे कुछ कुछ नीचेकी ओर झुक रहे थे, कपोलोंपर हाथसे बनाई हुई पत्ररचनाके चित्र बने हुए थे, पानके रसके संबन्धसे उनके ओठोंकी लाली दूनी हो गई थी, उनके कण्ठ मोतियोंके आभूषणोंकी कान्तिके भारसे बहुत ही सुशोभित हो रहे थे, उनका वक्षःस्थल चन्दनका लेप, बड़ा हार और स्तनोंसे शोभायमान हो रहा था, उनकी भुजा-रूपी लताएं बड़े बड़े मणियोंकी किरणोंसे देदीप्यमान हो रही थीं, उनका विशाल नितम्बस्थल

१ ततः कारणात् । २ पूर्वम् । ३ विदां वरः । ४ याचकान् । ५ अनिच्छन् । ६ प्रकाश्य । ७ सर्वजनस्य । ८ कृतजिनपूजः । ९ प्रकृतकार्यम् । १० पूज्यानां पूजा पुरस्सरा येषु ते । ११ प्रसरति स्म । १२ नूतनसुधालेपधवलीकृतहर्म्या । १३ तिलकसहितभालस्थला । १४ रत्नकर्णवेष्टन । १५ प्रशस्त-चित्रिकाजनचित्रितमकरिकापत्रादिविविधरचनावद्गण्डमण्डला । १६ मनोजग्रीवा । १७ प्रशस्तश्रीखण्डकर्म-कलितवक्षसास्फुरणहारान्वितकुचाभ्यां च पूजिता । १८ मयूखाभा 'तं' पुस्तकं विहाय सर्वत्र ।

रशनारज्जुविभाजिसुविशालकटीतटी । मणितूपुरनिर्घोषभस्तिताब्जक्रमाब्जिका ॥२५१॥
 जितामरपुरीशोभा सौन्दर्यात् सा पुरी तदा । प्रसाधनमयं कायम् अधिताचिन्त्य वैभवम् ॥२५२॥
 उत्सवो राजगोहस्य नगरेणैव वर्णितः । अगाधो यदि पर्यस्तो मध्यमदधेः^१ किमुच्यते ॥२५३॥
 न चित्रं तत्र^२ मच्चित्तो^३ सोत्सवोऽन्तर्बहिश्च तत् । तद्वत्स्वभूषया यस्मात्^४ कुडघाद्यपि विचेतनम् ॥२५४॥
 भोक्तृशून्यं न भोगाङ्गं न भोक्ता भोगवर्जितः । तत्र सन्निहितोऽनङ्गो लक्ष्मीश्चाविष्कृतोदया ॥२५५॥
 पश्य पुण्यस्य माहात्म्यमिहापीति^५ तदुत्सवम्^६ । विलोक्य कृतधर्माणः^७ पुरस्थान् बहु मेनिरे ॥२५६॥
 उदसुन्वन् फलं मत्वा धर्मस्य मुनयोऽपि तत् । धर्माधर्मफलालोकात् स्वभावः स हि तादृशाम् ॥२५७॥
 कन्यागृहात्तदा कन्याम् अन्धां वा कमलालयाम्^८ । पुरोभूय^९ पुरन्धयस्तामीषल्लज्जात्तसाध्वताम्^{१०}
 विवाहविधिवेदिन्यः कृततत्कालसत्क्रियाम् । समानीय सदैवज्ञा^{११} महातुर्यैरवान्विताम् ॥२५८॥
 सर्वमङ्गलसम्पूर्णं मुक्तालम्बू^{१२}षभूषिते । चतुःकाञ्चनसुस्तम्भे भूरिरत्नस्फुरस्त्रिषि ॥२६०॥
 प्रमोदात् सुप्रभादेशाद्^{१३} विवाहोत्सवमण्डपे । कलधौतमये पट्टे^{१४} निवेश्य प्राडमुखीं सुखम् ॥२६१॥

करधनीरूपी रज्जुसे सुशोभित हो रहा था, और उनके चरणकमल मणिमयी नूपुरोंकी भनकार से कमलोंका तिरस्कार कर रहे थे ॥२४७-२५१॥ इस प्रकार अपनी सुन्दरतासे स्वर्गपुरीकी शोभाको जीतनेवाली वह नगरी उस समय अचिन्त्य वैभवशाली अलंकारमय शरीरको धारण कर रही थी ॥२५२॥ राजमहलका उत्सव तो नगर ही कह रहा था क्योंकि समुद्रके किनारे का भाग ही जब अगाध है तब उसके बीचका क्या पूछना है ? भावार्थ—जब नगरमें ही भारी उत्सव हो रहा था तब राजमहलके उत्सवका क्या पूछना था ? ॥२५३॥ वहाँके सचेतन प्राणी अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सब जगह उत्सव मना रहे थे इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि वहाँकी दीवालें आदि अचेतन पदार्थ भी तो अपने अलंकारों द्वारा सचेतन प्राणियोंके समान ही उत्सव मना रहे थे । भावार्थ—दीवालें आदि अचेतन पदार्थ भी अलंकारोंसे सुशोभित किये गये थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो उल्लाससे अलंकार धारण कर स्वयं ही उत्सव मना रहे हों ॥२५४॥ वहाँपर भोगोपभोगका कोई भी पदार्थ भोक्तासे रहित नहीं था और न कोई भोक्ता भी भोगोपभोगके पदार्थसे रहित था, वहाँपर कामदेव सदा समीप ही रहता था और लक्ष्मी उदयरूप रहती थी ॥२५५॥ इस जन्ममें ही पुण्यका माहात्म्य देखो ऐसा सोचते हुए कितने ही धर्मात्मा लोग वहाँका उत्सव देखकर उस नगरके रहनेवाले लोगोंको बड़ी आदरकी दृष्टिसे देख रहे थे ॥२५६॥ मुनि लोग भी उसे धर्मका फल मानकर प्रसन्न हुए थे सो ठीक है क्योंकि धर्मका फल देखकर प्रसन्न होना धर्मात्मा लोगोंका स्वभाव है और अधर्मका फल देखकर प्रसन्न होना अधर्मात्मा लोगोंका स्वभाव है ॥२५७॥ उसी समय विवाहकी विधिको जाननेवाली सौभाग्यवती स्त्रियां, जिसने तात्कालिक सत्क्रियाएं की हैं, जो लज्जासे कुछ भयभीत हो रही हैं, जिसके आगे बड़े बड़े नगाड़ोंके शब्द हो रहे हैं ज्योतिष शास्त्रको जाननेवाले अनेक विद्वान् जिसके साथ हैं और जो दूसरी लक्ष्मीके समान जान पड़ती हैं ऐसी उस कन्याको उसके सामने जाकर उसके घरसे सब प्रकारके मंगल द्रव्योंसे भरे हुए, मोतियोंके आभूषणोंसे सुशोभित, सुवर्णके बने हुए चार उत्तम खम्भोंसे युक्त और अनेक रत्नोंकी कान्तिसे जगमगाते हुए

१ अलंकारस्वरूपम् । २ विभक्ति स्म । ३—मन्धी ल० । ४ पुण्यम् । ५ चेतनवान् । ६ उत्सववत् । ७ यस्मात् कारणात् । ८ सक्चन्दनादि । ९ नगरे । १० अस्मिन् जन्मन्यपि । कि पुनरुत्तरजन्मनीत्यपि शब्दार्थः । ११ तत्पुरोत्सवम् । १२ कृतपुण्याः । १३ उत्सवं प्राप्ताः । उदास्तन्वत् ल० । १४ लक्ष्मीम् । १५ पुरस्कृत्य । १६ कुटुम्बिन्यः । स्यात्तु कुटुम्बिनी पुरन्ध्री इत्यभिधानात् । पुरं पोष्यबहुजनसमूहं धत्त इति पुरन्ध्री । पुत्रादिपोष्यवर्गशालिन्याः स्त्रिया नाम । १७ लज्जया स्वीकृत । १८ ज्योतिष्कसहिताः । १९ माला । २० सुप्रभामहादेवीनिरूपणात् । २१ फलके ।

कलशं मुखविन्यस्तविलसत्पल्लवाधरं । अभिषिच्य विशुद्धान्बुधैः स्वर्णमयैः शनैः^१ ॥२६२॥
 कृतमङ्गलनेपथ्यां नीत्वा नित्यमनोहरम्^२ । पूजयित्वाऽर्हतो भक्त्या सर्वकल्याणकारिणः ॥२६३॥
 सिद्धशेषा^३ सप्तादाय क्षिप्त्वा शिरसि साक्षिणम् । स्थिताः प्रतीक्ष्य^४ सत्सर्गं तत्रावृत्याहितादरम्^५ ॥२६४॥
 इतो महीशसन्देशान्^६ मरुत्वेचरनायकाः । स्वास्ते प्रसाधितान्^७ कृत्वा प्रसाधनविदस्तदा ॥२६५॥
 निजोचितासनारूढाः प्ररूढा^८ श्रीसमुज्ज्वलाः । चलच्चामरसम्पत्त्या कान्त्या चामरसन्निभाः ॥२६६॥
 कुमार्या निजितः कामः प्राक् स्वमेव^९ विकृत्य^{१०} किम् । समागस्त^{११} पुनर्जैतुमिति^{१२} शङ्काविधायिनः^{१३} ॥
 कञ्चिदेकं^{१४} वृणीते^{१५} साविति ज्ञात्वाऽप्यहंयवः^{१६} । जेतुं सर्वेऽपि तां तस्थुः^{१७} आशा हि महती नृणाम् ॥
 'केरलीकठिनोत्तुङ्गकुचकोटिविलङ्घन'^{१८} । श्रमापानीतसामर्थ्यात् परिक्षीणपरिक्रमम्^{१९} ॥२६६॥
 माद्यन्मलयमातङ्गकटकण्डूविनोदनात्^{२०} । क्षतचन्दननिष्यन्दसान्द्र^{२१} सौगन्ध्यबन्धुरम् ॥२७०॥
 कावेरीवारिजात्वादप्रहृष्टाण्डजनिभर- । श्रीडोच्छलज्जलस्थूलकणमुक्तातिभूषणम् ॥२७१॥
 वक्षिणानिलभापल^{२२} कोत्कटानलबीपनम् । कोकिलालिकलालापर्वचाचलमनुकूलयन् ॥२७२॥

विवाहोत्सव मण्डपमें बड़े हर्षके साथ महारानी सुप्रभाकी आज्ञासे आई और पूर्व दिशाकी ओर मुखकर सुखपूर्वक सोनेके पाटपर बिठा दिया । तदनन्तर मुखपर रखे हुए शोभायमान पल्लवों को धारण करनेवाले तथा विशुद्ध जलसे भरे हुए सुवर्णमय शुभ कलशोंसे उसका अभिषेक किया । फिर माङ्गलिक वस्त्राभूषणोंको धारण करनेवाली कन्याको नित्यमनोहर नामक चैत्यालयमें ले जाकर वहां उससे सबका कल्याण करनेवाले श्री अर्हन्तदेवकी पूजा कराई । उसके बाद सिद्ध शेषाक्षत लेकर आशीर्वादपूर्वक उसके शिरपर रखे और इतना सब कर चुकने के बाद वे स्त्रियां उसका आदर सत्कार करती हुईं शुभ लग्नकी प्रतीक्षामें उसे घेरकर वहीं ठहर गईं ॥२६८-२६४॥ इधर महाराज अकम्पनके संदेशसे, सजावटको जाननेवाले वे सब भूमिगोचरी और विद्याधरोंके अधिपति अपने आपको सजाकर अपने अपने योग्य आसनों पर जा बैठे । वे प्रकृष्ट शोभासे उज्ज्वल थे, ढुलते हुए चमरोंकी संपत्ति और कान्तिसे देवोंके समान जान पड़ते थे और ऐसी शंका उत्पन्न कर रहे थे मानो इस कुमारीने पहले ही कामदेवको जीत लिया था इसलिये वह कामदेव ही अपने बहुतसे रूप धारणकर उसे जीतनेके लिये पुनः आया हो ॥२६५-२६७॥ यह सुलोचना किसी एकको ही स्वीकार करेगी, ऐसा जानकर भी वे सब राजा लोग अहंकार करते हुए उसे जीतनेके लिये वहां बैठे थे सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्योंकी आशा बहुत ही बड़ी होती है ॥२६८॥ जो स्त्रियोंके मद्यके कुरलों तथा नूपुरोंकी भ्रनकारसे सुशोभित बायें पैरोंके द्वारा वृक्षोंको भी कामी बना रहा है, जो बायें हाथमें फूलोंका धनुष धारण कर दूसरे हाथसे आमकी मंजरीको खूब फिरा रहा है, जिसका पराक्रम प्रसिद्ध है और जिगने वसन्त ऋतुरूपी सेवकके द्वारा फूलरूपी समस्त वास्त्र बुला लिये हैं, ऐसा कामदेव, केरल देशकी स्त्रियोंके कठिन और ऊंचे करोड़ों कुचोंको उल्लंघन करनेसे उत्पन्न हुई थकावटके कारण जिसकी घूमनेकी शक्ति क्षीण हो गई है अर्थात् जो धीरे धीरे चल रहा है, मलय पर्वतके

१ शुभैः अ०, प०, स०, म०, ल०, इ० । २ नित्यमनोहरनाम चैत्यालयम् । ३-शेषं ल० ।

४ प्रतीक्षां कृत्वा । ५ चैत्यालये । ६ कृतादरं यथा भवति तथा । ७ अकम्पनवाचिकात् । ८ अलङ्कृतान् । ९ प्रसिद्ध । १० आत्मानम् । ११ राजकुमाररूपेण वैकुण्ठां कृत्वा । १२ सङ्गतवान् । १३ सुलोचनां जेतुम् । १४ प्रेक्षकाणां शङ्कां कुर्वाणाः । १५ अनिदिष्टं कञ्चिदेकं पुरुषम् । १६ स्वीकरोति । १७ अहंकारवन्तः । 'अहंकारवानहंयुः' इत्यभिधानात् । १८ निजोचितासनारूढाः सन्तस्तस्थुरिति सम्बन्धः । १९ केरलस्थी । २० श्रमापनीतसामर्थ्यं । २१ लङ्घनाज्जलश्रमेणापसारितसामर्थ्येन परिक्षीणगमनम् । २२ मलयाचलोत्पन्नकरिकपोलकण्डूपापनयनात् । २३ द्रवप्रस्रवण । २४ विरहतीव्राम्निसमुत्पादनम् ।

योषितां मधूगण्डूर्ध्वनूपुरावरञ्जितैः । कुबन् वामाङ्घ्रिभिश्चालम्^१ अङ्घ्रिपानपि कामुकान् ॥२७३॥
 कौसुमं^२ धनुःरादाय^३ वामेनारूढचक्रमः । चूतसूत्रं^४ करेणोक्तैः परेण^५ परिवर्तयन्^६ ॥२७४॥
 वसन्तानुचरानीतनिःशेषकुसुमायुधः । जित्वा तवाखिलान् वेशानप्यायात्^७ कुसुमायुधः ॥२७५॥
 तवा पुरात् समागत्य कृती जितपुरन्दरः । समाविर्भूतसाम्राज्यो राज्यचिह्नपुरस्सरः ॥२७६॥
 स्वलक्ष्मीव्याप्तसर्वाशः सुप्रभासहितः पतिः^८ । स्वस्थात्^९ स्वयंवरागारे स्वीचिन्ते^{१०} स्वजनैर्वृतः ॥२७७॥
 चित्रं महेन्द्रदत्ताख्यो^{११} देवदत्तं^{१२} रथं पृथुम् । सज्जीकृतं समारोप्य कन्यामायात् कञ्चुकी ॥२७८॥
 समस्तबलसन्दोहं सम्यक् सन्नाह्यं^{१३} सानुजः । हेमाङ्गवो जितानङ्गः प्रीत्याऽयात् परितो रथम् ॥२७९॥
 तूर्यध्वानाहतिप्रेङ्खलं^{१४} द्विकन्याकर्णपूरिका । संछन्नच्छत्रनिदिच्छद्रच्छायाच्छादितभास्करा ॥२८०॥
 लक्ष्मीः पुरीभिवायोध्यां चक्रिदिविजयागमे । शालां^{१५} प्रविश्य राजन्यलोचनाचर्या सुलोचना ॥२८१॥
 सर्वतोभद्रमारुह्य कञ्चुकीप्रेरिता नृपान् । न्यषिञ्चल्लोचनैर्लोलैर्लोत्पलदलेरिव ॥२८२॥
 चातका^{१६} वाऽब्दबृष्ट्या^{१७} ते तद्दृष्ट्या तुष्टिभागभन् । आह्लादः कस्य वा न स्याद् ईप्सितार्थसमागमे ॥

मदोन्मत्त हाथियोंके गण्डस्थलोंकी खाज खजलानेसे टूटे हुए चन्दन वृक्षोंके निष्यन्दकी घनी सुगन्धिसे जो व्याप्त हो रहा है, कावेरी नदीके कमलोंके आस्वादसे हर्षित हुए पक्षियोंकी अल्हड़ क्रीड़ासे उछलती हुई जलकी बड़ी बड़ी बूंदें ही जिसके मोतियोंके आभूषण हैं, जो विरहरूपी तीव्र अग्निको प्रज्वलित करनेवाला है और कोयल तथा भ्रमरोंके मनोहर शब्दोंसे जो वाचालित हो रहा है ऐसे दक्षिणके वायुको अनुकूल करता हुआ सब देशोंको जीतकर उस समय वहां आ पहुंचा था ॥२६९-२७५॥ उसी समय, जिसने अपनी शोभासे इन्द्रको भी जीत लिया है, जिसका साम्राज्य प्रकट है, ध्वजा आदि राज्यके चिह्न जिसके आगे आगे चल रहे हैं, अपनी शोभासे जिसने समस्त दिशाएं व्याप्त कर ली हैं, सुप्रभा रानी जिसके साथ हैं, और जो अपने कुटुम्बीजनोंसे घिरा हुआ अर्थात् परिवारके लोग जिसके साथ साथ चल रहे हैं ऐसा पुण्यवान् राजा अकम्पन नगरसे आकर स्वयंवर मण्डपमें अपने योग्य स्थानपर आ विराजमान हुआ ॥२७६-२७७॥ उसी समय महेन्द्रदत्त नामका कञ्चुकी चित्राङ्गददेवके द्वारा दिये हुए, आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले बहुत बड़े अलंकृत रथपर कन्याको बैठाकर लाया ॥२७८॥ कामको जीतनेवाला हेमाङ्गद अपने छोटे भाइयोंसहित, समस्त सेनाके समूहको अच्छी तरह सजाकर बड़े प्रेमसे कन्याके रथके चारों ओर चल रहा था ॥२७९॥ जिसके आगे आगे बजने वाले नगाड़ोंके शब्दोंके आघातसे दिशारूपी कन्याओंके कर्णपूर हिल रहे थे, जिसपर अच्छी तरह लगे हुए छत्रकी छिद्ररहित छायासे सूर्य भी ढंक गया था, और जो राजाओंके नेत्रोंसे पूजी जा रही थी अर्थात् समस्त राजा लोग जिसे अपने नेत्रोंसे देख रहे थे ऐसी सुलोचनाने, चक्रवर्ती के दिग्विजयसे लौटनेपर जिस प्रकार लक्ष्मी अयोध्यामें प्रवेश करती हैं उसी प्रकार स्वयंवर-शालामें प्रवेश किया और वहां वह सर्वतोभद्र नामक महलपर चढ़कर कञ्चुकीके द्वारा प्रेरित हो नीलकमलके दलके समान अपने चञ्चल नेत्रोंके द्वारा राजाओंको सींचने लगी ॥२८०-२८२॥ जिस प्रकार चातक पक्षी मेघोंके बरसनेसे संतुष्ट होती है उसी प्रकार सब राजा लोग सुलोचनाके देखनेसे ही संतुष्ट हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि अपने अभीष्ट पदार्थके समागम

१ अत्यर्थम् । २ कुसुमनिर्मितम् । ३ वामहस्तेन । ४ माकन्दप्रसूतम् । ५ दक्षिणकरेण । ६ परिभ्रमयन् । ७ वसन्त एवानुचरो भृत्यस्तेन समानीत । ८ आजगाम । ९ अकम्पनः । १० सुखेन स्थितवतः । ११ निजोचितस्थाने । १२ आश्चर्ययुक्तम् । १३ विचित्राङ्गददेवेन वित्तीयम् । १४ सन्नद्धं कृत्वा । १५ चलत् । १६ स्वयंवरशालाम् । १७ सिञ्चति स्म । अयोजयदित्यर्थः । १८ इव । १९ नृपाः ।

स्वसौभाग्यवशात् सर्वान् साऽप्यालोक्ष्यातुषत्तराम् । श्लाघ्यं तद्योषितां पुंसां शौर्यं वा निजितद्विषाम् ॥
ततः कञ्चुकिनिवेशाद् बाला लीलाविलोकिताः^१ । आकृष्य हृदयं तेषां तत्सौधात् समवातरत्^२ ॥२८५॥
यस्य यत्र गता स्याद्वृक् सा तत्रैवेव कीलिता । तत्तेऽस्याभवच्छ्रुदायां^३ विज्ञा वा तदनीक्षकाः^४ ॥२८६॥
किङ्ककिणीकृतभञ्जकारारावरम्यं^५ रथं ततः । व्यूढं^६ रुढं^७ हूयैः स्वर्णकर्णचामरशोभिभिः ॥२८७॥
उत्पतन्निपतत्केतुबाहुं नीरूपरूपिणाम्^८ । साक्षादपह्नुवाह्वाने^९ कुर्वन्तमिव सन्ततम् ॥२८८॥
पुनरध्यास्य^{१०} हृज्जन्म^{११} विद्येव हृदयप्रिया । मुक्ताभूषाप्रभामध्ये शारदीयं तडिल्लता ॥२८९॥
वीज्यमाना विधुस्पृद्धिहंसासामलचामरैः^{१२} । जनानां दृष्टिज्ञोषान् वा धुन्वद्भिर्दूरतो मुहुः ॥२९०॥
अवधूतः^{१३} पुराणज्ञः सम्प्रति स्वीकृतोऽनया । प्रयोजनवशात् प्राप्तैः प्रास्तोऽपि^{१४} परिगृह्यते ॥२९१॥
अस्याग्रह इवानङ्गः सद्यः सर्वाङ्गसङ्गतः । विकारमकरोत् स्वरं भूयो भूनेत्रवक्त्रजम् ॥२९२॥
साङ्गो^{१५} यद्येतयाऽर्धं वम् एकीभावं व्रजामि किम् । इत्यनङ्गोऽप्यनङ्गत्वं स्वं मन्ये^{१६} साध्वबुध्यत ॥२९३॥
लक्ष्मीः सा सर्वभोग्याऽभूद् रतिव्यग्नेन^{१७} भुज्यते । जितानङ्गानिभानेषा न्यवकृत्य^{१८} जयभाष्यति ॥२९४॥

होनेपर किसे आनन्द नहीं होता है ? ॥२८३॥ वह सुलोचना भी अपने सौभाग्यके वशसे आये हुए समस्त राजाओंको देखकर अत्यन्त संतुष्ट हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार शत्रुओंको जीतनेवाले पुरुषोंका शूरवीरपना प्रशंसनीय होता है उसी प्रकार स्त्रियोंका सौभाग्य भी प्रशंसनीय होता है ॥२८४॥ तदनन्तर वह सुलोचना लीलापूर्वक अवलोकनके द्वारा उन राजाओंका हृदय अपनी ओर आकर्षितकर कञ्चुकीके कहनेसे उस महलसे नीचे उतरी ॥२८५॥ जिसकी दृष्टि उसके शरीरपर जहां पड़ गई थी वह मानो वहीं कीलित सी हो गई थी तथा उसके नीचे उतर आनेपर वे राजा लोग उसे न देखकर बहुत ही खेदखिन्न हुए थे ॥२८६॥ तदनन्तर, जो कामदेवकी विद्याके समान सबके हृदयको प्रिय है, जो मोतियोंके आभूषणोंकी कान्तिके बीचमें शरदऋतुकी बिजलीकी लताके समान जान पड़ती है और जिसपर मानो मनुष्योंकी दृष्टिके दोषोंको दूरसे ही दूर करते हुए, तथा चन्द्रमाके साथ स्पर्धा करनेवाले और हंसेंके पंखोंके समान निर्मल चमर बार बार दुराये जा रहे हैं ऐसी वह सुलोचना, जो छोटी छोटी घंटियों के रुणभुण शब्दोंसे रमणीय है, कानोंके समीप लगे हुए सोनेके चमरोंसे शोभायमान बड़े-ऊँचे घोड़े जिसमें जुते हुए हैं, नीचे ऊपरको उड़ती हुई ध्वजाएं ही जिसकी भुजाएं हैं और जो उन उड़ती हुई ध्वजाओंसे ऐसा जान पड़ता है मानो कुरूप मनुष्यका साक्षात् निरन्तर निराकरण ही कर रहा हो और सुरूप (सुन्दर) मनुष्योंको साक्षात् बुला रहा ही हो' ऐसे रथपर सवार हुई ॥२८७-२९०॥ सुलोचनाने कामदेवका पहले तो तिरस्कार किया था परन्तु अब उसे फिर स्वीकृत किया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष हटाये हुएको भी अपने प्रयोजन के वश फिर स्वीकार कर लेते हैं ॥२९१॥ पिशाचके समान शीघ्र ही इसके सब अंगोंमें प्रविष्ट हुआ कामदेव अपनी इच्छानुसार बार बार भौंह नेत्र और मुखमें उत्पन्न होनेवाले विकारोंको प्रकट कर रहा था ॥२९२॥ यदि मैं शरीर सहित होता तो क्या इस तरह इस सुलोचनाके साथ एकीभावको प्राप्त हो सकता ? अर्थात् इसके शरीरसे प्रवेश कर पाता ? ऐसा विचार करता हुआ कामदेव मानो अपने शरीर रहितपनेको ही अच्छा समझता था ॥२९३॥ वह

१ अवलोकनैः । २ अवतरन्ति स्म । ३ यस्मिन्नवयवे । ४ ते तस्या-ल० । तत् कारणात् । ५ अवतरणं कुर्वन्त्या सत्याम् । ६ तां कन्यकामीक्षमाणाः न बभूवुरित्यर्थः । ७ धृतम् । ८ प्रसिद्धेः । ९ रूपहीनानां रूपवताञ्च । १० क्रमेण निराकरणं चाह्वानं च । ११ एवंविधं रथमध्यास्येति सम्बन्धः । १२ कामविद्या । १३ मरालपक्ष । १४ निराकृतः । १५ प्रतिक्षिप्तः । १६ सशरीरः । १७ शिष्टमिति । १८ अनङ्गेन विकलाङ्गेनेति ध्वनिः । १९ निराकृत्य । २० विजयम् जयकुमारं च ।

करग्रहेण लक्ष्मीवान् स्यात् वा वारिधेर्भुवः^१ । 'अस्या करग्रहो यस्य तस्य लक्ष्मीः करे स्थिता ॥२६५॥
 लावण्यमम्बुधो पुंसु^२ स्त्रीष्वस्यामेव सम्भूतम्^३ । 'यत्राप्ताः सरितः सर्वास्तिमेतां^४ सर्वपाथिवाः ॥२६६॥
 समस्तनेत्रसम्पीतमप्यस्या वर्धतेतराम् । लावण्यमम्बुधिस्त्यक्तः श्रिया बहुतु^५ तत्कथम् ॥२६७॥
 रत्नाकरत्वदुर्गर्वम् श्रम्बुधिः श्रयते ब्रथा । कन्यारत्नमिदं^६ यत्र 'तयोरेतद्'^७ विराजते ॥२६८॥

प्रसिद्ध लक्ष्मी सबके द्वारा उपभोग करने योग्य है और रति शरीररहित कामदेवके द्वारा भोगी जाती है परन्तु यह सुलोचना कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओंका तिरस्कार कर जय अर्थात् विजय अथवा जयकुमारको प्राप्त होगी । भावार्थ—संसारमें दो ही प्रसिद्ध स्त्रियां हैं एक लक्ष्मी और दूसरी रति । इनमेंसे लक्ष्मी तो सर्वपुरुषोंके द्वारा उपभोग योग्य होनेके कारण पुंश्चलीके समान निन्द्य है और रति शरीररहित पिशाच (पक्षमें कामदेव) के द्वारा उपभोग योग्य होनेसे दूषित है परन्तु यह सुलोचना अपनी शोभासे कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओंका तिरस्कार कर जय—जीत (पक्षमें जयकुमार) को प्राप्त होगी अर्थात् यह सुलोचना लक्ष्मी और रतिसे भी श्रेष्ठ है ॥२९४॥ समुद्रपर्यन्त इस पृथिवीका करग्रह अर्थात् टैक्स वसूल करनेसे कोई पुरुष लक्ष्मीवान् हो अथवा नहीं भी हो परन्तु जिसके इस सुलोचनाका करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण होगा लक्ष्मी उसके हाथमें ही स्थित सम्भनी चाहिये ॥२९५॥ पुरुषोंमें लावण्य (खारापन) समुद्रमें है और स्त्रियोंमें लावण्य (सौन्दर्य) इसी सुलोचनामें भरा हुआ है यही कारण है कि सब नदियां समुद्रके पास पहुंची हैं और सब राजा लोग इसके समीप आ पहुंचे हैं । भावार्थ—लावण्य शब्दके दो अर्थ हैं—एक खारापन और दूसरा सौन्दर्य । यहां कविने दोनोंमें शाब्दिक अभेद मानकर निरूपण किया है । श्लोकका भाव यह है—लावण्य पुरुषोंमें भी होता है और स्त्रियोंमें भी परन्तु उसके स्थान दोनोंमें नियत है । पुरुषका लावण्य समुद्रमें नियत है और स्त्रीका लावण्य सुलोचनामें । पुरुषके लावण्यके प्रति स्त्रियोंका आकर्षण रहता है और स्त्रियोंके लावण्यके प्रति पुरुषका आकर्षण रहता है । यही कारण है कि नदीरूपी स्त्रियां आकर्षित होकर समुद्रके पास पहुंची हैं और सब राजा लोग (पुरुष) सुलोचनाके प्रति आकर्षित होकर उसके समीप आ पहुंचे हैं ॥२९६॥ इसका लावण्य सबके नेत्रोंके द्वारा पिया जानेपर भी बढ़ता ही जाता है परन्तु समुद्रको तो लक्ष्मीने छोड़ दिया है इसलिये वह उसे कैसे धारण कर सकता है ? भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें लावण्यके दो स्थान बतलाये थे—एक समुद्र और दूसरा सुलोचना । परन्तु यहां लावण्य शब्दका केवल सौन्दर्य अर्थ हृदयमें रखकर कवि समुद्रमें उसका अभाव बतला रहे हैं । यहां कवि लावण्य उस पदार्थको कह रहे हैं जिसकी निरन्तर वृद्धि ही होती रहे और जिसे देखकर दर्शक उसे कभी छोड़ना न चाहे । कविका मनोगत लावण्य सुलोचनामें ही था क्योंकि उसे देखकर नेत्र कभी उसे छोड़ना नहीं चाहते थे और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती थी । समुद्रमें लावण्यका होना कविको इष्ट नहीं है क्योंकि उसे लक्ष्मीने छोड़ दिया है यदि उसमें वास्तवमें लावण्य होता तो उसे लक्ष्मी क्यों छोड़ती ? (लक्ष्मी द्वारा समुद्रका छोड़ा जाना कवि सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है ।) ॥२९७॥ समुद्र अपने रत्नाकरपनेका खोटा अहंकार व्यर्थ ही धारण करता है क्योंकि जिसके यह कन्यारूपी रत्न हैं उन्हीं राजा अकंपन और रानी सुप्रभाके यह रत्नाकरपना सुशोभित होता है ॥२९८॥

१ लक्ष्म्याः । २ सुलोचनायाः । ३ पुरुषेषु । ४ परिपूर्णम् । ५ यत् कारणात् । ६ तं समुद्रम् ।
 एताम् सुलोचनाम् । ७ लावण्यम् । ८ ययोः । ९ अकम्पनसुप्रभयोः । १० रत्नाकरत्वम् ।

इति स्तुतात्मसौभाग्यभाग्यरूपादिसम्भूता । जर्नः स्वयंवरानगरम् आगमद् गोमिनीव^१ सा ॥२९६॥
 'परिभूतिर्द्विधा सात्र' भाविनी^२ केति वा तदा । प्रीतिशोकान्तरे केचिद् रसं राजकमन्वभूत् ॥३००॥
 स्थित्वा महेन्द्रदत्तोऽपि^३ रत्नमालाधरो धुरि^४ । रथं प्रचोदयामास प्रतिविद्याधराधिपान् ॥३०१॥
 दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योर्नभेऽच्च विनम्रेः सुतो^५ । पतिः सुभतिरेषोऽयम् इतः सुविनमिः श्रियः ॥३०२॥
 अन्येऽस्मी च खगाधीशा विद्याविक्रमशालिनः । पतिं वृणीष्व त्वं चक्षु^६ 'स्वेच्छाभेकत्र पूरय ॥३०३॥
 इति कञ्चुकिनिर्दिष्टं नामादाय पृथक् पृथक् । कर्णेकृत्यात्ययात्^७ सर्वान् रुचिश्चित्रा हि देहिनाम् ॥३०४॥
 पद्मात् सर्वास्मिरीक्ष्येषा कञ्चित्तु विवरीषते^८ । तथैवेति खगास्तस्युः किं वाशान्नाघलम्बते ॥३०५॥
 पश्चाज्ज^९ 'तुर्मुखाब्जानि तत्रथाद् व्यकसन्पुरः । रवेरिवोदये राज्ञां संसृतेः स्थितिरीदृशी ॥३०६॥
 'उज्ज्वाद्वाञ्जु^{१०} भिन्नम् अभिभूमि^{११} चरं रथः । कञ्चुकी कथयामास नामभिस्ताम्रपास्तदा ॥३०७॥
 निराकृत्यार्ककीर्त्यादीन् साऽजेषा जयमागमत् । हित्वा शेषान् द्रुमांश्चूतं मधौ मधुकरी यथा ॥३०८॥
 गृहीतप्रग्रहस्तत्र^{१२} कञ्चुकीचित्तवित्तदा । वचो व्यापारयामास जयव्यावर्णनं प्रति ॥३०९॥

इस प्रकार लोग जिसकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे अपने सौभाग्य, भाग्य और रूप आदिसे भरी हुई वह सुलोचना लक्ष्मीके समान स्वयंवर भवनमें आ पहुंची ॥२९६॥ इस संसारमें पराभूति दो प्रकारकी है—एक पराभूति अर्थात् उत्कृष्ट सम्पद और दूसरी पराभूति अर्थात् पराभव-तिरस्कार, सो इन दोनोंमें न जाने कौन सी पराभूति अथवा परा-भूति होनेवाली है ऐसा विचार करता हुआ राजाओंका समूह उस समय प्रेम और शोकके बीच किसी अव्यक्त रसका अनुभव कर रहा था ॥३००॥

रत्नोंकी मालाको धारण करनेवाला महेन्द्रदत्त नामका कञ्चुकी भी धुरापर बैठकर विद्याधर राजाओंकी ओर रथ चलाने लगा ॥३०१॥ और सुलोचनासे कहने लगा कि ये विज-यार्धकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीके राजा नमि और विनमिके पुत्र हैं । यह लक्ष्मीका स्वामी सुनमि हैं और यह इस ओर सुविनमि हैं ॥३०२॥ विद्या और पराक्रमसे शोभायमान ये और भी अनेक विद्याधरोंके अधिपति विराजमान हैं इनमेंसे तू किसी एकको वर अर्थात् पतिरूपसे स्वीकार कर और एक हीमें अपनी इच्छा पूर्ण कर ॥३०३॥ इस प्रकार कञ्चुकीने अलग अलग नाम लेकर जो कुछ कहा था उसे कानमें डालकर-सुनकर वह सबको छोड़ती हुई आगे चली सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोंकी रुचि अनेक प्रकारकी होती है ॥३०४॥ यह कन्या सबको देखकर बादमें किसीको वरना चाहती है यह विचारकर विद्याधर लोग ज्योंके त्यों बैठे रहे सो ठीक ही है क्योंकि आशा किसका आश्रय नहीं लेती है ? ॥३०५॥ जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल विकसित हो जाते हैं और अस्त होनेसे मुरझा जाते हैं उसी प्रकार राजाओं के मुखरूपी कमल सुलोचनाके रथ सामने आनेसे पहले तो प्रफुल्लित हुए किन्तु रथके चले जानेपर बादमें मुरझा गये थे सो ठीक ही है क्योंकि संसारकी स्थिति ही ऐसी है ॥३०६॥ तदनन्तर वह रथ विद्याधरोंकी ऊंची भूमिसे नीचे भूमिगोचरियोंकी ओर उतरा, उस समय वह कञ्चुकी नाम ले लेकर राजाओंका निरूपण करता जाता था ॥३०७॥ जिस प्रकार वसन्तऋतुमें कोयल सब वृक्षोंको छोड़कर आमके पास पहुंचती है उसी प्रकार वह अजेय सुलोचना अर्ककीर्ति आदि राजाओंको छोड़कर जयकुमारके पास जा पहुंची ॥३०८॥ उसी समय

१ पुण्य । २ लक्ष्मीः । ३ अवज्ञा सम्पन्न । पराभूति—ल०, म०, अ०, प०, स०, इ० । ४ अवज्ञासम्पन्नोः । ५ भविष्यत् । ६ कञ्चुकी । ७ रथमुखे । ८ निजवाञ्छाम् । ९ अतिक्रान्तवती । १० वरितुमिच्छति । ११ म्लानान्यभवत् । १२ उन्नतप्रदेशात् । १३ अगमत् । १४ भूचराणामभिमुखम् । १५ धृताश्वरज्जुः ।

प्रदीपः स्वकुलस्यायं प्रभुः सोमप्रभात्मजः । श्रीमान्त्साहभेदैर्वा^१ जयोऽयमनुजैर्वृतः ॥३१०॥
 न रूपस्य व्यावर्ण्यं तदेतदतिभन्मथम्^२ । स^३ दर्पणोऽर्पणीयः किं करकडकणदर्शने ॥३११॥
 जित्वा मेघकुमारस्थान् उत्तरे भरते सुरान् । सिहनादः कुलोऽनेन जिततन्मेघनिस्स्वनः^४ ॥३१२॥
 वीरपटुं प्रवध्यास्य स्वभुजाभ्यां समुद्धतम् । न्यधायि निधिनाथेन हृष्ट्वा मेघस्वरभिधा ॥३१३॥
 आत्मसम्यग्गुणैर्युक्तः समेतश्चाभिगामिकैः^५ । प्रजोत्साहविशेषैश्च ततोऽयमुदितोदितः ॥३१४॥
 चित्रं जगत्त्रयस्यास्य गुणाः संरज्यं साम्प्रतम्^६ । व्यावृताः^७ सर्वभावेन^८ तव भावानुरञ्जने^९ ॥३१५॥
 अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य चतस्रः सन्ति योषितः । श्रीः कीर्तिर्वीरलक्ष्मीश्च वाग्देवी चातिबल्लभाः ॥३१६॥
 जितमेघकुमारोऽयम् एकः प्राक् त्वज्जयेऽधुना । व्युत्तथैयं इवालक्ष्ये^{१०} यत्सहायीकृतः स्मरः ॥३१७॥
 बलिनीर्युवयोर्मध्ये वर्तमानो जिगीषतोः^{११} । द्वैधीभावः^{१२} समापन्नः बाङ्गुण्यनिपुणः स्मरः ॥३१८॥
 कीर्तिः कुवल्याह्लादी पद्माह्लादीप्रभास्य हि । सूर्याचन्द्रमसौ तस्मादनेन हतशक्तिकौ ॥३१९॥

चित्तकी बातको जाननेवाला कंचुकी घोड़ोंकी रास पकड़कर जयकुमारका वर्णन करनेके लिये अपने वचनोंको व्यापृत करने लगा अर्थात् जयकुमारके गुणोंका वर्णन करने लगा ॥३१०॥ उसने कहा कि यह श्रीमान् स्वामी जयकुमार है, यह अपने कुलकर्म दीपक है, महाराज सोमप्रभ पुत्र है और उत्साहके भेदोंके समान अपने छोटे भाइयोंसे आवृत है—घिरा हुआ है ॥३१०॥ कामदेवको तिरस्कृत करनेवाला इसका यह रूप तो वर्णन करने योग्य ही नहीं है क्योंकि हाथ का कंकण देखनेके लिये क्या दर्पण दिया जाता है ? ॥३११॥ इसने उत्तर भरतक्षेत्रमें मेघ-कुमार नामके देवोंको जीतकर उन देवोंके कृत्रिम बादलोंकी गर्जनाको जीतनेवाला सिहनाद किया था ॥३१२॥ उस समय निधियोंके स्वामी महाराज भरतने हर्षित होकर अपनी भुजाओं द्वारा धारण किया जानेवाला वीरपटु इसे बांधा था और मेघस्वर इसका नाम रखवा था ॥३१३॥ यह आत्माके समीचीन गुणोंसे युक्त है तथा आदरणीय उत्तम पुरुषोंके साथ सदा संगति रखता है इसलिये बुद्धि और विशेष विशेष उत्साहोंके द्वारा यह श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ गिना जाता है ॥३१४॥ यह भी आश्चर्यकी बात है कि इसके गुण तीनों लोकोंको प्रसन्नकर अब तेरे अन्तःकरणको अनुरक्त करनेके लिये पूर्ण रूपसे लौटे हैं । भावार्थ—इसने अपने गुणोंसे तीनों लोकोंके जीवोंको प्रसन्न किया है और अब तुझे भी प्रसन्न करना चाहते हैं ॥३१५॥ यदि इसमें दोष है तो यही एक, कि इसके निम्नलिखित चार स्त्रियां हैं, श्री, कीर्ति, वीरलक्ष्मी और सरस्वती । ये चारों ही स्त्रियां इसे अत्यन्त प्रिय हैं ॥३१६॥ जिसने पहले अकेले ही मेघकुमारको जीत लिया था ऐसा यह जयकुमार इस समय तुझे जीतनेके लिये धैर्यरहित सा हो रहा है अर्थात् ऐसा जान पड़ता है मानो इसका धैर्य छूट रहा हो यही कारण है अब इसने कामदेवको अपना सहायक बनाया है ॥३१७॥ एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले तुम दोनों बलवानोंके बीचमें पड़ा हुआ यह संधि विग्रह आदि लहों गुणोंमें निपुण कामदेव द्वैधी-भावको प्राप्त हो रहा है अर्थात् कभी उसका आश्रय लेता है और कभी तेरा ॥३१८॥ इसकी कीर्ति तो कुवलय अर्थात् रात्रिमें खिलनेवाले कमलोंको (पक्षमें महीमण्डलको) आनन्दित करती है और प्रभा पद्म अर्थात् दिनमें खिलनेवाले कमलोंको (पक्षमें पद्मा—लक्ष्मीको) विकसित

१ शक्तिविशेषः । २ दृश्यमानम् । ३ अतिक्रान्तमन्मथम् । ४ प्रसिद्धः । ५ निर्जितमेघकुमार-घनध्वनिः । ६ प्रयुध्वास्य ल० । ७ अभिगमाहः । आदरणीयैरित्यर्थः । ८ ततः कारणात् । ९ आत्मन्यनुरक्तं विधाय । १० अधुना । ११ व्यापारमकुर्वन् । १२ सकलस्वरूपेण । १३ चित्तानुरञ्जने । भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायभावचेष्टात्मजन्मसु । इत्यभिधानात् । १४ दर्शनीयः । १५ यत् कारणात् । १६ परस्परं जेतुमिच्छतोः । १७ उभयाधलम्बनत्वम् ।

कीर्तिर्बाह्यश्चरा लक्ष्मीरतिवृद्धा सरस्वती । जीर्णैतरापि शान्तेव^१ लक्ष्यते क्षतविष्टिषः^२ ॥३२०॥
 ततस्तत्त्वयि वयोरूपशीलादिगुणभाज्यलम् । प्रीतिलंतेव दृक्पुष्पा प्रवृद्धास्य फलिष्यति ॥३२१॥
 युवाभ्यां निर्जितः कामः सम्प्रत्यभ्यन्तरीकृतः । स^३ वामपजयायाभूदरिविभ्रम्भितो^४ ज्यरिः ॥३२२॥
 निष्ठुरं जम्भतेऽमुष्मिन्^५ भयारिरपि स्मरः । मत्वेव त्वां स्त्रियं भूयो भटेषु भटभत्सरः ॥३२३॥
 विख्यातविजयः श्रीमान् यानमात्रेण^६ निर्जितः । त्वयाऽयमत एवात्र जयो न्यायागतस्तव ॥३२४॥
 प्राध्वंकृत्य^७ गले रत्नमालया दृक्शरैर्जितम् । जयलक्ष्मीस्तवैवास्तु तत्त्वमेनं^८ करे कुरु ॥३२५॥
 इति तस्य वचः श्रुत्वा स्मरषाङ्गुण्यवेदिनः । शनैर्विगलितव्रीडा^९ लोललीलावलोकनः ॥३२६॥
 तदा जन्मान्तरस्नेहश्चाक्षुषी^{१०} सुन्दराकृतिः । कुन्दभासा^{११} गुणास्तस्य श्रवणाः^{१२} पुष्पसायकः ॥३२७॥

करती है इसलिये इसने सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको शक्तिरहित कर दिया है ॥३१९॥ समस्त शत्रुओंको नष्ट करनेवाले इस जयकुमारकी कीर्ति तो सदा बाहर रहती है लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध है, सरस्वती जीर्ण है और वीर लक्ष्मी शान्त सी दिखती है इसलिये दृष्टिरूपी पुष्पोंसे युक्त और खूब बढ़ी हुई इसकी प्रीतिरूपी लता वय, रूप, शील आदि गुणोंसे सहित तुझमें ही अच्छी तरह फलीभूत होगी । भावार्थ—३१६ वें श्लोकमें बतलाया था कि इसके चार प्रिय स्त्रियां हैं कीर्ति, लक्ष्मी, सरस्वती और वीरलक्ष्मी परन्तु उनसे तुझे सपत्नीजन्य दुःखका अनुभव नहीं करना पड़ेगा । क्योंकि कीर्ति नामकी स्त्री तो सदा बाहर ही घूमती रहती है—अन्तःपुरमें उसका प्रवेश नहीं हो पाता (पक्षमें उसकी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है), लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध है—वृद्धावस्था युक्त है (पक्षमें बढ़ी हुई है), सरस्वती भी जीर्ण अर्थात् वृद्धावस्थाके कारण शिथिल शरीर हो रही है (पक्षमें परिपक्व हैं) इसलिये इन तीनोंपर उसका खास प्रेम नहीं रहता । अब रह जाती है वीरलक्ष्मी, यद्यपि वह तरुण है और सदा उसके पास रहती है परन्तु अत्यन्त शान्त है—शुङ्गार आदिकी ओर उसका आकर्षण नहीं है (पक्षमें क्षमायुक्त शूर वीरता है) इसलिये इन चारोंसे राजाकी प्रीति हटकर तुझपर ही आरुढ़ होगी क्योंकि तू वय, रूप, शील आदि गुणोंसे सहित है ॥३२०—३२१॥ तुम दोनोंने पहले जिस कामदेवको जीतकर दूर हटाया था उसे अब अपने अन्तःकरणमें बैठा लिया है, अथवा खास विश्वासपात्र बना लिया है परन्तु अब वही कामदेव तुम दोनोंका पराजय करनेके लिये तैयार हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुका कितना ही विश्वास क्यों न किया जाय वह अन्तमें शत्रु ही रहता है ॥३२२॥ यद्यपि यह कामदेव तुम दोनोंका शत्रु है तथापि तुझे स्त्री मानकर इसी एकपर बड़ी निष्ठुरताके साथ अपना प्रभाव बढ़ा रहा है सो ठीक ही है क्योंकि योद्धाओंकी ईर्ष्या योद्धाओंपर ही होती है । भावार्थ—वह तुझे स्त्री समझ कायर मानकर अधिक दुःखी नहीं करता है परन्तु जयकुमार पर अपना पूरा प्रभाव डाल रहा है ॥३२३॥ जिसका विजय सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्रीमान् जयकुमारको तूने यान अर्थात् आगमन (पक्षमें युद्धके लिये किये हुए प्रस्थान) मात्रके द्वारा जीत लिया है इसलिये इस जगह न्यायसे तेरी ही विजय हुई है ॥३२४॥ तू अपने दृष्टिरूपी वाणोंके द्वारा जीते हुए इस जयकुमारको रत्नोंकी मालासे गलेमें बांधकर अपने हाथमें कर, विजय-लक्ष्मी तेरी ही हो ॥३२५॥ इस प्रकार कामदेवके सन्धि विग्रह आदि छह गुणोंको जाननेवाले कञ्चुकीके वचन सुनकर धीरे धीरे जिसकी लज्जा छूटती जा रही है, जिसकी लीलापूर्ण दृष्टि बड़ी चञ्चल है तथा उस समय जन्मान्तरका स्नेह नेत्रोंके द्वारा देखी

१ वीरलक्ष्मीः । २ जयकुमारस्य । ३ वां युवयोः । वामपजयाया—ज० । ४ विश्वासितः । ५ जये । ६ गमनमात्रेण । ७ बन्धहेतुकमानुकूल्यं कृत्वा, बद्ध्वेत्यर्थः । ८ तत् कारणात् । ९ लज्जा । १० चक्षुषा कृप्यमाणा । ११ कुन्दवद् भासमानाः । १२ श्रवणज्ञानविषयाः । श्रवणहिता वा ।

इत्येभिः स्यन्दनादेवा 'समुक्षिप्यावरोपिता । रत्नमालां समादाय कन्या कञ्चुकिनः करात् ॥३२८॥
 अबध्नाद् बन्धुरां तस्य कण्ठेऽतिप्रेमनिर्भरा । सा वाचकात् समध्यास्य वक्षोतक्ष्मीरिवापरा ॥३२९॥
 सहसा सर्वसूयणाम् उदतिष्ठन्महाध्वनिः । श्रावयन्निव दिक्कन्याः कन्यासामान्यमुत्सवम् ॥३३०॥
 वक्त्रवारिजवासिन्या^२ नरविद्याधरेशिनाम् । श्रिया जयमुखाभोजम् आश्रितं वा तदात्यभात् ॥३३१॥
 गताशा^३वारयो म्लानमुखान्जाक्षुत्पलश्रियः । खभूचरनृपाः कण्ठमासन् शुष्कसरस्समाः ॥३३२॥

अभिमतफलसिद्ध्या वद्धमानप्रभोवो निजदुहितृसमेतं प्राक् पुरोधाय^४ पूज्यम् ।

जयममरतर्ह वा^५ कल्पवल्लीसनार्थं^६ नगरमविशदुञ्चैर्नाथवंशाधिनाथः ॥३३३॥

आद्योऽयं^७ महिते स्वयंवरविधौ 'यद्भोग्यसौभाग्यभाग्

^{१०}यस्माद्राजखगेन्द्रवक्त्रधनजश्रीवारयोषिद्वृतः ।

मालाम्लानगुणा^{११}प्रतोऽस्य^{१२} शरणे मन्दारमालायते

^{१३}तत्कल्पावधिबी^{१४}धमस्य^{१५} विपुलं विश्वं^{१६} यशो व्यश्नुते^{१७} ॥३३४॥

भास्वत्प्रभाप्रसरणप्रतिबद्धपद्मः^{१८} प्राप्तोदयः प्रतिविधाय^{१९} परप्रभावम्^{२०} ।

^{२१}बन्धुप्रजाकुमुदबन्धुराश्चित्यकान्तिर्भाति स्म भानुशशिनोर्विजयी जयोऽयम् ॥३३५॥

हुई जयकुमारकी सुन्दर आकृति, कुन्दके फूलके समान सुने हुए उसके गुण और कामदेव इन सबने उठाकर जिसे रथसे नीचे उतारा है ऐसी कन्या सुलोचनाने कंचुकीके हाथसे रत्नमाला लेकर तथा अतिशय प्रेममें निमग्न होकर, वह मनोहरमाला उस जयकुमारके गलेमें डाल दी । उस समय वह माला जयकुमारके वक्षःस्थलपर अधिरूढ़ हो दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥३२९-३२९॥ उस समय अकस्मात् सब बाजोंकी बड़ी भारी आवाज ऐसी उठी थी मानो दिशारूपी कन्याओंके लिये सुलोचनाका असाधारण उत्सव ही सुना रही हो ॥३३०॥ उस समय जयकुमारका मुखरूपी कमल बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओंके मुखरूपी कमलोंपर निवास करनेवाली लक्ष्मी उसी एकके मुखपर आ गई हो ॥३३१॥ जिनका आशारूपी जल नष्ट हो गया है और जिनके मुखरूपी कमल तथा नेत्ररूपी उत्पलोंकी शोभा म्लान हो गई है ऐसे भूमिगोचरी और विद्याधर राजा सूखे सरोवरके समान बड़े ही दुःखी हो रहे थे ॥३३२॥ अभीष्ट फलकी सिद्धि होनेसे जिसका आनन्द बढ़ रहा है ऐसा उत्कृष्ट नाथवंशका अधिपति राजा अकंपन, कल्पलतासे सहित कल्पवृक्षके समान पुत्रीसे युक्त पूज्य जयकुमारको आगेकर अपने उत्कृष्ट नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥३३३॥ चूंकि भाग्य और सौभाग्यको प्राप्त होनेवाला यह जयकुमार स्वयंवरकी सम्माननीय विधिमें सबसे पहला था, भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके मुखकमलोंकी शोभारूपी वाराङ्गनाओंसे घिरा हुआ था और अम्लान गुणोंवाली माला उसकी शरणमें आकर कल्पवृक्षोंकी मालाके समान आचरण करने लगी थी, अतएव उसका बहुत बड़ा निर्मल यश कल्पान्तकाल तक समस्त संसारमें व्याप्त रहेगा ॥३३४॥ जिसकी देदीप्यमान प्रभाके प्रसारसे कमल खिल उठते थे, दूसरों (शत्रुओं अथवा नक्षत्र आदिकों) के प्रभावका तिरस्कार कर जिसका उदय हुआ था और जो भाईबन्धु तथा प्रजारूपी कुमुदोंको

१ समुद्रतय । २ मुखकमलनिवासिन्या । ३ गतास्यवारणः ट० । विगतमुखरताः । ४ पुत्री । ५ अग्रे कृत्वा । ६ इव । ७ सहितम् । ८ आद्योऽयं इ०, प०, अ०, स० । ९ यत् कारणात् । भाग्य पुण्य । १० यस्मात् कारणात् । ११ यस्मात् कारणात् । १२ जयस्य । १३ परित्राणे, गृहे । १४ तस्मात् कारणात् । १५ कल्पपर्यन्तम् । १६ निर्मलम् । १७ जगत् । १८ व्याप्नोति । १९ प्रबुद्धलक्ष्मीः । विकसितकमलः । २० निराकृत्य । २१ शत्रुसामर्थ्यम् । नक्षत्रादिसमूहार्थं च । २२ बन्धवश्च प्रजाश्च बन्धुप्रजाः, बन्धुप्रजा एव कुमुदानि तेषां बन्धुश्चन्द्रः ।

प्रियदुहितरमेना^१ नाथवंशान्बरेन्दोः-अमुमुपनयति स्म^२ स्पष्टसौभाग्यलक्ष्मीः ।

^१ज्वलितमहसमग्रां वीरलक्ष्मीं च कीर्ति कथयति नयतीति ^२प्रातिभज्ञानमुच्चैः ॥३३६॥

एतत्पुण्यमयं सुरूपमहिमा सौभाग्यलक्ष्मीरियं जातोऽस्मिन्^३ जनकः स योऽस्य जनिका^४ संवास्थ या सुप्रजा^५ ।

पूज्योऽयं जगदेकमङ्गल^६ मणिश्चूडामणिः श्रीभूताभित्युक्तिर्जयभाग्जयं प्रति जनैर्जतिोत्सवैर्जल्पिता ॥३३७॥

कुवलयपरिवोथं सन्वधानः समन्तात् सततविततदीप्तिः सुप्रतिष्ठः^७ प्रसन्नः ।

परिणतिनिजशौर्येणार्कमाक्रम्य दिक्षु प्रथितपृथुलकीर्त्या वर्द्धमानो जयः स्तात्^८ ॥३३८॥

इति समुपगता श्रीः सर्वकल्याणभाजं जिनपतिमतभाक्त्वात्पुण्यभाजं जयं तम् ।

तदुरकृतमुपाध्यं हे बुधाः श्रद्धाणाः परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमद्गद्गद्वृत्त्या ॥३३९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे सुलोचना-
स्वयंवरमालारोपणकल्याणकं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

प्रफुल्लित करनेके लिये बन्धुके समान था और जिसकी कान्ति अचिन्त्य थी ऐसा सूर्य और चन्द्रमाको जीतनेवाला वह जयकुमार अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३३५॥ जिसकी सौभाग्यरूपी लक्ष्मी स्पष्ट प्रकट हो रही है ऐसे उस जयकुमारने नाथवंशरूपी आकाशके चन्द्रमा स्वरूप राजा अकंपनकी प्रिय पुत्री सुलोचनाको विवाहा था सो ठीक ही है क्योंकि प्रतिभाशाली मनुष्योंका उत्कृष्ट ज्ञान यही कहता है कि देदीप्यमान प्रतापके धारक पुरुषको ही अनोखी वीर-लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त होती है ॥३३६॥ उस समय जिन्हें आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे लोगों के द्वारा, जयकुमारके प्रति उसकी विजयको सूचित करनेवाली निम्नप्रकार बातचीत हो रही थी कि इस संसारमें यही पुण्य है, यही उत्तम रूपकी महिमा है, यही सौभाग्यकी लक्ष्मी है, जिसके यह उत्पन्न हुआ है वही पिता है, जिसने इसे उत्पन्न किया है वही उत्तम सन्तानवती माता है, यही लक्ष्मीवान् पुरुषोंमें चूडामणि स्वरूप है और संसारका कल्याण करनेवाले रत्न-के समान यही एक पूज्य है ॥३३७॥ जो चारों ओरसे कुवलय अर्थात् पृथ्वीमण्डल (पक्षमें रात्रि विकासी कमलों) को प्रसन्न अथवा प्रफुल्लित करता रहता है, जिसकी कान्ति सदा फैली रहती है, जिसकी प्रतिष्ठा उत्तम है और जो सदा प्रसन्न रहता है ऐसा यह (चन्द्रमाका सादृश्य धारण करनेवाला) जयकुमार अपने परिपक्व प्रतापसे सूर्यपर भी आक्रमण कर दिशाओंमें फैली हुई बड़ी भारी कीर्तिसे सदा बढ़ता रहे ॥३३८॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के मतकी उपासना करनेसे बहुत भारी पुण्यका उपार्जन करनेवाले और सब प्रकारके कल्याणोंको प्राप्त होनेवाले जयकुमारको लक्ष्मी प्राप्त हुई थी इसलिये हे श्रद्धावान्त विद्वान् पुरुषो, तुम लोग भी निराकुल होकर परम दयालु सर्वोत्कृष्ट जिनेन्द्रदेवके दोनों चरणकमलोंकी उपासना करो ॥३३९॥

इस प्रकार भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके

हिन्दी भाषानुवादमें सुलोचनाके स्वयंवरका वर्णन करने

वाला यह तैतालीसवां पर्व पूर्ण हुआ ।

१ पुत्रीम् । २ अयमुप-त०, इ०, अ०, प०, स० । ३ जयकुमारम् । ४ प्रतिभैव प्रातिभं तच्च तद् ज्ञानं च । प्रतिपुरुषसमुद्भूतप्रतिभाज्ञानमित्यर्थः । ५ लोके । ६ माता । ७ सुपुत्रवती । ८ मङ्गलदर्पणः । ९ सुस्थैर्यवान् । १० भूयात् ।

चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ दुर्मर्षणो नाम दुष्टस्तस्या^१सहिष्णुकः । सर्वान्दृषयन्^२ पापी सोऽर्ककीर्त्यनुजीवकः ॥१॥
 अकम्पनः खलः क्षुब्धो बूधैश्वर्यमदीकृतः । मूषा युष्मान् सभाह्वय इलाघमानः स्वसम्पदम् ॥२॥
 पूर्वमेव समालोच्य मालाभासञ्जयज्जये । पराभूति^३ विचित्रसुखः स्थायिनीमायुगान्तरम् ॥३॥
 इति ब्रुवाणः सम्प्राप्य सत्रीञ्च चक्रिणः सुतम् । इह षट्खण्डरत्नानां स्वाभिनौ त्वं पिता च ते ॥४॥
 रत्नं रत्नेषु कन्यैव तत्राप्येषैव^४ कन्यका । तां त्वां स्वगृहभानीय दौष्ट्यं^५ पश्यास्य दुर्मतेः ॥५॥
 जयो नामात्र कस्तस्मै दत्तवान् मृत्युचोदितः । तेनागतोऽस्मि दौर्बल्यं तदेतत् सोऽदुर्मभगः ॥६॥
 'प्राकृतोऽपि न सोढव्यः प्राकृतैरपि' किं पुनः । त्वादुर्गः स्त्रीसमुद्भूतो मानभङ्गो मनस्विभिः ॥७॥
 'तदादिश'^६ 'दिशाम्यस्मै पदं वैवस्वतास्पदम्'^७ । दिशाम्यादेशमात्रेण^८ समालां तेऽपि कन्यकाम् ॥८॥
 इत्यसाध्वी^९ क्षुधं भर्तुः स्ववाचैवासुजत् खलः । सदसत्कार्यैर्निबन्तौ^{१०} शक्तिः सवसतोः^{११} समा ॥९॥
 तद्वचःपवन^{१२} प्रौढक्रोधधूमध्वजारुणः^{१३} । भ्रमद्विलोचनाङ्गारः^{१४} क्रुद्धाग्निसुरसन्निभः ॥१०॥

अथानन्तर—दुर्मर्षण नामका एक दुष्ट पुरुष राजकुमार अर्ककीर्तिका सेवक था वह जयकुमारके उस वैभवको नहीं सहन कर सका इसलिये उस पापीने सब राजाओंको इस प्रकार उत्तेजित किया । वह कहने लगा कि अकम्पन दुष्ट है, नीच है, भूठमूठके ऐश्वर्यको मदसे उद्धत हो रहा है, अपनी सम्पदाओंकी प्रशंसा करते हुए उसने व्यर्थ ही आप लोगोंको बुलाया है । वह तुम लोगोंका दूसरे युगतक स्थिर रहनेवाला अपमान करना चाहता है इसीलिये उसने पहलेसे सोच विचारकर जयकुमारके गलेमें माला डलवाई है, इस प्रकार कहता हुआ वह दुर्मर्षण लज्जित हुए चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके पास आया और कहने लगा कि इन छहों खण्डोंमें उत्पन्न हुए रत्नोंके दो ही स्वामी हैं एक तू और दूसरा तेरा पिता ॥१-४॥ रत्नोंमें कन्या ही रत्न है और कन्याओंमें भी यह सुलोचना ही उत्तम रत्न है इसलिये ही अकम्पनने तुम्हें अपने घर बुलाकर तेरा तिरस्कार किया है, जरा इस दुष्टकी दुष्टताको तो देखो ॥५॥ भला, जय-कुमार है कौन ? जिसके लिये मृत्युसे प्रेरित हुए अकम्पनने अपनी पुत्री दी है । मैं यह दुराचार सहन करनेसे लिये असमर्थ हूँ इसलिये ही आपके पास आया हूँ ॥६॥ जब कि नीच लोग भी छोटे छोटे मानभङ्गको नहीं सहन कर पाते हैं तब भला आप जैसे तेजस्वी पुरुष स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मानभंग कैसे सहन कर सकेंगे ? ॥७॥ इसलिये मुझे आज्ञा दीजिये मैं आपकी आज्ञा-मात्रसे ही इस अकम्पनको यमराजका स्थान दे सकता हूँ और माला सहित वह कन्या आपके लिये दे सकता हूँ ॥८॥ इस प्रकार उस दुष्टने अपने वचनोंसे ही अपने स्वामीको दुष्ट क्रोध उत्पन्न करा दिया सो ठीक ही है क्योंकि अच्छा और बुरा कार्य करनेके लिये सज्जन तथा दुर्जन की एक सी शक्ति रहती है ॥९॥ उस दुर्मर्षणके वचनरूपी वायुसे बढ़ी हुई क्रोडरूपी अग्निसे

१ तमसहमाणः । २ कोपाग्निं प्रज्वलयन् । ३ परिभूतिम् । ४ कन्यारत्नेष्वपि । ५ तत्त्वां अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ६ दुष्टत्वम् । ७ तेन कारणेन । ८ प्रकृते भवः पराभवोऽपि । अथवा तुच्छकार्यमपि । ९ नीचैरपि । नष्टान्वयप्रभवैरित्यर्थः । १० तत् कारणत् । ११ आदेशं देहि । १२ ददामि । १३ यमपुरम् । 'कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः' इत्यभिधानात् । १४ निरूपण-मात्रेण । १५ अशुभम् । १६ निष्पत्तौ । १७ सज्जनदुर्जनयोः । १८ प्रवृद्ध । 'प्रवृद्धं प्रौढमेधितमित्य-भिधानात् । १९ अग्निः । २० कुप्तिताग्निकुमारसदृशः । क्रुद्धा-ल०, म० ।

उज्जगार^१ ज्वलत्स्थूलविस्फुलिङ्गोपमा गिरः । अर्ककीर्तिद्विषोऽशेषान् दिग्धक्षुरिव^२ वाचया ॥११॥
 मामधिभिष्य^३ कम्पेयं येन वत्ता दुरात्मना । तेन प्रागेव मूढेन वत्तः स्वस्मै जलाञ्जलिः ॥१२॥
 अतिक्रान्ते^४ रथे^५ तस्मिन् प्रोत्थितः क्रोधपावकः । तदेव किञ्चु को दाहय इत्यजानन्नहं स्थितः ॥१३॥
 'नाम्नातिसन्धि'तो मूढो मन्यते स्वमकम्पनम् । 'कुद्धे मयि न वेत्तीति कम्पते सधरा धरा' ॥१४॥
 'मत्सङ्गवारिवाराशि'रास्तां तावदगोचरः । संहरन्त्यखिलान् शत्रून् बलवेलेव^६ हेलया ॥१५॥
 'प्ररुद्धशृङ्गनायेन्दुवर्षाणिपुलाटवी । मत्क्रोधप्रस्फुरद्वह्निभस्मिताऽस्मिन्' रोक्ष्यति^७ ॥१६॥
 वीरपटुस्तवा सोढो भूयो^८ भर्तुर्भक्षान्मया । कथमद्य^९ सहे मालां सर्वसौभाग्यलोपिनीम् ॥१७॥
 'मद्यशः कुसुमाम्लान्मालेवास्वायुगावधि । जयलक्ष्म्या सहाय्यंतां^{१०} हरेयं^{११} जयवक्षसः ॥१८॥
 जलदानं पेलवान्^{१२} जित्वा मरुमात्रविलायिनः^{१३} । अद्य पश्यामि वृत्तस्य जयस्य जयमाहवे ॥१९॥
 इति^{१४} निर्भिन्नमर्यादः कार्याकार्यविमूढधीः । अनिवार्यो विनिर्जित्य कालान्तजलधिध्वनिम् ॥२०॥
 अनलस्यानिलो वाऽस्य^{१५} साहाय्यमगमस्तदा । केऽपि पापक्रियारम्भे सुलभाः सामवायिकाः^{१६} ॥२१॥

जो लाल लाल हो रहा है, जिसके नेत्ररूपी अंगारे घूम रहे हैं, और क्रोधसे जो अग्निकुमार देवों के समान जान पड़ता है ऐसा वह अर्ककीर्ति अपने वचनोंसे ही समस्त शत्रुओंको जलानेकी इच्छा करता हुआ ही मानो जलते हुए बड़े बड़े फुलिंगोंके समान वचन उगलने लगा ॥१०-११॥ वह बोला जिस दुष्टने मेरा अपमान कर यह कन्या दी है उस मूर्खने अपने लिये पहले ही जला-जलि दे रखी है ॥१२॥ उस समय कन्याका रथ आगे निकलते ही मेरी क्रोधरूपी अग्नि भड़क उठी थी परन्तु जलने योग्य कौन है ? यह नहीं जानता हुआ मैं चुप बैठा रहा था ॥१३॥ केवल नामसे ठगाया हुआ वह मूर्ख अपने आपको अकम्पन मानता है परन्तु वह यह नहीं जानता कि मेरे कुपित होनेपर पर्वतों सहित पृथिवी भी कँपने लगती है ॥१४॥ मेरी तलवाररूपी जलकी धाराका विषय तो दूर ही रहे मेरी सेनारूपी लहर ही समस्त शत्रुओंको अनायास ही नष्ट कर देती है ॥१५॥ बहुत बड़े और सूखे हुए नाथवंश तथा चन्द्रवंशरूपी दुष्ट वांसीकी बड़ी भारी अटवी मेरे क्रोधरूपी प्रज्वलित अग्निसे भस्म हो जायगी और फिर इस संसारमें कभी नहीं उग सकेगी ॥१६॥ उस समय पृथिवीके अधिपति चक्रवर्ती महाराजने जयकुमार को जो वीरपटु बांधा था उसे तो मैंने उनके डरसे सह लिया था परन्तु आज अपने सब सौभाग्य-को नष्ट करनेवाली इस वरमालाको कैसे सह सकता हूँ ? ॥१७॥ मेरे यशरूपी फूलोंकी अम्लान माला ही इस युगके अन्ततक विद्यमान रहे । इस मालाको तो मैं जयलक्ष्मीके साथ साथ जयकुमारके वक्षःस्थलसे आज ही हरण किये लेता हूँ ॥१८॥ केवल वायुमात्रसे विलीन हो जानेवाले कोमल मेघोंको जीतकर अहंकारको प्राप्त हुए जयकुमारकी जीत आज मैं युद्धमें देखूंगा ॥१९॥ इस प्रकार जिसने मर्यादा तोड़ दी है, कार्य अकार्यके करनेमें जिसकी बुद्धि विचाररहित हो रही है और जो किसीसे निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे अर्ककीर्तिने उस समय अपने शब्दोंसे प्रलयकालके समुद्रकी गर्जनाको भी जीत लिया था और जिस प्रकार अग्नि को भड़कानेके लिये वायु सहायक होता है उसी प्रकार उसका क्रोध भड़कानेके लिये कितने

१ उवाच । २ दग्धुमिच्छुः । ३ तिरस्कृत्य । ४ मामुल्लङ्घ्यगते । ५ कन्यारुद्धस्यन्दने । ६ अकम्पन इति नाम्ना । ७ वञ्चितः । ८ क्रुधे ल० । ९ पर्वतसहिता भूमिः । महोद्योः शिखरिष्मभृद्दहायधरपर्वताः इत्यभिधानात् । १० अस्मदायुधधाराजल । ११ वारिधारासि प०, ल० । १२ सेनाबेला । १३ प्रवृद्ध-निस्सारदुष्टनाथवंशसोमवंशविशालविपिन इत्यर्थः । १४ अस्मिन् लोके । १५ न जनिष्यते । १६ चक्रिणः । १७ सहायि । १८ अस्मत्कीर्तिः । १९ मालाम् । २० स्वीकृत्याम् । २१ मृदून् । २२ विदाशिनः । २३ इति उज्जगारेति सम्बन्धः । २४ सहायता । २५ समवायं सहायतां प्राप्ताः ।

तथा सर्वोपधाशुद्धो^१ मन्त्री जानपदादिभिः^२ । अनवद्यमतिनाम लक्षितो मन्त्रिलक्षणः ॥२२॥
 धर्म्यमर्थं यशस्तारं ससौष्ठवमनिष्ठुरम् । सुविचार्यं वचो न्याय्यं पथ्यं प्रोक्तुं प्रचक्रमे ॥२३॥
 मही व्योम शशी सूर्यः सरिदीशोऽनिलोऽनलः । त्वं त्वत्पिता घनाः कालो जगत्क्षेमविधायिनः^३ ॥२४॥
 विपर्यासे विपर्यति^४ भवतामनुवर्तनात् । वर्तते सृष्टिरेषा^५ हि व्यक्तं युष्मासु^६ तिष्ठते ॥२५॥
 गुणाः क्षमादयः^७ सर्वे व्यस्तास्तेषु क्षमादिषु^८ । समस्तास्ते जगद्बृद्धयं^९ चक्रिणि त्वयि च स्थिताः ॥२६॥
 च्यवन्ते^{१०} स्वस्थितेः काले चवचित्तेऽपि क्षमादयः । न स कालोऽस्ति यः कर्ता प्रच्युतेर्युवयोः^{११} स्थितेः ॥२७॥
 सृष्टिः पितामहेनेयं^{१२} सृष्टेनां^{१३} तत्समपिताम्^{१४} । पाति सम्प्रादृ^{१५} पिता तेऽद्य^{१६} तस्यास्तबभनुपालकः ॥२८॥
 देवमानुषबाधाभ्यः क्षतिः कस्यापि या क्षितौ । मर्मवेद्यमिति स्मृत्वा समाधेया^{१७} त्वयैव सा^{१८} ॥२९॥
 क्षतात् त्रायत इत्यासीत् क्षत्रोऽयं भरतेश्वरः । सुतस्तस्योरसो^{१९} ज्येष्ठः क्षत्रियस्त्वत्^{२०} तदादिमः ॥३०॥
 त्वत्तो न्यायाः प्रवर्तन्ते नूतना यो पुरातनाः । तेऽपि त्वत्पलिता एव भवन्त्यत्र पुरातनाः ॥३१॥

ही राजा लोग उसके सहायक हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि पापक्रियाओंके प्रारम्भमें सहायता देनेवाले सुलभ होते हैं ॥२०-२१॥ उस समय जो सब उपधाओंसे शुद्ध हैं तथा जनपद आदि मंत्रियोंके लक्षणोंसे सहित हैं ऐसा निर्दोषबुद्धिका धारक अनवद्यमति नामका मंत्री अच्छी तरह विचारकर धर्मयुक्त, अर्थपूर्ण, यशके सारभूत, उत्तम, कठोरता रहित, न्यायरूप और हितकारी वचन कहने लगा ॥२२-२३॥ उसने कहा कि पृथिवी, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र, वायु, अग्नि, तू, तेरा पिता, मेघ और काल ये सब पदार्थ संसारमें कल्याण करनेवाले हैं ॥२४॥ आप लोगोंमें उलटपुलट होनेसे यह संसारकी सृष्टि उलटपुलट हो जाती है और आपके अनुकूल रहनेसे अच्छी तरह विद्यमान रहती है इससे स्पष्ट है कि यह सृष्टि आप लोगों पर ही अवलम्बित है ॥२५॥ क्षमा आदि गुण अलग अलग तो पृथिवी आदिमें भी रहते हैं परन्तु इकट्ठे होकर संसारका कल्याण करनेके लिये चक्रवर्तीमें और तुझमें ही रहते हैं ॥२६॥ पृथिवी आदि पदार्थ किसी समय अपनी मर्यादासे च्युत भी हो जाते हैं परन्तु ऐसा कोई समय नहीं है जो तुम दोनोंको अपनी मर्यादासे च्युत कर सके ॥२७॥ तुम्हारे पितामह भगवान् वृषभ-देवने इस कर्मभूमिरूपी सृष्टिकी रचना की थी, उनके द्वारा सौंपी हुई इस पृथिवीका पालन इस समय तुम्हारे पिता भरत महाराज कर रहे हैं और उनके बाद इसका पालन करनेवाले तुम ही हो ॥२८॥ इस पृथिवीमें यदि किसीकी भी देव या मनुष्यकृत उपद्रवोंसे कुछ हानि होती हो तो 'यह मेरी' ही है ऐसा समझकर आपको ही उसका समाधान करना चाहिये ॥२९॥ जो क्षत अर्थात् संकटसे रक्षा करे उसे क्षत्र कहते हैं, भरतेश्वर सबकी रक्षा करते हैं इसलिये वे क्षत्र हैं और तुम उनके सबसे बड़े औरस पुत्र हो इसलिये तुम सबसे पहले क्षत्रिय हो ॥३०॥ इस संसारमें नवीन न्याय तुमसे ही प्रवृत्त होते हैं और जो पुरातन अर्थात् प्राचीन हैं वे तुम्हारे द्वारा पालित होकर ही पुरातन कहलाते हैं । भावार्थ—आपसे नवीन न्याय मार्गकी प्रवृत्ति

१ धर्मयुक्तमर्थेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा तथा शुद्धः । 'उपधा धर्मचिन्त्यैतरीक्षणम्' इत्यभिधानात् । २ जनपदभवन्पुत्रजनादिभिः । ३ लोकस्य क्षेमकारिणः । ४ विपर्यासमेति । ५ जगत्सृष्टिः । ६ युष्मासु महीप्रभृतिषु प्रकाशते । ७ क्षान्त्यवगाहनसंहानसन्तापहरणप्रकाशनादिगुणाः । ८ विकलाः । एकैकस्मिन्नेकैकश एवेत्यर्थः । ९ पृथिव्याकाशादिषु । १० जगद्बृद्धी ५०, ल०, म० । ११ प्रच्युता भवन्ति । १२ भरतार्ककीर्त्योः । १३ पितृपित्रा आदिब्रह्मणा । 'पितामहः पितृपिता' इत्यभिधानात् । १४ सृष्ट्या तां अ०, स० । सृष्ट्यैतां इ०, प०, ल० । १५ आदिब्रह्मणा विस्तीर्णम् । १६ चक्री । १७ सृष्टेः । १८ निवर्तनीया । १९ क्षतिः । २० उरसि भवः । साक्षात्सुतः न दत्तपुत्रः । २१ क्षत्राज्जातः ।

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः । विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो^१ हि स्वयंवरः ॥३२॥
यदि स्यात् सर्वसम्प्रार्थ्या कन्येका पुण्यभाजनम् । अविरोधो^२ व्यधाय्यत्र संवायसो विधिर्बुधैः ॥३३॥
मध्ये महाकुलीनेषु^३ कञ्चिदेकमभीप्सितम् । सलक्ष्मीकमलक्ष्मीकं गुणितं गुणदुर्गतम्^४ ॥३४॥
विरूपं रूपिणं चापि वृणीतेऽसौ विधेर्वंशात् । न तत्र मत्सरः कार्यः शेषेऽन्योऽप्यमीदृशः ॥३५॥
लङ्घयते यदि केनापि न्यायो रक्ष्यस्वयैव सः । नेदं तवोचितं क्वापि पाता स्थात्पारिपात्यिकः ॥३६॥
भयत्कुलाचलस्योभो नाथसोमान्वयो पुरा । मेरोनिषधनीतो वा सत्पक्षौ^५ पुरुषा कृतौ ॥३७॥
सकलक्षत्रियज्येष्ठः पूज्योऽयं राजराजवत्^६ । अकम्पनमहाराजो राजेव^७ ज्योतिषां गणः ॥३८॥
निर्विशेषं^८ पुरोरेनं मन्यते भरतेऽवरः । पूज्यातिलङ्घनं प्राहुरभयं^९ त्रासुभावहम् ॥३९॥
पश्य तावृश एवात्र सोमवंशोऽपि कथ्यते । धर्मतीर्थं भवदंशाद् दानतीर्थं^{१०} ततो यतः^{११} ॥४०॥
पुरस्सरणमात्रेण इलाध्यं चकं विशां विभोः^{१२} । प्रायो दुस्ताधसंसिद्धौ इलाघते जयमेव सः^{१३} ॥४१॥
एतस्य दिग्जयं सर्ववृष्टमेवेह पौष्ट्यम् । अनेन^{१४} बः कृतः प्रेषः^{१५} स्मर्तव्यो ननु स त्वया ॥४२॥
ज्ञात्वा^{१६} सम्भाव्यशौर्योऽपि स मान्यो भर्तुर्भिर्भटः । दृष्टसारः स्वसाध्येऽर्थे साधितायः किमुच्यते ॥४३॥

चलती है और पुराने न्यायमार्गकी रक्षा होती है ॥३१॥ विवाहविधिके सब भेदोंमें यह स्वयंवर ही श्रेष्ठ है । श्रुतियों और स्मृतियोंमें कहा गया यह स्वयंवर ही सनातन (प्राचीन) मार्ग है ॥३२॥ यदि पुण्यके पात्र स्वरूप किसी एक कन्याकी याचना सब मनुष्य करने लग जायें तो उस समय परस्परका विरोध दूर करनेके लिये विद्वानोंने केवल भाग्यके आधीन होनेवाली इस स्वयंवर विधिका विधान किया है ॥३३॥ बड़े बड़े कुलोंमें उत्पन्न हुए पुरुषोंके मध्यमें वह कन्या भाग्यवश अपनी इच्छानुसार किसी एकको स्वीकार करती है चाहे वह लक्ष्मीसहित हो या लक्ष्मीरहित, गुणवान् हो या निर्गुण, सूरूप हो या कुरूप । अन्य लोगोंको इसमें ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह ऐसा ही न्याय है ॥३४-३५॥ यदि किसीके द्वारा इस न्याय का उल्लंघन किया जाय तो तुम्हें ही इसकी रक्षा करनी चाहिये इसलिये यह सब तुम्हारे लिये उचित नहीं है । क्या कभी रक्षक भी चोर या शत्रु होता है ॥३६॥ जिस प्रकार निषध और नील कुलाचल मेरुपर्वतके उत्तम पक्ष हैं उसी प्रकार भगवान् आदिनाथने पहले नाथवंश और चन्द्रवंश दोनों ही आपके कुलरूपी पर्वतके उत्तम पक्ष अर्थात् सहायक बनाये थे ॥३७॥ जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त ज्योतिषी देवोंके समूहके द्वारा पूज्य है उसी प्रकार समस्त क्षत्रियोंमें बड़े महाराज अकंपन भी भरत चक्रवर्तीके समान सबके द्वारा पूज्य हैं ॥३८॥ महाराज भरत इन अकंपनको भगवान् वृषभदेवके समान ही मानते हैं इसलिये तुम्हें भी इनके प्रति नम्रता का व्यवहार करना चाहिये क्योंकि पूज्य पुरुषोंका उल्लंघन करना दोनों लोकोंमें अकल्याण करनेवाला कहा गया है ॥३९॥ और देखो यह सोमवंश भी नाथवंशके समान ही कहा जाता है । क्योंकि जिस प्रकार तुम्हारे वंशसे धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति हुई है उसी प्रकार सोमवंशसे दान-तीर्थकी प्रवृत्ति हुई है ॥४०॥ चक्रवर्तीका चक्ररत्न आगे आगे चलने मात्रसे प्रशंसनीय अवश्य है परन्तु कठिनाईसे सिद्ध होने योग्य कार्योंमें वे प्रायः जयकुमार की ही प्रशंसा करते हैं ॥४१॥ दिग्विजयके समय इसका पुरुषार्थ संसारमें सबने देखा था । उस समय इसने जो पराक्रम दिखाया था वह भी तुम्हें याद रखना चाहिये ॥४२॥ जिस योद्धामें शूरवीरपनेकी संभावना हो राजाओं

१ अतिशयेन वरः । २ कृतः । ३ -देकं समीप्सितम् ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ४ गुण-वरिष्ठम् । ५ रक्षकः । ६ सत्सहायौ । सत्पक्षती च । ७ चक्रिवत् । ८ चन्द्र इव । ९ समानम् । १० इहामुत्र च । ११ सोमवंशात् । १२ यतः कारणात् । १३ चक्रिणः । १४ चक्री । १५ जयस्य । १६ यः ल० । १७ बलानियोगः । १८ भाविशौर्य इत्यर्थः ।

विना चक्राद् विना रत्नभोग्येयं श्रीस्त्वया तदा । जयाते^१ मानुषी^२ सिद्धिर्देवी पुण्योदयाद्यथा ॥४४॥
 तृणकल्पोऽपि^३ संवाह्यस्तव नीतिरियं कथम् । नाथेन्दुवंशावुच्छेद्यौ लक्ष्म्याः साक्षाद्भुजायितौ ॥४५॥
 बन्धुभृत्यक्षयाद्भूयस्तुभ्यं चक्रवर्ति कुप्यति । अधर्मश्चायुगस्थायी त्वया स्यात् सम्प्रवर्तितम्^४ ॥४६॥
 परदारभिलाषस्य प्राथम्यं^५ मा वृथा कृथाः^६ । श्रवश्यमाहुताप्येषा न कन्या ते भविष्यति ॥४७॥
 सप्रतापं यशः स्थास्तु जयस्य स्यादहर्घया । तव रात्रिरिवाकीर्तिः स्थायिन्यत्र मलीमसा ॥४८॥
 सर्वमेतन्ममैवेति मा संस्था साधनं युधः^७ । बहवोऽप्यत्र भूपालाः सन्ति तत्पक्षपातिनः ॥४९॥
 पुरुषार्थत्रयं पुम्भिर्बुद्ध्यापि^८ तत्त्वयाऽजितम् । न्यायमार्गं समुल्लङ्घ्य वृथा तर्त्तिकं विनाशये ॥५०॥
 अकम्पनस्य सेनेसो जयः प्रागिव चक्रिणः । वीरलक्ष्यास्तुलारोहं^९ मुधा त्वं किं विधास्यसि ॥५१॥
 ननु न्यायेन बन्धोस्ते^{१०} बन्धुपुत्रीं समर्पिता । उत्सवे का पराभूतिरक्षमा^{११}ऽत्र पराभवः ॥५२॥
 कन्यारत्नानि सन्धेव बहून्यन्यानि भूभुजाम् । इह तानि सरत्नानि सर्वाण्यद्यानं^{१२} मामि ते ॥५३॥
 इति नीतिलतावृद्धिविधाय्यपि वचः पयः ।^{१३} व्याधात् तच्चेतसः शोभं तप्ततलस्य वा भृशम् ॥५४॥

को जानकर उसका भी सम्मान करना चाहिये फिर भला जिसका पराक्रम देखा जा चुका है और जिसने अत्यन्त असाध्य कार्यको भी सिद्ध कर दिया है उसकी तो बात ही क्या है ? ॥४३॥ आगे चलकर जिस समय विना चक्र और विना रत्नोंके यह लक्ष्मी तुम्हारे उपभोग करने योग्य होगी उस समय तुम्हारी देवी सिद्धि जिस प्रकार पुण्य कर्मके उदयसे होगी उसी प्रकार तुम्हारी मानुषी अर्थात् मनुष्योंसे होनेवाली सिद्धि जयकुमारसे ही होगी ॥४४॥ जब कि तृणके समान तुच्छ पुरुषकी भी रक्षा करनी चाहिये यह आपकी नीति है तब राज्य लक्ष्मीके साक्षात् भुजाओं के समान आचरण करनेवाले नाथ वंश और सोम वंश उच्छेद करने योग्य कैसे हो सकते हैं ? ॥४५॥ इन भाइयोंके समान सेवकोंका नाश करनेसे चक्रवर्ती भी तुमपर अधिक क्रोध करेंगे और युगके अन्ततक टिकनेवाला यह अधर्म भी तुम्हारे द्वारा चलाया हुआ समझा जायगा ॥४६॥ तुम्हें व्यर्थ ही परस्त्रीकी अभिलाषाका प्रारम्भ नहीं करना चाहिये क्योंकि यह निश्चय है, यह कन्या जबरदस्ती हरी जाकर भी तुम्हारी नहीं होगी ॥४७॥ जयकुमारका प्रताप सहित यश दिनके समान सदा विद्यमान रहेगा और तुम्हारी मलिन अकीर्ति रात्रिके समान सदा विद्यमान रहेगी ॥४८॥ ये सब राजा लोग युद्धमें मेरी सहायता करेंगे ऐसा मत समझिये क्योंकि इनमें भी बहुतसे राजा लोग उनके पक्षपाती हैं ॥४९॥ जो धर्म अर्थ और कामरूप तीन पुरुषार्थ पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ हैं वे तुम्हें प्राप्त हो गये हैं इसलिये अब न्याय मार्गका उल्लंघन कर उन्हें व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहे हो ॥५०॥ यह जयकुमार जिस प्रकार पहले चक्रवर्तीका सेनापति बना था उसी प्रकार अब अकम्पनका सेनापति बना है तुम व्यर्थ ही वीरलक्ष्मीको तुलापर आरुढ़ क्यों कर रहे हो । भावार्थ—वीरलक्ष्मीको संशयमें क्यों डाल रहे हो ॥५१॥ निश्चय से तेरे एक भाईकी पुत्री तेरे दूसरे भाईके लिये न्यायपूर्वक समर्पण की गई है, ऐसे उत्सवमें तुम्हारा क्या तिरस्कार हुआ ? हां, तुम्हारी असहनशीलता ही तिरस्कार हो सकती है ? भावार्थ—हितकारी होनेसे जिस प्रकार जयकुमार तुम्हारा भाई है उसी प्रकार अकम्पन भी तुम्हारा भाई है । एक भाईकी पुत्री दूसरे भाईके लिये न्यायपूर्वक दी गई है इसमें तुम्हारा क्या अपमान हुआ ? हां, यदि तुम इस बातको सहन नहीं कर सकते हो तो यह तुम्हारा अपमान हो सकता है ॥५२॥ सुलोचनाके सिवाय राजाओंके और भी तो बहुतसे कन्यारत्न हैं, रत्नालंकार सहित उन सभी कन्याओंको मैं आज तुम्हारे लिये यहां ला देता हूँ ॥५३॥ इस प्रकार

१ तव । २ पुरुषकृता । ३ रक्षणीयः । ४ सम्प्रवर्तितः स०, ल०, अ० प०, इ० ५ प्रथमत्वम् ।

६ मा कार्षीः । ७ युद्धस्य । ८ तव । ९ असहमानता । १० प्रापयामि । ११ व्याधात् ल० ।

सर्वमेतत् समाकर्ण्य बुद्धिं कर्मानुसारिणीम् । स्पष्टयन्निव दुर्बुद्धिरिति प्रत्याह भारतीम् ॥५५॥
अस्ति स्वयंवरः पन्थाः परिणीतौ^{१०} चिरन्तनः । पितामहकृतो मान्यो वयोज्येष्ठस्त्वकम्पनः ॥५६॥
किन्तु सोऽयं जयस्नेहासस्योत्कर्षं^{११} चिकीर्षुकः । स्वसुतायाश्च सौभाग्यप्रतीतिप्रविधित्सुकः ॥५७॥
सर्वभूपालसन्तोहसमाविर्भावितोदयात्^{१२} । स्वयं चक्रीयितुं^{१३} चैव व्यधत् कपटं शठः^{१४} ॥५८॥
प्राक्तमथितमन्त्रेण^{१५} प्रदायास्मि स्वचेतसा । कृतसंकेतया माला सुतयाऽऽरोपिता मृषा ॥५९॥
युगावौ कुलवृद्धेन^{१६} मायेयं सम्प्रवर्तिता । भयाद्य यद्युपेक्ष्येत कल्पान्ते नैव वायंते ॥६०॥
न चक्रिणोऽपि कोपाय स्यादन्यायनिबोधनम् । प्रवर्तयत्यसौ दण्डं मय्यप्यन्यायवर्तिनि ॥६१॥
जयोऽप्येवं^{१७} समुत्सिक्तस्तत्पट्टेन^{१८} च मालया । प्रतिस्वं लब्धरन्ध्रौ^{१९} मां करोत्या^{२०} रम्भकम्पुरा ॥६२॥
समूलतूलमुच्छिद्य सर्वद्विषमम् युधि । अनुरागं जनिष्यामि राजन्यानां मयि स्थिरम् ॥६३॥
द्विधा भवतु वा सा वा बलं ते न किमाशुगाः^{२१} । मालां प्रत्यानयिष्यन्ति जयवशो विभिन्न मे ॥६४॥
नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि मत्सरी^{२२} मच्छरैरयम्^{२३} । परासुरघुनेन स्यात् किं मे विधवया त्वया ॥६५॥

अनवद्यमति मंत्रीका वचनरूपी जल यद्यपि नीतिरूपी लताको बढ़ानेवाला था तथापि उसने तपे हुए तेलके समान अर्ककीर्तिके चित्तको और भी अधिक क्षोभित कर दिया था ॥५४॥ यह सब सुनकर 'बुद्धि कर्मोंके अनुसार ही होती है,' इस बातको स्पष्ट करता हुआ वह दुर्बुद्धि इस प्रकार वचन कहने लगा ॥५५॥ मैं मानता हूँ कि विवाहकी विधियोंमें स्वयंवर ही पुरातन मार्ग है और यह भी स्वीकार करता हूँ कि हमारे पितामह भगवान् वृषभदेवके द्वारा स्थापित होने तथा वयमें ज्येष्ठ होनेके कारण अकम्पन महाराज मेरे मान्य हैं परन्तु वह जयकुमारपर स्नेह होनेसे उसीका उत्कर्ष करना चाहता है और सबपर अपनी पुत्रीके सौभाग्यकी प्रतीति करना चाहता है । समस्त राजाओंके समूहके द्वारा प्रकट हुए वड़प्पनसे अपने आपको चक्रवर्ती बनानेसे लिये ही उस मूर्खने यह कपट किया है ॥५६-५८॥ 'यह कन्या जयकुमारको ही देनी है' ऐसी सलाह अकम्पन पहले ही कर चुका था और उसी सलाहके अनुसार अपने हृदयसे जयकुमारके लिये कन्या दे भी चुका था परन्तु यह सब छिपानेके लिये जिसे पहले ही संकेत किया गया है ऐसी पुत्रीके द्वारा उसने यह माला भूठमूठ ही डलवाई है ॥५९॥ युगके आदि में उच्चकुलीन अकम्पनके द्वारा की हुई इस मायाकी यदि आज मैं उपेक्षा कर दूँ तो फिर कल्प-कालके अन्ततक भी इसका निवारण नहीं हो सकेगा ॥६०॥ अन्यायका निराकरण करना चक्रवर्तीके भी क्रोधके लिये नहीं हो सकता क्योंकि जब मैं अन्यायमें प्रवृत्ति कर बैठता हूँ तब वे मुझे भी तो दण्ड देते हैं । भावार्थ—चक्रवर्ती अन्यायको पसन्द नहीं करते हैं, और मैं भी अन्यायका ही निराकरण कर रहा हूँ इसलिये वे मेरे इस कार्यपर क्रोध नहीं करेंगे ॥६१॥ यह जयकुमार भी पहले वीरपट्ट बांधनेसे और अब मालाके पड़ जानेसे बहुत ही अभिमानी हो रहा है । यह छिद्र पाकर पहलेसे ही मेरे लिये कुछ न कुछ आरम्भ करता ही रहता है ॥६२॥ यह सबका शत्रु है इसलिये युद्धमें इसे आमूलचूल नष्टकर सब राजाओंका स्थिर प्रेम अपनेमें ही उत्पन्न करूंगा ॥६३॥ सेना फूटकर दो भागोंमें विभक्त हो जाय अथवा न भी हो, उससे मुझे क्या ? मेरे वाण ही जयकुमारका वक्षःस्थल भेदनकर वरमालाको ले आवेंगे । ॥६४॥ मैं सुलोचनाको भी नहीं चाहता क्योंकि सबसे ईर्ष्या करनेवाला यह जयकुमार मेरे वाणोंसे अभी

१ शिवाहे । २ अभ्युदयं प्राप्यमाश्रित्य । ३ चक्रीवाचरितुम् ॥ ४ मायावी । ५ दत्त्वा । ६ अकम्पनेन । ७—पेक्षेत ल० । ८—प्येनं ल० । ९ गवितः । १० वीरपट्टेन । ११ प्राप्तावसरः । १२ व्यापारम् । १३ कारणासहितम् । १४ शराः । १५ मत्सरवान् । १६ मम वार्यः । १७ गतप्राणः । 'पराशुप्राप्तपञ्चत्वपरेतप्रेतसंस्थिताः ।' इत्यभिधानात् ।

दुराचारनिषेधेन त्रयं धर्मादि वर्धते । कारणे सति कार्यस्य किं हानिर्दृश्यते क्वचित् ॥६६॥
 व्ययो मे विक्रमस्यास्तां शरस्याप्यत्र न व्ययः । वधे प्रत्युत धर्मः स्याद् दुष्टस्याहः^१ कुतो भवेत् ॥६७॥
 कीर्तिर्विख्यातकीर्तेर्भां नार्ककीर्तेर्विनाशयति^२ । अकीर्तिरनिवार्या स्याद् अन्यायस्यानिषेधनात् ॥६८॥
 तस्य^३ मेज्यशतः कीर्तेर्भवंद्भिर्यदुवाहृतम्^४ । भवेत्सत्सत्यसंवादि^५ शीतकी^६स्त्वभ यक्षहन् ॥६९॥
 यूयमाध्वं ततस्तूष्णीम्^७ उष्णकोऽह्निदं प्रति । धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च मा निषेधि^८ हितैषिभिः ॥७०॥
 एवं मन्त्रिणमुल्लङ्घय कधीर्वा दुर्ग्रहाहितः^९ । सेनापतिं समाहूय प्रत्यासन्नपराभवः ॥७१॥
 कथयित्वा महीक्षानां सर्वेषां रणनिश्चयम् । भेरीमास्फालयामास जगत्त्रयभयप्रदाम् ॥७२॥
 अनुभेरीरवं सद्यः प्रत्यावासं^{१०} महीभुजाम् । नट्बभटभुजास्फोटच^{११}टुलाराव^{१२}निष्ठुरः ॥७३॥
 करिकण्ठस्फुटोद्धोषघण्टाटङ्कारभैरवः । जितकण्ठीरवारावहयहेषाविभीषणः ॥७४॥
 चलद्वरिखुरोद्धटुकठोरध्वाननिर्भरः । पदातिपटति^{१३}प्रोद्यद्भूरिभूरवभीवहः^{१४} ॥७५॥
 स्पन्दत्स्यन्दनचक्रोत्थपूयुचीत्कारभीकरः । धनुः सज्जीक्यासक्तगुणास्फालनकर्कशः ॥७६॥
 प्रतिध्वनितदिग्भित्तिस्सर्वानकभयानकः । बलकोलाहलः कालमिवाद्वातुं समुद्यतः ॥७७॥

ही मर जावेगा तब उस विधवासे मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा ॥६५॥ दुराचारका निषेध करनेसे धर्म आदि तीनों बढ़ते हैं, क्योंकि कारणके रहते हुए क्या कहीं कार्यकी हानि देखी जाती है ? ॥६६॥ इस काममें मेरे पराक्रमका नाश होना तो दूर रहा मेरा एक वाण भी खर्च नहीं होगा बल्कि दुष्टके मारनेमें धर्म ही होगा, पाप कहांसे होगा ? ॥६७॥ ऐसा करनेसे प्रसिद्ध कीर्तिवाले मुझ अर्ककीर्तिकी कीर्ति भी नष्ट नहीं होगी परन्तु हां, यदि इस अन्यायका निषेध नहीं करता हूं तो किसीसे निवारण न करने योग्य मेरी अपकीर्ति अवश्य होगी ॥६८॥ तुमने जो मेरी अपकीर्ति और उसकी कीर्ति होनेका उदाहरण किया है सो यदि मैं इस विषयमें ठंडा हो जाऊं तो यह आपका निरूपण सत्य हो सकता है ॥६९॥ इसलिये तुम लोग चुप बैठो, मैं इस कार्यमें उष्ण हूं—क्रोधसे उत्तेजित हूं । हित चाहनेवालोंको धर्म, अर्थ तथा यश बढ़ाने वाले कार्योंका कभी निषेध नहीं करना चाहिये ॥७०॥ इस प्रकार जिसका पराभव निकट है और जो खोटे हठसे युक्त है ऐसे दुर्बुद्धि अर्ककीर्तिने मंत्रीका उल्लंघन कर सेनापतिको बुलाया और सब राजाओंसे युद्धका निश्चय कहकर तीनों लोकोंको भय उत्पन्न करनेवाली भेरी बजवाई ॥७१-७२॥ जो राजाओंके प्रत्येक डेरेमें भेरीके शब्दोंके साथ ही साथ बहुत शीघ्र नाचते हुए योद्धाओंकी भुजाओंकी ताड़नासे उत्पन्न होनेवाले चंचल शब्दोंसे कठोर है, जो हाथियोंके गलोंमें स्पष्ट रूपसे जोर जोरका शब्द करनेवाले घंटाओंकी टंकारसे भयंकर है, जो सिंहोंकी गर्जनाको जीतनेवाले घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे भीषण है, जो चलते हुए घोड़ोंके खुरोंके संघटन से उठनेवाले कठोर शब्दोंसे भरा हुआ है, जो पैदल सेनाके पैरोंकी चोटसे उत्पन्न हुए पृथिवीके बहुत भारी शब्दोंसे भयंकर है, जो चलते हुए रथोंके पहियोंसे उत्पन्न होनेवाले बहुत भारी चीत्कार शब्दोंसे भय पैदा करनेवाला है, जो धनुष तैयार करनेके लिये लगाई हुई डोरीके आस्फालन से कठोर है, जिसने दिशारूपी दीवारोंको प्रतिध्वनिसे युक्त कर दिया है और जो सब प्रकारके नगाड़ोंसे भयानक हो रहा है ऐसा बहुत भारी सेनाका कोलाहल उठा सो ऐसा जान पड़ता

१ आस्तां तावदित्यध्याहारः । २ पापः । ३ विनाशमेप्यति । ४ जयस्य । ५ यदुदाहरणम् । ६ सत्येन अविपरीतप्रतिपत्तिकम् । सत्येन एकवादोपेतं वा । ७ मन्दः । ८ पटुः । 'वक्षे तु चतुरपेक्षपटवः सुत्यान ओष्णाश्च' इत्यभिधानात् । ९ न निषिध्यते स्म । १० स्वीकृतः । ११ शिविरं प्रति शिविरं प्रति । १२ नवस्थिता । १३ ध्वनिः । १४ पादहति । १५ भूमिध्वनिना भयङ्करः । १६ चलत् ।

शिक्षिताः बलिनः शूराः शूरारूढाः सकेतयः । गजाः समन्तात् सन्नाह्याः^१ प्राक्चेतुरचलोपमाः ॥७८॥
 तुरङ्गमास्तरङ्गभाः सङ्ग्रामाब्धेः सर्वमकाः^२ । अनुदन्ति नदन्तो^३ ज्यान्^४ विक्रामन्तः^५ समन्ततः ॥७९॥
 सचक्रं^६ धेहि संयोज्य सधुरं^७ प्राज वाजिनः । इति^८ सम्भ्रमिणोऽपन्तन्^९ रथास्तदनु सध्वजाः ॥८०॥
 चण्डाः कोदण्डकुन्तासिप्रासचक्रादिभीकराः । यान्ति स्मानुरथं क्रुद्धा रुद्धदिवकाः पदातयः ॥८१॥
 गजं गजस्तबोद्धव्यं वाहो^{१०} वाहं रथं रथः । पदातयश्च पादान्तं सम्भ्रमाश्रित्ययुधैः^{११} ॥८२॥
 आरूढानेकपानेकभूषालपरिवारितः । भेरीनिष्ठुरनिर्घोषभीषिताशेषदिग्दिपः ॥८३॥
 चक्रध्वजं समुत्थाप्य सम्यगाविष्कृतोन्नतिः । गजं विजयघोषाख्यम् आरुह्याद्विजरोत्तमम् ॥८४॥
 अर्ककीर्तिर्बहिर्भास्वदर^{१२} युद्धतभटावृतः । ज्योतिः कुलाचलैर्वाक्यश्चालाभ्यचलाधिपम्^{१३} ॥८५॥
 किंवदन्ती^{१४} विदित्वेतां भूपो भूत्वा कुलाकुलः^{१५} । स्वालोचितं^{१६} च कर्तव्यं^{१७} विधिना क्रियतेऽन्यथा ॥८६॥
 इति स्वसचिवैः सार्धम् आलोच्य च जयादिभिः । प्रत्यर्ककीर्त्यथा^{१८} दिक्षद्^{१९} दूतं सम्प्राप्य सत्वरम् ॥८७॥
 कुमारं तव किं युक्तम् एवं सीमातिलङ्घनम् । प्रसीद प्रलयो^{२०} दूरं तन्मा कार्षीं^{२१} षागमम् ॥८८॥

था मानो कालको बुलानेके लिये ही उठा हो ॥७३-७७॥ उस समय जो शिक्षित हैं, बलवान् हैं, शूरवीर हैं, जिनपर योद्धा बैठे हुए हैं, पत्ताकाएं फहरा रही हैं, जो सब तरहसे तैयार हैं और पर्वतोंके समान ऊंचे हैं ऐसे हाथी सब ओरसे आगे आगे चल रहे थे ॥७८॥ जो संग्रामरूपी समुद्रकी लहरोंके समान हैं, कवच पहने हुए हैं, हींस रहे हैं और कूद रहे हैं ऐसे घोड़े उन हाथियों के पीछे पीछे चारों ओर जा रहे थे ॥७९॥ पहिले जल्दी लगाओ, धुराको ठीककर जल्दी लगाओ, इस प्रकार कुछ जल्दी करनेवाले, तथा जिनमें शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए हैं और ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे रथ उन घोड़ोंके पीछे पीछे जा रहे थे ॥८०॥ उन रथोंके पीछे धनुष, भाला, तलवार, प्रास और चक्र आदि शस्त्रोंसे भयंकर, फैलकर सब दिशाओंको रोकनेवाले, क्रोधी और बलवान् पैदल सेनाके लोग जा रहे थे ॥८१॥ उस समय हाथी हाथीको, घोड़ा घोड़ाको, रथ रथको और पैदल पैदलको धक्का देकर युद्धके लिये जल्दी जल्दी जा रहे थे ॥८२॥ तदनन्तर-हाथियोंपर चढ़े हुए अनेक राजाओंसे घिरा हुआ, नगाड़ोंके कठोर शब्दोंसे समस्त दिग्गजोंको भयभीत करनेवाला, चक्रके चिह्नवाली ध्वजाको ऊंचा उठाकर अपनी ऊंचाईको अच्छी तरह प्रकट करनेवाला और चमकीली तलवार हाथमें लिये हुए योद्धाओंसे आवृत अर्क-कीर्ति, मेरु पर्वतके समान उत्तम विजयघोष नामक हाथीपर सवार हो अचलाधिप (अचला अधिप) अर्थात् पृथ्वीके अधिपति राजा अकंपनकी ओर इस प्रकार चला मानो ज्योतिर्मण्डल और कुलाचलोंके साथ साथ सूर्य ही अचलाधिप (अचल अधिप) अर्थात् सुमेरुकी ओर चला हो ॥८३-८५॥ महाराज अकंपन यह बात जानकर बहुत ही व्याकुल हुए और सोचने लगे कि अच्छी तरह विचारकर किया हुआ कार्य भी दैवके द्वारा उल्टा कर दिया जाता है । इस प्रकार उन्होंने अपने मंत्री तथा जयकुमार आदिके साथ विचारकर अर्ककीर्तिके प्रति शीघ्र ही एक शीघ्रगामी दूत भेजा ॥८६-८७॥ दूतने जाकर कहा कि हे कुमार, क्या तुम्हें इस प्रकार सीमाका उल्लंघन करना उचित है ? प्रलयकाल अभी दूर है इसलिये प्रसन्न हूजिये

१ सनद्धाः कृताः । २ तनुत्रसहिताः । ३ दन्तिनां पश्चात् । ४ ध्वनन्तः । ५ अगच्छन् । ६ लङ्घनं कुर्वन्तः । ७ चक्रेण सह किञ्चिद् धेहि धारय । ८ धुरा सह किञ्चिद् धेहि । ९ प्रेरय । १० आशुप्रधावने प्रयुक्ताः । त्वरावन्तः । ११ अगच्छन् । १२ अश्वः । 'वाहोऽश्वस्तुरगो वाजी हयो धूर्यस्तुरङ्गमः' इति धनञ्जयः । १३ संग्रामनिमित्तम् । १४ उद्धृतासि । १५ अकम्पनं महाराजं प्रति । मेघं च । १६ जनवार्ताम् । १७ अधिकाकुलः । १८ सुण्डवालोचितम् । १९ कार्यम् । २० अर्ककीर्ति प्रति । २१ प्राहिलोत् । २२ प्रलयः षष्ठकालान्ते भवतीत्यागमम् । मृषा मा कुरु ।

इति सामादिभिः 'स्वोक्तैरशान्तमवगम्य तम् । प्रत्येत्य तत्तथा सर्वम् श्राव्यवाजी' गमशृणुम् ॥८६॥
 'काशिराजस्तदाकर्ण्य विषादचलिताशयः । महामोहाहितो' वाऽऽसीद् दुष्कार्ये को न मुह्यति ॥८७॥
 'अत्र चिन्त्यं न वः किञ्चिन्नयायस्तेनैव' लङ्घितः । 'तिष्ठतेहैव' संरक्ष्य सुनियुक्ताः' सुलोचनाम् ॥८८॥
 इदानीमेव दुर्बुद्धं शृङ्खलालिङ्गनोत्सुकम् । शाखामृगमिवानेष्ये बध्वा दारात्' तायिनम् ॥८९॥
 इत्युदीर्य जयो मेघकुमारविजयाजिताम् । मेघघोषाभिधां भेरीं 'प्रठेनास्फोटयद्' रुषा ॥९०॥
 'द्रोणादिप्रक्षयारम्भधनाघनघनध्वनिम् । तदध्वनिर्व्याप' निर्जित्य निर्भिद्य ह्रवयं द्विषाम् ॥९१॥
 तद्रवाकर्णनाद् घृणितार्णवप्रतिमे' बले । अतिवे' लोत्सवोऽप्रासीदुत्सवो विजये' यथा ॥९२॥
 तवोद्भिन्नकटप्रान्तप्रक्षरन्मदपायिनः । स्वमेवेनेव भातङ्गाः प्रोत्सङ्गाः प्रोन्नदिष्णवः ॥९३॥
 सुस्वनन्तः खनन्तः खं वाजिनो वायुरंहसः' । कृतोत्साहा' रणोत्साहाद् रेजुस्तेजस्विता हि सा ॥९४॥

और आगमको भूठा मत कीजिये । भावार्थ—लड़कर असमयमें ही प्रलय काल न ला दीजिये । दूतने इस प्रकार बहुतसे साम, दान आदिके वचन कहे परन्तु तौ भी उसे अशान्त जानकर वह लौट आया और शीघ्र ही ज्योंके त्यों सब समाचार अकंपनसे कह दिये ॥८८-८९॥ उन समाचारोंको सुनकर काशीराज अकंपनका चित्त विषादसे विचलित हो उठा और वे स्वयं महा-मोहसे मूर्च्छित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि बुरे कामोंमें कौन मूर्च्छित नहीं होता ॥९०॥ जयकुमारने अकंपनको चिन्तित देखकर कहा कि इस विषयमें हम लोगोंको कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि न्यायका उल्लंघन उसीने किया है, आप सावधान होकर सुलोचना की रक्षा करते हुए यहीं रहिये । दुराचारी, स्त्रियोंपर उपद्रव करनेवाले और इसलिये ही सांकलोंसे आलिंगन करनेकी इच्छा करनेवाले उस अर्ककीर्तिको बंदरके समान बांधकर में अभी लाता हूँ ॥९१-९२॥ इस प्रकार कहकर जयकुमारने क्रोधमें आकर, युद्धमें आगे जानेवाले पुरुषके द्वारा मेघकुमारोंको जीतनेसे प्राप्त हुई मेघघोषा नामकी भेरी बजवाई ॥९३॥ प्रलयकालके प्रारम्भमें प्रकट होनेवाले द्रोण आदि मेघोंकी घोर गर्जनाको जीतकर तथा शत्रुओं का हृदय विदारणकर वह भेरीकी आवाज सब ओर फैल गई ॥९४॥ जिस प्रकार शत्रुके विजय करनेपर उत्सव होता है उसी प्रकार उस भेरीका शब्द सुनकर लहराते हुए समुद्रके समान चंचल जयकुमारकी सेनामें माला डालनेके उत्सवों भी कहीं अधिक उत्सव होने लगा ॥९५॥ उस समय फटे हुए गण्डस्थलके समीपसे झरते हुए मदका पान करनेवाले और अपने उसी मदसे ही मानो उन्मत्त हुए ऊंचे ऊंचे हाथी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे । तथा इसी प्रकार अच्छी तरह हींसते हुए, पैरोंसे आकाशको खोदते हुए और वायुके समान वेगवाले उत्साही घोड़े भी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उनका तेजस्वीपना

१ सोक्तैः ८० । वचनसहितैः । २ शीघ्रं ज्ञापितवान् । ३ अकम्पनः । ४ महामूर्च्छागृहीत इव । ५ अत्र कार्ये । ६ अर्ककीर्तिनैव । ७ निवसत । ८ राजभवने । ९ सावधानाः भूत्वा । १० दारात-तायिनम् ८० । दारेषु कृतागमनम् । स्त्रीनिमित्तभागतमर्ककीर्तिमित्यर्थः । दाराततायिनमिति पाठे दारार्थं वधोद्यतम् । 'आततायी वधोद्यतः' इत्यभिधानात् । ११ अग्रगामिना पुरुषेण । १२ आस्फालनं कारयति स्म । प्रठेनास्फालयद् ल०, अ०, प०, इ०, स० । १३ द्रोणादि द्रोणकालपुष्करादि । प्रक्षयारम्भ प्रलयकालप्रारम्भ । द्रोणावयश्च ते प्रक्षयारम्भधनाघनास्तेषां ध्वनिम् । १४ व्याप्नोति स्म । १५ समाने । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतिमानना प्रतिच्छाया । प्रतिकृतिरर्चा पुंनि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात् ।' १६ अधिकोत्सवः । 'अतिवेलभृशतत्पर्यतिमात्रं गाढनिर्भरम्' इत्यभिधानात् । अतिमालोत्सवो ल०, अ०, प०, इ० । १७ दिग्विजये । १८ पवनवेगाः । १९ कृतोद्योगाः ।

रथाः प्रागिव^१ पर्याप्ताः^२ पूर्णसर्वायुधायुधः^३ । महाबाहसमायुक्ताः प्रनृत्यत्केतुबाहवः ॥९८॥
 योषितोऽप्यभटायन्^४ पाटवात् संयुगं प्रति^५ । ततः^६ प्रतिबलात्तत्र^७ भूयांसो वा^८ पदातयः ॥९९॥
 बद्धमानो ध्वनिस्तूय^९ रणरङ्गो भविष्यतः । वीरलक्ष्मीप्रवृत्तस्य प्रोद्ययौ गुणयन्निव^{१०} ॥१००॥
 वनान्वयं वयश्शिक्षालक्षणेर्वाक्ष्य विग्रहम्^{११} । सुवर्माणं सुधर्माणं^{१२} कामवन्तं^{१३} क्षरन्भवम् ॥१०१॥
 साम्रजं विजयाद्धीर्यं विजयाद्धेमिवापरम् । बहुशो वृष्टसङ्ग्रामं^{१४} गजध्वजविराजितम् ॥१०२॥
 अधिष्ठाय^{१५} जयः सर्वसाधनेन सहानुजः । निर्जगाम युगप्रान्तकाललीलां बिलङ्घयन् ॥१०३॥
 कुर्वन्ती शान्तिपूजां त्वं तिष्ठ मात्रेति^{१६} सादरम् । प्रवेश्य चैत्यधामादयं^{१७} सुतां नित्यमनोहरम् ॥१०४॥
 समप्रबलसम्पत्त्या चञ्चल चलयन्निलाम्^{१८} । अकम्पः कम्पितारातिः^{१९} साकम्पनिरकम्पनः ॥१०५॥
 सुकेतुः सूर्यमित्राख्यः श्रीधरो जयवर्मेण । देवकीतिजं जग्मुरिति भूपाः ससाधनाः ॥१०६॥
 इमे मुकुटबद्धे^{२०} पञ्च विख्यातकीर्तयः । परे च शूरा नाथेन्दुवंशगृह्णाः^{२१} समायुगः ॥१०७॥
 मेघप्रभश्च चण्डासिप्रभाव्याप्तविद्यस्तलः । विद्याबलोद्धतः सार्द्धमर्द्धं विद्याधरैरगात् ॥१०८॥

वही था ॥९६-९७॥ जो सब प्रकारके शस्त्रोंसे पूर्ण हैं, जिनमें बड़े बड़े घोड़े जुते हुए हैं, और जिनकी ध्वजारूपी भुजाएं नृत्य कर रही हैं ऐसे युद्धके रथ पहलेके समान ही सब ओर फैल रहे थे ॥९८॥ जयकुमारकी सेनामें युद्धमें चतुर होनेके कारण स्त्रियां भी योद्धाओंके समान आचरण करती थीं इसलिये अन्य राजाओंकी अपेक्षा उसकी पैदल सेनाकी संख्या अधिक थी ॥९९॥ उस समय जो बाजोंका शब्द बढ़ रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो रणके मैदानमें जो वीरलक्ष्मीका उत्तम नृत्य होनेवाला है उसे कई गुना करता हुआ ही बढ़ रहा हो ॥१००॥

तदनन्तर—जो वनमें उत्पन्न हुआ है, वय, शिक्षा और अच्छे अच्छे लक्षणोंसे जिसका शरीर देखने योग्य है, जिसका स्वभाव अच्छा है, शरीर अच्छा है, जो कामवान् है, जिसके मद भर रहा है, जिसने अनेक बार युद्ध देखे हैं, जो हाथीके चिह्नवाली ध्वजाओंसे सुशोभित है और दूसरे विजयार्थ पर्वतके समान जान पड़ता है ऐसे विजयार्थ नामके हाथीपर सवार होकर वह जयकुमार सब सेना और सब छोटे भाईयोंके साथ साथ युगके अन्त कालकी लोलाको उल्लंघन करता हुआ निकला ॥१०१-१०३॥ इधर शत्रुओंको कम्पित करनेवाले और स्वयं अकम्प (निश्चल) रहनेवाले महाराज अकम्पनने भी 'तू अपनी माताके साथ आदरपूर्वक शान्ति-पूजा करती हुई बैठ' इस प्रकार कहकर पुत्री सुलोचनाको नित्यमनोहर नामके उत्तम चैत्यालय में पहुंचाया और स्वयं अपने पुत्रोंको साथ लेकर समस्त सेनारूपी सम्पत्तिके द्वारा पृथिवीको कपाते हुए निकले ॥१०४-१०५॥ सुकेतु, सूर्यमित्र, श्रीधर, जयवर्मा और देवकीति ये सब राजा अपनी अपनी सेनाओंके साथ जयकुमारसे जा मिले ॥१०६॥ मुकुटबद्ध राजाओंमें जिनकी कीर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे ऊपर कहे हुए सुकेतु आदि पांच राजा तथा नाथवंश और सोमवंशके आश्रित रहनेवाले अन्य शूरवीर लोग, सभी जयकुमारसे आ मिले ॥१०७॥ जिसने अपनी तीक्ष्ण तलवारकी प्रभासे आकाशतलको व्याप्त कर लिया है और जो विद्याके बलसे

१ दिग्विजये यथा । २ समन्तात् प्राप्ताः । पर्यप्ताः ल० । ३ रणस्य । पूर्णसर्वायुधायुध इति समस्तपदपक्षे पूर्णसर्वायुधानि च भटाश्च येषु ते । ४ भटा इवाचरिताः । ५ युद्धं प्रति । ६ ततः कारणात् । ७ प्रतिबले विलोक्यमाने सतीत्यर्थः । ८ जयकुमारबले । ९ इव । १० अतिशयं कुर्वन्निव । ११ दशनीयमूर्तिम् । १२ सुवर्माणं सुवर्ष्माणं अ०, प०, स०, इ० । सुधर्माणं सुवर्ष्माणं ल० । १३ शोभनस्वभावम् । १४ आरोहकस्य वशवर्तिगमनवन्तम् । १५ गजरूपध्वज । १६ आरुह्य । १७ जनन्या सह । १८ श्रेष्ठम् । १९ भूमिम् । २० अकम्पनस्यापत्यानि आकम्पनयस्तैः सहितः । २१ नाथवंशसोमवंशश्रिताः ।

बलं विभज्य भूभागे विशाले सकलं समे । प्रकृत्य^१ मकरव्यूहं^२ विरोधिबलघस्मरः^३ ॥१०६॥
 उच्चैर्लज्जिततूपौ घनिर्यन्निघोषभीषणः^४ । जितमेघस्वरो गर्जन् रेजे मेघस्वरस्तदा ॥११०॥
 चक्रव्यूहं^५ विभक्तात्मभूरिसाधनमध्यगः । अर्ककीर्तिश्च भाति स्म परिवेषाहितार्कवत्^६ ॥१११॥
 क्रुद्धाः खे खेचराधोशाः सुनमिप्रमुखाः पृथक् । गरुडव्यूहमापाद्य तस्थुश्चक्रिसुताजया ॥११२॥
 अष्टचन्द्राः^७ खगाः स्थिताश्चक्रिणः परितः सुतम् । शरीररक्षकत्वेन भेजुर्विद्यामदोद्धताः ॥११३॥
 अकालप्रलयारम्भजृम्भिताम्भोदगजितम् । निजित्य तूर्णं तूर्याणि दध्वन्तुः सेनयोः सभम् ॥११४॥
 धातुर्कर्मणि^८ णैर्मणिः समरस्य पुरस्सरैः । प्रवर्तयितुमारेभे घोरघोषैः सबलितम्^९ ॥११५॥
 सङ्ग्रामनाटकारम्भसूत्रधारा धनुर्धराः । रणरङ्गं विशन्ति स्म गर्जन्तूर्यपुरस्सरम् ॥११६॥
 आबध्य स्थानकं^{१०} पूर्वं रणरङ्गो धनुर्धरः । पुष्पाञ्जलिरिव व्यस्तो^{११} मुक्तः^{१२} शितशरोत्करः ॥११७॥
 तीक्ष्णा मर्माण्यभिघ्नन्तः पूर्वं कलहकारिणः । पश्चात्प्रवेशिनः^{१३} शश्वत् खलकल्पा^{१४} धनुर्धतः ॥११८॥

उद्धत हो रहा है ऐसा मेघप्रभ नामका विद्याधर भी अपने आधे विद्याधरोंके साथ निकला ॥१०८॥ जो शत्रुओंकी सेनाको नष्ट करनेवाला है, बड़े बड़े बाजोंके समूहसे निकलती हुई आवाजके समान भयंकर है और जिसने अपनी आवाजसे मेघोंकी गर्जनाको भी जीत लिया है ऐसा जयकुमार उस समय विशाल और सम (ऊंची नीची रहित) पृथ्वीपर अपनी समस्त सेनाका विभागकर तथा मकरव्यूहकी रचनाकर गर्जता हुआ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥१०९-११०॥ उधर चक्रव्यूहकी रचनाकर अपनी बहुत भारी सेनाके बीच खड़ा हुआ अर्ककीर्ति भी परिवेषसे युक्त सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥१११॥ क्रोधित हुए सुनमि आदि विद्याधरोंके अधिपति भी गरुडव्यूहकी रचनाकर चक्रवर्तिके पुत्र-अर्ककीर्तिकी आज्ञासे आकाशमें अलग ही खड़े थे ॥११२॥ विद्याके मदसे उद्धत हुए आठ चन्द्र नामके प्रसिद्ध विद्याधर शरीररक्षकके रूपमें चारों ओरसे अर्ककीर्तिकी सेवा कर रहे थे ॥११३॥ उन दोनों सेनाओंमें असामयिक प्रलयकालके प्रारम्भमें बढ़ती हुई मेघोंकी गर्जनाको जीतकर शीघ्र शीघ्र एक साथ बहुतसे बाजे बज रहे थे ॥११४॥ युद्धके आगे आगे जानेवाले और भयंकर गर्जना करनेवाले धनुर्धारी योद्धाओंने बाणों द्वारा अपना मार्ग बनाना प्रारम्भ किया था । भावार्थ-धनुष चलानेवाले योद्धा बाण चलाकर भीड़को तितर बितर कर अपना मार्ग बना रहे थे ॥११५॥ जो संग्रामरूपी नाटकके प्रारम्भमें सूत्रधारके समान जान पड़ते थे ऐसे धनुष को धारण करनेवाले वीर पुरुष गर्जते हुए बाजोंको आगे कर युद्धरूपी रंगभूमिमें प्रवेश कर रहे थे ॥११६॥ धनुष धारण करनेवाले पुरुषोंने रणरूपी रंगभूमिमें सबसे पहले अपना स्थान जमा कर जो तीक्ष्ण बाणोंका समूह छोड़ा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो उन्होंने पुष्पाञ्जलि ही दिल्हेरी हो ॥११७॥ वे धनुषपर चढ़ाये हुए बाण सदा दुष्टोंके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार दुष्ट तीक्ष्ण अर्थात् क्रूर स्वभाववाले होते हैं उसी प्रकार वे बाण भी तीक्ष्ण अर्थात् पैने थे, जिस प्रकार दुष्ट मर्मभेदन करते हैं उसी प्रकार बाण भी मर्मभेदन करते थे, जिस प्रकार दुष्ट कलह करनेवाले होते हैं उसी प्रकार बाण भी कलह करनेवाले थे और जिस प्रकार दुष्ट पहले मधुर वचन कह कर फिर भीतर घूस जाते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मनोहर शब्द

१ कृत्वा । २ मकरसमूहरचनाविशेषम् । ३ विनाशक इत्यर्थः । ४ निघोषभीषणं यथा भवति तथा । ५ विभक्त्यात्म-प०, ल० । ६ प्राप्तः । ७ अष्टचन्द्राख्याः । ८ वाग्यः । ९ क्रियाविशेषणम् । उत्तलवनसहितं यथा । १० आलीढप्रत्यालीढादि । ११ क्षिप्तः । १२ निशातः । १३ शरीरं प्रवेशिनः । १४ वाणाः ।

उभयोः 'पाश्वर्योर्बद्धा बाणयोः कृतवल्गनाः । धन्विनः खेचराकारा रेजुराजौ' जितश्रमाः ॥११६॥
 ऋजुत्वाद् दूरदर्शित्वात् सद्यः कार्यप्रसाधनात् । शास्त्रमार्गानुसारित्वात् शराः सुसचिवैः समाः ॥१२०॥
 क्रव्यास्रपायिनः पत्रवाहिनी दूरपातिनः । लक्ष्येषु ङ्गीय तीक्ष्णास्याः खगाः पेतुः खगोपमाः ॥१२१॥
 धर्मैर्गुणयुक्तेन प्रेरिता हृदयं गता । शूरान् शुद्धिरिचानंषीद् गतिं पत्रिपरम्परा ॥१२२॥
 पुंसां संस्पर्शमात्रेण हृदयता रक्तवाहिनी ॥ क्षिप्रं न्यमीलयन्नेत्रे वेदयेव विशिखावली ॥१२३॥
 त्यक्त्वैश खेचरालातिवृष्टीं गृह्यतमस्ततौ ॥ परोजन्विष्य शरावत्या जारयेव वशीकृतः ॥१२४॥

करते हुए पीछेसे भीतर घूस जाते थे ॥११८॥ जो दोनों बगलोंमें तरकस बांधकर उछल कूद कर रहे हैं तथा जिन्होंने परिश्रमको जीत लिया है ऐसे धनुषधारी लोग उस युद्धमें पक्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥११९॥ और बाण अच्छे मंत्रियोंके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार अच्छे मंत्री ऋजु अर्थात् सरल (मायाचार रहित) होते हैं उसी प्रकार बाण भी सरल अर्थात् सीधे थे, जिस प्रकार अच्छे मंत्री दूरदर्शी होते हैं अर्थात् दूरतककी बातको सोचते हैं उसी प्रकार बाण भी दूरदर्शी थे अर्थात् दूरतक जाकर लक्ष्यभेदन करते थे, जिस प्रकार अच्छे मंत्री शीघ्र ही कार्य सिद्ध करनेवाले होते हैं उसी प्रकार बाण भी शीघ्र करनेवाले थे अर्थात् जल्दीसे शत्रुको मारनेवाले थे और जिस प्रकार अच्छे मंत्री शास्त्रमार्ग अर्थात् नीतिशास्त्रके अनुसार चलते हैं उसी प्रकार बाण भी शास्त्रमार्ग अर्थात् धनुषशास्त्रके अनुसार चलते थे । ॥१२०॥ मांस और खूनको पीनेवाले, पंख धारण करनेवाले, दूरतक जाकर पड़नेवाले और पैने मुखवाले वे बाण पक्षियोंके समान उड़कर अपने निशानोंपर जाकर पड़ते थे । भावार्थ—वे बाण पक्षियोंके समान मालूम होते थे, क्योंकि जिस प्रकार पक्षी मांस और खून पीते हैं उसी प्रकार बाण भी शत्रुओंका मांस और खून पीते थे, जिस प्रकार पक्षियोंके पंख लगे होते हैं उसी प्रकार बाणोंके भी पंख लगे थे, जिस प्रकार पक्षी दूर जाकर पड़ते हैं उसी प्रकार बाण भी दूर जाकर पड़ते थे और जिस प्रकार पक्षियोंका मुख तीक्ष्ण होता है उसी प्रकार बाणोंका मुख (अग्रभाग) भी तीक्ष्ण था । इस प्रकार पक्षियोंकी समानता धारण करनेवाले बाण उड़ उड़कर अपने निशानोंपर पड़ रहे थे ॥१२१॥ जिस प्रकार गुणयुक्त धर्मके द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें प्राप्त हुई विशुद्धि पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करा देती है उसी प्रकार गुणयुक्त (डोरी सहित) धर्म (धनुष) के द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें सुभी हुई बाणोंकी पंक्ति शूरवीर पुरुषोंको परलोक पहुंचा रही थी ॥१२२॥ जिस प्रकार हृदयमें प्राप्त हुई और रक्तवाहिनी अर्थात् अनुराग धारण करनेवाली अथवा रागी पुरुषोंको वश करनेवाली वेदया स्पर्शमात्रसे ही पुरुषोंके नेत्र बन्द कर देती है उसी प्रकार हृदयमें लगी हुई और रक्तवाहिनी अर्थात् रुधिर को बहानेवाली बाणोंकी पंक्ति स्पर्शमात्रसे शीघ्र ही पुरुषोंके नेत्र बन्द कर देती थी—उन्हें मार डालती थी ॥१२३॥ जिस प्रकार बहुत वर्षा होने और अन्धकारका समूह छा जानेपर

६ निजशरीरपाश्वर्ययोः । २ इषुधी द्वौ । ३ पक्षे सदृशाः । ४ युद्धे । ५ चापशास्त्रोक्तक्रमेण । प्रयोक्तृमार्गशरणात्वात् । ६ बाणाः । ७ मन्त्रिभिः । ८ क्रव्यास्रपायिनः ट० । आममांसरक्तभोजिनः । ९ पत्रैर्बहुन्ति गच्छन्तीति पत्रवाहिनः । १० बाणाः । 'शराकंविहगाः खगाः' । ११ पक्षिसदृशाः । १२ धनुषा । १३ ज्यासहितेन । अतिशययुक्तेन च । १४ विशुद्धिपरिणाम इव । १५ आनयति स्म । १६ शरसन्ततिः । १७ रक्तं प्रापयन्ती । आत्मन्यनुरक्तं प्रापयन्ती च । १८ इतोऽग्रे पुनः 'आरा' नगरात् समायातटिप्पणपुस्तकात् टिप्पणसमुद्धारः क्रियते । १९ उपरिस्थितखेचररुधिरवर्षे । २० दाक्षाय्यतमसमूहे । 'आतापिचिल्ली दाक्षाय्यगृद्धौ' इत्यभिधानात् । * भावे क्तः

प्रगुणां मुष्टि^१संवाह्या दूरं दृष्ट्यनुवर्तिनः^२ । गत्वैष्टं साधयन्ति स्म सद्भूत्या इष्ट सायकाः ॥१२५॥
 प्रयोज्याभिमुखं तीक्ष्णान् बाणान् परशरान्प्रति । तत्रैव^३ पातयन्ति स्म धानुष्काः सा^४ हि द्वैधीभ्याम्^५ ॥१२६॥
 जाताश्चापधृताः^६ केचिद् अन्योन्यशरखण्डने । व्यापृताः श्लाघिताः पूर्वं रणे किञ्चित्करोपमाः^७ ॥१२७॥
 हस्त्यश्वरथपत्न्यौघम् उद्भिद्यास्पष्टलक्षयत्^८ । शराः पेतुः स्व^९सम्पातमेवास्ता^{१०} दृढमुष्टिभिः ॥१२८॥
 पूर्वं विहितसन्धानाः^{११} स्थित्वा किञ्चिच्छरासने^{१२} । यानमध्यास्य^{१३} मध्यस्थाः^{१४} द्वैधीभावमुपागता ॥
 विग्रहे^{१५} हतशक्तित्वाद् अगत्या शत्रुसंश्रयाः । बाणाः^{१६} गुणितवाङ्गुण्या इव सिद्धिं प्रपेदिरे ॥१३०॥

व्यभिचारिणी स्त्री अपना पति छोड़ किसी परपुरुषको खोजकर वश कर लेती है उसी प्रकार विद्याधरोंके खूनकी बहुत वर्षा होने और गृद्ध पक्षीरूपी अन्धकारका समूह फैल जानेपर बाणोंकी पंक्ति अपने स्वामीको छोड़ खोज खोजकर शत्रुओंको वश कर रही थी ॥१२४॥ अथवा वे बाण अच्छे नौकरोंके समान दूर दूरतक जाकर इष्ट कार्योंको सिद्ध करते थे क्योंकि जिस प्रकार अच्छे नौकर प्रगुण अर्थात् श्रेष्ठ गुणोंके धारक अथवा सीधे होते हैं उसी प्रकार बाण भी प्रगुण अर्थात् सीधे अथवा श्रेष्ठ डोरीसे सहित थे, अच्छे नौकर जिस प्रकार मुट्टियोंसे दिये हुए अन्नपर निर्वाह करते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मुट्टियों द्वारा चलाये जाते थे और अच्छे नौकर जिस प्रकार मालिककी दृष्टिके अनुसार चलते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मालिककी दृष्टिके अनुसार चल रहे थे ॥१२५॥ धनुषको धारण करनेवाले योद्धा जहां जहां शत्रुओंके बाण थे वहीं वहीं देखकर अपने पैसे बाण फेंक रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओंकी बंसी ही बुद्धि होती है ॥१२६॥ जो बाण एक दूसरेके बाणोंको तोड़नेके लिये चलाये गये थे, धारण किये गये थे अथवा उस व्यापारमें लगाये गये थे वे युद्धमें नौकरोंके समान सबसे पहले प्रशंसाको प्राप्त हुए थे ॥१२७॥ मजबूत मुट्टियोंवाले योद्धाओंके द्वारा छोड़े हुए बाण अस्पष्ट लक्ष्यके समान दिखाई नहीं पड़ते थे और हाथी, घोड़े, रथ तथा पियादोंके समूहको भेदनकर अपने पड़नेसे स्थानपर ही जाकर पड़ते थे ॥१२८॥ जिस प्रकार सन्धि विग्रह आदि छह गुणोंको धारण करनेवाले राजा सिद्धिको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वे बाण भी सन्धि आदि छह गुणोंको धारण कर सिद्धिको प्राप्त हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार राजा पहले संधि करते हैं उसी प्रकार वे बाण भी पहले डोरीके साथ सन्धि अर्थात् मेल करते थे, जिस प्रकार राजा लोग अपनी परिस्थिति देखकर कुछ समय तक ठहरे रहते हैं उसी प्रकार वे बाण भी धनुषपर कुछ देरतक ठहरे रहते थे, जिस प्रकार राजा लोग युद्ध के लिये अपने स्थानसे चल पड़ते हैं उसी प्रकार वे बाण भी शत्रुको मारनेके लिये धनुषसे चल पड़ते थे, जिस प्रकार राजा लोग मध्यस्थ बनकर द्वैधीभावको प्राप्त होते हैं अर्थात् भेदनीति द्वारा शत्रुके संगठनको छिन्नभिन्न कर डालते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मध्यस्थ (शत्रुके शरीरके मध्यमें स्थित) हो द्वैधीभावको प्राप्त होते थे अर्थात् शत्रुके टुकड़े टुकड़े कर डालते थे और अन्तमें राजा लोग जिस प्रकार युद्ध करनेकी

१ अवक्राः । २ मुष्टिना संवाह्यन्ते गम्यन्ते मुष्टिसंवाह्याः । आज्ञावशानुवर्तिनश्च । ३ तयनैरनुवर्तमानाः । आलोकनमात्रेणा प्रभोरभिप्रायं ज्ञात्वा कार्यकराश्च । ४ यत्र शत्रुशराः स्थितास्तत्रैव । ५ सैव परशरखण्डनरूपा । ६ बुद्धीनां मध्ये । द्वैधीषाम् ल० । ७ बाणाः । ८ किङ्करसमानाः । ९ असृष्टलक्षयवत् । १० स्वयोन्यपतनस्थानं गत्वैवेत्यर्थः । ११ क्षिप्ताः । १२ कृतसंयोजनाः कृतसन्धयश्च । १३ चापे क्षेत्रे च । १४ गमनमध्यास्य । १५ मध्यस्थाः सन्तः । १६ द्विधाखण्डनत्वम्, पक्षे उभयत्राश्रयत्वम् । १७ वक्रिमभावे । अथवा शरीरे । १८ अभ्यस्तः ।

धारा वीररसस्यैव रेजे रक्तस्य कस्यचित् । पतन्ती सततं ध्वंस्व आश्वत्थान्पाटिताशुगम् ॥१३१॥
 'सायकोद्भिन्नभालोक्य कान्तस्य हृदयं प्रिया । परासुरासीच्चित्तोजस्य वदन्तीवात्मनः स्थितिम् ॥१३२॥
 छिन्नदण्डैः फलैः कश्चित् सर्वाङ्गोर्णभंडाप्रणीः । कीलिताशुरियाकम्प्रतस्थं ध्रुवध्वं चिरम् ॥१३३॥
 विलोक्य विलयज्वालिज्वालालोलशिखोपमैः । शिलीमुखैर्बलं "छिन्नं स्व" विपक्षधनुर्धरैः ॥१३४॥
 गृहीत्वा वज्रकाण्डाख्यं सज्जीकृत्य शरासनम् । स्वयं योद्धुं समारब्धं सन्धोषः सानुजो जयः ॥१३५॥
 'कर्णाभ्यर्णोक्तास्तस्य गुणयुक्ताः सुयोजिताः । पञ्चैलंबुसमुत्थानाः' कालक्षेपाविधायिनः ॥१३६॥
 मार्गं प्रगुणसञ्चाराः प्रविश्य हृदयं द्विषाम् । कृच्छ्रार्थं^{१०} साधयन्ति स्म "निस्सृष्टार्थसमाः शराः ॥१३७॥
 पत्रवन्तः प्रतापोप्राः^{११} समप्रा विप्रहे द्रुताः । अज्ञातपोतिनश्चक्रुः कूटयुद्धं शिलीमुखैः ॥१३८॥

सामर्थ्यसे रहित शत्रुको वश कर लेते हैं उसी प्रकार वे बाण भी शत्रुको वश कर लेते थे ॥१२९-१३०॥ निकाले हुए बाणके पीछे बहुत शीघ्र धीरतासे निरन्तर पड़ती हुई किसी पुरुषके रुधिरकी धारा वीररसकी धाराके समान सुशोभित हो रही थी ॥१३१॥ कोई स्त्री अपने पतिका हृदय बाणसे विदीर्ण हुआ देखकर प्राणरहित हो गई थी मानो वह कह रही थी कि मेरा निवास इसीके हृदयमें है ॥१३२॥ जिनके दण्ड टूट गये हैं और जो सब शरीरमें घुस गये हैं ऐसे बाणोंकी नोकोंसे जिसके प्राण मानो कीलित कर दिये गये हैं ऐसा कोई योद्धा पहलेकी तरह ही निश्चल हो बहुत देरतक लड़ता रहा था ॥१३३॥ शत्रुओंके धनुषधारी योद्धाओंने प्रलयकालकी जलती हुई अग्निकी चंचल शिखाओंके समान तेजस्वी बाणोंके द्वारा मेरी सेनाको छिन्नभिन्न कर दिया है यह देख जयकुमारने अपने छोटे भाइयों सहित क्रोधित हो वज्रकाण्ड नामका धनुष लिया और उसे सजाकर स्वयं युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥१३४-१३५॥ उस समय जयकुमारके बाण † निःसृष्टार्थ (उत्तम) दूतके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार उत्तम दूत स्वामीके कानके पास रहते हैं अर्थात् कानसे लगकर बातचीत करते हैं उसी प्रकार बाण भी जयकुमारके कानके पास रहते थे अर्थात् कानतक खींचकर छोड़े जाते थे, जिस प्रकार उत्तम दूत गुण अर्थात् रहस्य रक्षा आदिसे युक्त होते हैं उसी प्रकार बाण भी गुण अर्थात् डोरीसे युक्त थे, जिस प्रकार उत्तम दूतकी योजना अच्छी तरह की जाती है उसी प्रकार बाणोंकी योजना भी अच्छी तरह की गई थी जिस प्रकार उत्तम दूत पत्र लेकर जल्दी उठ खड़े होते हैं उसी प्रकार बाण भी अपने पंखोंसे जल्दी जल्दी उठ रहे थे—जा रहे थे, जिस प्रकार उत्तम दूत व्यर्थ समय नहीं खोते हैं उसी प्रकार बाण भी व्यर्थ समय नहीं खोते थे, जिस प्रकार उत्तम दूत मार्ग में सीधे जाते हैं उसी प्रकार बाण भी मार्गमें सीधे जा रहे थे और जिस प्रकार उत्तम दूत शत्रुओं के हृदयमें प्रवेशकर कठिनसे कठिन कार्यको सिद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार बाण भी शत्रुओंके हृदयमें घुसकर कठिनसे कठिन कार्य सिद्ध कर लेते थे ॥१३६-१३७॥ अथवा ऐसा जान

१ सायिकोद्भिन्न—ल० । २ सर्वाङ्गव्यापिभिः । ३ प्रलयाग्निः । ४ छिन्नमित्यपि पाठः । छादितं खण्डितं वा । ५ आत्मीयम् । ६ आकर्णमाकृष्टाः । ७ कर्णसमीपे कृताश्च । ८ पक्षैः सन्देशपत्रैः । ९ आशुविधायिन इत्यर्थः । १० हृदयम् अभिप्रायं च । १० असाध्यार्थम् । ११ असकृत् सम्पादित-प्रयोजनदूतसमाः । १२ प्रकृष्टसन्तापभीकराः । भयङ्कराः ।

* राजाओंके छह गुण ये हैं—“सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च । द्वैधीभावश्च विज्ञेयः षड्गुणा नीतिवेदिनम् ।”

† जो दोनोंका अभिप्राय लेकर स्वयं उत्तरप्रत्युत्तर करता हुआ कार्य सिद्ध करता है उसे निःसृष्टार्थ दूत कहते हैं । यह दूत उत्तम दूत कहलाता है ।

प्रस्फुरद्भिः फलोपेतैः सुप्रमाणैः सुकल्पितैः । विरोधोद्भाविना विदग्धोच्चरैर्विजयायहैः ॥१३६॥
 वादिनैव जयनोच्चैः कीर्ति क्षिप्रं जिघृक्षुणा । प्रतिपक्षः प्रतिक्षिप्तः^१ शस्त्रैः शास्त्रैर्जिघृक्षुणा ॥१४०॥
 खगाः^२ खगान्प्रति^३ प्रास्ताः^४ प्रोद्भिद्य गगनं गताः । निवर्तन्ते न यावत्ते^५ ते भियेवापतन्मृताः ॥१४१॥
 सुतीक्ष्णा वीक्षणाभीलाः^६ प्रज्वलन्तः समन्ततः । मूर्द्धस्वशनिवत्पेतुः खाद् विमुक्ताः खगैः शराः ॥१४२॥
 शरसङ्घातसङ्घ्नान् गूढपक्षान्धकारितान् । श्रद्धष्टमुद्गरापातं^७ नभोगा नभसो^८ व्यधुः ॥१४३॥
 चण्डैर^९ काण्डमूत्रैश्च^{१०} काण्डैरापाद्यतादिमे^{११} । युगेऽस्मिन् किं किमस्तांशुभासिभिर्नाशुभैः^{१२} भवेत् ॥१४४॥
 दूरपाताय नो^{१३} किन्तु दूढपाताय खेचरैः । खगाः कर्णान्तिमाकृष्य मुक्ता^{१४} हन्युद्विपादिकान् ॥१४५॥
 अथोमुखाः खगैर्मुक्ता रक्तपानात् पलाशनात्^{१५} । पृथक्काः साहसो^{१६} वेयुर्नरक^{१७} बाध्वनरधः^{१८} ॥१४६॥

पड़ता था मानो वे बाण कपट युद्ध कर रहे हों क्योंकि जिस प्रकार कपट युद्ध करनेवाले पत्रवंत अर्थात् सवारी सहित और प्रतापसे उग्र होते हैं उसी प्रकार वे बाण भी पत्रवंत अर्थात् पंखों सहित और अधिक संतापसे उग्र थे, जिस प्रकार कपट युद्ध करनेवाले युद्धमें शीघ्र जाते हैं और सबसे आगे रहते हैं उसी प्रकार वे बाण भी युद्धमें शीघ्र जा रहे थे और सबसे आगे थे तथा कपट युद्ध करनेवाले जिस प्रकार बिना जाने सहसा आ पड़ते हैं उसी प्रकार वे बाण भी बिना जाने सहसा आ पड़ते थे ॥१३८॥ जिस प्रकार विजयके द्वारा उत्तम कीर्तिको शीघ्र प्राप्त करनेवाला और जीतनेकी इच्छा रखनेवाला वादी प्रकाशमान, अज्ञाननाशादि फलोंसे युक्त, उत्तम प्रमाणोंसे सहित, अच्छी तरह रचना किये हुए, संसारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त कराने वाले शास्त्रोंसे विरोधी-प्रतिवादीको हराता है उसी प्रकार विजयके द्वारा शीघ्र ही उत्तम कीर्ति सम्पादन करनेवाले, जीतनेकी इच्छा रखनेवाले तथा विरोधी प्रकट करनेवाले जय-कुमारने देदीप्यमान, नुकीले, प्रमाणसे बने हुए, अच्छी तरह चलाये हुए, संसारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शस्त्रोंसे शत्रुओंकी सेना पीछे हटा दी थी ॥१३९-१४०॥ जयकुमार ने विद्याधरोंके प्रति जो बाण चलाये थे वे आकाशको भेदनकर आगे चले गये थे और वहांसे वे जबतक लौटे भी नहीं थे तबतक वे विद्याधर मानो भयसे ही डरकर गिर पड़े थे ॥१४१॥ जो अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, देखनेमें भयंकर हैं, और चारों ओरसे जल रहे हैं ऐसे विद्याधरोंके द्वारा आकाशसे छोड़े हुए बाण योद्धाओंके मस्तकोंपर वज्रके समान पड़ रहे थे ॥१४२॥ जो बाणों के समूहसे ढक गये हैं, गीधके पंखोंसे अन्धकारमय हो रहे हैं और जिन्हें मुद्गरोंके आघात तक दिखाई नहीं पड़ते हैं ऐसे योद्धाओंको विद्याधर लोग आकाशसे घायल कर रहे थे ॥१४३॥ इस युगमें उन तीक्ष्ण बाणोंने सबसे पहले अकालमृत्यु उत्पन्न की थी सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने सूर्यका प्रताप भी कम दिया है ऐसे लोगोंसे क्या क्या अशुभ काम नहीं होते हैं ? ॥१४४॥ दूर जानेके लिये नहीं किन्तु मजबूतीके साथ पड़नेके लिये विद्याधरोंने जो बाण कानतक खींचकर छोड़े थे उन्होंने बहुतसे हाथी आदिको मार डाला था ॥१४५॥ जिस प्रकार रक्त पीने और मांस खानेमें नापी जीव नीचा मुखकर नरकमें जाते हैं उसी प्रकार विद्याधरों

१ निराकृतः । २ बाणाः । ३ विद्याधरान् । ४ मुक्ताः । ५ विद्याधराः । ६ दर्शने भयावहाः । ७ मुद्गराघातान् ल०, म० । ८ गगनमाधित्य । ९ अकाल । १० बाणैः । ११ उत्पादित । १२ अस्त्राशुगा-
 शिभिः इति पाठे अस्त्राण्येवाशुगाशिनः पवनाशनाः तैः सर्वैरित्यर्थः । 'आशुगो वायुविशिखौ'
 इत्यभिधानात् । १३ न । १४ घ्नन्ति स्म । १५ मांसाशनात् । १६ सपापाः । १७ वा इव । १८ युः गच्छन्ति
 स्म । १८ भूमेरधः स्थितम् ।

भूमिर्लब्धं निष्कृष्टं क्षिप्ता द्विष्ठान्कृष्य^१ यद्वयः^२ । ययुर्रं दिवं द्वीवेशीया^३ दिव्ययोषिताम् ॥१४७॥
 चक्रिणश्चक्रमेकं तप्त ततः^४ कस्यचित्क्षितिः । चक्रं रकालचक्राभैर्बहुवस्तत्र जग्निरे^५ ॥१४८॥
 समवेगैः^६ समं^७ मुक्तैः शरैः^८ खचरभूचरैः । व्योम्यन्योन्यमुखात्मनः स्थितं कतिपयक्षणे^९ ॥१४९॥
 खभूचरशरैश्चन्द्रमं खे परस्पररोधिभिः । अन्योन्यावीक्षणास्तेषाम् अभूद् रणनिषेधनम् ॥१५०॥
 स्वास्वैः^{१०} शस्त्रैर्नभोगानां शरैश्चाबाधितं भूशम् । स्वसैन्यं वीक्ष्य खोत्क्षिप्तवीक्षणाग्राशुशुक्षणिः^{११}
 सद्यः संहारसंकुद्धसमर्वातिसमो^{१२} जयः । प्रारब्ध^{१३} योद्धुं वज्रेण वज्रकाण्डेन वज्रिवत् ॥१५२॥
 निजिताशननिर्घोषजयज्याघोषभीलुकाः^{१४} । चापसायकचेतांसि प्राक्षिपन्^{१५} सह शत्रवः ॥१५३॥
 चापमाकर्णमाकृष्य ज्यानिवेशितसायकः । लघुसन्धानमोक्षः सोऽवेक्ष्य^{१६} विध्यन्निव^{१७} क्षणम् ॥१५४॥
 न मध्ये न शरीरेषु दृष्टास्तद्योजिताः शराः । दृष्टास्ते केवलं भूमौ सन्नगाः पतिताः परे ॥१५५॥
 निभीलयन्तश्चक्षुषि ज्वलयन्तः शिलीमुखाः । मुखानि ककुभां वङ्गः^{१८} खादुत्कालीविभीषणाः^{१९} ॥१५६॥

के द्वारा छोड़े हुए बाण शत्रुओंका रक्त पीने और मांस खानेसे पापी हो नीचा मुखकर पृथिवी के नीचे जा रहे थे—जमीनमें गड़ रहे थे ॥१४६॥ इसी प्रकार भूमिगोचरियों द्वारा निर्दयता के साथ छोड़े हुए बाण शत्रुओंको भेदकर आकाशमें बहुत दूरतक इस प्रकार जा रहे थे मानो देवांगनाओंकी दासियां ही हों ॥१४७॥ चक्रवर्तीका चक्र तो एक ही होता है उससे किसीकी हानि नहीं होती परन्तु उस युद्धमें अकाल चक्रके समान बहुतसे चक्रोंसे अनेक जीव मारे गये थे ॥१४८॥ विद्याधर और भूमिगोचरियोंके द्वारा एक साथ छोड़े हुए समान वेगवाले बाण आकाशमें एक दूसरेके मुखसे मुख लगाकर कुछ देरतक ठहर गये थे ॥१४९॥ परस्पर एक दूसरेको रोकनेवाले विद्याधर और भूमिगोचरियोंके बाणोंसे आकाश ढक गया था और इसीलिये एक दूसरेके न दिख सकनेके कारण उनका युद्ध बन्द हो गया था ॥१५०॥ अपने और शत्रुओंके शस्त्रों तथा विद्याधरोंके बाणोंसे अपनी सेनाको बहुत कुछ घायल हुआ देखकर नेत्ररूपी भयंकर अग्निको आकाशकी ओर फेंकनेवाला और संहार करनेके लिये कुपित हुए यमराजकी समानता धारण करनेवाला जयकुमार इन्द्रकी तरह वज्रकाण्ड नामके धनुषसे युद्ध करनेके लिये तैयार हुआ ॥१५१-१५२॥ वज्रकी गर्जनाको जीतनेवाले जयकुमारके धनुषकी डोरीके शब्द मात्रसे डरे हुए कितने ही शत्रुओंने धनुष, बाण और हृदय—सब फेंक दिये । भावार्थ—भयसे उनके धनुष-बाण गिर गये थे और हृदय विक्षिप्त हो गये थे ॥१५३॥ कान तक धनुष खींचकर जिसने डोरीपर बाण रखवा है और जो बड़ी शीघ्रतासे बाणोंको रखता तथा छोड़ता है ऐसा जयकुमार क्षणभरके लिये ऐसा जान पड़ता था मानो प्रहार ही नहीं कर रहा हो अर्थात् बाण चला ही नहीं रहा हो ॥१५४॥ जयकुमारके द्वारा चलाये हुए बाण न बीचमें दिखते थे, और न शरीरोंमें ही दिखाई देते थे, केवल घादसहित जमीनपर पड़े हुए शत्रु ही दिखाई देते थे ॥१५५॥ जो देखनेवालोंके नेत्र बन्द कर रहे हैं, सबको जला रहे हैं और उल्काओंके समूहके समान भयंकर हैं ऐसे जयकुमारके बाणोंने दिशाओंके मुखे ढक लिये थे

१ भूमौ स्थितैः । २ शत्रून् । ३ उद्भिद्य । ४ बाणाः । ५ द्वीतीसदृशाः । ६ —मेकान्तं न ल० । ७ चक्रात् । ८ समन्तात् कृतान्तसमूहसमानैः । ९ हताः । १० उभयत्रापि समानजवैः । ११ युगपत् । १२ खेचर—ल०, अ०, प०, स०, इ० । १३ —क्षणात् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १४ परस्परावलोकनाभावात् । १५ आत्मी-यामात्मीयैः । स्वास्त्रैः अ० । १६ अग्निः । १७ संहारार्थं कुपितयमसदृशः । १८ उपक्रान्तवान् । १९ भीरवः । २० त्यक्तवन्तः । २१ दृष्टः । २२ शराश्चमुच्चन्निव । २३ वेष्टयन्ति स्म । २४ गगनाग्निर्यच्छन्त इत्यर्थः । २५ उल्कासमूहभीकराः ।

तिर्यग्गोष्पणपाषाणेः^१ श्रद्धाज्यजिराद्^२ बहिः । पातितान्^३ खचरानूचुः सतनून् स्वर्गतान्^४ अडाः ॥१५७॥
 शरसंरुण^५ विद्याधन्मुकुटेभ्योऽगलन्^६ सुरैः । मणयो गुणगुह्यैर्वा जयस्योपायनीकृताः ॥१५८॥
 'यत्नमृतसगन्वीतप्रियाभिः स्वाश्रुवारिणा । 'वारिवानमिवाचर्य' कृपाभासावितो जयः ॥१५९॥
 अन्तकः समवर्तीति^७ तद्वार्त्तं न चेत्तथा । कथं चक्रिसुतस्यैव बले प्रेताधिपौ^८ भवेत् ॥१६०॥
 बधं विधाय न्यायेन जयेनान्यायवर्तिनाम् । 'यमस्तीक्ष्णोऽप्यभूद्धर्मस्तत्र'^९ दिव्यानलोपमः^{१०} ॥१६१॥
 तावद्धेधित^{११} 'निर्घोषैर्भीषयन्तो द्विषो हयाः । बलमाश्वासयन्तः स्वं स्वीचक्रुश्चाक्रिसूत्रवः'^{१२} ॥१६२॥
 प्रासान्प्रस्फुरतस्तीक्ष्णान् अभीक्ष्णं बाह्वाहिनः^{१३} । श्रावर्तयन्तः सम्प्रापन् यमस्येवाधगा भटाः ॥१६३॥
 जयोऽपि स्वयमाकृत्य जयो जयतुरङ्गमम् । क्रुद्धः प्राप्तान् समुद्धृत्य योद्धुमद्वीयमादिकान् ॥१६४॥
 अभूत् प्रहृतगम्भीरभन्भा^{१४} दिध्वनिभीषणः । बलार्णवचलत्स्थूलकल्लोल इव वाजिभिः ॥१६५॥

॥१५६॥ तिरछे जानेवाले गोफनोंके पत्थरोंसे युद्धके आंगनसे बाहर पड़े हुए विद्याधरोंको न देखकर मूर्ख लोग कहने लगे थे कि देखो विद्याधर शरीर सहित ही स्वर्ग चले गये हैं ॥१५७॥ बाणोंकी चीटसे छिन्नभिन्न हुए विद्याधरोंके मुकुटोंसे जो मणि गिर रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो गुणोंसे वश होनेवाले देवोंने जयकुमारकी भेंट ही किये हों ॥१५८॥ गिर गिरकर मरे हुए विद्याधरोंके साथ आई हुई स्त्रियां अपने अश्रुरूपी जलसे जो उन्हें जलांजलि सी दे रही थीं उसे देखकर जयकुमारको दया आ गई थी ॥१५९॥ यमराज समवर्ती है अर्थात् सबको समान दृष्टिसे देखता है यह केवल कहावत ही है यदि ऐसा न होता तो वह केवल चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिकी सेनामें ही क्यों प्रेतोंका राजा होता ? अर्थात् उसीकी सेनाको क्यों मारता ? ॥१६०॥ जयकुमारके द्वारा अन्यायमें प्रवृत्ति करनेवाले लोगोंका वध कराकर वह तीक्ष्ण यमराज भी उस युद्धमें दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था । भावार्थ—पूर्वकालमें साक्षी आदिके न मिलनेपर अपराधीकी परीक्षा करनेके लिये उसे अग्निमें प्रविष्ट कराया जाता था, अथवा जलते हुए अंगार उसके हाथपर रखाये जाते थे । अपराधी मनुष्य उस अग्निमें जल जाते थे परन्तु अपराधरहित मनुष्य सीता आदिके समान नहीं जलते थे । उसी आगको दिव्य अग्नि कहते हैं सो जिस प्रकार दिव्य अग्नि दुष्ट होनेपर भी अपराधीको ही जलाती है अपराधरहितको नहीं जलाती उसी प्रकार यमराजने दुष्ट होकर भी अन्यायी मनुष्योंका ही वध कराया न कि न्यायी मनुष्योंका भी, इसलिये वह यमराज दुष्ट होनेपर भी मानो उस समय दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था ॥१६१॥ इतनेमें ही हिनहिनाहटके शब्दोंसे शत्रुओंको डराते हुए और अपनी सेनाको धीरज बंधाते हुए चक्रवर्तीके पुत्र—अर्ककीर्तिके घोड़े सामने आये ॥१६२॥ यमराजके अग्रगामी योद्धाओंके समान, देदीप्यमान और पैने भालोंको बार बार घुमाते हुए घुड़सवार भी सामने आये ॥१६३॥ विजय करनेवाले जयकुमारने भी क्रोधित हो, जयतुरंगम नामके घोड़ेपर सवार होकर अपनी घुड़सवार सेनाको भाला लेकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी ॥१६४॥ घोड़ोंके द्वारा जिसमें चंचल और बड़ी बड़ी लहरें सी उठ रही हैं ऐसा वह सेनारूपी समुद्र बजते हुए गंभीर नगाड़े आदिके शब्दों

१ शस्त्रविशेषः । २ रणाङ्गणात् । ३ पतितान् ल०, स०, अ०, म० । ४ स्वर्गं गतान् । ५ सुम्न । ६ गलन्ति स्म । ७ गतप्राणविद्याधरानुगत । ८ जलाञ्जलिम् । ९ विधाय । १० बलवृद्धादिवु हननक्रियायां समानेन वर्तमानः । ११ यमः । १२ अन्तकः । १३ जये । १४ शपथाग्निसमः । १५ अश्व-निताद । १६ चक्रिसूतोः सम्बन्धिनः । १७ अश्वारोहाः । १८ भग्नेत्यनुकरणम् ।

असिंसंघट्टनिष्पूतविस्फुलिङ्गो रणेऽमलः । भीषणे शरसङ्घाते व्यद्वीपिष्ठः धराचितः ॥१६६॥
 वाजिनः प्राक्कशाघाताद् अथावन्ताभिसायकम्^१ । म्रियन्ते न सहन्ते हि परिभूतिं सतेजसः ॥१६७॥
 स्थिताः पश्चिमपादाभ्यां बद्धामर्षाः^२ परस्परम् । पतिं केचिद्विवावन्तो^३ युध्यन्ते स्म चिरं हयाः ॥१६८॥
 सन्नुद्धतास्त्र^४ सन्पूतलसत्तलोलासिपत्रकः^५ । नभस्तद्वरभाद् भूयस्तदा पल्लवितो यथा ॥१६९॥
 पतितान्यसिनिर्घातात् सुदूरं स्वामिनां ववचित् । शून्यासनः^६ शिरांस्युच्चैः श्रन्वेष्टुं वा भ्रमन्हयाः ॥१७०॥
 पशून् विशुङ्गयाम्मत्वाऽऽवान् कृपया कोऽपि नावधीत्^७ । ते^८ स्वदन्तखुरैरेव क्रुद्धाः प्राधनन्^९ परस्परम् ॥
 'वशमात्रावशिष्टाङ्गाः^{१०} मण्डलाग्रेदिचरं क्रुधा । लोहदण्डैरिवाखण्डैः धीरा युयुधिरे धुरि ॥१७१॥
 शिरः^{११} प्रहरणेनान्यो^{१२} ऽपश्यन्मन्ध्यं प्रकुर्वता । सर्वरोगसिराविद्धो^{१३} दृष्ट्वा^{१४} पश्चादयुद्धं^{१५} सः ॥१७२॥
 हयान् प्रतिष्कशीकृत्य^{१६} धनुस्तत्कपिशोर्वकम्^{१७} । अयुध्यत पुनः सृणु तयो द्विगुणयद्गणम् ॥१७३॥
 जयोऽप्यात् सानुजस्तावदाविष्कृत्य यमाकृतिः^{१८} । कण्ठीरवमिवारुह्य ह्यमस्युद्यतः^{१९} क्रुधा ॥१७४॥
 बाह्वयन्तं^{२०} तमालोक्य कल्पान्तज्वालिभीषणम्^{२१} । विवेश^{२२} विद्विडश्वाली वेलेव स्वबलाम्बुधिम^{२३} ॥

से भयंकर हो रहा था ॥१६५॥ उस युद्धमें पृथिवीपर जो भयंकर बाणोंका समूह पड़ा हुआ था उसमें तलवारोंकी परस्परकी चोटसे निकले हुए फुलिङ्गोंसे अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी ॥१६६॥ घोड़े कोड़ोंकी चोटके पहले ही बाणोंके सामने दौड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुष मर जाते हैं परन्तु पराभव सहन नहीं करते ॥१६७॥ परस्पर एक दूसरेपर क्रोधित हो पिछले पैरोंसे खड़े हुए कितने ही घोड़े चिरकालतक इस प्रकार युद्ध कर रहे थे मानो अपने स्वामीकी रक्षा ही कर रहे हों ॥१६८॥ उस समय ऊपर उठाई हुई और रुधिरसे रंगी हुई तलवाररूपी चंचल पत्तोंसे आकाशरूपी वृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसपर फिरसे नवीन पत्ते निकल आये हों ॥१६९॥ कहींपर खाली पीठ लिये हुए घोड़े इस प्रकार दौड़ रहे थे मानो तलवारकी चोटसे बहुत दूर पड़े हुए अपने स्वामियोंके शिर ही खोज रहे हों ॥१७०॥ घोड़ोंको बिना सींगके पशु मानकर दयासे कोई नहीं मारता था परन्तु वे क्रोधित होकर दांत और खुरोंसे एक दूसरेको मारते थे ॥१७१॥ उस युद्धमें कितने ही योद्धा क्रोधित होकर अखण्ड लोहेके डंडेके समान जिनमें बांसमात्र ही शेष रह गया है ऐसी तलवारोंसे चिरकाल तक युद्ध करते रहे थे ॥१७२॥ अन्य कोई योद्धा, अन्धा करनेवाली शिरकी चोटसे यद्यपि कुछ देख नहीं सक रहा था तथापि गलेकी पीछेकी नसोंसे शिरको जुड़ा हुआ देखकर वह फिर भी युद्ध कर रहा था ॥१७३॥ उस समय कितने ही योद्धा अपने कपिशोर्वक नामक धनुषसे घोड़ोंको ताड़ित कर युद्धको द्विगुणित करते हुए अच्छी तरह लड़ रहे थे ॥१७४॥ इतनेमें ही तलवार हाथमें लिये हुए जयकुमार अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ यमराज सरीखा आकार प्रकट कर और सिंहके समान घोड़ेपर सवार होकर क्रोधसे आगे बढ़ा ॥१७५॥ कल्पान्त कालकी अग्निके समान भयंकर जयकुमारको घोड़ेपर सवार हुआ देखकर शत्रुके घोड़ोंकी पंक्ति लहर के समान अपने सेनारूपी समुद्रमें जा धुसी ॥१७६॥ जिनपर पताकाएं नृत्य कर रही हैं और

१ ज्वलति स्म । २ भूमावुपचिते । ३ आयुधस्याभिमुखम् । ४ बद्धक्रुधः । ५ रक्षन्तः । ६ युद्धन्ते ल० । ७ -तास्त्रस-ल० । ८ स्वामिरहितपृष्ठाः । ९ न हन्ति स्म । १० ते च दत्त-ल० । ११ घ्नन्ति स्म । १२ वेणुमात्रावशिष्टस्वरूपः । १३ कौक्षेयकैः । 'कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यभिधानात् । १४ मस्तकघातेन । १५ किञ्चिदपि नालोकयन् । १६ गलस्य पश्चिमसिरान्तितः । १७ गल-पश्चिमभागं करस्पर्शनालोक्य । १८ युयुधे । १९ सहायीकृत्य । 'प्रतिष्कशः सहाये स्याद् वार्ताहरपरागयोः' इत्यभिधानात् । २० चापविशेषः । धन्विन इत्यर्थः । २१ यमाकृतिम् ल० । २२ उद्यतासिः सन् । २३ अश्वमारोहयन्तम् । २४ प्रलयाग्निवदभयङ्करम् । २५ शत्रुवाजिसमूहः । २६ स्वसैन्यसागरम् ।

चिरात् पर्यायमासाद्ये प्रन्त्यकेतवो रथाः । जविभिर्व्याजिभिर्व्यूढा प्राधावन् विद्विषः^१ प्रति ॥१७७॥
 निश्वेषहे^२तिपूर्णं^३ रथेषु रथनायकाः । तुला^४ 'जगज्जराष्ट्र पञ्जरैः'^५ कञ्जरारिभिः ॥१७८॥
 चक्रसंघट्टसम्पिण्डशवासृग्मांसकदंभे । रथकटघातचरन्ति स्म 'तत्राब्धौ मन्दपोतवत्'^६ ॥१७९॥
 कुन्तासिप्रासचक्राविसङ्क्रीणं व्रणितक्रमाः^७ । शक्रामन् कृच्छ्रकृच्छ्रेण रणे रथतुरङ्गमाः ॥१८०॥
 तदा सघ्नसंयुक्तसर्वायुधभूतं^८ रथम् । सङ्क्रम्य^९ वृषभं^{१०} वाजकः समारूढपराक्रमः ॥१८१॥
 पुरोज्वलत्समुत्सर्पच्छरतीक्ष्णांशुसन्ततिः । शत्रुसन्तमसं भिन्दन् बालार्कमजयज्जयः ॥१८२॥
 'मण्डलाप्रसमुत्सृष्टदुष्टास्त्रः शस्त्रकर्मवित् । जयो भिषजमन्वेयः'^{११} शत्रुशत्यं समुद्धरन् ॥१८३॥
 ध्वजस्योपरि धूमो वा तेनाकृष्टो^{१२} नु^{१३} सायकः । पपात तापमापाद्य सूचयन्नशुभं द्विषाम् ॥१८४॥
 ध्वजदण्डान् समाखण्ड्य विद्विषो^{१४} 'न्वीतपौरुषान् । कुर्वन् सर्वान् स'^{१५} निर्वृशान् सोमवंशध्वजायते ॥१८५॥
 विच्छिन्नकेतवः केचित् क्षणं तस्थुर्मृता इव । प्राणैर्न प्राणिनः^{१६} किन्तु मानप्राणा हि मानिनः ॥१८६॥
 प्रज्वलन्तं^{१७} जयन्तं ते जयं तं सोढुमक्षमाः । सह सर्वेऽपि सम्पेतुः^{१८} 'अभ्यग्निं शलभा यथा'^{१९} ॥१८७॥

वेगशाली घोड़े जिनमें जुते हुए हैं ऐसे रथ चिरकालमें अपना नम्बर (बारी) पाकर शत्रुओंके प्रति दौड़ने लगे ॥१७७॥ रथोंके स्वामी, सम्पूर्ण शस्त्रोंसे भरे हुए रथोंपर सवार हो पिंजरो में बन्द हुए सिंहोंकी तुलना धारण करते हुए गरज रहे थे ॥१७८॥ उस युद्धमें पहियोंके संघट्टन से पिसे हुए मुरदोंके खून और मांसकी कीचड़में रथोंके समूह ऐसे चल रहे थे मानो किसी समुद्र में छोटी छोटी नावें ही चल रही हों ॥१७९॥ बरछा, तलवार, भाले और चक्र आदिसे भरे हुए युद्धक्षेत्रमें घायल पैरोंवाले रथके घोड़े बड़े कष्टसे चल रहे थे ॥१८०॥ उसी समय तैयार हुए तथा जुड़े हुए सब प्रकारके शस्त्रोंसे व्याप्त रथपर आरूढ़ होनेसे जिसका पराक्रम वृषभ राशिपर आरूढ़ हुए सूर्यके समान बढ़ रहा है, जिसके आगे चलते हुए बाणरूपी तीक्ष्ण किरणों का समूह प्रकाशमान हो रहा है और जो शत्रुरूपी अन्धकारको भेदन कर रहा है ऐसे उस जय-कुमारने उदय होता हुआ बाल-सूर्य भी जीत लिया था ॥१८१-१८२॥ अथवा वह जयकुमार किसी अच्छे वैद्य या डाक्टरका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार वैद्य शस्त्रकी नोकसे बिगड़ा हुआ खून निकाल देता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी तलवारकी नोकसे दुष्ट-शत्रुओंका खून निकाल रहा था, जिस प्रकार वैद्य शस्त्र चलानेकी क्रियाको जानता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी शस्त्र चलानेकी क्रिया जानता था और वैद्य जिस प्रकार शल्यको निकाल देता है उसी प्रकार जयकुमार भी शत्रुरूपी शल्यको निकाल रहा था ॥१८३॥ उसके द्वारा चलाये हुए बाण शत्रुओंको संताप उत्पन्नकर अशुभकी सूचना देते हुए धूमकेतुके समान उनकी ध्वजाओंपर पड़ रहे थे ॥१८४॥ उस समय शत्रुओंकी ध्वजाओंके दंडोंको खंड खंड कर सब शत्रुओंको पीरग्रहीन तथा वंशरहित करता हुआ जयकुमार सोमवंशकी ध्वजाके समान आचरण कर रहा था ॥१८५॥ जिनकी पताकाएं छिन्नभिन्न हो गई हैं ऐसे कितने ही शत्रु क्षणभरके लिये मरे हुएके समान खड़े थे सो ठीक ही है क्योंकि प्राणोंसे ही प्राणी नहीं गिने जाते किन्तु अभिमानी मनुष्य अभिमानको ही प्राण समझते हैं ॥१८६॥ अच्छी तरह जलते हुए

१ अवसरम् । 'पर्यायोऽवसारे क्रमे' इत्यभिधानात् । २ प्राप्य । ३ विद्विषं प्रति ल० । ४ आयुध । ५ साम्यम् । ६ गर्जन्ति स्म । ७ पञ्जरैः ल० । ८ रक्षणे । ९ मन्दनीरिव । १० क्षतपादाः । ११ सज्जीकृतं । १२ सम्प्राप्य । १३ वृषभराशिमिव । १४ करवालेन समुत्सृष्टदुष्टास्त्रः । १५ अनुगत-वान् । ऋ गतो लङि रूपम् । मन्वीयः ल० । १६ समुत्सृष्टः । १७ इव । १८ अनुगत । १९ जयः । २० न जीवन्ति । २१ जयतीति जयन् तम् । २२ अभिमुखमागताः । २३ अग्निमभि पतङ्गाः । २४ शलभा इव ल० ।

संक्षुब्धस्यन्दनाश्चण्डास्तदा हेमाङ्गदादयः । कोदण्डास्फालनध्वाननिरुद्धहरितः^१ क्रुधा ॥१८८॥
 अवर्षर्षिर्हृष्टि वा बाणमृष्टि प्रति द्विषः । यावत्ते^२ लक्ष्यतां^३ नैयुस्तावदाविष्कृतोद्यमाः ॥१८९॥
 निरुद्धानन्तसेनादिशरजालं रणार्णवे । स्यन्दनाश्चोदयामासुः पोतान्वा वातरंहसः^४ ॥१९०॥
 बलद्वयास्यसंघट्टसमुत्पन्नाशुशुक्षणिम्^५ । "पेतुर्वाहाः" परं^६ तेजस्तेजस्वी सहने कथम् ॥१९१॥
 अन्योऽन्यं खण्डयन्ति स्म तेषां शस्त्राणि तद्वर्णे । "नैकमप्यपरान्प्रापुश्चित्रसस्त्रेषु कौशलम् ॥१९२॥
 न मृता द्रणिता नैव न जयो न पराजयः । युद्धमानेण्वहो तेषु नाहवोऽप्याहवायते ॥१९३॥
 युद्धवाऽप्येवं चिरं शोकुर्न जेतुं ते परस्परम् । जयः सेनाद्वये तस्मिन् "जयादन्येन दुर्लभः ॥१९४॥
 अन्तर्हासो जयः सर्वं तत्तवाऽऽलोक्ष्य लीलया । शरैः संच्छादयामास सैन्यं पुत्रस्य चक्रिणः ॥१९५॥
 निष्पन्वीभूतमालोक्ष्य चक्रिसूनुः स्वसाधनम् । रक्तोत्पलदलच्छायां उच्छिद्य^७ नयनत्विषा ॥१९६॥
 जयः परस्य^८ नो मेऽद्य जयो^९ जयमहं^{१०} रणे । विध्वंस्य^{११} भुवने शुद्धम् अकल्पं स्थापये यशः ॥१९७॥
 विदध्यामद्य नाथेन्द्रप्रसरद्वंशवर्द्धनम् । "जयलक्ष्मीर्वशीकृत्य विधेयान्मेऽधुना सुखम्"^{१२} ॥१९८॥

और सबको जीतते हुए उस जयकुमारको सहन करनेके लिये असमर्थ होकर वे सब शत्रु उसपर इस प्रकार टूट पड़े मानो अग्निपर पतंगे ही पड़ रहे हों ॥१८७॥ इतनेमें ही जिनके रथ तैयार हैं, जो बड़े क्रोधी हैं, जिन्होंने क्रोधसे धनुष खींचकर उनके शब्दोंसे सब दिशाएं भर दी हैं और शत्रु जबतक अपने लक्ष्यतक पहुंचने भी न पाये थे कि तबतक ही जिन्होंने अपना सब उद्यम प्रकट कर दिखाया है ऐसे हेमांगद आदि राजकुमार शत्रुओंपर अग्नि वर्षाके समान बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥१८८-१८९॥ वे अनन्तसेन आदिके बाणोंका समूह रोककर वायुके समान वेगवाले रथोंको रणरूपी समुद्रमें जहाजोंके समान दौड़ाने लगे ॥१९०॥ वे रथोंके घोड़े दोनों सेनाओं सम्बन्धी शस्त्रोंके संघट्टनसे उत्पन्न हुई अग्निपर पड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य दूसरेका तेज कैसे सह सकता है ? ॥१९१॥ उस युद्धमें दोनों सेनाओंके शस्त्र एक दूसरेको खंड खंड कर देते थे, एक भी शस्त्र शत्रुओं तक नहीं पहुंचने पाता था सो ठीक ही है क्योंकि उनकी अस्त्रोंके चलानेकी कुशलता आश्चर्य करनेवाली थी ॥१९२॥ आश्चर्य है कि उन योद्धाओंके युद्ध करते हुए न तो कोई मरा था, न किसीको घाव लगा था, न किसीकी जीत हुई थी और न किसीकी हार ही हुई थी, और तो क्या उनका वह युद्ध भी युद्ध सा नहीं मालूम होता था ॥१९३॥ इस प्रकार बहुत समय तक युद्ध करके भी वे एक दूसरे को जीत नहीं सके थे सो ठीक ही है क्योंकि उन दोनों सेनाओंमें जयकुमारके सिवाय और किसी को विजय प्राप्त होना दुर्लभ था ॥१९४॥ उस समय यह सब देखकर मन ही मन हंसते हुए जयकुमारने चक्रवर्तीके पुत्र-अर्ककीर्तिकी सब सेनाको लीलापूर्वक ही बाणोंसे ढक दी थी ॥१९५॥ अपनी सेनाको चेष्टा रहित देखकर चक्रवर्तीका पुत्र-अर्ककीर्ति अपने नेत्रोंकी कान्तिसे लाल कमलके दलकी कान्तिको जीतता हुआ अर्थात् क्रोधसे लाल लाल आंखें करता हुआ कहने लगा कि आज शत्रुकी जीत नहीं हो सकती, मेरी ही जीत होगी, मैं युद्धमें जयकुमारको मारकर संसारमें कल्पान्त कालतक टिकनेवाला शुद्ध यश स्थापित करूंगा तथा आज ही बढ़ते हुए नाथ-

१ दिशः । 'दिशस्तु ककुबः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' । इत्यभिधानात् । २ रथिनः । ३ रणाङ्गणे अभिमुखं समागत्य मुख्यताम् । ४ न गच्छन्ति स्म । ५ वायुवेगिनः । ६ अग्निम् । ७ जग्मुः । ८ अश्वाः । ९ अन्यत् । १० एकं शस्त्रमपि । ११ जयकुमारात् । १२ अभिशय्येत्यर्थः । १३ न । मे नो जयः इति दुर्ध्वनिः । १४ जयकुमारम् । १५ विनाश्य । अविनाश्येति दुर्ध्वनिः । १६ जयस्य लक्ष्मीः इति दुर्ध्वनिः । १७ सुखमिति दुर्ध्वनिः । 'आ०' प्रती असुखमिति दुर्ध्वनिः ।

बुधन् स कल्पनादुष्टमिति^१ स्वानिष्टसूचनम् । द्विपं प्रचोदयामास कुधेवाजयमात्मनः^२ ॥१६६॥
 "प्रतिवातसमुद्भूतपञ्चादगतपताकिकाः । मन्दं मन्दं ववणद्वयघटाः कुण्ठितस्वबलोत्सवाः ॥२००॥
 संशुष्यद्भान^३ निष्यन्दकटदीनाननश्रियः । निर्वाणालातनिर्भासनिःशेषास्त्रभराक्षमाः ॥२०१॥
 "आधोरणैः कृतोत्साहैः^४ कृच्छकृच्छ्रेण चोदिताः । "आक्रन्दमिव कुर्वन्तः कुण्ठितैः कण्ठगजितैः ॥२०२॥
 भीतभीताः^५ "धोऽज्यैश्च चिह्नैरशुभसूचिभिः । गजा गताजवाश्चेलुरचला इव अङ्गमाः ॥२०३॥
 मन्दमन्दं प्रकृत्यैव^६ मन्दा युद्धभयान्मृगाः^७ । जग्मुनिर्हेतुकं "भद्रास्तद्वन्नाशुभसूचनम्^८ ॥२०४॥
 धिजिगीषोर्विपुष्यस्य वृथा प्रणिषयो^९ यथा । तथाऽर्ककीर्तयन्मृणां^{१०} ते^{११} गजेषु नियोजिताः ॥२०५॥
 लङ्घयन्नेत्रयोर्दीप्त्या^{१२} पारिभद्रोद्गमच्छविम् । प्रकटभ्रुकुटीबन्धसन्धानितशरासनः ॥२०६॥
 रिपुं कुपितभोगीन्द्रस्फुटाटोप^{१३} भयङ्करः । कुर्वन्विलोक^{१४} नातप्ततीव्रनाराचगोचरम् ॥२०७॥
 गिरीन्द्रशिखराकारमारुह्य हरिविक्रमः । गजेन्द्रं विजयाद्वर्ण्यं गर्जन्मेघ^{१५} स्वरस्तदा ॥२०८॥

वंश और सोमवंशका छेदन करुंगा, विजयलक्ष्मी मुझे अभी वशकर सुखी करेगी, इस प्रकार अभिप्रायसे दुष्ट तथा अपना ही अनिष्ट सूचित करनेवाला वचन कहते हुए अर्ककीर्तिने क्रोधसे अपने पराजयके समान अपना हाथी आगे बढ़ाया ॥१९६-१९९॥ प्रतिकूल वायु चलनेसे जिनकी ध्वजाएं पीछेकी ओर उड़ रही हैं, जिनके घंटा धीरे धीरे बज रहे हैं, जिन्होंने अपनी सेनाके उत्सवकी कुठित कर दिया है, गण्डस्थलके मदका निष्यन्द सूख जानेसे जिनके मुख की शोभा मलिन हो गई है, जिनकी शोभा बुझे हुए अलातचक्रके समान है, जो सम्पूर्ण शस्त्रोंका भार धारण करनेमें असमर्थ है, उत्साह दिलाते हुए महावत जिन्हें बड़ी कठिनाईसे ले जा रहे हैं, जो कुण्ठित हुई कण्ठी गर्जनासे मानो रुदन ही कर रहे हैं, जो युद्धसे तथा अशुभको सूचित करनेवाले अन्य अनेक चिह्नोंसे अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं और जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे हाथी चलते फिरते पर्वतोंके समान चल रहे थे ॥२००-२०३॥ मन्द जातिके हाथी स्वभावसे ही मन्द मन्द चल रहे थे, मृग जातिके हाथी युद्धके भयसे धीरे धीरे जा रहे थे और भद्र जातिके हाथी बिना ही कारण धीरे धीरे चल रहे थे परन्तु युद्धमें उनका धीरे-धीरे चलना अशुभको सूचित करनेवाला था ॥२०४॥ जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाले किन्तु पुण्यहीन मनुष्यके गुप्त सेवक व्यर्थ हो जाते हैं-अपना काम करनेमें सफल नहीं हो पाते हैं उसी प्रकार अर्ककीर्तिके लिये उन हाथियोंसे कही हुई महावत लोगोंकी प्रार्थनाएं व्यर्थ हो रही थीं ॥२०५॥ उधर जो अपने दोनों नेत्रोंकी कान्तिसे कल्पवृक्षके फूलकी कान्तिको जीत रहा है, जिसने अपनी भीतोंकी रचनाके समान ही प्रकटरूपसे बाण चढ़े धनुषका आकार बनाया है, क्रोधित हुए महा सर्पके समान जिसका शरीर कुछ ऊपर उठा हुआ है और इसीलिये जो भयंकर है, जो अपने शत्रुको अपनी दृष्टि तथा तपे हुए बाणोंका निशाना बना रहा है, एवं सिंहके समान जिसका पराक्रम है ऐसा मेघस्वर जयकुमार उस समय गर्जता हुआ मेरुकी शिखर के समान आकारवाले विजयार्थ नामके उत्तम हाथीपर सवार होकर, अनुकूल वायु चलनेसे

१ अभिप्रायदुष्टम् । २ निजानिष्ट । ३ अपजयम् । ४ प्रतिकूलवायुः । ५ मन्दमन्द-अ०, प०, सं०, इ०, ल० । ६ मदस्त्रवण । ७ नष्टोल्लसकसदृशः । ८ हरितपत्रैः । ९ कृतोद्योगैः । १० रोदनम् । ११ अधिकभीताः । १२ सङ्ग्रामात् । १३ स्वभावेनैव जडाः । मन्दा इति जातिभेदाश्च । १४ मृग-सदृशाः मृगजातयश्च । १५ भद्रजातयः । १६ मन्दगमनम् । १७ वाञ्छाः चराश्च । 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इत्यभिधानात् । १८ गजारोहकाणाम् । कीर्तये नृणां ल० । १९ मनोरथाः । २० मन्दारकुसु-मच्छविम् । 'परिभद्रो निम्बतर्कमन्दारः पारिजातकः ।' इत्यभिधानात् । २१ टोपो भयङ्करः ल०, म० । २२ निजालोकनान्येव अतप्ततीक्ष्णवाणास्तेषां विषयम् । २३ जयकुमारः ।

अनुकूलानिलोत्क्षिप्तपुरःसर्पध्वजांशुकः । क्रान्तद्विपारिविक्रान्तविख्यातारुढयोधनः^१ ॥२०६॥
 प्रस्फुरच्छत्रसङ्घातदीप्तिदीपितविडम्बुखं । धूतदुन्धुभिसद्वानबृहद्बृंहितभीषणः ॥२१०॥
 घण्टामधुरनिर्घोषनिभिन्नभुवनत्रयैः । सद्यः समुत्तरदुर्धरेपि सिंहान् जिगीषुभिः ॥२११॥
 प्रापद्युद्धोत्सुकः सार्द्धं गजैर्विजयसूचिभिः । क्षयवेलानिलोद्धूतसिन्धुबेलान् विडडघयन्^२ ॥२१२॥
 महाहास्तिकविस्तारस्थूलनीलबलाहकः^३ । समन्तात्सम्पतच्छङ्खकु^४ समूहसहस्रानकः ॥२१३॥
 प्रोत्खातासिलताविद्युत्समुल्लसितभासुरः^५ । नानानकमहाध्वानयम्भीरघनगजितः ॥२१४॥
 नवलोलितपूराम्बुनिरुद्धधरणीतलः । नितान्तनिष्ठुरापातमुद्गराशनिसन्ततिः^६ ॥२१५॥
 चलत्सितपताकालिबलाका^७च्छविताम्बरः । सङ्घातः प्रावृषो लक्ष्मीम् अशेषामपु^८षत्तदा ॥२१६॥
 सुचिरं सर्वसन्वोहसंवृत्तसमराङ्गणैः । सेनयोः सर्वशस्त्राणां व्यत्ययो^९ बहुशोऽभवत् ॥२१७॥
 निरुद्धमूर्ध्वम् गृध्राघैर्मध्यमुद्धध्वजांशुकः । सेनाद्वयविनिर्मुक्तैः शस्त्रैर्धात्री च सा तता^{१०} ॥२१८॥
 जयलक्ष्मीं नवोढायाः^{११} सपत्नीमिच्छता नवाम् । तदार्ककीर्तिमुद्दिश्य जयेनाचोद्यत^{१२} द्विपः ॥२१९॥
 अष्टचन्द्राः पुरोभूयः^{१३} भूयः^{१४} प्राग्दृष्टशक्तयः^{१५} । क्षपक^{१६} वांश्जहा^{१७} भेदा न्यरुद्धस्त^{१८} निनङ्गधवः^{१९} ॥

जिनकी ध्वजाओंके वस्त्र उड़कर आगेकी ओर जा रहे हैं, आक्रमण करते हुए सिंहके समान प्रसिद्ध पराक्रमवाले योद्धा जिनपर बैठे हैं, देदीप्यमान शस्त्रोंके समूहकी दीप्तिसे जिन्होंने समस्त दिशाओंके मुख प्रकाशित कर दिये हैं, वज्रते हुए नगाड़ोंके बड़े बड़े शब्दोंसे बढ़ती हुई गर्जनाओं से जो भयंकर हैं, घंटाओंके मधुर शब्दोंसे जिन्होंने तीनों लोक भर दिये हैं, तत्काल उठते हुए अहंकारसे जो सिंहोंको भी जीतना चाहते हैं और जो विजयकी सूचना करनेवाले हैं ऐसे हाथियों के साथ, प्रलय कालकी वायुसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंको उल्लंघन करता हुआ युद्धकी उत्कंठा से आ पहुंचा ॥२०६-२१२॥ जिसमें बड़े बड़े हाथियोंके समूहका विस्तार ही बड़े बड़े काले बादल हैं, चारों ओरसे पड़ते हुए बाणोंके समूह ही मयूर हैं, ऊपर उठाई हुई तलवाररूपी बिजलियोंकी चमकसे जो प्रकाशमान हो रहा है, अनेक नगाड़ोंके बड़े बड़े शब्द ही जिसमें मेघोंकी गंभीर गर्जनाएं हैं, नवीन रुधिरके प्रवाहरूपी जलसे जिसमें पृथ्वीतल भर गया है, बड़ी निर्दयता के साथ पड़ते हुए मुद्गर ही जिसमें वज्रोंका समूह है और फहराती हुई सफेद पताकाओंके समूहरूप बगलाओंसे जिसमें समस्त आकाश आच्छादित हो रहा है ऐसा वह युद्ध उस समय वर्षाऋतुकी सम्पूर्ण शोभाको पुष्ट कर रहा था ॥२१३-२१६॥ बहुत देरतक सब योद्धाओं के समूहसे घिरे हुए युद्धके मैदानमें दोनों सेनाओंके सब शस्त्रोंका अनेक बार व्यत्यय (अदला बदली) हुआ था ॥२१७॥ उस समय ऊपरका आकाश गीधोंके समूहसे भर गया था, मध्य भाग फहराती हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे भर गया था और पृथिवी दोनों सेनाओंके द्वारा छोड़े हुए शस्त्रोंसे भर गई थी ॥२१८॥ उसी समय जयलक्ष्मीको नवीन विवाहिता सुलोचना की नई सौत बनानेकी इच्छा करते हुए जयकुमारने अर्ककीर्तिको उद्देश्य कर अपना हाथी आगे बढ़ाया ॥२१९॥ जिस प्रकार कर्मोंके भेद क्षपकश्रेणीवाले मुनिको रोकते हैं उसी प्रकार अष्टचन्द्र नामके विद्याधर जिनकी कि शक्ति पहले देखनेमें आई थी फिरसे सामने आकर

१ आक्रान्तसिंहपराक्रमप्रसिद्धाकारणाधोरणैः । २ ताडित । ३ व्याप्त । ४ प्रलयकाल । ५ विलङ्घयन् ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ६ गजसमूह । ७ कालमेघ । ८ शय्यायुधसमूहमयूरकः । ९ स्फुरण । १० नूतनरक्त । ११ द्रुषण । १२ विषकण्डिका । १३ पुष्पाति स्म । १४ व्यत्यय इति सम्बन्धिनः इतरेण हरणम् । ('ता०' प्रतौ व्यत्ययः इतरसम्बन्धिनः इतरेण हरणम्) १५ व्याप्ता । तदा ल० । १६ नूतनविवाहितायाः सुलोचनायाः । १७ प्रेरितः । १८ अग्रे भूत्वा । १९ पुनः पुनः । २० पूर्व दृष्टपराक्रमाः । २१ क्षपकश्रेण्यारुढम् । २२ इव । २३ कर्मणाम् । २४ जयम् । २५ नाशितुमिच्छवः ।

जयोऽपि सुचिरात्प्राप्तप्रतिपक्षो व्यदीप्यलम् । लब्धेव रन्ध्रं बद्धिः उत्साहाग्निसखोऽब्धितः ॥२२१॥
 तदोभयबलव्यातगजाद्विशिखरस्थिताः । योद्धुमारैर्भिरा राजराजसिंहाः परस्परम् ॥२२२॥
 अन्योन्यरदनोद्भिन्नौ तत्र कौचिद् व्यसू गजौ । चिरं परस्पराधारौ आयातां यमलाद्विद्यत् ॥
 समस्ततः शरैश्छद्वा रेजुराजौ गजाधिपाः । क्षुद्रवेषगुणाकीर्णसञ्चरद्गिरिसन्निभाः ॥२२४॥
 दानिनो मानिनस्तुङ्गताः कामवन्तोऽन्तकोपमाः । महाग्तः सर्वसत्त्वेभ्यो न युद्धघन्ता कथं गजाः ॥२२५॥
 'मृगेर्मृगैरिवापात' मात्रभग्नैर्भयाद् द्विपैः । स्वसैन्यमेव सङ्क्षुण्णं^१ धिक् स्थूल्यं भीतचेतसाम् ॥२२६॥
 निःशक्तीन्^२ शक्तिभिः^३ शक्ताः^४ शक्तांश्चक्रुरशक्तकान् ।
 शक्तियुक्तानशक्तांश्च निःशक्तीन्^५ धिग्धिगूनताम्^६ ॥२२७॥
 शस्त्रनिर्भिन्नसर्वाङ्गा निमीलितबिलोचनाः । सम्यक्^७ संहृतसंरम्भाः सम्भावितपराक्रमाः ॥२२८॥
 बुद्ध्यैव^८ बद्धपत्यङ्कास्त्यक्तसर्वपरिच्छदाः । समत्याधुरसूच्युरा^९ निधाय हृदयेऽर्हतः ॥२२९॥

जयकुमारको रोकने लगे ॥२२०॥ जिस प्रकार बहुतसे इन्धनको पाकर वायुसे उद्दीपित हुई अग्नि देदीप्यमान हो उठती है उसी प्रकार उत्साहरूपी वायुसे बड़ा हुआ वह जयकुमार भी बहुत देरमें शत्रुको पाकर अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था ॥२२१॥ उस समय दोनों सेनाओं में प्रसिद्ध हाथीरुपी पर्वतोंकी शिखरपर बैठे हुए अनेक राजारूपी सिंहोंने भी परस्पर युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था ॥२२२॥ उस युद्धमें एक दूसरेके दाँतोंके प्रहारसे विदीर्ण होकर मरे हुए कोई दो हाथी मिले हुए दो पर्वतोंके समान एक दूसरेके आधारपर ही चिरकाल तक खड़े रहे थे ॥२२३॥ चारों ओरसे बाणोंसे ढके हुए बड़े बड़े हाथी उस युद्धमें छोटे छोटे बाँसों से व्याप्त और चलते हुए पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२२४॥ जो दानी हैं—जिनसे मद भर रहा है, मानी हैं, ऊँचे हैं, यमराजके समान हैं और सब जीवोंसे बड़े हैं ऐसे भद्र जातिके हाथी भला क्यों न युद्ध करते ? ॥२२५॥ जिस प्रकार हरिण भयभीत होकर भागते हैं उसी प्रकार मृगजातिके हाथी भी प्रारम्भमें ही पराजित होकर भयसे भागने लगे थे और उससे उन्होंने अपनी ही सेनाका चूर्ण कर दिया था इससे कहना पड़ता है कि भीरु हृदयवाले मनुष्यों के स्थूलपनको धिक्कार हो ॥२२६॥ शक्तिशाली (सामर्थ्यवान्) योद्धा अपने शक्ति नामक शस्त्रसे, जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र नहीं है ऐसे शक्तिशाली (सामर्थ्यवान्) योद्धाओंको शक्तिरहित—सामर्थ्यहीन कर रहे थे और जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र था किन्तु स्वयं अशक्त—सामर्थ्यरहित थे उन्हें भी शक्तिरहित—शक्ति नामक शस्त्रसे रहित कर रहे थे—उनका शस्त्र छुड़ा रहे थे इसलिये आचार्य कहते हैं कि ऊनता अर्थात् आवश्यक सामग्रीकी कमीको धिक्कार हो ॥२२७॥ जिनके समस्त अंग शस्त्रोंसे छिन्न भिन्न हो गये हैं, नेत्र बन्द हो गये हैं, जिन्होंने युद्धकी इच्छाका अच्छी तरह संकोच कर लिया है, जो अपना पराक्रम दिखा चुके हैं, जिन्होंने बुद्धिसे ही पत्यङ्कासन बांध लिया है और सब परिग्रह छोड़ दिये हैं ऐसे कितने ही

१ रन्ध्रं रन्ध्रम् । लब्धेर्बद्धेन्धनं ल०, म०, अ०, प०, स०, इ०, द० । २ उत्साहवायुता समृद्धः । ३ राजराजमुखाः । सिंहाः इति ध्वनिः । ४ विगतप्राणौ । ५ अन्योन्यावलम्बनौ । ६ यमकगिरिवत् । ७ सञ्चलद्गिरि—ल०, अ०, प०, स०, इ०, म० । ८ आरोहकानुकूला इत्यर्थः । ९ युद्धघन्ते ल० । १० मृगजातिभिः । भक्त्यान्वेषणीयैर्वा । ११ हरिणैरिव । १२ प्रथमदिशायामेव । १३ संचूर्णमभवत् । १४ शक्त्यायुधरहितम् । १५ शक्त्यायुधैः । १६ समर्थाः । १७ समर्थान् । १८ शक्त्यायुधयुक्तान् । १९ शक्त्यायुधरहितान् । २० सामग्रीविकलताम् । २१ सम्यगुत्सृष्टसमारम्भाः । २२ मनसैव कृतपर्यङ्कासनाः । २३ सम्यक् त्यक्तवन्तः । २४ प्राणान् ।

कस्यचिद् क्रोधसंहारः स्मृतिश्च परमेष्ठिनि । 'निष्ठायामायुषोऽत्रासीद् अभ्यासात् किं न जायते' ॥२३०॥
 हृदि नाराचनिभिसा वक्त्रात् खवदसूक्ष्मत्वाः । 'शिवाकृष्टान्प्रतन्त्रान्ताः' पर्यन्तव्यस्तपस्कराः ॥२३१॥
 गुदघ्रपक्षानिलोच्छिन्नमूर्च्छाः सम्प्राप्तसंज्ञकाः । समाधाय हि ते शुद्धां श्रद्धां 'शूरगतिं' गताः ॥२३२॥
 छिन्नैश्चक्रेण शूराणां शिरोऽम्भोजैर्विकासिभिः । 'रणाड्गणोर्जितो बाभात् नृत्यैः' जयजयश्रियः ॥२३३॥
 स्वाभिसम्मानद्वानाविमहोप'कृतिनिर्भराः । प्राप्याधर्मगतां प्राणैः सेवां सम्पाद्य सेवकाः ॥२३४॥
 स्वप्राणव्ययसन्तुष्टैस्तद्भूभूदभिः' स्वभूभूतः ॥ लब्धपूजान् विधायान्ये धन्या 'नेर्ऋण्यमागमन् ॥
 जयमुक्ताः' द्रुतं पेतुः अविमुक्तजयाः' शराः । अष्टचन्द्रान् प्रति प्रोचन्तैः 'प्रदीप्योल्कोपमाः' समम् ॥२३५॥
 'जयप्रहितशस्त्राली' तैर्निषिद्धा च विद्याया । ज्वलन्ती परितश्चन्द्रान्' परिवेषाकृतिर्बभौ ॥२३७॥
 विष्वविद्याधराबीशम् 'आविराजात्मजस्तदा । 'भृषो' 'निःशेषयाशेषानित्याह सुनिर्मि रूपा ॥२३८॥
 सोऽपि' सर्वैः खगैः सादृढं निर्दूतारातिविक्रमः । बह्विबृष्टिभिर्वाकाशे ववर्ष शरसन्ततिम् ॥२३९॥

शूरवीरोने हृदयमें अर्हत् भगवान्को स्थापन कर प्राण छोड़े थे ॥२२८-२२९॥ किसी योद्धा के आयुकी समाप्तिके समय क्रोध शान्त हो गया था और परमेष्ठियोंका स्मरण होने लगा था सो ठीक है क्योंकि अभ्याससे क्या क्या सिद्ध नहीं होता ? ॥२३०॥ जिनके हृदय बाणोंसे छिन्न भिन्न हो गये हैं, मुँहसे शरिका प्रवाह बह रहा है, सियारोंने जिनकी अंतर्द्वियोंकी तांतोंके अन्तभाग तकको खींच लिया है और जिनके हाथ पैर फट गये हैं ऐसे कितने ही योद्धा भीषणोंके पंखोंकी हवासे मूर्च्छारहित होकर कुछ कुछ सचेत हो गये थे और शुद्ध श्रद्धा धारणकर शूरगति—स्वर्ग गतिको प्राप्त हुए थे ॥२३१-२३२॥ चक्र नामक शस्त्रसे कटे हुए शूरवीरोंके प्रफुल्लित मुखरूपी कमलोंसे भरी हुई वह युद्धकी भूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जयकुमारकी विजयलक्ष्मीके नृत्योंसे ही सुशोभित हो रही हो ॥२३३॥ स्वामीके द्वारा पाये हुए आदर सत्कार आदि बड़े बड़े उपकारोंसे दबे हुए कितने ही सेवक लोग अपने प्राणों द्वारा स्वामीकी सेवाकर ऊर्ऋण अवस्थाको प्राप्त हुए थे और कितने ही धन्य सेवक, अपने अपने प्राण देकर संतुष्ट हुए शत्रु राजाओंसे अपने स्वामियोंकी पूजा-प्रतिष्ठा कराकर कर्ज रहित हुए थे । भावार्थ—कितने ही सेवक लड़ते लड़ते मर गये थे और कितने ही शत्रुओंको मारकर कृतार्थ हुए थे ॥२३४-२३५॥ जिन्होंने विजय प्राप्त करना छोड़ा नहीं है और जो अपनी बड़ी भारी कान्तिसे उत्काके समान जान पड़ते हैं ऐसे जयकुमारके छोड़े हुए बाण अष्टचन्द्र विद्याधरोंके पास बहुत शीघ्र एक साथ पड़ रहे थे ॥२३६॥ जयकुमारके द्वारा छोड़ी हुई शस्त्रोंकी पंक्तियों को उन विद्याधरोंने अपने विद्या बलसे रोक दिया था । इसलिये वे उन के चारों ओर जलती हुई खड़ी थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो चन्द्रमाओंके चारों ओर गोल परिधि ही लग रही हो ॥२३७॥ उसी समय आदि सम्राट्—भरतके पुत्र अर्ककीर्तिने बड़े क्रोधसे सब विद्याधरोंके अधिपति सुनमिसे कहा कि तुम समस्त शत्रुओंको नष्ट करो ॥२३८॥ और शत्रुओंके पराक्रमको नष्ट करनेवाला सुनमिकुमार भी अग्नि वर्षाके समान आकाशमें बाणोंके समूहकी

१ परिसमाप्ता सत्याम् । २ रणे । ३ साध्यते ल० । ४ जम्बुकाकृष्टपुरीतत्समूहाया । अन्वगतशस्याया वा । ५ तन्त्राया—ट० । ६ विक्षिप्तपादपाणयः । ७ स्पृहाम् । ८ स्वर्गम् । इन्द्रियजयवतां गतिमित्यर्थः । ९ रणरङ्गोऽन्विते—ल० । १० नर्तनाय । ११ जयकुमारस्य जयलक्ष्म्याः । १२ महोपकारातिशयाः । १३ ऋणप्रप्तिताम् । १४ शत्रुभूपालैः । १५ निजनृपतीन् । १६ ऋणवृद्धधनम् । ऋणाभिष्क्रान्तत्वम् । १७ जयकुमारोत्सृष्टाः । १८ अत्यक्तजयाः । १९ प्रदीप्योल्कोपमाः ल० । २० युगपत् । २१ जयकुमारैणाविद्ध । २२ शत्रुभिः । २३ अष्टचन्द्रान् परितः, मृगाङ्कान् परितः । २४ अर्ककीर्तिः । २५ शत्रून् । २६ विनाशय । २७ सुनमिः ।

भीकराः किङ्कराकाराः^१ हवन्तो रुद्धविद्धमुखाः । कांस्कान्^२ शृणाम नेतीव सुतीक्ष्णाः^३ शरवोऽपतन् ॥
 मेघप्रभो जयादेशाद् इमेन्द्रं^४ वा मृगाधिपः । आक्रम्य विक्रमो शस्त्रैः^५ अरौत्सीत्^६ विहायसि ॥२४१॥
 तमोऽग्निगजमेघादिविद्याः सुनमिषोजिताः । तुच्छीकृत्य^७ स^८ विच्छिद्य (?) सहसा भास्करादिभिः^९ २४२
 जयपुण्योदयात्तस्यो विजयमे^{१०} खचराधिपम् । सङ्ग्रामेऽनुगुणं देवे^{११} क्षोदिमा बहिमेति^{१२} न ॥२४३॥
 प्रबुद्धप्रावृडारभसभूतान्भोधरात्रलिम् । विलङ्घयानेकपातीकं^{१३} कौमारः^{१४} जयमारुणत्^{१५} ॥२४४॥
 जयोऽप्यभिमुखीकृत्य विजयाद्धं गजाधिपम् । धीरोद्धतं^{१६} दृषा प्राप्तं धीरोदात्तो^{१७}ऽजवीदिवम् ॥२४५॥
 न्यायमार्गाः प्रवर्त्यन्ते सम्यक् सर्वेऽपि चक्रिणाः । तेषामेभिर्दुराचारैः^{१८} कृतस्त्वं पारिपन्थिकः^{१९} ॥२४६॥
 बुद्धिमांस्त्वं तवाहार्थं बुद्धित्वमपि^{२०} दूषणम् । कुमार नोयसे^{२१} पापैस्तृतीयं^{२२} तद्विगर्हितम्^{२३} ॥२४७॥
 अन्तःकोपोऽप्ययं^{२४} पापैर्महानुत्थापितो द्यूथा । सर्वतन्त्रक्षयो भर्तुः सहसा येन^{२५} तादृशः ॥२४८॥

वर्षा करने लगा ॥२३९॥ जो अत्यन्त भयंकर हैं, किकरोंके समान काम करनेवाले हैं, वेगके कारण शब्द कर रहे हैं और जिन्होंने सब दिशाएं रोक ली हैं ऐसे वे तीक्ष्ण बाण हम किस किसको नष्ट नहीं करें? अर्थात् सभीको नष्ट करें यही सोचकर मानो सब सेना पर पड़ रहे थे ॥२४०॥ जिस प्रकार सिंह हाथीपर आक्रमण करता है उसी प्रकार खूब पराक्रमी मेघप्रभ नामके विद्याधर ने जयकुमारकी आज्ञासे उस सुनमिपर आक्रमण कर उसे शस्त्रोंके द्वारा आकाशमें ही रोक लिया ॥२४१॥ मेघप्रभने सुनमिके द्वारा चलाये हुए तमोबाण, अग्नि बाण, गजबाण और मेघ बाण आदि विद्यामयी बाणोंको सूर्य बाण, जल बाण, सिंह बाण और पवन बाण आदि अनेक विद्यामयी बाणोंसे तुच्छ समझकर बहुत शीघ्र नष्ट कर दिया ॥२४२॥ इस प्रकार मेघप्रभ ने उस युद्धमें जयकुमारके पुण्योदयसे विद्याधरोंके अधिपति सुनमिको शीघ्र ही जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि दैवके अनुकूल रहनेपर छोटापन और बड़प्पनका व्यवहार नहीं होता है । भावार्थ—भाग्यके अनुकूल होनेपर छोटा भी जीत जाता है और बड़ा भी हार जाता है ॥२४३॥ बड़ी हुई वर्षाऋतुके प्रारम्भमें इकट्ठी हुई मेघमालाके समान हाथियोंकी सेनाको उल्लंघनकर अर्ककीतिके पक्षके लोगोंने जयकुमारको रोक लिया ॥२४४॥ इधर धीर और उदात्त जयकुमारने भी अपना विजयार्थ नामका श्रेष्ठ हाथी क्रोधसे प्राप्त हुए धीर तथा उद्धत अर्ककीतिके सामने चलाकर उससे इस प्रकार कहना शुरू किया ॥२४५॥ वह कहने लगा कि चक्रवर्तिके द्वारा सभी न्याय मार्ग अच्छी तरह चलाये जाते हैं परन्तु इन दुराचारी लोगोंने तुझे उन न्यायमार्गोंका शत्रु बना दिया है ॥२४६॥ हे कुमार, यद्यपि तू बुद्धिमान है परन्तु आहार्थ बुद्धिवाला होना अर्थात् दूसरे के कहे अनुसार कार्य करना यह तेरा दोष भी है । इसके सिवाय तू पाप या पापी पुरुषोंके अनुकूल हो रहा है सो यह भी तेरा तीसरा दूषण है ॥२४७॥ इन पापी लोगोंने तेरे अन्तःकरणमें यह बड़ा भारी क्रोध व्यर्थ ही उत्पन्न कर दिया है जिससे भरत महाराजकी सब सेनाका ऐसा एक साथ क्षय हो रहा है ॥२४८॥

१ किङ्करस्वभावाः । २ ध्वनन्तः । ३ कान् शत्रून् शृणाम कान् शत्रून् न शृणाम न हन्म इति इव । शृ कृ मू हिंसायाम् । -लोड् । ४ बाणाः । ५ विद्याधरः । ६ गजाधिपम् । अनेन समबलत्वं सूचितम् । ७ रुरोध । ८ सुनमिम् । ९ असारः कृत्वा । १० विच्छेद तः, बः, पुस्तके विहाय सर्वत्र । ११ सूर्यजलसिंहबाणादिभिः । १२ अजयत् । १३ देवे सहाये सति । १४ क्षुद्रत्वम् । १५ महत्त्वम् । १६ अतिशय्य । १७ गजबलम् । १८ अर्ककीतिसम्बन्धि । १९ जयकुमारं रुरोध । २० अर्ककीतिम् । २१ जयकुमारः । २२ मार्गणाम् । २३ प्रतीयमानैः । २४ विरोधी भूत्वा । २५ प्रेरकोपनीनबुद्धित्वम् । २६ पापपेतैः । २७ मोहनीयं कामं वा । २८ सद्भिः निन्दितम् । २९ पापिष्ठैः । ३० कोपेन ।

आहवोऽपरिहार्योऽयं ममाद्य भवता सह । अर्कोतिश्चावयो रस्मिन्नाकल्पस्थायिनी ध्रुवम् ॥२४६॥
 चक्री सुतेषु राज्यस्य योग्यं स्वामेव मन्यते । स्यात्तस्यापि मनःपीडा न वेत्यन्यायवर्तनात् ॥२४७॥
 'द्रोघधून्यायस्य भूभर्तुस्तव चेतांस्ततः क्षणात् । दुष्टान् सखेचरान् सर्वान् बध्वाद्य भवतोऽप्ये ॥२४८॥
 नागमारुह्य 'तिष्ठ त्वं काष्ठान्तं' प्रार्थितो मया । अन्यायो हि पराभूतिर्न तत्त्यागो महोयसः ॥२४९॥
 कुमार, समरे हानिस्तवैव महती मया । हन्त्यात्मानमनुमत्तः कः स तीक्ष्णासिना स्वयम् ॥२५०॥
 अभव्य इव सद्धर्मम् अपकर्षेत्तुदीरितम् । 'अघातयितुमारभे गजेन स' गजाधिपम् ॥२५१॥
 तवा जयोऽन्यतिकुद्धो गजयुद्धविशारदः । नवभिर्विजयाद्धेन वन्तघातैरपातयत् ॥२५२॥
 नवापि कुपितेभेन्द्रनवदन्ताहितक्षताः । अष्टचन्द्रार्ककीर्तिनां प्रपेतुर्हंतवन्तिनः ॥२५३॥
 चक्रिधुनोः पुनः सेनापरितोऽप्याद्ध्युत्सया ॥ 'तवा तदायुधी' रक्षवहः 'क्षयमपद्यत ॥२५४॥
 सोढुमर्कः खलस्तेजो 'जयस्याशक्नुवन्निब । जयन् जयोद्गमच्छायां संहृताशेषवीधितिः ॥२५५॥
 'शरैरिवोक्षरारक्तैर्विमुक्तेः खचरान् प्रति । जयोधेः स्वाङ्गसंलग्नैः शरैश्चतज्जितैः ॥२५६॥
 गतप्रतापः 'कुच्छात्मा सर्वनेत्राप्रियस्तदा । पपात कातरीभूय करालम्बितभूधरः ॥२५७॥

मेरा आपके साथ जो युद्ध चल रहा है वह आज ही बन्द कर देने योग्य है क्योंकि इससे हम दोनोंकी कल्पान्तकाल तक टिकनेवाली अपकीर्ति अवश्य होगी ॥२४९॥ चक्रवर्ती सब पुत्रों में राज्यके योग्य आपको ही मानता है, क्या आपके इस अन्यायमें प्रवृत्ति करनेसे उसके मनकी पीडा नहीं होगी ? ॥२५०॥ भरत महाराजके न्यायमार्गका द्रोह करनेवाले तुम्हारे इन सभी दुष्ट पुरुषोंको विद्याधरोंके साथ साथ बांधकर आज क्षणभरमें ही तुम्हें सौंप देता हूँ ॥२५१॥ मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप हाथीपर चढ़े हुए यहाँ क्षण भर ठहरिये क्योंकि महा-पुरुषोंका अन्याय करना ही तिरस्कार करता है, अन्यायका त्याग करना तिरस्कार नहीं है ॥२५२॥ हे कुमार, मेरे साथ युद्ध करनेमें तुम्हारी ही सबसे बड़ी हानि है क्योंकि ऐसा कौन सावधान है जो पैनी तलवारसे अपनी आत्माका स्वयं घात करे ॥२५३॥ जिस प्रकार अभव्य जीव समीचीन धर्मको नहीं सुनता उसी प्रकार जयकुमारके कहे हुए वचन अर्ककीर्तिने नहीं सुने और अपने हाथीसे जयकुमारके उत्तम हाथीपर प्रहार करवाना शुरू कर दिया ॥२५४॥ उस समय हाथियोंके साथ युद्ध करनेमें अत्यन्त निपुण जयकुमार भी अधिक क्रोधित हो उठा, उसने अपने विजयार्थ हाथीके द्वारा दाँतोंके नौ प्रहारोंसे अर्ककीर्ति तथा अष्टचन्द्र विद्याधरों के नौ हाथियोंको घायल करवा दिया ॥२५५॥ अर्ककीर्ति तथा अष्ट चन्द्र विद्याधरोंके नौके नौ ही हाथी क्रोधित हुए विजयार्थ हाथीके दाँतोंके नौ प्रहारोंसे घायल होकर जमीनपर गिर पड़े ॥२५६॥ जिस समय जयकुमारने युद्धकी इच्छासे अर्ककीर्तिकी सेनाको चारों ओरसे घेरा उसी समय मानो उसकी आयुकी रक्षा करता हुआ ही दिन अस्त हो गया ॥२५७॥ जो अपनी कान्तिसे जासौनके फूलकी कान्तिकी जीत रहा है, जिसने अपनी सब किरणें संकोच ली हैं, जो लाल लाल किरणोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो जयकुमारने विद्याधरोंके प्रति जो बाण छोड़े थे वे सब ही विद्याधरोंके निकलते हुए रुधिरसे अनुरंजित होकर उसके शरीरमें जा लगे हों, जिसका सब प्रताप नष्ट हो गया है, जो क्रूर है और सबके नेत्रोंको अप्रिय है ऐसा वह दुष्ट

१ आहवः परि-ल० । २ युद्धे सति । ३ हन्तुमिच्छन् । ४ तिष्ठान् ल०, इ०, प०, अ०, स० । ५ क्षणपर्यन्तम् । ६ अन्यायत्यागः । ७ महात्मान् । ८ बुद्धिमान् । ९ एवमुक्तवचनं श्रुत्वा । १० भारयितुम् । ११ अर्ककीर्तिः । १२-रघातयत् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १३ अगमत् । १४ योद्धु-मिच्छया । १५ यदा इ०, अ०, प० । १६ इव । १७ रक्षतीति रक्षत् । १८ दिवसः । १९ जयकुमा-रस्य । २० कुसुम । २१ किरणैः । २२ जयकुमारसम्बन्धिभिः । २३ सद्यत् । २४ दुःखकारिस्वभावः ।

अर्ककीर्तिं स्वकीर्तिं वा मत्वा रोषेण^१ भास्करः । अस्तं^२ जयजयस्यायात् कुर्वन् कालविलम्बनम् ॥२६१॥
 'स्कृष्टालोकोऽपि सद्बृत्तोऽप्यगादस्तमहर्षतिः' । आभित्य वारुणीं^३ रक्षतः^४ को न गच्छत्यधोगतिम् ॥
 उदये^५ ववितच्छायो^६ व्याप्य विश्वं प्रतापवान् । 'दिनेनेनोऽप्यनश्यत्'^७ कस्तिष्ठेत्तीव्रकरः परः ॥२६२॥
 इनं^८ स्वच्छानि विच्छावं^९ तापहारीणि वा भृशम् । द्रष्टुं सरांस्यनिच्छन्ति^{१०} कञ्जाक्षीणि शुचा^{११} 'व्यधुः'
 'जयनिस्त्रिजनिस्त्रिजनिपातपतितान् खगान् । 'प्राविशन्निजनीडानि'^{१२} वीक्षितुं विक्षमाः खगाः^{१३} २६५
 स प्रतापः प्रभा साऽस्य सा हि सर्वैकपूज्यता । पातः^{१४} प्रत्यहमर्कस्याप्यतथ्यः^{१५} 'ककंशो विधिः'^{१६} ॥२६६॥
 कीर्त्योपमानतां यातो धातोऽर्कश्चेददृश्यताम् । उपमेयस्य का वार्तेत्यवादीद्विदुषां गणः ॥२६७॥

सूर्य मानो जयकुमारके तेजको न सह सकनेके कारण ही कातर हो अपने करों-किरणोंसे (हाथों से) अस्ताचलको पकड़कर नीचे गिर पड़ा ॥२५८-२६०॥ वह सूर्य अर्ककीर्तिको अपनी कीर्ति मानकर क्रोधसे जयकुमारके जीतमें विलम्ब करता हुआ अस्त हो गया ॥२६१॥ जिसका आलोक प्रकाश (ज्ञान) स्पष्ट है और जो सद्बृत्त-गोल (सदाचारी) है ऐसे सूर्यको भी अस्त होना पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा अथवा मद्यका सेवन करनेवाला ऐसा कौन है जो नीचेको न जाता हो-अस्त न होता हो-नरक न जाता हो । भावार्थ-जिस प्रकार मद्य पीनेवाला ज्ञानी और सदाचारी होकर भी नीच गतिको जाता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रकाशमान और गोल होकर भी पश्चिम दिशामें जाकर अस्त हो जाता है ॥२६२॥ उदय कालसे लेकर निरन्तर जिसकी कान्ति बढ़ती रहती है और जो संसारमें व्याप्त होकर तपता रहता है ऐसा तीव्रकर अर्थात् तीव्र किरणोंवाला सूर्य भी जब एक ही दिनमें नष्ट हो गया तब फिर भला तीव्रकर अर्थात् अधिक टैक्स लगानेवाला और संताप देनेवाला अन्य कौन है जो संसारमें ठहर सके ॥२६३॥ संतापको दूर करनेवाले स्वच्छ सरोवर अतिशय कान्तिरहित सूर्यको देखना नहीं चाहते थे इसलिये ही मानो उन्होंने शोकसे अपने कमलरूपी नेत्र बन्द कर लिये थे ॥२६४॥ सब पक्षी अपने-अपने घोंसलोंमें इस प्रकार चले गये थे मानो वे जयकुमार की तीक्ष्ण तलवारकी चोटसे गिरे हुए विद्याधरोंको देखनेके लिये समर्थ नहीं हो सके हों ॥२६५॥ सूर्यका असाधारण प्रताप है, असाधारण कान्ति है और असाधारण रूपसे ही सब उसकी पूजा करते हैं फिर भी प्रतिदिन उसका पतन हो जाता है इससे जान पड़ता है कि निष्ठुर दैव तर्कका विषय नहीं है । भावार्थ-ऐसा क्यों करता है इस प्रकारका प्रश्न दैवके विषयमें नहीं हो सकता है ॥२६६॥ उस समय विद्वानोंका समूह ऐसा कह रहा था कि जब अर्ककीर्तिके साथ उपमानताको प्राप्त हुआ सूर्य भी अदृश्य हो गया तब उपमेयकी क्या बात है ? भावार्थ-अर्ककीर्तिके लिये सूर्यकी उपमा दी जाती है परन्तु जब सूर्य ही अस्त हो गया तब अर्ककीर्तिकी तो बात ही

१ निजनामधेयमिव । २ पीडया । ३ जयकुमारस्य । ४ व्यक्तोद्योतोऽपि । व्यक्तदर्शनोऽपीति ध्वनिः । 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्यभिधानात् । ५ सद्बृत्तुलमण्डलोऽपीति । सच्चारित्रोऽपीति ध्वनिः । ६ रविः । ७ पश्चिमाशाम् । मद्यमिति ध्वनिः । ८ अरुणः अनुरक्तश्च । ९ उदगमे अभ्युदये च । १० कान्तिः पक्षे उत्कोचः । 'छाया स्यादातपाभावे प्रतिविम्बार्कयोषितोः । पालनोत्कोचयोः कान्तिसच्छोभापंक्तिषु स्मृता' इत्यभिधानात् । ११ दिवसेन च । इनः सूर्यः प्रभुश्च । 'इनः सूर्ये प्रभौ' इत्यभिधानात् । १२ अदृश्योऽभूत् । १३ सूर्यम् । १४ विगतकान्तिम् । १५ अनिच्छन्ति । १६ दधति स्म । १७ जयकुमारस्य निशितास्त्रघातेन पतितान् । १८ प्राविष्टाः । १९ आत्मीयकुलायान् । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम् ।' इत्यभिधानात् । २० पक्षिणः । २१ पतनम् । २२ क्रूरः । २३ नियतिः कर्म च ।

दुर्निरोध्यः 'करेस्तीक्ष्णः सन्तप्तनिजमण्डलः । अलं कुबलयध्वंसो दुस्सुतो' दुर्मतिस्तुतः ॥२६८॥
 निस्सहायो निरालम्बोऽप्यसोढा' परतेजसाम् । 'सिंहराशिश्चलः क्रूरः सहसोच्छ्रित्य' मूर्द्धगः ॥२६९॥
 पापरोपी' परप्रेयो रविजिषममार्गगः । रक्तर्क्' सकलद्वेषी' ॥२७०॥
 'सता बुधेन मित्रेण' गुरुणा' ॥२७१॥ 'अप्यस्तमाश्रयत् । बहुदोषो' भिषग्वर्यैर्दुश्चिकित्स्य इवातुरः' ॥२७२॥
 तबा बलद्वयामात्वाः श्रित्वा बह्वेषौ नृपौ । इत्यध्वर्यं निशायुद्धम् अनुवक्ष' न्यवेधयन् ॥२७३॥
 ताभ्यां' तत्रैव सा रात्रिर्नैतुमिष्टा रणाङ्गणं । भटतीव्रव्रणासह्यवेदनारावभौवणे ॥२७४॥

क्या है ? ॥२६७॥ जो बड़ी कठिनतासे देखा जाता है, अपनी किरणोंसे तीक्ष्ण-ऊष्ण है, जिसने अपना मण्डल भी संतप्त कर लिया है, जो कुबलय अर्थात् कुमुदोंका ध्वंस करनेवाला है, बड़े कण्टसे जिसका उदय होता है अथवा जिसका पुत्र-शनि दुष्ट है, दुर्बुद्धि लोग ही जिसकी स्तुति करते हैं, जो सहायरहित है, आधाररहित है, जो चन्द्र आदि ज्योतिषियोंका तेज सह नहीं सकता, सिंह राशिपर है, चंचल है, क्रूर है, सहसा उछलकर मस्तकपर चलता है, पाप रोगी है, दूसरेके सहारेसे चलता है, विषममार्ग-आकाशमें चलता है, रक्तर्क्-लाल किरणोंवाला है, सकल-कलासहित-चन्द्रमाके साथ दोष करनेवाला है, दिशाओंको बढ़ानेवाला है और पैररहित-अरुण नामका सारथि जिसके आगे चलता है, ऐसा सूर्य, बुधग्रह और गुरु (बृहस्पति ग्रह) नामके सज्जन मित्रोंके साथ होनेपर भी अच्छे अच्छे वैद्य भी जिसका इलाज नहीं कर सकते ऐसे बहुदोषी-अनेक दोषवाले (पक्षमें रात्रिवाले) रोगीके समान अस्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट होनेके कारण जिसकी ओर कोई देख भी नहीं सकता है, जो अधिक टैक्स वसूल करनेके कारण तीक्ष्ण है, जो अपने परिवारके लोगोंको भी संताप देनेवाला है । कुबलय अर्थात् पृथिवीमण्डलका खूब नाश करनेवाला है, जिसका पुत्र खराब है, मूर्ख ही जिसकी स्तुति करते हैं, जो सहायक मित्रोंसे रहित है, दुर्ग आदि आधारोंसे रहित है, अन्य प्रतापी राजाओंके प्रतापको सहन नहीं करता है, सिंह राशिमें जिसका जन्म हुआ है, चञ्चल है, निर्दय है, जरा-जरा सी बातोंमें उछलकर शिरपर सवार होता है-असहनशील है, बुरे रोगोंसे घिरा हुआ है, दूसरेके कहे अनुसार चलता है, विषम मार्ग-अन्याय मार्गमें चलता है, रक्तर्क्-जिसे खूनकी बीमारी है, जो सबके साथ द्वेष करता है, जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है और बिना क्रमके प्रत्येक कार्य में आगे आगे आता है, ऐसे अनेक दोषवाले राजाका लाइलाज रोगीकी तरह बुद्धिमान् मित्र और सज्जन गुरुके साथ होनेपर भी नाश होना ही है ॥२६८-२७१॥ उस समय दोनों सेनाओं के मंत्रियोंने क्रोधित हुए उन दोनों राजाओंके पास जाकर रात्रिमें युद्ध करना अधर्म है ऐसा नियम कर उन्हें युद्ध करनेसे रोका ॥२७२॥ उन दोनोंने योद्धाओंके तीव्र धावोंकी असह्य वेदनाजनित चिल्लाहटसे भयंकर उसी रणके मैदानमें रात्रि व्यतीत करना अच्छा समझा

१-स्तीक्ष्णाः अ०, प०, स०, इ०, ल० । २ कण्टोत्पत्तिः अशोभनपुत्रश्च । ३ व्यसोढा ट० । ४ प्रदीपानां शत्रूणां च तेजसाम् । ५ सिंहराशिस्थितः । ६ ऊर्ध्वगो भूत्वा । ७ शिरसा गच्छन् । ८ कुण्ठरोगी । ९ रक्तकिरणः । रक्तरोगी च रक्तामां घातको वा । १० चन्द्रद्वेषी सकलजनद्वेषी च । ११ वद्धितदिक् वद्धिताभिलाषश्च । १२ अनूर्वग्रामी । 'सूरसूतोऽरुणोऽनुरः' इत्यभिधानात् । अत्रमाग्रगामी च । १३ उत्कृष्टेन विद्यमानेनेति च । १४ सोमसुतेन । विदुषा च । १५ बृहस्पतिना, उपदेशकेन सहितोऽपीत्यर्थः । १६ प्रचुररात्रिः । वातदोषवांश्च । १७ व्याधिपीडित । १८ निर्वन्धं कृत्वा । १९ अर्क-कीर्तिजयकुमाराभ्याम् ।

प्रतीची येन^१ जायेऽहम्^२ अगिलत्तमहस्करम् । इति सन्ध्याच्छलेना^३ हस्तत्र^४ कोपमिवागतम् ॥२७४॥
 लज्जे^५ सम्पर्कमर्केण कर्तुं लोचनगोचरे^६ । इयं बलेति वा सन्ध्याऽप्यस्वगादात्तविग्रहा^७ ॥२७५॥
 अगादहः^८ पुरस्कृत्य मामर्को रात्रिगामिना । तेन^९ पश्चात्कृतेऽतीव शोकात् सन्ध्या व्यलीयत^{१०} ॥२७६॥
 तमः सर्व^{११} तदा व्यापत् क्वचिल्लोचनं गुहादिषु । शत्रुशेषं न कुर्वन्ति तत एव विचक्षणाः ॥२७७॥
 अवकाशं प्रकाशस्य यथात्मानमधात् पुरा । तथैव तमसः पश्चाद् धिक्महत्त्वं विहायसः^{१२} ॥२७८॥
 तमोबलान् प्रदीपादिप्रकाशाः प्रविदीपिरे^{१३} । जिनेनेव विनेनेन^{१४} कलौ कष्टं कुलिङ्गितः ॥२७९॥
 तमोविमोहित^{१५} विश्वं^{१६} प्रबोधयितुमुद्धृतः । विधिनेव सुधाकुम्भो^{१७} बौर्वर्णो विधुरदयौ ॥२८०॥
 चन्द्रमाः^{१८} करनालीभिः अपिबद् बहलं तमः । वृद्धकास^{१९} क्षय^{२०} हातुं धूमपानमिवाचरन् ॥२८१॥
 निःशेषं नाशकद्वन्तुं ध्वान्तं हरिणलाञ्छनः । अशुद्धमण्डलो हन्यान्निष्प्रतापः कथं रिपून् ॥२८२॥
 विधुं तत्करसंस्पर्शाद् भृशमासन् विकसिभिः । सरस्यो ह्लादयन्त्यो^{२१} वा मुदा कुमुदलोचनैः ॥२८३॥

॥२७३॥ संध्याके वहानेसे दिन लाल लाल हो गया, मानो जिससे में पैदा हुआ हूँ उस सूर्यको यह पश्चिम दिशा निगल रही है यही समझकर मानो उसे क्रोध आ गया हो ॥२७४॥ मैं सबके देखते हुए सूर्यके साथ सम्बन्ध करनेके लिये लज्जित होती हूँ यही समझकर मानो संध्याकी बेला भी शरीर धारणकर सूर्यके पीछे पीछे चली गई ॥२७५॥ सूर्य जब दिनके पास गया था तब मुझे आगे कर गया था परन्तु अब रात्रिके पास जाते समय उसने मुझे पीछे छोड़ दिया है इस शोकसे ही मानो संध्या वहीं विलीन हो गई थी ॥२७६॥ दिनके समय जो अंधकार किन्हीं गुफा आदि स्थानोंमें छिप गया था उस समय वह सबका सब आकर फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर लोग इसलिये ही शत्रुको बाकी नहीं छोड़ते हैं—उसे समूल नष्ट कर देते हैं ॥२७७॥ आकाशने जिस प्रकार पहले प्रकाशके लिये अपनेमें स्थान दिया था उसी प्रकार पीछेसे अन्धकारके लिये भी स्थान दे दिया इसलिये आचार्य कहते हैं कि आकाशके इस बड़प्पनको धिक्कार हो । भावार्थ—बड़ा होनेपर भी यदि योग्य-अयोग्यका ज्ञान न हुआ तो उसका बड़प्पन किस कामका है ? ॥२७८॥ जिस प्रकार कलिकालमें जिनेन्द्रदेवके न होने से अज्ञानके कारण अनेक कुलिङ्गियोंका प्रभाव फैलने लगता है उसी प्रकार उस समय सूर्यके न होनेसे अन्धकारके कारण अनेक दीपक आदिका प्रकाश फैलने लगा था ॥२७९॥

इतनेमें चन्द्रमाका उदय हुआ जो ऐसा जान पड़ता था मानो अन्धकारसे मोहित हुए समस्त संसारको जगानेके लिये विधाताने अमृतसे भरा हुआ चांदीका कलश ही उठाया हो ॥२८०॥ उस समय चन्द्रमा अपनी किरणरूपी नालियोंके द्वारा गाढ़ अन्धकारको पी रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो जिसमें खाँसी बढ़ी हुई है ऐसे क्षय रोगका नाश करनेके लिये धूम्रपान ही कर रहा हो ॥२८१॥ चन्द्रमा सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट करनेके लिये समर्थ नहीं हो सका था सो ठीक ही है क्योंकि जिसका मण्डल अशुद्ध है और जो प्रतापरहित है वह शत्रुओंको कैसे नष्ट कर सकता है ? ॥२८२॥ तालाबोंमें चन्द्रमाके किरणोंके स्पर्शसे कुमुद खूब फूल रहे थे और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो खिले हुए कुमुदरूपी नेत्रोंके द्वारा चन्द्रमा

१ अहस्करेण । २ प्रादुर्भवामि । ३ गिलति स्म । ४ दिवसः । ५ प्रतीच्याम् । ६ ह्रीवती भवानि । ७ द्वष्टिविषये प्रदेशे । बहुजनप्रदेशे इत्यर्थः । ८ स्वीकृतशरीराः । ९ आगच्छति स्म । १० दिवसम् । ११ पृष्ठे कृताहमिति । १२ विलयं गता । १३ सर्वत्र विश्वं जगत् । १४ आकाशस्थ । १५ तिमिरप्राबल्यात् । पक्षे आकाशसामर्थ्यात् । १६ प्रकाशन्ते स्म । १७ रविणा । १८ मूढीकृतम् । १९ जगत् । २० सौवर्णः । २१ किरणनालीभिः । २२ कुत्सितगतिम् वृद्धप्रकाशं वा । २३ क्षयव्याधिम् । २४ कलंकयुतमण्डलः । शत्रुसहितमण्डलश्च । २५ मुदं नयन्ति वा ।

उत्थितः 'पितकोऽस्माकं विधुर्गण्डस्य' चोपरि । का 'जीविकेति' 'निर्विण्णाः प्रायः' 'प्रोषितयोषितः २८४ लब्धचन्द्रबलस्योच्चः' स्मरस्य परितोषिणः । अट्टहास इवाशेषं साकश्चन्द्रात्तपोऽतः ॥२८५॥
 रुढो रागाङ्कुरश्चित्ते प्रम्लानो भानुभानुभिः । तदा चन्द्रिकया 'प्राच्यवृष्टयेवावर्द्धताङ्गिनाम् ॥२८६॥
 'खण्डितानां तथा तापो नाभूत् भास्कररश्मिभिः । यथाशुभिस्तु' 'षारांशोविचित्रा द्रव्यशक्तयः ॥२८७॥
 खण्डनादेव' कान्तानां' ज्वलितो मदनानलः । 'जाज्वलीत्ययमे' 'तेने' 'त्यत्यजन्मधु' 'काश्चन ॥२८८॥
 बृथाभिमानविध्वंसी नापरं मधुना विना । कलहान्तरिताः काश्चित्सखीभिरतिपायिताः' ॥२८९॥
 प्रेम नः' कृत्रिमं नैतत् किमनेनेति' काश्चन । दूरादेवात्यजन् स्निग्धाः श्राविका वाऽऽसवादिकम्' ॥२९०॥
 मधु द्विगुणितस्वादु' पीतं कान्तकरार्पितम्' । कान्ताभिः 'कामदुर्वारमातङ्गाभववर्द्धनम् ॥२९१॥
 इत्याविर्भावितानङ्गरसास्ताः प्रियतङ्गमात् । प्रीतिं वाग्मोचरातीतां स्वीचक्रुर्वक्त्रकीक्षणाः' ॥२९२॥

को हर्षसे प्रसन्न ही कर रहे हों । विशेष—इस श्लोकमें सरसी शब्दके स्त्रीलिङ्ग होने तथा कर शब्दके श्लिष्ट हो जानेसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जिस प्रकार स्त्रियां अपने पतियोंके हाथका स्पर्श पाकर प्रसन्न हुए नेत्रोंसे उन्हें हर्षपूर्वक आनंदित करती हैं उसी प्रकार सरसियां भी चन्द्रमाके कर अर्थात् किरणोंका स्पर्श पाकर प्रफुल्लित हुए कुमुदरूपी नेत्रोंसे उसे हर्षपूर्वक आनन्दित कर रही थीं ॥२८३॥ प्रायः विरहिणी स्त्रियां यह सोच-सोचकर विरक्त हो रही थीं कि यह चन्द्रमा हमारे गालपर फोड़ेके समान उठा है अर्थात् फोड़ेके समान दुःख देनेवाला है इसलिये अब जीवित रहनेसे क्या लाभ है ? ॥२८४॥ जिसे चन्द्रमाका बल प्राप्त हुआ है और इसीलिये जो जोरसे संतोष मना रहा है ऐसे कामदेवके अट्टहासके समान चन्द्रमाका गाढ़ प्रकाश सब ओर फैल गया था ॥२८५॥ मनुष्योंके हृदयमें उत्पन्न हुआ जो रागका अंकुरा सूर्यकी किरणोंसे मुरझा गया था वह भारी अथवा पूर्व दिशासे आनेवाली वर्षाके समान फैली हुई चाँदनीसे उस समय खूब बढ़ने लगा था ॥२८६॥ खण्डिता स्त्रियोंको सूर्यकी किरणोंसे वेसा संताप नहीं हुआ था जैसा कि चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थोंकी शक्तियां विचित्र प्रकारकी होती हैं ॥२८७॥ प्रिय पतिके विरहसे ही जो कामरूपी अग्नि जल रही थी वह इस मद्यसे ही जल रही है ऐसा समझकर कितनी ही विरहिणी स्त्रियोंने मद्य पीना छोड़ा दिया था ॥२८८॥ मद्यके सिवाय व्यर्थके अभिमानको नष्ट करने-वाला और कोई पदार्थ नहीं है यही सोचकर कितनी ही कलहान्तरिता स्त्रियोंको उनकी सखियोंने खूब मद्य पिलाया था ॥२८९॥ हमारा यह प्रेम बनावटी नहीं है इसलिये इस मद्यके पीनेसे क्या होगा ? यही समझकर कितनी ही प्रेमिकाओंने श्राविकाओंके समान मद्य आदिको दूर से ही छोड़ दिया था ॥२९०॥ कितनी ही स्त्रियां कामदेवरूपी दुर्निवार हाथीके मदको बढ़ाने-वाले स्वादिष्ट मद्यको पतिके हाथसे दिया जानेके कारण दूना पी गई थीं ॥२९१॥ इस प्रकार जिनके कामका रस प्रकट हुआ है और जिनकी दृष्टि कुछ-कुछ तिरछी हो रही है ऐसी स्त्रियां

१ पिटको ल०, अ०, इ०, स०, प० । पिटकः स्फोटकः । 'विस्फोटः पिटकस्त्रिषु' इत्यभिधानात् । २ गलगण्डस्य । 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात् । ३ जीवितम् । ४ उद्वेगपराः । दुःखे तत्पराः इत्यर्थः । ५ विमुक्तभर्तृकाः स्त्रियः । ६ व्याप्नोति स्म । ७ प्रथमवृष्ट्या । ८ विरहिणीनां योषिताम् । ९ चन्द्रस्य । १० वियोगात् । ११ प्रियतमानां पुंसाम् । १२ भूशं ज्वलति । १३ दावाग्निः । १४ मध्येन । १५ मद्यम् । १६ मद्यपानं कारिताः । १७ अस्माकम् । १८ मध्येन । १९ मद्यादिकम् । २० त्रिगुणितं स्वादु इत्यपि पाठः । २१ प्रियतमकरणे दत्तम् । २२ कामदुःपूरः—ट० । पूरयितुमशक्यः । २३ वामलोकनाः ।

तत्र काचिद् प्रियं वीक्ष्य^१ कथाशेषं द्विवन्द्यैः^२ । स्वयं कामशरैरक्षताङ्गो चित्रमभूद् व्यसुः^३ ॥२९३॥
 "क्षतरनुपलक्ष्याङ्गं वीक्ष्य कान्तमजानती । परा परासुतां^४ "प्रापज्ज्वात्वाऽऽत्मविहितव्रणैः^५ ॥२९४॥
 मया निवारितोऽप्यायां^६ वीरलक्ष्मीप्रियः प्रिय । तत्कठोरव्रणरेवं^७ जातोऽसीति मृता^८ परा ॥२९५॥
 मां निवार्य सहायान्तो कीर्तिं स्वीकर्तुमागमः^९ । निर्मलेति विपर्यस्तो^{१०} जानन्नपि बहिःचरीम् ॥२९६॥
 स्थिता तत्रैव सा कीर्तिः किं^{११} वदन्ति^{१२} नरोऽन्तरम् । इति सासू^{१३} यमुक्त्वाऽप्या^{१४} प्रायासीत्^{१५} प्रियपद्धतिम्
 न किं निवारिताऽप्यायां^{१६} त्वया साह्रं विचेतना^{१७} । सन्निधौ मे किमेवं त्वां नयन्ति गणिकाधमाः^{१८} ॥२९७॥
 "अस्तु किं^{१९} यातमद्यापि तत्र^{२०} त्वां न हराणि^{२१} किम् । विलप्यैवं कलालापा काचित्^{२२} "कान्तानुगाऽभवत् २९८
 शरनिभस्रसर्वाङ्गः कीलितासुरिबापरः । कान्तागमं प्रतीक्ष्यास्त लोचनस्थितजीवितः ॥३००॥
 कोपदष्टविमुक्तौष्ठं कान्तमालोक्य कामिनी । वीरलक्ष्म्या कृतासूया क्षणकोपाऽसुमन्यजत् ॥३०१॥
 हृदि निर्भक्षणाराचो मत्वा कान्तां हृदि स्थिताम् । हा मुतेयं वराकीर्तिं^{२३} प्राणान् कश्चिद् व्यसज्यत् ॥३०२॥

पतिके समागम होनेसे वचनातीत आनन्दका अनुभव कर रही थीं ॥२९२॥ उन स्त्रियोंमेंसे कोई स्त्री अपने पतिको शत्रुओंके बाणोंसे मरा हुआ देखकर आश्चर्य है कि कामके बाणोंसे शरीर क्षत न होनेपर भी स्वयं मर गई थीं ॥२९३॥ अन्य कोई अजान स्त्री वावोसे जिसके अंग उपांग ठीक-ठीक नहीं दिखाई देते ऐसे अपने प्रिय पतिको देखकर और उन्हें अपने द्वारा ही किये हुए घाव समझकर प्राणरहित हो गई थीं ॥२९४॥ हे प्रिय, तुम्हें वीर लक्ष्मी बहुत ही प्यारी थी इसीलिये मेरे रोकनेपर भी तुम उसके पास आये थे अब उसी वीरलक्ष्मीके कठोर घावोंसे तुम्हारी यह दशा हो रही है यह कहती हुई कोई अन्य स्त्री मर गई थी ॥२९५॥ हे प्रिय, मैं उसी समय आपके साथ आ रही थी परन्तु आप मुझे रोककर कीर्तिको स्वीकार करनेके लिये यहाँ आये थे, यद्यपि आप यह जानते थे कि कीर्ति सदा बाहर घूमनेवाली (स्वैरिणी-व्यभिचारिणी) है तथापि यह शुद्ध है ऐसा आपको भ्रम हो गया, अब देखिये, वह कीर्ति वहीं रह गई, हाय, क्या मनुष्य हृदय अथवा विरहको जानते हैं ? इस प्रकार ईर्ष्याके साथ कहकर अन्य कोई स्त्री अपने पतिके मार्गपर जा पहुँची थी अर्थात् पतिको मरा हुआ देखकर स्वयं भी मर गई थी ॥२९६-२९७॥ हे प्रिय, रोकी जाकर भी मैं मूर्खा आपके साथ क्यों नहीं आई ? क्या मेरे समीप रहते ये नीच वेश्याएँ (स्वर्गकी अप्सराएँ) इस प्रकार तुम्हें ले जाती ? खैर, अब भी क्या गया ? क्या मैं वहाँ उनसे तुम्हें न छीन लूँगी ! इस प्रकार विलाप कर मधुर स्वरवाली कोई स्त्री अपने पतिकी अनुगामिनी हुई थी अर्थात् वह भी मर गई थी ॥२९८-२९९॥ जिसका सब शरीर बाणोंसे छिन्न भिन्न हो गया है, और इसलिये ही जिसके प्राण कीलितसे हो गये हैं तथा नेत्रोंमें ही जिसका जीवन अटका हुआ है ऐसा कोई योद्धा अपनी स्त्री के आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था ॥३००॥ जिसने क्रोधसे अपने ओठ डसकर छोड़ दिये हैं ऐसे अपने पतिको देखकर क्षणभर क्रोध करती और वीरलक्ष्मीके साथ ईर्ष्या करती हुई किसी अन्य स्त्रीने अपने प्राण छोड़ दिये थे ॥३०१॥ जिसके हृदयमें बाण घुस गया है ऐसे किसी योद्धाने

१ वार्तपेवावशिष्टं प्रियं श्रुत्वेत्यर्थः । २ वैरिणां बाणैरुपलक्षितम् । ३ विगतप्राणः । ४ व्रणैः । ५ पञ्चत्वम् । ६ प्राप ल०, अ०, स०, इ०, प० । ७ आत्मना नखदन्तकृतव्रणैः । ८ आगमः । ९ वीरलक्ष्म्या निष्ठुरम् । १० ममार । ११ आगच्छः । १२ वैपरीतं नीतः । वञ्चित इत्यर्थः । १३ विदन्ति ल० । १४ नरः मनुष्याः । अन्तरं विरहम् । नरोत्तरमिति पाठे उत्तमपुरुषम् । १५ असूया सहितं यथा भवति तथा । १६ आगात् । १७ प्रियतमस्य मार्गम् । मृतिमित्यर्थः । १८ आगच्छम् । १९ वराभ्यहम् । २० अमुख्यदेवस्त्रियः । २१ भवतु वा । २२ गमनम् । २३ स्वर्गं । २४ अपि तु हराण्येव । २५ प्रियतमस्यानुगामिन्वभूत् । कान्तास्मरणेन स्मरवशोऽभूदित्यर्थः । २६ सद्यः प्राणान् व्यसज्यत् ल० ।

शस्त्रसंभिक्षसर्वाङ्गम् अन्तको नेतुमागतः । कान्ता चिन्तापरं कन्तुस्तद्वस्तादहृतापरम् ॥३०३॥
 कण्ठे चालिङ्गितः प्रेमशोकाभ्यां प्रियया परः । ध्यात्वा तां त्यक्तदेहोऽगात् निर्वाणं सवर्णस्तया ॥३०४॥
 इवः^१ स्वर्गं किं किमत्रैव^२ सङ्गमो नौ^३ न संशयः । तत्र^४ त्वं बहुकान्तोऽद्य रमेऽयेत्याह^५ सव्रतम् ॥
 अत्र वाऽभुव्र^६ वासोऽस्तु कितया चिन्तयावयोः । वियोगः क्वापि नास्तीति कान्ता कान्तमतर्पयत् ॥३०५॥
 'सन्नतो वीरलक्ष्मीं च कीर्तिं चैहि'^७ चिरामुषा । हन्तुं मामेव कामोऽयमिति कान्ताऽबदद्गुषा ॥३०७॥
 जयस्य विजयः प्राणैस्तवैवैतद् विनिश्चितम् । 'सव्रतावद्य यास्यावो दिवमित्यब्रवीत् परा ॥३०८॥
 शराः पोष्यास्तव त्वं च 'संयुक्तेष्वतिशीतलः'^८ । तत्र^९ विज्ञातसारोऽसि पुरुषेभ्यो भयं तव ॥३०९॥
 श्रायसाः^{१०} सायकाः काम त्वमप्यस्माकमन्तकः । इति कामं समुद्दिश्य खण्डिताः^{११} स्वगतं^{१२} जगुः^{१३} ॥३१०॥
 सा रात्रिरिति सैल्लापैः^{१४} 'प्रेमप्राणैरनीयत । तावत् सन्ध्याऽगता रागाद् राक्षसीवेक्षितुं रणम् ॥३११॥

अपनी स्त्रीको अपने हृदयमें स्थित मानकर तथा हाथ, यह बेचारी इस बाणसे व्यर्थ ही मरी जा रही है ऐसा समझकर शीघ्र ही अपने प्राण छोड़ दिये थे ॥३०२॥ जिसका सब शरीर शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न हो गया है ऐसे किसी अन्य योद्धाको यमराज लेनेके लिये आ गया था परन्तु स्त्रीकी चिन्तामें लगे हुए उसे कामदेवने यमराजके हाथसे छुड़ा लिया था ॥३०३॥ प्रेम और शोकके कारण अपनी स्त्रीके द्वारा गलेसे आलिगन किया हुआ कोई घावसहित योद्धा उसी प्रिया का ध्यान कर तथा शरीर छोड़कर उसीके साथ मर गया ॥३०४॥ किसी योद्धाने व्रत धारण कर लिये थे इसलिये उसकी स्त्री उससे कह रही थी कि कल स्वर्गमें न जाने क्या क्या होगा ? इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि हम दोनोंका समागम यहाँ हो सकता है, चूँकि तुम्हें स्वर्गमें बहुत सी स्त्रियाँ मिल जायँगी इसलिये मैं आज यहाँ ही क्रीड़ा करूंगी ॥३०५॥ हम दोनोंका निवास चाहे यहाँ हो, चाहे परलोकमें हो, उसकी चिन्ता ही नहीं करनी चाहिये । क्योंकि हम लोगों का वियोग तो कहीं भी नहीं हो सकता है इस प्रकार कहती हुई कोई स्त्री अपने पतिको संतुष्ट कर रही थी ॥३०६॥ कोई स्त्री क्रोधपूर्वक अपने पतिसे कह रही थी कि तुम तो व्रत धारण कर वीर लक्ष्मी और कीर्तिको प्राप्त होओ—उनके पास जाओ, दीर्घ आयु होनेके कारण यह कामदेव मुझे ही मारे ॥३०७॥ कोई स्त्री अपने पतिसे कह रही थी कि यह निश्चित है कि जयकुमारकी जीत तेरे ही प्राणोंसे होगी और व्रतोंके धारण करनेवाले हम दोनों ही आज स्वर्ग जावेंगे ॥३०८॥ खण्डिता स्त्रियाँ कामदेवको उद्देश्य कर अपने मनमें कह रही थी कि अरे काम, संयोगी पुरुषोंपर पड़ते समय तेरे बाण फूलोंके हो जाते हैं और तू भी बहुत ठंडा हो जाता है, उन पुरुषोंके पास तेरे बलकी सब परख हो जाती है, वास्तवमें तू पुरुषोंसे डरता है परन्तु हम स्त्रियोंपर पड़ते समय तेरे बाण लोहेके ही रहते हैं और तू भी यमराज बन जाता है । भावार्थ—तू पुरुषोंको उतना दुखी नहीं करता जितना कि हम स्त्रियोंको करता है ॥३०९-३१०॥ प्रेमरूपी प्राणोंको धारण करनेवाले स्त्री-पुरुषोंने इस प्रकारकी बातचीतके द्वारा ज्योंही वह रात्रि पूर्ण की त्योंही रागसे संग्राम देखनेके लिये आई हुई राक्षसीके समान सन्ध्या (सवेरे की लाली) आ गई ॥३११॥

१ कण्ठेनालिङ्गितः ३०, अ०, स०, प० । २ मरणम् । ३ अनन्तरागामिदिने । ४ स्यादिति न जाने इति सम्बन्धः । ५ आवयोः । ६ स्वर्गं । ७ क्रीडामि । ८ स्वर्गं । ९ सनियमः । १० गच्छ । ११ सनियमावावाम् । १२ सङ्गतेषु स्त्रीपुरुषेषु । १३ अतिशयेन सुखहेतुः । १४ संयुक्तस्त्रीपुरुषेषु । १५ अयस्सम्बन्धिनः । १६ पुरुषवियुक्ताः । १७ स्वाभिप्रायम् । १८ भणन्ति स्म । १९ मिथो भाषणैः । २० प्रेम इव प्राणा येषां तैः ।

प्राभातानककोटीनां निःस्वनः सेनयोः सम्म् । आक्रामतिस्म दिक्चक्रम् अक्रमेणोच्चरस्तदा ॥३१२॥
 प्रतीच्याऽपि मृतश्चन्द्रो भयैवोदेति भास्करः । इति स्नेहादिव प्राची प्रागभादुदयाव्रबेः ॥३१३॥
 सरसी^१ कमलाक्षिभ्यः प्रबुद्धानां तदा मुदा । निर्ययो स्वार्थमादाय निद्रेव भ्रमरावली ॥३१४॥
 गतायां स्वेन सङ्कोचं पश्चिण्यां स्वोदये रविः । लक्ष्मीं निजकरेणोच्चैर्विदधे सा हि मित्रता^२ ॥३१५॥
 रक्तः^३ करः समाश्लिष्य सन्ध्यां सद्यो ध्यरज्यत^४ । वदन्निव रविर्भोगान् पर्यन्त^५ विरसान् स्फुटम् ॥३१६॥
 'पर्यष्वञ्जीत् पुरेवंतां स्वां सन्ध्यामिति वेष्ट्यया । रविं 'रक्तमपि स्थित्यै' 'प्राच्यक्षमत' 'न क्षणम् ॥
 'शयित्वा वीरशय्यायां निशां नीत्वा नित्यामिनः'^६ । स्नात्वा सन्तपिताशेषदीनानाथवनीपकाः ॥३१८॥
 अञ्चित्वा विधिना स्तुत्वा जिनेन्द्रास्त्रिजगन्नतान् । 'अतिष्ठन्नायकाः सर्वे परिच्छिद्य रणोन्मुखाः ॥३१९॥
 अरिञ्जयाख्यमारुह्य रथं श्वेताश्वयोजितम् । गृहीत्वा वज्रकाण्डं च दत्तं यच्चक्रिणा द्वयम्'^७ ॥३२०॥
 बन्दिमागधवृन्देन 'बन्धमानाङ्कमालिकः । गजध्वजं'^८ समुत्थाप्य जयलक्ष्मीसमुत्सुकः ॥३२१॥
 जयो ज्यास्फालनं कुर्वन् कृतान्तविकृताकृतिः । द्विपानां 'भीषणस्तथौ दिशामय्याहरन् मदम् ॥३२२॥
 'उपोदयायशस्कीर्तिः अर्ककर्तातिशयुतच्छविः । 'कारागारमिवाध्यास्य स्यन्दनं मन्दवाजिनम् ॥३२३॥

उसी समय दोनों सेनाओंमें साथ साथ उठनेवाले प्रातःकालीन करोड़ों बाजोंके शब्दों ने एक साथ सब दिशाएं भर दीं ॥३१२॥ यद्यपि चन्द्रमा पश्चिम दिशाके साथ है तथापि सूर्य तो मेरे ही साथ उदय होगा इसी प्रेमसे मानो पूर्व दिशा सूर्योदयसे पहले ही सुशोभित होने लगी थी ॥३१३॥ उस समय भ्रमरोंकी पंक्ति तालाबोंके फूले हुए (पक्षमें जागे हुए) कमलरूपी नेत्रोंसे अपना इष्ट पदार्थ लेकर निद्राके समान बड़ी प्रसन्नताके साथ निकल रही थी ॥३१४॥ कमलिनी मेरे अस्त होते ही संकुचित हो गई थी, इसलिये सूर्यने अपना उदय होते ही अपने ही ही किरणरूपी हाथोंसे उसपर बहुत अच्छी शोभा की थी सो ठीक ही है क्योंकि मित्रता यही कहलाती है ॥३१५॥ रक्त अर्थात् लाल (पक्षमें प्रेम करनेवाला) सूर्य, कर अर्थात् किरणों (पक्षमें हाथों)से संध्याका आलिंगन कर शीघ्र ही विरक्त अर्थात् लालिमारहित (पक्षमें राग-हीन) हो गया था सो मानो वह यही कह रहा था कि ये भोग अन्त समयमें नीरस होते हैं ॥३१६॥ इस सूर्यने पहलेके समान ही अपनी संध्यारूपी स्त्रीका आलिंगन किया है इस ईर्ष्यासे ही मानो पूर्व दिशाने सूर्यको प्रेमपूर्ण अथवा लाल वर्ण होनेपर भी अपने पास क्षणभर भी नहीं ठहरने दिया था ॥३१७॥ व्रत-नियम पालन करनेवाले सेनापतियोंने वीरशय्यापर शयन कर रात्रि व्यतीत की । सबेरे स्नानकर सब दीन, अनाथ तथा याचकोंको संतुष्ट किया, त्रिजगद्वन्द्व जिनेन्द्र देवकी विधिपूर्वक पूजाकर स्तुति की और फिर वे अपनी अपनी सेनाका विभागकर युद्धके लिये उत्सुक हो खड़े हो गये ॥३१८-३१९॥ बन्दीजन और मागध लोगोंका समूह जिसके नामके अश्वरोंकी स्तुति करते हैं, जो विजयलक्ष्मीके लिये उत्सुक हो रहा है, जिसका आकार यमराजके समान विकृत है, जो दिग्गजोंके भी मदको हरण करनेवाला है और भयंकर है ऐसा जयकुमार सफेद घोड़ोंसे जुते हुए अरिजय नामके रथपर सवार होकर और वज्रकाण्ड नामका वह धनुष जो कि पहले चक्रवर्तीने दिया था, लेकर हाथीकी ध्वजाको उड़ाता तथा धनुषकी डोरीका आस्फालन करता हुआ खड़ा हो गया ॥३२०-३२२॥ जिसकी अपकीर्तिका उदय

१ युगपत् । २ सरोवराणाम् । ३ बृद्धौ बृद्धिः क्षये क्षयश्च । ४ अरुणः अनुरक्तश्च । ५ विरक्तोऽभूत् । ६ अवसाने निस्सारणि इति वदन्ति वेति सम्बन्धः । ७ आलिलिङ्ग । ८ अनुरक्तम् । ९ निवसनाय । १० पूर्वादिक् । ११ न सहते स्म । १२ शयनं कृत्वा । १३ नियमवन्तः । १४ तिष्ठन्ति स्म । १५ रथवज्रकाण्डचापद्वयम् । पुरा ल० । १६ स्तूयमान । १७ गजाङ्कितध्वजम् । १८ भयङ्करः । १९ उदयप्राप्तापकीर्तिः । २० बन्धनालयम् ।

अष्टचन्द्रान् सखी कुर्वन् नष्टचन्द्रोपमान् युधः^१ । स्वोत्पातकेतु^२सङ्काशचक्रकेतूपलक्षितः ॥३२४॥
 'प्रत्यायातमहावातविहृतस्वजवैः शरैः । विध्यन्मध्यंदिनार्कं वा सुमनःक्षतहेतुभिः ॥३२५॥
 जयं शत्रुदुरालोकं ज्वलत्तेजोमयं स्मयात्^३ । कलभो वाऽगमद् वारिं^४ प्रेरितः खलकर्मणा ॥३२६॥
 जयोऽपि शरसन्तानघनी^५ कृत्यघनाधनः । सहार्ककीर्तिभर्केण कुर्वन् विनिहृतप्रभम् ॥३२७॥
 'प्रतीयायान्तरे क्षिन्दन्^६ रिपुप्रहितसायकान् । शराश्चास्य पुरो धावन्^७ ब्रध्नस्येवोदयैऽशवः ॥३२८॥
 अर्च्यंती^८ च्छत्रमस्त्राणि यजयन्ती^९ च दुर्जयः । जयोऽर्ककीर्तौरौद्धत्यं विहृत्य विनिनीषया^{१०} ॥३२९॥
 अष्टचन्द्रास्तवाभ्येत्य^{११} विद्याबलविजृम्भणात् । न्यबोधयन् जयस्येष्टन् ग्रम्भोदा वा रवेः करान् ॥३३०॥
 भुजबल्यादयोऽ^{१२}भ्येषुयौद्धं हेमाङ्गदं क्रुधा । सानुजं सिंहसङ्घातं सिंहसङ्घ इवापरः ॥३३१॥
 'सानुजोऽनन्तसेनोऽपि प्राप मेघस्वरानुजान् । 'प्राङ्गशरयो यथा यूथः कलिङ्गज^{१३}मतङ्गजान् ॥३३२॥
 ग्रन्थेऽप्यन्यांश्च भूपाला भूपालान्कोपिनस्तदा । आनिपेतुः^{१४} कुलाद्रीन्वा सञ्चरन्तः^{१५} कुलाचलाः ॥३३३॥
 नास्त्येषामीदृशी शक्तिविद्येयमिति विद्याया । जयो युद्धाय सन्नद्धस्तदा^{१६} मित्रभुजङ्गमः ॥३३४॥

हो रहा है, कान्ति नष्ट हो गई है, युद्धके नष्ट चन्द्रोंके समान अष्टचन्द्र विद्याधरोंको जिसने अपना मित्र बनाया है जो अपना अनिष्ट सूचित करनेवाले धूमकेतुके समान चक्रके चिह्नवाली ध्वजासे सहित है, और उल्टी चलनेवाली तेज वायुसे जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे देवताओं का घात करनेवाले बाणोंसे जो दोपहरके सूर्यपर प्रहार करता हुआ सा जान पड़ता है, ऐसा अर्ककीर्ति धीरे चलनेवाले घोड़ोंसे जुते हुए जेलखानेके समान अपने रथपर बैठकर, शत्रु जिसे देख भी नहीं सकते और जो जलते हुए तेजके समान है ऐसे जयकुमारपर बड़े अभिमानसे इस प्रकार आया जिस प्रकार कि हाथी पकड़नेवालोंके क्रूर व्यापारसे प्रेरित होता हुआ हाथीका बच्चा अपने बंधनेके स्थानपर आता है ॥३२३-३२६॥ बाणोंके समूहसे मेघोंको सघन करने वाला जयकुमार भी सूर्यके साथ साथ अर्ककीर्तिको प्रभारहित करता तथा शत्रुके द्वारा छोड़े हुए बाणोंको छेदन करता हुआ सामने आया और जिस प्रकार उदयकालमें सूर्यकी किरणें उसके सामने जाती हैं उसी प्रकार उसके द्वारा छोड़े हुए बाण ठीक उसके सामने जाने लगे ॥३२७-३२८॥ बड़ी कठिनाईसे जीते जाने योग्य जयकुमारने अर्ककीर्तिको हटानेकी इच्छासे उसका उद्धतपना नष्ट कर, उसका छत्र शस्त्र तथा ध्वजा सब छेद डाली ॥३२९॥ जिस प्रकार मेघ सूर्यकी किरणोंको रोक लेते हैं उसी प्रकार उस समय अष्टचन्द्रोंने आकर अपनी विद्या और बलके विस्तारसे जयकुमारके बाण रोक लिये थे ॥३३०॥ जिस प्रकार एक सिंहोंका समूह दूसरे सिंहोंके समूहपर आ पड़ता है उसी प्रकार भुजबली आदि भी बड़े क्रोधसे छोटे भाइयों के साथ खड़े हुए हेमाङ्गदसे लड़नेके लिये उसके सन्मुख आये ॥३३१॥ जिस प्रकार अंग देशमें उत्पन्न हुए हाथियोंका समूह कलिंग देशमें उत्पन्न हुए हाथियोंपर पड़ता है उसी प्रकार अनन्तसेन भी अपने छोटे भाइयोंसहित जयकुमारके छोटे भाइयोंके सामने जा पहुँचा ॥३३२॥ उस समय और भी राजा लोग क्रोधित होते हुए अन्य राजाओंपर इस प्रकार जा टूटे मानो कुलाचल कुलाचलोंपर टूट पड़ रहे हों ॥३३३॥ इन मेरे पक्षवालोंकी न तो ऐसी शक्ति है

१ युद्धस्य । २ निजविनाशहेतुकजयसमान । ३ प्रतिकूलमायात । ४ मध्याह्नमिव । मध्याह्न-
 रविमण्डलाभिमुखं मुक्ता शरा यथा स्वशरीरे पतन्ति तद्वदित्यर्थः । ५ गर्वात् । ६ गजपतनहेतुगर्तम् ।
 ७ निविडीकृत । ८ अभिमुखं जगाम । ९ शत्रुविसर्जित । १० रवेः । ११ चिच्छेद । १२ ध्वजाम् ।
 १३ निर्दोषकरणेच्छया । नेतुमिच्छया वा । १४ सम्मुखमागत्य । १५ अभिमुखमागत्य । १६ निजानुज-
 सहितः । १७ अङ्गरदेशे भवः । आङ्गकेयो ल० । १८ कलिङ्गदेशे भवः । १९ प्राङ्गनुवन्ति स्म ।
 अभिपेतुः ल०, इ०, स०, प० । २० सञ्चरन्तः कुलाद्रयः ल० । २१ पूर्व मुनेर्धर्मश्रवणंजातनागराजः ।

त्रिविधा विष्टराकम्पाज्जयं सम्प्राप्य सादरः । नागपाशं शरं चार्द्धचन्द्रं दत्त्वा ययावसौ ॥३३५॥
 तं सहस्रसहस्रांशुस्फुरदंशुप्रभास्वरम् । कौरवः^१ शरमादाय वज्रकाण्डे^२ प्रयोजयन्^३ ॥३३६॥
 हत एव सुतो भर्तुर्भुवोऽनेनेति सम्भ्रमम्^४ । नरविद्याधराधीशा महान्तमुदपादयन्^५ ॥३३७॥
 रथान्नव तथा दुष्टानष्टचन्द्रान् ससारथीन् । स^६ शरो भस्मयामास शस्त्राणि च यथाऽशनिः ॥३३८॥
 छिन्नदन्तकरो दन्तीवान्तको वा हतायुधः । भग्नमानः कुमारोऽस्याद् धिक्कण्टं चेष्टितं विधेः ॥३३९॥
 इति दत्तग्रहं^७ वीरं गजं वा पादपाशकैः^८ । अपायु^९ धैर्यपायनैर्विधिसस्तम^{१०} जीयहन्^{११} ॥३४०॥
 तच्छौर्यं यत्पराभूतैः प्राक् प्राप्तपरिभूतिभिः । यत्पश्चात्साहसं धाष्टर्चात्^{१२} स द्वितीयः पराभवः ॥३४१॥
 सोऽन्वयः स पिता तादृक् पदं सा सैन्यसंहतिः । तस्याप्यासीद्वस्थेयमुन्मार्गः कं न पीडयेत् ॥३४२॥
 वीरपट्वेन बद्धोऽयं चक्रिणानेन तत्सुतः । व्रणपटुपदं नीतः पश्य कार्यविषयं यम् ॥३४३॥
 पतत्पतद्गगनसङ्काशमर्ककीर्तिमनायुधम् । स्वरथे स्थापयित्वा च^{१३} ग्राह्यानेकपं स्वयम् ॥३४४॥
 विपक्षखगभूपालान् नागपाशेन पाशिवत्^{१४} । निष्पन्दं निजितारातिर्वमसीत्^{१५} सिंहविक्रमान् ॥३४५॥

और न यह विद्या ही है ऐसा समझकर जयकुमार स्वयं युद्धके लिये तैयार हुआ, उसी समय उसका मित्र सर्पका जीव जो कि देव हुआ था आसन कम्पित होनेसे सब समाचार जानकर बड़े आदरके साथ जयकुमारके पास आया और नागपाश तथा अर्द्धचन्द्र नामका बाण देकर चला गया ॥३३४-३३५॥ जो हजार सूर्यकी चमकती हुई किरणोंके समान देदीप्यमान हो रहा था ऐसा वह बाण लेकर जयकुमारने अपने वज्रकाण्ड नामके धनुषपर चढ़ाया ॥३३६॥ इस बाणसे चक्रवर्तीका पुत्र अवश्य ही मारा जायगा यह जानकर भूमिगोचरी और विद्याधरोंके अधिपति राजाओंने बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न किया ॥३३७॥ उस बाणने नौ रथ, सारथि सहित आठो अष्टचन्द्र और सब बाण वज्रकी तरह भस्म कर दिये ॥३३८॥ जिसका मान भंग हो गया है ऐसा अर्ककीर्ति, जिसके दांत और सूँड़ कट गई है ऐसे हाथीके समान अथवा जिसका शस्त्र नष्ट हो गया है ऐसे यमराजकी तरह चेष्टा रहित खड़ा था इसलिये कहना पड़ता है कि दैवकी इस दुःख देनेवाली चेष्टाको धिक्कार हो ॥३३९॥ जिस प्रकार शस्त्ररहित किन्तु उपायको जाननेवाले पुरुष पैरोंकी फाँससे दांतोंको दबोचकर वीर हाथीको पकड़ लेते हैं उसी प्रकार जयकुमारने अर्ककीर्तिको पकड़ लिया ॥३४०॥ तिरस्कार होनेके पहले पहले जो लड़ना है वह शूरवीरता है और तिरस्कार प्राप्तकर धृष्टतावश जो पीछेसे लड़ना है वह दूसरा तिरस्कार है ॥३४१॥ यद्यपि उस अर्ककीर्तिका लोकोत्तर वंश था, चक्रवर्ती पिता थे, युवराज पद था और भारी सेनाका समूह उसके पास था तो भी उसकी यह दशा हुई इससे कहना पड़ता है कि दुराचार किसे पीड़ित नहीं करता है ? ॥३४२॥ चक्रवर्तीने जयकुमारको वीरपटु बाँधा था परन्तु इसने उनके पुत्रको घावोंकी पट्टियोंका स्थान बना दिया, जरा कार्यकी इस उलट-पुलटको तो देखो ॥३४३॥ सब शत्रुओंको जीतनेवाले जयकुमारने अग्निपर पड़ते हुए पतंगके समान तथा हथियाररहित अर्ककीर्तिको अपने रथमें डालकर और स्वयं एक ऊँचे हाथीपर आरुढ़ होकर सिंहके समान पराक्रमी सन्तुभूत विद्याधर राजाओंको

१ अर्द्धचन्द्रशरम् । २ सहस्ररवि । ३ जयकुमारः । ४ वज्रकाण्डकोदण्डे । ५ प्रवर्तयन् । ६ चक्रिणः । ७ जयेत् । ८ सम्भ्रान्तिम् । ९ उत्पादितवान् । १० अर्द्धचन्द्रबाणः । ११ कृतग्रहणम् । दन्तग्रहं ल० । १२ गजवन्धनकुशलैः । १३ अपगतशस्त्रैः । १४ अर्ककीर्तिम् । १५ ग्राह्यति स्म । १६ धृष्टत्वात् । १७ पतत्सूर्यसदृशम् । १८ पाशपाणिवत् भवन्तीत्यर्थः । 'प्रचेताः वरुणः पाशी यादसौ पतिरप्पति।' इत्यभिधानात् । १९ नियमितवान् ।

इति सौलोचने युद्धे समिद्धे शमिते तदा । पपात पञ्चभूजेभ्यो वृष्टिः सुमनसा दिवः ॥३४६॥
जयश्रीदुर्जयस्वामितनूजविजयाजिता । नोत्सेकायेति नास्येनं त्रयैव प्रत्युताश्रयत् ॥३४७॥
'जयेनास्थान' सङ्ग्रामजयायतेति लज्जया । दूरीकृतेव तत्कीर्तिदिगन्तमगमत्तदा ॥३४८॥
अकम्पनमहीशस्य यूथेशं वा वनद्विपैः । भूपैः सैयमितेः सार्धम् अर्ककीर्तिं समर्प्य सः ॥३४९॥
विजयाद्धमहागन्धसिन्धुरस्कन्धसम्भृतः । निर्भस्तितोदयः क्षमाभून्मूर्धनस्थव्रज्ज ॥३५०॥
रणभूमिं समालोक्य समन्ताद्बहुविस्मयः । मृतानां प्रेतसंस्कारं जीवतां जीविकाक्रियाम् ॥३५१॥
कारयित्वा पुरीं सर्वसम्मदाविष्कृतोदयाम् । प्राविशत् प्रकटैश्वर्यः सह मेघप्रभादिभिः ॥३५२॥
अकम्पनोऽप्यनुप्राप्य वृत्तैरन्तः समाकुलः । राजकण्ठीरवैर्वाना राजपुत्रशतैः पुरम् ॥३५३॥
सरशान् धृतभूपालान् कुमारं च नियोगिभिः । आश्वत्थाश्वबासकुशलैर्यथा स्थानमवापयत् ॥३५४॥
विचिन्त्य विश्वविघ्नानां विनाशोऽहं प्रसादतः । इति वन्दितुमाजगमुः सर्वे नित्यमनोहरम् ॥३५५॥
दूरादेवावरुह्यात्मवाहेभ्यः शान्तचेतसः । परीत्यार्थाभिरागत्य तुष्टुवुः स्तुतिभिर्जितान् ॥३५६॥

वरुणके समान नागपाशसे इस प्रकार बांधा जिससे वे हिल-डुल न सकें ॥३४४-३४५॥ इस प्रकार जब सुलोचना सम्बन्धी प्रचण्ड युद्ध शान्त हो गया तब स्वर्गके पांच प्रकारके कल्पवृक्षों से फूलोंकी वर्षा हुई ॥३४६॥ अपने दुर्जय स्वामी (भरत) के पुत्र अर्ककीर्तिके जीतनेसे उत्पन्न हुई विजयलक्ष्मी जयकुमारके अहंकारके लिये नहीं हुई थी बल्कि इसके विपरीत लज्जाने ही उसे आ घेरा था ॥३४७॥ 'यह अयोग्य समयमें किये हुए संग्रामके जीतनेसे आई है' इस लज्जा के कारण जयकुमारके द्वारा दूर की हुईके समान उसकी वह कीर्ति उसी समय दिशाओंके अन्त तक चली गई थी ॥३४८॥ जिस प्रकार समर्थ पुरुष जंगली हाथियोंके समान भुण्डके मालिक बड़े हाथीको पकड़कर राजाके लिये सौंपते हैं उसी प्रकार जयकुमारने बंधे हुए अनेक राजाओं के साथ अर्ककीर्तिको महाराज अकंपनके लिये सौंप दिया, तदनन्तर उदयाचलके शिखरपर स्थित सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करता हुआ विजयार्ध नामके बड़े भारी मदोन्मत्त हाथीके स्कंधपर सवार होकर युद्धका मैदान देखनेके लिये निकला, चारों ओरसे युद्धका मैदान देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ, उसने मरे हुए लोगोंका दाह संस्कार कराया और जीवित पुरुषोंके अच्छे होनेका उपाय कराया, इस प्रकार जिसका ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसे जयकुमारने मेघप्रभ आदिके साथ साथ सबको आनन्द मिलनेसे जिसकी शोभा खूब प्रकट की गई है ऐसी काशीनगरी में प्रवेश किया ॥३४९-३५२॥ महाराज अकंपनने भी सैकड़ों राजपुत्रों तथा सिंहके समान तेजस्वी राजाओंके साथ साथ नगरमें पहुंचकर रक्षा करनेवाले जिनके साथ हैं ऐसे बंधे हुए अनेक राजाओं तथा अर्ककीर्तिको समझानेमें कुशल नियुक्त किये हुए पुरुषों द्वारा समझा-बुझाकर उन्हें उनके योग्य स्थानपर पहुंचाया ॥३५३-३५४॥ अरहन्तदेवके प्रसादसे ही सब विघ्नोंका नाश होता है ऐसा विचारकर सब लोग वन्दना करनेके लिये नित्यमनोहर नामके वैद्यालयमें आये ॥३५५॥ उन सभीने दूरसे ही अपनी अपनी सवारियोंसे उतरकर शान्तचित्त हो मन्दिर में प्रवेश किया और प्रदक्षिणाएँ देकर अर्धसे भरी हुई स्तुतियोंसे जिनन्द्रदेवकी स्तुति की ॥३५६॥

१ सुलोचनासम्बन्धिनि । २ उपशान्ते । ३ 'मन्दारः पारिजातकः सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इति पञ्चसुरभूजेभ्यः । ४ स्वर्गात् । ५ गर्वाय । ६ तस्यैनम् ल० । एनम् जयकुमारम् । ७ पुनः किमिति चेत् । ८ जयकुमारेण । ९ अनुचितस्थानकृतयुद्धविजयात् समुपागता । १० गज-यूथाधिपम् । ११ बद्धेः । १२ बदर । १३ रवि । १४ शव । १५ जीवन्तीति जीवन्तस्तेषाम् । १६ जीवतो-पायमित्यर्थः । १७ अभिलक्षितैः । १८ इव । १९ सह । २० सहस्रैः । २१ नित्यमनोहराख्यं चैत्यालयम् । २२ निजबाहनेभ्यः । २३ स्तुतिं चक्रुः ।

जयोऽपि जगदीशानमित्याप्त^१विजयोदयः । अस्तावीदस्तकर्माणं भक्तिनिर्भरचेतसा ॥३५७॥

शमिताखिलविघ्नसंस्तवस्त्वयि तुच्छोऽप्युपपात्यतुच्छताम् ।

शुचिशुक्तिपुटेऽम्बुसन्धुतं ननु मुक्ताफलतां प्रपद्यते ॥३५८॥

घटयन्ति न विघ्नकोटयो

निकटे त्वत्कर्मयोनिवासिनाम् ।

पटवोऽपि फलं ददाग्निभि-

र्भयमस्त्य^२म्बुधिमध्यवतिनाम् ॥३५९॥

हृदये त्वयि सन्निधापिते^३

रिपवः केऽपि भयं^४ विधिस्तवः^५ ।

अमृताशिषु^६ सत्सु सन्ततं

विषमोदापितविप्लवः कुतः ॥३६०॥

उपयान्ति समस्तसम्पदो

विपदो विच्युतिमान्नुवन्त्यलम् ।

वृषभं^७ वृषभार्गदेशिनं

भक्षकेतुद्विषमान्पुषां^८ सताम् ॥३६१॥

इत्थं भवन्तमतिभक्तिपर्यं निनीषोः^९

प्रागेव बन्धकलयः^{१०} प्रलयं व्रजन्ति ।

पश्चादनश्वरमयाचितमप्यवश्यं

सम्पत्स्यतेऽस्य^{११} विलसद्गुणभद्रभद्रम्^{१२} ॥३६२॥

जिसे विजयका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ऐसा जयकुमार भी भक्तिसे भरे हुए हृदयसे समस्त कर्मों को नष्ट करनेवाले जगत्पति—जिनेन्द्रदेवकी इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥३५७॥ हे समस्त विघ्नोंको नष्ट करनेवाले जिनेन्द्रदेव, आपके विषयमें किया हुआ स्तवन थोड़ा होकर भी बड़े महत्त्वको प्राप्त हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि पवित्र सीपके संपुटमें पड़ी हुई पानी की एक बूंद भी मोतीपनेको प्राप्त हो जाती है—मोतीका रूप धारण कर लेती है ॥३५८॥ हे देव, फल देनेमें चतुर करोड़ों विघ्न भी आपके चरणोंके समीप निवास करनेवाले पुरुषों को कुछ फल नहीं दे सकते सो ठीक ही है क्योंकि क्या समुद्रके बीचमें रहनेवाले लोगोंको दावानलसे कभी भय होता है ? ॥३५९॥ हे प्रभो, आपको हृदयमें धारण करनेपर फिर ऐसे कौन शत्रु रह जाते हैं जो भय देनेकी इच्छा कर सकें, निरन्तर अमृतभक्षण करनेवाले पुरुषोंमें किसी विषसे उत्पन्न हुआ उपद्रव कैसे हो सकता है ? ॥३६०॥ धर्मके मार्गका उपदेश देनेवाले और कामदेवके शत्रु श्रीवृषभदेवकी शरण लेनेवाले सज्जन पुरुषोंको सब सम्पदाएँ अपने आप मिल जाती हैं और उनकी सब आपत्तियाँ अच्छी तरह नष्ट हो जाती हैं ॥३६१॥ हे शोभायमान गुणोंसे कल्याण करनेवाले जिनेन्द्र, इस प्रकार जो आपको अतिशय भक्तिके मार्गमें ले जाना चाहता है उसके कर्मबन्धके सब दोष पहले हीसे प्रलयको प्राप्त हो जाते हैं और फिर पीछेसे कभी नष्ट नहीं होनेवाला मोक्षरूपी कल्याण बिना मांगे ही अवश्य प्राप्त हो

१ प्राप्त । २ स्तौति स्म । ३ अस्ति किम् । ४ सन्निधानीकृते । ५ परिभवम् । ६ विधातु-
मिच्छवः । ७ भंमृतमश्नन्तीति अमृताशिनस्तेषु । ८ धर्ममार्गोपदेशकम् । ९ प्राप्नुवताम् । १० नेतुमिच्छोः ।
११ बन्धदोषाः । १२ सम्पन्नं भविष्यति । १३ कल्याणम् ।

परिणतपरितापात्स्वेदधारी विलक्षो^१

^२विगलितविभुभावो विह्वलीभूतचेताः ।

^३अधित विधिविधानं^४ चिन्तयैश्चक्रिसूनु-

विरहविधुरवृत्ति^५ वीरलक्ष्मीवियोगे ॥३६३॥

येषामयं^६ जितसुरः समरे सहाय-

स्तानप्यहं कृतरतिः समुपासयामि ।

^७धुर्योऽयमेव यदि काऽत्र विलम्बनेति

मत्वेव मङ्गलं^८ समियाय जयं^९ जयश्रीः ॥३६४॥

स^{१०} ^{११}बहुतरमरा^{१२}जन्प्रोच्छ्रितान्^{१३} शत्रुपांसून्^{१४}

^{१५}दुतमिति शमयित्वा वृष्टिभिः सायकानाम् ।

उपगतहरिभूमिः^{१६} प्राप्य भूरिप्रतापं^{१७}

दिनकर इव कन्या^{१८} सम्प्रयोगाभिलाषी ॥३६५॥

सौभाग्येन यदा स्ववक्षसि धृता माला तदेवापरं

वीरो^{१९} वीधमवायंवीर्यविभवो विभ्रश्य^{२०} विश्वद्विषः ।

वीरश्रीविहितं^{२१} दशौ स शिरसाऽम्लानं यशः श्रेष्ठरं

लक्ष्मीवान् विदधाति साहससंलः^{२२} किंवा न पुण्योदये^{२३} ॥३६६॥

जाता है ॥३६२॥ प्राप्त हुए संतापसे जिसे पसीना आ रहा है, जो लज्जित हो रहा है, 'मे सबका स्वामी हूँ' ऐसा अभिप्राय जिसका नष्ट हो गया है, जिसका चित्त विह्वल हो रहा है, और जो भाग्यकी गतिका विचार कर रहा है ऐसे अर्ककीर्तिने वीरलक्ष्मीका वियोग होनेपर उसके विरहसे विधुर वृत्ति धारण की थी ॥३६३॥ देवोंको जीतनेवाला यह जयकुमार युद्धमें जिनकी सहायता करता है मैं उनकी भी बड़े प्रेमसे उपासना करती हूँ, फिर यदि यह ही सबमें मुख्य हो तो इसमें विलम्ब क्यों करना चाहिये ऐसा मानकर ही मानो विजयलक्ष्मी जयकुमार के पास बहुत शीघ्र आ गई थी ॥३६४॥ इस प्रकार वाणोंकी वर्षासे ऊपर उठी हुई शत्रुरूपी धूलिको शीघ्र ही नष्ट कर पराक्रमके द्वारा सिंहका स्थान प्राप्त करनेवाला और अब कन्याके संयोगका अभिलाषी जयकुमार उस सूर्यकी तरह बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था जोकि सिंह राशिपर रहकर कन्या राशिपर आना चाहता है ॥३६५॥ जिसकी पराक्रमरूपी सम्पत्ति का कभी कोई निवारण नहीं कर सकता ऐसे शूरवीर जयकुमारने जिस समय सौभाग्यके वश से अपने वक्षःस्थलपर माला धारण की थी उसी समय सब शत्रुओंको नष्ट कर वीरलक्ष्मीका बना हुआ तथा कभी नहीं मुरझानेवाला यशरूपी दूसरा सेहरा भी उसने अपने मस्तकपर धारण किया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो लक्ष्मीमान् है, साहसका मित्र है और जिसके पुण्यका

१ विस्मयान्वितः । २ विभुत्वरहितः । ३ धरति स्म । ४ कर्मभेदम् । ५ विरहविकलवस्य वर्तनम् । ६ जयकुमारः । ७ धुरन्धरः । ८ कालक्षेपः । ९ शीघ्रम् । १० जयकुमारम् । ११ जयः । १२ अत्यधिकम् । १३ विराजति स्म । १४ उन्नतान् । १५ रेणून् । १६ शीघ्रम् । १७ प्राप्तशक्रपदः । प्राप्त-सिहराशिस्थानश्च । १८ संतापम्, प्रभावम् । १९ सुलोचनासज्जाभिलाषी । कन्याराशितसम्प्रयोगाभिलाषी च । २० शुभ्रम् । २१ पातयित्वा । २२ कृतम् । २३ साहस एव सखा । २४ पुण्योदये ल०, अ०, प०, स०, इ० ।

‘जयोऽ’धात्सोऽयइच्च^१ प्रभवति गुणेभ्यो गुणगणः
 सदाचारात्सोऽपि तव विहितवृत्तिः श्रुतमपि ।
 प्रणीतं सर्वज्ञैर्विदितसकलास्ते खलु जिना-
 स्ततस्तान् विद्वान् संश्रयतु जयमिच्छन् जय इव ॥३६७॥

इत्याप त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसङ्ग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते
 जयविजयवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

उदय है वह क्या नहीं कर सकता है ? ॥३६६॥ इस संसारमें विजय पुण्यसे होती है, वह पुण्य गुणोंसे होता है, गुणोंका समूह सदाचारसे होता है, उस सदाचारका निरूपण शास्त्रोंमें है, शास्त्र सर्वज्ञ देवके कहे हुए हैं और सर्वज्ञ सब पदार्थोंको जाननेवाले जिनेन्द्रदेव हैं इसलिये विजयकी इच्छा करनेवाले विद्वान् पुरुष जयकुमारके समान उन्हीं जिनेन्द्रदेवोंका आश्रय करें—उन्हींकी सेवा करें ॥३६७॥

इस प्रकार गुणभद्राचार्यविरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें जयकुमारकी विजयका वर्णन करनेवाला चवालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

पञ्चचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ मेघस्वरो गत्वा 'प्रथमानपराक्रमः । मथितारातिदुर्गवः पृथुं स्वावासमास्थितः' ॥१॥
 स्वयं च सञ्चितपापानि हन्तुं स्तुत्वा जिनेशिनः । अकम्पनमहाराजः समालोक्य सुलोचनाम् ॥२॥
 कृताहारपरित्यागनियोगामायुधस्तदा' । 'सुप्रभाकृतपर्युष्टि कार्योत्सर्गेण सुस्थिताम् ॥३॥
 सर्वशान्तिकरीं ध्याति' ध्यायन्तीं स्थिरचेतसा । धर्मात्मैकाग्रनिष्पन्वा' जिनेन्द्राभिमुखीं मुदा ॥४॥
 समभ्यर्च्य समाश्वास्य प्रशस्य बहुशो गुणान् । भवन्माहात्म्यतः पुत्रि शान्तं सर्वममङ्गलम् ॥५॥
 प्रतिध्वस्तानि पापानि 'नियाममुपसंहर' । इत्युत्क्षिप्तकरामुक्त्वा पुरस्कृत्य सुतां सुतैः ॥६॥
 ह्रष्टः सुप्रभया चामा राजगेहं प्रविश्य सः । 'यहि पुत्रि निजागारं विसर्ज्येति सुलोचनाम् ॥७॥
 अन्यथा चिन्तितं कार्यं दैवेन कृतमन्यथा । इति कर्तव्यतामूढः 'सुश्रुतादिभिरिद्विधीः ॥८॥
 औत्पत्तिक्यादि' धीभेदैर्वास्तोभ्य सचिबोत्तमैः । विद्याधरधराधीशान् विपाशीकृत्य' कृत्यचित् ॥९॥
 विश्वानाश्वास्य तद्योग्यैः 'सामसारैरुदीरितैः' । सम्यग्विहितसत्कारः स्नातृवस्त्रासनादिभिः ॥१०॥
 'कुमार वंशौ' धूम्राभिर्बिहितौ' बधितौ च नः' । तर्ह्यवमयोऽप्येति 'यतोऽभून्न' ततः क्षयम् ॥११॥

अथानन्तर—प्रसिद्ध पराक्रमका धारक और शत्रुओंके मिथ्या अभिमानको नष्ट करने-
 वाला जयकुमार अपने विशाल निवासस्थानमें जाकर ठहर गया ॥१॥ इधर महाराज अकंपन
 ने स्वयं संचित किये हुए पाप नष्ट करनेके लिये श्री जिनेन्द्रदेवकी स्तुति की और फिर जिसने
 युद्ध समाप्त होनेतक आहारके त्याग करनेका नियम ले रक्खा है, माता सुप्रभा जिसके समीप
 बैठी हुई है, जो कायोत्सर्गसे खड़ी हुई है, स्थिरचित्तसे सब प्रकारकी शान्ति करनेवाला धर्म-
 ध्यान कर रही है, एकाग्र मनसे निश्चल है और आनन्दसे जिनेन्द्रदेवके सन्मुख खड़ी है ऐसी
 सुलोचनाको देखकर उसका सत्कार किया, आश्वासन देकर उसके गुणोंकी अनेक बार प्रशंसा
 की तथा इस प्रकार शब्द कहे-हे 'पुत्रि, तुम्हारे माहात्म्यसे सब अमंगल शान्त हो गये हैं, सब
 प्रकारके पाप नष्ट हो गये हैं, अब तू अपने नियमोंका संकोच कर ।' ऐसा कहकर उन्होंने हाथ
 जोड़कर खड़ी हुई सुलोचनाको आगे किया और राजपुत्रों तथा रानी सुप्रभाके साथ साथ राज-
 भवनमें प्रवेश किया । फिर 'हे पुत्रि ! तू अपने महलमें जा' ऐसा कहकर सुलोचनाको बिदा
 किया ॥२-७॥ पुनः यह कार्य अन्य प्रकार सोचा गया था और दैवने अन्य प्रकार कर दिया
 अब क्या करना चाहिये इस विषयमें मूढताको प्राप्त हुए अतिशय बुद्धिमान् महाराज अकंपनने
 औत्पत्तिकी आदि ज्ञानके भेदोंके समान सुश्रुत आदि उत्तम मंत्रियोंके साथ विचारकर विद्याधर
 राजाओंको छोड़ दिया । फिर कार्यको जाननेवाले उन्हीं अकंपनने बड़ी शान्तिसे उनके योग्य
 कहे हुए वचनोंसे उन सबको आश्वासन देकर स्नान, वस्त्र, आसन आदिसे सबका अच्छी तरह
 सत्कार किया ॥८-१०॥ तथा अर्ककीर्तिसे कहा कि 'हे कुमार ! हमारे नाथवंश और सोम-

१ प्रकाशमान । २ स्वावासगृहे स्थितः । ३ युद्धावसानपर्यन्तम् । ४ निजजननीविहितरक्षाजिन-
 पूजादिपरिचर्याम् । ५ ध्यानम् । ६ एकाग्रत्वेन निश्चलाम् । ७ नियमम् । ८ त्यज । ९ गच्छ ।
 १० सुश्रुतप्रभृतिमन्त्रिभिः । ११ जन्मव्रतनियमौषधतपोभिस्संपन्नज्ञानभेदैः । १२ नागपाशबन्धनं गोत्रधित्वा ।
 १३ साम्नां सारैः । १४ वचनैः । १५ हे अर्ककीर्ति । १६ नाथवंशसोमवंशौ । १७ कृती । १८ जयस्य
 अस्माकं च । १९ यस्मात् पुरुषात् । २० सञ्जातम् ।

पुत्रबन्धुपदातीनाम् अपराधशतान्यपि । क्षमन्ते हि महात्मानस्तद्धि तेषां विभूषणम् ॥१२॥
 भवेद्देवादपि स्वामिन्यपराधविधाधिनाम् । आकल्पमयशः पापं चानुबन्धनिबन्धनम् ॥१३॥
 अपराधः कृतोऽस्माभिरेकोऽयमविवेकिभिः । वयं वो^१ बन्धुभृत्यास्तत्कुमार क्षमन्तुमर्हसि ॥१४॥
 एषा कीर्तिर्यं चैतत् प्रसादात् प्रशाम्यति । शापानुग्रहयोः शक्तस्त्वं विशुद्धिं विधेहि नः ॥१५॥
 अर्कणालोकनारोधि हन्यते जगतस्तमः । अस्माकं स भवानर्कस्तस्मादन्तस्तमो हरेन् ॥१६॥
 प्रातिकूल्यं तवास्मासु स्तन्यस्येव^२ स्तनन्धये^३ । अस्मज्जन्मान्तरा^४ वृष्टपरिपाकविशेषतः ॥१७॥
 विश्वविश्वम्भराङ्गादी यदि क्षिपति वारिदः । कदाऽप्यज्ञनिमेक^५ स्मिस्तत्तस्येवाशुभोदयः ॥१८॥
 हवेनेव दुरारोहाज्जयेनेहासि पातितः । 'स ते प्रेष्यः' किमश्रास्ति वैभनस्तस्य कारणम् ॥१९॥
 सुलोचनेति का वार्ता सर्वस्वं नस्तबैव तत् । निषिद्धश्चेत्त्वया पूर्वं क्रियते किं स्वयंवरः ॥२०॥
 लक्ष्मीवतीं गृहाणामां अक्षमालापरभिधाम् । निर्मलां वा यशोमालां किं ते^६ पाषाणमालया ॥२१॥

वंश दोनों ही आपके द्वारा बनाये गये हैं और आपके द्वारा ही बढ़ रहे हैं । विषका वृक्ष भी जिससे उत्पन्न होता है उससे फिर नाशको प्राप्त नहीं होता ॥११॥ महात्मा लोग पुत्र, बन्धु तथा पियादे लोगोंके सैकड़ों अपराध क्षमा कर देते हैं क्योंकि उनकी शोभा इसीमें है ॥१२॥ औरों-की बात जाने दीजिये जो देवके भी अधीन होकर स्वामीका अपराध करते हैं उनका अपयश कल्पान्त कालतक बना रहता है और उनका यह पाप भी अनेक दोषोंका बढ़ानेवाला होता है ॥१३॥ हम मूर्खोंने आपका यह एक अपराध किया है । चूँकि हम लोग आपके भाइयों और भृत्योंमेंसे हैं इसलिये हे कुमार, यह अपराध क्षमा कर देने योग्य है ॥१४॥ यह हमारी अपकीर्ति और पाप आपके प्रसादसे शान्त हो सकता है क्योंकि आप शाप देने तथा उपकार करने-दोनोंमें समर्थ हैं इसलिये हम लोगोंकी शुद्धता अवश्य कर दीजिये ॥१५॥ प्रकाशको रोकनेवाला संसारका अन्धकार सूर्यके द्वारा नष्ट किया जाता है परन्तु हमारे लिये तो आप ही सूर्य हैं इसलिये हमारे अन्तःकरणके अन्धकारको आप ही नष्ट कर सकते हैं ॥१६॥ पूर्वजन्मके पाप कर्मोंके विशेष उदयसे हम लोगोंके लिये जो आपका यह विरोध उपस्थित हुआ है वह मानो पुत्रके लिये माताके दूधका विरोध उपस्थित हुआ है । भावार्थ—जिस प्रकार माताके दूधके बिना पुत्र नहीं जीवित रह सकता है उसी प्रकार आपकी अनुकूलताके बिना हम लोग जीवित नहीं रह सकते हैं ॥१७॥ समस्त पृथिवीको आनन्दित करनेवाला बादल यदि कदाचित् किसी एकपर वज्र पटक देता है तो इसमें बादलका दोष नहीं है किन्तु जिसपर पड़ा है उसीके अशुभ कर्मका उदय होता है ॥१८॥ चढ़ना कठिन होनेसे जिस प्रकार घोड़ा किसीको गिरा देता है उसी प्रकार जयकुमारने आपको गिरा दिया है परन्तु वह तो आपका सेवक है इसमें बुरा मानने-का कारण ही क्या है ? ॥१९॥ सुलोचना, यह कितनी सी बात है ? हमारा जो सर्वस्व है वह आपका ही है । यदि आप पहले ही रोक देते तो स्वयंवर ही क्यों किया जाता ? ॥२०॥ जिसका दूसरा नाम अक्षमाला है ऐसी मेरी दूसरी पुत्री लक्ष्मीमतीको आप ग्रहण कीजिये । यह लक्ष्मीमती यशकी मालाके समान निर्मल है, पाषाण (रत्नों) की मालासे आपको क्या प्रयो-

१ अलब्धलाभः लब्धपरिरक्षणं रक्षितविचर्द्धनं चेत्यनुबन्धः ते एव निबन्धनं कारणं यस्य ।
 २ युष्माकम् । ३ तत् कारणात् । ते व० । ४ स्तनक्षीरस्य । ५ शिशोः । यथा स्तनक्षीरस्य प्रातिकूल्यं शिशोर्जीविनाय न स्यात् तथा तव प्रातिकूल्यमपि अस्माकम् । ६ अशुभकर्म । ७ एकस्मिन् पुंसि ।
 ८ जयः । ९ तव किङ्करः । १० स्वयंवरे क्षिप्तपाषाणमालया । सुलोचनयाक्षिप्तस्तनमालया ।

आहारस्य^१ यथा तेऽद्य विकारोऽयं बिना त्वया । जीविकास्ति किमस्माकं प्रसीदतु बिभो भवान् ॥२२॥
यद्वयं भिक्षमयदि त्वय्यवार्थेऽम्बुधाविब । तत्तेऽवशिष्टाः पुण्येन भवत्प्रेषणकारिणः ॥२३॥
त्वं ब्रह्मिणेव केनापि पापिना विश्वजीवितः^२ । उष्णीकृतोऽसि प्रत्यस्मान् शीतोभव हि वारि^३ वा^४ ॥२४॥
न^५ केविमान् सुतान् दारान् प्रतिग्राह्य पालय । मम तावाश्रयौ यामि पुरुषां पादपादयौ ॥२५॥
इति प्रसाद्य संतोष्य समारोप्य गजाधिपम् । अर्ककीर्तिं पुरोधाय^६ वृतं भूखरखेचरं ॥२६॥
शान्तिपूजां विधायान्ष्टौ दिनानि विविधद्विकाम् । महाभिषेकपर्यन्तं सर्वपापोपशान्तये ॥२७॥
जयमानोय सन्धाय^७ सन्धानविधिविस्तदा । नितरां प्रीतिमूल्याद्य कृत्वैकीभावनक्षरम् ॥२८॥
^{१०}अक्षमालां महाभूत्या दत्त्वा सर्वार्थसम्पदा । सम्पूज्य गमयित्वंनम्^{११} अनुगम्य^{१२} यथोचितम् ॥२९॥
तथेतरांश्च सम्मान्य नरविद्याधराधिपान् । सद्यो विसर्जयामास सद्रत्नगजवाजिभिः ॥३०॥
ते स्वदुर्नयलज्जास्तवैराः^{१३} स्वां^{१४} स्वमगुः^{१५} पुरम् । सा धीर्देवा^{१६}पराधस्य^{१७}प्रतिकर्त्री हि याश्चिरात् ॥३१॥

जन है ? ॥२१॥ आज यह आपका विकार आहारके विकारके समान है, क्या आपके बिना हम लोगोंकी जीविका रह सकती है ? इसलिये हे प्रभो, हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिये । भावार्थ— जिस प्रकार भोजनके बिना कोई जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार आपकी प्रसन्नताके बिना हम लोग जीवित नहीं रह सकते इसलिये हम लोगोंपर अवश्य ही प्रसन्न हूजिये ॥२२॥ हम लोग तो इधर उधर भोजने योग्य सेवक हैं और आप जिसका निवारण न हो सके ऐसे समुद्रके समान हैं । हे नाथ, आपके मर्यादा छोड़नेपर भी जो हम लोग जीवित बच सके हैं सो आपके पुण्यसे ही बच सके हैं ॥२३॥ आप पानीके समान सबको जीवित करनेवाले हैं जिस प्रकार अग्नि पानीको गर्म कर देती है उसी प्रकार किसीने हम लोगोंके प्रति आपको भी गर्म अर्थात् क्रोधित कर दिया है इसलिये अब आप पानीके समान ही शीतल हो जाइये ॥२४॥ यदि आप शान्त नहीं होना चाहते हैं तो इन पुत्रों और स्त्रियोंको स्वीकार कीजिये, इनकी रक्षा कीजिये, मैं हम आप दोनोंके आश्रय श्रीवृषभदेवके चरणरूपी वृक्षोंके समीप जाता हूँ ॥२५॥ इस प्रकार भूमिगोचरी और विद्याधरोंसे घिरे हुए अर्ककीर्तिको प्रसन्न कर, संतुष्ट कर और उत्तम हाथीपर सवार कराकर सबसे आगे किया तथा सब पापोंकी शान्तिके लिये आठ दिन तक बड़ी विभूतिके साथ महाभिषेक होने पर्यन्त शान्तिपूजा की । मेलमिलापकी विधिको जाननेवाले अकंपनने जयकुमारको भी वहां बुलाया और उसी समय संधि कराकर दोनोंमें अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करा दिया तथा कभी न नष्ट होनेवाली एकता करा दी । तदनन्तर अर्ककीर्तिको बड़े वैभव और सब प्रकारकी धनरूप सम्पदाओंके साथ साथ अक्षमाला नामकी कन्या दी, अच्छा आदर-सत्कार किया और उनकी योग्यताके अनुसार थोड़ी दूर तक साथ जाकर उन्हें बिदा किया । इसी प्रकार अच्छे अच्छे रत्न, हाथी और घोड़े देकर अन्य भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंका सम्मान कर उन्हें भी शीघ्र ही बिदा किया ॥२६-३०॥ अपने अन्यायके कारण उत्पन्न हुई लज्जासे जिनका वैर दूर हो गया है ऐसे वे सब लोग अपने अपने नगरको चले गये, सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धि वही है जो भाग्यवश हुए अपराधका शीघ्र ही प्रतिकार कर लेती

१ आहारो यथा बिनाशयति । २ विश्वेषां जीवनं यस्मात् सा विश्वजीवितः । विश्वजीवनः अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ जलम् । ४ इव । ५ एवं न चेत् । ६ प्रतिग्रहं कुरु । ७ अग्रे कृत्वा । ८ अन्योन्यसम्बन्धं कृत्वा । ९ अविनश्वरम् । १० अक्षमालाम् अ०, स०, इ०, ल० । ११ अर्ककीर्तिम् । १२ किञ्चिदन्तरं गत्वा । १३ निरस्त । १४ स्वां स्वामगुः पुरीम् द०, अ०, स० । १५ जगुः । १६ देवाज्जातापराधस्य । १७ प्रतिविधानं करिष्यति ।

तदा 'पूर्वोदितो देवः समागत्य सुसम्पदा । सुलोचनाविवाहोत्सवार्णं समपादयत् ॥३२॥
 मेघप्रभसुकेत्यावित्सहायान् सहानुजः^२ । जयोऽप्यगमयत् सर्वान् सन्तर्प्यार्थैर्बहुप्रियः^३ ॥३३॥
 'नाथवंशाप्रणीद्वामा 'जामात्राऽलोच्य सत्वरम् । सुधीः स्वगृहसाराणि^४ बध्वा रत्नान्युपायनम्^५ ॥३४॥
 विदितप्रस्तुतार्थोऽसि यथाऽसौ^६ नः प्रसीदति । तथा कुर्विति चक्रे^७ 'सुमुखाख्यमजीगमत्^८ ॥३५॥
 ग्राशु गत्वा निवेद्यासी^९ वृष्ट्वेशं धरणी^{१०} तनुम् । क्षित्वा प्रणम्य दत्त्वा च प्राभूतं निभू^{११} ताञ्जलिः
 देवस्थानुचरो देव प्रणम्याकम्पतो भयात् । देवं विज्ञापयत्येवं प्रसादं कुरु तच्छृणु ॥३७॥
 सुलोचनेति न^{१२} 'कन्यासारस्त्वद्विहितश्रिये^{१३} । स्वयंवरविधानेन सम्प्रादायि^{१४} जयाय सा ॥३८॥
 'तत्रागत्य कुमारोऽपि प्राक् सर्वमनु^{१५} मत्य तत्^{१६} । विद्याधरधराधीशः सुप्रसन्नैः सह स्थितः ॥३९॥
 पश्चात् कोऽपि ग्रहः क्रूरः स्थित्वा सह^{१७} शुभग्रहम् । खलो बलाघयाऽस्मभ्यं वृथा कोपयति स्म तम् ॥४०॥
 विज्ञातमेव देवेन सर्वं^{१८} तत्संविधानकम् । 'चारक्षुश्च वेत्येतत्किं पुनः^{१९} 'सावधिर्भवान् ॥४१॥
 'कुमारो हि कुमारोऽसौ नापराधोऽस्ति कश्चन । 'तत्र तस्य सदोषाः^{२०} स्मो^{२१} वयमेव प्रमादिनः ॥४२॥

हे ॥३१॥ उसी समय पहले कहे हुए देवने आकर बड़े वैभवके साथ सुलोचनाके विवाहका उत्सव सम्पन्न किया ॥३२॥ सबके प्यारे जयकुमारने भी अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ मेघप्रभ सुकेतु आदि अच्छे अच्छे सब सहायकोंको धन द्वारा संतुष्ट कर बिदा किया ॥३३॥

तदनन्तर नाथवंशके शिरोमणि अतिशय बुद्धिमान् अकंपनने अपने जमाई जयकुमारके साथ सलाह की और अपने घरके अच्छे अच्छे रत्न भेंटमें देनेके लिये बांधकर सुमुख नामक दूतको यह कहकर चक्रवर्तीके पास भेजा कि तू वर्तमानका सब समाचार जानता ही है, चक्रवर्ती जिस प्रकार हम लोगोंपर प्रसन्न हों वही काम कर ॥३४-३५॥ उस दूतने शीघ्र ही जाकर पहले अपने आने की खबर भेजी फिर चक्रवर्तीके दर्शन कर पृथिवीपर अपना शरीर डाल प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर साथमें लाई हुई भेंट देकर कहा कि हे देव, अकंपन नामका राजा आपका अनुचर है वह प्रणाम कर भयसे आपसे इस प्रकार प्रार्थना करता है सो प्रसन्नता कीजिये और उसे सुन लीजिये ॥३६-३७॥ उसने कहा है कि सुलोचना नामकी मेरी एक उत्तम कन्या थी वह मैंने स्वयंवर-विधिसे आपने ही जिसकी लक्ष्मी अथवा शोभा बढ़ाई है ऐसे जयकुमारके लिये दी थी ॥३८॥ कुमार अर्ककीतिने भी उस स्वयंवरमें पधारकर पहले सब बात स्वीकार कर ली थी और वे प्रसन्न हुए विद्याधर राजाओंके साथ साथ वहां विराजमान थे ॥३९॥ तदनन्तर जिस प्रकार कोई दुष्ट शुभ ग्रहके साथ ठहरकर उसे भी दुष्ट कर देता है उसी प्रकार किसी दुष्टने जबईस्ती हम लोगोंपर व्यर्थ ही उन्हें क्रोधित कर दिया ॥४०॥ इसके बाद वहां जो कुछ भी हुआ था वह सब समाचार आपको विदित ही है क्योंकि गुप्तचर रूप नेत्रोंको धारण करनेवाला साधारण राजा भी जब यह सब जान लेता है तब फिर भला आप तो अवधिज्ञानी हैं, आपका क्या कहना है ? ॥४१॥ कुमार तो अभी कुमार (लड़का) ही है इसमें उनका कुछ भी दोष नहीं है, प्रमाद करनेवाले केवल हम लोग ही उसमें सदोष हैं

१ स्वयंवरनिर्माणे प्रोक्तविचित्राङ्गकसुरः । २ सहानुजान् ५०, ६०, ८०, १०० । ३ बहवः प्रियाणि मित्राणि यस्य सः । ४ अकम्पनः । ५ पुत्र्याः प्रियेण सह । ६ निजगृहे स्थितेषूत्कृष्टानि । ७ प्राभूतम् । ८ चक्री । ९ सुमुखा ह्ययदूतम् । १० गमयति स्म । ११ दूतः । १२ भूम्याम् । १३ स्थिराञ्जलिः । १४ कन्यासूकृष्टत्वात् । १५ त्वया कृतैस्वर्ग्या जयाय सम्प्रादामीति सम्बन्धः । १६ दत्ता । १७ स्वयंवरः । १८ अनुमति कृत्वा । १९ स्वयंवरविधानम् । २० चन्द्रादिशुभग्रहान्वितं यथा भवति तथा स्थित्वा कोपयति तं तथेति सम्बन्धः । २१ तद्वृत्तान्तम् । २२ चारा गूढपुरुषा एव चक्षुर्यस्य । २३ अवधि-जानसहितः । २४ बालकः । २५ संविधाने । २६ सापराधाः । २७ भवामः ।

तस्मै^१ कन्यां गृहाणेति नास्माभिः सा समर्पिता । आराधकस्य बोधोऽसौ यत् प्रकुप्यन्ति देवताः ॥४३॥
 भवेच्च^२ विहिताः सम्यक्^३ वधिता बन्धवोऽपि नः । स्निग्धाश्च^४ कथमेतेषां विदधामि विनिग्रहम् ॥४४॥
 इत्येतद्देव भा मेस्थाः स्यात् सदोषो यदि त्वया । कुमारोऽपि निगृह्येत न्यायोऽयं त्वदुपक्रमः^५ ॥४५॥
 तदादिश^६ विधेयोऽत्र^७ को दण्डस्त्रिविधोऽपि नः । किंविधः किं परिक्लेशः किं वार्थहरणं प्रभो ॥४६॥
 तवादेशविधानेन नितरां कृतिनो वयम् । इहामुत्र च तद्देव यथार्थमनुशाधि^८ नः ॥४७॥
 इति प्रभयणीं बाणीं निगृह्य हृदयप्रियाम् । सुमुखो राजराजस्य 'व्यरंसीत् करसंज्ञया ॥४८॥
 सतां वचांसि चेतांसि हरस्यपि हि रक्षसाम्'^९ । किं पुनः सामसाराणि^{१०} तावृणां^{११} समतादृशाम्^{१२} ॥४९॥
 इहैहीति^{१३} प्रसन्नोक्त्या प्रकुल्लवदनाम्बुजः । उपसिंहासनं^{१४} चक्री नि^{१५}सृष्टार्थं निवेद्य तम् ॥५०॥
 अकम्पनैः किमिदमेवम् उदीर्य प्रहितो^{१६} भवान् । पुरुषभ्यो^{१७} निर्विशेषास्ते सर्वज्येष्ठाश्च सम्प्रति ॥५१॥
 गृहाश्रमे त^{१८} एवाच्यस्तिरेवाहं च बन्धुमान् । निषेद्धारः प्रवृत्तस्य ममाप्यन्यायवर्त्मनि ॥५२॥
 पुरवो मोक्षमार्गस्य पुरवो दानसन्ततेः । श्रेयांस चक्रिणां वृत्तेर्यथेहास्म्यहमग्रयोः ॥५३॥
 तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन् यद्यकम्पनाः । कः प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैव^{१९} सनातनः ॥५४॥

॥४२॥ 'तुम इस कन्याको ग्रहण करो' ऐसा कहकर तो मैंने जयकुमारके लिये दी नहीं थी, तथापि देवता जो कुपित हो जाते हैं उसमें देवताका नहीं किन्तु आराधना करनेवाले हीका दोष समझा जाता है ॥४३॥ ये सब वंश मेरे ही बनाये हुए हैं, मेरे ही बढ़ाये हुए हैं, मेरे ही भाई हैं और मुझसे ही सदा स्नेह रखते हैं इसलिये इनका निग्रह कैसे करूँ ऐसा आप मत मानिये क्योंकि यदि आपका पुत्र भी दोषी हो तो उसे भी आप दण्ड दते हैं, इस न्यायका प्रारम्भ आपसे ही हुआ है । इसलिये हे प्रभो, आज्ञा दीजिये कि इस अपराधके लिये हम लोगोंको तीनों प्रकारके दण्डोंमेंसे कौन सा दण्ड मिलने योग्य है ? क्या फाँसी ? क्या शरीरका क्लेश अथवा क्या धन हरण कर लेना ? ॥४४-४६॥ हे देव, आपकी आज्ञा पालन करनेसे ही हम लोग इस लोक तथा परलोकमें अत्यन्त धन्य हो सकेंगे इसलिये आप अपराधके अनुसार हमें अवश्य दण्ड दीजिये ॥४७॥ इस प्रकार नम्रतासे भरे हुए और हृदयको प्रिय लगनेवाले वचन कहकर वह सुमुख दूत राजराजेश्वर-चक्रवर्तीके हाथके इशारेसे चूप हो गया ॥४८॥ जब कि सज्जन पुरुषोंके वचन राक्षसोंके भी चित्तको मोहित कर लेते हैं तब सबको समान दृष्टिसे देखनेवाले भरत जैसे महापुरुषोंके शान्तिपूर्ण चित्तकी तो बात ही क्या है ? ॥४९॥ जिनका मुखरूपी कमल प्रकुल्लित हो रहा है ऐसे चक्रवर्तीने 'यहां आओ' इस प्रकार प्रसन्नताभरे वचनोंसे उस दूतको अपने सिंहासनके निकट बैठकर उससे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया कि 'महाराज अकंपनने इस प्रकार कहकर आपको क्यों भेजा है ? वे तो हमारे पिता के तुल्य हैं और इस समय हम सभीमें ज्येष्ठ हैं ॥५०-५१॥ गृहस्थाश्रममें तो मेरे वे ही पूज्य हैं, उन्हींसे मैं भाईबन्धुवाला हूँ, औरकी क्या बात ? अन्यायमार्गमें प्रवृत्ति करनेपर वे मुझे भी रोकने वाले हैं ॥५२॥ इस युगमें मोक्षमार्ग चलानेके लिये जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव गुरु हैं, दानकी परम्परा चलानेके लिये राजा श्रेयांस गुरु हैं और चक्रवर्तियोंकी वृत्ति चलानेमें मैं मुख्य हूँ उसी प्रकार स्वयंवरकी विधि चलानेके लिये वे ही गुरु हैं । यदि ये अकंपन महाराज नहीं होते तो इस स्वयंवर मार्गका चलानेवाला दूसरा कौन था ? यह मार्ग अनादि कालका है

१ जयाय । २ भरतेनैव । ३ स्नेहिता । ४ त्वया प्रथमोपक्रान्तः । ५ तत् कारणात् । ६ बोधे । ७ नियामय । ८ तूष्णीं स्थितः । ९ राक्षसानाम् । १० वचांसि साम्नां साराणि चेत् । ११ सताम् । १२ समत्वनेत्राणाम् । १३ अत्रागच्छेति । १४ सिंहासनसमीपे । १५ दूतमुख्यम् । १६ प्रेषितः । १७ पुरुजिनेभ्यः । गुरुभ्यो अ०, प०, म०, ल०, इ०, स० । १८ अकम्पना एव । १९ स्वयंवरमार्गः ।

मार्गाश्चिरन्तनान्^१ येऽत्र^२ भोगभूमितिरोहितान् । कुर्वन्ति नूतनान् सन्तः सन्निः पूज्यास्त एव हि ॥५५॥
 न चक्रेण न रत्नैश्च शोभनं निधिभिस्तथा । बलेन न घडङ्गेन नापि पुत्रैर्मया च न ॥५६॥
 तदेतत् सार्वभौमत्वं जयेनेकेन केवलम् । सर्वत्र शौर्यकार्येषु तेनैव विजयो मम ॥५७॥
 म्लेच्छराजान् विनिजित्य नाभिज्ञाने यशोभयम् । मन्त्राण्यथापितं तेन^३ किमत्रान्येन केनचित् ॥५८॥
 अर्ककीर्तिरकीर्तिं मे कीर्तनीयामकीर्तिषु । आशङ्कामिहाकार्षीन्मयीमावमलीमसाम् ॥५९॥
 अमुना^४ ज्ञानायवत्तमं प्रावर्तयति^५ न केवलम् । इह स्वयं च दण्डधानां^६ प्रथमः परिकल्पितः ॥६०॥
 अमृदयशसो रूपं मत्प्रदीपादिवाञ्जनम् । नार्ककीर्तिरसौ स्पष्टम् अयशःकीर्तिरेव हि ॥६१॥
 जय एव मदादेशाद् ईदृशोऽन्यायवर्तिनः । समीकुर्यात्तत्तस्तेन स साधु बभितो युधि ॥६२॥
 सदोषो यदि निर्वाह्यो ज्येष्ठपुत्रोऽपि भूभुजा । इति मार्गमहं तस्मिन्नेव वर्तयितुं स्थितः ॥६३॥
 अक्षमाला^७ किल प्रता^८ तस्मै कन्याऽवलेपिने^९ । भवद्भिरविचार्यैतद् विरूप^{१०} कमनुष्ठितम् ॥६४॥
 पुरस्कृत्येह तामेतां^{११} नीतः सोऽपि प्रतीक्ष्यताम्^{१२} । सकलदकेति किं मूर्तिः परिहर्तुं भवेद्विधोः ॥६५॥
 उपेक्षितः सदोषोऽपि स्वपुत्रश्चक्रेवर्तिना । इतोदमयशः स्थापि^{१३} व्यधायि तवकल्पनेः ॥६६॥
 इति सन्तोष्य विश्वेशः सौमण्यं सुमुखं नयन् । हित्वा ज्येष्ठं तुजं^{१४} लोकम्^{१५} अक्रोरन्यायमौरसम् ॥६७॥

॥५३-५४॥ इस युगमें भोगभूमिसे छिपे हुए प्राचीन मार्गोंको जो नवीन कर देते हैं वे सत्पुरुष ही सज्जनों द्वारा पूज्य माने जाते हैं ॥५५॥ मेरा यह प्रसिद्ध चक्रवर्तीपना न तो चक्ररत्नसे मिला है, न शेष अन्य रत्नोंसे मिला है, न निधियोंसे मिला है, न छह अंगोंवाली सेनासे मिला है, न पुत्रोंसे मिला है और न मुझसे ही मिला है, किन्तु केवल एक जयकुमारसे मिला है क्योंकि शूर वीरताके सभी कार्योंमें मेरी जीत उसीसे हुई है ॥५६-५७॥ म्लेच्छ राजाओंको जीतकर नाभि पर्वतपर मेरा कीर्तिमय नाम उसीने स्थापित किया था, इस विषयमें और किसीने क्या किया है ? ॥५८॥ इस अर्ककीर्तिने तो अकीर्तियोंमें गिनने योग्य तथा स्याही और उड़दके समान काली मेरी अकीर्ति जब तक चन्द्रमा है तब तकके लिये संसारभरमें फैला दी ॥५९॥ इसने अन्याय का मार्ग चलाया है केवल इतना ही नहीं है । किन्तु संसारसे दण्ड देने योग्य लोगों में अपने आपको मुख्य बना लिया है ॥६०॥ जिस प्रकार दीपकसे काजल उत्पन्न होता है उसी प्रकार यह अकीर्तिरूप मुझसे उत्पन्न हुआ है, यह अर्ककीर्ति नहीं है किन्तु साक्षात् अयशस्कीर्ति है ॥६१॥ मेरी आज्ञासे जयकुमार ही अन्यायमें प्रवृत्ति करनेवाले इस प्रकारके लोगोंको दण्ड देता है इसलिये इसने युद्धमें जो उसे दण्ड दिया है वह अच्छा ही किया है ॥६२॥ और की क्या बात ? यदि बड़ा पुत्र भी अपराधी हो तो राजाको उसे भी दण्ड देना चाहिये यह नीतिका मार्ग अर्ककीर्तिपर चलानेके लिये आज मैं तैयार बैठा हूं ॥६३॥ आप लोगोंने विचार किये बिना ही उस अभिमानीके लिये अक्षमाला नामकी कन्या दे दी यह बुरा किया है ॥६४॥ अथवा उस प्रसिद्ध अक्षमाला कन्याकी भेंट देकर आपने उस अर्ककीर्तिको भी पूज्यता प्राप्त करा दी है सो ठीक ही है क्योंकि यह कलंकसहित है यह समझकर क्या चन्द्रमाकी मूर्ति छोड़ी जाती है ? ॥६५॥ परन्तु चक्रवर्तीने अपराध करनेपर भी अपने पुत्रकी उपेक्षा कर दी—उसे दण्ड नहीं दिया इस मेरे अपयशको महाराज अकंपनने स्थायी बना दिया है ॥६६॥ इस

१ पुरातनात् पुंसः । २ युगादी । ३ जयेन । ४ अर्ककीर्तिना । ५ प्रवर्तितम् । ६ दण्डितं योग्यानाम् । ७ समदण्डं कुर्यात् । ८ अर्ककीर्तौ । ९ अक्षमाला अ०, म०, इ०, स०, ल० । १० दत्ता । ११ गर्विताय । १२ कष्टम् । १३ लक्ष्मीमालाम् । १४ पूज्यताम् । १५ अकारि । १६ पुत्रम् । १७ न्यायमेव पुत्रमकरोत् ।

सुमुखस्तद्व्याभारमिव बोधुं तदाक्षमः । स जयोऽकम्पनो देव देवस्य नमति कर्मा ॥६८॥
 लब्धप्रसाद इत्युक्त्वा क्षिप्त्वाऽङ्गानि प्रणम्य तम् । विकसद्बदनाम्भोजः समुत्थाय कृताञ्जलिः ॥६९॥
 इत एवोन्मुखो तीर्त्वा त्र्यम्बकोच्छ्रन्तीं मदागतिम् । आस्थातां चातकीं वृष्टिं प्रावृषो वाऽदिवार्मुचः^१ ॥७०॥
 इति विशाण्य चक्रेशात् कृतानुज्ञः कृतत्वरः । सम्प्राप्याकम्पनं नत्वा सजयं विहितावरम् ॥७१॥
 गोभिः^२ प्रकाश्य रथतस्य प्रसादं चक्रवर्तिनः । रवेर्वा वासं रारम्भस्तद्वक्त्राब्जं व्यकासयत् ॥७२॥
 साधुवाचैः सवानश्च सम्मानंस्ती च तं तवा ।^३ आनिन्यतुरतिप्रीतिं कृतज्ञा हि महीभूतः ॥७३॥
 इत्यतर्कविद्यावाप्तिविभासितशुभोदयः ।^४ अन्विवान् जयः श्रीमान् सुखेन श्वासुरं^५ कुलम् ॥७४॥
 सुलोचनां मुखाम्भोजवद्वपदायितलोचनः । अनङ्गानणुबाणैकतृणीरायितविग्रहः ॥७५॥
 तथा प्रवृत्ते सङ्ग्रामे सायकैरक्षतः क्षतः^६ ।^७ पेलवैः कुसुमैरेभिर्विचित्रा विधिवसयः ॥७६॥
 अस्मितां सस्मितां कुर्वन् ग्रहसन्तीं सहासिकाम्^८ । सभयां निर्भयां बालाम् आकुलां तामनाकुलाम् ॥७७॥

प्रकार सबके स्वामी महाराज भरतने सुमुख नामके दूतको संतुष्ट कर उसका मुख प्रसन्न किया और ज्येष्ठ पुत्रको छोड़कर न्यायको ही अपना औरस पुत्र बनाया । भावार्थ—न्यायके सामने बड़े पुत्रका भी पक्ष नहीं किया ॥६७॥ उसी समय चक्रवर्तीकी दयाका भार वहन करनेके लिये मानो असमर्थ हुआ सुमुख कहने लगा कि 'हे देव' जिन्हें आपका प्रसाद प्राप्त हो चुका है ऐसे जयकुमार और अकंपन दोनों ही आपके चरणोंको नमस्कार करते हैं, ऐसा कहकर उस दूतने अपने समस्त अंग पृथ्वीपर डालकर चक्रवर्तीको प्रणाम किया और जिसका मुखरूपी कमल विकसित हो रहा है तथा जिसने हाथ जोड़ रखे हैं ऐसा वह दूत खड़ा होकर फिर कहने लगा कि "जिस प्रकार दो चातक वर्षा ऋतुके पहले बादलसे वर्षा होनेकी इच्छा करते हैं उसी प्रकार जयकुमार और अकंपन आपके समीपसे मेरे आनेकी इच्छा करते हुए इसी ओर उन्मुख होकर बैठे होंगे" ऐसा निवेदन कर जिसने चक्रवर्तीसे आज्ञा प्राप्त की है ऐसे उस दूतने बड़ी शीघ्रतासे जाकर आदरके साथ महाराज अकंपन और जयकुमारको नमस्कार किया तथा वचनोंके द्वारा अनुराग करनेवाले चक्रवर्तीकी प्रसन्नता प्रकट कर उन दोनोंके मुखकमल इस प्रकार प्रफुल्लित कर दिये जिस प्रकार कि दिनका प्रारम्भ समय (प्रातः-काल) किरणोंके द्वारा लाल सूर्यकी प्रसन्नता प्रकटकर कमलोंको प्रफुल्लित कर देता है ॥६८—७२॥ उस समय उन दोनों राजाओंने धन्यवाद, दान और सम्मानके द्वारा उस दूतको अत्यन्त प्रसन्न किया था सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोग किये हुए उपकार माननेवाले होते हैं ॥७३॥ इस प्रकार विचारातीत वैभवकी प्राप्तिसे जिसके शुभ कर्मका उदय प्रकट हो रहा है ऐसा वह श्रीमान् जयकुमार सुखसे श्वासुरके घर रहने लगा ॥७४॥ जिसके नेत्र सुलोचनाके मुखरूपी कमलपर भ्रमरके समान आचरण करते थे और जिसका शरीर कामदेवके बड़े बड़े बाण रखनेके लिये तरकसके समान हो रहा था ऐसा वह जयकुमार युद्ध होनेपर लोहेके बाणोंसे उस प्रकार घायल नहीं हुआ था जिस प्रकार कि अत्यन्त कोमल कामदेवके इन फूलोंके बाणोंसे घायल हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि दैवलीला बड़ी विचित्र होती है ॥७५—७६॥ वह जयकुमार मुस्कुराहटसे रहित सुलोचनाको मुस्कुराहटसे युक्त करता था, न हंसनेपर जोरसे हंसाता था, भययुक्त होनेपर निर्भय करता था, आकुल होनेपर निराकुल करता था, वार्तालाप न करनेपर

१ चक्रिकृपा । २ अकम्पनजयकुमारी । ३ त्वत्तः । ४ वाञ्छन्ती । ५ मदागमनम् ।
 ६ प्रथममेघात् । ७ चक्रवर्तिनः । ८ वाग्भिः किरणैश्च । ९ दिवसारम्भः । १० नीतवन्ती ।
 ११ स्थितवान् । १२ मानुलसम्बन्धिनि गृहे । १३ पीडितः । १४ मृदुभिः । १५ हाससहिताम् ।

अनालपन्तीमालाप्य लोकमानो विलोकिनीम् । अस्पृशन्तीं समास्पृश्य व्यधाद् वीडाधिलोपनम् ॥७८॥
 कृतो भवान्तराबद्ध तत्स्नेहबलशालिना । सुलोचनायाः कौरव्यः कामं^१ कामेन कामुकः^२ ॥७९॥
 सुलोचनामनोवृत्ती रागामृतकरोद्धरा^३ । क्रमाच्चञ्चाल बलेव कामनाभमहाम्बुधेः ॥८०॥
 मुकुले वा मुखे चक्रे विकासोऽस्याः क्रमात्पदम्^४ । 'आक्रान्तशूर्यकारातिग्रहानधरसूचनः ॥८१॥
 'सखीमुखानि संवीक्ष्य जञ्जपित्वा^५ दिशामती । स्वरं हसितुमारब्धं^६ गृहीतमवनग्रहा ॥८२॥
 'सितासितासितालीलकटाक्षेक्षणतोमरैः । जयं तदा जितानङ्गं कृत्वानङ्गप्रतिष्कशम्^७ ॥८३॥
 ससाध्वसा सलज्जा सा विव्याध विविधैर्मनाक् । अनालोकनवेलायाम् अति^८सन्धित्सयेव तम् ॥८४॥
 न भुजङ्गाने सन्दृष्टा नापि संसेधितासवा । न श्रेणेन समाक्रान्ता तथापि^९ 'स्विद्यति स्म सा ॥८५॥
 स्खलन्ति स्म 'कलालापाञ्चकम्पे हृदयं भूशम् । चलान्यालोकिताभ्यासप्रवशो बात्मनश्च^{१०} सा ॥८६॥
 प्रक्षालितेव लज्जाङ्गात् सुदस्याः स्वेदवारिभिः । वागिन्धनेर्ध्वदीपिष्ट विचित्रश्चित्तजोऽन्तलः^{११} ॥८७॥
 तावत्प्रपा भयं तावत्तावत्कृत्यविचारणा । तावदेव धृतिर्यावज्जुम्भते न स्मरज्ज्वरः ॥८८॥

उससे वार्तालाप करता था, अपनी ओर देखनेपर उसे देखता था, और स्पर्श न करनेपर उसका स्पर्श करता था । इस प्रकार यह सब करते हुए जयकुमारने सुलोचनाकी लज्जा दूर की थी ॥७७-७८॥ पूर्व पर्यायमें बंधे हुए स्नेहहारी बलसे शोभमान कामदेवने इच्छानुसार जयकुमार-को सुलोचनाका सेवक बना लिया था ॥७९॥ रागरूपी चन्द्रमाके सम्बन्धसे बढ़ी हुई, कामदेव नामक महासागरकी वेलाके समान सुलोचनाके मनकी वृत्ति क्रम क्रमसे चंचल हो रही थी ॥८०॥ सब शरीरमें घुसे हुए कामदेवरूपी पिशाचके द्वारा बिना कुछ बोले ही जिसकी सूचना हो रही है ऐसे विकासने सुलोचनाके मुखरूपी मुकुलपर धीरे धीरे अपना स्थान जमा लिया था ॥८१॥ कामरूपी पिशाचको ग्रहण करनेवाली सुलोचना सखियोंके मुख देखकर दिशाओंसे बातचीत कर अर्थात् निरर्थक वचन बोलकर इच्छानुसार हंसने लगी ॥८२॥ उस समय भय और लज्जा सहित सुलोचना कामदेवको जीतनेवाले जयकुमारको न देखने योग्य समयमें मानो ठगनेकी इच्छासे ही कामदेवको अपना सहायक बनाकर सफेद काले इन दोनों रंगोंसे मिले हुए चंचल कटाक्षोंसे भरी हुई दृष्टिरूपी अनेक तोमर नामके हथियारोंसे धीरे धीरे मार रही थी ॥८३॥ जब जयकुमार उसकी ओर नहीं देखता था उस समय भी वह सफेद, काले और चंचल कटाक्षोंसे भरी दृष्टिसे उसे देखती रहती थी और उससे ऐसा मालूम होता था मानो यह उसे ठगना ही चाहती है ॥८४॥ उस समय उसे न तो सर्पने काटा था, न उसने मद्य ही पिया था, और न परिश्रमसे ही वह आक्रान्त थी तथापि वह पसीनेसे तर हो रही थी ॥८५॥ उसके मधुर भाषण स्खलित हो रहे थे, हृदय अत्यन्त कंप रहा था, दृष्टि चंचल हो रही थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने वशमें ही न हो ॥८६॥ सुन्दर दांतोंवाली सुलोचनाकी लज्जा इस प्रकार नष्ट हो गई थी मानो उसके पसीनारूपी जलसे धुल ही गई हो और कामदेवरूपी विचित्र अग्नि वचनरूपी ईंधनसे ही मानो खूब प्रज्वलित हो रही थी ॥८७॥ जबतक कामदेवरूपी ज्वर नहीं बढ़ता है तबतक ही लज्जा रहती है तबतक ही भय रहता है, तब तक ही करने योग्य कार्यका विचार रहता है और तब तक ही धैर्य रहता है ॥८८॥

१ सामर्थ्य । २ अत्यर्थम् । ३ इच्छुः । ४ अनुरागचन्द्रेणोत्कटा । ५ स्थानम् । ६ प्राप्तकाम-ग्रहमक्षरेण विना सूचकः । ७ सहचरी । ८ निरर्थकादिदोषदुष्टमुक्त्वा । ९ उपक्रान्तवती । १० श्वेतकृष्णसंबद्ध । ११ सहायम् । १२ वञ्चनेच्छया । १३ स्वदवती बभूव । १४ मनोशवचनानि । १५ स्वस्य पराधीनेव अथवा आत्मनः वशे अधीने न वा नासीदिति । १६ चित्तजानलः अ०, प०, इ०, स०, ल० ।

विषयोक्त्य सर्वेषाम् इन्द्रियाणां परस्परम् । परामवापतुः प्रीतिं दम्पती तौ पृथक् पृथक् ॥८६॥
अत्यासङ्गात् क्रमया^१हिकरणेस्तावत्पितौ ।^२अनिन्दतामशोर्बेककरणाकारिणं^३ विधिम् ॥८७॥
अन्योन्यविषयं सौख्यं त्यक्त्वाऽशेषान्यगोचरम् । स्तोकेन^४ सुखमप्राप्तं प्रापतुः^५ परमात्मनः^६ ॥८८॥
सम्प्राप्तभावपर्यन्तौ^७ विदतुर्न^८ स्वयं^९ च तौ । मुक्तैकं शं^{१०} सहैवोद्यत्स्वक्रियोद्रेकसम्भवम्^{११} ॥८९॥
रतावसाने^{१२} निःशक्तयोगाढौतुसुखात् प्रपश्यतोः^{१३} । तयोरन्योन्यमाभातां^{१४} नेत्रयोरिव पुत्रिके ॥९०॥
अवापि या तथा प्रीतिस्तस्मात्तेन^{१५} च या ततः^{१६} ।^{१७}तयोरन्योन्यमेवासीद् उपमानोपमेयता ॥९१॥
भुक्तमात्मस्मरित्वेन^{१८} यत्सुखं परमात्मना ।^{१९}ततोऽप्यधिकमासीद्वा^{२०} संभिभागेऽपि^{२१} तत्तयोः ॥९२॥
इत्यन्योन्यसमुद्भूतप्रीतिस्फीतामृतास्मरि । कामात्मभौ निमग्नौ तौ स्वैरं चिक्रीडतुश्चिरम् ॥९३॥
तदा स्वमन्त्रिप्र^{२२}हितगूढपत्रार्थबोधितः । जयो जिगमिषुस्तूर्णं^{२३} स्वस्थानीयं^{२४} धियो वशः ॥९४॥

वे दोनों दम्पती परस्पर पृथक् पृथक् सब इन्द्रियोंके विषयोंका सेवनकर परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥८९॥ अत्यन्त आसक्तिके कारण, क्रम क्रमसे एक एक विषयको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंसे वे संतुष्ट नहीं होते थे इसलिये सब इन्द्रियोंको एक इन्द्रियरूप न करनेवाले विधाताकी वे निन्दा करते रहते थे । भावार्थ—उन दोनोंकी विषयासक्ति इतनी बढ़ी हुई थी कि वे एक साथ ही सब इन्द्रियोंके विषय ग्रहण करना चाहते थे परन्तु इन्द्रियां अपने प्राकृतिक नियम के अनुसार एक समयमें एक ही विषयको ग्रहण कर पाती थीं अतः वे असंतुष्ट होकर सब इन्द्रियों को एक इन्द्रियरूप न बनानेवाले नामकर्मरूपी ब्रह्माकी सदा निन्दा करते रहते थे ॥९०॥ उन दोनोंने सब साधारण लोगोंको मिलनेवाला परस्परका सुख छोड़कर आत्माका वह उत्कृष्ट सुख प्राप्त किया था जो कि अन्य छोटे-छोटे लोगोंको दुष्प्राप्य था ॥९१॥ जिनके भावोंका अन्त आ चुका है ऐसे वे दोनों ही एक साथ उत्पन्न हुई अपनी क्रियाओंके उद्रेकसे उत्पन्न होनेवाले एक सुखको छोड़कर और कुछ नहीं जानते थे ॥९२॥ संभोग क्रीड़ाके अन्तमें अशक्त हुए तथा गाढ़ उत्कंठाके कारण परस्पर एक दूसरेको देखते हुए उनके नेत्रोंकी पुतलियां एक दूसरेके नेत्रोंकी पुतलियोंके समान ही सुशोभित हो रही थीं । (यहां अनन्वयालंकार होनेसे उपमेय ही उपमान ही गया है) ॥९३॥ सुलोचनाने जयकुमारसे जो सुख प्राप्त किया था और जयकुमारने सुलोचनासे जो सुख पाया था उन दोनोंका उपमानोपमेय भाव परस्पर—उन्हीं दोनोंमें था ॥९४॥ परमात्माने सबके स्वामी होकर जिस सुखका अनुभव किया था उन दोनोंका वह सुख परस्परमें विभक्त होनेपर भी उससे कहीं अधिक था । भावार्थ—यद्यपि उन दोनोंका सुख एक दूसरेके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण परस्परमें विभक्त था, तथापि परिमाणकी अपेक्षा परमात्माके पूर्ण सुखसे भी कहीं अधिक था । (यहां ऐसा अतिशयोक्ति अलंकारसे कहा गया है वास्तवमें तो वह परमात्माके सुखका अनन्तवां भाग भी नहीं था) ॥९५॥ इस प्रकार परस्परमें उत्पन्न होनेवाले प्रेमामृतरूपी जलसे भरे हुए कामरूप समुद्रमें डूबकर वे दोनों चिरकालतक इच्छानुसार क्रीड़ा करते रहे ॥९६॥ उसी समय एक दिन जो अपने मंत्रीके द्वारा

१ अत्यासक्तितः । २ क्रमवृत्त्या पदार्थग्राहीन्द्रियैः । ३ निन्दां चक्रतुः । ४ सकलेन्द्रियविषयाणा-
मेकमेवेन्द्रियमकुर्वन्तम् । ५ सामान्यपुरुषेण । ६ उत्तमम् । ७ स्वस्थ । परमात्मनः परमपुरुषस्येति
ध्वनिः । ८ लीला । ९ वृत्तधाते । १० आत्मनौ । ११ सुखम् । १२ सहैव प्रादुर्भवन्निज-
चुम्बनाविसमुत्कटसम्भूतम् । १३ सुरतक्रीडावसाने । १४ परस्परमालोकमानयोः सतीः । १५ व्यरा-
जताम् । १६ जयकुमारात् । १७ सुलोचनायाः । १८ प्रीत्योः । १९ स्वोदरपूरकत्वेन । 'उभावात्मस्मरिः
स्वोदरपूरके' इत्यभिधानात् । २० परमात्मसुखात् । २१ वा अवधारेण । २२ विभजने । २३ सुखम् ।
२४ प्रेषित । २५ शीघ्रम् । २६ स्वां पुरीम् । स्वं स्था—ल० ।

भवद्भिर्भावितैश्चर्यं मां नदीयाः^१ दिदृक्षवः^२ । इति मामं^३ समन्येत्य^४ 'प्रस्थानार्थमबूधुत्^५ ॥६८॥
 तद्बुध्वा नाथवंशेशः^६ किञ्चिद्वशीत् ससंभ्रमः । जये^७ जिगमिषी स्वस्मान्न स्यात् कस्याकुलं मनः ॥
 विचार्य^८ कार्यं पर्यायं^९ तथास्त्वित्याह तं नृपः । स्नेहानुवर्तनी नैति^{१०} दीपिकां वा धियं सुधीः^{११} ॥१००॥
 प्रादात्^{१२} प्रागेव सर्वस्वं तस्मै दत्तसुलोचनः । तथापि लौकिकाचारं परिपालयितुं प्रभुः ॥१०१॥
 दत्त्वा कोशावि सर्वस्थं स्वीकृत्य^{१३} प्रीतिभात्मनः । अनुगम्य स्वयं दूरं शुभेऽहनि वधूवरम् ॥१०२॥
 कथं कथमपि त्यक्त्वा स^{१४} सजानिर्जनाग्रणीः^{१५} । व्यावर्तत ततः शोकी^{१६} तुम्बियोगो हि दुःसहः ॥१०३॥
 विजयाद्धं समारुह्य जयोऽपि ससुलोचनः । आरुढसामजैः सर्वैः स्वानुजैर्विजयादिभिः ॥१०४॥
 हेमाङ्गदकुमारैण सानुजेन च सोत्सवः । प्रवर्तयन् कथाः पथ्याः^{१७} परिहासं मनोहराः ॥१०५॥
 वृतः शशीव नक्षत्रैः अनुगङ्ग^{१८} ययौ शनैः । इत्तां सञ्चालयन् प्राग्वा^{१९} श्रीमान् स जयसाधनः ॥१०६॥
 स्कन्धावारं^{२०} यथास्थानं पारेगङ्ग^{२१} न्यवीविशत् । वीक्ष्य कक्षपुटत्वेन प्रशास्ता^{२२} शास्त्रविस्तदा ॥
 हटत्पटकुटीकोटिनिकटाटोपनिर्गमः । बभासे^{२३} शिबिरावासः स्वर्गवास इवापरः ॥१०८॥

भेजे हुए पत्रके गूढ़ अर्थसे प्रेरित हो रहा है, बुद्धिमान् है, और शीघ्रसे शीघ्र अपने स्थानपर पहुँचनेकी इच्छा कर रहा है ऐसे जयकुमारने मामा (श्वसुर) के पास जाकर अपने जानेकी सूचना दी कि हे माम, आपने जिसका ऐश्वर्य बढ़ाया है ऐसे मुझे मेरी प्रजा देखना चाहती है । ॥९७-९८॥ यह जानकर नाथवंशका स्वामी अकंपन कुछ घबड़ाया सो ठीक ही है क्योंकि अपनेसे जय (जयकुमार अथवा विजय) के जानेकी इच्छा करनेपर किसका मन व्याकुल नहीं होता है ? ॥९९॥ तदनन्तर कार्योंका पूर्वापर विचारकर राजा अकंपनने जयकुमारसे 'तथास्तु' कहा सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य दीपिकाके समान स्नेह (तेल अथवा प्रेम) का अनुवर्तन करनेवाली बुद्धिको नहीं प्राप्त होते हैं । भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य स्नेहके पीछे बुद्धिको नहीं छोड़ते हैं ॥१००॥ यद्यपि महाराज अकंपन, सुलोचनाको देकर पहले ही जयकुमारको सब कुछ दे चुके थे तथापि लौकिक व्यवहार पालन करनेके लिये अपने प्रेमके अनुसार खजाना आदि सब कुछ देकर उन्होंने किसी शुभ दिनमें वधू-वरको बिदा किया । सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाराज अकंपन अपनी पत्नी सहित कुछ दूरतक तो स्वयं उन दोनोंके साथ साथ गये फिर जिस किसी तरह छोड़कर शोक करते हुए वहाँसे वापिस लौट आये सो ठीक ही है क्योंकि संतानका वियोग बड़े दुःखसे सहा जाता है ॥१०१-१०३॥ जयकुमार भी सुलोचना सहित विजयार्थ नामके हाथीपर सवार होकर अन्य अन्य हाथियोंपर बैठे हुए विजय आदि अपने सब छोटे भाइयों तथा लघु सहोदरोंसे युक्त हेमाङ्गदकुमारके साथ बड़े उत्सवसे मार्गमें कहने योग्य हंसी विनोदकी मनोहर कथाएं कहता हुआ और पृथिवीको हिलाता हुआ नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी तरह गंगाके किनारे धीरे धीरे इस प्रकार चला जिस प्रकार कि पहले दिग्विजयके समय सेनाके साथ साथ चला था ॥१०४-१०६॥ शास्त्रोंके जाननेवाले और सबपर शासन करनेवाले जयकुमारने उस समय गंगाके किनारे यथायोग्य स्थानपर घासवाली जमीन देखकर सेनाके डेरे कराये ॥१०७॥ देदीप्यमान कपड़ोंके करोड़ों तम्बुओंके समीप ही जिसमें आने जानेका मार्ग

१ अस्मदीयाः बन्धुभिर्वादयः । २ द्रष्टुमिच्छवः । ३ श्वसुरम् । ४ सम्प्राप्य । ५ गमनप्रयोजनम् । ६ ज्ञापयति स्म । ७ अकम्पनः । ८ विजये इति ध्वनिः । ९ कार्यक्रमम् । १० न गच्छति किम् । ११ शोभता धीर्यस्य सः । १२ वदति स्म । १३ स्वस्य प्रीतिमेकामेव स्वीकृत्य । १४ स्त्रीसहितः । १५ अकम्पनः । १६ व्याघुटितवान् । १७ पुत्रवियोगः । १८ विजयार्द्धगजम् । १९ पथि हितः । २० गङ्गामानु । २१ पूर्वदिग्विजये यथा । २२ शिबिरम् । २३ गंगातीरे । २४ जयकुमारः । २५ शुम्भद्वस्त्रकुटीसमूहासन्नविस्तृतनिर्गमः । २६ रराज ।

तत् (तं) प्राप्य सिन्धुरं हृत्वा स राजद्वारं राजकम्^१ । विसर्ज्योच्चैः प्रविश्यान्तः अत्रतीर्थं^२ निवाद्य तम्^३
 राजा सुलोचनां चावरोप्य स्वभुजलम्बिनीम् । निविश्य स्वोचिते स्थाने मृदुशय्यातले सुखम् ॥११०॥
 तत्कालोचितवृत्तः प्रियां सन्तर्पयन् प्रियैः । स्नानभोजनवाद्यगायननृत्यविनोदने ॥१११॥
 नीत्वा रात्रिं सुखं तत्र 'प्रत्याप्य प्रत्ययं' स्थितेः । तां निवेद्य समाश्वास्य हेमाङ्गदपुरस्सरान् ॥११२॥
 नियोज्य स्वानुजान् सर्वान् सम्यक्कटकरक्षणे । आर्तैः कतिपयैरेव 'प्रत्ययोध्यमियाय सः ॥११३॥
 अर्ककीर्त्यादिभिः प्रष्टैः' प्रत्यागत्य प्रतीक्षितः^४ । सस्नेहं सावरं भूयः कुमारैणालपन् पुरीम् ॥११४॥
 सानुरागान् स्वयं रागात् प्राविशद्वा विशान्वतिः^५ । न पूजयन्ति के वाऽन्ये पुरुषं राजपूजितम् ॥११५॥
 इन्द्रो वैभाव् बहिर्द्वाराज्जिनस्योत्तीर्थं भूपतेः । 'सभागृहं समासाद्य मणिकुट्टिमभूतलम् ॥११६॥
 मध्ये 'तस्य स्फुरन्नलक्षितस्तम्भसम्भूते । विचित्रनेत्रं^६ विन्यस्तसद्वितानविराजिते ॥११७॥
 मणिमुक्ताफलप्रो^७ तलम्बलम्बूषभूषणे' । परार्धरत्नभाजालजटिले मणिमण्डपे^८ ॥११८॥
 विधुं ज्योतिर्गणेनेव राजकेन विराजितम् । स्वकीर्तिनिर्मलैर्बोध्यमानं 'चमरजन्मभिः ॥११९॥

बनाया गया है ऐसा वह सेनाका आवास (पड़ाव) इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो स्वर्गका दूसरा आवास ही हो ॥१०८॥ जयकुमारने अपने डेरेके पास जाकर उसके बड़े दरवाजेके समीप ही अपना हाथी रोका, वहीं सब राजाओंको विदा किया फिर ऊंचे तम्बूके भीतर प्रवेश कर हाथीको बैठाया—स्वयं उतरे, अपनी भुजाओंका सहारा लेनेवाली सुलोचनाको भी उतारा और अपने योग्य स्थानमें कोमल शय्यातलपर सुखसे विराजमान हुए । फिर उस समयके योग्य समाचारोंको जाननेवाले जयकुमारने स्नान, भोजन, वातालाप, बाजे, गीत, नृत्य आदि मनोहर विनोदोंसे सुलोचनाको संतुष्ट किया, रात्रि वहीं सुखसे बिताई, वहां ठहरनेका कारण बतलाया, उसे समझा बुझाकर वहींपर रक्खा, हेमांगद आदि सुलोचनाके भाइयोंको भी वह रक्खा, अपने सब छोटे भाइयोंको अच्छी तरह सेनाकी रक्षा करनेसें नियुक्त किया और फिर कुछ आप्त पुरुषोंके साथ अयोध्याकी ओर गमन किया ॥१०९—११३॥ अयोध्या पहुंचने पर अर्ककीर्ति आदि अच्छे अच्छे पुरुषोंने सामने आकर जिसका स्वागत किया है, तथा जो बड़े स्नेह और आदरके साथ अर्ककीर्तिसे वातालाप कर रहा है ऐसे राजा जयकुमारने अनुराग करनेवालोंके साथ साथ बड़े प्रेमसे अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि अन्य ऐसे पुरुष कौन हैं जो राजमान्य पुरुषकी पूजा न करें ॥११४—११५॥ जिस प्रकार इन्द्र सम-वसरणके बाह्य दरवाजेपर पहुंचकर हाथीसे उतरता है उसी प्रकार जयकुमार भी राजभवन-के बाह्य दरवाजेपर पहुंचकर हाथीसे उतरा और सभागृहमें पहुंचा । उस सभागृहकी जमीन मणियोंसें जड़ी हुई थी, उसके मध्यमें एक रत्नमण्डप था जो कि देदीप्यमान रत्नोंसे जड़े हुए खंभोंसे भरा हुआ था, अनेक प्रकारके रेशमी वस्त्रोंके तने हुए चंदेवोंसे सुशोभित था, मणियों और मोतियोंसे गुथे हुए लम्बे लम्बे फलूस रूप आभूषणोंसे युक्त था, और बहुमूल्य रत्नोंकी कान्तिके जालसे व्याप्त था । जिस प्रकार उदयाचलपर सूर्य सुशोभित होता है उसी प्रकार उस रत्नमण्डपमें ऊंचे सिंहासनपर बैठे हुए महाराज भरत सुशोभित हो रहे थे । जिस प्रकार ज्योतिषी देवोंके समूहसे चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार महाराज भरत भी अनेक राजाओं से सुशोभित हो रहे थे, उनपर अपनी कीर्तिके समान निर्मल चमर ढुलाये जा रहे थे, इन्द्रके

१ राजसमूहम् । २ उपविश्य । ३ तं गजम् । ४ प्रतिबोध्य । ५ कारणम् । ६ अयोध्यां प्रति । ७ मुखैः । ८ पूजितः । ९ चक्रवर्त्तिव । १० समवसरणमिव भूपतेः सभागृहमिति सम्बन्धः । ११ सभागृहस्य । १२ पटवस्त्रकृत । १३ खचित । १४ दाम । १५ रत्नमण्डपे ल० । १६ चामरैः ।

वेष्टितं वेदधनुषा नानाभरणरोचिषा । रोचिषेव कृताकारं पूज्यं पुण्यंश्चतुर्विधैः^१ ॥१२०॥
 तुङ्गसिंहासनासीनं भास्वन्तं वोदयाद्रिगम् । राजराजं समालोच्य बहुशो भक्तिनिर्भरः ॥१२१॥
 स वा प्रणम्य तीर्थेशं स्पृष्ट्वाऽऽटाङ्गैर्धरातलम् । करं प्रसार्य सम्भाव्य^२ राज्ञोवासप्रभासनम् ॥१२२॥
 निजहस्तेन निर्दिष्टं^३ दृष्ट्वा लङ्कृत्य तुष्टवान् । व्यभासिष्टं^४ सभासध्ये स तवाग्येन^५ तेजसा ॥१२३॥
 प्रसन्नवदनेन्दुलदाह्लादिवचनांशुभिः । वधूः किमिति नानीता तां द्रष्टुं वयमुत्सुकाः ॥१२४॥
 वयं किमिति^६ नाहूतास्तद्विवाहोत्सवे नवे । अकम्पनैरिदं युक्तं^७ सनाभिभ्यो बहिष्कृतः ॥१२५॥
 'नन्धहं स्वप्तिनूस्थाने मां पुरस्कृत्य कन्यका । त्वयाऽसौ परिणेतव्या त्वं तद्विस्मृतवानसि ॥१२६॥
 इत्यकृत्रिमसामोक्त्या तपितश्चक्रवर्तिना । तदा विभावयन् भवित स्ववक्त्रं मणिकुट्टिमे ॥१२७॥
 नत्वाऽपश्यत्प्रसादीव प्रतिगृह्य प्रभीदयाम् । जयः प्राञ्जलिस्तथाय राजराजं व्यजिज्ञपत् ॥१२८॥
 काशीदेशेशिना देव देवस्याज्ञाविधायिनाम् । विवाहविधिभेदेषु प्रागप्यस्ति स्वयंवरः ॥१२९॥
 इति सर्वैः समालोच्य सचिवैः शास्त्रवेदिभिः । कल्याणं तत्समारब्धं देवेन कृतमन्यथा ॥१३०॥
 शान्तं तत्स्वप्नसादेन मन्मूलोच्छेदकारणम् । रणं शरणमायात इत्येष भवतः क्रमो ॥१३१॥
 सुखेचरभूपालास्त्वत्पदाम्भोरुहालिनः । चक्रेणाक्रान्तदिव्यचक्र किङ्करास्तत्र कोऽस्म्यहम् ॥१३२॥

धनुषके समान अनेक प्रकारके आभरणोंकी कान्तिसे वेष्टित थे अतएव ऐसे जान पड़ते थे मानो कान्तिसे ही उनका शरीर बनाया गया हो, और चारों प्रकारके (शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र और सातावेदनीय) पुण्योंसे पूज्य थे । इस प्रकार राजराजेश्वर महाराज भरतको देखकर भक्तिसे भरे हुए जयकुमारने तीर्थंकरकी तरह आठों अंगोंसे जमीनको लूकर अनेक बार प्रणाम किया । महाराज भरतने भी हाथ फैलाकर उसका सन्मान किया तथा अपने हाथसे बतलाये हुए अपने निकटवर्ती आसनपर बैठाकर प्रसन्न दृष्टिसे अलंकृत किया । इस प्रकार संतुष्ट हुआ जयकुमार सभाके बीच एक विलक्षण तेजसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था । ॥११६-१२३॥ तदनन्तर महाराज भरत अपने प्रसन्न मुखरूपी चन्द्रमासे निकलते हुए और सबको आनन्दित करनेवाले वचनरूपी किरणोंसे सबको प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहने लगे कि क्यों जयकुमार, तुम वहूँको क्यों नहीं लाये ? हम तो उसे देखनेके लिये बड़े उत्सुक थे, इस नवीन विवाहके उत्सवमें तुमने हम लोगोंको क्यों नहीं बुलाया ? महाराज अकम्पनसे अपने भाई-बन्धुओंसे हमको अलग कर दिया क्या यह ठीक किया ? अरे, मैं तो तुम्हारे पिताके तुल्य था तुम्हें मुझे आगे कर सुलोचनाके साथ विवाह करना चाहिये था, परन्तु तुम यह सब भूल गये इस प्रकार चक्रवर्तीके द्वारा स्वाभाविक शान्त वचनोंसे संतुष्ट किया हुआ जयकुमार उस समय अपनी भक्तिको प्रकट करता हुआ नमस्कार कर अपराधीके समान अपना मुँह मणियोंसे जड़ी हुई जमीनमें देखने लगा । फिर महाराज भरतसे दया प्राप्तकर हाथ जोड़कर खड़ा हुआ और राजाधिराज चक्रवर्तीसे इस प्रकार निवेदन करने लगा ॥१२४-१२८॥ हे देव, आपके आज्ञाकारी काशीनरेशने विवाहविधिके सब भेदोंमें एक स्वयंवरकी विधि भी पहलेसे चली आ रही है इस प्रकार शास्त्रोंको जाननेवाले सब मंत्रियोंके साथ सलाह कर यह उत्सव प्रारम्भ किया था परन्तु देवने उसे उलटा कर दिया ॥१२९-१३०॥ मेरा मूल-सहित नाश करनेवाला वह युद्ध शान्त हो गया इसलिये ही यह सेवक आपके चरणोंमें आया है ॥१३१॥ हे चक्रके द्वारा समस्त दिशाओंपर आक्रमण करनेवाले महाराज, अनेक देव, विद्याधर और राजा आपके चरणकमलोंके भ्रमर होकर सेवक बन रहे हैं फिर भला मैं उन

१ शुभायुर्नामगोत्रसद्वैद्यलक्षणैः । २ चक्रिणा । ३ दिष्ट्या ट० । प्रीत्या । ४ राजते स्म । ५ नूतनेन । ६ अनाह्वानिताः । ७ बन्धुभ्यः । ८ अहो । ९ प्रसादवान् । प्रमादीव ल० ।

‘देवेनानन्यसामान्यमाननां मम कुर्यता ।’ ऋणीकृतः क्व वाऽऽनृष्यं भवान्तरातेष्वपि ॥१३३॥
 नाथेन्दुवंशसरोहीं पुरुषा विहितौ त्वया । वद्धितौ पालितौ स्थापितौ च यावद्धरातलम् ॥१३४॥
 इति प्रश्रयणीं वाणीं श्रुत्वा तस्य निधीश्चरः । तुष्टया सम्पूज्य पूजाविद्वस्त्राभरणवाहनैः ॥१३५॥
 दत्त्वा सुलोचनाय च तद्योग्यं विससर्ज तम् । महौ प्रियामिवालिङ्गय तं प्रणम्य ययौ जयः ॥१३६॥
 सम्पत्सम्पन्नपुण्यानाम् अनुबध्नाति सम्पदम् । पौरुषवतीं पकानीकैः स्तूयमानस्त्वसाहसः ॥१३७॥
 पुराद् गजं समासह्य निष्क्रम्येत्सुर्मनःप्रियाम् । तद्यो गङ्गां समासन्नः स्वमनोवेगचोदितः ॥१३८॥
 शुष्कभूरुहशाखापे सम्मुखीभूय भास्वतः^{१०} । ‘‘हवन्तं^{११} ध्वाङ्क्षमालोक्ष्य कान्तायाश्चिन्तयन्भयम् ॥१३९॥
 मूर्च्छितः प्रेमसद्भावात् तादृशो धिक् सुखं रतेः । समाशवास्य तदोपायैः सुखमास्ते सुलोचना ॥१४०॥
 जलाद् भयं भवेत् किञ्चिद् अस्माकं शकुनादितः । इत्युदीर्यङ्गितज्ञेन शकुनज्ञेन सान्त्वितः^{१२} ॥१४१॥
 सूरदेवस्य^{१३} तद्वाक्यं कृत्वा प्रणावलम्बनम् । व्रजन् स सत्वरं मोहाद् ‘‘अतीर्थेऽश्रोत्र्यद् गजम् ॥१४२॥
 हेपोत्रेय^{१४} विवेकः कः कामिनां मुग्धचेतसाम् । उत्पुष्करं स्फुरदन्तं ‘‘प्रोद्यत्तत्प्रतिमानकम् ॥१४३॥

सबमें कौन हूँ ?—मेरी गिनती ही क्या है ? ॥१३२॥ हे देव, जो दूसरे साधारण पुरुषोंको न प्राप्त हो सके ऐसा मेरा सन्मान करते हुए आपने मुझे ऋणी बना लिया है सो क्या सैकड़ों भवोंमें भी कभी इस ऋणसे छूट सकता हूँ ? ॥१३३॥ हे स्वामिन्, ये नाथवंश और चन्द्र वंशरूपी अंकुर भगवान् आदिनाथके द्वारा उत्पन्न किये गये थे और आपके द्वारा वर्धित तथा पालित होकर जबतक पृथिवी है तबतकके लिये स्थिर कर दिये गये हैं ॥१३४॥ आदर सत्कार को जाननेवाले महाराज भरत इस प्रकार विनयसे भरी हुई जयकुमारकी वाणी सुनकर बहुत ही संतुष्ट हुए, उन्होंने वस्त्र, आभूषण तथा सवारी आदिके द्वारा जयकुमारका सत्कार किया तथा सुलोचनाके लिये भी उसके योग्य वस्त्र, आभूषण आदि देकर उसे विदा किया । जयकुमारने भी प्रियाके समान पृथिवीका आलिङ्गनकर महाराज भरतको प्रणाम किया और फिर वहाँसे चल दिया । इसलिये कहना पड़ता है कि पुण्य सम्पादन करनेवाले पुरुषोंकी संपदाएं सम्पदाओंको बढ़ाती हैं । इस प्रकार नगरनिवासी लोग और याचकोंके समूह जिसके साहसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा वह जयकुमार हाथीपर सवार होकर नगरसे बाहर निकला और अपनी हृदयवल्लभाको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ अपने मनके वेगसे प्रेरित हो शीघ्र ही गंगाके किनारे आ गया ॥१३५—१३८॥ वहाँपर सूखे वृक्षकी डालीके अग्रभागपर सूर्यकी ओर मुँह कर रोते हुए कौएको देखकर वह कुमार प्रियाके भयकी आशंका करता हुआ वैसा शूरवीर होनेपर भी प्रेमके वश मूर्च्छित हो गया । आचार्य कहते हैं कि ऐसे रागसे उत्पन्न हुए सुखको भी विकार है । चेष्टासे हृदयकी बातको समझनेवाले और शकुनको जाननेवाले पुरोहितने उसी समय अनेक उपायोंसे सचेतकर आश्वासन दिया और कहा कि सुलोचना तो अच्छी तरह है । इस शकुनसे यही सूचित होता है कि हम लोगोंको जलसे कुछ भय होगा इस प्रकार कहकर पुरोहितने जयकुमारको शान्त किया ॥१३९—१४१॥ उस पुरोहितके वचनोंको प्राणोंका सहारा मानकर वह जयकुमार शीघ्र ही आगे चला और भूलसे उसने अघाटमें ही हाथी चला दिया सो ठीक ही है, क्योंकि विचारहीन कामी पुरुषोंको हेय उपादेयका ज्ञान कहाँ होता है ?

१ अकम्पनेन । २ ऋणेन तद्वान् कृतः । ३ कस्मिन् भवान्तरे । ४ वा अवधारणे । आनृष्यम् अनृणत्वम् । ५ जन्मते । ६ चक्रिणम् । ७ जनयति । ८ याचक । ९ प्राप्तुमिच्छुः । १० रवेः । ११ ध्वनन्तम् । १२ वायसम् । ‘काके तु करदारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः । ध्वाङ्क्षमात्मघोषपरभृद्-बलिभुग्वायसा अपि ।’ इत्यभिधानात् । १३ सामवचनं नीतः । १४ शाकुनिकस्य । १५ अजलोत्तारप्रवेशे । ‘तीर्थं प्रवचने पात्रे लब्धाम्नाये विदां परे । पुण्यारण्ये जलोत्तारे महानद्यां महामुनी ।’ १६ उपादेय । १७ प्रोद्यत्तकुम्भस्थलस्याधोभागप्रदेशकम् । ‘अधः कुम्भस्य वाहीत्यं प्रतिमानमधोऽस्य यत् ।’ इत्यभिधानम् ।

तरन्तं^१ मकराकारं मध्ये^२ हृदमिभाषिणम् । देवी कालीति पूर्वोक्ता^३ सरस्वाः^४ सङ्गमे^५ऽग्रहीत् ॥१४४॥
 'नकाकृत्या स्वदेशस्थः क्षुद्रोऽपि महतां बली । दृष्ट्वा गजं निमज्जन्तं प्रत्यागत्य' तटे स्थिताः ॥१४५॥
 ससंभ्रमं सहापेतुः^६ हृदं हेमाङ्गदादयः । सुलोचनाऽपि तान्वीक्ष्य कृतपञ्चनमस्कृतिः ॥१४६॥
 मन्त्रमूर्तिन् समाधाय हृदये भक्तितोऽर्हन्तः । उपसर्गपितृगन्तिं त्यक्ताहारशरीरिका ॥१४७॥
 प्राविशद् बहुभिः सार्धं गङ्गां गङ्गायै देवता । 'गङ्गापातप्रतिष्ठानगङ्गाकूटाधिदेवता ॥१४८॥
 विबुध्यासनकम्पेन कृतज्ञाऽगत्य सत्वरम् । 'तदानयत्तटं सर्वान् सन्तर्ज्य खलकालिकाम् ॥१४९॥
 स्वयन्मागत्य केनात्र रक्षन्ति कृतपुण्यकान् । गङ्गातटे विकृताशु^७ भयनं सर्वसम्पदा ॥१५०॥
 मणिपीठे समास्थाप्य पूजयित्वा सुलोचनाम् । तव^८ वर्त्तनमत्काराज्जज्ञे^९ गङ्गाधिदेवता ॥१५१॥
 त्वत्प्रसादादिवदं सर्वम् 'अवहृष्टान्मरेशिनः । तपेत्युषते^{१०} जयोऽप्येतत्^{११} किमितिह सुलोचनाम् ॥१५२॥
 उपविन्ध्याद्रि^{१२} विख्यातो विन्ध्यपुर्यामिभूद् विभुः । विन्ध्यकेतुः प्रिया तस्य प्रियङ्गुश्रीस्तयोः सुता ॥१५३॥

वह हाथी पानीमें चलने लगा, उस समय उसकी सूँडका अग्रभाग ऊँचा उठा हुआ था, दाँत चमक रहे थे, गंडस्थल पानीके ऊपर था और आकार मगरके समान जान पड़ता था, इस प्रकार तैरता हुआ हाथी एक गढ़के बीच जा पहुँचा । उसी समय दूसरे सर्पके साथ समागम करते समय जिस सर्पिणीको पहले जयकुमारके सेवकोंने मारा था और जो मरकर काली देवी हुई थी उसने मगरका रूप धरकर जहाँ सरयू गंगा नदीसे मिलती है उस हाथीको पकड़ लिया सो ठीक ही है क्योंकि अपने देशमें रहनेवाला क्षुद्र भी बड़ों बड़ोंसे बलवान् हो जाता है । हाथी को डूबता हुआ देखकर कितने ही लोग लौटकर किनारेपर खड़े हो गये परन्तु हेमाङ्गद आदि घबड़ाकर उसी गढ़में एक साथ घुसने लगे । सुलोचनाने भी उन सबको गढ़में घुसते देख पंच नमस्कार मंत्रका स्मरण किया, उसने मन्त्रकी मूर्तिस्वरूप अर्हन्त भगवान्को बड़ी भक्तिसे अपने हृदयमें धारण किया और उपसर्गकी समाप्ति तक आहार तथा शरीरका त्याग कर दिया ॥१४२-१४७॥ सुलोचना भी अनेक सखियोंके साथ गंगामें घुस रही थी और उस समय ऐसी जान पड़ती थी मानो गङ्गादेवी ही अनेक सखियोंके साथ गंगा नदीमें प्रवेश कर रही हो । इतनेमें ही गंगाप्रपात कुण्डके गंगाकूटपर रहनेवाली गंगादेवीने आसन कंपायमान होनेसे सब समाचार जान लिया और किये हुए उपकारको माननेवाली वह देवी बहुत शीघ्र आकर दुष्ट कालिका देवीको डाँटकर उन सबको किनारेपर ले आई ॥१४८-१४९॥ सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें ऐसे कौन हैं जो पुण्य करनेवालोंकी स्वयं आकर रक्षा न करें । तदनन्तर उस देवीने गंगा नदीके किनारेपर बहुत शीघ्र अपनी विक्रिया द्वारा सब सम्पदाओंसे सुशोभित एक भवन बनाया, उसमें मणिमय सिंहासनपर सुलोचनाको बैठाकर उसकी पूजा की और कहा कि तुम्हारे दिये हुए नमस्कार मंत्रसे ही मैं गंगाकी अधिष्ठात्री देवी हुई हूँ, और सौर्वर्मन्द्रकी नियोगिनी भी हूँ, यह सब तेरे ही प्रसादसे हुआ है । गंगादेवीके इतना कह चुकनेपर जयकुमारने भी सुलोचनासे पूछा कि यह क्या बात है ? ॥१५०-१५२॥ सुलोचना कहने लगी कि विन्ध्याचल पर्वतके समीप विन्ध्यपुरी नामकी नगरीमें विन्ध्यकेतु नामका एक प्रसिद्ध

१ तरन्तीति तरन् तम् । २ हृदस्य मध्ये । ३ पूर्वस्मिन् भवे जयेन राह वने धर्म श्रुतवत्या नाम्ना सह स्थितविजातीयसहचरी । ४ सरयूनद्याः । ५ गङ्गाप्रदेशस्थाने । ६ कुम्भीराकारेण । 'नत्रस्तु कुम्भीरः' इत्यभिधानात् । ७ अभिमुखमागत्य । ८ हृदे प्रविष्टवन्तः । ९ उपासगविसानपर्यन्तम् । १० गङ्गापातनकुण्डस्थान । ११ ताना-ल०, इ०, अ०, स०, प० । १२ निर्माय । १३ त्वया वित्तीर्ण-पञ्चनमस्कारपदात् । १४ अभूवम् । १५ विलासिनी (नियोगिनीति यावत्) । १६ गङ्गादेव्या । १७ जयकुमारोऽप्येतत् किमिति पृष्टवान् । १८ विन्ध्याचलसमीपे ।

विन्ध्यश्रीस्तां पिता तस्याः शिक्षितुं सकलान् गुणान् । मया सह मयि स्नेहाऽमहीशस्य^१ समर्पयत् ॥१५४॥
 वसन्ततिलकोद्याने क्रीडन्ती^२ संकटा विवा । दण्डा तत्र मया दत्तनमस्कारपदान्यलम् ॥१५५॥
 भावयन्ती मृताज्ज्येयं भूत्वाधा^३त् स्नेहिनीं मयि । इत्यब्रवीदसौ^४ सोऽपि ज्ञात्वा सन्तुष्टचेतसा ॥१५६॥
 तत्कालोचितसामोक्त्या गङ्गादेवीं विसर्ज्य^५ ताम् । सबलाकं^६ प्रकुर्वन्तं स्वं चलत्केतुमालया ॥१५७॥
 स्वाभासं सम्प्रविश्योच्चैः सप्रियः सहबन्धुभिः । सस्नेहं राजराजोक्तम्^७ उक्त्वा^८ तत्प्रहितं^९ स्वयम् ॥१५८॥
 पृथक् पृथक् प्रदायात्तनुवभासाद्य^{१०} बल्लभाम् । नीत्वा^{११} तत्रैव तां रात्रिं प्रातस्तथापि भानुवत् ॥१५९॥
 विधातुमश्रुक्तानां^{१२} भुक्तिं^{१३} मुद्योतितखिलः^{१४} । अनुगङ्गं प्रयान् प्रेम्णा कामिन्याः कुस्वत्सलभः^{१५} ॥१६०॥
 कमनीयेरतिप्रोत्तिम् श्राल/पैरतनोत्तराम् । जाह्नवी^{१६} दक्षिणवर्तनाभिः कूलनितम्बिका ॥१६१॥
 'चटुलोज्ज्वलपाठीनलोचना रमणोन्मुखी'^{१७} । तरङ्गबाहुभिर्गाढमालिङ्गनसमुत्सुका ॥१६२॥
 स्वभावसुभगा दृष्टहृदया स्वच्छतागुणात् । तद्वयवनीतफुल्लसुमनोमालभारिणी ॥१६३॥
 'श्रतिवृद्धरसा'^{१८} वेगं सन्वर्तुमसहा द्रुतम् । पश्य कान्ते प्रियं याति स्वानुरूपं पयोनिधिम् ॥१६४॥
 रतेः कामाद् बिना नेच्छा न नीचेभूतमस्पृहा । सङ्गमे^{१९} तन्मयी जाता प्रेम नामेदृशं मूलम् ॥
 साफल्यमेतया^{२०} नित्यम् एति लावण्यमम्बुधेः ॥१६५॥

राजा रहता था । उसकी स्त्रीका नाम प्रियङ्गुश्री था । उन दोनोंके विन्ध्यश्री नामकी पुत्री थी । उसके पिताने मुझपर प्रेम होनेसे मेरे साथ सब गुण सीखनेके लिये उसे महाराज अकम्पनको सौंप दिया ॥१५३-१५४॥ वह विन्ध्यश्री किसी एक दिन उपवनमें क्रीड़ा कर रही थी, वहींपर उसे किसी सांपने काट लिया जिससे मेरे द्वारा दिये हुए पंच नमस्कार मन्त्रका चिन्तवन करती हुई मरकर यह देवी हुई है और मुझपर स्नेह होनेके कारण यहां आई है यह जानकर जयकुमारने संतुष्टचित्त हो शान्तिमय वचन कहकर गंगादेवीको विदा किया । तदनन्तर अपनी प्रिया सुलोचना और इष्ट-बन्धुओंके साथ साथ, फहराती हुई पताकाओंके द्वारा अपने आपको बगुलाओंसे सहित करते हुएके समान जान पड़नेवाले अपने ऊंचे डेरमें प्रवेश किया । बड़े स्नेहसे महाराज भरतके कहे वचन सबको सुनाये, उनकी दी हुई भेंट सबको अलग अलग दी । सुलोचनाको अत्यन्त प्रसन्न किया, वह रात्रि वहीं बिताई और सबेरा होते ही उठकर अपनेमें अनुराग रखनेवाले लोगोंके भोजनके लिये सूर्यके समान समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह कुर्वंशियोंका प्यारा जयकुमार सुलोचनाके प्रेमसे गंगा नदीके किनारे किनारे चलने लगा ॥१५५-१६०॥ वह जाते समय मनोहर वचनोंसे सुलोचनाको बहुत ही संतुष्ट करता जाता था । वह कहता था कि हे प्रिये, देखो यह गंगा नदी अपने अनुरूप समुद्ररूपी पति-के पास बड़ी शीघ्रतासे जा रही है, यह अपनी नाभिरूपी भौर दिखला रही है, दोनों किनारे ही इसके नितम्ब हैं, चंचल और उज्ज्वल मछलियां ही नेत्र हैं, यह क्रीड़ा अथवा पतिके लिये सन्मुख है, तरंगरूपी भुजाओंके द्वारा गाढ आलिङ्गनके लिये उत्कण्ठित सी जान पड़ती है, स्वभावसे सुन्दर है, अपने स्वच्छतारूपी गुणोंसे सबका हृदय हरनेवाली है, दोनों किनारोंपर वनके फूले हुए पुष्पोंकी माला धारण कर रही है, इसका रस अथवा पानी सब ओरसे बढ़ रहा है और अपना वेग नहीं संभाल सक रही है ॥१६१-१६४॥ सो ठीक ही है क्योंकि कामदेवके बिना रतिकी

१ अकम्पनस्य । २ विन्ध्यश्रीः । ३ आगच्छति स्म । ४ सुलोचना । ५ विसकण्ठिकासहितम् । 'बलाका विसकण्ठिका' इत्यभिधानात् । ६ चक्रिणा प्रोक्तम् । ७ भणित्वा । ८ चक्रिप्रेषितम् । ९ दत्त्वा । १० प्रापय्य । ११ स्कन्धावारे । १२ कर्तुम् । १३ असिमण्यादिव्यापारविभज्यम् । १४ प्रकाशितसकल-लोकः । १५ जयः । १६ गङ्गा । 'गङ्गाविष्णुपदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा' इत्यभिधानात् । १७ चञ्चल । १८ समुद्रेण सह रतिक्रीडोन्मुखी । निजपतिसमुद्राभिमुखी वा । १९ अभिवृद्ध-ल० । २० जलस्यासमन्ताद् वेगम् । रागोद्रेकं च । २१ समुद्रस्वरूपा । २२ गङ्गाया । *षट्पादोऽयं श्लोकश्चिन्त्यः ।

उत्पत्तिर्भूता^१ पतुर्धरण्यां बधिता सती^२ । बाधिरेव पतिस्तस्माद् एवाऽभूत् पापनाशिनी ॥१६६॥
 धवला धामिकैर्मान्या सतीनामुपमानताम् । गता कवीश्वरैः सर्वैः स्तूयते वेद्यतेति च ॥१६७॥
 'गुणिनश्चेन्न के 'ना'द्याः संस्तुवन्ति गुणप्रियाः । 'इति गङ्गागतैः श्रव्यैः श्रव्येऽच्चातिमनोहरैः ॥१६८॥
 ततः कतिपर्यैरेव प्रयाणैः कुरुजाङ्गलम् । प्राप्य तद्वर्णनाभ्याजान्मोदयन् काशिपात्मजाम्^३ ॥१६९॥
 'प्राप्तजानपदानीतफलपुष्पादिभिश्च सः । विकसन्नीलनीरेजसरोजातिविराजितैः ॥१७०॥
 प्रत्येत्वेव^४ प्रपश्यन्तीं सरोनेत्रैर्वधूवरम् । 'सहप्रजघनाभोगां वापीकूपोरुनाभिकाम् ॥१७१॥
 परीतजातरूपोच्चप्राकारकटिसूत्रिकाम् । अलङ्कृतमहावीथिविलसद्बाहुबल्लरीम् ॥१७२॥
 सौधोलुङ्गकुचां भास्वद्गोपुराननशोभिनीम् । कुङ्कुमागुण्कपूर्वकर्ममात्रितगात्रिकाम् ॥१७३॥
 नानाप्रसवसन्द्ध्यमालाधमिल्लधारिणीम् । तोरणाबद्धरत्नाविमालालङ्कृतविग्रहाम् ॥१७४॥
 आह्वयन्तीमिवोर्ध्वाधः पतत्केत्वग्रहस्तकैः । द्वारासंवृतिविश्रम्भनेत्रां^५ ॥१७५॥
 पुरोहितैः 'पुरन्ध्रीभिर्मन्त्रिभिर्वेदयविश्रुतैः । वत्तशेषः पुरः स्थित्वा साशीर्वादैः समुत्सुकैः ॥१७६॥

इच्छा नहीं होती है, उत्तम पुरुषोंकी इच्छाएं नीच पदार्थोंपर नहीं होती हैं, यह नदी समुद्रमें जाकर समुद्ररूप ही हो गई हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्रेम ऐसा ही होता है, इसके समागमसे ही समुद्रका लावण्य (सौन्दर्य अथवा खारापन) सदा सफल होता है ॥१६५॥ इस गंगा नदीकी उत्पत्ति पर्वतोंके पति-हिमवान् पर्वतसे है, पृथिवीपर यह बड़ी है और समुद्र ही इसका पति है इसलिये ही यह संसारमें पापोंका नाश करनेवाली हुई है ॥१६६॥ यह सफेद है, धर्मात्मा लोगोंके द्वारा मान्य है, सतियोंको इसकी उपमा दी जाती है और सब कवीश्वर यदि गुणजनोंकी स्तुति न करें तो फिर कौन किसकी स्तुति करेगा ? इस प्रकार सुननेके योग्य गङ्गा सम्बन्धी तथा अन्य अत्यन्त मनोहर कथाओं द्वारा मार्ग तय किया । ॥१६७-१६८॥ तदनन्तर कुछ ही पड़ावों द्वारा कुरुजांगल देश पहुंचकर उसके वर्णनके बहानेसे सुलोचनाको आनन्दित करते हुए जयकुमारने अपनी उस हस्तिनागपुरी नामकी राजधानीमें प्रवेश किया जो कि देशके प्रधान प्रधान पुरुषों द्वारा लाये हुए फल पुष्प आदिकी भेंट तथा खिन्ने हुए नील कमल और सफेद कमलोंसे अत्यन्त सुशोभित सरोवररूपी नेत्रोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो आगे आकर वधू वरको देख ही रही हो । उत्तम धूलीसाल ही जिसका विस्तृत जघन प्रदेश था, बावड़ी और कुएं ही जिसकी विशाल नाभि थी, चारों ओर खड़ा हुआ सुवर्णका ऊंचा परकोटा ही जिसकी करधनी थी, सजी हुई बड़ी बड़ी गलियां ही जिसकी सुशोभित बाहुलताएं थी, राजभवन ही जिसके ऊंचे कुच थे, देदीप्यमान गोपुररूपी मुखसे जो सुशोभित हो रही थी, केशर, अंगुर और कपूरके विलेपनसे जिसका शरीर गीला हो रहा था, जो अनेक प्रकारके फूलोंसे गुंथी हुई मालारूपी केशपाशको धारण कर रही थी, तोरणोंमें बांधी गई रत्न आदिकी मालाओंसे जिसका शरीर सुशोभित हो रहा था, जो ऊपर नीचे उड़ती हुई पताकाओंके अग्रभागरूपी हाथोंसे बुलाती हुई सी जान पड़ती थी, खुले हुए दरवाजे ही जिसके विश्वासपूर्ण नेत्र थे, जो घर-घर होनेवाले उत्सवोंसे उत्कण्ठित सी जान पड़ती थी और इस प्रकार जो दूसरी सुलोचनाके समान सुशोभित हो रही थी । महाराजके दर्शन करनेके लिये उत्कण्ठित हो आशीर्वाद देने-

१ हिमवद्गिरेः । २ प्रशस्ता । ३ गुणवज्जानान् । ४ अनन्धाः । कान्वा अ०, प०, इ०, स०, ल० । ५ इति गङ्गागतैरित्यनेन सह कमनीयैरतिप्रीतिमालापैरिति सम्बन्धः । ६ सुलोचनाम् । ७ सम्प्राप्तजनपदजनानीत । ८ अभिमुखमागत्य । ९ प्रशस्तधूलिकुट्टिमघनविस्ताराम् । १० कवाट-पिघातरहितद्वारनयनानित्यर्थः । ११ गृहमध्ये सोत्सवाम् । १२ कुटुम्बिनीभिः ।

तूर्यमङ्गलनिर्घोषैः पुरन्दर इवापरः । सुलोचनामिवान्यां स्वां प्रविश्य नगरौ जयः ॥१७७॥
 राजगृहं महानन्दविधायि विविधार्थाभिः । 'आवसत् कान्तया साद्धं नगर्या' हृदयं मुदा ॥१७८॥
 तिथ्यादिपञ्चभिः^१ शुद्धैः शुद्धे लग्ने महोत्सवम् । सर्वसन्तोषणं कृत्वा जिनपूजापुरःसरम् ॥१७९॥
 विश्वमङ्गलसम्पत्त्या स्वीचितासनसुस्थिताम् । हेमाङ्गदादिसान्निध्ये राजा जातमहोदयः^२ ॥१८०॥
 सुलोचनां महादेवीं पट्टबन्धं^३ बधधान्मुदा । स्त्रीषु सञ्चितपुण्यासु पर्युरेतावती रतिः ॥१८१॥
 हेमाङ्गवं 'ससौदर्यम्' उपचर्य ससम्भ्रमम् । पुरोभूय^४ स्वयं सर्वभोगैः 'प्राघूर्णकोचितैः' ॥१८२॥
 नृत्यगीतसुखालापैर्वारिणारोहणादिभिः । वनवापीसरःक्रीडाकन्दुकादिविनोदनेः ॥१८३॥
 'अहानि' स्थापयित्वैवं सुखेन कतिचित्कृती । तदोप्तिगतजगदयास्त्रगणिकाभूषणादिकम् ॥१८४॥
 प्रदाय परिवारं च तोषयित्वा यथोचितम् । चतुर्विधेन^५ कोशेन 'तत्पुरीं' 'तमजीगमत्'^६ ॥१८५॥
 सुखप्रमाणैः सम्प्राप्य दृष्ट्वा भूय^७ ससुप्रभम्^८ । प्रणम्याह्लादयत्तस्यात् स बधूवरवार्त्ताया ॥१८६॥
 सुखं काले गलत्येवम् अकम्पनमहोपतिः । तदा संचिन्तयामास विरक्तः कामभोगयोः ॥१८७॥
 अहो मया प्रमत्तेन विषयान्धेन नक्षिता । कष्टं शरीरसंसारभोगनिस्सारता चिरम् ॥१८८॥

वाले पुरोहित, सौभाग्यवती स्त्रियां, मंत्री और प्रसिद्ध प्रसिद्ध सेठ लोग सामने खड़े होकर जिसे शेषाक्षत दे रहे हैं ऐसे उस जयकुमारने तुरही आदि माङ्गलिक बाजोंके शब्दोंके साथ साथ दूसरे इन्द्रके समान अपनी उस हस्तिनागपुरीमें प्रवेश कर अनेक प्रकारकी विभूतियोंसे बहुत भारी आनन्द देनेवाले तथा उस नगरीके हृदयके समान अपने राजभवनमें प्रिया सुलोचनाके साथ साथ बड़े आनन्दसे निवास किया ॥१७०-१७८॥

तदनन्तर बड़े भारी अभ्युदयको धारण करनेवाले महाराज जयकुमारने शुद्ध तिथि, शुद्ध नक्षत्र आदि पाँचों बातोंसे निर्दोष लग्नमें बड़ा भारी उत्सव कराकर सबको संतुष्ट किया और फिर जिनपूजापूर्वक सब मङ्गल-संपदाओंके साथ साथ हेमाङ्गद आदि भाइयोंके सामने ही अपने योग्य आसनपर बैठी हुई सुलोचनाको बड़े हर्षसे पट्टबन्ध बाँधा अर्थात् पट्टरानी बनाया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यसंचय करनेवाली स्त्रियोंमें पतिका ऐसा ही प्रेम होता है ॥१७९-१८१॥ उसके बाद कुशल जयकुमारने स्वयं आगे होकर पाहुनोंके योग्य सब प्रकारके भोगोप-भोगोंसे, नृत्य, गीत और सुख देनेवाले वचनोंसे, हाथी आदिकी सवारीसे, वन, वापिका, तालाब आदिकी क्रीड़ाओंसे और गेंद आदिके खेलोंसे प्रसन्नतापूर्वक हेमाङ्गद और उनके भाइयोंकी सेवा की, कुछ दिन तक उन्हें बड़े सुखसे रक्खा और फिर उनको अच्छे लगनेवाले हाथी, घोड़े, अस्त्र, गणिका तथा आभूषण आदि देकर उनके परिवारके लोगोंको यथायोग्य संतुष्ट किया और फिर रत्न, सोना, चाँदी तथा रुपये-पैसे आदि चारों प्रकारका खजाना साथ देकर उन्हें उनके नगर बनारसको विदा किया । ॥१८२-१८५॥ सुखपूर्वक कितने ही पड़ाव चलकर वे हेमाङ्गद आदि बनारस पहुंचे और माता सुप्रभाके साथ राजा अकंपनके दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और जयकुमार तथा सुलोचनाकी बातचीतसे माता-पिताको आनन्दित करते हुए रहने लगे ॥१८६॥

इस प्रकार सुखपूर्वक बहुत सा समय व्यतीत होनेपर एक दिन महाराज अकंपन काम-भोगोंसे विरक्त होकर इस प्रकार सोचने लगे ॥१८७॥ कि मुझ प्रमादीने विषयोंसे अन्धा

१ निवसति स्म । २ नगरीजनचित्ते इत्यर्थः । ३ तिथिग्रहनक्षत्रयोगकरणैः । तिथिनक्षत्रहोरावार-मुहूर्तैर्वा । ४ महोत्सवे ल० । ५ चकार । ६ ससानुजम् । ७ अग्रे भूत्वा । पुरस्कृत्य वा । ८ अतिथि । ९ दिनानि । १० रत्नसुवर्णरजतव्यवहारयोग्यनाणकम् इति चतुर्विधेन । ११ वाराणसीम् । १२ हेमाङ्गदम् । १३ गमयति स्म । १४ अकम्पनम् । १५ सुप्रभादेवीसहितम् ।

आदावशुच्युपादानम्^१ अशुच्यवयवात्मकम् । विश्वाशुचिकरं पापं दुःखदुःखेष्टितालयम् ॥१८६॥
 निरन्तरश्रवणकोथनवद्वारशरीरकम्^२ ।^३ कृमिपुञ्जचिताभस्मविष्टानिष्टं विनश्वरम् ॥१८७॥
^४ 'तवधुष्य' जडो जगत्सन्तः पञ्चवेन्द्रियाग्निभिः । विश्वेधनैः^५ कुलिङ्गणीव भूयोऽप्यात्^६ कुत्सितां गतिम् ॥
 साऽऽशाखनिः^७ किलात्रैव यत्र^८ ॥^९ विषयमगूषमम् । तां^{१०} पुपूर्वः^{११} किलाद्याहं धनैः सङ्ख्यातिबन्धनैः^{१२} ॥
^{१३} 'यदादाय भवेज्जन्मी यमुक्त्वा मुक्तिभागयम् । तद्याथात्म्यमिति^{१४} ज्ञात्वा कथं पुष्पाति^{१५} धीधनः ॥
 हा हतोऽसि चिरं जन्तो मोहेनाद्यापि^{१६} ते यतः । नास्ति कायाशुचिज्ञानं तस्यागः^{१७} क्वाति^{१८} दुर्लभः ॥
 दुःखी सुखी सुखी दुःखी दुःखी दुःखेव केवलम् ।^{१९} धन्यधन्योऽ^{२०} धनो धन्यो निर्धनो निर्धनः सदा ॥१८५॥
 एवंविधैस्त्रिभिर्जन्तुः ईप्सितानीप्सितैश्चिरम् ।^{२१} चतुर्थं भंगमप्राप्य बध्ममीति भवान्धे ॥१८६॥
^{२२} 'यां' 'वष्टयमसौ वष्टि' 'परं वष्टि स चापराम् । साऽपि वष्टयपरं कष्टमनिष्टेष्टपरम्परा^{२३} ॥१८७॥

होकर इतने दिन तक शरीर, संसार और भोगोंकी असारता नहीं देखी यह बड़े खेदकी बात है ॥१८८॥ प्रथम तो यह शरीर अपवित्र उपादानों (माता-पिताके रज वीर्य) से बना है, फिर इसके सब अवयव अपवित्र हैं, यह सबको अपवित्र करनेवाला है, पापरूप है और दुःख देनेवाली खोटी खोटी चेष्टाओंका घर है ॥१८९॥ इसके नौ द्वारोंसे सदा मल-मूत्र बहा करता है और अन्तमें यह विनश्वर शरीर कीड़ोंका समूह, चिताकी राख तथा विष्ठा बनकर नष्ट हो जानेवाला है ॥१९०॥ ऐसे शरीरमें रहकर यह मूर्ख प्राणी, जिनमें संसारके सब पदार्थ ईंधन रूप हैं ऐसी पांचों इन्द्रियोंकी अग्नियोंसे तपाया जाकर कुलिङ्गी जीवके समान फिरसे नीच गतियोंमें पहुंचता है ॥१९१॥ जिसमें यह सारा संसार एक परमाणुके समान है ऐसा वह प्रसिद्ध आशारूपी गढ़ा इसी शरीरमें है, इसी आशारूपी गढ़ेको मैं आज थोड़ेसे धनसे पूरा करना चाहता हूं ॥१९२॥ जिस शरीरको लेकर यह जीव जन्म धारण करता है-संसारी बन जाता है और जिसे छोड़कर यह जीव मुक्त हो जाता है इस प्रकार शरीरकी वास्तविकता जानकर भी बुद्धिमान् लोग न जाने क्यों उसका भरण-पोषण करते हैं ॥१९३॥ हे जीव, खेद है कि तू मोहकर्मके द्वारा चिरकालसे ठगा गया है, क्योंकि तुझे आजतक भी अपने शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान नहीं हो रहा है, जब यह बात है तब अत्यन्त दुर्लभ उसका त्याग भला कहाँ मिल सकता है ॥१९४॥ इस संसारमें जो दुःखी हैं वे सुखी हो जाते हैं, जो सुखी हैं वे दुःखी हो जाते हैं और कितने ही दुःखी दुःखी ही बने रहते हैं इसी प्रकार धनी निर्धन हो जाते हैं, निर्धन धनी हो जाते हैं और कितने ही निर्धन सदा निर्धन ही बने रहते हैं । इस तरह यह जीव जो सुखी है वह सुखी ही रहे और जो धनी है वह धनी ही बना रहे यह चौथा भंग नहीं पाकर केवल ऊपर कहे हुए तीन तरहके भंगोंसे ही संसाररूपी समुद्रमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है । ॥१९५-१९६॥ यह पुरुष जिस स्त्रीको चाहता है वह स्त्री किसी दूसरे पुरुषको चाहती है, जिसको वह चाहती है वह भी किसी अन्य स्त्रीको चाहता है इस प्रकार यह इष्ट अनिष्टकी

१ अशुचिशुक्रशोणितमुख्यकारणम् । २ पूतिगन्धित्वम् । ३ कृमिनां पुञ्जः चितायां भस्म विष्ठा पुरीषो निष्ठायां मन्ते यस्मिन् तत् । ४ तस्मिन् शरीरे । ५ स्थित्वा । ६ सकलविषयेन्धनैः । ७ गच्छेत् । ८ अभिनिवेशाकरः । ९ जन्तावेव । १० आशाखनी । ११ सकलवस्तु । १२ आशाखनिम् । १३ पूरयितुमिच्छः । १४ गणनाविशेषः । १५ शरीरम् । १६ तच्छरीरस्य यथास्वरूपम् । १७ पुष्टिनयति । १८ वैराग्योत्पन्नकालेऽपि । १९ शरीरत्यागः । २० कुत्रास्ति । २१ धनवान् । २२ धनरहितः । २३ सुखी सुखीति धनी धनीति चतुर्थभेदम् । २४ स्त्रियम् । २५ वष्टि इच्छति । अयम् पुमान् । २६ अन्यपुरुषम् । २७ अनिष्टवाञ्छासन्ततिः । 'वष्टि योगेच्छयोः' इत्यभिधानात् ।

यदिष्टं तबनिष्टं स्यात् यवनिष्टं तदिष्ट्यते । इहेष्टानिष्टयोरिष्टा नियमेन न हि स्थितिः ॥१६८॥
 'स सा'सा 'तत्तदेवेवा'सा स स्यात् सोऽपि'तत्पुनः । तत्स स्यात्तत्तदेवात्र चक्रके वक्रसंक्रमः ॥१६९॥
 अन्तमस्य विधास्यामि चिन्तयित्वा जिनोदितम् । सन्ततं जन्मकान्तारभ्रान्तो भीतोऽहमन्तकात् ॥२००॥
 भोगोऽयं भोगिनो भोगो 'भोगिनो' 'भोगिनामकृत् । 'सावन्मात्रोऽपि नास्माकं भोगो भोगेऽपि ध्रुवम् ॥
 भुज्यते 'यः स भोगः स्याद् भुक्तिर्वा भोगः' इष्यते । तद्द्वयं नरकेऽप्यस्ति तस्माद् भोगेषु का रतिः ॥२०२॥
 भोगास्तृणाग्निंसंबुध्यै 'दीपनीयोषधोपमाः । 'एभिः प्रबृद्धतृणान्तेः 'शान्त्यै चिन्त्यमिहापरम् ॥२०३॥
 इत्यतो न सुधीः सद्यो चान्ततृणाविषो भुजम् । हेमाङ्गदं समाहूय 'पूज्यपूजापुरस्सरम् ॥२०४॥
 अभिषिच्य चलां मत्वा बध्वा पट्टेन वाञ्छलम् । लक्ष्मीं समर्प्य गत्वोच्चैः अभ्यासं वृषभेशितुः ॥२०५॥
 प्रव्रज्य बहुभिः सार्द्धं 'मूर्धन्यैः स सत्प्रभः' । क्रमाच्छ्रेणीं समारुह्य कैवल्यमुदपादयत् ॥२०६॥
 अथ जन्मान्तरापातमहास्नेहातिनिर्भरः । सुलोचनाननानन्द'नेन्दुबिम्बात् क्षुतां सुधाम् ॥२०७॥
 'उन्मीलनीलनीरेजरजिभिल्लोकैः' पिबन् । पूरयन् श्रोत्रपात्राभ्यां 'तक्ष्णीर्गतिरसायनम् ॥२०८॥

परंपरा बहुत ही दुःख देनेवाली है ॥१९७॥ जो इष्ट है वह अनिष्ट हो जाता है और जो अनिष्ट है वह इष्ट हो जाता है, इस प्रकार संसारमें इष्ट अनिष्टकी स्थिति किसी एक स्थानपर नियमित नहीं रहती ? ॥१९८॥ आजका पुरुष अगले जन्ममें स्त्री हो जाता है, स्त्री नपुंसक हो जाती है, नपुंसक स्त्री हो जाता है, वही स्त्री फिर पुरुष हो जाता है, वह पुरुष भी नपुंसक हो जाता है, वह नपुंसक फिर पुरुष हो जाता है अथवा नपुंसक नपुंसक ही बना रहता है, इस प्रकार इस चक्रमें बड़ा टेढ़ा संक्रमण करना पड़ता है ॥१९९॥ इसलिये श्रीजिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनोंका चिन्तन कर मैं अवश्य ही इस संसारका अन्त करूंगा क्योंकि निरन्तर संसाररूपी वनके भीतर परिभ्रमण करनेमें मैं अब यमराजसे डर गया हूं ॥२००॥ भोग करनेवाले मनुष्यों के ये भोग ठीक सर्पके फवाके समान हैं और भोगनेवाले जीवको भोगी नाम देनेवाले हैं । तथा इतना सब होनेपर भी उन भोगोंमेंसे एक भोग भी हमारा नहीं है यह निश्चय है ॥२०१॥ जिसका भोग किया जाता है उसे भोग कहते हैं अथवा उपभोग किया जाना भोग कहलाता है वे दोनों प्रकारके भोग नरकमें भी हैं इसलिये उन भोगोंमें क्या प्रेम करना है ? ॥२०२॥ जिस प्रकार औषधसे पेटकी अग्नि प्रदीप्त हो जाती है उसी प्रकार इन भोगोंसे भी तृष्णारूपी अग्नि प्रदीप्त हो उठती है अतः इन भोगोंसे बड़ी हुई तृष्णारूपी अग्निकी शान्तिके लिये कोई दूसरा ही उपाय सोचना चाहिये ॥२०३॥ इस प्रकार तृष्णारूपी विषको उगल देनेवाले बुद्धिमान् राजा अकम्पनसे बहुत शीघ्र हेमाङ्गदको बुलाकर पूज्य-परमेष्ठियोंकी पूजापूर्वक उसका राज्याभिषेक किया, लक्ष्मीको चंचल समझ पट्टबन्धसे बांधकर उसे अचल बनाया और हेमाङ्गदको सौंपकर श्रीभगवान् वृषभदेवके समीप जाकर अनेक राजाओं और रानी सुप्रभाके साथ दीक्षा धारण की तथा अनुक्रमसे श्रेणियां चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न किया ॥२०४-२०६॥

अथातन्तर अन्य जन्मसे आये हुए बहुत भारी स्नेहसे भरा हुआ जयकुमार खुले हुए नीलकमलोंके समान सुशोभित होनेवाले अपने नेत्रोंसे सुलोचनाके मुखरूपी आनन्ददायी

१ इष्टं भवति । २ स पुमान् । ३ सा स्त्री स्यात् । ४ तत् नपुंसकम् । ५ एषा स्त्री स्यात् । ६ तत् नपुंसकम् । ७ तदेव पुनपुंसकमेव स्यात् । ८ चक्रवदावर्तमानसंसारे । ९ संसारस्य । १० सर्पस्य । ११ भोगीति नामकृत् । भोगीति नामकरः । सर्पनामकृदित्यर्थः । १२ भोगीति नामकृन्मात्रोऽपि । १३ पदार्थः । १४ पदार्थानुभवनक्रिया । १५ दीपनहेतुः । १६ भोगैः । १७ उपशान्तिकारणम् । १८ परमेष्ठीपूजापूर्वकम् । १९ निश्चलं यथा भवति तथा । पट्टेन बद्ध्वा वा निबन्धनं कृत्वेव समर्प्यति सम्बन्धः । २० क्षत्रियैः । २१ सुप्रभादेवीसहितः । २२ आनन्दहेतुचन्द्र । २३ निस्तृताम् । २४ कान्तिम् । २५ विकसशीलोत्पलवद्विराजमानैः । २६ नेत्रैः । -लौचनैः तं विहाय सर्वत्र । २७ सुलोचनावचनरूपगीतम् ।

‘हरन् कर्त्तिकराकारकरालिङ्गनसङ्गतः’ । ‘तद्वाग्रकृपिकास्तःस्थं रसं’ ‘स्पर्शमवेदिनम् ॥२०६॥
 तद्विम्बाधरसम्भावितामृतास्वादनीत्सुकः । तद्वक्त्रावारिजामोदाम्मोवमानोऽनिशं भृशम् ॥२१०॥
 ‘अत्रैव न पुनर्बेति’ भम वासासमागमः’ । ‘स सुलोचनया स्वानि चक्षुरादीभ्यतर्पयत् ॥२११॥
 ‘प्रमाणकालभावेभ्यो यद्वतेः समता तयोः । ततः सम्भोगशृङ्गारावारापारान्तगौ हि तौ ॥२१२॥

‘अतिपरिणततया लोपितालेपनादिः’

स सकलकरणानां^१ गोचरीभूय^२ तस्याः ।

हितपरविषयाणां^३ साऽपि^४ ‘तत्संभनेतो

समरतिकृतसाराण्यन्वभूतां सुखानि ॥२१३॥

मनसि मनसिजस्यावापि^५ सौख्यं न ताभ्यां

पृथगनुगतभावः^६ सङ्गताभ्यां नितान्तम् ।

‘करणमुखसुखं स्तंस्तन्मनः प्रीतिमापत्

भवति^७ परमुखं च क्वापि सौख्यं सुतृप्त्यं ॥२१४॥

शिशिरसुरभिर्मन्दोच्छ्वासजैः स्वैः समीर-

‘मृदुमधुरवचोभिः स्वादनीयप्रदेशैः ।

ललिततनुलताभ्यां मार्दवंकाकराभ्याम्

अखिलमनयतां तौ सौख्यमात्मेन्द्रियाणि ॥२१५॥

चन्द्रमासे भरते हुए अमृतको पीता था, सुलोचनाके वचन और गीतरूपी रसायनको अपने कानरूपी पात्रोंसे भरता था, हाथीकी सूँडके समान आकारवाले हाथोंके आलिंगनसे युक्त हो स्वर्शन इन्द्रियसे जानने योग्य उसके शरीररूपी कुड्डाके भीतर रहनेवाले रसको ग्रहण करता था, विम्बी फलके समान सुशोभित उसके ओठोंमें रहनेवाले अमृतका आस्वाद लेनेमें सदा उत्सुक रहता था, उसके मुखरूपी कमलकी सुगन्धिसे रातदिन अत्यन्त हर्षित होता रहता था और ‘स्त्री समागम मुझे इसी भवमें है अन्यभवमें नहीं है, ऐसा मानकर ही मानो सुलोचना के द्वारा अपनी चक्षु आदि इन्द्रियोंको संतुष्ट करता रहता था ॥२०७-२११॥ चूँकि प्रमाण, काल और भावसे इन दोनोंके प्रेममें समानता थी इसलिये ही वे दोनों संभोग शृङ्गाररूपी समुद्रके अन्त तक पहुँच गये थे ॥२१२॥ खूब बड़े हुए प्रेमसे जिसने विलेपन आदि छोड़ दिया है ऐसा वह जयकुमार सुलोचनाकी सब इन्द्रियोंका विषय रहता था और सुलोचना भी जय-कुमारके हित करनेवाले विषयोंमें तत्पर रहती थी, इस प्रकार ये दोनों ही समान प्रीति करना ही जिनका सारभाग है ऐसे सुखोंका उपभोग करते थे ॥२१३॥ पृथक् पृथक् उत्पन्न हुए परिणामोंसे खूब मिले हुए उन दोनोंने अपने मनमें कामदेवका सुख नहीं पाया था किन्तु इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उन उन सुखोंसे उनके मन प्रीतिको अवश्य प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि दूसरे-के द्वारा उत्पन्न हुआ सुख क्या कहीं उत्तम तृप्तिके लिये हो सकता है ? ॥२१४॥ अपने स्वासोच्छ्वाससे उत्पन्न हुए शीतल सुगन्धित और मन्द पवनसे, कोमल और मधुर वचनोंसे, स्वाद

१ स्वीकुर्वन् । २ आलिङ्गने हृदयङ्गमः ‘सङ्गतं हृदयङ्गमम्’ इत्यभिधानात् । ३ सुलोचना-शरीररसकूपमध्यस्थित । ४ स्पर्शजनकम् । ५ इह जन्मन्येव । ६ उत्तरभवे नास्तीति वा । ७ स्वीसङ्गः । ‘प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा’ इत्यभिधानात् । ८ विजयः । ९ योनिपुष्पादि-प्रमाणात् समरतिप्रभृतिकालात् अन्योन्यानुरागादिभावाच्च । १० अतीवप्रवृद्ध । ११ लुप्तश्रीखण्डकुङ्कुमचर्चामाल्याभरणादिः । १२ समस्तेन्द्रियाणाम् । १३ विषयीभूत्वा । १४ हितस्रक्चन्दनादिविषयाणाम् । १५ सुलोचनापि । १६ जयस्य । १७ न प्राप्यते स्म । १८ पदार्थः । १९ इन्द्रियोपाय-जनितसुखैः । २० परम् अन्यवस्तु मुखं द्वारमुपायो यस्य तत् । परमुखं क्वापि भवति न कुत्राप्येत्यर्थः । २१ आस्वादितुं योग्याधरादिप्रदेशैः ।

हृतसरसिजसारंरिष्टचेटीयमानं:

सततरत्ननिमित्तजलिभागप्रवृत्तः ।

मृदुशिशिरतरैः सम्प्राप्तुस्तौ समीरैः

सुरतविरतिजातस्वेदविच्छेदसौख्यम् ॥२१६॥

तां तस्य वृत्तिरनुवर्तयति स्म तस्या-

इच्छेनं तदेव रतितृप्तिनिमित्तमासीत् ।

प्रेमापदत्र निजभावमचिन्त्यमन्त्य-

सातोदयश्च भवभूतिफलं तदेव ॥२१७॥

कामोजगमत् सुरतवृत्तिषु तस्य शिष्य-

भावं सुधीरिति रतिश्च सुलोचनायाः ।

को गर्बमूढहति चेन्न वृथाभिमानी

स्वेष्टार्थसिद्धिविषयेषु गुणाधिकेषु ॥२१८॥

एवं सुखानि तनुजान्यनुभूय तौ च

नैवेद्यतुङ्गिचररतेऽप्यभिलाषकोटिम्^१ ।

धिवक्त्रष्टमिष्टविषयोत्थसुखं सुखाय

तद्दीप्तविश्वविषयाय बुधा यतश्चम्^२ ॥२१९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे जयसुलोचना-

सुखानुभवव्यावर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४५॥

लेने योग्य अधर आदि प्रदेशोंसे और कोमलताकी एक खान स्वरूप सुन्दर शरीररूपी लतासे वे दोनों अपनी इन्द्रियोंको समस्त सुख पहुंचाते थे ॥२१५॥ जिसने कमलका सार भाग हरण कर लिया है, जो प्रिय दासके समान आचरण करता है, निरन्तर संभोगका साधन रहता है, झरोखेके मार्गसे आता है और अत्यन्त कोमल (मन्द) तथा शीतल है ऐसे पवनसे वे दोनों ही संभोगके बाद उत्पन्न हुए पसीना सूखनेका सुख प्राप्त करते थे ॥२१६॥ जयकुमारकी प्रवृत्ति सुलोचनाके अनुकूल रहती थी और सुलोचनाकी प्रवृत्ति जयकुमारके अनुकूल रहती थी । उन दोनोंका परस्पर एक दूसरेके अनुकूल रहना ही उनके रतिजन्य संतोषका कारण था जो चिन्तनमें न आ सके ऐसा प्रेम इन्हीं दम्पतियोंमें पूर्णताको प्राप्त हुआ था, इन्हींके सातावेदनीय-का अन्तिम उदय था और यही सब इनके जन्म लेनेका फल था ॥२१७॥ बुद्धिमान् कामदेव, संभोग चेष्टाओंके समय जयकुमारका शिष्य बन गया था और रति सुलोचनाकी शिष्या बन गई थी सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्य यदि व्यर्थका अभिमानी न हो तो ऐसा कौन हो जो अपने इष्ट पदार्थकी सिद्धिके विषयभूत अधिक गुणवाले पुरुषोंके साथ अभिमान करे ? ॥२१८॥

इस प्रकार शरीरसे उत्पन्न हुए सुखोंका अनुभव कर चिरकाल तक रमण करनेपर भी वे दोनों इच्छाओंकी अन्तिम अवधिको प्राप्त नहीं हुए थे—उनकी इच्छाएं पूर्ण नहीं हुई थीं । इसलिये कहना पड़ता है कि इष्ट विषयोंसे उत्पन्न हुए सुखको भी धिक्कार है । हे पण्डितो, तुम उसी सुखके लिये प्रयत्न करो जो कि संसारके सब विषयोंसे अतीत है ॥२१९॥ इस प्रकार भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें जय-कुमार और सुलोचनाके सुखभोगका वर्णन करनेवाला यह पैतालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

१ इष्टविषयायमानं । २ गवाक्षपथ । ३ सुरतावसानजात । ४ अन्योन्यानुवर्तनमेव । ५ प्राप्त ।

६ जयसुलोचनयोः । ७ निजयोर्दम्पत्योर्भावो यत्र तत् । ८ अपश्चिमसुखोदयश्च । ९ जन्मप्राप्तिफलम् ।

१० नैव प्राप्तुः । ११ अन्तम् । १२ कारणात् । १३ प्रयत्नं कुरुष्वम् ।

षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व

जयः प्रासादमध्यास्य ^१दन्तावलगतो मुखा । यदृच्छयाऽन्यदालोक्य गच्छन्तो खगदम्पती ^२ ॥१॥

हा मे प्रभावतीत्येतद् आलपन्नतिविह्वलः । ^३रतिमेवाहितः ^४सद्यः सहायोक्त्य मूर्च्छया ॥२॥

तया ^५पारावतद्वन्द्वं ^६तत्रैवालोक्त्य कामिनी । हा मे रतिवरेत्युक्त्वा साऽपि मूर्च्छामुपागता ॥३॥

^७दक्षवेदीजनक्षिप्रकृतशीतक्रिया कमात् । सद्यः कुमुदिनीवाप प्रबोधं शीतबोधितः ॥४॥

^८हिमचन्दनसम्मिश्रवारिभिर्मन्दमाहृतैः । सोऽप्यमूर्च्छो दिशः पश्यन् मन्दमन्दतनुवपः ^९ ॥५॥

यूयं सर्वेऽपि ^{१०}सायन्तनाम्भोजानुकृताननाः । किमेतदिति तत्सर्वं जानानोऽपि स नागरः ^{११} ॥६॥

अनेकानुनयोपायैर्गोत्रस्खलनं ^{१२}दुःखितान् । सुलोचनां समाश्वास्य स्मरन् जन्मान्तरप्रियाम् ॥७॥

^{१३}आकारसंभृतिं कृत्वा तामेवालययन् ^{१४}स्थितः । वञ्चनावुञ्चवः ^{१५}सर्वे प्रायः कान्तासु कामिनः ॥८॥

तयोर्जन्मान्तरात्तमीयवृत्तान्तस्मृत्यनन्तरम् । स्वर्गादनुगतो बोधस्तूतीयो ^{१६}व्यक्तिमीधिवान् ^{१७} ॥९॥

तद्विलोक्य सपत्न्योऽस्या ^{१८}श्रीमती सशिवङ्करा । पराश्च भूतरोद्रेकादित्यन्योन्यं तदावुबन् ^{१९} ॥१०॥

अथानन्तर किसी अन्य समय जयकुमार अपने महलकी छतपर आनन्दसे बैठा था कि इतनेमें ही अपनी इच्छानुसार जाते हुए विद्याधर दम्पती दिखे, उन्हें देखकर 'हा मेरी प्रभावती' इस प्रकार कहता हुआ वह बहुत ही बेचैन हुआ और मूर्च्छाकी सहायता पाकर शीघ्र ही प्रेमको प्राप्त हुआ । भावार्थ—पूर्वभवका स्मरण होनेसे मूर्च्छित हो गया ॥१—२॥ इसी प्रकार सुलोचना भी उसी स्थानपर कवृत्तरीका युगल देखकर 'हा मेरे रतिवर' ऐसा कहकर मूर्च्छाको प्राप्त हो गई ॥३॥ जिस प्रकार चन्द्रमासे कुमुदिनी शीघ्र ही प्रबोधको प्राप्त हो जाती है—खिल उठती है उसी प्रकार चतुर दासी जनोंके द्वारा किये हुए शीतलोपचारके क्रमसे वह सुलोचना शीघ्र ही प्रबोधको प्राप्त हुई थी—मूर्च्छारहित हो गई थी ॥४॥ कपूर और चन्दन मिले हुए जलसे तथा मन्द मन्द वायुसे कुछ लज्जित हुआ और दिशाओंकी ओर देखा हुआ वह जयकुमार भी मूर्च्छारहित हुआ ॥५॥ यद्यपि वह चतुर जयकुमार सब कुछ समझता था तथापि पूछने लगा कि तुम लोगोंके मुँह संध्याकालके कमलोंका अनुकरण क्यों कर रहे हैं ? अर्थात् कान्तिरहित क्यों हो रहे हैं ? ॥६॥ पतिके मुँहसे दूसरी स्त्रीका नाम निकल जानेके कारण दुखी हुई सुलोचनाको जयकुमारने अनेक प्रकारके अनुनय-विनय आदि उपायोंसे समझाया तथा दूसरे जन्मकी प्रिया प्रभावती समझकर अपने मुँहका आकार छिपा वह उसी के साथ बातचीत करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि सभी कामी पुरुष स्त्रियोंके ठगनेमें अत्यन्त चतुर होते हैं ॥७—८॥ उन दोनोंके जन्मान्तर सम्बन्धी अपना समाचार स्मरण होनेके बाद ही स्वर्ग पर्यायसे सम्बन्ध रखनेवाला अवधिज्ञान भी प्रकट हो गया ॥९॥ यह सब देखकर श्रीमती शिवङ्करा तथा और भी जो सुलोचनाकी सौतेली थीं वे उस समय ईर्ष्याके

१ शोभायै विन्यस्तकृत्रिमगज । दन्तावलगतो ल० । २ विद्याधरदम्पती । ३ प्रीतिम् । ४ प्राप्तः । स्वीकृतो वा । ५ कपोत । ६ सौधाग्रे । ७ चतुर । ८ कपूर । ९ ईषलज्जावान् । १० अस्तमयकाल । ११ निपुणः । १२ प्रभावतीति नामान्तरग्रहण, सुलोचनाया अग्रे प्रभावतीति अन्यस्त्रीनामग्रहण । १३ जन्मान्तरप्रियास्मरणजातरोमाञ्चप्रभृत्याकारप्रावरणम् । १४ सम्भावयन् । 'सम्भावणमाभावणमालापः कुक्षुञ्चिका' इति वैजयन्ती । १५ प्रतीताः । -वञ्चवः ल० । १६ अवधिज्ञानम् । १७ गतवान् । १८ सुलोचनायाः । १९ ऊनूः ।

स्त्रीषु मायेति या वार्ता सत्यां तामद्य कुर्वती । पतिमूर्च्छां स्वमूर्च्छायाः 'प्रत्ययोऽकृत्य मायया ॥११॥
पश्य कृत्रिममूर्च्छात्तभावनाव्यक्तसंबन्धः । 'सन्ततान्तःस्थितप्रौढप्रेमप्रेरितचेतना ॥१२॥
कन्याव्रतविलोपात्तगोत्रस्खलनदूषिता । पतिं रतिवरोक्तत्वाऽ'यान्मूर्च्छां कुलदूषिणी ॥१३॥
इयं शीलवतीत्येनां' निस्स्वनन् वर्णयत्प्रथम् । प्रायो रक्तस्य^१ दोषोऽपि गुणवत् प्रतिभासते ॥१४॥
प्रभावतीति सम्मूह्य^२ कितवः^३ 'कोपिनीमिमां । 'प्रसिदादयिषुः शोकं तत्प्रीत्या विदधाति नः ॥१५॥
'एतान् सर्वास्तदालापान् जयोऽवधिविलोचनः । विदित्वा सस्मितं पश्यन् प्रियायाः रमेरमाननम् ॥१६॥
कान्ते जन्मान्तरावाप्तं विश्वं वृत्तान्तमावयोः । व्यावर्ण्यमां सभां तुष्टिकौतुकापहृतां कुरु ॥१७॥
इति 'प्राचीदयत् साऽपि प्रिया तद्भाववेदिनी । कथां कथयितुं कृत्स्नां प्राक्स्त^४ कलभाविणी ॥१८॥
इह जम्बूमति द्वीपे विदेहे प्राचि^५ पुष्कला-वती विषयमध्यस्था नगरी पुण्डरीकिणी ॥१९॥
तत्राभवत् प्रजापालः प्रजा राजा प्रपालयन् । फलं धर्मार्थकामानां स्वीकृत्य कृतिनां वरः ॥२०॥
कुबेरमित्रस्तस्यासीद् राजश्रेष्ठो^६ 'प्रतिष्ठितः । द्वात्रिंशद्वनक्त्याद्या भायस्तिस्य मनःप्रियाः ॥२१॥
गृहे तस्य सन्तुष्टगे नानाभवनवेष्टिते । वसन् रतिवरो नाम्ना धीमान् पारावतोत्तमः ॥२२॥

उद्वेकसे परस्परमें इस प्रकार कहने लगीं ॥१०॥ देखो, यह सुलोचना मायाचारसे पतिकी मूर्च्छाकी अपनी मूर्च्छाका कारण बनाकर 'स्त्रियोंमें माया रहती है' इस कहावतको कैसा सत्य सिद्ध कर रही है । और इस प्रकार जिसने कृत्रिम मूर्च्छाके द्वारा प्रकट हुई भावनाओंका साफ साफ संवरण कर लिया है, जिसकी चेतना सदासे हृदयमें बैठी हुए प्रौढ प्रेमसे प्रेरित हो रही है जो कन्याव्रतके भंग करनेसे प्राप्त हुए गोत्रस्खलन (भूलसे दूसरे पतिका नाम लेने)से दूषित है तथा कुलको दूषण लगानेवाली है ऐसी यह सुलोचना अपने पहलेके पतिको 'हे रतिवर' इस प्रकार कहकर बनावटी मूर्च्छाको प्राप्त हुई है ॥११-१३॥ यह जयकुमार इसे 'यह बड़ी शीलवती है, इस प्रकार कहता हुआ वर्णन करता है सो ठीक ही है क्योंकि रागी पुरुषको प्रायः दोष भी गुणके समान जान पड़ते हैं ॥१४॥ 'हे प्रभावति' ऐसा कहकर मूर्च्छित हो, क्रोध करनेवाली इस सुलोचनाको प्रसन्न करनेकी इच्छा करता हुआ यह धूर्त कुमार उसके प्रेमसे ही हम लोगोंको शोक उत्पन्न कर रहा है ॥१५॥ अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करने-वाला जयकुमार उन लोगोंकी इन सब बातोंको जानकर मन्द हंसीके साथ साथ सुलोचनाके मुस्कुराते हुए मुखको देखता हुआ कहने लगा कि 'हे प्रिये ! तू हम दोनोंके पूर्वभवका सब वृत्तान्त कहकर इस सभाको संतुष्ट तथा कौतुकके वशीभूत कर !' यह सुनकर पतिके अभिप्रायको जाननेवाली और मधुर भाषण करनेवाली सुलोचनाने भी पूर्वभवकी सब कथा कहनी प्रारम्भ की ॥१६-१८॥

इस जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि पुष्कलावती देशके मध्यमें स्थित है । उस नगरीका राजा प्रजापाल था जो कि समस्त प्रजाका पालन करता हुआ धर्म, अर्थ तथा कामका फल स्वीकार कर सब पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ था ॥१९-२०॥ उस राजाका कुबेरमित्र नामका एक प्रसिद्ध राजशेठ था और उसकी हृदयको प्रिय लगनेवाली धनवती आदि बस्तीस स्त्रियां थीं ॥२१॥ अनेक भवनोंसे घिरे हुए उस शेठके अत्यन्त ऊंचे महलमें एक रतिवर नामका कबूतर रहता था जो कि अतिशय बुद्धिमान् और सब कबूतरोंमें

१ कारणीकृत्य । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविज्ञानहेतुषु' इत्यभिधानात् । २ रतिवरेत्युक्तपुरुषे प्रवृद्धस्नेहेन प्रेरितमनसा । ३ अगच्छत् । ४ -त्येवं ल० । -त्येतां अ०, स०, इ०, प० । ५ निस्तनन् ट० । ब्रुवन् । ६ अनुरक्तस्य । ७ मूर्च्छां गत्वा । ८ धूर्तः । ९ प्रभावतीनामग्रहणात् कुपिताम् । १० प्रसादयितुमिच्छुः । ११ एनान् । १२ अवादीत् । १३ उपक्रान्तवती । १४ पूर्वविदेहे । १५ श्रीमानित्यर्थः ।

कदाचिद् राजगेहागतेन वैश्येक्षिता स्वयम् । स्नेहेन सस्मितालापः स्वहस्तेन समुद्धतः ॥२३॥
 कदाचित् कामिनीकान्तकराब्जापितशर्करा-सस्मिभ्रतान् सुशालीयतण्डुलानभिभक्षयन् ॥२४॥
 कदाचिच्छ्रेष्ठिनोद्दिष्टः^१ हेतुदृष्टान्तपूर्वकम् । ह्युत्सलक्षणं धर्मं भावयन् प्राणिनेहितम् ॥२५॥
 कदाचिद् भवनायातयतिपादसरोजजम् । रेणुजालं निराकुर्वन्^२ पक्षाभ्यो प्रत्युपागतः^३ ॥२६॥
 स^४ कदाचिद् गतिः का स्यात् पापापापात्मनामिति । कुतूहलेन पृष्टः सन् जनैस्तुण्डेन निर्विशन् ॥२७॥
 अधोभागमयोध्वं च मौनीवागमपारगः । क्षयोपशममाहात्म्यातिर्यञ्चोऽपि विवेकिनः ॥२८॥
 क्रीडभ्रानाप्रकारेण कान्तया रतिषेणया^५ । सार्धमेवं चिरं तत्र सुखं कालमजीगमत्^६ ॥२९॥
 असी रतिवरः कान्तस्त्वमहं सा तव प्रिया । रतिषेणा भवावर्त्तं जन्तुः किं किं न जायते ॥३०॥
 सुतः कुबेरमित्रस्य धनवत्याश्च पुण्यवान् । जातः कुबेरकान्ताख्यः कुबेरो वा परः सुधीः ॥३१॥
 द्वितीय इव तस्यासीत् प्राणः सोऽनुचराग्रणीः^७ । प्रियसेनाह्वयो बाल्याद् आरभ्य कृतसङ्गतिः ॥३२॥
 आजन्मनः^८ कुमारस्य कामधेनुरनुत्तमा^९ । मनोऽभिलषितं दुग्धे समस्तसुखसाधनम् ॥३३॥
 क्षेत्रं निष्पादयत्येकं गन्धशालिभनारतम् । इक्षूनमृतदेशीयान्^{१०} अन्यत्^{११} स्थूलास्तनुत्वचः ॥३४॥
 स्वयं मनोहरं वीणा दध्वमीति^{१२} निरन्तरम् । तत्स्नानसमये सर्वरोगस्वेदमलापहम् ॥३५॥

श्रेष्ठ था ॥२२॥ कभी तो राजभवनसे आये हुए सेठ कुबेरमित्र बड़े स्नेहसे हँस हँसकर वार्त्तिलाप करते हुए उसे अपने हाथपर उठा लेते थे, कभी वह स्त्रियोंके सुन्दर करकमलों द्वारा दिये हुए और शक्कर मिले हुए उत्तम धानके चावलोंने खाता था, कभी सेठके द्वारा हेतु तथा दृष्टान्तपूर्वक कहे हुए प्राणिहितकारी अहिंसा धर्मका चिन्तन करता था, कभी भवनमें आये हुए मुनिराजके चरणकमलोंकी धूलिको उनके समीप जाकर अपने पंखोंसे दूर करता था, जब कभी कोई कुतूहलवश उससे पूछता था कि पापी तथा पुण्यात्मा लोगोंकी क्या गति होती है ? तब वह शास्त्रोंके जाननेवाले किसी मौनी महाशयके समान इशारेसे चोंचके द्वारा नीचेका भाग दिखाता हुआ पापी लोगोंकी गति कहता था और उसी चोंचके द्वारा ऊपरका भाग दिखलाता हुआ पुण्यात्मा लोगोंकी गति कहता था सो ठीक ही है क्योंकि क्षयोपशमके माहात्म्यसे तिर्यञ्च भी विवेकी हो जाते हैं ॥२३-२८॥ इस प्रकार वह कबूतर अपनी रतिषेणा नामकी कबूतरी के साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ा करता हुआ वहाँ सुखसे समय बिताता था ॥२९॥ सुलोचना कह रही है कि वह रतिवर ही आप मेरे पति हैं और वह रतिषेणा ही मैं आपकी प्रिया हूँ । देखो इस संसाररूपी आवर्तमें भ्रमण करता हुआ यह जीव क्या क्या नहीं होता है ? ॥३०॥ उस कुबेरदत्त सेठके धनवती स्त्रीसे एक कुबेरकान्त नामका पुत्र हुआ था जो कि अतिशय पुण्यमान्, बुद्धिमान् तथा दूसरे कुबेरके समान जान पड़ता था ॥३१॥ उस कुबेरकान्तका एक प्रियसेन नामका श्रेष्ठ मित्र था जो कि बाल्य अवस्थासे ही उसके साथ रहता था और उसके दूसरे प्राणोंके समान था ॥३२॥ एक अत्यन्त उत्तम कामधेनु कुमार कुबेरकान्तके जन्मसे ही लेकर उसकी इच्छाके अनुकूल सुखके सब साधनोंको पूरा करती थी । वह कामधेनु प्रति दिन एक खेत तो सुगन्धित धान्यका उत्पन्न करती थी और एक खेत अमृतके समान मीठे, पतले छिलकेवाले बड़े बड़े ईखोंका उत्पन्न करती थी ॥३३-३४॥ इसके सिवाय वही कामधेनु कुमारके सामने निरन्तर मनोहर वीणा बजाती थी, और उसी कामधेनुके प्रतापसे उसके स्नानके

१ -द्विष्ट-ज० । २ धूलिसमूहम् । ३ अपसारयन् । ४ अभिमुखागतः सन् । ५ पारावतः ।

६ अधामिकाणां धामिकाणाम् । ७ रतिषेणसंज्ञया निजभार्यया पारावत्या । ८ गमयति स्म । ९ धनद इव ।

१० मित्र । ११ जननकालादारभ्य । १२ न विद्यते उत्तमा यस्याः सकाशात् इत्यनुत्तमा, अनुपमेत्यर्थः ।

१३ सुधासदृशान् । १४ परं द्वितीयं क्षेत्रम् । १५ भृशं ध्वनति ।

सुगन्धिसलिलं गाङ्गं^१ गम्भीरमधुरं^२ ध्वनन् । अम्भोधरो नभोभागाद् आसन्नावबभूवुञ्चति ॥३६॥

कल्पद्रुमद्वयं वस्त्रभूषणानि प्रयच्छति । अन्नमानं ददात्यन्यद् द्वयं कल्पमहीरहः^३ ॥३७॥

एवमन्यच्च भोगाङ्गम् अशेषं देवनिमित्तम् । शश्विभ्रविशतस्तस्य पूर्णं प्राथमिकं वयः ॥३८॥

तद्वीक्ष्य^४ पितरावेष्टं^५ किमेकामभिलाषुकः । किं बह्वीरिति चित्तेन सन्दिहानौ^६ समाकुलौ ॥३९॥

प्रियसेनं^७ समाहूय तत्प्रशनात्तन्मनोगतम्^८ । अवादीधरतां मंत्रीं सैव या त्वेकचित्ता ॥४०॥

ततः समुद्रदत्ताख्यो धनवत्या^९ सहाभवत् । स्वसा^{१०} कुबेरमित्रस्य^{११} तन्नामैवैतयोः^{१२} सुता ॥४१॥

प्रियदत्ताह्वया तस्याश्चेटिका^{१३} रतिकारिणी । कन्यकास्तां विधायादिं द्वात्रिंशत्सुन्दराकृतीः ॥४२॥

श्रेष्ठी कदाचिदुद्याने यक्षपूजाविधौ सुधीः । सुपरीक्ष्य निमित्तेन^{१४} प्रियदत्तां गुणान्विताम् ॥४३॥

अवधार्याख्य पुत्रस्य^{१५} पञ्चताराबलान्विते । दिने महाविभूत्यनां^{१६} कल्याणविधिनाऽग्रहीत् ॥४४॥

तन्निमित्तपरीक्षायाम् अवलोकितुमागते । सुते गुणवती राज्ञो^{१७} यशस्वत्यभिधा परा ॥४५॥

भाजनं^{१८} भक्ष्यसम्पूर्णमदत्तवति^{१९} माकुले^{२०} (?) ! स्वाभ्यां^{२१} लज्जाभरात्प्रवदने जातनिविदे^{२२} ॥४६॥

समय समीपवर्ती आकाशसे आकर मधुर तथा गम्भीर गर्जना करते हुए मेघ सब प्रकारके रोग, पसीना और मलको हरण करनेवाला गंगा नदीका सुगन्धित जल बरसाते थे ॥३५-३६॥ उस कुमारके लिये एक कल्पवृक्ष वस्त्र देता था, एक आभूषण देता था, एक अन्न देता था और एक पेय पदार्थ देता था ॥३७॥ इस प्रकार इनके सिवाय देवोंके दिये हुए और भी सब प्रकारके भोगोंका निरन्तर उपभोग करते हुए उस कुमारकी पहली अवस्था पूर्ण हुई थी ॥३८॥ पहली अवस्थाको पूर्ण हुआ देखकर माता पिताको चिन्ता हुई कि यह एक कन्या चाहता है अथवा बहुत । उसी चिन्तासे वे कुछ संदेह कर रहे थे और कुछ व्याकुल भी हो रहे थे । उन्होंने कुबेरकान्तके मित्र प्रियसेनको बुलाकर उसके मनकी बात पूछी और उसके कहनेपर उन्होंने निश्चय कर लिया कि इसके 'एक पत्नीव्रत है'—यह एक ही कन्या चाहता है, सो ठीक ही है क्योंकि दोनोंका एक चित्त हो जाना ही मित्रता कहाती है ॥३९-४०॥

तदनन्तर—उसी नगरमें समुद्रदत्त नामका एक सेठ था, जो कि कुबेरमित्रकी स्त्री धनवती का भाई था और उसे कुबेरमित्रकी बहिन कुबेरमित्रा व्याही गई थी । इन दोनोंके प्रियदत्ता नामकी एक पुत्री हुई थी और रतिकारिणी उसकी दासी थी । समुद्रदत्त सेठके प्रियदत्ता आदि बत्तीस कन्याएं थीं । किसी एक दिन उस बुद्धिमान् सेठने एक बागमें यक्षकी पूजा करते समय सुन्दर आकारवाली उन बत्तीसों कन्याओंकी निमित्तवश परीक्षा की और उन सबमें प्रियदत्ताको ही गुणयुक्त समझा । फिर सूर्य, चन्द्र, गुरु, शुक्र और मंगल इन पांचों ताराओंके बलसे सहित किसी शुभ दिनमें बड़े वैभवेके साथ कल्याण करनेवाली विधिसे उस प्रियदत्ताको अपने पुत्रके लिये स्वीकार किया ॥४१-४४॥ राजा प्रजापालकी गुणवती

१ गङ्गासम्बन्धि । २ गम्भीरं मधुरं ब०, अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ कल्पवृक्षस्य । ४ अनुभवतः । ५ जननीर्जनकी । ६ एतामित्यपि पाठः । स्त्रियम् । ७ सन्देहं कुर्वन्ती । ८ कुबेरकान्तस्य मित्रम् । ९ कुबेरकान्तस्याभिप्रायम् । १० एकपत्नीव्रतधारणमित्यवधारितवन्ती । ११ कुबेरमित्रस्य भार्यया धनवत्या सहोत्पन्न इत्यर्थः । १२ भगिनी । १३ कुबेरमित्राह्वया । १४ समुद्रदत्तकुबेरमित्रयोः । १५ सखी । १६ द्वात्रिंशत्कन्यकानामेकैकस्य एकैकं भाजनं दत्तं यस्या हस्ते अनर्घ्यं रत्नं समागतं सा मम पुत्रस्य प्रियेति सुपरीक्ष्य । १७ तिथ्यादिपञ्चनक्षत्रबलान्विते । १८ प्रियदत्ताम् । १९ प्रजापालनृपस्य । २० भक्ष-स०, ब०, इ०, प०, अ०, स० । २१ अददति सति । २२ मातुले अ०, प०, म०, इ०, ल०, ट० । निज मामे श्रेष्ठिनि । २३ आत्मभ्याम् । २४ उत्पन्नवैराग्ये ।

अमितानन्तमत्यायिकाभ्यां^१ संयमं परम् । आदवाते स्म यात्येवं काले तस्मिन् धृषीपती ॥४७॥
 लोकपालाय बत्वाऽऽत्मलक्ष्मीं संयममागते । शीलगुप्तगुरोः पाद्वे शिवङ्करवचनान्तरे ॥४८॥
 देव्यः कनकमालाद्याः^२ परे^३ चोपाययुस्तपः । दुर्गमं च व्रजन्त्यल्पाः प्रभुर्विद पुरस्सरः ॥४९॥
 लोकपालोऽपि सम्प्राप्तराज्यस्थीविश्रुतोदयः । कुबेरमित्रबुद्ध्यैव धरित्रीं प्रत्यपालयत् ॥५०॥
 मन्त्री च फल्गुमत्याख्यो बालोऽसत्यवचः प्रियः । सवयस्को^४ नृपस्याज्ञः^५ प्रकृत्या चपलः^६ खलः ॥५१॥
 तत्समीपे^७ नृपेणामा यद्वा तद्वा^८ मुखागतः । शङ्कमानो वचो वक्तुं श्रेष्ठचपायं विचिन्त्य सः ॥५२॥
 स्वीकृत्य^९ शयनाध्यक्षं^{१०} सामवानैस्त्वया निशि । देवतावत्तिरोभूय राजन् पितृसमं गुहम्^{११} ॥५३॥
 विनयाद् विच्युतं राजश्रेष्ठिनं तव सन्निधौ । विधाय सर्वथा मां स्वाः^{१२} कार्यकाले स हूयताम्^{१३} ॥५४॥
 इति वक्तव्यमित्याख्यत्^{१४} सोऽपि सर्वं तयाकरोत् । अर्थार्थिभिरकर्तव्यं न लोके नाम किञ्चन ॥५५॥
 श्रुत्वा तद्वचनं राजा^{१५} सभीराहूय मानुलम् । नगन्तव्यमनाहूतैरि^{१६} त्यनालोच्य^{१७} सोऽब्रवीत् ॥५६॥
 पश्चाद् विषविपाकिन्यः^{१८} प्रागनालोचितोक्तयः । श्रेष्ठी तद्वचनात् सद्यः सोद्वेगं^{१९} स्वगृहं ययौ ॥५७॥

यशस्वती नामकी दो कन्वाएं भी वह नैमित्तिक परीक्षा देखनेके लिये आई थीं, जब मामा कुबेरमित्रने भोजनसे भरे हुए पात्र उन्हें नहीं दिये अपने आप ही लज्जाके भारसे उनके मुख नीचे हो गये और उसी समय उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥४५-४६॥ उन्होंने उसी समय अमितमति और अनन्तमति आर्थिकाके समीप उत्तम संयम धारण कर लिया । इस प्रकार कितना ही समय व्यतीत होनेपर राजा प्रजापालने भी अपनी सब लक्ष्मी लोकपाल नामक पुत्रके लिये देकर शिवंकर नामके वनमें शीलगुप्त नामक मुनिराजके समीप संयम धारण कर लिया । इसी प्रकार कनकमाला आदि रानियोंने भी कठिन तपश्चरण धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि यदि राजा आगे चलता है तो अल्प शक्तिके धारक लोग भी उसी कठिन रास्तेसे चलने लगते हैं ॥४७-४९॥ इधर जिसे राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई है और जिसका वैभव सब जगह प्रसिद्ध हो रहा है ऐसा राजा लोकपाल भी कुबेरमित्रकी सम्मतिके अनुसार ही पृथिवीका पालन करने लगा ॥५०॥ उस राजाका फल्गुमति नामका एक मंत्री था, जो अज्ञानी था, असत्य बोलनेवाला था, राजाकी समान उमरका था, भूर्ख था और स्वभावसे चंचल तथा दुर्जन था ॥५१॥ वह मंत्री कुबेरदत्त सेठके सामने राजाके साथ गुहंघर आये हुए यद्वा तद्वा वचन कहनेमें कुछ डरता था इसलिये वह सेठको राजाके पाससे हटाना चाहता था । उसने राजाके शयनगृहके मुख्य पहरेदारको समझा बुझाकर और कुछ धन देकर अपने वश कर लिया, उसे समझाया कि तू रातके समय देवताके समान तिरोहित होकर राजासे कहना कि हे राजन्, राजसेठ कुबेरमित्र पिताके समान बड़े हैं, सदा अपने पास रखनेमें उनकी विनय नहीं हो पाती इसलिये उन्हें हमेशा अपने पास नहीं रखिये, कार्यके समय ही उन्हें बुलाया जाय इस प्रकार फल्गुमतिने शयनगृहके अध्यक्षसे कहा और उसने भी सब काम उसीके कहे अनुसार कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि धन चाहनेवाले लोगोंके द्वारा नहीं करने योग्य कार्य इस संसारमें कुछ भी नहीं है ॥५२-५५॥ शयनगृहके अधिकारीकी बात सुनकर राजाको भी कुछ भय हुआ और उसने बिना विचारे ही मामा (कुबेरमित्र) को बुलाकर कह दिया कि आप बिना बुलाये न आवें ॥५६॥ जो बात पहले बिना विचार किये ही कही जाती है उसका फल पीछे विपके

१ समीपे । २ पुरो ल० । ३ प्राप्तवन्तः । ४ समानवयस्कः । ५ नृपश्चान्यः इत्यपि पाठः । द्वितीयो नृपः । मन्त्रीत्यर्थः । ६ असमर्थः । ७ कुबेरमित्रसन्निधौ । ८ यत्किञ्चित् । ९ स्ववशं कृत्वा । १० प्रियवचनसुवर्णरत्नादिदानैः । ११ पूज्यम् । १२ मां स्म तिष्ठ । १३ आहूयताम् । १४ शयनाध्यक्षः । १५ सभवः । १६ अनाहूयमानैः शब्दभिः । १७ अविचार्य । १८ विषवद् विपाकवत् । १९ उद्वेगग्रहणम् ।

राजा कदाचिदग्राजीद् घटया ललिताख्यया । विहारार्थं वनं तत्र बाण्यामालोक्य विस्मयात् ॥५८॥
तटशुष्कांघ्रिपासन्नशाखाप्रस्थपरिस्फुरन् । परार्ध्यबायसानीतपद्मरागमणिप्रभाम् ॥५९॥
मणिं मत्वा प्रविश्यान्तर्नेषु^१ केनाप्यलम्ब्यसौ^२ । भ्रान्त्या प्रवर्तमानानां कुतः क्लेशाद् विना फलम् ॥६०॥
चिरं निरीक्ष्य निचिष्णाः सर्वे ते पुरमागमन् । बुद्धिर्नाग्रेसरी यस्य^३ न निर्बन्धः^४ फलत्यसौ^५ ॥६१॥
कदाचिद् भूपतिः श्रेष्ठिस्तुतया^६ रक्तचित्तया । वसुमत्या विभावयाम् श्रात्मसौभाग्यसूचिना ॥६२॥
कमेण^७ कुङ्कुमाद्रेण ललाटे स्फुटमङ्कितः^८ । कान्ताः किं किं न कुर्वन्ति स्वभागपतिते नरे ॥६३॥
पटुबन्धात् परं मत्वा तत्कृपाङ्कं महीपतिः । प्रातरास्थानमध्यास्य मन्त्र्यादीनित्यबुधत् ॥६४॥
ललाटे यदि केनापि राजा पादेन ताडितः । कर्तव्यं तस्य किं वाच्यं^९ ततो मन्त्र्यन्नवीदिदम् ॥६५॥
पटुत् ललाटे नान्येन स्पृश्यः स यदि ताडितः । पादेन केनचिद् वध्यः स प्राणान्तमिति स्फुटम् ॥६६॥
तदाकर्ण्यवधूयेन^{१०} स्मितेनाहूय मातुलम् । नृपोऽप्राक्षीत् स^{११} चाहंतत् प्रस्तुतं प्रस्तुतार्थवित् ॥६७॥
तस्य पूजा विधातव्या सर्वातिशकारसम्पदा । इति तद्वचनात्पटुचा मणिं वार्ता न्यवेदयत् ॥६८॥

समान होता है । राजाके वचन सुनकर सेठ भी दुःख सहित शीघ्र ही अपने घर चला गया ॥५७॥ किसी एक दिन राजा ललितघट नामक हाथीपर बैठकर विहार करनेके लिये वनमें गया, उस वनमें एक बावड़ी थी, उसके तटपर एक सूखा वृक्ष था, उसकी एक शाखा बावड़ीके निकटसे निकली थी, उस शाखाके अग्रभागपर एक कोवेने कहींसे देदीप्यमान बहुमूल्य पद्मराग मणि लाकर रख दी । बावड़ीमें उस मणिकी कान्ति पड़ रही थी, राजा तथा उसके सब साथियों ने उस कान्तिकी मणि रागभा और यह देखकर सबको आश्चर्य हुआ—उस मणिकी लेनेके लिये सब बावड़ीके भीतर घुसे परन्तु उनमेंसे वह मणि किसीको भी नहीं मिली सो ठीक ही है क्योंकि भ्रान्तिसे प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोंको क्लेशके सिवाय और क्या फल मिल सकता है ॥५८—६०॥ उन सब लोगोंने बावड़ीमें वह मणि बहुत देरतक देखी परन्तु जब नहीं मिली तब उदास हो अपने नगरकी लौट आये सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रयत्नमें बुद्धि अग्रेसर नहीं होती वह प्रयत्न कभी सफल नहीं होता ॥६१॥ किसी समय प्रेमसे भरी हुई वसुमती नामकी सेठकी पुत्रीने रात्रिके समय अपने सौभाग्यको सूचित करनेवाले तथा कुंकुमसे गीले अपने पैरसे राजाके ललाट में स्पष्ट चिह्न बना दिया सो ठीक ही है क्योंकि पुरुषके अपने आधीन होनेपर स्त्रियां क्या क्या नहीं करती हैं ? ॥६२—६३॥ राजाने उस पैरके चिह्नको पटुबन्धसे भी अधिक माना और सबेरा होते ही सभामें बैठकर मंत्री आदिसे इस प्रकार पूछा कि यदि कोई पैरसे राजाके ललाट-पर ताड़न करे तो उसका क्या करना चाहिये ? यह सुनकर फल्गुमति मंत्रीने कहा कि राजाका जो ललाट पटुके सिवाय किसी अन्य वस्तुके द्वारा छुआ भी नहीं जा सकता उसे यदि किसीने पैरसे ताड़न किया है तो उसे प्राण निकलने तक मारना चाहिये ॥६४—६६॥ यह सुनकर राजाने उस मंत्रीका तिरस्कार किया तथा मन्द मन्द हँसीके साथ मामा कुबेरमित्रको बुलाकर उनसे सब हाल पूछा । प्रकृत बातको जाननेवाला कुबेरमित्र कहने लगा कि जिसने आपके शिरपर पैरसे प्रहार किया है उसकी सब प्रकारके अभूषणरूपी संपदासे पूजा करनी चाहिये । इस प्रकार उसके वचनोंसे संतुष्ट होकर राजाने वनविहारके समय बावड़ीमें दिखनेवाले मणि-

१ अगमत् । प्राग्राजीत् ल० । २ परार्ध्यमिति पद्मरागस्य विशेषणम् । ३ ललितघटाख्यजनेषु । ४ लब्धः । ५ मणिः । ६ पुरुषस्य । तस्य ट० । ७ अविच्छिन्नप्रवृत्तिः । ८ न फलप्रदो भवति । ९ निजभार्यया । १० पादेन । ११ ताडित इत्यर्थः । १२ भवद्भिर्भवेत्तद्व्यम् । १३ परित्यज्य । १४ कुबेरमित्रः ।

मणिं जलमध्येऽस्ति तटस्थतरुसंश्रितः । प्रभाव्याप्यामिति प्राहु तद्विचिन्त्य^१ वणिग्वरः ॥६६॥
 तदा कुबेरमित्रस्य प्रज्ञामज्ञानमात्मनः । दौष्ट्यं च मन्त्रिणो ज्ञात्वा पश्चात्तापान्महीपतिः ॥७०॥
 पश्य धूर्तरहं मूढो वञ्चितोऽस्मीति सर्वदा । श्रेष्ठिनं प्राप्तसम्मानं^२ प्रत्यासन्नं व्यधात् सुधीः ॥७१॥
 तन्त्रावायमहाभारं^३ ततः प्रभृति भूपतिः । तस्मिन्नारोप्य निर्व्यग्रः सधर्मं काममन्वभूत् ॥७२॥
 कदाचित् कान्तया दृष्टपलितो निजमूर्द्धनि । श्रेष्ठी तां सत्यमद्यत्वं धर्मपत्नीत्यभिष्टुवन् ॥७३॥
 दृष्ट्वा विमोक्ष्य^४ राजानं वरधर्मगुरोस्तपः^५ । सार्धं समुद्रदत्ताद्यैः आदाय सुरभूधरं^६ ॥७४॥
 तावुभौ ब्रह्मलोकान्तेऽभूतां लोकान्तिकौ सुरौ । किन्न साध्यं यथाकालपरिस्थित्या^७ मनीषिभिः ॥७५॥
 अन्येद्युः प्रियदत्ताऽसीं^८ दत्वा दानं मुनीशिने । भक्त्या विपुलमत्याख्यचारणाय यथोचितम् ॥७६॥
 सम्प्राप्य नवधा पुण्यं तपसः सन्निधिर्मम । किमस्तीत्यश्वदीद् व्यक्तविनया मुनिपुङ्गवम् ॥७७॥
 पुत्रलाभार्थं तच्चित्तं विदित्वाऽवधिलोचनः । वामेतरकरे धीमान् स्पष्टमङ्गुलिपञ्चकम् ॥७८॥
 कनिष्ठामङ्गुलिं वामहस्तेऽसी समदर्शयत् । पुत्रान्कालान्तरे पञ्च साऽऽञ्चकामात्मजाभ्यपि^९ ॥७९॥
 ते^{१०} कदाचिज्जगत्पालचक्रैस्तस्य सुते सभम् । अमितानन्तमत्याख्ये^{११} गुणज्ञे गुणभूषणे ॥८०॥

की बात निवेदन की ॥६७-६८॥ वैश्योंमें श्रेष्ठ कुबेरमित्रने विचारकर कहा कि वह मणि पानीके भीतर नहीं थी किन्तु किनारेपर खड़े हुए वृक्षपर थी, बावड़ीमें केवल उसकी कान्ति पड़ रही थी ॥६९॥ यह सुनकर उस समय राजा लोकपाल कुबेरमित्रकी बुद्धिमत्ता, अपनी मूर्खता और मंत्रीकी दुष्टता जानकर पश्चात्ताप करता हुआ इस प्रकार कहने लगा—“देखो इन धूर्तोंने मुझ मूर्खको खूब ही ठगा ।” इस प्रकार कहकर वह बुद्धिमान् राजा सेठका आदर-सत्कार कर उसे सदा अपने पास रखने लगा ॥७०-७१॥ उस दिनसे राजाने तन्त्र अर्थात् अपने राष्ट्रकी रक्षा करना और अवाय अर्थात् परराष्ट्रोंसे अपने सम्बन्धका विचार करना इन दोनोंका बड़ा भारी भार सेठको सौंप दिया और आप निर्द्वन्द्व होकर धर्म तथा काम पुरुषार्थका अनुभव करने लगा ॥७२॥ किसी समय सेठकी स्त्रीने सेठके शिरमें वाल देखकर सेठसे कहा । सेठने यह कहते हुए उसकी बड़ी प्रशंसा की कि तू आज सचमुच धर्मपत्नी हुई है । उस सेठने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजाको छोड़कर समुद्रदत्त आदि अन्य सेठोंके साथ साथ देवगिरि नामक पर्वतपर वरधर्मगुरुके समीप तप धारण किया और दोनों ही तपकर ब्रह्मलोकके अन्तमें लौकान्तिक देव हुए सो ठीक ही है क्योंकि समयके अनुकूल होनेवाली परिस्थितिसे बुद्धिमानोंको क्या क्या सिद्ध नहीं होता ? ॥७३-७५॥

किसी दूसरे दिन प्रियदत्ता (समुद्रदत्तकी पुत्री और कुबेरकान्तकी स्त्री) ने विपुलमति नामके चारण ऋद्धिधारी महामुनिको नवधा भक्तिपूर्वक दान देकर पुण्य संपादन किया और फिर विनय प्रकटकर उन्हीं मुनिराजसे पूछा कि मेरे तपका समय समीप है या नहीं ! ॥७६-७७॥ अवधिज्ञान ही हैं नेत्र जिनके ऐसे बुद्धिमान् मुनिराजने यह जानकर कि इसका चित्त संतानको चाह रहा है अपने दाहिने हाथकी पांच अंगुली और बायें हाथकी छोटी अंगुली दिखाई और उससे सूचित किया कि पांच पुत्र और एक पुत्री होगी । तथा कालान्तरमें उस प्रियदत्ताने भी पांच पुत्र और एक पुत्री दिखलाई अर्थात् उत्पन्न की ॥७८-७९॥ किसी समय गुणरूप आभूषणोंको धारण करनेवाली, जगत्पाल चक्रवर्तीकी पुत्री, अमितमति और अनन्तमति नाम

१ विचार्य । २ -सम्मानं अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ स्वराष्ट्रपरराष्ट्रमहाधुरम् । ४ आत्मानं राजा मोक्षयित्वेत्यर्थः । ५ वरधर्मगुरोः समीपे । ६ सुरनाम्नि करिमश्चिद् गिरौ । ७ कुबेरदत्त-समुद्रदत्तौ । ८-परिच्छित्त्या ट० । कालानुरूपेण ज्ञानेन । ९ कुबेरकान्तप्रिया । १० एका पुत्रीम् । ११ प्रसिद्धे । १२ मणिन्यौ अ०, प०, स०, इ० । गुणिन्यौ ल० ।

प्रजापालतनूजाभ्यां यशस्वत्या तपोभूता । गुणवत्या च सम्प्राप्ते पुरं 'तत्परमद्विकम् ॥८१॥
 राजा^१ सातः पुरः श्रेष्ठो^२ 'चानयोनिर्कटे चिरम् । श्रुत्वा सद्धर्मसद्भावं दानाद्युद्योगमाययौ ॥८२॥
 कदाचिच्छ्रेष्ठिनी गेहं जङ्घाचारणयोर्युगम् । प्राविशद् भक्तितो स्वापयतां तौ दम्पती मुदा ॥८३॥
 'तद्दुष्टिमाश्रयिज्ञातप्राग्भवं तत्पदाम्बुजम् । कपोतमिधुनं पक्षेः परिस्पृश्याभिनम्य^३ तत् ॥८४॥
 'गलिताग्न्योन्यसम्प्रीति बभूवालोक्य तन्मुनी^४ । जातसंसारनिर्वेगौ निर्गत्यापगता गृहात् ॥८५॥
 प्रियदत्तेऽङ्गितसंतदवगत्यान्यदा^५ तु ताम् । रतिषेणामपुच्छते नाम प्राग्जन्मनीति किम् ॥८६॥
 सा तुण्डेनालिखन्नाम रतिवेगेति वीक्ष्य तत्^६ । भर्मेषा पूर्वभार्येति कपोतः प्रीतिमीयिवान् ॥८७॥
 तथा रतिवरः पृष्टः स्वनाम 'प्रियदत्तया । 'सुकान्तोऽस्म्यहमित्येषोऽप्यक्षराप्यलिखद् भुवि ॥८८॥
 तस्मिन्नीक्ष्य भर्मेषायं पतिरित्यभिलाषुका । रतिषेणाऽप्यगात्सेन सङ्गमं^७ 'विधेयुग्रहात् ॥८९॥
 'तत्सभावतिनामेतत् श्रुत्वा प्रीतिरभूदलम् । पुनः शुश्रूषवश्चासन् कथाशेषं^८ सकौतुकाः ॥९०॥
 अन्यच्चाकर्णितं दृष्ट्वा भ्रावाभ्यां यदि चेत्त्वया । जायते तच्च वक्तव्यमित्युक्तवति कौरवे^९ ॥९१॥
 निजवगमूताम्भोभिः सिञ्चन्ती तां सभां शुभाम् । सुलोचनाऽश्र्वीत् सम्यग्जायते श्रूयतामिति ॥९२॥

की गणिनी (आधिकाओंकी स्वामिनी), तप धारण करनेवाली, प्रजापालकी पुत्री यशस्वती और गुणवतीके साथ साथ उत्कृष्ट विभूतिसे सुशोभित उस पुण्डरीकिणी नगरीमें पधारी ॥८०-८१॥ सब अन्तःपुरके साथ साथ राजा लोकपाल और सेठ कुबेरकान्त भी उन आधि-काओंके समीप गये और चिरकालतक सभीचीनधर्मका अस्तित्व सुनकर दान देना आदि उद्योग-को प्राप्त हुए ॥८२॥ किसी एक दिन सेठ कुबेरकान्तके घर दो जंघाचारण मुनि पधारे । दोनों ही दम्पतियोने बड़ी भक्ति और आनन्दके साथ उनका पङ्गाहन किया ॥८३॥ उन मुनियोंके दर्शन मात्रसे ही जिसने अपने पूर्वभवके सब समाचार जान लिये हैं ऐसे कबूतर कबूतरी (रति-वर-रतिषेणा)के जोड़ेने अपने पंखोंसे मुनिराजके चरणकमलोंका स्पर्श कर उन्हें नमस्कार किया और परस्परकी प्रीति छोड़ दी । यह देखकर उन मुनियोंको भी संसारसे वैराग्य हो गया और दोनों ही निराहार सेठके घरसे निकलकर बाहर चले गये ॥८४-८५॥ इशारोंको समझनेवाली प्रियदत्ताने यह सब जानकर किसी समय रतिषेणा कबूतरीसे पूछा कि पूर्वजन्म-में तुम्हारा क्या नाम था ? ॥८६॥ उसने भी चोंचसे 'रतिवेगा' यह नाम लिख दिया । उसे देखकर यह पूर्वजन्मकी मेरी स्त्री है यह जानकर कबूतर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८७॥ इसी प्रकार प्रियदत्ताने रतिवर कबूतरसे भी उसके पूर्वजन्मका नाम पूछा तब उसने भी मैं पूर्व जन्ममें सुकान्त नामका था ऐसे अक्षर जमीनपर लिख दिये ॥८८॥ उन्हें देखकर और यह मेरा ही पति है यह जानकर उसीके साथ रहनेकी अभिलाषा करती हुई रतिषेणा भी देवके अनुग्रहसे उसीके साथ समागमको प्राप्त हुई—दोनों साथ साथ रहने लगे ॥८९॥ यह सब सुनकर सभामें बैठे हुए सभी लोगोंको बहुत भारी प्रसन्नता हुई और कथाका शेष भाग सुननेकी इच्छा करते हुए सभी लोग बड़ी उत्कण्ठासे बैठे रहे ॥९०॥ 'इसके सिवाय हम दोनोंने और भी जो कुछ देखा या सुना है उसे यदि जानती हो तो कहो' इस प्रकार जयकुमारके कहनेपर अपने 'वचनामृतरूपी जलसे उस शुभ सभाको सींचती हुई सुलोचना कहने लगी—'हाँ, अच्छी तरह

१ पुण्डरीकिणीपुरम् । २ लोकपालः । ३ कुबेरकान्तः । ४ अमितानन्तमत्योः ।

५ जङ्घाचारणद्वयावलोकनमात्र । ६ नत्वा । ७ विगलितपरस्परत्याग्यन्तस्नेहवदित्यर्थः । ८ कपोत-मिधुनम् । ९ गलितमोहमिति ज्ञात्वा । गम्यान्—ल०, अ०, प०, इ० । १० लिखितनामाक्षरम् ।

११ निजपूर्वजन्मनाम । १२ सुकान्ताख्योऽह—ल० । १३ विधेरानुकूल्यात् । १४ जयकुमारसभावतिनाम् । सपत्न्यादीनाम् । १५ जातनिर्वेदात् भिक्षामगृहीत्वा निर्गत्य गतचारणादिशेषकथाम् । १६ जयकुमारे ।

तदा मुनेर्गृहाद् भिक्षां त्यक्त्वा गमनकारणम् । अज्ञात्वा भूपतेः^१ प्रज्ञाद्^२ आहामितमतिः^३ श्रुतम्^४ ॥६३॥
 विषयेऽस्मिन्^५ लक्ष्मणाभूत्प्रत्यासन्नं^६ वनं महत् । अस्ति धान्यकमालाख्यं तदभ्यर्णं^७ पुरं परम् ॥६४॥
 शोभानगरमस्येशः^८ प्रजापालमहीपतिः । देवश्रीस्तस्य देव्यासीत् सुखदा श्रीरिवापरा ॥६५॥
 शक्तिषेणोऽस्य^९ सामन्तस्तस्याभूत् प्रीतिदायिनी । अटवीश्रीस्तयोः^{१०} सत्यदेवः सूनुरिमे^{११} समम् ॥६६॥
 सर्वेऽप्यासन्नभव्यत्वाद् अस्मत्पा^{१२} । दसमाश्रयात्^{१३} । श्रुत्वा धर्मं नृपेणामा समापन्नद्यमांसयोः ॥६७॥
 त्यागं पर्वोपवासं च शक्तिषेणोऽपि भक्तिमान् । मुनिवैलात्यये^{१४} भुक्तिम्^{१५} अग्रहीत् स गृह्व्रतम् ॥६८॥
 तत्पत्नी^{१६} शुक्लपक्षादिदिनेऽष्टम्यामथापरे । पक्षे^{१७} पञ्चसमास्त्यागम् आहारस्य समग्रहीत् ॥६९॥
 अनुप्रबद्धकल्याणनामधेयमुपोषितम्^{१८} । सत्यदेवश्च साधुनां^{१९} स्तवनं प्रत्यपद्यत^{२०} ॥७०॥
 इत्यभून्नमो श्रद्धाविहीनव्रतभूषणाः । स मृणालवतीं नेतुं कदाचिदटवीश्रियम् ॥७१॥
 पित्रोः^{२१} पुरीं^{२२} प्रवृत्तः सन् शक्तिषेणः ससैन्यकः । वनं धान्यकमालाख्ये प्राप्य सर्पसरोवरम् ॥७२॥
 निविष्टवानिदं चान्यत् प्रकृतं तत्र कथ्यते । पतिर्मृणालवत्याख्यनगर्या धरणीपतिः^{२३} ॥७३॥

जानती हूँ, सुनिये ॥९१-९२॥ उस समय वे मुनि आहार छोड़कर सेठके घरसे चले गये थे । जब राजाको उनके इस तरह चले जानेका कारण मालूम नहीं हुआ तब उसने अमितमति गणिनी (आर्थिका) से पूछा । अमितमतिने भी जैसा सुना था वैसा वह कहने लगी ॥९३॥

इसी पुष्कलावती देशमें विजयार्ध पर्वतके निकट एक 'धान्यकमाल' नामका बड़ा भारी वन है और उस वनके पास ही शोभानगर नामका एक बड़ा नगर है । उस नगरका स्वामी राजा प्रजापाल था और उसकी स्त्रीका नाम था देवश्री । वह देवश्री दूसरी लक्ष्मीके समान सुख देनेवाली थी ॥९४-९५॥ राजा प्रजापालके एक शक्तिषेण नामका सामन्त था, उसकी प्रीति उत्पन्न करनेवाली अटवीश्री नामकी स्त्री थी । उन दोनोंके सत्यदेव नामका पुत्र था । किसी समय निकटभव्य होनेके कारण इन सभीने मेरे चरणोंके आश्रयसे धर्मका उपदेश सुना । राजा भी इनके साथ था । उपदेश सुनकर सभीने मद्य-मांसका त्याग किया और पर्वके दिन उपवास करनेका नियम लिया । भक्ति करनेवाले शक्तिषेणने भी गृहस्थके व्रत धारण किये और साथमें यह नियम लिया कि मैं मुनियोंके भोजन करनेका समय टालकर भोजन करूंगा ॥९६-९८॥ शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्रीने पांच वर्ष तक शुक्ल पक्षका प्रथम दिन और कृष्णपक्षकी अष्टमीको आहार त्याग करनेका नियम किया, अनुप्रबद्ध कल्याण नामका उपवास व्रत ग्रहण किया तथा सत्यदेवने भी साधुओंके स्तवन करनेका नियम लिया ॥९९-१००॥ इस प्रकार ये सब सम्यग्दर्शनके बिना ही व्रतरूप आभूषणको धारण करनेवाले हो गये । किसी एक दिन सेनापति शक्तिषेण अपनी सेनाके साथ अटवीश्रीको लेनेके लिये उसके माता-पिताकी नगरी मृणालवतीको गया था । वहांसे लौटते समय वह धान्यकमाल नामके वनमें सर्पसरोवरके समीप ठहरा । उसी समय एक दूसरी घटना हुई जो इस प्रकार कही जाती है ।

१ लोकपालस्य । २ वक्ति । ३ अमितमत्यार्थिका । ४ स्वयं चारणमुनिनिकटे आकर्णितम् । ५ पुष्कलावत्याम् । ६ विजयार्द्धगिरिसमीपम् । ७ समीपे । ८ नगरस्य । ९ नायकः । १० सत्यदेव-नामा स्वीकृतपुत्रः सञ्जातः । ११ इमे सर्वे देवश्रीदेव्यादयः समं धर्मं श्रुत्वेति सम्बन्धः । १२ अमित-गतिनामास्मत्पादसमाश्रयात् । १३ मुनिचर्याकाले अतिक्रान्ते सति । १४ आहारं स्वीकरोपीति व्रतम् । १५ शक्तिषेणभार्या । १६ शुक्लपक्षप्रतिपदिने । अपरे पक्षे अष्टम्यां दिने च । १७ पञ्चवर्षाणि । १८ उपवासव्रतं समग्रहीत् । १९ परमेष्ठिनां स्तोत्रम् । २० गृहीतवान् । २१ जननीजनकयोः । २२ मृणालवतीनामनगरीम् । २३ भूपतिः ।

सुकेतुस्तत्र^१ 'वंश्येऽस्तनूजो रतिवर्मणः । भवदेवोऽभवत्तस्य विपुण्यः कनकश्रियास्^२ ॥१०४॥
तत्रैव^३ दुहिता^४ जाता श्रीदत्तस्यातिवल्लभा । विमलादिश्रियाख्याता रतिवेगाख्यया सती ॥१०५॥
सुकान्तोऽशोकदेवोऽजिनदत्तासुतोऽजनि । भवदेवस्य दुर्वस्या^५ दुर्मुखोऽप्यजायत ॥१०६॥
स एष द्रव्यमावर्ज्य रतिवेगां जिघृक्षुकः^६ । वाणिज्यार्थं गतः^७स्तस्मान्नायात^८ इति सा^९ तदा ॥१०७॥
मातापितृभ्यां प्रादायि^{१०} सुकान्ताय सुतेजसे । देशान्तरात् समागत्य तद्वातीश्रवणाद् भूशम् ॥१०८॥
दुर्मुखे कुपिते भोत्वा तदानीं तद्वधूवरम्^{११} । व्रजित्वा^{१२} शक्तिषेणस्य शरणं समुपागतम्^{१३} ॥१०९॥
तद्दुर्मुखोऽपि^{१४} निर्वन्धाद् अनुगत्य^{१५} वधूवरम् । शक्तिषेणभयाद् बद्धवरो निवधूते^{१६} ततः^{१७} ॥११०॥
तत्रैकस्मिन्^{१८} विचचारणद्वन्द्वाय समापुषे^{१९} । शक्तिषेणो ददावशं पार्थेयं^{२०} परजन्मनः ॥१११॥
तत्रैवागत्य सार्धशो^{२१} निविष्टो बहुभिः सह । विभुर्महकवत्ताड्यः श्रेष्ठी भार्यास्य धारिणी ॥११२॥
मन्त्रिणस्तस्य^{२२} भूतार्थः शकुनिः सबृहस्पतिः । धन्वन्तरिश्च चत्वारः सर्वे शास्त्रविशारदाः ॥११३॥
एभिः परिवृतः श्रेष्ठी होनाडगं^{२३} कञ्चिदागतम् । समीक्ष्य न कुतो हेतोर्जतोऽयमिति^{२४} तान् जगौ ॥११४॥

मृणालवती नगरीका राजा धरणीपति था । उसी नगरीमें सुकेतु नामका एक सेठ रहता था जो कि रतिवर्माका पुत्र था । सुकेतुकी स्त्रीका नाम कनकश्री था और उन दोनोंके एक भवदत्त नामका पुण्यहीन पुत्र था ॥१०१-१०४॥ उसी नगरमें एक श्रीदत्त सेठ थे । उनकी स्त्रीका नाम था विमलश्री और उनके दोनोंके अत्यन्त ध्यारी रतिवेगा नामकी सती पुत्री थी ॥१०५॥ उसी नगरके अशोकदेव सेठ और जिनदत्ता नामकी उनकी स्त्रीसे पैदा हुआ सुकान्त नामका एक पुत्र था । जिसका वर्णन ऊपर कर आये हैं ऐसा भवदेव बड़ा दुराचारी था और उस दुराचारीपनके कारण ही उसका दूसरा नाम दुर्मुख भी हो गया था ॥१०६॥ वह भवदेव धन उपार्जनकर रतिवेगाके साथ विवाह करना चाहता था इसलिये व्यापारके निमित्त वह बाहर गया था, परन्तु जब वह विवाहके अवसर तक नहीं आया तब माता पिताने वह कन्या अत्यन्त तेजस्वी सुकान्तके लिये दे दी । जब दुर्मुख (भवदेव) देशान्तरसे लौटकर आया और रतिवेगाके विवाहकी बात सुनी तब वह बहुत ही कुपित हुआ । उसके डरसे वधू और वर दोनों ही भागकर शक्तिषेणकी शरणमें पहुंचे ॥१०७-१०९॥ दुर्मुखने भी हठसे वधू और वरका पीछा किया परन्तु शक्तिषेणके डरसे अपना बैर अपने ही मनमें रखकर वहांसे लौट गया ॥११०॥ शक्तिषेणने वहां पधारे हुए दो चारण मुनियोंके लिये अपने आगामी जन्मके कलेवाके समान आहार दान दिया था ॥१११॥ उसी सरोवरके समीप धनी और सब संघके स्वामी मेहकदत्त नामका सेठ बहुत लोगोंके साथ आकर ठहरा हुआ था । उसकी स्त्रीका नाम धारिणी था । उस सेठके चार मंत्री थे-१ भूतार्थ, २ शकुनि, ३ बृहस्पति और ४ धन्वन्तरि । ये चारों ही मंत्री अपने अपने शास्त्रोंमें पण्डित थे ॥११२-११३॥ एक दिन सेठ इन सबसे घिरा हुआ

१ मृणालवत्याम् । २ वणिग्मुख्यस्य । ३ कनकश्रियः । ४ श्रीदत्तविमलश्रियोः । ५ पुत्री । ६ अशोकदेवस्य प्रियतमाया जिनदत्तायाः सुतः । ७ दुर्मुख इति नामान्तरमपि । स दुर्मुखः स्वमातुलं श्रीदत्तं रतिवेगां याचितवान् । मातुलो भणितवान् त्वं व्यवसायहीनो न ददामीति । दुर्मुखोऽजोचत्-याचदहं द्वीपान्तेरपु द्रव्यमावर्ज्यामिच्छामि तावद् रतिवेगा कस्यापि न दातव्या इति द्वादशवर्षाणि कालावधिं दत्वा । ८ धनमर्जयित्वा । ९ गृहीतुमिच्छः । १० कृतद्वादशवर्षादेः सकाशात् । ११ नागतः । १२ रतिवेगा । १३ दीयते स्म । १४ सुकान्तरतिवेगाद्वयम् । १५ गत्वा । १६ समुपाश्रयत् । १७ अविच्छेदेन । १८ पृष्ठतो गत्वा । १९ व्याघुदितवान् । २० सर्पसरोवरस्थितशक्तिषेणशिविरात् । २१ सर्पसरोवरे । २२ गगनचारण । २३ आगताय । समीपुषे ल०, इ०, अ०, म०, प०, स० । २४ संबलम् । २५ वणिक्संघाधिपः । २६ मेरुकदत्तस्य । २७ विकलावययम् । २८ इति पृष्ठवान् तं श्रेष्ठिनम् ।

शकुनिः शकुनाद् दुष्टाद् ग्रहात्पापाद् बृहस्पतिः । धन्वन्तरिस्त्रिदोषेभ्यो जन्मनीति समाविशत् ॥११५॥
 भूतार्थस्त्वस्तु तत्सर्वं कर्म हिंसाद्युपाजितम् । प्रधानकारणं तेन^१ हीनाङ्ग^२ इति सूक्तवान्^३ ॥११६॥
 शक्तिषेण^४ महोपालप्रतिपन्नजुः पिता^५ । सत्यदेवस्य दृष्ट्वा^६ स्मिन्^७ मन्विष्यन्त्य^८ दृच्छया ॥११७॥
 तदा कृत्वा महद्दुःखं^९ सभ्यैराकर्ण्यतामिदम् । च्युतं पयोऽतिपाकेन भाजनात्तण्डुलानपि ॥११८॥
 भक्ष्यमाणान् कपोताद्यैः पश्यंस्तूष्णीमयं स्थितः । क्रीधान्मातुः^{१०} कनीयस्या^{११} भर्त्सनादागतोऽसहः^{१२} ॥
 अथस्ताद् वक्त्रविवरं ध्याणस्येति तदप्ययम् । क्षमते नेति सर्वेषां^{१३} तदकर्मण्यतां^{१४} ब्रुवन् ॥१२०॥
 गन्तुं सहात्मना^{१५} तस्थानभिलाषाद्^{१६} विषण्णवान् । परस्मिन्नपि भूयासं^{१७} भवे ते स्नेहगोचरः^{१८} ॥१२१॥
 इति कृत्वा निदानं स^{१९} द्रव्यसंयममाश्रितः । प्रपेदे लोकपालत्वं^{२०} तद्गतस्नेहमोहितः ॥१२२॥
 कदाचिच्छ्रवणपक्षस्य दिनादौ भार्यया सह । कृतोपवासया शक्तिषेणो भक्तिपुस्सरम्^{२१} ॥१२३॥
 मुनिभ्यां दत्तदानेन पञ्चाश्चर्यमवाप्तवान् । दृष्ट्वा तच्छ्रेष्ठि^{२२} धारिण्यौ^{२३} प्राबधोरन्यजन्मनि ॥१२४॥
 एतावपत्ये^{२४} भूयास्तां^{२५} निदानं कुरुतामिति । मन्त्रिणस्तस्य^{२६} चत्वारोऽप्यस्तसर्वपरिग्रहाः ॥१२५॥

बैठा था कि इतनेमें वहां एक हीन अंगवाला पुरुष आया । उसे देखकर सेठने सब मंत्रियोंसे कहा कि यह ऐसा किस कारणसे हुआ है ? ॥११४॥ इसके उत्तरमें शकुनि मंत्रीने कहा कि जन्मके समय बुरे शकुन होनेसे यह ऐसा हुआ है ? बृहस्पतिने कहा कि जन्मके समय दुष्ट ग्रहोंके पड़नेसे यह हीनांग हुआ है और धन्वन्तरिने कहा कि जन्मके समय वात पित्त कफ इन तीन दोषोंके कारण यह विकलांग हो गया है । यह सुनकर भूतार्थ नामक मन्त्रीने कहा कि आप यह सब रहने दीजिये, इस जीवने पूर्वभ्रममें हिंसा आदिके द्वारा जो कर्म उपाजन किये थे वे ही इसके हीनांग होनेमें प्रधान कारण हैं ॥११५-११६॥ इतनेमें ही शक्तिषेण सेनापतिने जिसे अपना पुत्र स्वीकार किया है ऐसे उस सत्यदेवका पिता अपनी इच्छानुसार उसे खोजता हुआ आ पहुंचा । उस हीनांग पुत्रको देखकर उसे बहुत ही दुःख हुआ और वह कहने लगा कि हे सभासदो, मुनो, एक दिन घरमें चावल पक रहे थे सो पानीके उफानके कारण कुछ चावल बर्तनसे नीचे गिर गये और उन नीचे गिरे हुए चावलोंको कबूतर आदि पक्षी चुगने लगे परन्तु यह सब देखता हुआ चुपचाप खड़ा रहा—इसने उन्हें भगाया नहीं । तब इसकी मांकी छोटी बहिनने क्रोधसे इसे डांटा, उस डांटको न सह सकनेके कारण ही यह यहां चला आया है । यह इतना असहनशील है कि 'तेरी नाकके नीचे मुंहका छेद है' इस बातको भी नहीं सह सकता है । इस तरह सब सभासदोंसे उसके पिताने उसकी अकर्मण्यताका वर्णन किया । चूंकि सत्यदेव अपने पिताके साथ वापिस नहीं जाना चाहता था इसलिये उसने दुखी होकर निदान किया कि 'अगले भ्रममें भी मैं तेरे स्नेहका पात्र होऊँ' इस प्रकार निदान कर वह द्रव्यलिङ्गी मुनि हो गया और सत्यदेवके प्रेमसे मोहित होकर मरा जिससे लोकपाल हुआ ॥११७-१२२॥ किसी एक समय शुक्ल-पक्षकी प्रतिपदाके दिन शक्तिषेणने उपवास करनेवाली अपनी स्त्री अटवीश्रीके साथ साथ भक्तिपूर्वक ही मुनियोंको आहारदान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये, उसे देखकर सेठ मेरुकदत्त और उनकी स्त्री धारिणीने निदान किया कि 'ये दोनों अगले जन्ममें हमारी ही संतान हों' सेठ मेरुक-

१ कर्मकरणेन । २ विकलांगो जात इति । ३ सुष्ठु प्रोक्तवान् । ४ शक्तिषेणनामसामन्तेनायं मम पुत्र इति स्वीकृतसुतस्य । ५ सत्यकनामजनकः । ६ सर्पसरोवरे । ७ गवेषयन्नित्यर्थः । ८ सभाजनैः । ९ सत्यदेवजन्याः । १० भगिन्याः । ११ असहमानः । १२ सभाजनानाम् । १३ तत् सत्यदेवस्य कर्मण्यक्षमताम् । १४ सत्यकेन स्वेन । १५ सत्यदेवस्य । १६ अन्तर्भिमतात् । १७ भवेयम् । १८ स्नेहगोचरम् ६०, अ०, सं० । १९ सत्यकः । २० लोकपालनाय देवत्वम् । २१-पुस्सरः ल० । २२ दानसञ्ज्ञाताश्चर्यम् । २३ मेरुकदत्तद्वभार्याधारिण्यौ । २४ शक्तिषेणाविक्रियो । २५ पुत्री । २६ अकुरुताम् । २७ मेरुकदत्तस्य ।

तपो विधाय कालान्ते समापन् लोकपालताम्^१ । वधूवरं^२ च दानानुमोदपुण्यमवाप्तवत्^३ ॥१२६॥
 "तदाकर्ण्य महोशस्य^४ देवीं^५ वसुमती तवा । स्वजन्मा^६न्तरं सम्बोधमूच्छान्तिन्तरबोधितम् ॥१२७॥
 अहं पूर्वोक्तं^७ देवश्रीस्त्वत्प्रसादादिमां^८ श्रियम् । प्राप्तं^९ तदातनो राजा^{१०} वद क्वाद्य प्रवर्तते ॥१२८॥
 इति तस्याः परिप्रश्ने स प्रजापालभूपतिः ।^{११} "लोकपालोऽयमित्युक्ते प्रियदत्ता स्वपूर्वजम् ॥१२९॥
 जन्मावबुध्य वन्दित्वा साऽटवीश्रीं^{१२} त्वहम् । शक्तिषेणो मम प्रेयान् असौ क्वाद्य प्रवर्तते ॥१३०॥
 इति^{१३} पुण्ड्राऽवदच्छक्तिषेणस्ते^{१४} "ऽयं^{१५} मनोरमः^{१६} ।^{१७} "कुबेरदयितः सत्यदेवोऽभूत्तनुजस्तव ॥१३१॥
 देवभूमं^{१८} गताः श्रेष्ठिसचिवास्त्वत्पते^{१९} भूशम् ।^{२०} "आरभ्य जन्मनः स्नेहात् परिचर्यां प्रकुर्वते ॥१३२॥
 कुबेरदयितस्यापि पिता प्राच्यः^{२१} स सत्यकः । पाता^{२२} गत्यन्तरस्याश्च पुण्यात् स्निह्यन्ति देहिनः ॥१३३॥
 भवदेवेन^{२३} निर्दग्धं द्विजावेतौ^{२४} वधूवरम् । सार्येशो^{२५} धारिणी चेह^{२६} पत्युस्ते^{२७} पितराविमो^{२८} ॥१३४॥

दत्तके चारों मंत्रियोंने सब परिग्रहका परित्याग कर तप धारण किया और आयुके अन्तमें लोकपालकी पर्याय प्राप्त की । इसी प्रकार सुकान्त और रतिवेगा नामके वधू-वरने भी दानकी अनुमोदना करनेसे प्राप्त हुआ बहुत भारी पुण्य प्राप्त किया ॥१२३-१२६॥ यह सब सुनकर राजा लोकपालकी रानी वसुमतीको अपने पूर्वजन्मकी सब बात याद आ गई जिससे वह मूच्छित हो गई और सचेत होनेपर अमितमति आधिकासे कहने लगी कि मैं पूर्वजन्ममें शोभानगरके राजा प्रजापालकी रानी देवश्री थी, आपके प्रसादसे ही मैं इस लक्ष्मीको प्राप्त हुई हूँ, मेरे उस जन्मके पति राजा प्रजापाल आज कहाँ हैं ? यह कहिये ॥१२७-१२८॥ इस प्रकार वसुमतीका प्रश्न समाप्त होनेपर अमितमति आधिकाने कहा कि यह लोकपाल ही पूर्वजन्मका प्रजापाल राजा है । इतना कहते ही प्रियदत्ताको भी अपने पूर्वभवकी याद आ गई । उसने आधिकाको वन्दना कर कहा कि शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्री तो मैं ही हूँ, कहिये मेरा पति शक्तिषेण आज कहाँ है ? इस प्रकार पूछा जानेपर अमितमतिने कहा कि यह तेरा पति कुबेर-कान्त ही उस जन्मका शक्तिषेण है और यह कुबेरदयित ही उस जन्मका सत्यदेव है जो कि तुम्हारा पुत्र हुआ है । सेठ मेरुकदत्तके जो भूतार्थ आदि चार मंत्री थे वे देवपर्यायिको प्राप्त हो स्नेहके कारण जन्मसे ही लेकर तुम्हारे पतिकी भारी सेवा कर रहे हैं—कामधेनु और कल्पवृक्ष बनकर सेवा कर रहे हैं ॥१२९-१३२॥ कुबेरदयितका पूर्व जन्मका पिता सत्यक भी देव होकर उसकी रक्षा करता है सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके प्रभावसे दूसरी गतिमें रहनेवाले जीव भी स्नेह करने लग जाते हैं ॥१३३॥ भवदेवने पूर्वोक्त वधू-वर (रतिवेगा और सुकान्त) को जला दिया था इसलिये वे दोनों ही मरकर ये कबूतर-कबूतरी हुए हैं । सेठ मेरुकदत्त और

१ लोकपालसुरत्वम् । २ सुकान्तरतिवेगेति मिथुनम् । ३ प्राप्तम् । ४ पुण्यम् । प्राप्तमित्यादि-
 वचनम् । ५ प्रजापालपुत्रलोकपालस्य । ६ भार्या कुबेरमित्रस्य, पौत्री वसुमती । ७ निजभवान्तरपरिज्ञानजात ।
 ८ शोभानगरपतिप्रजापालमहोपतेर्भाया देवश्रीः । ९ हे अमितमत्याधिके, भवत्प्रसादात् । १० प्राप्त-
 वत्यहम् । ११ शोभानगरप्रतिपालप्रजापाल इत्यर्थः । १२ तव भर्ता लोकपालः । १३ आधिका ।
 १४ तव प्रियदत्तायाः । १५ पुरोवर्ती । १६ कुबेरकान्तः । १७ शक्तिषेणस्य स्वीकृतपुत्रः । कुबेरदयित
 इति तव पुत्रोऽभूदिति सम्बन्धः । १८ देवत्वम् । १९ तव भर्तुः कुबेरकान्तस्य । २० जननकालादारभ्य
 कामधेनुरुत्तमेति श्लोकोक्तसेवां कुर्वते । २१ पूर्वभवसम्बन्धिपिता सत्यकः । २२ रक्षकोऽभूत् ।
 २३ रतिवर्मकनकश्रियोः सूनुना भवदेवेन । क्रोधात् शक्तिषेणकालान्तरेण निर्दग्धं वधूवरं सुकान्तरति-
 वेगेति द्वयम् । २४ कपोतपक्षिणावभूतामिति सम्बन्धः । २५ मेरुकदत्तः । २६ अस्यां पुर्याम् । पुण्डरीकिण्याम् ।
 २७ तव भर्तुः कुबेरकान्तस्य । २८ कुबेरमित्रधनवत्यौ ।

इत्युक्त्वा 'सेवमप्याह' खगाचलसमीपगे । वसन्तो' चारणावद्री मुनी मलयकाञ्चने ॥१३५॥
 पूर्व' वननिवेशे' तौ भिक्षार्थं समुपागतौ । तत्र पुत्रसमुत्पत्तिम् उपदिश्य गतौ ततः ॥१३६॥
 अन्येद्युर्वसुधारादिहेतुभूतौ कपोतकौ । दृष्ट्वा सकरुणौ भिक्षाम् अनादाय वनं गतौ ॥१३७॥
 गुर्वोर्गुरुत्वं यु'वयोः उपयातौ 'तयोरिदम् । उपदेशात् समाकर्ण्य सर्वमुक्तं यथाश्रुतम् ॥१३८॥
 इति ते'मितमत्युक्तकथावगमतत्पराः'० । स्वरूपं संसृतेः सम्यक् भुहुर्मुहुरभावयन् ॥१३९॥
 एवं प्रयाति कालेऽसौ प्रियदत्ता प्रसङ्गतः । यशस्वतीगुणवत्यौ युवाभ्यां केन हेतुना ॥१४०॥
 इयं दीक्षा गृहीतेति पप्रच्छोत्पन्नकौतुका । ते' च तत्कारणं स्पष्टं यथावृत्तभवोचताम्' ॥१४१॥
 ततो धनवती' दीक्षां गणिन्याः'० सन्निधौ ययौ । माता' कुबेरसेना च तयोरार्थिकयोर्द्वयोः ॥१४२॥
 तावन्प्रेक्षुः कपोतौ च ग्रामान्तरमुपाश्रितौ'० । तण्डुलाद्युपयोगाय'० समवतिप्रचोदितौ'० ॥१४३॥
 'भवदेवचरणानुबद्धचरेण पापिना । दृष्टमात्रोत्थकोपेन'० भारितौ पुरुवंशसा'० ॥१४४॥
 तद्वाट्टविजयाद्वत्स्य दक्षिणश्रेणिमाश्रिते । गन्धारविषयोशीरवत्याख्यनगरेऽधिपः ॥१४५॥

उनकी स्त्री धारिणी यहां तेरे पति कुबेरकान्तके माता पिता हुए हैं ॥१३४॥ इतना कहकर अमितमति यह भी कहने लगी कि विजयार्थ पर्वतके समीप मलयकांचन नामके पर्वतपर दो मुनिराज रहते थे, जब पूर्वजन्ममें शक्तिषेण सर्पसरोवरके समीप डेरा डालकर वनमें ठहरा हुआ था तब वे भिक्षाके लिये तेरे यहां आये थे और तेरे अंगुलियोंके इशारेसे पांच पुत्र तथा एक पुत्री होगी ऐसा कहकर चले गये थे । तदनन्तर रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्योंके कारण स्वरूप वे मुनिराज इस जन्ममें भी किसी समय तेरे घर आये थे परन्तु कबूतर-कबूतरीको देखकर दया-युक्त हो बिना भिक्षा लिये ही वनको लौट गये थे । वे ही तेरे पिता और तेरे पतिके गुरु हुए हैं । उन्हींके उपदेशसे मैंने यह सब सुनकर अनुक्रमसे कहा है ॥१३५-१३८॥ इस प्रकार जो पुरुष अमितमति आर्थिकाके द्वारा कही हुई कथाके सुननेमें तल्लीन हो रहे थे वे संसारके सच्चे स्वरूप का बार-बार चिन्तन करने लगे ॥१३९॥ इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होनेपर किसी दिन प्रियदत्ताने प्रसङ्ग पाकर यशस्वती और गुणवतीसे पूछा कि आप लोगोंने यह दीक्षा किस कारण ग्रहण की है? मुझे यह जाननेका कौतुक हो रहा है । तब उन दोनोंने स्पष्ट रूपसे अपनी दीक्षाका कारण बतला दिया ॥१४०-१४१॥ तदनन्तर कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीने संघकी स्वामिनी अमितमतिके पास दीक्षा धारण कर ली और उन दोनों आर्थिकाओंकी माता कुबेरसेनाने भी अपनी पुत्रीके समीप दीक्षा धारण की ॥१४२॥

किसी एक दिन यमराजके द्वारा प्रेरित हुए ही क्या मानो वे दोनों कबूतर-कबूतरी चावल चुगनेके लिये किसी दूसरे गांव गये । वहां एक बिलाव था जो कि भवदेवका जीव था । उस पापीको पूर्व जन्मसे बंधे हुए बैरके कारण कबूतर-कबूतरीको देखते ही पापकी भावना जागृत हो उठी और उसने उन दोनोंको मार डाला ॥१४३-१४४॥ उसी पुष्कलावती देशके विजयार्थ पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक गंधार नामका देश है और उसमें उशीरवती

१ अमितमत्यार्थिका । २ विजयाद्वपर्वत । ३ निवसन्तौ । ४ शक्तिषेणाटवीश्रीभवे । ५ सर्प-सरोवरनिवेशे । ६ कुबेरमित्रसमुद्रदत्तयोः । ७ कुबेरकान्तप्रियदत्तयोः गुरुत्वमुपयातौ यौ द्वौ तयोरेव चारणयोः । ८ यथाक्रमम् ल० । ९ लोकपालादायः । १० परिज्ञाने रताः । ११ यशस्वतीगुणवत्यौ । १२ मम मातुलकुबेरदत्ताद् विविधभक्ष्यपूर्वभोजनालाभाज्जातलज्जया तपो गृहीतम् । १३ कुबेरमित्रस्य भार्या । १४ अमितमत्यार्थिकायाः । १५ जयपालचक्रवर्तिपुत्र्योरमितमत्यनन्तमत्योर्जनी । १६ जम्बू-ग्रामम् । १७ भक्षणाय । १८ अन्तकप्रेस्ति । १९ पूर्वस्मिन् भवदेवेन । २० पापेन ल० । २१ जम्बूग्रामस्य कदलीवनस्थमार्जारेण ।

आदित्यगतिरस्यासीन्महादेवी शशिप्रभा । तयोर्हिरण्यवर्माख्यः सुतो रतिवरोऽभवत् ॥१४६॥
 तस्मिन्नेवोत्तरश्रेण्या गौरीविषयविभुते । पुरे भोगपुरे वायुरथो विद्याधराधिपः ॥१४७॥
 तस्य स्वयंप्रभादेव्या रतिषेणा प्रभावती । बभूव जैनधर्माशोऽप्यभ्युद्धरति देहितः ॥१४८॥
 माता पिताऽपि या यश्च सुकान्तरतिवेगयोः । जन्मन्यस्मिन् किलाभूतां चित्रं तावैव संसृतिः ॥१४९॥
 हा मे प्रभावतीत्याह जयश्चेत् सलुलोचनः । रूपाविवर्णनं तस्याः किं पुनः श्रियते पृथक् ॥१५०॥
 यौवननेन समाक्रान्तां कन्यां दृष्ट्वा प्रभावतीम् । कर्म देयेयमित्याह खगेशो मन्त्रिणस्तवः (ततः) ॥१५१॥
 शशिप्रभा स्वसा देव्या भ्रातादित्यगतिस्तथा । परे च लचराधोशाः प्रीत्याऽद्यान्त कन्यकाम् ॥१५२॥
 ततः स्वयंवरो युक्तो विरोधस्तन्न केनचित् । इत्यभाषन्त निश्चित्य 'तद्भूपोऽप्यभ्युपागमत्' ॥१५३॥
 ततः सर्वेऽपि तद्वार्ताकर्षणावागमन् वराः । कमप्येतेषु सा कन्या नाग्रहोद् रत्नमालया ॥१५४॥
 मातापितृभ्यां तद् दृष्ट्वा सम्पृष्टा प्रियकारिणी । यो जयेद् गतियुद्धे मां मालां संयोजयाम्यहम् ॥१५५॥
 कण्ठे तस्मेति वक्तव्ये प्रागित्याह सखी तयोः । श्रुत्वा तत्र दिने सर्वानुचितोक्त्या व्यसर्जयत् ॥१५६॥

नामकी एक नगरी है । उसके राजा थे आदित्यगति और उनकी रानीका नाम था शशिप्रभा । रतिवर कबूतर भरकर उन दोनोंके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ ॥१४५-१४६॥ उसी विजयार्थ पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें एक गौरी नामका देश है उसके भोगपुर नामके प्रसिद्ध नगरमें विद्याधरोंका स्वामी राजा वायुरथ राज्य करता था । उसकी स्वयंप्रभा नामकी रानी थी । रतिषेणा कबूतरी भरकर उन्हीं दोनोंको प्रभावती नामकी पुत्री हुई सो ठीक ही है क्योंकि जैनधर्मका एक अंश भी प्राणियोंका उद्धार कर देता है ॥१४७-१४८॥ सुकान्त और रतिवेगाके जो पहले माता-पिता थे वे ही इस जन्ममें भी माता-पिता हुए हैं सो ठीक ही है क्योंकि यह संसार बड़ा ही विचित्र है । भावार्थ—सुकान्तके पूर्वभवके माता-पिता अशोक और जिनदत्ता इस भवमें आदित्यगति और शशिप्रभा हुए हैं तथा रतिवेगाके पूर्वभवके माता-पिता विमलश्री और श्रीदत्ता इस भवमें वायुरथ तथा स्वयंप्रभा हुए हैं ॥१४९॥ जब जयकुमारने सुलोचनाके साथ बैठकर 'हा मेरी प्रभावती' ऐसा कहा तब फिर उसके रूप आदिका वर्णन अलगसे क्या किया जाय ? ॥१५०॥ प्रभावती कन्याको यौवनसे सम्पन्न देखकर विद्याधरोंके अधिपति वायुरथने अपने मंत्रियोंसे कहा कि यह कन्या किसे देनी चाहिये ? ॥१५१॥

मंत्रियोंने परस्परमें निश्चय कर कहा कि 'शशिप्रभा आपकी बहिन है, और आदित्यगति आपकी पट्टराज्ञीका भाई है । ये दोनों तथा इनके सिवाय और भी अनेक विद्याधर राजा बड़े प्रेमसे कन्याकी याचना कर रहे हैं इसलिये स्वयंवर करना ठीक होगा क्योंकि ऐसा करनेसे किसीके साथ विरोध नहीं होगा ।' मन्त्रियोंकी यह बात राजाने भी स्वीकार की ॥१५२-१५३॥ तदनन्तर स्वयंवरकी बात सुनकर सभी राजकुमार आये परन्तु कन्या प्रभावतीने इन सबमें से किसीको भी रत्नमालाके द्वारा स्वीकार नहीं किया—किसीके भी गलेमें रत्नमाला नहीं डाली ॥१५४॥ यह देखकर माता-पिताने उसकी सखी प्रियकारिणीसे इसका कारण पूछा, सखीने उन दोनोंसे कहा कि यह पहले कहती थी कि 'जो मुझे गतियुद्धमें जीतेगा मैं उसीके गलेमें माला डालूंगी' यह सुनकर राजाने उस दिन यथायोग्य कहकर सबको विदा किया ॥१५५-१५६॥

१ रतिवरनामकपोतः । २ रतिषेणा नाम कपोती । ३ श्रीदत्तविमलश्रियौ । अशोकदेवजिनदत्ते द्वे च अभूतां वायुरथस्वयंप्रभादेव्यौ चादित्यगतिशशिप्रभे च पितरावभूतामिति । ४ सुलोचनया सहितः । ५ तव शशिप्रभेति भगिनी । ६ वायुरथस्य तव भार्यायाः । ७ स्वयंप्रभादेव्या भ्राता आदित्यगतिश्च सोऽपि स्वपुत्राय याचितवान् इत्यर्थः । ८ एवं सति । ९ तथास्त्वित्यनुमतिमकरोत् । १० कन्यायाः सखी । ११ वायुरथस्वयम्प्रभयोः ।

अन्येषुः खचराधीशो घोषयित्वा^१ स्वयंवरम् । सिद्धकूटाख्यचैत्यालयस्य मालां पुरःस्थिताम् ॥१५७॥
 अपातयन्महामेघं^२ त्रिः^३परीत्य महोत्तलम् । अस्पृष्टां खेचराः केचित्तां ग्रहीतुमनीश्वराः ॥१५८॥
 त्रयां गताः समादाय प्रभावत्या विनिजिताः । समो ननु न मृत्युश्च मानभङ्गेन मानिनाम् ॥१५९॥
 ततो हिरण्यवर्मायाद् गतियुद्धविशारदः । मालामासञ्जयाभासं^४ तत्कण्ठे तेन निजिता ॥१६०॥
 तयोः जन्मान्तरस्नेहसमुद्भूतसम्पदा । काले गच्छति कस्मिंश्च (चित्) कपोतद्वयदर्शनात् ॥१६१॥
 ज्ञातप्राग्भवसम्बन्धा सुविरक्ता प्रभावती । स्थिताशोकाकुलेकैव^५ चिन्तयन्ती किमप्यसौ ॥१६२॥
 हिरण्यवर्मणा ज्ञातजन्मना लिखितं स्फुटम् । पट्टकं प्रियकारिण्या^६ हस्ते^७ समवलोक्य तम् ॥१६३॥
 क्व लब्धमिदमित्याख्यत् प्राह सापि प्रियेण ते । लिखितं चेत्कस्तस्य^८ सुकान्तो मे समर्पयत् ॥१६४॥
 इति तद्वचनं श्रुत्वा स्वयमप्यात्मवृत्तकम् । प्राक्तनं^९ पट्टकं तस्या लिखित्वाऽसौ^{१०} करे ददौ ॥१६५॥
 तद्विलोक्य कुमारोऽभूत् प्रभावत्यां प्रसक्तधोः । साऽपि तस्मिन् तयोः प्रीतिः प्राक्तन्या^{११} द्वि^{१२}गुणाऽभवत्
 सम्भूय बान्धवाः सर्व कल्याणाभिषेकं तयोः । अकुर्वन्निव कल्याणं द्वितीयं ते चिकीर्षवः ॥१६७॥
 दशम्यां^{१३} सिद्धकूटाग्रे स्नानपूजाविधौ^{१४} सुवित्^{१५} । हिरण्यवर्मणा वीक्ष्य परमावधिचारणः ॥१६८॥

दूसरे दिन राजाने स्वयंवरकी घोषणा कराकर कहा कि 'एक माला सिद्धकूट नामक चैत्यालयके द्वारसे नीचे छोड़ी जायगी' जो कोई विद्याधर माला छोड़नेके बाद महामेघ पर्वतकी तीन प्रदक्षिणाएं देकर प्रभावतीके पहले उसे जमीनपर पड़नेके पहले ही ले लेगा वही इसका पति होगा' यह सुनकर बहुतसे विद्याधरोंने प्रयत्न किया परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे माला न ले सके इसलिये प्रभावतीसे हारकर लज्जित होते हुए चले गये सो ठीक ही है क्योंकि मृत्यु भी अभिमानी लोगों के मानभंग की बराबरी नहीं कर सकती है ॥१५७-१५९॥ तदनन्तर गतियुद्ध करनेमें चतुर हिरण्यवर्मा आया और उससे हारकर प्रभावतीने वह माला उसके गलेमें डाल दी ॥१६०॥ पूर्व जन्मके स्नेहसे बढ़ी हुई सुखरूप सम्पत्तिसे जब उन दोनोंका कितना ही समय व्यतीत हो गया तब किसी एक दिन कबूतर-कबूतरकी जोड़ा देखनेसे प्रभावतीको पूर्वभवका सम्बन्ध याद आ गया, वह विरक्त होकर शोकसे व्याकुल होती हुई अकेली बैठकर कुछ सोचने लगी ॥१६१-१६२॥ इधर हिरण्यवर्माको भी जाति स्मरण हुआ था, उसने एक पट्टियेपर अपने पूर्वजन्मका सब हाल साफ साफ लिखकर प्रभावतीकी सखी प्रियकारिणीको दिया था, प्रभावती ने प्रियकारिणीके हाथमें वह पट्टिया देखकर कहा कि यह चित्रपट तुम्हें कहां मिला है? सखीने कहा कि 'यह चित्रपट तेरे पतिने लिखा है और उनके नीकर सुकान्तने मुझे दिया है, इस प्रकार सखीके वचन सुनकर प्रभावतीने भी एक पट्टियेपर अपने पूर्वजन्मका सब वृत्तान्त लिखकर सखी के हाथमें दिया ॥१६३-१६५॥ वह चित्रपट देखकर हिरण्यवर्मा प्रभावतीपर बहुत अनुराग करने लगा और प्रभावती भी हिरण्यवर्मापर बहुत अनुराग करने लगी, उन दोनोंका प्रेम पूर्व पर्यायके प्रेमसे कहीं दूना हो गया था ॥१६६॥ कुटुम्बके सब लोगोंने मिलकर उन दोनोंका मंगलाभिषेक किया मानो वे उनका दूसरा कल्याण ही करना चाहते हों ॥१६७॥ किसी समय दशमीके दिन ये दोनों सिद्धकूटके चैत्यालयमें अभिषेक पूजन आदि कर रहे थे उसी समय हिरण्य-

१ स्वयंवरमिति घोषयित्वा तद्दिने व्यसर्जयदिति सम्बन्धः । २ भूमी पातयति स्म । ३ मेरोस्त्रिः ल० । ४ संयोजयति स्म । ५ असहायैव । ६ प्रभावत्याः सख्याः । ७ हस्ते स्थितम् । ८ हिरण्यवर्मणः । ९ प्राग्भवम्, पुरातनमित्यर्थः । १० प्रभावती । ११ पुरातनी । १२ आ समन्ताद् द्विगुणा । १३ विवाहदिनाद् दशमदिने । १४ अभिषेकपूजाविधी । १५ प्रत्यक्षज्ञानम् । प्रत्यक्षज्ञानी ता० टि० । क्वचित् अ०, प०, स०, इ०, ल० ।

प्रभावत्या च पृष्टोऽसौ स्वं पूर्वभववृत्तकम्^१ । अभाषत मुनेश्चैवभनुग्रहधिया तयोः ॥१६६॥
 तृतीयजन्मनीतोऽत्र सम्भूतो बणिजां कुले । रतिवेगा सुकान्तश्च प्राक् मृणालवतीपुरे ॥१७०॥
 भर्तृभार्यामिसम्बन्धं^२ सम्प्राप्यारिभयाद्^३ गतौ^४ । कृत्वाऽनुमोदनं शक्तिषण्णदाने सपुण्यकौ ॥१७१॥
 पारावतभवे चाप्य^५ धर्मं जातौ युवामिति । विधाय पितरौ^६ वैश्यजन्मनोर्याविहापि तौ ॥१७२॥
 तृतीयजन्मनो^७ 'युष्मद्गुरवोऽहं'^८ च सङ्गताः । रतिषेणगुरोः पाश्वे गृहीतप्रोषधाश्चिरम् ॥१७३॥
 जिनेन्द्रभवने भक्त्या नानोपकरणैः सदा । विधाय पूजां समजायामहीह^९ खगाधिपाः ॥१७४॥
 पिताऽहं भवदेवस्य रतिवर्माभिधस्तदा । भूत्वा^{१०} श्रीधर्मनामास्तः संयमं प्राप्य शुद्धयोः ॥१७५॥
 चारणत्वं तृतीयं च ज्ञानं प्रापमिहेत्यदः । श्रुत्वा मुनिवचः प्रीतिमापद्येतान्तरां च तौ^{११} ॥१७६॥
 एवं सुखेन यात्येषां^{१२} काले वायुरथः पृथुम् । विशरारं^{१३} समालोक्य स्तनयितुं^{१४} प्रतिक्षणम् ॥१७७॥
 'विश्वं विनश्यत् पश्यन् शश्वच्छाश्वतिकीं मतिम् । जनः करोति सर्वत्र द्रुस्तरं किमिवं तमः'^{१५} ॥१७८॥
 इति याथात्म्यमासाद्य दत्त्वा राज्यं विरज्य^{१६} सः । मनोरथाय नैरसङ्गं^{१७} 'पित्सुरभवत्तदा ॥१७९॥
 आदित्यगतिस्मभ्येत्य प्रीत्या सर्वेऽपि बान्धवाः'^{१८} । प्रभावतीसुता वेया भवतेयं रतिप्रभा ॥१८०॥

वर्माने परमावधि ज्ञानको धारण करनेवाले चारणमुनि देखे, प्रभावतीने उनसे अपने पूर्वभवका वृत्तान्त पूछा, मुनिराज भी अनुग्रह बुद्धिसे उन दोनोंके पूर्वभवका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगे ॥१६८-१६९॥ कि तुम दोनों इस जन्मसे तीसरे जन्ममें मृणालवती नगरीके वैश्य कुलमें रतिवेगा तथा सुकान्त हुए थे ॥१७०॥ स्त्री पुरुषका सम्बन्ध पाकर तुम दोनों शत्रुके भयसे भागकर शक्तिषेणकी शरण गये थे । वहां शक्तिषेणने मुनिराजके लिये जो आहार दान दिया था उसकी अनुमोदना कर तुम दोनोंने पुण्यबंध किया था, उसके बाद कबूतर-कबूतरी के भवमें धर्म लाभकर यहां विद्याधर-विद्याधरी हुए हो । तुम दोनोंके वैश्य जन्मके जो माता पिता थे वे ही इस जन्मके भी तुम्हारे माता पिता हुए हैं । तीसरे जन्मके तुम्हारे माता पिता तथा मैंने मिलकर एक साथ रतिषेण गुरुके समीप प्रोषध व्रत लिया था, और उसका चिरकाल तक पालन करते हुए श्रीजिनेन्द्रदेवके मन्दिरमें भक्तिपूर्वक अनेक उपकरणोंसे सदा पूजा की थी उसीके फलस्वरूप हम लोग यहां विद्याधर हुए हैं । मैं पूर्वभवमें रतिवर्म नामका भवदेवका पिता था, अब श्रीधर्म नामका विद्याधर हुआ हूँ, मैंने शुद्ध हृदयमेंसे संयम धारणकर चारण-ऋद्धि और तीसरा अवधि ज्ञान प्राप्त किया है इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर हिरण्यवर्मा और प्रभावती दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए ॥१७१-१७६॥

इस तरह इन सबका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था कि किसी एक समय प्रभावतीके पिता वायुरथ विद्याधरने प्रत्येक क्षण नष्ट होनेवाला मेघ देखकर ऐसा विचार किया कि यह समस्त संसार इसी प्रकार नष्ट हो जानेवाला है, फिर भी लोग इसे स्थिर रहनेवाला समझत हैं, यह अज्ञानरुपी घोर अंधकार सब जगह क्यों छाया हुआ है ? इस प्रकार यथार्थ स्वरूपका विचारकर विरक्त हो मनोरथ नामक पुत्रके लिये राज्य दे दिया और स्वयं निर्गन्ध अवस्था धारण करनेकी इच्छा करने लगे ॥१७७-१७९॥ उसी समय वायुरथके सभी भाई-बन्धुओंने बड़े

१ स्वपूर्व-अ०, प०, इ०, स०, ल० । २ दम्पतिसम्बन्धम् । ३ भवदेवभयात् । ४ पलायितौ । ५ प्राप्य । ६ श्रीदत्तविमलश्रियो । अशोकदेवजिनदत्ते च । ७ युवयोः पितरः । श्रीदत्तविमलश्री-अशोकदेव-जिनदत्ताः । ८ भवदेवस्य पिता रतिवर्मा । ९ जाताः स्म । १० श्रीधर्मखगाधिपतिः । ११ हिरण्यवर्मप्रभावत्यौ । १२ वायुरथादीनाम् । १३ विनश्यत्शीलम् । १४ मेघम् । 'अभ्र' मेघो वारिवाहः स्तनयितुर्बलाहकः' इत्यभिधानात् । १५ पुत्रमित्रकलत्रलक्ष्मन्दनादिकम् । १६ अज्ञानम् । १७ विरक्तो भूत्वा । १८ प्राप्तुमिच्छुः । १९ वायुरथस्य बन्धुजनाः ।

मनोरथस्य पुत्राय कन्या चित्ररथाय सा । इत्याहुः^१ सोऽप्यनुज्ञाय^२ कृत्वा बन्धुविसर्जनम् ॥१८१॥
 'हिरण्यवर्मणः सर्वलगराजाभिषेचनम् । विधाय बहुभिः सार्धं सम्प्राप्य मुनिपुङ्गवम् ॥१८२॥
 संयमं प्रतिपन्नः सन् सहवायुरथः^३ स्वयम्^४ । तपो द्वादशधा प्रोक्तं यथाविधि समाचरत् ॥१८३॥
 हस्त्युक्त्वा रतिवेगाऽहं रतिवेणा^५ प्रभावती । चाहमेवेति^६ सभ्यानां^७ निजगाद^८ सुलोचना ॥१८४॥
 तदाकर्ण्य जयोऽप्याह पतिस्तासामहं^९ क्रमात् । जाये स्म^{१०} तत्र तत्रेति विश्वविस्मयकृत्तुचः ॥१८५॥
 पुनः प्रियां जयः प्राह प्रकृतं किञ्चिदप्यतः । अर्वाशिष्टं तदप्युच्चैस्त्वया कान्ते निगद्यताम् ॥१८६॥
 इति पत्युः परिप्रश्नाद्गहनं ज्योत्स्नया सभाम् । मूर्तिः कुमुद्वतीं वेन्दोविकासमुपनीयताम् ॥१८७॥
 साऽश्वीदिति तदवत्तं स्वपुण्यपरिपाकजम् । सुखं राज्यसमुद्भूतं द्रष्टुमपि निविशन्^{११} ॥१८८॥
 परेद्युः कान्तया सार्द्धं^{१२} स्वेच्छया विहरन् वनम् । सरो धान्यकमालाख्यं वोभ्यादित्यगतेः^{१३} सुतः ॥१८९॥
 'स्वप्राच्यभवसम्बन्धं प्रत्यक्षमिव लक्षयन् । काललब्धिवलाल्लब्धनिर्वेदो विदुषां वरः ॥१९०॥
 भङ्गगुरः^{१४} सङ्गमः सर्वोऽप्यङ्गितामभिवाञ्छितः । किं नाम सुखमत्रेदम् अल्पसङ्कल्पसम्भवम् ॥१९१॥
 आयुर्वायुचलं कायो हेय एवामयालयः । साम्राज्यं भुज्यते 'लोलैर्बालि' 'बहुदोषलम्'^{१५} ॥१९२॥
 अक्षरपारः^{१६} कायोऽयम् असारो दुरिताश्रयः । 'तादात्म्यप्राप्तनोऽनेन'^{१७} धिगेनमशुचिप्रियम्^{१८} ॥१९३॥

प्रेमसे आदित्यगतिके समीप जाकर प्रार्थना की 'किं यह प्रभावतीकी पुत्री रतिप्रभा कन्या आप मेरे मनोरथके पुत्र चित्ररथके लिये दे दीजिये ।' आदित्यगतिके भी स्वीकार कर समागत बन्धुओंको बिदा किया ॥१८०-१८१॥ महाराज आदित्यगति सब विद्याधरोंके राज्यपर हिरण्यवर्मका अभिषेक कर अनेक लोगोंके साथ किन्हीं मुनिराजके समीप पहुँचे, और वायुरथ के साथ साथ स्वयं भी संयम धारण कर विधिपूर्वक शास्त्रोंमें कहे हुए बारह प्रकारके तपश्चरण करने लगे ॥१८२-१८३॥ यह सब कहकर सुलोचनाने सब सभासदोंसे कहा कि वह रतिवेगा भी मैं ही हूँ, रतिवेणा (कञ्जतरी) भी मैं ही हूँ और प्रभावती भी मैं ही हूँ ॥१८४॥ यह सुनकर जयकुमारने भी सबको आश्चर्य करनेवाले वचन कहे कि उन तीनों भवोंमें अनुक्रमसे मैं ही उन रतिवेगा आदिका पति हुआ हूँ ॥१८५॥ जयकुमार फिर अपनी प्रिया-सुलोचनासे कहने लगा कि हे प्रिये, कुछ बात बाकी और रह गई है उसे भी तू अच्छी तरह कह दे ॥१८६॥ जिस प्रकार चन्द्रमाकी मूर्ति कुमुदिनीको विकसित कर देती है उसी प्रकार वह सुलोचना भी अपने पतिके पूर्वोक्त प्रश्नसे दांतोंकी कान्तिके द्वारा सभाको विकसित-हर्षित करती हुई अपने पुण्यके फलसे होनेवाले समाचारोंको इस प्रकार कहने लगी कि वह हिरण्यवर्मा राज्यसे उत्पन्न हुए सुखका इच्छानुसार उपभोग करने लगा । किसी एक दिन अपनी वल्लभाके साथ विहार करता हुआ वह आदित्यगतिका पुत्र हिरण्यवर्मा धान्यकमाल नामके वनमें जा पहुँचा । वहाँ सर्पसरोवर देखकर उसे अपने पूर्वभवके सब सम्बन्ध प्रत्यक्षकी तरह दिखने लगे, काल-लब्धिके निमित्तसे-जिसे वैराग्य उत्पन्न हुआ है और जो विद्वानोंमें श्रेष्ठ है ऐसा वह हिरण्यवर्मा सोचने लगा कि प्राणिश्रेणीकी इच्छाका विषयभूत यह सभी समागम क्षणभंगुर है, इस समागममें थोड़ेसे संकलसे उत्पन्न हुआ यह सुख क्या वस्तु है ? यह आयु वायुके समान चंचल है । अनेक रोगोंका घर स्वरूप यह शरीर छोड़ने योग्य ही है । अनेक दोषोंको देनेवाले राज्यको चंचल

१ वायुरथस्य वियोगादाहुः । २ तथास्तिवत्यनुमतिं कृत्वा । ३ अयं श्लोकः ल० म० पुस्तकयोर्न दृश्यते । ४ वायुरथेन सहितः । ५ आदित्यगतिः । ६ रतिवेणेति कपोती । ७ सुलोचना । ८ सभाजनानाम् । ९ अभाषत । १० रतिवेगादीनाम् । ११ जातोऽस्मि । १२ अनुभवन् । १३ प्रभावत्या सह । १४ हिरण्यवर्मा । १५ पूर्वभव । १६ क्षयशीलः । १७ आसक्तैः । १८ मूर्खैः । १९ बहुदोषप्रदम् । २० आसन्नावसानः । २१ तत्स्वरूपत्वम् । २२ कायेन । २३ आत्मानम् ।

देहवासो^१ भयं नास्य^२ यानमस्मान्महद् भयम् । देहिनः किल मार्गस्य^३ विपर्यासोऽत्र^४ निर्धृतेः ॥१६४॥
 नीरूपोऽयं स्वरूपेण रूपी देहैरूपता । निर्वाणाप्तिरतो हेयो देह एव यथा तथा^५ ॥१६५॥
 बन्धः सर्वोऽपि सम्बन्धो^६ भोगो रोगो रिपुर्वपुः । दीर्घमायासमत्वायुः तृष्णाग्नेरिन्धनं धनम् ॥१६६॥
 आदौ जन्म जरा रोगा मध्येऽन्तेऽप्यन्तकः खलः । इति चक्रकसम्भ्रान्तिः जन्तोर्मध्ये भवार्णवम्^७ ॥१६७॥
 भोगिनो^८ भोगवद्^९ भोगा न^{१०} भोगा नाम भोग्यकाः । एवं भावयती भोगान् भूयोऽभूवन् भयावहाः ॥१६८॥
 निषेव्यमाणा विषया विषमा विषसन्निभाः । देदोप्यन्ते^{११} बुभुक्षाभिः^{१२} दीपनीयैरिवौषधैः ॥१६९॥
 न तृप्तिरेभिरित्येष^{१३} एव दोषो न पोषकाः । तृषश्च^{१४} विषवल्लयाः संसृतेश्चावलम्बनम् ॥१७०॥
 वनितातनुसम्भूतकामाग्निः^{१५} स्नेहसेचनैः । कामिनं भस्मसाद्भावम् श्रुतीत्या न निवर्तते ॥१७१॥
 जन्तोर्भोगेषु भोगान्ते सर्वत्र^{१६} विरतिर्ध्रुवा । स्थयं तस्याः^{१७} प्रयत्नोऽस्य क्रियाशेषो^{१८} मनीषिणः ॥
 प्रापितोऽप्यसकृद्दुःखं भोर्मस्तानेव याचते । धत्तेऽवताडितोऽप्यर्हिह मात्रास्या एव बालकः ॥१७२॥

और मूल लोग ही भोगते हैं, इस शरीरका अन्त निकट है, यह असार है, और पापका आश्रय है, इसी शरीरके साथ इस आत्माका तादात्म्य हो रहा है, इसलिये अपवित्र पदार्थोंसे प्रेम करने-वाले इस प्राणीको धिक्कार हो, इस प्राणीको शरीरमें निवास करनेसे तो भय मालूम नहीं होता परन्तु उससे निकलनेमें बड़ा भय मालूम होता है, निश्चयसे इस संसारमें मोक्षमार्गसे विपरीत प्रवृत्ति ही होती है ॥१८७-१९४॥ यह जीव स्व स्वरूपकी अपेक्षा रूपरहित है परन्तु शरीरके सम्बन्धसे रूपी हो रहा है, रूपरहित होना ही मोक्षकी प्राप्ति है इसलिये जिस प्रकार बने उसी प्रकार शरीरको अवश्य ही छोड़ना चाहिये ॥१९५॥ सब प्रकार सम्बन्ध ही बन्ध है, भोग ही रोग है, शरीर ही शत्रु है, लम्बी आयु ही तो दुःख देती है और धन ही तृष्णारूपी अग्निका ईंधन है ॥१९६॥ इस जीवको पहले तो जन्म धारण करना पड़ता है, मध्यमें बुढ़ापा तथा अनेक रोग हैं और अन्तमें दुष्ट मरण है, इस प्रकार संसाररूप समुद्रके मध्यमें इस जीवको चक्रकी तरह भ्रमण करना पड़ता है ॥१९७॥ भोग करनेवाले लोगोंको ये भोग सर्पके फणोंके समान हैं इसलिये भोग करने योग्य नहीं हैं इस प्रकार भोगोंका बार बार विचार करनेवाले पुरुषके लिये ये भोग बड़े भयंकर जान पड़ने लगते हैं ॥१९८॥ ये सेवन किये हुए विषय विषके समान हैं, जिस प्रकार उत्तेजक औषधियोंसे गेटकी आग भभक उठती है उसी प्रकार भोगकी इच्छाओंसे ये विषय भभक उठते हैं ॥१९९॥ इन विषयोंसे तृप्ति नहीं होती केवल इतना ही दोष नहीं है किन्तु तृष्णाको पुष्ट करनेवाले भी हैं और संसाररूपी विषकी बेलको सहारा देनेवाले भी हैं ॥२००॥ स्त्रियोंके शरीरसे उत्पन्न हुई यह कामरूपी अग्नि स्नेहरूपी तेलसे प्रज्वलित होकर कामी पुरुषोंको भस्म किये बिना नहीं लौटती है ॥२०१॥ भोग करनेके बाद इन समस्त भोगोंमें जीवोंको वैराग्य अवश्य होता है, बुद्धिमान् लोगोंको जो तपश्चरण आदि क्रिया करनी पड़ती है वे सब इस वैराग्यको स्थिर रखनेका उपाय ही है ॥२०२॥ यद्यपि यह जीव भोगोंसे अनेक बार दुःखको प्राप्त है तथापि ये जीव उन्हीं भोगोंको चाहते हैं सो ठीक ही है क्योंकि माता बालकको जिस पैरसे ताड़ती हैं बालक उसी उसी प्रकार माताके चरणको पकड़ते हैं

१ शरीरे निवसनम् । २ निर्गमनम् । ३ देहवासात् । ४ व्यत्ययः । ५ देहिनि । ६ येन केन प्रकारेण । ७ पुत्रमित्रादिसम्बन्धः । ८ भवार्णवे ल०, अ०, प० । ९ सर्पस्य । १० शरीरवत् । फणवद् वा । 'भोगः सुखे स्त्रियादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यभिधानात् । ११ भोगा नाम न भोग्यकाः ल० । १२ भृशं दहन्ति । १३ भोक्तुमिच्छाभिः । १४ दीपनहेतुभिः । १५ भोगैः । १६ तृष्णायाः । १७ स्नेहः प्रीतिः तैलञ्च । स्नेहसेवनैः अ०, स० । स्नेहदीपनैः प०, ल० । १८ सर्वेषु । १९ अप्रीतिः । २० विरतेः । २१ अनुष्ठानशेषः ।

अध्रुवत्वं गुणं मन्ये भोगायुः 'कायसम्पदाम् । अध्रुवेष्वेव कृतो मुक्तिविना मुक्तेः कुतः सुखम् ॥२०४॥
 'विलम्बजननेः पूर्वं पश्चात् प्राणार्थहारिभिः । 'पारिपन्थिकसङ्काशः' विषयः कस्य नापदः' ॥२०५॥
 तद्दुःखस्यैव माहात्म्यं स्यात् सुखं विषयैश्च यत् । 'यत्कारवल्लिका स्वादुः प्राभवं ननु तत्क्षुधः' ॥२०६॥
 सङ्कल्पसुखसन्तोषाद् 'विमुखस्वात्मजात् सुखात् । गुञ्जाग्नितापसन्तुष्टशाखामृगसमो जनः ॥२०७॥
 सदास्ति निर्जरा नासौ युक्त्यै बन्धयुतेविना । 'तच्छ्रुतिश्च हतेबन्धहेतोस्तसद्धतौ यते' ॥२०८॥
 केन मोक्षः कथं जीव्य^{१०} कुतः सौख्यं नव वा सतिः । 'परिग्रहाग्रहग्राहगृहीतस्य भवार्णवे ॥२०९॥
 किं^{११} भव्यः किमभव्योऽयमिति संशेरते^{१२} बुधाः । ज्ञात्वाऽप्यनित्यतां लक्ष्मीकटाक्ष^{१३} शरशायिते ॥२१०॥
 अयं कायद्रुमः 'कान्ताव्रततीतिवेष्टितः । जरित्वा^{१४} जन्मकान्तारे 'कालाग्निप्रासभाप्स्यति ॥२११॥
 यदि धर्मकणादित्यं^{१५} निदानविषदूषितात्^{१६} । सुखं धर्ममृताम्भोधिमज्जनेन किमुच्यते ॥२१२॥

॥२०३॥ भोग, आयु, काल और सम्पदाओंमें जो अस्थिरपना है उसे मैं एक प्रकारका गुण ही मानता हूं क्योंकि यदि ये सब स्थिर हो गये तो मुक्ति कैसे प्राप्त होगी ? और मुक्तिके बिना सुख कैसे प्राप्त हो सकेगा ? ॥२०४॥ पहले तो विश्वास उत्पन्न करनेवाले और पीछे प्राण तथा धनको अपहरण करनेवाले शत्रु तुल्य इन विषयोंसे किसे भला आपदाएं प्राप्त नहीं होती हैं ? ॥२०५॥ इन विषयोंसे जो सुख होता है वह दुःखका ही माहात्म्य है क्योंकि जो करेला मीठा लगता है वह भूखका ही प्रभाव है ॥२०६॥ यह जीव कल्पित सुखोंसे संतुष्ट होकर आत्मासे उत्पन्न होनेवाले वास्तविक सुखसे विमुख हो रहा है इसलिये यह जीव गुमचियों के तापनेसे संतुष्ट होनेवाले बानरके समान है । भावार्थ—जिस प्रकार गुमचियोंके तापनेसे बन्दरकी ठंड नहीं दूर होती है उसी प्रकार इन कल्पित विषयजन्य सुखोंसे प्राणियोंकी दुःख-रूप परिणति दूर नहीं होती है ? ॥२०७॥ इस जीवके निर्जरा तो सदा होती रहती है परन्तु बन्धका अभाव हुए बिना वह मोक्षका कारण नहीं हो पाती है, बन्धका अभाव बन्धके कारणोंका नाश होनेसे हो सकता है इसलिये मैं बन्धके कारणोंका नाश करनेमें ही प्रयत्नशील हूँ ॥२०८॥ इस संसाररूपी समुद्रमें जिन्हें परिग्रहके ग्रहण करने रूप पिशाच लग रहा है उन्हें भला मोक्ष किस प्रकार मिल सकता है ? उनका जीवन किस प्रकार रह सकता है ? उन्हें सुख कहाँसे मिल सकता है और उन्हें बुद्धि ही कहाँ उत्पन्न हो सकती है ? ॥२०९॥ लक्ष्मीके कटाक्षरूपी वाणोंसे सुलाये हुए (नष्ट हुए) पुरुषमें अनित्यताको जानकर भी विद्वान् लोग 'यह भव्य है ? अथवा अभव्य है ?' इस प्रकार व्यर्थ संशय करने लगते हैं ॥२१०॥ स्त्रीरूपी लताओं के समूहसे घिरा हुआ यह शरीररूपी वृक्ष संसाररूपी अटवीमें जीर्ण होकर कालरूपी अग्निका ग्रास हो जायगा ॥२११॥ जब कि निदानरूपी विषसे दूषित धर्मके एक अंशसे मुझे ऐसा सुख मिला है तब धर्मरूपी अमृतके समुद्रमें अवगाहन करनेसे जो सुख प्राप्त होगा उसका तो

१ काल—ल० । २ विश्वासजनकः । ३ शत्रुसदृशः । ४ न विपत्तयः । ५ कटुकास्वादः शाकविशेषः । कारवेल्लिकं स्वादु प०, द०, स०, अ०, ल० । ६ बुभुक्षायाः । ७ विमुखश्चात्मजान् ल०, प०, इ०, अ० । ८ तत् कारणात् । ९ यत्नं करोमि । १० जीवनम् । ११ परिग्रहस्वीकारनस्वीकृतस्य । १२ विशिष्टेष्ट-परिणामेन किं भविष्यति । १३ संशयं कुर्वन्ति । १४ अपाङ्गदर्शनवाणतनूकृतशरीरे पुंस्ति । १५ भार्या-लता । १६ जीर्णीभूत्वा । १७ यमदावाग्निः । १८ धर्मलेशात् । १९ कपोतजन्मनि कुबेरमित्रेण स्वेन कृतवानपुण्यस्यैकांशः कपोतस्य दत्तः विद्याधरविमानं विलोक्य कपोतः श्रेष्ठिदत्तपुण्यांशात् मम विद्याधरत्वं भवत्विति कृतनिदानविषदूषितत्वात् ।

* मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धनके कारण हैं ।

‘अबोधद्वेषरागात्मा संसारस्तद्विपर्ययः । मोक्षश्चेद् दीक्षितो विद्भिः^१ कः क्षेपो^२ मोक्षसाधने ॥२१३॥
यदि देशाविसाकृत्ये न तपस्तपुनः कुतः । मध्येर्णवं यतो^३ वेगात् कराग्रच्युतरत्नवत् ॥२१४॥
‘आत्मं स्त्वं परमात्मानम् आत्मन्यात्मानमात्मना । हित्वा दुरात्मतामात्मनीने^४ऽध्यनि^५ चरन्^६ कुरु ॥२१५॥
इति सञ्चिन्तयन् गत्वा पुरं^७ परमतत्त्ववित् । सुवर्णवर्मणे राज्यं साभिषेकं वित्तीयं सः ॥२१६॥
अवतीर्य^८ महीं प्राप्य श्रीपुरं श्रीनिकेतनम्^९ । दीक्षां जनेश्वरीं प्राप श्रीपालगुरुसन्निधौ ॥२१७॥
परिग्रहप्रहान्मुक्तो दीक्षित्वा स तपोऽशुभिः । हिरण्यवर्मा^{१०} घमाशुनिर्मलो व्यद्युतस्तराम् ॥२१८॥
प्रभावती च तन्मात्रा^{११} । गुणवत्यास्तपोऽगमत् । कुतश्चन्द्रमसं मुक्त्वा चन्द्रिकायाः स्थितिः पृथक् ॥
सद्वृत्तस्तपसा दीप्तो दिगम्बर^{१२} विभूषणः । निस्सङ्गो^{१३} व्योमगाम्येकविहारी विद्वबन्धितः ॥२१९॥
नित्योदयो^{१४} बुधाधीशो विश्व^{१५} दृष्ट्वा विरोचनः^{१६} । स कदाचित् समागच्छन्मोदयन् पुण्डरीकिणीम् ॥

कहना ही क्या है ? ॥२१२॥ यह संसार अज्ञान, द्वेष और राग स्वरूप है तथा मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् सम्यग्ज्ञान और समता स्वरूप है । यदि विद्वान् लोग ऐसा देखते रहें तो फिर मोक्ष होनेमें देर ही क्या लगे ? ॥२१३॥ जिस प्रकार वेगसे जाते हुए पुरुषके हाथसे बीच समुद्रमें छूटा हुआ रत्न फिर नहीं मिल सकता है उसी प्रकार देश काल आदिकी सामग्री मिलनेपर भी यदि तप नहीं किया तो वह तप फिर कैसे मिल सकता है ? ॥२१४॥ इसलिये हे आत्मन्, तू आत्माका हित करनेवाले मोक्षमार्गमें दुरात्मता छोड़कर अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें परमात्मा रूप अपने आत्माको ही स्वीकार कर ॥२१५॥ इस प्रकार चिन्तवन करते हुए परम तत्त्वके जाननेवाले राजा हिरण्यवर्माने अपने नगरमें जाकर अपने पुत्र सुवर्णवर्मा के लिए अभिषेकपूर्वक राज्य सौंपा और फिर विजयाद्वि पर्वतसे पृथ्वीपर उतरकर लक्ष्मीके गृहस्वरूप श्रीपुर नामके नगरमें श्रीपाल गुरुके समीप जनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली ॥२१६-२१७॥ परिग्रहहृषी पिशाचसे मुक्त हो दीक्षा धारण कर सूर्यके समान निर्मल हुआ वह राजा हिरण्यवर्मा तपश्चरणरूपी किरणोंसे बहुत ही देदीप्यमान हो रहा था ॥२१८॥ प्रभावतीने भी हिरण्यवर्माकी माता-शशिप्रभाके साथ गुणवती आधिकाके समीप तप धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमाको छोड़कर चाँदनीकी पृथक् स्थिति भला कहाँ हो सकती है ? ॥२१९॥ वे हिरण्यवर्मा मुनिराज ठीक सूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोल है उसी प्रकार वे मुनिराज भी सद्वृत्त अर्थात् निर्दोष चारित्र्यको धारण करनेवाले थे । जिस प्रकार सूर्य तप अर्थात् गर्मीसे देदीप्यमान रहता है उसी प्रकार मुनिराज भी तप अर्थात् अनशनादि तपश्चरणसे देदीप्यमान रहते थे, जिस प्रकार सूर्य दिगम्बर अर्थात् दिशा और आकाशका आभूषण है उसी प्रकार मुनिराज भी दिगम्बर अर्थात् दिशारूप वस्त्रको धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ मुनियोंके आभूषण थे, जिस प्रकार सूर्य निःसंग अर्थात् सहायता-रहित अकेला होता है उसी प्रकार मुनिराज भी निःसङ्ग अर्थात् परिग्रहरहित थे, जिस प्रकार सूर्य आकाशमें गमन करता है उसी प्रकार चारणऋद्धि होनेसे मुनिराज भी आकाशमें गमन करते थे, जिस प्रकार सूर्य अकेला ही घूमता है उसी प्रकार मुनिराज भी अकेले ही घूमते थे—एकविहारी थे, जिस प्रकार सूर्यको सब वन्दना करते हैं उसी प्रकार मुनिराजको भी सब वन्दना

१ अज्ञान । २ बुधः । ३ कालयापना । ४ सुदेशकुलजात्याविसामग्र्ये । ५ गच्छतः । ६ आत्मन् स्त्वं ल० । ७ आत्महिते । ८ मार्गे । ९ वरं ल०, प० । रति कुश अ०, स० । १० धान्यकमालवनात् निजनगरं प्राप्य । ११ विजयाद्विचलात् भुवं प्राप्य । १२ श्रीगृहम् । १३ आदित्यः । १४ हिरण्यवर्मणे जनन्या शशिप्रभया सह । १५ गुणवत्यायिकायाः समीपे । १६ रविपक्षे विशरच्च अम्बरञ्च विभूषयतीति । १७ गगनचारिणः । १८ सर्वकालोत्कृष्टबोधः । १९ जगज्चक्षुः । २० रविरिव ।

सप्रभा चन्द्रलेखे सह तत्र प्रभावती । गुणवत्या समागते सङ्गतिः स्याद्यदुच्छया ॥२२२॥

‘गुणवत्यार्यिकां दृष्ट्वा नत्वोक्ता प्रियदत्तया । ‘कुतोऽसौ’ ‘गणिनीत्याख्यत्’ स्वर्गतेति’ प्रभावती ॥२२३॥

तच्छ्रुत्वा नेत्रभूता नौ संवेति^{१०} शुचमागता । कुतः प्रीतिस्तयेत्युक्ता साऽब्रवीत् प्रियदत्तया ॥२२४॥

न स्मरिष्यसि किं पारावतद्वन्द्वं भवद्गृहे । ‘तत्राहं रतिषेणेति तच्छ्रुत्वा विस्मिताऽवदत् ॥२२५॥

क्वासौ रतिवरोऽर्थेति सोऽपि विद्याधराधिपः । हिरण्यवर्मा ‘कर्मरिर्यतिरत्रेति’^{११} ‘साब्रवीत् ॥२२६॥

प्रियदत्ताऽपि तं^{१२} गत्वा वन्दित्वैत्य^{१३} महामुनिम् । प्रभावती परिप्रश्नात् पत्युरित्याह वृत्तकम् ॥२२७॥

विजयार्द्धगिरेरस्य गान्धारनगराविह^{१४} । विहर्तुं रतिषेणोऽन्ना गान्धार्या प्रिययाऽगमत् ॥२२८॥

गान्धारी सर्वदण्डाहमिति तत्र मुषा स्थिता । मन्त्रौषधीः प्रयोज्यास्याः श्रेष्ठी^{१५} विद्याधरश्च सः ॥२२९॥

करते थे, जिस प्रकार सूर्यका नित्य उदय होता है उसी प्रकार मुनिराजके भी ज्ञान आदिका नित्य उदय होता रहता था, जिस प्रकार सूर्य बुध अर्थात् बुधग्रहका स्वामी होता है उसी प्रकार मुनिराज भी बुध—अर्थात् विद्वानोंके स्वामी थे, जिस प्रकार सूर्य विश्वदृश्या अर्थात् सब पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विश्वदृश्या अर्थात् सब पदार्थोंको जानने वाले थे, जिस प्रकार सूर्य विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान रहता है अथवा विरोचन नामको धारण करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान थे अथवा रुचिररहित उदासीन थे और जिस प्रकार सूर्य पुण्डरीकिणी अर्थात् कमलिनीको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार मुनिराज भी पुण्डरीकिणी अर्थात् विदेह क्षेत्रकी एक विशेष नगरीको आनन्दित करते थे इस प्रकार सूर्यकी समानता रखनेवाले मुनिराज हिरण्यवर्मा किसी समय पुण्डरीकिणी नगरीमें पधारे ॥२२०—२२१॥ प्रभासहित चन्द्रमाकी कलाके समान आर्यिका—प्रभावती भी वहाँ आई और गुणवती-गणिनीके साथ मिलकर रहने लगी सो ठीक ही है क्योंकि समागम अपनी इच्छानुसार ही होता है ॥२२२॥ गुणवती-गणिनीको देखकर प्रियदत्ताने नमस्कार कर पूछा कि संवाधकारिणी अमितमति कहाँ हैं ? तब उसने कहा कि ‘वह तो स्वर्ग चली गई है’ यह सुनकर प्रभावती कुछ शोक करने लगी और कहने लगी कि ‘हम दोनोंकी आंखें वहीं थीं,’ तब प्रियदत्ताने पूछा कि उनके साथ तुम्हारा प्रेम कैसे हुआ ? उत्तरमें प्रभावती कहने लगी कि आपको क्या स्मरण नहीं है आपके घरमें जो कबूतर-कबूतरीका जोड़ा रहता था उनमेंसे मैं रतिषेणा नामकी कबूतरी हूँ, यह सुनकर प्रियदत्ता आश्चर्यसे चकित होकर कहने लगी कि ‘वह रतिवर कबूतर आज कहाँ है तब प्रभावतीने कहा कि वह भी विद्याधरोंका राजा हिरण्यवर्मा हुआ है और कर्मरूपी शत्रुओंको नाश करनेवाला वह आज इसी पुण्डरीकिणी नगरी में विराजमान है । प्रियदत्ताने भी जाकर महामुनि-हिरण्यवर्माकी वन्दना की और फिर प्रभावतीके पूछनेपर अपने पतिका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगी ॥२२३—२२७॥

एक रतिषेण नामका विद्याधर अपनी स्त्री गान्धारीके साथ साथ इसी विजयार्ध पर्वतके गान्धार नगरसे विहार करनेके लिये यहां आया था ॥२२८॥ मुझे सर्पने काट खाया है इस प्रकार भूठ भूठ बहानाकर गान्धारी यहां पड़ रही, सेठ कुबेरकान्त और विद्याधरने बहुत सी औषधियोंका प्रयोग किया परन्तु गान्धारीने मायाचारीसे कह दिया कि ‘अभी मुझे

१ पुण्डरीकिण्याम् । २ समागतवती सङ्गतवती वा । ३ गुणवत्यादिका ट० । गुणवती शशिप्रभा-
वत्यार्यिकाः । ४ क्वास्ते । ५ यशस्वती । ६ अनन्तमतिसहिताऽमितमत्यायिका । ७ गुणवती जगाद ।
८ नाकं प्राप्तेति । ९ नेत्रसदृशी । १० प्रियदत्ता । ११ कर्मरिधाति ल०, प० ।
१२ अस्मिन् पुरे तिष्ठतीति । १४ प्रभावती । १५ हिरण्यवर्ममुनिम् । १६ पुनरागत्य । १७ पुण्डरीकिण्याम् ।
१८ कुबेरकान्तः ।

मायया नास्मि शान्तेति तद्वाक्यात् खेदमागतौ^१ । आह तु स्वपतौ याते वनं^२ शक्तिमदौषधम्^३ ॥२३०॥
 गान्धारीं^४ बन्धकीभावम्^५ उपेत्य स्मरविक्रियाम् । दर्शयन्तीं निरीक्ष्याह वणिग्वर्यो दृढव्रतः ॥२३१॥
 अहं वर्षधरो वेत्ति न किं मामित्युपायवित् । व्यधाद् विरक्तचित्तां तां तदेव हि धियः फलम् ॥२३२॥
 तदानीमागते पत्यौ स्वे स्वास्थ्यमहमागता । पूर्वौ वधप्रयोगेत्पुक्त्वाऽग्रात् सपतिः पुरम् ॥२३३॥
 दयितान्तकुबेराख्यो मिश्रान्तश्च कुबेरवाक् । परः कुबेरदत्तश्च कुबेरश्चान्तदेववाक् ॥२३४॥
 कुबेरादिप्रियश्चान्यः पञ्चन्ते सञ्चितश्रुताः । कलाकौशलमापन्नाः सम्पन्नवयौवनाः ॥२३५॥
 एतैः स्वसूनुभिः सार्धम् आरुह्य शिविकां वनम् । धृत्वा कुबे^६रश्रीगर्भं मां विहर्तुं समागतम् ॥२३६॥
 दृष्ट्वा कदाचिद् गान्धारीपूथकं^७ पृष्टवती पुमान् । त्वच्छ्रेष्ठी^८ नेति तत्सत्यम् उत नेत्यन्यथादिशम् ॥२३७॥
 तत्सत्यमेव^९ मत्तोऽज्यां प्रत्यसौ न पुमानिति । तदाकर्ण्य विरज्यासौ^{१०} सपतिः संयमं श्रिता ॥२३८॥
 पुनस्तत्रागता^{११} दृष्ट्वा दीक्षेयं केन हेतुना । तवेति सा मया पृष्टा प्रणम्य प्रियोक्तिभिः ॥२३९॥
 श्रेष्ठ्येव ते तपोहेतुरिति प्रत्यब्रवीदसौ । निगूढं तद्वचः श्रेष्ठी श्रुत्वाऽऽगत्य पुरः स्थितः ॥२४०॥
 मामज्योत्^{१२} सखाऽसौ मे^{१३} क्वाद्येति परिपृष्टवान् । सोऽपि मत्कारणेनैव गृहोत्वेहागमत्तपः^{१४} ॥२४१॥
 इति तद्वचनाच्छ्रेष्ठी नृपश्चाभ्येत्य तं मुनिम् । वन्दित्वाधर्ममापृच्छथ काललब्ध्या महीपतिः^{१५} ॥२४२॥

शान्ति नहीं हुई है, यह सुनकर उसके पति रतिषेणको बहुत दुःख हुआ । वह अधिक शक्तिवाली औषधि लानेके लिये वनमें चला गया, इधर उसके चले जानेपर गांधारीने कुलटापन धारण कर कामकी चेष्टाएं दिखाई, यह देखकर उपायको जाननेवाले और अपने व्रतमें दृढ़ रहनेवाले सेठ कुबेरकान्तने कहा कि अरे, मैं तो नृपसंक हूं—क्या तुझे मालूम नहीं ? ऐसा कहकर सेठने उसे अपनेसे विरक्तचित्त कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिका फल यही है ॥२२९-२३२॥ इतनेमें ही उसका पति वापिस आ गया, तब गांधारीने कह दिया कि मैं पहले दी हुई औषधिके प्रयोगसे ही स्वस्थ हो गई हूँ ऐसा कहकर वह पतिके साथ नगरमें चली गई ॥२३३॥ कुबेरदयित, कुबेरमित्र, कुबेरदत्त, कुबेरदेव और कुबेरप्रिय ये पांच मेरे पुत्र थे । ये पांचों ही समस्त शास्त्रोंको जाननेवाले, कला कौशलमें निपुण तथा नव यौवनसे सुशोभित थे । किसी एक दिन जब कि कुबेरश्री कन्या मेरे गर्भमें थी तब मैं अपने पूर्वोक्त पुत्रोंके साथ पालकीमें बैठकर वनमें विहार करनेके लिये गई थी उसी समय गांधारीने मुझे देखकर और अलग ले जाकर मुझसे पूछा कि 'आपके सेठ पुरुष नहीं हैं' क्या यह बात सच है अथवा झूठ ? तब मैंने उत्तर दिया कि बिलकुल सच है क्योंकि वे मेरे सिवाय अन्य स्त्रियोंके प्रति पुरुष नहीं हैं यह सुनकर उसने विरक्त हो अपने पतिके साथ साथ संयम धारण कर लिया ॥२३४-२३८॥ किसी एक दिन वह गांधारी आधिका यहां फिर आई तब मैंने दर्शन और प्रणाम कर प्रिय वचनों द्वारा पूछा कि 'आपने यह दीक्षा किस कारणसे ली है ?' उसने उत्तर दिया था कि 'मेरे तपश्चरणका कारण तेरा सेठ ही है, सेठ भी गुप्तरूपसे यह बात सुनकर सामने आकर खड़े हो गये और पूछने लगे कि जिसने मुझे जीत लिया है ऐसा मेरा मित्र आज कहाँ है ? तब गान्धारी आधिकाने कहा कि 'वे भी मेरे ही कारण तप धारण कर यहाँ पधारे हैं, ॥२३९-२४१॥ यह सुनकर सेठ और राजा दोनों ही उन मुनिराजके समीप गये और दोनोंने

१ —मागते ल० । २ तौ द्वौ खेदमानतौ अ०, स० । ३ विजयाश्वनम् । ४ विषापहरणसामर्थ्य-
 वन्महौषधम् । ५ गान्धारी ल० । ६ कुलटात्वम् । ७ दर्शयन्ती ल० । ८ वर्षधरः ल० । षण्डः ।
 ९ पतिसहिता । १० कुबेरदेवः । ११ कुबेरश्रियः सम्बन्धि गर्भम् । १२ एकान्ते । १३ पुमान् न
 भवतीति । १४ असत्यं वा । १५ मत् । १६ गान्धारी । १७ पुण्डरीकिण्याम् । १८ जितवती । १९ मम
 मित्रं रतिषेणः । २० कुत्र तिष्ठतीति । २१ गतस्तपः ल०, अ०, प०, स० । २२ लोकपालः ।

गुणपालाय तद्वाज्यं दत्त्वा संयममादधे^१ । निकटे रतिषेणस्य विद्याधरमुनीशितुः^२ ॥२४३॥
 पञ्चमं^३ स्वपदे सूनुं नियोज्यान्वयः^४ सहात्मजैः । यथौ श्रेष्ठौ^५ च तत्रैव दीक्षां मोक्षामिलापुकः ॥२४४॥
 तथोक्त्वा कान्तवृत्तान्तं^६ सा^७ समुत्पन्नसंविदा^८ । विरज्य गृहसंवासात् कुबेरादिभिर्यं सतीम्^९ ॥२४५॥
 'गुणपालाय दत्त्वा स्वां सुतां गुणवतीं^{१०} श्रिता । प्रभावत्युपवेशेन प्रियदत्ताऽप्यदीक्षत'^{११} ॥२४६॥
 मुनिं हिरण्यवर्माणं कदाचित् प्रेतभूतले^{१२} । विनानि सप्त सङ्गीयं^{१३} प्रतिमायोगधारणम् ॥२४७॥
 वन्दित्वा नागराः^{१४} सर्वे तत्पूर्वभवसंकथा । कुर्यान्ना पुरमागच्छन् विद्युच्चोरोऽप्युदीरितात्^{१५} ॥२४८॥
 चेदकथाः प्रियदत्तायास्तन्मूनेः प्राक्तनं भवम् । विदित्वा तद्गतकोधात्तदोत्पन्नविभङ्गकः^{१६} ॥२४९॥
 मुनि पृथक्प्रवेशस्थां^{१७} प्रतिमायोगमास्थिताम्^{१८} । प्रभावतीं च संयोज्य चित्तायां^{१९} दुराशयः ॥२५०॥
 एकस्थानेव निक्षिप्याधाक्षौ^{२०} दक्षजिघृक्षया^{२१} । सोढ्वा तदुपसर्गं तौ विशुद्धपरिणामतः ॥२५१॥
 स्वर्गं समुपपद्यतां^{२२} क्षमया किं न जायते । सुवर्णवर्मा तज्ज्ञात्वा विद्युच्चोरस्य निग्रहम् ॥२५२॥
 करिष्यामीति कोपेन पापिनः सङ्गारं व्यधात्^{२३} । विदित्वाऽवधिबोधेन तत्तौ^{२४} स्वर्गनिवासिनौ ॥२५३॥
 प्राप्य संयमरूपेण सुतां धर्मकथादिभिः । तत्त्वं श्रद्धाप्य^{२५} तं कोपाद् अपास्य कृपयाऽऽहिता^{२६} ॥२५४॥

ही वन्दना कर धर्मका स्वरूप पूछा । काललब्धिका निमित्त पाकर राजा लोकपालने अपने पुत्र गुणपालके लिये राज्य दिया और उन्हीं विद्याधर मुनि रतिषेणके निकट संयम धारण कर लिया ॥२४२-२४३॥ मोक्षके अभिलाषी सेठने भी अपने पांचवें पुत्र-कुबेरप्रियको अपने पदपर नियुक्त कर अन्य सब पुत्रोंके साथ साथ वहीं दीक्षा धारण की ॥२४४॥ इस प्रकार प्रियदत्ता अपने पतिका वृत्तान्त कहकर उत्पन्न हुए आत्मज्ञानके द्वारा गृहवाससे विरक्त हो गई थी, उस सतीने अपनी कुबेरश्री पुत्री राजा गुणपालको दी और स्वयं गुणवती आर्थिकाके समीप जाकर प्रभावतीके उपदेशसे दीक्षा धारण कर ली ॥२४५-२४६॥ किसी समय मुनिराज हिरण्यवर्माने सात दिनका नियम लेकर इमशानभूमिमें प्रतिमा योग धारण किया, नगरके सब लोग उनकी वन्दना करनेके लिये गये थे । वन्दना कर उनके पूर्वभवकी कथाएं कहते हुए जब सब लोग नगरको वापिस लौट आये तब एक विद्युच्चोरने भी प्रियदत्ताकी चेटीसे उन मुनिराजका वृत्तान्त सुना, सुनकर उसे उनके प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न हुआ और उसी क्रोध के कारण उसे विभंगावधि भी प्रकट हो गया, उस विभंगावधिसे उसने मुनिराजके पूर्वभवके सब समाचार जान लिये । यद्यपि मुनिराज प्रतिमायोग धारण कर अलग ही विराजमान थे और प्रभावती भी अलग विद्यमान थी तो भी उस दुष्टने पापसंचय करनेकी इच्छासे उन दोनोंको मिलाकर और एक ही चितापर रखकर जला दिया वे दोनों विशुद्ध परिणामोंसे उपसर्ग सहनकर स्वर्गमें उत्पन्न हुए सो ठीक ही है क्योंकि क्षमासे क्या क्या नहीं होता ? जब सुवर्णवर्माको इस बातका पता चला तब उसने प्रतिज्ञा की कि मैं विद्युच्चोरका निग्रह अवश्य ही करूंगा—उसे अवश्य ही मारूंगा । यह प्रतिज्ञा स्वर्गमें रहनेवाले हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव देवदेवियोंने अवधिज्ञानसे जान ली, वे शीघ्र ही संयमीका रूप बनाकर पुत्रके पास पहुँचे, दया

१—मादवी अ०, ल०, प०, स०, इ० । २ मुनीशिनः ल० । ३ चरमपुत्रं कुबेरप्रियम् । ४ कुबेरदयितादिभिः । ५ कुबेरकान्तः । ६ प्रियस्य वृत्तकम् । ७ प्रियदत्ता । ८ समुत्पन्नज्ञानेन । ९ सती ल० । १० लोकपालस्य सुताय । ११ गुणवत्यायिकाम् । १२ दीक्षामग्रहीत् । १३ चैत्यभूतले ल० । चितायोग्यमहीतले । परेतभूमावित्यर्थः । १४ प्रतिज्ञां कृत्वा । १५ नगरजनाः । १६ वचनात् । उदीरिताम् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १७ विभङ्गतः ल०, अ०, स०, इ० । १८ नित्यमण्डितचैत्यालयस्य पुरः प्रतिमायोगस्थितामित्यर्थः । प्रवेशस्य ल० । १९ मास्थिताम् ल० । २० शक्ययायाम् । २१ दहति स्म । २२ पापं गृहीतुमिच्छया । २३ कनकप्रभदेवकनकप्रभदेव्यौ समुत्पन्नौ । २४ हिरण्यवर्मणः सुतः । २५ प्रतिज्ञामकरोत् । २६ हिरण्यवर्मप्रभावतीचरदेवदेव्यौ । २७ विश्वासं नीत्वा । २८ दयया स्वीकृती ।

१ दिव्यरूपं समादाय निगद्य निजवृत्तकम् । प्रदायाभरणं तस्मै पराद्ध्वं स्वपदं गतौ ॥२५५॥
 कदाचिद् वत्सविषये सुसीमानगरे मुनेः । शिवधोषस्य कैवल्यम् उदपाद्यस्तघातिनः ॥२५६॥
 शक्रप्रिये शची मेनका च नत्वा जिनेश्वरम् । समाभित्य सुराधीशं स्थिते प्रदनात् सुरेशितुः ॥२५७॥
 अत्रैव सप्तमेऽहिं प्राक् समाप्तश्रावकव्रते । नाम्ना पुष्पवती सान्त्या प्रथया पुष्पपालिता ॥२५८॥
 'कुसुमावचयासक्ते वने सर्पाग्निहेतुना' १० । मृते देव्यावजायेतामित्याहासौ स्म तीर्थकृत् ॥२५९॥
 प्रभावतीवरी देवी श्रुत्वा देवश्च तत्पतिः । स्वपूर्वभवसम्बन्धं तत्रागातां सभावनेः ११ ॥२६०॥
 निजान्यजन्मसौख्यानुभूतदेशासिजेच्छया । आलोकयन्तौ तत्सर्पसरोवरणसमीपगौ ॥२६१॥
 सह सार्धेन १२ भीमार्थं साधुं दृष्ट्वा समागतम् । विनयेनाभिवन्द्यैर्धर्मं तौ समपृच्छताम् ॥२६२॥
 मुनिस्तद्वचनं श्रुत्वा नाहं धर्मोपदेशने । सर्वागमार्थवित्कार्येऽसमर्थो नवसंयतः ॥२६३॥
 प्ररूपयिष्यते किञ्चित् १३ स तुष्मदनुरोधतः । यथा तथापि श्रोतव्यं यथाशक्यवधानवत् १४ ॥२६४॥
 इति सम्यक्त्वसत्यावदानादि श्रावकाश्रयम् । १५ यमादियतिसम्बन्धं धर्मं गतिचतुष्टयम् ॥२६५॥
 तद्धेतुफलपर्यन्तं भुक्तिभुक्तिनिबन्धनम् १६ । जीवादिद्रव्यतत्त्वं च यथावत् प्रत्यपादयत् ॥२६६॥

धारण करनेवाले उन देवदेवियोंने धर्मकथाओं आदिके द्वारा तत्त्वश्रद्धान करारकर उसका क्रोध दूर किया और अन्तमें अपना दिव्यरूप प्रकटकर अपना सब हाल कहा तथा उसे बहुमूल्य आभूषण देकर दोनों ही अपने स्थानपर चले गये ॥२४७-२५५॥ किसी एक दिन वत्स देशमें सुसीमानगरीके समीप घातिया कर्म नष्ट करनेवाले शिवधोष मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥२५६॥ उस उत्सवमें शची और मेनका नामकी देवांगनाएं भी इन्द्रके साथ आईं और श्रीजिनेन्द्रदेवको नमस्कारकर इन्द्रके पास ही बैठ गईं । इन्द्रने भगवान्से पूछा कि ये दोनों किस कारणसे देवियां हुई हैं ? तब तीर्थंकर देव कहने लगे कि दोनों ही पूर्वभवमें मालिनकी लड़कियां थीं, पहलीका नाम पुष्पपालिता था और दूसरीका पुष्पवती । इन दोनोंने आजसे सातवें दिन पहले श्रावकव्रत लिये थे । एक दिन ये वनमें फूल तोड़नेमें लगी हुई थीं कि सर्परूपी अग्निके कारण मर गईं और भरकर देवियां हुई हैं ॥२५७-२५९॥ हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव जो देवदेवी हुए थे उन्होंने भी उस समय समवसरणमें अपने पूर्वभवके सम्बन्ध सुने और फिर दोनों ही सभाभूमिसे निकलकर इच्छानुसार पूर्वभव सम्बन्धी सुखानुभवनके स्थानोंको देखते हुए सर्पसरोवरके समीपवाले वनमें पहुंचे ॥२६०-२६१॥ उस वनमें अपने संघके साथ साथ एक भीम नामके मुनि भी आये हुए थे, दोनोंने उन्हें देखकर विनयपूर्वक नमस्कार किया और धर्मका स्वरूप पूछा ॥२६२॥ उनके वचन सुनकर मुनि कहने लगे कि अभी नवदीक्षित हूँ, धर्मका उपदेश देना तो समस्त शास्त्रोंका अर्थ जाननेवाले मुनियोंका कार्य है इसलिये यद्यपि मैं धर्मोपदेश देनेमें समर्थ नहीं हूँ तथापि तुम्हारे अनुरोधसे शक्तिके अनुसार कुछ कहता हूँ तुम लोगोंको सावधान होकर सुनना चाहिये ॥२६३-२६४॥ यह कहकर उन्होंने सम्यग्दर्शन तथा सत्पात्रदान आदि श्रावक सम्बन्धी और यम आदि मुनि सम्बन्धी धर्मका निरूपण किया । चारों गतियां, उनके कारण और फल, स्वर्ग मोक्षके निदान एवं जीवादि द्रव्य और तत्त्व इन

१ दिव्यं रूपं ल०, प०, इ० । २ समुत्पन्नम् । ३ इन्द्रस्य वल्लभे । ४ इमे पूर्वजन्मनि के इति इन्द्रस्य प्रदनवशात् तीर्थकृदाह । ५ आ सप्तदिनात् पूर्वमित्यर्थः । ६ पूर्वजन्मनि । ७ सम्यक्स्वीकृत । ८ सान्त्या ल० । ९ पुष्पकरण्डकनाम्नि वने पुष्पवाटीकुसुमावचयार्थमासक्ते इत्यर्थः । १० अहिर्विषाग्नि-कारणेन । ११ समवसरणात् । १२ वणिक्छिबिरेण । १३ धर्मः । १४ क्रियाविशेषणम् । १५ संयम । १६ भुक्तिकारणम् ।

तच्चभुत्वा पुनरप्याभ्या^१ भवता केन हेतुना । प्रव्रज्येत्यनुयुक्तोऽसौ वक्तुं प्रकान्तवान् मुनिः ॥२६७॥
 विदेहे पुष्कलावत्यां नगरी पुण्डरीकिणी । तत्राहं भीमनामाऽऽसं^२ स्वपापाद् दुर्गते^३ कुले ॥२६८॥
 अन्येद्युर्यतिमासाद्य किञ्चित्कालादिलब्धितः । भुत्वा धर्मं ततो लेभे गृहिमूलगुणाष्टकम् ॥२६९॥
 तज्ज्ञात्वा मत्पिता पुत्र किमेभिर्दुष्करैर्वृथा । दारिद्र्यकर्ममातिप्तदेहानां^४ निष्फलैरिह ॥२७०॥
 व्रतान्येतानि दास्यामस्तस्मै स्वर्लोकिकाङ्क्षिणे । ऐहिकं फलमिच्छामो भवेद्येनेह जीविका ॥२७१॥
 व्रतं हतवतः स्थानं तस्य मे दर्शयत्यसौ । मामवादीद् गृहीत्वैनं^५म् आब्रजन्नहमन्तरे ॥२७२॥
 वज्रकेतोर्महावीर्यां देवतागृहकुक्कुटम् । भास्वत्किरणसंशोष्यमाणधान्योपयोगिनम्^६ ॥२७३॥
 मुंसो हतवतो दण्डं जिनदेवार्पितं^७ धनम् । लोभादपह्नुवानस्य^८ धनदेवस्य दुर्मतेः ॥२७४॥
 रसनोत्पादनं हारम् अनर्घ्यमणिनिमित्तम् । श्रेष्ठिनः प्राप्य चौर्येण गणिकायं समर्पणात् ॥२७५॥
 रतिपिङ्गलसंज्ञस्य शूले तलवरार्पणम् । निशि मातुः कनीयस्य^९ कामनिर्लुप्तसंविदः^{१०} ॥२७६॥
 पुत्र्या गेहं गतस्याङ्गच्छेदनं पुररक्षिणः^{११} । क्षेत्रलोभान्निजे ज्येष्ठे मृते दण्डहते^{१२} सति ॥२७७॥
 लोलस्यान्वयंसंज्ञस्य^{१३} विलापं^{१४} देशनिर्गमे । द्यूते सागरदत्तेन प्रभूते निजिते धने ॥२७८॥

सबका भी यथार्थ प्रतिपादन किया ॥२६५-२६६॥ वह सुनकर उन देव-देवियोंने फिर पूछा कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की हैं इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिराज कहने लगे ॥२६७॥

विदेहक्षेत्रके पुष्कलावती देशमें एक पुण्डरीकिणी नगरी है वहांपर मैं अपने पापोंके कारण एक अत्यन्त दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुआ था । मेरा नाम भीम है ॥२६८॥ किसी अन्य दिन थोड़ी सी काललब्धि आदिके निमित्तसे मैं एक मुनिराजके पास पहुंचा और उनसे धर्मश्रवण कर मैंने गृहस्थोंके आठ मूल गुण धारण किये ॥२६९॥ जब हमारे पिताको इस बातका पता चला तब वे कहने लगे कि “दरिद्रतारूपी कीचड़से जिनका समस्त शरीर लिप्त हो रहा है ऐसे हम लोगोंको इन व्यर्थके कठिन व्रतोंसे क्या प्रयोजन है । इनका फल इस लोकमें तो मिलता नहीं है, इसलिये आओ, ये व्रत स्वर्गलोककी इच्छा करनेवाले उसी मुनिके लिये दे आवें । हम तो इस लोकसम्बन्धी फल चाहते हैं जिससे कि जीविका चल सके ॥२७०-२७१॥ व्रत देनेवाले गुरुका स्थान मुझे दिखा” ऐसा मेरे पिताने मुझसे कहा तब मैं उन्हें साथ लेकर चला । रास्तेमें मैंने देखा कि वज्रकेतु नामके एक पुरुषको दण्ड दिया जा रहा है । पितासे मैंने उसका कारण पूछा, तब कहने लगे कि यह सूर्यकी किरणोंमें अपना अनाज सुखा रहा था और किसी मन्दिरका मुर्गा उसे खा रहा था । इसने उसे इतना मारा कि बेचारा मर गया । इसलिये ही लोग इसे दण्ड दे रहे हैं । आगे चलकर देखा कि जिनदेवके द्वारा रखी हुई धरोहरको लोभसे छुपाने वाले दुर्बुद्धि धनदेवकी जीभ उखाड़ी जा रही है । कुछ आगे चलकर देखा कि एक सेठके घरसे बहुमूल्य मणियोंका हार चुराकर वेश्याको देनेके अपराधमें रतिपिङ्गलको कोतवाल शूलीपर चढ़ा रहा है, किसी जगह देखा कि कामवासनासे जिसका सब ज्ञान नष्ट हो गया है ऐसा एक कोतवाल रातमें अपनी माताकी छोटी बहिनकी पुत्रीके घर गया था इसलिये राज्यकर्मचारी उसका अंग काट रहे हैं । दूसरी जगह देखा कि सार्थक नाम धारण करनेवाले एक लोल नामके किसानने खेतके लोभसे अपने बड़े लड़केको डण्डोंसे मार मारकर मार डाला है, इसलिये उसे देशनिकालेकी सजा

१ देवदेवीभ्याम् । २ पृष्ठः । ३ प्रारभते स्म । ४ अभूवम् । ५ दरिद्रे कुले । ६ अस्मा-
 कम् । ७ पितरम् । ८ अदत्तम् । भक्षयन्तमित्यर्थः । ९ जिनदेवाख्येन दत्तम् । १० वञ्चयतः ।
 ११ निरस्तज्ञानस्य । १२ तलवरस्य । १३ लोलेन हते । १४ लोल इति नाम्नः । १५ परिदेवनम् ।

दातुं समुद्रदत्तस्य निश्शक्तेरातपे क्रुधा । परिवर्द्धितदुर्गन्धधूमान्तर्बतितन्निश्चरम् ॥२७६॥
 निरोधमभयोद्धोषणायामानन्ददेशनात्^१ । अङ्गकस्य नृपोरभ्रघातिनः^२ करखण्डनम् ॥२८०॥
 आनन्दराजपुत्रस्य तदभ्रुक्त्वाऽवस्कराशनम्^३ । मद्यविक्रयणे^४ बालं कञ्चिदाभरणेच्छया ॥२८१॥
 हत्वा भूमौ विनिक्षिप्तवत्यास्तत्संविधानकम् । प्रकाशितवती स्वात्मजे^५ शुण्डायादक्षं निग्रहम् ॥२८२॥
 पापान्येतानि कर्माणि पश्यन् हिंसादिदोषतः । अत्रामुत्र च पापस्य परिपाकं दुरुत्तरम् ॥२८३॥
 अवधार्यानिभिप्रेतव्रतत्यागो^६ भवाद् भयात् ।^७ श्रेयमोषमूषायोषाश्लेषहिंसादिद्विषिताः ॥२८४॥
 नात्रैव किन्त्वमुत्राऽपि ततश्चित्रवधोचिताः । अस्माकमपि दीर्गत्य^८ प्राक्तनात् पापकर्मणः ॥२८५॥
 इदं तस्मात् समुन्नेयं पुष्पं सचर्चष्टितैः पुरु । इति तं मोचयित्वाऽग्रहीषं दीक्षां मुमुक्षया^९ ॥२८६॥
 सद्यो गुरुप्रसादेन सर्वशास्त्राब्धिपारंगः । विशुद्धमतिरन्येषुः समीपे सर्ववेदिनः^{१०} ॥२८७॥
 मद्दृष्टपूर्वजन्मानि समश्रौष^{११} यथाश्रुतम् । कथयिष्याम्यहं तानि कर्तुं वा^{१२} कौतुकं महत् ॥२८८॥
 इहैव पुष्कलावत्यां विषये पुण्डरीकिणीम् । परिपालयति^{१३} प्रीत्या वसुपालमहीभुजि ॥२८९॥
 विद्युद्वेगाह्वयं चोरम् श्रवण्ठभ्य^{१४} करस्थितम् । धनं स्वोक्त्य शेषं च भवता दीयतामिति ॥२९०॥

दी जा रही है और वह विलाप कर रहा है । आगे जानेपर देखा कि सागरदत्तने जुआमें समुद्रदत्तका बहुत सा धन जीत लिया था परन्तु समुद्रदत्त देनेमें असमर्थ था इसलिये उसने क्रोधसे उसे बहुत देर तक दुर्गन्धित धुआंके बीच धूपमें बैठाल रखा है, किसी जगह देखा कि आनन्द महाराजके अभय घोषणा कराये जानेपर भी उनके पुत्र अंगकने राजाका मेढ़ा मारकर खा लिया है इसलिये उसके हाथ काटकर उसे विण्ठा खिलाया जा रहा है और अन्य स्थानपर देखा कि मद्य पीनेवाली स्त्रीने मद्य खरीदनेके लिये आभूषण लेनेकी इच्छासे किसी बालकको मारकर जमीनमें गाड़ दिया था, वह यह समाचार अपने पुत्रसे कह रही थी कि किसी राज कर्मचारीने उसे सुन लिया इसलिये उसे दण्ड दिया जा रहा है । हिंसा आदि दोषोंसे उत्पन्न हुए इन पापकार्योंको देखकर मैंने निश्चय किया कि पापका फल इस लोक तथा परलोक दोनों ही जगह बुरा होता है । मैंने संसारके भयसे व्रत छोड़ना उचित नहीं समझा । मैं सोचने लगा कि हिंसा, भ्रूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन आदिसे द्विषित हुए पुरुषोंको इसी जन्ममें अनेक प्रकारके वध-बन्धनका दुःख भोगना पड़ता हो सो बात नहीं किन्तु परलोकमें भी वही दुःख भोगने पड़ते हैं, हमारी यह दरिद्रता भी तो पहलेके पापकर्मोंसे मिली है, इसलिये सदाचारी पुरुषोंको इस पुण्यका अधिकसे अधिक संचय करना चाहिये यह सोचकर मैंने अपने पिताको छोड़कर मोक्षकी इच्छासे दीक्षा धारण कर ली है ॥२७२-२८६॥ गुरुके प्रसादसे मैं शीघ्र ही सब शास्त्ररूपी समुद्रका पारगामी हो गया और मेरी बुद्धि भी विशुद्ध हो गई । किसी अन्य दिन मैंने सर्वज्ञ देवके समीप दोषोंसे भरे हुए अपने पूर्वजन्म सुने थे सो उसीके अनुसार आप लोगोंका बड़ा भारी कौतुक करनेके लिये उन्हें कहता हूँ ॥२८७-२८८॥

इसी पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीको राजा वसुपाल बड़े प्रेमसे पालन करते थे ॥२८९॥ किसी एक दिन कोतवालने विद्युद्वेग नामका चोर पकड़ा, उसके हाथमें जो धन था उसे लेकर कहा कि बाकीका धन और दो, धन न देनेपर रक्षकोंने उसे दण्ड दिया तब उसने

१ घोषणायां सत्याम् । २ आनन्दाख्यनृपस्य निदेशनात् । ३ एलक (एडक) घातकस्य । ४ तदभ्रुक्त्वा-इत्यपि पाठः । ५ गूयभक्षणम् । ६ मद्यव्यवहारनिमित्तम् । ७ बालघातिन्याः सुते । ८ मद्यपायिन्याः । ९ अनिष्टो व्रतत्यागो यस्य अननुमत्तव्रतत्याग इत्यर्थः । १० हिंसाचौर्यान्तभाषाब्रह्मबहुपरिग्रहः । ११ श्रेयमोषमूषायोषाहिंसादिश्लेषादि...ल० । १२ मोक्षमिच्छया । १३ सर्वज्ञस्य । १४ शृणोमि स्म । १५ यवयोः । १६ रक्षति सति । १७ बलात्कारेण गृहीत्वा ।

‘अरक्षिणो’^१ ‘निगुह्नीयुर्वतं विमतये’ धनम् । इत्यब्रवीत् स^२ सोऽप्याह गृहीतं न मयेति तत्^३ ॥२६१॥
 विमतेरेव तद्गोहे दण्डबोपायेन केनचित् । दण्डकारणिकैः^४ प्रोक्तं मृत्ना पात्रीश्रयोन्मितम् ॥२६२॥
 शकृतो^५ भक्षणं मल्लैस्त्रिशन्मुष्ट्यभिताडनम् । सर्वस्वहरणं चैतत्त्रयं जीवितवाञ्छया ॥२६३॥
 ‘स सर्वमनुभूयायात् प्राणान्ते नारकीं गतिम् । विद्युच्चोरस्त्वया हन्यतामिस्थारक्षको नृपात् ॥२६४॥
 लब्धादेशोऽप्यहं हन्मि’^६ नैनं हिंसादिव्रजनम् । प्रतिज्ञातं मया साधोरित्याज्ञां ताकरोदसौ ॥२६५॥
 गृहीतोत्कोच^७ इत्येष^८ चोरारक्षकयोर्नृपः । शृङ्खलाबन्धनं कृत्वा कारयामास निर्घृणम्^९ ॥२६६॥
 त्वयाऽहं हेतुना केन हतोनेत्यनुयुक्तवान् । प्रतुष्टचारक्षकं चोरः सोऽप्येवं प्रत्यपादयत् ॥२६७॥
 एतत्पुरमप्युष्यैव राक्षः पितरि रक्षति । गुणपालो महाश्रेष्ठो कुबेरप्रियसंज्ञया ॥२६८॥
 अत्रैव नाटकाचार्यतनूजा नाट्यमालिका ।^{१०} आस्थायिकायां भावेन स्थायिनानृत्यद्वयसम् ॥२६९॥
 तदालोक्य महीपालो बहुविस्मयमागमत् । गणिकोत्पलमालाख्यत् किमत्राश्चर्यमीदृशम् ॥२७०॥
 श्रेष्ठिनोऽस्य^{११} ‘सिथोऽप्येषुः प्रतिमायोगधारिणः । सोपवासस्य पूज्यस्य गत्वा चालयितुं मनः ॥२७१॥
 नाशक^{१२} तदिहाश्चर्यमित्याख्यद् भूमजापि सा । गुणप्रिये वृणोष्वेति^{१३} प्रोक्ता शीलाभिरक्षणम् ॥२७२॥
 अभीष्टं मम देहीति तद्वत्तं व्रतमग्रहीत् । अन्यदा तद्गृहं^{१४} सर्वरक्षिताख्यः समागमत् ॥२७३॥

कहा कि मैंने बाकीका धन विमतिके लिये दे दिया है । जब विमतिसे पूछा गया तब उसने कह दिया कि मैंने नहीं लिया है, इसके बाद कोतवालने वह धन किसी उपायसे विमतिके घर ही देख लिया, उसे दण्ड देना निश्चित हुआ, दण्ड देनेवालोंने कहा कि या तो मिट्टीकी तीन थाली भरकर बिठा खायो, या मल्लोंके तीस मुक्कोंकी चोट सहो या अपना सब धन दो । जीवित रहनेकी इच्छासे उसने पूर्वोक्त तीनों दण्ड सहे और अन्तमें मरकर नरक गतिको प्राप्त हुआ । राजाने एक चाण्डालको आज्ञा दी कि तू विद्युच्चोरको मार डाल, परन्तु आज्ञा पाकर भी उसने कहा कि मैं इसे नहीं मार सकता क्योंकि मैंने एक मुनिसे हिंसादि छोड़नेकी प्रतिज्ञा ले रखी है ऐसा कहकर उसने जब राजाकी आज्ञा नहीं मानी तब राजाने कहा कि इसने कुछ घूस खा ली है इसलिये उसने क्रोधित होकर चोर और चाण्डाल दोनोंको निर्दयतापूर्वक सांकलसे बंधवा दिया ॥२८९-२९६॥ चोरने संतुष्ट होकर चाण्डालसे पूछा कि तूने किस कारणसे मुझे नहीं मारा तब चाण्डाल इस प्रकार कहने लगा कि ॥२९७॥ पहले इस नगरकी रक्षा इसी राजाके पिता गुणपाल करते थे और उनके पास कुबेरप्रिय नामका एक बड़ा सेठ रहता था ॥२९८॥ इसी नगरीमें नाट्यमालिका नामकी नाटकाचार्यकी एक पुत्री थी एक दिन उसने राजसभामें रति आदि स्थायी भावों द्वारा शृङ्गारादि रस प्रकट करते हुए नृत्य किया ॥२९९॥ वह नृत्य देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ तब उत्पलमाला नामकी बेश्या बोली कि हे देव, इसमें क्या आश्चर्य है ? एक दिन अत्यन्त शान्त और पूज्य कुबेरप्रिय सेठने उपवासके दिन प्रतिमा योग धारण किया था, उस दिन मैं उनका मन विचलित करनेके लिये गई थी परन्तु उसमें समर्थ नहीं हो सकी । इस संसारमें यही बड़े आश्चर्यकी बात है । यह सुनकर राजाने कहा कि ‘हे गुणप्रिये ! तुझे गुण बहुत प्यारे लगते हैं इसलिये जो इच्छा हो सो मांग ।’ तब उसने कहा कि मुझे शीलव्रतकी रक्षा करना इष्ट है यही वर दीजिए राजाने वह वर उसे

१ तलवराः । २ निग्रहं कुर्युः । ३ विमतिनामधेयाव । ४ चोरः । विमतिरपि । ५ धनम् । ६ कारणज्ञैः ‘पुरोहितादिधर्मकारिभिरित्यर्थः । ७ नृत्यस्य । ‘उच्चारवस्करी शमलं शकृत् । पुरीषं उत्कोच गृध्रवर्चस्कमस्त्री विष्ठाविशौ स्त्रियाम् ।’ इत्यभिधानात् । ८ विमतिः । ९ न बधं करोमि । १० ‘लञ्च उत्कोच आमिपः, इत्यभिधानात् ।’ ११ तलवराः । १२ निष्ठुपं यथा भवति तथा । १३ प्रतुष्ट्या अ०, स०, इ०, प० । १४ आस्थाने । १५ श्रेष्ठिनः शमितोऽप्येषुः ल०, अ०, प०, इ०, स० । १६ न समर्थोऽभू-वमहम् । १७ वाञ्छितं प्रार्थय । १८ उत्पलमालागृहम् ।

रात्रौ तलवरो दृष्ट्वा तं बाह्याऽद्येति तेन^१ तत् ।^२ प्रतिपादनबेलायामेवायान्मन्त्रिणः सुतः ॥३०४॥
 नृपतेर्मथुनो नाम्ना पृथुधीस्तं निरीक्ष्य सा । मज्जूषायां विनिक्षिप्य गणिका सर्वरक्षितम् ॥३०५॥
 त्वया मदीयामरणं सत्यवत्ये समर्पितम् । त्वद्भगिन्यै तदानेयमित्याह नृपमेथुनम् ॥३०६॥
 सोऽपि प्राक्^३ प्रतिपाद्येतद् व्रतग्रहणसंभ्रुतेः । प्रातिकूल्यभगादीर्ष्यावान् द्वितीयदिने पुनः ॥३०७॥
 साक्षिणं परिकल्प्येनं मज्जूषास्थं महीपतेः । सन्निधौ याचितो वित्तम् असावुत्पलमालया ॥३०८॥
 न गृहीतं मयेत्यस्मिन्मिथ्यावादिनि भूभुजा । पृष्ट्वा सत्यवती तस्य पुरस्तान्यक्षिपद्धनम् ॥३०९॥
 मथुनाथ नृपः कृध्वा खलोऽयं हन्यतामिति । आशापयत्पदातीन् स्वान् युक्तं तन्धायवर्तिनः ॥३१०॥
^४पठन्मुनीन्द्रसद्वर्माशास्त्रसंश्रवणाद् द्रुतम् । अन्येद्युः प्राक्तनं जन्म विदित्वा शममागते ॥३११॥
 यागहस्तिनि मांसस्य पिण्डदानमनिच्छति । तद्दीक्ष्योपायविच्छेष्टी विबुद्धचानेकपेङ्गितम् ॥३१२॥
 सर्पिर्गुडपयोभिश्चशाल्योदनसमर्पितम्^५ । पिण्डं प्रायोजयत्सोऽपि द्विरदस्तमुपाहरत्^६ ॥३१३॥
 तदा तुष्ट्वा महीनाथो वृणीष्वेष्टं तवेति तम् । प्राह पश्चाद् ग्रहीष्यामीत्यभ्युपेत्य स्थितः स तु^७ ॥३१४॥
 सचिवस्य^८ सुतं दृष्ट्वा नीयमानं शुचा नृपात् । वरमादाय तद्घातात् दुर्वृत्तं तं व्यमोचयत् ॥३१५॥

दिया और उस दिनसे उसने शील व्रत ग्रहण कर लिया । किसी दूसरे दिन सर्वरक्षित नामका कोतवाल रातके समय उसके घर गया, उसे देखकर उत्पलमालाने उससे कहा कि आज मैं बाहिर की हूं—रजस्वला हूं । इधर इन दोनोंकी यह बात चल रही थी कि इतनेमें ही मंत्रीका पुत्र और पृथुधी नामका राजाका साला आया, उसे देखकर उत्पलमालाने सर्वरक्षितको एक सन्दूकमें छिपा दिया और राजाके सालेसे कहा कि आपने जो मेरे आभूषण अपनी बहिन सत्यवती के लिये दिये थे वे लाइये । उसने पहले तो कह दिया कि हां अभी लाता हूं परन्तु बादमें जब उसने सुना कि उसने शील व्रत ले लिया है तब वह ईर्ष्या करता हुआ प्रतिकूल हो गया । दूसरे दिन वह वेश्या सन्दूकमें बैठे हुए कोतवालको गवाह बनाकर राजाके पास गई और वहां जाकर पृथुधीसे अपना धन मांगने लगी ॥३००—३०८॥ पृथुधीने राजाके सामने भी भूठ कह दिया कि मैंने इसका धन नहीं लिया है । जब राजाने सत्यवतीसे पूछा तो उसने सब धन लाकर राजाके सामने रख दिया ॥३०९॥ यह देखकर राजा अपने सालेपर बहुत क्रोधित हुआ, उसने अपने नौकरोंको आज्ञा दी कि यह दुष्ट शीघ्र ही मार डाला जाय । सो ठीक ही है क्योंकि न्याय-मार्गमें चलनेवालेको यह उचित ही है ॥३१०॥ किसी एक दिन पाठ करते हुए मुनिराजसे धर्मशास्त्र सुनकर राजाके मुख्य हाथीको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया, वह अत्यन्त शान्त हो गया और उसने मांसका पिण्ड लेना भी छोड़ दिया, यह देख उपायोंके जानने-वाले सेठने हाथीकी सब चेष्टाएं समझकर घी, गुड़ और दूध मिला हुआ शालि चावलोंका भात उसे खानेके लिये दिया और हाथीने भी वह शुद्ध भोजन खा लिया ॥३११—३१३॥ उस समय संतुष्ट होकर राजाने कहा कि जो तुम्हें इष्ट हो सो मांगो । सेठने कहा—अच्छा यह वर अभी अपने पास रखिये, पीछे कभी ले लूंगा, ऐसा कहकर वह सेठ सुखसे रहने लगा ॥३१४॥ इसी समय मंत्रीका पुत्र मारनेके लिये ले जाया जा रहा था उसे देखकर सेठको बहुत शोक हुआ और उसने राजासे अपना पहिलेका रक्खा हुआ वर मांगकर उस दुराचारी मंत्रीके पुत्रको

१ तलवरेण सह । २ अद्य याहीत्येतत्प्रतिपादन । ३ आनयामीत्यनुमत्य । ४ प्रसङ्गापातकथान्तरमिह ज्ञातव्यम् । ५ नीतम् । ६ भुङ्क्ते स्म । ७ तम् ल०, अ०, प०, स०, इ० । ८ मन्त्रिणः पुत्रम् । पृथुमतिम् ।

श्रेष्ठिनैव निकारोऽयं^१ ममाकारीत्यमंस्त सः ।^२ पापिनामुपकारोऽपि सुभुजङ्गापयापते ॥३१६॥
 अन्येद्युर्मथुनो राज्ञः स्वेच्छया विहरन् वने । खेचरान्मुद्रिकामापत्^३ कामरूपविधायिनीम् ॥३१७॥
 कराङ्गुलीं विनिक्षिप्य तां वसोः^४ स्वकनीयसः^५ । सङ्कल्प्य श्रेष्ठिनो^६ रूपं सत्यवत्या निकेतनम् ॥३१८॥
 प्रवेश्य (प्रविश्य) पापधी राजसमीपं स्वयमास्थितः^७ । वसुं गृहीतश्रेष्ठी स्वरूपं वीक्ष्य महीपतिः ॥३१९॥
 श्रेष्ठी किमयमायातोऽजाल^८ इत्यवदत्तदा । अनात्मज्ञोऽयमायातः पापी सत्यवतीं प्रति ॥३२०॥
 मदनालसंतप्त इति नेयुनिकोऽब्रवीत् । तद्वाक्यादपरीक्ष्यैव तमेवाह प्रह्वयताम् ॥३२१॥
 श्रेष्ठी तवेति श्रेष्ठी च तस्मिन्नेव दिने निशि । स्वगृहे प्रतिमायोगधारको भावयन् स्थितः ॥३२२॥
 पृथुधीस्तमवष्टभ्य^९ गृहीत्वा घोषयन् जने । अपराधमसन्तं^{१०} च नीत्वा प्रेतमहीतलम् ॥३२३॥
 आरक्षककरे हन्तुम् अप्रयामास पापभाक् । सोऽपि राजनिदेशोऽयमित्य^{११} हृत्सिन्ना बुद्धम् ॥३२४॥
 तस्य वक्षःस्थले तत्र प्रहारे मणिहारताम् । प्राप शीतवती भक्तस्यार्हतपरमदेवते ॥३२५॥
 दण्डनादपरीक्ष्यास्य^{१२} महोत्पातः पुरेऽजनि । क्षयः स येन सर्वेषां किं नादुष्टवधाद् भवेत् ॥३२६॥
 नरेशो नागराश्चेतद् आलोक्य भयविह्वलाः । तमेव शरणं गन्तुं श्मशानाभिमुखं ययुः ॥३२७॥
 तदोपसर्गनिर्णयो विस्मयभाक्वासितः । शीलप्रभावं व्यावर्ण्य वणिग्वयंमपूजयन् ॥३२८॥

छुड़वा दिया ॥३१५॥ परन्तु मंत्रीके पुत्रने समझा कि मेरा यह तिरस्कार सेठने ही कराया है, सो ठीक ही है क्योंकि पापी पुरुषोंका उपकार करना भी सौंपको बूध पिलानेके समान है ॥३१६॥ किसी अन्य दिन वह राजाका झाला अपनी इच्छासे वनमें घूम रहा था, उसे वहां एक विद्याधरसे इच्छानुसार रूप बना देनेवाली अंगूठी मिली ॥३१७॥ उसने वह अंगूठी अपने छोटे भाई वसुके हाथकी अंगुलीमें पहना दी एवं उसका सेठका रूप बनाकर उसे सत्यवतीके घर भेज दिया । और पाप बुद्धिको धारण करनेवाला पृथुधी स्वयं राजाके पास जाकर बैठ गया । सेठका रूप धारण करनेवाले वसुको देखकर राजाने कहा कि 'यह सेठ असमयमें यहां क्यों आया है ?' उसी समय पृथुधीने कहा कि 'अपने आपको नहीं जाननेवाला यह पापी काम-रूपी अग्निसे संतप्त होकर सत्यवतीके पास आया है' इस प्रकार उसके कहनेसे राजाने परीक्षा किये बिना ही उसी पृथुधीको आज्ञा दी कि तुम सेठको मार दो । सेठ उस दिन अपने घरपर ही प्रतिमायोग धारण कर वस्तुस्वरूपका चिन्तन कर रहा था ॥३१८-३२२॥ पृथुधीने उसे वहीं कसकर बांध लिया और जो अपराध उसने किया नहीं था लोगोंमें उसकी घोषणा करता हुआ उसे श्मशानकी ओर ले गया ॥३२३॥ वहां जाकर उस पापीने उसे मारनेके लिये चाण्डालके हाथमें सौंप दिया । चाण्डालने भी यह राजाकी आज्ञा है ऐसा समझकर उसपर तलवारका मजबूत प्रहार किया ॥३२४॥ परन्तु क्या ही आश्चर्य था कि श्री अरहन्त परमदेवके भक्त और शीलव्रत पालन करनेवाले उस सेठके वक्षःस्थलपर वह तलवारका प्रहार मणियोंका हार बन गया ॥३२५॥ बिना परीक्षा किये उस सेठको दण्ड देनेसे नगरमें ऐसा बड़ा भारी उपद्रव हुआ कि जिससे सबका क्षय हो सकता था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुषोंके वधसे क्या नहीं होता है ? ॥३२६॥ राजा और नगरके सब लोग यह उपद्रव देखकर भयसे घबड़ाये और उसी सेठकी शरणमें जानेके लिये श्मशानकी ओर दौड़े ॥३२७॥ जब सब उसकी शरणमें पहुंचे तब कहीं वह उपद्रव दूर हुआ, स्वर्गमें रहनेवाले देवोंने बड़े आश्चर्य

१ तिरस्कारः वञ्चना च । २ क्रियते स्म । ३ -मुपकारोऽयं अ०, स० । ४ -माप काम-इ०, अ०, स० । ५ वसुनामधेयस्य । ६ निजानुजस्य । ७ कुबेरप्रियस्य । ८ समीपभागत्य स्थितः । ९ अवेलायाम् । १० वलात्कारेण बद्ध्वा । ११ अविद्यमानम् असत्यं वा । १२ हिनस्ति स्म । १३ श्रेष्ठिनः ।

अपरीक्षितकार्याणाम् अस्माकं क्षन्तुमर्हसि । इति तेषु भयप्रस्तमानेषु नृपादिषु ॥३२६॥
 अस्मद्वर्जितदुष्कर्मपरिपाकादभूद्विदम् । विषादस्तत्र कर्तव्यो न भवद्भिरिति ध्रुवम् ॥३२७॥
 वैमनस्यं निरस्यैषां श्रेष्ठी प्रष्टः^१ क्षमावताम् । सर्वैः पुरस्कृतः पूज्यो विभूत्या प्राविशत् पुरम्^२ ॥३२८॥
 एवं प्रयाति कालेऽस्य वारिषेणां सुतां नृपः । वसुपालाय पुत्राय स्वस्यादत्त विभूतिम्^३ ॥३२९॥
 अयान्नेद्युः सभासध्ये पृष्ठवान् श्रेष्ठिनं नृपः । विरुद्धं किं न वाऽन्योन्यं धर्मादीनि^४ चतुष्टयम् ॥३३०॥
 परस्परानुकूलास्ते^५ सम्यग्दृष्टिषु साधुषु^६ । न मिथ्यादृक्विति^७ प्राह श्रेष्ठी 'धर्मादितत्त्ववित् ॥३३१॥
 इति तद्वचनाद् राजा तुष्टोऽभीष्टं त्वयोच्यताम् । दास्यामीत्याह सोऽप्याख्यज्जातिमृत्युक्षयाविति^८ ॥३३२॥
 न मया तद्द्वयं साध्यमिति प्रत्याह भूपतिः । मां मृञ्च साधयामीति तमवोचद्वर्णिगवरः ॥३३३॥
 तवाकर्ण्य गृहत्यागम् अहं च सह^९ तेऽधुना । करोमि किन्तु मे पुत्रा बालका इति चिन्तयन् ॥३३४॥
 'सद्योभिन्नाण्डकोद्भूतान् भक्षिकादानतत्परान् । क्षुधापीडाहतान् वीक्ष्य सहसा गृहकोकिलान् ॥३३५॥
 सर्वेऽपि जीवनोपायं जन्तवो जानतेतराम् । स्वेषां विनोपदेशेन^{१०} तत्किं मे बलविन्तया ॥३३६॥
 इत्यसौ वसुपालाय दत्वा राज्यं यथाविधि । विधाय यौवराज्यं च श्रीपालस्य सपट्टकम् ॥३३७॥

से शीलव्रतके प्रभावका वर्णन कर उस सेठकी पूजा की ॥३२८॥ जितके मन भयसे उद्विग्न हो रहे हैं ऐसे राजा आदिने सेठसे कहा कि हम लोगोंने परीक्षा किये बिना ही कार्य किया ह अतः आप हम सबको क्षमा कर दीजिये, ऐसा कहनेपर क्षमा धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ सेठने कहा कि यह सब हमारे पूर्वोपाजित अशुभ कर्मके उदयसे ही हुआ है । निश्चयसे इस विषयमें आपको कुछ भी विषाद नहीं करना चाहिये ऐसा कहकर उसने सबका वैमनस्य दूर कर दिया । तदनन्तर सब लोगोके द्वारा आगे किये हुए पूज्य सेठ-कुबेरप्रियने बड़ी विभूतिके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥३२९-३३१॥ इस प्रकार समय व्यतीत होनेपर वैभवशाली राजाने वारिषेणा नामकी इसी सेठकी पुत्री अपने पुत्र वसुपालके लिये ग्रहण की ॥३३२॥ किसी अन्य दिन राजाने सभाके बीच सेठसे पूछा कि ये धर्म आदि चारों पुरुषार्थ परस्पर एक दूसरेके विरुद्ध हैं अथवा नहीं ? ॥३३३॥ तब धर्म आदिके तत्त्वको जाननेवाले सेठने कहा कि सम्यग्दृष्टि सज्जनोके लिये तो ये चारों ही पुरुषार्थ परस्पर अनुकूल हैं परन्तु मिथ्यादृष्टियोंके लिये अनुकूल नहीं हैं ॥३३४॥ सेठके इन वचनोंसे राजा बहुत ही संतुष्ट हुआ, उसने सेठसे कहा कि 'जो तुम्हें इष्ट हो मांग लो मैं दूंगा' तब सेठने कहा कि मैं जन्म-मरणका क्षय चाहता हूं ॥३३५॥ इसके उत्तरमें राजाने कहा कि ये दोनों तो मेरे साध्य नहीं हैं तब वैश्यवर सेठने कहा कि अच्छा मुझे छोड़ दीजिये मैं स्वयं उन दोनोंको सिद्ध कर लूंगा ॥३३६॥ यह सुनकर राजाने कहा कि तेरे साथ मैं भी घर छोड़ता परन्तु मेरे पुत्र अभी बालक हैं--छोटे छोटे हैं इस प्रकार राजा विचार कर ही रहा था कि ॥३३७॥ अचानक उसकी दृष्टि छिपकलीके उन बच्चोंपर पड़ी जो उसी समय विदीर्ण हुए अंडेसे निकले थे, भूखकी पीड़ासे छटपटा रहे थे और इसलिये ही मक्खियां पकड़नेमें तत्पर थे, उन्हें देखकर राजा सोचने लगा कि अपनी अपनी आजीविकाके उपाय तो सभी जीव बिना किसीके उपदेशके अपने आप अच्छी तरह जानते हैं इसलिये मुझे अपने छोटे छोटे पुत्रोंकी चिन्ता करनेसे क्या लाभ है ? यही विचार कर गुणपाल महाराजने वसुपालके लिये विधिपूर्वक राज्य दिया और श्रीपालको पट्ट सहित युवराज बनाया । तदनन्तर

१ अस्त-५०, ल० । २ मुख्यः । ३ पुरीम् ल० । ४ विभूतिमान् ५०, ल०, इ० । ५ धर्मार्थ-काममोक्षाः । ६ ते धर्मादयः । ७ सज्जनेषु । ८ मिथ्यादृष्टिषु । ९ धर्मार्थकाममोक्षस्वरूपवेदी । १० जननमरणविनाशी ममेष्टाविति । ११ त्वया सह । १२ तत्क्षणे स्फुटितकोशजातान् । १३ तत् कारणात् ।

गुणपालमहाराजः सकुबेरप्रियोऽग्रहीत् । बहुभिर्भूजैः सार्धं तपो यतिवरं श्रितः ॥३४१॥
 श्रेष्ठ्यहिंसाफलालोकात्मयाऽप्यग्राहि तद्व्रतम् । तस्मात्त्वं न हतोऽसीति^१ ततस्तुष्टाव^२ सोऽपि तम्^३ ॥
 इत्युक्त्वा^४ सोऽज्जवीदेवं^५ प्राक् मृणालवतीपुरे । भूत्वा त्वं^६ भवदेवाख्यो रतिवेगासुकान्तयोः ॥३४३॥
 बद्धवैरो निहन्ताऽभूः^७ पारावतभवेऽप्यनु^८ । मार्जारः सन्मूर्ति^९ गत्वा पुनः^{१०} खचरजन्मनि ॥३४४॥
 विद्युच्चोरत्वमासाद्य सोपसर्गं मूर्ति व्यधाः । तत्पापान्नरके दुःखम् अनुभूयागतस्ततः ॥३४५॥
 अग्नेत्याखिलदेवेद्युक्तं^{११} व्यक्तवाग् विसरः स्फुटम् । व्यधात् सुधोः स्ववृत्तान्तं भीमसाधुः सुधाशिनोः ।
 त्रिः प्राक् त्वन्मरितावावामिति^{१२} शुद्धित्रयान्वितौ^{१३} । जातसद्धर्मसद्भावभावभिवन्ध मुनिं^{१४} गतौ ॥३४७॥
 इति व्याहृत्य^{१५} हेमाङ्गदानुजेदं^{१६} च साऽज्जवीत् । भीमं^{१७} साधुः पुरे पुण्डरीकिण्यां घातिघातनात् ॥३४८॥
 रम्ये शिवझकरोद्याने पञ्चमज्ञानपूजितः । तस्थिवास्तं^{१८} समागत्य चतस्रो देवयोधितः ॥३४९॥
 वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य पापावसम्पत्तिमूर्तः । त्रिलोकेश वदास्माकं पतिः कोऽप्यो भविष्यति ॥३५०॥
 इत्थपृच्छन्नसौ^{१९} चाह पुरेऽस्मिन्नेव^{२०} भोजकः^{२१} । सुरदेवा ह्वयस्तस्य वसुधेना वसुधरा ॥३५१॥

सेठ कुबेरप्रिय तथा अन्य अनेक राजाओंके साथ साथ मुनिराजके समीप जाकर तप धारण किया ॥३३८-३४१॥ वह चाण्डाल कहने लगा कि सेठके अहिंसा व्रतका फल देखकर मैंने भी अहिंसा व्रत ले लिया था यही कारण है कि मैंने तुम्हें नहीं मारा है यह सुनकर उस विद्युच्चर चोरने भी उसकी बहुत प्रशंसा की ॥३४२॥

इतना कहकर वे भीम मुनि सामने बैठे हुए देव-देवियोंसे फिर कहने लगे कि सर्वज्ञ-देवने मुझसे स्पष्ट अक्षरोंमें कहा है कि 'तू पहले मृणालवती नगरीमें भवदेव नामका वैश्य हुआ था वहां तूने रतिवेगा और सुकान्तसे वैर बांधकर उन्हें मारा था, मरकर वे दोनों कबूतर कबू-तरी हुए सो वहां भी तूने विलाव होकर उन दोनोंको मारा था, वे मरकर विद्याधर विद्याधरी हुए थे सो उन्हें भी तूने विद्युच्चोर होकर उपसर्ग द्वारा मारा था, उस पापसे तू नरक गया था' और वहांके दुःख भोगकर वहांसे निकलकर यह भीम हुआ हूं इस प्रकार उन बुद्धिमान् भीम मुनिने सामने बैठे हुए देव-देवियोंके लिये अपना सब वृत्तान्त कहा ॥३४३-३४६॥ जिन्हें आपने पहले तीन बार मारा है वे दोनों हम ही हैं ऐसा कहकर जिनके मन, वचन, काय—तीनों शुद्ध हो गये हैं और जिन्हें सद्धर्मकी सद्भावना उत्पन्न हुई है ऐसे वे दोनों देव-देवी उन भीममुनिकी वन्दना कर अपने स्थानपर चले गये ॥३४७॥

यह कहकर हेमाङ्गदकी छोटी बहिन सुलोचना फिर कहने लगी कि एक समय पुण्डरी-किणी नगरीके शिवंकर नामके सुन्दर उद्यानमें घातिया कर्म नष्ट करनेसे जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे भीममुनिराज विराजमान थे, सभी लोग उनकी पूजा कर रहे थे, उसी समय वहांपर चार देवियोंने आकर उनकी वन्दना की, धर्मका स्वरूप सुना और पूछा कि हे तीन लोकके स्वामी, हम लोगोंके पापसे हमारा पति मर गया है । कहिये—अब दूसरा पति कौन

१ तस्मात् कारणात् । २ एवं तलवरोऽवादीत् । ३ तलवरवचनान्तरम् । ४ स्तौति स्म । ५ विद्युच्चोरः । ६ अहिंसाव्रतम् । तस्मात् त्वं न हतोऽसीति इलोकस्य सोऽप्येवं प्रत्यपादयदित्यनेन सह सम्बन्धः । ७ उक्तप्रकारेण प्रतिपाद्य । स मुनिः पुनरप्यात्मनः सर्वज्ञेन प्रतिपादितनिजवृत्तकं सुरदम्प-त्योराह । ८ वक्ष्यमाणप्रकारेण । ९ पूर्वजन्मनि । १० हे भीममुने, भवान् । ११ घातुकः । १२ कपोतभवेऽपि मार्जारः सन् तयोर्निहन्ताऽभूरिति सम्बन्धः । १३ कृत्वा ल०, अ०, प०, स०, इ० । १४ तद्दम्पत्योर्विद्या-धरभवे । खचरजन्मनि प०, इ० । १५ सर्वज्ञप्रोक्तम् । १६ हिरण्यवर्मप्रभावतीचरी । १७ मतोवाक्काय-शुद्धियुक्ती । १८ भीममुनिम् । १९ उक्त्वा । २० सुलोचना । २१ भीमः साधुः प०, इ०, ल० । २२ आस्ते स्म । २३ भीमकेवली । २४ पुण्डरीकिण्याम् । २५ पालकः ।

धारिणी पृथिवी चेति चतस्रो योषितः प्रियाः । श्रीमती वीतशोकाख्या विमला वससन्तिका ॥३५२॥
चतस्रश्चेदिकास्तासाम् अन्वेष्युस्ता वनान्तरे । सर्वा यतिवराभ्यासे धर्मं दानादिनाऽऽदधुः ॥३५३॥
तत्फलानाच्युते कल्पे प्रतीन्द्रस्य प्रियाः क्रमात् । रतिषेणा सुसीमाख्या मुख्याख्या च सुखावती ॥३५४॥
सुभगेति च देव्यस्ता यूयं ताश्चेदिकाः पुनः । चित्रषेणा क्रमाच्चित्रवेगा धनवती सती ॥३५५॥
धनश्रीरित्यजायन्त वनदेवेषु कन्यकाः । सुरदेवेष्वभूमृत्वा पिङ्गलः पुररक्षकः ॥३५६॥
स तत्र निजदोषेण प्रापन्निगलबन्धनम् । मातुस्तत्सुरदेवस्य प्राप्ता या राजसूनुताम् ॥३५७॥
श्रीपालाख्यकुमारस्य ग्रहणे बन्धमोक्षणे । सर्वेषां पिङ्गलाख्योऽपि मुक्तः संन्यस्य सम्प्रति ॥३५८॥
भूत्वा बुधविमानेऽसौ इहागत्य भविष्यति । स्वामी युष्माकमित्येतत्तच्चेतो हरणं तदा ॥३५९॥
परमार्थं कृतं तेन तथा गत्य मुनेर्वचः । पृष्ट्वानु कन्यकाश्चैनम् आत्मनो भाविनं पतिम् ॥३६०॥
पूर्वोक्तपिङ्गलाख्यस्य सूनुर्नाम्नाऽतिपिङ्गलः । सोऽपि संन्यस्य युष्माकं रतिदायी भविष्यति ॥३६१॥
इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य गत्वा तत्पूजनाविधौ । स्वासां निरीक्षणात् कामसम्भोहप्रकृतं महत् ॥३६२॥
रतिकूलाभिधानस्य संविधानं मुनेः श्रुतम् । तत्पितुर्मणिनागादिदत्तस्य प्रकृतं तथा ॥३६३॥

होगा ? तब सर्वज्ञ-भीम मुनिराज कहने लगे कि इसी नगरमें सुरदेव नामका एक राजा था उसकी वसुषेणा, वसुंधरा, धारिणी और पृथिवी ये चार रानियां थीं तथा श्रीमती, वीतशोका, विमला और वसन्तिका ये चार उन रानियोंकी दासियां थीं । किसी एक दिन उन सबने वनमें जाकर किन्हीं मुनिराजके समीप दान आदिके द्वारा धर्म करना स्वीकार किया था । उस धर्मके फलसे वे अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्रकी देवियां हुई हैं । क्रमसे उनके नाम इस प्रकार हैं- रतिषेणा, सुसीमा, सुखावती और सुभगा । वह देवियां तुम्हीं सब हो, तथा तुम्हारी दासियां चित्रषेणा, चित्रवेगा, धनवती और धनश्री नामकी व्यन्तर देवोंकी कन्याएं हुई हैं । राजा सुरदेव मरकर पिङ्गल नामका कोतवाल हुआ है और वह अपने ही दोषसे कारागारको प्राप्त हुआ था, सुरदेवकी माता राजाकी पुत्री हुई है और श्रीपालकुमारके साथ उसका विवाह हुआ है । विवाहोत्सवके समय सब कैदी छोड़े गये थे उनमें पिङ्गल भी छूट गया था, अब संन्यास लेकर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न होगा और वही तुम सबका पति होगा ! इधर मुनिराज ऐसे मनोहर वचन कह रहे थे कि उधर पिङ्गल संन्यास धारणकर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहांसे आकर उसने मुनिराजके वचन सत्य कर दिखाये । इतनेमें ही चारों व्यन्तर कन्याएं आकर सर्वज्ञदेवसे अपने होनहार पतिको पूछने लगीं ॥३४८-३६०॥ मुनिराज कहने लगे कि पूर्वोक्त पिङ्गल नामक कोतवालके एक अतिपिङ्गल नामका पुत्र है वही संन्यास धारणकर तुम्हारा पति होगा ॥३६१॥ भीम केवलीके ये वचन सुनकर चारों ही देवियां जाकर अतिपिङ्गलकी पूजा करने लगीं, उसे देखनेसे उन देवियोंको कामका अधिक विकार हुआ था ॥३६२॥ उन देवियोंने रतिकूल नामके मुनिका चरित्र सुना, उनके पिता मणिनागदत्तका चरित्र सुना,

१ स्वीकुर्वन्ति स्म । २ व्यन्तरदेवेषु । ३ तलवरः । ४ विवाहसमये । ५ - च्युतविमानेऽसौ ३०, प०, ल० । बुधविमानेशः इत्यपि पाठः । बुधविमानाधिपतिः । ६ स्वामी युष्माकमित्यसौ चाहेत्यनेन सह सम्बन्धः । ७ पिङ्गलचरदेवेन । ८ केवत्युक्तप्रकारेण । (क्रमेण) ९ सर्वज्ञस्य । १० अनन्तरम् । ११ व्यन्तरकन्याः । १२ भीमकेवलिनम् । १३ पुरुषः । १४ अतिपिङ्गलस्य समीपं प्राप्य । १५ अतिपिङ्गलस्य परिचर्याविधौ । १६ चित्रसेनादिव्यन्तरकन्यकानाम् । तृसाम् ल०, प०, द० । १७ कामसम्भोहेन प्रकर्षेण कृतम् । १८ रतिकूलाभिधानस्य पुरुषस्य । १९ व्यापारम् । २० भीमकेवलिनः सकाशात् । २१ आकर्णितम् । २२ रतिकूलस्य जनकस्य । २३ चेष्टितम् ।

सुकेतोश्चाखिले तस्मिन्सत्यभूते^१ मुनीश्वरम् । ताः सर्वाः परितोषेण गताः समभिवन्द्य तम् ॥३६४॥

आवामपि^२ तदा वन्दनाय तत्र गताविदम् । श्रुत्वा वृष्ट्वा गती प्रीतिपरीतहृदयो विचम् ॥३६५॥

इत्यात्मीयभवावलीमनुगतैर्मन्यैर्मनोरञ्जनेः

स्पष्टैरस्खलितैः^३ 'कलैरचिरलैरध्याकुलैर्जल्पितैः'^४ ।

आत्मोपात्तशुभाशुभोदयवशोद्भूतोच्चनीचस्थितिम्^५

संसर्पद्दृशनांशुभूषितसभासभ्यान^६ सावभ्यधात्^७ ॥३६६॥

श्रुत्वा तां हृदयप्रियोक्तिमतुषत्कान्तो^८ रतान्ते यथा

संसञ्च^९ व्यकसत्तरां शरवि वा लक्ष्मीः सरःसंभया ।

कान्तानां^{१०} वदनेन्दुकान्तिरगलत्तद्वाग्दिनेशोद्गतेः^{११}

अस्थाने कृतमत्सरोऽसुखकरस्त्या^{१२} ज्यस्ततोऽसौ^{१३} ब्रुधेः ॥३६७॥

कान्तोऽभूद् रतिषेणया वणिगसौ पूर्वं सुकान्तस्ततः

सञ्जातो रतिषेणया रतिचरो गेहे कपोतो विशाम्^{१४} ।

सुकेतुका चरित्र सुना और सबके सत्य सिद्ध होनेपर बड़े संतोषके साथ मुनिराजकी वन्दना कर अपने अपने स्थानोंकी ओर प्रस्थान किया ॥३६३-३६४॥ उस समय हम दोनों भी मुनिराज की वन्दना करनेके लिये वहाँ गये और यह सब देख सुनकर प्रसन्नचित्त होते हुए स्वर्ग चले गये थे ॥३६५॥

इस प्रकार अपने द्वारा उपार्जन किये हुए शुभ अशुभ कर्मोंके उदयवश जिसे ऊंची नीची अवस्था प्राप्त हुई है और जिसने अपने दांतोंकी फैलती हुई किरणोंसे समस्त सभाको सुशोभित कर दिया है ऐसी सुलोचनाने सब सभासदोंको क्रमबद्ध मान्य, मनोहर, स्पष्ट, अस्खलित, मधुर, अविरल और आकुलता रहित वचनों द्वारा अपने पूर्वभवकी परम्परा कह सुनाई ॥३६६॥

हृदयको प्रिय लगनेवाले सुलोचनाके वचन सुनकर जयकुमार उस प्रकार संतुष्ट हुए जिस प्रकार कि संभोगके बादमें सन्तुष्ट होते । वह सभा उस तरह विकसित हो उठी जिस तरह की शरद्ऋतुमें सरोवरकी शोभा विकसित हो उठती है । और सुलोचनाके वचनरूपी सूर्यके उदय होनेसे अन्य स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमाओंकी कान्ति नष्ट हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि अयोग्य स्थानपर की हुई ईर्ष्या दुःख करनेवाली होती है इसलिये विद्वानोंको ऐसी ईर्ष्या अवश्य ही छोड़ देनी चाहिये ॥३६७॥ सुलोचनाने जयकुमारसे कहा कि मैं पहले रतिवेगा थी और आप मेरे ही साथ मेरे पति सुकान्त वैश्य हुए, फिर मैं सेठके घर रतिषेणा कबूतरी हुई और आप मेरे ही साथ रतिवर नामक कबूतर हुए, फिर मैं प्रभावती विद्याधरी हुई और आप मेरे ही साथ हिरण्यवर्मा विद्याधर हुए उसके बाद मैं स्वर्गमें महादेवी हुई और आप मेरे ही साथ अतिशय

१ मृणालवतीपुरपतेः सुकेतोरपि चेष्टितं मुनेः सकाशाच्च्युतमिति सम्बन्धः । एतत् कथात्रयं ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्यम् । २ सत्यभूते ल०, प०, इ०, स० । ३ प्रभावतीचरीहिरण्यवर्मचरसुरदम्पती । ४ सुन्दरः । ५ सम्पूर्णः । ६ स्थितिः ल० । ७ सुलोचना । ८ उवाच । ९ जयः । १० सभा च । ११ जयस्य श्रीमतीशिवशङ्करादियोषिताम् । १२ सुलोचनावचनादित्योदये सति । १३ दुःखकरः । १४ मत्सरः । १५ वैश्यानाम् ।

‘यत्त्यन्तप्रभयाऽभयत्सगपतिर्वर्मा हिरण्यदिवाक्’

देवः कल्पगतो मया^१ सह महादेव्याऽजनीडघो भवान्” ॥३६८॥

सकलमविकलं तत्सप्रपञ्चं रमण्या

मुखकमलरसाक्तं^२ श्रोत्रपात्रे निधाय ।

तदुदितमपरञ्च श्रोतुकामो जयोऽभू-

ष रसिक^३ दयितोक्तैः कामुकास्तृणुवन्ति ॥३६९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण-

सङ्ग्रहे जयसुलोचनाभवान्तरवर्णनं नाम

षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥ ४६॥

पूज्य देव हुए ॥३६८॥ इस प्रकार जयकुमार प्रियाके मुखरूपी कमलके रससे भीगे हुए मनोहर, पूर्ण और विस्तारयुक्त वचनोंको अपने कर्णरूपी पात्रमें रखकर उसके द्वारा कहे हुए अन्य वृत्तान्त को सुननेकी इच्छा करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि कामी पुरुष स्त्रियोंके रसीले वचनोंसे कभी तृप्त नहीं होते हैं ॥३६९॥

इस प्रकार भगवद्गुणभद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें जयकुमार और सुलोचनाके भवान्तर वर्णन करनेवाला छियालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

१ प्रभावत्या सहेत्यर्थः । २ विद्याधरपतिः । ३ हिरण्यवर्मा । ४ सुलोचनया सह । ५ जयः । ६ रससम्बद्धम् । ७ रसनप्रियदयितावचनैः ।

सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्व

कान्ते तत्रान्यदप्यस्ति प्रस्तुतं स्मर्यते त्वया । श्रीपालचक्रिसम्बन्धभित्त्यप्राक्षीत् स तां पुनः ॥१॥

बाढं स्मरामि सौभाग्यभागिनस्तस्य वृत्तकम् । 'तवैवालोक्षितं' वेति सा प्रयक्तुं प्रचक्रमे ॥२॥

जम्बूद्वीपे विदेहेऽस्मिन् पूर्वस्मिन् पुण्डरीकिणी । नगरी नगरीवासौ वासवस्यातिविश्रुता ॥३॥

श्रीपालवसुपालाख्यौ सूर्याचन्द्रमसौ च तौ । जित्वा महीं सहैवावतः स्मेव नयविक्रमौ ॥४॥

जननी वसुपालस्य कुबेरश्रीदिनेऽन्यदा । वनपाले समागत्य केवलावगमोऽभवत् ॥५॥

गुणपालमुनीशोऽस्मत्पतेः सुरगिराविति । निवेदितवति कान्त्वा पुरः सन्तपदान्तरम् ॥६॥

प्रणम्य वनपालाय दत्त्वाऽसौ पारितोषिकम् । पौराः सपर्यया सर्वेऽप्याययुरिति घोषणाम् ॥७॥

विधाय प्राक् स्वयं प्राप्य भगवन्तमवन्दत । श्रीपालवसुपालौ च ततोऽनु समुदौ गतौ ॥८॥

प्रमदाख्यं वनं प्राप्य सद्ब्रूमैरभ्यसन्तरे । प्राग्जगत्पालचक्रेशो यस्मिन्न्यग्रोधो पावये ॥९॥

देवताप्रतिमालक्ष्ये स्थित्वा जग्राह संयमम् । तस्याघस्तात् समीप्येक्ष्यं प्रवृत्तां नृत्तमादरात् ॥१०॥

तयोः कुमारः श्रीपालः पुरुषो नर्तयत्ययम् । अस्तु स्त्रीवेषधार्यत्र स्त्री चेतुर्लूपधारिणी ॥११॥

स्यादेव स्त्री प्रनृत्यन्ती नृत्यं युक्तमिदं भवेत् । इत्याह तद्वचः श्रुत्वा नटी मूर्च्छामुपागता ॥१२॥

यह सुनकर जयकुमारने सुलोचनासे फिर पूछा कि हे प्रिये, इस कही हुई कथामें श्रीपाल चक्रवर्तीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और भी है, वह तुझे याद है या नहीं ? सुलोचनाने कहा हां, सौभाग्यशाली श्रीपाल चक्रवर्तीकी कथा तो मुझे ऐसी याद है मानो मैंने आज ही देखी हो, यह कहकर वह उसकी कथा कहने लगी ॥१-२॥ इस जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि इन्द्रकी नगरी-अमरावतीके समान अत्यन्त प्रसिद्ध है ॥३॥ सूर्य और चन्द्रमा अथवा नय और पराक्रमके समान श्रीपाल और वसुपाल नामके दो भाई समस्त पृथिवीको जीतकर साथ ही साथ उसका पालन करते थे ॥४॥ किसी एक दिन मालीने आकर वसुपालकी माता कुबेरश्रीसे कहा कि सुरगिरि नामक पर्वतपर आपके स्वामी गुणपाल मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, यह सुनकर उसने सामने सात पेंड चलकर नमस्कार किया, मालीको पारितोषिक दिया और नगरमें घोषणा कराई कि सब लोग पूजाकी सामग्री साथ लेकर भगवान्के दर्शन करनेके लिये चलें, उसने स्वयं सबसे पहले जाकर भगवान्की वन्दना की । माताके पीछे ही श्रीपाल और वसुपाल भी बड़ी प्रसन्नतासे चले ॥५-८॥ मार्गमें वे एक उत्तम वनमें पहुंचे जो कि अच्छे अच्छे वृक्षोंसे सुन्दर था और जिसमें देवताकी प्रतिमासे युक्त किसी वट वृक्षके नीचे खड़े होकर महाराज जगत्पाल चक्रवर्तीने संयम धारण किया था । उसी वृक्षके नीचे एक दर्शनीय नृत्य हो रहा था, उसे दोनों भाई बड़े आदरसे देखने लगे ॥९-१०॥ देखते देखते कुमार श्रीपालने कहा कि यह स्त्रीका वेष धारण कर पुरुष नाच रहा है और पुरुषका रूप धारण कर स्त्री नाच रही है । यदि यह स्त्री स्त्रीके ही वेषमें नृत्य करती तो बहुत ही अच्छा नृत्य होता । श्रीपालकी यह बात सुनकर नटी मूर्च्छित

१ तत्रैवा-अ०, स० । यथैवा- ल०, प०, इ० । २ प्रत्यक्षं दृष्टमिव । ३ चितौ ट० । संयो-जितौ । ४ अवारक्षताम् । ५ मुनीशस्य । ६ सुरगिरिनाम्नि पर्वते । ७ कुबेरश्रीः । ८ पूजया । ९ आगच्छेयुः । १० शुभवृक्षैः । ११ वट । 'न्यग्रोधो बहुपाद वटः' इत्यभिधानात् । १२ वटस्य । १३ आलोच्य । १४ दर्शनीयम् । १५ वसुपालश्रीपालयोः । १६ चेतु ।

उपायैः प्रतिबोधयन्तं तदा प्रथमपूर्वकम् । इति विज्ञापयामास काचित्तं भाविचक्रिणम् ॥१३॥

सुरभ्यविषये श्रीपुराविषः श्रीवराह्वयः । तद्देवी श्रीमती तस्याः सुता जयवतीत्यभूत् ॥१४॥

तज्जाती^१ चक्रिणी देवी भाविनीत्यादिशनिवदः^२ । अभिज्ञानं^३ च तस्यैतत् नटनट्योर्विवेति^४ यः ॥१५॥

भेवं स चक्रवर्तीति तत्परोक्षितुमगतः । पुण्याद् दृष्टस्त्वमस्माभिर्निधिकल्पो यदुच्छया ॥१६॥

अहं प्रियरतिर्नामा^५ लुतेयं नर्तकी भव । ज्ञेया मदनवेगाख्या पुरुषाकारधारिणी ॥१७॥

नटीऽप्यं वासवो नाम ख्यातः स्त्रीवेषधारकः । तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तुष्ट्वा तां सन्तप्यं यथोचितम् ॥१८॥

गुरुं वन्दितुमात्मीयं गच्छन् सुरगिरिं ततः^६ । अश्वं केनचिदानीतम् आरुह्यासक्तचेतसा ॥१९॥

‘अधावयदसौ’ किञ्चिद् अन्तरं धरणीतले । गत्वा गगनमारुह्य व्यक्तोक्तखगाकृतिः^७ ॥२०॥

न्यग्रोधपादपाथःस्थप्रतिप्रावासिना अश्वम् । देवेन तज्जितो भोत्वाऽशनिवेगोऽमुचन् खयः ॥२१॥

कुमारं पर्णलघुविद्याय स्वनिमुक्तपा । रत्नावर्तगिरेर्नूध्नि स्थितं तं सन्ति भाविनः^८ ॥२२॥

बह्वोऽप्यस्य जम्भा इत्यग्रहोऽथ निवृत्तवान् । देवः सरसि कस्मिंश्चिच्च स्नानादिविधिना श्रमम् ॥२३॥

मार्गजं स्थितनुद्ध्य तत्रैकस्मात् पुष्पागृहात् । आगत्य राजपुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा यथोचितम् ॥२४॥

दृष्ट्वा षड्राजकन्यास्ततः स्ववृत्तान्तं व्यवदेवन् । स्वगोत्रकुलनामादि निर्दिश्य खचरेशिना ॥२५॥

वज्रादशनिवेगेन वप्रप्रस्त्रिभिर्वेशिताः । इति तत्प्रोक्तवाक्यं कुमारस्यानुकम्पिनः ॥२६॥

हो गई ॥११-१२॥ उसी समय अनेक उपायोसे नटीको सचेत कर कोई स्त्री उस होनहार चक्रवर्ती श्रीपालसे विनयपूर्वक इस प्रकार कहने लगी ॥१३॥ कि सुरम्य देशके श्रीपुर नगरके राजाका नाम श्रीधर है उसकी रानीका नाम श्रीमती है और उसके जयवती नामकी पुत्री है ॥१४॥ उसके जन्मके समय ही निमित्तज्ञानियोने कहा था कि यह चक्रवर्तीकी पट्टरानी होगी और उस चक्रवर्तीकी पहिचान यही है कि जो नट और नटीके भेदको जानता हो वही चक्रवर्ती है, हम लोग उसीकी परीक्षा करनेके लिये आये हैं, पुण्योदयसे हम लोगोंने निधिके समान इच्छा-नुसार आपके दर्शन किये हैं ॥१५-१६॥ मेरा नाम प्रियरति है, यह पुरुषका आकार धारण कर नृत्य करनेवाली मदनवेगा नामकी मेरी पुत्री है और स्त्रीका वेष धारण करनेवाला यह वासव नामका नट है यह सुनकर राजाने संतुष्ट होकर उस स्त्रीको योग्यतानुसार संतोषित किया और स्वयं अपने पिताकी वन्दना करनेके लिये सुरगिरि नामक पर्वतकी ओर चला, मार्गमें कोई पुरुष घोड़ा लाया उसपर आसक्तचित्त हो श्रीपालने सवारी की और दौड़ाया । कुछ दूरतक तो वह घोड़ा पृथिवीपर दौड़ाया परन्तु फिर अपना विद्याधरका आकार प्रकट कर उसे आकाशमें ले उड़ा । उस वट वृक्षके नीचे स्थित प्रतिमाके समीप रहनेवाले देवने उस विद्याधरको ललकारा, देवकी ललकारसे डरे हुए अशनिवेग नामके विद्याधरने अपनी भेजी हुई पर्णलघु विद्यासे उस कुमार श्रीपालको रत्नावर्त नामके पर्वतकी शिखरपर छोड़ दिया । देवने देखा कि उस पर्वतपर रहकर ही उसे बहुत लाभ होनेवाला है इसलिये वह कुमारको साथ लिये बिना ही लौट गया । कुमार भी किसी तालाबमें स्नान आदि कर मार्गमें उत्पन्न हुए परिश्रमको दूर कर बैठे ही थे कि इतनेमें एक सफेद महलसे छह राजकन्याएं निकलकर आईं और कुमारको ‘यह राजाका पुत्र है’ ऐसा समझकर यथायोग्य रीतिसे दर्शन कर अपना समाचार निवेदन करने लगीं । उन्होंने अपने गोत्र-कुल और नाम आदि बतलाकर कहा कि ‘अशनि-वेग नामके विद्याधरने हम लोगोंको यहां जबर्दस्ती लाकर पटक दिया है’ कन्याओंकी यह बात

१ जयवत्या जननसमये । २ विद्वांसः । ३ परिचायकं चिह्नम् । ४ विशेषेण जानाति ।

५ नाम्ना ल०, अ०, प०, स०, इ० । ६ वनात् (प्रमथवनात्) । ७ गमयति स्म । ८ मायाश्वः ।

९ विद्याधराकारः ।

निजागमनवृत्तान्तकथनावसरे परा । विद्युद्वेगाभिधा विद्याधरी तत्र समागता ॥२७॥
 पापिनाशनिवेगेन हन्तुमेनं प्रयोजिता । समीप्य मदनाक्रान्ताऽभूच्चित्रादिचित्रवत्स्यः ॥२८॥
 सूनुः स्तनितवेगस्य राज्ञो राजपुरेशितुः । खगेशोऽशनिवेगाख्यो ज्योतिर्वेगाख्यमातृकः ॥२९॥
 त्वमत्र तेन सौहार्दाद् आनीतः स ममाग्रजः । विद्युद्वेगाह्वयाऽहं च प्रेषिता ते स मयुनः ॥३०॥
 रत्नावर्तगिरिं याहि स्थितस्तत्रेति सादरम् । भवत्समीपं प्राप्तैर्बभूविति रक्तविचेष्टितम् ॥३१॥
 दर्शयन्तो समीपस्थं यावत् सौधगृहान्तरम् । इत्युक्त्वाऽनभिलाषं च ज्ञात्वा तस्य महात्मनः ॥३२॥
 तत्रैव विद्यया सौधगेहं निर्माप्य निस्त्रया । स्थिता तद्वाजकन्याभिः सह का कामिनां त्रया ॥३३॥
 एतान्नङ्गपताकाऽस्यास्तं सखीत्यमवोचत् । त्वत्पितुर्गुणपालस्य सन्निधाने जिनेशितुः ॥३४॥
 ज्योतिर्वेगागुहं प्रीत्या कुबेरश्रीः समादिशत् । निजजामातरं क्वापि श्रीपालस्वामिनं मम ॥३५॥
 स्वयं स्तनितवेगोऽसौ सूतमन्त्रेष्वेवेति । प्रतिपन्नः स तत्प्रोक्तं भवन्तं मयुनस्तव ॥३६॥
 आनीतवानिहेत्येतद् अबबुध्यात्मनो द्विषम् । पतिं मत्बोत्तरश्रेणेः प्राशङ्क्यानलवेगकम् ॥३७॥
 स्वयं तदा समालोच्य निवार्य सचराधिपम् । उदीपान्वेषणोपायं त्वत्स्नेहाहितचेतसः ॥३८॥
 आनीयतां प्रयत्नेन कुमार इति बान्धवाः । आवां प्रियसकाशं ते प्राहंषुस्तं विहागते ॥३९॥

सुनकर कुमारको उनपर दया आई और वह भी अपने आनेका वृत्तान्त कहनेके लिये उद्यत हुआ । वह जिस समय अपने आनेका समाचार कह रहा था उसी समय विद्युद्वेगा नामकी एक दूसरी विद्याधरी वहां आई । पापी अशनिवेगेन कुमारको मारनेके लिये इसे भेजा था परन्तु वह कुमारको देखकर कामसे पीड़ित हो गई सो ठीक ही है क्योंकि चित्तकी वृत्ति विचित्र होती है ॥१७-२८॥ वह कहने लगी कि अशनिवेग नामका विद्याधर राजपुरके स्वामी राजा स्तनितवेगका पुत्र है, उसकी माताका नाम ज्योतिर्वेगा है ॥२९॥ वह अशनिवेग मित्रताके कारण आपको यहां लाया है, वह मेरा बड़ा भाई है, मेरा नाम विद्युद्वेगा है और उसीने मुझे आपके पास भेजा है, अब वह आपका साला होता है ॥३०॥ उसने मुझसे कहा था कि तू रत्नावर्त पर्वतपर जा, वे वहां विराजमान हैं इसलिये ही मैं आदर सहित आपके पास आई हूँ ऐसा कहकर उसने रागपूर्ण चेष्टाएं दिखलाई और कहा कि यह समीप ही चूनेका बना हुआ पक्का मकान है परन्तु इतना कहनेपर भी जब उसने उन महात्माकी इच्छा नहीं देखी तब वहींपर विद्याके द्वारा मकान बना लिया और निर्लज्ज होकर उन्हीं राजकन्याओंके साथ बैठ गई सो ठीक ही है क्योंकि कामी पुरुषोंको लज्जा कहांसे हो सकती है ? ॥३१-३३॥ इतनेमें विद्युद्वेगा की सखी अन्नपताका आकर कुमारसे इस प्रकार कहने लगी कि 'आपकी माता कुबेरश्री आपके पिता श्रीगुणपाल जिनेन्द्रके समीप गई हुई थी वहां उसने बड़े प्रेमसे ज्योतिर्वेगाके पितासे कहा कि मेरा पुत्र श्रीपाल कहीं गया है उसे ले आओ । ज्योतिर्वेगाके पिताने अपने जामाता स्तनितवेगसे कहा कि मेरे स्वामी श्रीपाल कहीं गये हैं उन्हें ले आओ । स्तनितवेगने स्वयं अपने पुत्र अशनिवेगको भेजा, पिताके कहनेसे ही अशनिवेग आपको यहां लाया है, वह आपका साला है । उत्तरश्रेणीका राजा अनलवेग इनका शत्रु है उसकी आशंका कर तुम्हारे स्नेहसे जिनका चित्त भर रहा है ऐसे सब भाईवन्धुओंने स्वयं विचार कर आपके खोजनेका उपाय बतलाया और कहा कि कुमारको बड़े प्रयत्नसे यहां लाया जाय । वे सब विद्याधरोंके अधिपति अनलवेगको रोकनेके लिये गये हैं और हम दोनोंको आपके पास भेजा है । यहां आनेपर यह विद्युद्वेगा

१ श्रीपालम् । २ पुरेशिनः अ०, प०, स०, ल० । ३ ज्योतिर्वेगाख्या माता यस्यासौ । ४ विद्युद्वेगायाः । ५ श्रीपालम् । ६ जिनेशिनः ल०, प० । ७ अशनिवेगस्य मातुर्ज्योतिर्वेगायाः पितरम् । कुबेरश्रीः समादिशदिति सम्बन्धः । ८ स्तनितवेगजामातरम् । ९ ज्योतिर्वेगापिता । १० अशनिवेगम् । ११ तत्कारणात् ।

विद्युद्गंगाऽवलोक्य स्वाम् अनुरक्ताऽभवत्त्वया । न त्याज्येति तदाकर्ण्य 'स विचिन्त्योचितं वचः ॥४०॥
 मयोपनयनेऽग्राहि' व्रतं गुरुभिरपितम् । मुक्त्वा गुरुजनानीतां स्वीकरोमि न चापराम् ॥४१॥
 इत्यथोचत्ततस्ताश्च शृङ्गाररसवेष्टितः । नानाविधं रञ्जयितुं प्रवृत्ता नाशकस्तदा ॥४२॥
 विद्युद्गंगा ततोऽजगच्छत् स्वमातृपितृसन्निधौ । पिथाय द्वारमारोप्य सौधाय प्राणवल्लभम् ॥४३॥
 तावानेतुं कुमारोऽपि सुप्तवान् रक्तकम्बलम् । प्रावृत्य तं समालोक्य मेरुण्डः पिशितोच्चयम् ॥४४॥
 मत्वा नीत्वा द्विजः सिद्धकूटाग्रे खावितुं स्थितः । चलन्तं वीक्ष्य सोऽप्याक्षीत् स तेषां जातिजो गुणः ॥४५॥
 'ततोऽवतीर्थ' श्रीपालः स्नात्वा सरसि भक्तिमान् । सुपुष्पाणि सुगन्धीनि समादाय जिनालयम् ॥४६॥
 परोत्थ स्तोत्रमारेभे विद्वत् ॥ द्वास्तदा स्वयम् । तन्निरीक्ष्य प्रसन्नस्सन्नभ्यर्च्य जिनपुङ्गवान् ॥४७॥
 अभिवन्द्य यथाकामं विधिवत्तत्र सुस्थितः । तमभ्येत्य खगः कश्चित् समुद्धृत्य नभःपथे ॥४८॥
 गच्छन्मनोरमे राष्ट्रं शिवंकरपुरेशिनः । नृपस्यानिलवेगस्य कान्ता कान्तवतीत्यभूत् ॥४९॥
 तयोः सुतां भोगवतीम् आकाशस्फटिकालये । मृदुशय्यातले सुप्तां का कुमारीयमित्यसौ ॥५०॥
 अपृच्छत् 'सोऽब्रवीदेषा भुजङ्गी विषमेति च । तदुक्तेः स क्रुधा कृत्वा कन्यापितृसमीपगम् ॥५१॥

आपको देखकर आपमें अत्यन्त अनुरक्त हो गई है अतः आपको यह छोड़नी नहीं चाहिये । कुमारने ये सब बातें सुनकर और अच्छी तरह विचारकर उचित उत्तर दिया कि मैंने यज्ञो-
 पवीत संस्कारके समय गुरुजनोंके द्वारा दिया हुआ एक व्रत ग्रहण किया था और वह यह है कि
 मैं माता-पिता आदि गुरुजनोंके द्वारा दी हुई कन्याको छोड़कर और किसी कन्याको स्वीकार
 नहीं करूंगा । जब कुमारने यह उत्तर दिया तब वे सब कन्याएं अनेक प्रकारकी शृङ्गाररसकी
 चेष्टाओंसे कुमारको अनुरक्त करनेके लिये तैयार हुईं परन्तु जब उसे अनुरक्त नहीं कर सकीं
 तब विद्युद्गंगा प्राणपति श्रीपालको मकानकी छतपर छोड़कर और बाहरसे दरवाजा बन्दकर
 माता-पिताको बुलानेके लिये उनके पास गई । इधर कुमार श्रीपाल भी लाल कम्बल ओढ़कर
 सो गये, इतने एक मेरुण्ड पक्षीकी दृष्टि उनपर पड़ी, वह उन्हें मांसका पिण्ड समझकर उठा
 ले गया और सिद्धकूट-चैत्यालयके अग्रभागपर रखकर खानेके लिये तैयार हुआ परन्तु कुमार-
 को हिलता डुलता देखकर उसने उन्हें छोड़ दिया सो ठीक ही है क्योंकि यह उन पक्षियोंका जन्म-
 जात गुण है ॥३४-४५॥ तदनन्तर श्रीपालने सिद्धकूटकी शिखरसे नीचे उतरकर सरोवरमें
 स्नान किया और अच्छे अच्छे सुगन्धित फूल लेकर भक्तिपूर्वक श्री जिनालयकी प्रदक्षिणा दी
 और स्तुति करना प्रारम्भ किया, उसी समय चैत्यालयका द्वार अपने आप खुल गया, यह देखकर
 वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और विधिपूर्वक इच्छानुसार श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा वन्दनाकर सुखसे
 वहींपर बैठ गया । इतनेमें ही एक विद्याधर सामने आया और कुमारको उठाकर आकाश-
 मार्गमें ले चला, चलते चलते वे मनोरम देशके शिवंकरपुर नगरमें पहुंचे, वहांके राजाका नाम
 अनिलवेग था, और उसकी स्त्रीका नाम था कान्तवती, उन दोनोंके भोगवती नामकी पुत्री थी,
 वह भोगवती आकाशमें बने हुए स्फटिकके महलमें कोमल शय्यापर सो रही थी उसे देखकर
 उस विद्याधरने श्रीपालकुमारसे पूछा कि यह कुमारी कौन है ? कुमारने उत्तर दिया कि

१ संविचि-ल०, प०, अ० । २ स्वीकृतः । ३ कन्याकाजनीजनकानुमतेन दत्ताम् । ४ तैरदत्ताम् ।
 ५ शक्ताः न बभूवुः । ६ रत्नावर्तगिरेः । ७ निजमातापितरौ । ८ प्रच्छाद्य । ९ पक्षिविशेषः ।
 १० मांसपिण्डम् । ११ मेरुण्डः । १२ मुमोच । १३ सजीवस्य त्यागः । १४ पक्षिणाम् । १५ सिद्धकूटाग्रात् ।
 १६ उद्धाटितम् । १७ द्वारम् । १८ विद्याधरः । १९ श्रीपालः । २० श्रीपालवचनात् । २१ भोगवती-
 जनकस्य समीपस्थं कृत्वा तेन अनिलवेगेन सह विद्याधरो वदति । किमिति ? अस्मत्कन्यकां भोगवतीमेव
 खलः श्रीपालः विषमभुजङ्गीति अब्रवीदिति ।

तमस्मत्कान्यकामेष भुजङ्गीति खलोऽब्रवीत् । 'इत्यवोचततः' १ 'कुध्वा दुर्धो निक्षिप्यतामयम्' ॥५२॥
 दुर्धरोस्तपोभारधारियोग्यं घने घने । इत्यभ्यधाभूपस्तस्य वचनानुगमादसौ ॥५३॥
 विजयाद्वीतरश्रेणिमनोहरपुरान्तिके । स्मशाने शीतवैतालीविद्याया तं शुभाकृतिम् ॥५४॥
 कृत्वा व्यत्यक्षिपत् पापी जरतीरूपधारिणम् । 'तत्रास्पृश्यकुले जाता काऽपि जामातरं स्वयम्' ॥५५॥
 स्वं ग्राममृगरूपेण स्वसुताचरणद्वये । समन्ताल्लुठितं कृत्वा तां प्रसाद्य भूषं ततः ॥५६॥
 १० तं पुरातनरूपेण समवस्थापयत् खला । 'तद्विलोक्य कुमारोऽसी खगाः स्वाभिमतकृतिम्' ॥५७॥
 'विनिवर्तयितुं शक्ता इत्याशङ्क्य विचिन्तयन् । 'यमाप्रयायिसङ्काशकाशप्रसवहासिभिः' ॥५८॥
 शिरोरुहं जैराम्भोधितं ११ रङ्गाभतनुत्वा । समेतमात्मनो रूपं दृष्ट्वा दुष्टविभावितम् ॥५९॥
 लज्जाशोकभिभूतः सन् भङ्गशुगच्छेस्ततः परम् १२ । तत्र १३ भोगवती १४ भ्रातुर्हरिकेतोः सुसिद्धया ॥६०॥
 विद्याया श्वरूपेण सद्यः प्रार्थितया करे । कुमारस्य १० समुद्रस्य ११ निर्बान्तमविचारयन् ॥६१॥
 उद्धृत्येवं विशङ्कस्त्वं पिबेत्युक्तं प्रपीतवान् १२ । तं दृष्ट्वा हरिकेतुस्त्वां सर्वव्याधिविनाशिनी ॥६२॥
 विद्याश्रितेति सम्प्रोतः प्रयुज्य वचनं गतः । ततः स्वरूपमापन्नः १३ कुमारो वटभूरुहः १४ ॥६३॥
 गच्छन् स्थितमधोभागे दृष्ट्वा कञ्चिन्नभश्चरम् । प्रदेशः कोऽयमित्येतद् १५ अपृच्छन् सोऽब्रवीद्विदम् ॥६४॥

यह विषम सर्पिणी है। श्रीपालके ऐसा कहनेपर वह विद्याधर क्रुद्ध होकर उन्हें उस कन्याके पिताके पास ले गया और कहने लगा कि यह दुष्ट हम लोगोंकी कन्याकी सर्पिणी कह रहा है। यह सुनकर कन्याके पिताने भी क्रुद्ध होकर कहा कि 'इस दुष्टको कठिन तपका भार धारण करनेके योग्य किसी सधन वनमें छोड़वा दो।' राजाके कहे अनुसार उस पापी विद्याधरने शीत वैताली विद्याके द्वारा सुन्दर आकारवाले श्रीपालकुमारको वृद्धका रूप धारण करनेवाला बनाकर विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणिके मनोहर नगरके समीपवाले श्मशानमें पटक दिया। वहां अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न हुई किसी स्त्रीने अपने जमाईको कुत्ता बनाकर अपनी पुत्रीके दोनों चरणोंपर खूब लोटाया और इस तरह अपनी पुत्रीको अत्यन्त प्रसन्नकर फिर उस दुष्टा चाण्डालिनीने उसका पुराना रूप कर दिया। यह देखकर कुमार कुछ भयभीत हो चिन्ता करने लगा कि ये विद्याधर लोग इच्छानुसार रूप बनानेमें समर्थ हैं। उस समय वह मानो यमराजके सामने जानेवालेके समान ही था—अत्यन्त वृद्ध था, उसके बाल काशके फूले हुए फूलोंके हँसी कर रहे थे, और शरीरमें बुढ़ापेरूपी समुद्रकी तरंगोंके समान सिकुड़ने उठ रही थी। इस प्रकार दुष्ट विद्याधरके द्वारा किया हुआ अपना रूप देखकर वह लज्जा और शोकसे दब रहा था। इसी अवस्थामें वह शीघ्र ही आगे चला। वहां भोगवतीके भाई हरिकेतुको विद्या सिद्ध हुई थी उससे उसने प्रार्थना की तब विद्याने मुरदेका रूप धारणकर श्रीपाल कुमारके हाथपर कुछ उगल दिया और कहा कि तू बिना किसी विचारके निशङ्क हो इसे उठाकर पी जा, कुमार भी उसे शीघ्र ही पी गया। यह देखकर हरिकेतुने कुमारसे कहा कि तुझे सर्वव्याधिविनाशिनी विद्या प्राप्त हुई है, यह कहकर और विद्या देकर हरिकेतु प्रसन्न होता हुआ वहां चला गया। इधर कुमार भी अपने असली रूपको प्राप्त हो गया। कुमार आगे बढ़ा तो उसने एक वट वृक्षके

१ इत्युवाच ततः कुध्वा दुष्टो अ०, प०, इ०, स०, ल० । २ तद्वचनाकर्णनानन्तरम् । ३ अनिलवेगः प्रकुप्य । ४ श्रीपालः । ५ खगः । ६ श्रीपालम् । ७ स्मशाने । ८ सारमेयरूपेण । ९ प्रसन्नतां नीत्वा । १० जामातरम् । ११ मायास्वरूपम् । १२ विनिर्मातुम् । १३ कृतान्तस्य पुरोगामिसदृशः । १४ हरिभिः ल० । १५ जराम्भोधेस्तरङ्गाभ इत्यपि पाठः । १६ दुष्टविद्याधरेण समुत्पादितम् । १७ तस्मादन्य-प्रदेशम् । १८ स्मशाने । १९ पूर्वोक्तभोगवतीकन्याग्रजस्य । २० श्रीपालकुमारस्य । २१ वमनं कृत्वा । २२ पिबति स्म । २३ श्रीपालम् । २४ निजरूपं प्राप्तः । २५ न्यग्रोधवृक्षस्य । वटभूरुहम् ल० । २६ वक्ष्यमाणमित्येवम्—ल०, प०, अ०, स०, इ० ।

खगान्त्रेः पूर्वदिग्भागे नीलाद्रेरपि पश्चिमे । सुसीमाख्योऽस्ति देशोऽत्र महानगरतत्पथः ॥६५॥
तद्भूतवनमेतत्त्वं सम्यक् चित्तेऽवधारय । अस्मिन्नेताः शिलाः सप्त परस्परधृताः कृताः ॥६६॥
येनाऽसौ चक्रवर्तित्वं प्राप्तेत्यादेशं ईदृशः । इति तद्वचनादेव तास्तथा कृतवास्तदा ॥६७॥
दृष्ट्वा तत्साहसं वक्तुं सोऽजमग्ररेशिनः । कुमारोऽपि विनिर्गत्य ततो निर्विण्णचेतसा ॥६८॥
काञ्चिज्जरवतीं कुत्स्यशरीरां कस्यचित्तरोः । अवस्थितामधोभागे विषयं पुष्कलावतीम् ॥६९॥
वद प्रयाति कः पन्था इत्यप्राक्षीत् प्रियं वहन् । विना गगनमार्गेण प्रयातुं नैव शक्यते ॥७०॥
‘स गव्यू’तिशतैस्तेष्वधिजयाद्धगिरेरपि । परस्मिन्नित्यसावाह ॥ तदाकर्ण्य नृपात्मजः ॥७१॥
ब्रूहि तत्प्रापणोपायमिति तां प्रत्यभाषत । इह जम्बूमिति द्वीपे विषयो वत्सकावती ॥७२॥
तत्खेचरगिरी राजपुरे खेचरचक्रिणः । देवी धरणिकम्पस्य सुप्रभा वा प्रभाकरी ॥७३॥
तयोरहं तनूजास्मि विख्याताख्या सुखावती । त्रिप्रकारोरुविद्यानां पारगाऽन्येधुरागता ॥७४॥
विषये वत्सकावत्यां विजयार्धमहीधरे । अकम्पनसुतां पिप्पलाख्यां प्राणसमां सखीम् ॥७५॥
मनाभिबीक्षितुं तत्र चित्रमालोक्य कम्बलम् । कथयायं कुतस्त्यस्ते तन्वीति प्रश्नतो मम ॥७६॥

नीचे बैठे हुए किसी विद्याधरको देखकर उससे पूछा कि यह कौन सा देश है ? तब वह विद्याधर कहने लगा कि ॥४६-६४॥ ‘विजयार्ध पर्वतकी पूर्व दिशा और नीलगिरिकी पश्चिमकी ओर यह सुसीमा नामका देश है, इसमें यह महानगर नामका नगर है और यह भूतारण्य वन है, यह तू अपने मनमें अच्छी तरह निश्चय कर ले, इधर इस वनमें ये सात शिलाएँ पड़ी हैं जो कोई इन्हें परस्पर मिलाकर एकपर एक रख देगा वह चक्रवर्ती पदको प्राप्त होगा ऐसी सर्वज्ञ देवकी आज्ञा है’ विद्याधरके यह वचन सुनकर श्रीपालकुमारने उन शिलाओंको उसी समय एकके ऊपर एक करके रख दिया ॥६५-६७॥ कुमारका यह साहस देखकर वह विद्याधर नगरके राजाको खबर देनेके लिये चला गया और इधर कुमार भी कुछ उदासचित्त हो वहाँसे निकलकर आगे चला । आगे किसी वृक्षके नीचे निन्द्य शरीरको धारण करनेवाली एक बुद्धियाको देखकर मधुर वचन बोलनेवाले कुमारने, उससे पूछा कि पुष्कलावती देशको कौन सा मार्ग जाता है, बताओ, तब बुद्धियाने कहा कि वहाँ आकाश मार्गके बिना नहीं जाया जा सकता क्योंकि वह देश पञ्चवीस योजन ऊँचे विजयार्ध पर्वतसे भी उस ओर है, यह सुनकर राजपुत्र श्रीपालने उससे फिर कहा कि वहाँ जानेका कुछ भी तो मार्ग बतलाओ । तब वह कहने लगी इस जम्बू द्वीपमें एक वत्सकावती नामका देश है, उसके विजयार्ध पर्वतपर एक राजपुर नामका नगर है उसमें विद्याधरोंका चक्रवर्ती राजा धरणीकंप रहता है, उसकी कान्तिकी फैलानेवाली सुप्रभा नामकी रानी है, मैं उन्हीं दोनोंकी प्रसिद्ध पुत्री हूँ, सुखावती मेरा नाम है और मैं जाति विद्या, कुल विद्या तथा सिद्ध की हुई विद्या इन तीनों प्रकारकी बड़ी बड़ी विद्याओंकी पारगामिनी हूँ । किसी एक दिन मैं वत्सकावती देशके विजयार्ध पर्वतपर अपने प्राणोंके समान प्यारी सखी, राजा अकंपनकी पुत्री पिप्पलाको देखनेके लिए गई थी । वहाँ मैंने एक विचित्र कम्बल देखकर उससे पूछा कि हे सखि, कह, यह कम्बल तुझे कहांसे प्राप्त हुआ है ? उसने कहा कि ‘यह कम्बल मेरी ही आज्ञासे प्राप्त हुआ है’ । कम्बल प्राप्तिके समयसे ही कम्बलवालेका ध्यान करती हुई वह अत्यन्त विद्वल हो रही है ऐसा सुनकर उसकी सखी मदनवती उसे देखनेके लिये उसी

१ वने । २ एकैकस्याः उपर्युपरिस्थिताः । ३ विहिता । ४ प्राप्स्यति । ५ शीतलाः । ६ नगरेशितुः ल०, प०, अ०, स०, इ० । ७ वनात् । ८ निन्द्य । ९ अधः- ल० । १० प्रियं वदः ल० । ११ पुष्कलावतीविषयः । १२ पञ्चविंशतियोजन । १३ अपरभागे । १४ जरती । १५ चन्द्रिकेव । १६ नातिकुलसाधितविद्यानाम् । १७ महीतले ल०, प० । १८ पिप्पलायाम् ।

जगाद साऽपि मामेष^१ प्रायदेशवशादिति । ^२कम्बलावाप्तितस्तद्वन्तं^३ समाध्याय विह्वलाम् ॥७७॥
 एतां^४ तस्याः^५ सखी श्रुत्वा समन्वेष्टुं^६ समागता । काञ्चनाख्यपुराणान्ना मवनादिधृती तवा ॥७८॥
 दृष्ट्वा तत्कम्बलस्यान्ते निबद्धां रत्नमुद्रिकाम् । तत्र^७ श्रीपालनामाक्षराणि चादेशसंस्मृतेः^८ ॥७९॥
 'अकायसायकोद्भिन्नहृदयाऽभूवहं' ततः । कथं ब्रह्माधरं लोकमिमं श्रीपालनामभुत् ॥८०॥
 समागतः स इत्येतन्निश्चेत् पुण्डरीकिणीम् । उपगत्य जिनागारे वन्दित्वा समुपस्थिता ॥८१॥
 त्वत्प्रवासकथां^९ सर्वा तव मातुः प्रजल्पनात् । विदित्वा विस्तरेण त्वाम् आनेष्यामीति निश्चयात् ॥८२॥
 आगच्छन्ती भवद्वार्तां विद्युद्देगामुखोद्गताम् । अवगत्य त्वया साढ्वं^{१०} योजयिष्यामि ते प्रियम् ॥८३॥
 न^{११} विषादो विघातव्य इत्याश्वास्य भवत्प्रियाम् । विनिर्गत्य ततोऽभ्येत्य सिद्धकूटजिनालयम् ॥८४॥
 अभिवन्द्यागता^{१२}ऽस्म्येहि^{१३} मयाऽऽमा पुण्डरीकिणीम् । मातरं भ्रातरं चान्यास्त्वद्बन्धून्च समीक्षितुम् ॥८५॥
 यदीच्छास्ति तवेत्याह सा तच्छ्रुत्वा^{१४} पुनः कृतः । त्वमेव जरती जातेत्यब्रवीत् स^{१५} सुखावतीम् ॥८६॥
 कुमारवचनाकर्णनेन^{१६} वाढ्वं^{१७} कथमागतम् । भवतश्च न किं वेत्सीत्यपहस्य तयोदितम् ॥८७॥
 जराभिभूतमालोक्य स्वशरीरमिवं त्वया । कृतमैवंविधं केन हेतुनेत्यनुयुक्तवान् ॥८८॥
 तच्छ्रुत्वा साऽब्रवीदेवं पिप्पलं^{१८} त्याख्योदिता । मदनादिधृती या च मैथुनी विश्रुतो तयोः ॥८९॥
 बलवान् धूमवेगाख्यस्तादृग्वरिबरोऽपि च । तद्भयात्त्वां^{१९} तिरोधाय पुरं^{२०} प्रापयितुं मया ॥९०॥
 मायारूपद्वयं^{२१} विद्याप्रभावात् प्रकटीकृतम् । कुमार, मत्करस्थामृतास्त्रादफलभणगात् ॥९१॥

समय कांचनपुर नगरसे आई । उसने वह कम्बल देखा, कम्बलके छोरमें बंधी हुई रत्नोंकी अंगूठी और उसपर खुदे हुए श्रीपालके नामाक्षर देखकर मुझे अपने गुस्की आज्ञाका स्मरण हो आया, उसी समय मेरा हृदय कामदेवके बाणोंसे भिन्न हो गया, मैं सोचने लगी कि श्रीपाल नामको धारण करनेवाला यह भूमिगोचरी विद्याधरोंके इस लोकमें कैसे आया ? इसी बातका निश्चय करनेके लिये मैं पुण्डरीकिणी पुरी पहुंची, वहां जिनालयमें भगवान्की वन्दनाकर बैठी ही थी कि इतनेमें वहां आपकी माता आ पहुंची, उनके कहनेसे मैंने विस्तारपूर्वक आपके प्रवासकी कथा मालूम की और निश्चय किया कि मैं आपको अवश्य ही ढूँढकर लाऊंगी । उसी निश्चयके अनुसार मैं आ रही थी, रास्तेमें विद्युद्देगाके मुखसे आपका सब समाचार जानकर मैंने उससे कहा कि 'तू अभी विवाह मत कर मैं तेरे इष्टपतिको तुझसे अवश्य मिला दूंगी' इस प्रकार आपकी भावी प्रियाको विश्वास दिलाकर वहांसे निकली और सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुंची । वहांकी वन्दना कर आई हूं, यदि माता भाई तथा अन्य बन्धुओंको देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो तो मेरे साथ पुण्डरीकिणी पुरीको चलो, यह सब सुनकर मैंने सुखावतीसे फिर कहा कि अच्छा, यह बतला तू इतनी बूढ़ी क्यों हो गई है ? कुमारके वचन सुनकर उस बुढियाने हँसते हँसते कहा कि क्या आप अपने शरीरमें आये हुए बुढ़ापेको नहीं जानते—आप भी तो बूढ़े हो रहे हैं । कुमारने अपने शरीरको बूढ़ा देखकर उससे पूछा कि 'तूने मेरा शरीर इस प्रकार बूढ़ा क्यों कर दिया है ।' कुमारकी यह बात सुनकर वह इस तरह कहने लगी कि जिनका कथन पहले कर आई हूं ऐसी पिप्पला और मदनवती नामकी दो कन्याएं हैं, उन्हें दो प्रसिद्ध

१ कम्बलः । २ कम्बलप्राप्तिमादि कृत्वेत्यर्थः । कम्बलप्राप्तिस्त-अ०, स०, ल० । ३ कम्बलवन्तं पुरुषम् । ४ पिप्पलाम् । ५ पिप्पलायाः । ६ मुद्रिकायाम् । ७ संस्मृती इ०, अ०, स०, प० । ८ काम-बाण । ९ सुखावती । १० भवद्देशान्तरगमनकथाम् । ११ विवाहो ल० । विदोषो अ०, स० । १२ अत्रा-गताहम् । १३ आगच्छ । १४ सुखावतीवचनमाकर्ण्य । १५ श्रीपालः । १६ कुमारवाचमाकर्ण्य इ०, अ०, स० । कुमारवचनाकर्ण्य ल० । १७ धूमवेगहरिवरभयात् । १८ पुण्डरीकिणीम् । १९ मम जरतीरूपम् भवतश्च वाढ्वंकथमिति द्वयम् ।

विगतक्षुब्धमः शीघ्रं ममारुह्य पुरं प्रति । व्रजेति सोऽपि तच्छ्रुत्वा स्त्रियो रूपमस्माकम्^१ ॥६२॥
न स्पृशामि कथं चाहम् आरोहामि पुरा^२ गुरोः । सन्निधावाददामीदृग्व्रतमित्यब्रवीद्विदम् ॥६३॥
सा तदाकर्ण्य सञ्चित्य किं जातमिति विद्यया । गृहीत्वा पुरुषाकारम् उद्वहन्ती^३ तमित्वरी^४ ॥६४॥
वन्दित्वा सिद्धकूटस्थं तत्र विश्रान्तये स्थिता । तस्मिन्नेव दिने भोगवती^५ शशिनमात्मनः ॥६५॥
प्रविश्य भवनं कान्त्या कलाभिश्चाभिवर्द्धितम् । निर्वर्त्तमानमालोक्य स्वप्नेऽमाङ्गल्यशान्तये ॥६६॥
तत्सिद्धकूटपूजार्थं कान्ता कान्तवती सती । रत्नवेगा सुवेगाऽमितमती रतिकान्तया ॥६७॥
सहिता चित्तवेगाख्या पिप्पला भवनावती । विद्युद्वेगा तथैवाभ्यास्ताभिः सा परिवारिता ॥६८॥
समागत्य महाभक्त्या परोत्य जिनमन्दिरम् । यथाविधि प्रणम्येशं सम्पूज्य स्तोत्रमुद्यता ॥६९॥
ताश्च तासां तदा व्याकुलीभावमपि चेतसः । तस्मिन् शिवकुमारस्य वक्त्राकान्तमाननम् ॥१००॥
'आदिष्टसन्निधानेन विलोक्य प्रकृतिं^६ गतम् । सुखावती तदुद्देशात्^७ अपनीय कुमारकम् ॥१०१॥
स्थानेऽयस्मिन्मन्त्रादेन^८ तत्राप्यम्बुनि^९ मुद्रया^{१०} । स्वरूपं कामरूपिण्या^{११} प्रेक्षमाणं यदुच्छ्रया ॥१०२॥
दृष्ट्वा^{१२} हरिवरस्तस्मात्प्रोत्वा कोपात् सपापभाक् । निचिक्षेप^{१३} महाकालगुहायां^{१४} विहितायकम् ॥१०३॥

विद्याधर चाहते हैं, एकका नाम धूमवेग है और दूसरेका नाम हरिवर । ये दोनों ही अत्यन्त बलवान् हैं, उन दोनोंके भयसे ही मैंने आपको छिपाकर नगरमें पहुँचानेके लिये विद्याके प्रभाव से मायामय दो रूप बनाये हैं । हे कुमार, मेरे हाथमें रखे हुए इस अमृतके समान स्वादिष्ट फलको खाकर आप अपनी भूख तथा थकावटको दूर कीजिये और मुझपर सवार होकर शीघ्र ही नगरकी ओर चलिये यह सुनकर कुमारने कहा कि मेरे सवार होनेके लिये स्त्रीका रूप अयोग्य है, मैं तो उसका स्पर्श भी नहीं करता हूँ, सवार कैसे होऊँ ? क्योंकि मैंने पहले गुरुके समीप ऐसा ही व्रत लिया है यह सुनकर उसने सोचा और कहा कि अब भी क्या हुआ ? वह विद्याके द्वारा उसी समय पुरुषका आकार धारण कर कुमारको बड़ी शीघ्रतासे ले चली । चलते चलते वह सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुँची और वन्दना कर विश्राम करनेके लिये वहीं बैठ गई । उसी दिन भोगवतीने स्वप्नमें देखा कि कान्ति और कलाओंसे बड़ा हुआ चन्द्रमा हमारे भवनमें प्रवेशकर लौट गया है इस स्वप्नको देखकर वह अमंगलकी शान्तिके लिये सिद्धकूट चैत्यालयमें पूजा करनेके लिये आई थी । वह सुन्दरी कान्तवती, सती रत्नवेगा, सुवेगा, अमितमती, रति-कान्ता, चित्तवेगा, पिप्पला, मदनावती, विद्युद्वेगा तथा और भी अनेक राजकन्याओंसे घिरी हुई थी । उन सभी कन्याओंने आकर बड़ी भक्तिसे जिन-मन्दिरकी प्रदक्षिणा दी, विधिपूर्वक नमस्कार किया, पूजा की और फिर सबकी सब स्तुति करनेके लिये उद्यत हुईं । स्तुति करते समय भी उनका चित्त व्याकुल हो रहा था । उसी चैत्यालयमें एक शिवकुमार नामका राज-पुत्र भी खड़ा था, उसका मुँह टेढ़ा था परन्तु श्रीपालकुमारके समीप आते ही वह ठीक हो गया, यह देखकर सुखावतीने उसे उसके स्थानसे हटाकर दूसरी जगह रख दिया । उस चैत्यालयमें श्रीपालकुमार अपनी कामरूपिणी मुद्रासे इच्छानुसार जलमें अपना खास रूप देख रहा था । उसे ऐसा करते पापी हरिवर विद्याधरने देख लिया और पूर्व जन्ममें पुण्य करनेवाले कुमारको

१ मम सम्बन्धस्त्रीरूपं मुक्त्वा अन्यस्त्रीरूपम् । २ पूर्वस्मिन् । ३ गुरोः समीपे । ४ स्वीकरोमि । ५ श्रीपालम् । ६ गमनशीला । ७ पुरा कुमारेण भुजङ्गीत्युक्ता भोगवती । ८ सहागताः कन्यकाः । ९ आदेशपुरुषसामीप्येन । १० पूर्वस्वरूपम् । ११ तत्प्रवेशात् । १२ स्थापयामास । १३ जले । १४ मुद्रिकया । १५ प्रेक्षमाणं इ० । १६ मदनावतीमैथुनः । १७ निक्षिप्तवान् । १८ कृतपुण्यं श्रीपालम् ।

वसंस्तत्र महाकालस्तं गृहीतुमुपागतः^१ । तस्य पुण्यप्रभावेन सोऽप्यकिञ्चित्करो गतः ॥१०४॥
 तत्र शय्यातले सुप्तवा शुचौ मृदुनि विस्तृते । परेद्युनिर्मतं^२ तस्याः^३ संप्रयुक्तैः परीक्षितुम् ॥१०५॥
 आदिष्टपुर्व्व भूयैर्ज्ञात्वाऽभ्येत्य निवेदितम् । गृहीत्वा स्थविराकारं कोपपावकदीपितः ॥१०६॥
 तं वीक्ष्य धूमवेगाद्यः^४ खगड्वन्त्रपुराद् बहिः । स्मशानमध्ये पाषाणनिशातविधिधायुधैः^५ ॥१०७॥
 'त्र्यगूह्यतानि' चास्यात् पतन्ति कुसुमानि वा । परोऽपि खेचरस्तत्र नरेऽतिबलाह्वयः ॥१०८॥
 स्वदेव्यां विव्रसेनायां भूयैः दुष्टतरैः सति । तं निहत्यादहस्तस्मिन्^६ धूमवेगो निधाय तम् ॥१०९॥
 कुसारं चागमत्तत्र महौषधजशक्तितः^७ । निराकृतज्वलद्वल्लिशक्तिस्तस्मात् स निर्गतः ॥११०॥
 हुतावुचरभार्यात्र काचिन्निरपराधकः । हलो नृपेण सद्भर्तृस्यस्य^८ शुद्धिप्रकाशिनी ॥१११॥
 तत्कुमारस्य संपर्क्षाभिश्चाकृतं सा हुताशनम् । विदित्वा प्राविशद् बृष्ट्वा कुमारस्तां सकौतुकः ॥११२॥
 अभ्रमपि वज्रेण स्त्रीणां भाग्याविनिमित्तम्^९ । कवचं दिविजेशा^{१०} च नीरन्ध्रमिति निर्भयः ॥११३॥
 स्थितस्तत्र स्मरन्नेवं लुता तत्रगरेशिनः । राज्ञो विमलसेनस्य वत्यन्तकमलाह्वया ॥११४॥
 कामग्रहाहिता तस्यास्तद्व्रहापजिहीर्षया^{११} । जने समुदिते^{१२} सद्यः कुमारस्तमपाहरत्^{१३} ॥११५॥

क्रोधसे उस स्थानसे ले जाकर महाकाल नामकी गुफामें गिरा दिया । उस गुफामें एक महा-
 काल नामका व्यन्तर रहता था वह उसे पकड़नेके लिये आया परन्तु कुमारके पुण्यके प्रभावसे
 अकिञ्चित्कर हो चला गया—उसका कुछ नहीं बिगाड़ सका । वह कुमार उस दिन उसी गुफामें
 पवित्र, कोमल और बड़ी शय्यापर सोकर दूसरे दिन वहांसे बाहिर निकला, यद्यपि उसने अपना
 बूढ़ेका रूप बना लिया था तथापि धूमवेगके द्वारा परीक्षाके लिये नियुक्त किये हुए पुरुषोंने
 उसे पहिचान लिया, स्वामीके पास जाकर उन्होंने सब खबर दी और पकड़कर श्रीपालकुमार-
 को सामने उपस्थित किया । क्रोधरूपी अग्निसे प्रज्वलित हुए धूमवेग विद्याधरने कुमारको
 देखकर आज्ञा दी कि इसे नगरके बाहिर श्मशानके बीच पत्थरपर घिसकर तेज किये हुए अनेक
 शस्त्रोंसे मार डालो । सेवक लोग मारने लगे परन्तु वे सब शस्त्र उसपर फूल होकर पड़ते
 थे । इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और लिखी जाती है जो इस प्रकार है—

उसी नगरमें एक अतिबल नामका दूसरा विद्याधर राजा रहता था ॥६८-१०८॥
 उसकी चित्रसेना नामकी रानीसे कोई दुष्ट नौकर फँस गया था, इसलिये राजा उसे मारकर
 जला रहा था । धूमवेग विद्याधर श्रीपालकुमारको उसी अग्निकुंडमें रखकर चला गया परन्तु
 कुमारकी महौषधिकी शक्तिसे वह अग्नि निस्तेज हो गई इसलिये वह उससे बाहर निकल आया ।
 उस मारकर जलाये हुए सेवककी स्त्रीको जब इस बातका पता चला कि कुमारके स्पर्शसे अग्नि
 शक्तिरहित हो गई है तब वह स्वयं उस अग्निमें घुस पड़ी और उससे निकलकर यह कहती
 हुई अपनी शुद्धि प्रकट करने लगी कि 'मेरा पति निरपराध था राजाने उसे व्यर्थ ही मार डाला
 है ।' कुमारको यह सब चरित्र देखकर बड़ा कौतुक हुआ, वह सोचने लगा कि 'स्त्रियोंकी मायासे
 वने हुए इस कवचको इन्द्र भी अपने वज्रसे नहीं भेद सकता है, यह छिद्ररहित है' इस प्रकार
 सोचता हुआ वह निर्भय होकर वहीं बैठा था । इधर उस नगरके स्वामी राजा विमलसेनकी पुत्री
 कमलावती कामरूप पिशाचसे आक्रान्त हो रही थी, उसके उस पिशाचको दूर करनेकी इच्छा
 से बहुत आदमी इकट्ठे हुए थे, श्रीपालकुमार भी वहां गया था और उसने उस पिशाचको दूर

१ मुक्षितुमित्यर्थः । २ गुहायाः सकाशात् । ३ संप्रयुक्तैः ब० । सुप्रयुक्तैः ल०, अ०, प० ।
 ४ पिप्पलायाः मैथुनः । ५ निश्चित । ६ निग्रहं चकार । ७ पाषाणायुधानि । ८ हत्वा । ९ चित्तान्नी ।
 १० पुरा स्मशाने हरिकेतोविद्यया निर्वान्तं पीत्वा जातमहौषधिशक्तितः । ११ स्वभर्तुः । १२ कपटमित्यर्थः ।
 १३ इन्द्रेण । १४ कामग्रहमहर्तुमिच्छया । १५ एकत्र मिलिते सति । १६ कामग्रहमपसारितवानित्यर्थः ।

सत्योऽभूत् प्राक्तनादेश इति तस्मै महीपतिः । तुष्ट्वा तां कन्यकां^१ 'दित्सुस्तस्या'^२ निच्छां^३ विबुध्य सः^४ ॥११६॥
 अभ्यर्णं बन्धुवर्गस्य नैयोऽयं भवता द्रुतम् । यत्नेनेत्यात्मजं स्वस्य वरसेनं समादिशत् ॥११७॥
 नीत्वा सोऽपि कुमारं तं विमलादिपुरो बहिः । वने तृष्णोपसन्तप्तं स्थापयित्वा गतोऽम्बुने^५ ॥११८॥
 तवा सुखावती कुब्जा भूत्वा कुसुममालया । परिस्पृश्य तृषां नीत्वा^६ कन्यकां तं^७ चकार सा ॥११९॥
 धूमवेगो हरिवरश्चैतां^८ वीक्ष्याभिलाषिणौ । अभूतां बद्धमात्सयौ^९ तस्याः स्वीकरणं प्रति ॥१२०॥
 द्वेषवन्तौ तदाऽऽलोक्य युवयोर्विप्रहो बृथा । पतिर्भवत्वसावस्या यमेवाऽभिलषिष्यति ॥१२१॥
 इति बन्धुजनैर्वार्यमाणौ वंराद् विरेमतुः । स्त्रीहेतोः कस्य वा न स्यात् प्रतिघातः^{१०} परस्परम् ॥१२२॥
 कन्याकृत्यैव^{११} गत्वाऽतः कान्तया स सुकान्तया । रतिकान्ताख्यया कान्तवत्या च सहितः पुनः ॥१२३॥
 स्थितं प्राक्तनरूपेण^{१२} काचित्तं वीक्ष्य लज्जिता । रतिं समागमत् काचिन्नैकभावा^{१३} हि योषितः ॥१२४॥
 प्रसुप्तवन्तं तं तत्र प्रत्यूषे च सुखावती । यत्नेनोद्धृत्य गच्छन्ती तेनोन्मीलितचक्षुषा ॥१२५॥
 विहाय मामिहेकाकिनं त्वं क्व प्रस्थितेति सा । पृष्ट्वा न क्वापि याताऽहं त्वत्समीपगता सदा ॥१२६॥
 आदिष्ट^{१४} वनितारत्नलाभो नैवात्र ते भयम् । इत्यन्तर्हित^{१५} माषाद्य स्वरूपेण समागमः^{१६} ॥१२७॥

कर दिया था । 'निमित्तज्ञानियोने जो पहले आदेश दिया था वह आज सत्य सिद्ध हुआ ।' यह देख राजाने संतुष्ट होकर वह पुत्री कुमारको देनी चाही परन्तु जब कुमारकी इच्छा न देखी तब उसने अपने पुत्र वरसेनको आज्ञा दी कि इन्हें शीघ्र ही बड़े यत्नके साथ इनके बन्धु वर्गके समीप भेज आओ ॥१०८-११७॥ वह वरसेन भी कुमारको लेकर चला और विमलपुर नामक नगरके बाहर प्याससे पीड़ित कुमारको बैठाकर पानी लेनेके लिये गया ॥११८॥ उसी समय कूबड़ीका रूप बनाकर सुखावती वहां आ गई, उसने अपने फूलोंकी मालाके स्पर्शसे कुमार की प्यास दूर कर दी और उसे कन्या बना दिया ॥११९॥ उस कन्याको देखकर धूमवेग और हरिवर दोनों ही उसकी इच्छा करने लगे । उसे स्वीकार करनेके लिये दोनों ईर्ष्यालु हो उठे और दोनों ही परस्पर द्वेष करने लगे । यह देखकर उनके भाई बन्धुओंने रोका और कहा कि 'तुम दोनोंका लड़ना व्यर्थ है इसका पति वही हो जिसे यह चाहे' इस प्रकार बन्धुजनोंके द्वारा रोके जानेपर वे दोनों बैरसे विरत हुए । देखो ! स्त्रीके कारण परस्पर किस किसका प्रेम भंग नहीं हो जाता है ? ॥१२०-१२२॥ उस कन्याने उन दोनोंमेंसे किसीको नहीं चाहा इसलिये सुखावती उसे कन्याके आकारमें ही वहां ले गई जहां कान्ता, सुकान्ता, रतिकान्ता और कान्तवती थी ॥१२३॥ पहलेके समान असली रूपमें बैठ हुए कुमारको देखकर कोई कन्या लज्जित हो गई और कोई प्रीति करने लगी सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके भाव अनेक प्रकारके होते हैं ॥१२४॥ श्रीपाल रातको वहीं सोया, सोते सोते ही सबेरके समय सुखावती बड़े प्रयत्नसे उठा ले चली, कुमारने आंख खुलनेपर उससे पूछा कि तू मुझे यहां अकेला छोड़कर कहां चली गई थी ? तब सुखावतीने कहा कि मैं कहीं नहीं गई थी, मैं सदा आपके पास ही रही हूं, यहां आपको स्त्रीरत्न प्राप्त होगा ऐसा निमित्तज्ञानीने बतलाया है, यहां आपको कोई भय नहीं है । आज तक मैं अपने रूपको छिपाये रहती थी परन्तु आज असली रूपमें आपसे मिल

१ दातुमिच्छुः । २ श्रीपालस्य । ३ कन्यकायामनभिलाषम् । ४ विमलसेनः । ५ जलाय । जलमानेतुमित्यर्थः । ६ गमयित्वा । अपसार्येत्यर्थः । ७ श्रीपालम् । ८ कृतकन्यकाम् । ९ प्रीतिघातः ल०, अ०, प०, स० । १० कन्यकाकारणैव । ११ पूर्वस्वरूपेण (निजकुमारस्वरूपेण) । १२ अनेकपरिणामाः । १३ आदिष्टो ल०, प०, इ० । १४ इत्यन्तर्हितरूपाद्य-ल० । अन्तर्हितमाच्छादितं यथा भवति तथा । १५ समागममित्यपि पाठः । समागतास्मि ।

इत्याह तद्वचः श्रुत्वा प्रमुद्यत्य^१ खगाचले । पुरं दक्षिणभागस्थं गजादि^२ तत्समीपगम् ॥१२८॥
 कञ्चिद् गजपतिं स्तम्भमुन्मूल्यालुढदर्पकम् । द्वात्रिंशदुक्तक्रीडाभिः क्रीडित्वा वशमानयत् ॥१२९॥
 ततः समुदिते^३ चण्डदोधितौ^४ निजिताद् गजात् । कुमारगमनं पौरा बुद्ध्वा संतुष्टचेतसः ॥१३०॥
 "प्रतिकेतनमुद्बद्धचलत्केतुपताकाकाः । प्रत्युद्गममकुर्वन्ते" तन्पुण्योदयचोदिताः ॥१३१॥
 ततो नभस्यस्तौ गच्छन् कञ्चिद्वयपुरे हयम् । स्थितं प्रदक्षिणीकृत्य त्वं^५ पश्यन्नात्तविस्मयः ॥१३२॥
 तत्रापि विदितादेशं नगरैः प्राप्तभूजः । पुनस्ततोऽपि निष्क्रम्य समागच्छन्निजेच्छया ॥१३३॥
 "चतुर्जनपदाभ्यन्तरस्थसीममहाचले" । जने महति सम्भूय^६ स्थिते केनापि हेतुना ॥१३४॥
 कस्यचित् कोशतः^७ खड्गं कस्मिंश्चिदपि यत्नतः । सत्यशक्ते समु खातुं तं^८ समुव्गीर्य^९ हेलया ॥१३५॥
 कुमारः प्रा^{१०} "हरद् वंशस्तम्बं" सम्भूतं^{११} वंशकम् । तदालोक्य जनः सर्वः प्रमोदादारवं^{१२} व्यधात् ॥१३६॥
 तत्र कश्चित् समागत्य मूकः समुपविष्टवान् । प्रप्रणम्य कुमारं तं जयशब्दपुरस्सरम् ॥१३७॥
 "कुण्डश्च कश्चिदङ्गुल्या प्रसारितकराङ्गुलिः । प्रज्जलि मुकुलीकृत्य समीपे समुपस्थितः ॥१३८॥
 यो वज्रमणिपाकाय समुद्यत्तस्तदा मुदा । तेषां पाके व्यलोकिष्ट कुमारं विनयेन सः ॥१३९॥

रही हूँ" ॥१२५-१२७॥ "उसके यह वचन सुनकर श्रीपाल बहुत ही हर्षित हुआ और वहांसे आगे चलकर विजयाधं पर्वतके दक्षिण भागमें स्थित गजपुर नगरके समीप जा पहुंचा ॥१२८॥ वहां कोई एक गजराज खंभा उखाड़कर मदोन्मत्त हो रहा था । उसे कुमारने शास्त्रोक्त बस्तीस क्रीड़ाओंसे क्रीड़ा कराकर वश किया ॥१२९॥ तदनन्तर सूर्योदय होते होते नगरके सब लोगों ने गजराजको जीत लेनेसे कुमारका आना जान लिया, सबने संतुष्ट चित्त होकर घर घर चञ्चल पताकाएं फहराईं और कुमारके पुण्योदयसे प्रेरित होकर सब लोगोंने उसकी अगवान्नी की ॥१३०-१३१॥ कुमार वहांसे भी आकाशमें चला, चलता चलता हयपुर नगरमें पहुंचा वहां एक घोड़ा कुमारकी प्रदक्षिणा देकर समीपही में खड़ा हो गया, कुमारने यह सब स्वयं देखा परन्तु उसे कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ ॥१३२॥ जब नगरनिवासियोंको इस बातका पता चला तब सबने कुमारका सत्कार किया, कुमार वहांसे भी निकल कर अपनी इच्छानुसार आगे चला ॥१३३॥ चलता चलता चार देशोंके बीचमें स्थित सुसीमा नामक पर्वतपर पहुंचा । वहां किसी कारण बहुतसे लोग इकट्ठे हो रहे थे, वे प्रयत्नकर म्यानसे तलवार निकाल रहे थे परन्तु उनमेंसे कोई भी उक्त कार्यके लिये समर्थ नहीं हो सका परन्तु कुमारने उसे लीला-मात्रमें निकाल दिया जिसमें बहुतसे बांस उलभे हुए खड़े थे ऐसे बांसके विड़ेपर उसे चलाया यह देखकर सब लोगोंने बड़े हर्षसे कुमारका आदर सत्कार किया ॥१३४-१३६॥ इतनेमें ही वहां एक गूंगा मनुष्य आया और जय जय शब्दका उच्चारण करता हुआ कुमारको प्रणाम कर बैठ गया ॥१३७॥ वहीं पर एक टेढ़ी अंगुलीका मनुष्य आया, कुमारको देखते ही उसकी अंगुली ठीक हो गई, उसने हाथकी अंगुली फैलाकर हाथ जोड़े और नमस्कार कर पास ही खड़ा हो गया ॥१३८॥ वहींपर एक मनुष्य हीराओंकी भस्म बना रहा था, वह बनती नहीं थी परन्तु कुमारके सन्निधानसे वह बन गई इसलिये उसने भी बड़ी विनयसे कुमारके दर्शन किये

१ सन्तुष्य । २ गजपुरम् । ३ उदयं गते सति । ४ सूर्ये । ५ प्रतिगृहम् । ६ सम्मुखगमनम् । ७ चक्रिरे । ८ श्रीपालपुण्य । ९ स्वयं पश्यन्नविस्मयः ल०, इ०, अ०, स० । १० चतुर्दशमध्यस्थितसीमाख्य-महागिरौ । ११ महागिरौ ट० । १२ मिलित्वा । १३ खड्गपिधानतः । १४ खड्गम् । १५ उत्खातं कृत्वा । १६ प्रहरति स्म । १७ वेणुगुलम् । १८ परिवेष्टितवेणुकम् । १९ --दादरं ल०, प० । २० कुण्डश्च अ०, स० । कुणिश्च ल० । विनालः ।

प्रागुक्तकरबालेशः पुरेऽभूत् विजया ह्वये । सोऽस्य^१ सेनापतिर्भावी भविष्यच्चक्रवर्तिनः ॥१४०॥
 तत्पुरे वर^२कीर्तीष्टकीर्तिमत्यात्मजापते^३ । खड्गोत्पादनमादेशस्तस्य श्रीपालचक्रिणः ॥१४१॥
 मूकः श्रेयः पुरे जातस्तस्य भावी पुरोहितः । शिवसेनमहीपालः श्रीमांस्तन्नगरेऽवरः ॥१४२॥
 वीतशोका ह्वया तस्य तनूजा वनजक्षणा । मूकभाषणमादेशः कुमारस्य तदापने^४ ॥१४३॥
 “कुण्डः शिल्पपुरोत्पन्नः स्थपतिस्तस्य भाष्यसी । नाम्ना नरपतिस्तत्पुरेशो नरपतेः सुता ॥१४४॥
 रत्याविबिमलासाद्धं तयैतस्य समागमः । अङ्गुलिप्रसरदेशात् स्मरव्यपदया^५ चिरम् ॥१४५॥
 स वज्रमणिपाकस्य^६ प्रधानपुरुषो^७ भवेत् । तस्य^८ धान्यपुरे^९ जातिविशालस्तत्पुराधिपः ॥१४६॥
 सुता विमलसेनास्य श्रीपालस्य तदाप्तये^{१०} । आदेशस्तस्य तद्वज्रमणिपाको महौजसः ॥१४७॥
 इत्यादेश^{११}वरं ज्ञात्वा सर्वं स्वं स्वं पुरं ययुः । तदा कुमारमूढवाऽयान्नभोभागे सुखावती ॥१४८॥
 धूमवेगो विलोक्पनं विद्विषो^{१२} भीषणारवः । अभितज्य^{१३} स्थितो रुध्वा खे खेटकयुतासिभूत् ॥१४९॥
 तदा^{१४} “पूर्वोदिताचार्या देवता याऽस्य^{१५} पालिका^{१६} । सा विद्याधररूपेण समुपेत्य सुखावतीम् ॥१५०॥

॥१३९॥ श्रीपालने जो तलवार म्यानसे निकाली थी उसका स्वामी विजयपुर नगरका रहने वाला था और होनहार इसी श्रीपाल चक्रवर्तीका भावी सेनापति था ॥१४०॥ उसी विजयपुर नगरके राजा वरकीर्तीष्टकी रानी कीर्तिमतीकी एक पुत्री थी, उसके वरके विषयमें निमित्तज्ञानियोंने बतलाया था कि इसका वर श्रीपाल चक्रवर्ती होगा और उसकी पहिचान म्यानमेंसे तलवार निकाल लेना होगी ॥१४१॥ वह गूंगा श्रेयस्पुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका भावी पुरोहित था, उसी श्रेयस्पुर नगरका स्वामी राजा शिवसेन था, उसके कमलके समान नेत्रवाली वीतशोका नामकी पुत्री थी उसके वरके विषयमें निमित्तज्ञानियोंने आदेश दिया था कि जिसके समागमसे यह गूंगा बोलने लगेगा, वही इसका वर होगा ॥१४२-१४३॥ जिसकी अंगुली टेढ़ी थी वह शिल्पपुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका होनहार स्थपति रत्न था । उसी शिल्पपुर के राजाका नाम नरपति था उसके रतिविमला नामकी पुत्री थी, निमित्तज्ञानियोंने बताया था कि जिसके देखनेसे इसकी टेढ़ी अंगुली फैलने लगेगी उसीके साथ कामक्रीड़ा करनेवाली इस कन्याका चिरकाल तक समागम रहेगा ॥१४४-१४५॥ जो हीराओंका भस्म बना रहा था वह इसका मंत्री होनेवाला था और धान्यपुर नगरमें पैदा हुआ था, उसी धान्यपुर नगरके राजाका नाम विशाल था उसकी एक विमलसेना नामकी कन्या थी, निमित्तज्ञानियोंने बतलाया था कि जिसके आनेपर हीराओंका भस्म बन जायगा वही महा तेजस्वी श्रीपाल इसका पति होगा ॥१४६-१४७॥ इस प्रकार निमित्तज्ञानियोंके आदेशानुसार उस पुरुषको पहिचान कर वे सब अपने अपने नगरको चले गये और उसी समय सुखावती श्री कुमारको लेकर आकाशमार्गसे चलने लगी ॥१४८॥ चलते चलते इसे धूमवेग शत्रु मिला, वह कुमारको देखकर भयंकर शब्द करने लगा, और डांट दिखाकर रास्ता रोक आकाशमें खड़ा हो गया, उस समय खेटक और तलवार दोनों शस्त्र उसके पास थे ॥१४९॥ उसी समय पहले कही

१ श्रीपालस्य । २ वरकीर्तिनृपतेः प्रियायाः कीर्तिमत्याः सुतायाः आपने परिणयने । ३ ‘पन व्यवहारे स्तुतौ च’ पुत्रीव्यवहारे त० टि० । -स्यात्मजापतेः इ० । जायते अ०, स०, ल० । ४ वीतशोकायाः परिणयने । ५ कुणिः ल० । ६ कामविशिष्टधर्मप्रदया अथवा कामविविधगमनप्रदया । ७ वज्रमणिपाकस्य ल०, ट० । वज्रमणिपाकी वज्ररत्नपाकवान् । अस्य श्रीपालस्य । ८ मन्त्रिमुख्यः । ९ वज्रमणिपाकिनः । १० उत्पत्तिः । ११ विमलसेनायाः प्राप्त्यै । १२ आदेशजामातरम् । -देशनरं ल०, प० । -देशान्तरं अ०, स० । १३ शत्रोर्भयलकरध्वनिः । तद्विषो भीषणारवम् इ०, अ०, स० । १४ पूर्वोक्तप्रमदवनस्थवटतरोरवस्थितप्रतिमायाम् । १५ श्रीपालस्य । १६ रक्षिका ।

मुक्त्वा कुमारमभ्येत्य विभीविद्याधराधमम् । नियुध्य विजयस्वेति निजगाव निराकुलम् ॥१५१॥
 साऽपि मुक्त्वा कुमारं तं धूमवेगं रणाङ्गणे । चिरं युध्वा स्वविद्याभिर्नरौत्सी^१च्छीयंशालिनी ॥१५२॥
 कुमारोऽपि समीपस्थशिलायां धरणीधरे । शनैः संप्रापतत्तस्य^२ देवश्री जननी पुरा ॥१५३॥
 यक्षीभूता तदागत्य संस्पृशन्ती करेण तम् । अपास्यास्य भ्रमं मङ्क्षु कुमार^३ प्रविश हृदम् ॥१५४॥
 जगादनमिति श्रुत्वा सोऽपि विश्वस्य तद्वचः । प्रविश्य तं^४ शिलास्तम्भस्योपरिस्थितवासिनि ॥१५५॥
 कुर्वन् पञ्चनमस्कारपदानां परिवर्तनम्^५ । प्रभाते तदुदग्भागे जिनेन्द्रप्रतिबिम्बकम् ॥१५६॥
 विलोक्य कृतपुष्पादिसम्पूजननमस्क्रियः । सहस्रपत्रमम्भोजं चक्ररत्नं सकूर्मकम् ॥१५७॥
 भ्रातृपत्रं सहस्रोऽपि फणं च फणिनां पतिम् । दण्डरत्नं समञ्जस्कं नर्कं चूडामहामणिम् ॥१५८॥
 चर्मरत्नं स्फुरद्रक्तवृश्चिकं काकिणीमणिम् । ईक्षाञ्चक्रे स पुण्यात्मा तत्र^६ यक्षमुपदेशतः ॥१५९॥
 तवा मुचितचित्तः सन् छत्रमुद्यम्य दण्डभृत् । प्रद्योतमानरत्नोपातत्को^७ यक्षीसमर्पितैः ॥१६०॥
 सर्वरत्नमयैर्दिव्यैर्भूषाभेदैर्विभूषितः । निर्जगाम गुहातोऽसौ तदवेत्य सुखावती ॥१६१॥
 धूमवेगं विनिर्जित्य प्रतिपद्वा^८ हिमद्युतिम्^९ । वृद्धैः कुमारभाषणा सकलाऽसितलान्विता^{१०} ॥१६२॥
 एतया^{११} सह गत्वातः सम्प्राप्तसुरभूधरम्^{१२} । गुणपालजिनाधीश सभामण्डलमाप्तवान् ॥१६३॥
 तत्र तं सुचिरं स्तुत्वा मनोवाक्कायशुद्धिभाक् । मातरं भ्रातरं चोचितोपचारो विलोक्य तौ ॥१६४॥

हुई प्रतिमापर जो इसकी रक्षा करनेवाली देवी रहती थी वह विद्याधरका रूप धारण कर आई और सुखावतीको छोड़कर कुमारको ले गई तथा सुखावतीसे कह गई कि तू निर्भय हो निराकुलतापूर्वक इस नीच विद्याधरसे लड़ना और इसे जीतना ॥१५०-१५१॥ शूरवीरता से शोभायमान रहनेवाली सुखावती भी कुमारको छोड़कर धूमवेगसे लड़ने लगी और रणके मैदानमें बहुत समय तक युद्धकर उसने उसे अपनी विद्याओं द्वारा रोक लिया ॥१५२॥ कुमार भी समीपवती पर्वतकी एक शिलापर धीरे धीरे जा पड़ा । वहां उसकी पूर्वभवकी माता देवश्री जो कि यक्षी हुई थी आई । उसने हाथसे स्पर्शकर श्रीपालका सब परिश्रम दूर कर दिया और कहा कि तू शीघ्र ही इस तालाबमें धुस जा । कुमार भी उसके वचनोंका विश्वास कर तालाबमें धुस गया और वहीं रातभर पत्थरके खंभेपर बैठा रहा ॥१५३-१५५॥ सबेरे पञ्च नमस्कार मंत्रका पाठ करता हुआ उठा, तालाबके उत्तरकी ओर श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा देखकर पुष्प आदि सामग्रीसे पूजन और नमस्कार किया । तदनन्तर उसी यक्षीके उपदेशसे उस पुण्यात्माने सहस्र पत्रवाले कमलकी चक्ररत्नरूप होते देखा, कछुवेकी छत्र होते देखा, बड़ी बड़ी हजार फणाओंकी धारण करनेवाले नागराजकी दण्डरत्न होते देखा, मेंडककी चूडामणि, मगरकी चर्मरत्न और देदीप्यमान लाल रंगके विच्छूकी काकिणी मणि रूप होते देखा ॥१५६-१५९॥ उस समय उसने प्रसन्नचित्त होकर छत्र धारण किया, दण्ड उठाया, चमकीले रत्नोंके जूते पहिने और फिर वह यक्षीके द्वारा दिये हुए मणिमय दिव्य आभूषणोंसे सुशोभित होकर गुहासे बाहर निकला । उसी समय जिस प्रकार चन्द्रमाकी वृद्धिके लिये शुक्लपक्षकी प्रतिपदा आती है उसी प्रकार धूमवेगकी जीतकर तलवार लिये हुए चतुर सुखावती कुमारकी वृद्धिके लिये उसके पास आ पहुँची । श्रीपाल यहांसे उसके साथ साथ चला और चलता चलता सुरगिरि पर्वतपर गुणपाल जिनेन्द्रके समवसरणमें जा पहुँचा ॥१६०-१६३॥ वहां मन,

१ हरोध । २ सम्प्राप्तः । ३ श्रीपालस्य । ४ कुमारं ल० । ५ हृदम् । ६ मुहुर्मुहुरनुचित्तनम् । ७ हृदस्योत्तरदिग्भागे । ८ चूडामणि तथा ल०, प०, अ०, स०, इ० । ९ हृदे । वक्त्राण्येव रूपाणि सहस्रपत्राम्भोजादीनि ईक्षाञ्चक्रे इति सम्बन्धः । १० मणिमयपादत्राणः । ११ गुहायाः सकाशात् । १२ प्रतिपद्दिनश्रीरिव । १३ चन्द्रम् । १४ चन्द्रकलान्विताः । १५ सुखावत्या । १६ सुरगिरिनामगिरिम् ।

‘तवाशीर्वादसन्तुष्टः संविष्टो मातृसन्निधौ । सुखावतीप्रभावेण युष्मदन्तिकमाप्तवान् ॥१६५॥
 क्षमेणेति तयोरप्ये प्राशंसतां^१ नृपानुजः^२ । सतां स सहजो भावो यत्स्तुवन्त्युपकारिणः ॥१६६॥
 वसुपालमहीपालप्रशनाद् भगवतोदितः । स्थित्वा विद्याधरश्रेण्यां बहुलम्भान्^३ समापिवान्^४ ॥१६७॥
 ततः^५ सप्तदिनेरेव सुखेन प्राविशत् पुरम्^६ । सञ्चितोजितपुण्यानां भवेदापच्च सम्पदे ॥१६८॥
 वसुपालकुमारस्य वारिषेणादिभिः समम् । कन्याभिरभवत् कल्याणविधिर्विधिविध्वंसकः ॥१६९॥
 स श्रीपालकुमारश्च जयावत्यादिभिः कृतौ । तदा चतुरशीतीष्टः^७ कन्याकाभिरलङ्कृतः ॥१७०॥
 सूर्याचन्द्रमसौ वा तौ स्वप्रभाव्याप्तद्विक्ता^८ । पालयन्तौ धराक्षकं चिरं निर्विशतः स्म शम्^९ ॥१७१॥
 जयावत्यां सन्त्युपशो गुणपालो गुणोज्ज्वलः । श्रीपालस्यायुधगारे चक्रं च समजायत ॥१७२॥
 स सर्वशक्तिश्रुत्युक्तभोगाननुभवन् भृशम् । शकुलीनां^{१०} व्यडम्बिष्ठ लक्ष्म्या^{११} लक्षितविग्रहः ॥१७३॥
 श्रभूजजयावतीभ्रातुस्तनूजा जयवर्मणः । जयसेनाह्वया कान्तेस्ता^{१२} सेनेव^{१३} विजित्वरी^{१४} ॥१७४॥
 मनोवेगोऽशनिवरः शिवाल्पोऽशनिवेगवाक् । हरिकेतुः परे जोच्चैः क्षमाभुजः खगनायकाः ॥१७५॥
 ‘जयसेनाख्यबुध्वाभिस्तेषां^{१५} तुग्भिः^{१६} सहाभवत् । विवाहो गुणपालस्य सताभिः प्राप्तसम्मदः ॥१७६॥

वचन, कायकी शुद्धि धारण करनेवाले श्रीपालने बहुत देरतक गुणपाल जिनेन्द्रकी स्तुति की, माता और भाईको देखकर उनका योग्य विनय किया और फिर उन दोनोंके आशीर्वादसे संतुष्ट होकर वह माताके पास बैठ गया । उसने माता और भाईके सामने यह कहकर सुखावतीकी प्रशंसा की कि मैं इसके प्रभावसे ही कुशलतापूर्वक आपलोगोंके समीप आ सका हूँ सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुषोंका जन्मसे ही ऐसा स्वभाव होता है कि जिससे वे उपकार करने-वालोंकी स्तुति किया करते हैं ॥१६४-१६६॥ महाराज वसुपालके प्रश्नके उत्तरमें भगवान् ने जैसा कुछ कहा था उसीके अनुसार उस श्रीपालने विद्याधरोंकी श्रेणीमें रहकर अनेक लाभ प्राप्त किये थे ॥१६७॥ तदनन्तर वह सात दिनमें ही सुखसे अपने नगरमें प्रविष्ट हो गया सो ठीक ही है क्योंकि प्रबल पुण्यका संचय करनेवाले पुरुषोंको आपत्तियां भी सम्पत्तिके लिये हो जाती हैं ॥१६८॥

नगरमें जाकर वसुपाल कुमारका वारिषेणा आदि कन्याओंके साथ विवाहोत्सव हुआ, वह विवाहोत्सव अनेक प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त था ॥१६९॥ उसी समय चतुर श्रीपाल कुमार भी जयावती आदि चौरासी इष्ट कन्याओंसे अलङ्कृत-सुशोभित हुए ॥१७०॥ अपनी कान्तिसे दिग्दिगन्तको व्याप्त करनेवाले सूर्य और चन्द्रमाके समान पृथिवीका पालन करते हुए दोनों भाई चिरकाल तक सुखका उपभोग करते रहे ॥१७१॥ कुछ दिन बाद श्रीपालकी जयावती रानीके गुणोंसे उज्ज्वल गुणपाल-नामका पुत्र उत्पन्न हुआ और इधर आयुधशालामें चक्ररत्न प्रकट हुआ ॥१७२॥ जिसका शरीर लक्ष्मीसे सुशोभित हो रहा है ऐसा वह श्रीपाल चक्रवर्तीके कहे हुए सब भोगोंका अत्यन्त अनुभव करता हुआ इन्द्रकी लीलाको भी उल्लंघन कर रहा था ॥१७३॥ जयावतीके भाई जयवर्माके जयसेना नामकी पुत्री थी जो अपनी कान्ति से सेनाके समान सबको जीतनेवाली थी ॥१७४॥ इसके सिवाय मनोवेग, अशनिवर, शिव, अशनिवेग, हरिकेतु तथा और भी अनेक अच्छे अच्छे विद्याधर राजा थे, जयसेनाको आदि लेकर

१ कुबेरश्रीवसुपालयोराशीर्वचन । २ सुखावत्याः सामर्थ्येन । ३ स्तौति स्म । ४ श्रीपालः । ५ कन्यादिप्राप्तिः । ६ प्राप्तः सन् । ७ सप्तदिनानन्तरमेव । ८ आत्मीयपुण्डरीकिणीपुरम् । ९ बटवृक्षाधो नृत्यसम्बन्धिनी । १० प्रियतरुणीभिः, पट्टार्हाभिरित्यर्थः । ११ सुखमन्वभूताम् । १२ तिरस्करोति स्म । व्यलङ्घयिष्ठ ल० । १३ लक्ष्म्यालिङ्गित भ० स० । लक्ष्मीलक्षित प०, ल० । १४ कान्त्या इ०, प०, अ०, स०, ल० । १५ चमूरिव । १६ जयशीला । १७ जयसेनादिप्रधानाभिः । १८ मनोवेगादीनाम् । १९ पुत्रीभिः ।

कदाचित् काललब्ध्यादिचोदितोऽभ्यर्णनिर्वृतिः । विलोकयन्नभोभागम् अकस्मादन्धकारितम् ॥१७७॥
 चन्द्रग्रहणसालोक्य धिर्गतं^१ स्यापि चेदियम् । अवस्था संसृतौ पापग्रस्तस्यान्यस्य का गतिः ॥१७८॥
 इति निर्विद्य सञ्जातजातिस्मृतिरुदात्तधीः^२ । स्वपूर्वभवसम्बन्धं प्रत्यक्षमिव संस्मर ॥१७९॥
 पुष्कराद्वे^३ऽपरे भागे विदेहे पद्मकाह्वये । विषये विश्रुते कान्त पुराधीशोऽवनीश्वरः ॥१८०॥
 रथान्तकनकस्तस्थ वल्लभा कनकप्रभा । तयोर्भूत्वा^४ प्रभापास्तभास्करः कनकप्रभः ॥१८१॥
 तस्मिन्नप्येद्युश्चाने दष्टा सपेण सत्प्रिया । विद्युत्प्रभाह्वया तस्या वियोगेन विषण्णवान् ॥१८२॥
 सार्धं समाधिगुप्तस्य समीपे संयमं परम् । सम्प्राप्तवानतिस्निग्धः पितृमातृसनाभिभिः ॥१८३॥
 तत्र सम्यक्त्वशुद्ध्यादिवोडश प्रत्ययान्^५ भृशम् । भावयित्वा भवस्यान्ते^६ जयन्ताख्यविमानजः^७ ॥१८४॥
 प्रान्ते^८ ततोऽहमागत्य जातोऽत्रैवमिति स्फुटम्^९ । समुद्रदत्तेनादित्य^{१०} गतिर्वायुरथा ह्वयः^{११} ॥१८५॥
 श्रेष्ठी कुबेरकान्तश्च लौकान्तिकपदं गताः । बोधितस्तेः^{१२} समागत्य गुणपालः प्रबुद्धवान् ॥१८६॥
 मोहपाशं समुच्छिद्य तप्तवांश्च तपस्ततः । घातिकर्माणि निर्मूल्य सयोगिपदभागम् ॥१८७॥
 यशःपालः सुखावत्यास्तनूजस्तेन संयमम् । गृहीत्वा सह तस्यैव गणभृत्प्रथमोऽभवत् ॥१८८॥

उन सब राजाओंकी पुत्रियोंके साथ गुणपालका विवाह हुआ । इस प्रकार वह गुणपाल उन कन्याओंके मिलनेसे बहुत ही हर्षित हुआ ॥१७५-१७६॥

अथानन्तर—किसी समय जिसका मोक्ष जाना अत्यन्त निकट रह गया है ऐसा गुणपाल काललब्धि आदिसे प्रेरित होकर आकाशकी ओर देख रहा था कि इतनेमें उसकी दृष्टि अकस्मात् अन्धकारसे भरे हुए चन्द्रग्रहणकी ओर पड़ी, उसे देखकर वह सोचने लगा कि इस संसारको धिक्कार हो, जब इस चन्द्रमाकी भी यह दशा है तब संसारके अन्य पापग्रसित जीवोंकी क्या दशा होती होगी ? इस प्रकार वैराग्य आते ही उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले गुणपालको जाति स्मरण उत्पन्न हो गया जिससे उसे अपने पूर्वभवके सम्बन्धका प्रत्यक्षकी तरह स्मरण होने लगा ॥१७७-१७९॥ उसे स्मरण हुआ कि पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम विदेहमें पद्मक नामका एक प्रसिद्ध देश है, उसके कान्तपुर नगरका स्वामी राजा कनकरथ था । उसकी रानीका नाम कनकप्रभा था, उन दोनोंके मैं अपनी प्रभासे सूर्यको तिरस्कृत करनेवाला कनकप्रभ नामका पुत्र हुआ था । किसी दिन एक बगीचेमें विद्युत्प्रभा नामकी मेरी स्त्रीको सांपने काट खाया, उसके वियोगसे मैं विरक्त हुआ और अपने ऊपर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले पिता माता तथा भाइयोंके साथ साथ मैंने समाधिगुप्त मुनिराजके समीप उत्कृष्ट संयम धारण किया था ॥१८०-१८३॥ वहां मैं दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका अच्छी तरह चिन्तन कर आयुके अन्तमें जयन्त नामके विमानमें अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ था ॥१८४॥ और अन्तमें वहांसे चयकर यहां श्रीपालका पुत्र गुणपाल हुआ हूं । वह इस प्रकार विचार ही रहा था कि इतनेमें ही *समुद्रदत्त, †आदित्यगति, ‡वायुरथ और §सेठ कुबेरकान्त जो कि तपश्चरण कर लौकान्तिक देव हुए थे उन्होंने आकर समझाया । इस प्रकार प्रबोधको प्राप्त हुए गुणपाल मोहजालको नष्ट कर तपश्चरण करने लगे और घातिया कर्मोंको नष्ट कर सयोगिपद—तेरहवें गुण स्थानको प्राप्त हुए ॥१८५-१८७॥ सुखावतीका पुत्र यशपाल भी उन्हीं गुणपाल जिनेन्द्रके पास दीक्षा धारण कर

१ चन्द्रस्य । २ -स्वदारीः अ०, स०, ल० । ३ कान्त्या निराकृत । ४ कारणानि । ५ आयुषस्यान्ते । ६ अहमिन्द्रः । ७ स्वर्गायुरन्ते । ८ स्वर्गात् । ९ पूर्वभवसम्बन्धं प्रत्यक्षमिव संस्मरन्निति सम्बन्धः । १० प्रियकान्तायाः जनकेन सह । ११ हिरण्यवर्मणो जनकः । १२ प्रभावन्त्याः पिता । १३ उक्तलौकान्तिकामरैः ।

* प्रियदत्ताका पिता, † हिरण्यवर्माका पिता, ‡ प्रभावतीका पिता, § कुबेरमित्रका पिता ।

राजराजस्तदा भूरिबिभूत्याऽभ्येत्य तं मुदा । श्रीपालः पूजयित्वा तु श्रुत्वा धर्मं द्वयात्मकम् ॥१८६॥
ततः स्वभावसम्बन्धम् अप्राप्नोत् प्रश्रयाभयः । भगवांश्चेत्युवाचेति कुरुराजं सुलोचना ॥१८७॥
निवेदितवती पूष्टा मूष्टवाक्सौष्ठवान्विता । विदेहे पुण्डरीकिण्यां यशःपालो महीपतिः ॥१८८॥
तत्र सर्वसमृद्धाण्यो वणिक् तस्य मनःप्रिया । धनञ्जयानुजाताऽसौ धनश्रीर्धनवर्द्धिनी ॥१८९॥
तयोस्तुक् सर्वदयितः श्रेष्ठी तद्भगिनी सती । संज्ञया सर्वदयिता श्रेष्ठिनश्चित्तवल्लभे ॥१९०॥
सुता सागरसेनस्य जयसेना समाह्वया । धनञ्जयवणीशस्य जयदत्ताभिधाऽपरा ॥१९१॥
देवश्रीरनुजा श्रेष्ठिपितुस्तस्यां तनूद्भवौ । जातौ सागरसेनस्य सागरो दत्तवाक्परा ॥१९२॥
ततः समुद्रदत्तश्च सह सागरवत्तया । सुतौ सागरसेनानुजायां जातमहोदयौ ॥१९३॥
जातौ सागरसेनायां दत्तौ वैश्रवणादिवाक् । दत्ता वैश्रवणादिश्च दायदः श्रेष्ठिनः स तु ॥१९४॥
भार्या सागरदत्तस्य दत्ता वैश्रवणादिका । सती समुद्रदत्तस्य सा सर्वदयिता प्रिया ॥१९५॥
सा वैश्रवणदत्तेष्टा दत्तान्ता सागराह्वया । तेषां सुखं सुखेनैव काले गच्छति सन्ततम् ॥१९६॥
यशःपालमहीपालमार्जितमहाधनः । वणिग्धनञ्जयोऽन्येद्युः सद्गतेर्दर्शनीकृतैः ॥१९७॥

उन्हींका पहला गणधर हुआ ॥१८८॥ उसी समय राजाधिराज श्रीपालने बड़ी विभूतिके साथ आकर गुणपाल तीर्थकरकी पूजा की और गृहस्थ तथा मुनि सम्बन्धी—दोनों प्रकारका धर्म सुना । तदनन्तर बड़ी विनयके साथ अपने पूर्वभवका संबंध पूछा, तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे—यह सब बातें मधुर वचन बोलनेवाली सुन्दरी सुलोचना महाराज जयकुमारके पूछनेपर उनसे कह रही थी । उसने कहा कि—

विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें यशपाल नामका राजा रहता था ॥१८९—१९१॥ उसी नगरमें सर्वसमृद्ध नामका एक वैश्य रहता था । उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था जो कि धनको बढ़ानेवाली थी और धनञ्जयकी छोटी बहिन थी । उन दोनोंका पुत्र सर्वदयित सेठ था, उसकी बहिनका नाम सर्वदयिता था जो कि बड़ी ही सती थी । सेठ सर्वदयितकी दो स्त्रियां थीं, एक तो सागरसेनकी पुत्री जयसेना और दूसरी धनञ्जय सेठकी पुत्री जयदत्ता ॥१९२—१९४॥ सेठ सर्वदयितके पिताकी एक छोटी बहिन थी जिसका नाम देवश्री था और वह सेठ सागरसेनको व्याही थी । उसके सागरदत्त और समुद्रदत्त नामके दो पुत्र थे तथा सागरदत्ता नामकी एक पुत्री थी । सागरसेनकी छोटी बहिन सागरसेनाके दो संतानें हुई थीं—एक वैश्रवणदत्ता नामकी पुत्री और दूसरा वैश्रवणदत्त नामका पुत्र । वैश्रवणदत्त सेठ सर्वदयितका हिस्सेदार था ॥१९५—१९७॥ वैश्रवणदत्ता सेठ सागरदत्तकी स्त्री हुई थी, सेठ समुद्रदत्तकी स्त्रीका नाम सर्वदयिता था और सागरदत्ता सेठ वैश्रवणदत्तको व्याही गई थी । इस प्रकार उन सबका समय निरन्तर बड़े प्रेमसे व्यतीत हो रहा था ॥१९८—१९९॥ जिसने बहुत धन उपार्जन किया है ऐसे सेठ धनञ्जयने किसी दिन अच्छे अच्छे रत्न भेंट देकर राजा यशपालके दर्शन किये

१ गुणपालकेवलिनम् । २ जयकुमारम् । ३ भगिनी । ४ पुत्रः । ५ राजश्रेष्ठी । ६ धनञ्जय-
नामवैश्यस्य । ७ द्वितीया । ८ सर्वदयितश्रेष्ठिजनकसर्वसमृद्धस्य । ९ पुत्री । १० देवश्रियोर्भर्तुर्भगिन्याम् ।
११ सर्वसमृद्धस्य भार्यायाम् । १२ दत्ता अ०, प०, इ०, स०, ल० । १३ दत्तो ल०, प०, इ०, अ०,
स० । १४ ज्ञातिः । १५ सर्वदयितश्रेष्ठिनः । १६ वैश्रवणदत्तः । १७ सागरसेनस्य ज्येष्ठपुत्रस्य । १८ वैश्रव-
णदत्ता । भार्याभूदिति सम्बन्धः । १९ सागरसेनस्य कनिष्ठपुत्रस्य । २० सर्वदयितश्रेष्ठिनो भगिनीप्रिया ।
भार्या जातेति सम्बन्धः । २१ समुद्रदत्तस्यानुजा सागरदत्ताह्वया । वैश्रवणदत्तस्येष्टा बभूवेति सम्बन्धः ।
२२ समुद्रादीनाम् । २३ अकृच्छ्रण, अत्यन्तसुखेनेत्यर्थः । २४ आनीत । २५ उपायनीकृतैः ।

व्यलोकितं स भूयोऽपि तस्मै^१ सन्मानपूर्वकम् । प्रीत्या धनं हिरण्यादि प्रभूतमदितोचितम्^२ ॥२०१॥
 विलोक्य^३ तं वणिक्पुत्राः सर्वेऽपि धनमार्जितुम्^४ । ग्रामे पुरोपकण्ठस्थे सम्भूय विनिवेशिरे ॥२०२॥
 तन्निवेशादयः^५ श्रेष्ठः स^६ समुद्रादिदत्तकः । रात्री स्वगृहमागत्य भार्यासम्पर्कपूर्वकम् ॥२०३॥
 केनाप्यविदितो रात्रावेव^७ सार्थमुपागतः । काले गर्भं विदित्वाऽस्थाः^८ पापी^९ दुश्चरितोऽभवत्^{१०} ॥२०४॥
 इति सागरदत्ताख्यस्तथा^{११} भर्तृसमागमम्^{१२} । बोधितोऽप्यपरीक्ष्यासौ स्वगेहात्ता^{१३} मपाकरोत्^{१४} ॥२०५॥
 ततः श्रेष्ठिगृह^{१५} याता तेनापि वं दुराचरा^{१६} । नास्मद्गृहं समागच्छेत्तज्ज्ञानात् सा निवारिता ॥२०६॥
 समीपवर्तिन्येकस्मिन् केतने^{१७} विहितस्थितिः । नवमासावधौ पुत्रम् अलब्धानल्पपुण्यकम् ॥२०७॥
 तद्विदित्वा कुलस्थेव^{१८} समुपन्नः पराभवः । यत्र^{१९} क्वचन नीत्वेनं^{२०} निक्षिपेत्पुत्रो जीविकः^{२१} ॥२०८॥
 प्रत्येयः^{२२} श्रेष्ठिना प्रोक्तः श्रेष्ठिमित्रस्य बुद्धिमान् । स्मशाने साधितुं विद्याम् आगतस्य खयायिनः^{२३} ॥
 बालं समर्पयामास विचित्रो दुरितोदयः । खगोऽसौ जयधामाख्यो जयभामास्य बलभा ॥२१०॥
 तौ^{२४} भोगपुरवास्तव्यौ^{२५} जितशत्रुसमाह्वयम्^{२६} । कृत्वा वर्धयतां^{२७} पुत्रमिव मत्त्वोरसं मुदा ॥२११॥

राजाने भी उसका सन्मान किया और बड़े प्रेमसे उसके लिये यथायोग्य बहुत सा सुवर्ण आदि धन वापिस दिया ॥२००-२०१॥ यह देखकर सब वैश्यपुत्र धन कमानेके लिये बाहिर निकले और सब मिलकर नगरके समीप ही एक गांवमें जाकर ठहर गये ॥२०२॥ दूसरे दिन समुद्र-दत्त रात्रिमें उन डेरोंसे अपने घर आया और अपनी स्त्रीसे संभोग कर किसीके जाने बिना ही रात्रिमें ही अपने भूण्डमें जा मिला । इधर समयानुसार उसका गर्भ बढ़ने लगा । जब इस बात का पता समुद्रदत्तके बड़े भाई सागरदत्तको चला तब उसने समझा कि यह अवश्य ही इसका पापरूप दुराचरण है । समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने पतिके साथ समागम होनेका सब समा-चार यद्यपि बतलाया तथापि उसने परीक्षा किये बिना ही उसे घरसे निकाल दिया ॥२०३-२०५॥ तब सर्वदयिता अपने भाई सेठ सर्वदयितके घर गई परन्तु उसने भी अज्ञानतासे यही कहकर उसे भीतर जानेसे रोक दिया कि 'तू दुराचारिणी' है, मेरे घरमें मत आ' ॥२०६॥ तदनन्तर वह पासके ही एक दूसरे घरमें रहने लगी, नौ महीनेकी अवधि पूर्ण होनेपर उसने एक अतिशय पुण्यवान् पुत्र प्राप्त किया ॥२०७॥ जब सेठ सर्वदयितको यह खबर लगी तो उसने समझा यह पुत्र क्या ? हमारे कुलका कलंक उत्पन्न हुआ है, इसलिये उसने एक नौकर-को यह कहकर भेजा कि 'इसे ले जाकर किसी दूसरी जगह रख आ' । वह सेवक बुद्धिमान् था और सेठका विश्वासपात्र भी था, वह बालकको ले गया और सेठके एक विद्याधर मित्रको जो कि विद्या सिद्ध करनेके लिये स्मशानमें आया था, सौंप आया सो ठीक ही है क्योंकि पापका उदय बड़ा विचित्र होता है । सेठके उस मित्रका नाम जयधाम था और उसकी स्त्रीका नाम जयभामा था । वे दोनों भोगपुरके रहनेवाले थे उन्होंने उस पुत्रका नाम जितशत्रु रक्खा और उसे औरस पुत्रके समान मानकर वे बड़ी प्रसन्नतासे उसका पालन-पोषण करने लगे ॥२०८-

१ ददर्श । २ धनञ्जयाय । ३ ददौ । ४ धनञ्जयं राजा पूजितोऽयं दृष्ट्वा । ५ -मर्जितुम् ल० । ६ तच्छिविरात् । ७ देवश्रीसागरसेनयोः पुत्रः समुद्रदत्तः । ८ शिविरम् । ९ सर्वदत्तायाः । १० अशो-भनव्यवहारः । ११ दुर्वृत्तः कश्चिज्जारोऽभवदिति । १२ सर्वदयितया । १३ निजपुरुषाभिमनम् । १४ मम भर्ता शिविरादागत्य मया सह सम्पर्कं कृतवानिति निवेदितोऽपि । १५ सर्वदयिताम् । १६ निष्कसितवान् । १७ निजाग्रसर्वदयितश्रेष्ठिगृहम् । १८ दुष्टमाचरति स्म । १९ नास्मद्गृहं ल०, अ०, प०, स०, इ० । २० गृहे । २१ शिशुः । २२ यत्र कुत्रापि । २३ स्थापय । २४ भृत्यः । २५ विश्वास्यः । २६ विद्या-धरस्य । २७ जयधामजयभामेति द्वौ । २८ भोगपुरनिवासिनौ । २९ शिशोर्जितशत्रुरित्याख्यां कृत्वा । ३० वर्धयतः स्म ।

तदा पुत्रवियोगेन सा सर्वदयिताऽचिरात् । स्त्रीवेदनिन्दनान्मृत्वा सम्प्रापज्जन्म पौरुषम् ॥२१२॥
ततः समुद्रदत्तोऽपि सार्धनामा^१ समागतः । श्रुत्वा स्वभार्यावृत्तान्तं निन्दित्वा भ्रातरं निजम् ॥२१३॥
‘श्रेष्ठिनेऽनपराधाय गृहवेशनिवारणात् । अकुप्यभितरां कृत्यं कः सहेताविचारितम् ॥२१४॥
ज्वेष्टे न्यायगतं योग्ये मयि स्थितवति स्वयम् । श्रेष्ठित्वमयमध्यास्त इति श्रेष्ठिनि^२ कोपवान् ॥२१५॥
वै वैश्रवणदत्तोऽपि स सागरदत्तकः^३ । सार्द्धं समुद्रदत्तेन मात्सर्याच्छ्रेष्ठिनि^४ स्थिताः ॥२१६॥
दुस्तहे तपसि श्रेयो मत्सरोऽपि क्वचित् नृणाम् । अन्येष्वुजितशत्रुं तं दृष्ट्वा श्रेष्ठी कुतो भवान् ॥२१७॥
‘समुद्रदत्तसारूप्यं दधत्संसद’मागतः । इति पप्रच्छ सोऽप्यात्मागमनक्रममब्रवीत् ॥२१८॥
नान्यो मद्भागिनेयोऽयमिति तद्वस्तुसंस्थिताम् । मुद्रिकां वीक्ष्य निश्चित्य तिःपरीक्षकतां^५ निजाम् ॥
मैथुनस्य^६ च संस्मृत्य तस्मै^७ सर्वश्रियं सुताम् । धनं श्रेष्ठिपदं चासौ^८ दत्त्वा निविण्णमानसः ॥२२०॥
जयधामा^९ जयभामा जयसेना^{१०} तथाऽपरा । जयदत्ताभिधानां च परा सागरदत्तिका^{११} ॥२२१॥
सा वैश्रवणदत्ता^{१२} च परे चोत्पन्नबोधकाः । संजातास्तैः सह श्रेष्ठी संयमं प्रत्यपद्यत ॥२२२॥
मुनि रतिवरं प्राप्य चिरं विहितसंयमाः । एते सर्वेऽपि कालान्ते स्वर्गलोकं समागमन् ॥२२३॥

२११॥ सर्वदयिताने पुत्रके वियोगसे बहुत दिततक स्त्रीवेदकी निन्दा की और मरकर पुरुष-
का जन्म पाया ॥२१२॥ तदनन्तर समुद्रदत्त भी अपने भुण्डके साथ वापिस आ गया और
अपनी स्त्रीका वृत्तान्त सुनकर अपने भाईकी निन्दा करने लगा । सेठने अपराधके बिना ही
उसकी स्त्रीको घरमें प्रवेश करनेसे रोका था इसलिये वह सेठपर अत्यन्त क्रोध करता रहता
था सो ठीक ही है क्योंकि जो कार्य बिना विचारे किया जाता है उसे भला कौन सहन कर
सकता है ? ॥२१३-२१४॥ कुछ दिन बाद वैश्रवण सेठ सागरदत्तसे यह कहकर क्रोध
करने लगा कि ‘जब मैं बड़ा हूँ, और योग्य हूँ तो न्यायसे मुझे सेठ पद मिलना चाहिये, मेरे रहते
हुए यह सेठ क्यों बन बैठा है’ । इसी प्रकार सागरदत्त और समुद्रदत्त भी सेठक साथ ईर्ष्या
करने लगे ॥२१५-२१६॥ आचार्य कहते हैं कि कठिन तपश्चरणके विषयमें की हुई मनुष्यों
की ईर्ष्या भी कहीं कहीं अच्छी होती है परन्तु अन्य सब जगह अच्छी नहीं होती । किसी एक
दिन सेठ सर्वदयितने जितशत्रुसे पूछा कि तू समुद्रदत्तकी समानता क्यों धारण कर रहा है—
तेरा रूप उसके समान क्यों है ? और तू सभामें किसलिये आया है ? तब जितशत्रुने भी
अनुक्रमसे अपने आनेका सब समाचार कह दिया ॥२१७-२१८॥ उसी समय सेठकी दृष्टि
उसके हाथमें पहिनी हुई अंगूठीपर पड़ी, उसे देखकर उसने निश्चय कर लिया कि ‘यह मेरा
भानजा ही है, दूसरा कोई नहीं है’ । उसे अपनी और अपने बहनोंकी अपरीक्षकता (बिना
विचारे कार्य करने) की याद आ गई और उसे सर्वश्री नामकी पुत्री, बहुत सा धन और सेठका पद
देकर स्वयं विरक्तचित्त हो गया ॥२१९-२२०॥ उसी समय जितशत्रुको पालनेवाला
जयधाम विद्याधर, उसकी स्त्री जयभामा, जयसेना और जयदत्ता नामकी अपनी स्त्रियाँ, वैश्रवण-
दत्तकी स्त्री सागरदत्ता और वैश्रवणदत्तकी बहिन वैश्रवणदत्ता तथा और भी अनेक लोगोंको
आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ । उन सबके साथ साथ सेठने रतिवर मुनिके समीप जाकर संयम धारण

१ वणिक्समूहेन सह । २ सर्वदयिताय । ३ चुकोप । ४ सर्वदयिते । ५ स वै-ल०, अ०, स०,
इ० । ६ सागरदत्तसहितः । ७ श्रेष्ठिनः ल०, प०, इ०, स०, अ० । ८ समुद्रदत्तस्य समानरूपताम् ।
९ सभाम् । १० विचारशून्यताम् । ११ सागरदत्तस्य विचारशून्यताम् । १२ निजभागिनेयजितशत्रवे ।
१३ सर्वदयितश्रेष्ठी । १४ जितशत्रुवर्धनविद्याधरदम्पती । १५ सर्वदयितस्य भार्ये । १६ वैश्रवणदत्तस्य
भार्या । १७ सागरदत्तस्य भार्या ।

प्राप्ते स्वर्गादिहागस्थ जयधामा तदातनः^१ । वसुपालोऽत्र सञ्जातो जयभामाऽप्यजायत ॥२२४॥
 'जयवत्यास्तसौन्दर्या जयसेनाऽजनिष्ठ सा । पिप्पला^२ जयदत्ता तु वत्यन्तमदनाऽभवत् ॥२२५॥
 विद्युद्वेगाऽभवद् वैश्रवणदत्ता कलाखिला^३ । जाता सागरदत्तापि स्वर्गदित्य सुखावती ॥२२६॥
 तदा सागरदत्ताख्यः स्वर्गलोकात् समागतः । पुत्रो हरिवरो जातः स 'पुरुवरसः प्रियः ॥२२७॥
 समुद्रदत्तो ज्वलनवेगस्याजनि विश्रुतः । तनूजो धूमवेगाख्यो विद्याविहितपौरुषः ॥२२८॥
 स वैश्रवणदत्तोऽपि भूतोऽत्राशनित्रेगकः । श्रेष्ठी स सर्वदयितः श्रीपालस्तत्त्वमिहाभवः ॥२२९॥
 त्वं जामतुनिराकृत्या^४ सनाभिभ्यो विद्योजितः । तदा^५ त्वद्वेषिणोऽस्मिन्नेव तव द्वेषिण एव ते ॥२३०॥
 तदा प्रियास्तवात्रापि सञ्जाता नितरां प्रियाः । अहि^६ सयाऽर्भक^७ स्यासीद् बन्धुभिस्तव 'सङ्गमः ॥२३१॥
 तत्तपःफलतो जातं चकित्वं सकलक्षितेः । सर्वसङ्गापरित्यागान्मङ्गलु मोक्षं गमिष्यसि ॥२३२॥
 अयोदीरिततीर्थैशवचनाकर्णनेन ते । सर्वे परस्परद्वेषाद् विरमन्ति स्म विस्मयात् ॥२३३॥
 जन्मरोगजराभूः^८ त्रिहन्तुं सन्तः^९ तानुगान् । सन्निधाय धियं धन्यो^{१०} स्यासीदमृतं ततः ॥२३४॥
 धिगिदं चकिसाम्राज्यं कुलालस्येव जीवितम् । 'भुक्तिश्चक्रं^{११} परिभ्राज्य मृदुपन्नफलाप्तितः^{१२} ॥२३५॥

कर लिया । वे सभी लोग चिरकालतक संयमका साधन कर आयुके अन्तमें स्वर्ग गये ॥२२१-२२३॥ वहाँकी आयु पूरी होनेपर स्वर्गसे आकर पहलेका जयधाम विद्याधर यहाँ राजा वसुपाल हुआ है, जयभामा वसुपालकी सुन्दरी रानी जयावती हुई है, जयसेना पिप्पली हुई है, जयदत्ता मदनावती हुई है, वैश्रवणदत्ता सब कलाओंमें निपुण विद्युद्वेगा हुई है, सागरदत्ता स्वर्गसे आकर सुखावती हुई है, उस समयका सागरदत्त स्वर्गसे आकर पुरुवरवाका प्यारा पुत्र हरिवर हुआ है, समुद्रदत्त ज्वलनवेगका प्रसिद्ध पुत्र हुआ है जो कि अपनी विद्याओंसे ही अपना पौरुष प्रकट कर रहा है, वैश्रवणदत्त अशनिवेग हुआ है और सर्वदयित सेठ यहाँ श्रीपाल हुआ है जो कि तू ही है ॥२२४-२२९॥ तूने पूर्वभवमें अपने जमाई (भानेज जितशत्रु) को उसकी मातासे अलग कर दिया था इसलिये तुझे भी इस भवमें अपने भाई बन्धुओंसे अलग होना पड़ा है, पूर्व-भवमें जो वैश्रवणदत्त, सागरदत्त तथा समुद्रदत्त तेरे द्वेषी थे वे इस भवमें भी तुझसे द्वेष करने-वाले धूमवेग, अशनिवेग और हरिवर हुए हैं । उस भवमें जो तुम्हारी स्त्रियां थीं वे इस भवमें भी तुम्हारी अत्यन्त प्यारी स्त्रियां हुई हैं । तुमने अपनी वहिनके बालककी हिंसा नहीं की थी इसलिये ही तेरा इस भवमें अपने भाई बन्धुओंके साथ फिरसे समागम हुआ है । तूने उस भवमें जो तपश्चरण किया था उसीके फलसे सम्पूर्ण पृथिवीका चक्रवर्ती हुआ है और अन्तमें सब परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे तू शीघ्र ही मोक्ष पा जायगा ॥२३०-२३२॥ इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् गुणपालके कहे हुए वचनोंकी सुनकर सब लोगोंने आश्चर्यपूर्वक अपना परस्पर का सब बैर छोड़ दिया ॥२३३॥

तदनन्तर पुण्यात्मा श्रीपालने सदासे पीछे लगे हुए जन्म, रोग, जरा और मृत्युको नष्ट करनेके लिये बुद्धि स्थिर कर धर्मरूपी अमृतका पान किया ॥२३४॥ वह सोचने लगा कि यह चक्रवर्तीका साम्राज्य कुम्हारकी जीवनीके समान है क्योंकि जिस प्रकार कुम्हार अपना चक्र (चाक) घुमाकर मिट्टीसे बने हुए घड़े आदि वर्तनोंसे अपनी आजीविका चलाता है

१ तत्कालभवः । २ श्रीपालस्याग्रमहिषी जाता । ३ पिप्पली ल०, प०, द०, अ०, स० । ४ सम्पूर्णकला । ५ पुरुवरस इति विद्याधरस्य । ६ भगिनीपुत्रस्य निराकरणेन । ७ तत्काले । ८ अहिंसनेन । ९ तव भगिनीशिरोः । १० पुनर्बन्धवैः सह संयोगः । ११ निरन्तरानुगमनशीलान् । १२ पत्नी । श्वेद् पाने इति धातुः । १३ भोजनक्रिया । १४ चक्ररत्नम् घटक्रियायन्त्री च । १५ क्षोबोत्पन्नफलाप्तिः । मृत्पिण्डोत्पन्न-प्राप्तिश्च ।

आयुर्वापुर्वं^१ मोहो^२ भोगो भङ्गो^३ हि सङ्गमः^४ । वपुः पापस्य दुष्पात्रं विदुर्हलोला विभूतयः ॥२३६॥
 "मार्गविभ्रं शहेतुत्वाद् यौवनं गहनं वनम् । या रतिविषयेष्वेषा गवेषयति साऽरतिम् ॥२३७॥
 सर्वमेतत्तुल्यं स्याद् वाक्मतिविपर्ययः^५ । प्रगुणायां मतौ सत्यां किं तत्त्याज्यमतः परम् ॥२३८॥
 चित्तद्रुमस्य चेद् बुद्धिः अभिलाषविषाडकुरः । कथं दुःखफलानि स्युः सम्भोगवितुषु नः ॥२३९॥
 भुक्तो भोगो दशाङ्गोऽपि यथेष्टं सुचिरं मया । मात्रामात्रेऽपि नात्रासीत्तृप्तिस्तृष्णाविघातिनी ॥२४०॥
 अस्तु वास्तु समस्तं च सङ्कल्पविषयीकृतम् । इष्टमेव तथाप्यस्माद्वास्ति व्य^६स्ताऽपि निवृ^७तिः ॥२४१॥
 किल स्त्रीभ्यः सुखावाप्तिः पौरुषं^८ किमतः परम् । ईश्यात्मनि सम्भाव्य^९सौख्यं स्यात् परमः^{१०} पुमान् ॥
 इति श्रीपालचक्रेशः सन्त्यजन् वक्रतां धियः । अक्रमेणाखिलं त्यक्तुं सचक्रं मतिमातनोत् ॥२४३॥
 ततः सुखावतीपुत्रं नरपालाभिधानकम् । कृताभिषेकमारोग्य समुत्तुङ्गं निजासनम् ॥२४४॥
 जयवत्यादिभिः स्वाभिर्देवीभिर्वरणीश्वरैः । वसुपालादिभिश्चासौ संयमं प्रत्यपद्यत ॥२४५॥
 स बाह्यमन्तरङ्गं च तपस्तप्त्वा यथाविधि । क्षपकश्रेणिमारुह्य "मासेन (?) हतमोहकः ॥२४६॥
 यथाख्यातमवाप्नोश्चारित्र्यनिष्कषायकम् । ध्यायन् द्वितीयशुक्लेन वीचाररहितात्मना ॥२४७॥

उसी प्रकार चक्रवर्ती भी अपना चक्र (चक्ररत्न) घुमाकर मिट्टीसे उत्पन्न हुए रत्न या कर आदिसे अपनी आजीविका चलाता है—भोगोपभोगकी सामग्री जुटाता है इसलिये इस चक्रवर्ती के साम्राज्यको धिक्कार है ॥२३५॥ यह आयु वायुके समान है, भोग मेघके समान हैं, इष्ट-जनोंका संयोग नष्ट हो जानेवाला है, शरीर पापोंका खोटा पात्र है और विभूतियां बिजलीके समान चंचल हैं ॥२३६॥ यह यौवन समीचीन मार्गसे भ्रष्ट करानेका कारण होनेसे सघन वनके समान है और जो यह विषयोंमें प्रीति है वह द्वेषको ढूँढ़नेवाली है ॥२३७॥ इन सब वस्तुओं से सुख तभी तक मालूम होता है जब तक कि बुद्धिमें विपर्ययपना रहता है । और जब बुद्धि सीधी हो जाती है—तब ऐसा जान पड़ने लगता है कि इन वस्तुओंके सिवाय छोड़ने योग्य और क्या होगा ? ॥२३८॥ जब कि अभिलाषारूपी विषके अंकुरोंसे इस चित्तरूपी वृक्षकी सदा वृद्धि होती रहती है तब उसकी संभोगरूपी डालियोंपर भला दुःखरूपी फल क्यों नहीं लगेंगे ? ॥२३९॥ मैंने इच्छानुसार चिरकालतक दसों प्रकारके भोग भोगे परन्तु इस भवमें तृष्णाको नष्ट करनेवाली तृप्ति मुझे रंचमात्र भी नहीं हुई ॥२४०॥ यदि हमारी इच्छाके विषयभूत सभी इष्ट पदार्थ एक साथ मिल जायें तो भी उनसे थोड़ा सा भी सुख नहीं मिलता है ॥२४१॥ स्त्रियोंसे सुखकी प्राप्ति होना ही पुरुषत्व है ऐसा प्रसिद्ध है परन्तु इससे बढ़कर और दीनता क्या होगी ? इसलिये अपने आत्मामें ही सच्चे सुखका निश्चय कर पुरुष हो सकता हूँ—पुरुषत्वका धनी बन सकता हूँ ॥२४२॥ इस प्रकार बुद्धिकी वक्रताको छोड़ते हुए श्रीपाल चक्रवर्तीने चक्ररत्न सहित समस्त परियहको एक साथ छोड़नेका विचार किया ॥२४३॥ तदनन्तर उसने नरपाल नामके सुखावतीके पुत्रका राज्याभिषेक कर उसे अपने बहुत ऊंचे सिंहासनपर बैठाया और स्वयं जयवती आदि रानियों तथा वसुपाल आदि राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥२४४—२४५॥ उन्होंने विधिपूर्वक बाह्य और अन्तरङ्ग तप तपा, क्षपक श्रेणीमें चढ़कर मोहरूपी शत्रुको नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला कषायरहित यथाख्यात नामका उत्कृष्ट चारित्र्य प्राप्त किया, वीचाररहित द्वितीय शुक्ल ध्यानके द्वारा आत्मस्वरूपका

१ आयुवेगी । २ मेघोल । ३ विनाशी । ४ इष्टसंयोगः । ५ सम्मार्गच्युतिकारणत्वात् । ६ स्रक्चन्व-
 नादि । ७ मतेर्व्यापारः, मोहः । ८ इष्टस्रक्कामिन्यादिकादन्वत् । ९ अत्यल्पकालेऽपि । १० अल्पापि ।
 ११ सुखम् । १२ कुशलाकुशलसमाचरणलक्षणं पौरुषम् । १३ सङ्कल्पसुखम् । १४ अहं परमपुरुषो भवेयम् ।
 १५ मोहप्रातिजयाजितम् ल०, प०, अ०, स०, इ० । १६ एकत्ववितर्कवीचाररूपद्वितीयशुक्लध्यानेन ।

(घातिकर्मत्रयं हत्वा सम्प्राप्तनवकेवलः^१ । सयोगस्थानमाक्रम्य विद्योगो वीतकल्मषः ॥२४८॥)

शरीरत्रितयापायाद् आविष्कृतगुणोत्करः । अनन्तशान्तमप्राप्तमवाप्तः सुखमुत्तमम् ॥२४९॥

तस्य राज्यद्वयं ताः सर्वा विधाय विविधं तपः । स्वर्गलोके स्वयोग्योऽविमानेष्वभवत् सुराः ॥२५०॥

आवां चाकण्यं तं नत्वा गत्वा नाकं निजोचितम्^२ । अनुभूय सुखं प्रान्ते^३ शेषपुण्यविशेषतः ॥२५१॥

इहागताविति व्यक्तं व्याजहार^४ सुलोचना । अयोऽपि स्वप्रियाप्रज्ञाप्रभावादनुषत्तदा ॥२५२॥

तदा सदस्सदः^५ सर्वे प्रतीयुः^६स्तदुदाहृतम्^७ । कः प्रत्येति^८ न दुष्टश्चेत् सद्भिनिगदितं वचः ॥२५३॥

एवं सुखेन साम्राज्यभोगसारं निरन्तरम्^९ । भुञ्जानो रञ्जितान्योन्यौ कालं गमयतः स्म तौ ॥२५४॥

तदा^{१०} खगभवावाप्तप्रज्ञप्तिप्रमुखाः भिताः । विद्यास्तां^{११} च महीशं^{१२} च सम्प्रीत्या तौ ननन्दतुः^{१३} ॥२५५॥

तद्^{१४} बलात् कान्तया साद्धं विहनु^{१५} सुरगोचरान् । वाञ्छन् देशान् निजं राज्यं नियोज्य विजयेऽनुजे ॥२५६॥

यथेष्टं सप्रियो विद्यावाहनः सरितां पतीन्^{१६} । कुलशैलान्नदीरम्यवनानि विविधान्यपि ॥२५७॥

विहरन्न्यदा मेघस्वरः कंलासशैलजे । वने सुलोचनाभ्यर्णाद् असौ किञ्चिदपासरत्^{१७} ॥२५८॥

चिन्तितवन् करते हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंको नष्ट कर नौ केवललब्धियां प्राप्त कीं, सयोगकेवली गुणस्थानमें पहुंचकर क्रमसे योगरहित होकर सब कर्म नष्ट किये और अन्तमें औदारिक, तैजस, कार्माण-तीनों शरीरोंके नाशसे गुणोंका समूह प्रकट कर अनन्त, शान्त, नवीन और उत्तम सुख प्राप्त किया ॥२४६-२४९॥ श्रीपाल चक्रवर्तीकी सब रानियां भी अनेक प्रकारका तप तपकर स्वर्गलोकमें अपने अपने योग्य बड़े बड़े विमानोंमें देव हुईं ॥२५०॥ सुलोचना जयकुमारसे कह रही है कि हम दोनों भी ये सब कथाएं सुनकर एवं गुणपाल तीर्थङ्कर को नमस्कार कर स्वर्ग चले गये थे और वहां यथायोग्य सुख भोगकर आयुके अन्तमें बाकी बचे हुए पुण्यविशेषसे यहां उत्पन्न हुए हैं । ये सब कथाएं सुलोचनाने स्पष्ट शब्दोंमें कही थीं और जयकुमार भी अपनी प्रियाकी बुद्धिके प्रभावसे उस समय अत्यन्त संतुष्ट हुआ था ॥२५१-२५२॥ उस समय सभामें बैठे हुए सभी लोगोंने सुलोचना के कहनेपर विश्वास किया सो ठीक ही है, क्योंकि जो दुष्ट नहीं है वह ऐसा कौन है जो सज्जनों के द्वारा कहे हुए वचनोंपर विश्वास न करे ॥२५३॥ इस प्रकार साम्राज्य तथा श्रेष्ठ भोगोंका निरन्तर उपभोग करते और परस्पर एक दूसरेको प्रसन्न करते हुए वे दोनों सुखसे समय बिताने लगे ॥२५४॥ उसी समय पहले विद्याधरके भवमें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली जो प्रज्ञप्ति आदि विद्याएं थीं वे भी बड़े प्रेमसे जयकुमार और सुलोचना दोनोंको प्राप्त हो गईं ॥२५५॥ उन विद्याओंके बलसे महाराज जयकुमारने अपनी प्रिया-सुलोचनाके साथ देवोंके योग्य देशोंमें विहार करनेकी इच्छा की और इसलिये ही अपने छोटे भाई विजयकुमारको राज्यकार्यमें नियुक्त कर दिया ॥२५६॥

तदनन्तर जिसकी सवारियां विद्याके द्वारा बनी हुई हैं ऐसा वह जयकुमार अपनी प्रिया-सुलोचनाके साथ साथ समुद्र, कुलाचल और अनेक प्रकारके-मनोहर वनोंमें विहार करता

१ संप्राप्तक्षायिकज्ञानदर्शनसम्भक्त्वचारित्रदानलाभभोगोपभोगवीर्याणीतिनवकेवललब्धिः । २ औदारिकशरीरकर्मणमिति शरीरत्रयविनाशात् । ३ अनन्तं शान्तमप्राप्तमवाप्तः इ०, अ०, स०, ल०, प० । अप्रायमनुपमम् । 'प्रायश्चान्तशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इत्यभिधानात् । ४ यथोचितम् ल०, प०, अ०, स०, इ० । ५ आयुरन्ते । ६ उवाच । ७ सदः सीदन्तीति सदस्सदः । सभां प्राप्ता इत्यर्थः । ८ विश्वस्तवन्तः । ९ सुलोचनावचनम् । १० न श्रद्धधाति । ११ हिरण्यवर्मप्रभावतीभवे प्राप्ति । १२ सुलोचनाम् । १३ जयम् । १४ वधितश्रियः ला०, प०, इ०, स० । १५ प्रज्ञप्त्यादिविद्याबलात् । १६ पतिम् ल०, प०, इ०, स० । १७ अपसरति स्म ।

अमरेन्द्रे सभामध्ये शीलमाहात्म्यशंसनम् । जयस्य तत्प्रियायाश्च प्रकुर्वन्ति कदाचन ॥२५६॥
 श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः । श्रीशो^१ रविप्रभालयेन तच्छीलान्वेषणं प्रति ॥२६०॥
 प्रेषिता^२ काञ्चना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः । क्षेत्रेऽस्मिन् भारते खेचराद्रेरुत्तरदिक्ताटे ॥२६१॥
 मनोहरालयविषये राजारत्नपुराधिपः । अभूत् पिङ्गलगान्धारैः सुखदा तस्य सुप्रभा ॥२६२॥
 तयोर्विद्युत्प्रभा पुत्री नमोभार्या यदृच्छया । त्वां नन्दने महामेरो क्रीडन्तं वीक्ष्य सोत्सुकाः ॥२६३॥
 तदा प्रभृति मच्चित्तेऽभवत्स्वं लिखिताकृतिः । त्वत्समागममेवाहं ध्यायन्ती दैवयोगतः ॥२६४॥
 दुष्टवत्यस्मि कान्ता^३ इरि^४ मल्लिवेगं सोढुमक्षमा । इत्यपास्तोपकण्ठस्थान् स्वकीयान्^५ स्मरविह्वला ॥२६५॥
 स्वानुरागं जये व्यक्तम् अकरोद् विकृतेक्षणा । तद्दुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्थाः पापमीदृशम् ॥२६६॥
 सोदर्या त्वं ममादायि^६ मया मुनिवराद् व्रतम् । पराङ्मनाङ्गसंसङ्गसुखं मे विषभक्षणम् ॥२६७॥
 महोशेनेति सम्प्रो^७क्ता मिथ्या सा कोप^८वेपिनी । उपात्तराक्षसीवेषा तं^९ समुदृत्य गत्वरी^{१०} ॥२६८॥
 पुष्पावचयसंसक्तनुपकान्ताभितर्जिता^{११} । भीत्वा तच्छीलमाहात्म्यात् काञ्च^{१२}नाऽदृश्यतां गता ॥२६९॥
 अविभ्यद्देवता चैवं शीलवत्याः परे न के । ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्वामिनं प्रति ॥२७०॥

हुआ किसी समय कैलाश पर्वतके वनमें पहुँचा और किसी कारणवश सुलोचनासे कुछ दूर चला गया ॥२५७-२५८॥ उसी समय इन्द्र अपनी सभाके बीचमें जयकुमार और उसकी प्रिया सुलोचनाके शीलकी महिमाका वर्णन कर रहा था उसे सुनकर पहले स्वर्गके रविप्रभ विमानमें उत्पन्न हुए लक्ष्मीके अधिपति रविप्रभ नामके देवने उनके शीलकी परीक्षा करनेके लिये एक काञ्चना नामकी देवी भेजी, वह बुद्धिमती देवी जयकुमारके पास आकर कहने लगी कि 'इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीमें एक मनोहर नामका देश है, उसके रत्नपुर नगरके अधिपति राजा पिङ्गल गांधार हैं, उनके सुख देनेवाली रानी सुप्रभा है, उन दोनोंकी में विद्युत्प्रभा नामकी पुत्री हूँ और राजा नमिकी भार्या हूँ । महामेरु पर्वतपर नन्दन वनमें क्रीड़ा करते हुए आपको देखकर मैं अत्यन्त उत्सुक हो उठी हूँ । उसी समयसे मेरे चित्तमें आपकी आकृति लिख सी गई है, मैं सदा आपके समागम का ही ध्यान करती रहती हूँ । दैवयोगसे आज आपको देखकर आनन्दके वेगको रोकनेके लिये असमर्थ हो गई हूँ ।' यह कहकर उसने समीपमें बैठे हुए अपने सब लोगोंको दूर कर दिया और कामसे विह्वल होकर तिरछी आंखें चलाती हुई वह देवी जयकुमारमें अपना अनुराग स्पष्ट रूपसे प्रकट करने लगी । उसकी दुष्ट चेष्टा देखकर जयकुमारने कहा कि तू इस तरह पापका विचार मत कर, तू मेरी बहिन है, मैंने मुनिराजसे व्रत लिया है कि मुझे परस्त्रियोंके शरीरके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाला सुख विष खानेके समान है । महाराज जयकुमारके इस प्रकार कहनेपर वह देवी भूठमूठके क्रोधसे कांपने लगी और राक्षसीका वेष धारणकर जयकुमारको उठाकर जाने लगी । फूल तोड़नेमें लगी हुई सुलोचनाने यह देखकर उसे ललकार लगाई जिससे वह उसके शीलके माहात्म्यसे डरकर अदृश्य हो गई । देखो, शीलवती स्त्रीसे जब देवता भी डर जाते हैं तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? वह काञ्चना देवी उन दोनोंके शीलका माहात्म्य जानकर अपने स्वामीके पास गई, वहाँ उसने उन दोनोंके उस माहात्म्यकी प्रशंसा की जिसे सुनकर वह रविप्रभ देव भी आश्चर्यसे उनके गुणोंमें प्रेम करता हुआ उन दोनोंके पास आया । उसने अपना सब

१ रविप्रभविमानोत्पन्नलक्ष्मीपतिना । २ श्रीशो ल० । ३ निरूपिता । ४ भो प्रिय । ५ एतस्मिन् प्रदेशे । ६ कामवेगम् । ७ स्वजनान् । ८ स्वीकृतम् । ९ संसर्ग-ल०, प०, इ०, स० । १० सम्प्रोक्तं ल० । ११ पापवेपिनी ट० । अशोभनं कम्पयन्ती । १२ जयम् । १३ गमनशीला । १४ सुलोचनातर्जिता । १५ काञ्चनाख्यामराङ्गना ।

प्राशंसत् सा तयोस्तादृङ्माहात्म्यं सोऽपि विस्मयात् । रविप्रभः समागत्य तावुभी तद्गुणप्रियः ॥२७१॥
 स्ववृत्तान्तं समाख्याय युवाभ्यां क्षम्यतामिति । पूजयित्वा महारत्नेनाकलोकं समीयवान् ॥२७२॥
 तथा चिरं विहृत्यात्तसम्प्रीतिः कान्तया समम् । निवृत्य पुरमागत्य सुखसारं समन्वभूत् ॥२७३॥
 अथान्यदा समुत्पन्नबोधिमधस्वरधिपः । तीर्थधिनाथमासाद्य बन्धित्वाऽऽनन्दभाजनम् ॥२७४॥
 कृत्वा धर्मपरिग्रहं श्रुत्वा तस्माद्यथोचितम् । आक्षेपिण्यादिकाः सम्यक् कथाबन्धोदयादिकम् ॥२७५॥
 कर्मनिर्मुक्तसम्प्राप्यं शर्मसारं प्रबुद्धधीः । शिवङ्करमहादेव्यास्तनूजो जगतां प्रियः ॥२७६॥
 अवार्योऽनन्तवीर्याख्यः शत्रुभिः शस्त्रशास्त्रवित् । आकुमारं यशस्तस्य शौर्यं शत्रुजयावधि ॥२७७॥
 त्यागः सर्वायसन्तपी सत्यं स्वप्नेऽप्यविप्लुतम् । विधायाभिषवं तस्मै प्रदायात्मीयसम्पदम् ॥२७८॥
 पदं परं परिश्रान्तुमव्यग्रमभिलाषुकः । विसर्जितसगोत्रादिविनिर्जितनिजेन्द्रियः ॥२७९॥
 वितर्जितमहामोहः समर्जितशुभाशयः । विजयेन जयन्तेन सञ्जयन्तेन सानुजैः ॥२८०॥
 अयंश्च निश्चितस्यागं रागद्वेषाविदूषितं । रविकीर्तिं रिपुजयोऽरिन्दमोऽरिञ्जयाह्वयः ॥२८१॥
 सुजयश्च सुकान्तश्च सन्तमश्चाजितञ्जयः । महाजयोऽतिवीर्यश्च वीरञ्जयसमाह्वयः ॥२८२॥
 रविवीर्यस्तथाऽन्ये च तनूजाश्चक्रवर्तिनः । तैश्च साढं सुनिविण्णैश्चरमाङ्गो विशुद्धिभाक् ॥२८३॥

वृत्तान्त कहकर उन दोनोंसे क्षमा मांगी और फिर बड़े बड़े रत्नोंसे पूजा कर वह स्वर्गको चला गया । इधर जयकुमार भी प्रिया-सुलोचनाके साथ चिरकाल तक बड़े प्रेमसे विहारकर वापिस लौटे और नगरमें आकर श्रेष्ठ सुखोंका अनुभव करने लगा ॥२५९-२७३॥

अथानन्तर-जिसे आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे जयकुमारने किसी एक दिन आनन्दके पात्र श्री आदिनाथ तीर्थंकरके पास जाकर उनकी वन्दना की, धर्मविषयक प्रश्न कर उनका यथा योग्य उत्तर सुना, आक्षेपिणी आदि कथाएं कहीं और कर्मोंके बन्ध उदय आदिकी चर्चा की ॥२७४-२७५॥ इस प्रकार प्रबुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले जयकुमारने कर्मोंके नाशसे प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ सुखको प्राप्त किया । तदनन्तर उसने जो लोगोंको बहुत ही, प्रिय है, जिसे शत्रु नहीं रोक सकते हैं, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोंका जाननेवाला है, जिसका यश कुमार अवस्थासे ही फैल रहा है, जिसकी शूरवीरता शत्रुओंके जीतने तक है, जिसका दान सब याचकोंको संतुष्ट करनेवाला है, और जिसका सत्य कभी स्वप्नमें भी खण्डित नहीं हुआ है ऐसे शिवंकर महादेवीके पुत्र अनन्तवीर्यका राज्याभिषेक कर उसे अपनी सब राज्य संपदा दे दी ॥२७६-२७८॥ तदनन्तर जो आकुलता रहित परम पद प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहा है, जिसने अपने सब कुटुम्बका परित्याग कर दिया है, अपनी इन्द्रियोंको वश कर लिया है, महामोहको डाँट दिखा दी है और शुभास्रवका संचय किया है ऐसे चरमशरीरी तथा विशुद्धि को धारण करनेवाले जयकुमारने विजय, जयंत, संजयन्त तथा परिग्रहके त्यागका निश्चय करनेवाले और राग द्वेषसे अदूषित अन्य छोटे भाइयों एवं रविकीर्ति, रविजय, अरिन्दम, अरिजय, सुजय, सुकान्त, सातवां अजितंजय, महाजय, अतिवीर्य, वरंजय, रविवीर्य तथा इनके सिवाय और भी वैराग्यको प्राप्त हुए चक्रवर्तीके पुत्रोंके साथ साथ दीक्षा धारण की ॥२७९-२८३॥

१ प्रशंसां चकार । २ जयसुलोचनयोः । ३ तथा ल० । ४ मण्डभाजनं कल्याणभाजनं वा । तीर्थादि-ल० । ५ आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनीति चेति चतस्रः । “आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं समेक्षी विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथाहम् । संवेजनीं प्रथयितुं सुकृतानुभावं निर्वेजनीं वदतु धर्मकथाविरक्त्यै ।” ६ कृत्वा कथा बन्धोदयादिकाः ल०, प०, इ०, स० । ७ कर्मबन्धविमुक्तैः प्राप्तुं योग्यम् । ८ जनताप्रियः ल०, प०, अ०, स०, इ० । ९ कुमारकालादारभ्य । १० अनन्तवीर्यस्य । ११ अविच्युतम् । निर्वाधं वा । १२ बान्धवादि । ‘सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः’ इत्यभिधानात् । १३ शुभास्रवः ल० । १४ रविकीर्तिनामा । १५ रविजयो ल०, प०, स०, इ० । १६ वरञ्जय ल०, अ०, प०, स० ।

एष पात्रविशेषस्ते संबोद्धं शासनं महत् । इति विश्वमहोशेन^१ देवदेवस्य^२ सोऽर्पितः^३ ॥२८४॥
 कृतग्रन्थपरित्यागः प्राप्तग्रन्थार्थसङ्ग्रहः । प्रकृष्टं संयमं प्राप्य सिद्धसन्ततिर्द्विर्वाद्धितः ॥२८५॥
 चतुर्ज्ञानांमलज्योतिर्हृताततमनस्तमाः । अभूद् गणधरो भर्तुः एकसप्ततिपूरकः ॥२८६॥
 सुलोचनाप्यसंहार्यशोका पतिवियोगतः । गतिताकल्पवल्लीव^४ प्रम्लानामरभूद्गहात् ॥२८७॥
 शमिता^५ चक्रवर्तीष्टकान्तयाऽशु सुभद्रया । ब्राह्मीसमीपे प्रचक्ष्य भाविसिद्धिर्द्विचरं तपः ॥२८८॥
 कृत्वा विमाने साऽनुत्तरेऽभूत् कल्पेऽभ्युत्तेऽमरः । आदितीर्थार्थिनाथोऽपि मोक्षमार्गं प्रवर्तयन् ॥२८९॥
 चतुस्तरयाऽशीत्या विविधद्विविभूषितः । चिरं वृषभसेनाविगणेशैः परिवेष्टितः ॥२९०॥
 खपञ्चसप्तवारिंशमितपूर्वधराश्रितः । खपञ्चैकचतुर्मेय^६ शिक्षकैर्मुनिभि^७ र्युतः ॥२९१॥
 तृतीयज्ञानसंश्लेषः^८ सहस्रैर्नवभिर्वृतः^९ । केवलावगमैर्विंशतिसहस्रैः समन्वितः ॥२९२॥
 खड्गपतु^{१०} खपक्षोऽविक्रियाद्विविद्धितः^{११} । खपञ्चसप्तपक्षैकमिततुर्यविदन्वितः^{१२} ॥२९३॥
 तावद्भिर्वादिभिर्वन्द्यो निरस्तपरवादिभिः । चतुरष्टखवाद्धचष्टमितैः सर्वैश्च पिण्डितैः ॥२९४॥
 संयमस्थानसम्प्राप्तसम्पद्भिस्तदभिरर्चितः । खचतुष्केन्द्रियान्मुक्तपूज्यब्राह्मचार्याकादिभिः ॥२९५॥
 आर्थिकाभिरभिष्टूयमाननानागुणोदयः । दूढव्रतादिभिर्लक्षत्रयोवर्तैः श्रावकैः श्रितः ॥२९६॥
 श्राविकाभिः स्तुतः पञ्चलक्षाभिः सुव्रतादिभिः । भावनादिचतुर्भेदेवदेवोडितकमः ॥२९७॥

उस समय भगवान् ऋषभदेवके समीप जयकुमार ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आपके बड़े भारी शासनको धारण करनेके लिये यह एक विशेष पात्र है यही समझकर महाराज भरत-
 ने उसे भगवान्के लिये सौंपा हो ॥२८४॥ इस प्रकार जिसने सब परिग्रहका त्याग कर दिया
 है, सम्पूर्ण श्रुतका अर्थसंग्रह प्राप्त किया है, जो उत्कृष्ट संयम धारणकर सात ऋद्धियोंसे निरन्तर
 बढ़ रहा है, और चार ज्ञानरूपी निर्मल ज्योतिसे जिसने मनका विस्तीर्ण अंधकार नष्ट कर
 दिया है ऐसा वह जयकुमार भगवान्का इकहत्तरवां गणधर हुआ ॥२८५-२८६॥ इधर पतिके
 वियोगसे जिसे बड़ा भारी शोक रहा है और जो पड़े हुए कल्पवृक्षसे नीचे गिरी हुई कल्पलताके
 समान निष्प्रभ हो गई है ऐसी सुलोचनाने भी चक्रवर्तीकी पट्टरानी सुभद्राके समझाने पर ब्राह्मी
 आर्थिकाके पास शीघ्र ही दीक्षा धारण कर ली और जिसे आगामी पर्यायमें मोक्ष होनेवाला
 है ऐसी वह सुलोचना चिरकाल तक तप कर अच्युतस्वर्गके अनुत्तरविमानमें देव पैदा हुई ।

इधर जो मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति चला रहे हैं, अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित वृषभसेन आदि
 चौरासी गणधरोंसे घिरे हुए हैं, चार हजार सात सौ पचास पूर्वज्ञानियोंसे सहित हैं, चार हजार
 एक सौ पचास शिक्षक मुनियोंसे युक्त हैं, नौहजार अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले
 मुनियोंसे सहित हैं, बीस हजार केवलज्ञानियोंसे युक्त हैं, बीस हजार छह सौ विक्रिया ऋद्धिके
 धारक मुनियोंसे वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं, बारह हजार सात सौ पचास मनःपर्ययज्ञानियोंसे
 अन्वित हैं, परवादियोंको हटानेवाले बारह हजार सात सौ पचास वादियोंसे वन्दनीय हैं, और
 इस प्रकार सब मिलाकर तपश्चरणरूपी सम्पदाओंको प्राप्त करनेवाले चौरासी हजार चौरासी
 मुनिराज जिनकी निरन्तर पूजा करते हैं, ब्राह्मी आदि तीन लाख पचास हजार आर्थिकाएं जिनके
 गुणोंका स्तवन कर रही हैं, दूढव्रत आदि तीन लाख श्रावक जिनकी सेवा कर रहे हैं, सुव्रता
 आदि पांच लाख श्राविकाएं जिनकी स्तुति कर रही हैं, भवनवासी आदि चार प्रकारके देव
 देवियां जिनके चरणकमलोंका स्तवन कर रही हैं, चौपाये आदि तिर्यञ्चगतिके जीव जिनकी

१ भरतेश्वरेण । २ वृषभेश्वरस्य । ३ जयः । ४ भ्रष्टादमर-ल०, प०, अ०, स०, इ० ।
 ५ उपशान्ति नीता । ६ मातुं योग्य । ७-भिर्वृतः ल० । ८ अवधिज्ञान । ९-भिर्युतः ल० । १०-राजितः ।
 ११ मनःपर्ययज्ञानिसहितः ।

चतुष्पदादिभिस्तिर्यग्जातिभिश्चाभिधेयितः । चतुस्त्रिशदतीशेष^१विशेषैर्लभितोदयः ॥२६८॥
 १ आत्मोपाधिविशिष्टावबोधकं सुखवीर्यसद^२ । देहसौन्दर्यवासोक्त^३सप्तसंस्थानसङ्गतः^४ ॥२६९॥
 प्रातिहार्याष्टकोद्दिष्टनष्टघातिचतुष्टयः । वृषभाद्यन्वितायांष्टसहस्रा ह्ययभाषितः ॥३००॥
 विकसितविनेयाम्बुजावलिर्वचनांशुभिः । संवृताञ्जलिपङ्कजेजमुकुलेनाखिलेशिना ॥३०१॥
 भरतेन समभ्यर्चं पृष्टो धर्ममभाषत । धियते धारयत्पुच्छं विनेयान्^५ ॥कुगतेस्ततः^६ ॥३०२॥
 धर्म इत्युच्यते सदभिश्चतुर्भेदं समाश्रितः । सम्यग्दृक्ज्ञानचारित्र्यतपोरूपः कृपापरः^७ ॥३०३॥
 जीवादिसप्तके तत्त्वे श्रद्धानं यत् स्वतोऽञ्जसा । परप्रणयनाद् वा तत् सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥३०४॥
 शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं भावत्रयविवेचितम्^८ । तेषां जीवादिसप्तानां संशयादिविवर्जनात्^९ ॥३०५॥
 याथात्म्येन परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं समादिशेत् । यथा कर्मास्त्रयो न स्याच्चारित्र्यं संयमस्तथा ॥३०६॥
 निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तपो मतम् । चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥३०७॥
 निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम् । चतुष्टयमिदं धर्मं मुक्तेर्दुष्प्रापमङ्गलिभिः ॥३०८॥
 मिथ्यात्वमव्रताचारः प्रमादाः सकषायता^{१०} । योगाः शुभाशुभा जन्तोः कर्मणां बन्धहेतवः ॥३०९॥

सेवा कर रहे हैं, चौतीस अतिशय विशेषोंसे जिनका अभ्युदय प्रकट हो रहा है, जो केवल आत्मा से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट दर्शन, विशिष्ट सुख और विशिष्ट वीर्यको प्राप्त हो रहे हैं, जो शरीरकी सुन्दरतासे युक्त हैं, जो सज्जाति आदि सात परम स्थानोंसे संगत हैं, जो आठ प्रातिहार्योंसे युक्त हैं, जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं, जो वृषभ आदि एक हजार आठ नामोंसे कहे जाते हैं और जिन्होंने भव्य जीवरूपी कमलोंके वनको प्रफुल्लित कर दिया है ऐसे भगवान् वृषभदेवके पास जाकर मुकुलित कमलके समान हाथ जोड़े हुए चक्रवर्ती भरतने उनकी पूजा की और धर्मका स्वरूप पूछा तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे—

जो शिष्योंको कुगतिसे हटाकर उत्तम स्थानमें पहुँचा दे सत् पुरुष उसे ही धर्म कहते हैं । उस धर्मके चार भेद हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक्तप । यह धर्म कर्तव्य प्रधान है ॥२८७—३०३॥ अपने आप अथवा दूसरेके उपदेशसे जीव आदि सात तत्त्वोंमें जो यथार्थ श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥३०४॥ यह सम्यग्दर्शन शंका आदि दोषोंसे रहित होता है तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीन भावों द्वारा इसकी विवेचना होती है अर्थात् भावोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं । संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका अभाव होनेसे उन्हीं जीवादि सात तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान कहलाता है । जिससे कर्मोंका आस्रव न हो उसे चारित्र्य अथवा संयम कहते हैं । ॥३०५—३०६॥ जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है । ये चारों ही गुण यदि कषाय सहित हों तो स्वर्गके कारण हैं और कषायरहित हों तो आत्माका हित चाहनेवाले लोगोंको स्वर्ग और मोक्ष दोनोंके कारण हैं । ये चारों ही मोक्षके मार्ग हैं और प्राणियोंको बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होते हैं ॥३०७—३०८॥ मिथ्यात्व, अव्रताचरण, (अविरति), प्रमाद, कषाय और शुभ-अशुभ योग ये जीवोंके कर्मबन्धके कारण हैं ॥३०९॥

१ अतिशय । २ आत्मा उपाधिः कारणं यस्य । ३ वीर्यः ल०, प०, इ०, अ०, स० । प्रशस्त-सौन्दर्यवास । समवसरण । ४ सौन्दर्यवान् स्वोक्तसप्त—ल०, प०, इ०, अ०, स० । ५ अभ्युदयनिःश्रेयसरूपोन्नतस्थाने । ६ भव्यान् । ७ दुर्गतेः सकाशात् अपसार्य । ८ ततः कारणात् । ९ दयाप्रधानः । क्रियापरः ल० । १० परोपदेशात् । ११ औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभावैर्निर्णीतम् । १२ विसर्जनात् ल० । १३ सकषायत्वम् ।

मिथ्यात्वं पञ्चधा 'साष्टशतञ्चाऽविरतिर्मता । प्रमादाः पञ्चदश च कषायास्ते चतुर्विधाः ॥३१०॥
योगाः पञ्चदश ज्ञेयाः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः । समूलोत्तरभेदेन कर्माण्युक्तानि कोविदैः ॥३११॥
बन्धश्चतुर्विधो ज्ञेयः प्रकृत्यादिविकल्पितः । कर्माण्युद्दयसम्प्राप्त्या हेतवः फलबन्धयोः ॥३१२॥
तद्युयं संतुतेर्हेतुं परित्यज्य गृहाश्रमम् । दोषदुःखजरा मृत्युपापप्रापं भयावहम् ॥३१३॥
'शक्तिमत्तस्त्वमसन्नविनेया' विदितागमाः । गुप्स्यादिषड्विधं^१ सम्यग् अनुगत्य यथोचितम् ॥३१४॥
प्रोक्तोपेक्षादिभेदेषु वीतरागादिकेषु च । पुलाकादिप्रकारेषु व्यपेतागारकादिषु ॥३१५॥
प्रमत्तादिगुणस्थानविशेषेषु च सुस्थिताः । निश्चयव्यवहारोक्तम् उपाध्वं मोक्षमुत्तमम् ॥३१६॥
तथा गृहाश्रमस्याश्च सम्यग्दर्शनपूर्वकम् । दानशीलोपवासाहंदादिषु^२ जोपलक्षिताः ॥३१७॥
आश्रितैकादशोपासकव्रताः सुशुभाश्रयाः^३ । सम्प्राप्तपरमस्थानसप्तकाः सन्तु धीवनाः ॥३१८॥
इति 'सप्तस्वसङ्घर्षगर्भवाग्निभवात्मभिः' । सप्तभो^४ भरताधीशः सर्वमेवममन्यत ॥३१९॥
त्रिज्ञाननेत्रसम्यक्त्वशुद्धिभाग् देशसंयतः । लब्धारमभिवन्द्यायात् कैलासाग्नरोत्तमम् ॥३२०॥
जगत्त्रितयनाथोऽपि धर्मसंज्ञेऽवनारतम् । उत्त्वा सद्धर्मबीजानि न्यषिञ्चद्धर्मवृष्टिभिः ॥३२१॥

मिथ्यात्व पांच तरहका है, अविरति एक सौ आठ प्रकारकी है, प्रमाद पन्द्रह है, कषायके चार भेद हैं, और सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले लोगोंको योगके पन्द्रह भेद जानना चाहिये । विद्वानोंने कर्मोंका निरूपण मूल और उत्तरभेदके द्वारा किया है—कर्मोंके मूल भेद आठ हैं और उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस हैं ॥३१०-३११॥ प्रकृति आदिके भेदसे बंध चार प्रकारका जानना चाहिये तथा कर्म उदयमें आकर ही फल और बन्धके कारण होते हैं । भावार्थ—पहलेके बंधे हुए कर्मोंका उदय आनेपर ही उनका सुख दुःख आदि फल मिलता है तथा नवीन कर्मोंका बन्ध होता है ॥३१२॥ तुम लोग भक्तिमान् हो, निकटभव्य हो और आगमको जाननेवाले हो, इसलिये संसारके कारण स्वरूप-दोष, दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु आदि पापोंसे भरे हुए इस भयंकर गृहस्थाश्रमको छोड़कर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र्य इन छहोंका अच्छी तरह अभ्यास करो तथा जिनके उपेक्षा आदि भेद कहे गये हैं ऐसे वीतरागादि मुनियोंमें, जिनके पुलाक आदि भेद हैं ऐसे अनगारादि मुनियोंमें अथवा प्रमत्त संयतकी आदि लेकर उत्कृष्ट गुण-स्थानोंमें रहनेवाले प्रमत्तविरत आदि मुनियोंमेंसे किसी एककी अवस्था धारणकर निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारके उत्तम मोक्षकी उपासना करो ॥३१३-३१६॥ इसी प्रकार गृहस्थाश्रममें रहनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सम्यग्दर्शन पूर्वक दान, शील, उपवास तथा अरहंत आदि परमेष्ठियोंकी पूजा करें, शुभ परिणामोंसे श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करें और यथायोग्य सज्जाति आदि सात परमस्थानोंको प्राप्त हों ॥३१७-३१८॥ इस प्रकार भरतेश्वरने समीचीन तत्त्वोंकी रचनासे भरी हुई भगवान्की वचनरूप विभूति सुनकर सब सभाके साथ साथ कही हुई सब बातोंको ज्योंकी त्यों माना अर्थात् उनका ठीक ठीक श्रद्धान किया ॥३१९॥ मति, श्रुत, अवधि—इन तीनों ज्ञानरूपी नेत्रों और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको धारण करनेवाला देशसंयमी भरत भगवान् वृषभदेवकी वन्दनाकर कैलाश पर्वतसे अपने उत्तम नगर—अयोध्याको आया ॥३२०॥ इधर तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् आदिनाथने भी धर्मके योग्य क्षेत्रोंमें समीचीनधर्मका बीज बोकर उसे धर्मवृष्टिके

१ साष्टशतञ्चाविरति - ल०, प०, अ०, स०, इ० । २ तत् कारणात् । ३ भक्ति-ल०, प०, इ०, अ०, स० । ४ अत्यासन्नभय्याः । ५ गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्र्यभेदैः । ६ सुष्ठु शोभनपरिणामाः । ७ पूर्वोत्तरतत्त्व । ८ पुरोस्तकाशात् । विभो ल० । ९ सभासहितः ।

सतां सफलसम्प्राप्त्यै विहरन् स्वर्गः समम् । चतुर्दशदिनोपेतसहस्राब्धौ न पूर्वकम् ॥३२२॥
 लक्षं कैलासमासाद्य श्रीसिद्धशिखरान्तरे । पौर्णमासीदिने पौषे^१ निरिच्छः समुपाविशत् ॥३२३॥
 तदा भरतराजोऽपि^२ स्वर्गादित्य महौषधिः । द्रुमश्छित्त्वा नृणां जन्मरोगं स्वर्गान्तर्मक्षत्^३ ॥३२४॥
 कल्पद्रुममभीष्टार्थं दत्त्वा नृभ्यो निरन्तरम् । गृहे^४ निशामयामास^५ स्वर्गप्राप्तिसमुद्यतम् ॥३२५॥
 रत्नद्वीपं जिवूक्षुभ्यो^६ नानारत्नकदम्बकम् । प्रादायाभ्रगमोद्युक्तम् अद्राक्षीत् सचिवाग्रिमः ॥३२७॥
 वज्रपञ्जरमुद्भिद्य कैलासं गजवैरिणम् । उल्लङ्घयितुमुद्यन्तं सेनापतिमपश्यत् ॥३२८॥
 आलुलोके बुधो^७ऽनन्तवीर्यः श्रीमान् जयात्मजः । यान्तं त्रैलोक्यमाभास्य सतारं^८ तारकेश्वरम् ॥३२९॥
 यशस्वतीसुनन्दाभ्यां सार्द्धं शक्रमनःप्रिया । शोषन्तीश्चिरमद्राक्षीत् सुभद्रा^९ स्वप्नगोचरा ॥३३०॥
 वभ्राणसीपतिश्चित्राङ्गदोऽप्यालोकताकुलः । खमुत्पतन्तं भास्वन्तं प्रकाशय धरणीतैलम् ॥३३१॥
 'एवमालोकितस्वप्ना राजराजपुरस्सराः । पुरोधसं फलं तेषाम् अपृच्छध्रुवं मोदये'^{१०} ॥३३२॥
 कर्माणि हत्वा निर्मूलं मुनिभिर्वहुभिः समम् । पुरोः सर्वेऽपि शंसन्ति स्वप्नाः स्वर्गाप्रणामिताम्^{११} ॥३३३॥
 इति स्वप्नफलं तेषां^{१२} भाषमाणे पुरोहिते । तदेवानन्दनामस्य भक्तुः^{१३} स्थितिमवेदयत् ॥३३४॥
 ध्वनौ भगवता दिव्ये संहृते मुकुलीभवत् । कराम्बुजा सभा जाता पूष्णीव^{१४} सरसीत्यसौ ॥३३५॥

द्वारा खूब ही सींचा ॥३२१॥ इस प्रकार सज्जनोंको मोक्षरूपी उत्तम फलकी प्राप्ति करानेके लिये भगवान्ने अपने गणधरोंके साथ साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व विहार किया । और जब आयुके चौदह दिन बाकी रह गये तब योगोंका विरोधकर पौष मासकी पौर्णमासीके दिन श्रीशिखर और सिद्धशिखरके बीचमें कैलाश पर्वतपर जा विराजमान हुए ॥३२२-३२३॥ उसी दिन महाराज भरतने स्वप्नमें देखा कि महामेरु पर्वत अपनी लम्बाई से सिद्ध क्षेत्र तक पहुंच गया है ॥३२४॥ उसी दिन युवराज अर्ककीर्तिने भी स्वप्नमें देखा कि एक महौषधिका वृक्ष मनुष्योंके जन्मरूपी रोगको नष्टकर फिर स्वर्गको जा रहा है ॥३२५॥ उसी दिन गृहपतिने देखा कि एक कल्पवृक्ष निरन्तर लोगोंके लिये उनकी इच्छानुसार अभीष्ट फल देकर अब स्वर्ग जानेके लिये तैयार हुआ है ॥३२६॥ प्रधानमंत्रीने देखा कि एक रत्नद्वीप, ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाले लोगोंको अनेक रत्नोंका समूह देकर अब आकाशमें जानेके लिये उद्यत हुआ है ॥३२७॥ सेनापतिने देखा कि एक सिंह वज्रके पिंजड़ेको तोड़कर कैलाश पर्वतको उल्लंघन करनेके लिये तैयार हुआ है ॥३२८॥ जयकुमारके विद्वान् पुत्र श्रीमान् अनन्त-वीर्यने देखा कि चन्द्रमा तीनों लोकोंको प्रकाशितकर ताराओं सहित जा रहा है ॥३२९॥ सोती हुई सुभद्राने देखा कि यशस्वती और सुनन्दाके साथ बैठी हुई इन्द्राणी बहुत देरतक शोक कर रही है ॥३३०॥ बनारसके राजा चित्राङ्गदने घबड़ाहटके साथ यह स्वप्न देखा कि सूर्य पृथिवीतलको प्रकाशित कर आकाशकी ओर उड़ा जा रहा है ॥३३१॥ इस प्रकार भरतको आदि लेकर सब लोगोंने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही सबने पुरोहितसे उनका फल पूछा ॥३३२॥ पुरोहितने कहा कि ये सभी स्वप्न कर्मोंको बिलकुल नष्ट कर भगवान् वृषभदेवका अनेक मुनियोंके साथ साथ मोक्ष जाना सूचित कर रहे हैं ॥३३३॥ इस प्रकार पुरोहित उन सबके लिये स्वप्नोंका फल कह ही रहा था कि इतनेमें ही आनन्द नामका एक मनुष्य आकर भगवान्का सब हाल कहने लगा ॥३३४॥ उसने कहा कि भगवान्ने अपनी दिव्यध्वनिका

१ पुष्यमासे । २ पूर्वसिद्धक्षेत्रपर्यन्तम् । ३ अर्ककीर्तिः । ४ स्वर्गं गतम् । ५ गृहपतिरत्नम् । ६ ददर्श । ७ गृहीतुमिच्छन्त्यः । ८ बुद्धिमान् । ९ तारकासहितम् । १० स्त्रीरत्नम् । ११ एवं विलोकित-ल० । १२ सूर्योदये । १३ मोक्षगामित्वम् । १४ भरतादीनाम् । १५ पुरोः । १६ सूर्ये । इत्येतावदेवमिति सम्बन्धः ।

तदाकर्णनमात्रेण सत्वरः सर्वसङ्गतः । चक्रवर्ती तमभ्येत्य^१ त्रिःपरीत्य कृतस्तुतिः ॥३३६॥
 महामहमहापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयम् । चतुर्दश दिनान्येवं भगवन्तमसेवत ॥३३७॥
 माघकृष्णचतुर्दश्यां भगवान् भास्करोदये । मुहूर्तेऽभिजिति प्राप्तपत्यङ्गको मुनिभिः समम् ॥३३८॥
 प्राग्निदग्धुखस्तुतीयेन शुक्लध्यानेन रुद्धवान् । योगत्रितयमन्त्येन ध्यानेनाघातिकर्मणाम् ॥३३९॥
 पञ्चह्रस्वस्वरोच्चारणप्रमाणेन संक्षयम् । कालेन विदधत्प्रान्तगुणस्थानमधिष्ठितः ॥३४०॥
 शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययम् । निजाष्टगुणसम्पूर्णः क्षणात्ततनुवातकः ॥३४१॥
 नित्यो निरञ्जनः किञ्चिद्भूतो देहादभूतिभाक् । स्थितः स्वसुखसाद्भूतः पश्यन्विश्वमनारतम्^२ ॥३४२॥
 तदागत्य सुराः सर्वे प्रान्तपूजाचिकीर्षया^३ । पवित्रं परमं मोक्षसाधनं शुचिनिर्मलम् ॥३४३॥
 शरीरं भर्तुरस्येति परादध्यक्षिबिकर्षितम्^४ । अग्नीन्द्ररत्नभाभासिप्रोत्सृङ्गमुकुटोद्भुवा^५ ॥३४४॥
 चन्दनागुरुकपूरपारी^६कादमीरजादिभिः^७ । घृतक्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिता हुतभोजिता ॥३४५॥
 जगद्गृहस्य सौगन्ध्यं सन्पाद्याभूतपूर्वकम्^८ । तवाकारोपमर्बेन^९ पर्यायान्तरपानयन्^{१०} ॥३४६॥
 अभ्यञ्जितान्निकुण्डस्य गन्धपुष्पादिभिस्तथा । तस्य दक्षिणभागेऽभूत् गणभृत्संस्क्रियानलः ॥३४७॥
 तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शैवकेवलिकायगः । एवं बह्विधं भूमी अवस्थाप्यामरेश्वराः ॥३४८॥

संकोच कर लिया है इसलिये सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है और ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यास्तके समय निमीलित कमलोंसे युक्त सरसी ही हो ॥३३५॥ यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगोंके साथ साथ कैलाश पर्वतपर गया, वहां जाकर उसने भगवान् वृषभदेवकी तीन प्रदक्षिणाएं दीं, स्तुति कीं और भक्तिपूर्वक अपने हाथसे महामह नामकी पूजा करता हुआ वह चौदह दिन तक इसी प्रकार भगवान्की सेवा करता रहा ॥३३६-३३७॥ माघ कृष्ण चतुर्दशीके दिन सूर्योदयके शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्रमें भगवान् वृषभदेव पूर्वदिशाकी ओर मुंहकर अनेक मुनियोंके साथ साथ पर्यकासतसे विराजमान हुए, उन्होंने तीसरे-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके शुक्ल ध्यानसे तीनों योगोंका निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थानमें ठहरकर पांच लघु अक्षरोंके उच्चारण प्रमाण कालमें चौथे व्युपरत क्रिया-निर्वर्ति नामके शुक्लध्यानसे अघातिया कर्मोंका नाश किया । फिर औदारिक, तैजस और कामण इन तीनों शरीरोंके नाश होनेसे सिद्धत्वपर्याय प्राप्तकर वे सम्यक्त्व आदि निजके आठ गुणोंसे युक्त हो क्षण भरमें ही तनुवातबलयमें जा पहुंचे तथा वहांपर नित्य, निरंजन, अपने शरीरसे कुछ कम, अमूर्त, आत्मसुखमें तल्लीन और निरन्तर संसारको देखते हुए विराजमान हुए ॥३३८-३४२॥ उसी समय मोक्ष-कल्याणककी पूजा करनेकी इच्छासे सब देव लोग आये उन्होंने “यह भगवान्का शरीर पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्षका साधन, स्वच्छ और निर्मल है” यह विचारकर उसे बहुमूल्य पालकीमें विराजमान किया । तदनन्तर जो अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके रत्नोंकी कान्तिसे देदीप्यमान उन्नत मुकुटसे उत्पन्न हुई है तथा चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगन्धित पदार्थों और घी दूध आदिसे बड़ाई गई है ऐसी अग्निसे जगत्की अभूतपूर्व सुगन्धि प्रकट कर उसका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी ॥३४३-३४६॥ गन्ध, पुष्प आदिसे जिसकी पूजा की गई है ऐसे उस अग्निकुण्डके दाहिनी ओर गणधरोंके शरीरका संस्कार करनेवाली अग्नि स्थापित की और बाईं ओर तीर्थंकर तथा गणधरोंसे अतिरिक्त अन्य सामान्य केवलियोंके शरीरका संस्कार

१ जिनम् । २ लोकालोकम् । ३ निर्वाणपूजां कर्तुमिच्छया । ४ याने स्थापितम् ।

५ मुकुटोद्भूतेन । ६ कपूरमणि । ७ कुङ्कुमादिभिः । ८ पूर्वस्मिन्नजातम् । ९ शरीराकारोपमर्बेन ।

१० भस्मीभावं चक्रुरित्यर्थः ।

ततो भस्म समादाय पञ्चकल्याणभागिनः । वयं च वं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥३४६॥
 कण्ठे हृदयदेशे च तेन संस्पृश्य भक्तितः । प्रत्यवित्रतमं मत्वा धर्मरागरसाहिताः ॥३४७॥
 तीर्थाद् सम्पादयामासुः सम्भूयानन्दनाटकम् । सप्तमोपासकाद्यास्ते सर्वेऽपि ब्रह्मचारिणः ॥३४८॥
 गार्हपत्याभिधं पूर्वं परमाहवनीयकम् । दक्षिणाग्निं ततो न्यस्य संध्यासु तिसृषु स्वयम् ॥३४९॥
 तच्छिखित्रयसांश्रित्ये चक्रमातपवारणम् । जिनेन्द्रप्रतिमाश्चैवास्थाप्य मन्त्रपुरस्सरम् ॥३५०॥
 तास्त्रिकालं समभ्यर्च्य गृहस्थैर्विहितादराः । भवतातिथयो यूयमित्याचार्यरूपासकान् ॥३५१॥
 स्नेहेनेष्टवियोगोत्थः प्रदीप्तः शोकपावकः । तदा प्रबुद्धमप्यस्य चेतोऽधाक्षीदधीशितुः ॥३५२॥
 गणो वृषभसेनाख्यस्तच्छ्लोकापनिनीषया । प्राक्स्तं वक्तुं सर्वेषां स्वेषां व्यक्तां भवावलीम् ॥३५३॥
 जयवर्मा भवे पूर्वं द्वितीयेऽभून्महाबलः । तृतीये ललिताङ्गाख्यो वज्रजङ्घश्चतुर्थके ॥३५४॥
 पञ्चमे भोगभूजोऽभूत् षष्ठ्यं श्रीधरोऽमरः । सप्तमे सुविधिः कृमाभूद् अष्टमेऽच्युतनायकः ॥३५५॥
 नवमे वज्रनाभीशो दशवेऽनृत्तरान्त्यजः । ततोऽवतीर्थं सर्वेन्द्रवन्दितो वृषभोऽभवत् ॥३५६॥
 धनश्रीरादिमे जन्मन्यतो निर्णायिका ततः । स्वयंप्रभा ततस्तस्माच्छ्रीमत्यार्या ततोऽभवत् ॥३५७॥
 स्वयंप्रभः सुरस्तस्माद् अस्मादपि च केशवः । ततः प्रतीग्रस्तस्माच्च धनदत्तोऽहमिन्द्रताम् ॥३५८॥
 गतस्ततस्ततः श्रेयान् दानतीर्थस्य नायकः । आश्चर्यपञ्चकस्यापि प्रथमोऽभूत् प्रवर्त्तकः ॥३५९॥

करनेवाली अग्नि स्थापित की, इस प्रकार इन्द्रोने पृथिवीपर तीन प्रकारकी अग्नि स्थापित की । तदनन्तर उन्हीं इन्द्रोने पञ्च कल्याणकको प्राप्त होनेवाले श्री वृषभदेवके शरीरकी भस्म उठाई और 'हम लोग भी ऐसे ही हों' यही सोचकर बड़ी भक्तिसे अपने ललाटपर दोनों भुजाओंमें, गलेमें और वक्षःस्थलमें लगाई । वे सब उस भस्मको अत्यन्त पवित्र मानकर धर्मानुरागके रससे तन्मय हो रहे थे ॥३४७-३५०॥ सबने मिलकर बड़े संतोषसे आनन्द नामका नाटक किया और फिर श्रावकोंको उपदेश दिया कि 'हे सप्तमादि प्रतिमाओंको धारण करनेवाले सभी ब्रह्मचारियो, तुम लोग तीनों संध्याओंमें स्वयं गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियोंकी स्थापना करो, और उनके समीप ही धर्मचक्र, छत्र तथा जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाओं की स्थापनाकर तीनों काल मन्त्रपूर्वक उनकी पूजा करो । इस प्रकार गृहस्थोंके द्वारा आदर सत्कार पाते हुए अतिथि बनो' ॥३५१-३५४॥

इधर उस समय इष्टके वियोगसे उत्पन्न हुई और स्नेहसे प्रज्वलित हुई शोकरूपी अग्नि भरतके प्रबुद्ध चित्तको भी जला रही थी ॥३५५॥ जब भरतका यह हाल देखा तब वृषभसेन गणधर भरतका शोक दूर करनेकी इच्छा से अपने सब लोगोंके पूर्वभव स्पष्ट रूपसे कहने लगे ॥३५६॥ उन्होंने कहा कि वृषभदेवका जीव पहले भवमें जयवर्मा था दूसरे भवमें महाबल हुआ, तीसरे भवमें ललिताङ्गदेव और चौथे भवमें राजा वज्रजङ्घ हुआ । पांचवें भवमें भोग-भूमिका आर्य हुआ । छठवें भवमें श्रीधरदेव हुआ, सातवें भवमें सुविधि राजा हुआ । आठवें भवमें अच्युतेन्द्र हुआ, नौवें भवमें राजा वज्रनाभि हुआ, दशवें भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ और वहांसे आकर सब इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय वृषभदेव हुआ है ॥३५७-३५९॥ श्रेयान् का जीव पहले भवमें धनश्री था, दूसरे भवमें निर्णायिका, तीसरे भवमें स्वयंप्रभा देवी, चौथे भवमें श्रीमती, पांचवें भवमें भोगभूमिकी आर्या, छठवें भवमें स्वयंप्रभदेव, सातवें भवमें केशव, आठवें भवमें अच्युतस्वर्गका प्रतीन्द्र, नौवें भवमें धनदत्त, दशवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और वहांसे

१ भस्मना । २ भस्म । ३ संस्थाप्य । ४ चावस्थाप्य ल०, प०, इ०, स० । ५ पात्रतया-भीक्षकाः । ६ चक्रिणः । ७ दहति स्म । ८ भरतस्य शोकमपनेतुमिच्छया । ९ प्रारभते स्म । १० सर्वार्थ-सिद्धिजः ।

अतिगृद्धः पुरा पश्चात्सारकोऽनु चमूरकः^१ । दिवाकरप्रभो देवस्तथा मतिवरा ह्वयः ॥३६३॥
ततोऽहमिन्द्रस्तस्माच्च तुवाहुर्हमिन्द्रताम् । प्राप्य त्वं भरतो जातः षट्खण्डाखण्डपालकः ॥३६४॥
आद्यः सेनापतिः पश्चादायस्तस्मात्प्रभञ्जकरः । ततोऽकम्पनभूपालः कल्पातीतस्ततस्ततः ॥३६५॥
महाबाहुस्ततश्चाभूद् अहमिन्द्रस्ततश्च्युतः । एष बाहुबली जातो जातापूर्वमहोदयः ॥३६६॥
मन्त्री प्राग्भोगभूमौऽनु सुरोऽनु कनकप्रभः । आनन्दोऽन्वहमिन्द्रोऽनु ततः पीठाह्वयस्ततः ॥३६७॥
अहमिन्द्रोऽग्रिमोऽभूवम् अहमद्य गणाधिपः । पुरोहितस्ततश्चार्यो बभूवास्मत्प्रभञ्जनः ॥३६८॥
धनमित्रस्ततस्तस्माद् अहमिन्द्रस्ततश्च्युतः । महापीठोऽहमिन्द्रोऽस्माद् अनन्तविजयोऽभवत् ॥३६९॥
उग्रसेनश्चमूरोऽतो भोगभूमिसमुद्भवः । ततश्चित्राङ्गदस्तस्माद् वरदत्तः सुरो जयः ॥३७०॥
ततो गत्वाऽहमिन्द्रोऽभूतस्माच्चागत्य भूतलम् । महासेनोऽभवत् कर्ममहासेनाजयोऽजितः ॥३७१॥
हरिवाहननामाद्यो वराहार्यस्ततोऽभवत् । मणिकुण्डल्यतस्तस्माद् वरसेनः सुरोत्तमः ॥३७२॥
ततोऽस्माद् विजयस्तस्माद् अहमिन्द्रो दिवश्च्युतः । अजनिष्ट विशिष्टेष्टः श्रीषेणः सेवितः श्रिया ॥३७३॥
नागदत्तस्ततो वानरायोऽस्माच्च मनोहरः । देवश्चित्राङ्गदस्तस्माद् अभूत् सामानिकः सुरः ॥३७४॥
ततश्च्युतो जयन्तोऽभूद् अहमिन्द्रस्ततस्ततः । महीतलं समासाद्य गुणसेनोऽभवद् गणी ॥३७५॥

आकर दानतीर्थका नायक तथा पंचाशचर्यकी सबसे पहले प्रवृत्ति करानेवाला राजा श्रेयान् हुआ है ॥३६०-३६२॥ तेरा जीव पहले भवमें अतिगृद्ध नामका राजा था, दूसरे भवमें नारकी हुआ, तीसरे भवमें शार्दूल हुआ, चौथे भवमें दिवाकर प्रभदेव हुआ, पांचवें भवमें मतिवर हुआ, छठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ, सातवें भवमें सुबाहु हुआ, आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें छह खण्ड पृथिवीका अखण्ड पालन करनेवाला भरत हुआ है ॥३६३-३६४॥ बाहुबलीका जीव पहले सेनापति था, फिर भोगभूमिमें आर्य हुआ । उसके बाद प्रभंकर देव हुआ, तदनन्तर अकम्पन हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, फिर महाबाहु हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब उसके बाद अपूर्व महा उदयकी धारण करनेवाला बाहुबली हुआ है ॥३६५-३६६॥ मैं पहले भवमें राजा प्रीतिवर्धनका मंत्री था, उसके बाद भोग-भूमिका आर्य हुआ, फिर कनकप्रभ देव हुआ, उसके पश्चात् आनन्द हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ, वहांसे आकर पीठ हुआ, फिर सर्वार्थ-सिद्धिका अहमिन्द्र हुआ और अब भगवान् वृषभदेवका गणधर हुआ हूं । अनन्तविजयका जीव सबसे पहले पुरोहित था, फिर भोगभूमिका आर्य हुआ, उसके बाद प्रभंजन नामका देव हुआ, फिर धनमित्र हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, उसके अनन्तर महापीठ हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब अनन्तविजय गणधर हुआ है ॥३६७-३६९॥ महासेन पहले भवमें उग्रसेन था, दूसरे भवमें शार्दूल हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमें चित्राङ्गद देव हुआ, पांचवें भवमें वरदत्त राजा हुआ, छठवें भवमें देव हुआ, सातवें भवमें जय हुआ, वहांसे चलकर आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें वहांसे पृथिवीपर आकर कर्मरूपी महासेनाको जीतनेमें अत्यन्त बलवान् महासेन हुआ है ॥३७०-३७१॥ श्रीषेणका जीव पहले भवमें हरिवाहन था, दूसरे भवमें वराह हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमें मणिकुण्डली देव हुआ, पांचवें भवमें वरसेन नामका राजा हुआ, छठवें भवमें उत्तम देव हुआ, सातवें भवमें विजय हुआ, आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें अतिशय पूज्य तथा लक्ष्मीसे सेवित श्रीषेण हुआ है ॥३७२-३७३॥ गुणसेनका जीव पहले नागदत्त था, फिर वानर हुआ, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोहर नामका देव हुआ, उसके पश्चात् चित्राङ्गद नामका राजा हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, वहांसे च्युत होकर

लोनुरो नहुलार्योऽस्माद् एतस्मात्समनोरथः । ततोऽपि शान्तमदनस्ततः सामानिकामरः ॥३७६॥

राजाऽपराजितस्तस्माद्दहमिन्द्रस्ततोऽजनि । ततो ममानुजो जातो जयसेनोऽयमूजितः ॥३७७॥

इत्यस्मिन्भवसङ्कटे भवभूतः स्वोऽरनिष्टस्तथा

संयोगः सहसा वियोगचरमः सर्वस्य नन्वीदृशम् ।

त्वं जानन्नपि किं विषण्णहृदयो विश्लिष्टकर्माष्टको

निर्वाणं भगवानवापदनुलं तोषे विषादः कुतः ॥३७८॥

वयमपि^१ चरमाङ्गाः सङ्गमाच्छुद्धबुद्धेः

सकलमलविलोपापादितात्मस्वरूपा ।

निक्षपमसुखसारं चक्रवर्त्तिस्तदीयं^२

पदमचिरतरेण प्राप्नुमोऽनार्यमन्यः ॥३७९॥

भवतु सुहृदां मृत्यो शोकः शुभाशुभकर्मभिः

भवति हि स^३ चेत्तेषामस्मिन्पुनर्जन्तावहः ।

विनिहतभवे प्रार्थ्यं तस्मिन्^४ स्वयं समुपागते

कथमयमहो धीमान् कुर्यान्नुचं यदि नो रिपुः ॥३८०॥

अष्टापि दुष्टरिपवोऽस्य समूलतूलं^५

नष्टा गुणैर्गुहभिरष्टभिरप्यजुष्टः^६ ।

किं नष्टमत्र निधिनाय जहीहि मोहं

^७सन्धेहि शोकविजयाय धियं विशुद्धाम् ॥३८१॥

जयन्त हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब वहाँसे पृथिवीपर आकर गुणसेन नामका गणधर हुआ है ॥३७४-३७५॥ जयसेनका जीव पहले लोलुप नामका हलवाई था, फिर नेवला हुआ, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोरथ नामका देव हुआ, उसके पश्चात् राजा शान्तमदन हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, तदनन्तर राजा अपराजित हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब मेरा छोटा भाई अतिशय बलवान् जयसेन हुआ है ॥३७६-३७७॥ श्री वृषभ-सेन गणधर चक्रवर्ती भरतसे कह रहे हैं कि इस संसाररूपी संकटमें इसी प्रकार सब प्राणियोंको इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंका संगम होता है और अन्तमें अकस्मात् ही उसका नाश हो जाता है, तू यह सब जानता हुआ भी इतना खिन्नहृदय क्यों हो रहा है ? भगवान् वृषभदेव तो आठों कर्मोंको नष्टकर अनुपम मोक्षस्थानको प्राप्त हुए हैं फिर भला ऐसे संतोषके स्थानमें विषाद क्यों करता है ? ॥३७८॥ हे चक्रवर्तिन्, हम सब लोग भी चरमशरीरी हैं, शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान्के समागमसे सम्पूर्ण कर्ममलको नष्टकर आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए हैं और अनुपम सुखसे श्रेष्ठ तथा अन्य मिथ्यादृष्टियोंके दुर्लभ उन्हीं भगवान्के पदको हम लोग भी बहुत शीघ्र प्राप्त करेंगे ॥३७९॥ इष्ट मित्रोंकी मृत्यु होनेपर शोक हो सकता है क्योंकि उनकी वह मृत्यु शुभ अशुभ कर्मोंसे होती है और फिर भी इस संसारमें उनका जन्म करानेवाली होती है, परन्तु जिसने संसारका नाश कर दिया है और निरन्तर जिसकी प्रार्थना की जाती है ऐसा सिद्ध पद यदि स्वयं प्राप्त हो जावे तो इस बुद्धिमान् मनुष्यको यदि वह शत्रु नहीं है तो शोक कैसे करना चाहिये ? भावार्थ—हर्षके स्थानमें शत्रुको ही शोक होता है, मित्रको नहीं होता इसलिये तुम सबको आनन्द मानना चाहिये न कि शोक करना चाहिये ॥३८०॥ हे निधिपते, भगवान् वृषभदेवको आठों ही दुष्ट शत्रु जड़ और शाखा सहित बिलकुल

१ वृषभसेनभरतादयः । २ पुरोः सम्बन्धि । ३ अप्रापणीयम् । ४ मृत्युः । ५ संसारे । ६ मृत्यौ ।

७ कारणसहितम् । ८ सेवितः । ९ सम्यग् धारय ।

देहव्युत्पत्तौ यदि गुरोर्गुरु^१ शोचसि त्वं
 तं भस्मसात्कृतिमवाप्य^२ विबुद्धरागाः ।
 प्राग्जन्मनोऽपि^३ परिकर्मकृतोऽस्य^४ कस्माद्
 आनन्दनुत्तमधिकं विदधुर्बुनाथाः ॥३८२॥
 नेत्रे विश्वदृशं शृणोमि न वचो दिव्यं तदद्विष्टद्वयं
 नम्रस्तप्रखभाविभासिमुकुटं^५ कतुं लभे नाधुना ।
 तस्मात् स्नेहवशोऽस्म्यहं बहुतरं शोकीति चेदस्त्वदं
 किन्तु भ्रान्तिरियं व्यतीतविषयप्राप्त्यं भवत्प्रार्थना ॥३८३॥
 त्रिज्ञानवृत्^६ त्रिभुवनैकगुरुर्गुरुस्ते
 स्नेहेन मोहविहितेन^७ विनाशयेः किम् ।
 स्वोदात्ततां^८ शतमखस्य न लज्जसे किं
 तस्मात्तव^९ प्रथममुक्तिर्गतिं न वेत्सि^{१०} ॥३८४॥
 इष्टं किं किमनिष्टमत्र वितथं सङ्कल्प्य जन्तुर्जडः
 किञ्चिद्द्वेष्टद्यपि वण्टि^{११} किञ्चिद्वनयोः कुर्यादपि व्यत्ययम् ।
 तेनैनोऽनुगति^{१२} स्ततो भववने भव्योऽप्यभव्योपमो
 भ्राम्यत्येव कुमार्गवृत्तिरधनो^{१३} बाऽऽतडकभीदुःखितः ॥३८५॥

ही नष्ट हो गये हैं और अब वे आठ बड़े बड़े गुणोंसे सेवित हो रहे हैं, भला, इसमें क्या हानि हो गई ? इसलिये अब तू मोह छोड़ और शोकको जीतनेके लिये विशुद्ध बुद्धिको धारण कर ॥३८१॥ पूज्य पिताजीका शरीर छूट जानेसे यदि तू इतना अधिक शोक करता है तो बतला, जन्मसे पहले ही उनकी सेवा करनेवाले और बड़े हुए अनुरागको धारण करनेवाले ये देव लोग भगवान्‌के शरीरको भस्म कर इतना अधिक आनन्द नृत्य क्यों कर रहे हैं ? भावार्थ—ये देव लोग भी भगवान्‌से अधिक प्रेम रखते थे, जन्मसे पहले ही उनकी सेवामें तत्पर रहते थे फिर ये उनके शरीरको जलाकर क्यों आनन्द मना रहे हैं इससे मालूम होता है कि भगवान्‌का शरीर छूट जाना दुःखका कारण नहीं है तू व्यर्थ ही क्यों शोक कर रहा है ? ॥३८२॥ कदाचित् तू यह कहेगा कि 'अब मैं उनके दर्शन नहीं कर रहा हूं, उनके दिव्य वचन नहीं सुन रहा हूं, और उनके दोनों चरणोंमें नम्र होकर उनके नखोंकी कान्तिसे अपने मुकुटको देदीप्यमान नहीं कर पाता हूं, इसलिये ही स्नेहके वशसे आज मुझे बहुत शोक हो रहा है तो तेरा यह कहना ठीक है परन्तु बीती हुई वस्तुके लिये प्रार्थना करना तेरी भूल ही है ॥३८३॥ हे भरत, तेरे पिता तो तीनों लोकोंके अद्वितीय गुरु थे और तू भी तीन ज्ञानोंका धारक है फिर इस मोहजात स्नेहसे अपनी उत्तमता क्यों नष्ट कर रहा है ? क्या तुझे ऐसा करते हुए इन्द्रसे लज्जा नहीं आती ? अथवा क्या तू यह नहीं समझता है कि मैं इन्द्रसे पहले ही मोक्षको प्राप्त हो जाऊंगा ? ॥३८४॥ इस संसारमें क्या इष्ट है ? क्या अनिष्ट है ? फिर भी यह मूर्ख प्राणी व्यर्थ ही संकल्प कर किसीसे द्वेष करता है, किसीको चाहता है और कभी दोनोंको उलटा समझ लेता है, इसलिये ही इसके पापकी परम्परा चलती रहती है और इसलिये ही यह भव्य होकर भी

१ बहलं यथा भवति तथा । २ देहम् । ३ भस्माधीनम् । ४ नीत्वा । ५ उत्पत्तेरादावपि ।
 ६ परिचर्याकराः । ७ वृषभस्य । ८ तस्य नखकान्त्या भासत इति । ९ भी त्रिज्ञानधारिन् भरत ।
 १० अज्ञानकृतेन । ११ भवदुदात्तत्वम् । १२ शतमखात् । १३ न जानासि किम् । १४ बाञ्छति ।
 १५ कारणेन । १६ पापानुगतिः । १७ निर्धन इव ।

भव्यस्यापि भवोऽभवद् भवगतः कालादिलब्धेविना
 कालोऽनादिरचिन्त्यदुःखनिचितो धिक् धिक् स्थिति संसृतेः ।
 इत्येतद्विदुषाञ्च शोच्यमथवा नैतच्च यद्देहिनाम्
 भव्यत्वं बहुधा महीश सहजा वस्तुस्थितिस्तादृशी ॥३८६॥
 गतानि सम्बन्धशतानि जन्तोरनन्तकालं परिवर्तनेन
 नावेहि किं त्वं हि विबुद्धविश्वो वृथैव मुह्येः किं मिहेतरो वा ॥३८७॥
 कर्मभिः कृतमस्यापि न स्थास्नु त्रिजगत्पतेः ।
 शरीरादि ततस्त्याज्यं मन्वते तन्मनीषिणः ॥३८८॥
 प्रागक्षिणोचरः सम्प्रत्येष चेतसि वर्तते ।
 भगवोस्तत्र कः शोकः पश्यन् तत्र सर्वदा ॥३८९॥
 इति मनसि यथार्थं चिन्तयन् शोकवर्द्धि
 शमय विमलबोधाम्भोभिरित्यावभावे ।
 गणभृदथ स चक्री दावदधो महीधरो
 नवजलदजलैर्वा तद्वचोभिः प्रशान्तः ॥३९०॥
 चिन्तां व्यपास्य गुरुशोककृतां गणेशम्
 आनम्य नम्रमुकुटो निकटात्मबोधिः ।
 निन्दश्रितान्तनितरां निजभोगतृष्णां
 मोक्षोष्णकः^१ स्वनगरं व्यविशद् विभूत्या ॥३९१॥

अभव्यकी तरह दुखी, निर्धन, कुमार्गमें प्रवृत्ति करनेवाला और रोगोंसे भयभीत होता हुआ
 इस संसाररूपी वनमें भ्रमण करता रहता है ॥३८५॥ काल आदि लब्धियोंके बिना पूज्य
 भव्य जीवको भी संसारमें रहना पड़ता है, यह काल अनादि है तथा अचिन्त्य दुःखोंसे भरा
 हुआ है इसलिये संसारकी इस स्थितिको बार बार धिक्कार हो, यही सब समझ विद्वान् पुरुष-
 को इस संसारमें शोक नहीं करना चाहिये अथवा जीवोंका यह भव्यत्वपना भी अनेक प्रकारका
 होता है । हे राजन्, वस्तुका सहज स्वभाव ही ऐसा है ॥३८६॥ हे भरत, तू तो संसार-
 का स्वरूप जाननेवाला है, क्या तू यह नहीं जानता कि अनन्त कालसे परिवर्तन करते रहनेके
 कारण इस जीवके सैकड़ों सम्बन्ध हो चुके हैं ? फिर क्यों अज्ञानीकी तरह व्यर्थ ही मोहित
 होता है ॥३८७॥ तीनों लोकोंके अधिपति भगवान् वृषभदेवका शरीर भी तो कर्मोंके द्वारा
 किया हुआ है इसलिये वह भी स्थायी नहीं है और इसलिये ही विद्वान् लोग उसे हेय समझते
 हैं ॥३८८॥ जो भगवान् पहले आंखोंसे दिखाई देते थे वे अब हृदयमें विद्यमान् हैं इसलिये
 इसमें शोक करनेकी क्या बात है ? तू उन्हें अपने चित्तमें सदा देखता रह ॥३८९॥ इस
 प्रकार मनमें वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन करता हुआ तू निर्मल ज्ञानरूपी जलसे शोक-
 रूपी अग्नि शान्त कर, ऐसा गणधर वृषभसेनने कहा तब चक्रवर्ती भी जिस प्रकार दावानलसे
 जला हुआ पर्वत नवीन बादलोंके जलसे शान्त हो जाता है उसी प्रकार उनके वचनोंसे शान्त
 हो गया ॥३९०॥ जिसे आत्मज्ञान शीघ्र होनेवाला है और जिसका मुकुट नम्रभूत हो रहा
 है ऐसे भरतने पिताके शोकसे उत्पन्न हुई चिन्ता छोड़कर गणधरदेवकी नमस्कार किया और
 अत्यन्त बड़ी हुई अपनी भोगविषयक तृष्णाकी निन्दा करते हुए तथा मोक्षके लिये उत्सुक होते
 हुए उसने बड़े वैभवके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया ॥३९१॥

१ संसारानुगतः । २ संसारे । ३ शोकविषयम् । ४ अन्य अज्ञ इवेत्यर्थः । ५ चेतसि । ६ मुक्त्युद्योगे
 दक्षः । 'दक्षे तु चतुरपेशलपटवः । सूत्रान् उष्णश्च' इत्यभिधानात् शीघ्रकारी वर्गः । मोक्षोत्सुकः ल० ।

अथ कदाचिदसौ वदनाम्बुजं
 समभिवीक्ष्य समुज्ज्वलदर्पणे ।
 पलितमैक्षत दूतमिवागतं
 परमसौख्यपदात् पुरुषमिधेः ॥३९२॥
 आलोक्य तं गलितमोहरसः स्वराज्यं
 मत्वा जरत्तूणमिवोद्गतबोधिरुद्यन्^१ ।
 आदातुं भातमहितमात्मजमर्ककीर्तिं
 लक्ष्म्या स्वया स्वयमयोजयदूर्जितेच्छः ॥३९३॥
 विदितसकलतत्त्वः सोऽप्यवर्गस्य मार्गं
 जिग^२मिबुरपसत्त्वे^३र्दुग्मं निष्प्रयासम् ।
 'यमसमितिसमग्रं संयमं सम्भलं^४ वा-
 ऽदित^५ विदितस^६मर्याः किं परं प्रार्थयन्ते ॥३९४॥
 मनःपर्ययज्ञानमप्यस्य सद्यः
 समुत्पन्नवत्^७ केवलं जानु^८ तस्मात्^९ ।
 तदेवाभवद् भव्यता तादृशी सा
 विचित्राङ्गिनां निर्वृतिः प्राप्तिरत्र ॥३९५॥
 स्वदेशोद्भवैरेव^{१०} सम्पूजितोऽसौ
 सुरेन्द्रादिभिः साम्प्रतं वन्द्यमानः ।
 त्रिलोकाधिनाथोऽभवात्किं न साध्यं
 तपो दुष्करं चेत् समादातुमीशः^{११} ॥३९६॥

अथानन्तर भरत महाराजने किसी समय उज्ज्वल दर्पणमें अपना मुखकमल देखकर परम सुखके स्थान स्वरूप भगवान् वृषभदेवके पाससे आये हुए दूतके समान सफेद बाल देखा ॥३९२॥ उसे देखकर जिनका सब मोहरस गल गया है, जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है जो आत्महितको ग्रहण करनेके लिये उद्युक्त हैं और जिनकी वैराग्यविषयक इच्छा अत्यन्त सुदृढ़ तथा वृद्धिशील है ऐसे भरतने अपने राज्यको जीर्णतृणके समान मानकर अपने पुत्र अर्ककीर्ति-को अपनी लक्ष्मीसे युक्त किया अर्थात् अपनी समस्त सम्पत्ति अर्ककीर्तिको प्रदान कर दी ॥३९३॥ जिसने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जो हीन जीवोंके द्वारा अगम्य मोक्षमार्गमें गमन करना चाहते हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने मार्ग हितकारी भोजनके समान प्रयासहीन यम तथा समितियोंसे पूर्ण संयमको धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाले पुरुष संयमके सिवाय अन्य किस पदार्थकी प्रार्थना करते हैं ? ॥३९४॥ उन्हें उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रकट हो गया । उनकी वैसी भव्यता उसी समय प्रकट हो गई सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोंको मोक्षकी प्राप्ति बड़ी विचित्र होती है ॥३९५॥ जो भरत पहले अपने देशमें उत्पन्न हुए राजाओंसे ही पूजित थे वे अब इन्द्रोंके द्वारा भी वन्दनीय हो गये । इतना ही नहीं, तीन लोकके स्वामी भी हो गये सो ठीक ही है जो कठिन तपश्चरण ग्रहण करनेके लिये समर्थ रहता है उसे क्या क्या वस्तु साध्य

१ उत्समानः । २ गन्तुमिच्छुः । ३ अपगतबलैः । ४ मूलगुणसमूहः । ५ पादेयमिव । ६ स्वीकृत-वान् । ७ ज्ञातसमीचीनार्थाः । ज्ञातार्थक्रियासमर्था वा । ८ समुद्भूतम् । ९ पश्चात् । १० संयमात् । ११ षट्खण्डनैः । १२ समर्थः ।

परिचितयतिहंसो^१ धर्मवृष्टिं निषिञ्चन्
 नभसि कृतनिवेशो निर्मलस्तुङ्गवृत्तिः ।
 फलमधिकलमध्यं भव्यसंस्थेषु कुर्वन्
 व्यहरदखिलदेशान् शारदो वा स मेघः ॥३९७॥
 विहृत्य सुचिरं^२ विनेयजनतोऽपकृत्स्वायुषो,
 मुहूर्तपरिमास्थितो^३ विहितसत्क्रियो विच्युतो ।
 तनुश्रितयबन्धनस्य गुणसारमूर्तिः स्फुरन्
 जगत्त्रयशिखामणिः सुखनिधिः स्वधाम्नि स्थितः ॥३९८॥
 सर्वेऽपि ते वृषभसेन मुनीशमुख्याः
 सौख्यं^४ गताः सकलजन्तुषु शान्तचित्ताः ।
 कालक्रमेण यमशीलगुणाभिपूर्णा
 निर्वाणमापुरमितं गुणिनो गणीन्द्राः ॥३९९॥
 यो नेतेव^५ पृथुं जघान दुरितारारिं चतुस्तामनो^६
 येनाप्तं कनकादमेव विमलं रूपं स्वमाभा^७स्वरम् ।
 आभेजुश्चरणौ सरोजजयिनी यस्यातिनो बाधरा-
 स्तं त्रैलोक्यगुरुं पुहं श्रितवतां श्रेयांसि वः स क्रियात् ॥४००॥
 योऽभूत्पञ्चदशो विभुः कुलभृतां तीर्थेशिनां चाग्रिमो
 दृष्टो येन मनुष्यजीवनविधिर्मुक्तेश्च मार्गो महान् ।
 बोधो रोध^८विमुक्तवृत्तिरखिलो यस्योदयाद्यतिमः^९
 स श्रीमान् जनकोऽखिला^{१०} वनिपतेराद्यः स दद्यान्निष्ठुम् ॥४०१॥

नहीं है अर्थात् सभी वस्तुएं उसे साध्य हैं ॥३९६॥ मुनिरूपी हंस जिनसे परिचित है, जो धर्म-
 की वर्षा करते रहते हैं, जो आकाशमें निवास करते हैं, निर्मल हैं, उत्तमवृत्तिवाले हैं (पक्षमें ऊंचे
 स्थानपर विद्यमान रहते हैं) और जो भव्य जीवरूपी धानोंमें मोक्षरूपी पूर्ण फल लगानेवाले
 हैं ऐसे भरत महाराजने शरद् ऋतुके मेघके समान समस्त देशोंमें विहार किया ॥३९७॥
 चिरकालतक विहारकर जिन्होंने शिक्षा देने योग्य जनसमूहका बहुत भारी कल्याण किया है
 ऐसे भरत महाराजने अपनी आयुकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बाकी रहनेपर योगनिरोध
 किया और औशरिक, तैजस तथा कामाणि इन तीन शरीररूप बन्धनोंके नष्ट होनेपर सम्यक्त्व
 आदि सारभूत गुण ही जिनकी मूर्ति रह गई है, जो प्रकाशमान हैं, जगत्त्रयके चूडामणि हैं और
 सुखके भाण्डार हैं ऐसे वह भरतेश्वर आत्मधाममें स्थित हो गये अर्थात् मोक्षको प्राप्त हो गये
 ॥३९८॥ जो समस्त जीवोंके विषयमें शान्तचित्त हैं, उत्तम सुखको प्राप्त हैं, यम शील आदि
 गुणोंसे पूर्ण हैं, गुणवान् हैं और गण अर्थात् मनिसमूहके इन्द्र हैं ऐसे वृषभसेन आदि मुख्य मुनिराज
 भी कालक्रमसे अपरिमित निर्वाणधामको प्राप्त हुए ॥३९९॥ जिन्होंने नेताकी तरह चार
 आराधनारूप चार प्रकारकी सेनाको साथ लेकर पापरूपी विशाल शत्रुको नष्ट किया था,
 जिन्होंने सुवर्ण पाषाणके समान अपना देदीप्यमान स्वरूप प्राप्त किया है, भ्रमरोंके समान
 सब देवलोग जिनके कमलविजयी चरणोंकी सेवा करते हैं और जो तीन लोकके गुरु हैं ऐसे श्री
 भगवान् वृषभदेवकी सेवा करनेवाले तुम सबको वे ही कल्याण प्रदान करनेवाले हों ॥४००॥
 जो कुलकरोंमें पन्द्रहवें कुलकर थे, तीर्थंकरोंमें प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होंने मनुष्योंकी जीविका

१ परिवेष्टितयतिमुख्यः । २ भव्यजनसमूहस्थोपकारि । ३ मुहूर्तपरिसमास्थितौ सत्याम् । ४ सख्यं
 ल० । ५ सेनापतिरिव । ६ चतुर्विधाराधनसाधनः । ७ आ समन्ताद् भास्वरम् । ८ जीवितकल्पः ।
 ९ आवरणविभुक्तः । १० उत्पन्नजान् । ११ भरतस्य ।

साक्षात्कृतप्रथितसप्तपदार्थसार्थः

सद्धर्मतीर्थपथपालनमूलहेतुः ।

भग्यात्मना भवभूतां स्वपरार्थसिद्धि-

निष्वाकुबंशवृषभो वृषभो विदध्यात् ॥४०२॥

यो नाभेस्तथोऽपि विश्वविदुषां पूज्यः स्वयम्भूरिति

त्यक्ताशेषपरिग्रहोऽपि सुधियां स्वामीति यः शब्द्यते ।

मध्यस्थोऽपि विनेयसत्त्वसमितेरेवोपकारी मतो

निर्दानीऽपि धुधेरपास्य चरणो यः सोऽस्तु यः शान्तये ॥४०३॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसङ्ग्रहे

प्रथमतीर्थं चक्रचक्रधरपुराणं नाम सप्तचत्वारि-

शत्तमं पर्व परिसमाप्तम् ॥४७॥

की विधि और मोक्षका महान् मार्ग प्रत्यक्ष देखा था, जिन्हें आवरणसे रहित पूर्ण अन्तिम—केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और जो समस्त पृथिवीके अधिपति भरत चक्रवर्तीके पिता थे वे श्रीमान् प्रथम तीर्थंकर तुम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥४०१॥ जिन्होंने प्रसिद्ध सप्त पदार्थोंके समूह को प्रत्यक्ष देखा है और जो समीचीन धर्मरूपी तीर्थके मार्गकी रक्षा करनेमें मुख्य हेतु हैं ऐसे इक्ष्वाकु वंशके प्रमुख श्री वृषभनाथ भगवान् संसारी भव्य प्राणियोंको मोक्षरूपी आत्माकी उत्कृष्ट सिद्धिको प्रदान करें ॥४०२॥ जो नाभिराजके पुत्र होकर भी स्वयंभू हैं अर्थात् अपने आप उत्पन्न हैं, समस्त विद्वानोंके पूज्य हैं, समस्त परिग्रहका त्याग कर चुके हैं फिर भी विद्वानोंके स्वामी कहे जाते हैं, मध्यस्थ होकर भी भव्यजीवोंके समूहका उपकार करनेवाले हैं और दानरहित होनेपर भी विद्वानोंके द्वारा जिनके चरणोंकी सेवा की जाती है ऐसे भगवान् वृषभदेव तुम सबकी शान्तिके लिये हों अर्थात् तुम्हें शान्ति प्रदान करनेवाले हों ॥४०३॥

इस प्रकार भगवान् गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीमहापुराण

संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्तीका

वर्णन करनेवाला यह सैंतालीसवां पर्व पूर्ण हुआ ।

पुराणाब्धिरगम्योऽयमर्थवीचिविभूषितः ।

सर्वथा शरणं मन्ये जिनसेनं महाकविम् ॥

पारग्रामो जन्मभूमिर्यदीया

गल्लीलालो जन्मदाता यदीयः ।

पन्नालालः क्षुद्रबुद्धिः स चाहं

टीकामेतां स्वल्पबुद्ध्या चकार ॥

आषाढकृष्णपक्षस्य त्रयोदश्यां तिथावियम् ।

पञ्चसप्तचतुर्युग्मवर्षे पूर्णा बभूव सा ॥

ते ते जयन्तु विद्वांसो वन्दनीयगुणाधराः ।

यत्कृपाकोणमालम्ब्य तीर्णोऽयं शास्त्रसागरः ॥

महापुराण-द्वितीयभागस्थ-

इलोकानामकाराद्यनुक्रमः

अ	अच्छैत्तीच्छत्रमस्त्राणि	४१६	अथ चक्रधरो जैनीम्	६
अकम्पनः खलः क्षुब्धो	अजानुलम्बिता ब्रह्म	७	अथ जन्मान्तरापात-	४४
अकम्पनमहाराजम्	अजितञ्जयमारुक्षत्	३८	अथ जातिमदावेशात्	२७
अकम्पनमहीशस्य	अञ्चित्वा विधिना स्तुत्वा	४१८	अथ तत्र कृतावासम्	६
अकम्पनस्य सेनेशो	अणिमादिभिरष्टाभिः	२५७	अथ तत्र शिलापट्टे	१२
अकम्पनैः किमित्येवम्	अताप्सीत् प्रणेतानेष	६६	अथ तत्रस्थ एवाधिष्णुम्	५
अकम्पनोऽप्यनुप्राप्य	अतिक्रान्ते रथे तस्मिन्	३८७	अथ तस्मिन् वनाभोगे	७
अकरां भोक्तुमिच्छन्ति	अतिगृद्धः पुरा पश्चात्	५०६	अथ ते कृतसम्मानाः	२४
अकस्मात् कुपितो दन्ती	अतिपरिणतरेत्या	४४४	अथ ते सह सम्भूय	१५
अकस्मादुच्चरद्ध्वानम्	अतिवृद्धः क्षयासन्नः	३६७	अथ दुर्मर्षणो नाम	३८
अकायसायकोद्भिन्न-	अतिवृद्धरसावेगं	४३६	अथ दूतवचस्वच्छन्द-	२०
अकारणरणेनालम्	अतीत्य परतः किञ्चित्	१३७	अथ देशोऽस्ति विस्तीर्णः	३६
अकालप्रलयारम्भ-	अतीन्द्रियसुखोऽप्यात्मा	३३७	अथ निर्वृतिताशेष-	२२
अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः	अतीन्द्रियात्मदेहश्च	३३७	अथ नृपतिसमाजेनाचितः	११
अक्षम्रक्षणाभावं ते	अतोऽतिबालविद्यादीन्	३१५	अथ प्रादुरभूत् कालः	३७
अक्षरत्वं च मुक्तस्य	अत्यन्तरसिकानादौ	२०७	अथ मेघस्वरौ गत्वा	४२
अक्षिमालां महाभूत्या	अत्यम्बुपानादुद्रिक्त-	४०	अथ रथपरिवृत्त्यै	५
अक्षिमाला किल प्रप्ता	अत्यासङ्गात् क्रमग्राहि-	४३३	अथवा कर्म नोर्कर्म गर्भेऽस्य	३३
अक्षीणावस्थः सोऽभूत्	अत्र चिन्त्यं न वः किञ्चित्	३६४	अथवा खलु संशय्य	२
अखण्डमनुरागेण	अत्र वामुत्र वासोऽस्तु	४१७	अथवाऽयं भवेदस्य	३५
अगादहः पुरस्कृत्य	अत्रान्तरे गिरीन्द्रेऽस्मिन्	१२२	अथवा तन्त्रभूयस्त्वम्	२०
अगोष्पदमिदं देव	अत्रान्तरे ज्वलन्मीलि-	१०४	अथवा दुर्मदाविष्ट-	१५
अगोष्पदेष्टव्येषु	अत्रापि पूर्ववद्दानम्	२४८	अथवाद्यापि जेतव्यः	१५
अग्निमित्रोऽय मित्राग्निः	अत्रायं भुजगशिशुः	५३	अथवा सोऽनभिज्ञोऽपि	३१
अग्रण्या दण्डरत्नेन	अत्रेत्याखिलत्रेयुक्तम्	४७६	अथ व्यापारयामास	१
अङ्गसादं मतिभ्रंशम्	अत्रैकेषां निसृष्टार्थान्	३७१	अथ सम्मुखमागत्य	११
अङ्गादङ्गात्सम्भवसि	अत्रैव न पुनर्वैति	४४४	अथ सरसि जिहानाम्	१
अङ्गानां सप्तमादङ्गात्	अत्रैव नाटकाचार्यतनूजा	४७२	अथातः श्रेणिकः पीत्वा	३१
अङ्गान् मरिगभिरत्यङ्गैः	अत्रैव सप्तमेऽह्नि	४६६	अथातः सम्प्रवक्ष्यामि	२०
अचलो मेरुस्तैश्च	अथ कदाचिदसौ वदनाम्बुजं	५१३	अथातः सम्प्रवक्ष्यामि	२०
अचिन्तयन् किं नाम	अथ चक्रधरः काले	३१७	अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि	३
अचिन्तयन् किं नाम	अथ चक्रधरः पूजाम्	१	अथान्यदा जगत्काम-	३
अचिरान्च तमासाद्य	अथ चक्रधरस्यासीत्	१७२	अथान्यदा समुत्पन्न-	५

अथान्येद्युः सभामध्ये	४७५	अमालपन्तीमालाप्य	४३२	अन्यथा सृष्टिवादेन	३१३
अथान्येद्युरूपारूढ-	११२	अनाशितं भवं पीत्वा	४२	अन्येद्युः खचराधीशो	४६०
अथान्येद्युर्दिनारम्भे	३३	अनाशुषोऽपि तस्यासीत्	२१४	अन्येद्युः प्रियदत्तासौ	४५२
अथापरान्तनिर्जंतुम्	८१	अनाश्वान्नियताहार-	२८७	अन्येद्युरिभमारुह्य	३६०
अथाब्रवीद् द्विजन्मभ्यो	२६६	अनित्या द्राणसंसारै-	२१५	अन्येद्युर्मैथुनो राज्ञः	४७४
अथावरुह्य कैलासात्	१५१	अनिराकृतसन्तापा	१८०	अन्येद्युर्यतिमासाद्य	४७०
अथास्मै व्यतरत् प्रांशु-	१२७	अनिष्टवन्ति ते वेयम्	२०७	अन्येद्युर्वसुधारादि-	४५८
अथोदीरिततीर्थेश-	४६८	अनुकूलानिलोत्क्षिप्त-	४०७	अन्येऽप्यन्याश्च भूपाला-	४१६
अथोपाचक्रमे वक्तुम्	१७७	अनुगङ्गातटं देशान्	१३१	अन्येऽस्मी च खगाधीशा	३८१
अथोभयबले धीराः	२०३	अनुगङ्गातटं भाति	२०	अन्येष्वपि कलाशास्त्र-	३२६
अथोरुष्यभटानीक-	१८६	अनुगङ्गातटं यान्ती	३५	अन्यैश्च निश्चितत्यागै-	५०२
अदधुर्धनवृन्दानि	६	अनुगङ्गातटं सैन्यैः	१२७	अन्योऽन्यं खण्डयन्ति स्म	४०५
अदीक्षाहं कुले जाता	३११	अनुतीरवनम्	५४	अन्योऽन्यं सह सम्भूय	३२३
अदीनमनसः शान्ताः	१६८	अनुत्तरनिमानौप-	१६३	अन्योऽन्यरदनोदभिन्नौ	४०८
अदूरपारः कायोऽयम्	४६२	अनुद्धता गभीरत्वम्	४	अन्योन्यविषयं सौख्यम्	४३३
अदृष्टपारमक्षोभ्यम्	४४	अनुद्धताः मृगाः द्यावैः	६८	अन्योन्यस्येति सञ्जन्तैः	३४
अदृष्टमश्रुतं कृत्यं	१५६	अनुप्रवृद्धकल्याण-	४५४	अपमृत्युविनाशनम्	२६३
अद्यासिधु प्रयातव्यम्	३४	अनुभेरीरवं सद्यः	३६२	अपराधः कृतोऽस्माभिः	४२६
अद्यैव च प्रहेतव्याः	१५८	अनुयायिनि तत्त्यागादिव	२६५	अपरीक्षितकार्यिणाम्	४७५
अधस्ताद् वक्त्रविवरम्	४५६	अनुरक्ततया दूरम्	१६१	अपरेद्युर्दिनारम्भे	२६२
अधावयदसौ किञ्चित्	४८१	अनुरक्तापि सन्ध्येय-	१८८	अपापोपहृतां वृत्तिः	२४३
अधिकारे ह्यसत्यस्मिन्	३१४	अनुबाधितं कर्षन्	६२	अपातयन्महामेरुम्	४६०
अधित्यकासु सोऽन्याद्रेः	१३३	अनुबाधितं गत्वा	६३	अपायो हि सपत्नेभ्यः	२६४
अधिमेखलमस्यासीत्	१२५	अनुवेणुमतीतीरम्	६८	अपि चात्र मनःखेद-	३४१
अधिकश्चस्तरं जिष्णो	२०४	अनुसिन्धुतं सैन्यैः	६७	अपि चाद्य मया स्वप्ना	३१६
अधिवासितजैनास्त्रः	३८	अनृत्यितेषु सम्प्रीत्या	२६५	अपि चास्मदुपजं यद्	३१७
अधिश्य्य गुहागर्भम्	११५	अनेकमन्तरद्वीप-	४३	अपि चैषां विगुह्यङ्गम्	२८२
अधिष्ठाय जयः	३६५	अनेकानुनयोपायै-	४४६	अपि रागं समुत्सृज्य	२५५
अधीतविद्यं तद्विद्यैः	२५५	अन्तःकोपोऽन्ययम्	४१०	अपूर्वतत्त्वसन्दर्भैः	३७
अधोभागमधोर्ध्वं च	४४८	अन्तःप्रकृतिजः कोपो	१७३	अपूर्वलाभः श्लाघ्यश्च	३७०
अधोमुखाः खगैर्मुक्ताः	४००	अन्तःकः समवर्तीति	४०२	अपृच्छत् सोऽब्रवीदेषा	४८३
अध्यानमात्रमेत्याराद्	२०५	अन्तमस्य विधास्यामि	४४३	अत्सर्व्यस्तिमिरयमाजिषाम्	५५
अधुवत्वं गुरां मन्ये	४६४	अन्तर्हासो जयः सर्वम्	४०५	अबन्धाद् बन्धुरां तस्य	३८४
अनम्भमुषिता एव	१६४	अन्तर्द्दर्शनं चास्य	३३८	अबन्ध्यशासनस्यास्य	१७६
अनन्तदर्शनत्वं च	३३६	अन्यच्च गोधनं गोपो	३४७	अबाहुबलिनानेन	१५७
अनन्तसुखशब्दश्च	२६१	अन्यच्च देवताः सन्ति	११७	अभिभ्यददेवता चैवम्	५०१
अनन्यशरणैरन्यै-	६४	अन्यच्च नमिताशेष-	१७६	अबोधद्वेषरागात्मा	४६५
अनन्यसदृशैरेभिः	२५२	अन्यच्च बहुवाग्जाले	२८७	अभव्य इव सद्धर्मम्	४११
अनन्विष्य मयि प्रौढिम्	३५२	अन्यच्चाकृष्टितं वृष्टम्	४५३	अभिगम्य नृपः क्षिप्रम्	३७४
अनलस्यानिलो वास्य	३८७	अन्यत्र भ्रातृभण्डानि	२०८	अभिचारक्रियेवासीत्	१
अनादिपदपूर्वाच्च	३६२	अन्यथा चिन्तितं कार्यम्	४२५	अभिमतफलसिद्ध्या	३८४
अनादिमस्तपर्यन्तम्	४२	अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिम्	३१३	अभिवन्द्य यथाकामम्	४८३
अनादिश्रोत्रियायेति	२६४	अन्यथा विमतिर्भूयो	२६४	अभिवन्द्यागताऽस्म्येहि	४८६

अभिषिच्य च राजेन्द्रम्	१२०	अर्ककीर्तिरकीर्ति मे	४३०	अष्टचन्द्रान् सखी कुर्वन्	४१६
अभिषिच्य चलां मत्वा	४४३	अर्ककीर्तिर्बहिर्भास्वद्	३६३	अष्टचन्द्रास्तदाभ्येत्य	४१६
अभीष्टं मम देहीति	४७२	अर्ककीर्त्यादिभिः प्रष्टैः	४३५	अष्टापि दुष्टरिपवोऽस्य	५१०
अभूतपूर्वमुदभूत-	६८	अर्कणालोकनारोधि-	४२६	अष्टोत्तरसहस्राद् वा	२४७
अभूतपूर्वमेतन्नो	११६	अर्थो मनसि जिह्वाग्रे-	३५५	असंख्यकल्पकोटीषु	१२५
अभूजयावती भ्रातुः	४६३	अर्धं गुरुभिरेवास्य	३५२	अराकृत् किन्नरस्त्रीणाम्	१२१
अभूत्कान्तिश्चकोराक्ष्या	२३०	अहंन्मातृपदं तद्वत्	२६४	असङ्ख्यशङ्खमाक्रान्त-	३६
अभूत् प्रहतगम्भीर-	४०२	अलं वत चिरं-	१६३	असत्फला इमे स्वप्नाः	३१७
अभूदयशसो रूपम्	४३०	अलं स्तुतिप्रपञ्चेन	१४६	असत्यस्मिन् गुणोऽन्यस्मात्	३१५
अभूद् रागी स्वयं रागः	३६४	अलका इव संरेजुः	१	असत्यस्मिन्नमान्यत्वम्	३१४
अभेद्यमपि वज्रेण	४८८	अलकाः कामकृष्णाहेः	२२४	असह्यैः बलसङ्घट्टैः	८५
अभेद्यान्यमभूतस्य	२३४	अलङ्घ्यं चक्रमाक्रान्त-	३३	असिमप्यादिषट्कर्म-	२२७
अभेद्या वृद्धसन्धाना	८१	अलङ्घ्यत्वान्महीयत्वाद्	३७	असिंघट्टनिष्ठचूत-	४०३
अभेद्यो मम देहाद्री	२०८	अलङ्घ्यमहिमोदयो	१२३	असौ रतिवरः कान्तः	४४८
अभ्यर्चिताग्निकुण्डस्य	५०७	अलङ्घ्यभावो लब्धार्थ-	४८	अस्ति माधुर्यमस्त्योजः	१५३
अभ्यर्णं बन्धुवर्गस्य	४८६	अवकाशं प्रकाशस्य	४१४	अस्ति स्वयंवरः पन्थाः	३६१
अभ्येति वरटाशङ्की	२०	अवतंरितनीलाब्जाः	१२	अस्तु किं यातस्त्वापि	४१६
अभ्येत्य वृषभाभ्याशम्	३५६	अवतारक्रियाऽस्यान्या	२५६	अस्तु वास्तु समस्तं च	४६६
अमरेन्द्रे समामध्ये	५०१	अवतारक्रियाऽस्यैषा	२७२	अस्त्रैर्व्यैस्त्रैश्च शस्त्रैश्च	१०२
अमानुषेष्वरण्येषु	११४	अवतारितपर्याण-	७३	अस्मदजितदुष्कर्म-	४७५
अमितानन्तमर्त्यायिकाभ्याशे	४५०	अवतारो वृत्तलाभः	२४४	अस्मितां रास्मितां कुर्वन्	४३१
अमुनाऽन्यायवर्त्मव	४३०	अवतीर्य महीं प्राप्य	४६५	अस्मिन्नग्नित्रये पूजाम्	३०१
अमुष्माज्जनसङ्घट्टात्	२८	अवधार्यानभिप्रेत-	४७१	अस्याः पयःप्रवाहेण	१८
अमूष्य जलमुत्पतद्	५१	अवधार्यास्य पुत्रस्य	४४६	अस्याः प्रवाहमम्भोधिः	१८
अमृतशयसने मन्दम्	२५६	अवधूतः पुरानङ्गः	३७६	अस्याग्रह इवानङ्गः	३७६
अमेयवीर्यमाहार्य-	१४१	अवध्यं शतमित्यास्था	१७२	अस्यानुसानु रभ्येयं	१२२
अमोघपातास्तस्यासन्	२३४	अवनिपतिसमाजे	७६	अस्योपान्तभुवश्चकासति-	५६
अयं कायद्रुमः कान्ता	४६४	अवरुद्धाश्च तावन्त्यः	२२३	अस्वेदमलमच्छायम्	१४१
अयं खलु खलाचारी	१८०	अवान्तरविशेषोऽत्र	२४६	अहं कुतो कुतो धर्मः	३६२
अयं च चक्रभूद्देवो	२०२	अवार्योऽनन्तवीर्याख्यः	५०२	अहं पूर्वोक्तदेवश्रीः	४५७
अयं जलधिरुच्चलत्तरल-	५०	अवास्किरन्त वृङ्गाग्रैः	५	अहं प्रियरतिर्नामा	४८१
अयमनिभूतवेगो	५३	अत्रिगरिणतमहत्त्वा	५३	अहं वर्षवरो वेत्ति न	४६७
अयमनुसरन् कोकः	१६५	अविदितपरिमारीः	७६	अहं हि भरतो नाम	४६
अयमयमुद्भारो	५८	अव्याबाधत्वमस्येष्टम्	३३६	अहमद्य कृतार्थोऽस्मि	१४८
अयमेकचरः पीत्र-	२३	अव्याबाधपदं चान्यद्	२६१	अहमिन्द्रोऽग्रिमोऽभूवन्	५०६
अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य	३८२	अशक्यधारणं चेत्यम्	२५४	अहमेको न मे कश्चित्	२५६
अयोनिसम्भवं जन्म	२७५	अशक्योद्घाटनान्येषाम्	११२	अहानि स्थापयित्वैवम्	४४१
अयोनिसम्भवं दिव्य-	२७८	अशिशिरकरो लोका-	१६४	अहिंसालक्षणां धर्मं	३२१
अयोनिसम्भवास्तेन	२८०	अशोकतद्वचनायम्	२१	अहिंसाशुद्धिरेषां स्यात्	२७१
अरिञ्जयाख्यमारुह्य	४१८	अशोकशाखिचिह्नेन	१४०	अहिंसा सत्यमस्त्येषाम्	१६५
अरेमित्रमरेमित्रम्	१५४	अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि	२७	अहो तद्वनस्यास्य	२१
अर्ककीर्ति स्वकीर्ति वा	४१२	अष्टचन्द्राः खगाः स्याताः	३६६	अहो परममाश्चर्य-	१३५
अर्ककीर्तिः पुरो पीत्रम्	३५६	अष्टचन्द्राः पुरो भूयः-	४०७	अहो महानयं शैलो	१२२

अहो महानुभावोऽयं	१२६	आद्यूनमसकृत्पीत-	४०	आरुष्टकलिकां दृष्टिम्	१५६
अहो महानुभावोऽयं	२०२	आद्योऽयं महिते स्वयंवरविधौ	३८४	आरुढः शिबिकां दिव्याम्	२६५
अहो मया प्रमत्तेन	४४१	आधानं नाम गर्भादौ	२४५	आरुढकलिकां पश्यन्	२३२
अहो भानुगणोऽस्माकम्	१७२	आधानं प्रीति सुप्रीति-	२४४	आरुढयौवनोष्मागौ	२३०
अहो विषयसीख्यानाम्	२०६	आधानमन्त्र एवात्र	३०३	आरुढानेकपानेक-	३६३
आ		आधानात् पञ्चमे मासि	२४६	आरुढो जगतीमद्रेः	१०६
आकारसंवृति कृत्वा	४४६	आधानादिक्रियारम्भे	२६०	आरोहन्ति दुरारोहम्	२०७
आकारेण्विव रत्नानाम्	३५५	आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत्	२४४	आर्याणामपि वाम्भूयां	३६१
आकालिकीमनादृत्य	७२	आधाने मन्त्र एव स्यात्	३०२	आयिकाभिरभिष्टुयमान-	५०३
आकृष्टदिग्गजालीनि	३७३	आधोरणा मदमषीमलिनान्	७६	आर्हन्त्यभागी भवेति	३०२
आकृष्टनिचुलामोदम्	२३२	आधोरणैः कृतोत्साहैः	४०६	आर्हन्त्यमर्हतो भावो	२८८
आक्रान्तभूभूतो नित्यम्	८२	आनन्दराजपुत्रस्य	४७१	आलानिता तनतरुष्वतिमात्र-	७७
आक्रान्तसैनिकैरस्य	८२	आनन्दिन्योऽब्धिनिर्घोषाः	२३६	आलि त्वं नालिकं वृद्धि	१६१
आखण्डलधनुर्लखाम्	१३७	आनन्दिन्यो महाभयैः	२२१	आलुलोके वृधोऽनन्त-	५०६
आयः परागमातन्वत्	१८४	आनीतवानिहेत्येतद्	४८२	आलोक्यन् जिनस्वभाव-	१५०
आयच्छन्ती भवद्वार्ताम्	४८६	आनीयतां प्रयत्नेन	४८२	आलोक्य तं गन्तितमोहरसः	५१३
आघातुको द्विरदिनः	७६	आन्धान् रुद्रप्रहारेणु	७०	आवश्यकेण्वसम्बाधम्	२१२
आचरय्य बलान्येके	१०३	आपस्विमार्गवतटात्	८६	आवां चाकर्ण्य तं नत्वा	५००
आचाराङ्गेन निःशेषम्	१६२	आ पाण्डुरगिरिप्रस्थात्	६७	आवामपि तदा वन्दनाय	४७८
आजन्मनः कुमारस्य	४४८	आपातमात्ररम्भाणाम्	२०६	आवापिपासया प्रीतिः	४३३
आज्ञापायी विपाकं च	२१५	आपीतपयसा प्राज्य-	१२	आशु गत्वा निवेद्यासौ	४२८
आज्ञाभिमानमुत्सृज्य	२८६	आपो धनं धृतरसाः	५२	आश्रितैकादशोपासकप्रताः	५०५
आतपत्रं सहस्रोद्य	४६२	आप्तजानपदानीत-	४४०	आष्टाह्निको महः सार्व-	२४२
आतिथ्यमिव नस्तन्वन्	२०	आप्तागमपदार्थाश्च	३६८	आसन्नभव्यशब्दश्च	२६३
आत्मस्त्वं परमात्मानम्	४६५	आप्तोपज्ञं भवेत्तत्त्वम्	३३३	आसन् विजयधोषाख्याः	२३६
आत्मनेव द्वितीयेन	१७४	आप्तोपज्ञेषु तत्त्वेषु	३२८	आस्तामाध्यात्मिकीयं ते	१४४
आत्मसम्पद्गुणैर्युक्तः	३८२	आप्तोऽर्हन् बीतदोषत्वात्	३३४	आस्तां भुजबली तावद्	१५८
आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थम्	२४३	आबध्यस्थानकं पूर्वम्	३६६	आस्थाने जयदुन्दुभी ननु नदन्	८०
आत्मोपाधिविशिष्टाव-	५०४	आभिजात्यं वयो रूपम्	३६०	आस्फालिता तदा भेरी	३७५
आत्रिकापायसंरक्षा-	३४०	आमुच्छद्य स्वगुरुम्	१४६	आह्वो परिहार्योऽयं	४११
आत्रिकामुत्रिकापायात्	३४०	आयसाः सायकाः काम-	४१७	आहारभयसंज्ञे च	२१२
आदावशुच्युपादानम्	४४२	आयुर्बायुचलं कायो	४६२	आहारस्य यथा तेऽस्य	४२७
आदिक्षत्रियवृत्तस्थाः	३३४	आयुर्वयुरयं मोहो	४६६	आहृताः केचिदाजगमुः	१०२
आदित्यगतिमभ्येत्य	४६१	आयुर्वेदे स दीर्घायु-	३२८	आह्वयन्तीमिवोर्ध्वाधः	४४०
आदित्यगतिरस्यासीत्	४५६	आयुष्मन् कुशलं प्रष्टुम्	१०५		
आदिराजकृतां लक्ष्मीम्	३२४	आयुष्मन् भवता सृष्टा	३२०		
आदिष्टवनितास्तन-	४८६	आयुष्मन् युष्मदीयाजाम्	१००		
आदिष्टसन्निधाने	४८७	आयुष्माश्रिति	५७		
आदौ जन्मजरारोगा-	४६३	आरक्तकलुषा दृष्टिः	१६२		
आदौ परमकाष्ठेति	२६३	आरक्षककरं हन्तुम्	४७४		
आदौ मृनुन्द्रभागीति	३०२	आरक्षिणो निगृहणीयु-	४७२		
आद्यः सेनापतिः पश्चादायैः	५०६	आरुध्यमानमश्वीयैः	३०		
		आरुरोह स तं शैलम्	१३३		

इतश्च तत्प्रमाणं स्यात्	२७०	इति प्रशान्तभोजस्वि	१०७	इति सम्पूर्णसर्वाङ्गम्-	३६८
इतश्च रचितानल्प-	२२	इति प्रशान्तभोजस्वि	१७७	इति सम्यक्त्वसत्पात्र-	४६६
इतश्च संकतोत्सङ्गो	२२	इति प्रशान्तो रौद्रश्च	१३५	इति सर्वैः समालोच्य	४३६
इतश्च हरिणाराति-	१३५	इति प्रथयणी वारणी	४२६	इति सागरदत्ताख्यः	४६६
इति कञ्चुकिनिर्दिष्टम्	३८१	इति प्रथयणी वारणी	४३७	इति सामादिभिः स्वोक्तैः	३६४
इति कालान्तरे दोष-	३२१	इति प्रसाद्य सन्तोष्य	४२७	इति सोत्कर्षमेवास्याम्	२३३
इति कृत्वा निदानं स	४५६	इति प्रसाधितस्तेन	१००	इति सोलोचने युद्धे	४२०
इति गोपालदृष्टान्तम्	३४७	इति प्रसाध्य तां भूमिम्	१०६	इति स्तुतात्मसौभाग्य-	३८१
इति चक्रधरादेश-	१०७	इति प्रस्पष्टचन्द्रांशु-	७	इति स्थिते प्रणामार्थं	१६०
इति जल्पति संरम्भाच्च	१५७	इति प्रागेव निर्विद्य	३४१	इति स्वप्नफलं तेषाम्	५०६
इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य	४७७	इति प्राचोदयत् सापि	४४७	इति स्वप्नफलान्यस्माद्	३२३
इति तत्फलविज्ञान-	३२०	इति प्राणप्रियां काञ्चित्	१६१	इति स्वसचिवैः सार्धम्	३६३
इति तद्वचनं श्रुत्वा	४६०	इति बन्धजनैर्वार्यमाणा	४८६	इतीदं वनभृत्यन्त-	२३
इति तद्वचनस्यान्ते	१८०	इति ब्रुवन्तश्चोत्थाय	१००	इतीदमनुमानं नः	३१७
इति तद्वचनान्चक्री	१५८	इति ब्रुवाणः सम्प्राप्य	३८६	इतीमामार्धमीमिष्टिम्	१७०
इति तद्वचनान्छोष्टी	४६७	इति भरतनरेन्द्रान्	३१६	इतो ध्रुववर्णोऽनिलः	५६
इति तद्वचनान्ज्जात-	११७	इति भूयोऽनुशिष्यैतान्	२६३	इतोऽन्यदुत्तरं नास्ति	१६५
इति तद्वचनान् किञ्चित्	४६	इति मण्डलभूपालान्	६५	इतोऽपसर्पताश्चीयाद्	२८
इति तद्वचनान् सर्वान्	२४१	इति मनसि यथार्थं चिन्तयन्	५१२	इतो महीशसन्देशान्	३७७
इति तद्वचनान् राजा	४७५	इति मन्त्रपदान्युक्त्वा	२६३	इतोऽमी किन्नरीगीतं	२२
इति तस्य वचः श्रुत्वा	३८३	इति माध्यस्थ्यवृत्त्यैके	२०२	इत्थं चराचरगुरुं परमादिदेवं	१४६
इति तस्याः परिप्रश्ने	४५७	इति याथात्म्यमासाद्य	४६१	इत्थं नियन्तरि पराम्	५७
इति तेऽमितमत्युक्त-	४५८	इति युष्मत्पदाब्जजन्म-	१६०	इत्थं नियन्तुर्भिरनेकपवृन्द-	७७
इति दत्तग्रहं वीरम्	४२०	इति रम्यान् पुरस्यास्य	१७५	इत्थं पुण्योदयाच्चक्री	११०
इति दृष्टापदानं तं	१२७	इति वक्तव्यमित्याख्यत्	४५०	इत्थं पुराणपुरुषाद्	१७०
इति नानाविधैर्भावैः	१०३	इति विज्ञाप्य चक्रेशात्	४३१	इत्थं भवन्तमतिभक्तिपथं	४२२
इति निर्धार्य कार्यज्ञान्	१५६	इति विशति गाङ्गमम्बु	५१	इत्थं मनुः सकलचक्रभूदादि-	३४८
इति निर्भिन्नमर्यादः	३८७	इति व्यक्तलिपिन्यासो	४६	इत्थं वनस्य सामृद्धयम्	२५
इति निर्वाणपर्यन्ताः	२६७	इति व्याहृत्य हेमाङ्गदा-	४७६	इत्थं स धर्मविजयी	३१६
इति निर्विद्य सञ्जात-	४६४	इति शंसति तस्याद्रेः	१३६	इत्थं स पृथिवीमध्यान्	६६
इति निश्चित्य कार्यज्ञान्	१७३	इति शारदिके तीव्रम्	२६	इत्थं सरस्सु रुचिरं	७५
इति निश्चित्य मन्त्रज्ञाः	२०३	इति शासति शास्त्रज्ञे	१५६	इत्थं स विश्वविद् विश्वं	२१८
इति निश्चित्य राजेन्द्रः	२४०	इति शुद्धं मतं यस्य	२७१	इत्थं सर्वेषु शास्त्रेषु	३२६
इति निश्चित्य सम्भ्रान्तैः	४६	इति शुद्धतरां वृत्तिम्	३११	इत्थं स्वपुण्यपरिपाकज-	६१
इति नीतिलतावृद्धि-	३६०	इति श्रीपालचक्रेशः	४६६	इत्यकृत्रिमसामोक्त्या	४३६
इति पत्युः परिप्रश्नाद्	४६२	इति सकलकलानामेक-	३२६	इत्यङ्गानि स्पृशेदस्य	३०४
इति पुण्योदयाज्जिष्णुः	६४	इति सञ्चिन्तयन् गत्वा	४६५	इत्यजेतव्यपक्षेऽपि	८२
इति पृष्टवतैः तस्मै	२७०	इति सत्तत्त्वसन्दर्भ-	५०५	इत्यतर्कोदयावाप्ति-	४३१
इति पृष्टावदच्छक्तिषेणः	४५७	इति सत्कृत्य तान् व्रतान्	१५६	इत्यतो न सुधी सद्यो	४४३
इति प्रतीतमाहात्म्यम्	१०६	इति सत्त्वा वनस्येव	६६	इत्यतोऽसौ दिदृक्षुस्तं	३६०
इति प्रदोषसमये	१६०	इति सन्तोष्य विश्वेशः	४३०	इत्यत्यद्भुतमाहात्म्यः	१४६
इति प्रयाणसञ्जल्पैः	२८	इति समुचितैरुच्चैः	१६८	इत्यत्युन्नतरे ग्रीष्मे	१६४
इति प्रशस्तिमालीयाम्	१२६	इति समुपगता श्रीः	३८५	इत्यत्र ब्रूमहे नैतत्	३३४

उत्फुल्लपाटलोद्गन्धि-	२३२
उत्फुल्लमल्लिकामोद-	२३२
उत्फेनजृम्भिकारम्भैः	३६
उत्सङ्गसङ्गिनीभर्तुः	१६०
उत्सवो राजगोहस्य	३७६
उदयशिखरियाव-	१६५
उदये वर्धितच्छाया	४१०
उदसुन्वत् फलं मत्वा	३६६
उदाहार्यक्रमं ज्ञात्वा	२६६
उदगाहैर्विनिर्धृत-	७५
उद्धाटितकवाटेन	१०८
उद्धृत्येदं विशङ्कस्त्वं	४८४
उद्यानाविकृतां छायां	२८६
उन्मत्तकोकिले काले	२३१
उन्मीलशीलनीरेज-	४४३
उपक्षेत्रं च गोधेनूः	१७५
उपनततरुनाधुनवाना	१६६
उपनीतिक्रियामन्त्रम्	३०६
उपनीतिर्हि वेप्रस्य	२७४
उपप्रदानमप्येवम्	१८१
उपयान्ति समस्तसम्पदो	४२२
उपयोग्येषु धान्येषु	६२
उपर्युच्छ्वासयत्येनाम्	११४
उपवासपरिश्रान्ता	३६६
उपविन्ध्याद्रिविख्यातो	४३८
उपशल्यभुवः कृत्या	१७५
उपशल्यभुवोऽद्राक्षीत्	१३
उपसिन्धुरिति व्यक्तम्	८५
उपाङ्घ्रि भोगिनां भोगैः	२१५
उपाध्वं प्राकृतक्षेत्रान्	१२
उपानाहादृते कोऽन्यः	११४
उपानिन्युः करीन्द्राणाम्	६१
उपायैः प्रतिबोध्यैनाम्	४८१
उपेक्षितः सदोषोऽपि	४३०
उपोदयायशस्कीर्तिः	४१८
उभयोः पाश्वयोर्बन्धवा	३६७
उरो लिङ्गमथास्य स्यात्	२४६

ऊ

ऊढभार्योऽन्यथं तावद्	२५१
ऊहां च समतोयां च	६८

ऋ

ऋजुत्वाद् द्विरिदं शित्वात्	३६७

ए

एकतः सावंभोमर्थीः	१४८
एकतो लवणाम्भोविः	६२
एकदार्यं विहारार्थं	३५६
एकस्यामेव निक्षिप्या-	४६८
एकाद्वेकादशान्तानि	३१६
एकाधः पातयत्यन्या	११४
एकान्तशतसंख्यास्ते	१५४
एकोऽंशो धर्मकार्योऽतो	२५३
एतत्पुण्यमयं सुरुपमहिमा	३८५
एतत्पुरममुष्यैव	४७२
एतया सह गत्वास्तः	४६२
एतस्य दिग्जये सर्वैः	३८६
एतां तस्याः सखीं श्रुत्वा	४८६
एतान् सर्वास्तदालापान्	४४७
एतावपत्ये भूयास्ताम्	४५६
एते तु पीठिकामन्त्राः	३००
एते ते मकरादयो जलचराः	५६
एतेऽर्था यत्र तत्त्वेन	२७०
एतेष्वहापयन् काचिद्	२१२
एतैः स्वसूनुभिः सार्धम्	४६७
एत्यानङ्गपताकाऽस्यास्तम्	४८२
एभिः परिवृतः श्रेष्ठी	४५५
एलाजवंगसंवास-	८४
एवं कृतविवाहस्य	२५१
एवं कृतव्रतस्याद्य	२७५
एवं केवलसिद्धेभ्यः	२६२
एवं परमराज्यादि-	३१०
एवं प्रजाः प्रजापालात्	२६३
एवं प्रयाति कालेऽसौ	४५८
एवं प्रयाति कालेऽस्य	४७५
एवं प्रायास्तु ये भावाः	३३६
एवं प्रायेण लिङ्गेन	२४६
एवं प्रायैर्जनालापैः	२०३
एवं भवत्रयश्रेयः	३६३
एवं मंत्रिणमुल्लङ्घ्य	३६२
एवं विभविधानेन	२४२
एवं विधैस्त्रिभिर्जन्तुः	४४२
एवं विहिततत्पूजः	३७५
एवं सुखानि तनुजान्यनुभूय	४४५
एवं सुखेन यात्येषाम्	४६१
एवं सुखेन साम्राज्यं योगसारं	५००
एवं हि क्षत्रियश्रेष्ठो	३४०

एवमन्यच्च भोगाङ्गम्	४४६
एवमालोकितस्वप्न-	५०६
एष धर्मप्रियः सम्राट्	३२५
एष पात्रविशेषस्ते	५०३
एष महामणिरश्मिविकीर्णः	५३
एष संसारिदृष्टान्तो	३४०
एषा कीर्तिरयं चैतत्	४२६

ऐ

ऐक्ष्वाकः प्रथमो राज्ञाम्	१७८

औ

औत्पत्तिक्यादिधीभेदेः	४२५
औदुम्बरी च पनसाम्	६७

क

कक्षान्तरे ततस्तस्मिन्	१३६
कक्षान्तरे द्वितीयेऽस्मिन्	१३८
कञ्चिद् गजपति स्तम्भम्	४६०
कञ्जकिञ्जत्कपुञ्जेन	२
कटका रत्ननिर्माण-	२३६
कटिमण्डलसंस्कृत-	२६२
कटी कुटी मनोज्ञस्य	२२४
कटीलिङ्गं भवेदस्य	२४६
कणपोऽस्य मनोवेगो	२३५
कण्ठीरवकिशोराणाम्	१६६
कण्ठे चालिङ्गितः	४१७
कण्ठे तस्येति वक्तव्येषा	४५६
कण्ठे हृदयदेशे च	५०८
कतरकतमे नाकान्ताः	१६४
कथं कथमपि त्यक्त्वा	४३४
कथं च पालनीयास्ताः	३४३
कथं च सोऽनुनेतव्यो	१७२
कथं मुनिजनादेशाम्	३३३
कथमपि रथचक्रम्	५८
कथयित्वा महीशानाम्	३६२
कदम्बामोदसुरभिः	२२
कदाचिच्छृङ्खलपक्षस्य	४५६
कदाचिच्छृङ्खलिनो गेहं	४५३
कदाचिच्छृङ्खलिनोऽष्टम्	४४८
कदाचित्कान्तया	४५२
कदाचित् कामिनीकान्त-	४४८
कदाचित् काललब्ध्यादि-	४६४
कदाचित् प्रावृडारम्भे	३६५

कदाचिदुचितां वेलाम्	३२७	कलकण्ठीकलवारा-	२३१	काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्	२६५
कदाचिद् धर्मशास्त्रेषु	३२८	कलभान् कलभाङ्कार-	२१५	काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्	३००
कदाचिद् भवनायात-	४४८	कलशैमुखविन्यस्त-	३७७	कारयन्ती जिनेन्द्राची-	३६८
कदाचिद् भूपतिः श्रेष्ठि-	४५१	कलहंसा हसन्तीव	३	कारयित्वा पुरीं सर्व-	४२१
कदाचिद् राजगेहागतेन	४४८	कलापी बर्हभारेण	२४	कालज्ञानिभिरादिष्टे	३४१
कदाचिद् वस्त्रविषये	४६६	कलाभिजात्यसम्पन्ना	२२३	कालव्यालगजेनेदं	२०८
कदाचिन्निधिरत्नानाम्	३२८	कलाविदस्व नृत्यादिदर्शनैः	३२७	कालश्रमणशब्दं च	२६६
कनिष्ठामङ्गुलिं वामहस्तेऽसौ	४५२	कलेवरमिदं त्याज्यम्	१८६	कालाख्यश्च महाकालो	२२७
कन्याकृत्यैव गत्वातः	४८६	कलैरलिकुलवारा-	२३१	कालिङ्गकान् गजप्राय-	७०
कन्यागृहात्तदा कन्याम्	३७६	कलैरलिरुतोद्भूतः	२१६	कालिङ्गकैर्गजेरस्य	८५
कन्यारत्नानि सस्येव	३६०	कल्पद्रुमद्वयं वस्त्रभूषणानि	४४६	कालिन्दकालकटौ च	६७
कन्याव्रतविलोपात्त-	४४७	कल्पद्रुममभीष्टार्थम्	५०६	काशिराजस्तदाकर्ण्य	३६४
कपयः कपिकच्छानाम्	७२	कल्पाधिपतये स्वाहा	२६७	काशीदेशेशिता देव	४३६
कपोलकापसंरक्षण-	१३४	कल्पानोकहसेवेव	१५८	काष्ठजोर्जपि दहत्यग्निः	३५४
कपोलाबुज्ज्वलौ तस्या	२२६	कल्याणाङ्गस्त्वमेकान्ताद्	३२२	किं किङ्कारैः करालास्त्र-	१५७
कमनीयैरतिप्रीतिम्	४३६	कवाटपुटविश्लेषाद्	१०८	किं किमात्थ दुरात्मानो	१५६
कमलनलिनीनालं	१६६	कविरेव कवेर्वेति	३५३	किञ्च भो विषयास्वादः	१६१
करग्रहेण लक्ष्मीवान्	३८०	कस्तूरिकामृगाध्यास-	३७	किं तरां स विज्ञानाति	१५७
करग्रहेण सम्पीड्य	७१	कस्मिचित्सुकृतावासे	२५६	किं वलैर्वलिनां गम्यैः	१६१
करवालं करालाग्रम्	२०१	कस्यचित् कोशतः खड्गम्	४६०	किं भव्यः किमभव्योऽय-	४६४
करवालान् करे कृत्वा	१०२	कस्यचित् क्रोधसंहारः	४०६	किं भूमिगोचरेष्वस्या-	३७०
कराग्रविधूतं खड्गं	२०१	कस्याप्यकालचक्रेण	१५२	किञ्चदन्ती विदित्वेताम्	३६३
कराङ्गुलौ विनिक्षिप्य	४७४	कांश्चित् सम्मानदानाभ्याम्	६२	किं वा सुरभट्टैरेभिः	१५७
करिकण्ठस्फुटोद्घोष-	३६२	कांश्चिदालोकनैः कांश्चित्	३२६	किङ्किणीकृतभङ्गकार-	३७६
करिणी नौभिरस्वीय-	१३१	कांश्चिद्दुर्गाश्रितान् म्लेच्छान्	१०६	किञ्चिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य	१०७
करिणी हरिणाराती	२१५	काकिणीमणिरत्नाभ्याम्	११३	किञ्चिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य	१३६
करिण्यो विसिनीपुत्र-	२१५	काकिणीरत्नमादाय	१२५	किञ्चित् पश्चान्मुखं गत्वा	११२
करिण्यामीति कोपेन	४६८	कार्कशूलकसम्बाध-	३२२	किञ्चिदन्तरमारुह्य-	१३४
करीरकन्धरारूढः	३२२	काचिदुत्तापिभिर्वागैः	१६१	किञ्चिदेकं वृणीते	३७७
करीन्द्रभारनिभुङ्ग-	३२२	काञ्चिज्जरावर्ती कुत्स्थ-	४८५	किञ्चिन्मात्रावशिष्टायाम्	२५८
करीरवणसंरुद्ध-	८७	काञ्चीस्थानं तदालोच्य	३६५	किन्तु प्रजान्तरं स्वेन	३१५
करैर्हृत्क्षिप्य पद्मानि	७५	कान्तरत्नमभूतस्य	२२८	किन्तु सोऽयं जयस्नेहात्	३६१
करैर्गिर्यग्रसंलग्नैः	१८७	कान्ते जन्मान्तरावासम्	४४७	किञ्चराणां कलवारा-	१५
कर्णतालानिलाधूति-	१८६	कान्ते तस्यान्यदप्यस्ति	४८०	किमत्र बहुता धर्म-	१७०
कर्णाटकान् स्फुटाटोप-	७०	कान्तोऽभूद् रतिषेणया	४७८	किमत्र बहुता रत्नैः	२१८
कर्णान्तिगामिनी नेत्रे	३६६	काबेरीवारिजास्वाद-	३७७	किमत्र बहुता सोऽद्रिः	६७
कर्णाभ्यर्णोक्तास्तस्य	३६६	कामं स राजराजोऽस्तु	१८२	किमत्र बहुनोक्तेन	१५५
कर्णोत्पलनिलीनालि-	१६२	कामगौर्यायुरंहोभिः	८	किमत्र बहुनोक्तेन	२८७
कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव	२४४	कामग्रहाहिता तस्याः	४८८	किमत्र बहुनोक्तेन	३२६
कर्मनिर्मुक्तसंप्राप्यम्	१०२	कामपाशायती बाहू	२५४	किमत्र बहुनोक्तेन	३४७
कर्मभिः कृतमस्यापि	५१२	कामरूपित्वमाप्तस्य	३३७	किमप्येतदधिज्योतिः	१०५
कर्माणि हत्वा निर्मूलम्	५०६	कामशुद्धिर्मता तेषाम्	२७१	किमप्सरःशिरोजान्त-	१६०
कर्शयेन्मूर्तिमात्मीयाम्	२८५	कामोऽगमत् सुरतवृत्तिषु	४४५	किमम्बरमणोर्विम्ब-	१५१

किममम्भोजरजःपुञ्ज-	१६०	कुमार्या निजितः कामः	३७७	कृतयत्नाः प्लवन्तेऽमी	२०
किमसाध्यो द्विषत् कश्चित्	१५२	कुमार्यैव जितः कामो	३६७	कृतराज्यार्पणो ज्येष्ठे	२६४
किमिदं प्रलयक्षोभाद्	६	कुम्भस्थलीषु संसक्ताः	२५	कृतव्यूहानि सैन्यानि	११५
किमेतानि स्थलाब्जानि	२६	कुसराजस्तदास्फूर्जन्	११८	कृतात्मरक्षणश्चैव	३४२
किमेष क्षुभितोऽम्भोधिः	४६	कुरूनक्ष्त्रीन् पाञ्चालान्	६६	कृताध्वगोपरोधानि	१२
किराग्रेस्तस्मिन् रेव	१६३	कुर्यादक्षतपूजार्थम्	२६१	कृतानुबन्धना भूयः	२४१
किल तस्मिन् जयो नाम	३५६	कुर्वन्ती शान्तिपूजां त्वम्	३६५	कृतापदानं तद्योग्यैः	३४४
किल स्त्रीभ्यः सुखावाप्तिः	४६६	कुर्वन् पञ्चनमस्कार-	४६२	कृतापदान इत्युच्चैः	२०६
किसलयपुटभेदी देवदाह-	१३०	कुलक्रमस्तवया तात	२५३	कृताभिषेकमेनं च	१००
कीदृक् परिच्छदस्तस्य	२२२	कुलचयमिनुप्राप्तो-	२५२	कृताभिषेकमेनं च	२२१
कीर्तिः कुवलयाल्हादी	३८२	कुलजातिवयोरुपगुणैः	३०४	कृताहंत्पूजनस्यास्य	२४६
कीर्तिर्वह्निश्चरा लक्ष्मीः	३८३	कुलधर्मोऽयमित्येषाम्	२४२	कृतावधिः प्रियो नागात्	२३२
कीर्तिर्विख्यातकीर्तेर्मे	३६२	कुलरूपवयोविद्या-	२६६	कृतावासञ्च तत्रेनं	६१
कीर्त्योपमानतां यातो	४१२	कुलादिनिलया देव्यः	२६०	कृतासनं च तत्रेनं	१०१
कुक्षिवासशतान्यस्य	२२६	कुलाचलपृथुस्तम्भ-	४२	कृताहारपरित्याग-	४२५
कुङ्कुमागणकपूर्-	१०१	कुलानुपालनं तत्र	३३१	कृती कतिपर्येष	१०७
कुञ्जेषु प्रतनुतृणाङ्कुरान्	७८	कुलानुपालनं प्रोक्तम्	३३३	कृतोच्चविग्रहारम्भो	११८
कुटीपरिसरेष्वस्य	१३	कुलानुपालने चायम्	२६४	कृतोदयस्मिन् ध्वान्तात्	१२६
कुटीव च प्रसूतायाः	११३	कुलानुपालने यत्नम्	३३३	कृतोपच्छन्दनं चामुम्	१२६
कुडुम्बानोलिकाश्चैव	६६	कुलावधिः कुलाचार-	३१२	कृतोपशोभमावद्धः-	३०
कुण्डः शिल्पपुरोत्पन्नः	४६१	कुलोपकुलसम्भूतैः	६२	कृतो भवान्तरावद्धः-	४३०
कुण्डत्रये प्रणेतव्याः	३०१	कुल्याः कुलधनान्यस्मै	६४	कृतोऽभिषेको यस्यारात्	१७६
कुण्डश्च कश्चिदङ्गुल्या	४६०	कुवलयपरिवोषं सन्दधानः	३८५	कृत्वा कृशं भृशं मध्यम्	३६५
कुण्डोऽध्नोऽमृतपिण्डेन	५	कुसुमावचयासक्ते	४६६	कृत्वा जनेश्वरी पूजाम्	३७५
कुतः कृता समुत्तुङ्गा-	३६६	कूजन्ति कोकिलाः मत्ताः	२२	कृत्वा धर्मपरिप्रश्नं	५०८
कुतश्चित् कारणाद् यस्य	३११	कूजितैः कलहंसानाम्	४	कृत्वा परिकरं योग्यं	२५६
कुतश्चिद् भगवत्यद्य	३१७	कूटस्था वयमस्याद्रेः	१०६	कृत्वा विधिमिमं पश्चात्	२७८
कुन्तः सिंहाटको नाम	२३४	कृतं कृतं वतानेन	२०६	कृत्वा विमाने सानुत्तरेऽभूत्	५०३
कुन्तासिप्रासचक्रादि-	४०४	कृतं वृथा भटालापैः	१८५	कृत्वा व्यत्यक्षिपत् पापी	४८१
कुबेरदयितस्यापि	४५७	कृतः कलकलः सैन्यैः	११४	कृत्वा श्रोतृपदे कर्णौ	२२६
कुबेरमित्रस्तस्यासीत्	४४७	कृतकार्यञ्च सत्कृत्य	१२६	कृत्वैवमात्मसंस्कारः	२५१
कुबेरादिप्रियश्चान्यः	४६७	कृतकृत्यस्य तस्यान्तः-	२४०	कृत्स्नकर्ममलापायात्	२८०
कुब्जा धैर्या च चूर्णी च	७०	कृतग्रन्थपरित्यागः	५०३	कृत्स्नामिति प्रसाध्यैनाम्	१२८
कुमारं चागमस्तत्र	४८८	कृतचक्रपरिभ्रान्तिः	१८४	केचिच्चमूचरस्थाने	२५८
कुमारं पर्यालध्वास्य-	४८१	कृतदीक्षोपवासस्य	२५४	केचित् काम्बोजबाल्हीक-	६०
कुमारः प्राहरद् वंशस्तम्भं	४६०	कृतद्विजार्चनस्यास्य	२५०	केचित् कीर्त्यङ्गनासङ्ग-	१६०
कुमार तव किं युक्तम्	३६३	कृतपूजाविधिर्भूयः	१४१	केचित् कृतधियो धीराः	१००
कुमारवंशौ युष्माभिः	४२५	कृतमङ्गलनेपथ्यं	११६	केचित् परिजनस्थाने	२५८
कुमारवचनाकर्णेनेन	४८६	कृतमङ्गलनेपथ्या-	३७७	केचित् सौराष्ट्रिकैर्नगैः	६१
कुमार समरे हानिस्तवैव	४११	कृतमङ्गलनेपथ्यो	७	केचिद् बलैरवष्टब्धाः	१०१
कुमारोऽपि समीपस्थ-	४६२	कृतमङ्गलसङ्गीत-	१२७	केचिद् रणरससक्त-	१६१
कुमारोऽहि कुमारोऽसौ	४२८	कृतमालश्रुतिव्यक्त्यै	१०५	केचिन्मृतमिवातेनः	६१
कुमार्या त्रिजगज्जेता	३६७	कृतमालादयो देवा	१७८	केतवो हरिवस्त्राब्ज-	१३१

केन मोक्षः कथं जीव्यम्	४६४	श्रीडशानाप्रकारेण	४४८	क्षीरस्यतो निजान् वत्सान्	६
केनाप्यविदितो रात्रावेव	४६६	श्रीडाहेतोरहितोऽपि	१३४	क्षीराज्यममृतं पूतं	३०५
केरली कठिनोत्तुङ्ग-	३७७	कुडाः खे खेचराधीशाः	३६६	क्षुधं पिपासां शीतोष्ण-	२१०
केवलाख्यं परं ज्योतिः	१४२	कोथं तितिक्षया मानम्	२१३	क्षुब्धाभिघातोच्चलितः	३६
केवलाकदूते नान्यः	३१७	कोधान्धतमसे मग्नम्	१५७	क्षुभितत्वं च संक्षोभः	३३६
केवलाकौदयात् प्राक् च	२१७	कोधान्धेन तदा दध्ये	२०५	क्षेत्रं निष्पादयत्येकम्	४४८
केशवापस्तु केशानां	२४८	किलष्टाचाराः परेनैव	२८१	क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञा सभाकीर्तिः	२८४
केषाञ्चित् पत्रनिर्मोक्षम्	६४	क्वचिच्छुकमुखाकृष्ट-	१७५	क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात्	२८६
कैलासाचलमभ्यर्णम्	१३२	क्वचिच्छुक्तिपुटोद्भेद-	४४	क्षेत्रेणोति तयोरग्रे	४६३
कैश्चिद् वीरभटैर्भावि	१६२	क्वचित् क्लिप्तसम्भोग्यैः	१३२	क्षेमैकतानतां भेजुः	२२२
कौककान्तानुरागेण	१६३	क्वचित् सितोपलोत्सङ्ग-	१३३	क्षीमांशुकदुकूलैश्च	६२
कौकिलानकनिःस्वानैः	२१	क्वचित् स्फुटितशुक्तिमौक्तिक-	५१		
कौकिलालापमधुरैः	८४	क्वचिदुत्फुल्लमन्दार-	१३३		
कोटयोऽष्टादशश्वानाम्	२२३	क्वचिद् गजमदामोद-	१३३		
कोटयोऽष्टादशस्य	६६	क्वचिद् गुहान्तराद् गुञ्ज-	१३३		
कोटीशतसहस्रं स्याद्	२२६	क्वचिद् वनान्तसंसृत-	१३३		
को नाम मतिमानीप्सद्	२०६	क्वचिद्विरलनीलांशु-	१३२		
कोपदष्टविमुक्तौष्टम्	४१६	क्वचिन्निगुञ्जसंसुप्तान्	१३३		
कोऽयं प्रभुरवष्टम्भी	११६	क्वचिन्महोपलच्छाया	४४		
कौक्ष्यकैर्निशाताग्र-	२०१	क्वचिन्मृगेन्द्रभिन्नेभ-	८६		
कौपीनाच्छादनं चैनम्	३१०	क्वचिल्लतागृहान्तःस्थ-	११		
कौवेरीमथ निर्जंतुम्	६६	क्वचिल्लताप्रसूनेषु	११		
कौवेरीं दिशभास्थाय	११५	क्वचिद् विश्लिष्टशैलेय-	१३३		
कौसुमं धनुरादाय	३७८	क्व ते गुरा गुरोन्द्राणाम्	१४२		
क्रमान्मुनीन्द्रनिष्कान्ति-	३०७	क्व लब्धमिदमित्याख्यत्	४६०		
क्रमेण कुडकुमाद्रेण	४५	क्व वयं क्षुद्रका देवाः	१०५		
क्रमेण देशान् सिन्धूश्च	१७४	क्व वयं जितजेतव्याः	१५६		
क्रमेलकोऽयमुत्तस्तः	२८	क्वासौ रतिवरोऽद्येति	४६६		
क्रव्यात्प्रपायितः पत्रवाहिनो	३६७	क्षरां रथाङ्गसंघट्टात्	४५		
क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिम्	२५१	क्षरां समरसघट्ट-	१८५		
क्रियाकलापेनोक्तेन	२७४	क्षरामस्ताचलप्रस्थ-	१८६		
क्रियाकल्पोऽयमाम्नातो	२४५	क्षतात् त्रायत इत्यासीत्	३८८		
क्रियागर्भादिका यास्ता-	२७१	क्षतीर्वन्येभदन्तानाम्	१४		
क्रियाप्रतिवृत्तिर्नाम	२६७	क्षतैरनुपलक्ष्याङ्गं	४१६		
क्रियामन्त्रविहीनास्तु	३१५	क्षत्रियाणां कुलाम्नायः	३३१		
क्रियामन्त्रानुषङ्गोऽण	३१५	क्षत्रियास्तीर्थमुत्पाद्य	३३४		
क्रियामन्त्रास्त एते	३००	क्षत्रियो यस्त्वनात्मज्ञः	३४२		
क्रियामन्त्रास्त्वह ज्ञेयाः	३१५	क्षमामथोत्तमां भेजे	२१४		
क्रियाशेषास्तु निःशेषा	२७६	क्षायिकानन्तवीर्यश्च	३३६		
क्रियोपनीतिर्नामास्य	२४८	क्षितिसार इति ख्यातः	२३३		
क्रीणाति शकुनादीनाम्	३४५	क्षीबकुञ्जरयोगेऽपि	८८		
क्रीतांश्च वृत्तिमूल्येन	३४३	क्षीरप्लवमयीं कृत्स्नां	५		
क्रीडनासक्तकान्ताभिः	३७३	क्षीरवृक्षोपशाखाभिः	३०६		
				ख	
				खगाः खगान् प्रति प्रास्ताः	४००
				खगाद्रेः पूर्वदिग्भागे	४८५
				खचरादिरलङ्घ्योऽपि	१२६
				खण्डनादेव क्रान्तानां	४१५
				खण्डितानां तथा तापो	४१५
				खद्वयर्तुखपक्षीर-	५०३
				खपक्षसप्तवाराणि-	५०३
				खभूचरशरैश्छले	४०१
				खमुन्मणितीतिटांशु-	५०
				खरः प्रणयगर्भेषु	२२५
				खलूपेक्ष्य लघीया-	१५३
				खुरोद्धूतान् महीरेणान्	६६
				ग	
				गङ्गातटवनोपान्त-	१२७
				गङ्गाद्वारं समुल्लङ्घ्य	१७८
				गङ्गापगोभयप्रान्त-	१२६
				गङ्गावर्णनयोपेताम्	६७
				गङ्गासिन्धू सरिद्वेव्यौ	२२१
				गच्छन् मनोरमे राष्ट्रे	४८३
				गच्छन् स्थितमधो भागे	४८४
				गजं गजस्तदोद्वह्यवाहो	३६३
				गजतावनसम्भोगैः	८६
				गजताश्चीयस्थानाम्	११२
				गजवन्तान्तरालानि	१८६
				गजप्रवेकैर्जात्यैश्चैः	६२
				गजयूथमितः कच्छाद्	२३
				गजस्कन्धगता रेजुः	२००
				गजैः पश्य मृगेन्द्राणाम्	१३५
				गजैर्गण्डोत्पलैश्चैः	६०

गसग्रहः स एष स्यात्	२७३	गिरेरधस्तले द्वाराद्	१३३	गृहीत्वा वज्रकाण्डस्थम्	३६६
गसपोषणमित्यावि-	२५५	गीर्वाणः कृतमाल इत्यभिमतः	१११	गृहे तस्य समुत्तुङ्गो	४४७
गणयन्ति महान्तः किम्	३५४	गीर्वाणा वयमन्यत्र	१०५	गोकुलानामुपान्तेषु	३६
गणाभ्युषितभूभाग-	१४५	गुग्गुलूनां वनादेश	२४	गोचराग्नगता योग्यम्	१६६
गणानिति क्रमात् पश्यन्	१४०	गुणतोऽपि नवैशिष्ट्यम्	३४७	गोत्रस्खलनसंबृद्ध-	१६१
गग्नी तेनेति सम्पुष्टः	३५८	गुणपालमहाराजः	४७६	गोदोहैः प्लाविता धात्री	३२३
गग्नी वृषभसेनाख्यः	५०८	गुणपालमुनीशोऽस्मत्-	४८०	गोपायिताऽहमस्याद्रेः	१००
गतप्रलापः कृच्छ्रात्मा	४११	गुणपालाय तद्राज्यम्	४६८	गोपालको यथा यत्नाद्	३४३
गतस्ततस्ततः श्रैयान्	५०८	गुणपालाय दत्त्वा स्वाम्	४६८	गोगालको यथा यूथे	३४४
गतानि सम्बन्धशतानि	५१२	गुणभूमिकृताद् भेदात्	२४१	गोभिः प्रकाश्य रक्तस्य	४३१
गतायां स्वेन सङ्कोचम्	४१८	गुणयन्निति सम्पत्ति-	१७४	गोशीर्षं दर्दुराग्निं च	७०
गताशा वारयो म्लान-	३८४	गुणवर्त्यायिकां दृष्ट्वा	४६६	गोष्ठाङ्गणेषु संत्लपः	३६
गतिस्खलनतो ज्ञात्वा	२१६	गुणाः क्षमादयः सर्वे	३८८	गीरदैस्त्रिभिरनुभुत-	२१२
गते मासपृथक्त्वे च	२४८	गुणागुणानभिज्ञेन	३५४	ग्रहोपरागग्रहणौ	२८३
गतो न दिनमन्वेष्टुम्	१८७	गुणिनश्चेन्न के नान्धाः	४४०	ग्रामकोटचश्च विज्ञेया	२२६
गत्वा कतिपयान्यवधौ	४६	गुणिनां गुणमादाय	३५३	ग्रामान् कुक्कुटसम्पात्त्वान्	१३
गत्वा किञ्चिदुदग्भूयः	६१	गुणोन्नेन शिष्टानाम्	३४८	ग्रीष्मेऽर्ककरसन्तापम्	१६४
गत्वा च गुरुमद्राधुः	१५६	गुणोन्नेष विशेषोऽन्यो	३१५		
गत्वा च ते यथोद्देशम्	१५६	गुणैरेभिरुपाकृद्-	२७६		
गत्वा पुष्पगिरेः प्रस्थान्	६८	गुप्तित्रयमयीं गुप्तिम्	२१२		
गन्तुं सहात्मना तस्य	४५६	गुरुं वन्दितुमात्मीयं	४८१		
गन्धप्रधानमन्त्रश्च	२६०	गुरुप्रवाहप्रसूतां	१४		
गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च	१०१	गुरुप्रसाद इत्युच्चैः	१६०		
गन्धोदकाद्रितान् कृत्वा	२४८	गुरुर्जनयिता तत्त्व-	२७२		
गम्भीरामतिगम्भीराम्	६७	गुरुसाक्षितया देहा-	३४२		
गम्भीरावर्तनामानः	२३६	गुरुणामेव माहात्म्यम्	३५३		
गर्भज्ञोऽहं गिरेरस्मी-	१०६	गुरोरनुजया लब्ध-	२५१		
गर्जद्भिरतिगम्भीरम्	४३	गुरोरनुमतात् सोऽपि	२५५		
गर्भाधानक्रियामेनाम्	२४५	गुरोरनुमतेऽधीति-	२०६		
गर्भाधानात् परं मासे	२४६	गुरोर्वचनमादेयं	१७८		
गर्भान्वयक्रियाश्चैव	२४४	गुर्वोर्गुत्वं युवयोः	४५८		
गलद्गङ्गागम्बनिष्ठचूतः	१२७	गुल्फदधनप्रसूनीव-	१३७		
गलद्गर्भाम्बुबिन्दूनि	२७	गुहामुखमपध्वान्तम्	१७८		
गलन्मदजलास्तस्य	२२२	गुहामुखस्फुरदधीर-	८६		
गमितान्योन्यसम्प्रीति-	४५३	गुह्यमतिगुह्येव	११५		
गवां गगानथापश्यत्	११	गुह्योष्मणा स नाश्लेषि	१०८		
गान्धारीं बन्धकीभावम्	४६७	गृध्रपक्षानिलोच्छिन्न-	४०६		
गान्धारी सर्पदण्डाऽहमिति	४६६	गृहत्यागस्ततोऽस्य	२७६		
गार्हपत्याभिधं पूर्वम्	५०८	गृहशोभां कृतारक्षां	२८६		
गार्हस्थ्यमनुपात्यैवम्	२८३	गृहागोहास्ति चेद् दोषम्	३५३		
गिरिकूटकमित्यासीत्	२३३	गृहाश्रमे त एवाचर्याः	४२६		
गिरिदुर्गोऽयमुल्लङ्घ्यो	१०३	गृहीतप्रग्रहस्तत्र	३८१		
गिरीन्द्रशिसराकारमाह्वय	४०६	गृहीतोत्कोच इत्येष	४७२		
				य	
				घटदासी कृता लक्ष्मीः	१७६
				घटयन्ति न विघ्नकोटयो	४२२
				घण्टामधुरनिर्घोष-	४०७
				घनं तमो विनाकैरा	१८८
				घनावरणानिर्मुक्ताः	६
				घनावरणारुद्धस्य	३२३
				घनावली कृशा पाण्डु	३
				घातिकर्मक्षयोद्भूताम्	२१८
				घातिकर्मत्रयं हत्वा	५००
				घातिकर्ममलापायात्	१४२
				च	
				चक्रं तदधुना कस्मात्	१५२
				चक्रं नाम परं दैवम्	१५३
				चक्रध्वजं समुत्थाय	३६३
				चक्रभृद् भरतः स्रष्टुः	२०८
				चक्रमस्य ज्वलदव्योम्नि-	१०
				चक्रमाक्रान्तदिवसकम्	१५२
				चक्ररत्नं पुरोधाय	२६१
				चक्ररत्नप्रतिस्पर्द्धि-	८
				चक्ररत्नमभूजिष्णोः	२३५
				चक्रलाभो भवेदस्य	२६०
				चक्रवाकयुवा भेजे	२६
				चक्रवाकी धृतोत्कण्ठम्	१८८

चक्रवाकीं सरस्तीरे	२०	चन्द्रपादास्तपन्तीव	१६१	चित्रैरलङ्कृता रत्नैः	१२२
चक्रवाकीमनस्ताप-	१८८	चन्द्रमाः करनालीभिः	४१४	चिन्तामपास्य गुरुशोककृताम्	५१२
चक्रव्यूहविभक्तात्म-	३६६	चन्द्रे तीव्रकरोत्सन्ना-	३६७	चिरं निरीक्ष्य निर्विण्णः	४५१
चक्रसंघट्टसम्पिष्ट-	४०४	चमरीबालकान् केचित्	३७	चिरं वर्द्धस्व वर्द्धिष्णो	१२७
चक्रसन्दर्शनादेव	६१	चमरीबालकाविद्धः	३७	चिरमाकलयन्नेवम्	२०८
चक्रातपत्रदण्डासि-	२२८	चमरोऽयं चमूरोधाद्	२४	चिराच्चक्रधरस्याद्य	१७७
चक्रात्मना ज्वलत्येष-	१०६	चमूपतिरयोध्याख्यो	२३५	चिरात् पर्यायमासाद्य	४०४
चक्रानुयायि तद् भ्रजे	१०	चमूमतङ्गजा रेजुः	२००	चिरात् समरसम्मदः	१८५
चक्राभिषेक इत्येक-	२६२	चमूरवश्रवादेव	६३	चिरानुभूतमप्येवम्	३१
चक्राभिषेकसाम्राज्ये	२४४	चमूरवश्रवोद्भूत-	६८	चिरासनेऽपि तत्रास्य	१०१
चक्रायुधोऽयमरिचक्रभय-	६०	चम्पका विकसन्तोऽत्र	२१	चेतक्याः प्रियदत्ताया-	४६८
चक्रासिदण्डरत्नानि	२२८	चरणालम्बमाकर्षन्	७५	चेतांसि तरणाङ्गोप-	७
चक्रिणश्चक्रमेकम्	४०१	चरणोचितमन्यच्च	२४६	चेदिपर्वतमुल्लङ्घ्य	६७
चक्रिणा ज्ञापितो भूयः	११३	चरन्ति वनमानुष्या	२०७	चैत्यचैत्यालयादीनां	२४२
चक्रिणोऽवसरः कोऽस्य	१०३	चरमाङ्गधरो धीर-	१२५	चैत्यचैत्यालयादीनां	३२५
चक्रित्वं चरमाङ्गत्वम्	४६	चरभागन्धरावेतौ	२०३	चोदनालक्षणं धर्मं	२८१
चक्रिसूनोः पुनः सेना-	४११	चर्मरत्नं स्फुरद्रक्तवृश्चिकं	४६२	चौलिकान्नालिकप्रायान्	७०
चक्री सुतेषु राज्यस्य	४११	चर्या तु देवतार्थं वा	२८८	चौलकर्मण्यथो मन्त्रः	३०६
चक्रोत्पत्तिक्षणं भद्र	५०	चर्येषा गृहिणां प्रोक्ता	२८३	चौलाख्यया प्रतीतेयम्	२४८
चञ्च्वा मृगालमुद्धृत्य	१०	चलच्छास्त्रीचलत्सत्त्व-	८६	च्यवन्ते स्वस्थितेः काले	३८८
चटुलोज्ज्वलपाठीन-	४३६	चलतां रथचक्राणां	१३१		
चण्डाः कोदण्डकुन्तासि-	३६३	चलत्प्रकीर्णकाकीर्ण-	१४०		
चण्डाकाण्डाशनिप्रख्य-	२३४	चलत्सत्त्वो गुहारन्ध्रैः	८६		
चण्डैरकाण्डमृत्युश्च	४००	चलत्सितपताकालि-	४०७		
चतस्रश्चेटिकास्तासाम्	४७७	चलदश्चीयकल्लोलैः	३०		
चतुरः श्रावकज्येष्ठ-	२७५	चलद्भरिखुरोदघट्ट-	३६२		
चतुरस्तरयाऽशीत्या	५०३	चलद्भिरचलोदयैः	४१		
चतुर्जतपदाभ्यन्तरस्थ-	४६०	चलिते चलितं पूर्वं	६२		
चतुर्जनिमलज्योतिः-	५०३	चातका वाऽब्दवृष्ट्या	३७८		
चतुर्गामाश्रमाणां च	२८३	चापमाकर्णमाकृष्य	४०१		
चतुर्दशभिरन्विताम्	१६	चामराणि तवामूनि	१४४		
चतुर्भिरधिकाशीतिः	२२३	चामराण्युपमानाम्	२३४		
चतुर्भिरधिकाशीतिरिति-	३५७	चामरैर्वीज्यमानोऽपि	२२२		
चतुर्भेदेऽपि बोधोऽस्य	२१३	चामरोत्क्षेप ताम्बूलदान-	३२७		
चतुष्केषु च रथ्यासु	१	चारणत्वं तृतीयं च	४६१		
चतुष्टयीं वनश्रेणीम्	३१८	चारणाध्युषितानेते	१३५		
चतुष्पदादिभिस्तिर्यग्	५०४	चारुचक्रधरस्यायम्	१८३		
चन्दनद्रवसंसिक्त-	१५१	चिताः सिताः समाः स्निग्धाः	३६६		
चन्दनद्रवसंसिक्तसुन्दराङ्ग-	२३१	चित्तद्रुमस्य चेद् वृद्धिः	४६६		
चन्दनद्रवसिक्ताङ्गयः	१६०	चित्रं जगत्त्रयस्यास्य	३८२		
चन्दनागुरुकर्पूरे-	५०७	चित्रं महेन्द्रदत्ताख्यो	३७८		
चन्दनोद्यानमाधूय	८४	चित्रं प्रतीलीप्राकार-	३७१		
चन्द्रग्रहणमालोक्य	४६४	चित्रवर्णा घनाबद्ध-	३		
				ज	
				जगतः प्रसवागाराद्	६
				जगति जयिनमेनम्	२२०
				जगत्त्रितयनाथोऽपि	५५०
				जगत्स्थितिरिवानाद्या	११३
				जगद्गृहस्य सौगन्ध्यम्	५०७
				जगाद् सापि मामेष	४८६
				जगादेनमिति श्रुत्वा	४६२
				जनक्षयाय सङ्ग्रामो	३४७
				जनतोत्सारणव्यय-	३१

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

५२९

जननी वसुपालस्य	४८०	जयलक्ष्मीमुखालोक-	१२४	जातकर्मविधिः सोऽयं	३०६
जन्तुसम्भवशङ्कायाम्	३४५	जयवत्यात्तसौन्दर्या-	४६८	जाता वयं चिरादद्य	१०६
जन्तोर्भोगेषु भोगान्ते	४६३	जयवत्यादिभिः स्वाभिः	४६६	जाताश्चापधृताः केचिद्	३६८
जन्मरोगजरामृत्युन्	४६८	जयवर्मा भवे पूर्व	५०८	जातिः सैव कुलं तच्च	२७६
जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयम्	३०४	जयवादोऽनुवादोऽयम्	१२०	जातिक्षत्रियवत्तमजित-	३४६
जन्मानन्तरमायातैः	२६०	जयध्रीर्दुर्जयस्वामी-	४२०	जातिमन्त्रोऽयमाप्तातो	२६४
जन्मावबुद्धय वन्दित्वा	४५७	जयश्रीशकरीजालम्	६४	जातिमानप्यनुत्तिसक्त-	२८४
जम्बूद्वीपे विदेहेऽस्मिन्	४८०	जयसाधनमस्याब्धे-	८५	जातिरेन्द्री भवेद्विद्या	२८४
जयं शत्रुदुरालोकम्	४१६	जयसेनाख्यमुख्याभिः	४६३	जातिर्मूर्तिश्च तत्रस्थम्	२८४
जयः परस्य नो मेऽद्य	४०५	जयस्तम्बेरमा रेजुः	२००	जातौ सागरसेनायाम्	४६५
जयः प्रसादमध्यास्य	४४६	जयस्य विजयः प्राणैः	४१७	जात्यादिकानिमान् सप्त-	२८४
जय एव मदादेशाद्	४३०	जयाखिलजगद्देविन्	१४६	जात्यैव ब्राह्मणः पूर्वम्	३१०
जयकर्षिषटाब्धे-	१६६	जयाध्वरपते यज्वन्	१४७	जातकैरिन्द्रजालेन	३६१
जयकुञ्जरमारुढः	११२	जयावत्यां समुत्पन्नो	४६३	जितजेतव्यतां देव	१५७
जयताञ्चक्रवर्तीति	१०७	जयेनास्थानसङ्ग्राम-	४२१	जितजेतव्यपक्षस्य	१५४
जयति जननताप-	१६८	जयेश जय निर्दग्ध-	१४६	जितनिर्घातनिर्घोषम्	४६
जयति जयविलासः	१६७	जयेश विजयिन् विश्वम्	६	जितनूपुरभङ्गकारम्	२२
जयति जिनवराणाम्	११०	जयो ज्यास्फालनं कुर्वन्	४१८	जितमेघकुमारोऽयम्	३८२
जयति समरभेरी-	१६७	जयो नामात्र कस्तस्मै	३८६	जितां च भवतैवाद्य	२०८
जयति तरुरशोको	१६८	जयोऽपि जगदीशानम्	४२२	जितान्तक नमस्तुभ्यम्	१४८
जयति दिविजनायैः	१६६	जयोऽपि शरसन्तान-	४१६	जितामरपुरीशोभा-	३७६
जयति भरतराज-	२२०	जयोऽपि सुचिरात्प्राप्त-	४०८	जित्वा महीमिमां कृत्स्नाम्	१३१
जयति भुजगवक्त्रोद्धान्त-	२१६	जयोऽपि स्वयमारुह्य-	४०२	जित्वा मेघकुमारख्यान्	३८२
जयति भुजबलीशो	२१६	जयोऽप्यभिमुखीकृत्य	४१०	जित्वा म्लेच्छनृपौ विजित्य	१३०
जयति मदनबालैः	१६७	जयोऽप्येवं समुत्तिसक्त-	३६१	जिनमतविहितं पुराणधर्मम्	२८८
जयति जिनमनोभूः	१६७	जयो महारसः कच्छ-	३५७	जिनविहितमनूनं संस्मरन्	३२६
जयद्विरदमारुढो	३३	जयोऽप्यात् सानुजस्तावद्	४०३	जिनाज्ञानुगताः शश्वत्	१६८
जयधामा जयभामा	४६७	जयोऽप्यात् सो यश्च	४२४	जिनानुस्मरणे तस्य	३२६
जय निर्जितमोहारे	१४६	जरज्जम्बूकमाध्याय	२१५	जिनार्चाभिमुखं सूरिः	२७२
जय निर्मद निर्माय	१४७	जरज्जरन्त ऋङ्गाग्र-	१३५	जिनालये शुचौ रङ्गे	२७२
जय निस्तीर्णसंसार-	१४७	जरठविसिनीकन्द-	१६५	जिनेन्द्रभवनं भक्त्या	४६१
जयनिस्त्रिशनिस्त्रिश-	४१२	जरठेऽप्यातपो नायम्	२५	जिनेन्द्राल्लब्धसज्जन्मा	२७८
जयन्ति जितमृत्यवो	३५०	जराभिभूतमालोक्य	४८६	जिनेषु भक्तिमातन्वन्	३२५
जयन्ति विधुताशेष-	३६	जरायुपटलं चास्य	३०५	जीयादरीनिह भवानिति	५६
जयन्त्यखिलवाङ्मार्ग-	२४०	जलदान् पेलवान् जित्वा	३८७	जीवाजीवविभागज्ञा	१६७
जयपुण्योदयात् सद्यो	४१०	जलदुष्टिनियुद्धेषु	२०४	जीवादिसप्तके तत्त्वे	५०४
जयप्रयाणशंसिन्य-	१२६	जलस्तम्भः प्रयुक्तोऽनु-	४५	जीवेति नन्दतु भवानिति	५६
जय प्रबुद्ध सन्मार्ग-	१४७	जलस्थलपथान् विध्वक्	६२	जैनास्तु पाथिवास्तेषाम्	३३३
जयप्रहितशस्त्राली	४०६	जलादजगरस्तिमिम्	५५	जैनीमिज्यां वितन्वन्	३४६
जयमानोय सन्धाय	४२७	जलाद् भयं भवेत् किञ्चित्	४३७	जैनेश्वरी परामाज्ञाम्	२८७
जयमुक्ता द्रुतं पेतुः	४०६	जलाब्जं जलवासेन	३६८	जैनोपासकदीक्षा स्यात्	२७४
जयलक्ष्मीं नवोद्धायाः	४०७	जलोधौ भरतेशेन	२०४	ज्ञातप्राग्भवसम्बन्धा	४६०
जय लक्ष्मीपते जिष्णोः	१४६	जल्लं मलं तृणस्पर्श-	२११	ज्ञातव्याः स्युः प्रपञ्चेन	२८३

ज्ञातिव्याजनिगूढान्तः	१७३	तच्छासनहरा गत्वा	१५५	ततः परम्परैन्द्राय स्वाहा	२६७
ज्ञातृधर्मकयां सम्यक्	१६३	तच्छिखित्रयसान्निध्ये	५०८	ततः परार्थसम्पत्तयै	२६७
ज्ञात्वा तदाशु तद्वन्धु	३७१	तच्छुद्धधशुद्धी बोद्धव्ये	२८२	ततः पर्यन्तविन्यस्त-	३०
ज्ञात्वा समागतं जिष्णुः	११६	तच्छेषादिग्रहे दोषः	३३२	ततः पुण्योदयोद्भूताम्	२३७
ज्ञात्वा सम्भाव्यशीर्षोऽपि	३८६	तच्छेषादीर्वचः	३३२	ततः पूजाङ्गतामस्य	३०१
ज्ञात्वा सूत्रकृतं सूक्तम्	१६३	तच्छौर्यं यत्पराभूतेः	४२०	ततः पूर्ववदेवास्य	२७६
ज्ञानजः स तु संस्कारः	२७७	तच्छ्रुत्वा नेत्रभूता नौ	४६६	ततः प्रचलिता सेना	३४
ज्ञानध्यानसमाधोगो	२६६	तच्छ्रुत्वा पुनरप्याभ्यां	४७०	ततः प्रतीतभूपालपुत्रा	३६६
ज्ञानभूतिपदं तद्वत्	२६४	तच्छ्रुत्वा साऽन्नवीदेवम्	४८६	ततः प्रतीपमागत्य	१०१
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः	२५४	तज्जलं जलदोद्गीर्ण-	११७	ततः प्रभृत्यभीष्टं हि	२४७
ज्ञानशुद्ध्या तपः शुद्धिः	२१३	तज्जाती चक्रिणो देवी	४८१	ततः प्रयाणकैः कैश्चिद्	११३
ज्ञानोद्योताय पूर्व च	२६१	तज्जात्वा मत्पिता पुत्र	४७०	ततः प्रविश्य साकेत-	३२३
ज्ञेयः पुरुषदृष्टान्तो	३३५	तदतिर्भरसम्पातैः	१३२	ततः प्रसन्नगम्भीर-	१५३
ज्येष्ठः प्रणम्य इत्येतत्	१८२	तदशुष्काधिपासन्न-	४५१	ततः प्रसेदुषी तस्य	४६
ज्येष्ठे न्यायगतं योग्ये	४६७	तदस्थपुटपाषाणः	८८	ततः प्राचीं दिशं जेतुम्	१०
ज्योतिर्ज्ञानमथ	२५०	तटाभोगा विभान्त्यस्य	१२२	ततः प्राविक्षदुत्तङ्ग-	३१८
ज्योतिर्वेगामुहं प्रीत्या	४८२	ततः कञ्चुकिनिर्देशाद्	३७६	ततः प्रास्थानिकैः पुण्य-	८
ज्योत्स्नाकीर्तिमिवातन्वन्	४	ततः कतिपये देवाः	१५१	ततः श्रेष्ठिगृहं याता	४६६
ज्योत्स्नादुकूलवसना	४	ततः कतिपयैरेव	३६	ततः श्रेयोऽर्थिना श्रेयम्	२७०
ज्योत्स्नामये दुकूले च	७	ततः कतिपयैरेव	११५	ततः षट्कर्मणो स्वाहा	२६४
ज्योत्स्नासलितसम्भूता	४	ततः कतिपयैरेव	१५१	ततः सद्गृहिकल्याणि-	३०३
ज्वलत्प्रतापः सीम्योऽपि	३६२	ततः कतिपयैरेव प्रयाणैः	४४०	ततः सप्तदिनैरेव	४६३
ज्वलत्येवं स तेजस्वी	१७३	ततः कलियुगेऽभ्यर्णो	३२०	ततः समरसंघट्टे-	१८५
ज्वलत्यौषधिजालोऽपि	१३६	ततः किञ्चित् स्वलद्गर्वो	१२५	ततः समुदिते चण्डदीधितौ	४६०
ज्वलदर्चिः करालं वो	१५४	ततः किञ्चित् पुरो गच्छन्	१३८	ततः समुद्रदत्तश्च	४६५
ज्वलद्दावपरीतानि	८८	ततः कुमारकालेऽयम्	२६०	ततः समुद्रदत्ताख्यो	४४६
ज्वलन्त्यौषधयो यस्य	८६	ततः कुतूहलाद् बाधिम	५०	ततः समुद्रदत्तोऽपि	४६७
ज्वलन्मुकुटभाचक्रो	२०५	ततः कृतभयं भूयो	१८६	ततः सर्वप्रयत्नेन	३१४
त		ततः कृतयुगस्यास्य	३१७	ततः सर्वेऽपि तद्गतकारिणानाद्	४५६
तं कृष्णगिरिमुल्लङ्घ्य	८६	ततः कृतार्थमात्मानम्	२५३	ततः सुखावतीपुत्रम्	४६६
तं नत्वा परमं ज्योतिः	२४०	ततः कृतेन्द्रियजयो	२६४	ततः सुविहितस्यास्य	२५४
तं निरीक्ष्य क्षितेर्भर्ता	३७२	ततः कृतोपवासस्य	२७२	ततः स्वकाम्यसिद्ध्यर्थम्	२६३
तं परीत्य विशुद्धोर	३७१	ततः क्षणमिव स्थित्वा	३१८	ततः स्थपतिरत्नेन	८
तं पुरातनरूपेण	४८४	ततः क्षात्रमिमं धर्मन्	२६५	ततः स्थितमिव जैनात्	३३३
तं रूप्याद्रिगुहाद्वार-	१०७	ततः क्षेपीय एवासी	३१८	ततः स्वभावसम्बन्धम्	४६५
नं लौहित्यसमुद्रं च	६७	ततः पञ्चनमस्कार-	२७२	ततः स्म बलसंक्षोभाद्	८५
तं वीक्ष्य धूमवेगाख्यः	४८८	ततः परं निषद्यास्य	२४७	ततः स्वयंबरो युक्तो	४५६
तं शासनहरं जिष्णोः	१७७	ततः परः प्रधानत्वम्	३३८	ततः स्वस्य समालक्ष्य	३५७
तं शैलं भुवनस्यैकम्	१२४	ततः परमजाताय	२६१	ततः आमुत्रिकापाय-	३४१
तं सहस्रसहस्रांशु	४२०	ततः परमजाताय	२६६	ततः ऊजितपुण्येति	३०६
त इमे कालपर्यन्ते	३२१	ततः परमरूपाय	२६६	ततः तारावली रेजे	१८६
तच्चक्रमरिचक्रस्य	६२	ततः परमवीर्याय पदम्	२६६	ततश्चक्रधरादिष्टा	११८
तच्चेदं कुलमध्यात्म-	३३१	ततः परमार्हताय स्वाहा	२६७	ततश्चक्रधरेणाय	१७८

ततश्च दिव्यजाताय स्वाहा	२६७	ततो मध्यंदिनेऽभ्यर्णो	३२७	तत्कालोचितमन्यच्च	२६२
ततश्च स्वप्रधानाय	२६१	ततोऽमरात् प्रमेयोक्ती	२६२	तत्कालोचितवृत्तज्ञः	४३५
ततश्चानुपमेन्द्राय स्वाहा	२६८	ततो महानयं धर्मः	३१५	तत्कालोचितसामोक्त्या	४३६
ततश्चाहन्त्यकल्याणभागी-	३०२	ततो महान्वयोत्पन्ना	३३३	तत्कुमारस्य संस्पर्शात्	४८८
ततश्च्युतः परिप्राप्तमानुष्यः	३४२	ततो महीभूतः सर्वे	३७४	तत्कर्मो नूपुरामञ्जु-	२२८
ततश्च्युतो जयन्तोऽभूद्	५०६	ततोऽग्नी श्रुतिनिःशेष-	१६४	तत्खेचरगिरौ राजपुरे	४८५
ततस्तमूचुरभ्यर्णाः	४८	ततो मुनीन्द्रकल्याण-	३०३	तत्तटोपान्तविश्रान्त-	१२४
ततस्तस्मिन् वने मन्दम्	६६	ततोऽयं कृतसंस्कारः	३१०	तत्तपःफलतो जातम्	४६८
ततस्तितिक्षमारोण	१५८	ततोऽयं शुद्धिकामः सन्	३१२	तत्तु स्यादसिवृत्त्या वा	३११
ततस्तुयवशेषेऽर्ह	३२७	ततोऽयमानतानेतान्	२५७	तत्वारो च नियुक्तानां	३३१
ततस्ते जलदाकार-	११७	ततोऽयमुपनीतः सन्	२७४	तत्त्वादर्थो स्थिते देवे	३१७
ततस्त्वयि बयोरूप-	३८३	ततो राज्यमिदं हेयमपथ्यमिव	३४१	तत्पत्नी शुक्लपक्षादिदिने	४५४
ततान्धतमसे लोके	१८६	ततोऽवगाहनादस्य	२८६	तत्पदोपान्तविश्रान्त-	२१५
ततो गत्वाहमिन्द्रोऽभूत्	५०६	ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ	२५६	तत्पालनं कथं च स्यात्	३३३
ततो गुणकृतां स्वस्मिन्	३१२	ततोऽवतीर्थ श्रीपालः	४८३	तत्पुरे वरकीर्तीष्टकीर्ति-	४६१
ततो जितारिषड्वर्गः	२६५	ततोऽवरोधनबध्-	२६	तत्प्रकाशकृतोद्योतम्	११३
ततोऽतिबालविद्यादीन्	३१०	ततो वर्योत्तमत्वेन	२५२	तत्प्रतिष्ठाभिषेकान्ते	३६८
ततो वृष्टापदानोऽयं	११८	ततो वाल्पमिदं कार्यम्	१५३	तत्प्रश्नावसितावित्थम्	३२०
ततो दिव्याष्टसहस्र-	३०६	ततो विद्वरमुल्लङ्घ्य	१३	तत्प्राप्य सिन्धुरं रुध्वा	४३५
ततो धनवती दीक्षाम्	४५८	ततो विद्वरमुल्लङ्घ्य	३७	तत्फलं सन्मतिं मुक्त्वा	३२२
ततो धनुर्धरप्रायम्	११६	ततो विद्योपदेशोऽस्य	२६०	तत्फलेनाच्युते कल्पे	४७७
ततोऽधिगतसज्जातिः	२७८	ततो विधिममं सम्यग्	३१६	तत्सत्यमेव मत्तोऽन्याम्	४६७
ततोऽधिरुह्य तं शैलम्	१३७	ततो विधिवदानर्च-	१४१	तत्समावर्तिनामेतत्	४५३
ततोऽधीताखिलाचारः	२५४	ततो विश्वेश्वरास्तन्य-	३०५	तत्समीपे नृपेरामा	४५०
ततो ध्यायेदनुप्रेक्षाः	३४२	ततो विसर्जितास्थानः	३२७	तत्सम्भूतो समुद्भूतम्	३२६
ततोऽध्वनि विशामीशः	१०	ततो व्यत्यासयन्नेव	१८१	तत्सिद्धकूटपूजार्थं कान्ता	४८७
ततो नभस्यसौ गच्छन्	४६०	ततोऽसौ दिव्यशय्यायाम्	२५७	तत्सोपानेन रूप्याद्रेः	१०७
ततो नानानकध्वानप्रोत्कीर्ण-	३७३	ततोऽसौ धृतदिव्यास्त्रो	६३	तत्स्वप्नदर्शनात् किञ्चित्	३१७
ततो नास्त्यत्र नश्चर्चम्	३६६	ततोऽस्माद् विजयस्तस्माद्	५०६	तत्र कल्पोपमैर्देवैः	१४०
ततो निरुद्धनिःशेष-	२६७	ततोऽस्मै दत्तपुण्याशीः	३८	तत्र कश्चित् समागत्य	४६०
ततो निवृत्ते जित्वा	११८	ततोऽस्य केवलोत्पत्तौ	२६६	तत्र कश्चित् प्रियं वीक्ष्य	४१६
ततो निर्ग्रन्थमुण्डादि-	३०६	ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानाद्	२५१	तत्र क्लृप्तरात्रीराम्	१३८
ततोऽन्तः प्रविशन् वीक्ष्य	१३८	ततोऽस्य जिनरूपत्वम्	२७६	तत्र क्षणमिवासीने	२६१
ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या	२७३	ततोऽस्य दिग्जयोद्योग-	१	तत्र चैत्यद्रुमास्तुङ्गान्	१३८
ततोऽपमृषितेनालम्	२७३	ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे	२४८	तत्र तं सुचिरं स्तुत्वा	४६२
ततोऽपरान्तमारुह्यभ्	८५	ततोऽस्य विदिताशेष-	२५४	तत्र नित्यमहो नाम	२४२
ततोऽपि नेमिनाथाय	२६८	ततोऽस्य वृत्तलाभः स्यात्	२७२	तत्र पक्षो हि जैनानाम्	२८२
ततो भस्म समादाय	५०८	ततोऽस्य हायने पूर्णो	२४८	तत्र पश्यन् सुरस्त्रीराम्	१३६
ततोऽभिमतसंसिद्धयै	४५	ततोऽस्याधीतविद्यस्य	२५०	तत्र बन्धुजनादर्थ-	२४७
ततोऽभिषेकमाप्नोति	२६१	ततोऽहमिन्द्रस्तस्माच्च	५०६	तत्र भद्रासनं दिव्यम्	११६
ततो भुक्तीतरास्थाने	३२७	ततो हिरण्यवर्मायाद्	४६०	तत्र वारचिलासिन्यो	३२७
ततो मतिमतात्मीय-	३४१	तत्कथं कर्मभूमित्वाद्	३३१	तत्र वास्तुवशादस्य	३८
ततो मध्यंदिनेऽभ्यर्णो	२६	तत्कराविंश करणेषु	३६६	तत्र शय्यासने सुप्त्वा	४८८

तत्र संस्कारजन्मेदं	२८०	तथा चिरं विहृत्यात्तसम्प्रीतिः	५०२	तदलं स्पन्दया दध्वम्	१६१
तत्र सञ्जातिरित्याद्या	२७७	तथात्माऽतिशयोऽप्यस्य	३३४	तदलमधिपकाल-	१६८
तत्र सम्यक्त्वशुद्ध्यादि	४६४	तथाऽतीन्द्रियदुर्गन्तार्थी	३३६	तदस्य रुचिमातेने	८
तत्र सर्वसमृद्धारूपो	४६५	तथाध्वानन् महाघोषा	२२१	तदाकर्णनमात्रेण	५०७
तत्र सूत्रपदान्याहुः	२८४	तथा नृपोऽपि सङ्ग्रामे	३४४	तदाकर्ण्य गृहत्यागम्	४७५
तत्राकामकृते शुद्धि-	२८२	तथा नृपोऽपि सैन्ये स्वे	३४४	तदाकर्ण्य जयोऽप्याह	४७२
तत्रागत्य कुमारोऽपि	४२८	तथाऽन्तकृद्दशाङ्गात्	१६३	तदाकर्ण्य महीशस्य	४५७
तत्रातिबालविद्याया	३१२	तथा पारावतद्वन्द्वम्	४४६	तदाकर्ण्यविधूयेनम्	४५१
तत्रादौ तावदुत्प्रेष्ये-	२६०	तथापि त्वत्कृतोऽस्मासु	१५४	तदा कलकलश्चक्रे	२०५
तत्रादौ सत्यजाताय	२६६	तथापि बहुचिन्तस्य	३२६	तदा कालानुभावेन	३२४
तत्राधिवासितानोऽङ्गाः	६३	तथाप्यस्यैव जेतव्यः	१५४	तदा कुबेरमित्रस्य	४५२
तत्रानर्चं मुदा चक्री	१४०	तथा प्रवृत्ते सङ्ग्रामे	४३१	तदा कृत्वा महद्दुःखम्	४५६
तत्रान्तपालदुर्गराणाम्	३७	तथाभिषिक्तस्तेनैव	२२१	तदा खगभवावास-	५००
तत्रापरान्तकान् नागान्	८६	तथा भूपोऽप्यतन्द्रालुः	३४६	तदागत्य सुराः सर्वे	५०७
तत्रापश्यन् मुनीनिद्ध-	१४०	तथाऽयमात्तरक्षायाम्	३६४	तदा जन्मान्तरस्नेहः	३८३
तत्रापि पूर्ववन्मन्त्र-	२४६	तथा योगं समाधाय	२५७	तदा जयोऽप्यतिक्रुद्धो	४११
तत्रापि विदितादेशैः	४६०	तथा रतिवरः पृष्टः	४५३	तदा तं राजगोहस्थम्	३७४
तत्राप्युक्तो विधिः पूर्वः	२४६	तथालब्धात्मलाभस्य	२८०	तदा तुष्ट्वा महीनाथो	४७३
तत्राभवत् प्रजापालः	४४७	तथा विसर्जितप्राणः	३४२	तदादि प्रत्यहं भेरी	२४६
तत्रामोघं शरं दिव्यम्	११६	तथाऽसावर्धशास्त्रार्थे	३२८	तदादिश दिशामस्मै	३८६
तत्रारोप्यं भरं कृत्स्नम्	२५५	तथास्य बृहचर्या स्यात्	२७३	तदादिश विधेयोऽत्र	४२६
तत्रार्चनाविधौ चक्रवयम्	२४५	तथा स्वयंवरस्येमे	४२६	तदा नभोऽङ्गणं कृत्स्नम्	८
तत्रार्हतीं त्रिधा भिक्षाम्	२८०	तथेतरांश्च सम्मान्य	४२७	तदानीमागते पत्यो	४६७
तत्रावतारसंज्ञा स्यात्	२६६	तथेदमपि मन्तव्यम्	३२१	तदा पटकुटीभेदाः	११७
तत्रावासितसाधनो निधिपतिः	७६	तथैव चक्रचीत्कारः	४५	तदापि खलु विद्यन्ते	३६२
तत्रावासितसैन्यं च	१२८	तथैव नृपतिर्मौलम्	३४३	तदापि पूर्ववत् सिद्ध-	२५१
तत्राविष्कृतमङ्गले	३१	तथैन्द्रियकदृक्शक्तिः	३३५	तदा पुत्रवियोगेन सा	४६७
तत्रासीनमुपायनैः	३२	तथैन्द्रियकवीर्यश्च	३३५	तदा पुरात् समागत्य	३७८
तत्रासीनश्च संशोध्य	१०६	तथैन्द्रियकसौन्दर्यः	३३६	तदा पूर्वोदिताचार्या	४६१
तत्रास्य नृपशार्दूल-	२२१	तथैव पृथिवीपालो	३४४	तदा पूर्वोदितो देवः	४२८
तत्रेष्टो गात्रिकाबन्धो	२४६	तथैव सत्कृता विश्वे	२२१	तदा प्रचलदस्वीय-	६१
तत्रैकस्मै वियञ्चारणद्वन्द्वाय-	४४५	तथोक्त्वा कान्तवृत्तान्तम्	४६८	तदा प्रणेशुरामन्त्रम्	१००
तत्रैन्द्रियकविज्ञानः	३३५	तथ्याः स्युः स्वस्य सन्दृष्टाः	३२१	तदा प्रभृति भच्चित्ते	५०१
तत्रैन्द्रियसुखी	३३५	तदतीत्य समं सैन्यैः	३०	तदा प्रियास्तवात्रापि	४६८
तत्रैव दुहिता जाता	४५५	तदत्र कारणं चिन्त्यम्	१५३	तदा बलद्वयामात्याः	४१३
तत्रैव विद्यया सौधगेहम्	४८२	तदत्र गुरुपादाज्ञा	१५६	तदा भरतराजेन्द्रो	५०६
तत्रैवागत्य सार्थशो	४५५	तदत्र प्रतिवर्तव्यम्	१५५	तदाऽभूद्बन्धमस्वीयम्	१३१
तत्रैवाभीष्टमावर्ज्य-	३६२	तदत्र भगवद्बन्ध-	३१७	तदा मुकुटसंघट्टाद्	१८५
तत्रोच्चैरुच्चरद्ध्वाना	१२६	तदध्युष्य जडो जन्तुस्तप्तः	४४२	तदा मुदितचित्तः सन्	४६२
तत्रोद्धोषितमङ्गलैः	५६	तदन्तर्गतनिःशेष-	१६३	तदा मुनेर्गृहाद् भिक्षाम्	४५४
तत्रोपनयनिष्क्रान्तिभागी	३०७	तदभावे च वध्यत्वम्	३१३	तदा रणाङ्गणो वर्षन्	११८
तत्रोपायनसम्पत्त्या	३२७	तदभावे स्वमन्यांश्च	३१३	तदालोक्य महीपालो	४७२
तथा गृहाश्रमस्थाश्च	५०५	तदलं देव संरभ्य	४६	तदाशीर्वादसन्तुष्टः	४६३

तदाशु प्रतिकर्तव्यम्	१७३	तद्वत्तात् कान्तया सार्द्धम्	५००	तपोऽयमनुपान्तकः	२८७
तदाश्वीयखुरोद्घाताद्	२५	तद्विम्बाधरसम्भाविता-	४४४	तपोलक्ष्म्या परिष्वक्ता	१६२
तदा सदसदः सर्वे	५००	तद्वुद्ध्वा नाध्वंशेशः	४३४	तपो विधाय कालान्ते	४५७
तदा सन्नद्धसंयुक्त-	४०४	तद्भूतवनमेतत्त्वम्	४८५	तत्तपांशुचिताभूमिः	१६४
तदा सर्वोपधाशुद्धौ	३८८	तद्भूशरारानः कागः	३६६	तमः कवाटमुद्घाटय	१६८
तदा सागरदत्ताख्यः	४६८	तद्यथातीन्द्रियज्ञानः	३६६	तमः सर्वं तदा व्यापत्	४१४
तदा सुखावती कुब्जा	४८६	तद्यथा यदि गौः कश्चिद्	३४३	तमध्वशेषमध्वन्यैः	२६
तदास्तां समरारम्भः	११७	तद्यथा संसृती देही	३३८	तमभ्यषिञ्चन् पौराश्च	२२१
तदाऽस्य क्षपकश्रेणीम्	२६६	तत् यूयं संसृतेहेतुम्	५०५	तमस्मत्कन्यकामेष	४८४
तदाऽस्योपनयाहृतम्	३११	तद्द्रवाकर्णनाद् घूसित-	३६४	तमानयानुनीयेह	१६२
तदा स्वमन्त्रप्रहितः	४३३	तद्द्राष्ट्रविजयाद्धंस्य	४५८	तमालवनवीथीषु	८४
तदिदं तस्य साम्राज्यम्	२६३	तदरूपा लोकनोच्चक्षुः	२३०	तमासिषेविरं मन्दम्	७१
तदुन्मुखस्य या वृत्तिः	२६६	तद्वचः पवनप्रीड-	३८६	तमित्यद्भुतया लक्ष्म्या	१३३
तदुपज्ञं निमित्तानि	३२८	तद्वचः सम्मुखीनेऽस्मिन्	१७७	तमित्यद्भुतया लक्ष्म्या	१३३
तदुपाकृतरत्नौघैः	१२८	तद्वचनं पवनाधूतम्	११५	तमित्यालोकयन् दूरात्	१७७
तदुपाहृतरत्नाद्यैः	११०	तद्वदित्वा कुलस्यैव	४६६	तमित्येति गुहायासौ	११२
तदुपेत्य प्रणामेन	१७६	तद् विलोक्य कुमारोऽभूत्	४६०	तमुच्चैर्बृत्तिमाकान्त-	१२१
तदेतत् सार्वभौमस्त्वम्	४३०	तद्विलोक्य सपत्न्योऽस्या	४४६	तमुष्यमूकमाक्रम्य	६७
तदेतत् सिद्धसाध्यस्य	२६६	तद्वीक्ष्य पितरावेष-	४४६	तमेकमक्षरं ध्यात्वा	३५२
तदेतद् योगनिर्वाणम्	२५६	तनुतापमसह्यं ते	१६४	तमेकपाण्डुरं शैलम्	१२४
तदेतद् विधिदानेन्द्र-	२५७	तनूदरी वरारोहा	२२८	तमेन धर्मसाद्भूतम्	२७८
तदेत्य द्रुतमायुष्मन्	१८०	तनुभूतपयोवेणी	४	तमोऽग्निगजमेघादिविद्याः	४१०
तदेनं शरमभ्यर्च्यं	४६	तन्वावायगता चिन्ता	३२७	तमो दूरं विधूयाऽपि	१८६
तदेन्द्राः पूजयन्त्येनम्	२६०	तन्वावायमहाभारम्	४५२	तमो निश्शेषमुद्धूय	१८६
तदेषां जातिसंस्कारः	२४३	तन्निमित्तपरीक्षायां	४४६	तमो बलान् प्रदीपादिप्रकाशाः	४१४
तदेव युवराजोऽपि	५०६	तन्निरीक्ष्य ममैवायम्	४५३	तमोऽङ्गुष्ठिता रेजे	१८८
तदेष परमज्ञान-	२७८	तन्निवेशादथान्येद्युः	४६६	तमो विध्य दूरेण	१८६
तदोद्भिन्नकटप्रान्त-	३६४	तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायाम्	२४५	तमो विमोहितं विश्वम्	४१४
तदोपसर्गनिर्णयो	४७४	तन्मा भूदनयोर्युद्धम्	२०२	तयोः कुमारः श्रीपालः	४८०
तदोभयबलख्यात-	४०८	तन्मुक्ता विशिखा दीप्रा	११८	तयोः सुतां भोगवतीं	४८३
तद्गर्भं रत्नसन्दर्भ-	१४०	तन्व्यो वनलता रेजुः	५	तयोरेहं तनूजास्मि	४८५
तद्गोयकलनिबद्धाण-	२३०	तपः श्रुतञ्च जातिश्च	२४६	तयोरारात् तटे पश्यन्	११४
तद्गोपुरार्चनं कान्तका	१३८	तपःश्रुताभ्यामेवातो	२४३	तयोरारात् तटे सैन्यम्	११४
तद्दुःखस्यैव माहात्म्यम्	४६४	तपसोऽग्रेण चोश्रेण-	२१४	तयोर्यन्मान्तरस्नेह-	४६०
तद्दुःखोऽपि निर्वन्धाद्	४५५	तपस्तनूनपात्ताप-	२१०	तयोर्यन्मान्तरात्मीय-	४४६
तद्दुष्टिमात्रविज्ञात-	४५३	तपस्तनूनपात्तापाद्	१६६	तयोर्ययोऽभवत्	३५८
तद्देव कथयास्माकम्	१६०	तपस्तापतनूभूत-	१६६	तयोर्विद्वत्प्रभा पुत्री	५०१
तद्देव विरमामुष्मात्	१५७	तपस्तीव्रमथासाद्य	१६२	तयोस्तुक् सर्वदयितः	४६५
तद्देव्यश्च महादेव्यो	३३४	तपोऽग्नितप्तदीप्ताङ्गाः	१६६	तरङ्गात्यस्तोऽयम्	५८
तद्देहदीप्तिप्रसरो	२१५	तपोऽनुभावादस्यैवम्	२१६	तरङ्गिततनुं वृद्धम्	४१
तद्दीर्घतं व्रणस्थान-	३४४	तपोभिरकुशैरेभिः	२१४	तरङ्गिततपोवैगाम्	६०
तद्धर्मस्थीयमाभ्यायम्	३१४	तपो भुजबली रेजे	२०४	तरङ्गिर्ध्वलीभूत-	१०
तद्धेतुफलपर्यन्तं	४६६	तपोमयः प्रणीतोऽग्निः	१७०	तरत्तिमिकलेवरं	५६

तरस्तं मकराकारम्	४३८	तां लक्ष्मीमध्यां मत्वा	३७५	तिरीटमुद्वहन् दीप्रम्	२५७
तरस्विभिर्वपुर्मेधा	६२	तां विलोक्य महीपालो	३६६	तिरीटशिखरोदयो	६६
तरुणस्य वृषस्योच्चैः	३२३	ताः श्रयन्ते गुणान्नैव	३६१	तिरीटोदग्रमूर्धासौ	७
तरुशाखाग्रसंस्त- त- तल्पादुत्थितमात्रोऽसौ	३० ३२६	ताः सम्पदस्तदैश्वर्यम्	१७६	तिर्यंगोष्फणपाषाणैः	४०२
तव वक्षःस्थलाश्लेषाद्	५०	तादवस्थैर्गुरीरुद्धैः	३४०	तिर्यङ्मण्डलगत्येवं	१८७
तवादेशविधानेन	४२६	तानेकशः शतं चाष्टौ	१३६	तिस्रोऽस्य वज्रकोटयः स्युः	२२६
तस्मादन्ते कुस्मलेच्छा-	३४७	तान् प्रजानुग्रहे नित्यम्	२६३	तीक्ष्णदण्डो हि नृपतिः	३४३
तस्मादवध्यतामेष	३१३	तान् प्राहुरक्षरभ्लेच्छा-	३४६	तीक्ष्णा मर्माण्यभिघ्नन्तः	३६६
तस्मादयं गुरोर्यत्वाद्	३१४	तान्यनन्योपलभ्यानि	१०७	तीर्थकुत्सु स्वतः प्राग्यो	३५१
तस्माद् रसदतीक्ष्णादीन्	२६४	तान् सम्पूज्य विसर्ज्याभूद्	३७०	तीर्थकुद्भगरभृच्छेष-	३०१
तस्माद्धर्मैकतानः सन्	३४१	तान् स्वयंवरशालायाम्	३७४	तीर्थकुद्भिरियं स्रष्टा	३१३
तस्मान्नास्माभिराक्रान्तम्	२४१	ताभ्यां तत्रैव सा रात्रिः	४१३	तीव्रं तपस्यतां तेषाम्	१६६
तस्मिन् दिने प्रविष्टस्य	३१०	तामाक्रान्तहरिन्मुखाम्	१७	तीव्रं तपस्यतोऽप्यस्य	२१०
तस्मिन्नन्येद्युःस्थानम्	४६४	तामालोक्य बलं जिष्णोः	११३	तुङ्गासिंहासनासीनम्	४३६
तस्मिन्नष्टदले पद्मे	२७२	तामुत्तीर्य जनक्षोभाद्	६०	तुङ्गोऽयं हिमवानद्रिः	१२०
तस्मिन्नेव भवे शक्तः	३४२	ताम्बूलरससंसर्गात्	३७५	तुरङ्गमवराद्द्वारात्	११०
तस्मिन्नेवोत्तरश्रेण्याम्	४५६	तारकाकुमुदाकीर्णौ	४	तुरङ्गमास्तरङ्गाभाः	३६३
तस्मिन् पौरुषसाध्येऽपि	३८	तारालितरलस्थूल-	२६१	तुलापुरुष एवायम्	१८५
तस्मिन् वने वसन्	३५६	तारुण्यशाली वृषभः	३२०	तूर्यध्वानाहतिप्रेङ्गव-	३७८
तस्मै कन्यां गृह्णाति	४२६	तावच्च परचक्रण	११६	तूर्यमङ्गलनिर्घोषैः	४४१
तस्य पूजा विधातव्या	४५१	तावच्च मन्त्रिणो मुख्याः	२०३	तुरगल्पोऽपि संवाहयः	३६०
तस्य मेऽयशसःकीर्तः	३६२	तावच्च सुधियो धीराः	११६	तृतीयजन्मनीतोऽत्र	४६१
तस्य राजश्च ताः सर्वा	५००	तावत्त्रपा भयं तावत्	४३२	तृतीयजन्मनो युष्मद्-	४६१
तस्य लक्ष्मीभनाक्षिप्य	३५८	तावदासीद् दिनारम्भो	१६३	तृतीयज्ञानसन्नेत्रैः	५०३
तस्य ब्रधःस्थले तत्र	४७४	तावद्धेपितनिर्घोषैः	४०२	तृतीयैःहृदि चानन्तज्ञानदर्श	३०६
तस्य स्वयंप्रभादेव्याम्	४५६	तावद्भिर्वादिभिर्वन्धो	५०३	ते कदानिज्जगत्पाल-	४५२
तस्यां तन्नाथवंशाय-	३६४	तावन्त्येव सहस्राणि	२२३	ते च सत्कृत्य सेनान्यम्	७१
तस्याखिलाः क्रियारम्भा-	३२६	तावन्त्येवः कपोती च	४५८	ते च स्वप्ना दिधाम्नाताः	३२१
तस्या दक्षिणतोऽपरयद्	६०	तावानेतु कुमारोऽपि	४८३	ते चिरं भावयन्ति स्म	१६८
तस्यापरस्मिन् दिग्भागे	५०७	तावान्निजितनिश्शेष-	१२६	तेजसां चक्रवालेन	१४१
तस्यामसत्यां मूढात्मा	३१२	तावुभी ब्रह्मलोकान्ते	४५२	तेऽतितीव्रैस्तपोयोगैः	१६२
तस्या लालाटिको नैकः	३६६	ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽम्नाताः	२४४	ते तु स्वव्रतसिद्धचर्थ	२४१
तस्या विनीलविश्रस्त-	२३०	ताश्च तच्चित्तहारिण्यः	२२५	तेऽभीत्योपासकाध्याय-	१६३
तस्यासिपुत्रिका दीप्रा	२३५	ताश्च तासां तदा व्याकुली-	४८७	तेन षाड्गुण्यमभ्यस्तम्	३२८
तस्यासीत् सुप्रभा देवी	३६३	तासां किमुच्यते कोपः	३६१	तेनापि त्याज्यमेवेदम्	१६१
तस्यास्तु भेदसंस्थानम्	२६६	तासां मृदुकरस्पर्शैः	२२५	तेनापि भारते वर्षे	३३१
तस्येष्टमूर्ध लिङ्गञ्च	२४६	तासामकृतकस्नेह-	१६३	तेऽनुरक्ता जिनप्रोक्ते	१६५
तस्योक्त दोषसंस्पर्शौ	३३६	तासामालापसंलाप-	३२७	ते पौरवा मुनिवराः	१७०
तां काण्डकप्रपाताख्याम्	१२६	तास्तु कर्त्तव्यया ज्ञेया-	२४५	तेऽभ्यनन्दन्महासत्त्वा	१६६
तां तस्य वृत्तिरनुवर्तयति स्म	४४५	तास्त्रिकालं समभ्यर्च्य	५०८	तेऽमी जातिमदाविष्टा	३२०
तां पश्यन्नर्चयंस्तान्श्च	१३६	तिथ्यादिपञ्चभिः शुद्धैः	४४१	तेषां कृतानि चिह्नानि	२४१
तां मनोजरसस्येव	१२६	तिमिरकरिणां यूथम्	१६५	तेषां निधुवनारम्भ-	१६३
		तिरीटं स्फुटरत्नांशु	२६१	तेषां स्यादुचितं लिङ्गम्	३११

तेष्वहंदिज्याशेषांशः	२४५	त्वं वल्लिनेव केनापि	४२७	दत्त्वा सुलोचनायै च	४३७
तेष्वध्वता विना सङ्गात्	२४०	त्वगस्थिमात्रदेहास्ते	१६६	ददती पात्रदानानि	३६८
ते स्वदुर्नयलज्जास्तवैराः	४२७	त्वङ्गतुङ्गतुङ्गतुरङ्गसाधनखुर-	६४	ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकलिङ्ग-	६६
ते स्वभुक्तोऽभिमतं भूयो	१६५	त्वत्तः स्मो लब्धजन्मानः	१५६	ददौ दानमसौ सद्भ्यो	३२५
ते हिमानी परिकल्लिष्टा	१६४	त्वत्तीर्थसरसिस्वच्छे	१४८	दधच्चाक्रचरीं वृत्तिम्	१८४
ते हि साधारणाः सर्व-	३१५	त्वत्तो न्यायाः प्रवतन्ते	३८८	दधतीरातपक्लान्त-	१७५
तैरद्विकं गिरि क्रान्त्वा	६८	त्वत्पदस्मृतिमात्रेण	१४६	दधद्दण्डाभिघातोत्थम्	१०७
तैस्तु सर्वप्रयत्नेन	३३२	त्वत्पादनखभाजाल-	१४८	दधद्दधीरतमां दृष्टिम्	२०४
तोषाद् सम्पादयामासुः	५०८	त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्राः	३०६	दधानं तुलितशेष-	१७६
तोषितैरवदानेन	११८	त्वत्प्रणामानुरक्तानाम्	१६०	दधानः स्कन्धपर्यन्त-	२१०
तो भोगपुरवास्तव्यो	४६६	त्वत्प्रतापः शरव्याजात्	१२०	दधानास्ते तपस्तापम्	१६५
त्यक्तकामसुखो भूत्वा	२८७	त्वत्प्रसादाच्छ्रुत्वं सम्यक्	३५६	दन्तकाष्ठग्रहो नास्य	२४६
त्यक्तचेलादिसङ्गस्य	२५३	त्वत्प्रसादादिदं सर्वम्	४३८	दन्तिदन्तार्गलप्रतोद्-	१८६
त्यक्तशीतातपत्राण-	२८६	त्वत्स्तुतेः पूतवागस्मि	१४८	दधितान्तकुबेराख्यो	४६७
त्यक्तस्तानादिसंस्कारः	२८५	त्वद्देहदीप्तयो दीप्राः	१४४	दर्पोद्धुराः खुरोत्वात-	५
त्यक्तागारस्य यस्यातः	२७६	त्वद्भुक्तिवासिनो देव	१२०	दर्भास्तरणसम्बन्धः	२६०
त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः	२५५	त्वमत्र तेन सीहादाद्	४८२	दर्शयन्ती समीपस्थाम्	४८२
त्यक्तोपधिधरा धीरा	१६७	त्वमादिराजो राजर्षिः	१५३	दशम्यां सिद्धकूटाग्रे	४६०
त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि	२८५	त्वमामुध्यायणः किन्न-	२७६	दशाङ्गमिति भोगाङ्गम्	२३३
त्यक्त्वेषं खंचरात्त्रातिवृष्टी	३६७	त्वमुद्घाटय गृहाद्वारम्	१०७	दशाधिकारास्तस्योक्ताः	३११
त्यागं पर्वोपवासं च	४५४	त्वया न्यायधनेनाङ्ग-	२६४	दशाधिकारि वास्तूनि	३१२
त्यागः सर्वार्थिसन्तपि	५०२	त्वया मदीयाभरणम्	४७३	दशार्णकवनोद्भूतानपि	६६
त्यागो हि परमो धर्मः	३४१	त्वयाऽहं हेतुना केन	४७२	दशार्णान् कारुण्येन च	६६
त्रयां गताः समादाय	४६०	त्वयि राजनि राजोक्तिः	१५५	दानं समुद्रदत्तस्य	४७१
त्रयः पञ्चाशदेता हि	२४४	त्वयिदं कार्यमित्यस्मै	१५३	दानं पुजां च शीलं च	३२५
त्रयोऽनयः प्रणयोः स्युः	३०१	त्वयेदानीं ससोपानाम्	१०८	दानिनो मानिनस्तुङ्गाः	४०८
त्रयोऽनयोऽर्हद्गणभृत्	२४५	त्वयिदानीं ससोपानाम्	३४	दिक्स्वस्तिका सभाभूमिः	२३३
त्रयान् हरितकायांश्च	१६७	त्वयां प्रस्थितो देवो	१४८	दिग्ङ्गनाघनापाय-	४
त्रिः परित्य नमस्कृत्य	३५६	त्वां स्तोष्ये परमात्मानम्	१४१	दिगन्तरेभ्यो व्यावर्त्य	३४०
त्रिः प्राक् त्वन्मारितावावाम्	४७६	त्वामायुधम् जगन्मान्यो	१७६	दिग्जये यस्य सैन्यानि	१२६
त्रिकलिङ्गाधिपानोद्गन्तु	६६	द		दिव्यः प्रभान्वयः कोऽपि	१०५
त्रिकालविषयं योगम्	१६५	दक्षचेटीजनक्षिप्रकृत-	४४६	दिव्यभाषा तवाशेष-	१४५
त्रिकूटमलयोत्सङ्गो	८४	दक्षिणानिलमापल्ल-	३७७	दिव्यमूर्तेरुदुत्पद्य	३३२
त्रिगुप्ताय नमो	२६५	दक्षिणेन तमद्रीन्द्रम्	१०१	दिव्यमूर्तेर्जिनेन्द्रस्य	२८१
त्रिजगज्जनताजस्र-	१३८	दक्षिणेन नदं शोणम्	६७	दिव्यरत्नविनिर्माण-	२२३
त्रिज्ञानधृत् त्रिभुवनैकगुरुः	५११	दक्षिणेर्मतया विष्वग्	२४	दिव्यरूपं समादाय	४६६
त्रिज्ञाननेत्रमम्यक्त्व-	५०५	दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः	१२८	दिव्यसङ्गीतवादित्र-	२५७
त्रिभिर्निदर्शनैरेभिः	३४०	दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः	३८१	दिव्यसिंहासनपदाद्	३०७
त्रिमेखलस्य पीठस्य	१४५	दण्डनादपरीक्ष्यास्य	४७४	दिव्यानुभावसम्भूत-	२५७
त्रिमेखलस्य पीठस्य	३१८	दण्डरत्नं पुरोधाय	१०	दिव्याभरणभेदानाम्	२२७
त्रिष्वेतेषु न संसर्गो	२८३	दण्डरत्नाभिघातेन	१०७	दिव्यास्त्रदेवताश्चाम्	२६३
त्वं जामातुर्निराकृत्या	४६८	दत्त्वा किमिच्छकं दानम्	२४२	दिशां प्रसाधनायाधाद्	३
त्वं मन्दराभिषेकार्हो भवेति	३०५	दत्त्वा कोशादि सर्वस्वम्	४३४	दिशां प्रान्तेषु विश्रान्तेः	८५

रत्नोक्तानामकाराद्यनुक्रमः

५३७

धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र	३५०	नक्राकृत्या स्वदेशस्थः	४३८	न भेतव्यं न भेतव्यम्	१०८
धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो	३४१	न खट्वाशयनं तस्य	२५०	न भोक्तुमन्यथाकारम्	१५७
धर्म्यमर्थं यशस्सारम्	३८८	नखदर्पणसंक्रान्त-	१४५	न भोगृहाङ्गणं तेनः	४
धर्म्यराचरितैः सत्य-	२७६	नखांशुकुसुमोद्भेदैः	२२४	नमःशब्दपरौ चेती	२६६
धवला धार्मिकैर्मन्या	४४०	मखेन्दुचन्द्रिका तस्याः	३६४	नमः सकलकल्याणपथ-	३५०
धानुष्कर्मगंगामार्गः	३६६	न गृहीतं मयेत्यस्मिन्	४७३	न मध्ये न शरीरेषु दृष्टाः	४०१
धारयश्चक्ररत्नस्य	६३	न चक्रिणोऽपि कोपाय	३६१	न मया तद्द्वयं साध्यमिति	४७५
धारा रज्जुभिरानद्धा-	२३२	न चक्रेण न रत्नेश्च	४३०	नमस्ते भतनाकीन्द्र-	१४८
धारा वीररसस्यैव रेजे	३६६	न च तादृग्विधः कश्चित्	३३५	नमस्ते परमानन्त-	१४७
धारिणी पृथिवी चेति	४७७	न चास्य मदिरासङ्गो	४१	नमस्ते पारनिर्वाण-	१४७
धार्मिकस्थास्य कामार्थ-	३२६	न चित्रं तत्र मच्चित्ती	३७६	नमस्ते प्रचलन्मौलि-	१४७
धिगिदं चक्रिसाम्राज्यम्	४६५	न चेदिसान् नुतान्	४२७	नमस्ते प्राप्तकल्याण-	१४८
धुततटवने रक्ताशोक-	६१	न चेलवनोपमस्यासीत्	११७	नमस्ते भुवनोद्भासि-	१४७
धुनी वैतरणी माषवती च	७०	नटोऽयं वासवो नाम	४८१	नमस्ते मस्तकन्यस्त-	१४७
धुनी सुमागधी गङ्गाम्	६७	न तथाऽस्मादृशां खेदो	१७२	नमस्ते मृकुटोपाय-	१४७
धूमवेणुं विनिर्जित्य	४६२	नतानां सुरकोटीनाम्	१४५	नमस्ते स्वकिरीटाग्र-	१४७
धूमवेणो विलोक्यैनम्	४६१	नतानोपो जयः स्नेहाद्	३६४	नमिबिनमिपुरोगै-	१२६
धूमवेणो हरिवरश्चैताम्	४८६	न तुष्यन्ति स्म ते लब्धौ	१६८	नमिश्च विनिमिश्चैव	१२८
धूलीसालपरिक्षेप-	१३७	न तृतीया गतिस्तेषाम्	१५५	न मृता ऋणिता नैव	४०५
धूलीसालपरिक्षेपो-	१४५	न तृप्तिरेभिरित्येष	४६३	नमोऽन्तो नीरजश्शब्दः	२६०
धृतमङ्गलवेषस्य	३६	नत्वाऽपश्यत् प्रसादीव	४३६	नमोऽस्तु तुभ्यमिदं	१४८
धृतरक्तांशुकां सन्ध्याम्	१८८	नत्वा विश्वसृजं चराचरगुरुम्	१७१	नयन्ति निर्भरा यस्य	८८
धृतिस्तु सप्तमे मासि	२४६	नदी वृत्रवतीं क्रान्त्वा	६७	नरविद्याधराधीशान्	३७३
धेहि देव ततोऽस्मासु	१२१	नदीनं रत्नभूयिष्ठम्	४३	न रूपमस्य व्यावर्ण्यं	३८२
धौरितं मतितानुर्यम्	६६	नदीनां पुलिनाभ्यासन्	२	नरेशो नागराश्चैतत्	४७४
धौरितैर्गतमृत्साहैः	६६	नदीपुलिनदेशेषु	१०	नर्मदा सत्यमेवासीत्	६०
धौरेयः पाथिवैः किञ्चित्	२६५	नदीमवन्तिकामां च	६८	न लक्ष्मीरपि तत्प्रीत्यै	३६३
ध्यानगर्भगृहान्तःस्था	१६४	नदी वधूभिरासेव्यम्	४२	नवमे मास्यतोऽभ्यर्णो	२४६
ध्रुवं स्वगुरुणा दत्ताम्	१८५	नदीसखीरियं स्वच्छ-	१६	नवमे वज्रनाभीशो	५०८
ध्वजदण्डान् समाखण्ड्य	४०४	न दुनोति मनस्तीव्रम्	१७६	नवलोहितपूराम्बु	४०७
ध्वजस्योपरि धूमो वा	४०४	नद्योस्तत्तत्प्रापायः	११४	नवापि कुपितेभेन्द्र-	४११
ध्वनतो घनसंघातान्	१३४	ननु न्यायेन बन्धोस्ते	३६०	नवाम्बुकलुषाः पूराः	२३२
ध्वनत्सु सुरतूर्येषु	२६६	ननुः सुरनर्तक्यः	१००	नवास्य निधयः सिद्धाः	१३१
ध्वनौ भगवता दिव्ये	५०६	नन्दनः सोमदत्ताह्वः	३५६	न विघ्नः किन्तु खल्वत्र	२०२
ध्वस्तोऽधमप्रसरा गाढम्	६४	नन्दनप्रतिमे तस्मिन्	३८	न विषादो विधातव्यः	४८६
न		नन्दनो वृषभेशस्य	२२२	नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नम्	३०५
न करैः पीडितो लोको	११५	नन्द्यावर्तो निवेशोऽस्य	२३३	नष्टमष्टादशाम्भोधि-	३५१
न किं निवारिताऽप्यायाम्	४१६	नन्वहं त्वत्पितृस्थाने	४३६	नष्टाधिमामसदिनयोः	२८४
न किञ्चिदप्यनालोक्य	११६	न पश्चान्न पुरा लक्ष्मीः	३६७	न स सामान्यसन्देशैः	१७२
न किञ्चिदप्यनालोक्य	४८	नप्ता श्रीनाभिराजस्य	१२६	न स्पृशामि कथं चाहम्	४८७
न केवलं शिलाभित्तौ	१२६	नभः सतारमारेजे	३	न स्मरिष्यसि किम्	४६६
न केवलं समुद्रान्तः-	३६	नभः स्फटिकनिर्माणम्	१४०	न स्थूले न कृशे नर्जु	३६५
		न भुजङ्गो न सन्दष्टा	४३२	न स्वतोऽने पवित्रत्वम्	३०१

न हर्ता केवलं दाता	३६३	निःशेषं नाशकन्धन्तुम्	४१४	निर्जरा कर्मणां येन	५०४
नाकौकसां धृतरसम्	५२	निःश्रेणीकृत्य तज्जङ्घे	२२८	निजितारिभटभोग्या	१६२
नागदत्तस्ततो वानरायो-	५०६	निःश्वासधूममलिताः	५२	निजिताशनिनिर्घोष-	४०१
नागप्रियाद्रिभाक्रम्य	६७	निःसङ्गवृत्तिरेकाकी	२५५	निर्दयः परिरम्भेषु	२२५
नागमारुह्य तिष्ठ त्वम्	४११	निःसपत्नमिति श्रेष्ठः	६८	निदिष्टस्थानलाभस्य	२७३
नागामरोपि तां पश्यन्	३६०	निःसृत्य नाभिवर्त्मीकात्	२२६	निदिष्टा गुरुणा साक्षाद्	१६२
नाङ्गरागस्तुरङ्गरागम्	४५	निगमान् परितोऽपश्यत्	१३	निर्द्वन्द्ववृत्तिरध्यात्मम्	२१४
नाटकानां सहस्राणि	२२६	निगलस्थो यथानेष्टम्	३३७	निर्मलत्वं तु तस्येष्टम्	३३६
नाट्यमालामरस्तत्र	१२६	निगलस्थो त्रिपाशश्च	३३७	निमित्तोऽस्य पुराणस्य	३५२
नाट्यशालाद्वयं दीप्तम्	१४६	निचुलः सहकारेण	२२	निर्मोकमिव कामाहः	२२६
नारिणामा महिमैवावस्य	२७६	निजगम्भीरपाताल-	४०	निर्यान्ति हृदयाद् वाचो	३५३
नातिदूरे निविष्टस्य	१५१	निजग्राह नृपान् वृत्तान्	६५	निर्यापितास्ततो घण्टाः	३२३
नात्रैव किन्त्वमुत्रापि	४७१	निजवागमृताम्भोभिः	४५३	निर्वासदीक्षयात्मानम्	२६६
नाथवंशशग्रेणीश्चामा	४२८	निजहस्तेन निदिष्टम्	४३६	निर्वाणसाधनं यत् स्यात्	२७१
नाथेन्दुवंशसरोही	४३७	निजागमनवृत्तान्त-	४८२	निर्विशेषं पुरोरेनम्	३८६
नादरिद्रीञ्जनः कश्चिद्	१	निजान्यजन्ममौल्यान्-	४६६	निर्व्यापिशनिराकाङ्क्षा	१६७
नाध्वा द्रुतं गुह्यतरैरपि-	७६	निजोचितासनाच्छाः	३७७	निर्व्रता निर्नमस्कारा	३४७
नानगारा वसून्त्यस्मत्	२४०	नित्यप्रवृत्तिशब्दत्वात्	४२	निर्विष्टवानिदं चान्यत्	४५४
नानाप्रसवसन्दृग्ध-	४४०	नित्यानुबद्धतृष्णत्वात्	४२	निवेदितवती गृष्टा	४६५
नानाभाषात्मिकां दिव्य-	१४१	नित्योदयो बुधाधीशो	४६५	निवेद्य कार्यविज्ञानम्	१५३
नानारत्नविधानदेशविलसत्	२३८	नित्यो निरञ्जनः किञ्चिद्	५०७	निवेद्य सुप्रभायाश्च	३७१
नान्यो भद्रभागिनोऽयमिति	४६७	निदेशैश्चित्तैश्चास्मान्	१२१	निश्चोपहेतिपूर्णेपु	४०४
नाभिकूपप्रवृत्तास्या	३६७	निधयो नव तस्याभन्	२२७	निषेव्यमाणा विषया	४६३
नाभूत् परिषद्भेदङ्गः	१६६	निधयो यस्य पर्यन्ते	३१	निष्कण्टकमिति प्राप्य	२२२
नाभकर्मविधानं च	३०६	निधिः पुण्यनिधेरस्य	२२७	निष्कषायाणि नाकस्य	५०४
नाम्नातिसन्धितो भूढो	३८७	निधोनां सह रत्नानाम्	२२८	निष्कान्त इति सम्भ्रान्तैः	६३
नाम्ना वज्रमयं दिव्यम्	२३५	निध्यानादजयूथस्य	३२२	निष्कान्तिपदमध्ये स्ताम्	३०७
नाम्ना विद्युत्प्रभे चास्य	२३४	निपतत्पुष्पवर्षेण	१३६	निष्पतकनकच्छायम्	२२३
नाम्नैव कम्पितारातिः	३६३	निपतन्निर्भरारात्रैः	१३२	निष्कुरं जुम्भतेऽमुष्मिन्	३८३
नाम्नैव लवणाम्भोधिः	६३	निपथे नालिकेराणाम्	८२	निष्पन्दीभूतमालोक्य	४०५
नायकैः सममन्येद्युः	११५	निपेतुरमरस्त्रीणाम्	१०८	निष्पार्थिवं वनेऽमुष्मिन्	५१
नालिकेरद्रुमेष्वासीत्	७४	निमीलयन्तश्चक्षुषि	४०१	निस्सपत्नां महीमेनाम्	११६
नालिकेररसःपानम्	८३	निमूच्छास्ते स्वदेहेऽपि	१६६	निस्सहायो निरालम्बो	४१३
नालिकेरासवैर्मन्ताः	८३	नियुद्धमथ सङ्गीर्य	२०५	निस्सृष्टार्थतयाऽस्मासु	१८०
नाशकं तदिहाश्चर्यम्	४७२	नियोज्य स्वानुजान् सर्वान्	४३५	नीचैर्गतेन सुव्यक्त-	७३
नास्त्येषामीदृशी शक्तिः	४१६	निरन्तरश्रवणकोथ-	४४२	नीत्वा रात्रि सुखं तत्र	४३५
नास्त्ये व्यापारितो हस्तो	३६	निरर्गलीकृतं द्वारम्	११५	नीत्वा सोऽपि कुमारं तम्	४८६
नास्यासीत् स्त्रीकृता बाधा	२११	निराकृत्यार्ककीर्त्यादीन्	३८१	नीरां तीरस्थवानीर-	८७
नास्वादि मदिरा स्वेरम्	१६०	निरुद्धमूर्ध्वं गृध्रौषेः	४०७	नीरूपोऽयं स्वरूपेण	४६३
नाहं देहो मनो नास्मि	२५६	निरुद्धान्तसेनादि-	४०५	नीलं श्यामाः कृतरव-	५४
नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि	३६१	निरोधमभयोद्धोषणायाम्	४७१	नीलोत्पलेशणा रजे	२
निःकृपो वेशलो लक्ष्मणौ	३६५	निर्गुणान् गुणिनो मनुजम्	३६१	नूनं चक्रिण एवायम्	४८
निःशक्तीन् शक्तिभिः	४०८	निर्ग्रन्थाय नमो वीतरागाय	२६५	नूनं पुण्यं पुराणाद्वेः	३५५

नूतमप्सरसां पश्यन्	२१	पठन् मुनीन्द्रसद्धर्म-	४७३	परिग्रहग्रहान्मुक्तो	४६५
नृत्यगीतसुखालापैः	४७१	पतत्पतङ्गसङ्काशम्	४२०	परिचितयतिहंसो	५१४
नृत्यत्कवन्धपर्यन्त-	१६६	पतद्गङ्गाजलावर्त-	१२७	परिणतपरितापात् स्वेदधारी	४२३
नृपं सिंहासनासीनम्	३६८	पतन्तं चारुणीसङ्गात्	१८७	परितः कायमानानि	२६
नृपतेर्मथुनो नाम्ना	४७३	पतन्मृगखगान्वीतप्रियाभिः	४०२	परितः सरसीः सरसीः	५४
नृपवर जिनभर्तुः	१६३	पतन्यत्र पतङ्गोऽपि	६३	परितस्तवत्सभां देव	१४४
नृपवल्लभिकावन्न-	२७	पताकाकोटयोऽप्यष्ट-	२३६	परिनिष्क्रान्तिरेषा स्यात्	२६६
नृपरताम्बूलवल्लीनाम्	८३	पतिः पतिर्वा ताराणां	३५८	परिभूतिर्द्विधा सात्र	३८१
नृपाङ्गनामुखाञ्जानि-	२७	पतितान्यसिनिर्घातात्	४०३	परिवेषोपरस्तस्य	३२३
नृपानवारपारीणान्	६६	पत्तनानां सहस्राणि	२२६	परिवेष्ट्य निरैयन्त	२०१
नृपानाकर्षतो द्वरान्	१८४	पक्वन्तः प्रतापोग्राः	३६६	परिसिन्धुनदीक्षीतः	११३
नृपानेतान् विजित्याशु	६६	पक्वश्यामरथं प्रोच्चैः	३८	परिहार्यं यथा देव	३१४
नृपान् सौराष्ट्रकानुष्ट-	६१	पथि द्वैधे स्थिता तस्मिन्	११३	परीतजातरूपोच्च-	४४०
नृपा भरतगृह्या ये	२०४	पथि प्रगोमुरागत्य	३५	परीत्य स्तोतुमारेभे	४८३
नृपासनमथाध्यास्य	३२६	पदं परं परिप्राप्तुम्	५०२	परीषहजयादस्य	२१२
नृपैर्गङ्गाद्वारे	५८	पदैरेभिरयं मन्त्रस्तद्विद्भिः	३०७	परीषहजयैर्दीप्तो	२१३
नृपोपायनयाजीभ-	१७६	पद्भ्यामारोहतोऽप्यत्रिम्	१३३	परीषहमलामं च	२११
नृवरभरतराज्योऽपि	१६८	पद्मरागांशुभिर्मित्रम्	८५	परैर्युः कान्तया सार्धं	४६२
नेधे विश्वदृशं श्रृणोमि	५११	पद्मरागांशुभिर्मित्रैः	१३३	पर्यटन्ति तटेष्वस्य	१२२
नेत्रावलीमिवातन्वन्	२४	पद्म हृदाद्विमवतः	१८८	पर्यन्तेऽस्य तटोद्देशा	१२३
नेन्दुपादैर्धृति लेभे	१६१	पद्मिन्यो म्लानपद्मास्या	१८८	पर्यष्वञ्जीत पुरीवैताम्	४१८
नेभ्यादिविजयं चैव	२६८	पनशानि मृदूयन्तः	८३	पर्याप्तमात्र एवायम्	२५७
नैकान्तक्षमन्तं साम	१८१	परदाराभिलाषस्य	३६०	पर्याप्तमेतदेवास्य	१३४
नैराजिनधरो ब्रह्मा	२८१	परप्रणामविमुखीं	१६०	पर्वतोदग्रमारूढो	१३१
नोदघातः कोऽप्यभूदङ्गो	२६	परप्रणामसञ्जात-	१६०	पर्वपिवासागस्थाय	३२५
न्यगृह्णातानि चास्यागन्	४८८	परमजिनपदानुरक्तधीः	२८६	पलायमानौ पाषाणौः	३६०
न्यग्रोधपादपाधःस्थ-	४८१	परमद्विगटं चान्यत्	२६६	पत्यङ्केन निषण्णास्ते	१६७
न्यपेवन्त वनोद्देशान्	१६७	परमधिभ्य इत्यस्मात्परम्	२६६	पवनस्य जयन् वेगम्	२३६
न्यायमार्गाः प्रवर्त्यन्ते	४१०	परमादिगुणाद्येति	२६६	पवनाधूतशाखाग्र-	७१
न्यायश्च द्वितयो दुष्ट-	२६३	परमादिपदान्नेत्र इत्यस्माच्च	२६६	पवनाधोरणारूढा	६
प		परमार्थकृतं तेन	४७७	पशुहृत्यासमारम्भात्	२८१
पक्वशालिभुवो नम्र-	२	परमार्हताय स्वाहा	२६८	पशून् विशृङ्गान् मत्वाश्वान्	४०३
पङ्कजेषु विलीयन्ते	१६	परमार्हन्त्यराज्यादि-	३०६	पश्चाज्जग्लुर्मुखाञ्जानि	३८१
पञ्चबाणाननङ्गस्य	२३०	परमार्हन्त्यराज्याभ्याम्	३०८	पश्चात् कोऽपि ग्रहः	४२८
पञ्चमं स्वपदे सूनुं	४६८	परमावधिमूलङ्घ्य	२१३	पश्चात् सर्वाग्निरीक्ष्येषा	३८१
पञ्चमुष्टिविधानेन	२७८	परश्शतमिहाद्रीन्द्रे	१२३	पश्चाद् विषविपाकिन्यः	४५०
पञ्चमे भोगभूजोऽभूत्	५०८	परस्परानुकूलास्ते	४७५	पश्चिमार्धेन विन्ध्याद्रिम्	६१
पञ्च ह्रस्वस्वरोच्चारण-	५०७	पराज्ञोपहृतां लक्ष्मीं	१८३	पश्य कृत्रिममूर्च्छात्त-	४४७
पञ्चैन्द्रियाण्यनायासात्	२१२	पराराधनदैर्न्योनम्	१६१	पश्य तादृश एवात्र	३८६
पट्टबन्धात् परं मत्वा	४५१	पराधर्मशानिनिर्माण-	११२	पश्य देवगिरेरस्य	१३४
पट्टांशुकडुकूलादि-	२२७	पराधर्ममानसं सैहम्	१४४	पश्य धूर्तैरहं मूढो	४५२
पट्टाललाटो नान्येन	४५१	पराधर्मरत्ननिर्माणम्	१४५	पश्यन्नुपसमुद्रं तम्	३७
		परावमानमलिनां भूतिम्	१८३	पश्यन् स्तम्भकरिस्तम्बान्	१७४

पश्य पुण्यस्य माहात्म्यम्	३७६	पुण्यं जले स्थलमिवाभ्यव-	६०	पुरोधाय शरं रत्न-	५०
पश्याम्भोधेरनुतटमेवा	५४	पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजन-	६०	पुरोधोमन्यमात्यानाम्	२५८
पहरां विषमग्राहः	८७	पुण्यं परं शरसामापदि कुवि-	६०	पुरोपाजितपुण्यस्य	३६३
पांसुधूसररत्नीध-	३२२	पुण्यं साधनमस्यैकम्	६५	पुरोपाजितसद्धर्मात्	३७५
पाकसत्त्वशताकीर्णाम्	१६७	पुण्यकल्पतरोरासन्	२३७	पुरो बहिः पुरः पश्चात्	६
पाणिग्रहणदीक्षायाम्	२५१	पुण्याच्चक्रधरधियं विजयिनी-	६५	पुरो भागानिवात्येतुम्	६६
पाण्ड्यान् प्रचण्डदोर्दण्ड-	७०	पुण्यादयं भरतचक्रधरो-	६०	पुरोहितसखस्तत्र	११६
पादातकृतसंवाधात्	१३१	पुण्यादित्ययमादिमा-	१३०	पुरोहितैः पुरन्ध्रीभिः	४४०
पादैरयं जलनिधिः	५२	पुण्याद् विना कुतस्तादृग्	१३७	पुलिन्दकन्यकासैन्य-	३७
पापः स तद्व्रणैर्मृत्वा	३६०	पुण्याश्रये क्वचित् सिद्धः	२५१	पुष्करार्द्धेऽपरे भागे	४६४
पापयोगी परप्रेर्यो	४१३	पुण्याहधोषणापूर्वं कुर्याद्	३०६	पुष्करावत्यभिख्यं च	२३३
पापसूत्रधरा धूर्ताः	३२१	पुण्यैः सिन्धुजलेरेनम्	११६	पुष्करैः पुष्करोदस्तैः	२१५
पापसूत्रातुगा यूयम्	२८०	पुण्योदयान्निधिपतिः	१५०	पुष्टो मौलेन तन्त्रेण	३४३
पापाप्येतानि कर्माणि	४७१	पुण्योदयेन मकराकर-	६०	पुष्पञ्चूतवनोद्गन्धिः	२३१
पापिनाऽऽनिवेगेन	४८२	पुत्रबन्धुपदातीनाम्	४२६	पुष्पमातृवमाप्तानः	३७२
पारमात्म्ये पदे पूज्यो	३६३	पुत्रलाभार्थं तच्चित्तम्	४५२	पुष्पसम्मर्दसुरभिः	१६२
पारां पारेजलं कूजत्	८७	पुत्र्यश्च संविभागार्हः	२५३	पुष्पावचयसंभवत-	५०१
पारावतभवे चाप्यधर्मम्	४६१	पुत्र्या गेहं गतस्याङ्ग-	४७०	पुष्पोपहारिभूभागा-	३७५
पारिव्रज्यं परिव्राजो	२८३	पुनः प्रियां जयः प्राह	४६२	पुष्करुः स्फुरदस्त्रौघाः	२०१
पाथिवस्पर्कराष्टस्य	६५	पुनरध्यास्य हृज्जन्म	३७६	पूजाराधाख्यया ख्याता	२७३
पाथिवान् प्रणतान् यूयम्	२६३	पुनरेकाकिनः सिंह-	३२२	पूर्वं वननिवेशे तौ	४५८
पाथिवैर्दण्डनीयाश्च	२८१	पुनर्विवाहसंस्कारः	२७४	पूर्वं विहितसन्धानाः	३६८
पालयेदुनुरूपेण दण्डेनैव	३४३	पुनस्तत्रागता दृष्टा	४६७	पूर्वमेव समालोच्य	३८६
पालयेद्य इमं धर्मम्	२६३	पुनातीयं हिमाद्रिं च	१८	पूर्ववत् पश्चिमे खण्डे	११५
पिताहं भवदेवस्थ	४६१	पुरः पादातमश्वीयम्	६	पूर्वोक्तपिङ्गलाख्यस्य	४७७
पितुः पदमधिष्ठाय	३५६	पुरः प्रतस्थे दण्डेन	६२	पृथक् पृथक् प्रदायाति	४३६
पितुरन्वयसुद्धिर्या	२७७	पुरः प्रधावितैः प्रेङ्ख-	२८	पृथक् पृथगिमे शब्दाः	२६२
पित्रोः पुरीं प्रवृत्तः सन्	४५४	पुरः प्रयातमश्वीर्यैः	८१	पृथुधीरतमवष्टभ्य	४७४
पिनद्धतोरणामुच्चैः	६७	पुरगोपुरमुल्लङ्घ्य	१७५	पृथुवक्षस्तटं तुङ्ग-	१७६
पीठिकामन्त्र एष स्यात्	२६३	पुरवो मोक्षमार्गस्य	४२६	पोषयत्यतिथत्वेन	३४५
पीतं पुरा गजतया सलिलं	७७	पुरस्कृत्येह तामेताम्	४३०	पोषयन्ति महीपाला-	१८६
पीतं वनद्विपैः पूर्वम्	७४	पुरस्तीर्थकृतां पूर्व-	३५६	पौराः प्रकृतिमुख्याश्च	२६२
पीताम्बुराम्बुदस्पर्द्धि	७४	पुरस्सरणमावेण	३८६	पौरैर्जनैरतः स्वेषु	३२४
पीताम्भसो मदासारैः	७४	पुरस्सरेषु निश्शेष-	२६५	प्रकाममधुरानित्यम्	२२५
पीत्वाऽथो धर्मपीयूषम्	३१६	पुराङ्गनाभिरुन्मुक्ता	६	प्रकीर्णकचलद्वीचि-	१३१
पीत्वाऽम्भो व्यपगमितान्त-	७७	पुराणं तस्य मे ब्रूहि	३५७	प्रकृतिस्थेन रूपेण	३३७
पीनस्तनतटोत्सङ्ग-	१७५	पुराणं धर्मशास्त्रं च	२७१	प्रकृष्टो यो गुणैरेभिः	२७०
पुंसां संस्पर्शमात्रेण	३६७	पुराणं मार्गमासाद्य	३५५	प्रक्षालितेव लज्जाऽग्रात्	४३२
पुंसां स्त्रीणां च चारित्र-	३२३	पुराणस्यास्य संसिद्धि-	३५५	प्रक्ष्वेलितरथं विश्वम्	१०४
पुंसो हतवती दण्डम्	४७०	पुराणो प्रौढशब्दार्थ	३५२	प्रगुणस्थानसोपानाम्	११२
पुंस्कोकिलकलालाप-	२१	पुराद् गजं समारुह्य	४३७	प्रगुणामुष्टिसंवाह्या	३६८
पुंस्कोकिलकलालाप-	२१६	गुरुषार्थत्रयं पुम्भि-	३६०	प्रचचालबलं विष्वग्	८
पुण्डरीकातपत्रेण	२६	पुरोज्वलत्समुत्सर्पच्छर-	४०४	प्रचण्डदण्डनिर्घात-	१७६

प्रचण्डश्चण्डवेगाख्यो	२३५	प्रत्यापशमसौ तत्र	३०	प्रवालपत्रपुष्पादेः	२४१
प्रचण्डा वज्रतुण्डाख्या	२३४	प्रत्यायातमहावात-	४१६	प्रविभक्तचतुर्द्वारम्	११७
प्रचलद्बलसंशोभाद्	८१	प्रत्येत्येव प्रपश्यन्तीम्	४४०	प्रविशद्भिश्च निर्यद्भिः	३१
प्रचेलुः सर्वसामग्र्या	१०४	प्रत्येयः श्रेष्ठिना प्रोक्तः	४६६	प्रविश्य भवनं कान्त्या	४८७
प्रजाः करभराक्रान्ता	६४	प्रथमं सत्यजाताय नमः	२६५	प्रविष्टमात्र एवास्मिन्	१०८
प्रजानां पालनार्थं च	२६४	प्रथमं सत्यजाताय स्वाहा	२६६	प्रवीरा राजयुध्वानः	१०३
प्रजानां सदसद्वृत्तचिन्तनैः	३२६	प्रथमोऽय परिक्षेपो	१४५	प्रवृत्तेयं कृतिः कृत्वा	३५४
प्रजानुपालनं प्रोक्तम्	३४८	प्रदानार्हत्वमस्येष्टम्	३१२	प्रवृद्धनिजचेतोभिः	३५८
प्रजापतिः सर्वसन्धो	३५७	प्रदाय परिवारं च	४४१	प्रवृद्धप्रावृडारम्भ-	४१०
प्रजापालतनुजाभ्याम्	४५३	प्रदीपः स्वकुलस्यायम्	३८२	प्रवृद्धवयसो रेजुः	६
प्रजासामान्यतैवेष्टम्	३४६	प्रदुष्टान् भोगिनः कांश्चित्	६३	प्रवेष्ट्य पापधी राजसमीपम्	४७४
प्रज्ञा परिषद् प्राज्ञो	२११	प्रद्विषन् परपाषण्डी	३३२	प्रवेष्टुमञ्जिनीपत्र-	७४
प्रज्वलन्तं जयन्तं वा	४०४	प्रनृत्यतां प्रभूतानाम्	३२२	प्रव्रज्य बहुभिः साद्धम्	४४३
प्रणताननुजग्राह	६५	प्रपन्नालिकेरौघस्थ-	७३	प्रशस्ततिथिनक्षत्र-	२८३
प्रणमश्चरणावेत्य	१७७	प्रफुल्लवनमाशोकम्	१३८	प्रशान्तधीः समुत्पन्न-	२६५
प्रणम्य वनपालाय	४८०	प्रबुद्धपद्मसौम्यास्या	२२८	प्रशान्तमत्सराः शान्ताः	१५६
प्रणम्य वनपालाय	४८०	प्रवीधजृम्भणादास्यम्	६८	प्रश्नव्याकरणात् प्रश्नम्	१६३
प्रणयः प्रश्रयश्चेति	१८२	प्रभग्नचरणां किञ्चिद्	३४३	प्रसन्नमभवत्तोयम्	१
प्रणयः प्रश्रयश्चेति	१८२	प्रभातमस्तौद्धतप्रबुद्ध-	३२६	प्रसन्नया दृशेवास्य	६६
प्रणिधाय मनोवृत्तिम्	२५६	प्रभावती च तन्मात्रा	४६५	प्रसन्नवदनेन्दुचदाह्लादि-	४३६
प्रणिपत्य विधानेन	१५६	प्रभावतीचरी देवी	४६६	प्रसन्नसलिला रेजुः	२
प्रतापी भुवनस्यैकम्	७	प्रभावतीति सम्मुह्य	४४७	प्रसह्य च तथाभूतान्	३४५
प्रतिकक्षं सुरस्त्रीणां	३१८	प्रभावत्या च पृष्ठोऽसौ	४६१	प्रसह्य तमसा रुद्धो	१८६
प्रतिकेतनमुद्बद्ध-	४६०	प्रभा समजयत्तत्र	६४	प्रसह्य पातयन् भूमौ	२०७
प्रतिग्रहापसारादि-	३८	प्रभुस्याऽनुमतश्चाधम्	१०५	प्रसादा विविधारस्तत्र	१३६
प्रतिध्वनितदिग्भित्ति-	३६२	प्रभोरवसरः सार्यः	१०३	प्रसाधितदिशो यस्य	१२६
प्रतिध्वस्तानि पापानि	४२५	प्रभोरिवागमात्पुष्टा-	६७	प्रसाधितानि दुर्गाणि	११६
प्रतिप्रयाणमभ्येत्य	६५	प्रमत्तादिगुणस्थान-	५०५	प्रसाध्य दक्षिणामाशाम्	८४
प्रतिप्रयाणमानम्ना-	१२८	प्रमदारव्यं वनं प्राप्य	४८०	प्रसारितसरिज्जिह्वो	८७
प्रतिप्रयाणमित्यस्य	६२	प्रसारणकालभावेभ्यो	४४४	प्रसुप्तवन्तं तं तत्र	४८६
प्रतियोद्धमशन्तास्तम्	३५	प्रमाद्यन् द्विरदः कश्चिद्	७५	प्रस्थानभेयो गम्भीर-	७
प्रतिराष्ट्रमुपानीत-	३६	प्रमेयत्वं परिच्छिन्न-	३३८	प्रस्फुरच्छस्त्रसङ्घात-	४०७
प्रतिवादसमुद्भूत-	४०६	प्रमोदात् सुप्रभादेशात्	३७६	प्रस्फुरद्भिः फलोपेतैः	४००
प्रतिशय्यानिपातेन	१५६	प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्याद्	३०१	प्रहारकर्कशो दृष्ट-	१६३
प्रतीची येन जायेऽहम्	४१४	प्रययौ निकषाम्भोधिम्	६२	प्राकृतोऽपि न सोढव्यः	२८६
प्रतीच्यापि युतश्चन्द्रो	४१८	प्रयाणभेरीनिः स्वानः	६२	प्राक् केन हेतुना यूयम्	२४१
प्रतीपवृत्तयः कामम्	१७२	प्रयात धावतापेत-	२८	प्राक् पीतमम्बु सरसां	७७
प्रतीपवृत्तिमादर्श	६३	प्रयान्तमनुजग्मुस्तं	१३२	प्राक् समर्थितमन्त्रेण	३६१
प्रतीयायान्तरे छिन्दन्	४१६	प्रयायानुवनं किञ्चिद्	६६	प्राक् समुच्चितदुष्कर्मा	३६३
प्रत्यक्षो गुरुरस्माकम्	१५६	प्रयुक्तानुनयं भूयो	२०६	प्राक् स्वीया जलदा जाता	६
प्रत्यग्रसमरारम्भ-	२०१	प्रयोज्याभिमुखं तीक्ष्णान्	३६८	प्रागक्षिणोचरः सम्प्रत्येष	५१२
प्रत्यग्राः किसलयिनीर्गुहाण	७८	प्ररुद्धशृङ्गमाधेन्दु-	३८७	प्रागत्र सत्यजाताय स्वाहा	२६८
प्रत्यनीककृतानेक-	१८६	प्ररूपयिष्यते किञ्चिद्	४६६	प्रागभावितमेवाहम्	३४२

प्रागुक्तकरवालेषः	४६१	प्रियदुहितरमेतां नाथ-	३८५	बलादशक्तिवेगेन	४८
प्रागुक्तवर्गानं चास्य	२३६	प्रियसेनं समाहूय	४८६	धत्तादुद्धरणीयो हि	१५
प्राग्दिङ्मुखस्तृतीयेन	५०७	प्रियोद्भवः प्रसूतायाम्	२४६	बलानि प्रविभवानि	२०
प्राग्देहाकारमूर्तित्वम्	३४०	प्रियोद्भवे च मन्त्रोऽयम्	३०४	बलान्तभद्रो नन्दी न	३५
प्राग्वर्णितमथानन्दम्	३०५	प्रीताश्चाभिष्टुवन्त्येनम्	२६२	बलिनार्गि सन्त्येव	४
प्राङ्मुखं सर्वतोभद्रम्	३७१	प्रीतिमप्रीतिमादेयम्	३६०	बलिनोर्युवयोर्मध्ये	३८
प्राचीं दिशमथो जेतुम्	३३	प्रेम नः कृत्रिमं नैतत्	४१५	बलैः पराह्य निर्भक्ताः	८
प्राच्यानाजलधेरपाच्य-	६५	प्रेयसीयं तवेवास्तु	२०८	बलोत्कल्पपरीक्षेयम्	२०
प्राच्यानिव स भूपालान्	६२	प्रेषिता काञ्चना नाम	५०१	बलोपभुक्तनिःशेष-	६
प्राणा इव वनादस्माद्	२३	प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या-	२४२	बालीता स्फोटितैश्चित्रैः	२०
प्रातरुत्थाय धर्मस्थैः	३२६	प्रोक्तास्त्विन्द्रोपपादाः	२५८	बह्वोऽप्यस्य लभ्याः	४८
प्रातरुद्यन्तमुद्धूत-	३२६	प्रोक्तोपेक्षादिभेदेषु	५०५	बहिः कलकलं श्रुत्वा	११०
प्रातरुन्मीलिताक्षः सन्	३२६	प्रोत्खातासिलता विद्युत्	४०७	बहिः पुरमथासाद्य	१७
प्रातस्तरामथानीय	३४६			बहिःसमुद्रमुद्रितम्	३१
प्रातस्तरामथोत्थाय	१६४			बहिरन्तर्मलापायाद्	३४०
प्रातिकूल्यं तवास्वासु	४२६			बहिर्निवेशमित्यादीन्	३०
प्रातिहार्यमथो भूतिः	१४५			बहिर्मेण्डलमेवासीत्	१५४
प्रातिहार्यमथो भूतिः	३३४			बहिर्यान्तं ततो द्वित्रैः	२४४
प्रातिहार्याष्टकं दिव्यम्	२६७			बहिर्विभूर्तिरत्युच्चैः	१४६
प्रातिहार्याष्टकोद्दिष्ट-	५०४			बहिस्तटवनादेतत्	२३
प्रादात् प्राणैव सर्वस्वम्	४३४			बहूनापि न दत्तेन	३४४
प्रादुर्भवति निःशेष-	२६६			बहुवगासनाकीर्णम्	२५
प्राध्वंक्रुत्य गले रत्न-	३८३			बहुपायमिदं राज्यम्	३४१
प्राप्ते ततोऽहमागत्य	४६४			बाध्यत्यं ताडनानिगदवचन-	३३८
प्राप्ते स्वर्गादिहागत्य	४६८			बाधं समर्पयामाग	४६६
प्रापद्युष्टोत्सुकः सार्द्धम्-	४०७			बालानिव हृत्तादरमान्	१८२
प्रापितोऽप्यसकृद्दुःखम्	४६३			बालास्ते बालभावेन	१५७
प्राप्तातीन्द्रियसीन्दर्या	३३७			बाल्य एव ततोऽभ्यस्येत्	३१२
प्राप्तोत्कर्षं तदस्य स्यात्	२८७			बाल्यात् प्रभृति या विशा	३१२
प्राप्तोषधद्वैरस्यासीत्	२१४			बाहूतस्या जितानङ्गपाशौ	२२६
प्राप्य संयमरूपेण	४६८			विभर्ति यः पुमान् प्राणान्	४७
प्राभातानककोटीनम्	४१८			विभर्ति हिमवानेनाम्	१६
प्रायश्चित्तविधानजः	२७६			विभ्यता जननिर्वदाद्	१५८
प्रायो व्याख्यात एवास्य	१७३			बुद्धिमास्त्वं तवाहार्य-	४१०
प्राविशद् बहुभिः सार्धम्	४३८			बुद्धिसागरनामास्य	२३५
प्राशनेऽपि तथा मन्त्रम्	३०७			बुद्धयेव बद्धपत्यङ्काः	४०८
प्राशंसत् सा तयोस्तादृक्	५०२			ब्रह्मचर्यं च धर्म्यस्य	२१४
प्रासान् प्रस्फुरतस्तीक्ष्णान्	४०२			ब्रह्मचारी गृहस्थश्च	२८३
प्रादुर्भूतमुखं खेटम्	२३५			ब्रह्मणोऽप्यत्यमित्येवम्	२८१
प्राहुर्मूलगुणनेतान्	२१२			ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात्	२४३
प्रियदत्तापि तं गत्वा वन्दित्वा	४६६			ब्रुवन् स कल्पना दुष्टमिति	४०६
प्रियदत्ताह्वया तस्याः	४४६			ब्रुवाणानिति साक्षेपम्	१६१
प्रियदत्तेऽङ्गितज्ञैतदवगत्यान्य-	४५३			ब्रुवाणैरिति सङ्ग्राम-	१८६

भूत यूयं महाप्रज्ञा
ब्रूयान्न नेमिनाथाय स्वाहा
ब्रूहि तत्प्रापणोपायमिति

२६६
२६७
४८५

भ

भक्त्या प्रणम्यतस्तस्य
भक्त्यागितां स्रजम्
भक्षाश्चामृतगर्भाख्या
भक्ष्यमरणान् कपोताद्यैः
भगवंस्त्वदगुणस्तोत्रात्
भगवद्विद्यवामर्थ-
भगवानभिनिष्कान्तः
भङ्गिना किम् राज्येन
भङ्गगुरः सङ्गमः सर्वाङ्गि
भटा हस्त्युग्मं भेजुः
भट्टलोकटिको केचिद्
भरतविजयलक्ष्मी-
भरतस्यादिराजस्य
भरतेन समभ्यर्च्य
भरतेऽ किन्नात्रापि
भरतो भारता वर्षं
भरतोऽभिरतो धर्मं
भर्तृभार्याभिसम्बन्धम्
भवतु सुहृदा मृत्यो शोकः
भवत्कुलाचलस्योभो
भवदेवचरैरानुबद्धवैरेण
भवदेवेन निर्दग्धम्
भवद्भिर्भावितैश्चर्यम्
भवदन्धनमुवतरय
भवेच्च न तपः कामो
भवेत्कर्ममत्तात्रिंशद्
भवेदन्यत्र कामरय
भवेद् देवादपि स्वामिन्य-
भवेयुर्नरद्वीपाः
भवेऽस्मिन्नेव भव्योऽयम्
भव्यस्यापि भवोऽभवद्
भव्यात्मा समवाप्य जातिमु-
भागी भवपदं ज्ञेयम्
भागी भवपदं वाच्यम्
भागीभवपदान्तरञ्च
भागीभदपदेनान्ते
भागीभवपदोपेतः
भाजनं भक्ष्यसम्पूर्णमदत्त-

३१६
१४६
२३६
४५६
१४६
३२०
२६६
१६१
४६२
२०१
१०४
२१६
१०८
५०४
२०५
२४०
३०५
४६१
५१०
३८६
४५८
४५७
४३४
२८८
३३७
३३८
३७३
४२६
२०६
३६२
५१२
२८६
३०८
३०४
३०७
३०२
४४६

भाति तस्याः पुरो भागो
भाति यः शिखरैस्तुङ्गैः
भार्या सागरदत्तस्य
भावनव्यन्तरज्योतिः
भावयन्ती मृताऽन्वेयम्
भास्वत्प्रभाप्रसरणप्रतिबुद्ध-
भास्वत्सूर्यप्रभं तस्य
भिधां नियतवेलायाम्
भिषजेव करैः स्पृष्ट्वा
भिन्नी युक्ती मुदुस्तन्ध्री
भीकराः किङ्कराकाराः
भीतभीता युधोज्यैश्च
भुक्तमात्मभरित्वेन
भुक्तो भोगो दशाङ्गोऽपि
भुक्त्यापि सुचिरं कालम्
भुजङ्गप्रयातरिवं वारिराशेः
भुजवत्यादयोऽभ्येयुः
भुजोपरोधमुद्धृत्य
भुज्यते यः स भोगः स्याद्
भुनक्तु नृपशार्दूलो
भूतार्थस्त्वस्तु तत्तर्कम्
भूत्वा बुधविमानेऽगो
भूपोऽयन्तुनयैरस्य
भूपोऽप्येवं वली कश्चिन्
भूपोऽप्येवमुपासन्नम्
भूभूतां पतिमुत्तुङ्गम्
भूमिष्टैर्निष्ठुरं क्षिप्ता
भूयः परमराज्यादि-
भूयः प्रोत्साहितो देवैः
भूयस्तदलमालप्य
भूयो द्रष्टव्यमत्रास्ति
भूयोऽपि संप्रवक्ष्यामि
भूयो भूयः प्रणाम्येशम्
भूरेण वस्तदाश्वीय-
भृङ्गीसङ्गीतसम्मूर्च्छन्
भेजे षड्भृत्तुजानिष्टान्
भेदं स चक्रवर्तीति
भेर्यः प्रस्थानशंसिन्यो
भो भोः सुधाशना यूयम्
भोक्तृशून्यं नभोगाङ्गम्
भोगब्रह्मप्रतादेवम्
भोगास्तुष्पाग्निसंबृद्धयै
भोगिनी भोगवद् भोगा-

३६६
८८
४६५
१४०
४३६
३८४
२३४
१६८
१६०
३६५
४१०
४०६
४३३
४६६
१६१
४५६
४७७
१७३
३४७
३४५
८७
४०१
३०४
१२७
१८५
१०१
२८०
३२३
२०२
१३८
२२८
४८१
१३१
२५८
३७६
२५०
४४३
४६३

भोगेष्वात्युत्सुकः प्रायो
भोगोपभोगयोग्योरु-
भोगोऽयं भोगिनो भोगो
भोग्येष्वर्थेष्वनीत्सुवय-
भ्रमत्येकाकिनी लोकम्
भ्रमद्यान्वकुटीयन्त्र-
भ्रातरोऽमी तवाजय्या-
भ्रातृभाण्डकृतामर्ष-
भ्रक्षेपयन्त्रपाषाणैः
भ्रूभङ्गेन विना भङ्गः
म
मणि मत्वा प्रविश्यान्तर्नेषु
मणिकण्डलभारेण
मणिपीठे समास्थाप्य
मणिमुक्ताफलघ्नान-
मणिर्न जलमध्येऽस्ति
मणिश्चूडामणिर्नाम
मण्डलाग्रसमुत्सृष्ट-
मतः संसारि दृष्टान्तः
मतिज्ञानसमुत्कर्षात्
मतिर्मे केवलं मृते
मतिश्रुतिभ्यां निश्शेषम्
मत्सङ्गवारिवाराशि-
मत्वा नीत्वा द्विजः
मत्वाऽग्री गतवरी लक्ष्मीम्
मत्वेति तनुमाहारम्
मदनज्वरतापाती
मदनानलसन्तप्त इति
मदस्मृतिमिवावद्ध-
मदीयराज्यमाक्रान्त-
मद्गृहाङ्गरावैदीयम्
मद्दुष्टपूर्वजन्मानि
मद्यदाः कुसुमास्तान-
मधु द्विगुणितम्बादु-
मधुमांसपरित्यागः
मधौ मधुमदारक्तलोचनाम्
मध्यस्थवृत्तिरेवं यः
मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रम्
मध्ये चक्षुरधीराक्ष्या
मध्ये तस्य स्फुरद्व्रतन-
मध्ये महाकुलीनेषु
मध्ये महीभूतां तेषाम्
मध्ये रत्नद्वयस्यास्य

२०७
३७२
४४३
३३६
१०६
१७५
१५४
१५६
२२५
२०३
४५१
३७५
४३८
४३५
४५२
२३५
४०४
३३८
२१३
३५४
२१३
३८७
४८३
१२६
३४१
२३१
४७४
८७
१७६
३६
४७१
३८७
४१५
२५०
२३१
३४८
२७
२२६
४३५
३८६
२०४
११७

मध्ये विन्ध्यमथैक्षिष्ट-	६०	मन्दारस्त्रजमम्लानिम्	२५६	महिम्ना शमिनः शान्तम्	२१६
मध्येवेदि जिनेन्द्रार्चाः	२६०	मन्ये पत्राणि गात्राणि	२२४	महिम्नाऽस्य तपोवीर्य-	२१६
मध्येसममथान्येद्युः	२३१	ममाभिवीक्षितुं तत्र	४८५	मही व्योमशशी सूर्यः	३८८
घनः पर्ययज्ञानमप्यस्य	५१३	मया तु चरितो धर्मः	२७५	महीशेनेति सम्प्रोक्ता	५०१
मनसि मनसिजस्यावापि	४४४	मया निवारितोऽप्याया	४१६	महेन्द्राद्रीं समाक्रामन्	७०
मनुश्चक्रभृतामायः	२२२	मया सृष्टा द्विजन्मानः	३१६	महोत्सङ्गानुदग्राङ्गान्	८६
मनुष्यजातिरेकैव	२४३	मयि स्वसात्कृते देव	१०६	महोपवासम्लानाङ्गा	१६६
मनोज्ञारे महत्स्यस्य	२१३	मयैव विहिताः सम्यक्	४२६	मां निवार्य सहायान्तीम्	४१६
मनोजशरपुङ्खान्जैः	१६	मयापनयनेऽग्राहि	४८३	मां स्वकार्ये स्मरेत्युक्त्वा	३६२
मनोभवनिवेशस्य	२१	मरुदान्दोलितोदग्र-	१३२	मागधायितमेवास्य	६६
मनोभुवोऽतिवृद्धस्य	२२४	मरुदुद्धतशाखाग्र-	७१	मा मा मागधवैचिताम्	४६
मनोरथस्य पुत्राय	४६२	मलयानिलमाश्लेष्टम्	३७२	माघकृष्णचतुर्दश्याम्	५०७
मनोवेगोऽशनिवरः	४६३	मलयोपास्तकान्तारे	८४	माता पिताऽपि या यश्च	४५६
मनोव्याक्षेपरक्षार्थम्	३४२	मलिनाचरिता हयेते	२८२	मातापितृभ्यां तद्दृष्ट्वा	४५६
मनोहराख्यविषये	५०१	मलीमसाङ्गो व्युत्सृष्ट-	२८५	मातापितृभ्यां प्रादायि	४५५
मन्त्रः परमराजादिर्मतोऽयं	२६८	मल्लिकाविततामोदः	२२	माद्यन्ति कोकिला शशवत्	२२
मन्त्रभेदभयाद् गूढम्	१७४	महद्भिरपि कल्लोलैः	४५	माद्यन्मलयमातङ्ग-	३७७
मन्त्रमूर्तीन् समाधाय	४३८	महसास्य तपोयोग-	२१६	माधवीलतया मादम्	२१०
मन्त्रनिमान् यथायोगम्	३१५	महाकल्याणकं नाम	२३६	माधवीस्तबकेष्वन्त-	२२
मन्त्रास्त एव धर्माः स्युः	२७१	महाजवजुषो वक्त्राद्	२७	मानखण्डनसम्भूत-	१६०
मन्त्रिणस्तस्य भूतार्थः	४५५	महातपोधनायार्चा	२४२	मानत्वमस्य सन्धत्ते	३१४
मन्त्री च फल्गुमत्याख्यो	४५०	महादानमथो दत्त्वा	२६५	मानभङ्गाजितैर्भोगैः	१८३
मन्त्री प्राग्भोगभुजो-	५०६	महाद्विरयमुत्सङ्ग-	१३४	मानमेवाभिरक्षन्तु	१८३
मन्त्रेणानेन शिष्यस्य	३१०	महाध्वरपतिर्देवो	१७०	मानयन्निति तद्वाक्यम्	१२१
मन्त्रेणानेन सम्मन्त्र्य	३०५	महान्गजधटाबन्धो	२००	मानस्तम्भमहाचेत्य-	३१८
मन्त्रेरेभिस्तु संस्कृत्य	२६१	महान्ति गिरिदुर्गाणि	६६	मानस्तम्भस्य पर्यन्ते	१३७
मन्त्रो मोदक्रियायां च	३०३	महापगाभिरित्याभिः	१२३	मा नाम प्रणतिं यस्य	१७८
मन्त्रोऽवतारकल्याणभागी-	३०२	महापगारयस्येव	६३	मामजेषीत् सखासी मे	४६७
मन्थरज्जुसमाकृष्टिः	३६	महाबलिनि निक्षिप्त-	२०६	मामधिक्षिप्य कन्येयम्	३८७
मन्याकर्षश्चमोद्भूत-	३६	महाबाहुस्ततश्चाभूद्	५०६	मायया नास्मि शान्तेति	४६६
मन्थारवानुसारेण	३६	महाब्धिरौद्रसङ्ग्राम-	२०७	मायारूपद्वयं विद्याप्रभावात्	४८६
मन्दं पयोमुखां मार्गं	२१८	महाभिषेकसामग्र्या-	२६१	मार्गं जं स्थितमुद्धूय	४८१
मन्दमन्दं प्रकृत्यैव	४०६	महाभोगैर्नृपैः कैश्चिद्	६३	मार्गविभ्रं शहेतुत्वाद्	४६६
मन्दराभिषेककल्याण-	३०३	महामना वयुष्मान्तो-	१६१	मार्गाश्चिरन्तनान् येऽत्र	४३०
मन्दराभिषेकनिष्क्रान्ति-	३०७	महामहमहं कृत्वा	२४०	मार्गे प्रणुसञ्चाराः	३६६
मन्दरेन्द्राभिषेकश्च	२४४	महामहमहापूजाम्	५०७	मार्गे बहुविधान् देशान्	३५
मन्दरेन्द्राभिषेकोऽसी	२६०	महामुकुटबद्धानाम्	३३	माहात्म्यप्रच्युतिस्तावत्	३३२
मन्दसाला मदं भ्रेजुः	२	महामुकुटबद्धानाम्	२०१	मित्रयज्ञः स्वयम्भूश्च	३५७
मन्दाकिनीतरङ्गोत्थ-	२०	महामुकुटबद्धास्तम्	८	मिथ्यात्वं पञ्चधा साष्ट-	५०५
मन्दातपशरञ्छाये	१८६	महामुकुटबद्धैश्च	२४२	मिथ्यात्वमव्रताचारः	५०४
मन्दारकुसुमामोद-	२६२	महाव्रतं भवेत् कृत्स्न-	२६६	मिथ्यामदोद्धतः कोऽपि	१५५
मन्दारकुसुमोद्गन्धिः-	१३७	महाहास्तिकविस्तार-	४०७	मुकुले वा मुखे चक्रे	४३२
मन्दारवनवीथीनाम्	२१	महाहिरण्यमायामम्	२३	मुक्तसिहप्रणादेन	११६

श्लोकानामकाराधनुकमः

५४५

मुक्तस्तु न तथा किन्तु	३३५	मेघस्वरो भीमभुज-	३७०	यथा जिनाम्बिका पुत्र-	३०६
मुक्तात्मनां भवेद् भावः	३३६	मेघान्धकारिताशेष-	१६४	यथा तथा नरेन्द्रोऽपि	३४३
मुक्ताफलाच्छमापाय-	१६०	मेघा सत्त्वजवोपेता	२७	यथा तव हृतं चेतः	१६१
मुक्तैतरात्मनोर्व्यक्त्यै	३३७	मैथुनस्य च संस्मृत्य	४६७	यथा दृष्टमुपन्यस्ये	३१६
मुक्त्वा कुमारमभ्येत्य	४६२	मैथुनाय नृपः क्रुद्ध्वा	४७३	यथान्धतमसो दूरात्तर्क्यम्	१४४
मुखं रतिसुखागार-	२२४	मोक्षो गुणमयो नित्यो	३६१	यथान्नमुपयुक्तं सत्	३२१
मुखमुद्भू तनूदर्याः	२२६	मोहपाशं समुच्छिद्य	४६४	यथार्थदर्शनज्ञान-	१४२
मुखरंजयकारेण	११०	मौनाध्ययनवृत्तत्वम्	२४४	यथार्थवरमय्यञ्च	४८
मुखेन चन्द्रकान्तेन	१७६	म्लापयन् स्वाङ्गसौन्दर्यम्	२८५	यथावदभिषिक्तस्य	२६१
मुखेन पङ्कजच्छायाम्	१७६	म्लेच्छखण्डमखण्डाजः	१०८	यथाविभवमत्रापि-	२४८
मुखैरनिष्टवामूर्वाङ्ग-	१७२	म्लेच्छराजसहस्राणि	२२७	यथाविभवमत्रेष्टम्	२४७
मुख्यमाना गुहा सैन्यैः	१२६	म्लेच्छराजादिभिर्दत्ताः	२२३	यथा विषयमेवेषाम्	१८१
मुदा निष्पादयामास	३७२	म्लेच्छराजान् विनिजित्य	४३०	यथाऽस्मत्पितृदत्तेन	२५२
मुद्गराद्यभिधातेन	३३८	म्लेच्छाचारो हि हिंसायाम्	३४६	यथास्वं संविभज्यामी	२२२
मुनयोऽपि समानाश्चेत्	१८३	म्लेच्छाननिच्छतोऽप्यज्ञान्	१७८	यथास्वानुगमहन्ति	३५३
मुनि रतिवरं प्राप्य	४६७	य		यथा हि कुलपुत्राणाम्	३३३
मुनि हिरण्यवर्माणम्	४६८	यं तत्त्वा पुनरामनन्ति न परं	२३६	यथेष्टं सप्रियो विद्याबाहनः	५००
मुनिः पृथक्प्रदेशस्थाम्	४६८	यः कोऽप्यकारणद्वेषी	१५२	यथैव बन्धानामुक्तः	३३
मुनिभ्यां दत्तदानेन	४५६	यः पूर्वापरकोटिभ्याम्	८८	यथैव खलु गोपालः	३४५
मुनिमन्त्रोऽयमाप्तातो	२६६	यः समग्रैर्गुणैरेभिः	३४०	यथैव खलु गोपालो	३४४
मुनिस्तद्वचनं श्रुत्वा	४६६	यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य	२३८	यथैव गोपः संजातम्	३४५
मुनीन्द्रपाठनिर्घोषैः	१३५	यक्षीभूताः तदागत्य	४६२	यथोक्तविधिनैताः स्युः	२६७
मुसलस्थूलधाराभिः	१६४	यच्च दण्डकपाटादि-	२६७	यथा किल विनिर्याति	३२४
मुहुः प्रचलदुद्वेल-	३६	यज्ञोगवीतमस्य स्यात्	२७८	यदादाय भवेज्जन्मी	४४२
मूकः श्रेयःपुरे जातः	४६१	यतिमाधाय लोकाग्रे	२५६	यदायं त्यक्तबाह्यान्तः	२६६
मूर्च्छितः प्रेमसद्भावात्	४३७	यतोऽक्षरकृतं गर्वम्	३४६	यदि देशादिसाकल्ये	४६५
मूर्त्यादिष्वपि नैतव्या	२८५	यतो निःशेषमाहारं	२५६	यदि धर्मकरणादित्थम्	४६४
मूर्धाभिषिक्तः प्राप्त-	२२१	यतोऽयं लब्धसंस्कारो	२८०	यदिष्टं तदनिष्टं स्याद्	४४२
मूर्ध्नि पद्महृदोऽस्यास्ति	१२३	यतो यतो बलं जिष्णोः	६६	यदि स्यात् सर्वसम्प्राप्त्या	३८६
मूलस्कन्धाग्रमध्येषु	३७२	यतोऽस्य दृढदृक्कानाम्	६२	यदीच्छाऽस्ति तवेत्याह	४८६
मूलोत्तरगुणोष्वात्त-	३२२	यत्तु नः संविभागार्थम्	१५६	यदुक्तमादिराजेन	१५६
मृगाङ्कस्य कलङ्कोऽयम्	३६८	यत्पुरश्चरणं दीक्षा	२५३	यदुक्तं गृहचर्यायाम्	२७८
मृगैः प्रविष्टवेशन्तैः	१३५	यत्प्रष्टुमिष्टमस्माभिः	३५७	यदेव लब्धसंस्कार-	२७८
मृगैर्मृगैरिवापातमात्रभग्नेः	४०८	यत्र शास्त्राणि भिन्नाणि	१६१	यद्विभ्रान्तिविमूढेन	१४६
मृगालैरङ्गमावेष्ट्य	२६	यत्रोन्मग्नजला सिन्धुः	११४	यद्वचच्चन्द्रार्कविभ्येत्य-	३१७
मृगालैरधिदन्ताग्रम्	७५	यत्संसारिणमात्मानम्	३३८	यद्वच्यं प्रतिभुः कश्चित्	३४५
मृदवस्तनवः स्निग्धाः	३६६	यथा कालायसाविद्धम्	३१४	यद्वच्यं भिन्नमयदि	४२७
मृष्यतां च तदस्माभिः	२०६	यथा क्रममतो ब्रूमः	२७०	यन्नाम्ना भरतावन्तिवमगमत्	२३८
मेखलायां तृतीयस्याम्	१४०	यथा खल्वपि गोपालः	३४४	यमसम्बन्धिदिकृत्यागम्	३७२
मेखलायां द्वितीयस्याम्	३१६	यथाख्यातमवाप्योह-	४६६	ययुः करिभिरारुद्धम्	७५
मेघप्रभश्च चण्डासिप्रभा-	३६५	यथा गोपालको मौलम्	३४३	यवीयानेष पण्यस्त्री	२८
मेघप्रभसुकैत्वादि	४२८	यथा च गोकुलं गोमिन्यायाते	३४७	यवीयान् नृपशार्दूलम्	२०५
मेघप्रभो जयादेशाद्	४१०	यथा च गोपो गयूथम्	३४४	यशःपालः सुखावत्याः	४६४

यशःपालमहीपाल-	४६५	ये विशुद्धतरा वृत्तिम्	२८२	रराभूमिं समालोक्य	४२१
यशस्यमिदमेवार्थ-	१५८	ये केचिन्वाक्षरम्लेच्छाः	३४६	रतानुवर्तनैर्गाढ-	१६३
यशस्वतीसुनन्दाभ्याम्	५०६	ये तस्यास्तनुनिर्माणे	३६६	रतावसाने निःशक्त्योः	४३३
यशोभनमसंहार्य-	१८४	येन प्रकाशिते मुक्तेः	३५१	रतिं चारितमप्येष	२१०
यशस्वतीन्द्रियविज्ञान-	३३६	येनायं प्रहितः पञ्ची	४७	रतिः कुलाभिधानस्य	४७७
यस्त्वेताः द्विजसत्तमैरभिमता	२६८	येनाऽसौ चक्रवर्तित्वम्	४८५	रतिपिङ्गलसंज्ञस्य	४७०
यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा	२७६	येनास्य सहजा प्रज्ञा	३२६	रतेः कामाद् विना नेच्छा	४३६
यस्य दिग्विजये मेघकुमार-	३४६	ये ये यथा यथा प्राप्ताः	३७४	रत्नं स्थपतिरप्यस्य	२३६
यस्य दिग्विजये विश्वम्	१२५	येषामयं जितसुरः समरे	४२३	रत्नं रत्नेषु कन्यैव	३८६
यस्य यत्र गताः स्याद्दुक्-	३७६	योगः समाधिनिर्वाणम्	२५६	रत्नतोरणविन्यासे	३२४
यस्याष्टादशकोटयोऽश्वा-	१२५	योगक्षेमो जगत्स्थित्यै	६५	रत्नतोरणसङ्कीर्ण-	३७१
यस्योत्संगभुवो रम्याः	१२४	योगजाः सिद्धयस्तेषाम्	१६६	रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि	२६४
या कचग्रहपूर्वरा	१६२	योगजाश्चर्द्धयस्तस्य	२१३	रत्नद्वीपं जिघृक्षुभ्यो	५०६
या कृता भरतेशेन	२१७	योगाः पञ्चदश ज्ञेयाः	५०५	रत्नमालाऽतिरोचिष्णुः	२३४
यागहस्तिनि मांसस्य	४७३	योगो ध्यानं तदर्थो यो	२५६	रत्नाश्चित्रिततलं	४३
या च पूजा मुनीन्द्राणाम्	२४२	योऽणुव्रतधराः धीरा	२४०	रत्नाशुच्छृरितं बिभ्रत्	२६१
याचित्रियेण नास्येष्टा	२११	योऽभूत् पञ्चदशो विभुः	५१४	रत्नाशुजटिलास्तस्य	२३४
याथास्त्येन परिज्ञानम्	५०४	योऽव शेषो विधिमुक्तः	२६६	रत्नाकरत्वदुर्गन्धम्	३८०
यादोदोर्घातिनिर्घातैः	४२	यो नाभेस्तनयोऽपि	५१५	रत्नातपत्रमस्योच्चैः	२१८
याममात्रावशिष्टायाम्	३४५	योऽनुतिष्ठत्यतन्द्रालुः	२८८	रत्नानि द्वितयान्यस्य	२२७
या वक्ष्यमसौ वष्टि-	४४२	यो नेतेव पृथुं जघान	५१४	रत्नान्यपि विचित्राणि	६६
यावज्जीवं व्रतेष्वेषु	१६५	यो योजनशतोच्छ्रायो	१२४	रत्नान्यपि यथाकामम्	२२२
यावदभ्येति सेनानी	१२८	यो वज्रमणिपाकाय	४६०	रत्नान्यमून्यनर्घाणि	५०
यावद् विद्यासमाप्तिः स्यात्	२५०	योषितां मधुगण्डूषैः	३७८	रत्नान्येतानि दिव्यानि	२३६
या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः	२८८	योषितो निष्कमालाभिः	१३	रत्नार्घैः पर्युपासाताम्	१७६
याऽसौ दिवोऽवतीर्णस्य	२८८	योषितोऽप्यभटायन्त	३६५	रत्नावर्तगिरिं याहि	४८२
युक्तं परमपिलिङ्गेन	३१०	योऽस्मिन्श्चतुर्यकालादौ	३५१	रत्नैः किमस्ति वा कृत्यम्	१८४
युक्त्यानया गुणाधिक्यम्	३१४	योऽस्य जीवधनाकार-	३३६	रत्नैश्चाभ्यर्च्य रत्नेशम्	५०
युगभारं बहेक्षेकः	३५२	यौवनेन समाक्रान्ताम्	४५६	रत्यप्रतर्क्यमाहात्म्यम्	१४१
युगादौ कुलवृद्धेन	३६१	यौवनोन्मादजस्तेषाम्	१५६	रत्यादिविमलासाद्धम्	४६१
युगान्तविप्लवोदकाः	३१७	र		रथकटचा परिक्षेपो	२००
युद्धवाप्येवं चिरं शेकुर्न-	४०५	रक्तः करैः समाश्लिष्य	४१८	रथचक्रसमुत्पीडात्	४५
युवा तु दोर्बली प्राज्ञः	१७२	रक्षाभ्युद्यता येऽव	३३१	रथवाही रथानूहुः	२७
युवाभ्यां निजितः कामः	३८३	रक्षावृत्तिरिक्षेपम्	१७६	रथवेगानिलोदस्तम्	२६
युष्मत्पादरजःस्पर्शाद्	५०	रक्ष्यं देवसहस्रेण	३३	रथाः प्रागिव पर्याप्ताः	३६५
युष्मत्प्रणामनाभ्यास-	१६०	रक्ष्यः सृष्ट्यधिकारोऽपि	३१३	रथाङ्गपारिर्वात्युच्चैः	४४
युष्मत्साक्षि ततः कृत्स्नम्	२५८	रङ्गितैश्चलितैः क्षोभैः	४३	रथान्तकनकस्तस्य	४६४
युष्मादशामलाभे तु	२७५	रजःसन्तमसे रुद्धः	२०२	रथान्नव तथा दुष्टानष्ट-	४२०
यूथं वनवराहरणम्	२६	रजन्यामपि यत्कृत्यम्	३२७	रथिनो रथकटचासु	१०२
यूथं त एव मदग्राह्याः	४७	रजस्वलां महीं स्पृष्ट्वा	७३	रथिनो रथकटचासु	२०१
यूथं निस्तारका देव	२७५	रजो वितानयन् पौष्प-	६७	रथोऽजितञ्जयो नाम्ना	२३४
यूथं सर्वेऽपि सायन्तनाम्भोजा	४४६	रञ्जिताञ्जनसन्नेत्रा	३७५	रथोद्धतगतिक्षोभाद्	२६
यूयमाध्वं ततस्तूष्णीम्	३६२	रराभूमिं प्रसाध्यारात्	२०२	रथो मनोरथात् पूर्व	४५

रथोऽस्याभिमतं भूमिम्	४५	रात्री तलवरो दृष्ट्वा	४७३	ललद्वालधयो लोल-	२४
रथ्या रथ्याश्चसंघट्टात्	६	राष्ट्राण्यवधयस्तेषाम्	६६	ललाटपट्टमारूढ-	१७६
रमणा रमणीयाश्च	१६०	रिपुं कुपितभोगीन्द्र-	४०६	ललाटाभोगमेतासाम्	२२४
रम्यां तीरतरुच्छाया	८७	रुद्धरोधोवनाक्षुण्णा-	६६	ललाटे यदि केनापि	४५१
रम्ये शिवाङ्करोद्याने	४७६	रुद्ध्वा माल्यवतीतीरवनम्	६८	लवङ्गलवलीप्रायम्	७१
रराज राजराजस्य	१०६	रुषिताः कञ्जकिञ्जल्कैः	२०	लाटाललाटसंघुष्ट-	६१
रराज राजराजोऽपि	२०४	रुढो रागाङ्कुरैश्चित्ते	४१५	लावण्यमम्बुधौ पुंसु	३८०
रविः पथोघरोत्सङ्ग-	१४३	रूपतेजोगुणस्थान-	२७०	लावण्यादयमभिसारयन्	५५
रविरविरलानश्रुन्	१६४	रेजुः सूत्रेषु सम्प्रोक्ता	३२४	लावण्येऽपि न सम्भोग्यम्	४१
रविराशावधूरत्न-	३२०	रेजुरङ्गुलयस्तस्याः	३६४	लास्यैः स्वल्पदय्यासैः	८४
रविर्वीर्यस्तथान्ये च	५०२	रेजुर्वनलताः नम्रैः	२१६	लिखितं साक्षिणो भुक्तिः	१२६
रवेः किमपराधोऽयम्	१८८	रेजे करतलं तस्याः	२२६	लेखसाध्योऽपि कार्योऽस्मिन्	१५८
रशनारज्जुविभ्राजि	३७६	रेजे स तदवस्थोऽपि	२१०	लेभेऽभेद्यमुरदृष्टं वरतनोः	७६
रसनोत्पाटनं हारम्	४७०	रोगस्यायतनं देहम्	२११	लोकचूडामरोस्तस्य	३२४
रागद्वेषी समुत्सृज्य	२५६	रोधोभुवोऽस्य तनुशीकर-	५५	लोकपालाय दत्वात्मलक्ष्मीम्	४५०
रागादीन् दूरतस्त्यक्त्वा	३५२	रोधोलतालायासीनान्	१५	लोकपालोऽपि सम्प्राप्त-	४५०
राजगेहं महानन्दविधापि	४४१	रोधोलताशिखोत्सृष्ट-	११	लोकस्य कुशलाधाने	१०५
राजन्यकेन संरुद्धः	३०	रोमराजीमिवानरीलाम्	१४	लोकाग्रवासस्त्रैलोक्य-	३४०
राजन् राजन्वती भूयान्	१५५	रौक्मं रजोभिराकीर्णम्	८	लोकाग्रवासिने शब्दात्	२६३
राजराजस्तदा भूरि-	४६५	रोप्यदण्डेषु विन्यस्तान्	२६	लोकानन्दिभिरप्रमापरिगतैः	५६
राजविद्यापरिज्ञानाद्	३३४			लोलतरङ्गविलोलितदृष्टिः	५३
राजविद्याश्चतस्रोऽभूः	३२८			लोलस्यान्वर्थसंज्ञस्य	४७०
राजवृत्तमिदं विद्धि-	२६४			लोलुपो नकुलार्थोऽस्माद्	५१०
राजवृत्तिमिमो सम्यक्	२६३			लोलोऽमिहस्तनिर्धूत-	१४
राजसिद्धान्ततत्त्वज्ञो	३२६			लोहस्येवोपतप्तस्य	१८१
राजहंसैः कृताध्यात्सा	३४				
राजहंसैः कृतोपास्य-	१५				
राजहंसैरियं सेव्या	१६				
राजा कदाचिदब्राजीद्	४५१				
राजाऽपराजितस्तस्मात्	५१०				
राजा राजप्रभो लक्ष्मीवती-	३५६				
राजा वित्तं समाधाय	३४८				
राजा सान्तःपुरः श्रेष्ठी	४५३				
राजा सुलोचनां चाबरोप्य	४३५				
राजोक्तिर्मयि तस्मिन्	१८२				
राजोक्तिस्त्वयि राजेन्द्र-	१०६				
राज्ञामावसथेषु शान्तजनता	३२				
राज्यं कुलकलत्रं च	१५५				
राज्यादिपरिवर्तेषु	३४५				
राज्याभिषेचने भर्तुः	२२१				
राज्ये न सुखलेशोऽपि	३४१				
राज्ये मनोभवस्यास्मिन्	१६२				
रात्राविन्दुदिवाम्भोजम्	३६७				
		ल			
		लक्षं कैलासमासाद्य	५०६		
		लक्ष्मीः पुरीमिवायोध्याम्	३७८		
		लक्ष्मीः सरस्वती कीर्तिः	३६१		
		लक्ष्मीः सा सर्वयोग्याऽभूद्	३७६		
		लक्ष्मीप्रहासविशदा	३३		
		लक्ष्मीवाग्बनितसमागम-	३३०		
		लक्ष्मीवतीं गृहारोमाम्	४२६		
		लक्ष्मीस्तस्येक्षितुस्तेन-	३६७		
		लक्ष्म्यान्दोललतामिवोरसि	६४		
		लङ्घयन्नेत्रयोदीप्त्या	४०६		
		लङ्घ्यते यदि केनापि	३८६		
		लज्जाशोकाभिमूतः सन्	४८४		
		लज्जे सम्पर्कमर्कण	४१४		
		लतायुवतिसंसक्ता	८३		
		लतालयेषु रम्येषु	११		
		लब्धचन्द्रबलस्योच्चैः	४१५		
		लब्धप्रसाद इत्युक्त्वा	४३१		
		लब्धवर्णस्य तस्येति	२५२		
		लब्धादेशोऽप्यहं हन्मि	४७२		
		लम्बिताश्च पुरद्वारि	३२४		
		लम्भयन्त्युचितां शेषाम्	२७८		
				व	
				वंशमात्रावशिष्टाङ्गैः	४०३
				वक्तृप्रामाण्यतो देव	१४२
				वक्त्रमस्याः शशाङ्कस्य	२२६
				वक्त्रवारिजवासिन्या	३८४
				वक्त्रेऽपि गुणवत्यस्मिन्	४६
				वक्षःस्थलेऽस्य रुच्ये	७
				वङ्गाङ्गापुण्ड्रमगधान्	६७
				वचोभिः पोषयन्त्येव	१८३
				वज्रकेतोर्महावीर्याम्	४७०
				वज्रद्रोण्याममुष्य क्वथदिव	५७
				वज्रपञ्जरमुद्भिद्य	५०६
				वज्रास्थिबन्धनं वाज्रैः	२२३
				वटविम्बप्रवालादि-	३६५
				वटस्थानवटस्थांश्च	१०७
				वत्सरानशनस्यान्ते	२१७

वदनोऽस्य मुखाम्भोजाद्	१५२	वयसाधिक इत्येव	१८२	वाणामविरतावाणाम्	८७
वद प्रयाति कः पन्थाः	४८५	वरं वनाधिवासोऽपि	१८३	वाणोः कुसुमवाणस्य	१६
वधं विधाय न्यायेन	४०२	वरं विषं यदेकस्मिन्	२०६	वातपृष्ठदरीभागानक्षवत्	६८
वध्नीथ नः किमिति हन्त-	७६	वरणावरणस्तस्थुः	६८	वाताघातात्	५४
वनं वनगजैरिदं जलनिधेः	५६	वराहाररतिं मुक्त्वा	६८	वात्सकं क्षीरसम्पोषाद्	१२
वनं विलोकयन् स्वैरम्	७४	वर्णलाभस्ततोऽस्य	२७५	वादिनेव जयेनोच्चैः	४००
वनद्विपमदामोद-	७४	वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः	२७५	वापीकूपतडागैश्च	१७५
वनप्रवेशमुन्मुग्धा	६६	वर्णान्तःपातिनो नैते	२८१	वाराणसी जितायोध्या	३७४
वनप्रवेशिभिर्नित्यम्	१३५	वर्णोत्तिमत्वं यद्यस्य न	३१२	वाराणसीपतिश्चित्राङ्गदो	५०६
वनराजीद्वयेनेयम्	१६	वर्णोत्तिमत्वं वर्णेषु	३१२	वाराणसी पुरी तत्र	३६३
वनराजीस्ततामोदाः	५	वर्णोत्तिमानिमान् विद्यः	२८१	वारिवारिजकिञ्जल्क-	७३
वनरेणुभिरालग्नैः	२५	वर्णोत्तमो महीदेवः	२५२	वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात्	२४२
वनरोमावलीस्तुङ्गा-	८६	वर्द्धमानो ध्वनिस्तूयं	३६५	वासगेहे जयो रात्रौ	३६०
वनवेदीं ततोऽतीत्य	१३६	वर्षारम्भो युगारम्भे	३७	वासन्त्यो विकसन्त्येताः	२२
वनवेदीद्वयं प्रोच्चैः	१४६	वर्षीयोभिरयासत्रैः	२६	वासवन्तं महाशैलम्	६८
वनवेदीपथा पश्यद्	१३८	वलिस्तपनमिन्वन्यः	२४२	वाह्यन्तं तमालोक्य	४०३
वनवेदीभिर्यं धत्ते	१६	वल्मीनां सकुसुमपल्लवाग्र-	७८	विकसन्ति सरोजानि	१६
वनस्थलीस्तरुच्छाया	७२	वल्मीकान् ततोऽग्राक्षीत्	१३७	विकासं बन्धुजीवेषु	३
वनस्पतीन् फलान्मान्	८३	ववषुर्बह्विवृष्टिं वा	४०५	विकासितविनेयाम्बु	५०४
वनान्वयं वयश्शिक्षा-	३६५	ववुर्मन्दं स्वरुद्यान-	२१८	विक्रमं कामचक्रस्य	३५१
वनाभोगमपर्यन्तम्	८८	ववौ मन्दं गजोदघृष्ट-	३७२	विक्रियां न भजन्त्येते	३४६
वनितातनुसम्भूतकामाग्निः	४६३	वशीकरणपुष्पाणि	३३२	विक्रियाऽष्टतयी चित्रम्	२१४
वने वनगजैर्जुष्टो	३६	वसन्तत्र महाकालस्तम्	४८८	विख्यातविजयः श्रीमान्	३८३
वने वनचरस्त्रीणाम्	१२८	वसन्ततिलकोद्याने	४३६	विगतच्छुतच्छूमः शीघ्रम्	४८७
वनेषु वनमातङ्गा	१६७	वसन्तश्रीवियोगी वा	३७२	विग्रहे हतशक्तित्वात्	३६८
वनोपान्तभुवः सैन्यैः	६७	वसन्तानुचरानीत-	३७८	विघटय्य तमो नेशम्	१८७
वन्दनार्थं कृता माला	३२४	वसन्ति स्मानिकेतास्ते	१६६	विघटय्य रथाङ्गानाम्	१६३
वन्दारुणां मुनीन्द्राणाम्	१४५	वसुधारकमित्यासीद्	२३४	विचार्य कार्यपर्यायम्	४३४
वन्दारोर्भरताधिपस्य	३४६	वसुपालकुमारस्य	४६३	विचित्रपदविन्यासा	३५५
वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य	४७६	वसुपालमहीपालप्रशनाद्	४६३	विचिन्त्य विश्वविघ्नानाम्	४२१
वन्दित्वा नागराः सर्वे	४६८	वसुमत्यापगामब्धि-	६८	विचूर्येन शरं तावत्	४७
वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तम्	२८७	वस्तुवाहनराज्याङ्गैः	४७	विचैरुः स्वखुरोद्धूत-	६७
वन्दित्वा सिद्धकृटाख्यम्	४८७	वस्तुवाहनसर्वस्वम्	६४	विच्छिन्नकेतवः केचित्	४०४
वन्दिमागधवृन्देन	४१८	वागाद्यतिशयैरेभिः	३३५	विजयमित्रो विजयिलो	३५७
वन्याः स्तम्बरमाः	२६	वागाद्यतिशयोपेतः	३३४	विजयायेत्यथाहृत्य-	३०४
वन्यानेकपसम्भोग-	७४	वागमुप्तो हितवाग्वृत्त्या	२८७	विजयाद्धं समारुह्य	४३४
वप्रान्तर्भुवमाघ्रातुम्	१२	वाग्देव्या सममालापौ	१६४	विजयाद्धं गिरैरस्य	४६६
वयं किमिति नाहृताः	४३६	वाचंयमत्वमास्थाय	१६६	विजयाद्धं जयेऽप्यासीत्	१०१
वयं जात्यैव मातङ्गाः	७५	वाचंयमस्य तस्यासीन्न	२१३	विजयाद्धं तटाक्रान्ति-	१५
वयं निस्तारका देव-	३४७	वाचंयमो विनीतात्मा	२५४	विजयाद्धं प्रतिस्पृद्धि-	३३
वयं वचोहरा नाम	१७७	वाजिनः प्राक्कशाघाताद्	४०३	विजयाद्धं महागन्ध-	४२१
वयमपि चरमाङ्गाः	५१०	वाज्रं कपाटयोर्युग्मम्	११२	विजयाद्धं चिलप्रस्था-	१०४
वयमेव महादेवा	३३४	वाढं स्मरामि सौभाग्यभागिनः	४८०	विजयाद्धं चले यस्य	१७८

विजयाद्धाचिलोलङ्घी	११६	विध्वस्ते पञ्चगानीके	११८	विलोक्य तं वरिष्कपुत्राः	४६६
विजयाद्धं जिते कृत्स्नम्	१००	विनयाद् विच्युतं राज-	४५०	विलोक्य विलयज्वालि-	३६६
विजयाद्धौत्तरश्रेणि-	४८४	विना चक्राद् विना रत्नैः	३६०	विलोलवीचिसंवट्टाद्	१४
विजिगीषुतया देवाः	४७	विनियोगास्तु सर्वासु	२४५	विलोलितालिराधुन्व-	१२८
विजिगीषोर्विपुण्यस्य	४०६	विनिवर्तयितुं शक्ता	४८४	विवाहविधिबेदिन्यः	३७६
विजिताब्धिसमाक्रान्त-	१२०	विनिवार्य कृतक्षोभम्	२०४	विवाहस्तु भवेदस्य	२७४
विजितेन्द्रियवर्गाणाम्	१५८	विनीतं संवरो गुप्तो	३५७	विवाहो वर्गलाभश्च	२४४
विज्ञातमेव देवेन	४२८	विन्ध्यश्रीस्तां पिता तरयाः	४३६	विविक्तरमणीयेषु	१२२
वितजितमहाभोहः	५०२	विपक्षखगभूपालान्	४२७	विविक्तैकान्तसेवित्वाद्	१६६
वित्रस्तः करभनिरीक्षणाद्	७८	विपरीतामतद्वृत्तिः	३४	विविर्धाद्विगदं चास्मात्	२६५
वित्रस्ताद्वेसरादेनाम्	२८	विपर्यासे विपर्याति	३८८	विविधव्यजनत्यागाद्	२८६
विषस्तैस्त्वमुपाहृत-	७८	विपाककटुसाम्राज्यम्	२०६	विवृणोति खलोऽन्येषाम्	१८०
विदध्यामद्य नाथेन्दु-	४०५	विपाकसूत्रनिर्ज्ञात-	१६३	विशालां नालिकां सिन्धुम्	६८
विदश्य मञ्जरीस्तीक्ष्णा	८३	विप्रकृष्टान्तराः क्वास्माद्	१२०	विशालाक्षो महाबालः	३५७
विदितप्रस्तुतार्थोऽसि	४२८	विप्रकृष्टान्तरावास-	१०६	विशुद्धकुलगोत्रस्य	२८३
विदितसकलतत्त्वः	५१३	विप्रलोऽपि स्वजातीयो	१५४	विशुद्धकुलजात्यादि	२७७
विदित्वा विष्टराकम्पाज्जयम्	४२०	विप्रभावम्बरे कञ्ज-	७३	विशुद्धवृत्तयस्तस्मात्	२८२
विदूरस्थं न युष्माभिः	१५८	विप्रभुः पवनोद्धृताः	६२	विशुद्धस्तेन वृत्तेन	२७६
विदेशः किल यातव्यो	१०२	विबुध्यासनकम्पेन	४३८	विशुद्धाकरसम्भूतो	२७७
विदेहे पुष्कलावत्याम्	४७०	विभक्ततोरणामुच्चैः	११०	विशुद्धा वृत्तिरस्यार्थ-	२५२
विद्धि मां विजयाद्धस्य	१०६	विभिन्दन् केतकी सूचीः	२३२	विशुद्धानृत्तिरेषैषाम्	२४३
विद्धि मां विजयाद्धास्यम्	१००	विभुत्वमरिचक्रेषु	३५	विशुद्धिरभयस्यास्य	२७७
विद्धि सत्योद्यमाप्तीयम्	२७०	विभीर्बलभरक्षोभम्	६६	विशेषतस्तु तत्सर्गः	३३२
विद्याया शबरूपेण सद्यः	४८४	विभ्राणमतिविस्तीर्णम्	१७६	विशेषविषया मन्त्राः	३१५
विद्याधरधराधीशः	१२८	विमतेरेव तद्गोहे	४७२	विशोभितमहावीथी	३७५
विद्याधरधरासार-	१२८	विमत्सराणि चेतांसि	१५२	विश्वं विनश्वरं पश्यन्	४६१
विद्याधरीकरालान्-	२१०	विमुक्तं व्यक्तसूत्कारम्	७५	विश्वक्षत्रजयोद्योगम्	१७७
विद्याधर्यः कदाचिच्च	२१७	विमुक्तकङ्कणं पश्चात्	२५१	विश्वदिग्विजये पूर्व-	१५२
विद्याभितेति सम्प्रीतः	४८४	विमुक्तप्रग्रहैर्वाहैः	४५	विश्वमङ्गलसम्पत्त्या	४४१
विद्युच्चोर्वत्वमासाद्य	४७६	वियद्दुन्दुभिभिर्मन्द्र-	१४१	विश्वविद्याधराधीशम्	४०६
विद्युद्वेगा ततोऽगच्छत्	४८३	वियद्विभूतिमाक्रम्य	३७३	विश्वविश्वम्भराह्लादी	४२६
विद्युद्वेगाऽभवद्	४६८	विरक्तो हयानुजीवी स्यात्	३४४	विश्वस्य धर्मसङ्ग्रहस्य	३१६
विद्युद्वेगाऽवलोक्य	४८३	विरज्य राज्यं संयोज्य	३५६	विश्वानाश्वास्य तद्योग्यैः	४२५
विद्युद्वेगा ह्वयं चोरम्	४७१	विरागः सर्ववित् सार्वः	२७०	विश्वेश्वरा जगन्माता	२६०
विधवेति विवेदाधीनैर्दक्षम्	३६०	विरुद्धाबद्धवाग्जाल-	१४३	विश्वेश्वरादयो ज्ञेया	२७१
विधातुमनुरक्तानाम्	४३६	विरूपं रूपिणं चापि	३८६	विषकण्टकजालीव-	२०६
विधाय चरणे तस्य	३४५	विरूपकमिदं युद्धम्	२०२	विषयीकृत्य सर्वेषाम्	४३३
विधाय प्राक् स्वयं प्राप्य-	४८०	विरैजुरसनापुष्पैः	६	विषये वत्सकावत्याम्	४८५
विधायाष्टाङ्गिकीं पूजाम्	३६८	विरोधिनोऽप्यमी मुक्त-	२१५	विषयेऽनभिष्वङ्गो	२५३
विधिरेश न चाशक्तिः	११६	विलङ्घ्य विविधान् देशान्	६२	विषयेऽस्मिन् खगाक्षमाभूत-	४५४
विधुं ज्योतिर्गणेनेव	४३५	विलसत्पद्मसम्भूताम्	१५	विषाणोल्लिखितस्कन्धो	६८
विधुं तत्करसस्पर्शाद्	४१४	विलसद्ब्रह्मसूत्रेण	२६२	विष्वगापूर्यमाणस्य	१०१
विधुविम्ब-प्रतिस्पर्द्धि	८	विलोक्य कृतपुष्पादि-	४६२	विष्वग्विसारि दाक्षिण्यम्	८४

विसभङ्गः कृताहारा	२६	वैशिष्ट्यं किं कृतम्	३४७	शनैः प्रयाति सञ्जिघृन्	२३
विसर्जितश्च सानुज्ञम्	१००	व्यक्तये पुरुषार्थस्य	३३५	शनैः शनैर्जनैमुक्ता	६
विस्तीर्णैर्जनसम्भोग्यैः	१४	व्यजनैरिव शाखाग्रैः	११५	शनैराकाशवाराशि-	१८८
विश्वम्भजननैः पूर्वम्	४६४	व्यथो मे विक्रमस्यास्ताम्	३६२	शनैर्बालेन्दुरेखेव सा-	३६८
विहरन्तो महीं कृत्स्नाम्	१६७	व्यलोकितं स भूपोऽपि	४६६	शफरी प्रक्षेपणामुद्यत्	१३
विहरन्नन्यदा मेघस्वरः	५००	व्यवहारनयापेक्षा-	३०१	शब्दपारभागी भव	३०६
विहाय मामिहेकाकिनम्	४८६	व्यवहारेक्षितां प्राहुः	३१३	शब्दविद्यार्थशास्त्रादि-	२५०
विहारस्तु प्रतीतार्थो	२६७	व्यवहारेक्षितान्या स्याद्	३१२	शमिताखिलविघ्नसंस्तवः	४२२
विहारस्योपसंहारः	२६७	व्यसनेऽस्मिन् दिनेशस्य	१८७	शमिता चक्रवर्तीष्टं	५०३
विहृत्य सुचिरं विनेयजन-	५१४	व्यापारितदृशं तत्र	१८	शयिता वीरशय्यायाम्	४१८
वीक्ष्य काकोदरेणात्मा	३६०	व्याप्योदरं चलकुलाचल-	५१	शयुपोता निकुञ्जेषु	२३
वीचिबाहुभिराध्वन्तम्	४१	व्यायता जीर्विताशेव	११३	शय्यासनालयादीनाम्	२२७
वीचिबाहुभिरुन्मुक्तैः	३६	व्यालोलोमिकरास्पृष्टैः	१५	शरत्ल्पगतानल्प-	१६३
वीज्यमाना विधुस्पृद्धि-	३७६	व्यावहासीमिवातेनः	६	शरदुपहितकान्तिम्	१६
वीतशोका ह्यया तस्य	४६१	व्युष्टिक्रियाश्रितं मन्त्रम्	३०८	शरनिभिन्नसर्वाङ्गाः	४१६
वीरपट्टं प्रबध्यास्य	३८२	व्युष्टिश्च केशवापश्च	२४४	शरभः खं समुत्पत्य	२४
वीरपट्टस्तदा सोढो भुवो	३८७	व्योमापगामिमां प्राहुः	१८	शरभो रभसादूर्ध्वम्	६८
वीरपट्टेन बद्धोऽयम्	४२०	व्रजन् मन्द्राश्च कच्छांश्च	६६	शरत्लक्ष्मीमुखालोक-	५
वीरलक्ष्मीपरिष्वक्त-	३६५	व्रतं च समितिः सर्वाः	२१२	शरव्यमकरोद्यस्य	१७८
वृणुते सर्वभूपालाः-	३६६	व्रतं दत्तवत्तः स्थानम्	४७०	शरव्याजः प्रतापाग्निः	१७८
वृतः परिमर्तरेव	३१८	व्रतचर्यामतो वक्ष्ये	२४६	शरशाली प्रभुः कोऽपि	४७
वृतः शशीव नक्षत्रैः	४३४	व्रतचिह्नं भवेदस्य	२७८	शरसंरुगाविद्याधृत्	४०२
वृतस्थानथ तान् विधाय	३१६	व्रतसिद्धयर्थमेवाऽहं	२७५	शरसङ्घातसञ्छन्नान्	४००
वृत्तादनात्मनीनाद्धीः	३३५	व्रतानुपालनं शील-	३२५	शराः पौष्पास्तव त्वं च	४१७
वृथाभिमानविध्वंसी	४१५	व्रतान्येतानि दास्यामः	४७०	शरीरं भर्तुरस्येति	५०७
वृश्चिकस्य विषं पश्चात्	३६१	व्रतावतरणं चेदम्	२५०	शरीरं यच्च यावच्च	२२३
वृषभाय नमोऽशेष-	३५०	व्रतावतरणस्यान्ते	२७५	शरीरजन्मना संषा	२७७
वृषाः ककुदसंलग्न-	५	व्रतावतरणं तस्य	२७४	शरीरजन्मसंस्कार-	२८०
वेदः पुराणं स्मृतयः	२७०	व्रताविष्करणं दीक्षा	२६६	शरीरव्रितयापायाद्	५००
वेदनाभिभवाभावाद्	३३६			शरीरव्रितयापाये	५०७
वेदनाव्याकुलीभावः	३३८			शरीरबलमेतच्च	२०८
वेदिकां तामतिक्रम्य	१०८			शरीरमरणं स्वायुः	२८०
वेदिकातोरणद्वारम्	३८			शरीरिवोस्त्रैरासक्तैर्विमुक्तैः	४११
वेदिकेव मनोजस्य	३६५			शशः शशन्नयं देव	२४
वेद्यां प्रणीतमग्नीनाम्	२५१			शशाङ्ककरजैत्रास्त्रैः-	१६०
वेलापर्यन्तसम्मूर्च्छत्	४४			शशिप्रभा स्वसा देव्या	४५६
वेलासरित्करान्बाद्धिः	६३			शश्वद्विकासिकुसुमैः	२१६
वेष्टितं वेन्द्रधनुषा	४३६			शस्त्रनिमिसन्नसर्वाङ्गा-	४०८
वैणवैस्तण्डुलैर्मुक्त्वा	६०			शस्त्रप्रहारदीप्ताग्नि-	२०७
वैमनस्यं निरस्यैषाम्	४७५			शस्त्रसंभिन्नसर्वाङ्गाम्	४१७
वैरकाम्यति यः स्मास्मिन्	६४			शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद्	२५०
वैराग्यस्य परां कोटीम्	१६२			शक्तिकाः सह याष्टीकैः	२८
वै वैश्रवणदत्तोऽपि	४६७			शाखाभङ्गः कृतच्छायाः	२६

श

शंफलीवचनैर्दूता-	१६०
शकुनिः शकुनाद् दुष्टाद्	४५६
शक्रतो भक्षणां मल्लैः	४७२
शक्तिमन्तः समासन्नविनेया	५०५
शक्तिप्रेणमहीपालप्रतिपन्नतुजः	४५६
शक्तिप्रेणोऽस्य सामन्त-	४५४
शक्रप्रिये शची मेनका	४६६
शङ्कादिदोषनिर्मुक्तम्	५०४
शङ्कताभिहृतोदिष्टः	१६८
शङ्के निशातपाषाणम्	२२४
शङ्खात् प्रदक्षिणावतत्	२२७
शतभोगां च नन्दां च	६८

शास्त्रामृगा मृगेन्द्राणाम्	३३५	शेषो विधिस्तु निःशेष-	३०७	श्रोत्रपात्राञ्जलिं कृत्वा	३५५
शास्त्रामृगा द्विपस्कन्धम्	३३६	शेषो विधिस्तु प्राक्प्रोक्तः	३११	श्रौतान्यपि हि वाक्यानि	३६६
शान्तं तत्त्वप्रसादेन	४३६	शैलोदग्रे महानस्य	२३६	श्लक्ष्णेण पिष्टचूर्णेन	२७२
शान्तस्वनैर्नन्दन्ति स्म	२१६	शोभानगरमस्येशः	४५४	श्वः स्वर्गे किं किमत्रैव	४१७
शान्तिक्रियामतश्चक्रे	३२३	श्च्योतन्मदजलासार-	२००	श्वसदाविर्भवद्भोगः	२०६
शान्तिपूजां विधायष्टौ	४२७	श्यामाङ्गीरनभिव्यक्त-	३७		
शासनं तस्य चक्राङ्कम्	२२३	श्रावकानायािकासङ्घम्	२५५		
शास्त्रज्ञा वयमेकान्ताद्	१५३	श्राविकाभिः स्तुतः पञ्च-	५०३		
शिक्षिताः बलिनः शूराः	३६३	श्रियं तनोतु स श्रीमान्	३५१		
शिखरैरेष कुत्कील-	१२३	श्रीदेव्यश्च सरिद्व्यो	२६२		
शिखरोल्लिखिताम्भोद-	१३२	श्रीदेव्यो जात ते जात	३०५		
शिखामेतेन मन्त्रेण	३०६	श्रीपर्वतं च किष्किन्धम्	७०		
शिखी सिताशुकः सान्तः	२४६	श्रीपालवसुपालाख्यौ	४८०		
शितिभिरलिकुलाभैः	२२०	श्रीपालाख्यकुमारस्य	४७७		
शिरःप्रहरणो नान्यो	४०३	श्रीमण्डपनिवेशस्ते	१४५		
शिरीषसुकुमाराङ्गी	२२८	श्रीमानानमिताशेष-	१३१		
शिरोरुहं जंराम्भोधि-	४८४	श्रीमानानभ्रनिःशेष-	१२५		
शिरोलिङ्गाञ्च तस्येष्टम्	२४६	श्रुतं च बहुशोऽस्माभिः	४८		
शिरोलिङ्गमुरोलिङ्गम्	३११	श्रुतं सुविहितं वेदो	२७१		
शिलातलेषु तप्तेषु	१६४	श्रुतं हि विधिनानेन	२५४		
शिवानामशिवैर्ध्वनिः	१६६	श्रुतज्ञानदुशो दृष्ट-	१६८		
शिशिरसुरभिमन्दो-	४४४	श्रुतवृत्तिक्रियामन्त्र-	२५३		
शिष्टान् पृष्ट्वा च देवज्ञान्	३७०	श्रुताधिभ्यः श्रुतं दद्यात्	२५५		
शीतमुष्णं विरुधं च	१६८	श्रुता विश्वदिशः सिद्धा	१७७		
शीलानुपालने यत्नो	३२५	श्रुतिस्मृतिपुरावृत्त-	२८२		
शुकान् शुकच्छदच्छादयैः	१७५	श्रुत्वा तदादिमे कल्पे	५०१		
शुकावलीप्रवालाभ-	६	श्रुत्वा तद्वचनं राजा	४५०		
शुक्लवस्त्रोपवासादि-	२७४	श्रुत्वा तां हृदयप्रियोक्ति-	४७८		
शुचिप्रावविनिर्माणीः	१३२	श्रुत्वा पुराणपुरुषाञ्च	१४६		
शुद्धस्फटिकसङ्काश-	१३६	श्रुत्वा सर्वार्थवित्सर्वम्	३७०		
शुनोऽचितस्य सत्कारैः	३३२	श्रुत्वेति देशनां तस्मात्	२७२		
शुभं श्रुतार्थसिद्ध्यर्थ-	३६६	श्रूयतां भो द्विजम्मन्य-	२७६		
शुभैः षोडशभिः स्वप्नैः	२५६	श्रूयतां भो द्विजन्मानो	२६६		
शुश्रुवं ध्वनिरामन्द्रो	१३७	श्रूयतां भो महात्मानः	३३१		
शुष्कमूरुहशाखाग्रे	४३७	श्रेष्ठिनेऽनपराधाया-	४६७		
शुष्कमध्यं तडागं च	३२०	श्रेष्ठिर्नैव निकारोऽयम्	४७४		
शुष्कमध्यतडागस्य	३२२	श्रेष्ठिनोऽस्य मिथोऽन्येद्युः	४७२		
शून्यगानस्वनैः स्त्रीणाम्	१६०	श्रेष्ठी कदाचिदुद्याने	४४६		
शून्यागारस्मशानादि-	१६६	श्रेष्ठी किमर्थमायातो	४७४		
शूर्पान्मेयानि रत्नानि	६३	श्रेष्ठी कुबेरकान्तश्च	४६४		
शृणु भो नृपशार्दूल-	२०८	श्रेष्ठी तवेति श्रेष्ठी च	४७४		
शृणु श्रेणिक संप्रश्नः	३५८	श्रेष्ठ्यहिंसाफलालोकात्	४७६		
शेषक्षत्रिययनां च	१७३	श्रेष्ठ्येव ते तपोहेतुरिति	४६७		

सङ्ग्रामनाटकारम्भ-	३६६	सत्यं भरतराजोऽयम्	१५१	सन्ध्यारूपां कलामिन्दोः	२३१
सचक्रं धेहि राजेन्द्र-	३५	सत्यं महेषुधी जङ्घे	२२४	सन्ध्यास्वमित्तये	३००
सचक्रं धेहि संयोज्य	३६३	सत्यजन्मपदं तान्तम्	२६३	सन्नद्धस्यन्दनाश्चण्डास्तदा	४०५
स चक्रिणा सहाक्रम्य	३६२	सत्यजातपदं पूर्वम्	२६१	मन्नागं ब्रह्मपुन्नागम्	७१
स चन्दनरसस्फार-	३७५	सत्यमेव यशो रक्ष्यम्	४८	स पक्वकशिशाशनम्-	१२
सचामरां चलद्धसाम्	३४	सत्याभासैर्न तैः स्त्रीणाम्	३६१	सपदि विजयसैन्यैर्निजित-	१३०
सचित्रपुरुषो वास्तु	४७	सत्येवं पुष्टतन्त्रः स्याद्	३४६	सपुत्रचित्पाटोपः	३५६
सचिवस्य सुतं दृष्ट्वा	४७३	सत्योऽभूत् प्राक्तनादेश	४८६	स पुमान् यः पुनीते	४७
स चैष भारतं वर्षम्	३३१	सत्त्वोपघातनिरता	३२१	सप्तगोदावरं तीर्त्वा	७०
सच्छायातप्यसम्भाव्य-	७२	सदाचारनिर्जरिष्टै-	२४०	सप्तभङ्ग्यात्मिकेयं ते	१४२
सच्छायान् सफलान् तुङ्गान्	११	सदानमानैः सम्पूज्य	३७१	सप्रणामं च सम्प्राप्तम्	१०५
सच्छायान् सफलान् तुङ्गान्	७२	सदास्ति निर्जरा नासौ	४६४	सप्रतापं यशः स्थास्तु	३६०
स जयति जयलक्ष्मी-	२१६	सदेव बलमित्यस्य	८१	सप्रतापः प्रभा सास्य	४१२
स जयति जिनराजो	१६७	सदोऽवनिरियं देव	१४६	स प्रतिज्ञामिवारुढो	३६
स जयति हिमकाले	२२०	सदोषो यदि निर्ग्राह्यो	४३०	सप्रभा चन्द्रलेखेव	४६६
स जीयात् वृषभो मोह-	२४०	सद्गृहित्वमिदं ज्ञेयम्	२८३	सप्रसादं च सम्मान्य	११०
सज्जने दुर्जनेः कोषम्	३५३	सद्यः संहारसंकुट-	४०१	स प्रेयसीभिराबद्ध-	७२
सज्जन्मप्रतिलम्भोऽयम्	२७७	सद्यो गुरुप्रसादेन	४७१	स बहुतरमराजन् प्रोच्छ्रितान्	४२३
सज्जातिः सद्गृहित्वं न	२४५	सद्यो मिश्राण्डकोद्भूतान्	४७५	स बाह्यमन्तरङ्गं च	४६६
सज्जातिभागी भव	३०२	सद्रत्नकटकं प्रोच्यैः	२६२	सभापरिच्छदः सोऽयम्	१४६
सञ्चरदभीषणग्राहैः	८६	सद्वृत्तस्तपसा दीप्तो	४६५	सभावनाति तान्वेष	३२५
सञ्चितस्यैतसो हन्त्री	३५५	सद्वृत्तान् धारयन् सूरि	२५५	समं ताम्बूलवल्लीभिः	८३
सञ्जातानुशया साऽपि	३६०	स धर्मविजयी सम्राट्	३२५	समं समञ्जसत्वेन	२६५
स तं स्यन्दनमारुह्य-	८	सधान्यैर्हरितैः कीरांम्	२४१	समं सुप्रविभक्ताङ्गम्	२२३
स ततोऽवतरन्नद्रेः-	१०४	सधूपघटयोर्युग्मं तत्र	१३८	समक्षमीक्षमाणेषु	२०५
स तत्र जिनदोषेण	४७७	सध्रीचीं वीचिसंरुद्धाम्	१०	समग्रबलसम्पत्त्या	३६५
स तद्वनगतान् दूराद्	८६	स नगो नागपुन्नाग-	६७	समञ्जसत्वमस्येष्टम्	२६५
स तमालोकयन् दूरात्	८६	सनमंसचिवं कञ्चित्	३२७	समन्ततः शरैश्छन्ना	४०८
स तस्मै रत्नभृङ्गारम्	१००	सनागमसनागैश्च	१२४	समन्तादिति सामन्तैः	१०४
स तां प्रदक्षिणीकृत्य	३१८	स नाग्यं परमं बिभ्रत्	२१०	समन्ताद् योजनायाम-	१४०
सतां वचांसि चेतांसि	४२६	सनातनोऽस्ति मार्गोऽयम्	३८६	समभ्यर्च्य समाश्वास्य	४२५
सतां सत्फलसम्प्राप्तये	५०६	स निमित्तं निमित्तानाम्	३२६	समवायाख्यमङ्गं ते	१६३
सता बुधेन मित्रेण	४१३	स निवेदितवृत्तान्तो	१७६	समवेगेः समं मुक्तैः	४०१
सतामसम्मतां विष्वग्	१८०	स नृजन्मपरिप्राप्तो	२७७	समस्तनेत्रसम्प्रीत-	३८०
सति चैवं कृतज्ञोऽयम्	३४४	सन्तानार्थमृतावेव	२५१	समस्तबलसन्बोहम्	३७८
स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या	३३२	सन्तुष्टान् स्वे वने शूरान्	८६	स महाभ्युदयं प्राप्य	२८६
स तु संसृत्य योगीन्द्रम्	२६६	सन्त्यब्धिनिलया देवाः	३६	समांसमीना पर्याप्त-	१४
सत्तोरणमतिक्रम्य	१०६	सन्त्येवानन्तशो जीवा	२४१	समागतः स इत्येतन्निश्चेतुं	४८६
सत्कवेरर्जुनस्येव	३५४	सन्धि च पणवन्धञ्च	१७४	समागत्य महाभवत्या	४८७
सत्कारलाभसंवृद्ध-	३२०	सन्धिविग्रहचिन्तास्य	८२	स मागधवदाध्याय	१२०
सत्कृतः स जयाशंसम्	२०६	सन्धिविग्रहयानादि-	१०६	स मातङ्गं वन यस्य	८८
सत्यं दिग्विजये चक्री	१८४	सन्ध्यातपतपान्यासन्	१८८	समानवत्तिरेषा स्यात्	२४३
सत्यं परिभवः सोढुम्	४८	सन्ध्यादिविषये नास्य	३६	समानायात्मनाऽन्यस्मै	२४३

समापतच्छत्रात-	२०७	सरत्ना निधयो दिव्याः	२३३	सर्वेऽपि जीवनोपायं	४७५
समीपवर्तिन्येकस्मिन्	४६६	सरसकिसलयान्तस्पन्द-	१२६	सर्वेऽपि वृषभसेन-	५१४
समुच्चरन् जयध्वान-	१२०	सरसां कमलाक्षिभ्यः	४१८	सर्वेऽप्यासन्नभक्ष्यत्वाद्	४५४
समुच्छ्रितपुरोभागा-	२७	सरसानि मरीचानि	८३	सर्वोऽपि विधिनिर्मुक्ता	१६६
समुत्थाय सभामध्ये	३५६	सरभिजमकरन्दो-	१६	सलीलमृदुभिर्यातैः	८४
समुत्सृज्येदनात्मीयम्	३४२	सरसीजलमागाढौ	२०४	सवज्रमणिपाकस्य	४६१
समुद्भूतास्त्रसम्पृक्त-	४०३	सरस्तरङ्गधीताङ्गाः-	७५	सवनः सावनिः सोऽद्रिः	१०४
समुद्भट्टरसप्रायैः	२०२	सरस्तीरतदृच्छायाम्	२६	सर्वमिता भृशं रेजुः	१०२
समुद्रवत्सारूप्यम्	४६७	सरस्तीरतरूपान्त-	६६	सवागतिशयो जेयो	३३४
समुद्रदत्तो ज्वलनवेगस्य	४६८	सरस्तीरभुवोऽपश्यत्	११	स वा प्रणम्य तीर्थेशम्	४३६
समुद्रमय पश्यामः	३४	सरस्यः स्वच्छसलिला	२५	स वैश्रवणदत्तोऽपि	४६८
समूलतूलमुच्छिद्य	३६१	सरांसि कमलामोदन्	१०	सत्रतो वीरलक्ष्मीं च	४१७
समेत्यावसरावेक्षाः	१३१	सरांसि ससरोजानि	२	स शंसितव्रतोऽनाश्वान्	२०६
समीक्षितकं स्फुरद्व्रतम्	३०	सरितं रोहितास्यां च	१२३	स शरो दूरमुत्पत्य	१२०
सम्पत्तुगम्पन्नपुण्यानाम्	४३७	सरितोऽम्ः समं सैन्यैः	८७	स शिखामणयोऽमीषाम्	१४५
सम्पूज्य निधिरत्नानि	२६१	सरितोऽमूरगाधपा-	६८	स शैलः पवनाधृत-	६७
सम्प्रत्यकम्पनीपकमम्	३७०	सरितो विषमावर्त-	२०७	स श्रीपालकुमारश्च	४६३
सम्प्रदायमनादृत्य	२८४	सरिद्वधूस्तदुत्सङ्गो	८६	स श्रीमानिति विदधतः	३१
सम्प्रधार्यमिदं तावद्	१५२	स रेमे शरदारम्भे	२३२	स श्रीमान् भरतेश्वरः	१७१
सम्प्राप्तभावपर्यन्तो	४३३	सरोजरागरत्नांशु-	१३६	स सत्कारपुरस्कारे	२११
सम्प्राप्तश्च तमुद्देशम्	१२०	सरोजलं समासे	२	ससत्त्वमतिगम्भीरम्	४३
सम्प्राप्य नवधा पुण्यम्	४५२	सरोजलमभूत् कान्तम्	२	ससम्भ्रमं च सोऽभ्येत्य	६६
सम्प्रेक्षितैः स्मितहृषिः	६५	सरोजगाहनिगिक्त-	७५	ससम्भ्रमं सहापेतुः	४३८
सम्भाषितश्च सम्भाजो	१०५	सरोजगाहनिर्वृत-	७३	ससम्भ्रममिवास्याभूद्	४६
सम्भूय बान्धवाः सर्वे	४६०	सर्पिर्गुडपयोमिश्र-	४७३	स सर्वमनुभूयायात्	४७२
सम्भोगेर्वनमिति निविशन्	७८	सर्वैः प्राणो न दृष्टव्यो	३१३	स सर्वाश्चक्रवर्त्युक्त-	४६३
सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते	२६६	सर्वगुणैः प्रियप्रान्त-	३५७	स साधनं सनं भेजे	६६
सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद्	२६७	सर्वजाय नमोवाक्यमर्हते	२६६	स साध्वसा सलज्जा सा	४३२
सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद्	२६८	सर्वतोभद्रमाह्वय	३७८	स सा सा तत्तदेवैषा	४४३
सम्यग्दृष्टिपदं चैव	२६५	सर्वद्वन्द्वसहान् सार्वान्	१३४	स सेहे वधमाक्रोशम्	२११
सम्यग्दृष्टिपदं बोध्यविषयं	३०६	सर्वभूपालसन्दोह-	३६१	सहंसान् सरसां तीरेषु	१०
सम्यग्दृष्टिपदं बोध्ये	३०५	सर्वमङ्गलसम्पूर्ण-	३७६	सहकारेण्वमी मत्ता	२१
सम्यग्दृष्टिस्तत्राम्ब्रेयमतः	३०४	सर्वमेतत्समाकर्ण्य बुद्धिम्	३६१	सह वक्षोनिवासिन्या-	३६५
साम्नात् पश्यन्नयोध्यायाः	६	सर्वमेतत्सुखाय स्याद्	४६६	सह सार्धेन भीमाख्यम्	४६६
स यजन् याजयन् धीमान्	२७६	सर्वमेतन्ममेवेति मा मंस्था	३६०	सहसा सर्वतूर्याणाम्	३८४
स यय जयसेन्यानि	१७६	सर्वमेधमयं धर्मम्	२८१	सहिता चित्तवेगाख्या	४८७
सरःपरिसरेष्वामन्	७२	सर्वरत्नमयैर्दिव्यैर्भूषा-	४६२	स ह्यादिपरमब्रह्मा	२८१
सरःसरोजरजसा	२	सर्वरत्नान् महानील-	२२७	सह्योत्सङ्गे लुठन्निधिः	८५
सरक्षान् वृतभूपालान्	४२१	सर्वशान्तिकरीं ध्यातिम्	४२५	सांशुकर्ममिबोद्यन्तम्	३७४
सरजोऽञ्जरजःकीर्ण-	१७५	सर्वसहः क्षमाभारम्	२१०	साक्षात्कृतप्रस्थितसप्तपदाय	५१५
सरति सरसीतीरं हंसः	१६५	सर्वस्वस्य व्ययोऽत्राय	३६६	साक्षिणं परिकल्प्येनम्	४७३
सरत्नमुल्लवणविषम्	४०	सर्वारम्भविनिर्मुक्ता	१६५	साक्षेपमिति संरम्भात्	४८
सरत्ना निधयः सर्वे	२१८	सर्वाङ्गसङ्गतं तेजो	१७७	सा घनस्तनितध्याजात्	२३२

साङ्ग्रामिकयो महाभेयः	२००	सा वैश्ववरादत्ता च	४६७	सुताञ्चतुर्दशास्यान्ये	३५८
साङ्गो यद्येतयाऽद्यैवम्	३७६	सा वैश्ववरादत्तेष्टा	४६५	सुता सागरसेनस्य	४६५
सा चिन्ता जननीत्यस्य	२३५	साऽऽशाखनिः किलान्नैव	४४२	सुतीक्ष्णा वीक्षणभि-	४००
सारोप स्फुटिताः केचिद्	१०२	साऽशोककलिकां चूतमञ्जरीम्	२३१	सुदूरपारगम्भीरम्	३५५
सा तदाकर्ण्य सञ्चित्य	४८७	सिहर्षवृकशादूल-	१६६	सुधीर्गृहपतिर्नाम्ना	२३५
सा तुण्डेनालिखन्नाम	४५३	सिहवाहिन्यभूच्छाया	२३४	सुन्दरेष्वपि कुन्देषु	३७३
सा तु षोडशधाऽऽम्नाता	२५४	सिहा इव नृसिहास्ते	१६७	सुप्रयोगां नदी तीर्त्वा	७०
सादिनां वारवाणानि	२५	सिहासने निवेश्यैनम्	१२७	सुभगेति च देव्यस्ताः	४७७
साधनैरमुनाक्रान्ता	६४	सिहासनोपधाने च	२८४	सुमतिस्तं निशम्यार्थम्	३७०
साधारणास्त्वमे मन्त्राः	३०१	सिहो मृगेन्द्रपोतश्च	३१६	सुमत्याख्यामलाः	३६४
सा धुनीबलसंक्षोभाद्	६०	सितच्छदावली रेजे	१	सुमनोवर्षमातेनः	११
साधु वत्स कृतं साधु	३२०	सितांशुकधरः स्रग्वी	६६	सुमनोवृष्टिरापतद्	१३७
साधुवादेः सदातैश्च	४३१	सितातपत्रमस्योच्चैः	३३	सुमुखस्तद्वयाभारमिव-	४३१
साधूक्तं साधुवृत्तत्वम्	१८०	सितासिता सितालोल-	४३२	सुखवेचरभूपालाः	४३६
सानुकम्पमनुग्राह्ये	२४२	सिद्धदिग्बिजयस्यास्य	२६१	सुरदुन्दुभयो मन्द्रम्	१४४
सानुजोऽनन्तसेनोऽपि	४१६	सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैः	३००	सुरदेवस्य तद्वाक्यं	४३७
सानुरागान् स्वयं रागात्	४३५	सिद्धशेषां समादाय	३७७	सुरदौवारिकारक्ष्य-	१३८
सान्द्रपद्मरजःकीर्णाः	७३	सिद्धशेषाक्षतैः पुण्यैः	६३	सुसम्ये विषये श्रीपुराधिपः	४८१
सान्ध्यो रागः स्फुरन् दिक्षु	१८८	सिद्धार्चनविधि सम्यक्	२५१	सुरसा कृत्निर्वाणाः	८१
सापि मुक्त्वा कुमारं तम्	४६२	सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य	२५३	सुरा जातरुषः केचित्	१५१
सा पुरी गोपुरोपान्त-	१५१	सिद्धार्चनादिकः सर्वो	२४७	सुरागामभिगम्यत्वात्	१३६
साऽन्नवीदिति तद्वृत्तम्	४६२	सिद्धार्चासन्निधौ मन्त्रान्	३००	सुराश्चासतकम्पेन	२१८
सामजं विजयाद्धैल्यम्	३६५	सिद्धार्थपादपांस्तत्र	१३६	सुराष्ट्रेषूज्यस्ताद्रिम्	६२
साम दशयता नाम	१८०	सिद्धार्थोऽन्नाह तत्सर्वमिति	३६६	सुरेन्द्रजन्मना मन्दराभि-	३०८
सामन्तानां निवेशेषु	२६	सिन्धुरोवो भुवः क्षुन्दन्	११६	सुरेन्द्रमन्त्र एषः स्यात्	२६८
सामवायिकसामन्त-	१०४	सिन्धोस्तटवने रम्ये	६३	सुरेभं शरदभ्याभम्	३३
सामात्यः स महीपाल-	२१७	सुकण्ठा पेतुरत्युच्चैः	१६४	सुरैरासेवितोपान्ते	१४४
साम्नाऽपि दुष्करं साध्या	१८२	सुकान्तोऽशोकदेवेष्ट-	४५५	सुरैरित्यचितः प्राप्तः	२१८
सान्प्रतं स्वर्गभोगेषु	२५८	सुकालश्च सुराजा च	३२४	सुरैरुच्छितमेतत्ते	१४४
साम्राज्यं नास्य तोषाय	१५८	सुकेतुः सूर्यमित्राख्यः	३६५	सुलोचनां महादेवीम्	४४१
साम्राज्यमाधिराज्यं स्यात्	२८८	सुकेतुस्तत्र वैश्येशः	४५५	सुलोचनाप्यसंहार्यशोका-	५०४
सायंप्रातिकनिःशेष-	३८	सुकेतोश्चाखिले तस्मिन्	४७८	सुलोचनाभिधाकृष्टि-	३७३
सायकोद्भिन्नमालोक्य	३६६	सुखं काले गलत्येवम्	४४१	सुलोचनामनोवृत्ति-	४३२
सायमुद्गाहनिर्णिक्तैः	२३१	सुखप्रमार्गैः सम्प्राप्य	४४१	सुलोचनामुखाम्भोज-	४३१
सारङ्गोऽयं तनुच्छाया	२४	सुखासुखं बलाहारौ	३३६	सुलोचनाऽसी बालेव	३६४
सारदारुभिरुत्तम्य	११४	सुगन्धिकलमामोद-	१७५	सुलोचनेति का वार्ता	४२६
सा रात्रिरिति सैल्लापैः	४१७	सुगन्धिपवनामोद-	१३८	सुलोचनेति नः	४२८
सार्धं कुवलये नेन्दुः सह	३६८	सुगन्धिमुखनिश्वासा	१२	सुवर्गधातुरथवा	२७७
सार्धं समाधिगुप्तस्य	२६४	सुगन्धि सलिलं गाङ्गम्	४४६	सुस्वनन्तः खनन्तः खम्	३६४
सार्वज्ञ्यं तव वक्तीश	१४२	सुचिरं सर्वसन्दोह-	४०७	सूत्रं गगनरैर्दृढम्	३१०
सालत्रितयमुत्तुङ्ग-	१४६	सुजयश्च सुकान्तश्च	५०२	सूत्रमौपासिकं चास्य	२५०
सावद्यविरतिवृत्तम्	२७१	सूतः कूवेरमित्रस्य	४४८	सूनुः स्तनितवेगस्य	४८२
सावनिः सावनीवोद्यत्	१३६	सुता विमलसेनास्य	४६१	सूर्याशुभिः परामृष्टाः	१३६

सूर्याचन्द्रमसौ वा	४६३	स्कन्धावारं यथास्थानम्	४३४	स्मितमालोकितां हासो	२३०
सृष्टिः पितामहेनेयम्	३८८	स्कन्धावारनिवेशोऽस्य	६०	स्मितेष्वासां दुरोद्भिन्नो	२२५
सृष्ट्यन्तरमतो दूरम्	३१३	स्खलति स्म कलालापाः	४३२	स्मितैः प्रसादः सञ्जल्पैः	६५
सेनानीप्रमुखास्तावत्	१५२	स्तनाङ्गरागसम्मर्दी	१६२	स्मृत्वा तलोऽर्हदर्चानाम्	३२४
सेनानीरपि बभ्राम	६६	स्तनाब्जकुड्मलैरास्य-	२२४	स्यात् परमकाङ्क्षिताय	२६६
सेनान्तो वृषभः कुम्भो	३५६	स्तुतिं निन्दां सुखं दुःखम्	१६६	स्यात् परमनिस्तारक-	३०६
सेनान्यं बलरक्षायै	३८	स्तुतिनिन्दे कृति श्रुत्वा	३५२	स्यात् परमविज्ञानाय	२६६
सेवागती पृथिव्यादि-	२६२	स्तुत्वा स्तुतिभिरीशानम्	३१६	स्यात् प्रजान्तरसम्बन्धे	३१४
सैनिकैर्यमारुहः	२३	स्तूपाश्च रत्ननिर्मिताः	१३६	स्यात् प्रीतिमन्त्रस्त्रैलोक्य-	३०२
सैन्ये च कृतसन्नाहे	२६६	स्त्रीरत्नमजवाजीनाम्	२२८	स्यात् समञ्जसवृत्तित्वम्	२६४
सैन्यैरनुगतो रेजे	१५१	स्त्रीषु मायेति या वार्ता	४४७	स्यादस्त्येव हि नास्त्येव	१४२
सैवानुवर्तनीया ते	१६१	स्थलाब्जशङ्किनी हंसी	२०	स्यादवध्याधिकारेऽपि	३१३
सैषा चतुष्टयी वृत्ति-	३३२	स्थलाब्जिनीवनाद् विष्वक्	१२१	स्यादेव स्त्री प्रनुत्यन्ती	४८०
सैषा निष्क्रान्तिरस्येष्टा	२६४	स्थलाम्भोलिहिराद्यास्य	१२१	स्यादस्य सुखमप्येवम्	३३८
सैषा सकलदत्तिः स्यात्	२४३	स्थलेषु पद्मपद्मिन्यो	२०	स्याद्यत्किञ्चिच्च सावद्यम्	१६७
सोऽचलः प्रभुमायान्तम्	१२४	स्थानाध्ययनमध्याय	१६३	स्यादारेका च षट्कर्म-	२८२
सोऽचलः शिखरोपान्त-	६७	स्थानान्येतानि सप्त स्युः	२४५	स्याद्दण्ड्यत्वमप्येवम्	३१४
सोऽहमर्कः खलस्तेजो	४११	स्थानेऽन्यस्मिन्न्यधादेनम्	४८७	स्याद्देवग्राहारायेति	२६५
सोऽतप्यत तपस्तप्तं	२१४	स्थालीनां कोटिरेकोक्ता	२२६	स्यान्निरामिषभोजित्वम्	३११
सोऽत्पलां कुब्जकैर्दृग्धाम्	२३३	स्थितं प्राक्तनरूपेण	४८६	स्यान्निरामिषभोजित्वम्	२७१
सोऽदर्या त्वं ममादायि	५०१	स्थितश्चर्या निषद्याम्	२११	स्वग्री सदण्डुको दीप्रः	२५७
सोऽद्वाद विशुद्धमाहारम्	३२५	स्थितस्तत्र स्मरन्नेवम्	४८८	स्वं ग्राममृगरूपेण	४८४
सोऽधीतो पदविद्यायाम्	३२८	स्थिताः पश्चिमपादाभ्याम्	४०३	स्वं मणिस्नेहदीपादि-	२८५
सोऽनुरूपं ततो लब्धा	२५२	स्थिता तत्रैव सा कीर्तिः	४१६	स्वं स्वापतेयमुचितम्	२८६
सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्याम्	२४६	स्थिता सामयिके वृत्ते	१६२	स्वं स्वाम्यमैहिकं त्यक्त्वा	२८५
सोऽन्वयः स पिता तादृक्	४२०	स्थित्वा महेन्द्रदत्तोऽपि	३८१	स्वकामिनीभिरारब्ध-	१६२
सोऽन्वीयं वक्ति चेदेवम्	१७४	स्थिरप्रकृतिसत्त्वानाम्	६६	स्वकुलान्युल्मुकानीव	१५५
सोऽपप्रदानं सामादौ	१८०	स्थूलनीलोत्पलाबद्धस्फुरद्-	३७१	स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा	२८७
सोऽपश्यन्निगमोपान्ते	१३	स्नपनीदकधीताङ्गम्	२४८	स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति-	२४४
सोऽपि प्राक् प्रतिपाद्यैतत्	४७३	स्नेहनेष्टवियोगोत्थः	५०८	स्वगेहादिषु सम्प्रीत्या	३७४
सोऽपि सर्वैः खगैः सार्धम्	४०६	स्पन्दस्त्यन्दनचक्रोत्थ-	३६२	स्वच्छं स्वं हृदयं स्फुटं	८०
सोऽभिषिक्तोऽपि नोत्सिक्तो	२२२	स्पृशन्नपि महीं नैव	२७६	स्वतटस्फटिकोत्सर्पत्	१२४
सोऽभेद्यो नीतिबुञ्चुत्वाद्	१७३	स्फुटद्बेणूदरोन्मुक्तैः	८६	स्वतटाश्रयिणीं धत्ते	१६
सोऽयं चक्रभूतामाद्यो	४६	स्फुटन्निम्नीकृतोद्देशैः	८६	स्वतन्त्रस्य प्रभो सत्यम्	१८०
सोऽयं नृजन्म सम्प्राप्त्या	२५६	स्फुटालोकोऽपि सद्बृत्तो	४१२	स्वदेव्यां चित्रसेनायाम्	४८८
सोऽयं भुजबली बाहु-	१७२	स्फुटीकरणमस्यैव	३३६	स्वदेशे वाक्षरम्लेच्छान्	३४६
सोऽयं साधितकामार्थः	३२५	स्फुरज्ज्यं वज्रकाण्डम्	४६	स्वदेशोद्भवैरेव सम्पूजितो-	५१४
सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो	१३५	स्फुरदाभरणोद्योत-	१७६	स्वदोद्गुमफलं श्लाघ्यं	१८२
सोऽस्त्यमीषां च	३४६	स्फुरद्गम्भीरनिर्घोष	१४१	स्वपक्षैरेव तेजस्वी	१५४
सौभाग्येन यदा स्ववक्षति	४२३	स्फुरन्मणितटोपान्त-	१३५	स्वपूर्वपरिकोटिभ्याम्	१२२
सौधोत्तुङ्गकुचां भास्वद्	४४०	स्फुरन्मीर्बीरवस्तस्य	४६	स्वप्नानां द्वैतमस्त्यन्यद्	३२१
सौनन्दकाख्यमस्याभूद्	२३५	स्फुरत्पुरुषसम्पात-	८३	स्वप्नानेवं कलान्येतान्	३२३
सौरभेयान् स शृङ्गाग्र-	११	स्फुरत्पुरुषशार्दूल-	१६६	स्वप्राच्यभवसम्बन्धम्	४६२

स्वप्राणनिविशेषश्च	२५८
स्वप्राणव्ययसन्तुष्टैः	४०६
स्वभावदुर्गमे तन्नः	११७
स्वभावपरुषे चास्मिन्	१७३
स्वभावसुभगा दृष्टहृदया	४३६
स्वभुक्तिक्षेत्रसीमानम्	१२४
स्वभ्यस्तात् पञ्चमादङ्गाद्	१६३
स्वयं कस्यचिदेकस्य	१२५
स्वयं च सञ्चिताधाति	४२५
स्वयं तदा समालोच्य	४८२
स्वयं धीतममाद् व्योम-	५
स्वयंप्रभः सुरस्तस्माद्	५०८
स्वयं मनोहरं वीणां	४४८
स्वयं महान्वयत्वेन	३३२
स्वयं व्यधूयतास्योच्चैः	२१८
स्वयं स्तनितवेगोऽसौ	४८२
स्वयमर्धपथं गत्वा	३७४
स्वयमपितसर्वस्वा-	६४
स्वयमागत्य केनात्र	४३८
स्वराज्यमधिराज्ये	२६०
स्वर्गं समुदपद्येताम्	४६८
स्वर्गोद्यानश्रियमिव हसति	५५
स्वर्धुनीशीकरस्पष्टि-	८
स्वधुनीशीकराभार-	१२६
स्वलक्षणमनिर्देश्यम्	२८५
स्वलक्ष्मीव्याप्तसर्वाशः	३७८
स्वविमानद्विदानेन	२५७
स्ववृत्तान्तं समाख्याय	५०२
स्वसारं च नमोर्धन्याम्	१२८
स्वसौभाग्यवशात् सर्वान्	३७६
स्वस्तीश्वार्कुकुलव्योम-	१२५
स्वागःप्रभार्जनार्थेज्या-	२१७
स्वाज्यन्यानुगमोऽस्त्येको	२१७
स्वादरेणव संसिद्धिम्	३७४
स्वाद्यं चामुतकल्पाख्यम्	२३६
स्वाध्यायमिव कुर्वाणाम्	८३
स्वाध्याययोगसंस्कृता-	१६७
स्वाध्यायेन मनोरोधः	१६२
स्वानुरागं जये व्यक्तम्	५०१
स्वामिसम्मानदानादि-	४०६
स्वामीष्टभृत्यबन्ध्वादि-	२८६
स्वायम्भुवान्मुखाज्जाताः	२८०
स्वावामं सम्प्रविश्योच्चैः	४३६

स्वास्वैः शस्त्रैर्नभोगानाम्	४०१
स्वाहान्तं सत्यजाताय	२६४
स्वीकृर्वन्निन्द्रियावासम्	३३६
स्वीकृतस्य च तरय	३४५
स्वीकृत्य धयनाध्यक्षम्	४५०
स्वेदविन्दुभिरावृद्धः-	२७
स्वेन मूर्ध्ना विभत्येष	१२३
स्वेनं जगृहुरावासम्	६६
स्वेनं न पपुरम्भांसि	७४
स्वेनं नवाम्बुपरिपीतमयत्न-	७६
स्वोचितासनभेदानाम्	२८५
स्वोपधानाद्यनादृत्य	२८५
स्वोक्ते प्रयुक्ताः सर्वे	३५२

ह

हंसपोत इवान्विच्छन्	१८६
हंसयूनाञ्जकिञ्जल्क-	१०
हंसस्वतानकाकाश-	३
हंसाः कलमषण्डेषु	२६
हंसोऽयं निजशावाय	२०
हटस्पटकुटीकोटि-	४३४
हत एव सुतो भर्तु-	४२०
हतानुचरभार्यात्रि	४८८
हत्वा भूमौ विनिक्षिप्त-	४७१
हयान् प्रतिष्कशीकृत्य	४०३
हयेनैव दुरारोहाञ्जये-	४२६
हरन् करिकराकार-	४४४
हरिणीप्रेक्षितेष्वेताः	२५
हरितैरङ्कुरैः पुष्पैः	२४०
हरिद्वारञ्जितश्मश्रुः	२८
हरिन्मणिप्रभाजालैः	१३२
हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैः	४४
हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैः	८५
हरिन्मणिमयस्तम्भः-	१७७
हरिवाहृतनामाद्यो	५०६
हरीन्मखरनिभिन्न-	१३४
हविः पीयूषपिण्डेन	२१८
हविष्पाके च धूम्रे च	३०१
हसन्तमिव फेनीधैः	४०
हस्तितन्त्रेऽश्वतन्त्रे च	३२८
हस्तिनां गदरक्षायै	१०३
हस्त्यस्वरथपत्न्यौधम्	३६८
हस्त्यस्वरथपादातम्	६२

हा दुष्टं कृतमित्युच्चैः	२०६
हा मे प्रभावतीत्याह	४५६
हा मे प्रभावतीत्येतद्	४४६
हाराक्रान्तस्तनाभोग-	२२६
हारिगीतस्वनाकृष्टैः	१२
हारिभिः किन्नरोद्गीतैः	१६
हारोऽयमतिरोचिष्णुः	५०
हास्तिनाख्यं पुरं तत्र	३५८
हा हतोऽसि चिरं जन्तो-	४४२
हिमचन्दनसम्पिश्र-	४४६
हिमवज्जयशंसीनि	१२१
हिमवत्पद्मयोगङ्गा	३६४
हिमवद्विजयोद्देशी	२२२
हिमवद्विधृतां पूज्याम्	१३
हिमवानयमुनुङ्गः	१२२
हिमाचलमनुप्राप्तः	११६
हिमाचलस्थलेष्वस्य	१२१
हिमानिलैः कुचोत्कम्पम्	२३०
हिरण्यवर्मणः सर्व-	४६२
हिरण्यवर्मणा जातजन्मना	४६०
हिरण्यवृष्टिं धनदे	२५६
हिरण्यसूचितोत्कृष्ट-	२५६
हुम्भारवभूतो वत्सान्	६
हृतसरसिजसारै-	४४५
हृतालिकुलभङ्गकारः	२३१
हृत्वा सारोऽम्बुकरिणो	७६
हृदये त्वयि सन्निधापिते	४२२
हृदि धर्ममहान्तम्	३५४
हृदि नाराचनिभिन्ना-	४०६
हृदि निर्भिन्ननाराचो	४१६
हृद्यैः सारासारावैः	१६
हृष्टः सुप्रभया चामा	४२५
हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैतम्	२७०
हेमपत्राङ्कितौ तन्व्याः	२२६
हेमस्तम्भाग्रविन्यस्त-	१३७
हेमाङ्गदं ससोदर्यम्	४४१
हेमाङ्गदकुमारण	४३४
हेमाङ्गदसुकेतुधी	३६४
हेयोपेयविवेकः कः	४३७
हैमनीषु श्रियामासु-	१६५
हैयङ्गवीनकलशैः	१३
हृदयरथस्य पुरः प्रत्यक्	१२३
हृस्ववृत्तखुरास्तुङ्गाः	२७

